श्री स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता

निरुक्तभाष्यटीका

Nirukta-Bhāṣya-Ṭīkā

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
डॉ. नरेश कुमार

२४:२
शान-नि

146374

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२४:२
विषय संख्या शान-नि आगत नं० 146374
लेखक शान्ति प्रकाश शास्त्री
शीर्षक निरुक्त भाष्यटीका

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि न लगायें।

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या 294.1 ज्ञान-नि आगत संख्या 146374

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा ।



श्री स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता

निरुक्तभाष्यटीका

Nirukta-Bhāṣya-Ṭīkā

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला - 104

श्री स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता

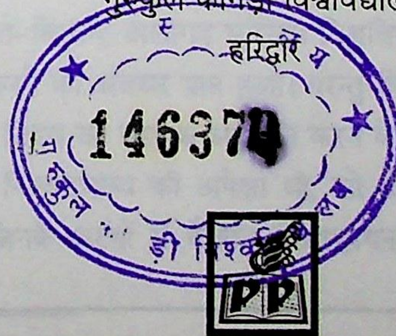
निरुक्तभाष्यटीका

Nirukta-Bhāṣya-Ṭīkā

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

एवं

डॉ. नरेश कुमार
शोध-सहायक, वेद-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार





परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली - अहमदाबाद

प्रकाशक

परिमल पब्लिकेशन्स

कार्यालय : २७/२८, शक्ति नगर, दिल्ली-११०००७

बिक्री केन्द्र : २२/३, शक्ति नगर, दिल्ली-११०००७

दूरभाष : २३८४५४५६, ६५४४१५१६, ४७०१५१६८

ई-मेल : order@parimalpublication.com

वेबसाईट : http://www.parimalpublication.com

शाखा

एफ-३ (प्रथम तल), रम्भा कॉम्प्लेक्स, गुजरात विद्यापीठ के सामने

आश्रम रोड़, अहमदाबाद-३८०००९ (गुजरात)

दूरभाष : ०७९-६५४४०२७६

© प्रकाशक

प्रथम संस्करण - २००९

ISBN : 978-81-7110-347-8

मूल्य - ९५०.०० रुपये



मुद्रक

जे.एन. प्रिंटर्स

२५१, गली नं. ८, पद्म नगर, दिल्ली-७

दूरभाष : २३६९०८४३

प्राक्कथन

जितने भी अन्य वेदाङ्ग हैं, वे सब मूल ग्रन्थ हैं, लेकिन व्याख्या ग्रन्थ होते हुए भी वेदाङ्ग में परिगणित किया जाना निरुक्त के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद को समझने के लिये जितनी उपयोगिता निरुक्त की उसके आविर्भाव के समय थी, उससे कम आज भी नहीं है। स्वयं यास्क निरुक्त के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-'**अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।**'[१] कि निरुक्त के विना मन्त्रार्थ का प्रत्यायन नहीं हो सकता।

निरुक्त के प्राचीन भाष्यकारों में केवल दो ही नाम और उनके कार्य देखने को मिलते हैं, इनमें प्रथम आचार्य दुर्ग हैं, जिन्होंने विद्वत्तापूर्ण ढंग से यास्क को समझने का प्रयास किया है। उसी शृङ्खला में दूसरा नाम आचार्य स्कन्दस्वामी का है, जिनका निरुक्तभाष्य स्कन्दमहेश्वरवृत्ति के रूप में आज उपलब्ध है। निरुक्त के दोनों विद्वान् व्याख्याकार अपने में अनुपम हैं, परस्पर तुलना करना इनमें से किसी की भी विद्वत्ता का अपमान होगा। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि यास्क के इतिहासपक्ष को हृदयंगम करने में स्कन्द से अच्छा विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। इसको निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है-'**नैरुक्तपक्षे तु अदितिर्द्यौः, तस्याः पुत्रः साहचर्याद् रसाहरणाद्वा द्युस्थानो वरुणः। शुनःशेपोऽपि यजमानः सन्नाह। उत्तमम् उत्कृष्टम्, उत्तमे वा वयस्युपजातम्, हे वरुण! दुरितकर्मपाशमस्मत उच्छ्रथय उन्मोचयेत्यर्थः। ऊर्ध्वं एव वयसि श्लथय। अधमं दुरितपाशं बाल्ये वयस्युपजातं तथैवाधमे वयसि। मध्यमश्च मध्यमे वयस्युपजातं निर्मोचय। अनन्तरं वयं हे अदितेः पुत्र! कर्मणि तव त्वद्देवत्ये, अनागसः, त्वयैव क्षपितकल्मषाः, अदितये वयं स्यामेत्याशास्महे।**'[२]

ज्ञान की अजस्र धारा परम्परा से प्रवाहित होकर अद्यतनीन होती रहती है, यह उसकी नियति है। यदि कदाचिद् ऐसा न हो पाये तो उसके विलुप्त होने का संकट उत्पन्न हो जाता है। निरुक्त के गठन के मूल में निहित यह धारणा कितनी सत्य है, इसे कोई भी संवेदनशील व्यक्ति समझ सकता है।[३] मुझे असीम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है, मुझ जैसे अकिंचन को परमात्मा ने ऐसा अवसर प्रदान किया, जिसमें यह स्कन्दमहेश्वरकृत निरुक्तभाष्य पुनर्जीवन प्राप्त कर रहा है।

विधि का कितना विचित्र संयोग है कि मुझे पी-एच.डी. उपाधि के लिये श्रद्धेय पूज्य गुरुवर प्रो. सत्यप्रकाश सिंह, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, के निर्देशन में आचार्य दुर्ग की निरुक्तवृत्ति पर शोधकार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु किसी भी शोधकार्य की गुणवत्ता तभी निकल कर आती है, जब शोधार्थी उस विषय का व्यापक अध्ययन करने के उपरान्त निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। इस कार्य के लिये मुझे दुर्लभ स्कन्द के निरुक्तभाष्य की अपेक्षा थी, जो उस समय भी अप्राप्य था। इस समस्या का समाधान मुझे बाल्यकाल से जिनके चरणों में बैठकर विद्याध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ, ऐसे **श्रद्धेय**

---

१. निरुक्त १.१५

२. निरु०२.१३

३. निरु०१.२० साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः।

ऋषिकल्प, जिनके अन्तस् में राग-द्वेष अन्तिम अवस्था को प्राप्त हो चुके थे, जो सर्वदा ऋत में आकण्ठ निमग्न रहते थे, जिनको देखकर प्रतीत होता था कि सरस्वती पुंस्त्व के रूप में अवतरित हो गयी है, ऐसे प्रात: स्मरणीय पूज्य गुरुवर आचार्य पं०ज्योतिस्वरूप जी ने अपनी अमूल्य पुस्तकनिधि में से स्कन्द का निरुक्तभाष्य मुझे उठाकर दे दिया। यह केवल स्कन्दकृत निरुक्तभाष्य नहीं था, अपितु इसमें तो आचार्यवर के अध्ययन के श्रम से निकले हुए ऐसे अनेक सूत्र थे, जिनके आधार पर प्रस्तुत स्कन्दमहेश्वरवृत्ति को संशोधित करने में सहयोग मिला है। यह अवदान पूज्य गुरुवर का है, उन्हीं की ज्योति का यह प्रकाश है, जो प्रकाशित होकर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत है। अत: मैं श्रद्धावनत होकर यह प्रयास उन्हीं को समर्पित कर रहा हूँ।

भवन सबको दिखायी देता है, लेकिन जिस नींव पर भव्य भवन सिर उठा कर खड़ा होता है, उसके मूल में निहित आधार का स्मरण न करना कृतघ्नता होगी। पुनर्जागरण काल को भारतीय साहित्य का पुनर्जन्म काल भी कह सकते हैं। इस काल खण्ड में जो महामना हुए और उन्होंने जो पथ दिखाया, यदि कदाचिद् वह न दिखाया गया होता तो हम आज न जाने कितने प्राचीन भारतीय साहित्य से अपरिचित रह जाते। यह कार्य जिस किसी भी भावना से किया गया हो, परन्तु उसका सुफल साफ देखा जा सकता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के क्षेत्र में पाश्चात्य मनीषियों ने अपने अथक परिश्रम और दृढ़ इच्छा शक्ति से अनुसन्धान का जो मार्ग प्रशस्त किया, उसको आगे ले जाने वाली विद्वन्मण्डली साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से कम महत्त्व नहीं रखती। निरुक्त के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य करने वाले मनीषियों में डॉ. लक्ष्मण स्वरूप तथा श्री वैजनाथ काशीनाथ राजवाडे का नाम प्रमुख है। प्रथम ने जहाँ स्कन्द को आधार बनाकर स्कन्दनिरुक्तभाष्य का सम्पादन कार्य किया, वहीं दूसरे ने आचार्य दुर्ग की निरुक्तवृत्ति के सम्पादन में विद्वत्तापूर्ण कौशल को प्रतिष्ठित किया। डॉ. स्वरूप को स्कन्दभाष्य का सम्पादन करने में अधिक श्रम करना पड़ा होगा, यह मैं आज कह सकने की स्थिति में हूँ। स्कन्दवृत्ति जिस रूप में मिली, उसको संवारना कोई सरल कार्य नहीं रहा होगा। आज भी निरुक्त के अनेक खण्ड ऐसी अवस्था में हैं, उससे किसी सार्थक अर्थ की प्रतीति करना कठिन है। फिर भी डॉ. स्वरूप ने जो कुछ किया है, वह आश्चर्य से किसी प्रकार कम नहीं है। यदि ऐसे समर्पणनिष्ठ अध्येता न होते तो आज हमारे लिये स्कन्द का निरुक्तभाष्य केवल कर्णपरम्परा का विषय बनकर रह जाता। ये आधुनिक अनुसन्धान क्षेत्र के ऐसे मील के पत्थर हैं, जिनके विना आगे का मार्ग समझ पाना और उस पर चल पाना दुरूह हो जाता है। इसलिये इन सभी को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नमन करता हूँ। इसी परम्परा का निर्वाह करने वाले वैदिक विद्वान् पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० भगवद्दत्त, इनके अतिरिक्त जिनका मार्गदर्शन आज भी साक्षात् उपलब्ध हो रहा है, ऐसे आधुनिक युग के भीष्म पितामह पं० रामनाथ वेदालङ्कार तथा कुछ अन्य जिनका नाम स्मरण करना संभव नहीं हो पा रहा है, मेरे लिये प्रेरणा के स्रोत रहे हैं, इन सबके प्रति मैं विनत श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

यह एक सत्य है कि चिन्तामुक्त होकर ही नवनिर्माण किया जा सकता है। कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द की लोककल्याण की भावना से की गयी तपस्या और कुलभूमि जो इस हमारे गुरुकुल परिवार के लिये माता है, इन दोनों की अनन्त कृपा का परिणाम है कि हम लोग इस विश्वविद्यालय में सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर सरस्वती का आराधन कर रहे हैं। अत: मैं इस अवसर पर इन दोनों के प्रति हार्दिक नमन करता हुआ इनके प्रतिनिधि के रूप में विराजमान विश्वविद्यालय प्रशासन विशेष रूप से माननीय कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार तथा श्रद्धेय आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आचार्यवर तो मेरे साक्षात् गुरु हैं

और वे भी ऐसे गुरु हैं, जिनकी क्या वेदविद्या और क्या काव्यशास्त्र, या संस्कृत साहित्य की कोई अन्य विधा- सबमें अप्रतिहत गति है। अतः गुरुत्व सम्बन्ध से इनके प्रति कृतज्ञ होना मेरे लिये स्वाभाविक है।

विचार की पूर्णता और निष्कर्ष की उपलब्धि विना विचार-विमर्श के संभव नहीं है। जब-जब ऐसे अवसर आये और प्रतीत हुआ कि इस स्थल पर प्रस्तुतीकरण किस प्रकार का होना चाहिये या फिर निष्कर्ष का मार्ग अवरुद्ध होता दिखायी देने लगा, तब जिन महानुभावों के चिन्तन का लाभ इस कार्य को करते समय मिला उनका स्मरण करना उपयुक्त प्रतीत होता है। इनमें वेदविभाग के अध्यक्षचर डॉ. रूपकिशोर शास्त्री, श्रद्धानन्द वैदिकशोध संस्थान के रीडर डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार, संस्कृत-विभाग के रीडर डॉ. ब्रह्मदेव, जनता वैदिक कालेज बड़ौत में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डॉ. वेदपाल- ये सभी अपने-अपने क्षेत्र के धुरन्धर विद्वान् हैं, इन सभी के प्रति मैं हार्दिक साधुवाद ज्ञापित करता हूँ।

स्कन्द का दुर्लभ निरुक्तभाष्य प्रथम बार पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से (प्रथम खण्ड १९२८, द्वितीय खण्ड १९३१ तथा तृतीय खण्ड १९३४ में) तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन प्रो. लक्ष्मण स्वरूप, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, ओरियेण्टल कालेज, लाहौर के द्वारा सम्पन्न हुआ। तब जो संसाधन थे, उनको देखते हुए जो कार्य उस समय हुआ, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। परन्तु इसमें अनेक पाठभेद दिये गये थे, स्थान-स्थान पर सुझाव थे। प्रस्तुत संस्करण में उनमें जो सर्वाधिक उपयोगी पाठ प्रतीत हुआ है, उसको ग्रहण कर लिया गया है। यदि क्वचित् ऐसा प्रतीत हुआ कि वर्णमात्र के परिवर्तन से अर्थ की संगति बैठ रही है, तो उस परिवर्तन को अङ्गीकार कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त यथासंभव स्कन्दकृत उद्धरणों के संकेत देने का प्रयास किया गया है तथा साथ ही स्कन्दभाष्य के अन्त में एक अनुक्रमणिका दी गयी है, जिसमें स्कन्दभाष्य के समस्त उद्धरणों को अकारादि क्रम से व्यवस्थित कर दिया गया है। इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि विस्तृत भूमिका के माध्यम से जहाँ एक ओर स्कन्द, दुर्ग तथा महेश्वर की तिथि के निर्धारण करने का गम्भीर प्रयास किया गया है, वहीं निरुक्त के आकार के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन करते हुए उसके प्राचीन और मूल स्वरूप तक पहुँचने का अध्यवसाय भी हुआ है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेदभाष्यकार और निरुक्तभाष्यकार स्कन्द की तुलना करते हुए अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तार्किक निष्कर्ष तक की यात्रा की गयी है।

एक ग्रन्थ लेखन की अपेक्षा इस कार्य को करने में अधिक श्रम और बुद्धि का विनियोग हुआ है, सर्वदा यह ध्यान में रखना पड़ा है कि कहीं स्कन्द के साथ अन्याय न हो जाय, ऐसा कुछ न हो, जो सम्पादन की सीमा से परे चले जाय, परन्तु फिर भी क्वचित् ऐसा हो गया तो इसमें आश्चर्य भी नहीं है। इसका कारण यह रहा है कि स्कन्दकृत निरुक्तभाष्य जिस रूप में उपलब्ध है, उसमें अनेकशः विसंगति के दर्शन होते हैं। उन विसंगतियों के परिहार में कुछ अनुचित भी हो गया हो तो उसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

इस संस्करण के सम्पादन में यह प्रयास रहा है कि स्कन्दप्रदत्त उद्धरणों को मूल से देखकर शुद्ध किया जाए। विशेष रूप से वेद के उद्धरणों के सन्दर्भ में, उनके स्वरादि को शुद्ध करके प्रस्तुत किया गया है। यह समस्त कार्य मेरे अकेले के लिये सम्भव नहीं था। अतः यह कार्य मैंने डॉ. नरेश कुमार, शोधसहायक, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, के सहयोग से सम्पन्न किया है। इसके अतिरिक्त डॉ. नरेश कुमार ने टंकण से लेकर संशोधन तक के सभी कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। अतः मैं इनके अथक परिश्रम और लगन को देखते हुए उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

प्राय: देखा जाता है कि प्रकाशन के क्षेत्र में लगे हुए व्यवसायी उस विषय के विद्वान् नहीं होते, जिस विषय विशेष के प्रकाशन में वे निरत होते हैं। परन्तु परिमल पब्लिकेशन, शक्तिनगर, दिल्ली के स्वामी श्री के.एल. जोशी इसके अपवाद हैं। आपने बाल्यकाल से ही गुरुकुल में रहकर संस्कृत पढ़ी और जब व्यवसाय चुनने का अवसर आया, तब भारतीय संस्कृति की प्राणभूता संस्कृत को अपनाया। संस्कृत-साहित्य के प्रकाशन के क्षेत्र में आप अग्रणी हैं। जैसा सुन्दर, सुरूप और शुद्धतम प्रकाशन आपके हाथों से होता है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। जैसे हीरे की परख जौहरी जानता है, वैसे ही लेखक के कार्य गुणवत्ता आपसे छिप नहीं पाती। जो भी कार्य परिमल पब्लिकेशन से प्रकाशित होता है, उसमें परिमल की गन्ध देखी जा सकती है, उसमें श्री जोशी की प्रतिभा का विनियोग देखने को मिलता है।

श्री कन्हैयालाल जोशी ने यह संकल्प लिया हुआ है, जो संस्कृत ग्रन्थ लुप्त प्राय: हो रहे हैं, जिनकी संस्कृत जगत् को आवश्यकता है, उसके प्रकाशन के लिये आप सदा तत्पर रहते हैं। मैं गतवर्ष जून में आपसे मिलने गया था, तभी आपने कहा कि निरुक्त का स्कन्दभाष्य इस समय अप्राप्य है, उसका सम्पादन कर दो। यह सुखद संयोग ही माना जायेगा कि लुप्तप्राय: स्कन्दभाष्य गुरुपरम्परा से मेरे पास था और आज यह कार्य पूर्ण होकर सुधीजनों की सेवा में समर्पित है। यह कार्य श्री कन्हैयालाल जोशी, अधिष्ठाता परिमल पब्लिकेशन की प्रेरणा का परिणाम है, अत: इनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

कार्य की पूर्णता परमात्मा की कृपा के विना सम्भव नहीं है। सरस्वतीरूप परमात्मा तो सर्वदा पावक है, वह ज्ञान से उत्पन्न आनन्द से पवित्र करने वाला है और वह ज्ञान के बल से ही सर्वशक्तिमान् हैं। इस अवसर पर प्रभु से प्रार्थना है कि वह मुझे और मेरे साथ सरस्वती के आराधन में लगे समस्त साधकों को अपनी इस कृपा से अनुगृहीत करें।[१] वह सरस्वती ऐसी कृपा करे जिससे हम सभी को निरन्तर सूनृत की प्रेरणा मिले तथा हमारी बुद्धियों में सुमति का आवर्भाव हो। हमारे माध्यम से जो अभिव्यक्त हो, उसमें हम केवल और केवल माध्यम ही बनें। इस प्रकार यह ज्ञानयज्ञ का होता और ब्रह्मा तू ही रहे तू ही रहे।[२]

दि० ३.५.२००९

विदुषां वशंवद:

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री

अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड)

---

१. ऋ०१.३.१० पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥

२. ऋ०१.३.११ चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥

निरुक्तभाष्य-विषयसूची

निरुक्त का महत्त्व और उसकी उपयोगिता

अर्थ की दृष्टि से वेदाङ्गों में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विना निरुक्त के वेद के अर्थ तक पहुँचना सम्भव नहीं है। अर्थ के महत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ निरुक्त स्वयं कहता है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥[1]

जो व्यक्ति वेद पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता है, वह शुष्क वृक्ष के समान व्यर्थ जीवन वाला होता है। जिस प्रकार पत्र, पुष्प, फल आदि से विरहित शुष्क वृक्ष व्यर्थ होता है, उसी प्रकार वेद के अर्थ को न जानकर पढ़ने वाले का जीवन व्यर्थ होता है। उसका यह अध्ययन उसके लिये भार के समान होता है। उससे न अपना कल्याण होता है और लोक का। लेकिन जो मात्र ग्रन्थ का अध्येता न होकर, वेदार्थ का ज्ञाता है, वह सम्पूर्ण अर्थात् अखण्डित कल्याण को प्राप्त करता है। इस लोक में वह शिष्यों से पूज्यत्व प्राप्तकर अन्तकाल में उस नाकलोक को प्राप्त करता है, जहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख सर्वथा नहीं है। इस प्रकार के पूर्ण कल्याण को प्राप्त करने का एकमात्र कारण ज्ञान से उसके समस्त पाप प्रक्षालित हो जाना है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि ज्ञान के सदृश पवित्र इस संसार में कुछ नहीं है।[2] उक्त मन्त्र की प्रथम पङ्क्ति का आशय यह भी ग्रहण किया जा सकता है कि जिस प्रकार स्थाणु (गर्दभ) चन्दन के भार को वहन करता है, लेकिन उसका उपयोग नहीं कर सकता। उसी प्रकार ग्रन्थ का मात्र अध्ययन करने वाला, गर्दभ के समान शास्त्र के अध्ययन और स्मरण के भार को तो वहन करता है, लेकिन वह उससे लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।[3]

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तु ज्वलति कर्हिचित्॥[4]

विना समझे रटकर कण्ठस्थ कर लिये गये वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। यह अध्ययन उसी प्रकार अपने प्रयोजन (प्रकाश या ज्ञान) को सिद्ध नहीं करता है, जिस प्रकार जलने के लिये एकत्रित किया गया शुष्क ईंधन अग्नि के अभाव में जलता नहीं है। इसी प्रकार अर्थ से अनभिज्ञ वेदवेत्ता वेदाध्ययन के भार का अनुभव करता है, लेकिन उससे मिलने वाले फल से वञ्चित रहता है। वेदार्थ का परिज्ञान निःश्रेयस् और अभ्युदय की प्राप्ति कराने वाला होता है। अतः, निःश्रेयस् और अभ्युदय की प्राप्ति के लिये निरुक्त शास्त्र का आरम्भ अवश्य करना चाहिये।

यह ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा केवल लोक में ही नहीं प्राप्त होती है, अपितु वेद से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है। आचार्य यास्क अपने वक्तव्य को पुष्ट करने के लिये ऋग्वेद का निम्न मन्त्र प्रस्तुत

---

१. मूल अज्ञात, निरु०,१.१८.

२. गीता,४.३८. 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।''

३. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति,१.१७. पृ०,१०८.

४. मूल अज्ञात, निरु०,१.१८.

करते हैं:-

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।१

अर्थ से अनभिज्ञ मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेने वाला मूर्ख व्यक्ति वेदवाणी को देखते हुए भी नहीं देखता है, लेकिन अर्थविद् उसको सम्यक् प्रकार से देखता है, क्योंकि वाणी का फल अर्थ का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार मात्र ध्वनि का श्रवण करने वाला मूर्ख व्यक्ति वेदवाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनता है, क्योंकि जो अर्थ को समझता है, वास्तव में वाणी उसके द्वारा सुनी हुई होती है।

अर्थवेत्ता विद्वान् की और अधिक प्रशंसा एवं प्राप्त होने वाले लाभ का उल्लेख करते हुए यास्क कहते हैं:-

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।।२

वाणी से मित्रता के सम्बन्ध में कुछ लोगों को स्थिरपीत अर्थात् वाणी के यथार्थ ज्ञान में रमण अर्थात् आनन्द का अनुभव करने वाला कहा गया है। कोई एकाध विद्वान् देवताओं के साथ सख्य (सायुज्य) स्थापित कर लेता है। आचार्य यास्क आगे चलकर कहते हैं कि अर्थविद् विद्वान् जिस-जिस देवता को कहता है, वह उस-उस देवता के सायुज्य का अनुभव करता है। अथवा देवसख्य का तात्पर्य स्वर्गलोक या देवलोक से है। वाणी के अर्थ को समझने वाला देवलोक में स्थिर हो जाता है, फिर वह वहाँ से कभी च्युत नहीं होता है। दुरूह वाग्यज्ञों में, इस वाणी के अर्थ को जानने वाले विद्वान् की कोई समता नहीं है। समुद्र के समान गम्भीर देवता परिज्ञानादि विषयों में यह अद्वितीय होता है। जिस अर्थरूप कार्य को अनेक मन्दबुद्धि लोग सम्पन्न नहीं कर पाते हैं, उन अर्थों को यह अकेला व्याकृत कर लेता है।

ऋचा के उत्तरार्ध में मन्दबुद्धि की निन्दा करता हुआ ऋषि कहता है कि यह मूढ अधेनु (जो गो समान होते हुए भी गाय=वाणी से भिन्न है) की सेवा करता है। यह उस वाणी की सेवा करता है, जिसका अर्थ न अब और न आगे परिज्ञात होने वाला है। उस वाणी को गृहीत करके और उसी का अध्ययन करता हुआ यह इधर-उधर घूमता रहता है। यह वाणी मायावी सुवर्ण मृग के समान मिथ्या होती है। धारण की जाती हुई ऐसी वाणी कभी भी देवलोक और मनुष्यलोक की कामनाओं का दोहन नहीं करती है। जो इस वाणी को ऐसा मानता है कि इसमें कुछ भी अन्वेषणीय नहीं है, उसके लिये यह वाणी फल और फूल रहित हो जाती है। अथवा उसके लिये यह वाणी किञ्चित् पुष्प और फल वाली होती है। अध्ययन का श्रम व्यर्थ नहीं जाता है, इसलिये उसे भाष्यकार ने अल्प फल वाली बतलाया है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने वाणी के अर्थ को पुष्प और फल कहा गया है। सङ्क्षेप से वाणी का अर्थ तीन प्रकार का होता है:-१.याज्ञ, २.दैवत, ३.अध्यात्म। यह रूपक-कल्पना के द्वारा पुष्प और फल के रूप में दो विभागों में विभक्त है।

---

१. ऋ०,१०.७१.४. निरु०,१.१९.

२. ऋ०,१०.७१.५. निरु०,१.२०.

इस प्रकार निरुक्तकार की दृष्टि में वाणी का प्रयोजन अर्थपरिज्ञान है। जो केवल अर्थरहित वाणी को वहन करता है, वह या तो भारवहन करने वाले गर्दभ के समान या फिर आर्द्र ईंधन के समान जिसमें से अग्नि प्रकट हो ही नहीं सकती। लेकिन जो अर्थसहित वाणी को जानता है, वह ज्ञान से अपने पापों का नाश करके अमृतत्व को उपलब्ध होता है, वाणी के साथ सख्य स्थापित कर लेता है, अन्त में यह अर्थसहित वाणी उसे अपना सर्वस्व उसी प्रकार समर्पित कर देती है, जिस प्रकार पत्नी अपने पति के लिये सहर्ष समर्पण कर देती है। वाणी के साथ सख्य स्थापित कराने में निरुक्त की उपयोगिता है, यही उसका महत्त्व है।

निरुक्त के प्राचीन वृत्तिकार

निरुक्त निघण्टु की एक वृत्ति है। यास्क के कार्य के महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मूल ग्रन्थ वेदाङ्ग की श्रेणी में परिगणित नहीं हो पाया, जबकि उसकी वृत्ति को वेदाङ्ग मान लिया गया है। जितने अन्य वेदाङ्ग हैं, वे सब मूल ग्रन्थ हैं, जैसे–व्याकरण, ज्योतिष, कल्प, शिक्षा आदि, परन्तु निरुक्त अपने आप में वृत्ति है।

पाणिनि ने जब अष्टाध्यायी का गठन किया तभी से उसके विषय में वृत्ति, भाष्यादि की परम्परा देखने को मिलती है, लेकिन सम्भवत: यास्क के साथ ऐसा नहीं हो पाया, इसका भी वही कारण है, जो ऊपर दिया जा चुका है। पाणिनि ने अपना व्याकरण सूत्रशैली में लिखा, जबकि यास्क का ग्रन्थ निरुक्त सूत्ररूप न होकर स्वयं वृत्ति है। अत: यास्क का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी विद्वानों ने कुछ विलम्ब से उस पर कुछ कहने की आवश्यकता समझी, क्योंकि उसके वक्तव्य पाणिनि की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं।

यास्क के निरुक्त पर आज हमें दो वृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, प्रथम है–आचार्य दुर्ग की निरुक्तवृत्ति तथा दूसरी है–स्कन्दस्वामीप्रणीत निरुक्तभाष्यटीका।

आचार्य दुर्ग और स्कन्दस्वामी का पूर्वापरत्व

आधुनिक समालोचकों में डॉ. लक्ष्मणस्वरूप ने आचार्य दुर्ग से सम्बन्धित पर्याप्त अध्ययन और अनुसन्धान किया है। दुर्ग के काल के विषय में उनकी मान्यता यह है कि आचार्य देवराजयज्वन् से दुर्ग परवर्ती हैं। वे कहते हैं कि देवराजयज्वन् अपने समय में विद्यमान वेदों के भाष्यों, निघण्टु तथा निरुक्त से परिचित हैं। अपनी कृति के लिये उसने जिन्हें प्रमाणित माना है, उसकी एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है, दुर्ग का नाम उसमें नहीं है। यद्यपि उनके नाम की चर्चा न करने के आधार पर निकाला गया परिणाम निश्चयात्मक नहीं हो सकता, फिर भी इस विशेष स्थिति में यह मानना युक्तिसङ्गत होगा कि दुर्ग के नाम की चर्चा इसलिये नहीं की गयी, क्योंकि वह देवराजयज्वन् से परवर्ती था। अत:, दुर्ग स्कन्दस्वामी से भी परवर्ती हुआ।'[१] आगे वे कहते हैं कि दुर्ग की तिथि की अवरसीमा लगभग निश्चितरूप से निर्धारित की जा सकती है। बोडलिअन (Bodleian) पुस्तकालय में उसके भाष्य की एक पाण्डुलिपि है, जिस पर उसकी तिथि १३८७ ई० दी हुई है। यह तिथि वास्तविक है तथा प्रोफेसर ए०बी० कीथ ने भी इसे स्वीकार किया है। यह पाण्डुलिपि महाराणा दुर्गसिंह विजय के शासनकाल में भृगुक्षेत्र में लिखी गयी थी, अत:, दुर्ग की तिथि १३८७ ई० के पश्चात् नहीं हो सकती। भृगुक्षेत्र

---

१. निघण्टु तथा निरुक्त, पृ०,४९.

किस स्थान पर था, यह निर्धारित कर पाना अत्यन्त कठिन है, परन्तु सम्भवतः यह सरस्वती तथा यमुना के मध्य कहीं था। दुर्ग ने अपना भाष्य जम्मू के समीप एक आश्रम में लिखा था, जहाँ यातायात के आधुनिक साधनों के अभाव में जाना अत्यन्त कठिन था। अतः, वहाँ से भृगुक्षेत्र तक उसके भाष्य के पहुँचने में (जम्मू के एकान्त पर्वतीय प्रदेश से भृगुक्षेत्र के मैदानों तक उसकी कीर्ति पहुँचने में) पर्याप्त समय लगा होगा। अतः, यदि दुर्ग की तिथि त्रयोदश शताब्दी रखी जाये तो तथ्य से अधिक दूर जाना न होगा।[१] इस प्रकार डॉ. लक्ष्मणस्वरूप दुर्ग का काल त्रयोदश शताब्दी से पहले मानने को किसी प्रकार तैय्यार नहीं हैं।

परन्तु डॉ. लक्ष्मणस्वरूप का मत अधिक उचित प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि आचार्य स्कन्दस्वामी (जिनका नाम आचार्य देवराजयज्वन् ने अनेकशः उद्धृत किया है,) अपनी निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में बड़े सम्मान के साथ पूर्ववर्ती आचार्यों में आचार्य दुर्ग का नाम उद्धृत करते हैं:-**'तस्य पूर्वैटीकाकारैर्बर्बरस्वामि-भगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य तद्वचनैकदेशानुचित्योचित्याल्पक्लेशेनाभ्यास-सिद्ध्यर्थमल्पग्रन्थाः वृत्तिः क्रियते।'**[२]

इसके अतिरिक्त स्कन्दस्वामी ने अनेकशः अपरे, इतरे कहकर दुर्ग के मत को उद्धृत किया है और आवश्यकता होने पर उनकी आलोचना भी की है। इस दृष्टि से निम्नस्थल देखे जा सकते हैं:-

(क) दुर्ग कहते हैं:- **'प्रथम इति मुख्यनाम। मुख्यश्च प्रधानमित्युच्यते। प्रधानं कञ्चिदर्थमभिदध्देतत्पदद्वयमुदात्तं भवति। प्रधानमर्थमनु यो वर्तते गुणभावेन तस्यैतत्पदद्वयमन्वादेशे वर्तमानमनुदात्तं भवति।'**[३]

स्कन्द-**'अपरे वर्णयन्ति। प्रथमं प्रधानं तस्यादेशः प्रथमादेशस्तद्विषयमुदात्तम्। गुणोपदेश विषयमनुदात्तम्। अगुणभूतस्य पश्चादादेशाद् इति।'**[४]

(ख)-दुर्ग-**अन्ये तु मन्यन्ते। प्रथमादेशो नाम प्रारम्भः। तत्र यद्वर्तते तदुदात्तं भवति।..........अन्वादेशो नामास्यपदस्य पश्चादादेशः। तत्र वर्तमानमनुदात्तं भवति।'**[५]

स्कन्द-**'केचित्तावत् प्रथमे पादे अर्धर्चे वादेशः प्रथमादेश इतरोऽन्वादेश इति मन्यन्ते।'**[६]

(ग)-दुर्ग-**'जारयायि इत्यनवगतम्। अजायि इत्यवगमः।'**[७]

स्कन्द-**'अन्ये तु जनेरत्यन्तानवगतमाख्यातमेतदिति मन्यन्ते। ततश्च जारयायि अजायतेत्यवगमः।'**[८]

---

१. निघण्टु तथा निरुक्त, पृ०,४९-५०.
२. स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,०१. पृ०, ०४
३. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति,४.२५. पृ०, ३७२.
४ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,२. पृ०, २७४.
५ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति,४.२६. पृ०, ३७६.
६ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,२. पृ०, २७४.
७ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति,६.१५. पृ०, ५४७.
८ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,२. पृ०, ४४१.

(घ)-दुर्ग-'अरण्यानी इत्येतत्पदम्। सा पुनः 'अरण्यस्य पत्नी' पालयित्री देवता।'[१]

स्कन्द-'अरण्यस्य पालयित्री अधिदेवता काचिदिति नैरुक्ताः।'[२]

इस प्रकार आचार्य स्कन्दस्वामी केचित्, अपरे, अन्ये इत्यादि के द्वारा जिस आचार्य के मत को उद्धृत कर रहे हैं, उस विषय में अधिक सम्भावना इस बात की है कि यह मत आचार्य दुर्ग का हो।

दुर्ग के कुछ स्थलों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे आचार्य स्कन्द के मतों को उद्धृत कर रहे हैं,[३] परन्तु इस बात की सम्भावना बहुत कम है। यह सम्भव है कि वह पूर्ववर्ती किसी अन्य आचार्य का मत हो, क्योंकि दुर्ग ने विना नाम लिये अनेकशः अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त स्कन्द अत्यन्त सम्मानपूर्वक आचार्य दुर्ग का नाम अपने पूर्ववर्ती निरुक्त भाष्यकारों में उद्धृत करते हैं, इसलिये यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्कन्द की अपेक्षा दुर्ग अर्वाचीन हैं, अतः, प्रायः स्कन्द को उद्धृत करने वाले आचार्य देवराजयज्वन् को दुर्ग से प्राचीन मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इतिहासवेत्ता पं० भगवद्दत्त का भी यही मत है। इस सम्बन्ध में वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं:-

स्कन्द महेश्वर अन्ये आदि लिखकर बहुधा दुर्ग का उल्लेख करते हैं। स्कन्द कहता है:-'**अन्ये बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा' इति तुल्यत्वात् संहिताया 'असमानजातीयस्य वा' इत्येवमवच्छिन्दन्ति। सा स्त्रीत्वादेव भगिनी भ्रातुरसमानजातीया इत्युच्यत इति व्याचक्षते।**' (४.२०.)

दुर्ग कहता है:-'**असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता। सा हि स्त्रीत्वादेवातुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति।**' (४.२०.)

'**बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा**' इस यास्क वाक्य का '**समानजातीयस्य**' पाठ महेश्वर को ही सम्मत नहीं था, प्रत्युत स्कन्द उद्गीथ को भी सम्मत था। इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है:-'**जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा। समानजातीयस्य वा। इति वचनादत्र जामिशब्देन समानजातीय उच्यते। यथा समानादेकस्माज्जातस्य।**'[४]

पुनः स्कन्द निरुक्त १.९ के भाष्य में लिखता है:-'**ये तु ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम् इत्येतं पाठमाश्रित्यास्येममर्थं व्याचक्षते- ऋच्छन्तीवैतौ कर्णा प्रति खे व्यक्ताः सन्तः शब्दा एतावपि चोदगन्तां प्रत्युद्गच्छत इव ग्रहणाय।**'

यह वाक्य ठीक दुर्ग का है। पुनः स्कन्द महेश्वर में लिखा है:-'**सौधन्वना रथकारा निषादशब्दवाच्या इत्यन्ये।**'

दुर्ग लिखता है:-'**निषादः सौधन्वना इत्येके मन्यन्ते। स च रथकारः।**'

यदि दुर्ग को उद्गीथ या स्कन्द का पाठ ज्ञात होता तो यह अवश्य अन्य पाठ भी देता। दुर्ग अपने से प्राचीन

---

१ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति,९.२९. पृ०, ८०७.

२ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,३. पृ०, १६८.

३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०, ३३०-३१, ४८८, ४९९.

४ उद्गीथभाष्य, ऋ०,१०.२७.७.

आचर्यों का पाठ व मत बहुधा देता है।[1] परन्तु इनमें से एक भी स्थान ऐसा नहीं है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता हो कि वह दुर्ग का स्मरण कर रहा है।[2]

इसके अतिरिक्त पं० भगवद्दत्त का मत है कि दुर्ग के भाष्य का उद्गीथ के भाष्य पर प्रभाव देखा जा सकता है। वे कहते हैं कि यद्यपि देवराज दुर्ग का स्मरण नहीं करता, परन्तु देवराज के पूर्ववर्ती वेङ्कटमाधव से उद्धृत उद्गीथाचार्य को दुर्ग भाष्य का ज्ञान अवश्य था। यथा-

दुर्गाचार्य	उद्गीथ
क-एते देवानां स्वभूता य इहैतस्मिंल्लोके स्पशः स्पाशयितारः कृताकृतानां कर्मणां चिह्नयितारः।.......अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये.......इत्येवमादयः। (दुर्ग, निरु०५.२)	**क**-एते देवानां स्वभूताः स्पशः चराः अहश्च रात्रिश्चोभे च सन्ध्ये इत्येवमादायः। (ऋ०,१०.१०.८)
ख-आगच्छान् आगमिष्यन्तीत्यर्थः। आह। कानि। उच्यते। तान्युत्तराणि युगानि। आगमिष्यन्ति तेऽपि कालाः। न तावत् साम्प्रतं वर्तन्त इत्यभिप्रायः। येषु किम्। येषु जामयो भगिन्यो भ्रातृणाम् अजामियोग्यानि मैथुनसम्बन्धानि कर्माणि करिष्यन्ति। कलियुगान्ते हि तादृशः संकरो भवति। न चेदं कलियुगं वर्तत इत्यभिप्रायः। (४.२०)	**ख**-आ गच्छान्। आगमिष्यन्ति। ता तानि। उत्तरा उत्तराणि। युगानि कालाः कलियुगान्ते। नेदानीं वर्तन्त इत्यभिप्रायः। यत्र येषु कालेषु। जामयः भगिन्यः। कृणवन् करिष्यन्ति। अजामि जामि भर्तृत्वेन नास्ति यस्य तदजामि। भगिन्या अयोग्यं मैथुनलक्षणं कर्म। (ऋग्भाष्य, १०.१०.८)

इन दोनों वचनों में कितनी समानता है। दोनों ग्रन्थकारों में से एक के मन में दूसरे का ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था और उद्गीथ भी दुर्ग का ध्यान करके लिख रहा था। यदि कहेंगे कि दुर्ग ने उद्गीथ और स्कन्द आदि से भाव लिया है, तो यह असङ्गत हो जाता है। दुर्ग ने भी स्कन्द का नाम नहीं लिया। कहीं एक स्थल पर भी 'अन्ये' कहकर स्कन्द की पङ्क्तियाँ नहीं लिखी हैं।'[3] इस प्रकार पं भगवद्दत्त के अनुसार उद्गीथ तथा स्कन्द दुर्ग से परवर्ती हैं और इनका काल ६८७ ई० संवत् के समीप है, अतः, दुर्ग संवत् ६०० के समीप अथवा इससे पहले हुआ होगा।[4] ऐसा वे मानते हैं।

उपर्युक्त निष्कर्ष के समर्थन में निम्न तथ्य और प्रस्तुत किये जा सकते हैं:-

क-अपने निरुक्तभाष्य में आचार्य दुर्ग ने अनेकशः ऐसे सङ्केत दिये हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि दुर्ग आचार्य शाकपूणि के किसी ऐसे ग्रन्थ से परिचित हैं, जो निरुक्त के समान महत्त्वपूर्ण है, जैसे-'**शाकपूणिस्तु**

---

१ दुर्गाचार्य ने ३.१५ में जिनका मत लिखा है, उन्हीं का खण्डन स्कन्दमहेश्वर करता है। वेसरमहरयुवती ४.११ दुर्गसम्मत पाठ है। दुर्गाचार्य किसी और का पाठ नहीं जानता। स्कन्द दुर्गसम्मत पाठ का खण्डन करता है। अन्य प्रमाण देखें दुर्ग, निरुक्तवृत्ति ५.२५, ६.२, ३, ५, १४, १९, २२.

२ पं० भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भा०,१. पृ०,३३-३४.

३ पं० भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भा०,१. पृ०,३२.

४ पं० भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भा०,१. पृ०,२१३.

पृथिवीनामभ्य एवोपक्रम्य स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह।'[१]

जबकि स्कन्द के भाष्य से ऐसा कोई सङ्केत प्राप्त नहीं होता है। इसका आशय यह ग्रहण किया जा सकता है कि स्कन्द के काल तक शाकपूणि का उपर्युक्त ग्रन्थ अप्राप्य या नष्ट हो चुका था, इसलिये स्कन्द की अपेक्षा दुर्ग प्राचीन हैं।

ख-वार्तिककार के नाम से दुर्ग कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं, जैसे-

१. यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर्गुणविग्रहः॥[२]

गतार्थं मन्यमानो भाष्यकारो निगमं च ब्रवीति। वार्तिककारेणाप्युक्तम्-

२. निगमवशाद् बह्वर्थं भवति पदं तद्धितस्तथा धातुः।
उपसर्गगुणनिपाता मन्त्रगताः सर्वथा लक्ष्याः॥'[३]

तदुक्तं वार्तिकारेण-

३. क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम्।
प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत्॥'[४]

जबकि वार्तिकार से परिचित होने का कोई सङ्केत स्कन्दभाष्य से प्राप्त नहीं होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्कन्द के समय उपर्युक्त ग्रन्थ लुप्त हो चुका था, इस कारण वे एक भी स्थान पर वार्तिककार को उद्धृत नहीं करते हैं।

ग-इसके अतिरिक्त स्कन्द भर्तृहरि से परिचित हैंः-

आह च-**'पूर्वावस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम्।**
संमूर्च्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते।'[५]

अन्यत्र भी-

तथा चोक्तम्-**'साहचर्यं विरोधिना इति।''**[६]

इनमें से प्रथम वाक्यपदीय के तृतीय खण्ड के साधनसमुद्देश[७] तथा दूसरा द्वितीय काण्ड का है।[८]

जबकि दुर्ग के निरुक्तभाष्य से ऐसा कोई सङ्केत उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह ज्ञात हो सके कि वे

---

१ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, ८.४. पृ, ७४०.

२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,०९.

३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६००.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,७४०.

५ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,१. पृ, २८.

६ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०,२. पृ, ३५६.

७ भर्तृहरि, वाक्यपदीय, का०,३, साधनसमुद्देश,११६.

८ भर्तृहरि, वाक्यपदीय, का०,२, साधनसमुद्देश,३१५.



146374

भर्तृहरि से परिचित हैं। सामान्यतया भर्तृहरि का काल ५५० ई० है, जो उपर्युक्त दुर्ग के बताये काल के आसपास का है। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि या तो दुर्ग भर्तृहरि से पूर्ववर्ती हैं या फिर समकालिक। सम्भवतः, इसी कारण सुदूर अरण्य में बैठे हुए दुर्ग तक भर्तृहरि के वाक्यपदीय की कीर्ति नहीं पहुँच पायी, अन्यथा व्याकरण का मर्मज्ञ वह व्याकरण के इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वाक्यपदीय की कैसे उपेक्षा कर सकता था। भर्तृहरि को उद्धृत किये जाने के कारण यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि स्कन्द की अपेक्षा भर्तृहरि पूर्ववर्ती हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि दुर्ग और भर्तृहरि समकालीन हैं या इन दोनों में काल की दृष्टि से अधिक पूर्वापरत्व नहीं है। अतः, निश्चित रूप से दुर्ग स्कन्द और देवराजयज्वन् से पूर्ववर्ती हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य संस्कृत साहित्य के इतिहासवेत्ता भी दुर्ग का उपर्युक्त स्थितिकाल मानने के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में वाचस्पति गैरोला का अभिमत है कि दुर्गाचार्य कश्मीरदेशीय थे, जो पीछे संन्यासी हो गये थे। इनका स्थिति काल छठी शताब्दी है।[१]

आचार्य बल्देव उपाध्याय का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण है कि 'दुर्गाचार्य का समय निरूपण अभी यथार्थ रीति से नहीं हुआ है। इस वृत्ति की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति १४४४ संवत् की है। अतः, दुर्गाचार्य को इस समय से प्राचीन मानना पड़ेगा। ऋग्वेद के भाष्यकार आचार्य उद्गीथ दुर्गाचार्य की वृत्ति से परिचित मालूम पड़ते हैं। आचार्य उद्गीथ का समय विक्रम की सप्तम शताब्दी है। अतः, दुर्गाचार्य को सप्तम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।'[२]

उपर्युक्त तथ्यों और इतिहासवेत्ताओं के मत को देखकर यह उचित प्रतीत होता है कि दुर्ग का स्थितिकाल विक्रम छठी शताब्दी से अर्वाचीन न माना जाये। यदि दुर्ग ने अपने भाष्य के सहायक स्रोतों तथा आचार्यों का उल्लेख किया होता तो उनके सम्बन्ध में कुछ अधिक निश्चयपूर्वक कहा जा सकता था। यह मान भी लिया जाए कि कतिपय उद्धरण परवर्ती महेश्वर ने स्कन्दभाष्य में दे दिये हैं, तथापि उपर्युक्त प्रमाणों के आलोक में यह प्रतीत होता है कि स्कन्द की अपेक्षा दुर्ग प्राचीन हैं। दुर्ग से अपरिचित या बहुत अधिक परिचित न होने का कारण यह प्रतीत होता है कि दोनों की जन्मभूमि और कार्यक्षेत्र में बहुत अधिक दूरी रही है।

आचार्य स्कन्दस्वामी का काल

आचार्य स्कन्दस्वामी के काल के विषय में डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का अभिमत है कि स्कन्दस्वामी का काल शतपथ-ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के कालनिर्णय पर निर्भर है। हरिस्वामी ने अपने तथा स्कन्दस्वामी के साथ सम्बन्ध के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनायें उपलब्ध करायी हैं। वह अवन्ती (मालवा) के सम्राट् विक्रमादित्य के राज्य में विधि-विभाग का प्रमुख था। वह कहता है:-

श्रीमतोऽवन्तीनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितुः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति॥

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ०,१८८.

२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०,३४९.

अवन्ती के राजा विक्रमादित्य के धर्म विभाग का अध्यक्ष मैं हरिस्वामी अपनी बुद्धि के अनुसार शतपथ-ब्राह्मण की व्याख्या करने जा रहा हूँ।

य: सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्।

व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरु:।।

जिसने सात सोम संस्था करके सम्राट् की पदवी प्राप्त की और ऋग्वेद पर भाष्य करके मुझे पढ़ाया, वह श्री स्कन्दस्वामी मेरा गुरु है।

हरिस्वामी अपनी तिथि के विषय में बताता हुआ कहता है:-

यदाब्दानां कलेर्जग्मु: सप्तत्रिंशत् शतानि वै।

चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्।।

कलियुग के ३७४० वर्ष व्यतीत होने पर मैंने शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया। कहने का आशय यह है कि कलियुग का प्रारम्भ ईसापूर्व ३१०२ को हुआ। इस प्रकार हरिस्वामी ने भाष्य ६३८ ई० में किया। हम यह नहीं जानते कि जब हरिस्वामी ने शतपथ की व्याख्या की थी तब वह कितने वर्ष का था। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या की गम्भीरता को देखते हुए लगता है कि यह भाष्य उसने कम से कम ४० वर्ष की आयु में लिखा होगा। यद्यपि यह प्रौढावस्था की रचना प्रतीत होती है। उसने स्कन्दस्वामी से अध्ययन किया होगा, वह आयु २० वर्ष से कम ही रही होगी। इस आधार पर स्कन्दस्वामी का काल ६१८ ई० माना जा सकता है। परन्तु डॉ. स्वरूप कहते हैं कि जो प्रमाण हरिस्वामी ने दिया है, वह समीक्षा की अपेक्षा करता है, क्योंकि विक्रमादित्य का जो समय हरिस्वामी बता रहे हैं, वस्तुत: इतिहास से उसकी पुष्टि नहीं होती।[१] उनके अनुसार जो श्लोक हरिस्वामी ने लिखा है, वह भ्रष्ट हो चुका है, उसका सम्भावित संशोधन निम्न प्रकार होना चाहिये-

यदाब्दानां कलेर्जग्मु: षट्त्रिंशच्छतकानि वै।

चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्।। २

मैंने यह व्याख्या तब लिखी जब कलियुग को प्रारम्भ हुए ३६०० तथा ४० वर्ष व्यतीत हुए।

इस प्रकार डॉ. स्वरूप ३७०० के स्थान पर ३६०० करके स्कन्द की तिथि सौ वर्ष पहले निर्धारित करना चाहते हैं। उनके अनुसार हरिस्वामी ने ५३८ ई० में शतपथ का भाष्य किया। वे इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यशोधर्मन् ने ५२८ ई० में अपने राज्य सुदृढ़ किया और उसके पश्चात् उसने हूणों पर महान् विजय प्राप्त की। वे आगे कहते हैं कि मालवा प्रदेश में यशोधर्मन् के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा राजा ऐसा दिखायी नहीं देता, जिसे विक्रमादित्य उपाधि प्राप्त की हो। ५३८ ई० में यशोधर्मन् के देहान्त के उपरान्त सम्भवत:, उसका राज्य दो भागों में बँट गया। एक था पूर्वीय मालवा जिसकी राजधानी उज्जैन थी, जबकि दूसरा था पश्चिमी मालवा जिसमें वलभी, सौराष्ट्र थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोधर्मन् का पुत्र शिलादित्य पश्चिमी मालवा प्रदेश का राजा था।[३]

---

१. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०५४-५५

२. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०५७

३. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०५७ This will give the date of the composition of the commentary of Harisvamin as 538 A.D. Yashodarman consolidated

आगे डॉ. लक्ष्मण स्वरूप कहते हैं कि यदि हम हरिस्वामी के वक्तव्य को स्वीकार करते हैं, जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में उद्धृत किया गया है, तब हम द्विविधा में पड़ जाते हैं। फिर हम यह मानने के लिये बाध्य हैं कि मालवा में ६३८ई० में विक्रमादित्य हुआ था, जो उपर्युक्त साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में मानना सम्भव नहीं है। यह कठिनाई देखते हुए मैंने हरिस्वामी द्वारा उद्धृत श्लोक में परिवर्तन सुझाया है। ऐसा करने से हरिस्वामी यशोधर्मन् के समकालीन हैं। यदि हरिस्वामी ने अपनी व्याख्या ५३८ई० लिखी थी, तब स्कन्दस्वामी जो कि हरिस्वामी का गुरु था, का समय पाँचवी शताब्दी का उत्तरार्ध या षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध निर्धारित किया जा सकता है।[१]

डॉ. लक्ष्मण स्वरूप के मत के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए पं० भगवद्दत्त कहते हैं कि 'वे ३२०२ पूर्व ईसा से कलि संवत् का आरम्भ मानते हैं। कलि संवत् का आरम्भ ३२०२ पूर्व ईसा में हुआ हो, ऐसा किसी अन्य विद्वान् का मत नहीं है। अत: स्कन्द के ऋग्भाष्य करने का काल ६३० सन् ईसा ठीक है।[२]

डॉ. स्वरूप के मत को स्वीकार न कर पाने के जो कारण पं०भगवद्दत्त दे रहे हैं, वस्तुत: वह कारण नहीं है। डॉ. स्वरूप इस प्रकार की कोई भूल करते दिखायी नहीं देते। वे हरिस्वामी के काल निर्धारण करने वाले श्लोक में किंचित् परिवर्तन का सुझाव देते हैं, जिससे स्कन्दस्वामी का काल सौ वर्ष पहले हो जाता है।

यदि हम डॉ. स्वरूप के उक्त वक्तव्य पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि वह मत स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसका कारण यह है कि डॉ. स्वरूप ने हूणों को निष्कासित या पराजित करने के कारण यशोधर्मन् को विक्रमादित्य माना है, लेकिन इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यशोधर्मन् ने जननेन्द्र, अतिराज, राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की थीं,[३] परन्तु उसके विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने का कोई

---

his kingdom after his great victory over the Huns in 529 A.D. and could thus be the patron of Harisvamin in 538 A.D.

I may add that after Yashodarman, we do not come across any other Vikramaditya in Malva. Yashodarman had a long reign. Hi died 583 A.D. After his death, his kingdom fell into pieces. Malva seems to have become divided into two independent states, one of the Eastern Malva with its capital at Ujjain and the other of Western Malva, including Valabhi and Saurashtra. Siladitya, the son of Yashodharman seems to be the ruler of Western Malva only.

१. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०६४-६५ If we accept the statement of Harisvamin as recorded in the verse quoted above, we are confronted with a dilemma. We are asked to believe in the existence of a Vikramaditya in Malva in 638A.D. which as detailed above, is out of question. As a solution of the difficulty I have proposed to emend the text of the verse. This will make Harisvamin a contemporary of Yashodharman, who can be the only person to be a appropriately identified with the patron of the commentator of the satapatha. If Harisvamin composed his commentary in 538 A.D., then Skandasvamin, his teacher, can be assigned with justice to the end of the 5th cen. or the beginning of the 6th cen. A.D.

२. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२३

३. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ०५०२-५०३, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद-२००१। राजबली पाण्डेय, प्राचीन भारत, पृ०२८४, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-२०००

उल्लेख देखने को नहीं मिलता। हम यह कह सकते हैं कि आज उपलब्ध इतिहास के आधार पर यशोधर्मन् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो, पुष्टि नहीं होती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय स्कन्द के विषय में मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'निरुक्त के अन्य टीकाकारों में आचार्य स्कन्दस्वामी की टीका लाहौर में प्रकाशित हुई है। यह टीका प्राचीन और पाण्डित्यपूर्ण है। ये स्कन्दस्वामी वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने ऋग्वेद के ऊपर भाष्य लिखा है। ये गुजरात की प्रख्यात नगरी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता नाम भर्तृध्रुव था। इनका समय सप्तम शतक विक्रमी का उत्तरार्ध है। इनका ऋग्वेद का भाष्य प्रामाणिक है तथा अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। ऐसे विशिष्ट विद्वान् के द्वारा विरचित होने से यह निरुक्त टीका भी अपनी विशिष्टता रखती है।'[१]

इस प्रकार उक्त वक्तव्य के अनुसार ऋग्वेदभाष्यकार और निरुक्तटीकाकार दोनों एक ही व्यक्ति हैं और उनका समय सप्तम शती ईसवी का पूर्वार्ध है।

पण्डित साम्बशिव शास्त्री ने भट्टिकाव्य के टीकाकार गोविन्दस्वामी सूनु हरिस्वामी की समानता का शतपथ-ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी से जो अनुमान किया है, वह सत्य नहीं है।[२] शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के पिता का नाम नागस्वामी था। इससे प्रतीत होता है कि भट्टिकाव्य के सम्बन्ध में यदि पं० साम्बशिव शास्त्री का लेख ठीक है तो क्या हरिस्वामी नाम के दो आचार्य हो चुके हैं।[३]

परन्तु भट्टिकाव्य का जो संस्करण निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से सन् १९०० में निकला था, उसके अन्त में टीकाकार का नाम जयमंगल आदि और ग्रन्थकार का नाम श्रीस्वामिसूनु कवि भट्टि लिखा है। इसलिये पं०साम्बशिव शास्त्री के लेख के सुनिश्चित होने में अभी सन्देह है। सटीक भट्टिकाव्य के जिस हस्तलेख का प्रमाण पं० सदाशिव शास्त्री ने दिया है, उसकी तुलना अन्य अनेक ग्रन्थों से होनी चाहिये।[४]

प्राचीन भाष्यकार मानते हुए सायण (१३७२-१४४४) अपने ऋग्वेदभाष्य में स्कन्दस्वामी के विषय में कहता है-

१. वराहून् वरशब्दोपपदाङ्पूर्वाद्धन्तेर्वा, हरतेर्वा, ह्वयतेर्वा, जुहोतेरदनार्थाद्वा हु इत्येतस्य निष्पत्तिरिति स्कन्दस्वामी।[५]

२. द्विनञ्पूर्वस्यासुन्प्रत्ययान्तस्य वेदेरेकस्य नञो लोपोऽन्यस्य प्रकृतिभावश्च स्कन्दस्वामिना निपातितः। पाणिनिना तु 'नभ्राणनपात्०' इति सूत्रे न वेत्तीत्येतस्मिन्नर्थे निपातितः। अस्यार्थस्यानुपपन्नत्वात्

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०३६१

२. ऋक्संहिता, भूमिका, पृ०३, इति ससत्कविचूडामणिगोविन्दस्वामिसूनुहरिस्वामीविरचितमहाकाव्यटीकायां भगवच्छंकरपरमहंसपरिव्राजकनिगदितायां जयमंगलायां तिङन्तकाण्डे लुड्विलसितं नवमःपरिच्छेदः। त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, ९६, १९२९, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२३

३. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२३

४. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२४

५. सायण, ऋग्भाष्य १.८८.५

स्कन्दस्वामिपक्ष एवाश्रीयते[1]

(ख) १४वीं शताब्दी के आरम्भ के देवराजयज्वा ने अपने-अपने निघण्टुभाष्य में अनेकशः स्कन्दस्वामी को उद्धृत किया है-

१. अस्य स्कन्दस्वामी-'दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्मकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गमिक्रियाव्यवहारः।[2]

२. 'छादनार्थत्वं च विशिष्टम्' इति स्कन्दस्वामी।[3]

३. निर्ऋतिः-'निरमणात्' निरुक्तम् (२.७)। अस्य स्कन्दस्वामी-'निरमणात्-निश्चलत्वेनावस्थानात्-इत्यर्थः, 'रमन्ते वास्यां भूतानि' इति।[4]

(ग) १३वीं शताब्दी का केशवस्वामी अपने नानार्थार्णव में संक्षेप से लिखता है-

द्वयोस्त्वश्वे तथाह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते।।[5]

अर्थात् दोनों लिंगों में गौ शब्द का घोड़ा अर्थ है। इसी प्रकार अनेक ऋचाओं में स्कन्दस्वामी ने घोड़ा अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋग्वेद में यही अर्थ करता है।[6]

(घ) १२वीं शताब्दी अथवा इससे कुछ पूर्व का वेंकटमाधव लिखता है-

भाष्याणि वैदिकन्याहुरार्यावर्तनिवासिनः।
क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः।।८।।

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगौरवम्।।९।।[7]

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ ने मिलकर एक ऋग्वेदभाष्य रचा। स्कन्दभाष्य पहले भागों पर, नारायणभाष्य मध्य भाग पर और उद्गीथभाष्य अन्तिम भाग पर है।

प्रो. व्रजबिहारी चौबे का स्कन्दस्वामी के विषय में अभिमत है कि 'इनके द्वारा रचित व्याख्या 'स्कन्दमहेश्वरवृत्ति' के रूप में प्रसिद्ध है। दुर्गाचार्य की अपेक्षा यह कम विशद है, किन्तु सरल और स्पष्ट है। यह ज्ञात नहीं होता कि इस वृत्ति का कितना अंश स्कन्दस्वामी ने रचा था और कितना महेश्वर ने। स्कन्दस्वामी शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु थे। इनका काल पाँचवी शती ई० माना जाता है। स्कन्दस्वामी

---

१. सायण, ऋग्भाष्य ५.१२.३

२. देवराजयज्वा, निघं०१.१.१

३. देवराजयज्वा, निघं०१.१.१०

४. देवराजयज्वा, निघं०१.१.१६

५. नानार्थार्णवसंक्षेप,पृ०८, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला २३। सन् १९२८ की ओरियेण्टल कॉन्फ्रेन्स में, जो लाहौर नगर में हुई थी, इस प्रमाण की ओर मूल लेखक ने ध्यान दिलाया था। पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२५

६. ऋग्वेदभाष्य, १.८४.१६, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२५

७. ऋगर्थदीपिका, अष्टक-८, अध्याय-४ की भूमिका। पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२५

ऋग्वेद के भी आद्य भाष्यकार हैं। महेश्वर इनकी तुलना में परवर्ती हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य को इन्होंने उद्धृत किया है। तदनुसार इनका समय १२वीं शती निर्धारित होता है।'[१]

प्रो. चौबे ने स्कन्दस्वामी का काल ५वीं शताब्दी माना है, जबकि आचार्य बलदेव उपाध्याय इनको सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का मान रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रो. चौबे ने स्वीकार किया है कि आज जो निरुक्तवृत्ति उपलब्ध है, उसके दो लेखक हैं। जहाँ स्कन्दस्वामी पाँचवीं या सातवीं शताब्दी के हैं, वहीं महेश्वर का काल १२वीं शती है अर्थात् दोनों टीकाकारों में कम से कम पाँच सौ वर्षों का सुदीर्घ अन्तर विद्यमान है।

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र कहते हैं कि आचार्य स्कन्दस्वामी के काल का निर्णय पर्याप्त पर्यालोचन के पश्चात् निश्चित रूप से कहा जा सकता है। परवर्ती ग्रन्थों में नाम का उल्लेख होने से इनका आविर्भाव काल सूचित होता है। शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में स्वयं हरिस्वामी ने स्कन्दस्वामी को अपना गुरु स्वीकार करते हुए अपना परिचय दिया है-

नागस्वामी तन्नप्ता श्रीगुहस्वामीनन्दनः।

तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः॥५॥

तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद् वेदवेदिमान्।

त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात्॥६॥

यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथार्क्कश्रुतिम्।

व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥७॥

हरिस्वामी ने अपने भाष्य की रचना का समय भी बताया है-

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशत् शतानि वै।

चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

हरिस्वामी ने कलियुग के ३७४० वर्ष व्यतीत हो जाने पर शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था। कलियुग का प्रारम्भ विक्रम संवत्सर से ३०४५ वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है। अर्थात् ईसवी शती से यह काल ३१०२ वर्ष है। इससे हरिस्वामी ३७४०-३०४५=६९५ विक्रम संवत्सर में अर्थात् ६३८ ई० में शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था। स्कन्दस्वामी ने इस काल से पहले ऋग्वेदभाष्य की रचना कर ली थी और हरिस्वामी को वेद भी पढ़ाया था। इसलिये स्कन्दस्वामी का काल प्रायः ६८२ वि०सं० तथा ६२५ ई० सिद्ध होता है। दूसरे भी इतिहासकारों का कथन है कि स्कन्दस्वामी ६२५ ई० के लगभग भारत को विभूषित किया था। इससे यह हर्ष और बाण के समकालिक प्रतीत होता है।

पहले ही यह तथ्य प्रतिपादित कर दिया है कि स्कन्दस्वामी ने निरुक्त की टीका की है। निरुक्त के टीकाकार तथा ऋग्वेद के भाष्यकार दोनों एक ही स्कन्दस्वामी हैं। दोनों ग्रन्थकारों की अभिन्नता के विषय में देवराजयज्वन् के निम्नलिखित प्रमाण से पुष्टि होती है-

'उपप्रयोभिरागतम्' इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्नं नाम उच्यते, तथा च

---

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, भाग-२, पृ०४०१, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ १९९७.

'अक्षिति श्रव:' इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये 'श्रव' इत्यन्नं नाम स्पष्टमुच्यते।'

इस उद्धरण से यह पुष्ट हो जाता है कि निरुक्तटीकाकार तथा ऋग्वेदभाष्यकार दोनों के रचयिता एक ही स्कन्दस्वामी हैं। इसलिये इस विषय में नाममात्र को भी सन्देह का अवसर नहीं है।[१]

आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक ने पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे को उद्धृत करते हुए कहा है कि उन्होंने शतपथभाष्यकार हरिस्वामी को वैक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालिक सिद्ध किया है। तदनुसार आचार्य दुर्ग को विक्रमपूर्व का मानना होगा। क्योंकि हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्त टीका के प्रारम्भ में दुर्गाचार्य का आदरपूर्वक स्मरण किया है।[२] वररुचि के कालनिर्धारण के प्रसङ्ग में युधिष्ठिर मीमांसक पुन: कहते हैं कि हरिस्वामी द्वारा अपना काल बताते हुए **'सप्तत्रिंशच्छतानि'** कहा है, इसको लेकर ऐतिहासिकों में विवाद है। प्राय: सभी पाश्चात्य मत के अनुयायी विद्वान् **'सप्तत्रिंशच्छतानि'** को एक पद मानकर ३७४०वें कलिसंवत्सर में अर्थात् ६९५ विक्रमाब्द में भाष्य रचा हुआ मानते हैं, परन्तु पण्डित सादशिवलक्ष्मीधर कात्रे ने **'सप्त'** पद को असमस्त करके ३००७+४०=३०४७ कलिसंवत्सर अर्थात् विक्रमाब्द से दो वर्ष पहले हरिस्वामी ने भाष्य रचा है, ऐसा मत प्रतिपादित किया है। ३७४०वें कलिसंवत्सर में (६९५ विक्रमाब्द) में अवन्ती कोई भी विक्रम नाम का राजा नहीं था, ऐसा सभी मानते हैं। इसलिये कात्रे महोदय का मत समीचीन है, ऐसा मैं मानता हूँ।[३] एक अन्य स्थान पर युधिष्ठिर मीमांसक ने स्कन्दस्वामी को ६८७ विक्रम संवत् के लगभग होने वाला बताया है।[४]

उपर्युक्त पंक्तियों में युधिष्ठिर मीमांसक स्कन्द और महेश्वर को एक मानकर उक्त वक्तव्य दे रहे हैं। दुर्ग को स्कन्द ने नहीं, महेश्वर ने उद्धृत किया है। यदि कदाचित् स्कन्द दुर्ग से परिचित होते तो देवराजयज्वन् भी अवश्य दुर्ग से परिचित होता, भले ही वह माध्यम स्कन्द होते। परन्तु देवराजयज्वन् के अध्ययन से ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, जिससे विदित हो कि देवराजयज्वन् दुर्ग से परिचित हों।

युधिष्ठिर मीमांसक अपने मत का प्रत्याख्यान स्वयं कर देते हैं। एक बार वे स्कन्द को विक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन बतलाते हैं और थोड़ा आगे बढ़कर वे स्कन्दस्वामी को ६८७ विक्रम संवत् के लगभग होने वाला बताते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी स्कन्द की तिथि के विषय में निश्चयात्मक रूप से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाए थे।

स्कन्दस्वामी की तिथि के विषय में पं० भगवद्दत्त का अभिमत है कि हरिस्वामी का काल जान लिया गया

---

१. आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र, वैदिकवाङ्मयस्येतिहास:, पृ०२५-२६, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८९

२. संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ०७४

३. द्वितीयावृत्तेर्भूमिका, निरुक्तसमुच्चय:, पृ०३ 'अत्र 'सप्तत्रिंशच्छतानि' इत्यत्र विप्रवदन्ते ऐतिहासिका:। प्रायेण सर्वे पाश्चात्यमतानुयायिनो विद्वांस: 'सप्तत्रिंशच्छतानीत्येकं पदं मत्वा ३७४० तमे, कलिवत्सरे अर्थात् ६९५ वैक्रमाब्दे भाष्यं रचितमित्याहु:। परन्तु 'पण्डित सदाशिवलक्ष्मीधर कात्रे' नाम्ना विदुषा सप्तेति पदमसमस्तं स्वीकृत्य ३००७+४०=३०४७ कलिवत्सरेऽर्थात् वैक्रमाब्दप्रवर्त्तनाद् वर्षद्वयपूर्वं हरिस्वामिना भाष्यमिदं विरचितम् इति मतमुपन्यस्तम्। ३७४० कलिवत्सरे (६९५वैक्रमाब्दे) अवन्त्यां विक्रमनामा कश्चिदपि राजा नासीदिति सर्वसम्मतम्। तथा सति कात्रेमहोदयस्य व्याख्यानमेव युक्ततरमिति वयं पश्याम:।'

४. संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ०२४१

है। उस काल के आधार पर आचार्य स्कन्दस्वामी का काल भी ज्ञात हो गया है। हरिस्वामी सम्बन्धी निम्नलिखित श्लोक इसे स्पष्ट करते हैं–

नागस्वामी तन्नप्ता श्रीगुहस्वामीनन्दनः।

तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः॥५॥

तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद् वेदवेदिमान्।

त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात्॥६॥

यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथार्क्कश्रुतिम्।

व्याख्यां कृत्वाऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥७॥

ततोऽधीतमहातन्त्रो विश्वोपकृतिहेतवे।

व्याचिख्यासुः श्रुतेरर्थं हरिस्वामी नतो गुरुम्॥८॥

अर्थात् श्री गुहस्वामी का पौत्र और नागस्वामी का पुत्र याज्ञिक, प्रमाणज्ञ और लक्ष्मी से युक्त हरिस्वामी था। वह वेदों के व्याख्यान में प्रवीण और गुरुमुख से विद्या पढ़ा हुआ था। जिसने सात सोमसंस्था करके सम्राट् की पदवी प्राप्त की और ऋग्वेद पर व्याख्या करने के पश्चात् मुझे पढ़ाया, वह स्कन्दस्वामी मेरा गुरु है।

प्रथम काण्ड के ब्राह्मणभाष्य के अनेक अध्यायों की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं–

नागस्वामी सुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।

श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः॥

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।

धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं श्रुतिम्॥

अर्थात् पराशर गोत्र वाले, नागस्वामी के पुत्र, पुष्कर निवासी, अवन्तिनाथ विक्रमार्क के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी ने शतपथ की श्रुति का व्याख्यान किया।

कलि संवत् ३१०२ पूर्व ईसा में आरम्भ हुआ था। इसलिये हरिस्वामी ने सन् ६३८ में शतपथ के प्रथम काण्ड का भाष्य किया। भाष्य करने से कुछ वर्ष पूर्व वह अपने गुरु स्कन्दस्वामी से पढ़ता रहा। स्कन्दस्वामी उसको पढ़ाने से पूर्व ही अपना ऋग्भाष्य समाप्त कर चुका था। अनुमानतः लगभग सन् ६३० में स्कन्दस्वामी अपना भाष्य कर रहा होगा।[१]

उपर्युक्त विस्तृत विवरण पर ध्यान देने पर एक ऐसा तथ्य है, जो अभी तक निर्णीत नहीं हो पाया है, जिसकी ओर डॉ. स्वरूप ने ध्यान आकर्षित किया है। हरिस्वामी ने अपने को विक्रमार्क भूपति के समय होना बताया है–

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।

---

१. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२५२-२३

धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं श्रुतिम्॥

यदि हम विक्रमार्क भूपति का आशय यह लेते हैं कि ऐसा कोई राजा जिसका नाम विक्रमादित्य हो अथवा जिसने हूणों और शकों को पराजित कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो, तब निस्सन्देह यह गम्भीर समस्या बन जाती है। हरिस्वामी ने केवल विक्रमार्क भूपति कहा होता, तब भी विवाद न होता, उन्होंने साथ में तिथि का भी उल्लेख कर दिया है। वे कहते हैं-

यदाब्दानां कलेर्जग्मु: सप्तत्रिंशत् शतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

'हरिस्वामी ने कलियुग के ३७४० वर्ष व्यतीत हो जाने पर शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था। कलियुग का प्रारम्भ विक्रम संवत्सर से ३०४५ वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है। अर्थात् ईसवी शती से यह काल ३१०२ वर्ष है। इससे हरिस्वामी ३७४०-३०४५=६९५ विक्रम संवत्सर में अर्थात् ६३८ ई० में शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था।'

उक्त वक्तव्य के आधार पर हम यदि इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो उस काल में अवन्ती प्रदेश में पुलकेशिन् द्वितीय (६१०-६४२ई० तक) राज्य कर रहा था, जिसे किसी भी रूप में विक्रमार्क भूपति नहीं माना जा सकता।[१] लेकिन इसके पुत्र का नाम अवश्य विक्रमादित्य प्रथम था, जिसका समय ६५५-६८१ ई० माना जाता है। पुत्र और पिता के शासन के बीच का काल संक्रमण काल रहा है। उस संक्रमणकाल की अवधि में वंश के अन्य लोग सत्ता पर आधिपत्य स्थापित करते देखे जाते हैं।[२]

अत: उक्त स्थिति के परिप्रेक्ष्य में एक सम्भावना बनती दिखायी देती है कि कहीं ऐसा तो नहीं, जिस विक्रमार्क भूपति का उल्लेख हरिस्वामी कर रहे हैं, वह पुलकेशिन् द्वितीय का पुत्र विक्रमादित्य, जिसका काल ६५५-६८१ ई० माना जाता है, रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि कालनिर्धारण करते समय कालगणना के आकलन में कुछ भूल हो रही है। यह स्खलन भी कोई बहुत बड़ा नहीं है। संभवत: कलियुग का प्रारम्भ किस समय हुआ है, इसका आकलन करने में हरिस्वामी से कुछ विसंगति हो गयी है। इतने विस्तृत इतिहास में दो दशक की भूल कोई बहुत बड़ी भूल नहीं मानी जा सकती। यदि हम पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य के समकालिक हरिस्वामी को मानते हैं, तब हरिस्वामी का काल ६६०ई० के लगभग निर्धारित होता है और सम्भवत: इसी समय हरिस्वामी ने भाष्य भी किया होगा।

जब हरिस्वामी का काल निश्चित हो जाता है, तब स्कन्दस्वामी के काल निर्धारण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रह जाती है। हरिस्वामी ने जब शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया होगा तब वे प्रौढ़ रहे होंगे और निश्चित रूप से उस समय उनकी आयु ४५-५० के लगभग होनी चाहिये। इसी प्रकार जब स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेदभाष्य किया होगा, वे भी ५० से कम नहीं होंगे। गुरु-शिष्य की आयु में कम से कम ३० वर्ष का अन्तराल रहा होगा। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि ६३०ई० में स्कन्दस्वामी अपने

---

१. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ०६५०, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद-२००१
२. वही, पृ०६५०-६५१,

जीवन का सर्वश्रेष्ठ अवदान ऋग्वेदभाष्य और निरुक्तभाष्य के रूप में दे चुके थे या दे रहे थे।

डॉ. स्वरूप, पं०भगवद्दत्त तथा अन्य विद्वानों के वक्तव्य भी लगभग उक्त काल सीमा को छू रहे हैं। अतः निश्चयात्मक रूप से यह मान सकते हैं कि सप्तम शताब्दी के पूर्वार्ध में स्कन्दस्वामी इस धरा पर थे। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवेचन से विना किसी सन्देह के यह भी पुष्ट होता है कि निरुक्तटीकाकार तथा ऋग्वेदभाष्यकार दोनों कृतियों के रचयिता स्कन्दस्वामी ही हैं। इस प्रकार हम विना किसी सन्देह के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह कह सकते हैं कि निरुक्तवृत्तिकार तथा ऋग्वेद के प्रथम भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी एक ही हैं और उनका काल सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध है।

स्कन्दस्वामी की जन्मभूमि एवं माता-पिता

स्कन्द के काल निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले हरिस्वामी ने स्कन्दस्वामी के जन्म तथा उनके माता-पिता के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। स्वयं स्कन्दस्वामी ऋग्वेदभाष्य के प्रथमाष्टक की समाप्ति पर लिखते हैं-

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहतिम्।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति।।

स्कन्दभाष्य के चतुर्थाष्टक के अन्त में भी यही श्लोक विद्यमान है। इससे विदित होता है कि स्कन्दस्वामी वलभी का रहने वाला था तथा उनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। पं०भगवद्दत्त डॉ. राज को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि राज का अनुमान है कि वलभी का राजा ध्रुवसेन ही कदाचित् भर्तृध्रुव हो।[१] इस अनुमान को मानने के लिये मुझे अभी तक कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिला है।[२]

इस प्रकार उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर आज हम केवल इतना कह सकते हैं कि स्कन्दस्वामी की जन्मभूमि वलभी गुजरात थी तथा उनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था।

देवराजयज्वन् की दृष्टि में आचार्य स्कन्दस्वामी

निरुक्त के द्वितीय व्याख्याकार आचार्य स्कन्दस्वामी हैं। आज जो हमें निरुक्तभाष्य मिलता है, वह स्कन्दस्वामिमहेश्वरकृत माना जाता है। निघण्टु के व्याख्याकार आचार्य देवराजयज्वन् ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ आचार्य स्कन्दस्वामी का नाम उद्धृत किया है। वे स्कन्दस्वामी के विषय में लिखते हैं-'आचार्य यास्क ने निघण्टु को समाम्नाय को नैघण्टुक, नैगम और देवताकाण्ड भेद से तीन प्रकार का विभाजन करते हुए नैगम तथा दैवत काण्ड के समस्त पदों का निर्वचन तथा उसके मन्त्रोदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जबकि नैघण्टुक काण्ड के कुछ पदों का ही निर्वचन किया है तथा उनमें से भी कुछ के मन्त्रोदाहरण प्रस्तुत किये हैं, बहुत सारे पद विस्तारभय और बुद्धिमानों

---

१. Proceedings of A.I.O.C. P.258, Lahore, 1918. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३६
२. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३६

के द्वारा निर्वचनीय जानकर उनको छोड़ दिया गया है। परन्तु **स्कन्दस्वामी** ने उन सबका निर्वचन किया है।'[१]

आगे देवराजयज्वन् कहते हैं कि 'आचार्य यास्क ने साधारण नाम, प्रपित्व आदि २६ नाम, इसी प्रकार के और बहुत सारे नामपदों का केवल प्रकरण का नाम लेकर कह दिया है, लेकिन **स्कन्दस्वामी** ने उनका व्याख्यान किया है। जो **स्कन्दस्वामी** से भी छूट गये हैं, जिनका न तो निर्वचन किया गया है और न उदाहरण ही दिया गया है, ऐसे पदों का अध्ययन से ही ज्ञान किया जा सकता है और कलियुग में वह अध्ययन भी प्राय: विच्छिन्न हो चुका है।'[२]

आगे देवराजयज्वन् कहते हैं कि यह निघण्टु-निर्वचन मैं अपनी बुद्धि से नहीं कर रहा हूँ, किन्तु निघण्टु के तीन सौ पचास शब्द आचार्य यास्क ने निरुक्त में व्याख्यात कर दिये हैं और वहीं उनके उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिये हैं। **स्कन्दस्वामी** ने उपर्युक्त के अतिरिक्त दो सौ पदों का और व्याख्यान किया है। समाम्नाय में पठित पदों को अन्यों से पृथक् करने के लिये **स्कन्दस्वामी** ने चिह्न दे दिये हैं, उनसे मैंने पाठसंशोधन कर लिया है। अन्य शेष पदों के संशोधन के लिये मैंने अपने कुल में निघण्टुसमाम्नाय के अध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा का आश्रय, माधव नामानुक्रमणी, आख्यातानुक्रमणी, स्वरानुक्रमणी, निपातानुक्रमणी, निर्बन्धनानुक्रमणी और उसके भाष्य के अध्ययन, अनेक स्थानों से लाकर संगृहीत किये गये कोशों के निरीक्षण से संशोधित किया है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है-१. निरुक्त, २. **स्कन्दस्वामी**कृतनिरुक्तटीका, ३. **स्कन्दस्वामी**-भवस्वामी-वराहदेव-श्रीनिवास-माधवदेव-उवटभट्ट-भास्करमिश्र-भरतस्वामी आदि के विरचित वेदभाष्य, ४. पाणिनीय व्याकरण, ५. उणादिकोष, ६. क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्यादि के निघण्टुव्याख्यान ७. भोजराजीय व्याकरण, ८. कमलनयनीयनिखिलपदसंस्कार को देखकर निघण्टु का परिष्कार किया है।[३]

---

१. देवराजयज्वन्, निघण्टु-निर्वचनभूमिका, पृ०१-२ 'भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक नैगमदैवताकाण्डरूपेण त्रिविधं गवादिदेवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता नैगमदेवताकाण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि च, नैघण्टुककाण्डपरिपठितानान्तु गवाद्यपारेअन्तानामेकचत्वारिंशच्छतत्रयाधिकसहस्रं सामान्येन एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि' इति व्याख्याय तत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि, तथा कानिचिदेव दर्शितनिगमानि, अन्यानि तु ग्रन्थविस्तरभीत्या सामान्येन निर्वचनलक्षणस्योक्तत्वाद् बुद्धिमद्भिर्निर्वक्तुं सुशक्यानीत्यभिप्रायेण चोपेक्षितानि। **स्कन्दस्वामी** च तत एव निरुक्तमनुजगाम।

२. देवराजयज्वन्, निघण्टु-निर्वचनभूमिका, पृ०२, 'तत्र तु 'दिवश्चादित्यस्य च साधारणनामानि स्वरादीनि षट्' इदमादीनि च उपमाभेदात् भेदनामानि द्वादश, 'प्रपित्वे, अभीके इत्यादीनि च षड्विंशतिश्च' भाष्यकारेण बहुवक्तव्यत्वात् प्रकरणश एव निरुक्तानि, **स्कन्द**स्वामिना च व्याख्यातानि। अतोऽन्येषां यथाक्रमेणानिरुक्तेर्निगमाप्रदर्शनाच्च स्वरूपमात्रमपि अध्ययनादेवावगन्तव्यम्। तच्चाध्ययनं कलियुगे प्रायेण विच्छिन्नसम्प्रदायमासीत्।'

३. देवराजयज्वन्, निघण्टु-निर्वचनभूमिका, पृ०२, 'इदञ्च स्वमनीषिकया न क्रियते किन्तु निघण्ट्वागतेष्वेव पदेष्वध्यर्द्धशतत्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु प्रसङ्गान्निरुक्तानि, **स्कन्द**स्वामिना च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि। तेन च समाम्नायपठितानां पदानामन्येभ्यो व्यावृत्त्यर्थं किञ्चिच्चिह्नं कृतम्, अतस्तेषां पाठशुद्धिस्तत्रैव शुद्धा। अन्येषाञ्च पदानामस्मत्कुले समाम्नायाध्ययनस्याविच्छेदात्, श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्या:, आख्यातानुक्रमण्या:, स्वरानुक्रमण्या:, निपातानुक्रमण्या:, निर्बन्धनानुक्रमण्या: तदीयस्य भाष्यस्य च बहुश: पर्यालोचनात्, बहुदेशसमानीतात् बहुकोशनिरीक्षणाच्च पाठ: संशोधित:। निर्वचनञ्च-१. निरुक्तम्, २.

उपर्युक्त देवराजयज्वन् के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी दृष्टि में यास्क के पश्चात् किसी विद्वान् का स्थान है तो वह स्कन्दस्वामी। उसने लगभग दो पृष्ठों के अपने भूमिका सम्बन्धी वक्तव्य में छ: बार स्कन्द को नाम लेकर उद्धृत किया है। इससे यह विदित हो जाता है कि देवराजयज्वन् के काल तक स्कन्दस्वामी निरुक्त के एकमात्र अधिकृत प्रवक्ता के रूप में स्थापित हो चुके थे। इसके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि निश्चित रूप से उनका काल देवराजयज्वन् से पहले का है। अन्य सभी आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं।

आचार्य स्कन्दस्वामी और देवराजयज्वन्

आचार्य स्कन्दस्वामी का जितना उल्लेख आचार्य देवराजयज्वन् ने किया है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ है। पूर्व में अनेक समीक्षकों के वक्तव्य के आधार पर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि ऋग्वेदभाष्यकार तथा निघण्टु के टीकाकार स्कन्दस्वामी एक ही व्यक्ति हैं। हम यहाँ देवराजयज्वन् के निघण्टुभाष्य से उन उद्धरणों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें स्कन्दस्वामी का ऋग्वेद भाष्यकार के रूप में उल्लेख हुआ है, वे उद्धरण निम्नवत् हैं-

१	निघं०१.१०.२१	इन्द्रो दक्षं परि जानादुहीनाम्' (ऋ०१०.१३९.६) अत्राहिशब्दम्मेघनामत्वेनाभाषयत् स्कन्दस्वामी
२	निघं०१.१२.३१	अहिं मेघं वृष्टिमित्यर्थः। इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
३.	निघं०२.१.२०	त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने (ऋ०१.५४.६) इति निगमः। अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्-'कृत्वीति कर्मनाम, कर्मणि धने निमित्ते (एषा सप्तमी)। धनार्थं यत् कर्मेत्यर्थः। कर्मात्र संग्रामः। संग्रामार्थमाजिः स्यात्' इति। 'कृत्वी सवर्णामदद्दुर्विवस्वते' (ऋ०१०.१७.२) इत्यत्र तु त्वान्तम्, तथा स्कन्दस्वामिना व्याख्यातत्वात्।
४.	निघं०२.७.४	'उप प्रयोभिरागतम्' (ऋ०१.२.४) इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्नं नाम उच्यते, तथा च 'अक्षिति श्रवः' (ऋ०१.४०.४) इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये 'श्रव इत्यन्ननाम' स्पष्टमुच्यते।' निरुक्तटीकायान्तूभयथा (निरु०१०.३)। अतः प्रयःश्रवःशब्दयोः उभयोरप्यन्ननामत्वं स्पष्टम्।
५	निघं०२.७.५	त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम् (ऋ०१.३४.४) इत्यत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्-'पृक्ष अन्ननामैतत् पठन्ति।
६	निघं०२.७.११	विदत् सरमा तनयाय धासिम् (ऋ०१.६२.३) अत्र धासिरन्ननाम इह तु पयआद्यन्नकरणत्वाद् गोषु प्रयुक्तः' इति स्कन्दस्वामी।

स्कन्दस्वामिकृतां निरुक्तटीकाम्, ३. स्कन्दस्वामिभवस्वामिवराहदेवश्रीनिवासमाधवदेवउवटभट्टभास्कर-मिश्रभरतस्वामादिदिरचितानि वेदभाष्याणि, ४. पाणिनीयं व्याकरणम्, ५. विशेषत उणादितद्वृत्तिम्, ६. क्षीरस्वाम्यनन्तचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्याम्, ७. भोजराजीयं व्याकरणम्, ८. कमलनयनीयनिखिलपदसंस्कारांश्च निरीक्ष्य क्रियते।'

७	निघं०२.९.९	नृून् शत्रुभूतान् प्रति नमति, अन्तर्णीतण्यर्थो वा नमिः, नमयति प्रह्वीकरोति इति स्कन्दस्वामी। 'इन्द्र॑ नृम्णं हि ते॑ शव॑ः' (ऋ०१.८०.३) इत्यत्र ऋग्भाष्ये- 'यस्माच्छत्रुभूतानां मनुष्याणामपि नमनकरणं तव बलम्' इति स एव।
८	निघं०२.१४.३२	सक्ष्वां देव॒ प्र णंस्पुरः (ऋ०१.४२.१) इति स्कन्दस्वामी।
९	निघं०२.१४.३४	अ॒ग्निं विश्वा॑ अ॒भि पृक्षः॑ सचन्ते (ऋ०१.७१.७) सचत्यृच्छतीति गतिकर्मसु पाठात् इति स्कन्दस्वामी।
१०	निघं०२.१४.५९	एदुं नि॒म्नं न रीयते (ऋ०१.३०.२) गतिकर्मसु पाठाद् गत्यर्थः' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
११	निघं०२.१४.७०	उ॒तानांगा ईषते॒ वृष्ण्यांवतः॒ (ऋ०५.८३.२) इति निगमः। बहुषु 'ईषतीति गतिकर्मसु पाठात्' इति स्कन्दस्वामी।
१२	निघं०२.१४.८०	य ईङ्खयन्ति॒ पर्वतान् (ऋ०१.१९.७) अत्र 'ईङ्खतिर्गतिकर्मा' इति इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
१३	निघं०२.१५.१४	येना पावक॒ चक्षसा भुर॒ण्यन्त॒म् (ऋ०१.५०.६) इत्यत्र स्कन्दस्वामिना 'भुरण्यतिः शीघ्रकरणार्थे' इति प्रतिपादितम्। तत्र भुरण्यशब्दस्य शीघ्रविशिष्टगमनादिक्रियाकर्त्तरि सत्त्ववत्येव वृत्तिः। 'श्रीणान्नुपस्था॒दिवं॑ भुर॒ण्युः' (ऋ०१.६८.१) इति निगमः। 'भुरण्यतेर्गतिकर्मण इदम्, क्षिप्रनाम वा' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
१४	निघं०२.१६.२	स नौ दूराच्चा॒साच्च॒ (ऋ०१.२७.३) इति निगमः। 'आसादित्यन्तिकनाम' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
१५	निघं०२.१७.१९	जयेम संयुधि स्पृधः (ऋ०१.८.३) इति निगमः। 'स्पृध इति संग्रामनाम, 'तत्करोति०' (अष्टा०वा०३.१.२६) इति णिजन्तात् क्विप्, संग्रामकारिण इत्यर्थः' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
१६	निघं०२.१७.३४	त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आ॒णौ (ऋ०१.६३.३) इति निगमः। 'आणौ इति संग्रामनाम' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
१७.	निघं०२.१८.२	वृद्धस्यं चि॒द्वर्धतो॒ द्यामिनंक्षत॒ः (ऋ०१.५१.९) इति निगमः। 'इन्वति नक्षतीति व्याप्तिकर्मसु पठितस्य इकार आगमश्छान्दसः' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
१८.	निघं०२.१९.१३	यः स्नीहितीषु पूर्व्यः (ऋ०१.७४.२) इति निगमः। 'स्नेहयतिर्वधकर्मा' इति स्कन्दस्वामी।
१९	निघं०३.२.६	निकृत्तमि हि तद् भवति ह्रस्वत्वादेव इति स्कन्दस्वामी।
२०	निघं०३.४.१५	सद्मे॒व धीराः सं॒मायं चक्रुः (ऋ०१.६७.१०) इति निगमः। 'सद्म गृहनाम' इति स्कन्दस्वामी।
२१.	निघं०३.६.१४	रु॒द्रं जलाषभेषजम् (ऋ०१.४३.४) इति निगमः। 'जलाषं सुखनाम। तस्य भेषजमौषधम्' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

२२.	निघं०३.७.५	'अमतिः सामर्थ्यादत्र तद्वति वर्तते' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। (अयं पाठो लक्ष्मणसरूपेण स्कन्दटीकाद्वितीयपरिशिष्टे ३३५तमे पृष्ठ उद्धृतः। तु०स्कन्दस्वामिभाष्यम् (ऋ०१.६४.९)।)
२३.	निघं०३.७.९	'पिशितम्, अवयवशो विभक्तमित्यर्थः' इति स्कन्दस्वामी। (द्र०स्कन्दस्वामिभाष्यम् (ऋ०५.५६.१))
२४.	निघं०३.१४.१३	त्वेषं पनस्युमर्किणम् (ऋ०१.१.३८.१५) इति निगमः। 'पनस्यतिरर्चतिकर्मा, स्तुत्यमित्यर्थः' इति स्कन्दस्वामी।
२५.	निघं०३.१४.३४	वायो तवं प्रपृञ्चती (ऋ०१.२.३) इत्यत्र 'पपृक्षाः, महयति इत्यर्चतिकर्मसु पाठात् पृञ्चतिः स्तुत्यर्थोऽपि' इति स्कन्दस्वामी।
२६.	निघं०३.१४.३९	इन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम् (ऋ०१.५१.१) इति निगमः। 'मदति रसतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्' इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।
२७.	निघं०३.१६.७	यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी (ऋ०१.१०१.४) इति निगमः। 'गोपतिः स्तोत्रपतिः' इति स्कन्दस्वामी।
२८.	निघं०३.१९.३	वयं हि ते अमन्महि (ऋ०१.३०.२१) इति निगमः। 'ईमहे, यामि, मन्मह इति याञ्चाकर्मसु पाठात्' इति स्कन्दस्वामी।
२९.	निघं०३.१९.६	शाकी भव यजमानस्य चोदिता (ऋ०१.५१.८) इत्यत्र 'शग्धिपूर्द्धीति याञ्चाकर्मसु पाठात् शकिपृणाती याञ्चाकर्माणौ' इति स्कन्दस्वामिभाष्य उक्तम्।

उपर्युक्त उद्धरणों में स्पष्ट रूप हो जाता है कि देवराजयज्वन् की दृष्टि में जो स्कन्दस्वामी निरुक्त का टीकाकार है, वही ऋग्वेद का भाष्यकार भी है। वे दोनों को एक मानते हुए कहते हैं-**'उप प्रयोभिरागतम्' (ऋ०१.२.४)** इस मन्त्र के व्याख्यान में निरुक्तटीका में स्कन्दस्वामी ने **'प्रयः'** को अन्नवाचक माना है तथा **'अक्षिति श्रवः' (ऋ०१.४०.४)** इस मन्त्र के व्याख्यान में वेदभाष्य में **'श्रवः'** को स्पष्ट रूप से अन्नवाचक कहा है। निरुक्तटीका (निरु०१०.३) में **'श्रवः'** को **'सोमाख्यमन्नम्'** बताया है। इसलिये प्रयः और श्रवः दोनों शब्द अन्नवाचक हैं।[1] देवराजयज्वन् के इस कथन से स्कन्दस्वामी नाम से उद्धृत निरुक्तटीकाकार तथा ऋग्वेदभाष्यकार एक ही व्यक्ति है, यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है।

आचार्य देवराजयज्वन् ने अपने निघण्टुभाष्य में स्कन्दस्वामी के नाम से प्रथम मण्डल के २६ मन्त्र, पञ्चम मण्डल के दो तथा दशम मण्डल का एक मन्त्र उद्धृत किया है। इस प्रकार उक्त २९ उद्धरणों में से प्रथम मण्डल के मन्त्रों का सत्यापन करना सम्भव हो सका है, जबकि पञ्चम मण्डल तथा दशम मण्डल का भाष्य उपलब्ध न होने से उक्त मण्डलों के मन्त्रों का सत्यापन करना सम्भव नहीं हो सका है। इस आधार पर यह

---

१. निघं०२.७.४ 'उप प्रयोभिरागतम्' (ऋ०१.२.४) इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्नं नाम उच्यते, तथा च 'अक्षिति श्रवः' (ऋ०१.४०.४) इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये 'श्रव इत्यन्ननाम' स्पष्टमुच्यते।' निरुक्तटीकायान्तूभयथा (निरु०१०.३)। अतः प्रयःश्रवःशब्दयोः उभयोरप्यन्ननामत्वं स्पष्टम्।

निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि देवराजयज्वन् के काल में स्कन्द का ऋग्भाष्य उक्त मण्डलों पर भी रहा होगा। अन्यथा देवराजयज्वन् पञ्चम और दशम मण्डलों के मन्त्रार्थ स्कन्दस्वामी के नाम से उद्धृत न करता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जहाँ हम यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि ऋग्भाष्यकार तथा निरुक्तवृत्तिकार दोनों स्कन्दस्वामी एक ही हैं तथा यह भी सिद्ध होता है कि आज जो स्कन्द का भाष्य उपलब्ध होता है, वह स्कन्द का सम्पूर्ण कृतित्व नहीं है। जो भी स्कन्द का कृतित्व रहा है, उसमें से हमें कुछ ही प्राप्त होता है।

स्कन्दस्वामी और महेश्वर

ऊपर दिये प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेदभाष्यकार तथा निरुक्तवृत्तिकार दोनों स्कन्दस्वामी एक ही हैं, यह सिद्ध हो चुका है। लेकिन जो निरुक्तवृत्ति हमें आज मिलती है, वह स्कन्दस्वामी और महेश्वर के नाम से है, उसमें से कितना अंश स्कन्दस्वामी का है और कितना महेश्वर का यह निश्चित कर पाना एक दुरूह कार्य है। स्कन्दमहेश्वरकृत निरुक्तवृत्ति का सम्पादन करने वाले डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का इस विषय में कथन है कि 'सभी पाण्डुलिपियों से यह प्रमाणित होता है कि अध्याय विशेष का कुछ भाग पर स्कन्द और कुछ पर महेश्वर का नाम देखने को मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ भाग के रचयिता स्कन्द हैं और जिस पर महेश्वर का नाम उसके रचयिता महेश्वर हैं। इसका यह निहितार्थ हो सकता है कि स्कन्द और महेश्वर ने योजनाबद्ध ढंग से कुछ पर स्कन्द ने और कुछ पर महेश्वर ने वृत्ति लिखी हो और यह संयुक्त प्रयास तभी सम्भव है कि जब ये दोनों समकालीन रहे हों। संस्कृत-साहित्य में संयुक्त लेखन प्रयास के अनेक उदाहरण देखने को मिलते भी हैं। लेकिन महेश्वर को स्कन्द का समकालीन मानने में इतिहास बाधक है। निघण्टु के भाष्यकार आचार्य देवराजयज्वन्, जो आचार्य दुर्ग से पूर्व के हैं, स्कन्द को बहुत उद्धृत करते हैं, जबकि निश्चित रूप से महेश्वर दुर्ग से परवर्ती हैं। इस प्रकार स्कन्द एक प्राचीन वृत्तिकार हैं, जबकि महेश्वर उसकी अपेक्षा बहुत अर्वाचीन हैं। इसलिये स्कन्द और महेश्वर समकालीन नहीं हो सकते। अतः निरुक्तवृत्ति दो लेखकों का कार्य नहीं हो सकती, यह निश्चित रूप से किसी एक का ही कार्य है। इसकी शैली, इसकी व्याख्या करने की पद्धति, इस सबसे ऊपर बौद्धिक गुणवत्ता ये सम्पूर्ण निरुक्तभाष्य में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। यह किसी सीमा तक तर्कसंगत है कि दो भिन्न लेखकों की शैली, व्याख्या करने की पद्धति, देखने की दृष्टि पूर्णतया समान हो, परन्तु उनकी बौद्धिक गुणवत्ता समान नहीं हो सकती।[१]

---

१. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०११-१२ All the Mass. have preserved a unanimous tradition in attributing the commentary on some sections of particular chapters to Skanda and on other sections to Mahesvara. This fact naturally leads one to conclude that the portion attributed to Skanda was composed by Skanda and that attributed to Maheswara by Maheswara. It however implies the assumption that both Skanda and Maheswara commented on mutually exclusive portions of the Nirukta, that they worked on a deliberate plan, that they must have been contemporaries to carry out that plan and must have written their commentary in collaboration with each other. There are several cases of joint-authorship in Sanskrit Literature, but there are chronological difficulties in making Maheswara a contemporary of Skanda. Devaraja

अतः यह प्राक्कल्पना भी नहीं की जा सकती कि निरुक्तवृत्ति का एक भाग स्कन्द ने लिखा हो और दूसरा महेश्वर ने।[१] इसलिये इस विषय में दो सम्भावनायें हो सकती हैं-

१. कि स्कन्द निरुक्तवृत्ति के एकमात्र लेखक हों।

२. कि महेश्वर निरुक्तवृत्ति के एकमात्र लेखक हों।[२]

हम प्रथम संभावना पर विचार करते हैं। बी और सी पाण्डुलिपियों से जो प्रमाण मिलते हैं, वे स्कन्द को इस निरुक्तवृत्ति के लेखक मानने के विरुद्ध जाते हैं। अन्तःसाक्ष्य भी स्कन्द के विरुद्ध जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि निरुक्तवृत्ति में दुर्ग का नाम मिलता है। इसमें दुर्ग की निरुक्तवृत्ति के उद्धरण बहुलता से मिलते हैं। देवराजयज्वन् स्कन्द को उद्धृत करते हैं, जो कि दुर्ग से पूर्ववर्ती हैं। इसलिये दुर्ग की अपेक्षा स्कन्द प्राचीन हैं। प्रथम ने द्वितीय का न उल्लेख किया है और न उसके ग्रन्थ से उद्धरण दिये हैं।[३]

यह तथ्य पुनः पुष्ट होता है कि स्कन्द की निरुक्तवृत्ति के अनेक उद्धरण देवराजयज्वन् ने अपनी निघण्टुवृत्ति में सुरक्षित रक्खे हुए हैं। उनमें से कतिपय उद्धरण आज मिलने वाली निरुक्तवृत्ति में नहीं मिलते हैं। **उर्वी, अदितिः, इळा, अध्वरम्, स्वः, साध्याः, वासरम्, अश्मा, अहिः** से सम्बन्धित व्याख्यायें, जिनको

Yajvan, the commentator of the Nighantu, who seems to be earlier the Durga often quotes Skanda while Mahesvara is certainly latter than Durga, whom he mentions by name, and whose commentary on the Nirukta, he has utilised and frequently quoted. Thus Mahesvara is separated from Skanda by two intervening commentators namely Devaraja Yajvan and Durga. The former must have been considerably posterior to the latter. At any rate they could not possibly have been contemporaries. Further the commentator is not the work of two different authors. It bears the stamp of workmanship of a single individual. Its style, its method of treatment, the general exegesis and above all, its intellectual quality are throughout identical. It is quite plausible to hold that two different authors could produce a commentary written in an identical style, having an identical method of treatment and identical in general exegesis but no two authors could show an identical intellectual quality.

१. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०१२ The hypothesis therefore that one part of the commentary is composed by Skanda and another portion by Mahesvara is not tenable.

२. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०१२ Two hypothesis are now possible:- 1. Skanda alone is the author of the commentary. Mahesvara alone is the author of the commentary in Toto.

३. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०१२ Let us consider the first hypothesis. The evidence of the final colophons of Mss. B and C is against the hypothesis of Skanda's authorship. The internal evidence is also against Skanda. As already stated, the name of Durga is mentioned in the commentary. Quotations from Durga's commentary are frequent. Skanda is quoted by Devaraja Yajvan who is anterior to Durga. Skanda is therefore still earlier than Durga. The former could not have mentioned or quoted the letter.

देवराजयज्वन् ने अपनी निघण्टुवृत्ति में उद्धृत कर रक्खा है, उक्त निरुक्तवृत्ति में देखने को नहीं मिलते। इसलिये यह व्याख्या स्कन्द की नहीं है।[१]

दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि इस निरुक्तवृत्ति के लेखक महेश्वर हैं। मेरे विचार में आज उपलब्ध निरुक्तवृत्ति महेश्वर द्वारा रचित है। लेकिन इस विषय में एक गम्भीर समस्या है। काफी हद तक, आज उपलब्ध निरुक्तवृत्ति का भाग स्कन्द पर आधारित है। कैसे इस समस्या का समाधान किया जाए? मेरे विचार में इस समस्या का यह समाधान है कि यदि हम यह मान लेते हैं कि स्कन्द के भाष्य पर महेश्वर की वृत्ति एक टीका है। उक्त कथन का समर्थन वृत्ति के नामकरण से हो जाता है अर्थात् वह अपनी वृत्ति को 'निरुक्तभाष्यटीका' नाम से अभिहित करता है। स्कन्दभाष्य के कतिपय अपूर्ण उद्धरणों ने निश्चित रूप से महेश्वर के कार्य को आधार प्रदान किया है और ये अपूर्ण उद्धरण आज भी अन्वेषित किये जा सकते हैं, जैसा कि नीचे दिखाया जा रहा है। स्कन्द की गोपद की व्याख्या को एक विस्तृत उद्धरण के माध्यम से देवराजयज्वन् ने निघण्टु की व्याख्या में उद्धृत किया है।[२]

पाण्डुलिपि सी से उद्धृत	देवराजयज्वन् के निघण्टुभाष्य से उद्धृत
गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। .... उदाहरणम् **'गोषदसि'** इति। गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्, गार्हपत्यस्य च गवि पृथिव्यां सादनात् गोशब्दस्य च पृथिव्यभिधानता निश्चिता। सर्वशब्दानामाख्यातजत्वप्रतिज्ञानात् प्रवृत्ति-निमित्तमाह-**यद् दूरं गता भवति।** नैरन्तर्येणात्माकाशादिवद् दूरेऽप्युपलब्धेर्गमिक्रिया-व्यवहारः। अन्यत्र चान्यत्र चोपलब्धेर्दूरापदेशः।	गौः (निघं०१.१.)- अस्य स्कन्दस्वामी। 'दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत्। दूरेऽप्युपलब्धेर्गमिक्रियाव्यवहारः। अन्यत्र चान्यत्र चोपलब्धेर्दूरापदेशः। प्रत्ययोपात्तरूढ्य-र्थसम्बन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिर्दूरविशिष्टं

---

१. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०१२ This is further supported by the fact that Devaraja Yajvan has preserved, in his commentary on the Nighantu, several passages are not found in the present commentary. Skanda's explanation of the words **उर्वी, अदितिः, इळा, अध्वरम्, स्वः, साध्याः, वासरम्, अश्मा, अहिः** preserved by Devaraja Yajvan in the form of quotation is not found in the text of the present commentary. This commentary is therefore not the work of Skanda.

२. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०१२-१३ The only other hypothesis possible is that Mahesvara is the author. In my opinion, this commentary is the composition of Mahesvara. But there is a serious difficulty. All the extent Mss. attribute some portions of the commentary to Skanda. How to explain the colophons of these Mss? In my opinion, the difficulty is solved if we presume that Mahesvara commentary is a Tika on the bhasya of Skanda. This is supported by the title of the commentary, namely 'Nirukta-bhasya-tika', which may be explained as the tika on the Nirukta-bhasya. Fragments of the bhasya of Skanda must have undoubtedly formed the basis of the work of Mahesvara and can still be traced as is shown by the following example. Skanda's explanation of the word Gau is preserved as a long quotation by Devaraja Yajvan in his commentary on the Nighantu.

प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थसम्बन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिर्दूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते, तक्षा परिव्राजक इति यथा। यद्यपि चायं गोशब्दः पश्वादावनेकत्र रूढः, तथाप्यस्य तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसमवायसम्भवादभिधेयं निश्चित्य तदवयवभूतस्य गमेस्तद्विशेषविषयतैव व्यतिरेकव्यावृत्त्यर्थं पूर्ववत् प्रदर्शनीयेति। **यच्चास्यां भूतानि** प्राणिनो **गच्छन्ति**। चो वार्थे। कारकविकल्पश्चायम्। कर्तरि कारकेऽधिकरणे वेत्यर्थः। गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य औकारप्रत्ययः। धातुविकल्पश्चायम्। गीयते स्तूयतेऽसाविति गौर्गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौः।	गमनमुपादत्ते, तक्षा परिव्राजक इति यथा। **यच्चास्यां भूतानि** प्राणिनो **गच्छन्ति**। चो वार्थे। गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य। गीयते स्तूयतेऽसाविति गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौः। **'गोषदसि'** इति। गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्, गार्हपत्यस्य च गवि पृथिव्यां सदनात् गोशब्दस्य च पृथिव्यभिधानत्वन्निश्चितमिति।

उपर्युक्त उद्धरण की स्कन्द के उद्धरण, जिसे देवराजयज्वन् के निघण्टुभाष्य से उद्धृत किया गया है, के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्दस्वामी के भाष्य पर महेश्वर की व्याख्या एक टीका है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु मैं सोचता हूँ कि यह करना आवश्यक नहीं है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में निरुक्त पर उपलब्ध व्याख्या स्कन्दस्वामी के भाष्य की और अधिक स्पष्ट करने वाला व्याख्यान महेश्वर का है। पाण्डुलिपियों की परम्परा यह संकेत दे रही है कि लिपिकर्ता के लेखक ने अस्पष्ट रूप से इस तथ्य का संकेत किया है, जो टीका और भाष्य के लेखकों के विषय में द्विविधा में है। लेकिन देवराजयज्वन् की सहायता से उक्त रहस्य का समाधान किया जा सकता है।[१]

उपर्युक्त डॉ. लक्ष्मण स्वरूप के विस्तृत विवेचन से असहमत होने का कोई कारण नहीं दिखायी देता है, उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा तर्कसंगत है। परन्तु उनकी एक बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता और वह यह है कि दुर्ग को वे देवराजयज्वन् से भी अर्वाचीन मान रहे हैं। उनके अर्वाचीन मानने के पीछे तर्क यह है कि देवराजयज्वन् ने स्कन्द को तो उद्धृत किया है, लेकिन दुर्ग को सर्वथा उद्धृत नहीं किया है। हमने ऊपर दुर्ग और स्कन्द के विवेचन के प्रसङ्ग में सविस्तार इस तथ्य का प्रतिपादन कर दिया है, फिर भी इस अवसर यह कहना उचित प्रतीत होता है कि देवराजयज्वन् के दुर्ग जैसी महत्त्वपूर्ण निरुक्तवृत्ति का उल्लेख न करने के पीछे यह कारण रहा है कि दुर्ग जम्मू निवासी हैं, जबकि स्कन्द गुजरात के रहने वाले हैं और

---

१. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-१, भूमिका पृ०१२-१३ A comparison of this passage with Skanda's quotation preserved by Devaraja Yajvan clearly shows that the commentary of Mahesvara is a tika on the bhasya of Skandasvamin. Examples can be multiplied but I think it is not necessary to do so. It may therefore be stated that the present commentary is the work of Mahesvara and is a further elucidation of the bhasya of Skandasvamin. The tradition of Mss. gives indication that the scribe vaguely remembered this fact, confused the author of the tika with that of the bhasya and arbitrarily attributed one portion to Skanda and another to Mahesvara. But it is possible ncw to solve the mystery with the help of Devaraja Yajvan.

देवराजयज्वन् भी गुजरात के ही रहने वाले हैं और महेश्वर का भी सम्बन्ध उसी भूमि से माना जाता है। यह बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि जम्मू में रहकर लिखने वाले लेखक की कृति का प्रकाश गुजरात तक न हो पाया हो, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वह वृत्ति देवराजयज्वन् को उपलब्ध न हो पायी हो, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उस काल में आजकल के समान प्रकाशन के साधन नहीं थे। इस आधार पर निष्कर्ष निकालना बहुत उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त महेश्वर जिसको डॉ. लक्ष्मण स्वरूप ने दुर्ग से परवर्ती माना है, उसने ही एक स्थल[१] को छोड़कर कहाँ नाम लेकर दुर्ग को उद्धृत किया है। जो बहुत से वाक्यांशों में समानता दृष्टिगत हो रही है, उसके कारण दुर्ग और महेश्वर में से कौन पहले हुआ है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि किसने किसकी वृत्ति के वाक्यों का अनुकरण किया है।

जहाँ तक स्कन्द और महेश्वर का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि महेश्वर ने स्कन्द के निरुक्तभाष्य पर टीका लिखने का प्रयास करते समय जिस सीमा रेखा का पालन करना चाहिये था, वह नहीं किया है। महेश्वर और स्कन्द की वृत्ति को अलग-अलग कर पाना आज सम्भव नहीं है। कोई भी ऐसा शोधक उपाय नहीं है, जिसके माध्यम से शुद्ध रूप में स्कन्द का अध्ययन किया जा सके। भारतीय साहित्य की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। सौभाग्य का विषय है कि महेश्वर ने स्कन्द के भाष्य के साथ अपनी टीका मिश्रण को स्वीकार कर लिया है, परन्तु ऐसे अनेक लेखक और कवि हुए हैं, यहाँ तक कि रामायण और महाभारत जैसे भारतीय परम्परा और संस्कारों के प्राणभूत माने जाने वाले काव्य अपमिश्रण से बच नहीं सके हैं। अच्छा होता यदि महेश्वर स्कन्दवृत्ति के और अधिक स्पष्टीकरण के प्रयास में शुचितापूर्ण प्रयास करता और एक सीमा रेखा रखता, जिससे यह विदित होता कि यह उसका अवदान है।

वर्तमान में उपलब्ध निरुक्तवृत्ति महेश्वर की है, इस विषय में डॉ. लक्ष्मण स्वरूप ने चार हेतु दिये हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

१. कुछ अध्यायों के समाप्ति वाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं।

२. टीका नाम निरुक्त-भाष्य-टीका है।

३. देवराजयज्वन् ने स्कन्द के जो प्रमाण दिये हैं, उनमें से एक की तुलना स्पष्ट बतलाती है कि महेश्वर की वृत्ति स्कन्दभाष्य की टीका है।

४. उर्वी, अदितिः, इळा, अध्वरम्, स्वः, साध्याः, वासरम्, अश्मा, अहिः इन शब्दों का स्कन्दस्वामी कृत व्याख्यान जो देवराज के निघण्टु भाष्य में मिलता है, इस मुद्रित निरुक्त-भाष्य-टीका में नहीं मिलता।

पं० भगवद्दत्त का अभिमत है कि इन हेतुओं से उक्त परिणाम नहीं निकल सकता। क्योंकि :-

१. यदि कुछ अध्यायों के समाप्तिवाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं, तो दूसरे, जो गणना में पर्याप्त हैं, टीका को स्कन्दस्वामी प्रणीत भी बताते हैं। अन्य दो अध्यायों के समाप्तिवाक्य शबरस्वामी[२] को टीका कर्ता

---

१. स्कन्दमहेश्वरनिरुक्तवृत्ति, १.१ तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गुप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य तद्वचनैकदेशानुच्चित्योच्चित्याल्पक्लेशेनाभ्याससिद्ध्यर्थमल्पग्रन्था वृतिः क्रियते।

२. त०र० चिन्तामणि, जर्नल ऑफ ओरियेण्टल रिसर्च, मद्रास, भाग १, अंक १, पृ०८५, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२७

बताते हैं। अतः यह हेतु डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का पक्ष सिद्ध नहीं करता।

२. डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का दूसरा हेतु भी अति निर्बल है। इसलिये अब निरुक्त-भाष्य-टीका नाम पर विचार करना चाहिये। निरुक्त की दुर्गाचार्य वृत्ति के पढ़ने वाले जानते हैं कि दुर्ग यास्क को भाष्यकार कहता है।[१] ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत निरुक्त टीका में भी मूल निरुक्त को भाष्य लिखा है-

तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया 'गौर्ग्मा'-इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति 'समाम्नायः समाम्नातः' (निरुक्त १.१) इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्।[२]

यास्क को निरन्तर भाष्यकार कहा गया है।[३] अत एव निरुक्त-भाष्य-टीका का अर्थ है, निरुक्तरूपी जो निघण्टुभाष्य है, उसकी टीका।

मूल निरुक्त के कई ऐसे हस्तलेख हैं जिनके अध्यायों की परिसमाप्ति पर आज तक इस निरुक्त को निरुक्तभाष्य कहा गया है।[४] निश्चय ही प्राचीन भाष्यकार ग्रन्थकार निरुक्त शब्द को निघण्टु का द्योतक मानते थे और इसलिये निघण्टुभाष्य को निरुक्तभाष्य भी कह देते थे। स्कन्द-महेश्वर का जो प्रमाण पूर्व दिया गया है, वहाँ भी निरुक्त के पहले पांच अध्यायों को निघण्टु कहा गया है और आजकल के प्रथम अध्याय को षष्ठ कहा गया है।

देवराजयज्वा इस भाव को और भी स्पष्ट करता है। वह लिखता है :-**आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरु० २.२१) इत्यादिभाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थः।**[५] अर्थात् निरुक्त (२.२१) पर स्कन्दस्वामी से उद्धरण।

पं० भगवद्दत्त का यह कथन कि भाष्यकार से अभिप्राय यास्क से है, कोई भी निरुक्त का अध्येता असहमत नहीं हो सकता। लेकिन यहाँ प्रश्न यह है कि महेश्वर ने खण्डों और अध्यायों के अन्त में निरुक्त-भाष्य-टीका यह वचन क्यों पढ़ा, जबकि स्कन्द निरुक्त-टीका शब्द का प्रयोग कर रहे हैं और दुर्ग निरुक्तवृत्ति का। यदि व्याख्या करते हुए क्वचित् ऐसा किया होता तो समस्या नहीं थी। जैसा भगवद्दत्त मान रहे हैं, वैसा ही होता तब निरुक्त-भाष्य-टीका के स्थान पर या तो निरुक्त-टीका या फिर भाष्य-टीका इतना ही कहना पर्याप्त हो जाता। क्योंकि निरुक्त से भी तात्पर्य यास्क से है और भाष्य से भी उन्हीं का ग्रहण होता। एक भी ऐसा स्थान देखने को नहीं मिलता, जहाँ यास्कीय निरुक्त के लिये एक साथ निरुक्त और भाष्य का प्रयोग हुआ हो। अतः

---

१. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०२१७, ३०३, ३४०, ४०९ इत्यादि। आनन्दाश्रम संस्करण, पूना, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२८

२. डॉ. लक्ष्मण स्वरूप, निरुक्त-भाष्य-टीका, १.१ पृ०४, लाहौर, १९२८, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२८

३. डॉ. लक्ष्मण स्वरूप, निरुक्त-भाष्य-टीका, पृ०५, १५, ५८, ९२। लाहौर, १९२८, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२८

४. हस्तलेख सं०३७३८, ३८२३, लालचन्द पुस्तकालय, लाहौर। अब यह हस्तलेख संग्रह होशियारपुर में है। पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२८

५. निघण्टुभाष्य, १.१०.१८-१९, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२८

जब तक कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, तब तक डॉ. स्वरूप का निष्कर्ष प्रामाणिक प्रतीत होता है कि जिसमें स्कन्द के भाष्य पर महेश्वर को टीकाकार माना गया है।

३. डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का तीसरा हेतु भी विचार करने पर सत्य नहीं ठहरता। देवराजयज्वा स्कन्द के पूरे वाक्य को उद्धृत नहीं करता, प्रत्युत उसमें से उपयोगी भाग ले रहा है और उस उपयोगी भाग को भी अपने प्रकार से ऊपर-नीचे करता है। अन्य अनेकों स्थानों में देवराज का उद्धरण निरुक्त-भाष्य-टीका से, सिवाय पाठान्तरों के, सर्वथा मिलता है।[१]

अत्र स्कन्दस्वामी-व्रतमिति कर्मनाम, वृणोतीति। कर्तरि सत इति कृतव्याख्यानम्। तद्धि शुभमशुभं वा वृणोति निबध्नाति (महेश्वर-बध्नाति) **कर्तारम्। तथा च श्रुतिः 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति' (बृहद्० उ०४.४.२)। इदमपीतरद्व्रतम् गुडलवणस्त्र्यादिविषयनिवृत्तिरूपं कर्म। एतस्मादेव रूपसामान्यात्।**[२]

प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते वारयतीति सतः, निवृत्तिरूपो हि सङ्कल्पः (महेश्वर-कल्पः) **तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्तमानं पुरुषं वारयतीति सत इत्यन्येषां पाठोऽर्थश्च। व्रतमिति कर्मनाम, निवृत्तिकर्म** (महेश्वर-कर्मनाम) **वारयतीति सत इति। व्रतं कर्मोच्यते। कस्मात्? वारयते** (महेश्वर-वारयतेः)। **तद्धि संकल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूपमग्निहोत्रादि कर्म प्रत्यवायं वारयतीति पुरुषं प्रवर्तमानो निवर्तमानश्च व्रतेनाभिसम्बन्धः** (महेश्वर-प्रकृतेनाभिसम्बन्धः) **तेनाव्रतेन** (महेश्वर-तेन व्रतेन) **निवार्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्यात् हेतुकर्तृत्वेन विवक्षा। भोजनमपि व्रतं क्षुदादिनिवारणात्।** (महेश्वर-क्षुदानिवारणात्) **(यह सारा पाठ दो नए हस्तलेखों से शोधा गया है।)**[३]

इतने लम्बे पाठ में केवल सात पाठान्तरों के अन्य कोई भेद नहीं है। वे पाठान्तर भी इसीलिये हैं कि देवराज और महेश्वर के ग्रन्थों के हस्तलेख अभी पर्याप्त संख्या में नहीं मिले। इस उद्धरण को देखकर कौन कह सकता है कि देवराज के पास निरुक्त का ठीक वैसा ही स्कन्द-महेश्वर भाष्य नहीं था, जैसा कि हमारे पास है।[४]

उपर्युक्त दो खण्ड, जिनका आधार दो हस्तलेख बताए जाते हैं, में सात पाठान्तर प्रदर्शित किये गये हैं। उक्त हस्तलेख के विषय में पं० भगवद्दत्त ने कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं कराया है, जिससे विदित हो सके कि इन हस्तलेखों का विषय क्या था। इसके अतिरिक्त यदि ये दो हस्तलेख निरुक्तभाष्य का भाग हैं, जिनसे स्कन्द और महेश्वर के मत प्रदर्शित हो रहे हैं, तब तो डॉ. स्वरूप के मत की पुष्टि हो रही है कि महेश्वर ने स्कन्द के भाष्य पर वृत्ति लिखी थी। और निश्चित रूप से वे समकालीन नहीं थे, यदि समकालीन होते और मिलकर निरुक्तभाष्य लिख रहे होते तो ये सब परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। विचार-विमर्श से निश्चय करने के बाद जो उचित प्रतीत होता वे परिवर्तन स्वीकार किये जा सकते थे।

---

१. क-निघण्टुभाष्य, २.१.७ ख-भगवद्दत्त, निरुक्त, २.१३, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२८

२. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२९

३. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२९

४. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२९

४. डॉ. स्वरूप का चौथा हेतु भी ठीक नहीं। **ऊर्वी** शब्द का व्याख्यान निरुक्त (२.२६) पर, **अदितिः** का निरुक्त (४.२२)पर, **स्वः** का निरुक्त (२.१४) पर और **वासरम्** का निरुक्त (२.२) पर, इसी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलते हैं। **अश्मा** शब्द पर देवराज स्वयं कहता है कि यह प्रमाण ऋग्वेद (२.१२.३) के स्कन्दभाष्य से लिया गया है। इसी प्रकार **अहिः** शब्द पर उद्धृत स्कन्द का भाव भी ऋग्वेद (१०.१३९.६) के भाष्य से लिया गया है। शेष रहे तीन शब्द-**इला, अध्वरम्,** और **साध्याः**। इनमें से इला शब्द का अर्थ तो ऋग्वेदभाष्य से मिलना चाहिये। जो मन्त्र इस शब्द के स्कन्द के प्रमाण के साथ देवराज ने उद्धृत किया है, उसका स्कन्दभाष्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। शेष दो **अध्वरम्** और **साध्याः** हैं। इनमें से पहले का व्याख्यान भी निरुक्त (६.२२) पर इसी स्कन्द-महेश्वर भाष्य में मिलता है। **साध्याः** शब्द का व्याख्यान अन्वेषणीय है।[१]

एक और बात विचारणीय है। डॉ. स्वरूप का चौथ हेतु भी तभी ठहर सकता है, जब हमें निश्चय हो जाये कि महेश्वर ने स्कन्द प्रणीत निरुक्त के सारे भाष्य की टीका नहीं की। परन्तु ऐसा अभी तक असिद्ध है। इससे निश्चित होता है कि देवराज अपने निघण्टुभाष्य में इसी स्कन्द-महेश्वर के निरुक्तभाष्य से अथवा स्कन्दस्वामी के ऋग्वेदभाष्य से स्कन्द का नाम लेकर सब प्रमाण देता है।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में पं० भगवद्दत्त ने डॉ. स्वरूप की स्थापना को खण्डित कर दिया है और उन्होंने उक्त मत के खण्डन में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे भी सबल हैं, लेकिन उनके दो हेतुओं का भी अभी तक समाधान नहीं हो पाया है, प्रथम यह कि कुछ अध्यायों के अन्त में स्कन्द और कुछ में महेश्वर नाम दिये जाने का कारण स्पष्ट नहीं है और दूसरा देवराजयज्वन् के द्वारा स्कन्द के नाम से उद्धृत कतिपय अंश वर्तमान में उपलब्ध निरुक्तभाष्य से मेल नहीं खाते। यद्यपि ये प्रश्न अनुत्तरित रहने पर भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि महेश्वर ने स्कन्दभाष्य पर टीका लिखी थी, लेकिन उसमें से स्कन्द का मूल भाष्य अन्वेषित कर पाना सम्भव नहीं है।

इस विषय में यह भी विचारणीय है कि देवराजयज्वन् जो स्कन्द के कृतित्व से भलीभाँति परिचित हैं, ने एक भी स्थान पर महेश्वर को नाम लेकर उद्धृत नहीं किया है। जबकि पं० भगवद्दत्त मानते हैं कि देवराजयज्वा महेश्वर से परिचित था। इस विषय में वे लिखते हैं कि 'वेङ्कटमाधव के लेख से हम जानते हैं कि स्कन्दस्वामी, नारायण, और उद्गीथ तीनों ने मिलकर एक ऋग्वेदभाष्य रचा था। देवराजयज्वा ने वेङ्कटमाधव का भाष्य बड़े ध्यान से पढ़ा था। अतः यदि अन्य प्रकार से नहीं, तो वेङ्कटमाधव के कथन से देवराज जानता था कि स्कन्द के सहकारी नारायण और उद्गीथ भी थे। परन्तु देवराजयज्वा ने अपने ग्रन्थ में स्कन्द के साथ नारायण और उद्गीथ का नामोल्लेख भी नहीं किया। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि स्कन्द और महेश्वर को दोनों को जानते हुए भी देवराजयज्वा ने निरुक्तटीका के सम्बन्ध में स्कन्द का ही नाम लिखना पर्याप्त समझा।'[३]

---

१. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३०

२. वही।

३. वही।

अपने कथन के समर्थन में पं० भगवद्दत्त ने प्रथम जिस वेङ्कटमाधव के लेख का उल्लेख किया है, उसको उद्धृत नहीं किया। दूसरे वे अनुमिति के आधार पर निष्कर्ष ग्रहण कर रहे हैं कि स्कन्द के समकालीन होते हुए भी देवराजयज्वा ने नारायण और उद्गीथ का उल्लेख नहीं किया, उसी प्रकार महेश्वर का भी उल्लेख नहीं किया है, इसलिये महेश्वर स्कन्द के समकालीन है, यह निष्कर्ष ग्रहण करना भ्रामक है। देवराजयज्वन् ने जब नारायण और उद्गीथ के ऋग्वेदभाष्य का प्रयोग नहीं किया, तो उसका उल्लेख वह क्यों करे, जबकि वह निरुक्तभाष्य को उद्धृत कर रहा है, अतः आवश्यक हो जाता है कि वह यदि महेश्वर से परिचित हो तो उसका नामोल्लेख करे। देवराजयज्वन् की यह विशेषता रही है कि उसने जिससे जो कुछ लिया है, उसका नाम स्मरण करना वह प्रायः भूला नहीं है। यदि वह महेश्वर से परिचित होता तो अवश्य उसका उल्लेख करता। इससे यह कहा जा सकता है कि देवराजयज्वन् के समय तक महेश्वर नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त निरुक्तभाष्य में महेश्वर का नाम इतनी बार आया है कि उसका नाम छूट जाना सम्भव नहीं था। इसलिये आज की तिथि में जब तक अन्य पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक यह मानना चाहिये कि आज स्कन्द के नाम से उपलब्ध निरुक्तवृत्ति विशुद्ध रूप से स्कन्द की नहीं है, उसमें महेश्वर ने अपना योगदान दिया है, जिसको पृथक् कर पाना किसी के लिये सम्भव नहीं है।

एक तथ्य की ओर डॉ. स्वरूप का ध्यान उचित ही गया है कि खण्ड पाद या अध्याय के अन्त में स्कन्द के साथ **निरुक्तटीका** तथा महेश्वर के साथ **निरुक्त-भाष्य-टीका** देखने को मिलता है और यह सप्रयोजन ही जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस विषय में हम यह नहीं मान सकते कि यह सब भूलवश हो गया है। इसके मूल में जो रहस्य है, वह यह ध्वनित कर रहा है कि महेश्वर ने स्कन्द के भाष्य में अपना योगदान दिया है और वह अपने योगदान को स्मरण कराना भूल भी नहीं रहा है। उसने निरुक्तवृत्ति के अन्त में अपने पिता का नाम पितृशर्मा बताया है, जबकि स्कन्द ने न अपना, न अपने वंश का और न जन्मभूमि आदि के विषय में कुछ भी संकेत दिया है। यह सब स्कन्द और महेश्वर के व्यक्तित्व को पृथक् दिखला रहे हैं। यदि ये समकालिक होते तो अवश्य महेश्वर के समान स्कन्द का भी कुछ न कुछ परिचय अवश्य मिलता।

महेश्वर का काल

आज स्कन्दकृत निरुक्तभाष्य के साथ महेश्वर का नाम सम्पृक्त है। यद्यपि यह प्रायः निश्चित है कि महेश्वर स्कन्द के समकालीन नहीं था, परन्तु उसकी वास्तविक तिथि क्या रही होगी, यह भी कह पाना उतना सरल नहीं है। डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का इस विषय में अभिमत है कि हम पिछले पूर्व अध्याय में यह बता चुके हैं कि ईसा की पाँचवी शताब्दी के अन्त अथवा छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में स्कन्दस्वामी थे। जो विद्वान् लेखक सातवीं शताब्दी या आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए उनको स्कन्दस्वामी ने उद्धृत नहीं किया है, क्योंकि स्कन्दस्वामी पहले हो चुके थे। जबकि जैसे भामह का काव्यालंकार (६५०ई०), भर्तृहरि का वाक्यपदीय (भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ई०), कुमारिलभट्ट (७००ई०) के श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक के उद्धरण आज उपलब्ध निरुक्तवृत्ति में उपलब्ध होते हैं। यह स्पष्ट है कि उस समय तक इनका अस्तित्व न होने के कारण स्कन्दस्वामी द्वारा उद्धृत किये जाने का प्रश्न ही नहीं है। सम्भावना यह है कि ये उद्धरण महेश्वर द्वारा उक्त निरुक्तवृत्ति में सम्मिलित क्रिये गये। इस प्रकार महेश्वर के ऊपरी सीमा निश्चित हो जाती है कि वह कुमारिलभट्ट के बाद हुए हैं।

अब हम महेश्वर के होने की निचली सीमा के निर्धारण पर विचार करते हैं। निरुक्तवृत्ति में **'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'** यह परिभाषा दो बार (निरु०१.३, २.१३) उद्धृत हुई है। यह पंक्ति नागोजीभट्ट (१७००ई०) द्वारा संगृहीत परिभाषेन्दुशेखर की ३५वीं परिभाषा के रूप में संकलित है। अब यह विचारणीय है कि महेश्वर ने यह परिभाषा नागोजीभट्ट के परिभाषेन्दुशेखर से ली है? यदि परिभाषेन्दुशेखर से ली गयी है, तब निश्चित रूप से महेश्वर का समय १७००ई० के बाद का है और उस समय उसको अठाहरवीं सदी का मानना होगा। और यदि उसने उक्त परिभाषा कहीं और से ली है तब वह नागोजी (१७००ई०) से पूर्व का है। संभवतः महेश्वर ने परिभाषा नागोजी से नहीं ली है। महेश्वर ने एक और परिभाषा उद्धृत की है :-**'अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गो दृश्यते'** (निरु०२.१३) यह परिभाषेन्दुशेखर ५८वीं परिभाषा से मिलती जुलती है, क्योंकि यह पूर्णतया मेल नहीं खाती, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महेश्वर ने यह परिभाषा से नागोजी से नहीं ली है।

इसके अतिरिक्त मैंने जो पाण्डुलिपियाँ इस संस्करण के लिये प्रयोग की हैं, वह इतनी पुरानी है कि छूते ही टूट जाती हैं। ये कम से कम चार सौ वर्ष पुरानी होनी चाहिये। पाण्डुलिपि के प्रमाण से विदित होता है कि महेश्वर नागोजी से पूर्ववर्ती रहा है। इस प्रकार महेश्वर की निचली सीमा १५वीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती।

पं० भगवद्दत्त का विचार है कि स्कन्द और महेश्वर समकालीन हैं। वे कहते हैं कि स्कन्दभाष्य का तीसरा अध्याय महेश्वरकृत माना जाता है, इसमें एक स्थान पर कहा गया है-**'उपाध्यायस्त्वाह-अनेकार्थत्वाद्धातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम्। अत्युपसर्गाद् योग्यक्रियाध्याहारः, अतीत्य सर्वं महान् भवसीत्यर्थः। विवक्षसे इत्येतस्य।'**[१] यहाँ वह उपाध्याय नाम से स्कन्द या उद्गीथ की ओर संकेत कर रहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि महेश्वर उद्गीथ या स्कन्द को अपना उपाध्याय मानता था।[२]

यदि पं० भगवद्दत्त के तर्क को स्वीकार कर उपर्युक्त निष्कर्ष मान लिया जाता, तब उक्त स्कन्दभाष्य में उद्धृत भामह (६५०ई०), भर्तृहरि (भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ई०), कुमारिलभट्ट (७००ई०) को स्कन्द से प्राचीन मानना होगा, क्योंकि ये सब उक्त भाष्य में उद्धृत किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त पं० भगवद्दत्त एक तर्क और देते हुए कहते हैं कि निरुक्तवृत्ति ३.१६ में महेश्वर लिखता है-**'तथा च चूर्णिकारः पठति'**।[३] इससे आगे पातञ्जल महाभाष्य का एक पाठ उद्धृत है। चीनी यात्री इत्सिङ्ग के लेख से हम जानते हैं कि सातवीं शताब्दी में भी भाष्यकार पतञ्जलि की कृति को चूर्णि कहते थे। अर्वाचीन काल में यह नाम बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। अतः इस नाम के प्रयोग से भी यह अनुमान हो सकता है कि महेश्वर नवीन व्यक्ति नहीं है।[४]

पं० भगवद्दत्त महर्षि पतञ्जलि के लिये **'चूर्णिकार'** नाम के प्रयोग के आधार पर महेश्वर को स्कन्द का

---

१. स्कन्दमहेश्वरनिरुक्तवृत्ति, ३.१३

२. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३५

३. स्कन्दमहेश्वरनिरुक्तवृत्ति, ३.१३ 'तथा च चूर्णिकारः पठति- वतिनिर्देशोऽयं कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति।' (पात०व्या०महा०१.१.५७)।

४. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३५

समकालीन मान रहे हैं, वह युक्तियुक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि स्कन्दभाष्य में अन्यत्र भी **'चूर्णिकार:'** पद का प्रयोग देखने को मिलता है–**'इतिवद्वेदेऽपि लोकवद् भवितुमर्हतीति चूर्णिकारो ब्रूते 'य एव लौकिका: शब्दा:' इत्यादि पूर्ववदुपन्यस्तादस्मादिन्द्रो द्रविणोदा इति।'**[1] इस अध्याय के अन्त में न तो स्कन्द के नाम का उल्लेख है और न महेश्वर का। इसके अतिरिक्त स्कन्द भी पतञ्जलि के लिये **'चूर्णिकार'** नाम का प्रयोग कर सकते हैं। अत: केवल पतञ्जलि के लिये विशिष्ट नाम के प्रयोग के आधार पर निष्कर्ष ग्रहण किया जाना समुचित प्रतीत नहीं होता है। इसलिये जब तक अन्य कोई सबल प्रमाण मिल जाता, तब तक डॉ. स्वरूप द्वारा गृहीत निष्कर्ष सुसङ्गत प्रतीत होता है। अत: यह माना जाना चाहिये कि महेश्वर स्कन्द का समकालीन नहीं है, उसने स्कन्दभाष्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक टीका लिखी है।

स्कन्दकृत ऋग्वेदभाष्य और निरुक्तभाष्य: एक तुलना

यद्यपि देवराजयज्वा के कथन से यह प्रमाणित हो चुका है कि स्कन्द ही ऋग्वेदभाष्य और निरुक्तभाष्य का रचयिता है तथा ये दो भिन्न व्यक्तियों के द्वारा रचित नहीं हैं। पुनरपि अन्त:साक्ष्य को और अधिक पुष्ट करने के लिये यहाँ हम ऋग्वेदभाष्य और निरुक्तभाष्य में से मन्त्रार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं–

तुलना	
स्कन्दकृत ऋग्वेदभाष्य	**स्कन्दकृत निरुक्तभाष्य**
ऋ०१.१.१ **(अग्निम्)** अहं स्तौमि। कीदृशम्। **(पुरोहितम्)** शान्तिकपौष्टिकै: कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित इत्युच्यते, तत्स्थानीयम्। कस्य, **(यज्ञस्य)** यज्ञाधिकृतस्य यज्ञो वै यजमान: (तु, ऐब्रा १.२८) इति श्रुते:। आपदामपहन्तारमित्यर्थ:। **(देवम्)**। दीव्यतिर्दानार्थे दीप्त्यर्थे वा। दातारं दीप्तं वा। अथवा पुरोहितशब्द: क्रियाशब्द:। पूर्वस्यां दिशि निहितमाहवनीयात्मना स्थापितम्। यज्ञस्येत्येतत्तु देवमित्यनेन संबध्यते। यज्ञस्य दातारं दीपयितारं वा। यज्ञं हि देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति, तदयत्तत्वात्। दीपयति च। न च यज्ञस्य देवमेव केवलम्, किं तर्हि। **(ऋत्विजम्)**। कतमम्। **(होतारम्)** 'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐब्रा १.२८) इति श्रुते:। अग्निर्दैव्यो होता। तदधिकृतस्तु मानुषो होता हौत्रं कर्म करोति। अथवा ऋत्विग्धोतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ यष्टारम् ऋत्विजम्। यो यो यागकालस्तत्र तत्र यष्टारमित्यर्थ:। होतारमाह्वातारम्। कस्य, सामर्थ्याद् देवानाम्। **(रत्नधातमम्)**	ऋ०१.१.१ मधुच्छन्दस: परा च। **(अग्निमीळे) 'ईड स्तुतौ'** (धा०२.९) याच्ञायां वा। यद्वा अध्येषणायाम्। स्तौमि याचे। अध्येषणायामिति। पूजाकर्मा वा। कीदृशम्। **(पुरोहितम्)** शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकै: कर्मभी राजानं सर्वापद्भ्यस्त्रायते य: स पुरोहित उच्यते तत्स्थानीयम्। कस्य। **(यज्ञस्य)** आपदामपहर्तारमित्यर्थ:। कुत एतत्? यद्धि होतारो यज्ञस्येत्यादि सर्वं तदग्निर्देवो होतानुर्लक्षणं करोतिश्रुते:। **(देवम्)** देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति तदायत्तत्वात्तस्य। दीपयति च। न च यज्ञस्य देवमेव केवलम्। किन्तर्हि। **(ऋत्विजम्)** च कतमम्। **(होतारम्) 'अग्निर्वै देवानां होता'** (ऐ०ब्रा०१.२८; ३.१४) इति श्रुते:। अथवा ऋत्विग्होतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ काले काले यो यागकालस्तस्मिन् यष्टारमृत्विजम्। होतारमाह्वातारम्। कस्य। सामर्थ्याद्देवानाम्। यद्वा **जुहोतेर्होता** होमकारिणं तदधिकरणत्वप्रतिपत्त्या।

१. स्कन्दमहेश्वरनिरुक्तवृत्ति, ८.२

रत्नमिति धननाम। दधातिर्दानार्थः। धनानामतिशयेन दातारम्॥१॥	**(रत्नधातमम्)** रत्नानामतिशयेन दातारम्।
ऋ०१.१.२ किं कारणम् उच्यते। यस्मात् **(अग्निः)** **(पूर्वेभिः)** पूर्वैरस्मत्तः पूर्वकालैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः। **(ईड्यः)** स्तुत्यः। **(नूतनैः)** **(उत)** नूतनमिति नवनाम। उत शब्दोऽप्यर्थे समुच्चये। नवैश्चेत्यर्थः। यावान् कश्चिदृषिः तेन सर्वेण यतः स्तोतव्यः, अतोऽहं स्तौमीत्यर्थः। एवमस्यार्धर्चस्य पूर्वयर्चैकवाक्यता। अपरः परादो भिन्नं वाक्यम्। **(सः)** प्रकृतोऽग्निः **(देवान्)** **(आ)** **(इह)** **(वक्षति)**। आ इत्युपसर्गो व्यवहितोऽपि वक्षतीत्याख्यातेन सम्बध्यते। लडर्थे लेट्। इहेति कृत्स्नस्य जगतः प्रतिनिर्देशः। इहेति कृत्स्ने जगति। स एव देवान् आवहति यज्ञेषु, नान्यः कश्चिदित्यर्थः। अथवा अन्योरर्धर्चयोरेकवाक्यताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तदोरुद्देशप्रतिनिर्देशार्थयोर्नित्यसम्बन्धात् स देवानिति च प्रतिनिर्देशार्थतच्छब्दश्रुतेः पूर्वस्मिन्नर्धर्चे उद्देशार्थो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। यः पूर्वैर्नवैश्च स्तुत्यः अग्निः स देवानिह जगति आवक्षति आवहति। अथवा इहेति प्रकृतस्य कर्मणः प्रतिनिर्देशः। वक्षतीति लोडर्थे लेट्। इहस कर्मणि देवानावहत्विति॥२॥	ऋ०१.१.२ सर्वत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धसूचनाय स देवताग्निः परस्तात् प्रतिनिर्देशार्थतच्छब्दश्रुतेर्भाष्यकार उद्देशार्थं यच्छब्दमध्याजहार। **(अग्निः)** यः **(पूर्वेभिः)** पूर्वैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः **(ऋषिभिरीड्यः)** ईडितव्यः। **(नूतनैः)** नवनामैतत्। **(उत)** उतशब्दोऽप्यर्थे। अपिशब्दः समुच्चये। नवैरस्मत्प्रभृतिभिः। **(स)** **(देवान्)**। आ इत्युपसर्गो व्यवहितेनापि वक्षतीत्यनेन सम्बध्यते। **(इह)** प्रकृते कर्मणि **(आ वक्षति)** लोडर्थे पञ्चमः आवहतु। वन्दितव्य इत्यनिरुक्तपाठः। अथवा पर्यायप्रदर्शनमस्तु। नवतरैरिति स्वार्थिकस्तरप्। यावदुच्चैस्तरामिति यथा।
ऋ०१.८१.५ **(आ)** **(पप्रौ)** आपूरयति **(पार्थिवम्)** **(रजः)** लोकम्। केन। सामर्थ्याद् वृष्टिद्वारेण। **(बद्बधे)** बध्नाति। **(रोचना)** दीप्तानि नक्षत्रादीनि। क्व। **(दिवि)** द्युलोके। नक्षत्रादीनां हि दिवि व्यवस्थितानां धर्मो मूलम्। स च वृष्टिमूलम्। अत इदमुच्यते। बद्बधे रोचना दिवीति। तदेतत् गोषूक्ती चाश्वसूक्ती च वक्ष्यतः। **इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि** (ऋ०८.१४.९) इति। अथवा बद्बधे रोचनेति आदित्योऽत्र रोचनोऽभिप्रेतः। द्वितीयैकवचनस्यायमाकारादेशः। महत्तमस्तन्वन्त वृत्रं हत्वा दर्शनार्थं दिवि सूर्यमारोपितवानित्यर्थः। तदेतत् सव्येनाप्युक्तम्। **वृत्रं यदिन्द्र** (ऋ०१.५१.४) इत्यादिना। परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वात् भिन्नं वाक्यम्। **(न)** **(त्वावान्)** त्वत्सदृश इदानीं तावत् हे **(इन्द्र)** न **(कः)** **(चन)** कश्चिदपि। न पूर्वस्मिन् काले **(जातः)**। **(न)** अप्यागामिकाले **(जनिष्यते)**। किं तर्हि। **(अति)** **(विश्वम्)**	ऋ०१.८१.५ गौतमस्य। आपूरयतीन्द्रो वृष्ट्या **(पार्थिवम्)** **(रजः)** पृथिवीलोकं वृष्टिद्वारेण। एवञ्च **(बद्बधे)** बध्नाति, **(रोचना)** रोचनानि नक्षत्रादीनि, **(दिवि)** तेषां दिवि बन्धनस्य धर्ममूलता, धर्मस्य च वृष्टिमूलत्वात्, वृष्टिप्रदानद्वारेण बध्नातीत्युच्यते। परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्। **(न)** **(त्वावान्)** त्वत्सदृशः हे **(इन्द्र)**! **(कश्चन)** कश्चिदपि पूर्वं **(न)** **(जातः)** **(न)** अपि **(जनिष्यते)**। कुतः? यतः **(अति)** अतिशयेन सर्वं भुवनं **(ववक्षिथ)** अनुशासितुं वोढुं वेच्छसि, अनुशास्मि वहसि वेत्यर्थः। अतिशयवतः सामर्थ्यान्महानसि, अतो भवन्तं स्तुम इति शेषः। उपाध्यायस्त्वाह-अनेकार्थत्वाद्धातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम्। अत्युपसर्गाद् योग्यक्रियाध्याहारः, अतीत्य सर्वं महान् भवसीत्यर्थः।

(ववक्षिथ) अतित्युपसर्गात् विश्वमिति कर्मश्रुतेर्योग्यक्रिया-पदाध्याहारः। ववक्षिथेत्यपि च यद्यपि वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्य रूपम्। तथापि **ववक्षिथ विवक्षस** (निघं०३.३) इति महन्नामसु पाठात् वचनवहनयोश्चासम्भवादनेकार्थतायाश्च धात्वन्तराणामपि प्रसिद्धत्वात् ववक्षतिर्महद्भावार्थः। अतीत्य सर्वास्त्वं महान् भवसीत्यर्थः॥५॥	विवक्षसे इत्येतस्य।
ऋ०१.८४.८ **(कदा)** **(मर्तम्)** **(अराधसम्)** राधः (निघं०२.१०) इति धननाम। अधनम्। दारिद्र्यात् यष्टुमसमर्थमित्यर्थः। **(पदा)** पदेन। **(क्षुम्पमिव)** **(स्फुरत्)** क्षुम्पमहिच्छत्रकमुच्यते। स्फुर स्फुल सञ्चलने। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः। यथा वायुरन्यो वा कश्चित् सर्पच्छत्रकं चालयति तद्वच्चालयति। न कदाचिदपीत्यर्थः। निरादरत्वाद्वैतदनेन प्रकारेणाख्यायते। अधनस्योपरि अत्यन्तनिरादर इन्द्र इत्यर्थः। यत एवमतः सधनत्वात् कृतयागा वयं ब्रूमः। **(कदाः)** **(नः)** **(शुश्रुवत्)** श्रोष्यति स्तुतिलक्षणा **(गिरः)** **(इन्द्रः)** **(अङ्ग)**। अथवैवं पूर्वोक्तयोरर्धर्चयोरेकवाक्यता। न कदाचिदप्यधनं पादेन चालयतीन्द्रः। वयञ्चाधनाः, अतो भीता ब्रूमः। कदा नः शुश्रुवत् गिर इन्द्रो अङ्ग इति। अथवैवमन्यथास्या ऋचः अर्थयोजना। कदा मर्तमराधसं हविर्लक्षणेन धनेन रहितं अयष्टारमित्यर्थः। पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। स्फुरति स्फुलतीति वधकर्मसु पाठात् (तु०निघं०३.१९) स्फुरतिरिह वधार्थः। यथा कश्चित् क्षुम्पं पादेनाक्रम्य हन्ति तद्वद्धनिष्यति। चूर्णयिष्यतीत्यर्थः। कदा वाऽस्माकं यष्टॄणां श्रोष्यति गिर इन्द्रो अङ्गेति। अयष्टॄन् कदा निग्रहीष्यति यष्टॄंश्चास्मान् स्तुतिश्रवणे न अनुग्रहीष्यतीत्यर्थः॥८॥	ऋ०१.८४.८ गोतमस्य राहूगणस्यार्षम्। **(कदा)** कस्मिन् काले। **(मर्तम्)** मनुष्यम्। **(अराधसम्)** हविर्लक्षणेन धनेन रहितमयष्टारमित्यर्थः। **(पदा)** **(क्षुम्पमिव)** **'स्फुरति स्फुलति'** इति वधकर्मसु पाठात् (निरु०२.१९) स्फुरतिरभिभवार्थे। यथाहेः कश्चित् क्षुम्पमाक्रमत् पादेन स्फुरेत् हन्यात् तद्वत् स्फुरिष्यति वधिष्यतीत्यर्थः। **(कदा)** **(नः)** कदा वास्माकं सर्वदा यष्टॄणां **(शुश्रवत्)** श्रोष्यति **(गिरः)** **(इन्द्रः)** **(अङ्ग)** क्षिप्रम्। अयष्टॄन् कदा निग्रहीष्यति यष्टॄंश्चास्मान् स्तुतिश्रवणादनुग्रहीष्यतीत्यर्थः। अनाराधयन्तमित्यर्थप्रासं वचनं न दारिद्र्यात्, किं तर्हि? नास्तिक्याश्रद्दधानतया अयष्टारमित्यर्थः। अवस्फुरति शृणोतीति पाठः, अवस्फुरिष्यतीति वेति। अङ्गेति निपातः क्षिप्रार्थः। तस्यार्थो विदितमेवेति। यद्धि क्षिप्रं तदन्वितमेवात्यन्तलग्नमेवेति। अङ्कितमित्यङ्गशब्दसमाधिः। अगिवमेगीत्यगेन नत्यर्थस्य।
ऋ०१.८४.१५ **(अत्र)** **(अह)** इति विनिग्रहार्थीय एवार्थे। **(गोः)** वाङ्नामात्र (तु०निघं०१.११)। गोशब्दः स्तुतिवचनो वा (तु०निघं०३,१६)। **गोभिर्यदीमन्ये अस्मत्** (ऋ०८.२.६) इति यथा। स्तुतिलक्षणायाः वाचः स्तुतेर्वा। **(अमन्वत)** मनु अवबोधने। अवबुध्यन्ते। के। सामर्थ्यात् ऋषयः। किम्। **(नाम)** स्थानम्। यावती काचित् स्तुतिः सर्वाऽत्रैवेन्द्रे व्यवस्थितेत्येवमृषयो मन्यन्त इत्यर्थः। **(त्वष्टुः)**	ऋ०१.८४.१५ गौतमस्य। **(अत्र)** **(अह)** अहनिपातो विनिग्रहार्थीय एवशब्देन समानार्थीयः। अत्रैव **(गोः)** सुषुम्नाख्यस्य सूर्यरश्मेः। **(अमन्वत)** अमंसत मतवन्तः। के? अन्ये रश्मयः। किमिदं नाम? **(नाम)** नमनं प्रह्वीभावमनुप्रवेशमित्यर्थः। **(त्वष्टुः)** पञ्चम्येषा। आदित्यस्य सकाशात्। **(अपीच्यम्)** अपेत्य चितं स्थितम्। अथवा **अञ्चतेर्गत्यर्थस्य** (धा०१.१८८)

पञ्चमीनिर्देशादपेत्येति वाक्यशेषः। देवमात्रोपलक्षणार्थं चात्र त्वष्टृग्रहणं द्रष्टव्यम्। सर्वेभ्यो देवेभ्योऽपेत्येत्यर्थः। कीदृशं नाम। उच्यते। **(अपीच्यम्)** अन्तर्हितनामधेयमेतत्। (तु०निघं०३,२५) अन्तर्हितम्। तत्सम्बन्धिहरिरथ-वज्रमरुदादिस्तुतिद्वारेणेत्यर्थः। क्व स्थिते इन्द्रे। उच्यते। **(इत्था)** अमुत्र। **(चन्द्रमसः)** **(गृहे)** स्थाने। अन्तरिक्षे द्युलोके वेत्यर्थः। सप्तमीनिर्देशात् स्थित इति वाक्यशेषः। यास्कस्तु मन्यते। अत्राहेत्यत्र अत्रशब्देन ऋगन्त्यं चन्द्रमसो गृहं प्रतिनिर्दिश्यते। चन्द्रमसश्च गृहं चन्द्रमण्डलम्। गौरित्यपि सुषुम्नो नाम सूर्यरश्मिश्चन्द्रमसं गतः अम्मयत्वात् चन्द्रमण्डलस्य ततः प्रतिहतः सन् परावृत्य ज्योत्स्नारूपेण पृथिव्यां दीप्यते, स उच्यत इति। एवमेकवाक्यता- अत्र चन्द्रमसो गृहे चन्द्रमण्डले गोः सुषुम्नाख्यस्य सूर्यरश्मेरमन्वत ज्ञातवन्त इत्यर्थः। के। सामर्थ्यात् रश्मयः। नमनं नाम व्यवस्थानम्। त्वष्टुरादित्यादपेत्य अपीच्यमन्तर्हितं परित्यज्यादित्यरश्मितां चन्द्ररश्मिरूपेणावस्थितस्येत्यर्थः। एतदयोग्यम्। न तावदत्रशब्देन चन्द्रमसो गृहं प्रतिनिर्देष्टुं शक्यम्। इत्थाशब्देन तस्य प्रतिनिर्देशादित्थाशब्दस्य चामुत्रशब्दपर्यायत्वात् अत्रामुत्रेत्येतयोश्च सन्निकृष्टविप्रकृष्टप्रतिनिर्देशार्थयोरेकत्रार्थे विरुद्धत्वात्। नापि गोशब्देन सुषुम्नः शक्यो वक्तुम्, अनैन्द्रत्वप्रसङ्गात्। गोशब्देन हि सुषुम्नस्य प्रतिनिर्देशे सुषुम्नदेवतोऽयं मन्त्रः स्यात्। गुणप्रधानभावविपर्ययाद्वा चन्द्रदेवतः। न कथञ्चिदप्यैन्द्रः। ऐन्द्राणि चैतानि सूक्तानि। तत्र प्रकरणं बाध्येत। तस्मात् पूर्व एवार्थः॥१५॥	अनेकार्थत्वाद् धातूनामञ्चतिनार्थस्येदं रूपम्। अन्तर्हितनाम वा। अवगच्छतमाच्छादितं वा चन्द्ररूपेणेत्यर्थः। **(इत्था)** अमुत्र **(चन्द्रमसः)** **(गृहे)** गृहभूते मण्डले।
ऋ०१.८८.५ युज्यन्ते प्राणवियोगादिना अनेन शत्रव इति **(योजनम्)** सेनालक्षणं बलमिहाभिप्रेतम्। **(एतत्)** युष्मदीयं बलम् **(न)** **(अचेति)** चेत्यते। न ज्ञायते केनचित्। **(सस्वः)** अन्तर्हितम्। **(ह)** हशब्दस्तु पदपूरणः। देवतामाहात्म्यादन्तर्हितं युष्मदीयं सेनालक्षणं बलं केनचिदपि न दृश्यत इत्यर्थः। यत् कीदृशम्। उच्यते। **(यत्)** हे **(मरुतः)** **(गोतमः)** कर्मकर्तृश्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् स्तुतवानिति वाक्यशेषः। **(वः)** युष्मान्। **(पश्यन्)** **(हिरण्यचक्रान्)**	ऋ०१.८८.५ राहूगणस्य गौतमस्यार्षम्। युज्यन्ते प्राणवियोजनमनेन शत्रव इति **(योजनम्)** सेनालक्षणं बलमिहाभिप्रेतम्। **(एतत्)** **(त्यद)** युष्मदीयं बलम्। **(न)** **(अचेति)** न चेत्यते न ज्ञायते केनचित् **(सस्वः)** अन्तर्हितं नाम। **(ह)** हशब्दस्तु पदपूरणः। देवतामाहात्म्यादन्तर्हितं युष्मदीयं बलं केनचिदपि न चेत्यते न दृश्यत इत्यर्थः। तत् कीदृशम्? उच्यते। **(यत्)** बलं हे **(मरुतः)**! अहं **(गोतमः)** साकाङ्क्षत्वात्

हिरण्यशब्दोऽत्र **'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति'** (निरु०२.५) इत्येवं हिरण्मये वर्तते। हिरण्मयानि रथचक्राणि येषां ते हिरण्यचक्राः। तान् **(हिरण्यचक्रान्)**। हिरण्मयचक्ररथस्थानित्यर्थः। **(अयोदंष्ट्रान्)** दंष्ट्रास्थानीयत्वाद्रथोद्धी अत्र दंष्ट्रे उच्येते। अयोमयरथोद्धीन्। लोहमयोद्धीकरथस्थानित्यर्थः। **(विधावतः)** इतश्चेतश्च विविधं धावतः। **(वराहून्)** वरमुत्कृष्टं श्रेष्ठमिति पर्यायाः। हुशब्दोऽपि हन्तेर्वा ह्वयतेर्वा हरतेर्वा जुहोतेर्वाऽदनार्थस्य। उत्कृष्टस्य शत्रोः हन्तॄन् आह्वातॄन् वा उदकस्य वाऽऽहर्तॄन् हविषो वा भक्षयितॄन्॥५॥	स्तुतवानिति वाक्यशेषः। **(वः)** युष्मान् **(पश्यन्)**। **(हिरण्यचक्रान्)** हिरण्यशब्दोऽत्रापि **'ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति'** (निरु०२.५) इत्येवं हिरण्मये वर्तते। हिरण्मयानि रथचक्राणि येषां मरुतां ते हिरण्यचक्रास्तान् हिरण्मयचक्ररथस्थानित्यर्थः। **(अयोदंष्ट्रान्)** अयोदंष्ट्रास्थानीयत्वात् रथस्य उद्वित् अत्र दंष्ट्रे उच्येते। अयोमयरथोद्विन् लोहमयो द्विकरस्थानित्यर्थः। **(विधावतः)** इतश्चेतश्च विविधं धावतः। **(वराहून्)** वरमुत्कृष्टं श्रेष्ठमिति पर्यायाः। हुशब्दो हन्तेर्वा हरतेर्वा हूयतेर्वा जुहोतेर्वा दानार्थस्य। उत्कृष्टस्य शत्रोराहन्तॄन् उदकस्याहर्तॄन् देवानामाह्वातॄन् हविषो वा भक्षयितॄन्।
ऋ०१.९२.१ 'उषस्यम्'। उषस्यमेतत् सूक्तम्। **(उ)** उकारः पदपूरणः। तच्छब्दश्रुतेश्च योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। या पूर्वेष्वप्यहःस्वकार्षुः **(एताः)** ताः **(उषसः)** एकस्या एवोषसः पूजनार्थमेतत् बहुवचनम्। भवन्तो मे गुरव इति यथा। अवयवभेदापेक्षं वा। भिन्नेष्वहःसूषोभेदात् बह्वय एवोषसः। **(केतुम्)** **(अक्रत)** प्रज्ञानं प्राणिनां कुर्वन्ति। केन प्रकारेण। उच्यते। **(पूर्वे)** **(अर्धे)** **(रजसः)** द्युलोकस्यान्तरिक्षस्य वा। सप्तमीनिर्देशात् स्थिता इति वाक्यशेषः। **(भानुम्)** **(अञ्जते)** भानुमिति तृतीयार्थे द्वितीया। अञ्जिर्व्यक्त्यर्थः। भानुना व्यञ्जन्ति। स्वया भासा सर्वं व्यक्तीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्। उच्यते। **(निष्कृण्वानाः)** **(आयुधानीव)** कृणोतिरत्र सामर्थ्यात् कृषेरर्थे द्रष्टव्यः। निष्कर्षन्तः। आयुधानीव **(धृष्णवः)** धर्षयितारो योद्धारो यथा कोशेभ्यः खड्गान्निष्कर्षन्तो व्यक्तीकुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। अथवा पूर्वे अर्धे रजसः भानुम् अञ्जते इत्यञ्जिर्गत्यर्थः। सामर्थ्याच्चेहान्तर्णीतण्यर्थः। पूर्वे अर्धे अन्तरिक्षस्य द्युलोकस्य वा दीप्तिं गमयन्ति प्राणिनां च प्रकाशद्वारेण प्रज्ञानं कुर्वन्ति। पूर्वार्धं च द्युलोकस्यान्तरिक्षस्य वा दीप्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्। निष्कृण्वाना आयुधानीव। निरित्येष समित्येत्स्य स्थाने। संस्कुर्वन्तः आयुधानीव धृष्णवः। यथा परिमार्जनादिभिः संस्कारैः संस्कुर्वन्तः आयुधानि योद्धारो दीप्तानि कुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। कृत्वा चैतत् **(प्रति)** **(गावः)** **(अरुषीः)** **(यन्ति)** प्रतियन्ति। यत आगताः	ऋ०१.९२.१ गौतमस्यैव। **(उ)** पादपूरणः। एतच्छ्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धार्थं यदध्याहारः। याः पूर्वेष्वप्यहःस्वकार्षुः **(एताः)** ता **(उषसः)**। एकस्या एवोषसः पूजार्थं बहुवचनम्। भवन्तो मे गुरव इति यथा। अवयवभेदापेक्षया भिन्नेष्वप्यहस्सूषोभेदाद् बह्वय एवोषस **(केतुम्)** केतुं प्रज्ञानं प्राणिनाम **(अक्रत)** अकृषत कुर्वन्ति। केन प्रकारेण? **(पूर्वे)** **(अर्धे)** अस्मिन् भागे **(रजसः)**। रजःशब्दो लोकवचनः। द्युलोकस्य वा अन्तरिक्षस्य वा। सप्तमीश्रुतेः स्थिता इति शेषः। **(भानुम्)** **(अञ्जते)** भानुमिति द्वितीया तृतीयार्थे। अञ्जिर्व्यक्त्यर्थः। भानुना व्यञ्जयन्ति स्वया भासा सर्वं व्यक्तीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्? **(निष्कृण्वाना)** **(आयुधनीव)**। कृणोतिरत्र सामर्थ्यात् कर्षणार्थः। निष्कर्षन्त आयुधानीव **(धृष्णवः)** धर्षयितारो योद्धारः कोशेभ्यः खड्गादीनि कर्षन्तो व्यक्तीकुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। अथवा पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जत इत्यञ्जतिर्गत्यर्थः सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः। पूर्वे अर्धे द्युलोकस्य वान्तरिक्षस्य वा भानुं दीप्तिं गमयन्ति प्राणिनां प्रकाशद्वारेण ज्ञापनं कुर्वन्ति। पूर्वार्धे द्युलोकस्थान्तरिक्षस्य दीप्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्? निष्कृण्वाना आयुधानीव। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने। संस्कुर्वाणा आयुधानीव धृष्णवो यथा भस्मगोमयपरिमार्जनादिभिः संस्कारैः संस्कुर्वन्ति आयुधानि योद्धारो दीप्तिमन्ति कुर्वन्ति

तत्रैव प्रतिगच्छन्ति। यत आदित्यादुत्पन्नास्तत्रैव प्रविलीयन्त इत्यर्थः। गावः। उषसोऽत्र गाव उच्यन्ते। **'कृष्णा यत् गोष्वरुणीषु सीदत्'** (ऋ १०,६२,४) इति यथा। उषसः कीदृश्यः। अरुषीः। अरुषतिर्गतिकर्मा (तु० निघं०२, १४)। गमनस्वभाविकाः। **(मातरः)** मातृस्थानीयाः सर्वस्य निर्मात्र्यो वा॥१॥	तद्वदित्यर्थः। कृत्वा चैतत् **(प्रति) (गावः) (अरुषीः) (यन्ति)** प्रतियन्ति यत आगतास्तत्रैव प्रतिगच्छन्ति। यत आदित्यादुत्पन्नास्तत्रैव प्रलीयन्त इत्यर्थः। गाव उषसोऽत्र गावः कृष्णा **'यद् गोष्वंरुणीषु सीदंत्'** (ऋ०१०.६१.४) इति यथा। उषसः कीदृश्यः? अरुषीः। अरुषतिर्गतिकर्मा गमनस्वाभाविकाः। **(मातरः)** मातृस्थानीयाः स्वस्या भासो निर्मात्र्योऽथवा कृत्स्नस्य जगतः।
ऋ०१.९५.५ आविश्शब्दः प्रकाशवचनः। आविरेव **(आविष्ट्यः)** स्वार्थे त्यत्प्रत्ययः। 'अव्ययात्त्यप्याविष्ठ्यस्योपसंख्यानं छन्दसि' (अ०वा०४.२.१०४) इति। सर्वलोकप्रकाशः अग्निः **(वर्धते) (चारुः)** शोभनः **(आसु)** 'बह्वीना गर्भः' (ऋ०१.९५.४) इति पूर्वस्यामृचि आदिष्टानामोषधीनामयमन्वादेशः। आस्वोषधीषु। अथवा बह्वीनां गर्भ इति बह्वीशब्देन दिश उच्यन्ते। तत आस्विति तासामन्वादेशः। तदा च वर्धत इति भूतकाले व्यत्ययेन लट् द्रष्टव्यः। त्वष्टुः सकाशाज्जनयित्वा आसु दिक्षु सर्वलोकप्रकाशोऽग्निरवर्धतेत्यर्थः। कीदृशीषु आसु। **(जिह्मानाम्)** जिह्मशब्दोऽनृजुवचनः। सप्तम्यर्थे षष्ठी। जिह्मासु। तिर्यग्व्यवस्थितास्वित्यर्थः। कथं **(वर्धते)**। उच्यते। **(ऊर्ध्वः)** ऊर्ध्वज्वलनस्वभावक एव ह्यग्निः। कीदृशः। **(स्वयशाः)** आत्मनिमित्तकीर्तिः। न च केवलास्वासु। किं तर्हि। **(उपस्थे)** उपस्थो यज्ञः आहवनीयो वान्तरिक्षं वा, तत्र च। अथवा उपस्थ इत्येतत् आसु इत्येतेन विशेष्यते, न समुच्चीयते। उपस्थशब्दश्च स्थानवचनः। आस्वोषधीषु दिक्षु वा यदग्नेः स्थानं तत्रेत्यर्थः। किञ्च **(उभे)** द्यावापृथिव्यौ **(बिभ्यतुः)** भीते आस्ताम् **(त्वष्टुः)** सकाशात् दशस्वपि दिक्षु **(जायमानात्)** अतिवृद्धादग्नेः। भीते च सत्यौ **(प्रतीची)** अञ्चतिर्गत्यर्थः। अग्निमेव प्रतिगते। अग्निपरिचर्यापरे सत्यावित्यर्थः। **(सिंहम्)** लुप्तोपममेतत्। सिंहसदृशं दुरभिभवमग्निम् **(प्रति) (जोषयेते)** जुषिरत्र प्रीत्यर्थः। प्रतिशब्दश्च धात्वर्थानुवादी। भूते लट्। अप्रीणयतम्। दशभिरपि दिग्भिः सहाऽमृतेन अतर्पयतमित्यर्थः॥५॥	ऋ०१.९५.५ कुत्सस्य। **(आविष्ट्य)** इति **स्वार्थे** त्यप् **'अव्ययात्त्यप्'** (अष्टा०४.२.१०४) **'आविष्टस्योपसंख्यानं छन्दसि'** (मूलमनुपलब्धम्) इति।) आविरेव आविष्ट्यः प्रकाश इत्यर्थः। सर्वलोकप्रकाशो **(वर्धते)**। **(चारुः)** शोभना। **(आसु)**। कासु? उच्यते। जिह्मानां गर्भ इति पूर्वस्यामृच्यादिष्टानामोषधीनामयमन्वादेशः। तेन सामर्थ्याद्यस्यां गर्भभूतस्तास्वोषधीष्वित्यर्थः। **(जिह्मानाम्)** जिह्माः कुटिलाः सप्तम्यर्थे चात्र षष्ठी कुटिलासु तिरश्चीष्वपि सतीष्वित्यर्थः। **(ऊर्ध्वः)** ऊर्ध्वज्वालः। अग्नेरूर्ध्वगतित्वात्। **'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यगगमनमित्यदृष्टकारितम्'** (वैशे०५.२.१३) इति वैशेषिकाः। **(स्वयशाः)** स्वनिमित्तकीर्त्तिः। **(उपस्थे)** यत्रायमुपगम्य तिष्ठति तस्यामुपस्थे तत्र। किञ्च **(उभे)** द्यावापृथिव्यौ वाहोरात्रे वारणी वा। अतिप्रवृद्धः सन्नयं कदाचिदावां दहेदित्येवं **(त्वष्टुः)** अग्नेः **(बिभ्यतुः) (जायमानात्)** उद्गच्छत एव भीतेव। **(प्रतीची)** तमेव प्रति परिचारकत्वेन गते तत्परिचर्यापरे इत्यर्थः। **(सिंहम्)** तमेव सहनमभिभवितारं भयानकं **(प्रति) (जोषयेते)** तैस्तैरुपकारैः प्रति सेवेत इत्यर्थः। तस्य प्रकाशस्येत्येवं दर्शयता भाष्यकारेण तेऽप्यादृता व्याकरणस्मृतिकाराः।

उपर्युक्त मन्त्रों में समानता का दर्शन करने के लिये हम यहाँ एक तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं-

अक्रत	ऋ०१.९२.१	प्रज्ञानं प्राणिनां कुर्वन्ति। केन प्रकारेण। उच्यते।	अकृषत कुर्वन्ति। केन प्रकारेण ?
अग्निः	ऋ०१.१.२		यः
अग्निम्	ऋ०१.१.१		
अङ्ग	ऋ०१.८४.८	अथवैवं पूर्वोक्तयोरर्धर्चयोरेकवाक्यता। न कदाचिदप्यधनं पादेन चालयतीन्द्रः। वयञ्चाधनाः, अतो भीता ब्रूमः। कदा नः शुश्रुवत् गिर इन्द्रो अङ्ग इति। अथवैवमन्यथास्या ऋचः अर्थयोजना। कदा मर्तमराधसं हविर्लक्षणेन धनेन रहितं अयष्टारमित्यर्थः। पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। स्फुरति स्फुलतीति वधकर्मसु पाठात् (तु०निघं०३.१९) स्फुरतिरिह वधार्थः। यथा कश्चित् क्षुम्पं पादेनाक्रम्य हन्ति तद्वद्धनिष्यति। चूर्णयिष्यतीत्यर्थः। कदा वाऽस्माकं यष्टॄणां श्रोष्यति गिर इन्द्रो अङ्गेति। अयष्टॄन् कदा निग्रहीष्यति यष्टॄंश्चास्मान् स्तुतिश्रवणे न अनुग्रहीष्यतीत्यर्थः।	क्षिप्रम्। अयष्टॄन् कदा निग्रहीष्यति यष्टॄंश्चास्मान् स्तुतिश्रवणादनुग्रहीष्यतीत्यर्थः। अनाराधयन्तमित्यर्थप्राप्तं वचनं न दारिद्र्यात्, किं तर्हि ? नास्तिक्याश्रद्दधानतया अयष्टारमित्यर्थः। अवस्फुरति शृणोतीति पाठः, अवस्फुरिष्यतीति वेति। अङ्गेति निपातः क्षिप्रार्थः। तस्यार्थो विदितमेवेति। यद्धि क्षिप्रं तदन्वितमेवात्यन्तलग्नमेवेति। अङ्कितमित्यङ्गशब्दसमाधिः। अगिवमेगीत्यगेन नत्यर्थस्य।
अचेति	ऋ०१.८८.५	चेत्यते। न ज्ञायते केनचित्।	न चेत्यते न ज्ञायते केनचित्
अञ्जते	ऋ०१.९२.१	भानुमिति तृतीयार्थे द्वितीया। अञ्जिर्व्यक्त्यर्थः। भानुना व्यञ्जन्ति। स्वया भासा सर्वं व्यक्तीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्। उच्यते।	भानुमिति द्वितीया तृतीयार्थे। अञ्जिर्व्यक्त्यर्थः। भानुना व्यञ्जयन्ति स्वया भासा सर्वं व्यक्तीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथम् ?
अति	ऋ०१.८१.५		अतिशयेन सर्वं भुवनं
अत्र	ऋ०१.८४.१५		
अपीच्यम्	ऋ०१.८४.१५	अन्तर्हितनामधेयमेतत्। (तु०निघं०३,२५) अन्तर्हितम्। तत्सम्बन्धिहरिरथवज्रमरुदादिस्तुतिद्वारेणेत्यर्थः। क्व स्थिते इन्द्रे। उच्यते।	अपेत्य चितं स्थितम्। अथवा अञ्चतेर्गत्यर्थस्य (धा०१.१८८) अनेकार्थत्वाद् धातूनामञ्चतिनार्थस्येदं रूपम्। अन्तर्हितनाम वा। अवगच्छतमाच्छादितं वा चन्द्ररूपेणेत्यर्थः।
अमन्वत	ऋ०१.८४.१५	मनु अवबोधने। अवबुध्यन्ते। के।	अमंसत मतवन्तः। के ? अन्ये रश्मयः।

		सामर्थ्यात् ऋषयः। किम्।	किमिदं नाम ?
अयोदंष्ट्रान्	ऋ०१.८८.५	दंष्ट्रास्थानीयत्वाद्रथोद्धी अत्र दंष्ट्रे उच्येते। अयोमयरथोद्धीन्। लोहमयोद्धीकरथस्थानित्यर्थः।	अयोदंष्ट्रास्थानीयत्वात् रथस्य उद्वित् अत्र दंष्ट्रे उच्येते। अयोमयरथोद्विन् लोहमयो द्विकरस्थानित्यर्थः।
अराधसम्	ऋ०१.८४.८	राधः (निघं०२.१०) इति धननाम। अधनम्। दारिद्र्यात् यष्टुमसमर्थमित्यर्थः।	हविर्लक्षणेन धनेन रहितमयष्टारमित्यर्थः।
अरुषीः	ऋ०१.९२.१	उषसोऽत्र गाव उच्यन्ते। '**कृष्णा यत् गोष्वरुणीषु सीदत्**' (ऋ १०,६२,४) इति यथा। उषसः कीदृश्यः। अरुषीः। अरुषतिर्गतिकर्मा (तु० निघं०२, १४)। गमनस्वभाविकाः।	गाव उषसोऽत्र गावः कृष्णा '**यद् गोष्व॑रुणीषु सीद॑त्**' (ऋ०१०.६१.४) इति यथा। उषसः कीदृश्यः ? अरुषीः। अरुषतिर्गतिकर्मा गमन- स्वाभाविकाः।
अर्धे	ऋ०१.९२.१		अस्मिन् भागे
अह	ऋ०१.८४.१५	इति विनिग्रहार्थीय एवार्थे।	अहनिपातो विनिग्रहार्थीय एवशब्देन समानार्थीयः। अत्रैव
आ वक्षति	ऋ०१.१.२	आ इत्युपसर्गो व्यवहितोऽपि वक्षतीत्याख्यातेन सम्बध्यते। लडर्थे लेट्। इहेति कृत्स्नस्य जगतः प्रतिनिर्देशः। इहेति कृत्स्ने जगति। स एव देवान् आवहति यज्ञेषु, नान्यः कश्चिदित्यर्थः। अथवा अन्योरर्धर्चयोरेकवाक्यताप्रसिद्धयर्थं यत्तदोरुद्देशप्रतिनिर्देशार्थयोर्नित्य-सम्बन्धात् स देवानिति च प्रतिनिर्देशार्थतच्छब्दश्रुतेः पूर्वस्मिन्नर्धर्चे उद्देशार्थो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। यः पूर्वैर्नवैश्च स्तुत्यः अग्निः स देवानिह जगति आवक्षति आवहति। अथवा इहेति प्रकृतस्य कर्मणः प्रतिनिर्देशः। वक्षतीति लोडर्थे लेट्। इह स कर्मणि देवानावहत्विति॥	आ इत्युपसर्गो व्यवहितेनापि वक्षतीत्यनेन सम्बध्यते। लोडर्थे पञ्चमः आवहतु। वन्दितव्य इत्यनिरुक्तपाठः। अथवा पर्यायप्रदर्शनमस्तु। नवतरैरिति स्वार्थिकस्तरप्। यावदुच्चैस्तरामिति यथा।
आयुधानीव	ऋ०१.९२.१	कृणोतिरत्र सामर्थ्यात् कृषेरर्थे द्रष्टव्यः। निष्कर्षन्तः। आयुधानीव	कृणोतिरत्र सामर्थ्यात् कर्षणार्थः। निष्कर्षन्त आयुधानीव

आविष्ट्यः	ऋ०१.९५.५	आविश्शब्दः प्रकाशवचनः। आविरेव स्वार्थे त्यत्प्रत्ययः। 'अव्ययात्त्यप्याविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि' (अ०वा०४.२.१०४) इति। सर्वलोकप्रकाशः अग्निः	इति स्वार्थे त्यप् 'अव्ययात्त्यप्' (अष्टा०४.२.१०४) **'आविष्टस्योपसंख्यानं छन्दसि'** (मूलमनुपलब्धम्) इति।) आविरेव आविष्ट्यः प्रकाश इत्यर्थः। सर्वलोकप्रकाशो
आसु	ऋ०१.९५.५	**बह्वीना गर्भः** (ऋ०१.९५.४) इति पूर्वस्यामृचि आदिष्टानामोषधीनामयमन्वादेशः। आस्वोषधीषु। अथवा बह्वीनां गर्भ इति बह्वीशब्देन दिश उच्यन्ते। तत आस्विति तासामन्वादेशः। तदा च वर्धत इति भूतकाले व्यत्ययेन लट् द्रष्टव्यः। त्वष्टुः सकाशाज्जनयित्वा आसु दिक्षु सर्वलोकप्रकाशोऽग्निरवर्धतेत्यर्थः। कीदृशीषु आसु।	कासु? उच्यते। जिह्मानां गर्भ इति पूर्वस्यामृच्यादिष्टानामोषधीनामयमन्वादेशः। तेन सामर्थ्याद्यस्यां गर्भभूतस्तास्वोषधीष्वित्यर्थः।
आ	ऋ०१.८१.५		
इत्था	ऋ०१.८४.१५	अमुत्र।	अमुत्र
इन्द्रः	ऋ०१.८४.८		
इन्द्र	ऋ०१.८१.५		
इह	ऋ०१.१.२		प्रकृते कर्मणि
ईड्यः	ऋ०१.१.२	स्तुत्यः।	ईडितव्यः।
ईळे	ऋ०१.१.१	अहं स्तौमि। कीदृशम्।	'ईड स्तुतौ' (धा०२.९) याच्ञायां वा। यद्वा अध्येषणायाम्। स्तौमि याचे। अध्येषणायामिति। पूजाकर्मा वा। कीदृशम्।
उत	ऋ०१.१.२	उत शब्दोऽप्यर्थे समुच्चये।	उतशब्दोऽप्यर्थे। अपिशब्दः समुच्चये।
उपस्थे	ऋ०१.९५.५	उपस्थो यज्ञः आहवनीयो वान्तरिक्षं वा, तत्र च। अथवा उपस्थ इत्येतत् आसु इत्येतेन विशेष्यते, न समुच्चीयते। उपस्थशब्दश्च स्थानवचनः। आस्वोषधीषु दिक्षु वा यदग्नेः स्थानं तत्रेत्यर्थः। किञ्च	यत्रायमुपगम्य तिष्ठति तस्यामुपस्थे तत्र। किञ्च
उभे	ऋ०१.९५.५	द्यावापृथिव्यौ	द्यावापृथिव्यौ वाहोरात्रे वारणी वा।

			अतिप्रवृद्धः सन्नयं कदाचिदावां दहेदित्येवं
उषसः	ऋ०१.९२.१	एकस्या एवोषसः पूजनार्थमेतत् बहुवचनम्। भवन्तो मे गुरव इति यथा। अवयवभेदापेक्षं वा। भिन्नेष्वहःसूषोभेदात् बह्वय एवोषसः।	एकस्या एवोषसः पूजार्थं बहुवचनम्। भवन्तो मे गुरव इति यथा। अवयवभेदापेक्षया भिन्नेष्वप्यहस्सूषोभेदाद् बह्वय एवोषस
उ	ऋ०१.९२.१	उकारः पदपूरणः। तच्छब्दश्श्रुतेश्च योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। या पूर्वेष्वप्यहःस्वकार्षुः	पादपूरणः। एतच्छ्रुतेर्योग्यार्थ-सम्बन्धार्थं यदध्याहारः। याः पूर्वेष्वप्यहःस्वकार्षुः
ऊर्ध्वः	ऋ०१.९५.५	ऊर्ध्वज्वलनस्वभावक एव ह्यग्निः। कीदृशः।	ऊर्ध्वज्वालः। अग्नेरूर्ध्वगतित्वात्। ‘अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमित्यदृष्टकारितम्’ (वैशे० ५.२.१३) इति वैशेषिकाः।
ऋत्विजम्	ऋ०१.१.१	कतमम्।	च कतमम्।
ऋषिभिः			
एतत्	ऋ०१.८८.५	युष्मदीयं बलम्	
एताः	ऋ०१.९२.१	ताः	ता
कदा	ऋ०१.८४.८		कस्मिन् काले।
कश्चन	ऋ०१.८१.५	कश्चिदपि। पूर्वस्मिन् काले	कश्चिदपि पूर्वं
केतुम्	ऋ०१.९२.१		केतुं प्रज्ञानं प्राणिनाम
क्षुम्पमिव	ऋ०१.८४.८	क्षुम्पमहिच्छत्रकमुच्यते।	यथाहेः कश्चित् क्षुम्पमाक्रमत् पादेन स्फुरेत् हन्यात् तद्वत् स्फुरिष्यति वधिष्यतीत्यर्थः।
गावः	ऋ०१.९२.१		
गिरः	ऋ०१.८४.८		
गृहे	ऋ०१.८४.१५	स्थाने। अन्तरिक्षे द्युलोके वेत्यर्थः। सप्तमीनिर्देशात् स्थित इति वाक्यशेषः। यास्कस्तु मन्यते। अत्राहेत्यत्र अत्रशब्देन ऋगन्त्यं चन्द्रमसो गृहं प्रतिनिर्दिश्यते। चन्द्रमसश्च गृहं चन्द्रमण्डलम्। गौरित्यपि सुषुम्नो नाम सूर्यरश्मिश्चन्द्रमसं गतः अम्मयत्वात् चन्द्रमण्डलस्य ततः प्रतिहतः सन्	गृहभूते मण्डले।

		परावृत्य ज्योत्स्नारूपेण पृथिव्यां दीप्यते, स उच्यत इति। एवमेकवाक्यता अत्र चन्द्रमसो गृहे चन्द्रमण्डले गो: सुषुम्नाख्यस्य सूर्यरश्मेरमन्वत ज्ञातवन्त इत्यर्थ:। के। सामर्थ्यात् रश्मय:। नमनं नाम व्यवस्थानम्। त्वष्टुरादित्यादपेत्य अपीच्यमन्तर्हितं परित्यज्यादित्यरश्मितां चन्द्ररश्मिरूपेणावस्थितस्येत्यर्थ:। एतदयोग्यम्। न तावदत्रशब्देन चन्द्रमसो गृहं प्रतिनिर्देष्टुं शक्यम्। इत्थाशब्देन तस्य प्रतिनिर्देशादित्थाशब्दस्य चामुत्रशब्द- पर्यायत्वात् अत्रामुत्रेत्येतयोश्च सन्निकृष्टविप्रकृष्टप्रतिनिर्देशार्थयोरेकत्रार्थे विरुद्धत्वात्। नापि गोशब्देन सुषुम्न: शक्यो वक्तुम्, अनैन्द्रत्वप्रसङ्गात्। गोशब्देन हि सुषुम्नस्य प्रतिनिर्देशे सुषुम्नदेवतोऽयं मन्त्र: स्यात्। गुणप्रधानभावविपर्ययाद्वा चन्द्रदेवत:। न कथञ्चिदप्यैन्द्र:। ऐन्द्राणि चैतानि सूक्तानि। तत्र प्रकरणं बाध्येत। तस्मात् पूर्व एवार्थ:।	
गो:	ऋ०१.८४.१५	वाङ्नामात्र (तु०निघं०१.११)। गोशब्द: स्तुतिवचनो वा (तु०निघं०३,१६)। गोभिर्यदीमन्ये अस्मत् (ऋ०८.२.६) इति यथा। स्तुतिलक्षणाया: वाच: स्तुतेर्वा।	सुषुम्नाख्यस्य सूर्यरश्मे:।
गोतम:	ऋ०१.८८.५	कर्मकर्तृश्रुते: साकाङ्क्षत्वात् स्तुतवानिति वाक्यशेष:।	साकाङ्क्षत्वात् स्तुतवानिति वाक्यशेष:।
चन	ऋ०१.८१.५		
चन्द्रमस:	ऋ०१.८४.१५		
चारु:	ऋ०१.९५.५	शोभन:	शोभना।
जनिष्यते	ऋ०१.८१.५	अतिवृद्धादग्ने:। भीते च सत्यौ	उद्गच्छत एव भीतेव।
जात:	ऋ०१.८१.५	जिह्मशब्दोऽनृजुवचन:। ससम्यर्थे षष्ठी।	जिह्मा: कुटिला: ससम्यर्थे चात्र षष्ठी

		जिह्मासु। तिर्यग्व्यवस्थितास्वित्यर्थः। कथं	कुटिलासु तिरश्चीष्वपि सतीष्वित्यर्थः।
जायमानात्	ऋ०१.९५.५	जुषिरत्र प्रीत्यर्थः। प्रतिशब्दश्च धात्वर्थानुवादी। भूते लट्। अप्रीणयतम्। दशभिरपि दिग्भिः सहाऽमृतेन अतर्पयतमित्यर्थः।	तैस्तैरुपकारैः प्रति सेवेत इत्यर्थः। तस्य प्रकाशस्येत्येवं दर्शयता भाष्यकारेण तेऽप्यादृता व्याकरणस्मृतिकाराः।
जिह्मानाम्	ऋ०१.९५.५		युष्मदीयं बलम्।
जोषयेते	ऋ०१.९५.५	पञ्चमीनिर्देशादपेत्येति वाक्यशेषः। देवमात्रोपलक्षणार्थं चात्र त्वष्टृग्रहणं द्रष्टव्यम्। सर्वेभ्यो देवेभ्योऽपेत्येत्यर्थः। कीदृशं नाम। उच्यते।	पञ्चम्येषा। आदित्यस्य सकाशात्।
त्यद्	ऋ०१.८८.५	सकाशात् दशस्वपि दिक्षु	अग्नेः
त्वष्टुः	ऋ०१.८४.१५	त्वत्सदृश इदानीं तावत् हे	त्वत्सदृशः हे
त्वष्टुः	ऋ०१.९५.५		
त्वावान्	ऋ०१.८१.५		
दिवि	ऋ०१.८१.५	द्युलोके। नक्षत्रादीनां हि दिवि व्यवस्थितानां धर्मो मूलम्। स च वृष्टिमूलम्। अत इदमुच्यते। बद्बधे रोचना दिवीति। तदेतत् गोषूक्ती चाश्वसूक्ती च वक्ष्यतः। **इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि** (ऋ०८.१४.९) इति। अथवा बद्बधे रोचनेति आदित्योऽत्र रोचनोऽभिप्रेतः।. द्वितीयैकवचनस्यायमाकारादेशः। महत्तमस्तन्वन्त वृत्रं हत्वा दर्शनार्थं दिवि सूर्यमारोपितवानित्यर्थः। तदेतत् सव्येनाप्युक्तम्। **वृत्रं यदिन्द्र** (ऋ०१.५१.४) इत्यादिना। परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वात् भिन्नं वाक्यम्।	तेषां दिवि बन्धनस्य धर्ममूलता, धर्मस्य च वृष्टिमूलत्वात्, वृष्टिप्रदानद्वारेण बध्नातीत्युच्यते। परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्।
देवम्	ऋ०१.१.१	दीव्यतिर्दानार्थे दीप्त्यर्थे वा। दातारं दीप्तं वा। अथवा पुरोहितशब्दः क्रियाशब्दः। पूर्वस्यां दिशि निहितमाहवनीयात्मना स्थापितम्। यज्ञस्येत्येतत्तु देवमित्यनेन संबध्यते। यज्ञस्य दातारं दीपयितारं वा। यज्ञं हि देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति,	देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति तदायत्तत्वात्तस्य। दीपयति च। न च यज्ञस्य देवमेव केवलम्। किन्तर्हि।

		तदयत्तत्वात्। दीपयति च। न च यज्ञस्य देवमेव केवलम्, किं तर्हि।	
धृष्णवः	ऋ०१.९२.१	धर्षयितारो योद्धारो यथा कोशेभ्यः खड्गान्निष्कर्षन्तो व्यक्तीकुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। अथवा पूर्वे अर्धे रजसः भानुम् अञ्जते इत्यञ्जिर्गत्यर्थः। सामर्थ्याच्चेहान्तर्णीतण्यर्थः। पूर्वे अर्धे अन्तरिक्षस्य द्युलोकस्य वा दीप्तिं गमयन्ति प्राणिनां च प्रकाशद्वारेण प्रज्ञानं कुर्वन्ति। पूर्वार्धं च द्युलोकस्यान्तरिक्षस्य वा दीप्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्। निष्कृण्वाना आयुधानीव। निरित्येष समित्येत्य स्थाने। संस्कुर्वन्तः आयुधानीव धृष्णवः। यथा परिमार्जनादिभिः संस्कारैः संस्कुर्वन्तः आयुधानि योद्धारो दीप्तानि कुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। कृत्वा चैतत्	धर्षयितारो योद्धारः कोशेभ्यः खड्गादीनि कर्षन्तो व्यक्तीकुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। अथवा पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जत इत्यञ्जतिर्गत्यर्थः सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः। पूर्वे अर्धे द्युलोकस्य वान्तरिक्षस्य वा भानुं दीप्तिं गमयन्ति प्राणिनां प्रकाशद्वारेण ज्ञापनं कुर्वन्ति। पूर्वार्धे द्युलोकस्थान्तरिक्षस्य दीप्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्? निष्कृण्वाना आयुधानीव। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने। संस्कुर्वाणा आयुधानीव धृष्णवो यथा भस्मगोमय-परिमार्जनादिभिः संस्कारैः संस्कुर्वन्ति आयुधानि योद्धारो दीप्तिमन्ति कुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। कृत्वा चैतत्
नः	ऋ०१.८४.८		कदा वास्माकं सर्वदा यष्टॄणां
न	ऋ०१.८१.५	अप्यागामिकाले	अपि
न	ऋ०१.८८.५		
नाम	ऋ०१.८४.१५	स्थानम्। यावती काचित् स्तुतिः सर्वाऽत्रैवेन्द्रे व्यवस्थितेत्येवमृषयो मन्यन्त इत्यर्थः।	नमनं प्रह्वीभावमनुप्रवेशमित्यर्थः।
निष्कृण्वानाः	ऋ०१.९२.१		
नूतनैः	ऋ०१.१.२	नूतनमिति नवनाम। नवैश्चेत्यर्थः। यावान् कश्चिदृषिः तेन सर्वेण यतः स्तोतव्यः, अतोऽहं स्तौमीत्यर्थः। एवमस्यार्धर्चस्य पूर्वयर्चैकवाक्यता। अपरः परादो भिन्नं वाक्यम्।	नवनामैतत्। नवैरस्मत्प्रभृतिभिः।
पदा	ऋ०१.८४.८	पदेन।	
पप्रौ	ऋ०१.८१.५	आपूरयति	
पश्यन्	ऋ०१.८८.५		
पार्थिवम्	ऋ०१.८१.५		
पुरोहितम्	ऋ०१.१.१	शान्तिकपौष्टिकैः कर्मभिर्यो	शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकैः कर्मभी

		राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित इत्युच्यते, तत्स्थानीयम्। कस्य	राजानं सर्वापद्भ्यस्त्रायते यः स पुरोहित उच्यते तत्स्थानीयम्। कस्य।
पूर्वेभिः	ऋ०१.१.२	पूर्वैरस्मत्तः पूर्वकालैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः।	पूर्वैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः
पूर्वे	ऋ०१.९२.१		
प्रति	ऋ०१.९२.१		
प्रति	ऋ०१.९५.५		
प्रतीची	ऋ०१.९५.५	अञ्चतिर्गत्यर्थः। अग्निमेव प्रतिगते। अग्निपरिचर्यापरे सत्यावित्यर्थः।	तमेव प्रति परिचारकत्वेन गते तत्परिचर्यापरे इत्यर्थः।
बद्बधे	ऋ०१.८१.५	बध्नाति।	बध्नाति
बिभ्यतुः	ऋ०१.९५.५	भीते आस्ताम्	
भानुम्	ऋ०१.९२.१		
मरुतः	ऋ०१.८८.५		
मर्तम्	ऋ०१.८४.८		मनुष्यम्।
मातरः	ऋ०१.९२.१	मातृस्थानीयाः सर्वस्य निर्मात्र्यो वा।	मातृस्थानीयाः स्वस्या भासो निर्मात्र्योऽथवा कृत्स्नस्य जगतः।
यज्ञस्य	ऋ०१.१.१	यज्ञाधिकृतस्य यज्ञो वै यजमानः (तु, ऐब्रा १.२८) इति श्रुतेः। आपदामपहन्तारमित्यर्थः।	आपदामपहर्तारमित्यर्थः। कुत एतत्? यद्धि होतारो यज्ञस्येत्यादि सर्वं तदग्निर्देवो होतानुर्लक्षणं करोतिश्रुतेः।
यत्	ऋ०१.८८.५	हे	बलं हे
यन्ति	ऋ०१.९२.१	प्रतियन्ति। यत आगताः तत्रैव प्रतिगच्छन्ति। यत आदित्यादुत्पन्नास्तत्रैव प्रविलीयन्त इत्यर्थः। गावः।	प्रतियन्ति यत आगतास्तत्रैव प्रतिगच्छन्ति। यत आदित्यादुत्पन्नास्तत्रैव प्रलीयन्त इत्यर्थः।
योजनम्	ऋ०१.८८.५	युज्यन्ते प्राणवियोगादिना अनेन शत्रव इति सेनालक्षणं बलमिहाभिप्रेतम्।	युज्यन्ते प्राणवियोजनमनेन शत्रव इति सेनालक्षणं बलमिहाभिप्रेतम्।
रत्नधातमम्	ऋ०१.१.१	रत्नमिति धननाम। दधातिर्दानार्थः। धनानामतिशयेन दातारम्।	रत्नानामतिशयेन दातारम्।
रजः	ऋ०१.८१.५	लोकम्। केन। सामर्थ्याद् वृष्टिद्वारेण।	पृथिवीलोकं वृष्टिद्वारेण। एवञ्च
रजसः	ऋ०१.९२.१	द्युलोकस्यान्तरिक्षस्य वा। सप्तमीनिर्देशात् स्थिता इति वाक्यशेषः।	रजःशब्दो लोकवचनः। द्युलोकस्य वा अन्तरिक्षस्य वा। सप्तमीश्रुतेः स्थिता इति शेषः।
रोचना	ऋ०१.८१.५	दीप्तानि नक्षत्रादीनि। क्व।	रोचनानि नक्षत्रादीनि
वः	ऋ०१.८८.५	युष्मान्।	युष्मान्

वराहून्	ऋ०१.८८.५	वरमुत्कृष्टं श्रेष्ठमिति पर्यायाः। हुशब्दोऽपि हन्तेर्वा ह्वयतेर्वा हरतेर्वा जुहोतेर्वाऽदनार्थस्य। उत्कृष्टस्य शत्रोः हन्तॄन् आह्वातॄन् वा उदकस्य वाऽऽहर्तॄन् हविषो वा भक्षयितॄन्।	वरमुत्कृष्टं श्रेष्ठमिति पर्यायाः। हुशब्दो हन्तेर्वा हरतेर्वा हूयतेर्वा जुहोतेर्वा दानार्थस्य। उत्कृष्टस्य शत्रोराहन्तॄन् उदकस्याहर्तॄन् देवानामाह्वातॄन् हविषो वा भक्षयितॄन्।
ववक्षिथ	ऋ०१.८१.५	अतित्युपसर्गात् विश्वमिति कर्मश्रुतेर्योग्यक्रिया पदाध्याहारः। ववक्षिथेत्यपि च यद्यपि वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्य रूपम्। तथापि **ववक्षिथ** **विवक्षस** (निघं०३.३) इति महन्नामसु पाठात् वचनवहनयोश्चासम्भवादनेकार्थतायाश्च धात्वन्तराणामपि प्रसिद्धत्वात् ववक्षतिर्महद्भावार्थः। अतीत्य सर्वास्त्वं महान् भवसीत्यर्थः।	अनुशासितुं वोढुं वेच्छसि, अनुशास्मि वहसि वेत्यर्थः। अतिशयवतः सामर्थ्यान्महानसि, अतो भवन्तं स्तुम इति शेषः। उपाध्यायस्त्वाह अनेकार्थत्वाद्धातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम्। अत्युपसर्गाद् योग्यक्रियाध्याहारः, अतीत्य सर्वं महान् भवसीत्यर्थः। विवक्षसे इत्येतस्य।
विधावतः	ऋ०१.८८.५	इतश्चेतश्च विविधं धावतः।	इतश्चेतश्च विविधं धावतः।
शुश्रुवत्	ऋ०१.८४.८	श्रोष्यति स्तुतिलक्षणा	श्रोष्यति
सः	ऋ०१.१.२	प्रकृतोऽग्निः	
सस्वः	ऋ०१.८८.५	अन्तर्हितम्।	अन्तर्हितं नाम।
सिंहम्	ऋ०१.९५.५	लुप्तोपममेतत्। सिंहसदृशं दुरभिभवमग्निम्	तमेव सहनमभिभवितारं भयानकं
स्फुरत्	ऋ०१.८४.८	स्फुर स्फुल सञ्चलने। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः। यथा वायुरन्यो वा कश्चित् सर्पच्छत्रकं चालयति तद्वच्चालयति। न कदाचिदपीत्यर्थः। निरादरत्वाद्वैतदनेन प्रकारेणाख्यायते। अधनस्योपरि अत्यन्तनिरादर इन्द्र इत्यर्थः। यत एवमतः सधनत्वात् कृतयागा वयं ब्रूमः।	'**स्फुरति स्फुलति**' इति वधकर्मसु पाठात् (निरु०२.१९) स्फुरतिरभिभवार्थे। यथाहे: कश्चित् क्षुम्पमाक्रमत् पादेन स्फुरेत् हन्यात् तद्वत् स्फुरिष्यति वधिष्यतीत्यर्थः।
स्वयशाः	ऋ०१.९५.५	आत्मनिमित्तकीर्तिः। न च केवलास्वासु। किं तर्हि।	स्वनिमित्तकीर्त्तिः।
ह	ऋ०१.८८.५	हशब्दस्तु पदपूरणः। देवतामाहात्म्यादन्तर्हितं युष्मदीयं	हशब्दस्तु पदपूरणः। देवतामाहात्म्यादन्तर्हितं युष्मदीयं बलं

		सेनालक्षणं बलं केनचिदपि न दृश्यत इत्यर्थः। यत् कीदृशम्। उच्यते।	केनचिदपि न चेत्यते न दृश्यत इत्यर्थः। तत् कीदृशम् ? उच्यते।
हिरण्यचक्रान्	ऋ०१.८८.५	हिरण्यशब्दोऽत्र **'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति'** (निरु०२.५) इत्येवं हिरण्मये वर्तते। हिरण्मयानि रथचक्राणि येषां ते हिरण्यचक्राः। तान्। हिरण्मयचक्ररथस्थानित्यर्थः।	हिरण्यशब्दोऽत्रापि **'ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति'** (निरु०२.५) इत्येवं हिरण्मये वर्तते। हिरण्मयानि रथचक्राणि येषां मरुतां ते हिरण्यचक्रास्तान् हिरण्मयचक्ररथस्थानित्यर्थः।
होतारम्	ऋ०१.१.१	**'अग्निर्वै देवानां होता'** (ऐब्रा १.२८) इति श्रुतेः। अग्निर्दैव्यो होता। तदधिकृतस्तु मानुषो होता हौत्रं कर्म करोति। अथवा ऋत्विग्धोतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ यष्टारम् ऋत्विजम्। यो यो यागकालस्तत्र तत्र यष्टारमित्यर्थः। होतारमाह्वातारम्। कस्य, सामर्थ्याद् देवानाम्।	**'अग्निर्वै देवानां होता'** (ऐ०ब्रा०१.२८; ३.१४) इति श्रुतेः। अथवा ऋत्विग्होतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ काले काले यो यागकालस्तस्मिन् यष्टारमृत्विजम्। होतारमाह्वातारम्। कस्य। सामर्थ्याद्देवानाम्। यद्वा **जुहोतेर्होता** होमकारिणं तदधिकरणत्वप्रतिपत्त्या।

उपर्युक्त तालिका के आधार पर देखने पर ज्ञात होत है कि ऋग्भाष्य और निरुक्तभाष्य में समानता बहुत अधिक है, यह हम निम्न दो तीन पदों के पदार्थ का अवलोकन करने के आधार पर निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं-

पुरोहितम्	ऋ०१.१.१	शान्तिकपौष्टिकैः कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित इत्युच्यते, तत्स्थानीयम्। कस्य	शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकैः कर्मभी राजानं सर्वापद्भ्यस्त्रायते यः स पुरोहित उच्यते तत्स्थानीयम्। कस्य।
यज्ञस्य	ऋ०१.१.१	यज्ञाधिकृतस्य यज्ञो वै यजमानः (तु, ऐब्रा १.२८) इति श्रुतेः। आपदामपहन्तारमित्यर्थः।	आपदामपहर्तारमित्यर्थः। कुत एतत् ? यद्धि होतारो यज्ञस्येत्यादि सर्वं तदग्निर्देवो होतानुर्लक्षणं करोतिश्रुतेः।
होतारम्	ऋ०१.१.१	**'अग्निर्वै देवानां होता'** (ऐब्रा १.२८) इति श्रुतेः। अग्निर्दैव्यो होता। तदधिकृतस्तु मानुषो होता हौत्रं कर्म करोति। अथवा ऋत्विग्धोतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ यष्टारम् ऋत्विजम्। यो यो यागकालस्तत्र तत्र यष्टारमित्यर्थः। होतारमाह्वातारम्। कस्य, सामर्थ्याद् देवानाम्।	**'अग्निर्वै देवानां होता'** (ऐ०ब्रा०१.२८; ३.१४) इति श्रुतेः। अथवा ऋत्विग्होतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ काले काले यो यागकालस्तस्मिन् यष्टारमृत्विजम्। होतारमाह्वातारम्। कस्य। सामर्थ्याद्देवानाम्। यद्वा **जुहोतेर्होता** होमकारिणं तदधिकरणत्वप्रतिपत्त्या।

उपर्युक्त उद्धरणों में न केवल भाषा की समानता है, अपितु प्रमाण की समानता भी देखी जा सकती है। वर्णन करने की शैली का साम्य देखते ही बनता है-**'होतारमाह्वातारम्। कस्य। सामर्थ्याद्दिवानाम्।'** दोनों स्थानों पर एक जैसी पदावली यह संकेत कर रही है कि इन दोनों का रचनाकार एक ही है। अत: निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्भाष्यकार स्कन्द और निरुक्तभाष्यकार स्कन्द दो व्यक्ति न होकर एक ही हैं।

निरुक्त का आकार

निरुक्त के आकार के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि जिस रूप में और जितना निरुक्त नाम से ग्रन्थ उपलब्ध होता है, वह सब यास्कीय नहीं है। इस विषय में सबसे अधिक ध्यान देने एवं स्वीकार करने योग्य तथ्य यह है कि निरुक्त के दुर्ग एवं स्कन्द ये दोनों प्राचीन भाष्यकार जितने निरुक्तभाग की व्याख्या कर रहे हैं, उनकी दृष्टि में वही यास्कीय निरुक्त है। उक्त प्रकरण में यह बात विना किसी विवाद के कही जा सकती है कि द्वादश अध्याय पर्यन्त निरुक्त की सीमा को मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं रही है और न है। इसके अतिरिक्त इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि निरुक्त का प्रणयन निघण्टु के लिये हुआ था। यदि इस दृष्टि से अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि निघण्टु की व्याख्या की परिसमाप्ति द्वादश अध्याय पर हो जाती है। निघण्टु में तीन काण्ड हैं-नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत। इन तीन काण्डों के पदों का व्याख्यान १२वें अध्याय की समाप्ति के साथ यह कार्य पूर्ण हो जाता है। चूँकि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, इसकी आश्रयता निघण्टु पर निर्भर है, अत: १२वें अध्याय से आगे निरुक्त का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

आचार्य दुर्ग की दृष्टि में निरुक्त का आकार

निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार आचार्य दुर्ग निरुक्तवृत्ति का प्रारम्भ **'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'**[1] से करते हैं। इसके अतिरिक्त निरुक्त के विषयों का परिगणन करते हुए वे प्रथम विषय के रूप में **'नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षम्'**[2] तथा अन्तिम विषय के रूप में **'देवताभिधाननिर्वचनफलं देवताताद्भाव्यमित्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः'**[3] कहते हैं। इस प्रकार दुर्ग की दृष्टि में निरुक्त का प्रारम्भ जहाँ प्रथम अध्याय से होता है, वहीं उसकी समाप्ति द्वादश अध्याय पर हो जाती है। इस तथ्य को मुखत: स्वीकार करते हुए वे आगे कहते हैं-**'इयं च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः। तस्या इदमादिवाक्यं 'समाम्नायः समाम्नातः' इति। गवादिदेवपत्न्यन्तः शब्दसमुदाय उच्यते।'**[4] कि यह यास्क के द्वादशाध्यायी भाष्य का विस्तार है। उसका प्रथम वाक्य है-**'समाम्नायः समाम्नातः'**। गो से लेकर देवपत्नी पर्यन्त शब्द समुदाय का इसमें विवेचन है।

दुर्ग के सन्दर्भ में एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि दुर्ग ने निरुक्तविषयों के परिगणन में त्रयोदश और चतुर्दश अध्यायों के विषयों का समाम्नान नहीं किया है। इनमें से भी चतुर्दश अध्याय पर उनकी वृत्ति भी नहीं

---

१. निरु०१.१, दुर्गनिरुक्तवृत्ति, भूमिका, पृ०१, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६
२. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, भूमिका, पृ०३, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६
३. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, भूमिका, पृ०४, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६
४. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, १.१ पृ०५, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

है, अत: चतुर्दश अध्याय को निरुक्त का भाग मानने के विषय में वे असहमत हैं, ऐसा प्रथम दृष्ट्या स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ तक त्रयोदश अध्याय का प्रश्न है, इस पर दुर्ग की व्याख्या मिलती है, परन्तु फिर भी दुर्ग ने उसको निरुक्त का भाग नहीं माना है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि निरुक्त का लक्ष्य निघण्टु है, जहाँ निघण्टु के निर्वचनों का कार्य पूर्ण हो जाता है, वही उनकी दृष्टि में निरुक्त की पूर्णता है। यह केवल दुर्ग की या देवराजयज्वा की ही बात नहीं है, यह प्रवृत्ति प्राचीन परम्परा में रही है। सम्भवत:,उन संस्कारों के वशीभूत होकर दुर्ग या अन्य आचार्य निघण्टु की सीमा को ही निरुक्त की सीमा मानकर चल रहे हैं।

यह भी यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दुर्ग निरुक्त के त्रयोदश अध्याय के अन्त में लिखते हैं- **'इति श्रीमज्जम्बूनिवासिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतावृज्वर्थायां निरुक्तवृतावष्टादशोऽध्याय: समाप्त।। निरुक्तवृत्ति: समाप्ता।।'**[1] एक अन्य संस्करण में **'निरुक्तवृत्ति: समाप्ता'** के स्थान में **'इति सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्ति: समाप्ता'**[2] लिखा है। लेकिन १२वें अध्याय के अन्त में ऐसा कोई वक्तव्य देखने को नहीं मिलता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दुर्ग की दृष्टि में निरुक्त का त्रयोदश अध्याय द्वादश अध्याय का अनुषङ्गी है। इसलिये वे उसको सपाद द्वादशाध्याय कह रहे हैं। दुर्ग उसको सपाद कहें या फिर त्रयोदश अध्याय, स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में त्रयोदश अध्याय यास्कीय है।

आचार्य स्कन्दस्वामी के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य स्कन्दस्वामी निरुक्त के आरम्भ का उल्लेख करते हुए कहते हैं- **'तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया 'गौर्ग्मा'-इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति 'समाम्नाय: समाम्नात:' (निरुक्त १.१) इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्।'**[3] कि उस निरुक्त के पञ्चाध्यायों में गौर्ग्मा इत्यादि निघण्टु है, उसके व्याख्यान के लिये षष्ठ अध्याय से **'समाम्नाय: समाम्नात:'** इस वाक्य से भगवान् यास्क का भाष्य प्रारम्भ होता है। आगे स्कन्द कहते हैं **'एवं गवादिदेवपत्न्यन्तस्य समाम्नायस्य व्याख्या प्रतिज्ञाता'**[4] कि इस प्रकार यास्क ने गौ से लेकर देवपत्नी पर्यन्त शब्दों के समाम्नाय की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्द की दृष्टि में निरुक्त का विस्तार द्वादश अध्याय पर्यन्त है। पुन: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब निरुक्त १२ अध्याय पर्यन्त है, तब क्यों स्कन्द ने त्रयोदश अध्याय का व्याख्यान किया ? इसका जो उत्तर दुर्ग के प्रसङ्ग में दिया है, वही यहाँ भी घटित होता है।

आचार्य स्कन्दस्वामी त्रयोदश अध्याय के व्याख्यान के अवसर पर कहते हैं- **'यथा प्रतिज्ञातं समाम्नायो व्याख्यात:। इदानीं पूर्वाचार्याणां मतानुवृत्तितत्परतया।'**[5] कि जैसी प्रतिज्ञा की है, तदनुसार समाम्नाय का व्याख्यान कर दिया। इस समय पूर्व आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए इस प्रकरण का प्रारम्भ किया जा

---

१. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, १३.१३ पृ०१००६, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलि: ८८, आनन्दाश्रममुद्रणालय, पूना १९२६

२. दुर्गनिरुक्तवृत्ति, १३.१३ दैवतकाण्डभाष्य पृ०४२९, श्री जीवानन्दभट्टाचार्य, सरस्वतीयन्त्र, कलकत्ता १८९१

३. स्कन्दनिरुक्तवृत्ति, १.१ पृ०४

४. स्कन्दनिरुक्तवृत्ति, १.१ पृ०८

५. स्कन्दनिरुक्तवृत्ति, १३.१

रहा है।

उक्त स्कन्दस्वामी के कथन के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि निरुक्त की पूर्णता द्वादश अध्याय में हो जाती है, फिर भी अन्य पूर्व आचार्यों के मत का प्रतिपादन करने के लिये त्रयोदश अध्याय का व्याख्यान किया गया है। इस कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि जो प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है, वह परम्परा से निरुक्त माने जाने वाले भाग से भिन्न है तथा दूसरा यह कि यह भी यास्क अभिप्रेत है। यही बात है कि दोनों प्राचीन वृत्तिकारों का त्रयोदश अध्याय पर भाष्य करने के लिये प्रेरित कर रही है। दुर्ग के समान स्कन्दकृत १३वें अध्याय के भाष्य के अन्त में लिखा है-**'इति महेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका समाप्ता।'** इससे भी यह पुष्ट होता है कि १३वाँ अध्याय यास्कीय निरुक्त का भाग है।

आचार्य वररुचि के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य वररुचि स्कन्दस्वामी से भी प्राक्कालिक माने जाते हैं। उन्होंने अनेकशः यास्क को उद्धृत किया है। वे जहाँ निरुक्त के अन्य अध्यायों के उद्धरण देते हैं, वहीं उन्होंने १३वें अध्याय को एक स्थान पर उद्धृत किया है-**'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'[१] इति भाष्यकारवचनम्।'**[२] इस आधार पर निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वररुचि से पूर्व भी १३वें अध्याय को निरुक्त का भाग माना जाता था। इस प्रकार वररुचि की दृष्टि से १३वाँ अध्याय यास्कीय है, यह माना जा सकता है। लेकिन वररुचि ने एक भी स्थान पर १४वें अध्याय को उद्धृत नहीं किया है। इसलिये १४वाँ अध्याय यास्कीय है, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

आचार्य पतञ्जलि के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशाह्निक के प्रारम्भ में कतिपय मन्त्रों का व्याख्यान किया है, उनमें से कुछ मन्त्र त्रयोदश अध्याय में आते हैं, उनकी यहाँ तुलना करके यह जानने का प्रयास करेंगे कि आचार्य पतञ्जलि को निरुक्त के त्रयोदश अध्याय में कितना ज्ञात है-

क्रम	मन्त्र	निरुक्त त्रयोदश अध्याय की व्याख्या	पतञ्जलिकृत व्याख्या
१.	**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥** (ऋ०४.५८.३)	चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति। रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुभिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः	चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामोख्यातापसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसि च। वृषभो वर्षणात् कामानाम्। रौतिः शब्दकर्मा।

१. निरु०१३.१२

२. आचार्य वररुचि, निरुक्तसमुच्चयः, द्वितीयः कल्पः, पृ०३०

		स्तुवन्ति। महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेशेति। एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय। तस्योत्तरभूयसे निर्वचनाय॥७॥ (निरु०१३.७)	महो दे वो मर्त्यां आ विवेश। महता देवेन नस्तादाम्यं यथा स्यादित्येध्येयं व्याकरण्। (व्याक०महा०, पस्पशाह्निक।)
२.	चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋ०१.१६४.४५)	चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः। गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः। तुरीयं त्वरतेः। कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूँषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति। **सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।** (मै०सं०१.११.५) इति। अथैषाक्षरस्य॥९॥ (निरु०१३.९)	ये मनीषिणः मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति। न चेष्टन्ते न निमिषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। 'तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। (व्याक०महा०, पस्पशाह्निक।)

उपर्युक्त प्रस्तुतीकरण से विदित होता है कि उक्त दो मन्त्रों के पतञ्जलिकृत व्याख्यान में यास्ककृत व्याख्या का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। जहाँ चत्वारि पद का अर्थ यास्क **'कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो**

महाव्याहतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके।' करते हैं जबकि पतञ्जलि-**'चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामोख्यातापसर्गनिपाताश्च।'**[१] करते हैं। इसी प्रकार अन्य पदों के व्याख्यान में भी अर्थभेद परिलक्षित होता है। हम यह कह सकते हैं कि पतञ्जलि कम से कम यास्ककृत इन मन्त्रार्थों से परिचित नहीं हैं। यदि पतञ्जलि यास्क के उक्त व्याख्यान से परिचित होते तो वे भी अवश्य **'चत्वारि'** के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत करते। इसलिये एक अनुमान यह लगाया जा सकता है कि त्रयोदश अध्याय निरुक्त में कालान्तर में जोड़ा गया है।

इसके अतिरिक्त हम यहाँ निरुक्त के प्रथम अध्याय में व्याख्यात मन्त्र को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका व्याख्यान पतञ्जलि ने भी किया है, उसको देखकर निर्णय लेने में सरलता होगी-

क्रम	मन्त्र	निरुक्त त्रयोदश अध्याय की व्याख्या	पतञ्जलिकृत व्याख्या
१.	**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।** (ऋ०,१०.७१.४)	अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। इत्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशमनमर्थस्याह। अनया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरे भूयसे निर्वचनाय॥१९॥ (निरु०१.१९)	अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम्। अविद्वांसमाहार्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाक् वाग्विदे स्वमात्मानं विवृणुते। (व्याक०महा०, पस्पशाह्निक।)

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में दोनों आचार्यों की शैली में पर्याप्त समानता है, देखकर प्रतीत होता है कि एक दूसरे से परिचित हैं। जबकि यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि त्रयोदश अध्याय के मन्त्रार्थ से पतञ्जलि परिचित प्रतीत नहीं होते हैं। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि निरुक्त में त्रयोदश अध्याय कम से कम पतञ्जलि के काल तक सम्मिलित नहीं था। सम्भवतः यह कालान्तर में जोड़ा गया है।

आचार्य पतञ्जलि ने जर्भरी तुर्फरीतू आदि शब्दों के विषय में कहा है-**'बहवोऽपि हि शब्दा येषामर्था न विज्ञायन्ते 'जर्भरी तुर्फरीतू।'**[२] यदि पतञ्जलि ने यास्क के त्रयोदश अध्याय को देखा होता तो यह कहने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि निरुक्त के त्रयोदश अध्याय में यास्क ने इन पदों का व्याख्यान करते हुए कहा है- **'तथाश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।'** इससे भी यही प्रतीत होता है कि यास्क के उक्त वक्तव्य से पतञ्जलि परिचित नहीं है।

---

१. ऋ०१.१६४.४५, निरु०१३.९

२. पतञ्जलि, व्याक०महा०२.२.१

आचार्य देवराजयज्वन् के मत में निरुक्त का आकार

आचार्य देवराजयज्वन् निरुक्त की सीमा का परिज्ञान कराते हुए कहते हैं-**'भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुकनैगमदेवताकाण्डरूपेण त्रिविधं गवादिदेवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता नैगमदेवताकाण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि च'**।[१] इस प्रकार देवराजयज्वा की दृष्टि में निरुक्त की सीमा गो से लेकर देवपत्नी पर्यन्त है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि देवराजयज्वा को द्वादश अध्याय पर्यन्त निरुक्त स्वीकार्य है। जिस अतिस्तुति की चर्चा के लिये त्रयोदश अध्याय का आरम्भ माना जाता है, उसका उल्लेख देवराजयज्वा ने नहीं किया है।

यदि हम देवराजयज्वा का उक्त कथन का विवेचन करें तो ज्ञात होता है कि देवराजयज्वा को निघण्टु व्याख्या से प्रयोजन है। इसलिये वे निरुक्त का प्रारम्भ नैघण्टुक काण्ड से मानते हैं, उसमें भी गो शब्द के विवेचन से, जो कि द्वितीय अध्याय के पञ्चम खण्ड से प्रारम्भ होता है। अत: यदि देवराज के कथन को स्वीकार किये जाने पर निरुक्त का प्रथम अध्याय सम्पूर्ण एवं द्वितीय अध्याय के चतुर्थ खण्ड तक का भाग तथा सम्पूर्ण त्रयोदश एवं चतुर्दश अध्याय को भी अयास्कीय मानना होगा। अत: इस विषय में इतना ही स्वीकार किया जाना चाहिये कि देवराजयज्वा का उद्देश्य निघण्टु का व्याख्यान है, वह जिस सीमा में हुआ है, वहीं तक उसने उसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इनका उद्देश्य निरुक्त का व्याख्यान करना नहीं है, अत: देवराजयज्वा के उक्त कथन के आधार पर निश्चयात्मक रूप से निरुक्त की सीमा को रेखाङ्कित नहीं किया जा सकता।

आचार्य सायण की दृष्टि में निरुक्त का आकार

आचार्य सायण ने निरुक्त की सीमा का उल्लेख करते हुए कहा है-**'पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्ताद्भव्यमनुभवत्यनुभवति' इत्यन्तैः द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे।'**[२] 'पाँच अध्यायों वाले काण्डत्रयात्मक निघण्टु के व्याख्यान में परनिरपेक्ष रूप से पदार्थ का कथन होने से उस ग्रन्थ की निरुक्तता है। उस निरुक्त का व्याख्यान **'समाम्नायः समाम्नातः'** से प्रारम्भ होकर **'तस्यास्ताद्भव्यमनुभवत्यनुभवति'** तक १२ अध्यायों में यास्क ने निरुक्त का प्रणयन किया है।'

इस प्रकार सायण की दृष्टि में निरुक्त का प्रारम्भ **'समाम्नायः समाम्नातः'** से होता है तथा उसकी पूर्णता **'तस्यास्ताद्भव्यमनुभवत्यनुभवति'** इस वाक्य के साथ होती है। सायण यद्यपि निरुक्त को द्वादशाध्यायात्मक बता रहे हैं, लेकिन वे उक्त जिस वाक्य को निरुक्त का अन्तिम वचन बता रहे हैं, वह १२वें अध्याय के अन्त में न होकर १३वें अध्याय के अन्त में आता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सायण की दृष्टि में यास्कीय निरुक्त की सीमा १३वें अध्याय पर्यन्त है।

इसके अतिरिक्त सायण ने एक स्थान पर निरुक्त के तथाकथित १४वें अध्याय को भी उद्धृत किया है- **'अत्र 'द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ' (निरु.१४.३०) इत्यादि निरुक्ते गतम् अस्य मन्त्रस्य**

---

१. देवराजयज्वा, निघण्टु-निर्वचनम्, भूमिका-१.

२. ऋग्वेदभाष्य, उपोद्घातप्रकरण, पृ०२८-२९, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना १९९५.

व्याख्यानमनुसंधेयम्।'[१] उक्त निरुक्त का वक्तव्य **'द्वा सुपर्णा'** मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर कहा गया है और सायण ने भी इसी मन्त्र का व्याख्यान करते हुए इसे उद्धृत किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि सायण के काल तक १४वां अध्याय निरुक्त में समाविष्ट हो चुका था। लेकिन इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर सायण निरुक्त के १४वें अध्याय में दिये गए मन्त्रार्थ या उसके अंश को उद्धृत नहीं करते, यहाँ तक कि इस मन्त्र के व्याख्यान की दिशा भी सर्वथा भिन्न है। जहाँ निरुक्त में इस मन्त्र का व्याख्यान अध्यात्म शैली में किया गया है, वहीं सायण आदित्य देवता मानकर मन्त्रार्थ कर रहे हैं।[२] इसी प्रकार **'न तं विदाथ'**[३] निरुक्त के १४वें अध्याय में व्याख्यात इस मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर सायण निरुक्त को उद्धृत नहीं करते और न इस अध्याय में व्याख्यात अन्य अनेक मन्त्रों के व्याख्यान के अवसर पर निरुक्त के १४वें अध्याय का उल्लेख करते हैं, इससे यह संकेतित हो रहा है कि सायण भी इसको पूरी तरह से यास्कीय मानने के पक्ष में नहीं है।

सत्यव्रत सामश्रमी के मत में निरुक्त का आकार

'कियान् निरुक्तग्रन्थः' विषय का प्रतिपादन करते हुए श्री सत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं कि हमारे मत में **'समाम्नायः समाम्नातः'** से प्रारम्भ होकर **'य ऋतुः कालो जायानाम्'** तक द्वादशाध्यायात्मक निरुक्त ही यास्कीय है। १२वें अध्याय से आगे अतिस्तुति और ऊर्ध्वमार्ग का व्याख्यान करने वाले अध्याय यास्कीय नहीं हैं। इसका कारण यह है कि समाम्नात निघण्टुपदों का व्याख्यान और उससे सम्बन्धित विशेष वक्तव्य द्वादशाध्याय में पूर्ण हो जाता है। इसलिये उद्देश्य के सिद्ध होने पर अन्य विषय में यास्क की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?[४]

निरुक्त द्वादशात्मक या त्रयोदशात्मक

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर दो पक्ष प्रबल रूप से अभिव्यक्त होकर आ रहे हैं, प्रथम मत में निरुक्त की सीमा त्रयोदश अध्याय पर्यन्त है, जिसके पक्ष में निरुक्त के दोनों प्राचीन वृत्तिकार हैं। जबकि द्वितीय पक्ष में देवराजयज्वा तथा समस्त निरुक्त परम्परा, उसके साथ आचार्य पतञ्जलि भी हैं।

विना किसी पूर्वाग्रह के यह कहा जा सकता है कि यदि पतञ्जलि के माध्यम से उठाये गये तर्क को छोड़ दिया जाए, क्योंकि पतञ्जलि के माध्यम से जो निष्कर्ष निकलता दिखायी दे रहा है, वह आनुमानिक अधिक है। इसलिये जब तक किसी अन्य प्रमाण से उसकी पुष्टि नहीं हो जाती, तब तक यह माना जाना चाहिये कि यद्यपि निरुक्तपरम्परा निरुक्त की सीमा द्वादश अध्याय पर्यन्त मानती आयी है और उसके व्याख्याकार भी द्वादश अध्याय का कथन करते हैं, फिर भी यास्कीय निरुक्त की परिसमाप्ति त्रयोदश अध्याय की पूर्णता के साथ होती है। इस सम्बन्ध में एक कारण यह भी है कि दोनों प्राचीन वृत्तिकार त्रयोदश अध्याय का व्याख्यान करते हैं।

द्वितीय कारण यह है कि आचार्य दुर्ग निरुक्त के १३वें अध्याय की उपयोगिता प्रतिपादन करते हुए कहते

---

१. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१६४.२०

२. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१६४.३१

३. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १०.८२.७

४. निरुक्तालोचनम्, पृ०४७-४८, सत्ययन्त्र, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, सन् १९०७

हैं-'**नैरुक्तासमयानुवृत्तयेऽतिस्तुतयः प्रदर्श्यन्ते।**'[१] कि निरुक्त प्रतिपादित सिद्धान्तों के समर्थन के लिये अतिस्तुति प्रदर्शित कर रहे हैं।' कहने का आशय यह है कि अतिस्तुति नैरुक्त परम्परा का भाग नहीं है, परन्तु इससे नैरुक्तसिद्धान्त का समर्थन होता है, इसलिये अतिस्तुति का प्रारम्भ किया जा रहा है। एक प्रकार से यास्क नैरुक्त पक्ष को पुष्ट करने के लिये इस प्रकरण को प्रारम्भ कर रहे हैं।

तृतीय कारण यह है कि पतञ्जलि के प्रसङ्ग में जो हमने त्रयोदश अध्याय के तीन प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, उसमें से दो ऐसे हैं, जिनका व्याख्यान दुर्ग और स्कन्द ने भी नहीं किया है। सम्भवतः उनके बाद में ये निरुक्त में समाविष्ट हुए होंगे। इसलिये पतञ्जलि के माध्यम से निकाले गये निष्कर्ष बहुत विचारणीय नहीं हैं। इस विषय में आगे हम त्रयोदश अध्याय के चार खण्ड, जो व्याख्यान करने से छूट गये हैं, उनका विवेचन करने जा रहे हैं।

निरुक्त की दृष्टि से त्रयोदश अध्याय की उपयोगिता

आचार्य यास्क ने निरुक्त का प्रारम्भ करते हुए उसकी भूमिका के रूप में जो कुछ कहा है, वह भी निरुक्त का आकार निश्चित करने में सहयोगी है। आचार्य यास्क '**उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहुः**' मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं-'**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा।**'[२] 'अर्थ वाणी का पुष्प और फल है। जब याज्ञिक पक्ष पुष्प होता है, तब देवता उसका फल है और जब देवता पुष्प होता है, तब अध्यात्म उसका फल है।' इस प्रकार यास्क की दृष्टि में यज्ञ, देवता तथा अध्यात्म- ये सङ्क्षेप में तीन वाणी के अर्थ माने जाते हैं। इनमें भी पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर वाला अधिक श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि जहाँ याज्ञिक पक्ष की दृष्टि सीमित है, क्योंकि वह नाम, रूप और कर्म के आधार पर प्रत्येक देवता का अस्तित्व पृथक्-पृथक् मानता है, वहीं दैवतपक्ष स्थान के आधार पर देवताओं में पार्थक्य स्थापित करता है। लेकिन अध्यात्मवादी की दृष्टि में नाम से केवल उस परम सत्ता के गुण विशेष का बोध होता है, वस्तुतः देवता एक ही है, उनमें नाम, रूप और कर्म की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देवता के प्रति दृष्टि के क्रमिक विकास का नाम ही याज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जहाँ प्रथम का देवता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, वहाँ द्वितीय पक्ष इससे कुछ ऊपर उठने का प्रयास करता दिखायी देता है, जबकि तृतीय पक्ष सभी बन्धनों से मुक्त ऐकात्म्य का बोध कराता है।

आचार्य यास्क ने त्रयोदश अध्याय का प्रारम्भ करते हुए अतिस्तुति नाम से जिस प्रकरण का प्रारम्भ किया है, यह वस्तुतः यास्क का उसी दिशा में बढ़ता हुआ एक कदम है।

इसके अतिरिक्त त्रयोदश अध्याय का यास्कीय प्रकृति से भी तादात्म्य भी है। निरुक्त वस्तुतः, १२ वें अध्याय के साथ समाप्त हो जाता है, लेकिन यास्क को ऐसा प्रतीत होता है कि अभी कुछ और कहना शेष है, जो नैरुक्तपक्ष की सीमा से परे है। सम्भवतः, इसी कारण वे निरुक्त के साथ परिशिष्ट को जोड़ते हैं। इस प्रकार जहाँ यास्क ने नैरुक्त परम्परा को अक्षुण्ण रक्खा है, वहाँ उन्होंने परिशिष्ट रूप त्रयोदश अध्याय के द्वारा अध्यात्म-पक्ष के प्रति अपनी गहन आस्था का भी परिचय दिया है। नैरुक्तपक्ष की सीमा में यास्क ने प्रमुखरूप से नैरुक्तपक्ष का ही प्रतिपादन किया है, लेकिन जहाँ निरुक्त की सीमा समाप्त हो जाती है, वहीं से वे अध्यात्म-

---

१. निरु०दुर्गवृत्ति, १३.१

२. निरु०१.२०

पक्ष का विवेचन प्रारम्भ कर देते हैं, जो नैरुक्तों के लिये कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है, परन्तु यास्क एक सच्चे नैरुक्त हैं। जिस सत्य की उन्हें अनुभूति हुई है, यदि प्रतीत होने वाली वह अनुभूति अपनी परम्परा के विरुद्ध भी हो, तो भी यास्क उसे स्वीकार करने में सङ्कोच नहीं करते और यही कारण है कि अन्य अनेक सम्प्रदायों के होते हुए भी यास्क के निरुक्त ने प्रतिष्ठा प्राप्त की तथा अन्य निरुक्त यास्कीय निरुक्त के आगे टिक न सके और आज उनके अस्तित्व का परिचय भी यास्कीय निरुक्त से मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क से पूर्व ऐसी स्थिति अवश्य रही होगी कि नैरुक्त-परम्परा में अन्य याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा आत्मविद् के मतों को अवहेलित किया गया होगा, अपने अदम्य साहस का परिचय देकर यास्क ने इस स्थिति को समाप्त कर दिया है:-'**महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति**'[१] के द्वारा यास्क ने इसी सत्य का उद्घोष किया है। अध्यात्म को जहाँ नैरुक्तरूप वृक्ष की जड़ या मूल बताया गया है, वहाँ ऐतिहासिक तथा याज्ञिक-पक्ष को उस वृक्ष की शाखा और प्रशाखाएँ मध्य का आधारभूत स्तम्भ स्वयं नैरुक्तपक्ष है।

इस प्रकार यास्क ने अपने समय की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि को उपर्युक्त शब्दों में व्यक्त कर दिया है। प्रथम पङ्क्ति जहाँ आत्मवादी के मौलिक होने का प्रतिपादन करती है, वहाँ द्वितीय पङ्क्ति याज्ञिक-पक्ष के प्रत्यङ्ग रूप का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ आत्मवादी शरीररूप है, नैरुक्तपक्ष अङ्गरूप तथा याज्ञिक-पक्ष प्रत्यङ्गरूप है। जितना शरीर और अङ्गों में अन्तर होता है, उतना ही आत्मवादी और नैरुक्त-पक्ष में अन्तर है और जितना अङ्ग और प्रत्यङ्ग में अन्तर होता है, उतना ही नैरुक्तपक्ष और याज्ञिक-पक्ष में अन्तर है। अङ्ग से प्रत्यङ्ग भिन्न नहीं है और शरीर से पृथक् अङ्गों का अस्तित्व नहीं हो सकता। इस दृष्टि को आत्मसात् कर लेने पर उपर्युक्त मतों में दिखायी देने वाली विभिन्नतायें तिरोहित होकर एकत्व का दर्शन कराती हैं। एकत्व की इस समन्वयपूर्ण घोषणा से यास्क ने अध्यात्म, नैरुक्त तथा याज्ञिक आदि मतों के मध्य सदियों से चले आ रहे विवादों का एक शाश्वत समाधान प्रस्तुत कर दिया है, जिसको समझने के पश्चात् विवाद करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती।

आचार्य यास्क का यह साहसपूर्ण कार्य माना जाना चाहिये कि उन्होंने अपने पक्ष वालों की आलोचना की चिन्ता न करते हुए उपर्युक्त सिद्धान्त को अत्यधिक दूरदृष्टि और मौलिक उद्भावना का परिचय देते हुए, नैरुक्त-क्षेत्र में प्रतिष्ठापित किया है, जो आज भी ऐतिहासिक शिलालेख के समान अपनी दृढ़ता तथा औचित्य का बोध कराता है।

इसलिये निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि निघण्टु का व्याख्यान १२वें अध्याय के साथ पूर्ण हो जाता है, यास्क से पूर्व की निरुक्त परम्परा और स्वयं यास्क ने भी निघण्टु के व्याख्यान के लिये निरुक्त का प्रणयन किया है, इसलिये सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है कि जहाँ निघण्टु का व्याख्यान समाप्त, वहीं निरुक्त पर विराम लग जाता है, परन्तु यास्क की समन्वयवादी अवधारणा, जिसके संकेत यास्क ने निरुक्त के प्रारम्भ से देने शुरू कर दिये थे, ने निरुक्त में त्रयोदश अध्याय का समावेश कराया है।

त्रयोदश अध्याय की एक विसंगति

यहाँ तक हमने यह निर्णायक रूप से स्वीकार कर लिया है कि निरुक्त का आकार त्रयोदश अध्याय पर्यन्त है,

---

१ निरु०,७.४.

लेकिन दुर्ग और स्कन्द की वृत्तियाँ सहसा एक विसंगति की ओर ध्यान आकर्षित कर रही हैं। जहाँ इन दोनों वृत्तिकारों ने १३वें अध्याय को यास्कीय माना है, वहीं ये सम्पूर्ण त्रयोदश अध्याय का भाष्य नहीं करते। १३वें अध्याय में केवल १३ खण्ड हैं, इनमें से प्रथम चार खण्डों तथा नवम खण्ड से लेकर त्रयोदश खण्ड तक व्याख्या की है। इस प्रकार १३ में से ९ खण्ड व्याख्यात हुए हैं, चार नहीं हुए हैं। इन चार के व्याख्या न करने के मूल में दो सम्भावनायें हो सकती हैं कि ये पञ्चम खण्ड से लेकर अष्टम खण्ड तक का भाग बाद में समाविष्ट किया गया हो। या फिर यह कि इनको जो निरुक्त मिला हो, उसमें इसे इतना अंश किसी कारण से नष्ट हो गया हो।

जहाँ तक प्रथम सम्भावना का प्रश्न है, वह स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि व्याख्यात खण्डों के प्रारम्भ और अन्त में द्वादश को द्वादश और त्रयोदश को त्रयोदश आदि नामों से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार नवम, दशम और एकादश खण्डों के अन्त में देखने को मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अव्याख्यात ५-८ तक के खण्ड दोनों वृत्तिकारों के काल में विद्यमान थे। यदि बाद में जोड़े गये होते तो इनकी क्रम संख्या में भेद आ जाता, जो नहीं है। अत: उक्त सम्भावना निर्मूल हो जाती है।

जहाँ तक दूसरी सम्भावना का प्रश्न है, वह काफी कुछ स्वीकार्य हो सकती है। यह किसी सीमा तक सम्भव है कि किसी कारणवश उक्त दोनों प्राचीन वृत्तिकारों को उक्त खण्ड उपलब्ध नहीं हो पाये, जिससे वे उक्त खण्डों का व्याख्यान नहीं कर सके। परन्तु इसमें भी यह विचारणीय है कि जब उनको नहीं मिले थे तो बाद में कहाँ से मिले और किसने प्रथम इनको निरुक्त में समाविष्ट किया। इसका उत्तर देना आज सम्भव नहीं है, जब तक कोई प्रबल प्रमाण न मिल जाये, तब तक केवल अनुमान का आश्रय लेकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना वास्तविकता को आवृत करने के समान है।

उपर्युक्त ५-८ तक के खण्डों के विषय में जब तक कोई अन्य पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक यह मानना चाहिये कि ये खण्ड यास्क प्रणीत नहीं हैं।

निरुक्त का चतुर्दश अध्याय

हम सायण के प्रसङ्ग में चतुर्दश अध्याय के विषय में विवेचन कर चुके हैं। उसने भी केवल एक बार निरुक्त के १४वें अध्याय को उद्धृत किया है, लेकिन उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन आचार्य ने निरुक्त के १४वें अध्याय को उद्धृत नहीं किया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जिन्होंने निरुक्त के क्षेत्र में दुर्ग और स्कन्द को लेकर गम्भीर अनुसन्धान कार्य किया है, ऐसे वी.के. राजवाडे तथा डॉ. लक्ष्मण स्वरूप इस विषय में मौन हैं या फिर वे दुर्ग और स्कन्द की सरणि का अनुसरण करने के पक्ष में हैं।

इसके अतिरिक्त निरुक्त के आधुनिक व्याख्याकार जैसे पं०भगवद्दत्त, स्वामी ब्रह्ममुनि, चन्द्रमणि विद्यालंकार सदृश विद्वान् प्राय: निरुक्त के अन्य अध्यायों के साथ १४वें अध्याय का भी व्याख्यान करते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन परम्परा किसी प्रकार १३वें अध्याय को यास्कीय निरुक्त मानने के पक्ष में है, लेकिन पुरातन परम्परा सर्वसम्मत रूप से १४वें अध्याय को निरुक्त का भाग नहीं मानती आयी है। निरुक्त के आधुनिक व्याख्याकरों के द्वारा १४वें अध्याय को निरुक्त का भाग मानने के पीछे यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि १४वें अध्याय में ऐसा कुछ नहीं कहा है जो वेद की दृष्टि से अनुपयोगी हो। उन्हें सम्भवत: यह प्रतीत होता है कि वे किसी वैदिक उपनिषद् को पढ़ रहे हैं।

हम यहाँ निष्कर्ष रूप में स्वीकार कर सकते हैं कि त्रयोदश अध्याय के समान चतुर्दश अध्याय के लिखे जाने का कोई अन्त:साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है, अत: यास्कीय निरुक्त त्रयोदश अध्याय पर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

निरुक्तभाष्यटीका

॥प्रथम पादः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

ओ३म्॥ समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यस्तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टव कस्मान्निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवोऽपि वाऽऽहननादेव स्युः समाहृता भवन्ति यद्वा समाहृता भवन्ति। तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामोच्यते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति। तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि। तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरित्यद इति सत्त्वानामुपदेशो गौरश्वः पुरुषो हस्तीति भवतीति भावस्यास्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति। इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः॥१॥

भाष्यटीका

पुरुषस्य प्रवृत्त्यर्थं निवृत्त्यर्थञ्च प्रत्यक्षादिभिः प्रतिपत्तुमशक्यस्य हितफलस्याग्निहोत्रादेरहितफलस्य च ब्राह्मणवधादेः प्रतिपादनार्थो वेदः।

तस्याङ्गानि षट्- **व्याकरणम्, शिक्षा, कल्पसूत्राणि, छन्दोविचितिः, ज्योतिषम्, निरुक्तञ्च।**

तत्र व्याकरणम्-अर्थविशेषाश्रयेण प्रकृत्यादिविभागेन साधुशब्दानन्वाचक्षाणं शब्दार्थप्रतिपादनेनोपयुज्यते। क्वचित्तु शब्दरूपप्रतिपादनेनैव व्याकरणमुपयुज्यते।

शिक्षा तु-अध्ययनकाले कर्मणि च मन्त्राणां प्रयोगकाले द्रुतादिवर्णदोषैर्दुष्टस्य शब्दस्योच्चारणप्रतिपादनेनोपयुज्यते।

कल्पसूत्राण्यपि-प्रतिशाखं शाखान्तराधीतेन न्यायप्राप्तरूपेण चाङ्गेनोपेतस्य प्रतिपन्नस्य कर्मणः प्रतिपादनेन।

छन्दोविचितिरपि-स्तोत्रादेरङ्गत्वेन श्रुतस्य गायत्र्यादेश्छन्दसो रूपप्रतिपादनेन।

ज्योतिषमपि-दर्शपौर्णमासाद्यङ्गभूतस्य पौर्णमास्यमावास्यादेः कालस्य स्वरूपप्रतिपादनेन।

निरुक्तं तु-मन्त्रार्थप्रतिपादनेनेति। एतद् **'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते'** (निरुक्त १.१५) इत्यत्र साक्षेपसमाधानं वक्ष्यामः। तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया **'गौर्ग्मा'**-इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति **'समाम्नायः समाम्नातः'** (निरुक्त १.१) इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्।

तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य तद्वचनैकदेशानुच्चित्योच्चित्याल्पक्लेशेनाभ्याससिद्ध्यर्थमल्पग्रन्था वृतिः क्रियते।

समाम्नायः-समित्येकीभावे, आङ्-आभिमुख्ये, **'म्ना अभ्यासे'**, एकत्र सम्भूयाध्येतृभिर्वेदवादिभि-राभिमुख्येनाभ्यस्यमानत्वात्। समाम्नायशब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमूह उच्यते, न वेदः। **समाम्नातः**-सम्भूयाभिमुख्येनाम्नातः अभ्यस्तः। ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः।

स व्याख्यातव्यः-अर्हे कृत्यः। व्याख्यानार्ह इत्यर्थः, मन्त्रार्थप्रतिपत्तेस्तदर्थज्ञानप्रतिबद्धत्वात्। यावद्धि मन्त्रेषु गवादीनां शब्दानां पृथिव्यादिरर्थो नावगम्यते न तावन्मन्त्रार्थप्रतिपत्तिर्भवति। ज्ञाते तु भवत्येव। शिष्टानां शब्दानां प्रसिद्धत्वादेव। अतो मन्त्रार्थप्रतिपत्तेस्तदर्थज्ञानप्रतिबद्धत्वात् स व्याख्यानार्हः।

तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते-पूर्वाचार्याः।

निघण्टवः कस्मात्-एते गवादयः शब्दाः पूर्वाचार्यैरुच्यन्ते। कस्मात्तदुच्यते-**निगमा इमे भवन्ति**-नियमेन मन्त्रार्थस्य गमयितार इत्यर्थः। यस्मान्मन्त्रार्थप्रतिपत्तेस्तदर्थज्ञानप्रतिबद्धत्वात्तदर्थज्ञानार्थमेवैते **छन्दोभ्यः समाहत्य समाहत्य समाम्नाताः** ते निगमनान्निगन्तवो भवन्ति। ततश्चैवं **निगमनान्निगन्तव एव सन्तो निघण्टव उच्यन्ते,** वर्णव्यापत्त्या पृषोदरादित्वाद्धि गकारस्थाने घकारः, तकारस्य टकारः। एवमौपमन्यव आचार्य्यो मन्यते। स्तुत्यर्थञ्चाचार्यग्रहणम्।

अपि वाऽऽहननादेव स्युः-अथवा यदेवैतदाहननं वचनं पाठ इत्यर्थः। आङ्पूर्वो हन्ति पाठार्थः, एतस्मादेव निघण्टव एते स्युः, न निगमनात्। यस्मात् **समाहता भवन्ति**। एकत्र सम्भूय वा पठिता इत्यर्थः। तथाहि-**ये ते मदा आवननवन्तो वचनवन्त** इति निर्वचनमपि दृश्यते। कथम्? निशब्दोऽत्र व्यत्ययेन आ इत्यस्य स्थाने। दर्शयिष्यति भाष्यकार उपसर्गव्यत्ययम्-**निरित्येष समित्येतस्य स्थाने** इति। घण्टुशब्दोऽपि घ्नन्ति जघान जिघांसतीत्यादौ हन्तेर्हस्य घत्वापत्तिदर्शनाद् हन्तेः रूपम्, न गमेः।

यद्वा समाहता भवन्ति-यस्मादर्थज्ञानार्थं छन्दोभ्यः समाहता एते, यतो वा समाहरणान्निघण्टवः, नाहननादित्यर्थः। अस्मिन् पक्षे **नि** इत्येष **सम्+आ** इत्येतयोर्द्वयोः स्थाने। घण्टुशब्दस्तु हरतेर्हकाररेफयोर्घण्त्वापत्त्या तुशब्देन चौणादिकप्रत्ययेन। एवमेतानि निघण्टुशब्दस्य त्रीणि निर्वचनानि।

अत्रेदं वक्तव्यम्-सर्वत्रैकस्य शब्दस्य कथमनेकस्य निर्वचनस्य सम्भवः? किमर्थं वा तत्प्रदर्शनं निघण्टुशब्दस्य? **'तमिमं समाम्नायम्'** इति संज्ञात्वकथनम्, तन्निर्वचनप्रदर्शनञ्च किमर्थमिति?

उच्यते-इदं केषुचिच्छब्देषु धातुरूपमविनष्टं, तदभिधेया च क्रिया तदर्थेऽस्ति, यथा-पाचकादिषु। तेषु नैवानेकस्य निर्वचनस्य सम्भवः। तथा च वक्ष्यति-**'तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्'** (निरु.२.१) इति। येषु तु धातोरक्षरमात्रं वर्णमात्रं वा; यथा लक्ष्मीशब्दो लभतेर्लक्षतेर्लब्धतेर्लषतेर्लसतेर्लज्ज्यतेश्च। तेष्वक्षरवर्णसामान्यान्निर्वचनस्य कर्त्तव्यत्वात्तस्य चाक्षरस्य वर्णस्य वा सर्वेषु धातुषु सम्भवात्, सर्वेषां च तेषामभिधेयानां क्रियाणामर्थे सम्भवात्, अन्यतमावधारणे च कारणाभावादेकस्य शब्दस्यानेकनिर्वचनस्य सम्भवः। तत्प्रदर्शनञ्च एतावतां धातूनामभिधेयाः क्रिया अयं शब्दः प्रतिपादयितुं समर्थ इत्येतस्य प्रतिपादनार्थम्। किमर्थमेतत् प्रतिपाद्यते?

उच्यते-यत्र शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यते। यथा-(निरु०४.२५) **'अहेळमानो रर्िवाँ अंजाश्व'** (ऋ०१.१३८.४) इत्यश्वशब्दोऽजेषु पठ्यते। **'उदु त्यं जातवेदसम्'** (ऋ०१.५०.१) इति जातवेदश्शब्दः सूर्ये।

तत्र यथा-**'तैलं पानीयं घृतं पानीयम्'** इति पानीयशब्दो रूढ्यसम्भवात् पातव्यमिति पानक्रियां प्रतिपादयन्नेकवाक्यतां प्रतिपद्यते। एवमश्वादिशब्दोऽपि सर्वत्रान्नाशनक्रियामेव महाशनक्रियामेव वा प्रतिपादयति। किं तर्हि? या यत्र वाक्ये योग्या क्रिया क्वचिदन्नाशनम्, क्वचिन्महाशनम्, तां तत्र प्रतिपादयन् तदर्थमेव प्रतिपद्यते। एतावतां धातूनामभिधेयाः क्रिया अयं शब्दः प्रतिपादयतीति प्रतिपत्तव्यमिति निघण्टुशब्दस्य संज्ञात्वकथनम्।

निर्वचनप्रदर्शनञ्च-अशङ्कितपर्यनुयोगपरिहारार्थम्। **'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'** इत्युक्तम्। तत्र पर्यनुयोग आपद्यते-'नायं व्याख्यातव्यः। यदि व्याख्यातव्योऽभविष्यत् पूर्वाचार्यैरेवायं व्याख्यास्यत' इति।

अयं संज्ञात्वकथनेन तन्निर्वचनप्रदर्शनेन च परिहीयते व्याख्यात एवायं पूर्वाचार्यैः। तैर्ह्यस्य निघण्टुरिति संज्ञा कृता। सा च निगन्तृत्वाहतत्वसमाहृतत्वानामन्यतमं प्रत्याययति। तस्मिन् प्रतीते निघण्टुशब्दार्थमकथितमपि प्राज्ञः श्रोता स्वयमेव प्रतिपद्यते। यथा पथिद्वैते पथिज्ञेनाग्रतो गच्छताऽन्यतरस्मिन् पथि पुरुषः प्रकरप्रक्षिप्तेऽपथिज्ञः पश्चादागच्छन् तद्दृष्ट्वाऽनेन पथा स गतो मयाऽप्यनेन गन्तव्यामिति प्रतिपद्यते, तद्वत्।

कथं पुनरकथितं गवादीनामर्थं प्रतिपद्यते? उच्यते-सर्वस्य हि श्रोतुर्न गवादयः सर्व एवाप्रसिद्धाः, अवश्यमेषां कस्यचित् कश्चित् प्रसिद्धः पृथिव्यादिरर्थः। स तेन सहेतरान् समाहृत्य समाम्नातान् पश्यन्निदं प्रतिपद्यते-'यादृशोऽयम्, नूनमितरेऽपि तादृशा एव। यत एतेन समाहृत्य समाम्नाता' इति। इदञ्च पृथिवीनामधेयं तस्मादितराण्यपि पृथिवीनामधेयानीति। एवं सर्वत्र नैघण्टुके तावत्प्रकरणे तदर्थं प्रतिपद्यते।

ये तावदनवगतसंस्कारा निगमा जहादयस्तेषां समाम्नायप्रयोजनं पर्येषमाणोऽक्षरवर्णसामान्येन तदर्थं तस्य च मन्त्रवाक्यार्थे समवायसम्भवं प्रतीत्येदं प्रतिपद्यते-अनवगतसंस्कारप्रतिपादनार्थमेवैते समाम्नाता इति। येऽप्यनेकार्थादयस्तेषामपि तत्र तत्र मन्त्रवाक्ये तं तमर्थं प्रतीत्येदं प्रतिपद्यत इत्यनेकार्थवृत्तिप्रतिपादनार्थमेवैते समाम्नाता इति। एवं संज्ञामात्राद् गवादेर्देवपत्न्यन्तस्य समाम्नायस्यार्थमकथितमपि श्रोता स्वयं प्रतिपद्यते। ततश्चैवं संज्ञां कुर्वद्भिः पूर्वाचार्यैर्व्याख्यात एवायं समाम्नाय इत्यपर्यनुयोगोऽयम्।

एवं गवादिदेवपत्न्यन्तस्य समाम्नायस्य व्याख्या प्रतिज्ञाता, संज्ञा च कथिता, तन्निर्वचनानि प्रदर्शितानि। इदानीं स्वरूपं कथ्यते-तद्यान्येतानीति। तदिति सर्वत्र वाक्योपन्यासे। यान्येतानि लोके चत्वारि पदजातानि पदजातयः पदसमूहा इत्यर्थः। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति, तान्येवेमानि गवादीनि देवपत्न्यन्तानि भवन्ति। नापि 'अइउण्' इति पाणिनीयप्रत्याहारसमाम्नायवत् मातृकावर्णसमाम्नायवच्च तेभ्योऽन्यानीति गवादेर्देवपत्न्यन्तस्य समाम्नायस्य स्वरूपकथनम्।

तत्रास्मिन्त्समाम्नाये गवादीनि नामानि, भ्राजत इत्यादीन्याख्यातानीत्यस्य विवेकस्य प्रतिपत्त्यर्थम्, असमाम्नातानाञ्च नामाख्यातत्वप्रज्ञापनार्थमेतद् वक्ष्यमाणम्-**'तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति'** ब्रुवन्ति।

भावप्रधानमाख्यातम्-भावः क्रिया, तत्प्रधानमाख्यातम्। आख्याते हि पचतीत्यादावुच्चारिते क्रिया प्रतीयते पाकादिः। **कालो**-वर्त्तमानादिः। **पुरुषः**-प्रथमादिः, पचतीति परः, पचसीति युष्मदर्थः पचामीत्यस्मदर्थः। **उपग्रहः**-कर्त्तृगामि-परगामित्वलक्षणः, **'स्वरितञितः'** (अष्टा०१.३.७२) ह्यात्मनेपद उच्चारिते **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इति कर्त्तृगामिफलत्वं प्रतीयते। परस्मैपदे तु **'यजन्ति याजका'** इति परगामिफलत्वम्।

साधनम्- कर्मादि, पचतीति कर्त्ता, पच्यत इति कर्म। **सङ्ख्या**-पचतीत्येकत्वम्, पचत इति द्वित्वम्, पचन्तीति बहुत्वम्। एषां क्रिया प्रधानभूता, गुणभूता इतरे तदर्थत्वात्।

सत्त्वप्रधानानि नामानि- नाम्नि हि पाचक इत्यादावुच्चारिते क्रिया प्रतीयते, कारकशक्तिश्च कर्तृत्वादिः, तद्युक्तञ्च द्रव्यम्। तत्र द्रव्यं प्रधानभूतं, गुणभूते इतरे क्रियाकारकशक्ती, तदुपलक्षणार्थत्वात्। एवमेतत्पदावस्थायामर्थप्रतिपत्तौ नामाख्यातयोरेकस्य भावप्राधान्यमपरस्य सत्त्वप्राधान्यमुक्तम्।

अथ यत्रोभे तत्र कथम्? **तद्यत्रोभे** इत्यादि। तदिति वाक्योपन्यासे, **यत्रोभे** नामाख्याते देवदत्तः पचतीति वाक्यावस्थायाम्, **यत्रे**ति श्रुतेस्तत्रेत्यध्याहार्यम्, तत्र **भावप्रधाने भवतः**, भावस्य साध्यत्वात्, सत्त्वस्य च साधनत्वात्, साध्यसाधनयोश्च साध्यस्य प्राधान्यात्।

किंरूपं पुनर्भावं लोक आख्यातेनाचष्टे? उच्यते-**पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।** क्रियायां व्यापारबाहुल्यात् व्याख्यातृणां विविधा प्रतिपत्तिः। केचित् तावन्मन्यन्तेऽनित्या क्रिया, सा यथा व्यक्त्या आकृतिर्व्यज्यते एवमधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनादिभिर्विभज्यते। तदायत्तव्यक्तित्वाच्च तद्रूपैव प्रतीयते। व्यक्ता सती फलमोदनादि साधयतीति।

अन्ये तु-उत्पाद्यते न व्यज्यत इति मन्यन्ते। फलोत्पत्त्या चासावनुमीयते-उत्पन्नेति, न स्वयं प्रत्यक्षग्राह्या।

अन्ये तु-तण्डुलविघटनलक्षणक्रियावयवादनन्तरमेवौदनादेः फलनिर्वृत्तिदर्शनात् फलस्य निष्पादिका सा क्रिया।

इतरे तु-अवयवा ये तण्डुलानामीषन्मृदुभावादयो ये चाधिश्रयणादयस्ते सर्वे तदर्थाः, तादर्थ्याच्च यथा-'इन्द्रः स्थूणा' इति स्थूणायामिन्द्ररूपमध्यस्यते, एवं तेषु क्रियारूपमिति मन्यन्ते।

अपरे तु-अधिश्रयणादीनामवयवक्रियाणां बुद्ध्या परिकल्पितः समुदायः पचिक्रिया इति मन्यन्ते। सा च यद्यप्यवयवक्रियाणामुत्पत्तेः क्रमवर्तित्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशाद्यौगपद्यासम्भवाद् वस्तुरूपेण न सम्भवति तथापि क्रमेण गृहीतानामवयवक्रियाणां बुद्ध्या परिकल्पितः समुदायः पच्यादेः शब्दस्यार्थः, फलस्य च साधकः, प्रत्यवयवक्रियं फलावयवनिर्वृत्तेः, सर्वेषु दर्शनेष्वेकत्वात् क्रियायां न पौर्वापर्यमस्ति। ये तु व्यञ्जका वोत्पादका वा तदर्था वा अवयवभूता वा अधिश्रयणादयस्तेषां पौर्वापर्यात् स्वयमपूर्वं न परञ्च सन्तं पूर्वापरीभूतं साध्यसाधनरूपं भावं लोक आख्यातेनाचष्टे-**व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।** व्रजनस्योपक्रम आद्यं पादविहरणम्। अपवर्गोऽन्त्यं पदम्, यतोऽनन्तरा ग्रामप्राप्तिः। पचनस्योपक्रमोऽधिश्रयणम्, अपवर्गोऽवस्रावणम्, अवस्रावितस्य निष्पन्नस्य वा ओदनस्यावतारणम्।

मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः-तमेव भावं **मूर्त्तम्**, मूर्त्तिर्घनीभावः पिण्डीभवनमिति पर्यायाः। पिण्डीभूतं व्यावृत्तपूर्वापरीभावं सिद्धस्वरूपमित्यर्थः। **सत्त्वभूतम्**-सत्त्वं द्रव्यम्, भूतशब्दः पितृभूत इत्यादिवदुपमायां द्रष्टव्यः। **सत्त्वनामभिः**-सत्त्वं द्रव्यं लिङ्गसंख्यायुक्तं वस्तु, तद्वचनाः शब्दाः सत्त्वनामानि। तैः कृदन्तैर्लोक

आख्यातेनाचष्टे- **व्रज्या पक्तिरिति**। वैयाकरणैरप्येतदुक्तम्-**कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवतीति** (महा०२.२.१) प्रसङ्गेन चेदमनाख्यातैः कृदन्तैः शब्दैः रूपान्तरयुक्तस्य भावस्य वचनस्य प्रदर्शनम्।

अद इत्ययं सत्त्वानामुपदेशः-'सत्त्वं द्रव्यं लिङ्गसंख्यायुक्तं वस्तु' इत्युक्तम्। उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेशः, लिङ्गसंख्यायुक्तानां वस्तूनां प्रतिनिर्देशक इत्यर्थः।

गौरश्वः पुरुषो हस्तीति, गौरश्व इत्यादयश्च ये विशेषास्तेषां सर्वेषां सत्त्वानां **'अदः'** इत्ययमुपदेशः। गौरित्यादयस्तु केषाञ्चिदेव। अदः शब्दो हि विप्रकृष्टप्रतिनिर्देशार्थः, सर्वत्र विप्रकृष्टे वस्तुनि वर्त्तते। सर्वेषाञ्च सर्वनाम्नां प्रदर्शनार्थमदःशब्दस्योपादानम्। अन्यान्यपि हि-'त्यद्, तद्, यद्, इदम्' इत्येवमादि सर्वनामानि सर्वत्र वस्तुनि वर्त्तन्ते, न क्वचिदेव। गौरश्व इत्यादयस्तु क्वचिदेव वस्तुनि गोत्वादौ वर्त्तन्ते न सर्वत्रेति।

भवतीति भावस्य-'उपदेश' इति शेषः। **आस्ते शेते** इत्यादयश्च विशेषाः पूर्ववदेव। **'भवति'** इति सर्वस्य भावस्योपदेशः। सर्वस्य भावस्य जायमानत्वात्, जायमानस्य च भवतीत्यनेनोपदेशात्। 'जायते उत्पद्यते निर्वर्त्तते' इत्यादीनां प्रदर्शनार्थं भवतीत्यस्योपादानं पूर्ववत्। आस्ते इत्यादयस्तु-कस्यचिदेव भावस्योपदेशो न सर्वस्य।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते? उदाहरणार्थम्। **'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि'** इत्युक्तम्, उदाहरणानि तु नोक्तानि, तान्यनेन प्रकारेणोच्यन्ते। ननु भावस्य पुरस्तादेवोदाहरणे उक्ते **'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचति'** इति, न तदुदाहरणार्थं वचनम्। किन्तर्हि? इहोदाहृतैर्व्रज्यादिभिर्यादृशो भाव उच्यते पूर्वापरीभूतः उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तः, तादृशस्य प्रतिपादनार्थं तद्वचनम्।

अथवा यदिदमस्माभिर्दर्शितम्-अद इति सत्त्वानामुपदेशो गौरित्यादयस्तु कस्यचिदेव। **'भवति'** इति भावस्य सर्वस्योपदेशः। **'आस्ते'** इत्यादयस्तु कस्याचिदेवेत्यस्य प्रतिपादनार्थमेतद्वचनम्।

अस्मिंस्तु व्याख्याने **अद इति सत्त्वानामुपदेशः** सामान्येन, **गौरश्वः पुरुषो हस्तीति** विशेषेण। **भवतीति भावस्य** सामान्येन, **आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति** विशेषेण इति **'सामान्येन' 'विशेषेण'** इत्येतौ वाक्यशेषावध्याहार्यौ जायेते। न चैतस्य प्रतिपादने किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्, अतोऽपव्याख्यानमेतत्।

अतः परम्- **'इन्द्रियनित्यं वचनम्'** इत्यादिरुक्तपदचतुष्टयाक्षेपप्रतिसमाधानार्थो ग्रन्थः। तस्यार्थं केचिदेवं व्याचक्षते-इन्द्रियं वागिन्द्रियं तत्र यन्नित्यं नियतम्, अन्यत्र नास्ति, तदिन्द्रियनित्यम्, सप्तमी'ति योगविभागात् समासः। गृहनित्योऽध्ययननित्य इति यथा। यावद्वागिन्द्रियं तदुच्चारणे व्यापृतं तावदेवास्ति, न ततः प्रागूर्ध्वमित्यर्थः। किन्तदिन्द्रियनित्यमित्यत आह-**वचनम्**। उच्यतेऽनेनेति वचनं शब्दः। एवमौदुम्बरायणो मन्यत इति वाक्यशेषः।

॥इति प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीय: खण्ड:।

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते युगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेश: शास्त्रकृतो योगश्च। व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानं पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिर्जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधत्यस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणं विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारं वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वार्थानां वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वाऽपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यात: प्रतिलोमं विनश्यतीत्यपरभावस्यदि- माचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति॥ २॥

भाष्यटीका

एतदुक्तं भवति-वागिन्द्रियव्यापारादुच्चारणादनन्तरं शब्द उपलभ्यते, न तत: प्रागूर्ध्वञ्च, तस्मात्तज्जन्य: शब्द: इति, अतस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्। यथा कुलालव्यापारेण घट: क्रियते, एवमुच्चारणेन शब्द: क्रियते, नाभिव्यज्यते। कुत: ? प्राक् सम्भवे प्रमाणाभावात्। कृतकञ्चोच्चारितप्रध्वंसित्वात् न कालान्तरमवतिष्ठते। अत: शब्दानां नास्ति यौगपद्यम्, युगपदवस्थितानेकार्थविषया चतुष्ट्वसंख्या, परस्परापेक्षे नैकस्मिन् वस्तुनि द्वित्वादिसंख्यानां सर्वासां प्रवृत्ते:। अत: **'चत्वारि पदजातानि'** इति यदुक्तं **पदचतुष्ट्वं तन्नोपपद्यते।**

अस्य प्रतिसमाधानार्थमुक्तम्-**युगपदुत्पन्नानामित्यादि**। वा शब्द: पक्षव्यावृत्तौ। यदुक्तम्-'इन्द्रियनित्यत्वात् पदचतुष्ट्वानुपपत्ति:' इति, तत्र-**युगपदुत्पन्नानामितरेतरोपदेश:**। कोऽस्यार्थ: ? उच्यते-**युगपदुत्पन्ना**नामित्युत्पत्त्या यो ह्युत्पद्यते स भवती'-ति सत्तालक्षणो भवत्यर्थो लभ्यते। युगपदित्यनेनापि कार्येषु घटादिषु क्रमवृत्तित्वं दृष्टं तन्निराक्रियते। तदभिधानमेतत्-इतरेतरोपदेश इति। उपदेश उच्चारणम्-अभिव्यक्तिरित्यर्थ:। इतरेतरार्थत्वेनोपदेश:-इतरेतरोपदेश:, अर्थविभागाश्रयभेदे सति संप्रेक्षितार्थत्वादन्यान्यार्थत्वम्, केवलस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यनङ्गत्वात्। तेनैतदुक्तम्-यौगपद्यवतां सतामेव चतुर्णां नामादिपदजातानामेतत्परस्परार्थत्वेन वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थमुच्चारणम्। अतश्च युगपदवस्थितानेकनामादिपदजातविषया चतुष्ट्वसंख्योपपन्नम्-**'चत्वारि पदजातानि'** इति।

ननु च प्रतिज्ञामात्रमिदं शब्दानां नित्यत्वे सत्यमेव कल्प्यते। तच्च नित्यत्वं साध्यम्। पूर्वपक्षे हीन्द्रियनित्यत्वेन तद्भावभावित्वमुक्तं कथं प्रतिज्ञामात्रेण व्यवोढुं शक्यम्? उच्यते-अनत्यन्तगतिरेषा तद्भावभावित्वस्याभिव्यक्त्यापि सम्भवात्। तथाहि-युगपदपवरकादिदेशव्यवस्थितानेकघटादिपदार्थाभिव्यक्ति-रभिव्यञ्जकरत्नादिसन्निधौ दृष्टा, तद्वदत्रापि भविष्यतीति पूर्वोक्ततद्भावभावित्वे नाश्वास:। तथा च- उपदेश उच्चारणमभिव्यक्तिरित्युक्तं प्राक्। अत: प्राक्प्रयोगात् सतामेव शब्दानामभिव्यक्ति: प्रयोगेण क्रियत इति शब्दस्य प्राक्प्रयोगात् सद्भावे प्रयोगोत्तरकालं वाऽविनाशे न्यायविद्भिरभियुक्तैस्तात्पर्येणोक्ता युक्तय:। इह तु तत एव किञ्चिदुच्चित्योच्चित्यानुसन्धीयते-प्राक्प्रयोगात् सन्ति शब्दा:, यदेनांस्तावत्येवार्थे प्रत्ययेनाङ्गत्वेन विद्वांसो विनियुञ्जते, न पुनस्तेषामज्ञाने घटपरश्वादीनामिव सलिलाहरणमिव शरणार्थिन: समायास्यन्ति।

किञ्चानित्यत्वे सति सम्बन्धस्य कर्तुमयोग्यत्वात् यावदसौ करिष्यते तावच्छब्दः कृतो नष्टः, अतः कथमसतां सम्बन्धः। सम्बन्धश्च नास्ति, आसीदिति चेत्कल्प्येत? तच्च न। कथम्? स ह्येको वा स्यादनेको वा? एकस्य दुर्गादिदेशेषु गमनानुपपत्तिः। येन च शब्देन सम्बन्धः क्रियते, तस्य केन कृत इत्यनवस्था अनेकस्यापि सम्बन्धः परस्परसंगत्यनुपपत्तिः। अनवस्था च तदवस्थैव। हिरण्यगर्भादेश्च पुरुषातिशयस्य सम्बन्धशून्यस्य च कालस्य कल्पयितुमयोग्यत्वात्। तस्माद् वृद्धव्यवहारप्रसिद्ध्यैव सम्बन्धस्य परिज्ञानान्नित्यत्वसिद्धेरित्यनवद्यम्।

प्रत्यभिज्ञानाच्च। प्रत्यभिज्ञायते हि-स एवायमिति। सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय इति चेत्? न तत्सदृश इति प्रतिपत्तिः, किन्तर्हि? स एवायमिति। तस्मात् सतामेव शब्दानां ताल्वादिकरणव्यापारः, तज्जो वा नादोऽभिव्यञ्जकः, यावदभिव्यञ्जकस्तावदभिव्यङ्ग्यस्योपलब्धिरिति सिद्धानां नामादिशब्दानां नित्यत्वाद्युगपदवस्थितानेकपदार्थविषया चतुष्ट्वसंख्येति। एतद्वस्तूरीकृत्य भाष्यकारेणोक्तम्-**'युगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः'** इति।

एतदुक्तं भवति-आक्षिप्तोपपत्तिक्रमे तत्प्रतिज्ञावचनमृषेरिति। तच्चोपरिष्टात् स्वयमपि वक्ष्यति-**व्याप्तिमत्त्वादिति।**

शास्त्रकृतो योगश्च। च शब्दः समुच्चये, न केवलं चतुष्ट्वम्, शास्त्रकृतश्चापिशलेः पाणिनेर्वा योगः-सूत्रम्। समुदायाभिप्रायमेकवचनम्। योगः समुदायोऽष्टाध्यायी शास्त्रमेवोपपद्यते, यदि नित्याः शब्दाः। इतरथा हि प्रकृतावुत्पन्नायां यावत्प्रत्यय उपादास्यते, तावद्विनष्टा प्रकृतिरिति कस्य केन सम्बन्धः। तथा च **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'** (पा०महा०१.१.१) इति तत्र प्रतिज्ञा।

अथवा शास्त्रं वेदः, तेन कृतो योगो नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मविषयोऽधिकृतपुरुषस्य नियोगः। स च नित्यत्वे सत्युपपद्यते। इतरथाऽनधिगतार्थसम्बन्धस्य शब्दस्य नाशे किं केन युज्यते।

अथवा 'दशम्यां व्यावहारिकीम्' इत्यादि स्मृतिशास्त्रकृतो योगः। संज्ञायाः संज्ञिना कुमारेण योगः सम्बन्धः।

अथवा शास्त्रेण कृतो वाचो नित्यत्वेन योगः,**'वाचा विरूप नित्यया'** (ऋ०८.७५.६) इति शास्त्रकृतो योगः। अस्मिंश्च व्याख्याने 'नित्यत्वे कारणम्' इति वाक्यशेषोऽध्याहार्थः। न केवलं पूर्वोक्तं नित्यत्वे कारणम्, मन्त्रलिङ्गञ्चेत्यर्थः।

किञ्च- **व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य,** 'नानुपलब्धि'रिति वाक्यशेषः। आशङ्कितचोद्योत्तरमेतदिति। तुशब्दश्चार्थे-**व्याप्तिमत्त्वाच्चाणीयस्त्वाच्च शब्दस्य** सतोऽनुपलब्धिरित्यर्थः। हेतौ वा। यदा हेतौ, तदा व्याप्तिमत्त्वं हेतुरणीयस्त्वं चेति सम्बन्धः। क्वचिदनुपलब्धेर्याऽनित्यत्वाशङ्का, तां व्युदसितं हेतुवचनम्। 'व्याप्तिमान् शब्दः आकृतिवत्सर्वगतः' इत्यर्थः। तद्यथा-गवाकृतिर्न क्वचिदुपरतेत्यतः सर्वत्रोपरता भवति, पिण्डान्तरस्थोपलभ्यते। एवं शब्दो व्याप्तिमान् सर्वगतश्च। एतदुक्तम्भवति-शब्दस्य याऽनुपलब्धिर्नासावसत्त्वात्। किन्तर्हि? आकृतिवदभिव्यञ्जकाभावात्। अतो नानुपलब्धेरनित्यत्वमाशङ्कितव्यम्।

अणीयस्त्वाच्च। च शब्दो वार्थे। हेतुविकल्पत्वाय व्याप्तिमत्त्वादेः। क्वचिदनभिव्यक्तेः सत एव शब्दस्यानुपलब्धिः, अणीयस्त्वाद्वा। आकाशमणु=सूक्ष्मम्, अतस्तद्गुणत्वाच्छब्दस्यातिशयेन सौक्ष्म्यादियमनुपलब्धिः सत एव। उपलब्धिस्तु प्रकाशे सति रूपस्येव चास्य ताल्वादिव्यापारसहकारिसद्भावे सति श्रोत्रेन्द्रियविषयापत्तेः। अत आत्माकाशसामान्यादिवदनुत्पादविनाशधर्मः शब्दो नियतोपलब्धिश्चेति सिद्धम्।

एवञ्च नित्यत्वे सति-**शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके**। करणसाधनः **संज्ञाशब्दः**। संक्षेपेण ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा-देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तस्याः **करणं** कल्पनं **व्यवहारार्थं** व्यवहारप्रयोजनं लोके उपपन्नमिति वाक्यशेषः।

अथवा शब्देनेति-'संहतैर्नामादिपदैर्ज्ञायते येन वाक्यार्थः' इति वाक्यमेव संज्ञाशब्देनोच्यते। तया करणं विवक्षितस्य प्रत्यायनम्। समानमन्यत्।

अथवा कर्मसाधनः-संक्षिप्तो ज्ञायत इति वाक्यार्थ एव संज्ञाशब्देनोच्यते। तस्य करणं प्रतिपादनम्। केन? शब्देन वाक्यलक्षणेन। किमर्थम्? **व्यवहारार्थं लोके**-वाक्यवाक्यार्थप्रतिपत्तिव्यतिरेकेण हानोपादानोपेक्षालक्षणो व्यवहारो वेदितव्यः।

अनन्तरव्याख्यानद्वये चोद्यते-यद्यभिधानलक्षणो व्यवहारो लोक उपपन्नो नाम, मन्त्रेषु कथमुपपत्तिरिति? उच्यते-'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चैषामर्थाः' इति न्यायादवस्थितमेतत्। अत उच्यते-**तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।** तेषां शब्दानां यथा मनुष्येषु 'देवदत्त पयः, वचः शृणु' इत्यभिधानलक्षणो व्यवहारः, एवं वेदेऽपि-'इन्द्र आगच्छ, पिब सोमम्, शृणोत ग्रावाणः' इति यज्ञाङ्गदेवग्रावादिविषयाणां नामादिशब्दानां व्यवहारोऽविशिष्टः। ननु यज्ञाङ्गदेवग्रावादिषु संबोधस्तत्समर्थाचरणं वा न दृश्यते, ततश्चानर्थक्यमिति? उच्यते-नैवं संबोधाद्यर्थतया तेषामुपदेशः। किमर्थस्तर्हि? उच्यते-

पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। पुरुषाणां यजमानर्त्विजां विद्या ज्ञानम्, तच्च प्रक्रान्तकर्मविषयेतिकर्त्तव्यतास्मरणलक्षणम्। तस्याऽनित्यत्वात् प्रस्मरणस्यापि सम्भवादित्यर्थः। **नित्यत्वाद्वा** नियतत्वादवश्यकर्त्तव्यत्वादित्यर्थः। अथवा-**अनित्यत्वाद** अनियतत्वादित्यर्थः। पुरुषाणाञ्च विस्मरणस्यापि सम्भवात्, विशेषेण च प्रयोगसमये छिद्रान्वेषिपार्श्वसमवस्थितयाज्ञिककितवाभिभूतानाम्। तथा च सति विगुणं कर्म स्यात्। ततश्च फलानवाप्तिः। तस्मात् क्रियमाणपदार्थविषयस्मरणवैगुण्ये न कर्मपरिसमाप्त्या प्रयोजनम्। ततश्च कर्त्तव्यम्। तत्र चोपायान्तरेणापि स्मरणे प्राप्त उपायनियम इष्यते। तदर्थमाह-

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। अवैगुण्येन कर्मणः परिसमाप्तिः=**कर्मसम्पत्तिः**। तदर्थो मन्त्रः कर्मसम्पत्तिशब्देनोच्यते; तादर्थ्यात्, **'इन्द्रः स्थूणा'** इति यथा। एतदुक्तं भवति-मन्त्रेणैवानुस्मृतं कर्म कर्त्तव्यम्, नोपायान्तरेणेत्येतदर्थो मन्त्रो वेदे।

अथवा- **तेषां मनुष्यवदिति,** विधिवाक्याभिप्रायम्। यथा लोके नियोगार्थानि वाक्यानि, एवं वेदेऽपि भवतु-विधायकेष्वेवमभिधायकेषु मन्त्रेषु। कथमिति चेत्? **पुरुषविद्यानित्यत्वात्,** पूर्ववद् ग्रन्थयोजना।

अथवा-तेषामित्यादिप्रतिज्ञावचनम्, **पुरुषविद्यानित्यत्वादिति** हेतुः। एतदुक्तं भवति-यथैवाप्तवचनादेवमिति विज्ञानमुपजायते, एवं वेदवाक्यादपि। तच्च सम्यक्। कुतः? तस्य विद्याशब्दवाच्यस्य वेदवाक्यहेतुकस्य

विज्ञानस्य नित्यत्वाद् देशान्तरेष्वविपर्ययात्, कारकदोषाभावाच्चेत्यर्थः। यथा च तत्प्रवृत्त्यङ्गञ्च, तथा वैदिकमपि। अतः स्वभावेषु मन्त्रेषु कथमिति चेत्? **कर्मसम्पत्तिरि**त्यादि पूर्ववदेव योज्यम्।

अन्ये त्वन्यथा व्याचक्षते-इन्द्रिय एव नित्यं नियतं वचनं शब्दः, नार्थेऽभिधेये। यतोऽसावुपायान्तरेणाप्यक्षिनिकोचादिना परप्रतीतिपथमवतारयितुं शक्यते। एतावद्वचनप्रयोजनम्, तच्चैतदुपायान्तरेणापि सम्भवति। कोऽर्थो नामादिवचनगतसंख्यादिविचारेण। अथ तत्र क्रियते, अक्षिनिकोचादीनामपि लक्षणे यत्नः कस्मान्न क्रियत इति **औदुम्बरायणो** मन्यते। **युगपदुत्पन्नानां** वेति शब्दो विकल्पे। युगपदुत्पन्नानां वा, न युगपदुत्पन्नानां वा आख्यातादीनां **शब्दानामितरेतरं** गुणप्रधानभावेनोपदेशः संख्यादिवन्नोपपद्यत इत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति-निरुक्तव्याकरणाभ्यां परप्रतीतिशेषत्वेनावस्थितानां नामादिशब्दानामर्थविशेषाश्रयेण परप्रतीतिः प्रतिपाद्यते। सा च प्रतीतिरन्यथा व्यवकल्प्या, ततोऽस्थानेऽयं यत्न इति निरुक्तव्याकरणाक्षेपेण पूर्वः पक्ष इति।

व्याप्तिमत्त्वादित्यादि। **'तु'** शब्दः पक्षव्यावृत्तौ। यदुक्तं तन्नोपपद्यत एव नामादिपदचतुष्टादिविचारो व्याप्तिमत्त्वाच्छब्दस्य, सावधारणमेतद् द्रष्टव्यम्। शब्दस्यैव नियमेनासन्देहेन विशेषेण प्रतिपिपादयिषितस्यार्थस्य व्याप्तिः प्रत्यायनम्, तया व्याप्त्या तद्वाञ्च्छब्द एव, नाक्षिनिकोचादिः। स हि कदाचित् सन्देहेन सामान्येन च कञ्चिदेवार्थं कस्यचिद्गमयेत्। अतोऽस्माद्विशेषहेतोरुपपन्नो नामादिगतो विचारः, **इतरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतश्च योगः**।

किञ्चातिशयेन शब्दलक्षणस्यार्थप्रत्यायनोपायस्याणीयस्त्वात् सूक्ष्मत्वाल्लघुत्वादित्यर्थः। तेनैव शब्देन संज्ञानस्य करणं व्यवहारार्थमर्थक्रियाप्रसिद्ध्यर्थं लोके, न वाक्षिनिकोचादिभिः, अनेकरूपत्वात्। तेषामेव च मनुष्येष्विव योऽक्षिनिकोचादीनामगोचरः स्वर्गापूर्वदेवतादिः, तद्विषयमभिधानं प्रत्यायनसामर्थ्यम्। न च तद्विषयज्ञानं मिथ्या, प्रमातुः पुरुषस्य विद्यायास्त्रय्याः प्रमाणस्य नित्यत्वादविपर्य्ययादित्युक्तम्।

भवतु विधायकेष्वेवम्, मन्त्रेषु कथमिति चेत्? उच्यते-तेषामपीतिकर्त्तव्यतानुप्रवेशान्मन्त्रेणानुस्मृतं कर्म कर्त्तव्यम्। शास्त्रादिवचनादिष्वपि गुणगुण्यभिधानमेषां **कर्मसम्पत्तिः**, तदर्थश्च **मन्त्रो वेद** इति पुरस्ताद्विस्तरेणोक्तम्। एवञ्चेत्, युक्तो नामादिपदगतो विचार इति।

अपरे त्वन्यथा व्याचक्षते-इन्द्रियं वागिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियञ्च, तस्मिन्नित्यं नियतं सर्वदा भावि, तदिन्द्रियनित्यम्। किञ्च तत्? **वचनम्**, उच्यतेऽनेनेति वचनं वाक्यम्। एवमौदुम्बरायणो मन्यते। एतदुक्तं भवति-प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपादनार्थः शब्दप्रयोगः। ते च प्रवृत्तिनिवृत्ती वाक्येनैव प्रतिपाद्येते। अत एव वक्तुर्वागिन्द्रिये वाक्यमेव नियतम्, श्रोतुश्च श्रोत्रेन्द्रिये। वक्त्रा वाक्यमेव सर्वदा प्रयुज्यते, श्रोत्रा च प्रतीयत इत्यर्थः। ततश्च वाक्यमेवास्ति, पदानि न सन्ति। या तु वाक्ये पदबुद्धिः सा निष्प्रयोजनत्वात्, पदानां वक्त्राऽप्रयुयुक्षितत्वात्, श्रोत्रा चाशुश्रूषितत्वाद् भ्रान्तिः। यथा-ब्राह्मणकम्बल इत्यत्र ब्राह्मणबुद्धिः। यदैवम्, तदा पदानामभावात् यदुक्तं पदचतुष्टं-**चत्वारि पदजातानीति, तन्नोपपद्यते।** तस्य प्रतिसमाधानम्-पदानि हि तत्र वाक्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगतरूपाण्यवगतार्थानि च। तानि युगपत्प्रयुक्तानि वाक्यमित्युच्यते। न पदेभ्योऽन्यद्वाक्यमस्ति। ततश्च तेषामुपपन्नं चतुष्टमिति।

तत्कथम्? न तावद्वाक्ये पदबुद्धिभ्रान्तिरिति शक्यं कल्पयितुम्। विपर्ययस्य कारणदोषस्य चाभावात्। तथाहि-शुक्तिकायां रजतबुद्धेर्विपर्ययोऽस्ति, चन्द्रे च तैमिरिकस्य। द्वित्वबुद्धेः कारणदोषस्तिमिरम्। न चैवं वाक्ये पदबुद्धेः। न च पदेभ्योऽन्यद्वाक्यम्, अनुपलब्धेः। यथाहि पदादन्यत्पदान्तरमुपलभ्यते, नैवं पदेभ्यो वाक्यम्। न च वाक्यार्थप्रत्ययस्यान्यथानुपपत्तेः शक्यं कल्पयितुम्, पदार्थेभ्यस्तस्योपपत्तेः। कथम्? पदार्थसम्बन्धो हि वाक्यार्थः। पदानि च पदान्तरसम्बन्धाकाङ्क्षान् भेदसंसर्गरूपान् स्वार्थान् प्रत्याययन्ति। तेषां सन्निधेर्योग्यत्वाच्च सम्बन्धं स्वयमेव प्रतिपत्ता प्रतिपद्यते। यथा-काष्ठभारमानीतं दृष्ट्वा पार्श्वतश्च श्रान्तं प्रस्विन्नं विषण्णं मनुष्यं दृष्ट्वा तयोः सम्बन्धं प्रतिपद्यते-अयमनेनानीत इति, तद्वत्।

एवञ्चेत् पदार्थेभ्य एव वाक्यार्थप्रत्ययस्योपपत्तेर्न वाक्यमस्ति, पदान्येव केवलानि सन्ति। ततस्तेषामुपपन्नं चतुष्ट्वमिति, तदेतदाह-**युगपदुत्पन्नानामित्यादिना**। वा शब्दोऽत्र पक्षव्यावृत्तौ। न विकल्पे। नैतदेवमित्यर्थः। **युगपदुत्पन्नानामिति** उत्पत्तिः-प्रयोगोऽभिप्रेतः। शब्दाः पदानीतरेतरोपदेश इति च चतुष्ट्वमाह तद्वीतरेतरस्योपदिश्यते, नैकस्य, परस्परापेक्षे नैकस्मिन् वस्तुनि द्वित्वादिकायाः संख्यायाः प्रवृत्तेः। **युगपद् एककालम् उत्पन्नानां** प्रयुक्तानां नामादिशब्दानामितरेतरोपदेशः। एतच्चतुष्ट्वम्। तेभ्योऽन्यस्य वाक्यस्याभावादित्यर्थः।

किञ्च **शास्त्रकृतो योगश्चैव**मेवोपपद्यते, यदि पदानि सन्ति। अथ वाक्यमेव परमार्थं सत्, न पदानि; तथासति केनापि प्रकारेण पूर्वोक्तो न शास्त्रकृतो योग उपपद्यते।

किञ्च **व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य**। **'तु'** शब्दश्चार्थे, शब्दः पदम्। व्याप्तिः सामान्येनावस्थानं तया तद्वान्, तस्मात् पदभृतः शब्दो न वाक्यम्, तस्य विशेषवृत्तित्वात्। पदार्थप्रतीतिपुरस्सरश्च वाक्यार्थप्रत्यय इत्येतत्प्रतिपादनार्थमन्वयव्यतिरेकावेवोपन्यस्तौ व्याप्तिमत्त्वादित्यनेन।

एवञ्च सति सामान्येन वर्त्तमानानां यो विशेषो भेदसंसर्गरूपः स वाक्यार्थ इत्युपपद्यते। पदानाञ्चानर्थक्ये नियतावयवक्रमेणापूर्ववाक्येनार्थप्रत्ययो न स्यात्, श्लोकादिवाक्यवाक्यार्थसम्बन्धस्य पूर्वमनुपलब्धेः। वाक्ये च पदानामानर्थक्ये वर्णवत्पदेष्विव वाक्येऽपि क्रमनियमः स्यात्, न चासाविष्टः।

किञ्च **अणीयस्त्वाच्च** पदेन हि पदार्थः सञ्ज्ञायत इति लाघवम्। यस्य तु वाक्यमेव, न पदानि; तस्य वाक्यार्थवत्पदार्थबोधोऽपि वाक्येनैवेति गरिमा स्यात्। एकस्य चानेकार्थकल्पनायां न्यायविरोधः स्यात्। अत एव च कारणाच्छब्देन पदभूतेनैव संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। वेदेऽप्येवमेवेत्याह-**तेषां मनुष्यवदि**त्यादि समानं पूर्वेण।

भावप्रधानमाख्यातमित्युक्तलक्षणस्याऽऽख्यातस्य, भवतीति भावस्येत्यादिना च प्रदर्शितोदाहरणस्य शेषतया किञ्चिद्वक्तव्यतामापन्नम्, तदुच्यते-**षड्भावविकारा** इत्यादि। पाठादेव षट्त्वे सिद्धे षडिति संख्याऽवधारणार्था-षडेवेति। तथा चावधारणस्य फलं दर्शयिष्यति-**'अतोऽन्ये'** इतिना। भावविकारा इत्यत्र व्याख्यातॄणां दर्शनभेदः। केचिन्मन्यन्ते- भावः क्रिया, तस्याश्च द्रव्यव्यतिरेकसद्भावो द्रव्यगतविकारदर्शनात् तद्भावभावित्वेनानुमीयते। कथम्? न तावद्द्रव्यमात्मानं विकर्त्तुमलम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। नाप्यसतो विकारकत्त्वम्। तस्माद्यतोऽसौ सापि क्रियास्ति व्यतिरिक्ता चेति। विकारशब्दश्च यद्यपि प्रकृतिविकारभावादिषु

कार्यवचनो दृष्टः, तथापि सामर्थ्यादिह व्याख्याने प्रकारवचनो ग्राह्यः। क्रियायाः क्रियां प्रति कारणत्वाभावात्, नहि कर्म कर्मसाध्यं दृष्टम्। तेनैतदुक्तं भवति-क्रियाप्रकाराः क्रियाभेदाः, ते चैतावन्तः संभवन्ति। यथा-पञ्चप्रकारं कर्मेति वैशेषिकाः प्रत्यज्ञासिषुः-'**उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि**' इति। यत्तु भ्रमणविरेचनस्यन्दनादीनि, तदत्रैवान्तर्भवन्ति। एवं पुनरुक्ताः षड्भेदा एतद्विशेषा इति वक्ष्यति। **वार्ष्यायणिरि**त्याचार्यग्रहणं-न स्वमतं व्युदसितुम्, किं तर्हि ? उक्तस्यैवार्थस्य दाढर्यार्थं मतान्तरस्यानुपन्यासात्।

अन्ये मन्यन्ते-'**तथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा**' '**स्तम्भकुभ्यादयो भावाः**' इत्यादिप्रयोगदर्शनाद् **भावशब्दः पदार्थपर्यायः**। भावस्य पदार्थस्य वस्तुन एकरूपस्यैव सतः षड्भावविकारभेदा भवन्ति, स्फटिकस्येव संसर्गिधर्मिभेदात्। एतदुक्तं भवति-संसर्गभिर्धर्मिभिरुपधीयमानं वस्त्वेतावतीरवस्थाः प्रतिपद्यत इति। अवश्यं चैतदाश्रयितव्यम्, इतरथात्वभिन्ने वस्तुनि जन्यादीनां पर्यायत्वमभिन्नप्रत्ययग्राह्यता च स्यात्।

अन्ये च वर्णयन्ति-**भावशब्दः शब्दपर्यायः**। तथा च प्रयोगः-यद्वा '**सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति, स तेषां भाव**' इति। सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेनार्थभूताः संबद्धा भवन्ति, स तेषां स्वभाव इति तत्र व्याख्यायते। शब्दश्चात्रार्थवानाश्रीयते वाक्यभूतः, यतो न क्रियापदमन्तरेण प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वाख्यायते, सत्यानृतवचनविभागो वा, तथाहि 'अङ्कुरो' 'वन्ध्यासुतः' इति चोक्ते यावन्न प्रयुज्यते-अस्ति, नास्ति- इति वा भावः, तावन्न किञ्चित्सत्यमनृतं चोक्तं भवतीति। अतोऽनेन प्रकारेण वाक्यभूतः शब्दग्रामः षोढाऽवस्थितः कथ्यते। कथम् ? सर्वत्रैवं ह्यङ्कुरादिशब्दप्रयोगे '**जायते**' शब्दादीनामन्यतम आख्यातशब्दः प्रयुज्यते, यो वा तेष्वेवान्तर्भवति, अतो व्यतिरेकेणाख्यातान्तरस्याभावात्। अतः षड्भावस्य शब्दस्य वाक्यभूतस्य भेदा इत्यर्थः।

अन्येषां दर्शनम्-**भावः**-सत्ता महासामान्यम्। तथा च प्रयोगः-'**न द्रव्यं न कर्म न गुणो वा भावः**' इति। अत्र द्रव्यादिव्यतिरिक्ता सत्तेत्यर्थः। सा च सत्ता कैश्चित्परमात्मत्वेनाध्यवसिता। 'स एष महानात्मा सत्तालक्षणः' 'तत्परं ब्रह्म' इति ब्रह्मवादिभिः। सा चैकापि सती नित्यापि वाऽसत्यैः शब्दमाहात्म्यनिबन्धनैर्व्यवहारानुवादिभि-'र्जायते' शब्दादिवाच्यैरवस्थाभेदैराविष्टे वाऽनुगते वा कुटिलकुण्डलाद्यवस्थाभेदैरिव पन्नगः स्तिमिततनुः, स्थूलतरङ्गाद्यवस्थाभेदैरिव महोदधिः सर्वानवस्थानवस्थाभ्यो भेदाभेदाभ्यामनिर्वचनीयः। सोऽयं सत्तालक्षण आत्माविस्तिरोभावधर्मेणानेकेनावस्थानेनानुविद्धो जन्यादिभिरभिधेयत्वेन विषयीक्रियत इति। एतदुक्तं भवति-सर्वैः शब्दैरेव सत्तालक्षण आत्माऽभिधीयते इति। त एते क्रियाया वस्तुनः शब्दस्य सत्ताया वा भावस्य विकाराः। तांश्च संख्यया सामान्येन प्रदर्श्योदाहृत्य च स्वरूपत एकैकं दर्शयितुमुपक्रमत इति प्रत्यवमर्शकः 'एते' इत्यस्यार्थे।

जायत इति पूर्वभावस्येत्यादि। इतिकरणः पदार्थविपर्यासकृत्। सर्वपूर्वो भावोऽस्त्यादिभ्यो व्यापारान्तरेभ्यो जन्माख्य आदिरुपक्रमो बीजस्यैव मृदुभावादिरुच्छूनत्वं किञ्चिदुद्भिन्नत्वाद्यपवर्गान्तं पूर्वापरीभूतमाचष्टे '**जायते**' शब्दः। शक्तिस्वाभाव्यात्। आह च -

पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम्।

संमूर्च्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते॥

इति **नापरभावमाचष्टे=**जाताऽवस्थां नाचष्ट इत्यर्थः। स ह्यपरो भावोऽस्तेर्विषय इत्यर्थः। नाम्ना च वृत्तौ जन्मानर्थक्यं स्यात्।

न प्रतिषेधति=जनेस्तदर्थत्वादपरिसमाप्तिप्रसङ्गादनन्तरभावित्वाच्चायुक्तः प्रतिषेध इति। अथवा सर्वेषामेव जन्यादीनामसतः कर्तृत्वानुपपत्तेः पूर्वो भावः सत्तालक्षण आश्रीयते, तस्यादिरादानं स्वकारणैर्बीजादिभिरङ्कुरादि- सत्तायाः समावेशः सम्बन्ध इत्यर्थः। तमाचष्टे-अङ्कुरादेर्ह्यनुपचरितस्य बुद्धिविषयां जनिं प्रति कर्तृत्वमयोग्यम्। तथाऽसत्कार्यवादिनः स्वकारणसत्तासमवायो जन्मेत्याहुः।

नापरभावमाचष्टे=मुख्यसत्तां नाचष्ट इत्यर्थः। परं पूर्ववद्योज्यम्। अथवा पूर्वो भावोऽनभिव्यक्तः सूक्ष्मा सत्ता, तस्या आदिरादानं विशेषैस्तमाचष्टे। एतदुक्तं भवति-सूक्ष्मसत्तासमाविष्टस्य सतो विशेषप्रादुर्भावः। सतो विशेषसत्ताप्रतिलम्भो जन्म। तस्मात् सदेवोत्पद्यते। यदि ह्यसदुत्पद्येत, तन्तुभ्यो घटो मृदश्च पट उत्पद्येत। नत्वेतदेवं दृष्टम्, तस्मान्मृदवस्थायामेव घटोऽस्त्यनभिव्यक्तः पुरुषव्यापारेणाभिव्यक्तिर्नीयत इति। तथा च सत्कार्यवादिनः-

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। (सांख्यकारिका-कारिका,९)

इत्याहुः। **नापरभावमाचष्टे**, स्थूलसत्तां नाचष्ट इत्युक्तार्थम्।

अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्'। उत्पन्नस्य जनिव्यापारेण प्रतिलब्धात्मलाभस्य जायमानावस्थां प्रत्यनन्तरभाविनः सत्त्वस्य द्रव्यस्य वस्तुनो घटाङ्कुरादेर्निर्लुठितस्य बुद्ध्यावग्रहोऽवधारणं 'अस्ति' शब्द आचष्ट इत्यनुषङ्गः सर्वत्र। किं पुनरत्रावधारणम्? अस्ति=बिभर्त्यात्मानम्, न ध्वंसत इति, इत्थं बुद्ध्याध्यवसायः। यद्वा पूर्वोत्तरावस्थातो व्यवच्छेदः, अङ्कुरोऽस्ति, न बीजावस्था, न नालपत्रकाण्डाद्यवस्था। घट एवास्ति, न शिवकाद्यवस्था, न कपालाद्यवस्थेति।

विपरिणमत इत्यादि कर्मकर्त्तरि प्रयोगः। विपरिणमते शब्दो जम्बूफलपय आदेर्धर्मिणो भूतभविष्यद्वर्त्तमानावस्थास्वेकत्वेनाश्रितस्याविनश्यत आत्मतत्त्वाद्धरितत्वाद्द्रवत्वमाधुर्यादिनिवृत्या कार्ष्ण्यकाठिन्याम्लत्वाद्युपजननेन यो विकारः परिणामस्तमाचष्टे, तेन विशिष्टं तद्वन्तं धर्मिणमाचष्ट इत्यर्थः। ननु तत्त्वादप्रच्युतिर्जम्ब्वामुपपद्यते, पयसि कथम्? यत्र पूर्वप्रख्योपमर्देन प्रख्यान्तरोपजनो दधीत्युच्यते। अत्रापि शौक्ल्यादिविशिष्टं गोरसद्रव्यं धर्मित्वेनाश्रयिष्यत इत्यदोषः। विपरिणमतेश्च विषयविवेकप्रदर्शनार्थं सर्वावस्थानुगतस्य धर्मिण आश्रयणम्। धर्मिण्येव हि परिणामः सम्भवति न धर्मेषु, यतस्ते विनाशिजन्यस्तीनां विषयीभवन्ति। द्रव्यत्वं विनशेः, काठिन्यं च जनेः, शौक्ल्यमस्तेः, अतो विविक्तो विषय इतिं।

वर्धत इत्यादि, वृद्धिरनिवृतपरिणामविशेषस्य धर्मिणः परिणामप्रकर्षविशेषाकाङ्क्षा विषयस्याप्रच्यवमानस्य, तत्त्वप्रत्याख्यातः पूर्वावस्थाया अभेदोपचारेण समवायिसंयोग्यर्थागमेन य आभिमुख्येनोपर्युपचयस्तमाचष्ट इति सम्बन्धः। **वर्धते शरीरेण वर्धते विजयेनेति,** क्रमाबाधेनोदाहरणपाठो युक्तः।

अपक्षीयत इत्यादि, **एतेनैव** विधिना **व्याख्यातं प्रतिलोमं** वैपरीत्येनेत्यर्थः। पूर्वस्मादपकर्षापचयकृतो विशेषः। शेषं पूर्ववत्। अन्यतराङ्गवैकल्याच्च विपरिणमतेर्वृद्धिक्षयावविषय इत्यपौनरुक्त्यम्।

विनश्यतीत्यादि, पूर्वो भावः सत्तेति पूर्वमुक्तम्। तस्या विशेषादानं विशेषसत्ताप्रतिलम्भो जन्मेत्युक्तम्। तस्या एव विशेषैर्मोक्षोऽन्तस्तमाहेत्यत उक्तम्-**पूर्वभावस्यान्तमाचष्ट** इति। अपरभावं सत्तानां **नाचष्टे। न प्रतिषेधति**, अव्यापारस्तत्रेत्यर्थः।

अन्येषां पाठः-**अपरभावस्येति**। अपरो भावः सत्तैव, सन्नेव दिवि नाशमुपैति; तस्य सत्तालक्षणस्यापरभावस्यान्तः स्वकारणप्रध्वंसस्तमाचष्टे विनश्यति। **नापरभावमाचष्ट** इति, कपालावस्थां नाचष्टे। **न प्रतिषेधति**-अव्यापारस्तत्रेत्यर्थः।

अन्येषां पाठः-**न पूर्वभावमिति**। तेषां पूर्वो भावो विनश्यत्यपेक्षयाऽपक्षीयतिः, तन्नाचष्टे। विद्यमानमपि विनाशं स्वांशोपनिपातित्वाच्छब्दानां **न प्रतिषेधति**, स्वार्थोपरोधप्रसङ्गादिति॥

अथ तृतीयः खण्डः।

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह ते यथावचनमभ्यूहितव्याः। न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्त्युच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यस्तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्। आ इत्यर्वागर्थे प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यमभीत्याभिमुखं प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यमति सु इत्यभिपूजितार्थे निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यं न्यवेति विनिग्रहार्थीया उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं समित्येकीभावं व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यमन्विति सादृश्यापरभावमपीति संसर्गमुपेत्युपजनं परीति सर्वतोभावमधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वैवमुच्चावचानर्थान् प्राहुस्त उपेक्षितव्याः॥३॥

भाष्यटीका

जन्यादयो हि सत्तापेक्षया विशेषाः, वक्ष्यमाणपच्याद्यपेक्षया सामान्यरूपा इत्येतद्दर्शयितुमवधारणफलमाह-**अतोऽन्य** इत्यादि। एभ्योऽन्ये **भावभेदा एतेषामेव षण्णां भेदा इति ह स्माह वार्ष्यायणिरिति** सम्बन्धः, प्रकृतत्वात्।

ते यथावचनमभ्यूहितव्याः। यथावचनम्-उच्यत इति वचनम्-अर्थः। योग्यता-योग्यतायामव्ययीभावः। यथायथमित्यर्थः। ये यस्य जन्यादेरर्थत्वेन योग्यास्त आभिमुख्येन तर्कयितव्याः। यथा-जनेरुत्पद्यते प्रसूयत उद्भवतीत्यादयः। एवमस्तेर्भवत्यादयः, परिणमतेर्विक्रियत इत्यादयः, वृद्धेरुपधीयते पुष्यत इत्यादयः, अपक्षीयते शुष्यति ह्रसतीत्यादयः, विनशेर्ध्वंसत इत्यादयो भेदाः।

अथवा **यथावचनं** यथावाक्यमित्यर्थः। यथा-ओदनं पचतीत्यत्रौदनस्य पक्तुमयोग्यत्वात्। यदि ह्यसौ पच्येतार्थान्तरमभिनिष्पद्यते। अतोऽत्र जनेरन्तर्हितण्यर्थस्य विशेषः। तण्डुलं पचतीत्यत्र पचिर्विक्लिदेरन्तर्हितण्यर्थस्यार्थे। स च विशेदित्यर्थभूतस्यैव विक्लिद्यतो विक्लेदयति, विनश्यतो विनाशयतीत्यर्थः।

एवं नामाख्यातलक्षणं सप्रपञ्चमभिधायावसरप्राप्तानुपसर्गानर्थतः स्वरूपतश्चोत्करयितुमाह-**न निर्बद्धा** इत्यादिना। **निराहुरित्यनेन** सम्बन्धः। निः पृथगर्थे, बन्धिः प्रयोगार्थे। **उपेत्य नामाख्यातयोरर्थस्य विशेषं**

सृजन्त्युत्पादयन्तीत्युपसर्गाः। पृथक्प्रयुक्ता उपसर्गा **अर्थान्निश्चयेन नाहुः**। एवं **शाकटायनो** वैयाकरणविशेषो मन्यत इति वाक्यशेषः।

किं तर्हि कुर्वन्ति? **नामाख्यातयोरित्यादि**। तुरवधारणे, नामाख्यातयोरेव कर्मणोऽर्थस्योपसंयुज्यत इत्युपसंयोगो विशेषः प्रकर्षादिस्तस्य शब्दगडुमात्रेण सन्निधानाद् द्योतका भवन्तीति। **कर्मोपसंयोगद्योतकाः**- कर्मोपपदो नभस्य स्वार्थिकः कः। द्योत्यत इति वा द्योतः, कर्मोपंयोगो द्योत्य एषामिति बहुव्रीहिः, ततः कप्। अथवा कर्मोपसंयोगश्चासौ द्योतकश्चेति समानाधिकरणः, तं कारयतीति '**आतोऽनुपसर्गे** कः' (अष्टा०३.२.३) इति कः। व्युत्पत्तिमात्रञ्चैतत्। अर्थसूक्त एव न वाचकः, किं तर्हि? शब्दोपजनमात्रेण पदान्तरोपात्तस्य विशिष्टस्य द्योतका इति। किमतो यद्येवमुच्यते? इह नामाख्यातयोर्वाचकत्वे सति पृथक्प्रयोगत्वे च पदत्वं दृष्टम्। तद्वैलक्षण्यादुपसर्गाणामपृथक्प्रयोगादवाचकत्त्वाच्चानर्थक्ये सत्यर्थविभागाश्रयस्य पदजातस्यानुपपत्तिरिति वैय्याकरणदर्शनेन पृथक् पदार्थाक्षेपः। तथा च ते सामयिकपदत्वान्वाख्यानद्वारेण निपातोपसर्गाणामपृथगर्थत्वात् सुबन्तपदमेव प्रतिज्ञानते। ततश्चोक्तपदचतुष्टानुपपत्तिरिति पूर्वः पक्षः।

उच्चावचा इत्यादि। उच्चावचा बहुप्रकाराः पदस्योपसर्गाख्यस्यार्था अभिधेयाः प्रकर्षादयः सन्ति। अथवा नामाख्यातानां पदार्थानामर्था उपसर्गानुवर्त्तित्वे सत्युच्चावचा गम्यन्ते। एवं गार्ग्यो नाम नैरुक्तविशेष आहेति वाक्यशेषः। किं शब्दाधिक्यात्? नेत्याह, तद्भावाभावित्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृत्यादिवदर्थविशेषस्य प्रतीतेः, शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च, नामाख्यातानुवर्त्तित्वेनैव प्रयुक्तानां प्रकर्षाद्यर्थविशेषप्रबोधसामर्थ्यमुद्भवति, न केवलप्रयोगे। अतः प्रकृत्यादिवदेव केवलानामप्रयोगः। नत्वेतावतानर्थक्यमेवाध्यवसितुं युक्तम्। अपि च यत्र केवलादप्यर्थप्रतीतिर्दृश्यते, तत्र केवलस्यापि प्रयोगः। '**यदुद्वतो निवतो यासि निष्कौशाम्बिः**' इति। आनर्थक्ये हि सति तद्धितसमासौ न स्याताम्। अभ्युपगम्यैतत्सामर्थ्यं पदकार आह-'**उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मकाः, यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र तु न प्रयुज्यते, तत्र ससाधनां क्रियामाहुः**' इति। अतो वैयाकरणा अपि पार्थगत्यं नैव निन्हुवे। सुबन्तपदत्वन्तु यत्सामान्येन, तत्स्वप्रक्रियाप्रसिद्ध्यर्थम्। अत एवं पृथगर्थत्वं बुध्वाऽऽह। **तद्य एषु पदार्थ** इत्यादि। तस्माद्य एषु पदेषूपसर्गेषु नामाख्यातेषु वा प्रयुज्यमानेषु पदार्थः प्रकर्षादिरर्थः प्रतीयते, प्राहुरिमे-उपसर्गास्तमीदृशं नामाख्यातयोरर्थस्य विशेषणम्। '**कृत्यल्युटो बहुलम्**' (अष्टा०३.३.११३), इति कर्त्तरि ल्युट् करणे वा, विकारकमित्यर्थः। स च क्रियायाः क्वचित् कदाचिदवशिष्टाया विशेषकः, **पचति प्रपचतीति**। क्वचिन्निवृत्तिधर्मविशिष्टायाः प्रवृत्तिधर्मकत्वम्-**तिष्ठति प्रतिष्ठत** इति। क्वचिदनुवादित्वम्-**लम्बते प्रलम्बत** इति। अन्ये तु न निर्बद्धा इत्यादिना द्योतकत्ववाचकत्त्वविषयामाचार्यविप्रतिपत्तिं समर्थयन्ते।

प्राहुरित्युक्तं सामान्येन, विशेषेण वर्णयितुमुपक्रमते-आ इत्यादि। **अर्वागर्थः** सन्निकृष्टः, अत्र युक्ता हि कर्मत्वेन सर्वत्र द्वितीया, प्रदर्शनं चेदम्, कर्मप्रवचनीयत्वे हि सति-'**आ समुद्रादपरात्**', इत्यादौ मर्यादादिष्वपि दर्शनात्, निपातत्वे च समुच्चयादिष्वपि। अर्वागर्थ उदाहरणम्-'**परा याहि मघवन्ना-रासभस्य** (ऋ०३.५३.५)', विश्वामित्र इन्द्रमाह। अस्मिन् यज्ञे सोमस्य तृप्तः सन् परा पराचीनं रन्तुं स्वगृहमेव याहि। हे **मघवन् धनवन्**! पुनश्च श्वो यागकाले सोमं पातुमर्वाक् सन्निकृष्टमस्मद्यज्ञमुत्तरवेदिदेशं याहि।

कस्मात् पुनरेवमुच्यते-**'आ च परां च** (ऋ०१.१६४.३१; १०.१७.६)**'** इति। उच्यते-यस्मात् हे इन्द्र भ्रातः! सोमपयश्चरुपुरोडाशादिना भर्त्तव्यः, उभयत्र स्वगृहेऽस्मदीये यज्ञे च। ते-तव, अर्थं-व्यत्ययेन प्रथमार्थे द्वितीया-अर्थः प्रयोजनमित्यर्थः। एकत्र सोमोऽन्यत्र शच्यादिपरिभोगः। कीदृशं स्वगृहम्? यत्र रथस्य बृहतो महतो निधानं स्थानं यजनशालाख्यं विमोचनं विमोचनस्थानं च मन्दुराख्यं वाजिनोऽश्वस्य, कीदृशस्य? रासभस्य जात्यन्तरत्वाद्विशेषणं यथाश्रुतं न सम्भवतीति सकारभकारयोर्व्यत्ययेन रभसशब्दाद्वेगवचनात् **'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'** इति मत्वर्थीयो र्न दृश्यः। रासभस्य वेगवत इत्यर्थः।

प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। एतस्यैव सन्निकर्षलक्षणस्यार्वागर्थस्य प्रातिलोम्यं विप्रकर्षमाहतुः। प्रशब्दस्योदाहरणम्-**'अरण्यान्यरण्यानि'** इति चतुर्दशे व्याख्यास्यते। परा शब्दस्य **'परा याहि'** इति पुरस्ताद् व्याख्यातम्।

अभीत्याभिमुख्यम्। अभिमुखता प्रह्वता। उदाहरणप्रचुरम्। अथापि तु किञ्चित्प्रदर्श्यते-'अभित्वा देवसवितः-मीमहे'। शुनःशेपो यूपेऽवनद्धः सवितारमायुः प्रार्थयते, अभिरित्याख्यातेन सम्बध्यते। त्वा त्वां हे देव सवितः। ईशानमीशितारमायुरादीनां वार्याणां वरणीयानां सर्वार्थानां, सदा अवन् प्रायणादिभ्यः सर्वप्राणिनां सर्वदा रक्षितः भागमंशमाभिमुख्येन ईमहे याचामहे। कस्य भागम्? आयुषः, सामर्थ्यात्। आयुष्मत एव वा। भागशब्दो भजनीयत्वात्। आयुर्याचामह इत्यर्थः।

प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। एतस्याभिमुख्यस्य वैपरीत्यम्। उदाहरणम्-**'यज्ञैरिषूः...भङ्ध्येषाम्'** (ऋ०१०.८७.४)। पायोरार्षमग्निरुच्यते। यज्ञैरिति हेतौ तृतीया, प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा, यज्ञैर्हेतुभूतैः, यज्ञार्थमविघ्नत्वेन यज्ञसिद्ध्यर्थमित्यर्थः। इषूः-इषुस्थानीया अस्त्रयोज्यकाः पुनस्ता आत्मीया ज्वालाः सन्नममानः सन्नमयन् यातुधानान् प्रति प्रह्वीकुर्वन्, हे अग्ने! वाचा वाक्शब्दलक्षया शल्यान् हृदयशल्यकल्पान् तानेव यातुधानान्, अशनिभिः-इषुविशेषणमेतत् **'अशू व्याप्तौ'**, व्याप्त्रीभिः पृथुदीर्घाभिरित्यर्थः, दिहानः दहेरिदं रूपम्, दहन्त्येभिरित्थंभूताभिर्ज्वालाभिः, विध्य-**'व्यध् ताडने'** ताडय हृदये यातुधानान् राक्षसान्, विध्वा च प्रतीचः प्रतीचीनान् विपरीतगतीन् पराङ्मुखानित्यर्थः, बाहून् प्रतिभङ्ग्धि प्रतिमोचय, एषां यातुधानानाम्।

अति सु इत्यभिपूजितार्थे। अतिसू अभिपूजितार्थमाहतुः। 'अतिब्राह्मणः' 'सुराजः'-इति लोके। वेदे च-**'अति त्री सोम०-चोदयः'** (ऋ०९.१७.५)। कश्यपपुत्रस्यासितदेवलापरनाम्न आर्षम्, सोम उच्यते। अत्युपसर्गो 'भ्राजसे' इत्यनेन सम्बध्यते। त्रीणि कानि? सोमवास्तूनि संस्तुतिसामर्थ्यात् सवनानि। अपिशब्दलोपश्चात्र द्रष्टव्यः, त्रीण्यपि सवनानि, हे सोम! रोचना रोचनानि स्वया दीप्त्या दीप्तानीत्यर्थः। रोहन्-यागसाधनभावेनारोहन्, त्रिष्वपि सवनेषु यागसाधनभावं प्रतिपद्यमान इत्यर्थः। न शब्दः संप्रत्यर्थे। भ्राजसे अतिभ्राजसे सम्यक् संस्कारलक्षणया दीप्त्या सुष्ठु शोभनं दीप्यस इत्यर्थः। प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः। 'इष्णन्' इति चानामन्त्रितम्, अत एकवाक्यतायै यत्तदावध्याहार्यौ, यस्त्वमतिभ्राजसे स इष्णन्, **'इष् आभीक्ष्ण्ये'** आभीक्ष्ण्यं च पौनःपुन्यम्, तेन सामर्थ्याद् व्याप्तिर्लक्ष्यते, उक्तेन प्रकारेण व्याप्नुवन् किम्? कृत्स्नं यज्ञमिति शेषः। यज्ञनिर्वृत्तिद्वारेण सूर्यं न सूर्यमिव, यथा सूर्यं चोदयः-चोदितवानसि, तद्वद्दिवं द्युलोकं सामर्थ्याद् यजमानं चोदय प्रेरय गमयेत्यर्थः। सर्वस्यैव ह्युत्कर्षस्य धर्मायत्तत्वात्, धर्मस्य च ज्योतिष्टोमादिसाधनत्वात्, ज्योतिष्टोमादेश्च

सोमसाधनत्वात, सोमस्य सूर्यमिव कर्तारं दिवं गमयेत्येवं स्तुतिरुपपद्यते। सु शब्दः **'सुदेवो असि** (ऋ०८.६९.१२)' इत्यत्र व्याख्यास्यते।

निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। निर्दुरित्येतावतिस्वोः प्रातिलोम्यम्, कुत्सामाहतुः। उदाहरणम्, लोके- निराकृतिः, दुराकृतिः। वेदे-**'यदादीध्ये०'** (ऋ०१०.३४.५)। **निरित्येष समित्येतस्य स्थाने** (निरु०१२.७)' एतस्मिन् प्रदेशे व्याख्यास्यते। दुःशब्दस्योदाहरणम्-**'मा नः समस्य दूढ्यः** (ऋ०८.७५.९)'। एतदपि- **'सीमिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्'** (निरु०१.७) इत्यत्र व्याख्यास्यते। केचित्तु निःसममित्येतस्यार्थवृत्तित्वात् समश्च सम्यक्त्वादिविषयत्वात् पूर्वमनुदाहरणं मन्यन्ते। तेषामुभयवचनत्वेन **'यस्ते गर्भममीवा'** (ऋ०१०.१६२.२) इत्युदाहरणमुपरिष्टाद् व्याख्यास्यते।

न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ। निग्रहो नियमनम्। लोके निगृहीतोऽवरुद्ध इति। वेदे-**'न्योषतात् उदग्ने तिष्ठ'** (ऋ०४.४.४)। वामदेवस्यार्षम्, परा च, उत्तिष्ठ हे अग्ने! उत्थायामित्रान् प्रत्यातनुष्व, आभिमुख्येन तनुष्व विस्तारय, किम्? सामर्थ्याज्ज्योतिः। निशब्द ओषतादित्येतेन सम्बध्यते, विस्तार्य च तेनामित्रानस्मच्छत्रून्, न्योषतात्-**'उष दाहे'** इत्यस्य लोण्मध्यमैकवचने तातङि रूपम्, न्योषतात्-नियम्य दह। तिग्महेते- इति=तिग्मास्तीक्ष्णा ज्वाला हेतिरायुधं यस्य स एव संबोध्यते-हे तिग्महेते! यश्च नः- अस्माकं समिधान दीध्यमान सन्दीप्यमान, अरातिं-मित्रमपि व्युत्थाप्य शत्रुं, चक्रे-करोति, महादुर्जनं नीचा-नीचैः कृत्वा निगृह्येत्यर्थः, तं धक्षि-दह, किमिव? अतसं न-अतसशब्देन काष्ठमुच्यते काष्ठमिव शुष्कमप्रतिबन्धेनेत्यभिप्रायः।

अवेत्यस्योदाहरणम् **'त्वं नो अग्ने वरुणस्य'** (ऋ०४.१.४)। त्वं नोऽस्माकं हे अग्ने! विद्वान् जानन्, किम्? सामर्थ्याद्युक्तताम्, वरुणस्य देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य। हेडः क्रोधनामेदम्। अस्माकमुपरि यो रोषः, तमवयासिसीष्ठाः-यातेर्लिङि व्यत्ययेनात्मनेपदम्, अवगृह्यावनीयायाः, अन्तर्नीतण्यर्थो वा यातिः, अवयावय अवगमयेत्यर्थः। यश्च त्वं यजिष्ठः-अतिशयेन यष्टा, वह्नितमो वोढृतमश्च हविषासे, शोशुचानः-अत्यर्थं दीप्यमानः, विश्वा-सर्वाणि, द्वेषांसि-द्वेष्याणि द्वेष्टॄणि वा रक्षआदीनि, प्रमुमुग्धि-प्रकर्षेण मुञ्च, अस्मत्- अस्मत्तोऽपनयेत्यर्थः।

उदित्येतयोः **प्रातिलोम्यम्**-अनवरोधः, उपसर्गस्तमाह। उदाहरणम्-उच्छ्रित उद्गतः-लोके। वेदे- **'उच्छ्रयस्व वनस्पते'** (ऋ०३.८.३)। विश्वामित्रस्यार्षम्। ऊर्ध्वं श्रयस्व-ऊर्ध्वो भव, हे वनस्पते! वनस्पतिविकारयूप वर्ष्मन्! वर्ष्मशब्दात् परिहाणवचनादन्तर्नीतमत्वर्थात् सप्तम्या लुक् दृष्टव्यः, वर्ष्मवति पर्णाहवति, कस्मिन्? सामर्थ्याद् यूपवटे, पृथिव्याः-वेदिलक्षणायाः, अधि-उपरि मि.......ञ्च, सुमिती- तृतीयायाः पूर्वसवर्णः, सुमित्या शोभमानेन त्रिरत्नस्यालोकानारूपेण चतुररत्निपशुना रूपेणेत्यादि न मीयमानः, वर्चो धाः-वर्चः-ब्राह्मं तेजो धाः-धेहि देहि, कस्मै? यज्ञवाहसे-यज्ञं वहत्यन्तं नयति समापयति देवान् प्रति प्रापयतीति यज्ञवाहा यजमानस्तस्मै।

द्वितीयमुदाहरणम्-**'समिद्धस्य श्रयमाणः'**(ऋ०३.८.२) समिद्धस्य सन्दीप्तस्याहवनीयस्य योऽवटस्तं श्रयमाणः सेवमानस्तत्र प्रक्षिप्तः सन्नित्यर्थः। ब्रह्म स्तुतिलक्षणमनुवचनरूपं, वसानः समभजमानः, अजरं सुवीरं जरावर्जितं नित्यं शोभना वीरा ऋत्विग्यजमानाः कर्तृत्वेन सम्बन्धिनो यस्य तत, प्राप्तव्यैर्वा पुत्रैर्वीरैरुपेतम्, आरे-

दूरनामेदम् (निघ०३.२६), दूरे अस्मदस्मत्तः, अमतिः-अशोभना मतिर्यस्य सोऽमतिस्तं पापमतिदुर्जनं, बाधमानः-अपनयन्, उच्छ्रयस्व-ऊर्ध्वं श्रयस्व उर्ध्वं तिष्ठेत्यर्थः। महते सौभगाय सुभगत्वाय प्रियत्वाय सुधनत्वाय वा, सर्वलोकस्य प्रियाः सुधना वा स्यामेत्येव समर्थमित्यर्थः।

समित्येकीभावमाह। लोके-सङ्गतौ ग्रामौ। वेदे-'**सं गच्छध्वं०** (ऋ०१०.१९१.२)'। संवननस्यार्षम्। संगच्छमानानां ज्ञातीनां संवननसूक्तमेतत्। अत्र च सुखप्रतिपत्त्यर्थं दृष्टान्तत्वेनापरो धर्मः प्रथमं प्रदर्श्यते। देवाः पूर्वे यज्ञाङ्गभूता भागं स्वं स्वं संजानानाः सङ्गता जानन्तो यथोपासते दीयमानं प्रतीक्षन्त इत्यर्थः, एवं हे ज्ञातयः! संगच्छध्वम्-एकीभवत, संवदध्वम्-असद्भाषणं परित्यज्य संवादं कुरुत, सं वो मनांसि जानताम्-सममपि संवादेन वो युष्माकं मनांसि ज्ञातव्यं जानतां बुद्ध्यन्ताम्, यथा देवास्तथैकचित्ता भवतेत्यर्थः।

व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। विष्वग्भावमाहतुः, विगता विष्वग्भूता इत्यर्थः। वेदेऽपि-'**वि शत्रून् ताळिहि**' (ऋ०१०.१८०.२) '**आराच्छत्रुमप बाधस्व**' (ऋ०१०.४२.७) इति मन्त्रावुपरिष्टाद् व्याख्यास्येते।

अन्विति सादृश्यापरभावम्। अपरभावः पश्चाद्भावस्तमाह। अनुरूपमस्येदमिति सादृश्यम्। अनुगच्छतीत्यपरभावः।

अपीति संसर्गम्। संसर्गः समुच्चयोऽभिप्रेतः। अपि सिञ्च अपि स्तुहि, सिञ्च स्तुहि चेत्यर्थः। वेदे-'**ग्रीवायां बद्धो अपि** (ऋ०४.४०.४)। इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यते।

उपेत्युपजनम्। उपजनमुपचय उपधानमुपकारः। वेदे-'**उप बर्बृहि वृषभाय**' (ऋ०१०.१०.१०) इति। नैगमे व्याख्यास्यते मन्त्रः।

परीति सर्वतोभावम्। लोके-परिषिञ्चेदिति। वेदे-'**परीतो षिञ्चता सुतम्**' (ऋ०९.१०७.१) इति। अद्रिभिः सप्तर्षीणामार्षम्। '**सोमो य उत्तमं हविः**' इत्युद्देशार्थम्। यच्छब्दश्रवणादुद्दिष्टस्य च प्रतिनिर्देष्टव्यत्वात्। तच्छब्दमध्याहृत्य प्रथमः पादः पश्चाद् योजयिष्यते। हविषां मध्ये यः सोम उत्तममतिशयेनोत्कृष्टं हविर्दधन्वान् श्रवणेन दधन्वान् यो हविष्यति नर्यो नृभ्यो मनुष्येभ्य ऋत्विग्यजमानेभ्योऽभिलषितफलसाधनत्वेन हितः, अप्स्वन्तः-अपां वसतीत्यर्थे कथनाल्लक्षणानां मध्ये, आसुषाव-व्यत्ययेनायं कर्मणि कर्त्तृप्रत्ययो लिट्, सोममिति च प्रथमार्थे द्वितीया, आसुषाव-अभिमुख्येन सुतोऽभिषुतः सोमोऽद्रिभिरभिषवग्रावभिस्तं परितः सिञ्चत। ऋत्विजामेष प्रैषः, इतो दृशा पवित्रान् परिषिञ्चत सर्वतः क्षारयतेत्यर्थः। सुतमभिषुतं सन्तम्। तथा-'**इन्द्रायेन्दो परि स्रव**' (ऋ०८.९१.३) इत्युदाहरणम् '**उपलप्रक्षिणि**' इत्यत्र व्याख्यास्यते।

अधीत्युपरिभावम्। अधितिष्ठति, अध्यास्ते। वेदे-'**पवमाना दिवस्प० सानवि**' (ऋ०९.६३.२७)। निध्रुवे कश्यपपुत्रस्यार्षम्। अत्रेतिहासमाचक्षते-गायत्री वै श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरद्' इति। तदनेन मन्त्रेण सोमाहरणमुच्यते। पवमानाः-पवमानशब्दोऽत्र सोमवचनः। पवतेर्गतिकर्मणः। तत्र तत्र पवमानाद् गमनात् पवमानाः सोमाः। '**जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम्** (अष्टा०१.२.५८)', व्यत्ययेन वा। पवमानः सोमो दिवः प्रथमं द्युलोकात् परीत्युपसर्गोऽसृक्षतेत्याख्यातेन संबध्यते। ततः क्रमेणान्तरिक्षादसृक्षत, सृजेः कर्मणि बहुवचनमेतत् लुङि रूपम्, '**असर्जिषत पवमाना**' इत्येतत्सम्बन्धाच्चैतदपि बहुवचनमेकवचनस्यैव स्थाने। असर्जि सृष्टः, अपहृत्य श्येनरूपया गायत्र्या मुक्त इत्यर्थः। क्व? उच्यते-पृथिव्यामधि-उपरि, सानवि-सानुः

समुच्छ्रितं भवति, समुच्छ्रिते पर्वतवनस्थल्यादौ प्रदेशे। अथवा दिवो द्योतनाद् दशापवित्रान्-अन्तरेमे द्यावापृथिवी क्षियतीति-तदेवान्तरिक्षम्, तस्मात् पृथिव्या वेदिलक्षणाया उपरि समुच्छ्रिते हविर्धानदेशे। ऐश्वर्यम्-आचष्ट इति शेषः। ऐश्वर्ये-अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाल्यः। छन्दसि मृग्यमुदाहरणम्।

एवमुच्चावचानर्थान्प्राहुस्त उपेक्षितव्याः।

इत्याचार्यमहेश्वरकृतायां निरुक्तभाष्यटीकायां
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः

अथ द्वितीयः पादः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्त्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः। तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्तीति। इवेति भाषायां चान्वध्यायं च '**अ॒ग्निरि॑व। इन्द्रं॑ इव**' (ऋ०१०.८४.५; १६६.२; १७३.२) इति नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वधायं '**नेन्द्रं॑ दे॒वम॑मंसतेति**' (ऋ०१०.८६.१) प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। '**दु॒र्मदा॑सो॒ न सुरा॑याम्**' (ऋ०८.२.१२) इत्युपमार्थीय उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपममिमीते। चिदित्येषोऽनेककर्माचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्। आचार्यः कस्मादाचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा। दधिचिदित्युपमार्थे। कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। नु इत्येषोऽनेककर्मेदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे। कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे नन्वेतदकार्षीदिति चाथाप्युमार्थे भवति। '**वृ॒क्षस्य॒ नु तें॑ पुरुहूत व॒याः**'। (ऋ०६.२४.३) वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखा वयाः शाखा वेतेर्वातायना भवन्ति शाखा खशयाः शक्नोतेर्वा। अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते नत्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः। चेति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते '**अ॒हं च॒ त्वं च॑ वृत्रह॒न्।** (ऋ०८.६२.११) इति। एतस्मिन्नेवार्थे '**दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ आ**' (ऋ०१०.१६.११) इत्याकारः। वेति विचारणार्थे। **हन्ता॒हं पृ॑थि॒वीमि॒मां नि द॑धानी॒ह वे॒ह वा॑।** (ऋ०१०.११९.९) इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति॥४॥

भाष्यटीका

अथ निपाताः। उक्ते नामाख्याते। उपसर्गाश्च। अनन्तरं निपाता वक्ष्यन्ते। **उच्चावचेष्वित्यादिना।** त उच्चावचेष्वनेकप्रकारेषु प्रतिपाद्येष्वर्थेषु प्रतिपादकत्वेन निपतन्ति वर्तन्त इत्यर्थः। तेषामर्थप्रदर्शनार्थमुच्यते- **अप्युपमार्थ** इत्यादि। अपि शब्दः समुच्चये, उपमायां चार्थे कर्मोपसङ्ग्रहे च पादपूरणाश्चेत्यर्थः। **तेषाम्**-इव, न, चित्, नु-**इत्येते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेत्ययं** तावद्भाषायां **चान्वध्यायं च**। भाषा लोकः, अन्वध्यायमित्यध्यायशब्दः-'**अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च**' (अ०३.३.१२२) इति करणाधिकरणयोर्निपात्यते। वेदश्च यद्यप्यध्ययनस्य कर्म, तथापि कर्मणः क्वचित्करणेन विवक्षा दृश्यते, ओदनेन भुङ्क्ते इति। अतोऽत्र करणत्वेन विवक्षिते वेदे वर्त्तते। तस्यानुशब्देन सप्तम्यर्थे-'**अव्ययं विभक्ती**'त्यव्ययीभावः। अधिस्त्रीति यथा। नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः। एवं विगृह्यार्थः प्रदर्श्यते-अध्यायेऽन्वध्यायमिति समासात्। सप्तम्या- '**नाव्ययीभावदतः**' (अष्टा०२.४.८३) इत्यम्भावः। लोके वेदे चेत्यर्थः। **अग्निरिवेन्द्र इवेति,** उभयत्रोदाहरणे। लोके-अग्निरिव दीप्तः, इन्द्र इव विक्रान्त इति। वेदे-**अ॒ग्निरि॑व मन्यो---नुदस्व**' (ऋ०१०.८४.२)। मन्योरार्षम्। यथाग्निस्त्विषितो दीप्तः सन् सर्वमभिभवति, एवं त्वं हे मन्यो! सहस्व,'**षह मर्षणे**' अभिभवे च छन्दसि, अभिभवाऽस्मच्छत्रून्, तदर्थं सेनानीः सेनापतिर्नोऽस्माकं हे सहुरे! अभिभवनशील! त्वमाहूतः सन्नेधि भव,

हत्वाय '**क्त्वो यक्** (अष्टा०७.१.४७) शत्रून्, विभजस्व वेदस्तदीयं धनं, अस्मदीयसैनिकानामोजो बलं मिमानो यो महाबलस्तस्मै बहु देहि, योऽल्पबलस्तस्मा अल्पमित्यर्थः। अथवा '**ओजो मिमान**' इत्यस्य परेण '**विनुदस्व**' इत्यनेन सम्बन्धः। ये केचिद्धतशिष्टास्तेषां बलं मिनानः, इह यदि बलवन्त आसीनाः पुनरप्यस्माभिः सह संग्रामं कर्तुं समर्थास्तत एनान् विनुदस्व विविधं प्रेरय, इतस्तानपनयेत्यर्थः। मृधः-मृध इति संग्रामनाम, मृधः करोति 'तत्करोति' इति णिच्, ण्यन्तात् क्विप्, मृधः-सङ्ग्रामकारकान् मृधो हतशिष्टान् सङ्ग्रामकारिण इत्यर्थः।

अन्यदुदाहरणम्-'**इहैवैधि---धारय**' (ऋ०१०.१७३.२)। ध्रुवस्यार्षम्। राजाभिषिक्त उच्यते। इहैव राज्ये एधि भव, अतो मापच्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः, अचलोऽत्र इन्द्र इव चेदं सर्वमुपभुञ्जान इह राष्ट्रे ध्रुवस्तिष्ठ, इहैव च भूमौ विभूताववविनाशयन्निदं राष्ट्रं, उ इति पदपूरणः, धारय।

नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। प्रसिद्ध एव, न पचति न गच्छतीति। प्रसङ्गेन चेदमेव तस्य परयोश्च 'चित्, नु' इत्येतयोरर्थान्तरवचनम्। '**तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति**' इति केवलस्योपमार्थीयवचनस्य प्रतिज्ञातत्वात्, '**उभयमन्वध्यायम्**' इति प्रतिषेधार्थीयश्चोपमार्थीयश्च। प्रतिषेधार्थीयस्योदाहरणम्-'**नेन्द्रं॑ दे॒वम॑मंसत**' (ऋ०१०.८६.१) इति उपमार्थीयस्योदाहरणम्-'**दु॒र्मदा॑सो॒ न सुरा॑याम्**' (ऋ०८.२.१२) इति। कीदृशः पुनः प्रतिषेधार्थीयः? कीदृशश्चोपमार्थीयः? उच्यते-प्रतिषेधार्थीयः, पुरस्तादुपचारस्तस्य, उपचारः प्रयोग उच्यते, यत्प्रतिषेधति तस्य पुरस्तात्प्रयोगो यस्य स प्रतिषेधार्थीयः। यथा- '**नेन्द्रं॑ दे॒वम॑मंसत**' (ऋ०१०.८६.१) इति। अत्रामंसतेत्यस्य पुरस्तान्नेत्यस्य प्रयोगः।

उपमार्थीयः-उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते-यदुपमानम्, तस्योपरिष्टात् प्रयोगो यस्य स उपमार्थीयः। यथा-'**दु॒र्मदा॑सो॒ न**' (ऋ०८.२.१२) इति। '**वि हि सो॒तोः**' (ऋ०१०.८६.१) इति सप्तदशे मन्त्रः पठितः, स तत्रैव व्याख्यास्यते। इतरस्तु व्याख्यायते-'**हृ॒त्सु पी॒तासो॑---जंरन्ते**' (ऋ०८.२.१२)। मेधातिथिप्रियमेधयोरार्षम्। हृदयेष्ववस्थिताः पीतासः पीताः सन्तः सोमा युध्यन्ते सम्यक्-संस्कारसंस्कृतत्वात् प्रमत्तत्वाच्च, अहं विशिष्टोऽहं विशिष्ट इत्येवं सङ्घर्षेण युध्यन्त इव, दुर्मदासो न-यथा दुर्मदाः पुरुषाः सुरायाम्,'**यस्य च भावेन भावलक्षणम्** (अष्टा०२.३.३७) इत्येषा सप्तमी, यच्छुतेश्च लक्षणभूतयोगयक्रियापदाध्याहारः सुरायां पीतायामिति तद्वत्। ऊधर्न-ऊध इति रात्रिनाम, भोगकालत्वाद्रात्रौ नग्नाः संभोगप्रवृत्ताः पुमांस एवं जरन्ते स्तुवन्ति। कम्? सामर्थ्याद्दातारं यजमानं दातारमिन्द्रं वा।

चिदित्येषोऽनेककर्मा। कर्मशब्दोऽत्र निरुक्ते सर्वत्रार्थपर्यायः, अनेकार्थ इत्यर्थः। **आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्**। आचार्येण कस्मिंश्चिदशक्येऽर्थ उक्ते यदोच्यते-'**आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति**' तदास्य पूजा गम्यते, आचार्य इदं वक्तुं शक्नुयान्नान्य इति यासौ पूजा तस्याश्चिच्छब्दः।

दधिचिदित्युपमार्थे। दधिचित् तक्रं दधिचित्कुन्दपुष्पपिटकं दधिसदृशमित्यर्थः। इदं लौकिकमुदाहरणम्। वैदिकं तु-'**नि॒खा॑तं चि॒द्यः**(ऋ०८.६६.४) **कु॒मा॒रश्चि॑त्पि॒तरं॒ वन्द॑मान॒म्** (ऋ०२.३३.१२) **शुनश्चि॒च्छेप॑** (ऋ०५.२.७)' इत्यादि प्रचुरं दर्शयितव्यम्, एकं दर्शयामः-'**नि॒खा॑तं चि॒द्यः---य॒था॒ वंशत्**' (ऋ०८.६६.४)। **कलेरार्षम्**। निखातं चित् निखातमिव य पुरुः बहु संभृतं वसु धनमुदिद्वपति। इदिति पदपूरणम्। उद्वपति-

उत्किरति स्वस्माद् भाण्डागारात्, दाशुषे-'दाश्वान्' इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्। **'हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थापय'** इति श्रुतेः। स इत्यध्याहार्यम्। स व्रजी सुशिप्रः,**'शिप्रे हनू नासिके वा** (निरु० ६.१७)', सुहनुः सुनासो वा, हर्यश्वः-हरी अश्वौ यस्य सः। इदिति पदपूरणम्। करत्-करोति, यत्कर्त्तव्यं तत्कुर्वन्न केनचित् प्रतिबद्धुं शक्यत इत्यर्थः, इन्द्रः क्रत्वा कर्मणैव न वाङ्मात्रेण यथावशत् यथा कामयते।

कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते। कुत्सितमेवापकुत्सितम्। यदात्यन्तं बुभुक्षितः कश्चिन्मृष्टमन्नं मांसौदनादि सिध्यत् प्रतीक्षितुमशक्नुवन् ब्रवीति-**कुल्माषांश्चिदाहरेति** तदा मृष्टान्मांसौदनादेः कुत्सितत्वं कुल्माषाणां गम्यते। यत्तत् कुत्सितत्वं तत्र चिच्छब्दः। प्रदर्शनार्थं चेदं चिच्छब्दस्य पूजादीनामुपादानम्, समुच्चयेऽपि ह्ययं दृश्यते-**अ॒द्या चि॒न्नू चि॒त्तदपो॑ न॒दीना॑ं** (ऋ०६.३०.३)। **अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनामिति** (नि०४.१७)। तथा अप्यर्थे-'**स॒द्यश्चि॒द्यः शव॑सा॒** (ऋ०१०.१७८.३)' इत्यत्र सद्योऽपि यः शवसा बलेनेति।

नु इत्येषोऽनेककर्मा। इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे। कस्मादद्य देवदत्तः प्रातरेव भुङ्क्ते इत्युक्ते यदोच्यते-ग्रामं नु गमिष्यतीति-तदा ग्रामगमनस्य हेतुत्वं गम्यते, यस्माद् ग्रामं गमिष्यति तस्मात् प्रातर्भुङ्क्ते इति, तस्य व्यपदेशे नु शब्दः।

कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे। पृष्टं प्रश्नः, पृष्टमेवानुपृष्टं तस्मिन्ननुपृष्टे प्रश्न इत्यर्थः। यदा हि-'यास्यत्यसौ न यास्यती'ति सन्देहे कश्चिद् ब्रवीति-'**कथं नु करिष्यतीति**' तदा प्रश्नो गम्यते, तस्मिन्नु शब्दः। '**नन्वेतदकार्षीदिति च**' द्वितीयमुदाहरणम्। तत्र न प्रतिषेधे नु प्रश्ने। यदा हि-ग्राममगमत् देवदत्त इति कुतश्चित्प्रत्ययिताच्छ्रुतेः, आगते देवदत्ते यदाचरितव्यं तदाचरन्तं किञ्चिद् दृष्ट्वा कश्चिद् ब्रवीति-ननु देवदत्तो ग्राममगमदिति, तदा-किं देवदत्तो ग्रामं नागमदिति प्रश्नो गम्यते, तस्मिन्नुशब्दः।

अथाप्युपमार्थे भवति। '**वृ॒क्षस्य॒ नु**' (ऋ०६.२४.३), '**अक्षो॒ न च॒क्र्योः॑**' (ऋ०६.२४.३) इत्यादि भारद्वाजस्यार्षम्। अक्षो न-यथाक्षः, चक्रयोश्चक्रयोः सकाशात् हे शूर! बृहन्! अन्तरेणापि भावप्रत्ययं बृहत्वेऽयं बृहच्छब्दः, बृहत्त्वं महत्त्वं देवैश्वर्यलक्षणं, ते तव स्वभूतं, मह्ना-अयमपि महत्त्वे महच्छब्दः, महत्त्वेन, प्ररिरिचे-प्रेत्येषो तीत्येतस्य स्थाने, विरिरिचेऽतिरिच्यते। रोदस्योः द्यावापृथिव्योः सकाशाद् विनिर्भिद्य द्यावापृथिव्यौ तयोः परतोऽप्यस्तीत्यर्थः। अथवा बृहन्नित्यक्षस्य विशेषणम्, मह्नेत्यपि प्रथमार्थे तृतीया, महान् योऽक्षः स यथाऽतिरिच्यते, एवं तव महत्त्वम्। किञ्च '**वृक्षस्य नु**'-वृक्षस्य वयाः शाखा एते तव स्वभूता हे पुरुहूत! बहुभिराहूत! त्वयि धनमददति दारिद्र्यादस्मास्वयजत्स्विदानीं तवानागमनादूतयोऽस्मद्यज्ञागमनमार्गा विरुरुहुर्विरूढास्तृणादिभिराच्छादिता इत्यर्थः। हे इन्द्र! पूर्वीः पूर्वे-यैस्त्वमतीते काल आगतवानसि। **वयाः शाखा वेतेः** गत्यर्थस्य। ता हि वृक्षस्य स्कन्धतो जनित्वा तिरश्चीना अन्तरिक्षे गच्छन्ति, '**वातायना भवन्ति**' इति-द्वितीयं निर्वचनम्, वातोऽयनो यासां वातेन याश्चाल्यन्त इत्यर्थः। वातायनाः-पृषोदरादित्वाद् '**वा**' शब्दस्य ह्रस्वत्वेन '**ता**' शब्दस्य च लोपेन नकारस्य च वया उच्यन्ते। यथाऽत्रैतदस्माभिर्दर्शितमेवं सर्वत्र निर्वाच्येऽर्थे दर्शिते तद्वचनस्य शब्दस्य वर्णानां पृषोदरादित्वाल्लोपविकारविपर्ययादिना यथारूपसिद्धिस्तद्दर्शयितव्यम्, ग्रन्थगौरवभयात्रास्माभिर्दर्शयिष्यते। '**शाखाः खशयाः शक्नोतेर्वा**' इति। वया


146374

इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमुपात्तस्य शाखाशब्दस्य प्रसङ्गेनैते निर्वचने। शाखाः-वृक्षस्य स्कन्धतो जनित्वा ख आकाशे शेरते व्यवतिष्ठन्ते, शक्नुवन्ति च पक्षिणः स्वं च पुष्पफलं धारयितुम्।

एवं चत्वार उपमार्थीया उक्ताः। प्रसङ्गेन चैषामर्थान्तराण्यपि। इदानीं कर्मोपसंग्रहार्थीयाः-**'च, आ, वा, अह, ह, उ'** इत्येते षडुच्यन्ते। तेषां सामान्येन तावद्रूपं प्रदर्श्यते-**'अथ यस्य'** इत्यादिना। अस्य ग्रन्थस्य केनचिट्टीकाकारेण कश्चिदर्थो व्यावर्णितः। तस्मिन् यदि कौतूहलं तत् तद्ग्रन्थादेवावगन्तव्यम्। वयं त्वस्य यमर्थं व्याख्यास्यामः, तस्य विशुद्ध्यर्थमिदं तावदाचक्ष्महे-**निपातः सर्वः पदाश्रयधर्मप्रतिपादनार्थः**। स कश्चिदेकाश्रयस्य धर्मस्य प्रतिपादकः-इवादिरुपमानत्वादेः, कश्चिदनेकाश्रयस्य धर्मस्य प्रतिपादकः, वादिः समुच्चयादेः। स एकाश्रयवचनाद्धर्मिशब्दात्परः श्रूयमाणोऽयं धर्मः समुच्चयादिं प्रतिपादयति, तस्य द्वितीयेनाश्रयेण विनानुपपत्तेः। तच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वेन तमाक्षिपति। स आक्षिप्तो यद्यपि क्वचित् स्वशब्देनोपादीयते-**'अ॒हं च॒ त्वं च॑'** (ऋ०८.६२.११) इति। क्वचिन्न-**'इन्द्र॑श्च विष्णो॒ यदप॑स्पृधेथाम्'** (ऋ०६.६९.८) इति, तथाप्युभयत्र तस्याक्षेपकत्त्वाविशेषान्निपातः कर्मोपसङ्ग्रह इत्युच्यते। कथम्? **अर्थो द्वितीय आश्रयः, उपसंगृह्यत आक्षिप्यते यः स उपसङ्ग्रहः, कर्म उपसङ्ग्रहो यस्य स कर्मोपसङ्ग्रहः**। द्वितीयस्याश्रयस्याक्षेपकः। एतमर्थम्-अथ यस्येत्यादिना वचनकेन प्रतिपादयति। यस्य निपातस्यागमात् श्रवणाद् **'अर्थपृथक्त्वम्'** इति भावप्रत्ययान्तमेतत्, तद्वदुपलक्षणार्थम्, **'वत्सांसाभ्यां कामबले'** (अ०५.२.९८) इति यथा। कश्च तद्वान् योऽस्य भावप्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थः, कश्चासौ पृथग्भूतोऽर्थः? अत आह-**अर्थपृथक्त्वमि**ति, अस्य पृथग् भूतोऽर्थ इत्यर्थः। स कः? समुच्चयादेर्द्वितीय आश्रय आश्रयान्तरात् पृथग्भूतत्वात्। **'अह विज्ञायते'**। अहेति विनिग्रहार्थीय एव शब्देन समानार्थः, **'विज्ञायते'** इत्येतस्माच्च परो दृष्टव्यः, विज्ञायत इति। यत्र च स्वशब्देनोपादीयते-**'अ॒हं च॒ त्वं च॑'** (ऋ०८.६२.११) इति। यत्र च नोपादीयते-**'इन्द्र॑श्च विष्णो॒** (ऋ०६.६९.८)**'** इति, उभयत्र विज्ञायत इत्यर्थः। यदि विज्ञायतेऽर्थः, एवं तर्हि कस्यासावेवं तन्निवृत्त्यर्थमाह-**'न त्वौद्देशिकमिव'** इति। उद्दिशत्यर्थमित्युद्देशः, तस्मिन् भव औद्देशिकः, यथाभिधेयस्तथासौ न भवति, अभिधेयो न भवतीत्यर्थः। तस्माद् **विग्रहेण पृथक्त्वात्** विग्रहो रूपं शरीरमिति पर्यायाः। रूपेण पृथग्भूतत्वादित्यर्थः। समुच्चयो हि यस्यार्थः स च तदाश्रयरूपेण पृथग्भूतः, अतस्तदाश्रयरूपं न चास्याभिधेयम्, अभिधेयस्य तु समुच्चयस्य तेन विनाऽनुपपत्तेः। स विज्ञायत ईदृशो यो निपातः-**'स कर्मोपसङ्ग्रहः'**। उदाहरणम्-

चेति समुच्चयार्थः उभाभ्यां समुच्चीयमानाभ्यां सह प्रयुज्यते-**'अ॒हं च॒ त्वं च॑** (ऋ०८.६२.११)**'**ति। अत्र **उभाभ्यां संप्रयुज्यत** इति ब्रुवन्नन्यत्रैकेनापि संप्रयुज्यत इति गमयति। तद्दर्शयिष्यामः।

अ॒हं च॒---रा॒तयः (ऋ०८.६२.११)। प्रगाथस्यार्षम्। अहं च त्वं च हे वृत्रहन्! वृत्राऽसुरो मेघो वा, तस्य हन्तः! संयुज्याव-संयुज्यावहै, सनिभ्य आ-सनिर्लाभार्थः, आलाभेभ्यः, यावन्मया धनानि लब्धानीत्यर्थः। कस्मात्? उच्यते, यस्माद् **'अरातीवा चित्'** अदानवानपि=अदानशीलोऽपीत्यर्थः। हे अद्रिवः! अद्रिर्ग्रावा, तद्विकारत्वाद्वा दारणाद्वा, तद्वन्नौ=आवाभ्यां हे शूर! अनुमंसते=अनुमंस्यते दानमिति वाक्यशेषः। त्वत्संयुक्ताय मह्यं दास्यतीत्यभिप्रायः। कस्मात्? उच्यते, यस्मात्-भद्राः कल्याण्यस्तवेन्द्रस्य रातयस्तव दानानि कल्याणान्याश्रितोप- कारकत्वादतस्त्वत्तः प्रार्थयमानानस्माननुमंस्यत इत्यर्थः। एकेन सह यत्र प्रयुज्यते, तदा

यस्येत्यस्य वचनस्य यथोक्तार्थविवेकार्थं दर्शयामः-'**उभा जिग्यथुः--- ऐरयेथाम्** (ऋ०६.६९.८) भारद्वाजस्यार्षम्। उभौ तावत्संप्रयुक्तौ जिग्यथुः, न पराजयेथे-न पराजीयेथे केनचित्, न पराजिग्येन पराजीयते, कतरश्चन-नेदं किमोरूपम्, एकतरशब्दस्यायं छान्दस एकारलोपः, चन शब्दोऽप्यर्थे, एकतरोऽपि; एनोरेतयोर्भवतोरिन्द्रविष्णवोः, किं चेन्द्रश्च। यस्य समुदायार्थस्य श्रुतेः, समुच्चयस्य द्वितीयेन समुच्चीयमानेन विनाऽनुपपत्तेः, त्वं चेति वाक्यशेषः। इन्द्रश्च त्वं च हे विष्णो! यद्यदाऽपस्पृधेथां स्पर्धेथे शत्रुभिः सह, त्रेधा-त्रिशब्दोऽत्रानेकत्वप्रतिपादनार्थः, अनेकधा सहस्रं सहस्रमपि शत्रूणां तत्तदैरयेथां विविधमीरयथस्तारापथ इत्यर्थः। एवमत्र चेति समुच्चयार्थः। इन्द्रश्चेत्येकेन समुच्चयस्याश्रयेणेन्द्रेण सह संप्रयुज्यते, द्वितीयस्तु विष्णुस्तेनाक्षिप्यते।

एतस्मिन्नेव समुच्चयार्थे '**दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ आ** (ऋ०१०.१६.११) इत्याकारः। योऽग्निः कव्यवाहनः, कव्यं पितृदेवत्यं हविस्तस्य वोढा, पितृन् यक्षत् यजतु, ऋतावृधः-ऋतं सत्यमुदकं यज्ञो वा तस्य वर्धयितॄन्, य इति श्रुतेः स इत्यध्याहार्यः, इत्, उ, इति पदपूरणौ, हव्यानि हवींषि, वोचतु ब्रवीतु, अमुष्य यजमानस्यैतानीति तत्र मन्त्र-देवेभ्यश्च पितृभ्यश्चेति।

वेति विचारणार्थे। विविधा चारणा विचारणा, अनेकं प्रदर्श्य तत्र यथाकाम्यं वचनम्। '**हन्ता॒हं---अपा॒मिति॑** (ऋ०१०.११९.९)। लबरूप इन्द्रः। अल्पेन सता त्वया कस्माद् बहुसोमः पीतः? इत्यृषिभिरभिहितः स्वसामर्थ्यमाचष्टे। **हन्तेति**-संभावनायामनुज्ञायां वा, संभावयतानुजानीत वा। **अहं पृथिवीमिमां** स्वस्मात् स्थानादुद्धृत्य **निदधानीह वेह वा**। एकेनेह शब्देनान्तरिक्षं प्रतिनिर्दिश्यतेऽन्येन द्यौः, हस्तौ वा सव्यो दक्षिणं च, स्कन्धौ वा। अन्तरिक्षादीनां यत्र कामयध्वे तत्रेत्यर्थः। कुविद् बहु सोमस्यापां पीतवानहम्, हेताविति, हन्तीति पालयत इति यथा। अतो हेतोरतिशयवतः सामर्थ्यादित्यर्थः।

अथापि समुच्चयार्थे भवति।

अथ पञ्चमः खण्डः।

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा। (तै०सं०१.७.७.२; कपि०सं०१३.१४) इति। अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ। पूर्वेण संप्रयुज्येते। 'अयमहेदं करोत्वयमिदम्'। 'इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति'। अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण। 'मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीति'। अथापि पदपूरणः। '**इदमु**'। (ऋ०४.५१.१) '**तदु**'। (ऋ०१.६२.६) हीत्येषोऽनेककर्मा। 'इदं हि करिष्यति'। इति हेत्वपदेशे। 'कथं हि करिष्यति'। इत्यनुपृष्टे। 'कथं हि व्याकरिष्यति'। इत्यसूयायाम्। किलेति विद्याप्रकर्षे। एवं किलेति। अथापि न ननु इत्येताभ्यां संप्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। 'न किलैवम्'। 'ननु किलैवम्'। मेति प्रतिषेधे। 'मा कार्षीः'। 'मा हार्षीः'। इति च। खल्विति च। खलु कृत्वा। खलु कृतम्। अथापि पदपूरणः। एवं खलु तद् बभूवेति। शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। शश्वदेवम्। इत्यनुपृष्टे। एवं शश्वत्। इत्यस्वयं पृष्टे। नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्।

उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार। स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे॥५॥

भाष्यटीका

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।

ते अग्रे अश्वमायुंजंस्तेऽस्मिन् जवामादधुः॥ (तै० सं० १.७.७)

वाजपेये विनियुज्यते। तत्र रथे नियुज्यमानोऽश्व उच्यते। वायुश्च त्वां मनुश्च त्वां गन्धर्वाश्च सप्तविंशतिः। जवं च भूरिवेगं चादधत्विति वाक्यशेषः। कस्मात्? उच्यते, यस्मात्ते, अग्रे-पूर्वस्मिन् कालेऽश्वमायुञ्जन्, त एवास्मिन्नप्यश्वे जवं वेगमादधुराहितवन्तः। प्रदर्शनार्थं चेदं 'वा' शब्दस्य विचारणायां समुच्चये चोपादानम्, विकल्पसंशयपक्षव्यावृत्त्यावृत्यादिष्वपि दर्शनात्।

अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ। विनिग्रहो नियमः, नियमार्थीयौ, एवं समानार्थीयौ पूर्वेण संप्रयुज्यते। **'अयमहेदं करोत्वयमिदम्'** इति, अह शब्दस्योदाहरणम्। देवदत्तोऽह ग्रामगमनं करोतु यज्ञदत्त ओदनपाकम्। देवदत्त एव ग्रामगमनं करोतु, न यज्ञदत्तोऽपि देवदत्तेन सहेत्यर्थः। **'इदं ह करिष्यति'** इति हशब्दस्योदाहरणम्। ग्रामगमनं ह करिष्यति, ओदनपाकं न करिष्यतीति-ग्रामगमनमेव करिष्यति, नोभयं नाप्योदनपाकमेवत्यर्थः। एते लौकिक उदाहरणे। वैदिकेऽपि, अहशब्दस्य तावत्-**'आदहं स्वधा---युज्ञियम्** (ऋ०१.६.४)'। मधुच्छन्दस आर्षम्, मारुतीयमृक्। आदित्ययमथपर्याय आनन्तर्ये, अहेति विनिग्रहार्थीय एवशब्देन समानार्थः। अनन्तरमेव स्वधां-**स्वधेत्युदकनाम** (निघ०१.१२), उदकमनु पश्चात्, कस्य? सामर्थ्याद् वृष्टेः पश्चादनन्तरमेव तदुदकमित्यर्थः। किं कुर्वन्ति? उच्यते-पुनर्गर्भत्वमेरिरे। **'ईर गतौ'** इत्यस्य ण्यन्तस्येदं रूपम्, पुनर्गर्भत्वं गमयन्ति मरुतः। एतदुक्तं भवति-वार्षिकांश्चतुरो मासान् वर्षित्वाऽनन्तरमेवाष्टौ मासांस्तदुदकं रश्मिभिः प्रत्याहृतमागामिनि संवत्सरे पुनर्गर्भत्वमापादयन्ति मरुत इति। दधाना धारयन्तोऽन्तरिक्ष आदित्यमण्डले वा, उदकनामैतत्, तदेवोदकं यज्ञसंपादि। एवमत्रार्थान्तरस्यासंभवात् सत्यां च गतावानर्थक्यात् पदपूरणत्वस्यान्याय्यत्वादहशब्दो विनिग्रहार्थीय एवशब्देन समानार्थक इत्युपपन्नम्। हशब्दस्योदाहरणम्-**'नार्कस्य पृष्ठे०-० सदा'** (ऋ०१.१२५.५)'। दानस्तुतिः, कक्षीवत आर्षम्। नाको द्यौस्तस्य पृष्ठे स्वर्गाख्ये तिष्ठति, अधिशब्दस्तु पादपूरण ऐश्वर्ये वा। श्रितः, तत् कः? यः पृणाति देवान् ददाति, स ह-स एव देवेषु देवानां मध्ये गच्छति देवो भवतीत्यर्थः। किञ्च तस्मै तदर्थमापो वृष्टिलक्षणाः, **घृतमुदकमनामैतत्** (निघ०१.१२), तदुदकमात्मैकदेशभूतं वर्षन्ति सिन्धवः स्यन्दन स्वभावा वृष्टिलक्षणाः पतन्तीत्यर्थः। तस्मा एव चेयं दक्षिणा, इदं दानं पिन्वते, **'पिवि सेचने'** सिञ्चति प्रभूतान् कामान् वर्षति ददातीत्यर्थः। सदा नित्यमेव। अत्राप्यर्थान्तरस्यासंभवात् पदपूरणस्य चान्याय्यत्वात् ह शब्दो विनिग्रहार्थीय एव शब्देन समानार्थ इत्युपपन्नम्।

ननु च यौ पूर्वेण संप्रयुज्येते तौ विनिग्रहार्थीयौ, न चेतौ पूर्वेण संप्रयुज्येते, पूर्वस्याभावात्। कथमभावः? पूर्वस्योत्तरापेक्षत्वादुत्तरस्य चेहाभावात्। उच्यते-यद्भाष्यकारेण स्वयमेवोदाहरणमुपात्तं लौकिकम्-**'अयमहेदं करोत्वयमिदम्'** इति, तस्मिन् पूर्वेण संप्रयोगं दर्शयितुं 'पूर्वेण संप्रयुज्येते' इत्युक्तम्। न पुनः पूर्वेण सह

प्रयोगस्याभावे विनिग्रहार्थीयत्वस्याभावोऽभिप्रेतो वेदे, दृश्यमानत्वात्। अथवाऽत्रापि यो नियमेन व्यावर्त्यते स भवत्युत्तरः। 'आदह'- अनन्तरमेव कालान्तरेण। यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति नान्य इति सामर्थ्याक्षिप्त उत्तरोऽस्ति, तदपेक्षः पूर्वव्यपदेशः।

अथाप्युकार एतस्मिन्नेव विनिग्रहार्थे उत्तरेण संप्रयुज्यते। उदाहरणम्-केषुचित् किंचिदुक्त्वा गतेष्वन्यैरागत्य कस्मिंश्चिदुक्त इदमुच्यते-'**मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीति**'। सत्यमु ते वदन्ति सत्यमेव ते नासत्यं, सत्यं वा ते नासत्यमेव वदन्तीत्येवमयमत्र विनिग्रहार्थीय उकारः। एतल्लौकिकमुदाहरणम्। वैदिकं तु-'**तमे॒व ऋषि॑---रु॒राध॑**' (ऋ०१०.१०७.६) दिव्यस्यार्षं दक्षिणाया वा। दक्षिणासंस्तुतिरेषा। ऋषिर्मन्त्रदृक्। आहुरिति प्रत्येकमनुषक्तव्यम्। तमेव ऋषिमाहुर्नान्यम्, तमेव ब्रह्माणं ब्रह्मा नामर्त्विग्यस्तं च, यज्ञन्यं यज्ञस्य नेतारम्, यज्ञान्नयतीति यज्ञनीरध्वर्युस्तं च, सामगं साम्नां गाता उद्गाता तं च, उक्थशासमुक्थानि शस्त्राणि तेषां शासिता उक्थशा होता तं च। स ऋषिर्भवति स एवर्त्विग्ब्रह्मादिरित्येवं पूर्वाचार्या आहुरित्यर्थः। किञ्च स एव शुक्रस्य-शुग्दीप्तिस्तद्वच्छुक्रं ब्रह्म स्वया दीप्त्या दीप्तस्य ब्रह्मणः, तन्वो वेद तिस्रः-ऋग्यजुःसामलक्षणाः, स एव त्रयीविद्भवतीत्यर्थ। यः प्रथमः सन् जन्मान्तरवर्त्तीत्यर्थः। दक्षिणया दानेन रराधात्मानं संसाधितवान् संस्कृतवानृषित्वादिप्राप्तियोग्यं कृतवानित्यर्थः।

अथापि पदपूरण इति प्रासङ्गिकम्, '**इदमु तदु**' इति। अस्योदाहरणम्-'**इ॒दमु॒ त्यत्---जना॑य**' (ऋ०४.५१.१)। वामदेवस्यार्षम्। इदम्, उ इति पदपूरणः, त्यत् तत्पुरुतमं बहुतमं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि ज्योतिरुष आख्यम्, कुतः पुरुतमम्? उच्यते-तमसः सकाशाद् वयुनावत् कान्तिमत्, अस्थात् स्थितमुदितमित्यर्थः। स्थित्वा नूनं निश्चयेन दिव आदित्येन जन्यमानत्वाद् दिवो दुहितरः. एकस्या एव पूजनार्थं बहुवचनं व्यत्ययेन वा। विभातीः-विविधं दीप्यमानाः, गातुं कृण्वन् तमांस्यपहत्य गमनं कुर्वन्त्युषसो जनाय जनस्यार्थाय।

तदु प्रयक्षतमं---चतस्रः (ऋ०१.६२.६)। नौधसमार्षम्। एकवाक्यतायै द्वितीयपादे यद्यपि तथापीत्यध्याहार्यम्। यद्यपि दस्मस्य दर्शनीयस्य शत्रुपक्षक्षयकरस्य वेन्द्रस्य चारुतममतिशयेन चार्वस्ति, दंसः कर्म वृत्रवधादि, तथापि तदु प्रयक्षतमम्, उ इति पदपूरणः, '**यक्ष पूजायाम्**' तत् प्रकर्षेण पूज्यतमम्, अस्य कर्म यत् कृतं तदुच्यते-**उपह्वरे ह्वरतिरत्तिकर्मा** (निघ०२.८) ह्वरो भक्षस्तस्य समीपे सोमपानादनन्तरमित्यर्थः। अथवा-उपह्वरोऽन्तरिक्षप्रदेशः, तस्मिन् यदुपराः, उपर इति **मेघनाम** (निघ०१.१०)मेघजातिः, अपिन्वत्-'**पिवि मिवि सेचने**' असेचयत्, मध्वर्णसः-अर्ण (निघ०१.१२) इत्युदकनाम, मधु स्वादु, स्वादूदका नद्यो नदनाः शब्दकारिणीश्चतस्रश्चतुःसंख्याकाः, अथवा चतस्र इति दिशां प्रति निर्देशः, प्रतीति च वाक्यशेषः। चतस्रोऽपि दिशं प्रति।

एवमेते कर्मोपसंग्रहार्थीयाः षण्णिपाता उक्ताः। इदानीं हीत्यादीनां सीम्पर्यन्तानां तावत्सप्तानां निपातानामकर्मोपसङ्ग्रहार्थीयानां प्रसङ्गेनार्था उच्यन्ते। कथं पुनरेषामकर्मोपसंग्रहार्थीयत्वम्? उच्यते-**अनेकाश्रयधर्म- वचनो निपाताः कर्मोपसंग्रहार्थीय** उक्तः, न चैतेऽनेकाश्रयधर्मवचनाः, हेतुत्वादेरेकाश्रयत्वात्।

हीत्येषोऽनेककर्मा। इदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे। नुशब्दोदाहरणेनैतद् व्याख्यातम्। एतल्लौकिकम्। वैदिकं तु-**'इन्द्र॑वायू इ॒मे---उश॒न्ति हि'** (ऋ०१.२.४)। मधुच्छन्दस आर्षम्। हे इन्द्रवायू! इमे सुता अभिषुताः सोमा एतज्ज्ञात्वोपागतमुपागच्छतम्। प्रयोभिः प्रकर्षेण यातृभिरश्वैः। अथवा प्रय इत्यन्ननाम (निघ०२.७), अन्नैः सहोपागच्छतम्, अस्मभ्यं यानि देयानि तान्यन्नानि गृहीत्वेत्यर्थः। कस्मात्? उच्यते-इन्दवो वामुशन्ति हि, हिशब्दो हेत्वपदेशे, यस्मादेव इन्दवः सोमा वां युवां कामयन्ते युष्मदागमनमाशासाना इव तिष्ठन्तीत्यर्थः।

कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे। इदमपि नुशब्दोदाहरणेनैव व्याख्येयम्।

कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्। असूया-अक्षमा-अमर्षः, देवदत्तः सभायां प्रश्नान् व्याकरिष्यतीत्युक्त अक्षममाणः कश्चिदाह-कथं हि व्याकरिष्यत्यकृतविद्य इति।

किलेति विद्याप्रकर्षे। विद्या=ज्ञानम्, तस्य प्रकर्षो नामातिशयः। किं तर्हि विद्याप्रकर्षः? अन्यस्थत्वमन्यैरेतदुपलब्धं मया तेभ्यः श्रुतं न स्वयमुपलब्धमित्ययमर्थो विद्याप्रकर्षः। अस्मिन् 'किल' इत्ययं निपातः। लौकिकमुदाहरणम् **'जघान कंसं किल वासुदेवः'** इति। वैदिकं तु-**'स्वा॒दुष्किला॒यं---आह॒वेषु॑'** (ऋ०६.४७.१)। सौमीयमृक्। गर्गस्यार्षम्। स्वादुर्मिष्टः किलायं सोमः, मधुमान् मधुस्वादुविशेषस्तद्वान्, उतायं-उतशब्दोऽप्यर्थे, मधुरोऽपि किलायम्, तीव्रशब्दस्तीक्ष्णवचनः कटुवचनो वा तिक्तरसोऽपि किलायं कटुकरसो वा, रसवान्-भूम्न्ययं मतुप्, बहुरसोऽपि किलायम्, उतो नु शब्दश्चार्थे, अपि चास्य द्वितीयार्थ एषा षष्ठी, तच्छतेर्वैकदेशमिति वाक्यशेषः। एनं सोमस्य वा सोमस्यैकदेशं स्वांशलक्षणं पपिवांसं पीतवन्तमिन्द्रं न कश्चन कश्चिदपि सहतेऽभिभवत्याहवेषु संग्रामेषु।

अथापि न ननु इत्येताभ्यां संप्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। समुदायप्रयोगे गम्यमानत्वान्निपातसमुदायस्यानुपृष्टमर्थो नैकस्य निपातस्य, प्रसङ्गेन चेदमिह निपातसमुदायार्थस्य वचनं तृतीयपादान्ते तस्य वक्ष्यमाणत्वात। **'न किलैवं ननु किलैवम्'** न किल देवदत्तो ग्रामं गतः, ननु किल देवदत्तो ग्रामं गत इति प्रश्नो गम्यते, किं गत इत्यर्थः।

मेति प्रतिषेधे। मा कार्षीर्मा हार्षीरिति, लौकिकमुदाहरणम्। वैदिकं तु-**'मा नो॑ वधीरिन्द्र॒ मा---जा॒नुषाणि'** (ऋ०१.१०४.८)। कुत्सस्यार्षम्। मा नो वधीः-माऽस्मान् वधीः, हे इन्द्र! मा च परा दाः परित्याक्षीः, मा च नोऽस्माकं प्रिया प्रियाणि भोजनानि भोजनमिति **धननाम** (निघ०२.१०) प्रियाणि धनानि प्रमोषीरपहार्षीः, आण्डागर्भस्थानि जातमात्राणि वाऽपत्यानि तानि च मा नः हे मघवन्! शक्र! निर्भेन्निर्भिदो विनीनश इत्यर्थः। मा च नः पात्रा पतन्ति गच्छन्ति गमनसमर्थानि यान्यपत्यानि तानि भेत्-भिदः, सह जानुषाणि-जानुभ्यां यानि भूमिं सनन्ति रिङ्खन्तीत्यर्थः, तानि जानुषाणि तैः सहितानि।

खल्विति च। खल्वित्ययं च निपातः प्रतिषेधे। तथा हि वैयाकरणा अपि स्मरन्ति-**'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा'**इति। **'खलु कृत्वा खलु कृतम्'** इत्युदाहरणे। अकृत्वा, अकृतमित्यर्थः। एते लौकिक उदाहरणे। वैदिकं तूदाहरणं पर्येष्यं यद्यस्ति क्वचित्।

अथापि पदपूरणः। एवं खलु तद्बभूवेति। एतल्लौकिकमुदाहरणम्। वैदिकं तु-**मि॒त्रं कृ॑णुध्वं॒---अ॑स्तु'** (ऋ०१०.३४.१४)। अक्षसूक्तमियमृक्, मौजवानृषिः कवषो वाऽक्षानाह। मित्रं मां कृणुध्वं कुरुध्वं, खल्विति पदपूरणः, मृडत सुखयत च नोऽस्मान्, मा नोऽस्मान् प्रति घोरेण व्यसनेन चरत, शुद्धोऽपि चरतिरत्रोपपूर्वार्थे

द्रष्टव्यः, उपचरत उपगच्छत। अभिधृष्णु-तृतीयार्थे प्रथमा-अभिधृष्णुनाऽभिभवित्रा सर्वार्थानामस्माकं घोरमक्षव्यसनं कार्ष्टेत्यर्थः। किं तर्हि वो युष्माकं नु क्षिप्रं मन्युः क्रोधो निविशतामातिष्ठतु, अरातिः-द्वितीयार्थे प्रथमा, अरातिमस्मच्छत्रुमस्मच्छत्रवे क्रुध्यत मास्मभ्यमित्यर्थः। क्रुद्धेषु च युष्मास्वन्योऽस्मत्तोऽस्मच्छत्रुर्बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ **'षिञ् बन्धने'** प्रकर्षेण बध्यते येन व्यसनेन तत्प्रसिति तस्मिन्, नु क्षिप्रमस्तु-अन्यस्यास्मच्छत्रोरक्षव्यसनमस्तु मास्माकमित्यर्थः।

शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। विचिकित्सेति यद्यपि लोके संदेह उच्यते, धर्मे न विचिकित्सा कार्या, वेदवचने का विचिकित्सेति, तथापीहोदाहरणेष्वसंभवान्न सन्देहो विचिकित्सोच्यते। किं तर्हि? निश्चयः। अस्तमितः शश्वदादित्य उदेति, जातस्य च शश्वन्मृत्युः, निश्चयेनेत्यर्थः। शश्वदेवम् इत्येवं शब्देन परत्र प्रयुज्यमानेन युक्तो**ऽनुपृष्टे** वर्त्तते, एवं शश्वदिति पुरस्तात् प्रयुज्यमानेनास्वयंदृष्टे। शश्वदेवं गतो देवदत्त इत्युक्ते प्रश्नो गम्यते-किं गतो देवदत्तः? इति। पृष्टो यदा ब्रवीति। एवं शश्वदिति, तदाऽस्वयंदृष्टता गम्यते, अवश्यं गतो न मया गच्छन् दृष्ट इत्यर्थः। प्रासङ्गिकं चेदं निपातसमाहारार्थवचनम्, तस्य तृतीयपादान्ते वक्ष्यमाणत्वात्। एवमेतल्लोकेऽर्थत्रयम्। वेदे तु **शश्वदिति** (निघ० ३.१३) बहुनाम पठितम्। नित्यत्वे च प्रयुज्यमानं दृश्यते। **'शश्वदिन्द्रः---अदात्'** (ऋ०१.३०.१६)। शुनःशेपो यूपे बद्ध इन्द्रं तुष्टाव, तस्मा इन्द्रः स्तूयमानः प्रीतो मनसा हिरण्यरथं ददौ, तमेतया प्रीताय-**'शश्वदिन्द्रः'** इति। स नो हिरण्यरथमिति तच्छ्रुतेर्यदध्याहार्यम्। यः शश्वन्नित्यमिन्द्रः पोप्रुथद्भिः-**'प्रुथ पर्याप्तौ'** पर्याप्तः समर्थीभावः, अत्यर्थं समर्थैरश्वैर्जिगाय जयति, नानदद्भिरत्यर्थं शब्दं कुर्वद्भिर्हेषद्भिरित्यर्थः। शाश्वसद्भिरत्यर्थं श्वसद्भिश्च शीघ्रगतित्वात्, धनानि शत्रूणाम्, स नः संप्रदाने चतुर्थी, अदादिति व्यवहितेनाख्यातेन संबध्यतेऽस्मभ्यमदात्। हिरण्यरथं-हिरण्मयं रथं दंसनावान् **'दसि दंशनदर्शनयोः'** दर्शनीयत्वाद् दंसनावान् रूपवान्, अथवा दंसन इति **कर्मनाम** (निघ० २.१) तद्दर्शनात् तेनानुगतो दंसनाशब्दः कर्मनामैव, रूपवान् कर्मवानित्यर्थः, किञ्च स एव नः सर्वविधिरेषु सनिता संभक्ता, किञ्च सनये स निर्लाभो जीवितस्य तस्मा अपि स एव नो जीवितमस्मभ्यं स एव दास्यतीत्यर्थः।

नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। अस्तमित आदित्यो नूनमुदेतीति। **उभयमन्वध्यायम्, विचिकित्सार्थीश्च पदपूरणश्च।** यस्यामृचि विचिकित्सार्थीयस्तामुदाहरिष्यन्नर्थाभिव्यक्त्यर्थमस्याः पूर्वं तावदितिहासमाचष्टे-अगस्त्य इन्द्राय इत्यादि। अगस्त्यो हविर्निर्वापकाल **इन्द्राय हविर्निरूप्य** संप्रदानकाले **मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार**, संप्रदित्सा सम्यक् प्रदातुमिच्छा, तया तत्पूर्वकत्वात् संप्रदानं लक्ष्यते, मरुद्भ्यः संप्रददावित्यर्थः। स इन्द्रो मरुद्भ्यः प्रत्ते तस्मिन् तत्र **एत्य परिदेवयांचक्रे।**

अथ षष्ठः खण्डः।

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्। अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं विनश्यति।।

ऋ०१.१७०.१ न नूनमस्त्यद्यतनम्। नो एव श्वस्तनम्। अद्यास्मिन् द्यवि। द्युरित्यह्नो नामधेयम्। द्योतत इति सतः। श्व उपाशंसनीयः कालः। ह्यो हीनः कालः। कस्तद्वेद यदद्भुतम्। कस्तद्वेद यदभूतम्। इदमपीतरदद्भुतमभूतमिव। अन्यस्य चित्तम्। अभिसंचरेण्यमभिसंचारि। अन्यो नानेयः। चित्तं चेततेः। उताधीतं विनश्यतीति। अप्याध्यातं विनश्यति। आध्यातमभिप्रेतम्। अथापि पदपूरणः॥६॥

भाष्यटीका

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।। (ऋ०१.१७०.१)

नूनं निश्चयेन नास्ति, अद्य मम हविरिति वाक्यशेषः। नो नापि श्वः, यतः कस्तद्वेद यदद्भुतमभूतमिवासीदित्यर्थः। कस्मात? उच्यते- यस्मादन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमभिसंचरणस्वभावकं चलमित्यर्थः। यत उताधीतं-उतशब्दोऽप्यर्थे, अधीतशब्दाच्च परो द्रष्टव्यः, अधीतमप्याध्यातमपि मयाद्यतनं हविर्विनश्यति। **'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'** (अष्टा०३.३.१३१) इति भूते लट्, विनष्टं मह्यं न दत्तमित्यर्थः।

भाष्ये-**न नूनमस्त्यद्यतनं, नो एव श्वस्तनम्** इत्युभयमप्यर्थविवरणम्, शैषिकप्रत्ययरहितस्य केवलस्य श्वः शब्दस्य श्रुतेस्तत्सामान्याच्च वाक्यशेषाध्याहारस्याप्यत्रैतावत एव न्याय्यत्वात्। अद्यास्मिन् द्यवि-**द्युरित्यह्नो नामधेयम्,** तद्धि रश्मिसम्बन्धाद् द्योतते, सत इत्युपात्तं कारकपरिग्रहार्थम्, **द्योतत इति** एवं **सतः** कर्त्तृकारकेन युक्तस्य सतः कर्त्तृकारके न कारकान्तर इत्यर्थः। एवं यमयोश्चिदिदिति सत इत्यादावपि सर्वत्र निर्वचनेन सत इत्येतद् व्याख्येयम्। **श्व उपाशंसनीयः कालः,** श्व इत्यागाम्यहरनन्तरमधिकरणभूतमुच्यते, तदा शंसनीयामनन्तरामरणस्यापि संभवात्। अतीतमनन्तरमहः सतः सामान्येन प्रसक्तस्येदं निर्वचनम्-**ह्यो हीनः काल** इति। आदिवादौ भिन्नादित्यगृह्यत्क्वबन्धादिदर्शनम्। अन्यः पुत्रादिः सर्वो नानेय आत्मत्वेन, **'आत्मा वै पुत्र नामासि'** इत्यपदिष्टोऽपि नात्मत्वेन ग्राह्य इत्यर्थः। शिष्टं भाष्यं निगदव्याख्यातम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां
षष्ठस्य द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयः पादः।

अथ सप्तमः खण्डः।

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयादिन्द्र दक्षिणा मघोनी। शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ऋ०२.११.२१ सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा मघोनी मघवती। मघमिति धननामधेयम्। मंहतेर्दानकर्मणः। दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः। व्यृद्धं समर्धयतीति। अपि वा प्रदक्षिणागमनात्। दिशमभिप्रेत्य। दिग्धस्तप्रकृतिर्दक्षिणो हस्तः। दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणः। हस्तो हन्तेः। प्राशुर्हनने। देहि स्तोतृभ्यः कामान्। मास्मानतिदेहीः। मास्मानतिहाय दाः। भगो नोऽस्तु। बृहद्वदेम स्वे वेदने। भगो भजतेः। बृहदिति महतो नामधेयम्। परिवृढं भवति। वीरवन्तः कल्याणवीरा वा। वीरो वीरयत्यमित्रान्। वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः वीरयतेर्वा। सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा। **प्र सीमादित्यो असृजत्।** (ऋ०२.२८.४) प्रासृजदिति वा। प्रासृजत् सर्वत इति वा। **वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।** इति च। व्यवृणोत् सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्यरश्मयः। सुरोचनात्। अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पंचमीकर्माणम्। सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः। सीमा मर्यादा। विषीव्यति देशाविति। त्व इति विनिग्रहार्थीयम्। सर्वनामानुदात्तम्। अर्धनामेत्येके॥७॥

भाष्यटीका

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ (ऋ०२.१६.९)

गृत्समदस्यार्षम्। नूनं पादपूरणः। सा-तच्छुतेर्यस्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यां त्वया यज्ञं कुर्वन्नहं दापितः सा ते तव स्वभूता, चतुर्थी वैषा, वरं प्रार्थितमर्थं जरित्रे स्तोत्रे मह्यं प्रतिदुहीयत् प्रतिदुग्धां प्रतिपादयत्वित्यर्थः। हे इन्द्र! दक्षिणा मघोनी मघेन धनेन रायो भूतेन तद्वती। किञ्च शिक्ष सर्वदैव त्वं देहि, स्तोतृभ्यः कामान्, मा चातिधक्-अतीत्युपसर्गश्रुतेर्योग्यसाधनयुक्तं क्रियापदमध्याहार्यम्, धगितीदं पदं दहेर्दानार्थस्य रूपम्, मास्मानतिहाय अन्येभ्यो दाः प्रथममस्मभ्यं देहि पश्चादन्येभ्य इत्यर्थः। भगो नो धनं च नोऽस्तु इति वाक्यशेषः। बृहत्-महच्चोर्जितं दीयतां भुज्यतामित्यादि वाक्यमन्यच्च वदेम, विदथे यज्ञे सुवीराः सुपुत्राश्च स्यामेति वाक्यशेषः। यदि पुत्रा न सन्ति ततः शोभनत्वविशिष्टानां तेषामपीयं प्रार्थना। अथ यदि सन्ति ततः शोभनमात्रस्य। तेषां भाष्यमृग्व्याख्यानेन व्याख्यातम्। यद्वन्निगदव्याख्यानं तत्सर्वत्र न व्याख्यायते, इतरद् व्याख्यायते, ग्रन्थगौरवभयात्। तत् स्वयमेव ज्ञायमानत्वाच्च।

मघमिति धननाम मंहतेर्दानकर्मणः (निघ० २.१०)। तद्धि दीयते। **दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः, व्यृद्धं समर्द्धयतीति।** का व्यृद्धिः? कर्मणः परार्थत्वाद् ऋत्विजां तत्रावृत्तिस्तां दक्षिणा व्यावर्त्तयति। तत्तृष्णया

तेषां तत्र प्रवृत्तेः। अपि वा दानकाले दक्षिणस्यां वेदिश्रोण्यामग्रेण गार्हपत्यं जघनेन सदो दक्षिणा आनीयन्ते। ततः **प्रदक्षिणागमनाद्दिशं** दक्षिणाम् **अभिप्रेत्य** तत्सम्बन्धाद् दक्षिणेति। **दिक्पुनर्हस्तप्रकृतिः**-हस्तः प्रकृतिर्यस्यासौ हस्तप्रकृतिः, प्रजापतेर्हि प्रजाः सृष्ट्वा प्राङ्मुखस्य दक्षिणो हस्तो यतो बभूव सा दक्षिणहस्तसम्बन्धाद् दक्षिणा। **दक्षिणः पुनर्हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः**। स हि-उत्साहवत्तरः सव्यात्। **दाशतेर्वा स्याद्दानकर्मणः**। तेन हि दीयते यद्देयम्। **हस्तः पुनर्हन्तेः स हि प्राशुः** क्षिप्रो हननेऽन्यस्मादङ्गात्। देहि स्तोतृभ्य इत्याद्युक्तार्थः। परिवृढं भवति **'बृह बृहि वृद्धौ'** परिवृद्धं **वीरवन्तः कल्याणवीरा वा**-शोभनत्वविशिष्टानां वीराणामियं प्रार्थना शोभनत्वमात्रस्य वा तेषामित्यर्थः। **वीरो वीरयति** विविधमीरयति प्रेरयति **अमित्रान् वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः**, गच्छत्यमित्रान् प्रति **वीरयतेर्वा**, शूरवीर विक्रान्तत्वात्।

सीमिति निपातो परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा। 'प्र सी॑मादि॒त्यो अ॑सृजत्---परि॒ज्मन् (ऋ०२.२८.४)'। गृत्समदस्य तत्पुत्रस्य वार्षम्। प्रसीम्-सीमिति पादपूरणः परिग्रहार्थीयो वा, यदा परिग्रहार्थीयस्तदा विशेषस्यानुपादानात् सर्वत्रादित्योदितेः पुत्रो घृणिः प्रासृजत्, एष 'वि' इत्येतस्य स्थाने-विसृजति रश्मीन्, विधर्त्ता विधारयिता तेषामेव कृत्स्नस्य वा जगतः, ते च विसृष्टा **ऋतमुदकं** (निघ० १.१२) भूमिरसलक्षणमादायेति वाक्यशेषः। सिन्धवो रश्मयो वरुणस्य सकाशादिति वाक्यशेषः। यन्ति गच्छन्ति न च श्राम्यन्ति न च कदाचिदप्येतत्कर्म विमुञ्चन्ति। एते वयो न पक्षिण इव पसुर्गच्छन्ति रघुया लघ्व्या शीघ्रया गत्या, परिज्मन्-अञ्जेरिदं रूपम्, सर्वतोऽञ्जन्तो गच्छन्त इत्यर्थः।

एवमेषां हीत्यादीनां सीम्पर्यन्तानां निपातानां सप्तानां प्रसङ्गेनार्था उक्ताः। इदानीं प्रसङ्गनैव **'सीमतः' 'त्व'** इत्येतौ किं निपातावुत नामपद इत्येतदुच्यते। सर्वत्र सीमत इत्यस्य निपातत्वं तावदाश्रित्याह-**'वि सी॑मु॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः।'** (वा०सं १३.३) इति। अयं वाऽन्यो निपातः परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वेत्यर्थः।

ब्रह्मजज्ञानं---विवः (वा०सं १३.३)'। नकुलस्यार्षम्। ब्रह्मेत्यादित्य उच्यते, परिवृढत्वात् सर्वस्य जगतो भरणात्, जज्ञानं जायमानमुत्पद्यमानमन्यस्मात् सर्वस्मात् प्रथमं पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले सृष्टिकाल इत्यर्थः। अथवा जगन्मातुः प्रत्यहमादित्यस्योदयो यः श्वोऽभिप्रेतः, पुरस्तादित्यपि दिग्वचनम्, आदित्यः प्रत्यहमुद्यन् प्रथममस्यां दिशि, सीमत इति पदपूरणः परिग्रहार्थीयो वा, सीमत इत्यस्य वा पर्यायः-मर्यादातः सीमेति च मर्यादा उच्यते, तस्मात् पञ्चमी ह्रस्वत्वं च सीमत इति पञ्चमीश्रुतेः सामर्थ्यादभिविध्यर्थ अत्राध्याहार्यः, सर्वतो या मर्य्यादा रश्मीनामातत इत्यर्थः। सुरुचः सुदीप्तान् रश्मीन् वेनः कान्तरुचिर्व्यावः-विवृतानकरोत् करोति वा, न च केवलान् रश्मीन्, किं तर्हि? स बुध्न्याः-बुध्नमन्तरिक्षं तस्मिन् भवा बुध्न्या दिशस्ता अपि, उपमा उपम **इत्यन्तिकनाम** (निघ०२.१६) सन्निकृष्टा अस्यैवादित्यस्य, अथवा-उपमा उपमात्रीरस्य कृत्स्नस्य वा जगतः, विष्ठाः-विष्टभ्यावस्थात्रीः सतश्च योनिमसतश्च यावत् किंचित् सदसद्वा तस्य योनिभूता विवो विवृता अकरोत् करोति। यतोऽसावुदेति सा प्राची, ततोऽन्या दक्षिणा प्रतीची चोदीची च। एवमादित्य उदयेन विवृता इव करोति।

अपि वा सीमित्येतन्नामपदं न निपात इत्याचष्टे-**सीमेत्येतत्** प्रातिपदिकम् **अनर्थकं** पञ्चमीकर्माणमिति वचनात् पञ्चम्यर्थातोऽनर्थकमित्येवमेतद् द्रष्टव्यम्। प्रकृतेः समीपे बध्यमानत्वादुपबन्धः प्रत्यय उच्यते तम्, **आददीत पञ्चमीकर्माणम्**, पञ्चम्याः कर्म कर्म यस्य, उष्ट्रमुखवदुत्तरपदलोपी बहुव्रीहिसमासः, तं पञ्चमीकर्माणं पञ्चम्यर्थवृत्तिमित्यर्थः। **'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः'** इत्ययं तसिः। अथवा प्रतियोगस्यापादानस्य चाभावात्

'तत्प्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्येवमत्र तसिर्द्रष्टव्यः। सीमा मर्य्यादा, सा हि **विषीव्यति** विशब्दो विगमे सीव्यतिः सन्तानार्थः, **'षिवु तन्तुसन्ताने'** इति। विगतसन्तानौ विच्छिन्नसन्तानौ ग्रामलक्षणौ क्षेत्रलक्षणौ वा देशौ करोति।

त्व इति विनिग्रहार्थीयम्। एकशब्दपर्यायं **सर्वनाम,** वैय्याकरणसंज्ञाकथनं चेदम्। अथवा **सर्वस्यार्थस्य** नाम, एकशब्दपर्यायभूतं सर्वत्रार्थे वर्त्तते, न क्वचिन्न वर्त्तत इत्यर्थः। **अनुदात्तमिति** स्वरकथनम्।

अर्धनामेत्येके, तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः-**'त्वो नेम इत्यर्द्धस्य** (निरु०३.२०)**'** इत्यत्र मन्त्रे युक्तो विनिग्रहार्थीयः। अर्धनामेति वाक्यार्थमालोच्य यद्यत्र संभवति तत्तत्र वक्तव्यम्। विनिग्रहार्थीयमुदाहियते-

अथाष्टमः खण्डः।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥ ऋ०१०.७१.११ इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। **ऋचामेकः** पोषमास्ते पुपुष्वान्। होता। ऋगर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्वरीषु। उद्गाता। **गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य ऋचः। शक्नोतेः। तद् यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्।** (कौ०ब्रा०२३.२; तु०ऐ०ब्रा०५.७.३) इति विज्ञायते। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा। सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्म परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ एकः। अध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयत इति वा। अपि वाधीयाने युरुपबन्धः। अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः। निपात इत्येके। तत्कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति। **उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः।** (ऋ०१०.७१.५) इति द्वितीयायाम्। **उतो त्वस्मै तन्वं १ वि सस्रे।** (ऋ०१०.७१.४) इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमा बहुवचने॥८॥

भाष्यटीका

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥ (ऋ०१०.७१.११)

बृहस्पतेरार्षम्। **ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्ट** इति समस्तार्थकथनम्, विनियोगः प्रतिनियमः। एक ऋत्विगिदं कर्म करोत्यन्य इदमिति, ऋचां पोषमिति यथाविधि कर्मणि प्रयोगं पुपुष्वानिति च सामान्यपुषेरवयवपुषिः कर्म गोपोषं पुष्यति रयिपोषं पुष्यतीति यथा, ऋचां पोषं पुपुष्वान् कुर्वन्, ऋचो यथाविधि कर्मणि प्रयुञ्जान इत्यर्थः। त्व एक आस्ते होता, गायत्रं साम त्व एव उद्गाता गायति शक्वरीषु ऋक्षु। ब्रह्मा नाम त्व एक ऋत्विग्वदति जातविद्यां जाते प्रायश्चित्ते याऽस्य विद्या तां, यज्ञस्य मात्रां यज्ञे या या मीयतेऽभिषवग्रहणादिकया क्रियया सा यज्ञस्य मात्रा तां विमिमीते करोति। उ इति पदपूरणः। त्व एकोऽध्वर्युः।

ऋगर्चनी तया ह्यर्च्यन्ते स्तूयन्ते देवता:। **गायत्रं गायते: स्तुतिकर्मण:**। साम्ना हि स्तोत्राऽङ्गभूतेन स्तूयन्ते देवता:। **ब्रह्मा सर्वविद्य** इति ब्रह्मण: स्वरूपकथनम्, स हि **सर्वं वेदितुमर्हति**, सर्वस्य ऋक्तो यजुष्ट: सामतो वा यज्ञस्यापत्तौ तेन प्रायश्चित्तस्य कर्त्तव्यत्वात्। **ब्रह्मा परिवृढ:** परिवृद्ध: **श्रुतत** इति निर्वचनम्। अन्य ऋत्विज एकविद्या:, ब्रह्मा तु त्रयीविद्य:, अत: स तेभ्य: परिवृद्ध: श्रुतत:। **ब्रह्म परिवृढं सर्वत** इति- शब्दसारूप्यप्रसक्तस्य निर्वचनम्। ब्रह्म ह्येवमृग्यजु:सामलक्षणमपरं जगत: कारणमपरमत्रं तत्सर्वं परिवृद्धं सर्वतोऽन्यत:।

अध्वरयु: इत्यध्वर्युशब्दस्यावयवौ विभज्य युशब्दस्य तावन्निर्वचनानि चत्वार्याचष्टे-**अध्वर्युर्ह्यध्वरं युनक्ति** स्वसाधनैरनुष्ठानेन च, अतो युजेर्युशब्द इति एकम्। **अध्वरस्य नेता**ऽध्वरमनुतिष्ठन्नध्वर्युरतन्नयति, अतो **'या प्रापणे'** इत्यस्यान्तर्हितण्यर्थस्य नयतिना समानार्थस्य युशब्द इति द्वितीयम्। **अध्वरं कामयत इति वा**, अनुष्ठातुं ह्यध्वर्युरध्वरमिच्छति, अतोऽयमध्वरशब्दादिच्छायां (अ०३.१.८) क्यच् । **'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोप:'** (अ०७.४.३९) इत्यकारलोप:। **'क्याच्छन्दसि'** (अ०३.२.१७०) इत्युकार:= अध्वर्युरिदं तृतीयम्। **अपि वाऽधीयानेऽध्येतरीत्यर्थ:**। **'तदधीते तद्वेद'** (अ०४.२.५८) इत्यस्मिन्नर्थेऽयं युरुपबन्ध: प्रत्यय इदं चतुर्थम्। इदानीमध्वरशब्दस्यार्थमाह-**अध्वर इति यज्ञनाम** (निघ०३.१७) इति। **ध्वरतिहिंसाकर्मा** (निघ०२.१९)। तत्प्रतिषेध इति निर्वचनम्। अविद्यामानो ध्वरो हिंसा यस्मिन् सोऽध्वर:। यज्ञे हि या पशोर्हिंसा साऽनुग्रह एव न हिंसेत्येतत् **'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते'** (निरु० १.१६) इत्यत्र वक्ष्याम:।

निपात इत्येके, त्व इत्येष:। **तत्कथमनुदात्तप्रकृति**-अनुदात्तस्वभावकं नाम स्यात्। नाम्नां हि सर्वेषामुत्सर्गेणोदात्तत्वं स्मरन्ति-**'फिषोऽन्त उदात्त:'** (फिट्सूत्र १.१) भवतीति। **दृष्टव्ययं तु भवति**, तुशब्द: पक्षव्यावृत्तौ, नैतदेवं निपात इति नामैव तत्-दृष्टव्ययत्वात्, व्ययो विविधं गमनमन्यत्र च कारकान्तरे संख्यान्तरे चान्येन च संबद्ध इत्यर्थ:। स च नाम्नां धर्मो न निपातानाम्, स चास्य दृष्ट:। **'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु:** (ऋ०१०.७१.५) **इति द्वितीयायाम्। 'उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे'** (ऋ०१०.७१.४)। **इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमाबहुवचने**। व्ययो दृष्ट इत्यध्याहार:।

अक्षण्वन्त: (ऋ०१०.७१.७)' इति। अतो नामैव तत्र निपात:। यदुक्तम्-**तत्कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्याद्** इति, तदयुक्तम्, **'नेमत्वसमसिमेत्येतान्यनुदात्तानि'** इत्यपवादस्मृते:। तत्तु निपातत्वेऽपि तुल्यम्, निपातानां ह्याद्युदात्तत्वमौत्सर्गिकं स्मरन्ति-**'निपाता आद्युदात्ता:'** इति।

उत त्वं' 'उतो त्वस्मै' इति षष्ठे पादे व्याख्यास्येते।

अथ नवमः खण्डः।

अ॒क्ष॒ण्वन्तः॒ कर्ण॑वन्तः॒ सखा॑यो मनोज॒वेष्वस॑मा बभूवुः। आद॒घ्नास॑ उपक॒क्षास॑ उ त्वे ह्र॒दा इ॑व॒ स्नात्वा॑ उ त्वे ददृशे॥ (ऋ०,१०.७१.७) अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेः। अनक्तेरित्याग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवतः। इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्ततेः। निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः। ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम्। इति ह विज्ञायते। मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः। आस्यदघ्ना अपरे। उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यमस्यतेः। आस्यन्दत एनदन्नमिति वा। दघ्नं दध्यतेः स्रवतिकर्मणः। दस्यतेर्वा स्यात्। विदस्ततरं भवति। प्रस्नेया ह्रदा इवैके ददृशिरे। प्रस्नेया स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्लादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः। अथापि समुच्चयार्थे भवति। **पर्याया इव त्वदाश्विनम्।** (कौ०ब्रा०१७.४) आश्विनं च पर्यायाश्चेति। अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः। कमीमिद्विति॥९॥

भाष्यटीका

अ॒क्ष॒ण्वन्तः॒ कर्ण॑वन्तः॒ सखा॑यो मनोज॒वेष्वस॑मा बभूवुः।

आद॒घ्नास॑ उपक॒क्षास॑ उ त्वे ह्र॒दा इ॑व॒ स्नात्वा॑ उ त्वे ददृश्रे॥ (ऋ०१०.७१.७)

इत्येषा व्याख्यायते। बृहस्पतेरार्षम्। अक्षण्वन्तोऽ**क्षिमन्तः, कर्णवन्तः सखायश्च** सन्तः समानं ख्यानं ज्ञानं येषामिति सखायः, तुल्येषु वाक्येषु बाह्येष्विन्द्रियेष्वागमिके च व्याकरणादिज्ञान इत्यर्थः। मनोजवेषु-मनसा ज्ञायन्ते गम्यन्ते ये ते मनोजवाः प्रज्ञागम्या अर्थास्तेष्वसमा अतुल्या बभूवुर्भवन्ति मनुष्याः। आदघ्नास इति-छान्दसत्वादास्यशब्दस्य स्यशब्दलोपः, आदघ्नाश्चास्यदघ्नाः कक्षसमीपपरिमाणाश्च ह्रदाः स्वल्पोदका इत्यर्थः। उ इति पदपूरणः। त्व एके महाप्रज्ञा इत्यर्थः। ददृश्रे दृश्यन्ते। अक्षि चष्टेर्दर्शनार्थस्य दृश्यते हि तेन, अनक्तेः-**'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणगतिषु'** इत्यस्य व्यक्त्यर्थस्याक्षी **इत्याग्रायणः**। तद्ध्युज्ज्वलत्वाद् व्यक्ततरमन्येभ्योऽङ्गेभ्यः। तथाहि ब्राह्मणेऽपि विज्ञायते, अक्षिणी प्रकृत्येदमुच्यते-**'तस्मादेते व्यक्ततरे इव'** इति। **कर्णः कृन्ततेः 'कृती छेदने'** इत्यस्य। स हि **निकृत्तद्वारः** छिन्नद्वारो गर्भावस्थायामेव विध्वेन शिरः केनापि कृतबिल इत्यर्थः। अर्त्तेर्गत्यर्थस्य **'पाघ्राध्मास्थ'** इत्यृच्छादेशविधानादृच्छतिर्गत्यर्थः। तस्य कर्ण इति **आग्रायणः**। तथाहि ब्राह्मणे विज्ञायते कर्णौ प्रकृत्येदमाम्नायते। **'ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम्'** इति। अत्रर्च्छतेर्गत्यर्थस्य शत्रन्तस्य नपुंसके प्रथमाद्विवचनस्य **'औङ आपः** (अ०७.१.१८), **नपुंसकाच्च** (अ०७.१.१९)**'** इति शीभावे कृते नपुंसकस्यात् **'आच्छीनद्योर्नुम्'** (अ०७.१.८०) इति नुमि च कृते-ऋच्छन्तीति रूपम्। खे इत्यपि नपुंसके प्रथमाद्विवचनम्, गच्छन्तीव ख आकाशे कर्णबिललक्षण उदगन्तामूर्ध्वं शरीरस्य शिरसो वा गत उच्चैः स्थित इत्यर्थः। एवमत्र ऋच्छन्तीवेत्यृच्छत्यर्थेन कर्णयोः सम्बन्धदर्शनादृच्छतेः **'नपुंसकाच्च'** इति शीभावे च कर्ण इति विज्ञायते। ये तु -**'ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम्'** इत्येतं पाठमाश्रित्यास्येममर्थं व्याचक्षते-ऋच्छन्तीवैतौ कर्णौ प्रति खे व्यक्ताः सन्तः शब्दा एतावपि चोदगन्तां प्रत्युद्गच्छत इव ग्रहणाय तान् शब्दानिति तेषामृच्छन्तीत्यर्थं प्रति शब्दानामिह कर्त्तृत्ववचनात् कर्णयोस्तेनासम्बन्धत्वादृच्छतेः कर्ण इत्यस्यार्थस्य दर्शनमेवैतज्ज्ञायते। खे शब्दस्य च

सप्तम्येकवचनान्तत्वेन प्रगृह्यत्वाभावात् **'खे उदगन्ताम्'** इति प्रकृतिभावेन पाठो नोपपद्यते, ख उदगन्तामिति स्यात्, अतः पूर्व एव पाठोऽर्थश्च। **आस्यमस्यतेः** क्षेपणार्थस्य, क्षिप्यते हि तत्रान्न क्षिपति वा वर्णान् **आस्यन्दते** स्रवति द्रवीभवति शुष्कमपि एतदन्नं प्राप्येति वाक्यशेषः। अन्तर्हितण्यर्थो वा स्यन्दिः, आस्यन्दयति द्रावयत्येतदन्नमित्यर्थः। शुष्कमप्यन्नमास्यं द्रावयति। **दघ्नं** परिमाणं-**दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः**, सर्वं हि परिमाणमुत्तरस्मात् परिणामात् स्रुतं न्यूनमित्यर्थः। **दस्यतेर्वा स्याद्** उपक्षयकर्मणः, **विदस्ततरं भवति** क्षीणतरमित्यर्थः। **ह्रदो ह्रादते शब्दकर्मणः**, स हि बहूदकत्वादभिहन्यमानः शब्दं करोति। **ह्रादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः**। भवति हि सर्वदा शीतोऽसौ बहूदकत्वादादित्यरश्मिभिः सन्तापयितुमशक्यत्वात्।

अथापि समुच्चयार्थे भवति, वक्ष्यमाणस्त्वदित्ययं निपातः। **'पर्याया इव त्वदाश्विनम्** (कौ०ब्रा०१७.४)' अत्रेवशब्दो वाक्यपूरणोऽनर्थकः। अस्त्युपमार्थस्य संप्रत्यर्थे प्रयोग इति। त्वच्छब्दः समुच्चये, त्वच्छब्दोऽपि परः श्रूयमाण उभयोः समुच्चयमाह, देवदत्तो यज्ञदत्तश्च गच्छत इति यथा **पर्यायाश्चाश्विनं चे**त्यर्थः। भाष्ये विपर्ययेण दर्शितम्-आश्विनं च पर्यायाश्चेति। एवमुक्ताः कर्मोपसंग्रहार्थीयाः, प्रसङ्गेन च निपातान्तराणि, यथाप्रतिज्ञातमिदानीं पदपूरणा उच्यन्ते। तेषां सामान्येन तावद्रूपम्-**अथ ये प्रवृत्ते** परिसमाप्तेऽर्थेऽन्यैः शब्दैः प्रतिपाद्येऽर्थे सर्वस्मिन् प्रतिपादित इत्यर्थः। **अमिताक्षरेषु** गद्यग्रन्थेषु यजुर्ब्राह्मणेषु च **वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु**, ऋक्पादेषु, येऽप्रवृत्तेऽर्थे श्रूयन्ते ते गद्यग्रन्थेषु वाक्यपूरणाः पादबन्धेषु, पदपूरणा इत्यर्थः। अतस्त उभयत्र **अनर्थकाः**, आनर्थक्यं चात्र न गोरुतकाकवाशितादिवत् सम्भवति, तच्छ्रुतौ प्रक्रान्तवाक्यार्थप्रतिपत्तिविच्छेदाभावात्। यथा ह्यनुकरणादिना प्रयुक्तस्य गोरुतस्य काकवाशितस्य वा वाक्यमध्ये श्रुतौ प्रक्रान्तवाक्यर्थप्रतिपत्तिविच्छेदो भवति, नैवं वाक्यपूरणस्य पदसूत्रस्य पूरणस्य वा निपातस्य श्रुतौ। अतः कमादीनामन्यतमस्य कस्यचित्स्वार्थं प्रतिपादयतः साहचर्ये वर्त्तत इति प्रतिपत्तव्यम्। यथा पर्याययोरेकस्याधिको वर्णः-ऋषभो वृषभ इति। कथं तर्ह्येतदुपपद्यतेऽनर्थका इति? उच्यते, निष्प्रयोजनत्वात्। विनापि तैरर्थप्रतिपत्तेः सम्भवात्। निष्प्रयोजनत्वं तेषां प्रदर्शनार्थमाह-**कमीमिद्विति**। ननु चेत्येतस्य पुरस्तादेवोक्तं पदपूरणत्वम्-**'अथापि पदपूरण इदमु तदु'** इत्यत्र? सत्यम्, उक्तं तत्र प्रासङ्गिकम्, इह तु पदपूरणमध्येऽसति वचने निपातोदाहरणविषयं विज्ञायेत। तत्तर्ह्यनर्थकम्, विनिग्रहार्थीयत्वस्य च तुल्यकक्ष्यप्रतिपादनार्थत्वादसति हि तस्मिन् वचन इदं पदपूरणत्ववचनं विनिग्रहार्थीयत्वस्यापवादो विज्ञायते। विनिग्रहर्थीयत्वं तु नियतोदाहरणविषयम्। ते च तुल्यकक्ष्ये कथं विज्ञायेयातामित्येवमर्थं तदपि वचनम्, तयोश्च मन्त्रेषु वाक्यार्थमालोच्य यस्य यत्र संभवस्तत्र स विवेक्तव्यः।

कमादीनामुदाहरणानि-**'शिशिरं जीवनाय कम्'** इत्यादीनि।

अथ दशमः खण्डः।

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव। बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्।। (अनुपलब्धमूलम्) शिशिरं जीवनाय। शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा। **एमेनं सृजता सुते।** (ऋ०,१.९.२; अथर्व०२०.७१.८) **तमिद्वर्धन्तु नो गिरः।** (ऋ०८.९२.२१; ९.६१.१४) तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः। **अयमु ते समतसि।** (ऋ०१.३०.४; अथर्व०२०.४५.१) अयं ते समतसि। इवोऽपि दृश्यते। सु विदुरिव। सु विज्ञायते इव। अथापि नेत्येष इदित्येतेन संप्रयुज्यते परिभये।।१०।।

भाष्यटीका

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्।। (अनुपलब्धमूलम्)

निष्ट्वक्त्राः-त्वक्त्राणकरणत्वात् त्वक्त्रं वासः, तद्रहिता निष्ट्वक्त्रा दरिद्राः। चिदिदिति पदपूरणौ, नरो मनुष्याः, भूरितोका बहूपत्या हेमन्ते शीतेनार्त्ताः सन्तः, वृकादिव बिभ्यन्तो यथा केचिद् वृकाद् बिभ्यत्येवम्, ववाशिरे वाश्यन्तेऽल्पशीतत्वात्, शिशिरं जीवनायास्माकं न हेमन्त इति, कमिति पदपूरणः। **शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा** (निरु०१.१०) हिंसार्थस्य, हिंस्यते हि तत्र दिवोष्णेन हेमन्तजं यवादिसस्यं दावाग्निना तृणौषध्यादि।

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये।। (ऋ०१.९.२)

मधुच्छन्दस आर्षम्। आ इत्येष वीत्येतस्य स्थाने, विसृजताध्वर्यवो दत्तेत्यर्थः। ईमिति पदपूरणः। एनं सुते सोमे, व्यत्ययेन सप्तम्येषा द्वितीयार्थे, सुतं सोमं मन्दिं तर्पयितारमिन्द्राय मन्दिने तर्पयितव्याय। अथवा सृजतिरत्र प्रक्षेपार्थः, प्रक्षिपतैनं सुतेऽस्मिंश्चमसस्थे सोमेऽभ्युन्नयतेत्यर्थः। इन्द्रायेन्द्रार्थं चक्रिं करणशीलं स्वकार्याणाम्, विश्वानि सर्वाणि वृत्रवधादीनि कर्माणि चक्रये साधुकर्त्रे।

तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव।
य इन्द्रस्य हृदंसनिः।। (ऋ०९.६१.१४)

अमहीयोरार्षम्। तमिद्वर्धन्तु-तं सोमम्, इदिति पदपूरणः' **वर्धन्तु** वर्धयन्तु नोऽस्माकं **गिरः** स्तुतयः, **वत्सं संशिश्वरीरिव**-संशिश्वरीरिति च संशिशुशब्द उपपदेऽर्त्तेर्गत्यर्थस्य कर्मण्यणश्छान्दसत्वाद् वृद्ध्यभावः। पूर्वपदस्य च मध्योदात्तत्वं संगत एको बह्वीनां मृतवत्सानां गवां साधारणः शिशुर्वत्सः संशिशुः, तं याः स्नेहार्द्रेण हृदयेन प्रत्येकं पुत्रतया गच्छन्ति ताः संशिश्वर्यः। यथा मृतवत्सा गाव एकस्मिन् वत्से च नीतास्तं प्रत्यात्मिकभिन्नरसक्षीरप्रदानेन वर्धयन्ति, तद्वद्भिन्नरूपगुणप्रकाशनेन वर्धयन्त्वित्यर्थः। य इन्द्रस्य हृदंसनिः-हृदयस्य सनिता संभक्ता, इन्द्रेण पीयत इत्यर्थः। **स्तुतयो गिरो गृणातेः** गृणातीत्यर्चतिकर्मा। (निघ०३.१४)

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।

वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ (ऋ०१.३०.४)

शुनःशेपो यूपे बद्ध इन्द्रमाह-**अयम्,** उ इति पदपूरणः, ते तव स्वभूतोऽभिषुतः सोमः **समतसि**-'अत सातत्यगमने'। एकवाक्यता प्रसिद्ध्यर्थं यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यं प्रति त्वं सम्यक् सततं गच्छसि, **कपोत इव** कामार्त्तो **गर्भधिं** गर्भो धीयतेऽस्यामिति गर्भधिः कपोतिका तां प्रति**वचः**। तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः, यदिदं वचस्तत्, **चिदिति** पदपूरणः। नोऽस्माकं स्वभूत **ओहसे** हरसे वहेरिदं छान्दसेन संप्रसारणेनोपधागुणेन च रूपं वहस्व प्रापयात्मानं प्रतिश्रृण्वित्यर्थः। अयं सोम एवास्ति, किं तव मया, मुञ्च मामित्यर्थः।

इवोऽपि दृश्यतेऽनर्थको वाक्यपूरणः पदपूरणो वा, **'सुविदुरिव सुविज्ञायेते इव'** (काठ०सं०८.३, १३, निरु०१.१०) इत्युदाहरणे कठानां दर्शपूर्णमासप्रकरणे समाम्नायेते-**न वै सुविदुरिव मनुष्या यज्ञं तस्मान्न सर्व ऋध्नुवति यद्दक्षिणां ददाति यज्ञस्य समृद्ध्या** इति। तथाधानप्रकरणे-**न वै सुविदुरिव मनुष्या नक्षत्रं मीमांसव एव ह्युदितेन वाच्यम्, पुण्याह एवैनमाधत्त** इति। तथाधानप्रकरण एव तस्मात्पुरुषश्चाश्वश्च न नक्तं प्रत्यञ्चौ न सुविज्ञायेते इवेतीवशब्दस्य चेह प्रदर्शनार्थमिदमुपादानम्। पादयोपि दृश्यन्ते-**'आ घा ता गच्छान्** (ऋ०१०.१०.१०, निरु०४.२०)**'** इत्यादिषु। एवमेत एकनिपातार्था उक्ताः, निपातसमुदायार्थाविदानीं द्वावुच्येते। यत्तु पुरस्तान्निपातसमुदायार्थं वचनं तत्प्रासङ्गिकमित्युक्तम्।

अथापि नेत्येष प्रतिषेधार्थीय **इदित्येतेन संप्रयुज्यते परिभये**। संप्रयोगे प्रतीयमानत्वान्निपातसमुदायस्य परिभयमर्थो नैकस्य निपातस्य। **'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम'** इत्युदाहरणम्।

अथैकादशः खण्डः।

हविर्भिरेके स्वरितः संचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्। शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम॥ इति (ऋ०खि०१०.१०६.१) नरकं न्यरकं नीचैर्गमनं नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा। अथापि न चेत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। न चेत्सुरां पिबन्तीति। सुरा सुनोतेः। एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। त उपेक्षितव्याः॥ ११॥

भाष्यटीका

हविर्भिरेके स्वरितः संचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।

शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम॥ (ऋ० १०.१०६.९)

नारदेन किल विप्रलभ्यमाना असुरस्त्रिय आहुः-**हविर्भि**श्चरुपुरोडाशादिभि**रेके स्वः** स्वर्ग**मित** इतो लोकात् **सचन्ते, सचतिर्गतिकर्मा** (निघ०२.१४) गच्छन्ति, **सुन्वन्तो**ऽभिषुण्वन्त **एके**ऽन्ये **सवनेषु** यज्ञेषु **सोमान् शचीरिति वाङ्नाम** (निघ०१.११), व्यत्ययेन चैषा द्वितीया तृतीयास्थाने वाचा ऋग्यजुःसामलक्षणया जपादिविषयया **मदन्तो मदतीत्यर्चितकर्मा** (निघ०२.१४) स्तुवन्तो देवानन्य **उत दक्षिणाभि**र्गोसहस्रादिदानैः, न चैत उपाया अस्माकं संभवन्ति। किन्तु नः पतिशुश्रूषैव केवलमुपायः, अतो जिह्मं नाचराम इति वाक्यशेषः। कस्मात्?

उच्यते, यस्माज्जिह्मायन्त्यो जिह्ममाचरन्त्यो **नरकं पताम** बिभेम च नरकपतनात्। एवमत्र नरकपतनविषयं परिभयत्वन्नेदित्यनेन प्रतिपाद्यते। **नरकं न्यरकं नीचैः** अर्यते गम्यते यस्मिंस्तन्नरकं नरकलोको ह्यधमस्तेन तस्मिन्नीचैर्गम्यते, **नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा**, न हि नरके रम्यते यस्मिन् स्थाने तदल्पमप्यस्ति, सर्वस्य यातनास्थानत्वात्।

अथापि न चेत्येष निपातसमुदाय **इदित्येतेन सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे, न चेत् सुरां पिबन्तीति**। वृषलेष्वनागच्छत्सु कश्चिद् ब्रवीति–नागच्छन्ति वृषलाः, **न चेत्सुरां पिबन्तीति**, किं सुरां पिबन्तीत्यर्थः। **सुरा सुनोतेः**, सा हि सूयते पिष्टादिभिः। **एवमुच्चावचेष्वर्थेषु** निपाता **निपतन्ति**, ते च कस्मिन्नर्थ इति तद्वाक्यमुपगम्य **ईक्षितव्याः**।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां
षष्ठस्य तृतीयः पादः।

अथ चतुर्थः पादः।

अथ द्वादशः खण्डः।

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्। यः कश्चनाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्याद् यत्किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तत्। अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः संप्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्, तत्रैवं स्थूणा दरशया वा सञ्जनी च स्यात्॥ १२॥

भाष्यटीका

इतीमानि चत्वारि इत्युक्तोपसंहार उक्तविवक्षया। **तत्र नामानि**, तत्रेति निर्धारणे सप्तमी, तेषां मध्ये यानि नामानि तानि **आख्यातजानीति,** आख्यातं तिङन्तपदम्, तेनात्रैकदेशो धातुर्लक्ष्यते, धातुजानीत्यर्थः। अथवाख्यातेन स्वार्थो लक्ष्यते तेनैकदेशभूता क्रिया, तज्जानि तन्निमित्तप्रवृत्तानीत्यर्थः। एवं **शाकटायनो** वैयाकरणविशेषो मन्यत इति वाक्यशेषः। अयमेव च नैरुक्तानां **समयः** सिद्धान्तः। **न सर्वाणीति गार्ग्यो** नैरुक्तविशेषः। **वैयाकरणानां चैके**। ये गवादीनर्थवत्प्रातिपदिकमित्येवं साधुत्वेनान्वाचक्षते नौणादिकव्युत्पत्त्या।

तद्यत्र इति तदिति वाक्योपन्यासे, आख्याततत्वप्रतिनिर्देशो वा, तदाख्यातजत्वमुच्यत इति। यत्र **स्वरसंस्कारौ** स्वर उदात्तादिः संस्कारश्च व्याकरणोक्तः प्रकृत्यादिविभागः समर्थः शक्तः क्रियाया अभिधाने स्वरसंस्काराभ्यां चात्र तदुपेतः शब्दो लक्ष्यते स्वरसंस्कारोपेतः, शब्दः क्रियामभिधातुं समर्थ इत्यर्थः। शब्देन प्रतिनिर्देश्यमानत्वात् **प्रदेशोऽर्थस्तस्मिन् भवः प्रादेशिको गुणः**, आश्रिततत्वसामान्यात् क्रिया गुण इत्युच्यते, तया **अन्वितौ स्यातां, संविज्ञातानि**–आख्यातजत्वेनैषां नास्ति विप्रतिपत्तिरित्यर्थः। एतदुक्तं भवति–यत्र शब्दः क्रियामभिधातुं शक्नोति, सा च क्रिया तदभिधेयेऽर्थे विद्यते तान्याख्यातजानि। यथा–पाचकः पाठकः इति। **यथा गौरश्व** इति भाष्यकारवचनमुक्तेन प्रकारेण गवाश्वादीनामाख्यातजत्वस्यासम्भवात् प्रविश पिण्डीमित्यादिवदध्याहारेण व्याख्येयम्, न तु **यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति**।

केचितु संविज्ञातशब्दपर्याय इत्येवं मन्यमानाः पुरस्तादध्याहारं कुर्वन्ति, तदाख्यातजत्वं **यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्**। न तु यत्र संविज्ञातानि रूढिशब्दा इत्यर्थः। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।

अथ चेत् इति। निपातानामनेकार्थत्वादथशब्दो यदीत्यस्यार्थे, चेच्छब्दोऽपि हि शब्दस्य, यदि हि **सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्च** व्यत्ययेनात्र पुँल्लिङ्गत्वम्, यत्किंचित् **तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत् सत्त्वं** द्रव्यं **तथाचक्षीरन्** यथार्थम्। **यः कश्चनाध्वानमश्नुवीत**, उष्ट्रादिः **अश्वः स वचनीयो** वचनार्हः **स्यात्**। अर्हे चायं कृत्यप्रत्ययः। **यत्किंचित् तृन्द्यात्**–**'तृदि हिंसानादरयोः'** हिंस्यात् **तृणं तत्** कुशकण्टकादि। एवमाख्यातजत्वे नाम्नामेकक्रियानिमित्तोऽनेकस्यैकशब्दत्वप्रसङ्गदोष उक्तः परेण। एकस्यानेकशब्दत्वप्रसङ्गदोष उच्यते–

अथापि चेत्- अथ पूर्ववद्यद्यर्थे चेच्छब्दाच्च परो द्रष्टव्यः, चेच्छब्दश्च शब्दस्य अपि च यदि **सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः, यावद्भिर्भावैः** क्रियाभिः **संप्रयुज्येत** तद्द्रव्यं, **तावद्भ्यो ऽस्य नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं** सति **स्थूणा**-दरे शेते व्यवतिष्ठत इति **दरशया वाऽऽसचनी च स्यात्, सचतिर्गतिकर्मा**, निधीयमानो वंशोऽन्यद्वा आसचति-आगच्छत्यस्यामित्यासचनी। आसंजनीति त्वयमपपाठः। संजेर्ल्युट्युपधाया नकारस्य लोपाभावात्, नकाररहितस्य सजेर्धातोरभावान्न त्वेतद्युक्तमुदाहरणम्। दरशयासचनीशब्दौ हि क्रियायोगशब्दौ न रूढिशब्दौ, तौ स्थूणायामन्यत्र च स्तः, अतस्तत्रैवं गौरश्वोऽश्वो गौश्च स्यादित्युदाहरणम्।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन् पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्नष्टेत्यश्वं तर्दनमिति तृणम्। अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत्, किमाधारश्चेति। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान्त्संचस्कार शाकटायन एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं सकारादिं च। अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुरपरस्माद्भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति। तदेतन्नोपपद्यते॥१३॥

भाष्यटीका

अथापि-अथशब्दश्चार्थे-अपि च **य एषां** पुरुषाश्वादीनां **न्यायवान्**-व्याकरणेन प्रत्यक्षलक्षणविशेषलक्षणेन युक्तो यः स न्यायवानित्युच्यते। कर्मणि निमित्तं नाम कर्मनाम, तस्मिन् भवः **कार्मनामिकः संस्कारः** प्रकृत्यादिविभागेन संस्क्रियमाणत्वात् **संस्कारः** शब्दः प्रकृत्यादिविभागो वाऽनेन तु पूर्ववत्तदुपेतः शब्दो लक्ष्यते यो न्यायवत्संस्कारोपेतः शब्दो य इति श्रुतेस्तेनाध्याहार्यम्। आचक्षीरन्निति वानुषङ्गन्यायादपकृष्टव्यः, तेनाचक्षीरन् न्यायवत्संस्कारस्य सर्वस्मिन् तदर्थे प्रयोगार्थत्वात्, **यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः** प्रत्यायकानि तस्यार्थस्येत्यर्थः। न्यायवता संस्कारेणोपेतानि प्रत्यायकानि तस्यार्थस्य सम्भवन्ति, अतस्**तथैनान्याचक्षीरन् पुरुषम्** आत्मनं पूः शरीरं तस्मिन् परिभोक्तृत्वेन शयानं **पुरिशय इत्याचक्षीरन्, अष्टेत्यश्वं तर्दनमिति तृणम्**।

अथापि-अपि च **निष्पन्नेऽभिव्याहारे** शब्दप्रयोगेऽभिगम्य **विचारयन्ति** कथमयं शब्दोऽत्र प्रयुज्यत इति। तच्चाप्युक्तं विचारस्य प्रयोगनिष्पत्त्यर्थत्वात् तस्य च निष्पन्नत्वात् विचारयितारश्च **प्रथनात्पृथिवीत्याहुः**। तदप्ययुक्तम्, **को हि एनामप्रथयिष्यत्**, प्रथयन् वा **किमाधार** आसीत्, सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्यैतदाधारत्वात्।

अथाऽनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे-अथशब्दोऽत्र केवलोऽप्यपिचेत्यस्यार्थे। अनन्वित इति क्तप्रत्ययः कर्त्तरि, अननुगतवत्यर्थे। कमननुगतवति? सामर्थ्याच्छब्दम्, शब्देनाभिधातुमशक्येऽर्थ इत्यर्थः। **अप्रादेशिके विकारे**-**विकार इति क्रियामाह**-अप्रादेशिक्यां क्रियायामर्थेऽसम्भवन्त्यामित्यर्थः। **पदेभ्यः**-पदमत्रावयवभूतधातूपलक्षणार्थः, पदावयवभूतेभ्यो धातुभ्य इत्यर्थः, **पदेतरार्धान्**-पदस्यावयवभूतप्रकृतित इतरेऽन्येऽर्धावयवाः प्रत्ययास्तान् **संचस्कार शाकटायनः**। तद्यथा-**एतेर्धातोः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्**; कारितमिति, पाचयतीत्यादौ यो णितमाह; यकारादिः-यो दीव्यतीत्यादौ श्यन्; अन्तकरणः

प्रत्ययः, तेन हि साधुत्वान्वाख्यानवेलायां प्रयोगवेलायां च शब्दस्यान्तः क्रियते। तथाऽस्तेर्धातोः **शुद्धं च सकारादिं च**, शुद्धः सकारोऽन्तकरणः, वृक्षः प्लक्ष इति प्रथमैकवचनम्। सकारादिः पिपासति यियासतीति। तावस्तेः संचस्कार। तच्चायुक्तम्। कथम्? पाचयतीत्यत्र योऽर्थः संप्रेषणाध्येषणादिः, दीव्यतीत्यत्र देवनं प्रति कर्तृत्वम्, वृक्षः प्लक्ष इत्यत्रैकत्वम्, पिपासति यियासतीत्यत्र च सनोऽभिधेयत्वेन, एतिं धातुमस्तिं चाननुगतित्वादेतिनास्तिना च नाभिधीयत इत्यर्थः। यस्ताभ्यामभिधीयते-**'इण् गतौ'** इति गतिः, **'अस् भुवि'** इति भवनं सोऽप्रादेशिकः, पाचयतीत्यादावर्थे नास्तीत्यर्थः। अतो यदेतेर्णिचि श्यनं चास्तेः प्रथमैकवचनं सनं च संचस्कार शाकटायनस्तदयुक्तम्।

अथापि-अपि च **सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः**। सत्त्वं द्रव्यं तत्पूर्वं यस्मात् स सत्त्वपूर्वो भावः क्रिया द्रव्यसाध्यत्वात्। द्रव्याश्रयत्वाच्च क्रियायाः। द्रव्यं पूर्वं पश्चात् क्रियेत्येवमाहुरित्यर्थः। ततः किम्? उच्यते-**अपरस्माद्भावात् पूर्वस्य** सत्त्वस्य **प्रदेशो**ऽभिधानं **नोपपद्यते**। एतदुक्तं भवति-जातमात्रोऽश्वोऽश्व इत्युच्यते, न च तदानीं तस्याध्वाशनमस्ति, अतो न सर्वाण्याख्यातजानि नामानीति।

तदेतन्नोपपद्यते, कथम्?

अथ चतुर्दशः खण्डः।

यथो हि नु एतत्तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति। यथो एतद्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्निति पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इत्येतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः। यथो एतद्यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिका यथा व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति। यथो एतन्निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत्, किमाधारश्चेत्यथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैरथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते। यथो एतत्पदेभ्यः पदेतरार्द्धान्त्संचस्कारेति योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा इति। यथो एतदपरस्माद्भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा बिल्वादो लम्बचूडक इति। बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा॥१४॥

भाष्यटीका

यथो हि न्वा एतं-'यथा उ हि नु आ' इति पञ्चैते निपाताः। तेषामेको यदित्यस्यार्थे, अपरस्तावदित्यस्यार्थे, शिष्टा वाक्यपूरणाः। यत्तावदित्यर्थः। यत्तावदेतं-**तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ** इत्यादि। तत्र ब्रूमः-सर्वोऽर्थोऽनेकेन कर्मणा युक्तः, तत्र यद्यत्कर्म येन येन शब्देनाभिधातुं शक्यते, तस्य तस्य सर्वस्यार्थे विद्यमानत्वात् सर्वं कर्म प्रादेशिकम्, शब्देन च सर्वेण यस्तस्यावयावभूतो धातुस्तस्य यद्वाच्यं कर्म तदाभिधातुं शक्यते। कथम्?

यस्तावदविनिष्टधातुरूप एव, यथा-ऽश्व इति, तस्य याऽशनक्रियाविषया शक्तिः कल्पिता, तस्यास्त्यागस्य शक्त्यन्तरकल्पनायाश्चान्याय्यत्वात्, अशन प्रत्यायनार्थ एष प्रत्ययस्तु तत्सम्बन्धार्थस्य जातिविशेषस्यासकृत् प्रयोगाद् रूढिशब्द इत्येव न्याय्यम्। अतस्तेनापि कर्माभिधातुं शक्यते। यत्रापि शब्देऽक्षरमात्रं धातोरस्ति न विनष्टं धातुरूपम्, यथा-लक्ष्मीर्लाभाद्वेत्यत्र लभतेः, तत्रापि शब्दस्यार्थे सर्वेषामवयवानां शक्तेः कल्प्यमानत्वाल्ल इत्यस्य या लाभविषया शक्तिः कल्पिता तस्यास्त्यागस्य शक्त्यन्तरकल्पनायाश्च पूर्ववदन्याय्यत्वात्, ल इत्येतस्य लाभार्थता। प्रत्ययस्य तु तत्सम्बन्धार्थे रूढिशब्दत्वमित्येतदेव न्याय्यम्। अतस्तेनापि कर्माभिधातुं शक्यते। यत्रापि वर्णमात्रं धातोरस्ति, यथा-गौरिति गकारः, तत्रापि वर्णमात्रस्य कल्पितशक्तित्यागस्य शक्त्यन्तरकल्पनायाश्चान्याय्यत्वाद् गत्यर्थत्वम्, प्रत्ययस्य तु तत्सम्बन्धार्थे रूढिशब्दत्वमित्येतदेव न्याय्यम्। अपि च गकारमात्रस्य दृश्यत एव गत्यर्थत्वम्-अन्तगः, अत्यन्तगः, अध्वगः, गुरुतल्पग इत्यादौ। अतस्तेनापि शक्यत एव कर्माभिधातुम्। एवं सर्वस्य कर्मणः प्रादेशिकत्वाच्छब्देनाभिधातुं शक्यत्वात्, **तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थावित्यादिस्तावद् अनुपालम्भः**।

यथो एतत्। 'यथो' इति यदपीत्यस्यार्थे। यथो यदप्येतत्-**यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्** इत्यादि, तत्रापि ब्रूमः-प्रत्ययस्य रूढिशब्दत्वात् **पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्। यथा तक्षा** इति शिल्प्येवोच्यते, न तक्ष्णुवन्नप्यन्यः। **परिव्राजक** इत्याश्रमविशेषस्थ एवोच्यते, न परिव्रजन्नप्यन्यः। **जीवन** इति साग्निरङ्गार एवोच्यते, न जीवन्नप्यन्यः। **भूमिज** इति ग्रहविशेष एवोच्यते, न भूम्यां जातोऽप्यन्यः।

एतेनैवोत्तरो-यावद्भिर्भावैः संप्रयुज्येतेत्यादिः **प्रत्युक्तः**। समानेऽपि व्यशनेन गमनेन च प्रयोगे प्रत्ययस्य रूढ्यर्थत्वात्, गौर्गौरित्येवोच्यते नाश्व इत्यपि। अश्वश्चाश्व इत्येवोच्यते न गौरित्यपि।

यदप्युच्यते, **यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः** इत्यादि। तत्र यत्तावदुक्तम्-**य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः** तेन **चाचक्षीरन्** इति। तत्तावदुक्तमेवायुक्तम्, उणाद्युक्तस्यापि संस्कारस्यान्याय्यत्वात्। यत्तु-यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युरित्याद्युक्तम्, तत्रापि ब्रूमः-**सन्त्यल्पप्रयोगा** इत्यादि। अस्यायमर्थः-प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थसम्बन्धस्य स्वार्थेन विशिष्टरूपस्य सतस्तत्रैव धातोः प्रयोगात् तत्राल्पप्रयोगत्वम्, अतोऽल्पप्रयोगत्वाद् रूढ्या चापहृतबुद्धित्वात् सत्यपि धातोः कर्माभिधानसामर्थ्येऽप्रतीतिरेषा भवतो जाता, न तु शब्दस्य कर्माभिधानसामर्थ्याभावात्। यथा कृदन्तेष्वैकपदिकप्रकरणाधीतेषु व्रततिर्दमूना इत्यादिषु। **व्रततिः वरणाद् व्रततिः** (निरु०६.२८), स तु वल्ल्यां प्रसिद्धः। दमनाद् **दमूना** (निरु०४.४) इत्यग्निरतिथिर्वा। **जाट्य** इति जरतेर्वा जायतेर्वा, कल्प्यः प्रत्ययार्थः, जटिलोऽभिधेयः। **आट्णारः** (निघ० ४.५) अटनशीलः। तथा **जागरूको दर्विहोमी** इत्यन्वर्थाः। अल्पग्रहणं प्रतीतार्थम्।

यदपि-एतत् **निष्पन्नेऽभिव्याहार** इत्यादि। तत्रापि ब्रूमः-सर्वत्रैव हि **निष्पन्ने**ऽर्थे निष्पत्तिः प्रवृत्तिः प्रवृत्ते**ऽभिव्याहारे** येन येन योगेनायं प्रवृत्त इति योगपर्येषणा भवति न योगबलेनाभिव्याहारः प्रवृत्तिः शब्दस्यार्थे प्रवृत्तेर्लोकाधीनत्वात्।

यदपि-**प्रथनात् पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेति** उक्तम् अत्रापि ब्रूमः-इहैकः प्रयोजकस्य प्रथयितुर्व्यापारः, अपरः प्रयोज्यस्य प्रथितुः प्रथनं न तयोः प्रथनात् पृथिवीत्युच्यते। किं तर्हि?

प्रत्यक्षेण चेयं **पृथुः** दृश्यते, **अप्रथिता चाप्यन्यैः**। अथ **प्रत्यक्षेण** दृश्यमानमस्याः पृथुत्वमुपालभ्येत-कस्मादियं पृथुरिति? **एवं** सति तुल्यत्वान्न केवलं पृथिव्याः पृथुत्वमेवोपालभ्यते, किं तर्हि? **सर्व एव दृष्टिप्रवादाः** दृश्यतेऽसाविति दृष्टिः कर्मणि क्तिन्, दृष्टस्यार्थस्य प्रवादा **उपालभ्यन्ते**, अग्निः कस्मादुष्णः, उदकं कस्माद् द्रवमिति, एतच्चायुक्तम्, दृष्टार्थत्वात्।

यदपि एतत्-पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कारेति, तत्रापि ब्रूमः-**योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन** अन्याय्येन **गर्ह्यः**। **सैषा** पुरुषस्य शाकटायनस्य **गर्हा**, न नाम्नामाख्यातजत्वस्य।

अथवा-एवमस्य ग्रन्थस्य योजना-**योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः**, शाकटायनस्तु नानन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार, पाचयति दीव्यतीत्यत्रैतेरर्थस्य वृक्षः प्लक्षः पिपासतीत्यत्र चास्तेरर्थस्य विद्यमानत्वात्। कथं विद्यमानत्वम्? यो ह्यन्यं पाके प्रयुङ्क्ते स पाकं मनसा गच्छति, यश्च दीव्यति स देवनम्, अतोऽत्र तावद्विद्यत एवैतेरर्थः, वृक्षः प्लक्ष इत्यत्रास्तेरनुगमोऽस्ति। उक्तं ह्यस्तिर्भवतिपरः, प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽपि गम्यते-अस्तीति। पिपासतीत्यत्रापि यः पातुमिच्छति पानमस्यास्तीत्यभिलषितत्वेनेति विद्यतेऽस्त्यर्थः। एवमन्वित एवार्थे सञ्चस्कार शाकटायनः, अतोऽसावगर्ह्यः, सैषा भवतः पुरुषस्य गर्हा, न गर्ह्यः शाकटायनः।

यदप्येतद्-अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति, अत्रापि ब्रूमः-**पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम्** इत्यादि। एतदुक्तं भवति-प्रदेशः क्वचिद् भूतात्कर्मणो दृश्यते-अग्निष्टोमयाजी भ्रूणहा ब्रह्महेति, क्वचिद्वर्त्तमानात्-वाचको लावक इति, क्वचिद् भविष्यतः-अगामी गमी **बिल्वादो** देवदत्तो जातो **लम्बचूडको** माणवको जात इति। गमी आगामीति भविष्यत्येवान्वाख्यायते **'भविष्यति गम्यादयः'** (अष्टा०३.३.३) इति। बिल्वादो गमीत्ययमपि भविष्यत्येवान्वाख्यायते, अण् कर्मणि चेति। लम्बचूडक इति बहुव्रीहिः। यद्यपि सामान्येनान्वाख्यायते, तथापि येषां चूडाकरणे कुलधर्मः, लम्बा चूडा यथा शाण्डिलानाम्, तेषां जातमात्र एव दारको भविष्यत्या लम्बया चूडया लम्बचूडक इति व्यपदिश्यते। अतो गम्यागामी बिल्वादो लम्बचूडक इत्यादौ दृष्टत्वादुपपन्नोऽपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशः।

अपि च पश्वादिषु सर्वत्र पूर्वस्मादेव भावात्प्रदेशो नापरस्मात्। कथम्? पश्वादिर्ह्यर्थो द्विरूपः-आकृतिरूपो व्यक्तिरूपश्च, तत्र यदाऽऽकृतिरूपः, तस्य पूर्वोत्पन्नासु व्यक्तिषु दृष्टत्वादन्नाशनस्य तत्सामान्यस्य प्रदेशनिमित्तत्वात् पूर्वस्मादेव भावात् प्रदेशो नापरस्मात्। तदेतद् भाष्यकार आह-**पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भम्**, नामधेयं शब्दस्तस्य प्रतिलम्भः प्रवृत्तिस्ताम् **एकेषाम्**-यत्र भविष्यत्कर्मनिमित्ता शब्दस्य प्रवृत्ती रूढ्यादि वा तेषाम्। **नैकेषाम्**-यत्रैतद् द्वयमपि नास्ति।

बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा इति। प्रसक्तस्य बिल्वशब्दस्य निर्वचनम्, बिल्वं हि बिभर्त्ति दुर्भिक्षादौ भक्ष्यमाणम्, भिद्यते च भक्षार्थिभिः। एवमेतत्सर्वनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम्। तत् किमर्थम्? उच्यते-अर्थान्तरे यो रूढिशब्दस्तस्यार्थान्तरे प्रयोगः। यथा-**'उदु त्यं जातवेदसम्'** (ऋ०१.५०.१) इति जातवेदशशब्दस्य सूर्ये प्रयोगः; यथा च **'संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः'** (ऋ०७.१०३.१) इति ब्राह्मणशब्दस्य मण्डूकेषु, रूढ्यर्थस्यासंभवात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां षष्ठस्य चतुर्थः पादः।

अथ पञ्चमः पादः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशस्तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्रास्तदेतेनोपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्त्यथापि अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। **उ॒रु प्र॑थस्वेति प्रथयति** (शत०ब्रा०१.१.६.८) प्रोहोणीति प्रोहत्यथाप्यनुपपन्नार्था भवन्त्योषधे **त्रायस्वैनम्** (यजु०वा०सं०,५.४२; तै०सं०,१.३.५) **स्वधि॑ते॒ मैनं॑ हिंसीः** (यजु०वा०सं०,५.४२; तै०सं०,१.३.५) इत्याह हिंसन्। अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। **एक॑ ए॒व रुद्रोऽव॑तस्थे न द्वि॒तीयः॑।** (तै०सं०१.८.६.१) **असं॒ख्याता स॒हस्रा॑णि॒ ये रु॒द्रा अधि॒ भूम्या॑म्।** (य०वा०सं०,१६.५४; मै०सं०२.९.९) **अ॒श॒त्रुरि॑न्द्र जज्ञिषे॒।** (ऋ०१०.१३३.२; अथर्व०२०.९५.३) **श॒तं सेना॑ अजयत् सा॒कमिन्द्रः॑** (ऋ०१०.१०३.१)। अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति। अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहीति (तै०सं०६.३.७.१; मै०सं०१.४.११; तै०ब्रा०३.३.७.१; शत०ब्रा०,२.५.२.९) अथाप्यहादितिः सर्वमिति। **अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑ति** (ऋ०१.८९.१०)। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति। अम्यक्। या॒दृश्मि॑न्। जारयायि॑। का॒णु॒का। इति॥ १५॥

भाष्यटीका

अथापीदमन्तरेण इत्यादिना शास्त्रारम्भस्य प्रयोजनानि पञ्चोच्यन्ते। द्वे अस्मिन् पादे त्रीणि परस्मिन्। अथापीति-प्रयोजनसमुच्चयार्थेनापिशब्देन समुच्चयश्रुतौ समुच्चयस्य द्वितीयेन समुच्चीयमानेन विनानुपपत्तेस्तस्य चानिर्देशात् तत्प्रतिपादकवचनमध्याहार्यम्। इदं शास्त्रमन्तरेण यस्य नाम्नो यदाख्यातजत्वं तस्य तत्प्रयोजनं नावसीयते। अपि चेदमन्तरेण **मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो**ऽर्थावगमो **न विद्यत** इति **अर्थं च अप्रतियतो**ऽनवगच्छतो योऽयं व्याकरणे स्वरसंस्कारयोः **उद्देशः** उपदेश एषोऽपि **नात्यन्तं** भवतीति वाक्यशेषः। स्वरसंस्कारोपदेशस्यार्थविशेषाधीनत्वात् ताभ्यामेव हि स्वरसंस्काराभ्यां युक्तः शब्दः क्वचिदर्थे साधुः क्वचिदसाधुः। यथा-अस्व इति निर्धने साधुर्नाश्वे। तदिदं निरुक्ताख्यं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं करोतीति वाक्यशेषः। अथवा कार्त्स्न्यं करोतीति, तत्करोतीति णिच्, णिजन्तात् क्विप्, कार्त्स्न्यकरमित्यर्थः।

स्वार्थस्य च मन्त्रार्थप्रत्ययस्य च साधकम्। यद्येतन्मन्त्रार्थप्रत्ययार्थं क्रियते, अनर्थकमेव भवतीति कौत्स आचार्यो मन्यत इति वाक्यशेषः। कस्मात्? **अनर्थका हि मन्त्राः**। मन्त्राणां यदानर्थक्यं **तदेतेनोपेक्षितव्यम्**, एतेन नैरुक्तेनोपगम्येक्षितव्यम्। किं साध्वसाध्विति। आनर्थक्यं चात्र मन्त्राणां न प्रत्याय्यार्थाभावाभिप्रायेणोक्तम्, मन्त्रेभ्योऽर्थप्रत्ययस्य प्रत्यक्षत्वादसति च तस्मिन् परासां चोपपत्तीनां तत्रासम्भवात्? किं तर्हि?

तत्प्रत्याय्यस्यार्थस्य कर्मासमवायाभिप्रायेणाविद्यमानः कर्मसमवाय्यर्थो येषां तेऽनर्थकाः, कर्मण्युच्चारणमात्रेणोपयुज्यन्ते नार्थप्रत्यायनेनेत्यर्थः। कुतः ? नियता हि येषां वाचोयुक्तिः पदानां तेषां चानुपूर्व्यं नियतं-अग्निर्मूर्धेत्येव न हि वह्निर्मूर्धेति मूर्धाग्निरिति वा। तदेतदुच्चारणमात्रेणोपयुज्यमानेषु युक्तं नार्थप्रत्यायनेन; तदभावेऽपि हि वह्निर्मूर्धा, मूर्धाग्निरित्यर्थप्रतीतेरविशिष्टत्वात्।

अथापि रूपं मन्त्राणां सामर्थ्यं तेन सम्पन्नाः, पदिर्गत्यर्थः संगता संबद्धाः स्वार्थेन, स्वार्थे लब्धविनियोगा इत्यर्थः। ब्राह्मणेनैव तत्रार्थे प्रत्यक्षवचनेन केचिन्मन्त्रा विधीयन्ते-'**उरु प्रथस्व इति प्रथयति। प्रोहाणि इति प्रोहति** इति। एतदुच्चारणमात्रेणोपयुज्यमानेष्वेषु युक्तं नार्थप्रत्यायनेन; रूपादेव सिद्धे वचनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्।

अपि **चानुपपन्नार्थाः** केचिन्मन्त्राः। यथा-'**ओषधे त्रायस्वैनम्**'[१] इति, न ह्योषधिस्त्रातुं समर्था। तथा- '**स्वधिते मैनं हिंसीः**'[२] **इत्याह हिंसन्**। अयं च विपरीतार्थत्वादनुपपन्नार्थः। एतावुच्चारणमात्रेणोपयोक्तुं समर्थौ नार्थप्रत्यायनेन, अर्थस्यानुपपन्नत्वात्।

अपि च **विप्रतिषिद्धार्थाः** केचिन्मन्त्राः। यथा- '**एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः** (तै०सं०१.८.६.१)' '**असंख्याता सहस्राणि** (वा०सं१६.५४)' इति मन्त्रौ विप्रतिषिद्धार्थौ, एकत्वासंख्यातसहस्रत्वयो- र्विप्रतिषिद्धत्वात्।

एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे निघ्नन् पृतनासु शत्रून्।

संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता प्रत्यङ् जनान् संचुकोचान्तकाले॥ (तै०सं०१.८.६.१)

वामदेवस्यार्षम्। **एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति**, स चावतस्थेऽवतिष्ठते, रणाय संग्रामार्थमिति रुद्रबहुत्वप्रतिषेधः। कथमवतस्थे? निश्चयेन **घ्नन्, पृतनासु** स्पर्धनीयेषु संग्रामेषु (निघ०२.१७), किं घ्नन्? **शत्रून्**। किञ्च स एकः **संसृज्य** सृष्ट्वा विश्वानि **भुवनानि गोप्ता** रक्षिता, सृष्ट्वा च सृष्टिकाले, पालयित्वा च स्थितिकाले **प्रत्यङ्** प्रत्यञ्चयिता यत उत्पन्नानि तत्रैव प्रगमयिता, उपसंहर्त्ता चेत्यर्थः। **जनान्, मनुष्यनामैतत्** (निघण्टु २.९), तदप्युपलक्षणार्थम्, मनुष्यप्रभृतीन् संचुकोचयति, **अन्तकाले**ऽन्तं नयतीत्यर्थः। उत्पत्तिस्थितिप्रलयान् त्रीनपि करोतीत्यर्थः। तं वयं स्तुमः।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।

तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ (वा०सं १६.५४)

---

१. तै०सं० 1.2.1.1, 3.5.1, 9.2, 6.3.3.2, 9.1; मै०सं० 1.2.1, 9.9, 1.2.14, 23.5, 1.2.16, 26.12, 3.6.2, 61.3, 3.9.3, 115.18, 3.10.1, 129.1; का०सं० 2.1, 3.2, 6., 26.3; आप०श्रौ०सू० 7.2.4, 18.12, 10.5.8, 10; मा०श्रौ०सू० 1.8.1.6, 4.7, 2.1.1.22; आ०गृ०सू० 1.17.8; शा०गृ० 1.28.12; कौ० सू० 44.30; सा०मं०ब्रा० 1.6.5; गो०गृ० 2.9.14; हि०गृ०सू० 1.9.13, 2.6.7; मा०गृ०सू० 1.21.4;

२. वा०सं० 4.1; 5.42; 6.15; तै०सं० 1.2.1.1; 3.5.1; 9.2; 6.3.3.2; 9.1; मै०सं० 1.2.1: 9.9; 1.2.14: 23.5; 1.2.16:26.12; 3.6.2: 61.3; 3.9.3: 115.18; 3.10.1: 129.2; का०सं० 2.1; 3.2,6; 16.3; शत०ब्रा० 3.1.2.7; 6.4.10; 8.2.12; आ०श्रौ०सू० 7.2.4; 18.12; 10.5.8, 10; मा०श्रौ०सू० 1.8.1.7; 4.8; —2.1.1.23; आ०गृ०सू० 1.17.9; कौ०सू० 44.30; 92. 18; सा०मं०ब्रा० 1.6.6; गो०गृ०सू० 2.9.15; हि०गृ०सू० 1.9.14; 2.6.8; मा०श्रौ०सू० 1.21.5

असंख्याता असंख्यातानि **सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्,** भूम्या उपरि **तेषां सहस्रयोजने**-योजनानां सहस्रं सहस्रयोजनं, छान्दसः पूर्वनिपाताः, योजनसहस्रे स्थितानामिति वाक्यशेषः। **धन्वानि** धनूंषि, **अवतन्मसि** अवतनुमः, योजनसहस्रे स्थितानां योऽस्माकमुपरि रोषस्तं स्तुत्या यागेन च व्यावर्त्तयन्तो धनूंष्यवततानि-अनारोपितज्यानि कुर्म इत्यर्थः।

तथा-'**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे** (ऋ०१०.१३३.२)' '**शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः** (ऋ०१०.१०३.१)' इत्येतावपि मन्त्रौ विप्रतिषिद्धार्थौ, अशत्रुत्वस्य शतसंख्यसेनाजयस्य च विप्रतिषिद्धत्वात्।

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ (ऋ० १०.१३३.२)

सुदाः पैजवन ऋषिः। **त्वं सिन्धून्** स्यन्दयितॄन् माध्यमिकानुदकसंघातान**वासृजः**, अवेत्येष वीत्येतस्य स्थाने, विसृष्टवान्, **अधराचः**-अधोगामिनः। अथवा सिन्धवो नद्यस्ता विसृष्टवान्, अधोगामिनीर्यतो**ऽहन्** हतवानसि, **अहिं** मेघम्। **अशत्रुश्च** त्वं हे **इन्द्र! जज्ञिषे** जातः। किञ्च **विश्वं** सर्वं **पुष्यसि** पुष्णासि, **वार्यं** वारिप्रभवं व्रीह्यादि, यदीदृशोऽसि त्वम्, **तं** त्वां **परिष्वजामहे**, आश्रयामः, आश्रितानां च सतां त्वत्प्रसादेन **नभन्तां** माभूवन्नित्यर्थः। अथवा नभतिर्वधकर्मा, **नभन्तां** विनश्यन्तु। **अन्यकेषामस्म**त्तोऽन्येषां सर्वलोकस्य कुत्सितानामस्मद्द्विषां, **ज्याकाः** कुत्सिता ज्याः, **अधिधन्वसु**-धनुषामुपरि, विनष्टयुद्धोपकरणा अस्मद्विनाशं प्रत्यसमर्था अस्मद्द्विषो भवन्त्वित्यर्थः।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥ (ऋ०१०.१०३.१)

अप्रतिरथस्येन्द्रपुत्रस्यार्षम्। आशुः क्षिप्रं शिशानस्तीक्ष्णीकुर्वन्नायुधं प्रगृहीतायुधो वृषभो न-यथा च नदीकूलेऽन्यत्र वा शृङ्गे निघ्नन् वृषभः, एवं भीमो-भयानको घनाघनो हनाहनो जहि जहीत्येवं शब्दकारी हन्ता चासुरादीनां क्षोभणः-संक्षोभयिता, चर्षणीनाम्-प्रत्यनीकावस्थितानामसुरादीनां शत्रुभूतानां संक्रन्दनः संक्रन्दयिता च समाह्वाता च युद्धार्थमित्यर्थः। आहूय चानिमिषो निमेषवर्जितोऽत्यन्तं त्वरित इत्यर्थः। जयं प्रत्येकवीर एक एव विक्रान्तः शतं सेना बह्वीः शत्रुसेनाः साकमवस्थिता अजयदेक इन्द्रो यस्तं वयं स्तुमः। एवमेते विप्रतिषिद्धार्थास्तदुच्चारणमात्रेणोपयोक्तुं समर्था नार्थप्रत्यायनेन, अर्थस्य विप्रतिषिद्धत्वात्।

अपि च-अग्नये समिध्यमानायानुवक्तव्यमिति जानन्तमेव होतारमध्वर्युः संप्रेष्यति-'**अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि** (तै०सं०६.३.७.१, शत०ब्रा०१.३.२.३)' इति। तदप्युच्चारणमात्रैणैवोपयुज्यमानेऽस्मिन्नर्थवत्, नार्थप्रत्यायनेन।

अपि च-अदितिर्द्युप्रभृति सर्वमित्याह-'**अदितिर्द्यौः**'-इत्ययं मन्त्रः। तच्चायुक्तम्, कथं ह्येकादितिर्द्यौश्चान्तरिक्षं च माता च पिता च पुत्रश्च स्यात्; तदेतदुच्चारणमात्रेणैवोपयुज्यमानेऽस्मिन् युक्तम्, अर्थस्यात्राविवक्षितत्वान्नार्थप्रत्यायनेन। इमं च मन्त्रम् **उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः-अदितिरदीना देवमाता** (निरु०४.२२) इत्यत्र।

अपि च-मन्त्रेष्वविस्पष्टार्थाः केचिच्छब्दा अम्यगादयस्ते **कथमर्थप्रत्यायनेनोपयुज्येरन्, अतोऽनर्थका हि मन्त्राः।**

अथ षोडशः खण्डः।

अर्थवन्तः शब्दसामान्यादेतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिर्वदतीति च ब्राह्मणम्। **क्रीळंन्तौ पुत्रैर्नप्तृंभिरिति**। यथो एतन्नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति। यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इत्युदितानुवादः स भवति। यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत। यथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्यथाऽसपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रोऽयं राजेति। यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभिवादयते जानते मधुपर्कं प्राहेति। यथो एतददितिः सर्वमिति लौकिकेष्वेप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति। यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति॥१६॥

नैतदेवम्-**अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्**। य एव लोके शब्दास्त एव मन्त्रेषु। ते यथैव लोके पदार्थान् प्रत्याययन्ति तथैव मन्त्रेष्वपि। ते पदार्था आकाङ्क्षितत्वाद् योग्यत्वाच्च सन्निधेश्च संसृज्यमाना यथैव लोके वाक्यार्थं प्रत्याययन्ति तथैव मन्त्रेष्वपि। स वाक्यार्थप्रत्ययो यथैव लोक उपयुज्यते तथैव मन्त्रेष्वपि। कथम्? मन्त्रा हि ये तावत् प्रैषाः-'अग्नीदग्नीन् विहर' इत्येवमादयः। करणाश्च-**'बहिर्देवसदनं दास्यामि'** इत्येवमादयः; तेषामर्थप्रत्ययः कर्त्तुः प्रवृत्त्योपयुज्यते। कर्त्ता हि प्रैषात्करणाच्च तदर्थं प्रतीत्य तत्र प्रवर्त्तते। येऽपि क्रियामाणानुवादिनो यूपाञ्जनादिषु-**'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः'** (ऋ०३.८.१)' इत्येवमादयः, तेषामप्यर्थप्रत्ययोऽञ्जनादौ पदार्थे प्रवृत्तस्य कर्त्तुरातत्परिसमाप्तेः स्मरणाविच्छेदस्य कर्त्तव्यत्वात् स्मरणेनोपयुज्यते। विच्छिन्नस्मरणो हि कर्त्ता तत्कर्मार्धकृतमेव परित्यजेत्।

येऽपि स्तोत्रशस्त्रगतास्तेषामप्यर्थप्रत्ययः स्तुतिरूपनिर्वृत्त्यैवोपयुज्यते। **गुणगुणिसम्बन्धप्रतिपादनं हि स्तुतिरित्युच्यते**, तत्समर्थाक्षरोच्चारणमात्रं न हि श्रवणार्थमभ्यासार्थं वा। स्तुतिसमर्थान्यृगक्षराणि श्लोकाक्षराणि वोच्चारयन्-स्तौतीति व्यपदिश्यते।

येऽप्यनुवचनगता जपा वा, तेषामपि, यद्यप्यनुब्रूयादिति जपेदिति चानुवादिना जपिना चोच्चारणमात्रं चोदितम्, नार्थप्रत्यायनम्, तथापि-**'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यते'** इत्यार्षेयब्राह्मणश्रुतेरज्ञायमानार्थस्य च मन्त्रस्य दैवतस्य च वेदितुमशक्यत्वादुपयुज्यतेऽर्थप्रत्ययः। तदेतदर्थवन्तः शब्दसामान्यादिति भाष्यकारेण सर्वमुपक्षिप्तं द्रष्टव्यम्।

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम्, किं तत्? यत्कर्म क्रियामाणमृग्यजुर्वाभिवदति इति च ब्रुवद् ब्राह्मणमप्यर्थवत्त्वं मन्त्राणां प्रतिपादयति। कर्म क्रियमाणमृगभिवदतीत्यत्र प्रसङ्गेनोदाहरणमुच्यते-

इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम्।

क्रीळ॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ॒ स्वे गृ॒हे॥ (ऋ०१०.८५.४२)

सूर्याया आर्षम्। विवाहकाले दम्पती उच्येते। **इहैव** स्थाने **स्तं** भवतं **मा च वियौष्टं**, युजेरिदं रूपं , मा वियोगं प्राप्नुतमित्यर्थः। **विश्वं सर्वमायुः** परस्परस्य **व्यश्नुतं** व्याप्नुतं मैकोऽपि युवयोः शीघ्रं मृतेत्यर्थः। **क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः** पुत्रैः पौत्रैश्च **मोदमानौ स्वे गृहे**।

यदुक्तं-वाचोयुक्तेर्नियमान्नियतानुपूर्वीकत्वाच्चानर्थका मन्त्रा इति? तन्न, लोकेऽपि तयोर्दर्शनात्। न हि लोके-'**इन्द्राग्नी**' शक्राग्नी उच्येते नाप्यग्नीन्द्राविति। किं पुनः कारणं नोच्येते-शक्राग्नी अग्नीन्द्राविति? अनयोः शब्दयोरसाधुत्वात्, असाधोश्च प्रयोगे साधुजन्यो योऽभ्युदयः प्रत्यवायपरिहारो वा तस्यासिद्धेः। यथैव लोक एवं मन्त्रेष्वपि। मन्त्रस्याम्नायवचनसामर्थ्यात् तेन च प्रासङ्गिकं कर्म क्रियमाणं सगुणं भवति नान्येन, सगुणाच्च कर्मणः फलसिद्धिः। अतोऽर्थप्रत्यायनेनाप्युपयुज्यमानेषु युक्तो वाचोयुक्तेरानुपूर्व्यस्य च नियमः।

यदुक्तं-ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नानां मन्त्राणां विधानादानर्थक्यप्रसङ्गादनर्थका मन्त्रा इति? तदपि न, अनुवादः सः, यजमानमेवैतत् प्रजया पशुभिः प्रथयतीत्यर्थवादात्।

यदप्युक्त**मनुपपन्नार्था**: केचिन्मन्त्रा इति? तदपि न, ओषधेर्याऽधिदेवता सा त्रायस्वेत्युच्यते, सा च देवतात्वात् त्राणसमर्था, त्राणं चात्र मार्यमाणस्य पशोर्यत्स्वर्गनयनं तदभिप्रायं स्वर्गमेनं नयेत्यर्थः। तथाहि ब्राह्मणम्-'**पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् स देवान्नान्वकामयतैतुं तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्याम**' इति। एतेनैव '**स्वधिते मैनं हिंसीः**' (वा०सं ४२.६,१५) इति विपरीताचरणाद्यनुपपन्नत्वमुक्तम्, तत्प्रत्युक्तम्। अत एव हि स्वर्गगमनार्थादाम्नायवचनान्मृतस्य हि पशोः स्वर्गगमनाद् भूयसोऽनुग्रहस्य निर्वृत्तेर्हिंसाप्येषाऽहिंसैव प्रतीयते।

यदप्युक्तं-**विप्रतिषिद्धार्थाः** केचिन्मन्त्रा इति? तदपि न, न ह्ययं मन्त्रार्थः-एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽस्तीति। किं तर्हि? **रणायैक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः कश्चित्। अन्ये सर्वे नष्टा इत्यर्थः। एवमनेन संग्रामार्थावस्थानगतं रुद्रस्यैकत्वमुच्यते न स्वरूपगतम्। असंख्याता सहस्राणीत्यनेन तु स्वरूपगतमसंख्यातसहस्रत्वम्।** अतोऽविप्रतिषेधः। तथा-'**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे**' इति। नायमर्थः-अशत्रुरेव त्वं जात इति। किं तर्हि? यतस्त्वमहन्नहिं मेघं ततः प्रधानशत्रौ तस्मिन् निहतेऽशत्रुर्जातोऽसीति सद्भावेऽप्यन्येषां शत्रूणां निःसारत्वादल्पत्वाद्वाऽशत्रुरित्युच्यते। यथा च लोके-**असपत्नोऽयं ब्राह्मणः। अनमित्रो राजा इति।** न हि कस्यचित् सपत्ना मित्राणि वा न सन्ति।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।

उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥ (महाभारते) इति।

यदप्युक्तं-जानतः संप्रेषणमनर्थकमिति? तदपि न, प्रैषणसमाम्नानसामर्थ्याद्धि प्रैषेण यच्छ्रुतं तस्य कर्माङ्गत्वं न स्वयमुत्पन्नस्य। यथा ह्यभिवादने मधुपर्के चैतस्मिन्नेव काले संकीर्त्तने नामगोत्रयोर्मधुपर्कस्य च यज्ज्ञानं तस्याङ्गत्वं न स्वयमुत्पन्नस्य तद्वत्। अतो जानतोऽपि न संप्रेषणमनर्थकम्।

यदप्युक्तं-**अदितिः सर्वमित्याहेति**, तत्रापि द्युप्रभृतिकर्मकरत्वादयमदितेर्द्युप्रभृतिव्यपदेशः। यथा लोके-त्वमेव मन्माता त्वमेव पिता त्वमेव च भ्रातेति। यथा च **सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति,** सर्वरसजन्या या प्रतीतिस्तस्या अनुप्राप्तेः सर्वरसा अनुप्राप्ता इति व्यपदेशस्तद्वत्।

यदुप्युक्तं-**अविस्पष्टार्थाः** केचिच्छब्दा अम्यगादय इति? तदपि न। नैषा स्थाणोरपराधो यदित्याद्यनर्थज्ञोपमानेनैतत्प्रतिपादयति। यथायमन्धः स्थाणुं न पश्यति, न स दृश्यस्य स्थाणोरपराधः। किं तर्हि? द्रष्टुः पुरुषस्यान्धत्वात् द्रष्टुमसमर्थत्वात्। एवन्नाम्यगादीनामर्थस्य ज्ञेयस्यायमपराधः, यदेनं भवान्न जानाति, ज्ञातुर्भवतोऽयमपराधः, निरुक्तव्याकरणादिसंस्कारेणासंस्कृतत्वाज्ज्ञातुमसमर्थत्वात्। यथा जनपदे भवा याः क्रिया ओदनपाकाद्याः शिल्पिक्रिया वा चित्रकर्माद्यास्तासु विद्यातः पुरुषाणां विशेषो भवति। य आगमेन शिक्षत्यभ्यसति च स सुष्ठु जानाति, इतरस्तु मनाक्, नैव वा। एवमत्रापीति वाक्यशेषः। ततश्च येन मन्त्रार्थः शिक्षितोऽभ्यस्तश्च तस्य न किञ्चिदविस्पष्टार्थम्। किञ्च पारोवर्यमागमपरम्परा, तया ये विदन्ति वेदितारस्तेषां मध्ये यो **भूयोविद्यः** स लोके **प्रशस्यो** भवति, नेतरो य उत्प्रेक्षया कल्पयत्यल्पविद्यो वा। अत आगमपरम्परया निरुक्तव्याकरणादिविद्याभिर्भूयोविद्यो भूत्वाऽविस्पष्टानामर्थो ज्ञेय इत्यर्थः।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां

षष्ठस्य पञ्चमः पादः।

अथ षष्ठः पादः

अथ सप्तदशः खण्डः।

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। **अवसायं पद्वते रुद्र मृळ।** (ऋ०१०.१६९.१) इति पद्वदवसं गावः पथ्यदनमवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणस्तस्मान्नावगृह्णन्ति। **अव सायाश्वान्** (ऋ०१.१०४.१) इति स्यतिरुपसृष्टविमोचने तस्मादवगृह्णन्ति। **दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम** (ऋ०१०.१६५.१) इति पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वाऽऽकारान्तम्। **परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व** (ऋ०१०.१६४.१) इति चतुर्थ्यर्थप्रेक्षैकारान्तम्। परः संनिकर्षः संहिता। पदप्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तदेतेनोपेक्षितव्यं ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति। **इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति।** इति वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रेऽग्निरिव त्विषितो सहस्वेति तथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे त्विषितो ज्वलितस्त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति। **अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व** (ऋ०१०.८४.२) तथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे त्विषितो ज्वलितस्त्विंषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति। अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च॥ १७॥

भाष्यटीका

अथापि इत्यादि प्रयोजनानन्तरं वचनम्-अपि च **इदमन्तरेण पदविभागः**-पदविभागेनात्र ज्ञानं लक्ष्यते; इदं निरवग्रहमिदं सावग्रहमिति, तुल्यायां संहितायामिदं पञ्चम्यन्तमिदं षष्ठ्यन्तमिति च, इदमाकारान्तमिदं चतुर्थ्यन्तमैकारान्तमित्यादिभिर्यः पदविभागस्तस्य ज्ञानं **न विद्यते** तस्यार्थज्ञानाधीनत्वात्।

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसायं पद्वते रुद्र मृड॥ (ऋ०१०.१६९.१)

शबरो नाम काक्षीवत ऋषिः। मयोभूर्गावो गव्यूतिं प्रतिष्ठमाना अनयाऽनुमन्यन्ते। **मयोभूः** सुखस्य भावयिता **वातोऽभ्युस्राः** अभि शब्दः **'अभिरभागे'** (अष्टा०१.४.९१) इत्येवं कर्मप्रवचनीयः प्रतिशब्देन समानार्थः, **उस्रा इति गोनाम** (निघ० २.११), इमा गाः प्रतिवातु वातेन सुखचयमाना इमा **ऊर्जस्वतीरोषधीरारिशन्तामास्वादयन्तु। पीवस्वतीः** पीवो बलं तद्यासां कर्त्तव्यत्वेनास्ति ताः पीवस्वत्य आपस्ताश्चापो बलकरा इत्यर्थः। **जीवधन्याः**-धिनोतेः प्रीणनार्थस्येदं रूपम्, जीवानां प्रीणयित्रीः **पिबन्तु,** त्वमस्मा **अवसाय** अवसम् इति पथ्यदनम् उच्यते, गावः च पथ्यदनं तत्संभवस्य पय आदेः पथ्यद्यमानत्वात् पथ्यदनाय **पद्वते** पादसंयुक्ताय गोलक्षणाय हे **रुद्र! मृड** सुखं देहीत्यर्थः, एवमत्रावसायेति न स्यतेरवपूर्वस्य ल्यबन्तस्य रूपम्, धातूपसर्गयोर्ल्यपश्चात्रार्थासंभवात्। पद्वत इत्यनेन सामानाधिकरण्याच्चतुर्थ्यन्तत्वावगतेश्च। किं तर्हि? **अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः,** नाम क्रियते येन शब्दस्य स नामकरणः प्रत्यय उच्यते। तस्माद् एतत् पदं **नावगृह्णन्ति** पदकाराः, अवग्रहस्यार्थभेदप्रतिपादनार्थत्वात्, तस्य चेहाभावात्।

योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमा नि षीद स्वानो नार्वा।

विमुच्या वयोऽवसायाश्वान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे॥' (ऋ० १.१०४.१)

कुत्सस्यार्षम्। **योनिः** स्थानं वेद्याख्यं ते तव हे **इन्द्र**! **निषदे**-उपवेशनाया**कारि** कृतमस्माभिः, **तमा**-तमिति कर्मण आ इति चोपसर्गश्रुतेः क्रियापदमध्याहार्यम्, तमागत्य **निषीद**ोपविश। **स्वानो नार्वा**-'स्यमु स्वन ध्वन शब्दे' स्वनति स्वान्यत इति वा स्वानः, आगमनस्येदमुपमानम्, **अर्वेत्यश्वनाम** (निघ० १.१४), यथा हेषितशब्दं कुर्वन् शब्द्यमानो वाश्वः शीघ्रमागच्छेत् तद्वदागत्य च। **विमुच्या वयः**-अश्वरश्मयोऽत्र वय उच्यन्ते, अश्वं सारथिं च प्रतिगन्तृत्वात्, तान् विमुच्याऽश्वेभ्यः, **अवसायाश्वान्**-अवेत्येष वीत्येतस्य स्थाने, स्यतिर्मुचेः स्थाने, अश्वान् विमुच्य योक्त्रेभ्यो रथाद्वा, कीदृशानश्वान्? **दोषावस्तोः**-रात्रावहनि च, **वहीयसः**-अतिशयेन वोढॄन्, **प्रपित्वे**-प्राप्ते यागकाले। एवमत्रागमनकरणं यद्बन्धनं तद्विमोककरणस्य **विमुच्या वय** इति प्रस्तुतत्वात, अश्वानिति च कर्मश्रुतेरवसायेति **स्यतिः** अयम् **उपसृष्टः** उपसर्गेणावेत्यनेन युक्तो **विमोचने** वर्त्तत इति गम्यते। **तस्माद्** एतत्पदम् **अवगृह्णन्ति** धातूपसर्गयोरर्थभेदप्रदर्शनार्थम्।

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।

तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ (ऋ० १०.१६५.१)

नैर्ऋतस्य कपोतस्यार्षम्। कपोतनिलयनो होमोऽनया क्रियते। हे **देवाः**! **कपोत इषितः** प्रेषितो यदस्मद्विनाश**मिच्छन् दूतो निर्ऋत्या** निर्ऋतिर्मृत्युदेवता तस्याः सकाशात्स्वभूतो वा, **इदम**स्मद्गृह**माजगाम**, **तस्मै**-तादर्थ्य एषा चतुर्थी, निवृत्त्या चात्र तादर्थ्यम्, मशकार्थो धूम इति यथा, तन्निवृत्त्यर्थ**मर्चामः** स्तुमः, **कृणवाम**-कुर्वंश्च **निष्कृतिं** निष्क्रियामाहुतिलक्षणाम्; अतः **शं नो अस्तु द्विपदे** पुत्रादिकाय, **शं चतुष्पदे** गवादिकाय। **पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा** वाऽत्रेति वाक्यशेषः। पञ्चम्यर्थः षष्ठ्यर्थो वाऽत्र विद्यत इत्यर्थः। अतः पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं वैतत्पदम् **आःकारान्तम्**।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।

परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ (ऋ० १०.१६४.१)

प्रचेतस आर्षम्। दुःस्वप्नदर्शने विनियुक्ता ऋक्। मन इति विज्ञानमुच्यते बुद्ध्यादि तस्य पतिर्मनसस्पतिरात्मा, इह पुनर्मृत्युर्व्याधिर्वा मनसस्पतिः, उभावपि स्वकृतकर्मापेक्षया प्राणिनां बुद्ध्यादिविज्ञानोपसंहारस्येशाते, तयोरन्यतरः सम्बोध्यते हे **मनसस्पते** स्वामिन्! **अपेहि**-अस्मत्तोऽपगच्छ, मृत्यो! अपेत्य **चापक्राम**, अपक्रम्य **परश्चर**, **परश्च** सन् **निर्ऋत्या आचक्ष्व** कथय, **बहुधा**ऽनेकप्रकारं **जीवतो मनो** जीवतो यादृक् तादृक् तस्य मनः, नाद्यापि मरणकाल इति। एवमत्र **चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा**, आचक्ष्वेति यस्मा आख्यायते तं क्रियाफलमभिप्रैतीत्येवमेतत्, पत्ये शेत इत्यादिवन्निर्ऋतेः संप्रदानत्वादेतत्पदं चतुर्थ्यन्तम् **ऐकारान्तम्**।

स्यादेतत्, संहितैव कर्मणि प्रयुज्यते, किं तत्र पदविभागज्ञानेनेति? तत्र, प्रदानामेव हि-**'परः सन्निकर्षः संहिता'** (अष्टा० १.४.१०९) परः प्रकृष्टो यः सन्निकर्षः संश्लेषः परस्परेण स्वराणां स्वरारूढानां व्यञ्जनानां सा

संहितेत्युच्यते न वस्त्वन्तरम्। अतः सा **पदप्रकृतिः** (ऋक्प्रातिशाख्य २.१;१०५)-पदानि प्रकृतिरस्याः सेयं पदप्रकृतिः, पदानि हि पुनः पुनः प्रयोगादन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगतार्थानि पदार्थान् प्रतिपत्तुम्, तेभ्यश्च वाक्यार्थान्यपि तान्येव प्रयोगमर्हन्ति, **न संहिता**, अदृष्टप्रयोगत्वादनवकाशत्वाच्च। **'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'** स्वस्यां स्वस्यां पर्षदि भवानि पार्षदानि प्रातिशाख्यान्युच्यन्ते। प्रातिशाख्यकारैरपि पदप्रकृतित्वं संहिताया आश्रितमेवेत्यर्थः। तेऽपि हि पदानि प्रकृतित्वेनोपादाय संहितामन्वाचक्षते।

अथापि इति प्रयोजनान्तरकथनम्। **अपि याज्ञे** कर्मणि **देवतेन बहवः प्रदेशा** वचनानि **भवन्ति**- **'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते' 'वैष्णव्या हविर्धानम्'** इत्यादीनि। न च निरुक्तमन्तरेण दैवतं शक्यं ज्ञातुम्। **ते चेद्** याज्ञिका **ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति**, लिङ्ग देवताभिधानसमर्थः शब्दः, ततो ज्ञातारोऽत्र मन्त्रगणे वेदे वा वयं दैवतस्येति, देवताया एवाभिधायकान् शब्दान् मन्त्रेण श्रूयमाणा द्रुयं दैवतं ज्ञास्यामः, किं नो निरुक्तेनेत्यर्थः। ते प्रतिवक्तव्याः-**'इन्द्रं न त्व'** (ऋ०६.४.७) इत्यादि। अयमस्यार्थः-नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येनेदमिति कथं विवेकज्ञानमिति। **'इन्द्रं न त्वा'** इत्ययमाग्नेयो मन्त्रः, नैन्द्रो वायव्यो वा। **'अग्निरिव मन्यो'** (ऋ०१०.८४.२) इत्ययं मान्यवो नाग्नेय इति नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुं नेतरः, **'इन्द्रं न त्वा'** इत्यत्रेन्द्रस्य वायोश्च लिङ्गाभावाद् **'अग्निरिव मन्यो'** इत्यत्राप्यग्नेः।

अयं मन्त्रो व्याख्यायते-

त्वां हि मुन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महिं नः श्रोष्यग्ने।

इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः॥ (ऋ०६.४.७)

भरद्वाजस्यार्षम्। **त्वां हि**-हिर्यस्मादर्थे, यस्मात्त्वां **मन्द्रतम**मतिशयेन स्तुत्यम्, **अर्कशोकैः**-अर्को मन्त्रः शोको दीप्तिः, अर्काश्च ते शोकाश्चार्कशोकास्तैः स्वदीप्त्या दीप्तैर्मन्त्रैरित्यर्थः। **ववृमहे**-संभजामहे नित्यं स्तुम इत्यर्थः। यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यध्याहार्यम्। तस्मान्**महि** महत्स्तुतिरूपं **नो**ऽस्माकं **श्रोषि** शृणु, हे **अग्ने**! कतम उच्यते? **इन्द्रं न त्वा** इन्द्रमिव त्वां, **शवसा-शव इति बलनाम** (निघ०२.९) अन्तर्हितमत्वर्थं चेह द्रष्टव्यम्, बलवता सारवतेत्यर्थः, **देवता**-देवतां **वायुं** लुप्तोपममेतत् वायुसदृशं **पृणन्ति** प्रीणयन्ति **राधसा** धनेन हविर्लक्षणेन **नृतमाः** प्रकृष्टनराः।

अग्निरिव मन्यो (ऋ०१०.८४.२)' इति पुरस्तादग्निरिवेन्द्र इवेत्यत्र व्याख्यातः। त्विषितो ज्वलितः, त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति इति प्रासङ्गिकं त्विषिशब्दस्य निर्वचनम्।

अथापि इति प्रयोजनान्तरवचनम्। अपि च **'स्थाणुरयम्'** इत्यनयोः पूर्वाचार्यस्मृतश्लोकयोः, **'उत त्वः पश्यन्न** (ऋ०१०.७१.४)' इत्यनयोश्चर्चोर्वेदार्थज्ञानस्य **प्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च**, प्रशस्तं च कर्त्तव्यमतो ज्ञेया मन्त्रार्थाः तदर्थमप्यर्थवन्निरुक्तम्।

अथाष्टादशः खण्डः।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। (मूल अज्ञात) **यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तु ज्वलति कर्हिचित्।** स्थाणुस्तिष्ठतेरर्थोऽर्तेररणस्थो वा।। १८।।

भाष्यटीका

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।[१] **(मूल अज्ञात)**

'स्थाणुः' इति छिन्नशाखं वृक्षमूलमुच्यते, लुप्तोपमश्च अयम्, स्थाणुरिव **भारहार** इति, हरतिर्धारणार्थो द्रष्टव्यो न देशान्तरप्रापणार्थः। कुतः ? उपमाने स्थाणौ तस्यासम्भवात्। **'किल'** इत्यागमप्रदर्शनार्थः। यथा स्थाणुः केनचिदारोपितस्य भारस्य धारयितैव केवलं भवति, न तज्ज्ञेनोपकारेण युज्यते, एवमयं वेदाभारस्य धारयितैव केवलं भवति न तज्ज्ञानोपकारेण युज्यते; कः ? **अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। यः तु अर्थज्ञः** स जीवंस्तावत् प्रतिग्रहादि **सकलं** समग्रं **भद्रं** कल्याणम् **अश्नुते**। मृतोऽपि स्वर्गं गच्छति, ज्ञानेन विधूतपापः।

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।

अनग्नाविव शुष्कैधो न तु ज्वलति कर्हिचित्।।[२]

यद् गृहीतं-ग्रन्थतो वेदस्य **विज्ञातं** नार्थतः, **निगदमु**च्चारणमात्रम्, तेनैवाध्येत्रा **शब्द्यते** नास्यार्थज्ञानमस्मिन् भवति, यथाऽग्निरहिते प्रदेशे **शुष्कमप्येधो न ज्वलति**, एवमग्निस्थानीयेनार्थज्ञानेन रहितेऽस्मिन्नध्येतरि न ज्वलति स्वकार्यं न करोतीत्यर्थः, **कर्हिचित्** कदाचिदपि। एवमनयोः स्मृतिश्लोकयोः पूर्वस्य पूर्वेणार्धेनाज्ञानस्य निन्दा, परेण ज्ञानप्रशंसा; उत्तरेण तु श्लोकेन समस्तेनाज्ञानस्य निन्दा। **स्थाणुस्तिष्ठतेः**। स हि तिष्ठत्येव न चलति। **अर्थोऽर्त्तेः** गत्यर्थस्य। यस्तावच्छब्दस्यार्थः स तस्माद् गम्यते, यो हिरण्यादिः सोऽप्यनादिना व्यवहारेणान्यस्मात् पुरुषादन्यं गच्छति। **अरणस्थो वा**। अरणं गमनं शब्दस्य तावदुच्चरितस्य तिरोधानं तस्मिन्नर्थस्तिष्ठति, न शब्देन सह तिरोधीयते, इतरत्रापि गमनमरणं स्वामिनस्तस्मिन् हिरण्यादिरर्थस्तिष्ठति, न स्वामिना सह गच्छतीति।

---

१. स्कन्दटीकायामयं श्लोको न विद्यते, परन्तु तेन व्याख्यातः।

२. स्कन्दटीकायामयं श्लोको न विद्यते, परन्तु तेन व्याख्यातः।

अथैकोनविंशः खण्डः।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ (ऋ०१०.७१.४) अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। इत्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशमनमर्थस्याह। अनया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरे भूयसे निर्वचनाय॥१९॥

भाष्यटीका

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं १ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ (ऋ०१०.७१.४)

बृहस्पतेरार्षम्। परा च ऋक्। **उत त्वः**-उतशब्दोऽप्यर्थे, **पश्यन्नित्यस्माच्च** परो द्रष्टव्यः। पश्यन्नपि पर्यालोचयन्नपि मनसेत्यर्थः। **त्व** एको **न ददर्श**, दर्शनफलाभावान्नैव पश्यति **वाचम्; उत त्व** एकः **शृण्वन्नपि** च श्रवणफलाभावान्नैव **शृणोत्येनाम्;** योऽस्या न वेदार्थं तमेवमाह। **उतो त्वस्मै**-उतो इति तुशब्दस्यार्थे, एकस्मै त्वर्थज्ञाय **तन्वं** शरीरमात्मीयं शरीरं वाक् सर्वप्रकारं **विसस्रे**-सर्त्तेर्गत्यर्थस्यान्तर्हितण्यर्थस्येदं रूपम्, विविधं रूपं गमयति विवृणुते प्रकाशयतीत्यर्थः। **ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याह। अनया वाचा** अनेन वचनेन **उपमोत्तमया** उत्तमसमीपस्थेन **वाचा** वचनेन वाक्येनेत्यर्थः। **जायेव पत्य उशती सुवासाः**-यथा भार्या भर्त्रे **कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु** संभोगार्थं **स्वमात्मानं विवृणुते** तद्वत्। एवमियम् **अर्थज्ञप्रशंसा**।

तस्यैवार्थस्योत्तरा ऋक् भूयसे निर्वचनाय-

अथ विंशः खण्डः।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ (ऋ०१०.७१.५) अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थम्। देवसख्ये रमणीये स्थान इति वा। विज्ञातार्थम्। यं नाप्नुवन्ति वाग्यज्ञेषु बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया। वाक्प्रतिरूपया। नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोहान् देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामिति। अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा। किंचित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा। एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः। एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्।

नैघण्टुकमिदं देवतानाम। प्राधान्येनेदमिति। तद् यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्। अश्वं न त्वा वारवन्तम्। अश्वमिव त्वा बालवन्तम्। बाला दंशवारणार्था भवन्ति। दंशो दशतेः। **मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः**। मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। भीमो बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्। क्वायं न चरतीति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी। गिरि पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व। देवानस्मिन् प्रीणन्तीति। तत् प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिरितस्मादेव। तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानीहेह॥ २०॥

भाष्यटीका

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ (ऋ० १०.७१.५)

उत त्वमपि चैकं पीतार्थो यस्तं **सख्ये**, केन सह? पूर्वस्यामृचि वाचः प्रकृतत्वाद् वाचा, **स्थिरपीतं**-यो यत्पिबति स तत्प्राप्नोत्यतः पानस्य प्राप्तेश्च सम्बन्धात् पानेनात्र प्राप्तिर्लक्ष्यते स्थिरप्राप्तिमाहुः, के? ऋषयो ब्राह्मणा विद्वांसः, योऽर्थज्ञः स वाचं निराह, ततश्च **यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति** (निरु० १३.१३) इति ताद्भाव्यापत्तेर्वाचा सहास्य सख्यं स्थिरमित्येवमाहुरित्यर्थः। **रममाणमिति** त्वर्थप्राप्तार्थवचनं भाष्ये, यो हि वाचस्ताद्भाव्यमापन्नो रमत एवासौ। अथवा सख्यमित्यत्र **रमणीये स्थाने** स्वर्गाख्ये गतस्य दैवतैः सह यद् गृह्यते तस्मिन् स्थिरप्राप्तिमाहुः, यो विज्ञातार्थस्तम्। अथवा विदुषां संसदि या सत्कथा साऽत्र सखिकर्मत्वात् सख्यमित्युच्यते सा च वाचा क्रियते, अतो वाक्यसम्बन्धाद् भाष्ये वाक्सख्यमित्युच्यते। स्थिरपीतमिति पिबति ज्ञानार्थः, लोकेऽपि यो यत्र ज्ञातार्थो भवति स उच्यते पीतार्थोऽयमत्रेति, आहुरित्यादिः प्रशंसार्थः, अस्मिन्नगरे देवदत्तं ब्राह्मणमाहुरिति यथा तद्वत्; विद्वत्सु कथायां यः स्थिरज्ञान आपेक्षप्रतिसमाधानसमर्थस्तमेकं प्रशंसतीत्यर्थः। अथवा देवसंबद्धं यत्सखिकर्म यज्ञार्थं रमणीये स्थाने वेद्याख्ये तदत्र सख्यमित्युच्यते, तस्मिन् स्थिरज्ञान आपत्स्वपि प्रायश्चित्तनिमित्तभूतासु न मुह्यति, नित्यनैमित्तिककर्मविधिज्ञ इत्यर्थः, तमेकं प्रशंसन्ति। **नैनं हिन्वन्त्यपि** 'हि गतौ' शुद्धोऽप्यत्रानुपूर्व्यस्यार्थे। अपिशब्दश्चार्थे, न चैनमनुगच्छन्ति **वाजिनेषु** वागिनेषु वागिना ईश्वरी येषां, वाचो य आयत्तार्था वाचा ये ज्ञेया इत्यर्थः, ते वाजिनस्तेषु। एवमियं ज्ञानप्रशंसा, परा त्वज्ञाननिन्दा; **अधेन्वा** धेनुत्ववर्जितया कामानामदोग्ध्र्या **देवमनुष्यस्थानेषु** वाचा **चरति मायया वाक्प्रतिरूपया एषो**ऽविज्ञातार्थो **यो वाचं शुश्रुवानफलामपुष्पाम्,** अर्थो वाचः पुष्पफलम्, **याज्ञदैवते पुष्पफले दैवताध्यात्मे वा,** याज्ञमिति यज्ञज्ञानमुच्यते यज्ञभवत्वात्, दैवतं देवताज्ञानम्, आध्यात्ममध्यात्मज्ञानम्, तेषां पूर्वपश्चाज्जन्मसामान्याद्धेतुहेतुमद्भावसामान्याच्च याज्ञदैवते पुष्पफले उच्यते दैवताध्यात्मे वा, यथा हि पूर्वं पुष्पं जायते पश्चात्फलम्, एवं पूर्वं यज्ञज्ञानं जायते पश्चाद्देवताज्ञानम्, तच्च पूर्वं, पश्चादध्यात्मज्ञानम्। यथा वा पुष्पफले हेतुहेतुमद्भूते, एवं याज्ञदैवते दैवताध्यात्मे वा, अतस्तेऽत्र पुष्पफले उच्येते। तद्वर्जितां यो वाचमर्थवर्जितां ग्रन्थमात्रेणैवोपाध्यायाच्छ्रुतवानित्यर्थः।

अफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा, अध्ययनमात्रादप्यवश्यकर्त्तव्यत्वादध्ययनस्य कियतोऽपि फलस्यावश्यंभावात्, नासौ परिश्रमो व्यर्थ एवेति भाष्यकाराभिप्रायः।

एवमुक्तप्रयोजनस्य निरुक्तस्य परेणागमः कथ्यते। **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभुवुः।** धर्मस्यातीन्द्रियत्वात् साक्षात्करणस्यासम्भवात् धर्मशब्देनात्र तदर्थं मन्त्रब्राह्मणमुच्यते, तत्साक्षात्कृतो धर्मो यैस्ते साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः। कथं पुनस्तैः साक्षात्कृतम्? उच्यते, स्मृतिकारैरैतिहासकैश्चाभ्युपगतत्वाच्छुत्या चाविरोधादन्तरालप्रलयः पुनः सृष्टिश्चास्ति। तत्र सृष्ट्यादौ य ऋषयस्तेऽतीतसृष्टावधीतं सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन मन्त्रब्राह्मणं स्मरन्ति। कश्चित्किञ्चित् यो यत्स्मरति तत्तेन दृष्टं तेन साक्षात्कृतं तेन प्रोक्तं तस्यार्षमिति चोच्यते। यस्य यावदार्षं तेन तावदेव साक्षात्कृतम्, अन्यत्तु तेनापि यत्साक्षान्न कृतं तदुपदेशेनैवाधिगतम्।

न च जन्मान्तरानुभूतं नियमेन न स्मर्यते, दृश्यन्ते ह्यद्यत्वेऽपि जातिस्मराः किञ्चित्स्मरन्तः। ते चर्षयो यद्यपि प्रतिसृष्ट्यन्येऽन्य उत्पद्यन्ते, तथाप्यतीतसृष्टिकृतपुण्यविशेषवशात् तत्कर्मणस्तन्नामानश्चोत्पद्यन्ते। तेनैकस्यां सृष्टौ विश्वामित्रनाम्ना यत् स्मृतं सृष्ट्यन्तरेऽपि विश्वामित्रनामैव तत् स्मरति। अतो नित्यत्वेऽपि वेदस्य नार्षव्यपदेशस्य नापि साक्षात्करणस्य कश्चिद्विरोधः, एतदभिप्रेत्यैतदुच्यते-**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः** इति। **तेऽवरेभ्योऽ**वरकालीनेभ्यः शक्तिहीनेभ्योऽतीतसृष्टिकृतपुण्यविशेषाभावात्, शक्तिभारैः **असाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन** शिष्योपाध्यायिकया वृत्त्या **मन्त्रान्** ग्रन्थतोऽर्थतश्च **संप्रादुः**। तेषु हि पूर्वसृष्टावधीतेषु तेषामुपदेशमात्रेणैव स्मृतिर्बभूव, यथेदानीं छन्दो नष्टं गणयतः कस्यचित्। मन्त्रग्रहणं चात्र ब्राह्मणानां प्रदर्शनार्थम्, मन्त्रान् ब्राह्मणानीति संप्रादुः। **उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे,** तेऽप्यवरतमेभ्य उपदेशायोपदशार्थं ग्लायन्तो **'ग्लै म्लै हर्षक्षये'** उपदेशमात्रेण ग्रहीतुमशक्नुवन्तस्तदनुकम्पया क्षीयमाणहर्षास्ताननुकम्पमाना इत्यर्थः। **बिल्मग्रहणाय,** बिल्म उपायः, तेन ग्रन्थस्य चार्थस्य च ग्रहणार्थम्, ग्रन्थस्य ग्रहणोपायोऽष्टसंधकेन दशसंधकेन वा; ग्रहणमध्ययनमर्थस्योपाध्यायात् पुनः पुनः श्रवणम्। वेदाङ्गज्ञानं च **इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदाङ्गानि च।** यद्यस्य साक्षात्कृतधर्माण आर्षं तत् तस्मादुपश्रुत्य कृत्स्नं वेदं ग्रन्थग्रहणार्थं समाम्नातवन्तः, अर्थग्रहणार्थं वेदाङ्गानीत्यत एवोपश्रुत्य स्वयं च कल्पयित्वा निरुक्तं च वेदाङ्गम्। तदेवमागमिकस्येदमागमकथनम्।

ये तु सृष्टिप्रलयौ नेच्छन्ति, त एतं ग्रन्थमेवं व्याचक्षते-साक्षाद्धर्मवचनोपदेशनिरपेक्षं कृतः प्रतिपन्नो धर्मो यैस्ते **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभुवुः; तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यो** वेदवचनादेवोपदेशनिरपेक्षं धर्मं प्रतिपत्तुमसमर्थेभ्य इत्यर्थः। **उपदेशेन** चार्थस्य **मन्त्रान्** ब्राह्मणानि च **संप्रादुः**। अस्य मन्त्रस्यायमस्य चायमित्येवमुपदेशेन मन्त्रार्थं ब्राह्मणार्थं च कथितवन्त इत्यर्थः। **उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे,** ये तु ततोऽप्यवरे वेदवचनात् स्वयमुपदेशमात्रेण वा तदर्थं प्रतिपत्तुमसमर्थास्त आत्मन उपदेशार्थं समाम्नातस्य सत उपाध्याया अर्थमुपदेक्ष्यन्ति, उपदिष्टार्थात् ततो वेदार्थं प्रतिपत्स्यामह इत्येवमर्थमित्यर्थः। **इमं ग्रन्थं** गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः, **वेदं** धर्मप्रतिपत्त्यर्थम्, **वेदाङ्गानि च** अन्यान्यपि वेदार्थप्रतिपत्त्यर्थम्। **बिल्मग्रहणाय-**बिल्म उपायस्तस्य निर्वचनम्। **भिल्मं भासनमिति वा** इति। बिल्ममिति बिभर्त्तेरूपम्, उपायो बिभर्त्युपेयम्, भासते च प्रकाशीभवति। तत्तेन बिल्मशब्दस्य चाप्रसिद्धस्य लोके यदुपादानं निर्वचनं च, क्वचित्तस्य मन्त्रेषु प्रयोगोऽस्ति तदर्थम्; तद्दर्शयिष्यामः-

अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।

सं सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परि वन्द ऋग्भिः॥' (ऋ० २.३५.१२)

गृत्समदस्यार्षम्। अस्या ऋचोऽपान्नपाद्देवता, अपोनप्त्रीये सूक्ते समाम्नातत्वात्। अपान्नपाच्च मध्यमः। **अस्मै** प्रकृतायापांनप्त्रे **बहूनां** यजमानानाम**वमाय**-अवम इत्यन्तिक नाम, अन्तिकाय सन्निकृष्टायात्यन्तं प्राप्तायेत्यर्थः। सर्वत्रात्र द्वितीयार्थे चतुर्थी। बहूनां **सखायं यज्ञैः** सोमयागैर्ज्योतिष्टोमादिभि**र्विधेम** परिचरेमेत्याशास्महे, **नमसा** स्तुत्या च **हविर्भिश्च** पुरोडाशादिभिस्तदर्थं च **सानु** समुच्छ्रितं प्रदेशं गार्हपत्यादिस्थललक्षणं वेदिलक्षणं च **संमार्ज्मि** गोमयपाण्डुमृत्तिकादिना, **दिधिषामि** 'धिष धारणे' धारयितुं चेच्छामि गार्हपत्यादिमग्निं **बिल्मै**रुपायैर्ज्वलनस्याधो भस्मनि गोमयनिखननादिभि**र्दधामि** धारयामि चैन**मन्नैः** सायं प्रातश्चाग्निहोत्रद्रव्यलक्षणैर्यवाग्वादिभिः, **परि वन्दे** सर्वतः स्तौमि **ऋग्भिः** स्तुतिभिः। एवमस्मिन्मन्त्रे बिल्मशब्दस्य प्रयोगादिहोपादानं निर्वचनं चैवमर्थं द्रष्टव्यम्।

निरुक्तस्य त्रीणि प्रकरणानि, तस्य परेण। '**एतावन्तः समानकर्माणः**' इत्यादिना ग्रन्थेन त्रिष्वपि प्रकरणेषु योऽर्थस्तं प्रदर्श्यैकस्य प्रकरणस्योत्कर्षो द्वयोर्व्याख्या प्रतिज्ञायते। तत्रार्थप्रदर्शनार्थं तावदाह-**एतावन्तः समानकर्माणः** समानार्था **धातवः**, यथा-**द्वाविंशशतं गतिकर्माणः** (निरु०३.९), **अष्टादश कान्तिकर्माणः** (निरु०३.९)। **धातुर्दधातेः** स हि धत्ते स्वार्थम्। **एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि**, यथा-**एकविंशतिः पृथिव्याः** (निरु०२.७), **पञ्चदश हिरण्यस्येति** (निरु०२.१०), एतौ द्वावर्थावाद्ये नैघण्टुके प्रकरणे। **एतावतामर्थनामिदमभिधानम्**, यथा-उपदयादीनां षण्णां दयतिः। पुराणनवयोर्द्वयोर्नूचिदिति निपातः। प्रदर्शनार्थं चेदम्। वक्ष्यति-'**अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमानिति** (निरु०४.१), एतौ द्वावर्थौ मध्यमे प्रकरणे नैगमे। **नैघण्टुकमिदं देवतानाम। प्राधान्येनेदमिति**-अयमर्थ उत्तमे प्रकरणे दैवते। प्रसङ्गेन नैघण्टुकशब्दस्य स्वरूपमुदाहरणं च प्रदर्शयति-'**तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्**'। '**अश्वं न त्वा**' **इत्यत्राश्वः** (ऋ०१.२७.१), उपमानत्वेनोपादानात्। '**मृगो न भीमः**' (ऋ०१.१५४.२) इत्यत्र मृगः।

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।

सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ (ऋ० १.२७.१)

शुनःशेपस्यार्षम्। **अश्वं न त्वा वारवन्तमिति**, कपिलकादित्वाद्रत्वम् (अष्टा०वा०८.२.१८), उपमानभूतस्याश्वस्य विशेषणमिदम्। वालवान् योऽश्वस्तमिव त्वा त्वां **वन्दध्यै** वन्दितुमिच्छामः प्रार्थयाम इति वाक्यशेषः। **अग्निं नमोभिः** स्तुतिभिः, **सम्राजन्तं** राजतिरैश्वर्यकर्मा सम्यगीशान**मध्वराणां** यज्ञानाम्। अथवा राजतिर्दीप्त्यर्थः, सम्यग्दीप्यमानम्, अध्वराणां मध्य इति वाक्यशेषः। सप्तम्यर्थे वा षष्ठी-अध्वरेषु। वालशब्दस्य निगमप्रसक्तस्य निर्वचनम्-**वाला दंशवारणार्था भवन्ति**, पुच्छवालैर्ह्यश्वो दंशान् वारयति। दंशशब्दस्य प्रसक्तानुप्रसक्तस्य निर्वचनम्-**दंशो दशतेः**, खादनार्थस्य, स हि खादति, प्रासङ्गिकमेतत्।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।

सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळिढि वि मृधो नुदस्व॥ (ऋ० १०.१८०.२)

मृगो न भीम इत्यादीन्युपमानभूतस्य मृगस्य विशेषणानि। **भीमो** भयानको मृगः सिंहो व्याघ्रः वा **कुचरः** कुत्सितकर्मा प्राणिबिलमुद्दिश्य चरति। **गिरिष्ठाः** पर्वतस्थायी च, स यथा सर्वान् प्रतिबन्धकान् घ्नन् तद्वत्। अथवा **कुचरो गिरिष्ठा** इतीन्द्रस्यैते विशेषणे न मृगस्य, अप्रतिहतगतित्वात्। यः सर्वत्र चरति न क्वचिन्न चारीति कुचरः **गिरिष्ठाः**-गिरिर्मेघस्तस्मिन् हन्तव्ये तिष्ठतीति गिरिष्ठाः, यस्त्वं कुचरो गिरिष्ठाश्च स यथा भीमो मृगस्तद्वत्, **परावतो** दूरादाजगन्थागच्छ, परस्याः इतीदं विशेषणम्, परस्माद्दूरादत्यन्तदूरादित्यर्थः। आगत्य च **सृकं** वज्रं **संशाय** निशाय **पविं पवतिर्गतिकर्मा** (निघ०२.१४), गन्तारं शत्रूणामुपरि हे **इन्द्र! तिग्मं** तीक्ष्णं तेन **विशत्रून् ताळ्हि** ताळ्हतिर्वधकर्मा, विविधं शत्रून् जहि, ये बलवन्तो ये त्वबलास्तान् **मृधः** संग्रामकारिणो **विनुदस्व** प्रेरयेतोऽपनयेत्यर्थः।

मृगादीनां परेण निर्वचनमुच्यते-**मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः, भीमो बिभ्यत्यस्मात्, भीष्मोऽप्येतस्मादेव** इति प्रासङ्गिकम्। कुचर इति-उपमानभूतमृगाभिधानं चेत्-**चरति कर्म कुत्सितम्** इति निर्वचनम्। अथ चेदुपमेयदेवताभिधानम्-**क्वायं च चरतीति, गिरिष्ठा गिरिस्थायी,** यदि मृगस्ततो **गिरिः पर्वतो** विन्ध्यादिः, **स** हि **समुद्गीर्णं** इव भुवः, पर्वाण्यवयवाः शिलादयस्तैः **पर्वतान् पर्वतः** मत्वर्थे **'तप् पर्वमरुद्भ्याम्'** (अष्टा०५.२.१२२) इति प्रासङ्गिकमेतत्। परः प्रसक्तानुप्रसक्तेन-**पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा।** यत्तावद् **अर्धमासपर्व** पौर्णमास्यमावास्याख्यं भवति, तत् पृणोतेर्दानकर्मणः, दीयते हि तत्र पितृदेवमनुष्येभ्यः, प्रीणातेर्वा **देवान्** दर्शपूर्णमासयोर्देवताभूतान्यग्न्यादीन् **अस्मिन् प्रीणयन्ति** इति। **तत्प्रकृतीतरत्** अङ्गुलिपर्ववंशपर्वादि, कुतः **सन्धिसामान्यात्। अर्धमासपर्व**-मासावयवयोः सन्धिः, अङ्गुलिपर्वाङ्गुल्यवयवयोरेतत्संधिसामान्यम्।

मेघस्थायीति, गिरिष्ठा इत्यस्य देवताभिधानत्वेऽर्थकथनम्, **मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव**, समुद्गीर्णत्वात् सोऽपि हि समुद्गीर्ण इवान्तरिक्षेण। एवं त्रिष्वपि प्रकरणेषु योऽर्थः स प्रदर्शितः। इदानीमेकस्य प्रकरणस्योत्कर्षो द्वयोर्व्याख्या प्रतिज्ञायते।

तद्यानि नामानि अग्निर्जातवेदा इत्यादीनि **प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां** प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां तासां देवतानां नामानि यत्र तत्प्रकरणं देवतानां समूहो दैवतमिति, एवं **तद्दैवतमित्याचक्षते, तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः** निरु० ७-१२)-अथातो दैवतमिति।

नैघण्टुकानि नैगमानीहेह। नैघण्टुकानि गौरित्यादीनि द्यावापृथिवीनामधेयपर्यन्तानि पदान्युच्यन्ते। तानि हि नियमेनान्यदैवते मन्त्रे निपतन्ति। अनवगतसंस्कारा जहादयो यस्मिन्निगम्यन्ते, तन्मध्यमं प्रकरणं नैगममित्युच्यते, तस्मिन् भवानि जहादीनि नैगमानि पदानि। इहेति कालः प्रतिनिर्दिश्यते, साकाङ्क्षत्वाच्च वाक्यस्य व्याचक्ष्मह इति शेषः। नैघण्टुकानि नैगमानि चेदानीं व्याचक्ष्मह इत्यर्थः। इहेहेति द्विर्वचनं ब्रह्मणाध्यायान्ते दृष्टत्वात् तदनुकरणेनाध्यायान्तप्रतिपत्त्यर्थम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां (प्रथमो) षष्ठोऽध्यायः।

॥अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वेरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। नत्वेवं न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, यथार्थं विभक्तीः संनमयेत्। प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यस्तेर्निर्वृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति। स्तः, सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति। गत्वा, गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति। जग्मतुः, जग्मुरिति। अथाप्युपधाविकारो भवति। राजा, दण्डीति। अथापि वर्णलोपो भवति। तत्त्वा यामीति। अथापि द्विवर्णलोपः। तृच इति। अथाप्यादिविपर्ययो भवति। ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाटय इति। अथप्याद्यन्तविपर्ययो भवति। स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्क्विति। अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति॥१॥

भाष्यटीका

अथ निर्वचनम्। नैघण्टुकानां नैगमानाञ्च व्याख्या प्रतिज्ञाता। **नैघण्टुकानि नैगमानीहेह** (निरु०१.२०) इति। यथैव सा प्रतिज्ञा कृता तथैव च समाम्नातत्वात् नैघण्टुकानां पूर्वं कर्तव्यार्थकथनेन निर्वचनप्रदर्शनेन च। तत्रार्थः। **एकविंशतिः पृथिवीनामानि** (निरु०२.७) **'हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश'** (निरु०२.१०) इति सर्वेषां कथयिष्यते। निर्वचनं तु भूयस्त्वात्तेषां ग्रन्थगौरवप्रसङ्गान्न सर्वेषां करिष्यते। अथ च तत्तेषां कर्तव्यमेवार्थप्रतिपत्त्यर्थमन्येषामप्यसमाम्नातानां समाम्नातानाञ्च नैगमादीनां दैवतानाञ्च। अतो येनोपायेन कर्तव्यं सर्वशब्दानामेव सामान्येन वक्तुमियं प्रतिज्ञा क्रियते। अथ निर्वचनमिति।

अथ शब्द आनन्तर्ये। निर्वचनमिति। निर्वचनोपाय उच्यते येन तन्निर्वचनमित्युपायेन च निरुच्यते। निर्वचनोपायं वक्ष्याम इति वाक्यशेषः। सर्वशब्दस्यावयवशो निकृष्टस्य वचनमिदं प्रतिज्ञायते। शब्दस्य योऽवयवो धातुः प्रातिपदिकं वा, क्वचिदविनष्टरूपमेव। यथा **'राजा राजतेः'** (निरु०२.३) इत्यत्र राजतिः। **'अश्वः कस्मात्। अश्नुतेऽध्वानम्'** (निरु०२.२७) इत्यत्राशिः। क्वचिद्विनष्टरूपम्। यथा **'दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः'** (निरु०२.२) इत्यत्र ददतिः। **दधिक्रा इत्येतत् दधत् क्रामतीति वा** (निरु०२.२७) इत्यत्र दधदिति प्रातिपदिकम्। अविनष्टरूपस्य वा विनष्टरूपस्य वा तस्मात्पदान्निष्कृष्याविनष्टरूपेण धातुना प्रातिपदिकेन वा यदर्थस्य वचनं तन्निर्वचनम्।

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातामिति।

विकारशब्देन क्रियाभिधीयते षष्ठे गुणशब्देन याभिहिता। यत्र शब्दः क्रियामभिधातुं शक्नोति सा च क्रियाभिधेये विद्यत इति। षष्ठ एव व्याख्यातम्। **तथा तानि निर्ब्रूयात्**। तानि तावत्तथैव निर्ब्रूयात्।

'त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रम्' (ऋ०६.४७.११) इत्यत्र त्रायत इति त्राता। अवतीत्यविता इति। तथा **'अश्वं न त्वा वारवन्तम्** (ऋ०१.२७.१) इति। अश्नुतेऽश्नातीति वा इत्यश्व इति। तथा च वक्ष्यति। **'अश्वः कस्मात्। अश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति** (निरु०२.२७) **वा इति।'**

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद्वृत्तिसामान्येन।

अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे अन्यापि वचनस्य या क्रियार्थेऽस्ति तस्यां शब्देनाभिधातुमशक्यायां या शब्देनाभिधीयते तस्यामर्थेऽसम्भवन्त्यामित्ययमर्थ इति षष्ठ एव व्याख्यातम्। एतावान् विशेषः। तत्राथ शब्दोऽपि चेत्यस्यार्थ इह तु तुशब्दस्य। **अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः**- अर्थे नियतोऽर्थनित्यः, यस्तस्य शब्दस्य निर्वचननिमित्तमवयवार्थो यश्च समुदायार्थस्तमजहदित्यर्थः। **परीक्षेत,** परीक्षायाः प्रतीतिः फलम्, अतः सम्बन्धात् परीक्षयाऽत्र प्रतीतिर्लक्ष्यते। सा च प्रतीतिः शब्दप्रवृत्तेः प्रकरणान्न यस्य कस्यचिच्छब्दप्रवृत्तिं प्रतीयादित्यर्थः।

केनचिद्वृत्तिसामान्येन वर्तते तत्र शब्द इति वृत्तिरर्थ उच्यते। एतदुक्तं भवति-शब्दस्य निर्वचननिमित्तार्थमवयवार्थभूता या क्रिया सा यत्र नास्ति शब्दार्थे, यत्र च शब्दार्थेऽस्ति, तयोरर्थयोर्यत्सामान्यं तेन तत्र प्रवृत्तिं प्रतीयात्। उदाहरणम्-**आमासु पक्वमैरयः** (ऋ०८.८९.७, निरु०६.१४) इति पक्वशब्दः। अस्य पक्वमोदनमित्यादौ निर्वचननिमित्तमवयवार्थो भूतकालः पाकः। इह चायं गोषु यत्पयस्तत्र प्रयुज्यते। न च तस्य भूतकालः पाकोऽस्ति। अतो भूतकालपाकस्यौदनादेः पयसश्च यदर्थसामान्यं भोजनयोग्यत्वं तेनायं पयसि प्रवृत्त इति प्रत्येतव्यः।

कथं पुनरवयवार्थेन वाऽसंबद्धे पयस्यर्थसामान्येन पक्वशब्दस्य प्रवृत्तिः। उच्यते लक्षणया पक्वशब्दे ह्यत्र भोजनयोग्यत्वं गौण्या वृत्त्या, पक्वसदृशं पयः पक्वमिति मन्त्र ऐकपदिकप्रकरणे **गिर्वणा देवो भवति** (निरु०६.१४) इत्यत्र व्याख्यास्यते।

तथा **'गोर्न पर्व वि रदा तिरश्च** (ऋ०१.६१.१२) इति पर्वशब्द उदाहरणम्। अस्य हि निर्वचनमवयवार्थं प्रेरणं प्रणीनं वा। तथा ह्युक्तम् **'पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा, अर्धमासपर्व। देवानस्मिन् प्रीणन्ति'** (निरु०१.२०) इति। इह योऽयं गोरवयवे प्रयुज्यते नहि तस्य प्रेरणं प्रीणनं वास्ति। अतोऽयं यथैवाङ्गुलिपर्वणि सन्धिसामान्यात् प्रवृत्त इत्युक्तम्- **'तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्** (निरु०१.२०) इति। एवं गोरवयवेऽर्थसामान्यात् सन्धिसामान्यादव-यवत्वसामान्याद्वा प्रयुज्यत इति प्रत्येतव्यम्। अयमपि मन्त्र ऐकपदिक एव **'अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानः** (ऋ०१.६१.१२, निरु०६.२०) इति व्याख्यास्यते।

अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।

सामान्यमत्र प्रकृतत्वादर्थसामान्यं गृह्यते, तस्मिन्नविद्यमाने। क्व पुनस्तन्नास्ति? यत्र स शब्दो नैव क्वचिदन्यत्रार्थे प्रसिद्धः। यथा शितामेति। यत्र वाऽप्रसिद्धः, तस्य चेतरस्यार्थस्य न किञ्चिदस्ति सामान्यम्। यथा जठरमुदरमिति। जठरशब्दो ह्यलाबुके लोके प्रसिद्धः, जठरमलाबुकमिति। न तु तस्यालाबुकस्य च किञ्चिदस्ति सामान्यम्। तत्र **अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।** अक्षरसामान्यस्योदाहरणम् जठरमिति। एतदेव वक्ष्यति हि-

'जठरमुदरं भवति, जग्धमस्मिन् ध्रियते धीयते वा (निरु०४.७) इति। जठरशब्दस्य जग्धशब्दस्य चाक्षरं समानमिति। तथा- **'लक्ष्मीर्लाभाद्वा'** (निरु०४.१०) इत्युदाहरणम्।

वर्णसामान्यस्योदाहरणम्-शितामेति। वक्ष्यति हि- **'श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः'** (निरु०४.३) इति। श्यामशब्दस्य शितामशब्दस्य च वर्णौ समानौ शकारमकारौ। तथा तत्रैव वक्ष्यति- **'शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः'** (निरु०४.३) इति। इह हि शितामशब्दस्य मांसशब्दस्य च वर्णः समानो मकारः। **'अंशुः-शमष्टमात्रो भवति, अननाय शं भवतीति'** (निरु०२.५) एतत्। अतः शकारः।

न त्वेवं न निर्ब्रूयात्, इति।

किं कारणम्? शब्दस्यावयवभूतानां वर्णानां सर्वेषामेवार्थविषया शक्तिः कल्प्यते। तत्प्रयोगे प्रतीतेः, तदप्रयोगे चाप्रतीतेः। कल्पितायाश्च शक्तेः सति सम्भवेऽन्याय्यस्त्यागः। अतोऽक्षरवर्णयोश्चार्थप्रत्यायनार्थयोरक्षर- वर्णसामान्यात् कर्त्तव्यमेव निर्वचनम्।

न संस्कारमाद्रियेत।

वैयाकरणोक्तं संस्कारं नाद्रियेत, अक्षरवर्णसामान्यादेव निर्ब्रूयात्। अयञ्च संस्कारप्रतिषेधो यत्रैव व्याकरणोक्तः संस्कारो नार्थान्वितस्तत्रैव, नान्यत्रेति। कुत एतत्? अनन्वितेऽर्थ इत्यनुवृत्तेः। तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयादिति पुरस्तादुक्तत्वाच्च। उदाहरणम्-बलो हस्त इत्यादि। वैयाकरणा हि बलशब्दं **'बल प्राणने'** (धा०१.८९३; १०.८५) इत्यस्य संस्कुर्वन्ति, हस्तशब्दं **'हसः'**, (धा०१.७५७) **'हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्'** (उणा०३.८६) इति। न हि मांसोपचयलक्षणं बलं प्राणेनान्वितं भवति, हस्तो वा हसनेन। अतः संस्कारं नाद्रियेत, अक्षरवर्णसामान्यादेव निर्ब्रूयात्। **'बलं भरं भवति बिभर्तेः'** (निरु०३.९) **'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने'** (निरु०१.७) इति।

अक्षरवर्णसामान्यान्निर्वचनस्यातिप्रसक्तस्य द्वावपवादावुच्येते-

विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, इत्येकः। **यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्**, इत्यपरः।

विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्तीति हिशब्दश्रुतेर्न संस्कारमाद्रियेतेति संस्कारानादरस्य हेतुवचनमेतत्। नेति ब्रूमः संस्कारानादरस्य हि तदर्थासम्भवो हेतुः, न विशयवत्त्वं वृत्तीनाम्। अत एतदक्षरवर्णसामान्यान्निर्वचनस्याति- प्रसक्तस्यापवादवचनम्। हिशब्दस्तु वाक्यपूरणः। विशयः संशयः, स च किमयं स्थाणुः किं पुरुष इत्यनेकार्थविषयत्वात्, अनेकस्य चार्थस्यानेकप्रकारत्वात् तद्गतेनानेकप्रकारत्वेन सम्बन्धः। अतः सम्बन्धात् विशयेनात्रानेकप्रकारत्वं लक्ष्यते। अनेकप्रकारा वृत्तयः शब्दानामर्थेषु भवन्ति। क्वचित्कस्यचिदवयवस्य त्यागेन, क्वचिद्विकारेण, क्वचिद्विपर्ययेण, क्वचिद्वर्णान्तरापत्त्या, क्वचिद्वर्णान्तरोपजनेनेति। ता एताः **'प्रत्तमवत्तम्'** (निरु०२.१) इत्यादिना दर्शयिष्यामः। आसां सम्भवे आभिर्निर्वचनं कर्त्तव्यमसम्भवेऽक्षरवर्णसामान्येन। किं कारणम्? आसु हि वृत्तिषु दृष्टाभिधानशक्तेः शब्दस्य भूयसोऽक्षरस्यानुगमः, अल्पस्याक्षरवर्णसामान्येन। अतः सम्भवे आभिर्निर्वचनं कर्त्तव्यमसम्भवेऽक्षरवर्णसामान्येनेत्ययमेकोऽवपादः।

द्वितीयः-

यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्, इति।

यत्र विभक्तिर्विभक्त्यन्तरार्थे प्रयुज्यते, आशुशुक्षणिरिति प्रथमा पञ्चम्यर्थे। वक्ष्यति हि- **'पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा, तथा हि वाक्यसंयोगः'** (निरु०६.१) इति। यथा च- **'अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकैः'** (ऋ०१०.१०३.१२, निरु०९.३३) इत्यत्र **'हृत्सु'** इति सप्तमी द्वितीयार्थे। तत्र यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् सन्नामो विपरिणामः। यथार्थं विभक्तिविपरिणामं कुर्यात्, न त्वक्षरवर्णसामान्येन निर्वचनम्। किं कारणम्? विभक्तेर्हि कारकविशेषोऽर्थः, स शक्नोति कारकसामान्यं लक्षयितुम्। तदपि योग्यं कारकविशेषान्तरम्। एवं लक्षणापरम्परया समस्ताया अवकृतायाश्च तत एव विभक्तेर्विभक्त्यन्तरार्थप्रतीतिसम्भवाच्छक्यत एव विभक्तिविपरिणामः कर्त्तुम्, न तु योग्येनाक्षरवर्णसामान्येन निर्वचनम्। यच्चैवं लक्षणापरम्परया प्रतीतस्य विभक्त्यन्तरार्थस्य स्वया विभक्त्या प्रदर्शनम् एतदेव विभक्तिविपरिणाम उच्यते। तेन च विभक्तेर्विभक्त्यन्तरात्मना विपरिणामः सम्भवति, यथा क्षीरस्य दध्यात्मना।

एव द्वावपवादावुक्त्वाऽऽद्यस्यापवादस्य प्रपञ्चं दर्शयति-

प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते।

इत्यादिभिस्तावच्चतुर्भिर्वाचनिकैः। अथापि वर्णलोपो भवति, अथापि द्विवर्णलोपस्तृच इत्याभ्यां च क्वचित्कस्यचिदवयवस्य त्यागेन शब्दस्य प्रवृत्तिरित्येतद्दर्शयति। अथाप्युपधाविकार इत्यनेन क्वचित्कस्यचिदवयवस्य विकारेणेति। अथाप्याद्यन्तविपर्यय इत्यनेन क्वचित्कस्यचिदवयवस्य विपर्ययेणेति। अथाप्यादिव्यापत्तिरथाप्यन्तव्यापत्तिरित्याभ्यां क्वचिद्वर्णान्तरापत्त्येति। अथापि वर्णोपजन इत्यनेन क्वचिद्वर्णान्तरोपजनेनेति। एवमस्य प्रपञ्चस्य संक्षेपः। विस्तारस्त्वेकादशधोच्यते-**प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते।** प्रत्तमित्यत्र धातुः **'डुदाञ् दाने'** (धा०३.९) इति। अवत्तमित्यत्र **'दो अवखण्डने'** (धा०४.४०) इति। एतयोरादिभूतो दकार एव शिष्यते, तं आकारस्यान्त्यस्य लोपः, **'अच उपसर्गात्तः'** (अष्टा०७.४.४७) इत्यनेन निर्वर्त्तमानत्वात्।

अथापि अस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति। स्तः, सन्तीति।

गुणवृद्ध्योर्निवृत्तिस्थानानि यानि, तानि निवृत्तिस्थानानीत्युच्यन्ते, ङित्स्वित्यर्थः। तेषु ङित्सु प्रत्ययेषु **'श्नसोरल्लोपः'** (अष्टा०६.४.१११) इति आदेरकारस्य लोपो भवति; स्तः, सन्तीति।

अथाप्यन्तलोपो भवति। गत्वा, गतमिति।

गमेः **'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति'** (अष्टा०६.४.३७) इति गत्वा गतमिति।

अथाप्युपधालोपो भवति। जग्मतुर्जग्मुरिति।

'गमहनजनखनघसां लोपः' (अष्टा०६.४.९८) इति। जग्मतुर्जग्मुरिति।

अथाप्युपधाविकारो भवतीति।

दीर्घत्वम् राजा दण्डीति। राजेत्यत्र **'नोपधायाः'** (अष्टा०६.४.७) **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'** (अष्टा०६.४.८)। दण्डीत्यत्र **'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ'** (अष्टा०६.४.१२) **'सौ च'** (अष्टा०६.४.१३) इति।

अथापि वर्णलोपो भवति। तत्त्वा यामीति।

अत्र केचिद्व्याचक्षते- यामीत्यत्र याचामीति चकारस्य वर्णस्य लोप इति। मन्त्रं चोदाहरन्ति-

तत्त्वा॑ यामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मा॒नस्तदा शा॑स्ते॒ यज॑मानो ह॒विर्भिः॑।

अहे॑डमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑शंस॒ मा न॒ आयुः॒ प्र मो॑षीः॥ (ऋ०१.२४.११)

शुनःशेपो यूपे बद्धो वरुणमाह-तत् त्वा त्वां यामि याचामि, ब्रह्मणाऽनेन वन्दमानः स्तुवन्, तदेवाशास्ते यजमानोऽयं हरिश्चन्द्राख्यः, जलोदरस्य व्याधेर्मारकत्वात्, तस्य चास्योत्पन्नत्वात्। तथा च हरिश्चन्द्रोपाख्याने ब्राह्मणम्-**'अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह तस्य होदरं जज्ञे'** (ऐ०ब्रा०३३.३) इति।

केनाशास्ते? हविर्भिः। किं तत्? जीवितम्। एतज्ज्ञात्वा अहेडमानः अक्रुध्यन् हे वरुण! इह बोधि बुध्यस्व शृण्वित्यर्थः। हे उरुशंस! बहुस्तुत! मा नः **'अस्मदो द्वयोश्च'** (अष्टा०१.२.५९) इति द्वित्वे बहुवचनम्, आवयोर्जीवितं मा प्रमोषीः माऽपहार्षीरित्यर्थः।

एतदपव्याख्यानम्। याच्ञाकर्मसु यामीति पठ्यते- **'ईमहे, यामि, मन्महे'** (निरु०३.१९) इति। तस्मान्न याचामीति चकारलोपस्य प्रदर्शनार्थम्। किन्तर्हि? **'या प्रापणे'** (धा०२.४०) इत्यस्यानेकार्थत्वाद्धातूनां याच्ञाकर्मप्रदर्शनार्थम्। ततश्च यामीत्येतन्न याचतेर्वर्णलोपेन रूपम्, किन्तर्हि? यातेः। यदि च स्यात्, द्वयोर्वर्णयोर्लोपोऽयं स्यात्, चस्याकारस्य च। ततश्च **'अथापि द्विवर्णलोप'** इत्यत्रोदाह्रियेत, न तु **'अथापि वर्णलोप'** इत्यत्र। लौकिकाश्चात्र शब्दाः प्रत्तमवत्तमित्यादय उदाहर्तुं प्रक्रान्ताः। तत्रैकस्यैवैतस्य वैदिकस्योदाहरणमबुद्धिपूर्वं स्यात्। तत एतदन्यथा व्याख्यायते- **'तत्वा'** इत्येतदत्रोदाहरणम्, न **'यामि'** इति। न चैतत् **'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान'** इत्यस्या ऋचः प्रतीकग्रहणम्। किन्तर्हि? लौकिकमेतदुदाहरणम्, तत्वा यामीति लौकिकं वाक्यम्, तनित्वा गच्छामीत्यर्थः। पुनः **'तत्वा'** इत्यत्र वर्णलोप उच्यते, **'तत्वा'** इत्येतत् **'तनु विस्तारे'** (धा०८.१) इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययेन रूपम्, तत्रैकः **'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्'** (अष्टा०६.४.३७) इत्यनुनासिकलोपः। स तु **'अथाप्यन्तलोपो भवति'** इत्येतेन प्रदर्शितः। अपरः **'उदितो वा'** (अष्टा०७.२.५६) इतीटो वैकल्पिकत्वादिकाराभावः, सोऽत्र वर्णलोपः तत्वा तनित्वेत्यर्थः।

अथापि द्विवर्णलोपस्तृच इति।

अत्र हि **'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि'** (अष्टा०६.१.३४ सूत्रे वार्तिकम्) इति त्रिशब्दस्य सम्प्रसारणमुत्तरपदादिलोपश्च। तत्रैकस्य सम्प्रसारणपरपूर्वत्वेनेकारस्य लोपः, अपर ऋक्शब्दस्य ऋकारस्य।

अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति। स्तोका रज्जुः सिकतास्तर्क्विति।

स्तोका इति श्च्युतेर्यकारमपनीय श्चुच्छब्दस्याद्यन्तवर्णयोर्विपर्ययः। **'स्तोकान्तिकदूरार्थे'** (अष्टा०२.१.३९) इत्यादिनिपातनाच्चकारस्य च कुत्वम्। श्च्योतन्तीति स्तोकाः। रज्जुरिति, सृज्यतेऽसाविति सृजेरुकारप्रत्यये उपधाया गुणे रपरत्वे च कृते सर्जुरित्येवं प्राप्ते सर् शब्दस्याद्यन्तयोः सकाररेफयोर्विपर्ययः।

सकारस्य च जश्त्वेन दकारः, तस्य श्चुत्वेन जकारः, रज्जुः। वैयाकरणास्तु **'सृजेरसुं च'** (उणा०१.१६) इत्यसुमागमश्च आदेश्च लोप इत्येवं रज्जुशब्दमन्वाचक्षते। सिकता इति, **'कसेः'** (धा०१.९१३) आद्यन्तयोः ककारसकारयोर्विपर्ययः। अकारस्य चेत्वम्। कसन्तीति सिकताः। तर्कु इति, **'कृतेः'** (धा०६.१४१) उकारप्रत्यये उपधागुणे रपरत्वे च कृते आद्यन्तयोर्विपर्ययः। वैयाकरणैरप्येवमयमन्वाख्यातः- **'कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च'** (उणा०१.१७) इति।

अथाप्यादिव्यापत्तिर्भवति।

व्यापत्तिर्विकारो वर्णान्तरेण। **ज्योतिर्घनो बिन्दुर्बाट्य इति।** ज्योतिरिति, **'द्युतेः'** (धा०१.७७७) दकारस्य व्यापत्तिर्जकारेण, **'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः'** (उणा०२.१११) इति, **'हन्तेः'** (धा०२.२) हकारस्य व्यापत्तिर्घकारेण। **'हनश्च वधः'** (अष्टा०३.२.७६) **'मूर्त्तौ घनः'** (अष्टा०३.३.७७) इति निपातनात्। बिन्दुरिति, भिदेर्भकारस्य व्यापत्तिर्बकारेण। वैयाकरणास्तु **'बिदि अवयवे'** (धा०१.६५) इत्यस्य बिन्दुशब्दमन्वाचक्षते। बाट्य इति, **'भट भृतौ'** (धा०१.३२९) इत्यस्य भटेर्भकारस्य व्यापत्तिर्बकारेण। वैयाकरणास्तु **'बट प्रट भृतौ'** (धा०१.३२९) इति धात्वन्तरमेव बटिमभिधीयते। अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति।

इति षष्ठस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मध्विति। अथापि वर्णोपजनः। आस्थत्, द्वारः, भरूजेति। तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानाया- मितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद्यथैतत् ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुमिति। अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः। क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णम्, घृतमिति। अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः, कमनीयभोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाष्यन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु। एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्। अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु वानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्ड्यः पुरुषः। दण्डमर्हतीति वा, दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो धारयतिकर्मणः। अक्रूरो ददते मणिमित्यभिभाषन्ते। दमनादित्यौपमन्यवः। दण्डमस्याकर्षतीति गर्हायाम्। कक्ष्यारज्जुरश्वस्य। कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः। क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः। किमस्मिन् ख्यानमिति। कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः। बाहूमूलसामान्या-दश्वस्य॥ २॥

भाष्यटीका

ओघो मेघो नाधो गाधो वधूर्मध्विति।

ओघ इति, **'वह प्रापणे'** (धा०१.१०५३) वहेर्हकारस्य व्यापत्तिर्घकारेण, वकारस्य सम्प्रसारणमुपधायाश्च गुणः। मेघ इति, **'मिह सेचने'** (धा०१.१०४१) मिहेर्हकारस्य व्यापत्तिर्घकारेण, न्यङ्क्वादित्वात् (अष्टा०७.३.५३)। नाध इति, **'णह बन्धने'** (धा०४.५७) **'नहो धः'** (अष्टा०८.२.३४) इति नहेर्हकारस्य व्यापत्तिर्धकारेण। वैयाकरणास्तु **'नाथृ नाधृ याञ्चोपतापैश्वर्याशिषु'** (धा०१.६-७) इत्यस्य नाधशब्दमन्वाचक्षते, न नहेः। गाध इति, **'गाहतेः'** हकारस्य व्यापत्तिर्धकारेण। वैयाकरणास्तु **'गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च'** (धा०१.४) इत्यस्य गाधशब्दमन्वाचक्षते, न गाहतेः। वधूरिति, **'वहेः'** (धा०१.१०५३) उकारप्रत्यये हकारस्य व्यापत्तिर्धकारेण। वैयाकरणा अप्येवमेवान्वाचक्षते **'वहेर्धश्च'** (उणा०१.८५) इति। मध्विति, **'मनेः'** (धा०४.६७) उकारप्रत्यये नकारस्य व्यापत्तिर्धकारेण। वैयाकरणैरपि **'मनेर्धुक्'**[१] इत्यन्वाख्यायते।

अथापि वर्णोपजनः, आस्थत् द्वारो भरूजेति।

आस्थदिति, **'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्'** (अष्टा०३.१.५२) इत्यङि **'अस्यतेस्थुक्'** (अष्टा०७.४.१७) इति थकार उपजनः। द्वार इति, द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वेति, यदा वारयतेस्तदा दकार उपजनः। भरूजेति, **'भृजी भर्जने'** (धा०१.१९१) इस्यस्य उकार उपजनः। एवमयमेकादशधा विस्तारः।

अत्र सर्वत्र भाष्यकारेण प्रत्तमवत्तमित्यादयो लौकिकाः शब्दा उदाहृताः, प्रसिद्धार्थत्वात्। **'तेषां धात्वादी एव शिष्येते'** इत्यादेरप्रतिपादितत्वात्, वैदिकशब्दार्थोऽयं प्रयासः। अतस्तेषामुदाहरणानि दर्शयामः। तत्र **'धात्वादी एव शिष्येते'** इत्यस्योदाहरणम्। **'आ॑सीन ऊ॒र्ध्वामु॒पसि॑ क्षिणाति'** (ऋ०१०.२७.१३, निरु०६.६) इति। अत्र हि **'उपसि'** इत्युपपूर्वस्य स्था इत्येतस्यादिरेव शिष्यते सकारः।

आदिलोप इत्यस्य। **'ऋदूदरः सोमो मृदूदरो मृदुरुदरेष्वस्त्विवति वा'** (निरु०४.६) इत्यत्र मृदुशब्दस्यादेर्लोपो मकारस्य। अन्तलोप इत्यस्य। **'शुरुध आपो भवन्ति शुचं संरुन्धन्ति'** (निरु०६.१६) इति। अत्र हि शुचशब्दस्य योऽन्त्यश्चकारः, तस्य लोपः। उपधालोप इत्यस्य।

'श्मशा शु अश्नुत इति वा श्माश्नुत इति वा' (निरु०५.१२) श्मशब्दोपपदस्य अशेरुपधाभूतस्याकारस्य लोपः। उपधाविकार इत्यस्य। **'श्राय॑न्त इ॒व॒ सूर्य॑म्'** (ऋ०८.९९.३, निरु०६.८) इति। अत्र हि श्रूयतेः शतृप्रत्यये इकारस्य दीर्घः। वर्णलोप इत्यस्य। **'त्यञ्चि॑द्वि॒त्था क॑त्प॒यम्'** (ऋ०५.३२.६, निरु०६.३) इत्यत्र पयस्-शब्दस्य सस्य लोपः।

द्विवर्णलोप इत्यस्य। अलातृण तृणशब्दः। अत्र हि **'तृदेः'** (धा०७.९) धातोर्दस्य न इति। प्रत्ययस्य यो यकारस्तस्य लोपः। आद्यन्तविपर्य्यय इत्यस्य हि वक्ष्यति- **'लभतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो विपरीतात्'**[२] (धा०१.१०२४) इति। आदिव्यापत्तिरित्यस्य। **'श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति'** (निरु०५.२२) इति। अत्र हि

---

१. मनेर्धश्छन्दसि (२.११५ इति सूत्रमौणादिकेषूपलभ्यते, न तु मनेर्धुक इति।

२. निरु०४.१०, विपरीतात् निरु०५.२६

स्वशब्दस्यादेः सकारस्य शकारेण व्यापत्तिः। अन्तव्यापत्तिरित्यस्य। **'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा'** (निरु०५.५) इति। अत्र हि द्युतेरन्त्यस्य तकारस्य मकारेण व्यापत्तिः। अथवा **'अलातृणः'** (ऋ०३.३०.१०, निरु०६.२) इत्यलं शब्दस्य मकारस्याकारेण। तथा **'त्यञ्चिदित्था कत्पयम्'** (ऋ०५.३२.६, निरु०६.३) इतीत्थं शब्दस्य मकारस्याकारेण।

तथा वर्णोपजन इत्यस्य। **'वाजपस्त्यम्'** (ऋ०९.९८.१२, निरु०५.१५) इति पतेः सकार उपजनः। एवमेता विशयवत्यो वृत्तयः संक्षेपेण पञ्चधा विस्तरेणैकादशधा दर्शिताः। आसां सम्भव आभिर्निर्वचनं कर्तव्यम्, नाक्षरवर्णसामान्येनेत्युक्तम्।

इदानीं क्वचिद्विषये निर्वचनस्योपायान्तरमुच्यते।

तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति।

तदिति वाक्योपन्यासे। यत्र धातौ स्वरस्याकारादेः पुरस्ताद्वा परस्ताद्वा। अनन्तरा अन्तस्था। यवरलानामन्यतमोऽन्तर्धातु धातुमध्ये भवति धातुस्थ इत्यर्थः। तत् शब्दरूपं द्विप्रकृतीनां स्थानम्। ते द्विप्रकृतयः। एवमुपदिशन्ति पूर्वाचार्याः। द्विप्रकृतय इति किमुक्तं भवति? प्रकृतिशब्दः स्वभावपर्यायः। द्विस्वभावाः। इकारादियकारादिस्वरूपत्वात्। इतरेतरप्रकृतित्वाद्वा। इह केचिद् यकारादीनुपदिश्य कित्सु सम्प्रसारणं कुर्वन्ति। अन्ये पुनरिकारादीनुपदिश्य ङित्सु यणम्। एवमितरेतरप्रकृतित्वाद् द्विप्रकृतित्वम्। उदाहरणम्- इष्टम्, यष्टा, उप्तम्, वप्तेत्यादि लौकिकम्। वैदिकन्तु-

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।

इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥ (ऋ०१.१६२.१५)

दीर्घतमस आर्षम्। अश्वमेधे यूपे नियुक्तोऽश्व उच्यते। मेति प्रतिषेधार्थीयः। ध्वनयीदित्यनेन सम्बध्यते। त्वा त्वां यूपे नियुक्तं सन्तमग्निरतिप्रवृद्धो निकटवर्ती मा ध्वनयीत्। **'ध्वन शब्दे'** (धा०१.८५४) इत्यस्य ण्यन्तस्य लुङि **'नोनयति ध्वनयति'** (अष्टा०३.१.५१) इति चङ्प्रतिषेधाच्छान्दसं रूपम्। दिध्वनत् शब्दं माचीकरदित्यर्थः। शब्दकरणे हि प्रायश्चित्तश्रवणात्।

कथं पुनरग्निरश्वशब्दं कारयति? यतो-धूमगन्धिः=धूममिश्रः। अन्तस्तापेन धूमेन च व्याकुलयन्नित्यभिप्रायः। **मोखा**-अयं च प्रतिषेधार्थीयो माशब्दोऽभिविक्तेत्यनेन सम्बध्यते। उखा-मांसपचनी स्थाली। भ्राजन्ती दीप्यमाना। माभिविक्त-**'विचिर् पृथग्भावे'** (धा०७.४) इत्यस्यैतद्रूपम्। पृथग्भेदी माभूदित्यर्थः। अन्तर्नीतण्यर्थस्य वा। अभिद्यमाना वा। अवदानाय यूपस्थमश्वमभिविविचत्। पृथग्भावं माचीकरदित्यर्थः। जघ्रिः- **'घृ क्षरणदीप्त्योः'** (धा०३.१४) इत्यस्य **'किकिनोः प्रकरणे उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्'** (अष्टा०३.२.१७१) इत्येवं किप्रत्ययः। क्षरणशीलापि सती। इष्टमित्यादीनामर्थात्क्रयः। अभिगूर्तम्-अभ्युद्यतम्, वीतं-कान्तम्, इष्टं- देवतोद्देशेन त्यक्तम्, वषट्कृतं-वषट्कारेण च हुतम्। अवदानावस्थं तं त्वां देवासो देवाः प्रतिगृभ्णन्ति। लोटोऽर्थे लेट्। प्रतिगृह्णन्तु स्वीकुर्वन्तु भक्षयन्त्वश्वम्।

सैनानीकेन सुविदत्रो अस्मे यष्टा देवाँ आयजिष्ठः स्वस्ति।

अदब्धो गोपा उत नः परस्पा अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि॥ (ऋ०२.९.६)

गृत्समदस्यार्षम्। य उक्तो वक्ष्यमाणगुणोऽपि सः। **एना** अनेन ज्वालालक्षणेना**नीकेन** बलेन मुखेन वा। **सुविदत्रः**=कल्याणविद्यः प्रशस्तविज्ञानः। **अस्मे** अस्मभ्यमित्यर्थः, दिदीहीत्यनेन सम्बध्यते। **यष्टा** ताच्छीलिकस्तृन्। अत एव च **'न लोकाव्यय'** (अष्टा०२.३.६९) इति षष्ठीप्रतिषेधात् **'देवान्'** इति द्वितीया। एवं यष्टा मनुष्येभ्यो यष्टृभ्य **आयजिष्ठः**=आभिमुख्येन यष्टृतमः। **स्वस्ति**=स्वस्तीत्यविनाशिनाम। दिदिहीत्यनेन सम्बध्यते। **अदब्धः**=अनुपहिंसितपूर्वः केनचिद्रक्ष आदिना। **गोपाः**=गोपायिता। कस्य? जगतः। **उत नः**-अपि च विशेषेणास्माकम्। **परस्पाः**=परः पाता परेभ्यो वा पाता। हे **अग्ने**! **द्युमत्**=दीप्तमुज्ज्वलम्। किन्तत्? सामर्थ्यात् शालिगोधूमाद्यन्नम्। उत-अपि च, **रेवत्**=**'रयेर्मतौ बहुलम्'** (अष्टा०वा०६.१.३४) सम्प्रसारणम्। धनवत्-गोहिरण्यादिना धनेन तद्वत्। **दिदीहि**=अविनाशमन्नञ्चोक्तविशेषणमस्मभ्यं देहीत्यर्थः। योगक्षेमकरो भवेत्यभिप्रायः।

'यदादीध्ये' (ऋ०१०.३४.५) इति सप्तदशे व्याख्यास्यते।

यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत् पृथगेषि प्रगर्धिनीव सेना।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम॥ (ऋ०१०.१४२.४)

द्रोणस्यार्षम्। दावरूपस्याग्नेः संस्तुतिः। **यत्** यदा। **उद्वतः**=**'उपसर्गाच्छन्दसि'** (अष्टा०५.१.११८) इति वतिः। उद्गतानि स्थलपर्वतसानुप्रभृतीनि। **निवतः**=नीचैर्गतानि च निम्नानीत्यर्थः। **यासि बप्सन्** भक्षयन् नदीपर्वतादिलक्षणानि निम्नोन्नतानि दग्धव्यवशात्। **पृथक्** विष्वग्भूतः। **एषि**=गच्छसि वेगेन। **प्रगर्धिनीव**=प्रकृष्टेन गर्धेनाभिलाषेण तद्वती। यथा **सेना** तद्वत्। किञ्च **यदा**=यस्मिन् काले, **ते**=तव स्वभूतम्। **शोचिः**=ज्वालालक्षणं **वातोऽनुवाति** प्रेरयति। तदा **वप्तेव**। यथा वप्ता। नापित इत्यर्थः। **श्मश्रु**। एवं बहुतृणं वीरुद्वितानवद्गहनं **वपसि** छिनत्सि लुम्पसीत्यर्थः। **प्रभूम**=दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरविशेषेण विशेषणमेतत्। प्रभूतं महदित्यर्थः।

स्वरानन्तरवचनं वृक्णसंवीतादिषु व्यवहितवकारादिनिवृत्त्यर्थम्। **अन्तर्धात्विति** दीव्यत्यादिषु प्रत्ययनिवृत्त्यर्थम्। दृष्टानुविधायित्वाच्चैतदेव द्विप्रकृतय इति नियमः परिगृहीतः। न पुनरेते द्विप्रकृतय एवेति। अतो यत्नादिषु नातिप्रसङ्गो न लक्ष्यते लक्षणम्।

तत्रेस्थादि, तेषु द्विप्रकृतिषु **सिद्धायां** व्याकरणे प्रत्ययलक्षणेनानुपपद्यमानायामसम्भवन्त्यां सम्प्रसारणवृत्ताविति शेषः। **इतरया** परोक्षया तदसम्भवेऽप्यतिपरोक्षया **उपपिपादयिषेत्** उपपादयितुमिच्छेत् उपपादयेदित्यर्थः। यो हि यदिच्छति स तत् करोति। सोऽयं परोक्षादिवृत्तिपरिग्रहो वैयाकरणैरपि संप्रसारणविधावन्यत्र चानु श्लाघ्यते- **'बहुलं छन्दसि'**[१] इत्यनेन। उदाहरणमाचष्टे- **'कुहूः क्वाभूत्'** (निरु०११.३२)। **'कुचरः क्वायं न चरति'** (निरु०१.२०) इति। **'तुरीयन्त्वरतेः'** (निरु०१२.१४) इत्यादि। एवमसम्प्रसारणविषयस्य सम्प्रसारणं द्रष्टव्यम्।

तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद्यथैतत्-ऊतिर्मृदुः पृथुः पृषतः कुणारुम् इति।

---

१. पाणिनीयाष्टके सूत्रमिदमेकादशस्थलेषु वर्तते, तद्यथा-२.४.३९, ७६, ३.२.८८, ५.२.१२२, ६.१.४, ७.१.८, १०, १०३, ७.३.९७, ७.४.७८

अनेन संप्रसारणवृत्तेर्विशयवत्त्वं दर्शयति। तेष्वपि सम्प्रसारणविषयेष्वेके धातवोऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। अल्पा प्रसारणनिष्पत्तिर्येषां त इमे। अल्पप्रसारणविषया इत्यर्थः। तद्यथैतदुदाहरणजातम्–ऊतिरित्यादि। ऊतिः–अवतेः। वित्तनि **'ज्वरत्वर'** (अष्टा०६.४.२०) इत्यूठि। अतोऽन्तोदात्तत्वं निपात्यते। तेन सर्वत्र रक्षणतर्पणविषयमेव। तथा **'प्रथिम्रदिभ्रस्जाम्'** (उणा०१.२९) इत्युणादिव्युत्पत्त्या रूढित्वं प्रदर्श्यते। म्रदेर्मृदुः प्रथेः पृथुः प्रच्छेः पृषतः, क्वणेः कुणारुम्। इत्येवमाद्युपलक्षणार्थम्। ततश्च **'प्रथनात् पृथिवी'** (निरु०१.१३-१४) इत्येवमाद्यपि द्रष्टव्यम्।

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः क्षेत्रसाधा इति।

अपि चैतद्वैचित्र्यम्। भाषिकेभ्यो भाषाविषयेभ्यो धातुभ्यो नैगमाश्छान्दसाः कृतः प्रत्यया भाष्यन्ते। दमूनाः क्षेत्रसाधा इति। ननु च दमिसाधी छन्दस्यपि प्रयुज्येते। **'स्वाध्यायप्रवचने दमनं दानु यामि'** (श०ब्रा० ११.५.७.१, तैत्ति० उप० १.९.१) इति। **'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः'** (ऋ०१.१६४.५०, यजु०वा०सं०३१.१६) इति च? उच्यते, न भाषिकग्रहणेन छन्दसि प्रयोगो निवार्यते। अविशेषोपदेशात्। किन्तर्हि? भाषायां तावत् साधुत्वमवगम्यते। प्रत्ययस्तु **दमेरूनसिः** (उणा०४.२३६) छन्दसो विषय एवेत्युपपन्नं नैगमत्वम्।

ननु च असिप्रत्ययस्याविशेषेणोपदेशात् पय आदिषु भाषायामप्यस्ति प्रयोगः। अतो नैगमावधारण-मयुक्तम्? उच्यते। सत्यम्। तथापि तु विशिष्टोपपदविषयसाधितेनासि प्रत्ययस्य नैगमत्वमेव। न क्वचिद् भाषायामस्ति प्रयोग इति विशिष्टप्रकृतिनियतस्य युक्तं नैगमत्वमित्युदाहरणम्। **'जुष्टो दमूनाः'** (ऋ०५.४.५) इति नवमे (निरु०४.५) व्याख्यास्यते।

'क्षेत्रसाधाः' इत्यस्योदाहरणम्–

अग्निं वः पूर्व्यं गिरा देवमीळे वसूनाम्।

सपर्यन्तः पुरुप्रियं मित्रं न क्षेत्रसाधसम्।। (ऋ०८.३१.१४)

वैवस्वतस्य मनोरार्षम्। **अग्निं वः** छान्दसत्वात् द्वितीयैकवचनस्यायं वसादेशः। त्वां **पूर्व्यं**=पूर्वं प्रथममन्याभ्यो देवताभ्यो **गिरा** स्तोत्रशस्त्रलक्षणया वाचा **देवं** दातारम्, **ईडे 'ईड स्तुतौ'** (धा०२.९) व्यत्ययेनैकवचनं बहुवचनस्य स्थाने ईडामहे स्तुम इत्यर्थः। कस्य दातारम्? **वसूनां** धनानाम्। अथवा षष्ठीश्रुतेरर्थायेति शेषः। **सर्पयन्तः**। चरुपुरोडाशादिना परिचरन्तः। **पुरुप्रियं** बहूनां यजमानानां प्रियम्। **मित्रं न** मित्रमिव। यथा मित्रं क्षेत्रस्य साधयितृ क्षेत्रस्य सम्पादयितृ इत्यर्थः।

अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णं घृतमिति।

अथापि नैगमेभ्यो धातुभ्यो भाषिकाः कृतः, पूर्वेण कृतव्याख्यानमेतत्। उदाहरणम्–उष्णं घृतमिति। उषिजिघर्त्ती छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शाखान्तरे आपिशलादौ स्मरणात्। **'गा स्तुतौ छन्दसि'** (धा०१.७२७) इति च केषाञ्चित् धातुपाठे छान्दसत्वस्मरणात्। **'प्रत्युष्टं रक्षः'** (यजु०वा०सं०१.७; तै०सं०१.१.२.१)। **'जिघर्म्यग्निं हविषा'** (ऋ०२.१०.४) इति छन्दसि प्रयोगदर्शनात् छान्दसौ धातू। ताभ्यां नन्निष्ठाप्रत्ययौ भाषिकौ तौ च सत्यपि भाषिकत्वे छन्दसि न निवार्येते, **'घृतं चापां पुरुषं चौषधीनाम्'** (ऋ०१०.५१.८) इत्यविशेषोपदेशादित्युक्तम्।

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु।

अथापीत्यादि। प्रकृतय एवेति, प्रकृतिशब्द आख्यातवचन इहाभिप्रेतः। नाम्नामाख्यातजत्वस्य प्रतिज्ञानात्, तेनाख्यातान्येवैकेषु देशेषु भाष्यन्ते, विकृतयस्तज्जत्वान्नामानि, तान्येवैकेषु। अन्ये तु प्रकृतयो धातवः सर्वप्रत्ययान्ताः, विकृतयो नियतप्रत्ययविषया इति व्याचक्षते। उदाहरणं दर्शयति- **शवतिर्**गत्यर्थ (धा०१.७६१) आख्यातप्रत्ययान्तः, शवतीति प्रकृतिः, विकारोऽस्य नाम शव इति। सोऽयं प्रकृतिभूतो देशव्यवस्थया **कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमप्यस्य** नामपदस्यार्येषु **भाष्यन्ते शव** इति। अनियतप्रत्ययो वा शवतिः कम्बोजेषु, नियतप्रत्ययस्तु शव इत्यार्येषु। अथवा उपरतप्रत्ययस्य सक्रियः प्रकृतिः, तेन सक्रिये जीवति गमिक्रियां कुर्वति शवतीति प्रयुज्यते। जीवतो विकार्यं मृतमार्येषु भाषन्ते, शवशब्दं मृते प्रयुज्यत इत्यर्थः। तथा **दातिर्**धातुराख्यातप्रत्ययान्तोऽनवधृतप्रत्ययान्तो वा **लवन**लक्षणेऽर्थे प्राच्येषु। व्रीहि ददातीति भाष्यते, सर्वप्रत्ययान्तो वा। दाता दात्रं दातुमिति विकारो नाम नियतष्ट्रन्प्रत्ययान्तो वा छेदनस्य साधनं **दात्रमित्युदीच्येषु** प्रयुज्यते।

प्रसङ्गात् कम्बोजशब्द निराह-कम्बोजा नाम-उत्तरापथे क्वचिज्जनपदाख्या मद्रादिवत्। ते च हिमप्रायत्वाद्देशस्य, ईश्वरा अपि सन्तः कम्बलानुपभुञ्जत इति कम्बलभोजाः सन्तो वर्णलोपव्यापत्त्यादिना कम्बोजा इत्युच्यन्ते। कमनीयान्वा यथेष्टं विषयान् भुञ्जते, म्लेच्छदेशत्वात्। स्त्रियोपेयगम्यागम्यादिव्यवहाररहिता इत्यर्थः। अश्वरत्नादि वा कमनीयमेव प्रायेणोपभुञ्जते। अनुप्रसक्तं कम्बलशब्दं निराह-कमनीयः शीतार्दितैः प्रार्थनीयो भवति।

उपसंहारवचनम्-

एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्।

एवम् **'अथ निर्वचनम्'** इत्येतत्प्रभृति देशभाषाव्यवस्थापर्यन्तेनानेनोक्तेन प्रकारेण वैचित्र्येण, एकपदान्यवृत्तिजानीत्यर्थः। कुतः? वृत्तिजानां पृथगारम्भात्। उक्तप्रकारसाधारण्ये सति पृथगारम्भः किमर्थ इति चेत्? कस्यचिद्विशेषस्य विवक्षया।

तदर्थञ्चाह-

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।

अनन्तरं तद्धितेषु समासेषु च विशेषं वक्ष्याम इति शेषः। **एकपर्वस्वित्यादि**। नात्र यथासंख्यं विवक्षितम्। किं तर्हि? उभयमुभयत्र पर्वसन्धिः। एकः प्रकृतिप्रत्ययसन्धिर्येषां त एकपर्वाणस्तद्धिताः। एवमेव एकः पदसन्धिर्येषां त एकपर्वाणः समासाः। एतेनानेकपर्वत्वं व्याख्यातम्। उदाहरणम्- **'न जामये तान्वः'** (ऋ०३.३१.२) अष्टमे (निरु०३.६) व्याख्यास्यामः। **'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति'** (ऋ०१०.९५.१५) **'हिरण्यरूपः'** (ऋ०२.३५.१०) **'अग्नीषोमौ'** (ऋ०१.९३.१, १०) एवमादीन्युदाहरणानि।

अत्र **'न वै स्त्रैणानि'** (ऋ०१०.९५.१५) इति व्याख्यायते। पूर्वमपाकृतं पुरूरवसं सपरिदेवनमुर्वशी अनयर्चा पर्यवस्थापयामास-

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता। (ऋ०१०.९५.१५)

हे **पुरूरवः! मा मृथाः। मा** च **प्रपप्तः** पर्वतात्पतनं मा कृथाः। **मा च त्वा** त्वां **वृकासः** वृकाः। **अशिवासः** अशिवाः। उ इति पदपूरणः। क्षन् अदेर्लिङि घस्लादेशे **'मन्त्रे घस'** (अष्टा०२.४.३७) इति लेर्लुकि कृते रूपमेतत्। मा खादिषुरित्यर्थः। मदर्थमात्मानं मा परित्याक्षीरित्यभिप्रायः। **न वै** वैशब्दो यस्मादर्थे। यस्मान्न **स्त्रैणानि** स्त्रीसम्बन्धीनि **सख्यानि** चिरं **सन्ति** भवन्ति। **सालावृकाणां** मर्कटानां **हृदयान्येता** एतानि। स्त्रियः पौंश्चल्याच्चलितत्वाच्चेति। तस्मात् प्रसंख्यानमास्थाय धीरो भव।

अनेकपर्वा-पवीरवान्, पावीरवी, (ऋ०१०.६५.१३, निरु०१२.३०) कल्याणवर्णरूप इत्यादि। एवमादि पूर्वपदं पूर्वं निर्ब्रूयात् प्रविभज्यापरमपरं निर्ब्रूयात् पश्चादित्यर्थ एवं केचित्। न त्वयं नियमः। दृश्यते हि-अध्वरविधवादिषु **'ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः'**,(निरु०१.८) **'अपि वा धव इति मनुष्यनाम, तद्वियोगाद्विधवा'** (निरु०३.१५) इति च परस्य पूर्वं निर्वचनदर्शनात्। अतोन्यथा व्याख्यायते- पूर्वं पूर्वं निर्भज्यापरं पश्चान्निर्भज्य निर्ब्रूयाद् यथेष्टमिति। एतदपि-अध्वरकल्याणवर्णरूपादिषु पूर्वपदोत्तरपदप्रविभागदर्शनाभावान्नैव सङ्गच्छते। एवं तर्हि अयमभिप्रायो भाष्यकारस्य दूरतरमनुसारयितुं शक्यते। समुदायप्रकृतित्वादेव उद्धारपदानां समुदायः पूर्वत्वेन विवक्षितः, तं पूर्वं निर्ब्रूयात्। **'अध्वर इति यज्ञनाम'** (निरु०१.८), **'कक्ष्या रज्जुरश्वस्य। कक्षं सेवत'** (निरु०२.२) इति समुदायार्थवचनञ्च निर्वचनमभिप्रेतम्। अपरमपोद्धारपदरूपमवयवं पश्चाद्यथेष्टं कल्याणवर्णस्येवास्य स्वरूपमिति समुदायार्थमुक्त्वा कल्याणादीनवयवान् पश्चान्निरवोचत् पृथक्। तथा **'विश्चकद्राकर्षो वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते'** (निरु०२.३) इति वचनपुरस्सरं यथेष्टमवयवनिर्वचनं द्रातीत्यादि। राजपुरुषोऽध्वर्यवादिषु च राज्ञः पुरुषोऽध्वरयुरिति च समुदायार्थनिर्वचनाभिप्रायं विगृह्य वचनं द्रष्टव्यम्। एवमेतानि प्रदेशान्तरदृष्टान्युदाहरणानि व्याख्यातृभिरुपन्यस्तानि प्रविभज्य निर्ब्रूयादित्यस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थम्।

भाष्यकारस्य तु तद्धितोदाहरणम्-दण्ड्यः पुरुष इति, अभिधेयवचनम्। दण्डमर्हतीति समुदायार्थकथनम्। तद्विकल्पेन सम्पद्यत इति तद्धितार्थान्तरप्रदर्शनम्। अकृत्यकारी हि दण्डादिना समस्तेन व्यस्तेन वा सम्पद्यते सङ्गच्छते संयुज्यते, पापनिवृत्तिहेतुत्वाद्वा दण्डस्य। तेन पापनिवृत्त्या साधुः शोभनः सम्पद्यते। **'सम्पादिनि'** (अष्टा०५.१.९९) इत्यर्थे ठञं बाधित्वा छान्दसत्वात् यो द्रष्टव्यः।

अवयवार्थं निराह-**दण्डो ददतेः**, दा इत्यस्य धारयत्यर्थे वर्तमानस्य। धारयति ह्यसौ निरुणद्धि पश्वादिकमपि, किमङ्ग मनुष्यम्। तथा च व्यासस्य वचनेन नीचमध्यमोत्तमलक्षणम्-**दण्डस्य हि भयान्नीचः पापं कर्म न सेवते। परलोकभयान्मध्यः स्वभावादुत्तमो नरः** (मनु०७.९८, महा०शा०१५.५)॥ इति॥

अस्ति पुनरयं ददतिः किं क्वचिद्धारणार्थे? अस्तीत्याह। अक्रूरो नाम वृष्ण्यन्धकाधिपतिः स ददते धारयते मणिं मस्तकेन स्यमन्तकं नाम। एवं भाष्यते लोके। भूतानद्यतनपरोक्षत्वात्तु धारणस्य ददते मणिमिति लिडन्तस्योपपन्नतरः पाठः। अपिशब्दाच्छन्दसि च **'चतुरश्चिद्ददमानात्'** (ऋ०१.४१.९, निरु०३.१६) **'विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त'** (ऋ०७.३३.११, निरु०५.१४) धारयन्तेत्युपरिष्टान्मन्त्रौ व्याख्यास्येते।

उपनमनहेतुत्वाद् **दमनाद् दण्ड इत्यौपमन्यवो** मन्यते। **'तेनादान्तान् दमयेत्'** (गौत०धर्म०११.३०) उपनमयेदकृत्येभ्यः। धात्वन्यत्वमात्रमेव, न वस्तुभेदः। उभयस्योभयत्र भावात्।

गर्हायामपि-दृश्यते-**दण्डमस्याकर्षत इति**। कृतवन्तः शास्त्रावधारणायां प्राड्विवाका इति गर्हा गम्यते दण्डितोऽयमिति पापप्रख्यापनेन। मध्यमपाठेऽप्याकर्षतेति दण्डमस्यावधारयतेति गर्हैव गम्यते। **'अर्हे कृत्य'** (अष्टा०३.३.१६९) इति दण्डार्हो दण्डनीयो दण्डच इत्यर्थरूपयोरविशेषः। दण्डः प्राप्तोऽस्येति दण्डयः, प्राप्तकालतायाञ्चैवमेव गर्हा प्रतीयते।

द्वितीयमुदाहरणम्-**'अन्या किल त्वाम्'** इति निरुक्तं स्यादित्यत आह-**कक्ष्या रज्जुरश्वस्येति**, अभिधेयवचनम्। कक्षं सेवत इति समुदायार्थनिर्वचनम्। सेवत इति तद्धितार्थवचनम्। कथम्? यो हि यं सेवते स तत्र भवतीति भावार्थः प्रदर्शितो भवतीति। तेन कक्षे भवा कक्ष्या इत्यवयवनिर्विवक्षयाऽऽह तथा कक्ष इत्यादि। अयं कक्षशब्दो न तथावयवे प्रसिद्धो यथा नद्यनूपपर्वतकुञ्जादिषु। अतस्तत्रैवाभिधेययोगिनोऽनुगमस्य वैस्पष्ट्यान्निरुच्यते- **गाहतेः क्स इति नामकरणः**। तस्मिन्नादिव्यापत्त्युपधाविकारहोढत्वकत्वप्रत्ययविनागमेषु कक्ष इति भवति। विलोडनीयो ह्यसौ नाष्टीकैः गवाद्यन्वेष्टुम्, राजपुरुषैर्वा तस्करान्, तस्करैर्वा लीयकान् पथिकान्। **ख्यातेर्वा** तस्मिन्नेव प्रत्ययेऽ**नर्थको** निर्निमित्तकोऽ**भ्यासः**, यकाराकारयोर्लोपः, अभ्यासविकाराश्च द्रष्टव्याः। तृणव्यूहनेनाख्यानीयो हि तत्रस्थो भवति। अथवा **किमस्मिन् ख्यानमिति**। किमः ख्यातेश्च। गहनत्वान्न किञ्चित्कस्यचित् ख्यानं दर्शनमस्मिन्निति वा कक्षः। **कषतेर्वा**। तत्र हि कपिकच्छतृणादिभिश्च पाट्यमानस्य कण्डूरुत्पद्यते, अतः कषणात् कक्षः। तत्सामान्यात्तच्छब्देनोक्ताः क्रियाः प्रतिनिर्दिश्यन्ते। उक्तक्रियासामान्यान्मनुष्यकक्षः। तत्रापि हि विलोडनं बाहुमूले नित्यप्रच्छादनाच्च दिदृक्षाविशेषेण विषयिणः स्त्रीकक्षे। अतः ख्यातेर्वा, कुत्सितमस्मिन् ख्यानमिति स्वेदक्लिन्नदुर्गन्धित्वादिना सम्भवति, कण्डूविनोदनार्थञ्च कषणमपि। मनुष्यकक्षे बाहुमूलत्वमस्तीति तत्सामान्यादश्वस्योक्ताश्च क्रियाः सम्भवन्त्यो द्रष्टव्याः। एतेन हस्तिकक्ष्या व्याख्याता।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्य-)ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। **यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥** इत्यपि निगमो भवति। विश्वकद्राकर्षः। वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना। कद्रातीति द्रातिकुत्सना। चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः। कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः। एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात्। नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा, नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्। यो वालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा॥ ३॥

भाष्यटीका

एकसन्धिसमासोदाहरणम्-राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति। अस्य समासस्य समुदायार्थवचनं राज्ञः पुरुष इति। ननु च दण्डयः कक्ष्येत्यादितद्धितोदाहरणवत् समासोदाहरणं तावदुपन्यसनीयम्, पश्चात् समुदायार्थनिर्वचनम्, ततोऽवयवनिर्वचनमिति? सत्यमेवम्, तथापि तु क्रमभेदाश्रयणं निर्वाच्यराजशब्दविशेषणार्थम्। **'राजपुरुषो राज्ञः पुरुषः'** इत्युक्त्वा **'राजा राजतेः'** इत्युक्ते वाक्यार्थस्यैतन्निर्वचनमिति गम्यते। नत्वेक एव राजशब्द उच्यते। एतज्ज्ञापयति राजपुरुषशब्दे न राजशब्दो न पुरुषशब्दोऽस्ति। किं तर्हि? अन्यदेवेदं पृथक् प्रयुज्यमानरूपावयवं नरसिंहस्थानीयं परमार्थतो निरस्तपूर्वापरविभागं निस्सन्धिबन्धनं नित्यं विशिष्टार्थवृत्तिशब्दान्तरम्।

यत्त्वत्र विभज्यान्वाख्यानम्, तद्बालानामव्युत्पन्नबुद्धीनां सुखप्रतिपत्त्यर्थम्। तथा चाहुर्वैयाकरणाः-**'वा वचनानर्थक्यञ्च स्वभावसिद्धत्वात्'** (अष्टा०व्या०महा०२.१.१) इति। नैरुक्ता अपि स्वसिद्धान्तानुरोधेन यथाप्रतिज्ञमेवैतन्निरवोचन्। अतो राजेत्यादि कल्पितावयवं निर्वचनम्। राजशब्दो ह्यभिषेकादिगुणयुक्ते जातिविशेषे क्षत्रिये रूढः। तथापि तु गवादिवत् क्रियया जातिर्लक्ष्यत इति व्युत्पाद्यते। विशिष्टं वा राजानमन्येभ्यो व्यावृत्तं गमनवदिति रूढावपि व्युत्पत्त्यर्थम्। तेन क्रियासमाश्रयणादविरोधः। तथा चोक्तं सर्वं प्रादेशिकमित्यत्र धातोः क्रियावचनत्वं प्रत्ययस्य च स्वार्थे रूढित्वमिति। दीप्यते ह्यसावष्टानां लोकपालानां वपुषो धारणादिति तेजस्वितया।

पुरुषः, पूः शरीरं **'शद्लृ शातने'** (धा०१.९०८) इत्यस्य शात्यत इति कर्मणि (अष्टा०३.३.१२१) घञ्, शादः। पुरि शादो मलसञ्चयः, पुरि शादोऽस्यासौ पुरिशादः सन् अन्तलोपोपधाविकारशकारषकारोकाराणां व्यापत्त्यादिना पुरुषः। तथा च **'वसाः शुक्रमसृग्'** इत्यादि **'द्वादशैते नृणां मलाः'** (मनु०५.१३५) इति स्मरणात्। अथवा शदिर्गत्यर्थः। तस्मात् पुर्शब्दोपपदे डप्रत्ययः। पुरं शरीरं भोक्तृत्वेन गच्छतीति पुरिशः सन् शकारषकारव्यापत्त्योकारस्योपजनेन पुरुषः। अस्मिन् पक्षे पुरि शदो गमनमस्येति व्युत्पत्तिवचनम्। पुरि शाद इति तु पाठान्तरम्। बहुः पापसञ्चयः शादोऽस्मिन्निति व्युत्पत्तिवचनम्। पुरिशयः, अथवा पुरि पूरयितव्येऽन्नादिना शरीरे शेते तिष्ठति उपलभ्य इत्यर्थः। तथा च प्रयोगः- पुरि पुरुषः शेत इति। **पूरयतेर्वा**। अस्योपपत्तिवचनम्- **पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य**। अन्तरपुरुषः क्षेत्रज्ञस्तमभिप्रेत्योच्यते। तेन हीन्द्रियप्राणादिरूपं पर्युष्टकं स्थूलञ्च धात्वादिरूपं शरीरं यावद् व्याप्तिभूतत्वात् पूरितम्। अथवा पूरयत्यन्तरित्येवमन्तो ग्रन्थः क्षेत्रज्ञाभिप्रायः पूर्ववद्योजनीयः। ततोऽपि पर आत्माऽन्तरोऽन्तर्हिततर आगमगम्यः, यः सर्वोपनिषत्सु गीयते। पुरुषः पूरणो विश्वस्य सकलस्य विकारजातस्य संभक्ता पुरुषस्तमभिप्रेत्य निगमोऽपि गीयते-यस्मात्परमिति। यस्मात्परं कारणभूतं तस्य नापरमन्यत् किञ्चिदस्ति, सर्वस्य जगतस्तस्यैव कारणत्वात्। यस्मान्नाणीयो यस्मान्न सूक्ष्मतरं न ज्यायो वृद्धतरञ्च किञ्चिदस्ति। यश्च वृक्ष इव, यथा वृक्षः स्तब्धो निष्क्रियः, एवमसंकोचविकासधर्मादिविद्योतनस्वभावे आत्मन्येव तिष्ठति। अथवा दिवि द्युलोके। प्रदर्शनञ्च द्युग्रहणम्। दिव्यन्तरिक्षे भुवि च य एक एव, तेनेदं चतुर्दशसंस्थं भुवनं पूर्णं पुरुषेण सर्वं कृत्स्नम्।

अनेकपर्वसमासोदाहरणम्-विश्चकद्राकर्ष इति। वीति चकद्राकर्ष इति शब्दसमाधिर्यथा दर्शयिष्यामः। श्वगतौ भाष्यत इत्यर्थकथनम्। श्वानो गतिर्यस्य शुनां वा गतिराश्रयः, मृगयाशीलः कश्चित् श्वागणिकः पुरुषः, तस्मिन् भाष्यते। अयञ्च व्याकरणस्य शाखान्तरे क्वचिदन्वाख्यातः। सम्प्रति तु विच्छिन्नान्वाख्यानो भाषिक एव पृषोदरादिषु वा द्रष्टव्यः।

यथाऽनेन प्रकृत उच्यते तथा दर्शयति **द्रातीति गतिकुत्सना**। धात्वर्थकथनमेतत्। कुत्सनविशिष्टायां गतावित्यर्थः। यद्यपि द्राति दूळतीति सामान्येन गतिकर्मसु पठितः, तथापि लोटते स्यन्दते कसति स्रवति सर्पतीत्यादिवत् गतिविशेषविषय एव द्रष्टव्यः। तथा च धातुपाठस्मृतिः-**'द्रा कुत्सायां गतौ'** (धा०२.४५) इति। इदानीं पुनः श्वागणिकस्य वा स्वभावतश्च सम्बन्धेन वा गतिः कुत्सिता सती हिंसाप्रयोजनतया पुनः कुत्स्यते। ताञ्च पुनः कुत्सां पापज्ञानकृतां कदादेशेन कुशब्देन दर्शयति-**कद्रातीति द्रातिकुत्सना। चकद्राति कद्रातीति सत** इति। नेदं कारकविशेषावधारणम्, धात्वर्थनिर्देशस्य विवक्षितत्वात्। किन्तर्हि? एवंरूपस्य सतो भवतः शब्दरूपस्यानर्थको निर्निमित्तकोऽभ्यासः, शब्दोपजनमात्रमित्यर्थः। तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः। तच्छब्देन धात्वर्थबुद्ध्या संवृतक्रमं गतिर्गमनमिति कृदन्तशब्दवाच्यं व्यपदिशति। तदुक्तविशेषगमनमस्मिन् शुन्यस्तीति श्वैवोच्यते विश्चकद्र इति। तं रज्ज्वा गले बद्धमाकर्षतीति विश्चकद्राकर्षः। कर्मोपपदेऽसावुपपदसमासः। तस्य च श्वागणिकोऽभिधेयः। यदापि चकद्रा पुरुषगतिः, तदा तद्वान् पुरुषो विश्चकद्रः। तस्याकर्षः षष्ठीसमासः। आकृष्यतेऽनेनेत्याकर्षो बाहुः। कुत एतत्? **'आकर्षफलकेन जुहोति'** इति श्रुतेः। पाणिरेवात्र फलकोऽभिप्रेतः। अस्मिन् पक्षे श्वागणिकस्य बाहुरभिधेयः। यदा तु श्वसम्बन्धाद्धिंसाविषयत्वाच्च हस्तव्यापारश्चकद्रः, तेन तद्वान् विश्चकद्रो बाहुः, तदा विश्चकद्र आकर्षोऽस्येति बहुव्रीहिः। अन्यपदार्थः श्वागणिकः। विशब्दो मत्वर्थे। **पारस्करादित्वात्सुट्,** (अष्टा०६.१.१५७) शब्दोपजनो वा। विविधमिता वीता चकद्रा च कुत्सिता गतिर्यस्मिन् शुनि तत्साहचर्याद्वा श्वागणिके तद्बाहौ वा, तुल्यकारणत्वात्, स वीतचकद्रः। तमाकर्षतीत्यादि समानं पूर्वेण। वीतचकद्राकर्षः सन्ननेकेन प्रकारेण विशब्दस्य मत्वर्थकल्पनया सुटा च विश्चकद्राकर्ष इति भवति। अनेकसमासकल्पनया चानेकपर्वत्वमत्र द्रष्टव्यम्, समासान्तरागतेः।

समासान्तरकल्पनया चानेकपर्वत्वप्रदर्शनार्थमुदाहरणान्तरम् **कल्याणवर्णरूप** इति। **कल्याणवर्णस्येवास्य रूपमिति** समुदायार्थवचनम्, न विग्रहप्रदर्शनम्। कल्याणो वर्णोऽस्येति कल्याणवर्णः। मण्यादिरन्यपदार्थः। कल्याणवर्णरूपमिति षष्ठीसमासः। कल्याणवर्णरूपमिव रूपमस्येति। अत्रापि चोत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः। राजपुत्रादिरन्यपदार्थः। अत्र च नान्यस्य रूपमन्यस्य भवतीति सामर्थ्याद् रूपमिवेत्यस्यार्थस्य गम्यमानत्वाल्लोपोपचारः। एवमेव विग्रहीतव्यम्-कल्याणवर्णरूपं रूपमस्येति। अन्यत्रापि चोत्तरपदलोपिनि समासे उष्ट्रमुखादावेष एव न्यायः प्रयुक्तः। तत्र सामर्थ्याद् उष्ट्रो मुखं यस्येत्येवमेव विगृह्णन्ति।

कल्याणं कमनीयम्, इत्याद्यवयवनिर्वचनम्। प्रार्थनीयं हि तत्। **वर्णो वृणोतेः**, आच्छादयति ह्यसौ तदाश्रयम्। **रूपं रोचतेः**। रोचिष्णु हि तद्भवति, आश्रयताविशेषात्। एवमित्यनुक्तेषु विधिं दर्शयति। पूर्वं पूर्वमित्यादिनोक्तेन प्रकारेणानुक्तान् **तद्धितसमासानेक**पर्वणोऽनेकपर्वणश्च **निर्ब्रूयात्**।

नैकपदानि निर्ब्रूयात्। एकशब्दोऽसहायवचनः, एकाग्नयः, **'एकहलादौ'** (अष्टा०६.३.५९) इति यथा। असहायान्यवाक्यस्थानीत्यर्थः। केनचिच्छिद्रान्वेषिणा दुष्टाशयेनोपन्यस्तानि जहादीनि, जहातेर्हन्तेर्वेति सन्दिह्यमानानि, **'मा नु एकस्मिन्नागसि'** (ऋ०८.४५.३४) इति प्रकरणसव्यपेक्षार्थविशेषनिश्चयानि, गोमत्सरादीनि च यानि पदान्तरसमवधानप्रकल्प्यार्थविशेषाणि, **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋ०९.४६.४, निरु०२.५) इति यथा। एवमादीनां ह्येकस्मान्निर्वचनेऽज्ञानमपहास्यता मृषावादो दोषानुषङ्गश्च स्यात्। पूर्वेण च **'एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्'** इत्यनेनास्य विषयभेदादविरोधः।

एवं शेषपदलक्षणमभिधायेदानीमिदं विद्यास्थानं यस्मै कस्मैचिन्न वक्तव्यम्। तदर्थमाह-**नावैयाकरणाय**। निर्ब्रूयादित्यनुषङ्गः। वैयाकरणो हि प्रकृत्यादिविभागेन व्युत्पाद्यमानं प्रत्येति। इतरस्य तु प्रकृत्यादयोऽप्यप्रसिद्धाः। तद्व्युत्पत्तौ च क्रियमाणायां यत्नस्य गौरवम्। वैयाकरणायापि **नानुपसन्नाय**। शिष्यवृत्तिमनास्थिताय। अनुपसन्नो ह्यनर्थित्वान्न विद्यायां न गुरौ वाद्रियेत। ततश्च न धर्मो नाप्यर्थ इति।

प्रतिषेधस्मरणाच्च-

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।

तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ (मनु० २.११२)

विद्ययैव समं कामम् (मनु० २.११३)। इति च।

अनिदंविदे वा। वैयाकरण उपसन्नोपीदं विद्यास्थानं वेदितुमसमर्थो यः, असौ=अनिदंवित्। वा शब्दश्चार्थे। तस्मै च न निर्ब्रूयात्। को हि वृथा श्रममाश्रयेत्। कथं वासावसमर्थो भवेत्? यद्यनधीतवेदः स्यात्। ततश्चैतदुक्तं भवति-अनधीतिनेति। उक्तगुणत्रययुक्तायैवेत्यर्थः। अनध्यायवित्=अनिंदवित्, इति केचित्। अकिञ्चिज्ज्ञ इत्यन्ये। इदं तदिति व्यपदेश्यं न किञ्चित् विद्यास्थानं यो वेत्ति। कुतः? **नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया**। असूया अक्षमा परगुणासहिष्णुत्वं चेतोधर्मः प्रादुर्भवतीति शेषः। ततश्चासावसकृदपि विविक्तमुच्यमानोऽपरिगच्छन्नसूयकत्वात् स्वाबोधमुपाध्याये न्यस्येत्। यदयमेव न बुध्यते तत् कथमन्यान् बोधयिष्यतीति। तथा च सत्यस्यायशः श्रमवैयर्थ्यञ्च स्यात्।

उपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद् यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा। तु शब्दो विशेषणार्थः। शिष्यवृत्तिमास्थिताय श्रद्धालवेऽन्यगुणाभावेऽपि कारुण्यान्निर्ब्रूयात् यो वाऽलं पर्याप्तं विज्ञातुं समर्थस्तस्मै। यो वा मेधावी सकृच्छ्तग्रन्थग्रहणसामर्थ्यसमन्वितः। स ह्युच्यमानमवधारयेत्। प्रतिशब्दकन्यायेनापि च प्रत्युच्चरेत्। तथापि न प्रलीयते विद्येति। तस्मात् पूर्वोक्तगुणाभावेऽपि निर्ब्रूयात्। तपस्विने वा। **'नासाध्यं तपसा किञ्चित्'**[१] इति स्यादेव तस्यानुग्रहः। एतदुक्तं भवति, उक्तगुणशिष्यभावरहितायापि शास्त्राविच्छेदायानन्तरोक्तेभ्यस्त्रिभ्य एकैकगुणत्वेऽप्युपसदने सत्यसति वोपच्छन्द्यपि निश्चयेन निर्ब्रूयादिति।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या-)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

---

१. कादम्बरी निर्णयसागर १९२७ पृ० २५५

अथ चतुर्थः खण्डः।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।। य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सं प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न दुह्येत् कतमच्चनाह।। अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।। यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न दुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।। इति निधिः शेवधिरिति।।४।।

भाष्यटीका

एतमेवार्थमितिवृत्तार्थवादेन प्रोचयन्नाह-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।। (मनु० २.११४)

चतुर्दशानां विद्यास्थानानामधिष्ठात्री देवता स्वयमेव वा **विद्या** विग्रहिणी यथा-दर्शनं शिष्यानध्यापयन्तं कञ्चिद् ब्राह्मणमुपाध्यायमाजगाम। किमिति? अध्येषणार्थम्। त्वं **गोपाय** त्रायस्व। **मा** माम् किमेवं स्यादित्युपचयं दर्शयति-रक्षिता सती **शेवधिः** सुखं निधानं **ते** तव **अस्मि** भवामि। कीदृशी? रक्षा इति चेत्? दर्शयति-**असूयकायेत्यादि**। असूयकः परगुणप्रध्वंसनशीलः, उपाध्यायद्विट् हैतुको वा। तत एव निर्दग्धश्रद्धास्तिक्यभावनः सर्वमेवासूयन्न किञ्चित् प्रतिपद्यते। **अनृजुः** शठः, अन्यथावागन्यथाचारः। **अयतः**=अप्रयतः, अशुचिः, भिन्नवृत्तो वा अयतेन्द्रियः। एवंविधाय **मा ब्रूयाः**, मावोच इत्यर्थः। **वीर्यवती** फलस्य साधिका **तथा** तव **स्यां** भवेयम्।

परतः श्रोतुरुपदेशः-

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न दुह्येत् कतमच्चनाह।। (सं०उ०ब्रा० ३)

य आतृणत्ति विध्यति। **अवितथेन** सत्येन ब्रह्मणः **कर्णौ**। **अदुःखम्**। असमर्थसमासोऽयम्। सूचीवर्तिप्रवेशनादिनिमित्तं दुःखमकुर्वन्। **अमृतं संप्रयच्छन्** अमृतत्वहेतुभूतमधिदेवतादिविषयं ज्ञानं सम्यक् प्रयच्छन्। **तं मन्येत** जानीयात् **पितरं मातरञ्च,** नेतरौ। तौ हि अत्यर्थं प्रवर्तेते। पुत्रस्तु वाजिनवदनुनिष्पादी। अयन्तु स्वार्थमनपेक्ष्य तदनु जिघृक्षयैव प्रवर्तते। तस्यापि वाजिनस्थानीयं यशो लोकभक्त्याद्यशक्यपरिहारमस्ति, तदस्य चाविवक्षितं प्रयोजनम्। तं प्रत्येतदुच्यते। अतश्च **तस्मै न दुह्येत् कतमच्चनाह**। अहशब्दो विनिग्रहार्थीयः, नशब्दाच्च परो द्रष्टव्यः। चनशब्दः अप्यर्थे। न च कतमत् किञ्चिदल्पमपि कदाचिदपीति वा।

गुर्वनुवृत्तिमकुर्वतः परिनिन्दावचनम्-

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।

यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥ (सं०उ०ब्रा०३)

अध्यापिता ग्राहिताः सन्तो विद्यां **ये गुरुं नाद्रियन्ते**। यतश्चाध्यापिता अतः। **विप्राः** वाङ्मनः **कर्मभिः**। **यथैवेत्यादि**। **भोजनीया इति** बहुलवचनात् कर्त्तरि कृत्यः। यथा **ते न गुरोर्भोजकाः, तथैव तान् न भुनक्ति** न पालयति। दृष्टे चादृष्टे च तत्कृतफलाभावान्नानुगृह्णाति **श्रुतं तत्**।

संप्रति यस्मै वक्तव्या, तं दर्शयति–

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

यस्ते न दुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ इति॥ (मनु० २.११५)

यमेव विद्याः=जानीयाः। द्विप्रकारेणापि शौचेन **शुचिं**=प्रमादवर्जितं शास्त्रार्थनिष्ठमित्यर्थः। **मेधाविनम्** मेधया तद्वन्तम्। **ब्रह्मचर्य्योपपन्नम्** कृतोपनयनादिसंस्कारम्। **यस्ते** तव **न दुह्येत्** नापकरोति। **कतमच्चन**=कदाचिदपि। **अहशब्दः** पूर्ववद्विनिग्रहार्थीयः। नशब्दाच्च परः, नैव दुह्येदित्यर्थः। **तस्मै मा मां ब्रूयाः**। **निधिपाय**=निधिर्विद्यानां सुखहेतूनां निधानमुपाध्यायस्तं पाति यश्छात्रस्तस्मै। हे **ब्रह्मन्**! **ब्राह्मण**। निधिरधिकरणसाधनः, निहिताऽस्मिन् विद्येति। अर्थसामर्थ्याद्वा कर्त्तृसाधनः, पात्रेषु निदधातीति।

इत्याचार्यस्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां

सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य प्रथमः पादः। चतुर्थश्च खण्डः।

॥अथ द्वितीयः पादः॥

पञ्चमः खण्डः।

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गातेर्वौकारो नामकरणः। अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। **गोभिः श्रीणीत मत्सरम्** (ऋ०९.४६.५) इति पयसः। मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणो मत्सर इति लोभनामाभिमत्त एनेन धनं भवति। पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वेरो नामकरण उशीरमिति यथा। **अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि** (ऋ०१०.९४.९) इत्यधिषवण चर्मणः। अंशुः शमष्टमात्रो भवत्यननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वोच्चृतं भवतीति वा। अथापि चर्म च श्लेष्मा च। **गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व** (ऋ०६.४७.२६) इति रथस्तुतौ। अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। **गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता** (ऋ०६.७५.११) इतीषुस्तुतौ। ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत्ताद्धितमथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति॥५॥

भाष्यटीका

अथ निर्वचनमित्यत्र गवादीनां सामान्येन निर्वचनलक्षणमुक्तम्, इहेदानीं क्रमप्राप्तविशेषनिर्वचनविवक्षया आह-

अथात उपक्रमिष्यामः।

तत्राथशब्द आनन्तर्ये सामान्यलक्षणानन्तरम्। अतः शब्दो हेतौ। यतः सामान्यलक्षण उक्ते विशेषं प्रत्याकाङ्क्षास्तीत्यत आनुपूर्व्येण क्रमिष्यामः, विशेषलक्षणं व्याख्यास्याम इत्यर्थः। अथवा अथशब्दो विशेषलक्षणाधिकारार्थः। अतः (अथ)शब्द आनन्तर्ये हेतौ वा। शेषमुक्तार्थम्।

का पुनरसौ विशेषव्याख्या? उच्यते। अभिधानाभिधेयतन्निर्वचनगौणनियमप्रसक्तानुप्रसक्ततदुदाहरण-सन्दिग्धनिर्णयसंख्यादिप्रदर्शनम्। **तत्राभिधानम्=**गौरिति। **अभिधेयम्=**पृथिव्या नामधेयमिति। **तन्निर्वचनम्=**यद्दूरं गतेत्यादि। **गौणनियमः=**गोभिः श्रीणीतेति। **प्रसक्तानुप्रसक्तम्=**पयः पिबतेर्वा क्षीरं क्षरतेः। **तदुदाहरणम्=**उशीरमिति यथेति। **सन्दिग्धम्=**निर्ऋतिसमुद्रादि। **निर्णयः=**वर्षकर्मेति नैरुक्ता इत्यादि। **संख्या=**एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि। तानि च सर्वाधारत्वात् पृथिव्याः प्रथमं पठितानि। तेषामपि मध्ये प्राधान्यप्रदर्शनार्थं प्रथमं पठितं बहुवक्तव्यत्वात् गोशब्दमुपन्यस्यति। **गौरिति पृथिव्या नामधेयम्।** मुख्यत्वाद् भूतपृथिव्या अधिदेवताया उदाहरणम् **'गोषदसि'** इति। गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्, गार्हपत्यस्य च गवि पृथिव्यां सादनात, गोशब्दस्य च पृथिव्यभिधानता निश्चिता।

सर्वशब्दानामाख्यातजत्वप्रतिज्ञानात् प्रवृत्तिनिमित्तमाह-**यद् दूरं गता भवति।** नैरन्तर्येणात्माकाशादिवद् दूरेऽप्युपलब्धेर्गमिक्रियाव्यवहारः। अन्यत्र चान्यत्र चोपलब्धेर्दूरापदेशः। प्रत्ययोपात्तरूढयर्थसम्बन्धाच्च गमिरत्र

नैरन्तर्योपलब्धिर्दूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते, तक्षा परिव्राजक इति यथा। यद्यपि चायं गोशब्दः पश्वादावनेकत्र रूढः, तथाप्यस्य तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसमवायसम्भवादभिधेयं निश्चित्य तदवयवभूतस्य गमेस्तद्विशेषविषयतैव व्यतिरेकव्यावृत्त्यर्थं पूर्ववत् प्रदर्शनीयेति। **यच्चास्यां भूतानि** प्राणिनो **गच्छन्ति**। चो वार्थे। कारकविकल्पश्चायम्। कर्तरि कारकेऽधिकरणे वेत्यर्थः। **'गातेः'** (धा०३.२४) वा स्तुत्यर्थस्य, औकारप्रत्ययः। धातुविकल्पश्चायम्। गीयते स्तूयतेऽसाविति गौः, गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौः। इह च पूर्वत्र च निर्वचने क्रियैकत्वे कारकभेदः।

अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव।

अथ शब्दश्चार्थे, अपिशब्दाच्च परो द्रष्टव्यः। अपि चायं गोशब्दः पशुनामेह लोके वेदे च भवति एतस्मादेव धातुद्वयात्। गच्छति गीयतेऽसाविति गौः। प्रसिद्धत्वाच्च निगमो न प्रदर्शितः। ननु च प्रसिद्धत्वादेव पशुनामत्वमप्यस्य न व्याख्येयम्? उच्यते। पृथिवीनामसु पाठात् तत्रैव च निर्वचनप्रदर्शनात् यत्तादर्थ्यान्तरनिवृत्तिर्मा विज्ञायीति प्रसिद्धस्यापि पशुनामत्वस्य प्रदर्शनं ज्ञापयति च सर्वत्र पाठोऽतन्त्र इति। यत्र पठ्यते ततोऽन्यत्रापि भवतीति प्रदर्शनार्थञ्चैतत्। ग्मादीनामप्येवं व्याख्या कर्तव्या। शास्त्रगौरवभयात्तु भाष्यकारेण नादृत्ता।

अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। 'गोभि॑ः श्रीणीत मत्स॒रम्' (ऋ०९.४६.४) इति पयसः।

अपि चास्यां गवि पशुविषये प्रसक्तस्यायं विशेषो भवति। ताद्धितेन=तद्धितस्यायं ताद्धितोऽर्थो विकारावयवलक्षणः, तेन। **'इत्थंभूतलक्षणे'** (अष्टा०२.३.२१) तृतीया तद्धितार्थेन विकारावयवलक्षणेन संयुक्ताः सम्बन्धाः, कृत्स्नवत् कृत्स्नेनेव प्रकृत्यर्थेनेव गोशब्देनेवेत्यर्थः, निगमा भवन्ति। तेषां प्रदर्शनार्थमुदाहरणम् **'गोभि॑ः श्रीणीत मत्स॒रम्'** (ऋ०९.४६.४)॥ इति॥ ।

आ धा॑वता सुहस्त्यः शु॒क्रा गृ॑भ्णीत म॒न्थिना॑। गोभि॑ः श्रीणीत मत्स॒रम्॥ (ऋ०९.४६.४) इति॥

अयास्यस्यार्षम्। आधावत आगच्छत, हे सुहस्त्यः! अध्वर्यूणामिदं सम्बोधनम्। क्षिप्रकारित्वात्सुवर्णेन चालङ्कृतत्वात्, सु=शोभनो हस्तः सुहस्त सोऽस्यास्तीति सुहस्ती, **'छन्दसीवनिपौ च'** (अष्टा०वा०५.२.२२) इति मत्वर्थे इकारः। तत इदं बहुवचनम्=सुहस्त्यः। आगत्य च, शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना, शुक्रा मन्थिनौ ग्रहौ गृह्णीत। गृहीत्वा चानन्तरं गृहीतं गोभिर्गोविकारैः पय आदिभिः श्रीणीत मिश्रयत, मत्सरं सोमं मैत्रावरुणादिकम्। **'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति दध्नादित्यम्'** इति श्रुतेः। प्रकृत्या गोद्रव्येण पृथिव्यादिभिश्च मिश्रणस्यासम्भवात् पयसश्च श्रुतत्वात् निश्चित्याह पयस् इति।

मत्सरशब्दं निगमप्रसक्तं निराह-**मत्सरः सोमः**। अत्रापि प्रसिद्धस्य लोभस्य मिश्रणसम्भवात् सोमस्य च मिश्रणोपदेशात् क्रियायोगमङ्गीकृत्याह-मत्सरः सोम इति। तञ्च क्रियायोगं दर्शयति-**मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः**। मन्दतेस्तृप्त्यर्थस्य। तृप्यति हि देवता मन्त्रेण। प्रसिद्धिबोधनार्थमाह-**मत्सर इति लोभनाम** इति। एवमन्यत्राप्यर्थान्तरवचनेन सर्वत्र द्रष्टव्यम्। अमीत्यादिना प्रवृत्तिनिमित्तमाह। धनमभिमत्तो मूढ एतेन भवतीति। मत्सरो लोभश्चेतोधर्मः, अनुपालयतो लिप्सा।

विकारप्रसङ्गेनाह-**पयः पिबतेर्वा**। पीयते हि तत्। **प्यायतेर्वा वृद्ध्यर्थस्य**। वर्धन्ते तेन पीतेन प्राणिनो **गोमिनो वा**। दधिनवनीतोदश्वित्प्रदानलब्धेन धनेन, दध्यादिभोजनेन वा वर्धन्ते। स्वयमेव बोधस्सूपचीयते।

पर्यायप्रसक्तं निराह-**क्षीरं क्षरतेः**। क्षरति हि तदूधसः। **घसेर्वा**,[१] **ईरो नामकरणः**। अद्यते हि तत्। ईरः **प्रत्ययः**। किञ्चायं द्रष्टव्य उपधालोपार्थम्। अत एव च तत्कार्यविषयमुदाहरणमुपन्यस्यति **उशीरमिति यथा**। वशेः ईरकि कृतसम्प्रसारणस्येदं रूपम्। काम्यते हि तत्, सुगन्धितत्वात्। उदकमपि क्षीरम्, एतस्मादेव। **'उभावश्विभ्यां पयः क्षीरेण स्नातः'** इत्यादिषु दर्शनात्।

प्रसक्तानुप्रसक्तनिर्वचनप्रयोजनं द्रष्टव्यम्- **अंशुं दुहन्तो अधीत्यादि**। कृत्स्नवन्निगमा इति बहुवचन-निर्देशादनेकोदाहरणप्रदर्शनम्। गवि गोरवयवस्याधिषवणचर्मणोऽधिकरणभूतस्य कृत्स्नवन्निगमः-

ते सो॒मादो॒ हरी॒ इन्द्र॑स्य निंसते॒ऽशुं दु॒हन्तो॒ अध्या॑सते॒ गवि॑।

तेभि॑र्दु॒ग्धं प॑पि॒वान्त्सो॒म्यं मध्विन्द्रो॑ वर्धते॒ प्रथ॑ते वृषा॒यते॑॥ (ऋ०१०.९४.९)

अर्बुदस्यार्षम्। **ते** ग्रावाणः सोमस्यात्तारः, **हरी इन्द्रस्य** स्वभूतावश्वौ, अभिषवलक्षणेन शब्देन **निंसते**। णिसि चुम्बने अन्यत्र। इह तु सामर्थ्यादाह्वानार्थः। अयमभिषूयते सोमः, इन्द्रं गृहीत्वा क्षिप्रमागच्छतं मा विलम्बिषातामित्येवमाह्वयन्तीवेत्यर्थः। अथवा णिसि चुम्बनार्थ एव। ते सोमाद इत्यत्र द्वितीयार्थे प्रथमा। निंसत इत्यपि द्विवचनस्य स्थाने बहुवचनम्। तान् सोमादो ग्राव्णो हरी निंसाते चुम्बतः। कथम्? हर्योः ऋजीषं भागः, ग्रावाणश्च ऋजीषलिप्ताः। तेन तानवश्यं हरी चुम्बतः। एवमभिषवव्यापारद्वारेण **अंशुं** सोमं **दुहन्तो अध्यासते गवि** अधिषवणचर्मण उपरीत्यर्थः। **तेभिस्तैर्दुग्धं** क्षारितं **पपिवान्** पीतवान्, **सोम्यं** सोममयं **मधु, इन्द्रो वर्धते** वीर्येण, **प्रथते** शरीरेण, **वृषायते** वृष इवाचरति यथा दृप्तो वृषः, एवं युद्धार्थं सर्वमारोहयन् भ्रमतीत्यर्थः।

अंशुः शमष्टमात्रो भवति। अंशुः कस्मात्? शमष्टमात्रो व्याप्तमात्रः पीतमात्रः सुखो भवतीत्यर्थः। **'अपा॑म॒ सोम॑म॒मृता॑ अभूम'** (ऋ०८.४८.३) इति श्रुतेः। शमो मकारोऽशेर्मध्यमनुप्रविष्टोऽनुस्वारीभूतः। उकारश्च प्रत्ययः। विकारविकारिणोरभेदोपचारेण सोऽयमित्यभिसम्बन्धात् तद्धिताभावः।

अननाय शं भवतीति वा। अननाय चिरंजीवनाय सुखो भवतीति वा। रसायनायनसोमाभिप्रायमेतत्। अयमेव वा देवतातृप्तिद्वारेण यज्ञनिर्वृत्तिद्वारम्, वर्षहेतुत्वेन सर्वभूतानां जीवनाय सुखो भवतीति। अस्मिन्पक्षे अनेर्धातोः अं, शमश्च शकारः, उकारश्च प्रत्ययः।

चर्म चरतेर्वा, उच्चृत्तं भवतीति वा। चर्म चरतेर्मनिन् प्रत्यये कृते। चरितं हि तच्छरीरे भवति। चरति वा तत्र, अभिषवकाले सोममुपेत्य। उच्चृत्तं उच्छिन्नं भवतीति वा।

अथापि चर्म च श्लेष्मा च। अथापीत्यादि चर्मणः प्रदर्शितत्वात् श्लेष्मार्थमुदाहरणम्। श्लेष्मणश्चर्मविकारत्वात् विकारस्यापि कृत्स्नवन्निगमप्रदर्शनम्। **'गोभि॒ः सन्न॑द्धो असि वी॒ळय॑स्व' (ऋ०६.४७.२६) इति रथस्तुतौ**। गोभिः सन्नद्ध इति वक्ष्यमाणमुदाहरणं रथस्तुतौ चतुर्दशे (निरु०९.१२)। **अत्रापि** चर्मभिर्ग्रथितः श्लेष्मणा च संश्लेषितो न वर्धत इत्यर्थः।

---

१. अदेर्घस्लृ आदेशः क्रियते पा०२.४.३७, धा०१.७१६

अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। स्नावार्थमुत्तरमुदाहरणं वक्ष्यमाणमिषुस्तुतौ। तत्रैव स्नाव्ना श्लेष्मणा चेत्यर्थः।

ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत्ताद्धितम्, अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति। ज्यापीत्यादि। **गव्या चेत्** गोविकारश्चेत् स्नावनिर्वर्तिता चेत्, **ताद्धितं** तद्धिताभिधेयविकारविषयं गोशब्दाभिधानम्। **अथ चेन्न गव्या**, मौर्वी मौञ्जी वा स्यात्, तथा सति गमिक्रियायोगादेव गौः। न हि तामन्तरेण गमनमिषोः सम्भवतीति हेतुकर्तृत्वेन विवक्षा।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

वृक्षेवृ॑क्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः। (ऋ०१०.२७.२२) वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनाद् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा। क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। नियतामीमयद् गौः शब्दं करोति मीमयति शब्दकर्मा। ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय। विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव। आदित्योऽपि गौरुच्यते। **उतादः परुषे गवि॥** (ऋ०६.५६.३) पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः। अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेव नोपेक्षितव्यमादित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति। **सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व** (यजु०१८.४०) इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते। अत्राह गौरमन्वतेति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यते॥६॥

भाष्यटीका

उदाहरणम्–

वृक्षेवृ॑क्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।

अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वद् ऋषये च शिक्षत्॥ (ऋ०१०.२७.२२)

वसुक्रस्यार्षम्। **वृक्ष** इति वृक्षविकारत्वाद्धनुरुच्यते। धनुषि धनुषि इन्द्रस्य स्वभूते **नियता** निबद्धा, **मीमयत्** शब्दं करोति आकृष्यमाणा। काऽसौ? **गौर्ज्या। ततः** ततश्च ज्यातः। ततो वाऽनन्तरम्। **वयः** लुप्तोपममेतत्। वय इव पक्षिण इव गन्तारो वा इषवः। **प्रपतान्** प्रपतन्ति **पुरुषादः** पुरुषाणामत्तारो मारयितार इत्यर्थः। **अथ**शब्दो हेतौ। एतस्माच्चोक्तात्कारणादिदं **विश्वं** सर्वं **भुवनं** भूतजातं इन्द्राद् **भयाते** बिभेति। **इन्द्राय** इन्द्रार्थं **सुन्वत्** सोमाभिषवं कुर्वदपि। **ऋषये च** ऋषिर्द्रष्टा कर्मणाम् ऋत्विगिहाभिप्रेतः। एतस्मै च **शिक्षत्** दक्षिणां दददपि सोमयागं कुर्वदपीत्यर्थः।

वृक्षो व्रश्चनात्। यदा कदाचिच्छिद्यतेऽसाविन्धनार्थम्। **मीमयति**र्नैरुक्तधातुः शब्दार्थः, गौरमीमेदित्यादिषु दर्शनात्। **शेषं भाष्यं** मन्त्रव्याख्यानेन गतम्।

आदित्योऽपि गौरुच्यते, न केवलं पृथिव्यादि। आदित्यशब्देनात्र मण्डलमुच्यते नान्तरपुरुषः। यथा **'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः'** (तै०उ०२.८.१) इति निगमसामर्थ्यात्।

उदाहरणम्-

उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथीतमः। (ऋ०६.५६.३)

भरद्वाजस्यार्षम्। उतोऽप्यर्थे। **अद** इत्यपि द्वितीया सप्तम्यर्थे। अप्यमुष्मिन् स्वैरवयवैः पर्वभिः, कालपर्वभ्यां वा तच्छुताभ्यामहोरात्राभ्यां वा पर्ववति, भास्वरे वा, **गवि** गन्तरि आदित्यमण्डले स्थित इत्यर्थः। कोऽसौ? **सूरः**। धर्ता **चक्रम्**, चक्राकृतिर्देवादित्यमण्डलम्। **हिरण्ययम्** उज्ज्वलवर्णत्वात्। हिरण्मयमेव वा। **न्यैरयत्** नियतमुदयास्तमयाय प्रैरयत्। **रथीतमः** अन्येऽपि रथिनः सन्ति, अयं तु मुहूर्तमप्यनवस्थितरथ इत्यतो रथीतमः। अतिशयेन रथीत्यर्थः। अथवा ब्राह्मणचक्रमिति दर्शनाच्चक्रशब्दः समूहवचनः। तच्चात्र सामर्थ्यादुदकस्याह-न यंस्य कस्यचित्। उदकसमूहं पृथिवीतो रश्मिभिरात्मानमुज्ज्वलन्तं प्रति प्रेरयति भौमान् रसानादत्त इत्यर्थः। अथवा हिरण्ययशब्देनोदकमुच्यते **'हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै'** (ऋ०२.३५.१०) इति मन्त्रान्तरे दर्शनादुदकात्मकं चक्रमित्यर्थः।

अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तदेतेनोपेक्षितव्यम्, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति।

अथाप्यस्यादित्यस्य एको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति विशेषेण **दीप्यते**। स्वयं चन्द्रमण्डलमनुप्रविश्य दीप्तिं करोति। यद्वशादस्य वृद्धिक्षयौ भवतः। तथा च वक्ष्यति। **'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति'** (निरु०५.११, अथर्व०७.८१.३, मैत्रा०सं ४.९.२७) इति। **तदेतेन 'सुषुम्न'** इत्यनेन मन्त्रेण **उपेक्षितव्यं** विचारयितव्यम्। आदित्यतोऽस्य **दीप्तिर्भवति** न स्वत इति।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥ (यजु०१८.४०)

सुषुम्णः आह्लादकत्वात् सुसुखः। **सूर्यरश्मिः** सूर्यरश्मिना व्याप्तत्वात् सूर्यरश्मिरूपश्**चन्द्रमा गन्धर्वः**, भोक्तृत्वात् **तस्य**। भोग्यत्वसामान्या**न्नक्षत्राण्येवाप्सरसः**। यथेतरेषां गन्धर्वाणां मेनकाद्याः। **भेकुरयो नाम** भा दीप्तिस्तां कुर्वत इति भेकुरयः। भाशब्दस्याकारस्यैकारच्छान्दसः। चरकाणां बेकुरय इति पाठः तेषां बकारस्यापि हकारश्छान्दसः। नामशब्दः प्रसिद्धत्वप्रदर्शनार्थः। दीप्तिकारिण्यः प्रसिद्धा इत्यर्थः। **स नः** सोऽस्माक**मिदं ब्रह्म क्षत्रं** ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्चेत्यर्थः। **पातु** रक्षतु। **तस्मै स्वाहा** वषट्। नेदं **'वश कान्तौ'** (धा०२.७०) इत्यस्यान्यस्य वा कस्यचिद्धातोराख्यातम्, निघातप्रसङ्गात्। किन्तर्हि? निपातोऽयं प्रदानार्थो वषट्कारपर्यायः। चरकाणां वषट् इति पाठः। तेषां वष् शब्दस्यैव वा ह्रस्वत्वं छान्दसम्, निपातान्तरं वा तदर्थम्। यद्यपि स्वाहाकारोऽपि प्रदानार्थ एव, तथाप्यत्र द्वयोः प्रदानार्थयोः वचनात् सह प्रयोगः। एवं हि शतपथे वचनम् **'उभाभ्यामेव वषट्कारेण स्वाहाकारेण च पुंसे जुहोति स्वाहाकारेण स्त्रीभ्यः पुमांसमेवैतद्वीर्येणाभ्यादधाति'** (शत०ब्रा०) इति। ता इदं ब्रह्म क्षत्रं पान्तु रक्षन्तु। ताभ्योऽप्सरोभ्यः स्वाहा।

सोऽपि गौरुच्यते। 'अत्राह गोरमन्वत' (ऋ०१.८४.१५; अथर्व०२०.४१.३) **इति।**

सोऽपि सुषुम्नोऽपि यथा गौरुच्यते तथेदमुदाहरणम् '**अत्राह**' इति। तदुपरिष्टाद् ऐकपदिके व्याख्यास्यामः (निरु०४.२५)। सुषुम्नस्याभिधानादन्येभ्यो व्यावृत्तिर्मा विज्ञायीत्यत आह–

सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते।

सामान्येन यदि सर्व उच्यन्ते, सुषुम्नस्यापि तेनैव सिद्धम्, किं विशेषेण कथ्यते सोऽपि गौरुच्यत इति। अन्येषां सामान्येन गोशब्दाभिधानीयत्वम्, अस्योक्तविशेषस्य सामान्येन विशेषेण चेत्यस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थं व्यस्तसमस्तप्रदर्शनम्।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

ता वां वास्तून्यश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ (ऋ०१.१५४.६) तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं भवति सतः शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वायसोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमवभाति भूरि। पादः पद्यतेस्तन्निधानात् पदं पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते तानि चेत्समानकर्म्माणि समाननिर्वचनानि नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि। इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि। तत्र निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्ति–रितरा सा पृथिव्या सन्दिह्यते तयोर्विभागस्तस्या एषा भवति॥७॥

भाष्यटीका

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ (ऋ०१.१५४.६)

दीर्घतमा विष्णुमाह। **ता** तानि। **वां** व्यत्ययेन द्वितीयाद्विवचनमेकवचनस्य स्थाने। त्वां विष्णुं स्तुवन्, **वास्तूनि** गृहाणि निवासस्थानानीत्यर्थः। **उश्मसि** कामयामहे। **गमध्यै** गमनायात्मनः। अथवा वामिति षष्ठीद्विवचनम्। दम्पती पतिपत्नी यजमानावुच्येते, युवयोर्गमनाय कामयामहे वयमृत्विजः। **यत्र गावो** रश्मयः। **भूरिशृङ्गाः** श्रयणादिक्रियायोगात् शृङ्गस्थानीयत्वाद्वा दीप्तिरत्र शृङ्गमुच्यते, बहुदीप्तयः। **अयासः** अयना गमनशीलाः। क्रियाभेदादुत्तरोर्धर्च्चो भिन्नं वाक्यम्, अत एवमुच्यते। किञ्चात्र **अह**शब्दो विनिग्रहार्थीयः। एष्वेव स्थानेषु। **तदुरुगायस्य** रसादानादिक्रियाद्वारेण बहुगतेः **वृष्णः** वर्षितुः विषेर्वा एतद्रूपम्, ऋकारोपजनेन। व्याप्तिरित्यर्थः। विष्णोः स्वभूतं **परमं पदं** प्रकृष्टं स्थानमादित्यमण्डलाख्यम्। **अवभाति** अग्रे भाति, अग्रे दीप्यते। अर्वागिदं सर्वं कृत्वा भातीत्यर्थः। **भूरि** प्रभूतम्। अथवा परमं पदं दिव एकदेशः परार्ध्यशब्दवाच्यः, तेन च तात्स्थ्यान्मण्डलं लक्ष्यते। कुत एतत्? '**दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणाम्**' (ऋ०१.१६४.१२) इति

मन्त्रान्तरे दर्शनात्। तथा च भाष्यकार: परमं पदं परार्ध्यस्थमित्याह। अवभाति अवभासते ज्ञापयत इत्यर्थ:। भूरीति बहुनामधेयमिति पठितस्यापि निर्विवक्षया पुनर्वाद: प्रभवतीति सत इति कारकपरिग्रहार्थम्। प्रभवति हि तत्सर्वस्यानुग्रहाय।

पदं रश्मिष्वपि दीप्तिरिव ज्वलन्नामसु पठितं शृङ्गं प्रसङ्गान्निराह-**श्रयते:** (धा०१.९४५)। श्रितं हि तदाश्रितं मण्डले। **'शृणाते:'** (धा०९.१८) वा हिंसार्थस्य। हिनस्ति हि तद्ग्रीष्मे प्राणिन:। **शरणाय** हिंसायै **उद्गतमूर्ध्वगतमिति** शृणातेरुद्गमेश्चेति पुनर्निर्वचनं द्विधातुजत्वेन। तमआदेर्हिंसार्थमित्यर्थ:। अथवा शरणं रक्षा, तदर्थमद्विधातुजमेव, रक्षति हि प्राणिन: सस्यनिष्पत्त्यादिना।

शिरसो निर्गतमिति वा। शिर: शब्दान्निर्गमेश्च शिरस आदित्यान्निर्गतमित्यर्थ:। **'असावादित्य: शिर: प्रजानाम्'** (तै०ब्रा०१.२.३.३) इति श्रवणात्। अथवा **'शिर आदित्यो भवतीति'** (निरु०४.१३) अयमपि वक्ष्यति। पशोरपि शृङ्गे एतान्येव निर्वचनानि यथासम्भवं योजनीयानि।

पाद: पद्यतेर्गत्यर्थस्य (धा०४.६०)। गम्यतेऽनेनेत्युक्तम्। स यस्मिन्निधीयते प्रतिबिम्बोदयसमर्थे भूप्रदेशे कर्दमादौ तदपि पादसम्बन्धात् प्रतिबिम्बं पदमित्युच्यते। तथा च मन्त्रे विष्णो: परमात्मन: पादा रश्मय:, **तन्निधानान्मण्डलं पदमुक्तम्**, स्थानसामान्यात्। यत्र गमिगन्धोऽस्ति तत्रैवम्, कार्षापणपादादौ कथम्? इत्याह-**पशुपाद** इत्यादि। पशुपादे हि पादशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं पादैकार्थसमवायिचतुर्भागत्वं नामास्तीति तस्यान्वयात् कार्षापणस्य श्लोकस्य वा चतुर्भागे पादशब्द: प्रवृत्त:। पशुपादसमन्वयात् पशुपादं प्रकृतीकृत्य चतुर्भागलक्षण: पादो निरुच्यत इत्याह-**पशुपादप्रकृति: प्रभागपाद** इति। अन्वयस्य प्रकृत्या यो वा यस्मिन् निरुच्यत इत्यभिप्राय:। ग्रन्थपदेषु कथम्? इत्याह-**प्रभागपादसामान्यादि**त्यादि। चतुर्भागत्वं त्यक्त्वा प्रभागपादं सामान्यत्वमङ्गीकृत्योच्यते। प्रभागस्य पाद: पदनं गमनं तस्मात् सामान्यात् ग्रन्थस्य पदेषु पदशब्दप्रवृत्तिरिति।

प्रसक्तानुप्रसक्तमुक्तम्, सम्प्रति लाघवार्थमतिदिशति-

एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते, तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानीति।

अत्र केचिदाहु: यथा पृथिवीपश्वादयो गोशब्देन निगमपदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यादुक्ता:, एवमन्येषामपि सत्त्वानां द्रव्याणां गोशब्दाभिधायकत्वेन श्रुतिसम्बन्धात् सामान्यत् सन्देहा जायन्ते, किं क्वाभिधीयत इति? तद्यथा **'अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गो:'** (ऋ०३.३०.१०, निरु०६.२) इति। तत्र च मध्यमस्थाना वागुच्यते। **'प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय'** (ऋ०१.१९.१, निरु०१०.३६) इति सोम:। **'स ईं सत्येभि: सखिभि: शुचद्भिर्गोधायसम्'** (ऋ०१०.६७.७) इत्युदकम्। मन्त्रा उपरिष्टाद् व्याख्यास्यन्ते।

अन्ये त्वाहु:- अनुक्रान्ते गोशब्दे ग्मादीनामवसर आह एवम्। यथा गौरित्यस्याभिधेयं प्रति सन्देह:, तद्वदन्येषामपि ग्मादीनां सत्त्वानां गमनसम्बन्धसामान्यादित्यर्थ:। सत्त्वाद्यर्थप्राधान्यान्नामानि सत्त्वानि, यथा धात्वर्थप्राधान्याद्धातव आख्यातानीति। न केवलं ग्मा पृथिवी, किन्तर्हि? गमनमपि। तस्योदाहरणम्:-

अधा होता न्यसीदो यजीयानिळस्पद इषयन्नीड्य: सन्।
तं त्वा नर: प्रथमं देवयन्तो महो राये चितयन्तो अनु ग्मन्॥ (ऋ०६.१.२)

भरद्वाजस्यार्षम्। **अध** अथ, एतस्मादेव पूर्वोक्तात् रक्षोऽसुराभिभवनसमर्थबलत्वात् कारणात् त्वं **होता न्यसीदः** निषण्णः, निषीदसि वा। **यजीयान्** यष्टृतरः। **इळः** इळाशब्दस्य छान्दसत्वांदाकारलोपः, इळायाः पृथिव्या अवयवभूते **पदे** स्थाने वेद्याख्ये। इषया अकार उपजनः। अन्नानि हविर्लक्षणानि इच्छन्। **ईड्यः सन्** य एवं कर्मासि, **तं त्वा नरो** मनुष्या अन्याभ्यो देवताभ्यः **प्रथमं देवयन्तो** देवान् यष्टुमिच्छन्तः। **महः** चतुर्थ्यर्थ एषा प्रथमा। महते **राये** धनाय **चितयन्त**श्चेतयन्तो जानन्तः। किम्? सामर्थ्यात् तव माहात्म्यम्। **अनुग्मन्** अनुगच्छन्ति त्वामेवाश्रयन्तीत्यर्थः।

न केवलं पृथिवी, वातोऽपि। उदाहरणम्–

कद्धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद्वाताय प्रतवसे शुभंये।

परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने॥ (ऋ०४.३.६)

वामदेवस्यार्षम्। **कत्** कदा। **धिष्ण्यासु** धिष्ण्येषु स्वेषु स्थानेषु। **वृधसानः** प्रथमा समानाधिकरणे शानचो (तु० अष्टा०३.२.१२४) गुणाभावो व्यापत्तिश्च मकारस्य सकारेण। दैव्ये होतृत्वे वर्तमानो वर्धस इत्यर्थः। हे **अग्ने! कत्** कदा **वाताय**। किंविशिष्टाय? **प्रतवसे** प्रकृष्टबलाय। **शुभंये** शुभंयव इति प्राप्ते शुभंयुशब्दस्यायं छान्दस उकारलोपः, ततश्चतुर्थी। सर्वभूतानां कर्तव्यत्वेन शुभेन तद्वते। **परिज्मने** सर्वतो गन्त्रे। **नासत्याय** सत्यायैव। **क्षे 'क्षि हिंसायाम्'** (धा०५.३०) इत्यस्य उप्रत्यये टिलोपे चतुर्थ्यामेतद्रूपम्। भौमानां रसानां हिंसित्रे शोषयित्रे इत्यर्थः। एवंगुणविशिष्टाय वातस्यार्थाय तेनोपध्यायमानः। **ब्रवः** ब्रवीषि, कदा प्रज्वलयिष्यसीत्यर्थः। **कत्** कदा। **रुद्राय नृघ्ने** शत्रुमनुष्याणां हन्त्रे। एवंगुणविशिष्टाय रुद्राय वाताय चैवंगुणविशिष्टाय, एवंगुणविशिष्टं वातं रुद्रञ्च यष्टुमित्यर्थः। स्तुतिर्वा। कदा ब्रवः ब्रवीषि कथयिष्यसि।

अथवा दैव्ये होतृत्वे व्यवस्थितोऽग्निराशास्यते। कदा स्वेषु स्थानेषु वर्धमानो हे भगवन्! अग्ने! उक्तगुणाय वाताय रुद्राय च। प्रदर्शनार्थञ्चैतत्। अन्याभ्योऽपि देवताभ्यो मुख्ययजमानस्यैतानि हवींषि इति ब्रवः ब्रवीषि कथयसि। दैव्ये होतृत्वे वर्तमानस्तुतिर्वा कदा ब्रवीषि। कदाऽस्माकमयं मनोरथः सम्पद्यत इत्यभिप्रायः।

तथाऽन्तरिक्षमपि। उदाहरणम्–

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।

तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्॥ (ऋ०४.५०.१)

वामदेवस्यार्षम्। **यः तस्तम्भ** विष्टम्भितवान्, बद्धवान्, घनघटाभिर्वेष्टितवानित्यर्थः। **सहसा** बलेन माहात्म्यातिशयेन। **ज्मोऽन्तात्** अन्तरिक्षस्य प्रदेशात्। **बृहस्पतिस्त्रिषधस्थः** त्रिषु स्थानेषु सह स्थाता। **रवेण** शब्देन द्युवियदवनीनां गर्जितध्वनिना पूरयितेत्यर्थः। **तं प्रत्नासः** पुराणा **ऋषयो** मरीच्यादयः। **दीध्यानाः** अत्यर्थं ध्यायन्तः। किम्? सामर्थ्यात् वर्षेदिति। **पुरः** अग्रे सर्वकर्मणामादावेवेत्यर्थः। किं कारणम्? अन्नस्थितिकारकत्वाद् भूतानाम्, तस्य च वर्षहेतुत्वात्। आह च **'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः'** (भ०गी०३.१४) इति। **विप्रा** मेधाविनो **दधिरे** शुद्धोऽप्ययं दधतिरवपूर्वो द्रष्टव्यः। अवधारितवन्तः, सर्वकर्माणि तत्पुरस्सराणि ज्ञातवन्त इत्यर्थः। ऐतिहासिकपक्षेण वा पुरो दधिरे पुरोहितं स्थापितवन्त इत्यर्थः। इन्द्रस्य राज्याभिषेकसमये कृतवन्तो ग्रहाधिपत्यार्थमित्यर्थः। ज्म इति च दिवोऽन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्चेति द्रष्टव्यम्। रवेण

(ज्ञापरेण शब्देन दीध्यानाः, सामर्थ्यातिशयसमन्वितोऽयमिति योज्यम्। **मन्द्रजिह्वम्** जिह्वेति वाङ्नाम। गर्जितलक्षणा इतरा वा मन्द्रा कल्याणी वागयस्य तम्। एवमुक्तव्यतिरिक्तानामपि सर्वशब्दानां समानश्रुतित्वात् सन्देहा भवन्ति, तेषु सर्वत्र निगमपदान्त) रसम्बन्धसामान्यादर्थेऽपि निश्चयोऽपेक्ष्यत इति।

तानि चेद्वागादीनि **समानकर्माणि** समानक्रियाणि **समाननिर्वचनानि** यथैकं तथान्यान्यपि नानाक्रियाविषयाणि। यथा गोशब्दः पृथिव्यां पशौ गमनात्, तथा ग्मा गमनादिति। तथा क्ष्मादयः। क्ष्मा क्षीयतेः। तथा पुष्यतीति पूषाः पृथिवी। रश्मिपोषमित्यादित्यः **नानाकर्माणि** नानाक्रियाणि **चेन्नाना**। नैवं निर्वक्तव्यानि, ग्मा ज्मा क्ष्मा इति। **यथार्थम्** अर्थानुरूपेण वाक्यप्रकरणपुरस्सरं सामर्थ्यान्निर्वाच्यानि।

इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि।

इतीमानीत्यादि। इति शब्दः प्रकारार्थः। एतेन प्रकारेण **'एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि'** इति प्रदर्शनम्, न परिगणनम्, रसाधराधरण्यादीनां दर्शनात्, लिङ्गाच्च पृथिवीनामधेयानीत्यपठिताभिधानात्।

सन्देहा विद्यन्त इत्युक्तस्य सन्देहस्य स्वयमेव प्रदर्शनार्थमाह-

तत्र निर्ऋतिर्निरमणात् ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोर्विभागः। तस्या एषा भवति।

तत्र तेषु पृथिवीनामसु **निर्ऋतिः** पठ्यते। सा च प्रलयाधिदेवता तुल्यश्रुतित्वात् पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोः पृथिवीन्द्रियप्रलयदेवतयोर्यो विभागोऽर्थभेदाश्रयस्तं दर्शयति पृथिवी निर्ऋतिः, **निरमणात्** नियमेन रमणात्। निश्चलत्वेनावस्थानादित्यर्थः। रमन्ते वाऽस्यां भूतानीति। **ऋच्छतेः** कृच्छ्रं दुःखं तदापत्तिरितरा मृत्योरधिदेवता। अस्याः पृथिव्या वा एषा निर्वाचिका ऋक्।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)- ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथ अष्टमः खण्डः।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तः बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥ (ऋ० १.१६४.३२) बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजका वर्षकर्मेति नैरुक्ता य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ. वर्षकर्मणा न सोऽस्य वेद मध्यमः स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योऽपहितं स मातुर्योनौ मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि योनिरन्तरिक्षं महानवयवः। परिवीतो वायुनायमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति। बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा। शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानातीति तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेशैषा मद्देवतेति॥८॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।

स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥ (ऋ० १.१६४.३२)

दीर्घतमस आर्षम्। **यः** कामार्तः पुत्रार्थी वा। **ईमिति** पदपूरणः। एवं गर्भं **चकार**करोतेः किरतेर्वा लिट्। करोति विक्षिपति वा, तत्कारणभूतरेतोविक्षेपद्वारेण। **न सोऽस्य** तत्त्वमिति शेषः। द्वितीयार्थे वा षष्ठी। एतं गर्भं **न वेद**। कुतो वा कथं वा केन वा प्रयोजनेनेत्येवमध्यात्मदृष्ट्या यदज्ञानं तदभिप्रायमिदं न चेद्वेदेति वचनम्। **यो**ऽप्येनं मातुरुदरस्थमुदरवृद्ध्याऽर्थापत्त्याऽनुमानेन वा जातं सन्तं प्रत्यक्षेण दर्शयति। **हिरुक्** अन्तर्हितनामैतत्। अन्तर्हितो यो गर्भस्तस्मादपि। सोऽप्येनमध्यात्मज्ञानाभावान्नैव जानातीत्यर्थः। अजानंश्च **सः** स्वस्या **मातुर्योना** योनौ स्थितः। **अन्तः** मध्ये। **परिवीतः** जराय्वादिभिर्व्याप्त इत्यर्थः। यथाकालं जायते। **बहुप्रजाः** बहुप्रजननः आत्मज्ञानाभावान्मोक्षम- प्राप्नुवन् संसारे पुनः पुनर्जायमान इत्यर्थः।

अथवा पुत्रः प्रजा अपत्यानि। बह्वपत्यश्च प्रथमं मातुर्योनौ स्थितो जातश्च बह्वपत्यतामापन्नः सन्नित्यर्थः। गर्भवासकृतमपत्यपोषणकृतञ्च **निर्ऋत्य**भिधानं प्रलयं दुःखमा**विवेश** आविशति प्राप्नोतीत्यर्थः। एष परिव्राजकानामात्मविदां दर्शने चास्या ऋचोऽर्थः।

नैरुक्तानां तु य एनं वर्षलक्षणमुदकसंस्त्यायं पूर्ववत् करोति किरति वा। **न सो अस्य वेद** (वर्षस्य तत्त्वं न वेद, कुतोऽप्येतदुदकमप्यागच्छति, यन्मया विसृज्यते, किञ्चोदकस्य तत्त्वमिति, केवलं त्वसौ विसृजत एवोदकम्)। कः पुनरसौ? मध्यमो वायुर्मेघो वा। मेघोऽपि हि मध्ये भवत्वाद् भवति मध्यमः। यस्त्वेनं **ददर्श,** यदासावादित्यो न्यङ्रश्मिभिरावर्तते, तदादित्येनोपहितं मेघस्योदरे स्थितमुदकसंघातं, **हिरुक्** अन्तर्हितमपि सन्तं **तस्मात्** प्रथमार्थे पञ्चम्येषा। ददर्शेत्येतच्चानुषक्तव्यम्। य एनं मेघहननसमये प्रत्यक्षं पश्यति, अन्तर्हितमपि स पश्यतीत्यर्थः। कः पुनरसौ? इन्द्रः। स हि मेघहननकाले तत्स्थमुदकसंस्त्यायं प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुभयथा पश्यति। किञ्च य उदकसंस्त्यायः पूर्वं सर्वभूतानां निर्मातुरन्तरिक्षस्यावयवभूते योनौ **अन्तः** योनिस्थानं तस्य मध्ये **परिवीतः** परिगतो वायुना व्याप्तः। **बहुप्रजाः** बहुप्रजननोऽपर्यन्तधारात्मना व्यवस्थित इत्यर्थः। अथवा जनिरन्तर्नीतण्यर्थः। बहूनां धाराणां सस्यानां वा, सस्यनिष्पादनद्वारेण प्राणिनां प्रजनयिता। **निर्ऋतिं** भूमिमाविवेश आविशतीत्यर्थः।

अथैकपदनिरुक्तम्। **करोतिकिरती** रूपेऽर्थे वा निश्चयहेत्वभावात् **सन्दिग्धौ वर्षकर्मणे**त्युक्तम्। यो हि वर्षं करोति किरत्यप्यसौ, यश्च किरति करोत्यप्यसौ। सन्देहोपदेशश्च न धातुविकल्पार्थः। किन्तर्हि? रूपार्थभेदादेव। **निर्मीयन्तेऽस्मिन्न**वकाशं ददति सन्ति **भूतानि** प्राणिनः। उदकनाम चैतत्। उदकानि योनिरन्तरिक्षं माताऽन्तरिक्षमिति यद्युभयमन्तरिक्षम्, मातुरिति षष्ठ्यनुपपत्तिः, व्यतिरेकाभावात्? उच्यते, माताऽन्तरिक्षमिति सामान्यवचनम्। **योनिरन्तरिक्षमिति** उपाधिभेदात्। तस्यैव **महानवयवः परिवीतो** वेष्टितो **वायुना** उदकाश्रयमेघावृतः कश्चिदुच्यत इत्यदोषः।

अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव, परियुतो भवति।

अयमपीत्यादि। **इतरः** स्त्रीयोनि**रेतस्मादेव** रूपसामान्यात् प्रसक्तो निरुच्यते। नानाकर्मत्वाच्च निर्वचनान्यत्वम्। पूर्वं वेतेर्वकारस्योकारः। स चेकारात्परः। तस्मिन्नीकारस्य यणादेशः। **इतरो यौतेः** (धा०२.१३)। उभयोर्निनामकरणः। वायुनैकः परिवेष्टितः। इतरः प्रजननेन मिश्रीयते, मिश्रितो वा रक्तमांसादिभिः। स्त्रीयोनेरुदाहरणम्-

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।

आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।। (ऋ०१०.१८४.१)

त्वष्टुर्विष्णोर्वा आर्षम्। सीमन्तोन्नयनेऽस्या विनियोगः। **विष्णुर्व्याप्तः** क्षेत्रज्ञः। स **योनिं** तात्स्थ्यादत्र ताच्छब्द्यम्। योनिस्थं कार्यकारणं भोग्यमात्मानं **कल्पयतु** आविशतु अधितिष्ठतु। **त्वष्टा** शिल्पी अवयवरूपाणि पिंशतु विस्तारयत्वित्यर्थः। **आसिञ्चतु** आप्याययतु **प्रजापतिः** प्रजानां पाता अशितपीतरसप्रदानद्वारेण। **धाता गर्भं दधातु ते** तव।

लिङ्गात् देवतासत्यत्वं दुर्ज्ञानम्, लिङ्गस्यानैकान्तिकत्वात्। अतस्तदधिगतये यत्नः कर्तव्य इत्येवमर्थं पुराकल्पं पठन्ति-

शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे। सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेश एषा मद्देवतेति।

अस्यार्थस्य षष्ठे (निरु०१.१७) व्याख्यातस्यापि दार्ढ्यार्थं पुनरुपन्यासः। **'याज्ञे दैवतेन'** इति व्याख्यातस्य। शाकपूणिर्नैरुक्ताचार्यः। संकल्पयाञ्चक्रे संकल्पितवान्। किं तत्? सर्वा देवता मन्त्राणां जानामीति। तत्तस्य ज्ञानोत्सेधमाक्षिपन्ती काचिदभिमानिनी देवता स्त्रीलिङ्गपुल्लिङ्गयुक्ता मन्त्रे स्त्रीपुंल्लिङ्गशब्ददर्शनादेवमुच्यते। अथवा मध्यमद्युस्थानलिङ्गयोगादुभयलिङ्गत्वमुच्यते। प्रादुर्भूता स्वप्ने प्रत्यक्षं वा तां न ज्ञातवान्। अतस्तामेव देवतां पृष्टवान् वेदितुमिच्छामि त्वामिति। सा देवतास्मै वक्ष्यमाणामृचमादिष्टवती **एषा मद्देवतेति**। तव च देवताज्ञानाभिमानः, मां जानीहि अनयेति।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)- ध्यायस्य अष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वंसनावधि श्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत।। ऋ०१.१६४.२९ अयं स शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति मायुमिवादित्यमिति वा वागेषा माध्यमिका ध्वंसने मेघेऽधिश्रिता सा चित्तिभिः कर्मभिर्नीचैर्निकरोति मर्त्यं विद्युद्भवन्ति प्रत्यूहते वव्रिम्। वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते।।९।।

भाष्यटीका

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वंसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत।। (ऋ०१.१६४.२९)

दीर्घतमस आर्षम्। माध्यमिका वागत्र देवता। सा चैश्वर्ययोगात् शरीरेणैवोभयलिङ्गा, एतस्यां ऋचि उभयलिङ्गैः शब्दैरादिश्यमानत्वात्, आह-**अयं स येन** इत्येते पुल्लिङ्गाः शब्दाः। अभिवृतेत्यादयः स्त्रीलिङ्गाः। तैश्च सर्वैर्माध्यमिका वाग् निर्दिश्यते। कुत एतत्? उच्यते। **शिङ्क्ते मिमाति मायुमिति** च **सर्वेषां** स्तनयित्नुलक्षणेनाभिसम्बन्धः, स्तनयित्नुकरणं मध्यमस्थानं वा कर्तृत्वात्। अथ चोभयलिङ्गेति मध्यमोत्तम-लिङ्गेत्यभिप्रेते न नपुंसकस्त्रीलिङ्गे। विद्युद्भवन्तीत्येवमन्तं हि स्तनयित्नुलक्षणेनाभिसम्बन्धादत्र मध्यमलिङ्गम्।

प्रतिवव्रिमौहतेति रसादानसम्बन्धादुत्तमलिङ्गम्। कथं पुनरेकस्या देवताया उभयलिङ्गैः शब्दैर्निर्देशो येन **गौरभीवृतेति** च भेदेनापदेशो न विरुध्यते? उच्यते। लिङ्गव्यत्ययाश्रयणादधिष्ठात्राधिष्ठेयभेदाच्च। अयमित्यादिभिः स्तनयित्नुकरणसम्बन्धात् सर्वैर्माध्यमिका वाङ् निर्दिश्यत इत्युक्तम्। न च अयं स येनेत्येतेषां स्त्रीलिङ्गत्वमन्तरेण माध्यमिकवाग्निर्देशार्थत्वं सम्भवति, अतो लिङ्गव्यत्यय आश्रीयते, इयं सा यया इति। सर्वदेवतानां चैते अधिष्ठात्रात्मानः, अन्ये कर्तात्मानः, इति। वक्ष्यति हि **'अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः'** (निरु०७.७) इति। अतोऽधिष्ठात्रधिष्ठेयलक्षणभेदाद् भेदेनाप्यपदेशो न विरुध्यते। इयं सा शिङ्क्ते या माध्यमिकाया वाचोऽधिष्ठात्री देवता स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोति। यया **गौः** वाङ्नामैतत्। वाङ् माध्यमिका **अभीवृता** अभिव्याप्ता अधिष्ठितेत्यर्थः।

अथवा **'अयं स'** इति नैव माध्यमिका वाङ् निर्दिश्यते। किं तर्हि? मेघः। तत्स्थायाञ्च माध्यमिकायां वाचि शिञ्जानायां स एव शिङ्क्त इत्युच्यते। यथा मञ्चस्थेषु मनुष्येषु क्रोशत्सु मञ्चाः क्रोशन्तीति। अयं स मेघः शब्दं करोति। **येन गौरभीवृता** येन मेघेन माध्यमिका वागभीवृता अभिव्याप्ता, अभीत्येष परीत्येतस्य स्थाने परिवृता। **मिमाति** निर्मिमीते करोति **मायुं** मायुरिति वाङ्नाम, वाचं स्तनयित्नुलक्षणाम्।

अथवा **मायुरादित्य** उच्यते। स हि मिनोति प्रक्षिपति सर्वत्र स्वं ज्योतिः, अतो मायुरादित्यः। लुप्तोपमश्चात्र द्रष्टव्यः। मायुसदृशं निर्मिमीते। यादृश आदित्यस्तादृशं तेजस्विनं निर्मिमीत इत्यर्थः। **कम्?** सामर्थ्यादात्मानम्। उदकध्वंसने तस्मिन्नेव मेघे आश्रिता स्वैः चित्तिभिः। अपठितमपि सामर्थ्यात् कर्मनामैतत्। कर्मभिर्वृष्टिलक्षणैः। **नि हि चकार** हिशब्दः पदपूरणः। नियमेन करोति उत्पादयतीत्यर्थः। **मर्त्यं** मरणधर्माणम्, कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्। अथवा **चित्तिभिः** दारुणरूपैश्चटचटाशब्दैर्भयंकरैः कर्मभिः विद्योतनलक्षणैः **निचकार** नीचैः करोति मर्त्यं मनुष्यम्। सर्वो हि मनुष्यो विद्युति विद्योतमानायां भीतो नीचैर्नमति, तदभिप्रेत्यैतदुच्यते निचकार मर्त्यमिति। किं पुनः कुर्वती **मिमाति मायुं निचकार मर्त्यमिति?** उच्यते। **विद्युद्भवन्ती** विद्युद्रूपमापद्यमाना, **प्रतिवव्रिमौहत** ऊहतिरत्र सामर्थ्यादुपसंहारार्थः। प्रत्युपसंहरति च वव्रिं रूपमुदकलक्षणं रसांश्च रश्मिभिः प्रत्यादत्त इत्यर्थः। एकमेवेदं ज्योतिस्त्रेधा कृतमिति। एतत् **'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्'** (ऋ०१०.८८.१०, निरु०७.२८) इत्यत्र वक्ष्यते। तेन मध्यमस्यैवादित्यात्मनावस्थानात् अविरुद्धोऽयं रसादानव्यपदेश इति कृत्वा वव्रिमौहतेत्येतत् प्रत्युपसंहरति वव्रिं रूपमात्मीयं वृष्टिकालेऽतीत इत्येवं व्याख्यायते। ततोऽस्यामृचि उत्तरलिङ्गत्वं नैवास्ति, इत्युभयलिङ्गत्वम् पुल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गाभ्यामेव व्याख्येयमिति। एवमुभयलिङ्गैः शब्दैरपदेशादुभयलिङ्गत्वम्। उभयलिङ्गत्वाच्चोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूवेति युज्यते वचनं, सन्देहश्च। ततः **'तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय'** (निरु०७.२८) इत्येकैव देवताऽनेकरूपा, देवैश्वर्ययोगात्। व्यत्ययेन लिङ्गसामञ्जस्यं स्यात्, वाक्यसामर्थ्यान्निर्णयश्च युज्यते। एवं सन्देहपदेषु सर्वत्र निर्णयाय यतितव्यमिति प्रदर्शनार्थमृगियं व्याख्याता। लिङ्गाच्च दुरध्यवसानं देवतासतत्त्वमिति प्रदर्शितम्। वागेषा माध्यमिकेति सर्वनाम्नो विषयकथनम्। वव्रिरिति रूपसामान्येन। तद्धि स्वमाश्रयमावृणोति वर्षेणेत्यादि संक्षेपेण समस्तर्गर्थवचनम्। **शिष्टं** भाष्यं मन्त्रव्याख्यानेन व्याख्यातम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तवृत्तौ सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः पादः।

नवमश्च खण्डः समाप्तः।

अथ तृतीय: पाद:।

अथ दशम: खण्ड:।

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। हिरण्यं कस्मात्? ह्रियत आयम्यमानमिति वा। ह्रियते जनाज्जनमिति वा। हितरमणं भवतीति वा। हृदयरमणं भवतीति वा। हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मण:। अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश। अन्तरा क्षान्तं भवति। अन्तरेमे इति वा। शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा। तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। समुद्र: कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादाप:। समभिद्रवन्त्येनमाप:। संमोदन्तेऽस्मिन् भूतानि। समुदको भवति। समुनत्तीति वा। तयोर्विभाग:। तत्रेतिहासमाचक्षते–देवापिश्चार्ष्टिषेण: शन्तनुश्च कौरव्यो भ्रातरो बभूवतु स शान्तनु: कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे देवापिस्तप: प्रतिपेदे। तत: शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्यभिषेचितं तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापि शिशिक्ष राज्येन तमुवाच देवापि पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति। तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति॥१०॥

भाष्यटीका

आनुपूर्व्येण क्रमशोऽस्य प्रतिज्ञातत्वात् पृथिवीनामानन्तरं तत्प्रभवति, तत्प्रभवत्वात् हिरण्यनामान्युच्यन्ते इयत्तास्वरूपपरिच्छेदाय **हिरण्यनामान्युत्तराणी**ति। पृथिवीनामापेक्षमुत्तरत्वम्। सर्वत्र पूर्वापिक्षयोत्तरत्वम्। पञ्चदश तानि पठ्यन्ते। अपठितान्यपि द्रष्टव्यानि, हाटकशातकुम्भचामीकरकलधौतादीनि। इह पठितान्यपि चान्यत्र दृश्यन्ते, अय:शब्दो लोहशब्दश्च कालायसेऽपि, हिरण्यशब्दो रजते। समानासमानकर्मत्वापेक्षश्च निर्वचनविभाग: सर्वनामसु द्रष्टव्य:।

अथ निर्देशप्रसक्तहिरण्यशब्दनिर्विवक्षयाह–**हिरण्यं कस्मात्**? इति। आख्यातजत्वप्रदर्शनार्थ उपक्षेप:। प्रतिपदञ्चैतद् द्रष्टव्यम्। अतिगौरवप्रसङ्गान्नोच्यत इत्युक्तं पुरस्तात्। **ह्रियते** चौरैरायम्यमानं बद्ध्यमानं यत्नतो रक्ष्यमाणमपीत्यर्थ:। शिल्पिभिर्वा पत्रकटकादिभावेनायम्यमानं विस्तीर्यमाणमित्यर्थ:। **ह्रियते जनाज्जनमिति वा**, संव्यवहारार्थम्। द्रव्यस्वभावत्वान्नैकत्रावस्थायित्वम्, तस्य सर्वस्य सर्वथा हरतेर्हिरण्यम्। द्विधातुजत्वप्रदर्शनार्थमाह–**हितरमणम्**, हितञ्च तदापदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा सर्वमित्यतो हिरण्यम्। तेन गृहीतेन मूषकोऽपि रमते, किमुत मनुष्य:। **हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मण:**। सर्वेण हि सर्वदा तत्प्राप्तुमीप्स्यते। कानि पुनस्तानि? **हेम** हितं ममेदमिति सर्व एवैतन्मन्यते। **चन्द्रं** चन्दते:। **रुक्मं** रोचते:। एवं सर्वत्र लोकक्रमादेव।

अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडशेत्यादि। खं नभ इत्यादीनि चापठितानि। पठितानि अम्बरबर्हिरादीनि च वस्त्रदर्भादिषु। अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं स्थितं निष्क्रियं वा शान्तमव्यूहम्,

निष्कम्भस्थानात्मकत्वात्। **अन्तरा इमे** रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ क्षियतीति वा। अन्तरा इमे क्षोण्याविति वा क्षान्तम्। एवमनेकविकल्पमुत्तरपदम्, अन्तराशब्दात् पूर्वपदम्। **शरीरेष्वित्यादि** अन्तराशब्दात् पूर्वपदम्, अक्षयशब्दादुत्तरपदमिति विशेषः। विनाशिष्वप्यविनाशीत्यर्थः।

तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते।

तत्रेत्यादि निगदव्याख्यातम्। अम्बरादिषु अम्बुमद्द्रवतीत्यादिष्वपि तुल्यश्रुतित्वादविशिष्टे सन्देहपदत्वे किञ्चित्प्रदर्शनीयमिति समुद्रशब्दः प्रदर्शितः-**समुदद्रवन्त्यस्मादाप** इत्यादि। संहता ऊर्ध्वं द्रवन्त्यस्मादापोऽन्तरिक्षात् पार्थिवाच्च, रश्मिभिराकृष्यमाणा वायुना प्रेर्य्यमाणा इत्युभयत्र तुल्यमपादानसाधनत्वम्। संहता वा**भिद्रवन्त्येनं** नदनदीभावेन पार्थिवं भौमरसलक्षणा वायुना प्रेर्यमाणा आदित्यमण्डलाद्वा वर्षाकाले रश्मिभिः पर्यावर्त्यमाना अन्तरिक्षलक्षणमापः। अत्रापि कर्मसाधनत्वमविशिष्टम्। **संमोदन्तेऽस्मिन्** जलचराणि **भूतानि,** इतरत्रान्तरिक्षचराणि। अथवा **समुदको भवति**। समेकीभावे, उदकादुच्छब्दो रो मत्वर्थे। एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यत इति समुद्रः। वर्षास्वन्तरिक्षेऽपि तुल्यम्। **समुन्नत्तीति वा,** एको लीलया भुवं क्लेदयति, अपरो वर्षेणेति।

तयोर्विभागो यस्मिन्मन्त्रे तत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थमितिहासमाचक्षत आचार्याः। निदानभूतम्-इति ह **एवमासीत्**-यः कथ्यते स इतिहासः। **देवापिश्चेत्यादि। आर्ष्टिषेण** इति भविष्यद्वृत्त्या व्यपदेशो भूतवृत्त्या च। देवापिः **शन्तनुश्च कौरव्यौ** कुरुवंशप्रभवौ भीमसेनपुत्रौ **भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयान्** ज्यायसि देवापौ सति आत्मानं राज्ये प्रजाभिरभिषेचितवान्। **देवापि**स्त्वग्दोषापदेशेन राज्याध्यवरोपितो वैराग्यात् **तपः प्रतिपेदे**। स च किल च्यवननामापरनाम्नि ऋष्टिषेणे ब्रह्मचर्यमुवास। स गुर्वनुग्रहात् तेनैव शरीरेण वीतहव्यवद् विश्वामित्रवच्च ब्राह्मणो बभूव। **ततोऽस्मिन्नन्तरे शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुः** मौद्गल्यप्रमुखा **ब्राह्मणाः**। किमूचुः? **अधर्मस्त्वयाचरितः, ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्य** अतिक्रम्या**भिषेचितम्,** अभिषेचनमात्मनः कारितमित्यर्थः। **तस्मात् ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुरेवमुक्तो देवापिं शिशिक्ष**। शिक्षतिर्दानकर्मा। तेन चात्र याञ्चापूर्वकत्वाद् दानस्य स्वकारणभूता याञ्चा लक्ष्यते सामर्थ्यात्। तेनैतदुक्तं भवति शिशिक्ष याचितवान्। किम्? प्रकरणसामर्थ्याद् वर्षहेतुकं प्रजानां शर्म राज्योपादानेन, भगवन्! एतत्ते राज्यं प्रशाधीति। एवंवादिनं वीक्ष्यापत्रं लब्धोत्तमवर्णः स्वजात्यनुरू**पमुवाच देवापिस्तम्**-किं नो राज्येन। **पुरोहित** इत्यादि। शान्तिकपौष्टिकाद्यर्थं वार्षिके च कर्मणि आर्त्विज्य तव करोमीति। **तस्य** देवापेर**ेतद्** वर्षकामस्य **सूक्तम्**। तत्रेयमन्तरिक्षपार्थिवसमुद्रप्रविभागप्रदर्शनाय ऋग्भवति।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथ एकादशः खण्डः।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥ (ऋ०१०.९८.५.) आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्र इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते। निपरणाद्वा। पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा। होत्रमृषिर्निषीदनृषिदर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म

स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽ भवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। देवापिर्देवानामपत्या स्तुत्या च प्रदानेन च देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं चिकित्वाँश्चेतनवान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमुत्तर उद्धततरो भवत्यधरोऽधोर: अधो न धावतीत्यूर्ध्वगति: प्रतिषिद्धा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ११॥

भाष्यटीका

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।

स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥ (ऋ० १०.९८.५)

आर्ष्टिषेण: ऋष्टिसेनस्य पुत्र **ऋषि:**। **होत्रम्** कर्तुमिति शेष:। चतुर्थ्यर्थे वा द्वितीया, होत्राय **निषीदन्। देवापि:** दास्यामोऽस्मै वृष्टिमित्येतां शोभनां **मतिं चिकित्वान्** जानन्। **स** इति श्रुते: यच्छब्दोऽध्याहर्तव्य:। योऽतीतेऽपि कल्प आसीदिति शेष:। **स उत्तरस्माद**न्तरिक्षलक्षणात् समुद्रात्। कुत एतत्? **अधरं समुद्र**मित्यधरशब्दस्य समुद्रविशेषणत्वेनोपादानसामर्थ्यात् तदुत्तरोऽपि द्वितीयसमुद्र एवाभिप्रेत इति गम्यते। तेनाधरं पार्थिवं **समुद्रमभि** प्रतीत्यर्थ:। **अपो दिव्या:** दिवि भवा:। **असृजद्** विसृष्टवान् वृष्टिप्रदस्य देवस्य स्तुतिद्वारेण स एव पातितवानित्यर्थ:। **वर्ष्या** वर्षप्रभवा वर्षलक्षणा इत्यर्थ:। आर्ष्टिषेण:–ऋष्टिषेणश्च्यवन इहाभिप्रेतो यथा तथा पुरस्तादुपवर्णितम्, इतिहासस्मृते: प्रामाण्यात्। अतोऽन्तेवासी पुत्रोऽत्राभिप्रेत:। ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य, इषिता वा सेना शत्रून् प्रति प्रेषिता नित्यं सेना यस्य, कान्ता वा इष्टा सेना यस्य। तस्य च राजपुत्री सुकन्या भार्या, तत्सम्बन्धादुपपन्न: सेनया सम्बन्ध:। अथवा ऋष्टि: रेषणा हिंसा च कामादीनाम्, अन्तश्चरशत्रूणां सेना समुदाय:, स चेन्द्रियाणाम्।

एतदुक्तं भवति विषयाभिलाषवैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य, दूषिता वा प्रेषिता वा गता पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य।

सम्प्रति प्रसिद्धं सेनाशब्दं निराह। सेना सह इनेनेश्वरेण। तेन हि विना गण उच्यते। समानं वा साधारणं विजयाख्यं प्रयोजनमुद्दिश्य गतिर्यस्या:। समानशब्दात् पूर्वपदम्, गतेरुत्तरपदमित्यर्थ:।

पुत्र: पुरु त्रायत इत्यविभक्तिको निर्देश:। पुरुणो दृष्टादानुश्रविकाच्च दु:खात् त्रायत इति पुरुष: सन् द्विवर्णलोपेन पुत्र:। **'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति'** (ऐत०ब्रा०३३.१) इति श्रुते:। **'अयं परश्चेति तस्मादनुशिष्टं पुत्रमालोक्यमाहु:'** इति च। **निपरणाद्वा।** निपरणं पिण्डपितृयज्ञश्राद्धादौ पिण्डदानम्, तेन त्रायते शास्त्रसामर्थ्यात् पितॄन्, अकरणप्रत्यवायपरिहारेण चात्मानम्। पृणाते: पूर्वपदम्, त्रायतेरेवोत्तरपदम्। **पुन्नरकं ततस्त्रायत** इति। तथा च स्मृति:–

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुत:। (मनु० ९.१३८)

पुत्र इति पुच्छब्दात् पूर्वपदमिति भेद:।

ऋषिर्दर्शनात्, देवापिरस्यैव सूक्तस्य। सामान्येनैतन्निर्वचनम्। **स्तोमांस्त्रिवृदादीन् ददर्श** इति विशिष्टमन्त्रदर्शनादेवेत्यौपमन्यवो **मन्यते।** ब्राह्मणमप्यस्मिन्नर्थे सामान्येन दर्शयति **तद्यदेनान्** मधुच्छन्द: प्रभृतीन्

तपस्यमानान्, तस्यैव तपसोऽनुभावात्, **ब्रह्म** ऋग्यजुः सामाख्यं, **स्वयम्भु** अकृतकं नित्यं पूर्वाधीतमिवाभ्यानर्षत, **'ऋ गतौ'** (धा०१.९८३) इत्यस्य लिटि रूपम्, आगतमाविर्भूतमित्यर्थः। **तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायत** (तै०आ०२.९) इति।

देवापिः देवानामाप्त्या व्याप्त्या। केन? **स्तुत्या च प्रदानेन च** हविषाम्, देवानां कल्याणीं मतिं कर्तुं जानन्, यथा ते तुष्यन्ति तथा जानानः।

उत्तरः **उद्धततरः**, हन्तिर्गत्यर्थः, उद्गततर इत्यर्थः। गतिरात्मसर्वगतत्ववत्। **अधरोऽधोरः**, रोमत्वर्थे, अधोमानित्यर्थः। अध ऋच्छतीति वार्तेरधरः। अधः पुनर्न धावतीति नञा ऊर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। तस्यैवैकस्यार्थस्य उत्तरा ऋक् भूयसे बहुतराय निर्वचनाय, निर्विविच्य वचनाय। भूयस्त्वञ्च पौरोहित्यार्त्विज्याभ्युपगमलिङ्गभूतवृष्ट्यर्थ- वाग्लाभादिना।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्न दीधेत्। देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥ (ऋ०१०.९८.७) शंतनुः शं तनोऽस्त्विति वा। शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा। पुरोहितः पुर एनं दधाति। होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वधयायद् देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं रराणो रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्, सोऽस्मै वाचमयच्छद् बृहदुपव्याख्यातम्॥१२॥

भाष्यटीका

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्रायं वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥ (ऋ०१०.९८.७)

यत् यदा यस्माद्वा **देवापिः शन्तनवे** शन्तन्वर्थं **पुरोहितः** सन् **होत्राय वृतः** वार्षिके कर्मणि, **कृपयन्** कृपायमाणः। अनावृष्टिहतं लोकमनुकम्पमानः। **अदीधेत्** अन्वध्यायत् ध्यातवान्। किम्? सामर्थ्याद् वृष्टिम्, मनोरथैः प्रार्थितवानित्यर्थः। पुरस्ताद्यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तदा तस्माद्वा, **देवश्रुतं** देवैः श्रुतम्, **वृष्टिवनिम् 'वनु याचने'**, (धा०८.८) चतुर्थ्यर्थे चोभयत्र द्वितीया, देवैः श्रुताय वृष्टिवनये वृष्टियाचिने। **रराणः** रातेः। **'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्टा०३.१.८५) इति शपः श्लुः, ददद् वृष्टिमित्यर्थः। तस्मिन्नेव कर्मणि ब्रह्मत्वेनावस्थितो **बृहस्पति-र्वाचमस्मा अयच्छत्** दत्तवान्, यया देवान् स्तुत्वाऽसौ वृष्टिं लब्धवान्। बृहस्पतिर्ब्रह्मासीदिति भाष्यानुरोधादेवं व्याख्यायते। मन्त्राक्षरणां तु बृहस्पतिर्मध्यमस्थाने स्तनयित्नुलक्षणां वाचम्, तयापि सम्बन्धाद् वर्षं लब्धवानित्यर्थः।

शन्तनुः कस्मात्? **शं** सुखं हे **तनो! दुर्बल!** तवास्तु इत्येवमसौ कारुणिकत्वादाशास्ते। **शमस्मै तन्वै** शरीराय वास्तु इति वा, इति रोगिणं कश्चिद् दृष्ट्वा एवमाह, स च तदैवारोगः सम्पद्यते। **पुरोहितः** पुर एनं

शान्त्यर्थं राजानो दधति कुर्वत इत्यर्थः। शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु पुर एनं दधति राजानः पुरस्कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च मन्त्रः **'स इद्क्षेति सुधित ओकसि स्वे'** (ऋ०४.५०.८) इति। स निगदव्याख्यातो मन्त्रः। बृहदुपव्याख्यातम्। बृहदिति महतो नामधेयमिति (निरु०१.७)।

नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थयोजना **आर्ष्टिषेणः** ऋष्टिषेणो मध्यमं तत्र भवत्वाच्चार्ष्टिषेणो वैद्युतः, तस्य पार्थिवात्मावास्थितस्य होतृत्वेन देवापित्वम्। शिष्टो मन्त्रः पूर्ववद्योज्यः।

एकपदनिरुक्तम्। ऋष्टयः, शक्तयः, तत्प्रधाना सेना मरुताम्, यस्या अंसेषु वा ऋष्टयः। **'विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः'** (ऋ०३.५४.१३) इत्यौचित्यान्मरुतां विशेषणमृष्टयः। ते च मध्यमानुचराः। इषिता मरुद्रूपा सेना नित्यं येन स ऋष्टिषेणः स एव ऋषिः, स एव विद्योतमानः सर्वेण दृश्यते। सर्वान् वा दर्शयति। लोकपालकत्वाद्वा कर्मणां द्रष्टा समानमन्यत्।

यद्देवापिः। मध्यमप्रभवत्वाद् देवापिर्विद्युत्, शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्, यत् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय, **पुरोहितः** पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्। **होत्राय वृत** इत्यादि, तस्यैव पार्थिवात्मनः, पूर्ववद्योज्यम्। तदा **देवश्रुतं वृष्टिवनिम्**, उभे अप्येते। द्वितीयैकवचने प्रथमैकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्ये। मध्यमस्यैते विशेषणे न देवापेः। देवश्चासौ श्रुतश्च देवश्रुतः, वृष्टेश्च संभक्ता वृष्टिवनिः, मध्यमो बृहस्पतिः, ददद्वाचं गर्जितलक्षणामस्मै अयच्छत्।

अथैकपदनिरुक्तम्। शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति। तन्यत इति तनुः, कृत्स्नं जगत्। तस्य सम्बोधनं हे तनो! शं तुभ्यमस्त्विति ह्लादकत्वादेतत्। स्तनयित्नुर्व्याजेनार्थं वदति वा शमस्यै तन्वा इति। तनुशब्दोऽन्तर्वर्तितवीप्सार्थः, अस्मै शरीराय शरीरायेत्यर्थः। पुरोहितः पूर्वमेनं दधति वैद्युतमरुदादयः। वृष्टियाचिनमिति याच्ञया तत्पूर्वकत्वाद् दानं लक्ष्यत इति भाष्यकाराभिप्रायः। तथा च मन्त्रो व्याख्यातः। बृहस्पतिर्ब्रह्माणं करिष्यन्नेवं व्यापार आसीत्।

अथवा कश्चिद्राजा जायमानोऽनावृष्ट्या क्षतसेन ऋष्टिषेण उच्यते। तस्य स्वभूत ऋत्विगार्ष्टिषेणः। कारीर्यादौ तु होत्रं कर्तुमृषिर्निषीदन् इत्यादि समानं पूर्वेण।

यद्देवापिः। यदा देवानामाप्त ऋत्विक्, शन्तनवे शं सर्वशरीरिणामस्त्वित्येवमर्थं वृष्टिप्रसाधने कर्मणि प्रवृत्तस्य च यजमानस्यार्थाय विद्वत्तयाग्रे वृतो होत्राय वृतः तदा देवश्रुतायेत्यादि समानं पूर्वेण।

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति **'तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः'** (निरु०२.१६) इत्यादि। **'मध्यमञ्च माध्यमिकाञ्च वाचम्'** इति नैरुक्ताः। **'रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयत'** (निरु०२.१९) इति। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।

इति स्कन्दस्वामिकृते निरुक्तभाष्ये सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य तृतीयः पादः।

द्वादशश्च खण्डः समाप्तः।

॥अथ चतुर्थः पादः॥

अथ त्रयोदशः खण्डः।

साधारणनामान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च। यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्टात्तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्यैतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक्। सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रमेवमन्यासामपि देवतानामादित्य-प्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति। अथापि मित्रावरुणयोः। **आ॒दि॒त्या दानु॑न॒स्पती॑।** (ऋ०१.१३६.३; २.४१.६) दानपती। अथापि मित्रस्यैकस्य। **प्र स मि॑त्र॒ मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न्यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑।** (ऋ०३.५९.२) इत्यपि निगमो भवति। अथापि वरुणस्यैकस्य। **अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तव॑।** (ऋ०१.२४.१५; वाज०स०१२.१२)। व्रतमिति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम्॥१३॥

लोकक्रमादाह-**साधारणानीत्यादि**। एकोऽनेकस्मिन्नविरुद्धस्तत्क्रियः साधारण उच्यते। तच्चैकत्वमसति व्यभिचारे तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात्। तच्च प्रत्यभिज्ञानं भिन्नार्थेषु संविज्ञातपदेषु तुल्यश्रुतिषु तुल्यनिमित्तेषु च शब्देषु। गोसमुद्रादिष्वत्रापि **'अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव'** (निरु०२.५) **'समुद्द्रवन्त्यस्मादापः'** (निरु०२.१०) **अश्नोतेरक्षः** (निरु०५.३), इत्येवं तुल्यनिमित्तत्वम्। अत एवमादयः साधारणशब्दाः। यस्तु क्रियासाम्येऽपि क्वचिदर्थे रूढोऽन्यत्र योगात् प्रवर्तते, नासौ साधारणशब्दः। किन्तर्हि? प्रतीतिविप्रकर्षात् तत्र गौणमुख्यव्यपदेशः। यथा अग्निर्माणवकः, सिंहो देवदत्तः, **अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्** (ऋ०१.१.१) इति च, श्येनो वज्र इति च। पुरोहितर्त्विक्शब्दावग्नौ, श्येनादयोऽपि गुणात् शत्रुबाधनसाधनत्वसामान्यादभिचारयोगेषु।

यत्रापि निमित्तभेदः। यथा निर्ऋतिशब्दस्य देवतायां पृथिव्याञ्च, ऋच्छतेर्निरमाणाच्च। यथा योनिशब्दस्य वेद्यन्तरिक्षादौ स्थानविशेषे स्त्रीन्द्रिये च, वेतेर्यौतेश्च निर्वचनात्। तत्रावयवभूतधात्वर्थभेदानुविधानेन शब्दस्याभिधानलक्षणव्यापारभेदाद् भेद एव न साधारणशब्दत्वम्, पूर्वोत्तरयोरुत्पादविनाशदर्शनात्। प्रदीपज्वालावद् रूपसामान्यात्। तत्त्वेन यः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययोऽस्मिन् विषयेऽसौ भ्रान्तः, शब्दभेदात्, हेतोरुक्तत्वात्।

तदेतत् केचिदननुमन्यमाना आहुः विषम उपन्यासः। युक्तं यत् प्रदीपादिषु प्रत्यक्षेणैव बलीयसा प्रमाणेन प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययस्य बाधनम्। इह त्ववयवभूतधात्वर्थभेदानुविधानेन काल्पनिको भेदः शब्दस्य। प्रत्युत प्रत्यक्षेण तत्त्वप्रत्ययेन बाध्यते। एतदुक्तं भवति शब्दविषयेऽनेकार्थप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या एकस्थानेकार्थाभिधान-सामर्थ्यातिशयः कल्प्यते। स च न यौगपद्येन। किन्तर्हि? प्रयोक्त्रभिप्रायेण योऽर्थोऽभिधित्सितस्तदानु-गुण्येनैवावयवार्थकल्पनम्। ततश्च भिन्ननिमित्तोऽपि साधारणशब्द एवेति सिद्धान्तः। अर्थप्रकरणादिना च सर्वसाधारणशब्देषु विशेषाध्यवसाय इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

पशुवर्णविशेषाद्यन्यार्थसाधारण्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थं स्वरादिनामाह-**दिवश्चादित्यस्य च**, नामानीति शेष:। यानि त्वस्य आदित्यस्य प्राधान्येन मन्त्रेषु सूक्तहविर्भाञ्जि सवितृसूर्यादीनि तान्युपरिष्टात् दैवते काण्डे (निरु०१२.१८) व्याख्यास्याम:। स्वरादीनि तु षडपि उभयोर्हवि:सूक्तभाञ्जि भवन्ति, अतो नैघण्टुके प्रकरणे इह व्याख्यास्यन्ते।

आदित्य: कस्मान्? आदत्ते रसान् भुवो रश्मिभि:। आदत्ते भासम्, तदुदयेऽन्तर्धानादादानव्यपदेश:। ज्योतिषां चन्द्रनक्षत्रग्रहादीनाम्। तथा च ब्राह्मणम्। 'उद्यन्तं वा आदित्यमग्निरनुसमारोहति तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इति। उभयत्र ददातेरादित्य:। आदीप्तो भासा इति वा, ज्योतिरन्तरापेक्षया दीप्त:। भासां ज्योतिषाम् इति, आदीप्तो भातीति वा पाठान्तरम्। ज्योतिर्मण्डलात्मनि प्रकाशत इत्यर्थ:। अदिते: पुत्र इति वा। 'दित्यदित्यादित्य' (अष्टा०४.१.८५) इति ण्य:। तथा च ब्राह्मणम् 'अदि॑ति: पु॒त्रका॑मा सा॒ध्येभ्यो॑ दे॒वेभ्यो॑ ब्र॒ह्मौद॒नम॑पचत्....तस्यै॑ च॒त्वार॑ आ॒दि॒त्या अजायन्त' इत्युपक्रम्य 'ततो॒ विव॑स्वानादि॒त्योऽजायत' (तै०सं०६.५.६) इति। एतद्युक्तमुत्पत्त्यभिप्रायेण। शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति, तदेव कारणम्। विचित्रा: पदकाराणामभिप्राया:। क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधिवासम्' इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु 'अधि वासम्' इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहोऽनवग्रह इति। यदेतदुक्तमादित्यशब्दे व्युत्पत्तिनिमित्तकारणम् 'अदिते: पुत्रम्' इति। एतन्निर्वचननिमित्तमेव शब्दान्तरमेवमर्थम्। आदितेयमिति वेदे प्रयुक्तं दृश्यते किन्त्वल्पप्रयोगविषयोऽस्य। तुशब्दो विशेषणार्थ:। अस्य आदित्यस्य, एतद् वक्ष्यमाणमभिधानम्। क्व? आर्चाभ्याम्नाये ऋचां समूह आर्चम्, अभ्याम्नायत इत्यभ्याम्नाय:, ऋच एव यजुषा ब्राह्मणेन च मिश्रा आम्नायन्ते आभिमुख्येन यस्मिन्नसावार्चाभ्याम्नाय:, तस्मिन् ऋग्वेद इत्यर्थ:। अन्ये ऋचाभ्याम्नाय इति पठन्ति। तेषामल्पप्रयोगमेतदभिधानम्, यत एकयैवर्चा प्रदर्श्यते। आम्नाय एवाभ्याम्नाय इति वेद उच्यते, सर्ववेदेष्वित्युक्तं भवति। सूक्तभाग्भवति, सूक्तं स्तुति:, तामेव भजते। क्व? 'सूर्य॑मादिते॒यम्' (ऋ०१०.८८.११, निरु०७.२९) इति। न हविर्भाक्, सूर्यपदसामानाधिकरण्यादेतद् गम्यते। गुणाभिधानमेतत्, नानेन नाम्ना हविश्चोदना क्वचिदस्तीति। 'य॒देदै॑न॒मद॑धुर्य॒ज्ञिया॑सो दि॒वि' (ऋ०१०.८८.११, निरु०७.२९) इत्यत्र व्याख्यास्यते।

अन्येऽल्पप्रयोगमित्यादित्यस्यैव वेद एकवचनान्तस्यादित्यादिविषयस्याल्पप्रयोगतां सूक्तभाक्त्वं चाहु:। यजुर्वेदे ब्राह्मणे चातो नास्त्येकवचनबहुवचनान्तानाम्। न केवलमस्यैवादित्यशब्दस्य, आदितेयशब्दस्यापि एकस्यामेव ऋचि, **'सूर्य॑मादिते॒यम्'** (ऋ०१०.८८.११, निरु०७.२९) इति। सूक्तभागेव वेति। आदितेयमिति, **'अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गो दृश्यते'**[१] इति ण्यविषये ढक्। **'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली'** इति यथा। **'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'**[२] इति वा ण्यविषये ढक्।

---

१. तु० क्वचिदपवादविषयेप्युत्सर्गोऽभिनिविशते (प०शे० ५८)

२. परि०शे०३५), वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति पात०व्या०महा०१.४.९, बहुलं छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति पा०व्या०महा०३.१.८५

आदित्यशब्दस्य प्रसङ्गेनान्यत्रापि क्वचिदाख्यायतेऽदितेः पुत्रत्वेन। **एवमनेनप्रकारेणान्यासामपि देवतानामादित्यशब्देन प्रवादा** आदित्यशब्देन **स्तुतयो** भवन्तीत्यर्थः। **तद्यथैतन्मित्रस्येत्यादि**, **'इमा गिरः'**[1] इत्यत्र व्याख्यास्यते।

पृथगर्थमिदं दर्शयति **अथापि मित्रावरुणयोः**, आदित्यशब्देन हि स्तुतिः। **आदित्या दानुनस्पती दानपती।**

ता स॒म्राजा॑ घृ॒तासु॑ती आदि॒त्या दानु॑नु॒स्पती॑। सचे॑ते॒ अन॑वह्वरम्॥ (ऋ०२.४१.६)

गृत्समदस्यार्षम्। **ता** तौ मित्रावरुणौ, **सम्राजा** सम्यग्दीप्तावीश्वरौ, **घृतासुती** आसुतिरशनं रसो वा घृताशनौ घृतरसौ वा, यद्वा आसुतिरासवः, घृतमेवासवो ययोरित्यर्थः। **आदित्या** अदितेः पुत्रौ। **दानुनस्पती** दानुर्दानम्, **'दाभाभ्यां नुः'** (उणा०३.३२) बहुलवचनाद् भावे। तस्याधिपती, अत्यन्तदातारावित्यर्थः। **सचेते** लोडर्थे लट्, **सचेताम्** सेवेताम्। किम्? सामार्थ्यादस्मद् यज्ञम्। कीदृशम्? **अनवह्वरम्**, अवपूर्वस्य ह्वरतेरत्तिकर्मणः। अवह्वरो भक्षः। अनवभक्षितं अनवहिंसितं रक्षोभिरित्यर्थः। अथवा **घृत**मुदकं वृष्टिलक्षणं तथा वा सुवाते प्रेरयतस्तौ घृतासुती, वृष्टिप्रदानद्वारेण **सचेते** सर्वान् प्राणिनः। अनवह्वरम् **'ह्वृ कौटिल्ये'** (धा०१.९७८) अकुटिलमृजुः, अशाठ्येनेत्यर्थः।

अथापि मित्रस्यैकस्यादित्यप्रवादा स्तुतिः-

प्र स मि॑त्र॒ मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न् यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑।

न ह॑न्यते॒ न जी॑यते॒ त्वोतो॒ नैन॒मंहो॑ अश्नो॒त्यन्ति॑तो॒ न दू॒रात्॥ (ऋ०३.५९.२)

विश्वामित्र आह-**सः हे मित्र! मर्तः** मनुष्यः **प्रास्तु** प्रकर्षेण भवतु **प्रयस्वान्** अन्नवान् यस्तुभ्यं हे **आदित्य!** अदितेः पुत्र! **शिक्षति** ददाति। किम्? सामर्थ्यात् हविः, **व्रतेन** कर्मणा यागाख्येन। किञ्च **न हन्यते** केनचित्, **न** च **जीयते त्वोतः** त्वया ऊतो रक्षितः, **न चैनमंहः** पापमश्नोति व्याप्नोति, **अन्तितः** समीपात् **नापि दूरात्।** स्वगतं सम्बन्धिगतञ्चेत्यर्थः। अथवा सन्निकृष्टकालं विप्रकृष्टकालं च, इदानीं कालान्तरे चेत्यर्थः।

अथापि वरुणस्यैकस्य। **'अथा॑ व॒यम्'** (ऋ०१.२४.१५) इति नियमः।

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय।

अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम॥ (ऋ०१.२४.१५)

शुनःशेपो यूपे बद्धो वरुणमाह-**उत्तमं पाशं** हे **वरुण! अस्मद्**=अस्मत्तः, **उच्छ्रथय** निस्सारयेत्यर्थः। **अवाधमं** अधः पाशमित्यर्थः, **अवश्रथयः** अवपातयेत्यर्थः। **विमध्यमं** मध्येवस्थितं **विश्रथय** विमुञ्चेत्यर्थः। **अथ**=अनन्तरं **वयं** हे **आदित्य!** अदितेः पुत्र! **व्रते** यागाख्ये कर्मणि, **तव** त्वत्सम्बन्धिनि त्वद्देवत्य इत्यर्थः। **अनागसः** अपापाः, **अदितये** अदितिरिति वाग्नाम, वाचे त्वत्स्तुतिलक्षणायै **स्याम** भवेम त्वां स्तुमो यजेमेत्यर्थः। भेदपक्ष एतत्सर्वं विचार्यते।

नैरुक्तपक्षे तु अदितिर्द्यौः, तस्याः पुत्रः साहचर्याद् रसाहरणाद्वा द्युस्थानो वरुणः। शुनःशेपोऽपि यजमानः सन्नाह। **उत्तमम्** उत्कृष्टम्, उत्तमे वा वयस्युपजातम्, हे **वरुण!** दुरितकर्म**पाश**मस्मत्त **उच्छ्रथय** उन्मोचयेत्यर्थः।

---

१. ऋ०२.२७.१, निरु०१२.३६

ऊर्ध्व एव वयसि श्लथय। **अधमं** दुरितपाशं बाल्ये वयस्युपजातं तथैवाधमे वयसि। मध्यमश्च मध्यमे वयस्युपजातं निर्मोचय। अनन्तरं वयं हे अदिते: पुत्र! कर्मणि **तव** त्वद्देवत्ये, **अनागस:**, त्वयैव क्षपितकल्मषा:, **अदितये** वयं **स्यामे**त्याशास्महे।

निगमप्रङ्गादाह–**व्रतमिति कर्मनाम, वृणोतीति**। कर्तरि सत इति कृतव्याख्यानम्। तद्धि शुभमशुभं वा वृणोति बध्नाति कर्तारम्। तथा च श्रुति: **'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति'** (बृहद्० उ०४.४.२)। **इदमपीतरद्व्रतम्** गुडलवणस्त्र्यादिविषयनिवृत्तिरूपं कर्म। एतस्मादेव रूपसामान्यात्। प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते **वारयतीति सत:**, निवृत्तिरूपो हि कल्पस्तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्तमानं पुरुषं वारयतीति सत इत्यन्येषां पाठोऽर्थश्च। व्रतमिति कर्मनाम, निवृत्तिकर्मनाम वारयतीति सत इति। व्रतं कर्मोच्यते। कस्मात्? वारयते:। तद्धि संकल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूपमग्निहोत्रादि कर्म प्रत्यवायं वारयतीति पुरुषं प्रवर्तमानो निवर्तमानश्च प्रकृतेनाभिसम्बन्ध:, तेन व्रतेन निवार्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्यात् हेतुकर्तृत्वेन विवक्षा। भोजनमपि व्रतं क्षुधानिवारणात्।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य त्रयोदश: खण्ड:।

अथ चतुर्दश: खण्ड:।

स्वरादित्यो भवति। सु अरण:। सु ईरण:। स्वृतो रसान्। स्वृतो भासं ज्योतिषाम्। स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता। पृश्निरादित्यो भवति। प्राश्नुत एनं वर्णा इति नैरुक्ता:। संस्प्रष्टा रसान्। संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्। संस्प्रष्टो भासेति वा। अथ द्यौ:। संस्पृष्टा ज्योतिर्भि: पुण्यकृद्भिश्च। नाक आदित्यो भवति। नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणय:, कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। **न॒ वा अ॒मुं लो॒कं ज॒गुषे॒ किं॑ च॒ नाकम्।** (काठ०सं०२१.२) न वा अमुं लोकं गतवते किंचनासुखम्। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। गौरादित्यो भवति। गमयति रसान्। गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौ:। यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति। यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। विष्टबादित्यो भवति। आविष्टो रसान्। आविष्टो भासं ज्योतिषाम्। आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौ:। आविष्टा ज्योतिर्भि: पुण्यकृद्भिश्च। नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणय:। अपि वा भन एव स्याद्विपरीत:। न न भातीति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता॥१४॥

भाष्यटीका

उक्तं प्रासङ्गिकम्। प्रकृतमभिधीयते **स्वरादित्य:। कस्मात्? सु अरणं** गमनम्, तत्सुखाय हिताय वा शोभनं यस्य। सुखप्रतिपत्त्यर्थो विसन्धिपाठ:। सर्वत्र शोभनं वा प्ररेणं तमसां यस्य। सुष्ठु वा ऋतो गतो रश्मिभि रसानादातुम्, **भासं** वा **ज्योतिषां** नक्षत्रादीनाम्। **स्वृतो भासे**ति, कर्मणि क्त इति विशेष:। पूर्वत्र कर्तरि। एतेन द्यौर्व्याख्याता। तुल्यनिमित्तत्वात्। तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि इत्यस्या: परिभाषाय उदाहरणान्येतानि, अल्पत्वात् स्वयमेव प्रदर्शयति साऽपि सुष्ठु गता शोभनं वा अरणमस्यां शोभनैर्वा

पुण्यकृद्भिरर्यतेऽस्यां सुष्ठु वा पुण्यकृत ईरयतीति। तत्र गमनाय स्वृतो रसैः, कर्मणि क्तः, स्वृता भाभिर्ज्योतिषां स्वयमेवादीप्ता।

दिव उदाहरणम् '**भूर्भुवः स्वः**' (वा०सं०३.५) इति।

आदित्यस्य तु-

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।

अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥ (ऋ०४.१०.३)

वामदेवस्यार्षम्। **एभिर्नः**=अस्माकं स्वभूतैर**र्कैः** स्तूयमान इति शेषः। **भवा नः** भव नः अस्माकम्, **अर्वाङ्** प्रसादाभिमुखः प्रसादपर इत्यर्थः। **स्वर्णज्योतिरिति**, आदित्याख्यमिव भास्वर इत्यर्थः। हे **अग्ने! विश्वेभिः** सर्वै**रनीकै**र्ज्वालाख्यैर्मुखैरुपेत इत्यर्थः। **सुमनाश्च** भवेत्यनुषङ्गः। अतियाच्ञया खेदं मा यासीरित्यर्थः।

पृश्निरादित्य इत्यादि। **प्राश्नुत** एनं शुक्लो वर्णः। **संस्प्रष्टा रसान्**, तृन्नन्तोऽयम्। ततश्च '**न लोकाव्यय**' (अष्टा०२.३.६९) इति षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव, आदाता रसानित्यर्थः। कृतव्याख्यानमन्यत्।

अथ द्यौः संस्पृष्टा व्याप्ता **ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च**। '**सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि**' इति श्रुतेः।

आदित्यस्योदाहरणम् '**अयं वेनश्चोदयत्**' (ऋ०१०.१२३.१, निरु०१०.३९) इति व्याख्यास्यते। दिवः-

अरा इवेदचरमा अहेव प्र प्रजायन्ते अकवा महोभिः।

पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः स्वया मत्या मरुतः सं मिमिक्षुः॥ (ऋ०५.५८.५)

श्यावाश्वो मरुतः स्तौति। **अरा इव** यथा अराश्चक्रस्य तुम्बस्य वा तद्वत्। **अचरमाः** चरमः पश्चिमः स येषां नास्ति ते अचरमाः। पश्चिमाभावादेवाग्रिमस्याप्यभावः, अनग्रिमपश्चिमा इत्यर्थः। **अहा इव** अहानीव च संवत्सरस्य सहजातत्वाद्धि तुल्यकाला मरुतः, नैषामग्रिमो न पश्चिमोऽप्यस्ति कश्चित्। **प्र प्रजायन्ते** एकः प्रशब्दः '**प्रसमुपोद**' इति पादपूरणः, अपरः प्रकर्षार्थः, प्रकृष्टा जायन्ते प्रतिदिवसं वर्द्धमानाः प्रकृष्टा भवन्तीत्यर्थः। **अकवाः** अकुत्सिताः। **महोभिः** स्वैर्माहात्म्यैः, **पृश्नेः** दिवः **पुत्राः**, **उपमासः** उपमाभूताः सर्वस्य। अथवा उपमा इत्यन्तिकनाम, दिवः पुत्राः सन्निकृष्टाश्चेत्यर्थः। **रभिष्ठाः** अतिशयेन वेगवन्तः, **स्वया मत्या** प्रज्ञया **मरुतः संमिमिक्षुः** मिक्षतेर्गतिकर्मणः। एतद्रूपं सङ्गच्छते। यादृश्येषां योग्या प्रज्ञा परानुग्रहात्मिका तादृश्येषामुत्पद्यत इत्यर्थः। अथवा मन्यतेरर्चतिकर्मणो मतिः स्तुतिस्तया सङ्गच्छन्ते स्तोतृभिः स्तूयन्त इत्यर्थः।

नाक आदित्यो भवति। नेता प्रापयिता **भासा**मात्मीयानां सर्वत्र, **ज्योतिषां प्रणयो** नायक इत्यर्थः। अथवा **नेता भासां ज्योतिषां** चेति सिद्धम्। अतः **प्रणयः** प्रणाशकः, अन्तर्धातेत्यर्थः।

अथ द्यौः। कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धमकं दुःखं, पुनः **प्रतिषिध्यते**, सुखमेवेत्यर्थः। सुखस्थानत्वाच्च सुखमित्युच्यते। प्रतिषेधद्वयोपनिपाते प्रकृत एव गम्यत इति। अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं पठित्वा व्याचष्टे-

'न वा अमुं लोकं जगमुषे किंचनाकम्।[1] **न वा अमुं लोकं गवतते किञ्चनासुखमिति'**। कुतः ? **पुण्यकृत एव यस्मात् तत्र गच्छन्ति।** न च पुण्यकृतां दुःखभवनं युक्तम्। ननु च यत्र सुखं दुःखेनापि तत्र भवितव्यम्। तथा च श्रुतिः **'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति'** (छा०उप० ८.१२.१) इति ? उच्यते। सुखबाहुल्याद् दुःखं नास्तीत्युच्यते। नावेदविदस्मिन् ग्राम इति यथा। उदाहरणम् **'नाकस्य पृष्ठे'** (ऋ०१.१२५.५) इति व्याख्यातम्। **'तस्मिन्नहं नि दधे नाके अग्निम्'**[2] इत्यादि।

गौरादित्यो भवति। गमयति रसान् मण्डलं प्रति रश्मिभिः। **गच्छति वा** मध्यमक्षये। **अथ द्यौः। यत्पृथिव्या** उपरि **दूरं गता। 'उमादः पुरुष'** (अनुपलब्दमूलमिदं वचनम्) इत्यादित्यस्योदाहरणम्। दिवः- **'गवामसि गौपतिः'** (ऋ०७.९८.६) इति।

विष्टवादित्यो भवति। आविष्टो रसान्। विष्टबादित्यः पृथिव्या रसानादातुमाविष्टोऽभिनिविष्ट इत्यर्थः। एवमेव भासां ज्योतिषाम्। भासा वा व्याप्तः। द्यौरप्येवम्। **'ब्रध्नस्य विष्टपम्'** (यजु०१८.५१) इत्युदाहरणम्।

नभ आदित्यः। नयतेः। अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः। भासनः सन्नाकारस्य ह्रस्वत्वेन सलोपेन च भनः, भनः सन् नभः। **न न भातीति वा,** नकारलोपेन नभः। न न भाति भात्येवेत्यर्थः। एतेन द्यौर्व्याख्याता। **'ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभः'**[3] शुक्र ऋषभा नभसा इत्युदाहरणम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)- ध्यायस्य चतुर्थः पादः।

चतुर्दशश्च खण्डः समाप्तः।

---

१. (काठ०सं० २१.२ इदं मूलवाक्यं नास्ति, तैत्ति०सं०५.३.७.१ सुवर्गो वै लोको नाको नास्मा अकं भवति, मै०सं० नाकं हवा अस्मा न वै तत्र किञ्चन जगमुषेऽकम्

२. यजु०वा०सं०१५.४९, तैत्ति० सं०४.७.१३.३

३. (तैत्ति०सं ४.३.११.३, मैत्रा० सं०२.१३.१०, काठ०सं०३९.१०)

अथ पञ्चमः पादः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश। रश्मिर्यमनात्। तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः। दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। दिशः कस्मात् ? दिशतेः। आसदनात्। अपि वाऽभ्यशनात्। तत्र काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठा दिशो भवन्ति, क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति, इतरेतरं क्रान्त्वा स्थितो भवन्ति। आदित्योऽपि काष्ठोच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते, क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्॥ १५॥

रश्मिनामानि साधारण्यप्रसङ्गादाह-खेदय इत्यादीनि **पञ्चदश। रश्मिर्यमनादित्यर्थकथनमेतत्**, न धातुप्रदर्शनम्। रशेरेव रश्मिः। रशना रश्मिरिति कतिपयप्रयोगविषय एवायं रशिः, रहत्यादिवत्, न सर्वत्र, बन्धनप्रतीतेर्यमनादित्याह-एकत्रोदकस्यापरत्राश्वानाम्। **तेषामादौ साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः**। प्रदर्शनञ्चैतत्। अभीशु=दीधितिशब्दावङ्गुलिभिः। एवमन्येषामपि द्रष्टव्यम्।

आदित्यसम्बन्धित्वेनैव दिङ्नियमादाह-**दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। दिशतेः**। आदिश्यन्ते हि ता आदित्येन। अतिसृष्टा वा तं तमर्थं प्रति **आशदनाद्वा**, शदिर्गत्यर्थः। अभ्यशनाद्वा व्यापातनाद्वा। दिशतेरेवार्थनिदर्शनमिति केचित्।

तत्र काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि द्रव्यस्य वाचकं भवति। दिशस्तावत्, क्रान्त्वा सर्वमतीत्य स्थिताः, आकाशवत्, व्यतिरेकपक्षे। अव्यतिरेकेऽपि त एव शब्दादयः सर्वत्र सन्ति संस्थिताश्चेति। उपदिशोऽप्येवमेव, अव्यतिरेकेऽपीतरेतरापेक्षया परत्वापरत्ववत् सर्वत्र व्यवहारास्तित्वम्। आदित्योऽप्युदयगिरेः क्रान्त्वास्तगिरावदर्शनात् स्थित उच्यते। आज्यन्तः शरपथपर्यन्तः काष्ठोच्यते। अत एवापोऽपि द्विप्रकाराः काष्ठाः। स्थावरास्तावत् गत्वा जलाशयं समुद्रादिं स्थिता भवन्ति। सर्वत्र निगमा द्रष्टव्याः। अयनसन्ध्याप्रकर्षादिषु चास्थावराणां न क्वचित्तिष्ठन्तीति काष्ठाः। निगमः।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ (ऋ०१.३२.१०) अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः। शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः। आशयदाशेतेः। इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा। तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य श्रोतांसि निवारयञ्चकार। तस्मिन् हते प्रस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥१६॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ (ऋ०१.३२.१०)

हिरण्यस्तूपस्यार्षम्। चलत्वाद**तिष्ठन्तीनां** बहुत्वाद**निवेशनानां काष्ठाना**मपां **मध्ये** स्थितानामिति शेषः। बहिर्**निहितं शरीरं वृत्रस्य** मेघस्य **निण्यं** निर्णामं यतोऽधो नीचैर्नमति तं बिलमित्यर्थः। **विचरन्ति** विजानन्ति, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः, **आपः**। सोऽपि निर्गच्छन्तीस्ताः प्ररुरुत्सन्, **दीर्घन्तमः** धूमनीलं मेघशरीरम्, **आशयत्** आशेते आतिष्ठति। दीर्घेण तमोरूपेण कृत्स्नं नभो व्याप्नोतीत्यर्थः। **इन्द्रशत्रुः** इन्द्रस्य शत्रुः शातयितव्यः। शरीरं सामान्येन निराह-**शृणातेः**, हिंस्यते हि तत्। **शम्नातेर्वा**, शाम्यति हि तत् कालेन। **दीर्घम् द्राघते**र्वृद्ध्यर्थस्य (धा०१.११७)। **तमस्तनोतेः**, विस्तीर्णं हि तदात्मना। शमयिता शातयिता वेति धात्वन्यत्वमात्रम्, अर्थस्तूभयत्र मारणमेव।

वृत्रशब्दस्य निगमप्रसक्तस्याभिधेयं प्रति विप्रतिपत्तिः, तन्निर्णिनीषया प्रश्नयति **तत् को वृत्र** इति। **त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः**। सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः। ते चान्यपरा विधिप्रतिषेधशेषभूताः। अतस्ताननादृत्य स्वयमविरुद्धं नित्यदर्शनमुपोद्वलयन्नाह-**मेघ इति नैरुक्ताः**। कथं तर्हि मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च सलिलसंघातमात्रात्मकेन वृत्रेण सह युद्धप्रवादाः ? उच्यते, **अपाञ्चे**त्यादि। अपां रश्मिभिराहतानां घनीभूतानां वायुनावष्टब्धानामभिहन्यमानानां परस्परसंघर्षे तरुशाखयोरिवाग्निरुपजायते, ततस्तेनोपतप्तानां विलयनं भवति। तासां **ज्योतिषश्च** वैद्युतस्योद्भूतवृत्तेः प्रतिद्वन्द्विभावान्मिश्रीभूतयोस्तत एव **मिश्रीभवनकर्मणो वर्षकर्म** विलयनाज्**जायते**, न ह्यविलीनमुदकं स्रवति। न च तेजोऽन्तरेण विलयनमस्ति। **तत्र** मुख्ययुद्धसम्भवाभावादौपचारिकी **उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना**। किं सादृश्यम्? संघर्षः। तस्मादसति युद्धे कल्पनैषा। तथा च कल्पितरूपा मन्त्रवर्णा मन्त्रलिङ्गाः।

रूपं रूपं मघवा बोभवीति (ऋ०३.५३.८)। **मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः** (ऋ०१०.५४.२)। **इन्द्रो दिवः** (ऋ०१०.८९.१०)। **यद्याव इन्द्र ते शतम्** (ऋ०८.७०.५)। इति

तेषामेको निरुक्तेन व्याख्यातव्यः। स व्याख्यायते-

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्र ब्रुवाणो जनेषु।

मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥ (ऋ०१०.५४.२)

बृहदुक्थस्य वामदेवस्यार्षम्। **यदचरः** चरसि, **तन्वा** शरीरेण, **वावृधानो** वर्धमानः, **बलानीन्द्र** स्वसामर्थ्यानि **प्रब्रुवाणः** कथयन्निव **जनेषु**, चतुर्थ्यर्थे सप्तमी, जनेभ्यः। **माया, इदिति** पदपूरणः, **सा ते** तव अनृतं तदित्यर्थः। **यानि युद्धान्यैतिहासिका आहुः**, तान्यपि मायैव। यतो **नाद्य** इदानीम्, **शत्रुं** प्रथमार्थे द्वितीया, तच्छतेश्चास्तीति शेषः। शत्रुर्नास्तीत्यर्थः। नापि **पुरा** यानि युद्धान्यैतिहासिकाः, तान्यपि पुरातनश्च त्वमपि **विवित्से** वेत्स्येव न केवलोऽहम्। अथवा, विवित्से इति विदेर्लाभार्थस्य रूपम्, नेदानीं शत्रुं लभसे, नापि पुरा। ततश्च केन सह युद्धमिति। किं वृत्रवदेव? न, **अहिवत्तु** अहिशब्देनापीत्यर्थः। **मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च** भवन्ति- **अहन्नहिमन्वपस्ततर्द** (ऋ०१.३२.१)। तथा-**अग्निर्वृत्राणि** (ऋ०६.१६.३४)। इति

ऐतिहासिकपक्षे एको वृत्रः, कुतो बहुत्वम्? नैरुक्तपक्षे त्वदोषः। विवृद्ध्या शरीरस्येत्यादि, निगदव्याख्यातम्। ब्राह्मणमपि चास्मिन्नर्थे दृश्यते **'स ईषुमात्रं विष्वङ्ङवर्धत'** इति। एतदर्थाभिवादिनी एषा ऋग्भवति।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य षोडशः खण्डः

अथ सप्तदशः खण्डः।

अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥ (ऋ०१.३२.११)
दासपत्नीर्दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि। अहिगोपा अतिष्ठन्। अहिना गुप्ताः। अहिरयनात्। एत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्गः। आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग्भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेः। वृत्रं जघ्निवान्। अपववार तत्। वृत्रो वृणोतेर्वा। वर्ततेर्वा। वर्धतेर्वा। यदवृणोत् तदु वृत्रस्य वृत्रत्वम्। इति विज्ञायते। यदवर्धत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वम्। इति विज्ञायते॥१७॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥ (ऋ०१.३२.११)

हिरण्यस्तूपस्यार्षम्। **दासः** कर्मकरः श्रान्त उपक्षीणशक्तिः, तं वीतश्रमव्यावृत्तिकरणेन पालयन्तीति दासपत्न्यः। अथवा दासो मेघः, तस्य पालयित्र्यः, ताभिर्हि मेघो भवति, तत्कृतं तस्य मेघत्वमित्यर्थः। **अहिगोपाः** अहिर्मेघो गोपायिता यासां ताः। **अतिष्ठन्** तिष्ठन्ति, **तेन निरुद्धा आपः पणिनेव** वणिजेव विक्रयार्थे वीथ्यादौ **गावः**, तासामपां निर्गम**बिलम्, अपिहितं** घट्टितं **यदासीत्, वृत्रं** मेघं **जघन्वान्, अपतद्ववार** अपावृतवान् तदिन्द्रः।

दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि उपक्षयति कर्माणि। क्षय आन्तं गमनम्। एवं हि तत् क्षीणं भवति। यद्यन्तं नीतम्, अर्थार्थत्वात् प्रवृत्तेः। अन्यथा पुनः प्रवर्तत एव। **अहिरयनात्** गमनात्, **एति** गच्छत्यन्तरिक्षे। **अयमपीतरोऽहिः** सर्प **एतस्मादेव** एतेः। असावपि हि भूम्यामेति। यद्वा **आहन्ति** भोगेनेत्याहिः सन् उपसर्गह्रस्वत्वेन अहिः। **पणिर्वणिगित्य**भिधेयवचनम्। **पणनादिति** शब्दनिर्वचनम्। क्रयविक्रयव्यवहारः पणनम्। पर्यायप्रसङ्गादाह-**वणिग्** वन्यं वननीयं, **पण्यं नेनेक्ति** शोधयति, क्रयविक्रयः स्यादिति। **बिलं भरं बिभर्तेः** बिलं बिभर्त्ति हि तदुदकादि। **वृत्रो वृणोते**राच्छादनार्थस्य (धा०५.८), आच्छादयति ह्यसौ कृत्स्नं नभः। **वर्ततेर्वा** गत्यर्थस्य, गच्छति ह्यसौ नभः। **वर्धतेर्वा** (धा०१.७९६) वृद्ध्यर्थस्य। ब्राह्मणदृष्टास्त्रयोऽपि निर्वचनप्रकारा इति दर्शयति **'यदिमांल्लोकानावृणोत् तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यथा यदवर्तयत् तथा इषुमात्रमवर्धत'** (तैत्ति०सं०२.५.२.२) इति।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तवृत्तौ सप्तमस्या- (द्वितीयस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः पादः।

सप्तदशः खण्डः

।।अथ षष्ठः पादः।।

अथाष्टादशः खण्डः।

रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः। रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि। उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः। प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः। उषोनामान्युत्तराणि षोडश। उषाः कस्माद्? उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपरः कालः। तस्या एषा भवति।।१८।।

भाष्यटीका

रात्रिनामान्युत्तराणि दिङ्नामभ्यस्त्रयोविंशतिः। आदित्यनिमित्तत्वसम्बन्धात्। दिक्सम्बन्धः श्यामवर्णा। श्यावीत्यादि प्रतिनाम निर्वचनम्। ऊधरिति सन्दिग्धेषु, निर्णयोदाहरणम् **'यो अ॑स्मै घ्रंस'** (ऋ०५.३४.३)। इति। अहः साहचर्यादर्थसामान्याच्च रात्रिरिति गम्यते। एवं सर्वत्र। अर्थादेशप्रसक्तं निर्वचनम्–**रात्रिः कस्मात्**? इति। **प्ररमयति** प्रक्रीडयति **भूतानि नक्तञ्चराणि** कौशिकपिशाचादीनि। **उपरमयति** कर्मभ्य इतराणि दिवाचराणि। **ध्रुवीकरोती**त्यर्थवचनम्। प्रोपविष्टस्य रमेः रात्रिः। **रातेर्वा** (धा०२.४८) दानार्थस्य स्यात्। अत्र हि रूपसिद्धिलाघव- मर्थपौष्कल्यञ्च। **प्रदीयन्तेऽस्यां** मध्यमेन **अवश्यायाः**, अवश्यमायन्तीत्यवश्यायास्तुषारा इत्यर्थः, ते हि रात्रौ निपतन्ति। रातेर्दानार्थोपपत्तिवचनम्।

रात्रिसम्बन्धादु**षोनामानि षोडश**, विभावरीत्यादीनि। **उषाः कस्मात्? उच्छतीति सत्याः।** उच्छतिर्विवासे (धा०१.२३१), विवासनादुषाः। **रात्रेरपरः काल** इत्यभिधेयकथनम्। नास्मात्परं रात्र्यवयवोऽस्ति पञ्चदशो मुहूर्तः। तञ्च केचिदहर्भागं मन्यन्ते। केचिद्रात्रिभागम्। केचिदुभयसाधारणम्। केचिदुभयव्यतिरिक्तम्। यथा चायं रात्रेरपरस्तथैव एषा ऋग्भवति।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथैकोनविंशः खण्डः।

इ॒दं श्रेष्ठं॒ ज्योति॑षां॒ ज्योति॒राग॑ाच्चि॒त्रः प्र॑के॒तो अ॑ज॒निष्ट॒ विभ्वा॑। यथा॒ प्रसू॑ता सवि॒तुः स॒वायँ॑ ए॒वा रात्र्यु॒षसे॒ योनि॑मारैक्॥ (ऋ०१.११३.१) इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततममजनिष्ट विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्यैवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम्। स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः। तस्या एषापरा भवति।।१९।।

भाष्यटीका

इ॒दं श्रेष्ठं॒ ज्योति॑षां॒ ज्योति॒राग॑ाच्चि॒त्रः प्र॑के॒तो अ॑जनिष्ट॒ विभ्वा॑।
यथा॒ प्रसू॑ता सवि॒तुः स॒वायँ॑ ए॒वा रात्र्यु॒षसे॒ योनि॑मारैक्॥ (ऋ०१.११३.१)

कुत्सस्यार्षम्। उत्तरा च। **इदं श्रेष्ठम्** अतिशयेन प्रशस्तम्, **ज्योतिषां** ग्रहनक्षत्रादीनां मध्ये, **ज्योतिः** उष आख्यम्, **आगात्** उद्गतम्। आदित्यो हि तापकः प्रकाशकश्च, चन्द्रमास्तु शीतः प्रकाशकश्च। इदं पुनर्नात्युष्णं नातिशीतं प्रकाशकञ्चेत्येवमादित्यादीनामिदमेव श्रेष्ठमागच्छतीत्यर्थः। उदिते च तस्मिन् **चित्रः** चायनीयः पूजनीयो दर्शनीयो वा, **प्रकेतः** प्रज्ञानं प्रकाशाख्यम्, **अजनिष्ट** जातम्। **विभ्वा** विभूततमम्, इदमतिमहत्त्वाद्विभूतमं विस्तीर्णतमम्, इतराणि परिच्छिन्नतराणि ज्योतींष्यपेक्ष्य, सर्वव्यापीत्यर्थः। किञ्च **यथा प्रसूता** उत्पन्ना **सवितुः** सकाशात् स्वयमेव रात्रिः। सविता ह्यस्तमयेन रात्रिं जनयति, तेन सा तत उत्पन्नेत्युच्यते। **सवाय एवा** एवं, **रात्री** रात्रीः, **उषसे** उषसोऽर्थाय, सवाय सवो जन्म तदर्थमित्यर्थः। **योनिम्** स्थानमात्मैकदेशम्, अपररात्र्याख्यम्। **आरैक्** आरेचितवती कल्पितवतीत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति यथा आदित्योऽस्तं गच्छन्नात्मनस्तिरोभावेन रात्रेरवकाशं ददाति, एवं रात्रिरुषसे। अथवा यथा प्रसूतेत्युषा उच्यते न रात्रिः, सवितुरित्येतदपि सवायेत्येतेन सम्बध्यते, यथा प्रसूता उत्पन्ना उषाः सवितुः सवाय जन्मने, उषसो ह्युत्पत्त्यनन्तरं सविता जायते, तेनेयं तदर्थमेवोत्पन्ना इत्युच्यते। एवमेव रात्रिः प्रसूता उषसे, उषसो जन्मार्थमुत्पन्नेत्यर्थः। यतः स्थानमस्या रेचितवती।

अथवा यथाश्रुत एव सम्बन्धः। यथा प्रसूतोत्पन्ना। कासौ? अपरभागा रात्रिः सवितुरादित्यस्य सवाय जन्मने, एवमेव विनापरभागेन उष आख्येन रात्रिस्तस्यैवापरभागस्य उष आख्यस्य जन्मने बहुलतमोरूपात्मोप-संहारेण स्थानं रेचितवतीत्यर्थः। एवमत्र रात्रेर्मन्दतमप्रकाशात्मकोऽपरभाग उषा इति सिद्धम्। रात्रिरादित्यस्य सकाशादिति शेषः प्रथमे व्याख्याने। द्वितीये तु व्याख्याने रात्रिरादित्यस्येति तदेकदेशभूता उषा उच्यते। शिष्टं भाष्यं मन्त्रव्याख्यानेनैव गतम्।

योनिशब्दस्योक्तनिर्वचनस्यापि स्थितित्वसम्बन्धेन लिङ्गान्तरत्वख्यापनार्थमा-**अभियुतः**, अनीत्य स्थितो **वैनां** योनिं स्त्रिया **गर्भ** इति। योनिशब्दो मन्त्र उभयलिङ्गो दृष्टः।

स॒मु॒द्रं वा॒ प्र हि॑णोमि॒ स्वां योनि॒म्।[1]

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियः॒।[2]

तदुभयप्रदर्शनार्थमुभयथा निरुक्त इति। तस्या एवोक्तविभागाया उषस एषापरा, अनन्तरा ऋग्भवति।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः।

---

१ (अथ०१०.५.२३ वेदे तु वा इत्यस्य स्थाने वः एव पाठः)

२ (ऋ०३.२९.१०)

अथ विंशः खण्डः।

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः। समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥ (ऋ०१.११३.२) रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा। रुशदिति वर्णनाम। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह। साहचर्यात्। रसहरणाद्वा। रुशती श्वेत्यागात्। श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत् कृष्णा सदनान्यस्याः कृष्णवर्णा रात्रिः। कृष्णः कृष्यतेः। निकृष्टो वर्णः। अथैने संस्तौति। समानबन्धु समानबन्धने। अमृते अमरणधर्माणौ। अनूची अनूच्यावितीतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्णं चरतस्ते एव द्यावौ द्योतनादपि वा द्यावा चरतस्तया सह चरत इति स्यात् आमिमाने आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे। अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि॥ २०॥

भाष्यटीका

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।

समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥ (ऋ० १.११३.२)

सूर्य उषसो वत्स उच्यते, साहचर्याद् रसहरणाद्वा। यथा हि वत्सो मात्रा सह चरत्येवं सूर्य उषसा सह। यथा वा वत्सो मातुरूधसः पय आख्यं रसं पिबन्नपहरति, एवं सूर्य उषसोऽवश्यायाख्यं रसमुदितो रश्मिभिः शोषयन्नपहरति। अतोऽसावस्या वत्स उच्यते। **रुशद्वत्सा** रुशन् दीप्तः सूर्याख्यो वत्सो यस्याः सा, **रुशती** दीप्यमाना, **श्वेत्या** उषसो नामैतत्, उषा **आगात्** उद्गता, **आरैक्** आरेचितवती, **उः** पदपूरणः। **कृष्णा** तमःसम्बन्धात् कृष्णवर्णा रात्रिः, **सदनानि** स्थानानि, **अस्याः** उषसः। नह्यनारेचितस्थानायाः सम्भवत्यस्या उदयः। उत्तरोऽर्धर्चः सहैते स्तौति **समानबन्धू,** समानो बन्धुर्ज्ञातिः सूर्यो ययो रात्र्युषसोः, रात्रेः पिता जनकत्वात्, उषसः पुत्रो जन्यत्वात्। अथवा बन्धनाद् बन्धुः सूर्यः, तेन ह्यस्तमयेन रात्रिर्बद्धा संश्लिष्टा, उदयेनोषाः। अतस्ते तेन समानबन्धने। **अमृते** अमरणधर्माणौ, न हि ते म्रियेते। **अनूची** अनुगते परस्परवशवर्तिन्यौ संबद्धे चेत्यर्थः। **द्यावा** दीप्यतेर्द्योतनार्थस्येदं रूपम्, स्वेन स्वेन तेजसा दीप्ते। अथवा द्यावेति दिवः पर्यायस्तृतीयैकवचनान्तः, तच्छतेश्च क्रियापदाध्याहारः, दिवा सह महत्त्वादिना स्पर्धमानेऽनुगृह्यमाणे वा स्वात्मनि तमसो ज्योतिषश्चावकाशप्रदानेन, **वर्णं** कृष्णं शुक्लं **चरतः** प्राप्नुत इत्यर्थः। **आमिनाने** आङीषदर्थे मिनोतिर्हिंसाकर्मा, ईषद् हिंसन्त्यावित्यर्थः। किम्? सन्निधेर्वर्णमेव परस्परस्याः, रात्रिर्हि कियताप्यनुगतेन स्वेन तमसा वर्णेन ईषदुषसो वर्णं हिनस्ति, एवं उषा अपि रात्रेः स्वेन ज्योतिषा।

अथवा **आमिनाने** इत्याकारोऽप्यर्थे, मिनोतिरपि करोत्यर्थे। **वर्णं** विकुर्वाणे। कस्य? प्रकृतत्वाद् दिव एव, परस्परस्य वा। **श्वेत्या** श्वेततेः, श्वेतो वर्ण इति वर्णसामान्यम्, सामर्थ्याद् दीप्तिमच्छुक्लवर्णविशेषविषयं द्रष्टव्यम्। उषसि कथा दर्शनात्। कृष्यतेरपकर्षार्थस्य।

उष: सम्बन्धादनन्तरमहर्नामानि वस्तोरित्यादीनि द्वादश। वस्तोरितीदृशमेवेदं नाम, न विभक्त्यन्तम्। **'दोषा वस्तोर्हविष्मती'** (ऋ०७.१.६) **'दोषा वस्तोर्वहीयस: प्रपित्वे'** (ऋ०१.१०४.१) इति च समस्तस्यापि दर्शनात्। वस्तो: ज्योतिरिति वस्तो:। द्योतत इति द्यौ:। एवं सर्वत्र। उपाहरन्त्यनुतिष्ठन्त्यस्मिन् कर्माणि, न तु रात्रावपि कुर्वन्त्येव कर्मकारा:। अत एवोभयत्र रूढिं दर्शयति, न चायं रूढिषु दोष:। **'अहानीव सूर्यो'** (ऋ०८.४८.७) इति दिवसवचनं रात्र्या सहैव निर्दिश्यते। तस्याह:शब्दस्यैष निपातो नैघण्टुकत्वेन वैश्वानरदेवतायामृचि। प्रसङ्गाच्चोभयवृत्तित्वं दर्शितं भवति। अर्थाद्दिनाच्च विभाग:।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य विंश: खण्ड:

अथैकविंश: खण्ड:।

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभि:। वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ (ऋ०६.९.१) अहश्च कृष्णं रात्रि:। शुक्लं चाहरर्जुनम्। विवर्तेते रजसी विद्याभिर्वेदितव्याभि: प्रवृत्तिभि:। वैश्वानरो जायमान इव। उद्यन्नादित्य:। सर्वेषां ज्योतिरपां राजा। अवाहन्नग्निर्ज्योतिषां तमांसि। मेघनामान्युत्तराणि त्रिंशत्। मेघ: कस्मात्? मेहतीति सत:। आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभि:। उपर उपलो मेघो भवति। उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि। उपरता आप इति वा। तेषामेषा भवति॥२१॥

भाष्यटीका

अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च वि वर्तेते रजसी वेद्याभि:।

वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ (ऋ०६.९.१)

भरद्वाजस्यार्षम्। आद्योऽत्राह: शब्दो रात्रिवचन:। कुत एतत्? **कृष्णमि**ति विशेषणात्। रात्रेश्च तम: सम्बन्धात् कृष्णत्वम्। **अहरर्जुनञ्चे**ति, अर्जुनशब्दो रूपनाम, कृष्णप्रतियोगित्वेनोपादानात्। शुक्लमत्र रूपमाह न यत्किञ्चित्। शुक्लपर्याय एव वार्जुनशब्द:। कृष्णञ्चाह: शुक्लञ्च, रात्रिश्च दिवसश्चेत्यर्थ:। किं कुरुत:? उच्यते, **विवर्तेते** विशब्दोऽत्र विविधवचन:, असहायार्थो वा। विविक्ते वर्तेते, उपजायेते क्रमेण वा न सह। यदा रात्रिर्न तदाह:, यदाहर्न तदा रात्रि:। **रजसी** यथाकालं स्वेन तमसा ज्योतिषा च रञ्जके भूतानाम्। **वेद्याभि:** स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् प्रवृत्तिभिरिति वाक्यशेष:, तृतीयानिर्देशाच्च युक्ते इति। वेदितव्याभि: प्रवृत्तिभिर्युक्ते। कस्य प्रवृत्तिभि:? सामर्थ्यादनयोरेव। कथं पुनरेतत् प्रवृत्तीनां वेदितव्यत्वम्? उच्यते, आनन्त्याद् वैचित्र्याद्वा। अवश्यं तदेकरूपत्वं विदितत्वान्न वेदितव्यम्। यत्त्वनन्तं विचित्रं वा तदेकस्मिन् विदितेऽन्यदविदितमस्त्येवेति सर्वदैव वेदितव्यम्। अहोरात्रयोश्च प्रवृत्तयोऽनन्ता विचित्राश्च। अतस्ता वेदितव्या:।

अथवा शुभेषु कर्मसु या: प्राणिनां प्रवृत्तय:, ता अत्र शोभनत्वाद् वेद्या इत्युच्यन्ते। सहयोगलक्षणा च तृतीया। वेदितव्याभि: प्राणिप्रवृत्तिभि: सह विवर्तेते इति। सूक्तस्य वैश्वानरीयत्वात् केवलस्य चार्धर्चस्य वैश्वानरस्तुत्यर्थस्यासम्भवात्। उत्तरार्धर्चेनैकवाक्यताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। ये शुक्लकृष्णे अहनी

विवर्तेते, तयोर्द्वयोरपि **वैश्वानरो जायमानो न राजा**। जन्मात्रोदयोऽभिप्रेतः। राजेति आदित्यार्थ उच्यते, सर्वभूतानां राजा आदित्यः, दीप्तत्वात् सर्वेषां ज्योतिषामधिपत्वाच्च। उद्यन्निवादित्यार्थः। **अवातिरत्** अवतिरतिर्वधकर्मा, अपहन्ति अपनयति, स्वेन **ज्योतिषा तमांसि** दिवा, **एवमग्निः** रात्रौ अपहन्ति।

अहोरात्राधारत्वादनन्तरं **मेघनामान्युत्तराण्यहर्नामभ्यस्त्रिंशत्** अद्रिः, ग्रावा, इत्यादीनि। **मेहति** सिञ्चति। **आ उपर उपल** इत्यादि, आङभिविधौ मर्यादायामित्यन्ये, विनोपरोपलाभ्यां साधारणानीत्यर्थः। आ उपरादीनीति वक्तव्ये उभयोरुपादानं रलयोरविशेषत्वप्रदर्शनार्थम्। एकयोगक्षेमञ्चाङ्गीकृत्याह–**उपर उपलो मेघो भवती**ति। वक्ष्यमाणनिगमापेक्षायोपलशब्दस्य च पाषाणे प्रसिद्धतरत्वात् **'एषामुपरः स्थविष्ठो मध्यमः'** इति तत्संघातश्च सर्वत उपलशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्ध एवेति मेघग्रहणं कृतम्। मर्यादापक्षस्य च मेघग्रहणमेव लिङ्गमिति, उत्तराणि मेघस्यैवेति। यदा पर्वतस्तदा–**उपेत्य रमन्तेऽस्मिन्नभ्राणीति।** मेघपक्षे **आप** इति अभिविधिपक्ष इदं निर्वचनमिति भाष्यकाराभिप्रायः। इतरत्र वृत्त्यभावादेव रमिश्च तिष्ठत्यर्थे, तिष्ठन्ति संहन्यन्ते वा। तेषां मेघानामुपरशब्दवाच्यत्वे एषा ऋक्। पर्वतनामत्वेऽन्वेष्या।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य एकविंशः खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

दे॒वाना॒ं माने॑ प्रथ॒मा अ॑तिष्ठन् कृ॒न्तत्रा॑देषा॒मुप॑रा॒ उदा॑यन्। त्रय॑स्तपन्ति पृथि॒वीम॑नू॒पा द्वा बृबू॑कं वह॒तः पुरी॑षम्॥ (ऋ०१०.२७.२३) देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। कृन्तत्रमन्तिरिक्षम्। विकर्तनं मेघानाम्। विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः। पर्जन्यो वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति। अनूपा अनुवपन्ति। लोकान्त्स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव। अनूप्यत उदकेन। अपि वान्वाबिति स्यात्। यथा प्रागिति। तस्यानूप इति स्यात्। यथा प्राचीनमिति। द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्। वाय्वादित्या उदकम्। बृबूकमित्युदकनाम। ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा। पुरीषं पृणातेः। पूरयतेर्वा॥ २२॥

भाष्यटीका

दे॒वाना॒ं माने॑ प्रथ॒मा अ॑तिष्ठन् कृ॒न्तत्रा॑देषा॒मुप॑रा॒ उदा॑यन्।

त्रय॑स्तपन्ति पृथि॒वीम॑नू॒पा द्वा बृबू॑कं वह॒तः पुरी॑षम्॥ (ऋ०१०.२७.२३)

वसुक्र आह-**देवानां** दानादिगुणयुक्तानां **माने** निर्माणकाले सृष्टावित्यर्थः। **प्रथमाः** स्रष्टव्यत्वेन **अतिष्ठन्** स्थिताः, प्रथमं तावदेते प्रजापतिना सृष्टा इत्यर्थः। के? मेघाः। कुत एतत्? परस्मिन् पादे तेषामन्वादेशात्। भाष्ये मेघा एव **'माध्यमिका देवगणाः'** (निरु०२.२२) इत्युक्तम्। कस्मात् कारणात् प्रथमं सृष्टाः? उच्यते। यस्मात् **कृन्तत्रात्** कर्तनात्, **एषामुपराः** षष्ठ्यर्थे प्रथमा, एषामुपराणां मेघानाम्, **उदायन्** उद्गच्छन्ति। कानि? सामर्थ्याद् वृष्टिलक्षणान्युदकानि, तदधीना च सृष्टानां देवादीनां स्थितिरिति स्थित्यर्थं प्रथमं मेघाः सृष्टाः।

अथवा **देवानामिति** निर्धारणे षष्ठी (अष्टा०२.३.४१)। निर्माणमपि सृष्टेर्गृह्यते, तिष्ठतिरपि व्यापारार्थे। **'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः'** (चा०नी०१.२) इति। यथा देवानां मध्ये ये प्रथमा उत्कृष्टा माध्यमिका देवगणा मरुदादयः, ते वृष्टेर्निर्माणे उत्पादने **अतिष्ठन्** तिष्ठन्ति व्याप्रियन्त इत्यर्थः। व्याप्रियमाणेषु च तेषु **कृन्तत्रादेषाम् 'कर्तृकर्मणोः कृति'** (अष्टा०२.३.६५) इत्येवमेषा कर्तरि षष्ठी। एतत्कर्तृकं यद् विकर्तनं तस्माद्धेतोः, **उपराः** मेघाः, **उदायन्** एतेरन्तर्नीतण्यर्थस्येदं रूपम्, उद्गमयन्ति उदकं जनयन्तीत्यर्थः।

जनिते च तस्मिन् **त्रयः** पर्जन्यो वायुरादित्यः इत्येते स्वेन स्वेन व्यापारेण पर्जन्यो वर्षेण, वायुः शीतेन, आदित्य उष्णेन **तपन्ति** संतापयन्ति पाचयन्तीर्थः। **पृथिवीम्** तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्, पृथिवीस्था ओषधीः, **अनूपाः** आनुपूर्व्येण ये वपन्ति प्रकिरन्ति वर्षादीनि ते अनूपाः, पाचितासु चौषधीषु **द्वा** द्वौ वाय्वादित्यौ **बृबूकमुदकं** आदित्यमण्डलं प्रति **वहतः** प्रापयतः, वायुः शोषयन्, आदित्यो रश्मिभिराददानः। **पुरीषम्** प्रीणनं पूरणसमर्थं वा बह्वित्यर्थः। प्रतमः प्रकृष्टतमः।

सारूप्यप्रसक्तमनूपशब्दं निराह-**अयमपीत्यादि**। **इतरो** नदीकक्षः समुद्रकक्षो वा देशविशेषोऽनूप उच्यते। वपेरेव, अनूप्यतेऽनुप्रकीर्यतेऽनुगृह्यते उदकेन। अपि वा भूयोऽवयवानुग्रहादनुपूर्वादाप्नोतेरनूपः। स ह्यनुसंव्याप्यत उदकेन। आप्नोतेश्च क्विपि अन्वाप्, अच्प्रत्ययः, अन्वाबेव शब्दोपजनेनानूपः, यथा प्राक् एव शब्दोपजनेन प्राचीनः। वैयाकरणानां तु अनूपशब्दः **'ऊदनोर्देशे'** (अष्टा०६.३.९८) इति समासान्तव्युत्पत्त्या। प्रागित्यञ्चेर्लुक् प्राचीनमिति। **'विभाषाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्।'** (अष्टा०५.४.८) इति खः प्रत्ययः। त्रयाणां मध्ये द्वयोर्व्यापारातिरेकः कथ्यते। द्वौ वाय्वादित्याविति। पठ्यमानस्यैव व्युत्पत्तिः। **ब्रवीतेः** शब्दार्थस्य। तद्विपतत् साकारशब्दं करोति। **भ्रंशतेर्वा** (धा०४.११५), तदावरणत्वात्। उभयस्माद्वा, मेघेभ्यो भ्रश्यते शब्दवच्चेति। उपजनादयोऽपि द्रष्टव्याः। पूरयतेर्वा इति धातुभेदमात्रम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य षष्ठः पादः।

द्वाविंशश्च खण्डः समाप्तः॥

॥अथ सप्तमः पादः॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात्? वचेः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद् यद्देवतावदुपरिष्टात् तद्व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत्॥ २३॥

भाष्यटीका

वाङ्नामानीत्यादि उत्तराणि सप्तपञ्चाशत्, श्लोक इत्यादीनि। उच्यतेऽनेनेति वागिन्द्रियम्। तत्कार्यं शब्दोऽपि उच्यते इति वाक्। उच्यतेऽनयार्थ इति वा वाक्। स्तनयित्नुलक्षणा माध्यमिका सापि उच्यत इति वाक्। तदधिष्ठात्र्यपि देवता वागिष्यते। सर्वस्याश्च तस्या मेघहेतुत्वात् मेघनामभ्यः पराणि सप्तपञ्चाशत् श्लोक इत्यादीनि नामानि। सा च **कस्माद्** धातोर्वाक्? **वच** धातोः, यथोक्तसाधना।

तत्र तेषु वाङ्नामसु **सरस्वती** इत्येतदभिधानम्, तस्य **नदीवद् देवतावच्च निगमाः**। **'तत्र तस्येव'** (अष्टा०५.१.११६) इति वतिः। प्रसिद्धनदीलिङ्गयोगात् नद्या इव, प्रसिद्धदेवतालिङ्गयोगाच्च क्वचिद्देवताया इव निगमा दृश्यन्ते। अर्हे वा वतिः। नदीमर्हन्ति, तल्लिङ्गयुक्ता इत्यर्थः। एवं देवतामर्हन्तीति। सोऽयमुभयसाधारणः सरस्वतीशब्दः। तस्य **यद्देवतावन्निगमजातं तदुपरिष्टात्** द्वादशे **'पा॒व॒का न॒ः सर॑स्वती'** (ऋ०१.३.१०) इत्यत्र व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत्। अथैतदनन्तरं नदीवत्।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

इ॒यं शुष्मे॑भिर्बिस॒खा इ॑वारुज॒त् सानु॑ गि॒री॒णां त॑वि॒षेभि॑रू॒र्मिभि॑ः। पा॒रा॒व॒त॒घ्नीमव॑से सु॒वृ॒क्तिभि॑ः सर॑स्वती॒मा वि॑वासेम धी॒तिभि॑ः॥ (ऋ०६.६१.२) इयं शुष्मैः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम। शोषयतीति सतः। बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः। वृद्धिकर्मणो वा। सानु समुच्छ्रितं भवति। समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीं पारावारघातिनीम्। पारं परं भवति। अवारमवरम्। अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम। उदकनामान्युत्तराणि सप्तविंशत्। नद्यः कस्मात्? नदना इमा भवन्ति, शब्दवत्यः। बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तत्रेतिहासमाचक्षते। विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजनवस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा। अमिश्रीभावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव। गाधा भवतेति। अपि द्विवत्। अपि बहुवत्। तद्यद् द्विवदुपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथैतद् बहुवत्॥ २४॥

भाष्यटीका

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।

पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥ (ऋ०६.६१.२)

भरद्वाजस्यार्षम्। यद्यपि चेयं सारस्वतस्य पशोः षड्ऋचे। **'आ नो दिवो'** (ऋ०५.४३.११) **'पावीरवी'** (ऋ०१०.६५.१३) **'इमा जुह्वाना'** (ऋ०७.९५.५) **'यस्ते स्तनः'** (ऋ०१.१६४.४९) **'सरस्वत्यभि नो नेषि'** (ऋ०६.६१.१४) **'इयं शुष्मेभिः'** (ऋ०६.६१.२) इत्युत्तमा याज्या पठिता, तया देवता इज्यते। तथापि चोदनाप्रकरणात् देवतात्वम्, ऊर्मिभिः पारावतघ्नीम् इति नदीरूपत्वलिङ्गात्। प्रकरणाच्च लिङ्गं बलवत् इति भाष्यकाराभिप्रायः। अतो नदीरूपेणानेन सरस्वती स्तूयते-**इयम्** सरस्वती, **शुष्मेभिः** बलनामैतत् सामर्थ्याच्चान्तर्नीतमत्वर्थम्, ऊर्मिविशेषणम्-बलवद्भिः। **बिसखा इव** यथा बिसानां खादको मृदुत्वात् हिनस्ति, एवमियम**रुजत्** रुजो भङ्गे, भनक्ति। किम्? **सानु गिरीणाम्** समुच्छ्रितं प्रदेशं पर्वतानाम्, शिखरमित्यर्थः। केन? **तविषेभि**र्महद्भि**रूर्मिभिः**, उदकस्य चैवंरूपत्वम्। तां **पारावतघ्नीम्** परस्यापरस्य च कूलस्य हन्त्रीम्। **अवसे** उदकेन तर्पणाय पालनाय वात्मनः। **सुवृक्तिभिः वृजी वर्जने** (धा०२.१९), सुष्ठु वर्जिताभिर्दोषैः। **सरस्वतीमाविवासेम** विवासतिः परिचर्यायाम्, परिचरेम। **धीतिभिः** कर्मभिः स्तुत्याख्यैः स्तुतिभिरित्यर्थः।

परस्य सांयोगिकं विशेषयति उपक्षपयतीत्यर्थः। बिस्यतिर्गतिकर्मसु पठ्यते तस्येदं भेदनार्थस्य रूपम्, अखेदं हि तद् भिद्यतेऽनेन भक्षणेन। वर्धयति वा पुष्णाति तद् भक्षयितारम्। **सानु समुच्छ्रितम्**-इति अन्तर्भूतक्रियं निर्वचनम्, समुदद्व्युपसर्गश्चायम्, समो मकारस्यात्वमुदो व्यत्ययेन दकारस्य नकारः। क्रियाविशेषस्तूपसर्गाभ्यामेवोपात्तः। **समुन्नमिति वा** नुदेः प्रेरणार्थस्यान्तर्भाव इत्यर्थः। संहत्योर्ध्वं श्रितं प्रेरितञ्चेत्यर्थः। **अवारमवरं** कूलमवरं सदवतम्, रेफस्य तकारापत्त्या। एवं तावन्नदीरूपेणाभिधानम्। यदा लिङ्गादपि विनियोजकश्रुतिबलीयस्त्वात् याज्ञिकपक्षे देवताभिधानम्, तदा नद्या अधिष्ठात्री सरस्वतीत्युच्यते। तुल्यं निर्वचनम्। माध्यमिकाभिधानपक्षे गिरयो मेघाः, ऊर्मयः स्तनयित्नवः, पारावते द्यावापृथिव्यौ। हन्तिर्गतिकर्मा। गमनेन पूरणं लक्ष्यते। द्यावापृथिव्यौ शब्देन पूरयित्रीम्। शेषं समानम्। विभूनामत्र पदानामनेकाभिधानसामर्थ्ये सति प्रकरणशोऽर्थविभागः कल्प्यः।

मेघेभ्यो वाक् तदनन्तरमुदकमिति वाङ्नामभ्य **उत्तराण्युदकनामानि एकशतम्**। अर्णः क्षोद इत्यादीनि। उन्देरुदकम्। उदकसम्बन्धादेभ्य **उत्तराणि नदीनामानि सप्तत्रिंशत्**, अवनयो यह्व्यः इत्यादीनि। नदन्तीति **नदनाः**, अस्यार्थोपपत्तिवचनम्, **शब्दवत्य** इति प्रसङ्गेनोच्यते, मन्त्रस्वभावकथनार्थम्। **बहुलं** प्रायेण, **आसां** नदीनाम्, **नैघण्टुकं** वृत्तं प्रयोगदर्शनं निगमेषु **आश्चर्यमिव प्राधान्येन** यथाऽन्यदाश्चर्यमनित्यं कादाचित्कत्वात्, एवं प्राधान्येन दर्शनमासां प्राधान्यमन्त्रोदाजिहीर्षया।

तत्सम्बन्धार्थमाख्यानं तावत् प्रस्तौति- **विश्वामित्र ऋषि**रित्यादि, निगदव्याख्यातम्। ऋषावभिधेये विश्वामित्रे **'मित्रे चर्षौ'** (अष्टा०६.१.१३०) इति दीर्घत्वम्। **सर्वमित्र** इत्यर्थकथनम्। सर्वशब्दनिर्वचनम्-**सर्वं संसृतं** सङ्गतम्, अपृथग्भूतमित्यर्थः। **सुदाः** सुष्ठु पात्रेभ्यो ददाति। **पिजवनः** सम्पदा जवस्य शैघ्र्येण च स्पर्धनीयजवः। अथवा न मिश्रीभावो गतेः, अतिशयवतः शैघ्र्यात् तस्य, न केनचित्सह गतः पूर्वम्। **स** विश्वामित्रः पौरोहित्येन लब्धधनः, वित्तमिति धननाम, धनं गृहीत्वेत्यर्थः।

अथवा **स** इति पैजवनस्य निर्देशः। पौरोहित्येन वृतं विश्वामित्रं गृहीत्वेत्यर्थः। **सम्भेदं** सङ्गमं तयोरेव, सिन्ध्वाद्याभिर्वा नदीभिः सह। **इतरे** धनस्य वोढारो विश्वामित्रस्यानुचराः, तस्करा वा। पिजवनपक्षे सैनिकाः। **गाधोदका भवतेत्येवमर्थं द्विवदपि बहुवदपि तुष्टाव।** अर्हे वतिः। राजवद् राजसिंहस्य इति यथा। **द्विवदुपरिष्टाच्चतुर्दशे** (निरु०९.३९), **'प्र पर्वतानाम्'** (ऋ०३.३३.१) इत्यत्र व्याख्यास्यामः। अनन्तरं बहुवत्।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंशः खण्डः।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहुर्तमेवैः। प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥ (ऋ०३.३३.५) उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने। ऋतावरीर्ऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम। प्रत्यृतं भवति। मुहुर्तमेवैरयनैरवनैर्वा। मुहुर्तो मुहुर्ऋतुः। ऋतुरर्त्तेर्गतिकर्मणः। मुहुर्मूढ इव कालः। यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेः। प्रक्ष्णुतः कालः। कालः कालयतेर्गतिकर्मणः। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वावनाय। कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः। क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणः। साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा। नद्यः प्रत्युचुः॥२५॥

भाष्यटीका

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥ (ऋ०३.३३.५)

उपोपसर्गो रमिणा सम्बध्यते, तत्पूर्वकश्च रमिरुपसंहारे वर्तते। **उपरमध्वं** महतो वेगादगाधोदकत्वाच्च। **मे वचसे** मम वचसः, **सोम्याय** सोमसम्पादिनोऽर्थाय। उत्तीर्य ययतो मम सोमसम्पादिवचनं यथा स्यादित्येवमर्थ-मित्यर्थः। **ऋतावरीः** आमन्त्रितविभक्तेः स्थाने द्वितीया, ऋतमुदकं तेन तद्वत्यः, भूम्नि मतुप् (अष्टा०५.२.९४) इति सूत्रे भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्योगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥ इति भाष्यकारवचनम्, हे बहूदका इत्यर्थः। कियन्तं कालम्? **मुहूर्त्तमेवैः** अवतेर्गत्यर्थस्य रक्षणार्थस्य वेदं रूपम्, **एवैः** मदीयैर्गमनैः रक्षणैर्वा निमित्तभूतैः, मम गमनार्थं वेत्यर्थः।

सामान्येन नदीषूच्यमानासु समीहितं प्रयोजनमकुर्वतीषु प्राधान्याद् विशेषेण सिन्धुमाह-प्राह्वे, अच्छ अभेः स्थाने, प्राभिह्वयामि। **सिन्धुम्।** केन? **बृहती मनीषा,** मनस ईश्वरस्तुतिः प्रज्ञा वा, ततस्तृतीयायाः पूर्वसवर्णः, बृहत्या मनीषया मनस ईषया मनः पूर्विकया महत्या स्तुत्या वा। **अवस्युः** अवः पालनं तदात्मन इच्छतीति क्यच्। **'क्याच्छन्दसि'** (अष्टा०३.२.१७०) इति उः, पालनकामः **कुशिकस्य सुनुः** पितुरपि गौरवान्मम गौरवमेताः कुर्युरिति, अहं विश्वामित्रः।

ऋतमित्युदकनाम, प्रत्यृतं भवति। निम्नं प्रदेशं प्रति गतं भवति। मुहूर्त्तशब्दनिर्विवक्षयाह- **मुहुर्ऋतुरिति।** प्रविभागार्थं विग्रहप्रदर्शनम्, उकारेण ऋकारस्य व्यापत्तिः, रपरत्वञ्च। इदानीं विग्रहप्रसक्तमृतुं निराह- **अर्तेर्गतिकर्मणः।** ऋच्छत्यसावित्यृतुः कालः। मुहुः शब्दं निराह- **मूढ इव कालः,** अल्पत्वान्न शक्य उपलक्षयितुमहरादिवदिति। **यावदभीक्ष्ण**मिति तावन्मुहुरिति पर्यायवचनम्। अभीक्ष्णमाह-**अभिक्षणं भवतीति** शब्दसमाधिः। क्षणमात्र-व्यापीत्यभिक्षणम्। **क्षणः** पुनः **क्षिणोतेर्हिंसार्थस्य** (धा०८.३, क्षणोतेः इति पाठो युक्तः स्यात्)। तदर्थः क्ष्णौतिना प्रदर्श्यते, **प्रक्ष्णुतस्तनुः,** सूक्ष्मोत्पन्नत्वात् क्षीण इव लक्ष्यते। **कालः** पुनः **कालयतेर्गत्यर्थस्य** (धा०१०.३३४)। गमयत्यसौ सर्वतो भूतानि विनाशयतीत्यर्थः।

कुशिको राजा-इत्यभिधेयवचनम्। **क्रोशतेः** शब्दार्थस्येति निर्वचनम्। विहितं कुरुत प्रतिषिद्धं माकार्ष्ट इत्येवं सर्वदा शब्दं करोत्यनुशास्तीत्यर्थः। **क्रंशतेर्वा प्रकाशयत्यर्थस्य,** विख्यातो ह्यसौ। न च क्रंशतिरस्मिन्नर्थे दृष्टः, एतदनेनाचष्टे शब्दानुरूप्येणापि निरुक्तधातवोऽर्थप्रविभागार्थं विकल्प्यन्त इति स्थाने दधत्। **साधुविक्रोशी** विक्षेप्ताऽर्थानाम्। अथवा न्यायेन विविधार्थानां संचयो विकोशः, तेन तद्वान्। वाहार्थानां विकोशयिता। इत्थं प्रधानस्तुतिर्नदीनाम्। ता एवमुक्ता **नद्यस्तं प्रत्यूचुः।**

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रदद् वज्र॑बाहु॒रपा॑हन् वृ॒त्रं प॑रिधिं न॒दीना॑म्। दे॒वोऽनयत् सविता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑सवे या॑म उ॒र्वीः॥ (ऋ०३.३३.६) इन्द्रोऽस्मानरदद् वज्रबाहुः। रदतिः खनतिकर्मा। अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत् सविता। सुपाणिः कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। ऊर्व्य ऊर्णोतेः, वृणोतेरित्यौर्णवाभः। प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः॥ २६॥

भाष्यटीका

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रदद् वज्र॑बाहु॒रपा॑हन् वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म्।

दे॒वो॑ऽनयत्सवि॒ता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑स॒वे या॑म उ॒र्वीः॥ (ऋ०३.३३.६)

इन्द्रोऽस्मानरदत् अखनत्। **वज्रबाहुः** बाहुनात्र हस्तो लक्ष्यते, वज्रहस्तः। कथमखनत्? उच्यते, **अपाहन् वृत्रं** हतवान् मेघम्। **परिधिं नदीनाम्** सर्वतो निहितं शब्दकारिणीनामपाम्। तस्मिन् हते आपः पतिताः, ताभिर्गच्छन्तीभिर्वयं खाताः। एवं मेघहननद्वारेणास्मानखनत्। न चाखनदेव केवलम्। किन्तर्हि? **देवो** मेघहननद्वारेणानयदपि। **सविता** सर्वस्याभ्यनुज्ञाता। **सुपाणिः** सुहस्तः। यत एवमस्माकं खनिता समुद्रं नेता च, अत उत्पत्तेः स्थितेश्च कर्तृत्वात् **तस्य वयं प्रसवे**ऽभ्यनुज्ञायां वर्तमाना इति शेषः। तेनानुज्ञाता इत्यर्थः। **यामो** गच्छामः। **उर्वीः** उर्व्यो विस्तीर्णाः। न तव वचनादुपरमामहे। **प्रगृह्य पाणी** संयतौ कृत्वा इत्यञ्जल्यभिप्रायः। उर्व्यो विभक्तिविपरिणामात्। **ऊर्णोतेरित्यादि** शब्दनिर्वचनम्। **वृणोतेरि**ति धात्वन्यत्वम्। छादनार्थत्वञ्च विशिष्टम्।

इत्थं प्रात्याख्याय तद् विश्वामित्रवचः।

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।

नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधो अक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः॥ ((ऋ०३.३३.९)

ओ सु इति पदपूरणौ। हे **स्वसारः**! भगिन्यः, **कारवे** स्तोत्रे, **शृणोत** शृणुत। **ययौ वः** युष्मान्, **दूराद** विप्रकृष्टात्, **अनसा** शकटेन, **रथेन** चात्मना। **नि सू नमध्वम्** सुः पादपूरणः, निनमध्वम्। **भवता सुपाराः**, शोभानपाराः, **अधो अक्षाः**, हे **सिन्धवो** नद्यः, **स्रोत्याभिः** रसनदनैः सह भवत। सूक्तस्यान्तत आशुश्रुवुः। तथेति प्रतिज्ञातवत्यः।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन। नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥ (३.३३.१०) आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा च रथेन च निननाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्। मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय। निनमा इति वा। अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामद्य उत्तराणि बहुवत्। अश्वः कस्मात्? अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा। तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा। दधत् क्रन्दतीति वा। दधदाकारी भवतीति वा। तस्याश्ववद्देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदुपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथैतदश्ववत्॥ २७॥

भाष्यटीका

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥ (ऋ०३.३३.१०)

आशृणवाम आभिमुख्येन शृणुमः कुर्म इत्यर्थः। हे **कारो**! स्तोतः, **ते** तव **वचांसि। ययाथ, दूरात्** दूरत आगतोऽसि, यतो दूरं वा यावद्गृहमित्यर्थः। यद्वा दूरं निनमतेति सम्बन्धात् सुनमध्वम्। कुत एतत्? पूर्वस्यामृचि **'नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधो अक्षाः'** इति तद्विशेषणश्रुतेः। अवियुक्तेनैव **अनसा** शकटेन लब्धस्य धनस्य पूर्णेन **रथेन** च यानेनात्मनः, **नि ते नंसै** नमेरिदं लोटि रूपम्। लोटि नास्ति सि बाहुलकत्वात्। अतो भाष्यकार आह **निनमाम** इति। एकवचनञ्चात्र बहुवचनस्य स्थाने। **ते** तवार्थाय, नीचैर्नमाम। अवियुक्तेन वानसा यातुं प्रह्वीभवाम मन्दवेगा गाधोदकाश्च भवामेत्यर्थः। **पीप्यानेव योषा** यथा स्तनं पाययन्ती स्त्री पुत्रं तस्यार्थाय प्रह्वीभवति। यथा वा **मर्यायेव** मनुष्यस्य पितुर्वाऽर्थाय, **कन्या** कुमारी कन्यला, **शश्वचै ते** स्वजेरेतद् रूपम्, परिष्वजनार्थं प्रह्वीभवेत् तथा वयमपीति। ते तवार्थायेत्युक्तार्थम्।

नित्यपक्षे प्रावृषि प्लावितोभयकूला नदी: सर्वमित्रो भगवानादित्योऽध्येषतीव **रमध्वं म** इत्यादि। देशप्लवनं माकार्ष्ट, यज्ञानां संव्यवहार्या भवतेति जगतः पालनकामः। क्रंशतेः, औषसः प्रकाशः कुशिकः, कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहमादित्यः, तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः।

एवमुक्ता नद्यस्तं प्रत्यूचुः इद्रो अस्मानिति। समानं पूर्वेण। एवं प्रावृषि प्रवृद्धोदकाः प्रत्याख्यायैनं तदर्थानामन्ते वर्षाणां शरदि प्रत्यहं तारतम्येन क्षीयमाणोदका आशुश्रुवुः, तदर्थानां कृतवत्य इत्यर्थः। **आ ते कारो ययाथ** इति मध्यमः प्रथमपुरुषस्य स्थाने, यान्तु सर्व एव जनाः। निनमाम ते तवार्थाय। शिष्टं समानम्।

अप्सु जातो योनिर्वा अश्व इत्यप्सम्बन्धेनैव नदीनामभ्य पराण्यश्वनामानि **षड्विंशतिः**। तेषां मध्ये अष्टावुत्तराणि बहुवचनान्तानि- **अव्यथय** इत्यादीनि। तत्त्वकथनमसन्देहार्थम्। तानि चेत् समानकर्माणीत्याद्यनु-सन्धेयम्। श्येनादयोऽप्यर्थान्तरे दृश्यन्ते।

अश्वं निराह-**अश्नोतेः**, व्याप्नोति ह्यध्वानमन्येभ्यः शीघ्रम्। **महाशनो वा**। तत्र तेष्वश्वनामसु दधिक्रा इत्येतद्देवतया सन्दिह्यते। तद्विवेकार्थं किञ्चिद् विनष्टधातुप्रातिपदिकावयवप्रदर्शनार्थञ्चोपन्यस्तम्। अस्य निर्वचनम्- **दधत्** धारयन् सादिनं साधीयः **क्रामति**। दधत् **क्रन्दति** हर्षात् हेषारवं करोति। **दधदाकारी भवति** अधिष्ठित ईषदवनतमध्यभागः, उद्धतकन्धरः, कुञ्चितघोणः, स्तिमितचक्षुः, कर्णशुक्तिश्चाकारो भवति।

तस्याश्ववद्देवतावच्च निगमा भवन्ति। उक्तो वत्यर्थः। **तद्यद्देवतावत् तत्** पञ्चदशे (निरु०१०.३१) **व्याख्यास्यामः, 'आ द॑धि॒क्राः'** (ऋ०४.३८.१०) इत्यत्र। अनन्तरमेतदश्ववद् व्याख्यायते।

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथाष्टाविंशः खण्डः।

उ॒त स्य वा॒जी क्षि॑प॒णिं तु॑रण्यति ग्री॒वायां॑ ब॒द्धो अ॑पि क॒क्ष आ॒सनि॑। क्रतुं॑ दधि॒क्रा अनु॑ सं॒तवी॑त्वत्प॒थामङ्कां॒स्यन्वा॒पनी॑फणत्॥ (ऋ०४.४०.४) अपि स वाजी वेजनवान्। क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्। ग्रीवायां बद्धः। ग्रीवा गिरतेर्वा। गृणातेर्वा। गृह्णातेर्वा। अपि कक्ष आसनीति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः कर्म वा प्रज्ञां वा। अनुसंतवीत्वत्। तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। पथमङ्कांसि पथां कुटिलानि। पन्थाः पततेर्वा। पद्यतेर्वा। पन्थतेर्वा। अङ्कोऽञ्चतेः। आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्॥ दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय। ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव एकादश तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि॥२८॥

भाष्यटीका

उ॒त स्य वा॒जी क्षि॑प॒णिं तु॑रण्यति ग्री॒वायां॑ ब॒द्धो अ॑पिक॒क्ष आ॒सनि॑।

क्रतुं॑ दधि॒क्रा अनु॑ सं॒तवी॑त्वत्प॒थामङ्कां॒स्यन्वा॒पनी॑फणत्॥ (ऋ०४.४०.४)

वामदेवस्यार्षम्। अपि स वाजी वेजनवान् कम्पनवान्, कम्पिता वा स्वयं कम्पयिता वा परेषामित्यर्थः। **क्षिपणिं** क्षेपणं प्रेरणम्। द्वितीयाश्रुतेः कर्मप्रवचनीयोऽनुशब्दोऽध्याहार्यः। प्रेरणमनु अश्वारोहणपार्ष्ण्या प्रेरितः

सन्नित्यर्थः। **तुरण्यति** त्वरते:। किञ्च **ग्रीवायां बद्धो** रुरुचक्रेण। **अपिकक्षे** अपीति संसर्गमाह, कक्षेण यः संसृष्टः प्रदेशः सोऽपिकक्षः। कक्षस्य समीपस्तस्मिंश्च कक्ष्यया। **आसनि** आस्ये च खलीनेन। **क्रतुं** कर्म आत्मीयं शीघ्रगतिलक्षणम्, प्रज्ञां वाश्वारोहस्य। **अनुसन्तवीत्वत्** तनोतेः, तवतेर्वा[1] वृद्ध्यर्थस्येदं रूपम्। अनुसन्तनोति अनुसंवर्धयति वा। **पथामङ्कांसि** अनुशब्दोऽत्राप्यर्थे। **अकि: कौटिल्ये** (धा०१.८२९)। पथां मध्ये ये कुटिलाः पन्थानस्तानपि। **आपनीफणत् फणतिर्गतिकर्मा** (धा०१.८७३), अत्यर्थं गच्छन्।

ग्रीवा गिरत्याहारमनयेति गिरतेः। शब्दं वा **गृणातेः**। गृह्यते वास्यामिति **गृह्णातेः**। **अपिकक्ष आसनीति व्याख्यातं** निगदेन। अनुसन्तनोतीति अनुसन्तवतेः। तनोतिनार्थप्रदर्शनम्। अनुसन्तनोति वेगमविच्छिन्नं सम्पादयति। तवतेः पूर्वया **'पूर्वोऽभ्यासः'** (अष्टा०६.१.४) इत्याभ्यासलक्षणया प्रकृत्या सह, साभ्यासस्य निगम इत्यर्थः। **'तनोतेः'** इति तु पाठे बहूत्प्रेक्ष्यम्। **अङ्कांसि अकि: कौटिल्ये** (धा०१.८२९), कुटिलानीत्यर्थः। **पन्थाः पततेः पद्यतेर्वा** वर्णव्यापत्त्या आकारो नामकरणः। **पन्थतेः** सादृश्यभूयस्त्वम्। सर्वेऽपि गत्यर्थाः। **अङ्कोऽञ्चतेः** कौटिल्यार्थस्येति नैरुक्ताः। **आपनीफणत् 'फण गतौ'** (धा०१.८७३) इत्यस्य चर्करीतवृत्तं यङ्लुगन्तमिति, क्रियाभ्यासविषयमित्यर्थः।

अश्वसम्बन्धेनोच्यते-**दशैतेभ्य उत्तराण्यादिष्टोपयोजनानि**। आदिष्टा निर्दिष्टा, उपयुज्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेत्युपयोजनम्, इन्द्रादिर्देवताविशेषोऽनिर्दिष्टसम्बन्धीत्यर्थः। किं प्रयोजनम्? अनिर्दिष्टदैवतेषु मन्त्रेषु **साहचर्येण** सम्बन्धिनो **ज्ञानाय**। इतिहासपक्षे नैरुक्तपक्षेऽपि पूर्वपक्षापरपक्षौ, अहोरात्रे वा। **हरी इन्द्रस्य,** सोमपानादिक्रिया-साधनभूतत्वात्। रोहितोऽग्नेः।

नित्यपक्षे ज्वाला अश्वाः, व्याप्तिमत्यः, हरितवर्णाः प्रातरादित्यस्य। अश्विकाले रासभवर्णौ, तत्कालोचितेन श्यामलेन वर्णेनोपदेशः। **अजाः**- अजनात्, **पूष्णः** काले रश्मयो गच्छन्ति सर्वतः, प्रावृषि **पृषत्यो** विचित्रा मेघमाला महताम्। उषसः काले तमोरूपा रश्मिमाला गन्त्र्यः। **सवितुः** काले श्यामवर्णा भवन्ति। **'छन्दांसि वै विश्वारूपाणि'** इति बृहस्पतेः। **वायोः** प्रवृत्तौ तृणपर्णपांस्वदेः सञ्चरणान्मिश्रणान्नियुतः।

ज्वलनमैश्वर्य्यम्, तद्वदेवाश्वाद्यभिसम्बन्धेन **ज्वलत्यर्था** भ्राजत इत्यादय **उत्तरे धातव** आख्यातशब्दा **एकादश**।

तावन्त्येवोत्तराणि जमदित्यादीनि **ज्वलतो** दीप्तिमतः सत्त्वस्य नामधेयानि। दीप्त्या भक्षयदिव जमत् अपकालितुमलं कल्मलीकिनम्। जनं पराभावयति शोभयति शब्दानुकरणं वा जञ्जणाभवन्। तमः पापादिमलं मलभावान्नयतीति मल्मलाभवन्। पूर्ववद्वानुकरणम्। मलमलायतेऽग्निरिति। यथाप्रसिद्धमर्चिरादयः शृङ्गाणीति ज्वाला एवोच्यन्ते। अध्यायपरिसमाप्तिसूचनाय सर्वत्राभ्यासः श्रुतौ तथा दर्शनात्।

इत्याचार्यमहेश्वरकृतायां निरुक्तभाष्यटीकायां सप्तमोऽध्यायः

इति सप्तमस्या-(द्वितीयस्या)-ध्यायस्य सप्तमः पादः।

इत्याष्टाविंशः खण्डः सम्पूर्णः।

---

१ (तुरुस्तुशम्यः सार्वधातुके, पा०७.३.९५)

॥अथ तृतीयोऽध्यायः॥

तत्र प्रथमः पादः। प्रथमः खण्डः

कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। कर्म कस्मात्? क्रियते इति सतः। अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। अपत्यं कस्मात्? अपततं भवति। नानेन पततीति वा। तद्यथा जनयितुः प्रजा। एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः॥१॥

भाष्यटीका

ज्वलनकर्मसम्बन्धादाह- **कर्मनामान्युत्तराण्येभ्यः षड्विंशतिः**। अपः, अप्न इत्यादीनि। **क्रियत इति** कर्मणि कारक इत्यर्थः। अनाश्रितविशेषाणाञ्च कर्मणां नामानि सति साधारण्ये, साधारणानि च निर्णेतव्यानि वाक्यार्थवशात्।

कर्मणो हि प्रधानं दृष्टादृष्टार्थत्वादपत्यलक्षणं फलम्, अतस्तदनन्तरमपत्यनामान्याह- **पञ्चदश तुगादीनि।** साधारणत्वाच्चेषां स्त्रीपुंससाधारणेनैवापत्यशब्देनाह-**अपत्यं कस्मात्**? अपेत्य शरीरात् ततम्, शरीरात्मैकदेश इत्यर्थः। अपेत्यमेति क्रियामाक्षिप्य प्रवृत्तः प्रादेशानि विपरिलिखन्तीति यथा तनोतेर्यो नामकरणः। तच्चैतदौरस एव सम्भवति। **नानेन पततीति वा** हेतौ तृतीया। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्'** (ऋ०५.४.१०) इति मन्त्रलिङ्गात्। **'प्रजया पितृभ्यः'** इति ऋणविमोकश्रवणात्। एतच्च क्षेत्रजातिष्वपि संभवतीत्युत्तरः प्रपञ्चः।

किं कृतककृत्रिमकानीनसहोढादिभिर्न पतति, उत औरसेनैवेति? उभयथा स्मरणात् सन्देहः। तत्रान्यपरेण मन्त्रद्वयेन निर्णिनीषया आह-**तद्यथे**त्यादि। तदिति वाक्योपन्यासे। यथा **जनयितुः प्रजा** नान्यस्येत्येवमर्थीये ऋचावुदाहरिष्यामः।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम। न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥ (ऋ०७.४.७) परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यमरणस्य रेक्णोऽरणोऽपार्णो भवति रेक्ण इति धननाम। रिच्यते प्रयतः। नित्यस्य रायः पतयः स्याम पित्र्यस्येव धनस्य। न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति। शेष इत्यपत्यनाम। शिष्यते प्रयतोऽचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति मा नः पथो विदूदुष इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥२॥

भाष्यटीका

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।

न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः॥ (ऋ०७.४.४)

वसिष्ठस्यार्षम्। पुरा वसिष्ठो हतपुत्रः पुत्रं याचमानः कृतकादीनामन्यतमं पुत्रं कुर्वित्यग्निनोक्तस्तं प्रत्याह-हिशब्दो यस्मादर्थे। **परिषद्यम्** सर्वतः सादनीयं नापत्यत्वेनाङ्गीकर्तव्यम्। किं तत्? उच्यते-**अरणस्य** अरण इत्यसम्बन्ध उच्यते, स ह्यपार्णो भवति अपगतो ऋणादित्यर्थः। **'पुत्रो हि ऋणमस्मिन् संनयति'** (ऐत०ब्रा० ३३.१) इति श्रुतेः। पितुर्यद् ऋणं तस्य प्रतिगृहीता जायमान एव नापगतः। ऋणादसम्बन्धस्त्वपगतः। अतोऽसावपार्णत्वादरणस्तस्य। **रेक्णः** धनमपत्याख्यम्। तस्मान्नि**त्यस्य रायो** धनस्य औरसपुत्राख्यस्य **पतयः** स्वामिनः, **स्याम** भवेमेत्याशास्महे। कस्मात्? यस्मात् **न शेषो** नापत्य**मन्यजातमस्ति** भवति। **अचेतानस्य** अस्तीत्येतदनुषक्तव्यम्। अविदुषः परिचर्यादिनाराधितस्य इह लोके प्रीत्यादिमात्रं फलं भवति न पुत्र इत्यर्थः। एतज्ज्ञात्वा नोऽस्माकमेतान् पितृपितामहादिलक्षणान् **पथः** सन्तानविच्छेदेन **मा विदुक्षः** मा विदूदुषः। सन्तानाविच्छेदार्थमौरसं पुत्रं देहीत्यर्थः।

अथैकपदनिरुक्तम्। परिहर्तव्यमित्यर्थवचनम्, न शब्दनिर्वचनम्। न च परेर्वर्जनार्थता, कर्मप्रवचनीयत्वप्रसङ्गात्। उपसर्गसंज्ञानिमित्तस्य च षत्वस्य दर्शनात्। तस्मादवसादनार्थ एव सदिः। दाढर्यार्थमाह-**नोपसर्तव्यमिति**-आत्मीयाभिप्रोयण। **रिच्यते**ऽवतिष्ठते, **प्रयतः** म्रियमाणस्य, पुत्रधनम्। न तेनैव सह म्रियत इत्यर्थः। अस्यैवार्थस्योत्तरा बहुतराय निर्विविच्य वचनाय अग्राह्यत्वस्य विस्पष्टत्वाय **'अधा॑ चि॒दोक॒ः'** (ऋ०७.४.८) इति हेतुवचनाद् भूयस्त्वम्।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

न॒हि ग्र॑भा॒यार॑णः सु॒शेवो॒ऽन्योद॑र्यो॒ मन॑सा॒ मन्त॒वा उ॑। अधा॑ चि॒दोक॒ः पुन॒रित्स ए॒त्या नो॑ वा॒ज्य॑भी॒षाळे॑तु नव्यः॑॥ (ऋ०७.४.८) न हि ग्रहीतव्यो अरणः सुसुखतमोऽपि। अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यः। ममायं पुत्र इति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति यत आगतो भवति। ओक इति निवासनामोच्यते। एतु नो वाजी वेजनवान्। अभिषहमाणः सपत्नान्। नवजातः स एव पुत्र इति। अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। पुत्रदायाद्य इत्येके॥ ३॥

भाष्यटीका

न॒ हि ग्र॑भा॒यार॑णः सु॒शेवो॒ऽन्योद॑र्यो॒ मन॑सा॒ मन्त॒वा उ॑।

अधा॑ चि॒दोक॒ः पुन॒रित्स ए॒त्या नो॑ वा॒ज्य॑भी॒षाळे॑तु॒ नव्यः॑॥ (ऋ०७.४.८)

न हि ग्रभाय ग्रहेरायः कृतार्थे व्यत्ययकृत्। न हि ग्रहीतव्य इत्यर्थः। **अरणः** असम्बन्धः। **सुशेवः** परिचर्यादिना सुसुखोऽपि। **अन्योदर्यः ऋ गतौ** (धा०१.९८३; ३.१६), उद्गम्यमानत्वादुदुरसामीप्याद्वा। रेतोऽत्रोदर-मुच्यते, अन्यरेतसो जातो **मनसा मन्तवै** मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्र इति शेषः। **अधा चित्** यतो यदस्य **ओकः** स्थानं स्वगोत्राख्यम्, तदेव **पुनः** पिण्डदानसन्तानोत्पादनादिना, **स एति** गच्छति, आकार एतिनापरेण सम्बध्यते। अतश्च **नः** अस्मत्, **वाजी** बली, उद्वेजनस्वभावकः कम्पयिता वा दायादानाम्। **अभीषाट्** अभिभविता च सपत्नानाम्, त्वत्प्रसादात् **एतु** आगच्छतु, **नव्यः** नवजातः, औरसः पुत्र इत्येतद् वयमाशास्महे।

अथैकपदनिरुक्तम्। **ओक इति निवासनाम**, उच्यतेरिति पाठान्तरम्। आह च **'ओक उचः के'** (अष्टा०७.३.६४) इति। तदेतदग्नेरभिधानमधिष्ठात्रभिप्रायम्। अथवा कर्माङ्गत्वेन सगुणत्वार्थे मन्त्रे ग्राववदभिधानं कर्मात्मन एव भविष्यति। सर्वथान्यपरे मन्त्रे जनयितुरपत्यमित्येतत् सूच्यते। एतावता चात्र प्रयोजनम्। एवञ्च सति- अपेत्य ततः, नानेन पततीत्युभयथापि निर्वचनमौरसाभिप्रायम्। तच्च स्त्रीपुंसलक्षणमुभयं किमपत्यमुत पुंरूपमेवेति विप्रतिपत्तेः, मन्त्रेषु चोभयथा दर्शनादपत्यकार्याणाम्, अपत्यपरिविचिकित्सया कार्यं विचारयिष्यत आपादपरिसमाप्तेः।

अथैनां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। दायः पैतृकं रिक्थम्, दायमादत्त इति दायादः, तद्भावो दायाद्यम्। एतां वक्ष्यमाणामृचं दुहितुर्दायादत्व उदाहरन्ति केचिदाचार्याः। अथवा दायस्यादानं दायादः, तमर्हतीति दायाद्यम्, दुहितापि दायस्यादानमर्हतीति। एतस्मिन्नर्थे पुत्रदायाद्य इत्येके।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे।। (ऋ०३.३१.१) प्रशास्ति वोळ्हा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता। दूरे हिता। दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागत्। दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान् प्रजननयज्ञस्य। रेतसो वा। अङ्गादङ्गात् संभूतस्य हृदयाधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य। विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति। तदेतद् ऋक् श्लोकाभ्यामुक्तम्। **अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयाधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।।** (कौ०आ०२.११; जै०गृ०१.८) **अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।।** (मूल अज्ञात) न दुहितर इत्येके। **तस्मात् पुमान् दायादोऽदायादा स्त्री**। (मै०सं०४.६.४) तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्। (मै०सं०४.६.४) इति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके। शौनःशेपे दर्शनात्। अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम्। **अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः। अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः।।** (अथर्व०१.१७१.) अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मनः। इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकस्तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।।४।।

भाष्यटीका

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे।। (ऋ०३.३१.१)

विश्वामित्रस्यार्षम्। **'न जामये'** (निरु०२.६) इति च। **शासत्** शास्ति आचष्ट इत्यर्थः। **वह्निः** पिता जातमात्राया उत्सङ्गेन दानकाले च जामातारं प्रति वोढृत्वात् वह्निरुच्यते। स **दुहितुः** पुत्रमिति शेषः। **नप्त्यं** नप्तारं पौत्रम्, **गात्** शुद्धोऽपि सामर्थ्याद् गमिरवपूर्वार्थे द्रष्टव्यः, अवगच्छति। कम्? सामर्थ्यात् पुत्रं दौहित्रमित्यर्थः। **विद्वान्** जानन्, **ऋतस्य** यज्ञस्य प्रजननाख्यस्य, **दीधितिम्** कर्मविधानं यत् गर्भाधानकाले मन्त्रवन्नियमवच्च स्मृतिकारैरुक्तम्। **सपर्यन्** पूजयन् तदनुष्ठानेनानुतिष्ठंश्चेत्यर्थः।

अथवा **ऋतस्येति**, ऋतशब्देन योनौ गतं रेत उच्यते, तस्य विधानं गर्भोत्पत्तौ व्यापारः। कललाद्युत्तरोत्तरावस्थापत्तिरूपः। तं विद्वान् पूजयंश्चेत्यर्थः। कथम्? अविशिष्टं हि विधानमनुष्ठानञ्च प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा दुहितरि पुत्रे चेत्यर्थः। तदविशेषाद् दुहिता (अपि पुत्रवद्दायादा चेति भाष्यकार आह- **मिथुनाः** स्त्रीपुंरूपाः **पुत्रा दायादा इति**।

दुहिता दुर्हिता, तत्रैव श्वसुरकुले पितृकुले वा सुलभापवादत्वेन बहूपद्रवत्वात् दूरे वा सती **हिता**। यावदेव स्याद् विप्रकृष्टत्वाद् विनष्टं किञ्चिन्न श्रूयते तावदेव हिता)। **दोग्धेर्वा**, सुखितापि सती सर्वदा दोग्धि वस्त्रालङ्कारादि पितृकुलम्। भर्तरि रेतः। अङ्गादित्यादिभाष्यं वक्ष्यमाणव्याख्यानतुल्यमित्युपेक्षितम्।

उक्तस्यैवार्थस्य द्रढिम्नः कारणमाह तदेतदृचा श्लोकेन चाप्युक्तमिति।

> **अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे।**
> **आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।। (शत०ब्रा०१४.९.४.८, गो०गृ०सू०२.८.२१)**

अङ्गादङ्गात् सर्वाङ्गेभ्य इत्यर्थः। **सम्भवसि**। कथम्? अन्नपानमभ्यवहृतं द्वेधा पच्यते साररूपेण किट्टरूपेण च। तत्र योऽसौ स्वच्छः सारभूतहृदयायतनो रसः, तस्माच्छोणितं मांसम्, मांसान्मेदः, मेदसः स्नावा, स्नाव्नोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातो रेतः, तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवतीति। इत्थं सर्वाङ्गेभ्यः सम्भवः। **हृदयात्** हृदयायतन आत्मात्र हृदयम्, तदिच्छया गुणतो विषयानुभवबुद्ध्या **जायसे** त्वमित्यर्थः। **आत्मैव पुत्रनामासि** भवसि। **स जीव शरदः शतम्** शरदि व्याधिबाहुल्यात् दुर्जीवत्वात् तच्छतमाशास्यते नत्वन्तरसम्बन्धेन।

> **अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।**
> **मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।। (तु०मनु०९.१३३, १३९)**

अविशेषेण पुत्राणां दायस्यादानं भवति। धर्मतः शास्त्रतः। मिथुनानाम् स्त्रीणां पुंसाञ्च। विसर्गादौ सृष्ट्यादौ मनुः स्वायम्भुव एतदुक्तवान्।

अद्य यदुक्तं **'पुत्रदायाद्य इत्येके'** इति, तं पक्षमास्थायेदानीं **'शासद् वह्निः'** इत्येतस्यार्धर्चस्य, **'अविशेषेण पुत्राणाम्'** इत्यस्य च, अभ्रातृमती या दुहिता तद्विषयत्वप्रतिपादनार्थं **'न दुहितर'** इत्यादिविचारस्तावत् क्रियते। शासद्वह्निरित्युत्तरोर्धर्चो न व्याख्यायते। दुहितरो दायं नार्हन्ति। कस्मात्? अपत्यकार्याभावात्। अनपत्या एव स्त्रिय इति। कथम्, श्रुतिलिङ्गादन्यपरे वाक्ये।

तस्मात् पुमान् दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते। स्थालीरेचनदारुमया रेचनपरे वाक्ये इदमुक्तम्। पञ्चेति स्थाली न दारुमयानिति। तस्मात् पुमान् दायादो दायार्हः, अदायार्हा स्त्रीत्येतस्मिन् ब्राह्मणे विचार्यमाणे ज्ञायते। तथा च पराश्रुतिः-परा स्थालीरस्यन्त्युद्वायव्यानि हरन्तीति वायव्यानि दारुमयानि सर्वसोमपात्राण्यभिप्रेतानीति। तत्र हवनसाधने विधेये-अथ यत् स्थालीं परास्यन्ति हवनकर्मणो न तया जुह्वति, न दारुमयं परास्यन्ति हवनकर्मणो दारुमयेनैव जुह्वति, **तस्मात्** कारणात् **स्त्रियं जातां परास्यन्ति** परस्मै ददति **न पुमांसम्**, तस्मात् पुमानेव पैतृकस्येष्टे न दुहिता।

किञ्च **स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः**। दानं ब्राह्मणविवाहे। विक्रयो वैवाहिकेन शुल्केन। **'नाल्पो वा बहुर्वा पुत्रे विक्रयः। तावदेव सः'** इति स्मरणात्। तथा **'या पत्युः क्रीता सत्यन्यथान्यैश्चरति'** (मैत्रा०सं०१.१०.११) इति च लिङ्गात्। अतिसर्गः स्वयंवरादौ गान्धर्वे च विवाहे। एतदप्यदायादत्वे लिङ्गं स्त्रियाः।

एतदनेकान्तयन्नाह-**पुंसोऽपीत्येके। शौनःशेप** आख्याने **दर्शनात्**। दानं तावत् **'अनेन त्वा यजा'** (ऐत०ब्रा०३३.३) इति। विक्रयो **'अनेन आत्मानं निष्क्रीणा'** (ऐत०ब्रा०३३.३) इति। अतिसर्गोऽपि विश्वामित्रेण कृतः श्रूयते ज्यायांसो मधुच्छन्दसः,[1] असमञ्जसश्च सगरेण। एवमन्यपरश्रुतिलिङ्गदर्शनमनेकधोपन्यस्य पूर्वोक्तस्य **'शासद्वह्निः'** इत्यादेः, **अभ्रातृका**विषयत्वं व्यवस्थापयति। शासद्वह्निरित्यत्र अभ्रातृकाविषयमेतत् न सर्वविषयमेतदिति दुहितुः पुत्रभावं शास्तीत्युच्यते। यदि तु मिथुनाः पुत्रा एव किमाशास्यम्? अतः शासनवचनात् अभ्रातृकाविषये पुत्राभावे तत्स्थाने स्त्र्यपि पुत्रः स्यादित्याशास्यम्। तथा च स्मृतिः।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ इति॥ (मनु०९.१३०)

यदि च दुहितापि पुत्रः, समानवचनता नोपपद्यते। कथम्? अन्यमिति च अभ्रातृकाविषयं दर्शयति न सर्वविषयम्। सा चाभिसन्धाय दीयमाना पुत्रिका भवतीति स्मृतौ कृतविचारः। अस्मिंश्च पक्षे निगममपि दर्शयति।

अमूर्या यन्तिं जामयः सर्वा लोहितवाससः।

अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥ (अथर्व० १.१७.१)

अयमाथर्वणे वेदे मन्त्रः। स्त्रीणां लोहितवाहकव्याधिव्यावृत्त्यर्थे कर्मणि विनियुक्तः। **अमूः** एता लोहितधाराः सिरा वा, **यन्ति** अति सुष्ठु वहन्तीत्यर्थः। **जामयः** भगिन्यः, एकस्मात् स्त्रीयोनिप्रदेशाज्जातत्वात् **ताः सर्वा लोहितवाससः** लोहितस्य वर्णस्य वासयित्र्यः, लोहितवर्णा इत्यर्थः। यथा अभ्रातृका **योषाः**, या उत्पन्नास्तत्रैव पितृकुले सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय च **तिष्ठन्ति**, तद्वत्तिष्ठन्त्यनेन कर्मणा। **हतवर्त्मनः** हतवहनमार्गाः स्थेयासुः, मावाक्षुरित्यर्थः। **अभ्रातृकाया अनिर्वाहे** अबहिर्गमने **औपमिक** उपमाप्रयुक्तः। **तस्योतरा भूयसे**। पुंस एतीत्यर्थे भूयस्त्वम्।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

---

१ (ज्यायांसो इत्यस्य स्थाने ज्यायसो इति पाठ उचितः। मधुच्छन्द आख्यानम् ऐत०ब्रा०३३.६) स्थले द्रष्टव्यम्।

अथ पञ्चमः खण्डः।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ (ऋ०१.१२४.७) अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम्। गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्तः सभास्थाणुः। गृणातेः। सत्यसङ्गरो भवति। तं तत्र यापुत्रा यापतिका सारोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति। सा रिक्थं लभते। श्मशानसंचयोऽपि गर्त उच्यते। गुरतेः। अपगूर्णो भवति। श्मशानं श्मशयनम्। श्म शरीरम्। शरीरं श्रृणातेः। शम्नातेर्वा। श्मश्रु लोम। श्मनि श्रितं भवति। लोम लुनातेर्वा। लीयतेर्वा। 'नोपरस्याविष्कुर्याद् यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः।' (मूल अज्ञात) इत्यपि निगमो भवति। रथोऽपि गर्त उच्यते। गृणातेः स्तुतिकर्मणः। स्तुततमं यानम्। **आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम्।** (ऋ०५.६२.८) इत्यपि निगमो भवति। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषूषा हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणीति। चतस्र उपमाः। 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद् भवति।' इत्यभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः। पितुश्च पुत्रभावः। पिता यत्र दुहितरप्रत्ताया रेतः सेकं प्रार्जयति। संदधात्यात्मानं संगमेन मनसेति। अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति। ज्येष्ठं पुत्रिकायां इत्येके॥५॥

भाष्यटीका

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ (ऋ०१.१२४.७)

कक्षीवत आर्षम्। यथा अभ्रातृका स्त्री येभ्य उत्पन्ना, तानेव **पुंसः** पितृन्, **एति** गच्छति, सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय च। एवमुषा यत उत्पन्ना तमेवादित्यं गच्छति, तत्रैव प्रलीयत इत्यर्थः। **प्रतीची** प्रत्यग्गामिनी, **गर्तारुगिव** यथा दक्षिणापथे क्वापि प्रदेशे अपुत्रा अपतिका वा अपस्मारा रोहिणी स्त्री, **सनये** लाभाय, **धनानाम्,** भर्तुः स्वभूतानां, सर्वलोकप्रकाशमास्फारं गच्छति तद्वत्। **जायेव पत्ये** द्वितीयार्थे चतुर्थी, पतिम्। **उशती** कामयमाना, **सुवासाः** निर्विशङ्का परया प्रीत्या युक्ता गच्छति तद्वत्। किञ्च **हस्रेव** यथा हसनशीला स्वदन्तान् **निरिणीते** रिणातिर्गतिकर्मा, निः प्रकर्षे, अन्तर्नीतण्यर्थश्चायम्, प्रकर्षेण गमयति। प्रकाशयति ज्ञापयतीत्यर्थः। एवमुषा निरिणीते। किम्? **अप्सः** रूपं कृत्स्नस्य जगतः।

गर्तारोहिणीति ताच्छील्ये क्विप् **'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते'** (अष्टा०३.२.७५) इति। गर्तारोहिणीति भाष्ये ताच्छीलिकेनार्थप्रदर्शनात्। **दक्षिणाजी** दक्षिणां दिशं देशं वा अजिता गता जाता वा तत्र दक्षिणाजी, तस्या अपत्यं स्त्री दाक्षिणाजी। दक्षिणेन वा कितवानां गच्छतीति। **गर्तः सभास्थाणुरित्यभिधेयकथनम्,** अक्षनिवपनपीठः। सभास्थानमिति पाठान्तरम्। सभा च द्यूतसभा कितवस्थानम्। **गृणातेरिति** निर्वचनम्। **सत्यसङ्गर** इति धात्वर्थोपपत्तिवचनम्। सत्यं हि तत्र सङ्गीर्यते। कथम्? पुनर्देविष्यामिति कृतमातृहस्तग्रहणादिना कृतशपथोऽपि

व्यसनेनैवाकृष्यमाणो गीत्या शपथं खादयित्वा दीव्यत्येव कितवः, सङ्कर इत्यन्ये पठन्ति, संकीर्यते हि तत्र सत्यमनृतेनानेकविधेन। **तं गर्तं तत्र या अपुत्रा अपतिका सारोहति।** दक्षिणापथे किलैष क्वचिद्देशधर्मः। कितवानां दक्षिणत आस्पारे तिष्ठति। **तत्राक्षैराघ्नन्ति, सा रिक्थं लभते** पतिबन्धुभ्यः। यो वा तां प्रथममाहन्ति स वैनां गृह्णाति। सा च धनं लभत इति।

शब्दसारूप्यात् प्रसक्तमाह– **श्मशानसंचयोऽपि गर्त उच्यते गुरतेरपगूर्णो भवति।** श्मशानसञ्चयोऽपि गर्तः, गुरतेरपगूर्णो भीषणः। यद्वा अमङ्गलत्वात्तं प्रत्युद्यमनं गमनं न भवत्यतोऽपगूर्णो गमनवर्जित इत्यर्थः। **श्मशानं श्मशयनम्,** यकारलोपेन सवर्णदीर्घत्वेन च श्मशब्दस्याभिधेयमाह–**श्म शरीरम्,** तत् **श्रृणातेरर्थ**पौष्कल्यात्। **शम्नातेर्वा** यदा कदाचित् शाम्यति हि तत्। प्रसङ्गादाह–**श्मश्रु लोमे**त्यर्थकथनम्, **श्मनि** शरीरे **श्रित**मिति निर्वचनम्। **लोम लुनातेः**, लूयते हि तत्। **लीयतेर्वा** श्लिष्टं हि तत्। श्मशानस्य गर्तवाच्यत्वे निगमः।

> **'नोपरस्याविष्कुर्याद् यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्तेष्ठाः स्यात्।**
>
> **प्रमायुको यजमानः'** (तु०मैत्रा०सं०३.९.४, काठक सं०२६.६) इत्यपि निगमो भवति॥

यूपस्यातष्टप्रदेश उपर उच्यते। तमेव प्रदेशं पांसुभिश्छादयन्नास्य किञ्चित् प्रकटं कुर्यात्। यदि कुर्याद् गर्तेष्ठाः श्मशानप्रतिष्ठ इत्यर्थः। पुरा आयुषः प्रमायुको मरणधर्मा यजमानः स्यात्। प्रसङ्गादाह–**रथोऽपि गर्त उच्यते, गृणातेः** स्तुत्यर्थस्य, स्तुततमोऽश्वादिभ्यो यानेभ्यः सुखगमनेन। **'वनस्पते वीड्वङ्गः'** (ऋ०६.४७.२६, निरु०९.१२) इत्यादौ स्तुतत्वात्। उदाहरणम्।

> **हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।**
>
> **आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥ (ऋ०५.६२.८)**

श्रुतविद आर्षम्। **हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टौ** व्युच्छनवेलायाम्, **अयः स्थूणम्** अयोमयी स्थूणा अतिस्थूला वा यस्य तम्। **उदिता** उदयवेलायाम्। **सूर्यस्य आरोहथो** युवां हे **वरुण**! हे **मित्र**! **गर्तं** रथमात्मीयम्। **अतश्चानन्तर**मिति शेषः। **चक्षाथे** पश्यथः। **अदितिं दितिञ्च। दीङ् क्षये** (धा०४.२६), क्षीणमक्षीणञ्च कर्म। अथवा **अदितिं दितिं चे**ति ददातेरेते रूपे, अदातारं दातारं च हविषाम्। लोकपालौ हि मित्रावरुणौ, यश्च यत् करोति शुभमशुभं वा तत्सर्वं पश्यथः। अस्मिन् मन्त्रे **चतस्र उपमाः**। अभ्रातृकाविषयस्यैव द्रढिम्नः कारणमाह– **नाभ्रात्रीमुपयच्छेत** गृह्णीयात्, यस्मात् तोकमपत्यमस्याः पितुरेव तद् भवति न गन्तुर्भर्तुः।

अथवा **नाभ्रात्रीमुपयच्छेत,** अपत्यलिप्सया। उक्तकारणत्वाद् दृष्टार्थत्वेन प्रतिषिध्यते। एवं **प्रतिषेधः प्रत्यक्षः। पितुश्च पुत्रभावः**। पूर्वत्रोभयमानुमानिकम्। एवम् अभ्रातृको वाद इत्यपरे इत्येतद्दर्शनमवस्थितम्। ततश्च **'शासद् वह्निः'** इत्ययमर्धर्चोऽभ्रातृमतीविषय एव व्याख्येयो न दुहितृमात्रविषय इति निश्चयः।

इदानीमस्मिन् दर्शन उत्तरार्धर्चो व्याख्याते। कदा पुनर्दहितुः पुत्रभावं शास्ति नप्तारं चावगच्छति तस्याः पुत्र उच्यते। **पिता यत्र** यस्मिन् काले, दुहितुः **सेकम्** सेक्तारं रेतसः, **ऋञ्जन्** अर्जेरिदं रूपम्, **प्रार्जयति** जामातरं प्रतिगृह्णातीत्यर्थः। समित्युपसर्गो दधन्वे इत्याख्यातेन सम्बध्यते। तदेवं व्यावृत्तानपत्यदुःखत्वात्, **शग्म्येन** सुखतमेन **मनसा संदधन्वे** जामात्रा सह। अभ्रातृकामिमां तुभ्यं दास्यामि, अस्यां यो जनिष्यते गर्भः स मम स्वधाकर इत्येवं रूपमात्मनः सन्धानं करोमि। यतश्चाभ्रातृकाविषयं दायादत्वम्, अत एवैतां वक्ष्यमाणामृचं **जाम्या** भगिन्याः स्त्रियाः

सामान्येन भगिनीमात्रस्य **रिक्थप्रतिषेधे** अदायादत्वे **उदाहरन्ति**। अतोऽपि गम्यते पुत्रिकैव दायादेति। प्रथमकृतायां तु पुत्रिकायां यद्यौरस उत्पद्येत, तदा तत्रापि ज्येष्ठांशभागित्वं पुत्रिकाया इत्येके स्मरन्ति।

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥ (मनु० ९.१३४)

इत्यन्ये।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्। यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ (ऋ०३.३१.२) न जामये भगिन्यै। जामिन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्। जमतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः। निर्गमनप्राया भवति। तान्व आत्मजः पुत्रः। रिक्थं प्रारिचत् प्रादात्। चकारैनां गर्भनिधानीम्। सनितुर्हस्तग्राहस्य। यदी मातरो जनयन्त। वह्निं पुत्रम्। अवह्निं च स्त्रियम्। अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायादः। अन्यतरोऽर्द्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै॥६॥

भाष्यटीका

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ (ऋ०३.३१.२)

न, जामये भगिन्यै, **तान्वः** तनुभवः औरसः पुत्र इत्यर्थः। **रिक्थं** पित्र्यं धनम्, **आरैक्** प्रारिचत् प्रादात् ददातीत्यर्थः। किन्तर्हि? **चकार** करोत्येनाम्, **गर्भम्** षष्ठ्यर्थे द्वितीया। गर्भस्य **निधानं** स्थानं **सनितुः** संभक्तुः, तस्या एव स्वभूतस्य भर्तुरित्यर्थः। कुतः? उच्यते, **यदि** शुद्धोऽप्ययमपिशब्दसहितस्यार्थे द्रष्टव्यः, यद्यपि **मातरः** **'पिता मात्रा'** (अष्टा०१.२.७०) इति पितुः शेषे प्राप्ते छान्दसो मातुः शेषः, द्विवचनस्य स्थाने बहुवचनम्, मातापितरौ **जनयन्त** जनितवन्तौ। **वह्निम्** वोढारं स्वभार्यायाः पुमांसं स्त्रियञ्चेति शेषः। तथा चाह भाष्यकारः- वह्निं पुत्रमवह्निञ्च स्त्रियमिति तथाप्यन्य एकः **कर्ता** सन्तानकर्मणः, तयोः **सुकृतोः** शोभनस्य कर्मणः कर्त्रोः। कतरः? पुमान्, ततश्च स दायार्हः। **अन्यः** परस्तु, **ऋन्धन्** वस्त्रालङ्कारादिदानेनाराध्यते च, न च केवलं दीयते परस्मै। कतरः? स्त्री। ततश्च सा न दायार्हा। अतोऽस्या अनर्हत्वान्न ददाति।

जामिः कस्मात्? **अन्ये** असगोत्रा **अस्यां जनयन्तीति** जामिः। जीनं क्षीणं पुत्रिकापेक्षयाऽपत्यं जामिः। **जमतेर्वा स्याद् गत्यर्थस्य। निर्गमनप्राया हि सा भवति।** प्रायवचनं पुत्रिकाभिप्रायम्, सा हि न निर्गच्छति। पितृकुलैवावतिष्ठत इति।

इति महेश्वरविरचितायां निरुक्तभाष्यटीकायां

अष्टमस्या (तृतीयस्या) ध्यायस्य प्रथमः पादः। इति षष्ठः खण्डः।

अथ तृतीयोऽध्याय:। द्वितीय: पाद:।

अथ सप्तम: खण्ड:

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशति:। मनुष्या: कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टा:। मनस्यति: पुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यम्। मनुषो वा। तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥७॥

भाष्यटीका

अपत्यसम्बन्धादाह–**मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशति:** मनुष्या नर इत्यादीनि। विशो हरय इत्यादिषु साधारणश्रुतिषु लिङ्गात् मन्त्रवाक्यपदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यान्निर्णय: कर्त्तव्य इत्युक्तम्। धातुजत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह–**मनुष्या: कस्मादिति**। **मत्वे**त्यादि, मते: सिवेश्च द्विधातुजत्वं प्रदर्शयति। ज्ञात्वा अनेनेदमिति साध्यसाधनभावं **कर्माणि सीव्यन्ति** तन्वन्ति न यथा पश्वादय:। **मनस्यमानेन** वा प्रजापतिना **सृष्टा:**। **मनस्यति:** कस्मिन्नर्थ इत्याह–**मनस्वीभावे**। प्रशंसायां मत्वर्थीय:। प्रशस्तं मन: प्रसन्नं सत्त्वप्राधान्यात्। अत: प्रसन्नमनस्केन सृष्टा इत्यर्थ:। तथा च श्रुति: **'स पितृन् सृष्ट्वाऽमनस्यत् तदनु मनुष्यानसृजत'** (तैत्ति०सं०२.३.८.३) इति। नित्यपक्षेऽप्यसति स्रष्टरि, कार्ये सौमनस्यं दृष्ट्वा कारणमनुमास्यते, कारणानुविधायित्वात् कार्यस्य। **'मनोर्जातौ'**[1] इति वैयाकरणा:। जातिश्च प्रत्ययान्तोपाधि:। **मनोरपत्यं** जातिश्चेत्येतौ। अपत्यमात्रविवक्षायामेव मानव इति।

मनुषो वा षकारान्तमेव प्रातिपदिकमस्ति, एतदन्ताद् व्युत्पादयति, न प्रत्ययसन्नियोगेन षुगिति स्मरणान्तरम्। विनापि प्रत्ययेन षकारन्तत्वप्रयोगदर्शनात्। **'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे'** (ऋ०१०.११०.१, निरु०८.५) इति व्याख्यास्यते मन्त्र:।

तत्र पञ्चजना इत्येतस्य सन्दिग्धस्य विवेकार्थं **निगमा:**। सन्देहश्च मनुष्यमात्रनामसु पाठात्। पञ्चशब्दश्च जनशब्देन समानाधिकरण:। तत्र यदि देवदत्तादिमनुष्यविषय: स्यात्, गन्धर्वादिपञ्चकविषयो वा, न मनुष्यमात्रनामविषयताऽस्य स्यात्। मनुष्यमात्रनामैतदित्याचार्यमतम्, तत्सिद्ध्यर्थं मतान्तरप्रदर्शनाय पदद्वयमिदं मनुष्यपदार्थे वर्तत इति वैचित्र्यप्रदर्शनार्थमुपन्यास:।

ननु मनुष्यमात्रनामत्वे पञ्चशब्दस्य परिमाणावधृतसंख्येयविशेषविषयता प्रसिद्धा बाध्येत? उच्यते। अवयवप्रसिद्धे: समुदायप्रसिद्धिबलीयस्त्वात् अश्वजकर्णादिवत् बासायामप्यदोष औपमन्यवदर्शनेन पञ्चजनशब्दो न समानाधिकरणो मनुष्यसन्ततिविषयोऽन्वर्थप्रायो मनुष्यनामत्वेन च द्रष्टव्य:। एकीयमतेन चाष्टौ देवनिकाया उच्यन्ते। तत्र पक्षे नागानां गन्धर्वेषु, यक्षाणामसुरेषु, पिशाचानां रक्षस्वन्तर्भावादष्टत्वाविरोध:।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य सप्तम: खण्ड:।

---

१ (मनोर्जातावञ्यतो षुक् च अष्टा०४.१.१६१)

अथ अष्टमः खण्डः।

तदुद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ (ऋ०१०.५३.४) तदद्यवाचः परमं मंसीय येनासुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरताः स्थानेषु। अस्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। 'सोर्देवानसृजत् तत् सुराणां सुरत्वम्। असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्।' इति विज्ञायते। ऊर्जाद उत यज्ञियासः। अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। ऊर्गित्यन्ननाम। ऊर्जयतीति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्? निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। 'यत्पाञ्चजन्यया विशा।' (ऋ०८.६३७) पञ्चजननीया विशा। पञ्च पृक्ता संख्या। स्त्रीपुंनपुंसकेष्वविशिष्टा। बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बाहुः कस्मात्? प्रबाधत आभ्यां कर्मणि। अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुल्यं कस्माद्? अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा। अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा। अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा। अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा। अङ्कना भवन्तीति वा। अञ्जना भवन्तीति वा। अपि वाभ्यञ्जनादेव स्युः। तासामेषा भवति॥८॥

भाष्यटीका

तदुद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ (ऋ०१०.५३.४)

सौचीकस्याग्नेर्विश्वेषां देवानां संवादः। होतृजपश्चायम्। तदद्य अस्मिन् कर्मणि, **वाचो** मध्ये, **प्रथममुत्कृष्टं** स्वरसौष्ठवार्थसतत्त्वदेवतादिविशिष्टम्। **मसीय** जानीयाम्, **येन** ज्ञानेना**सुरान्** यज्ञविघ्नं कुर्वतः, हे **देवाः**! **अभ्यसाम** अभिभवेम। किञ्च यूयमपि हे **ऊर्जादः**! अन्नादाः। **उत** अपि, **यज्ञियासः** यज्ञस्य सम्पादयितारः। **पञ्चजनाः** आचार्यस्य मतेन ऋत्विङ्मनुष्याः। औपमन्यवस्य निषादस्थपतिः, इष्टौ निषादानां यज्ञसम्पादित्वमस्ति। शूद्रस्याप्योदनसवे **'आयुरसि'**[1] इति शूद्राय प्रयच्छति, **'तद्यच्छामि'** (तै०ब्रा०२.७.७.७) इति शूद्रः प्रतिगृह्णातीत्येवमादि। तथा **'दासी पिनष्टि पत्नी वा'** इतिव्यापारादस्त्येव यज्ञियत्वम्। एकीयमतेन पञ्चयज्ञाङ्गभूता देवगन्धर्वादयः साधनभावेन यज्ञसम्पादिनः। अत उच्यते, **मम होत्रं** होतृकर्म, (**जुषध्वम्** सम्पादयतेत्यर्थः। अन्ये मन्यन्ते यदेकीयमतं यच्चौपमन्यवस्य तदुभयमप्याचार्यस्येति। तथा च मन्त्रव्याख्यानम् ऊर्जादो ब्राह्मणादयः, यज्ञिया देवगन्धर्वादयः सर्वेऽपि मम होत्रं स्वेन स्वेन व्यापारेण सेवध्वमिति। **असुरा असुरताः स्थानेषु** स्वेषु, उत्कृष्टोत्कृष्टतरस्थानान्तरलिप्सायामसंपद्यमानायाम्। **अस्ता वा** क्षिप्ताः **स्थानेभ्यो** लोकेभ्यः। **'ते देवा असुरान् प्राणुदन्त'**[2] इति श्रुतेः। अस्यन्त इत्यसुराः **'असेरुरन्'** (उणा०को०१.४३)

---

१ (अथर्व०२.१७.४, तै०ब्रा०२.७.७.७)

२ (तु० तां०ब्रा०९.२.११ असुरा वा एषु लोकेष्वासँस्तान् देवा ऊर्ध्वसद्मनेनैभ्यो लोकेभ्यः प्राणुदन्त)

औणादिककर्मसाधनः। **अपि वा असुरिति प्राण** उच्यते, स **ह्यस्तः शरीरे**, रो मत्वर्थीयः, भूम्नि चायम्। अत आह **तेन** तद्वन्त इति।

सम्प्रति ब्राह्मणोक्तं निर्वचनं प्रदर्शयति **सोः** प्रशस्ताद् देशात् **देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम्**। **'मुखाद् देवानसृजत'** (तैत्ति०ब्रा०२.२.९.७) इति विज्ञायते। एवम्, **असोः** अप्रशस्ताद् देशाद् **असुरान्**। **'जघनादसृजत'** (तु०तां०ब्रा०९.२.११) इति विज्ञायते। ऊर्ध्वञ्च नाभेः पुरुषस्य मेध्यत्वस्मरणात्।

ऊर्गित्यन्ननामसु पठितमपि निर्विवक्षयाह-**ऊर्जयति** बलं करोतीति, **सतः** कर्तरि **पक्वमिति** वा पकारलोपं कृत्वा शब्दं व्यत्ययस्य वकारस्योठि कृते रुगागमे च ऊर्गिति भवति। **सुप्रवृक्णमिति वा** व्रश्चेरशब्दलोपे कृते संयोगादिलोपे च वकारस्योठि रुकि कुत्वे च ऊर्गिति भवति। सुच्छेदं हि तद् भवति, मृदुत्वात्, सुसंस्कृतत्वात् **निषादः कस्मात्?** निषद्य हन्तीति निषादः, प्राणिवधजीवकः, प्रतिलोमजन्मा कश्चित्। **निषण्णम्,** निशब्दः प्रकर्षे, प्रकर्षेण सन्नं गतं व्यवस्थितं **पापकमिति नैरुक्ताः**। सौधन्वना रथकारा निषादशब्दवाच्या इत्यन्ये। **'वर्षासु रथकारस्य'**[१] **'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'**[२] इत्येवमादि दर्शनात्। **'सौधन्वना ऋभवः'** (ऋ०१.११०.४) इति मन्त्रवर्णात्।

सम्प्रत्यसाधारणं मनुष्यमात्रनामत्व एव निगमं दर्शयति।

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत।

अस्तृणाद् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः॥ (ऋ०८.६३.७)

प्रगाथस्यार्षम्। **यत्** यदा **पाञ्चजन्यया** पञ्चजनेषु मनुष्येषु भवया **विशा,** स्त्रीलिङ्गनिर्देशो जात्यपेक्षः, मनुष्यजातेरित्यर्थः। अथवा ब्राह्मणादीनि चत्वारि मनुष्यजातीनि, निषादः सर्वापसदोपलक्षणार्थः। एतावन्तश्च मनुष्याः। अतः पञ्चस्वपि मनुष्यजातिषु भवया विशेति, पञ्चभिरपि मनुष्यजातैरित्यर्थः। **इन्द्रे** वृष्ट्यर्थं वर्ष भट्टारकदेवेत्येवमादयो **घोषाः** शब्दाः, **असृक्षत** सृज्यन्ते, तदा **अस्तृणात्** स्तृणाति आच्छादयति कृत्स्नं जगत्, **बर्हणा** परिवृद्धेन वर्षेण। **विपः** मेधाविनामैतत्, मेधावी। **अर्यः** ईश्वरश्चेन्द्रो यतः, **मानस्य** गर्वस्य पूजायाः, **सक्षयः** निवासः। एवञ्चाकुर्वतः कीदृशो गर्वः कुतो वा पूजा।

अथवा मानं निर्माणं तस्य निवास आश्रयः कारणमिन्द्रः। स चासति वर्षे न शक्तः किञ्चिदपि निर्मातुम्। **पञ्च** इति निर्वाच्यम्, **पृक्ता** इति निर्वचनम्, **संख्या** इति विषयकथनम्, सम्बन्धात् सर्वलिङ्गैरित्याह-लिङ्गत्रययोगेऽ**प्यविशिष्टेति**।

ननु षडादीन्यप्यविशिष्टानि? उच्यते, प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थसम्बन्धस्वार्थाभिधानाददोष इत्युक्तम्। अपि च न या पृक्ता सा पञ्चेति, किन्तु या पञ्च सा पृक्तेति।

मनुष्यसम्बन्धादुच्यते-**अथ बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश** आयती, च्यवाना, इत्येवमादीनि। सन्दिग्धविचारा निगमाश्चोपेक्ष्याः। **प्रबाधते** निष्ठां गमयत्याभ्यां **कर्माणीति बाहुः**।

---

१ (द्रष्टव्यम् पूर्वमीमांसाशाबरभाष्ये ६.१.४४ ५०, का०श्रौ० कर्कभाष्ये १.१.९, ऋभूणां इति रथकारस्य)

२ (का०श्रौ०१.१.१२, कर्कभाष्ये द्रष्टव्यम्)

एतत्सम्बन्धादेवाङ्गुलिनामान्युत्तराणि **द्वाविंशतिः**-अग्रुवः, अण्व्यः-इत्येवमादीनि। **अग्रगामिन्यः** अग्रे गच्छन्तीति, हस्तस्य पूर्वं वा कर्मसु व्यापारं गच्छन्ति। अग्रशब्दादकाररेफावाद्यन्तौ कृत्वा गमेराद्यन्तविपरीतस्य मकारगकारौ मध्ये उपधाव्यापत्त्या अकारस्योकारः, रेफस्य लत्वम्, इकारो नामकरणस्ताच्छील्ये इति रूपसिद्धिः। उत्तरेष्वपि निर्वचनेषु वर्णाक्षरलुप्तिर्यथार्थं योजनीया। अग्रेण गालयन्त्युदकानि। प्रथमं वा कार्याणि कुर्वन्ति। **अङ्कना वा** अङ्को लेख्यादिस्ताभिः क्रियते। धान्यराशिर्वाङ्क्यते। अञ्चतेरङ्कनाः, अञ्जतेर्वा (धा०७.२१), **अभ्यञ्जनादेव**, सममन्धकारेऽपि अभ्यञ्जते, ताभिः स्पृश्यत इति शेषः।

उक्तमनेकनिर्वचनप्रयोजनमादावेव शास्त्रस्य। तासामेषा। किमर्थम्? अवनिशब्दस्य नदीपृथिव्योः, कक्ष्याशब्दस्य रज्ज्वाम्, योक्तृशब्दस्य योजनशब्दस्य चाध्वपरिमाणे, अभीशुशब्दस्य च बाह्वोः, एवमर्थान्तरप्रसिद्धानामिहाङ्गुल्यर्थतां प्रदर्शयन्नाह।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य अष्टमः खण्डः।

अथ नवमो खण्डः।

दशा॑वनिभ्यो॒ दश॑कक्ष्येभ्यो॒ दश॑योक्त्रेभ्यो॒ दश॑योजनेभ्यः। दशा॑भीशुभ्यो अर्चता॒जरे॑भ्यो॒ दश॒ धुरो॒ दश॑ यु॒क्ता वह॑द्भ्यः॥ (ऋ०१०.९४.७) अवनयोऽङ्गुल्यो भवन्ति। अवन्ति कर्माणि। कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्। अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि। दशधुरो दश युक्ता वहद्भ्यः। धूर्धूवतेर्वधकर्मणः। इयमपीतरा धूरेतस्मादेव। विहन्ति वहम्। धारयतेर्वा। कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश। अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः। अत्तेर्वा। अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। बलं कस्मात्? बलं भरं भवति। बिभर्तेः। धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव। धनं कस्मात्? धिनोतीति सतः। गोनामान्युत्तराणि नव। क्रुध्यतिकर्माणि उत्तरे धातवो दश। क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश। गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम्। क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। क्षिप्रं कस्मात्? संक्षिप्तो विकर्षः। अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश। अन्तिकं कस्मात्? आनीतं भवति। संग्रामनामान्युत्तराणि षट्चत्वारिंशत्। संग्रामः कस्मात्? संगमनाद्वा। संगरणाद्वा। संगतौ ग्रामाविति वा। तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥९॥

भाष्यटीका

दशा॑वनिभ्यो॒ दश॑कक्ष्येभ्यो॒ दश॑योक्त्रेभ्यो॒ दश॑योजनेभ्यः।

दशा॑भीशुभ्यो अर्चता॒जरे॑भ्यो॒ दश॒ धुरो॒ दश॑ यु॒क्ता वह॑द्भ्यः॥ (ऋ०१०.९४.७)

ग्रावस्तुतिरेषा। अर्बुदस्यार्षम्। दशावनयोऽङ्गुलयो ग्राहकत्वेन सम्बन्धिन्यो येषामभिषवग्राव्णां ते दशावनयः। ता एव दशकक्ष्यास्थानीया योक्त्रस्थानीया योजनस्थानीया, अभीशवो रश्मयः, तत्स्थानीयाश्च

तत्कार्यकरत्वात् तादृशकक्ष्यादिशब्दैरुच्यन्ते। सर्वत्र चतुर्थी द्वितीयार्थे, तान् **अर्चत** स्तुत। **अजरेभ्यः** जरावर्जितान्। कियन्तः ? उच्यते **दश**।

ननु अभिषवग्रावाणः पञ्च, दशशब्देन बहुत्वमात्रप्रतिपादनपरेणावयवलक्षणया पञ्च प्रतिपाद्यन्ते। किं कुर्वतः ? उच्यते, **धुरो दश**, प्रथमातृतीयार्थे, धूस्थानीयाभिर्दशभिरङ्गुलीभिः। **युक्ताः** प्रथमा द्वितीयार्थे, युक्तान्। **वहद्भ्यः** वहतः, स्वकर्मण्यभिषवाख्ये व्याप्रियमाणानीत्यर्थः।

अवनयोऽङ्गुलयः, **अवन्ति** गच्छन्ति **कर्माणि** प्रति। **कक्ष्याः प्रकाशयन्ति** अनुष्ठानेन फलेन वा **कर्माणि**। ख्यातेः कक्ष्या इत्युक्तनिर्वचनम्। **योक्त्राणि योजनानीत्यादि** निगदव्याख्यातम्। **अभीशवो** हि व्याप्नुवन्ति **कर्माणि**। **धूः धूर्वतेर्वधार्थस्य**। ध्वरति धूर्वति इति वधकर्मसु पाठात्। धूर्वन्ति घ्नन्ति उपक्षपयन्ति कर्माणीत्यर्थः। **इयमपीतरेति** सारूप्यप्रसङ्गादाह, युगादिसम्बन्धीनि। **विहन्ति वहं** स्कन्धमनडुहोऽश्वस्य वा। **धारयतेर्वा** धूः, धार्यते हि सा बलीवर्दैः। अङ्गुलयोऽपि धार्यसुवर्णनवोपलादीनि धारयन्तीत्युभयप्रकारेण निर्वचनम्।

कान्तमप्यङ्गुलीभिरेव क्रियत इत्याह-**कान्तिकर्माण** इच्छार्था **धातव** आख्यातान्य**ष्टादश**, वश्मि-उश्मसि इत्यादयः।

काम्यानां प्रथममन्नमित्याह-**अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः**-अन्धः, वाजः-इत्यादीनि। वाजः पय आदीनामन्यसाधारणानामर्थाद् विशेषाध्यवसायः। **अन्नमानतं** जातमात्रेभ्यो **भूतेभ्यः** उपनतं कर्मवशात्। आनमेर्निर्ह्रसितोपसर्गस्यान्नम्। **अत्तेर्वा**, अद्यतेऽत्ति च तस्मादन्नम्।

तदन्नसम्बन्धादेव **अत्तिकर्माणो धातवो दश**, आवयति भर्वतीत्यादयः। अत्र बब्धाम् इति पृथक्पाठे प्रयोजनं मृग्यम्। धात्वन्तराभिप्रायं वा। धातूनामधातुजत्वात्सर्वत्र प्रश्नानुपपत्तिः।

अन्नसम्बन्धाद् **बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः**, ओजः-पाजः-इत्यादीनि। **बलं** बिलेन व्याख्यातम्। बिलशब्दश्च सप्तमे निरुक्तः **'बिलं भरं भवति बिभर्त्तेः'** (निरु० २.५) इति।

बलवतां धनसम्बन्धादाह-**धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव**। पूर्वैस्तुल्यसंख्यात्वादेवकारः। मघं रेक्ण इत्यादीनि। सर्वधनाभिप्रायञ्चैतत्, हिरण्यस्य विशेषेणोक्तत्वात्। **धिनोति** प्रीणयति हि तद् दृश्यमानमपि किमङ्ग पुनर्भुज्यमानम्।

धनविशेषत्वाद् गवामाह-**गोनामान्युत्तराणि नव**, अघ्न्या उस्रा इत्यादीनि। निरुक्तत्वाद् गोशब्दस्य प्रश्नाभावः।

गोमिनां धनवतां च क्रोधः सम्भवतीत्याह-**क्रुध्यतिकर्माणो धातवो दश**, रेळते हेळते इत्यादयः।

क्रुध्यतिसम्बन्धात् **क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश**, हेळः-हरः इत्यादीनि। इच्छानिमित्तश्चेतसः कालुष्यं क्रोधः, स च सत्त्वभूतः, अतो नामानीत्याह।

क्रोधः प्रायेण गमनहेतुरित्याह-**गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशं शतम्**, वर्तते अयते इत्यादयः, चलन-देशान्तरप्राप्तिसामान्याद् गमिनात्रापदिश्यन्ते। तथाहि वर्तते चक्रम्, लोटते कुसूलम्, कसति पयः, सर्पति गोधा, स्रवत्युदकम् इत्यादीनां शब्दमाहात्म्यनिबन्धनो भेदः।

चलनस्यैव प्रतीतिः प्रायेण क्षिप्रगत्यादिगुणत्वादेवाह-**क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः**, नु मङ्क्षु इत्यादीनि। गुणस्य चैतानि क्षिप्रस्य, तद्वतो वा सत्त्वस्य। तथा च **'भुरण्युः शकुनिः'** (निरु०१२.२२) इति वक्ष्यति। क्षिप्रं **संक्षितो**ऽल्पीकृतः, **विकर्षो** दूरचिरत्वलक्षणः, चिरकालसाध्यमल्पेन क्रियते यत् तत् क्षिप्रम्। क्रियावयवानां द्रुतकारणत्वात्।

क्षिप्रसम्बन्धादन्तिकत्वस्याह-**अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश**, तळित्, आसात्-इत्यादीनि। **अन्तिकमानीत**मिव, तत्सन्निकृष्टत्वात्।

सन्निकृष्टानामेव संग्रामो भवतीत्याह-**संग्रामनामानि षट्चत्वारिंशत्**, रणः, विवाक्, विखादः इत्यादीनि। **संग्रामः सङ्गमनात्** एकीभवन्ति तत्र सैनिका युध्यमानाः कचाकचि। **सङ्गरणाद्वा** नामगोत्रादेः संशब्दनात्। **सङ्गत्तौ ग्रामौ** समूहौ सैनिकानामिति। ग्रामशब्दः समूहवचनः, वणिग्ग्रामादिप्रयोगदर्शनात्। वाजसातावित्यादीनामन्न-सदनोदकादिसाधारणानां प्रदर्शनार्थमाह-**तत्र खल इत्येतस्य** सञ्चयस्थाने प्रसिद्धस्य संग्रामविषयत्वेन **निगमा भवन्ति**। तेष्वपि प्रदर्शनार्थं कश्चिदुदाह्रियते।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

अ॒भी॒३॑दमेक॒मेको॑ अस्मि नि॒ष्षाळ॒भी द्वा किमु॒ त्रयः॑ करन्ति। खल॒े न प॒र्षान् प्रति॑ हन्मि॒ भूरि॒ किं मा॑ निन्दन्ति॒ शत्र॑वोऽनि॒न्द्राः॥ (ऋ०१०.४८.७) अभिभवामीदमेकमेकः। अस्मि निष्षहमाणः। सपत्नानभिभवामि। द्वौ किं मा त्रयः कुर्वन्ति। एक इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयस्तीर्णतमा संख्या। चत्वारश्चलिततमा संख्या। अष्टावश्नोतेः। नव न वननीया। नावाप्ता वा। दश दस्ता। दृष्टार्था वा। विंशतिर्द्विदशतः। शतं दशदशतः। सहस्रं सहस्वत्। अयुतं प्रयुतं नियुतं तत्तदभ्यस्तम्। अर्बुदो मेघो भवति। अरणमम्बु। तद्दोऽम्बुदः। अम्बुमद्भातीति वा। अम्बुमद्भवतीति वा। स यथा महान् बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्। खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि। खल इव पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि। खल इति संग्रामनाम। खलतेर्वा। स्खलतेर्वा। अयमपीतरः खल एतस्मादेव। समास्कन्नो भवति। किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः। य इन्द्रं न विदुः। इन्द्रो ह्यहमस्मि। अनिन्द्रा इतर इति वा। व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नामनी आक्षाण आश्नुवानः। आपान आप्नुवानः। वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत्। तत्र वियात इत्येतद् वियातयत इति वा। वियातयेति वा। 'आखं॑ण्डल॒ प्र हू॑यसे।' (ऋ०८.१७.१२) आखण्डयितः। खण्डं खण्डयतेः। तळिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म। ताळयतीति सतः॥१०॥

भाष्यटीका

अ॒भी॒३॑दमेक॒मेकौ अस्मि नि॒ष्षाळ॒भी द्वा किमु॒ त्रयः॑ करन्ति।

खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥ (ऋ०१०.४८.७)

इन्द्रो वैकुण्ठः स्वसामर्थ्यमाचष्टे। **अभिराख्यातेन, अभ्यस्मि** अभिभवामि, **इदं** सर्वमहम्। कथम्? **एकन्तावदेक** एव। **निष्षाट्** निःशब्दोऽत्र प्रकर्षे, निःशुक्लो नीरक्त इति यथा। सहिरभिभवे, प्रकर्षेणाभिभविता सपत्नानाम्। **अभी द्वा** अभिभवामि द्वावप्येवम्। **किमु त्रयः करन्ति** किं मे त्रयोऽपि कुर्वन्ति। त्रीनप्येक एवाभिभवामीत्यर्थः। **खले न पर्षान्** यथा खले पर्षान्, **'पृ पालनपूरणयोः'** (धा०३.४) इत्यस्येदं रूपम्। कर्षस्य पूरयितॄन् गोधूमादीन् बलीवर्दः पादैः एवं **प्रतिहन्मि भूरि** बहूनपि, ईदृशं सन्तं **किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः**, अविद्यमानो ज्ञेयतया इन्द्रो येषु ते, ममेन्द्रस्याज्ञातार इत्यर्थः। मत्तो वा इन्द्रादन्ये, अन्यस्येन्द्रत्वाभावादेव, मत्तो न्यूना इत्यर्थः। अथवा अनिन्द्राः अनायकाः।

एवन्तु व्याख्यायमाने घोटारूढस्य विस्मृतो घोट इत्येतदापद्यते। खलशब्दस्य संग्रामवचनस्य निगमप्रतिज्ञानात् सस्यसंचयस्थानवचनस्य च दृष्टान्तत्वेनोपन्यासात् पूर्वमुत्तरेण न सङ्गच्छते। अतोऽन्यथा व्याख्यायते अभिभवामीदं शत्रुसैन्यमेकमेव, युद्धैकरसमित्यर्थः। **एको**ऽहमसहाय एव। कथम्? **निष्षाट्** निष्षहमाणः, सहिरभिभवे, तेन चात्र तत्पूर्वकत्वाद् वधो लक्ष्यते, निष्कृष्य घ्नन्। **अभी द्वा अस्मी**त्यनुषङ्ग, द्वेधाभूतानपि सैनिकान् घटाद्वयसन्निवेशेन व्यूढसैन्यानपि **अभ्यस्मि, किमु त्रयः** किञ्च मम त्रयोऽपि कुर्वन्ति। बहुधापि व्यूहरचनावस्थिताः किं मां कुर्वन्ति। दर्पादाक्षिपन्नित्थं मम रोमाण्युत्पाटयितुं न शक्नुवन्तीत्यभिप्रायः। **खले न** सम्प्रत्यर्थे नकारः संग्रामे। **पर्षा**निति पर्षच्छब्दस्य संघातवाचिनो विकृतनिर्देशश्छान्दसत्वात्। संघातान् **प्रति हन्मि**, भूरि बहूनपीत्यादि समानम्।

आचार्यस्यायमभिप्रायः **न** शब्दः सम्प्रत्यर्थे नोपमायाम्। यत आह-खल इति संग्रामनामेति। प्रसङ्गाच्चान्यार्थप्रदर्शनम्-अयमपीतर इति। यत्तु खल इव पर्षान् इति वचनम्, न तदुपमानप्रदर्शनार्थम्। किन्तर्हि? प्रसिद्धसम्प्रत्यर्थेनेव शब्देनास्त्युपमार्थस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः। इहेव निधेहीति यथा, इति सम्प्रत्यर्थं प्रदर्शयितुम्। तथा **'सुविदुरिव'** (काठ०सं०८.३, १३, निरु०१.१०) इति वाक्यपूरणत्वेन प्रयोगः। लोकेऽपि च-क इव दोषः-इति। तस्मादुपक्रमोपसंहारगतेरुपपन्नमेतद् व्याख्यानम्।

पूर्वत्रापि व्याख्याने ग्रन्थमित्थं नयन्ति- तत्र खल इत्येतस्य संग्रामनामसु पठितस्यान्यत्रापि निगमा भवन्ति। अन्यत्र चेदमुदाहरणमभिहितम्। खल इति संग्रामवचनस्य तावन्निर्वचनम्। **अयमपीतर इति**, इतरस्यान्यस्य धान्यखलस्येति। तदेतद् यदि सङ्गच्छते, तथाऽस्तु।

एकपदनिरुक्तम्-**एक इता संख्या**, इतेति निर्वचनम्, संख्येत्यभिप्रायवचनम्। इता अनुगता उत्तरां संख्याम्। एकत्वप्रचयमात्रं हि द्वित्वादिसंख्या। **द्वौ द्रुततरा** इतरेतरेत्यर्थः, एकस्याम्। **त्रयस्तीर्णतमा**, द्वावेकं चापेक्ष्य।

सम्प्रति प्रसङ्गादाह-**चत्वारश्चलिततमा**, पूर्वापेक्षया। पञ्च व्याख्याता (निरु०३.८) पृक्ता संख्येति। षट् सप्त च व्याख्यास्यति। **'षट् पुनः सहतेः** (निरु०४.२७), **सप्त सृप्ता** (निरु०४.२६) इति। अत एतावुत्सृज्य **अष्टावश्नोतेः**। व्याप्नोति हि सा पूर्वाः संख्याः। **नव न वननीया**, असंभजनीया, अमङ्गल्या हि सा, यतो लोकस्तां परिहरति। **नावाप्ता वा**, दश संख्यां न प्राप्तेत्यर्थः। नव वननीयेति, पूर्वापेक्षया बहुत्वात् स्तवनीयेत्यर्थः। **दश दस्ता**, उपक्षीणा, दशान्तैव हि संख्या यतः। एकाद्युपचयेन दश संख्याया एवावृत्तेरेकादशादिसंख्योपजनः।

विंशत्यादयश्च दशावृत्तिरूपा एव **दृष्टार्था वा**, सर्वत्र एषैव दृश्यते उत्तरासु। ततश्च पश्यतेर्वा (तु०धा०१.१०३७) दश, दस्यतेर्वेत्यर्थ: (तु०धा०१.१०३७)।

विंशति: द्विर्दशभि:। द्विरावृत्तैर्दशभिर्विंशति:। **द्विर्दशदिति** पाठान्तरम्। द्विरावृत्तो दशवर्गो विंशति:। **द्विर्दशत** इत्यपि पाठान्तरम्, दशतो दशवर्गस्य द्विरावृत्तिरिति ग्रन्थयोजना। अर्थस्तु स एव। द्विर्दशेति तु समञ्जसम्। **शतं दशदशत:**, दशदशवर्ग: शतम्। **सहस्रं सहस्वत्** सहो बलं तत्संख्येये दृष्टं संख्यायामध्यस्यते। अभिभवति हि सहस्रं पूर्वसंख्या:। **अयुतमित्यादि**, तत्तत् सहस्रादि दशकृत्वोऽभ्यस्तम्। कुत एतत्? शते दशकृत्वोऽभ्यासस्य दर्शनात्, दशसंख्यायाश्च दृष्टार्थत्वात्, तदुपचयमात्रात्मकत्वाच्चायुतादीनाम्।

सम्प्रत्यर्बुदशब्दनिर्विवक्षया सारूप्यादम्बुदशब्दं निराह-**अम्बुदो मेघो भवति। अरणमम्बु** अर्ते:, बुर्नामकरण:, तस्मिन् गुणे रपरत्वे च रेफस्य मकार:, तद्द:। अम्बरो मेघ इति पाठे अम्बुराद्युकारस्याकार:, रातेश्चार्थं ददातिना दर्शयति, तद्ददातीत्यर्थ:। सारूप्यादेवाम्बरशब्दमन्तरिक्षवचनं निराह। निरुक्तस्य च प्रयोजनम् यन्नासत्या परावति। यद्वास्थोऽध्यम्बर इति नानात्मकत्वान्निर्वचनभेद:। **अम्बुमद्भातीति वा**, राजतेरर्थं भातिनाऽऽचष्टे। स्वच्छस्तिमितसरोऽम्बुवदवभासते, कलितोपमानं चैतत्। यथा-

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेष भाति मतङ्गज:।

सर: शरत्प्रसन्नाम्भो नभ:खण्डमिवोज्झितम्॥

परमार्थत: स्वरूपमवकाशम्। **अम्बुमद् भवतीति वा**, रो मत्वर्थे, **स:** अम्बुदोऽम्बरो वा स्वेनावयवेन **यथा महान्** क्रमेणोपचीयमानो बहुना व्यापी अपर्यन्तधारात्मना **भवति वर्षन्, तद्वदर्बुदं** क्रमेणोपचीयमानं महद् व्याप्तृ च, पूर्वसंख्यानां संख्येयधर्मेणायमपदेश:।

खल इति संग्रामनाम, खलतेर्वा मथनार्थस्य, मथ्यन्ते हि तत्र योधा:, **स्खलतेर्वा**, स्खलन्ति हि तत्र योधा:। **अयमपीत्यादि, एतस्मादेव** खलते:। तत्रापि हि संमथ्यन्ते क्षुद्यन्ते सस्यानि। स्खलन्तीति वा, स्खलन्ति त्वरमाणास्तत्र कर्षका:। **समास्कन्न** इति निर्वचनान्तरम्। संप्राप्तो ह्यसौ मृज्यमानो धान्यकणै:। इतरस्मिन्नपि दुर्जने समानम्। स हि साधून् मथ्नाति, स्खलयति वा दोषदृष्टिपरत्वात्। अन्यथा सन्तमर्थमन्यथा भाषमाण: श्रेयसो वा प्रस्खलति भ्रश्यते। **समास्कन्नो** वा पापेन।

संग्रामे परस्परं व्याप्ते: **व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश**, इन्वति नक्षत्यादय:। शाकपूणेरतिरिक्ता एते विव्याक विव्याच उरुव्यचा: विप्र इति व्याप्तिकर्माण:। तेषु **द्वे नामनी** आख्यातशङ्का व्यावृत्त्यर्थमाह-**आक्षाण:, आपान:** एतयोरर्थमशिना आपिना चाचष्टे शानजन्तेन क्रमेण **आश्नुवान आप्नुवान** इति।

तत्र व्याप्तानां वध इति **वधकर्माणो धातवस्त्रयस्त्रिंशत्**, दभ्नोति श्नथतीत्यादय:। तेषु **वियात इत्येतन्नाम** इति शेष:। तस्य शब्दसमाधिमर्थं चाचष्टे- **वियातयत इति वा वियातयेति वा**, विविधं याति शत्रूनिति वियाता, तस्य सम्बोधनम्। विपूर्वस्य यातयतेर्वा शे प्रत्यये वियातरिति। वियातयेति वा वियातरिति चेति पाठान्तरम्। यथा चायमेवं तडिदाखण्डलशब्दावपि नामनी। तत्राखण्डलशब्दस्यात्र वक्तव्यस्य तडिच्छब्दात् पूर्वं निगमेन नामत्वं दर्शयति।

शाचिंगो शाचिंपूजनायं रणाय ते सुत:।

आखंण्डल प्र हूंयसे॥ (ऋ०८.१७.१२)

इरिम्बिठेरार्षम्। शचीति कर्मनाम (निरु०२.१), तत्रभवा शाची। गौः स्तुत्याख्या वाक्, शाची गौर्यस्य स शाचिगुः। छान्दसत्वात् पुंभावो ह्रस्वत्वञ्च। तयैव शाच्या यः पूज्यते स शाचिपूजनः, तत् सम्बोधनं हे **शाचिगो**! हे **शाचिपूजन**! **अयं रणाय** संग्रामार्थं **ते** तव स्वभूतोऽयं, **सुतः** अभिषुतोऽस्माभिः सोमः। अतः हे **आखण्डल**! आखण्डयितः शत्रूणाम्, **प्रहूयसे** प्रकर्षेण हूयसे त्वमस्माभिः। शाचिगो शाचिपूजनेत्येतत्सामानाधिकरण्यादिन्द्रस्य चाखण्डलकृतसम्बन्धान्नामत्वं वधकर्मत्वञ्च, प्रतीत्या आखण्डयितररिति।

तडिदित्यन्तिकवधयोः, नामेति वाक्यशेषः। यतश्चैतदेवमतोऽन्तिकवधलक्षणे कर्मणि अस्य तत्**संसृष्टकर्म**। संसृष्टनामेति पाठान्तरम्। अत्र स्वशब्देनैव नामत्वं साधारणत्वं चोक्तं भवति। **ताळयतीति सत** इति वधकर्म-निर्वचनम्। इतरत्र ताडयतिरेव सन्निकर्षार्थत्वात्। सन्निकर्षार्थस्य निर्वचनम्।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथ एकादशः खण्डः।

त्वया॑ व॒यं सु॒वृधा॑ ब्रह्मणस्पते स्पा॒र्हा वसु॑ मनु॒ष्या दं॑दीमहि। या नो॑ दू॒रे त॒ळितो॒ या अरा॑तयो॒ऽभि सन्ति॑ ज॒म्भया॒ ता अ॑न॒प्नसः॑॥ (ऋ०२.२३.९) त्वया वयं सुवर्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददीमहि। याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिके। अरातयोऽदानकर्माणो वा। अदानप्रज्ञा वा। जम्भय ता अनप्नसः। अप्न इति रूपनाम। आप्नोतीति सतः। विद्युत् तडिद्भवतीति शाकपूणिः। सा ह्यवताडयति। दूराच्च दृश्यते। अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्। **'दू॒रे चि॒त्सन्त॒ळिदि॒वाति॑ रोचसे।'** (ऋ०१.९४.७) दूरेऽपि सन्नन्तिक इव संदृश्यस इति। वज्रनामान्युत्तराण्यष्टादश। वज्रः कस्मात्? वर्जयतीति सतः। तत्र कुत्स इत्येतत् कृन्ततेः। ऋषिः कुत्सो भवति। कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। अथाप्यस्य वधकर्मैव भवति। तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति। ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः। ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि। तत्रेन इत्येतत् सनित ऐश्वर्येणेति वा। सनितमनेनैश्वर्यमिति वा॥११॥

भाष्यटीका

त्वया॑ व॒यं सु॒वृधा॑ ब्रह्मणस्पते स्पा॒र्हा वसु॑ मनु॒ष्या दं॑दीमहि।

या नो॑ दू॒रे त॒ळितो॒ या अरा॑तयो॒ऽभि सन्ति॑ ज॒म्भया॒ ता अ॑न॒प्नसः॑॥ (ऋ०२.२३.९)

गृत्समदस्यार्षम्। **त्वया** सहायेनानुगृह्यमाणा वेति वाक्यशेषः। **वयं सुवृधा** वृधिरन्तर्हितण्यर्थः, शोभनेन वर्धयित्रा, हे **ब्रह्मणस्पते**! **स्पार्हा** स्पृहणीयानि वसूनि, **मनुष्या** पञ्चम्याः स्थान आकारः, मनुष्येभ्यः सामर्थ्यात् शत्रुभूतेभ्यः, **आददीमहि** गृह्णीम इत्यर्थः। किञ्च **या नः** अस्माकम्, **दूरे तळितो या अरातयः**, दूरे शब्दसन्निधानात् दूरान्तिकवर्तिनश्च शत्रोर्विनाशस्याकाङ्क्षितत्वात् तळिदित्यत्रान्तिकनाम, तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्, अन्तिकस्थाश्च याः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् अरातिर्जायत इत्यभिप्रायः। **अभिसन्ति** अभिभवन्ति, सामस्त्यार्थो वास्तिः, याः काश्चन सन्ति सर्वास्ताः। **जम्भय** नाशयेत्यर्थः। **अनप्नसः** अप्न इति रूपनाम, अरूपाः

प्रनष्टसर्वरूपाः कृत्वेत्यर्थः। **अरातयः** अविद्यमानदानक्रियाः, अन्यमपि वा ददतं वारयन्ति ताः, अदानप्रज्ञाः। आप्नोतेरप्नः, तद्धि कृत्स्नमाश्रयं व्याप्नोति।

विद्युतडिद् भवतीति शाकपूणिः। तथा लोकप्रसिद्धेः। तत्रापि वधकर्मत्वमेवोरीकृत्य प्रवृत्त इति दर्शयति **सा ह्यवताडयति** जनस्य चक्षूंषि, यस्य चोपरि निपतति हन्ति च। **दूराच्च दृश्यत** इति अन्तिकनामत्वाभावं दर्शयति। **अपि त्विदमित्यादि**, अपिः सम्भावनायाम् तुशब्दो वधकर्मपक्षात् पक्षान्तरं दर्शयितुम्, इदमिति बुद्ध्यधिकरणवक्ष्यमाण-मन्त्रविषयम्, तडिन्नाम पदापदेशार्थम्, एवशब्दोऽवधारणे, अभिप्रेतमिति निर्विचिकित्सावचनम्। दूरे चित् सन्निधानात् अन्तिकनामत्वं तडितो निर्विचिकित्सितम्। सोऽयमाचार्यमतान्तरवचनोपन्यासः विद्युत्तडिदिति स्वमतमेव द्रढयितुम्। सर्वसाधारणशब्देषु निगमः पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यान्निश्चयप्रतिपत्त्यर्थम् न पुनर्मतान्तरं दर्शयितुम्।

यो वि॒श्वत॑ः सु॒प्रती॑कः स॒दृङ्ङसि॑ दू॒रे चि॒त् सन्त॒ळिदि॒वाति॑ रोचसे।

रात्र्या॑श्चि॒दन्धो॒ अति॑ देव पश्य॒स्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ (ऋ० १.९४.७)

कुत्सस्यार्षम्। **यो विश्वतः** सर्वतः, **सुप्रतीकः** प्रतीकं मुखं दर्शनपर्यायो वा सुमुखः सुदर्शनो वा। **सदृङ्ङसि** सदृशश्चासि, अगृह्यमाणविशेषत्वात्। **दूरे चित्** चित् शब्दोऽप्यर्थे, दूरेऽपि **सन्, तडिदिव** अन्तिक इव। **अतिरोचसे** सुष्ठु दीप्यसे। **रात्र्याश्चित्** रात्रेरपि **अन्धं**तमः अत्युपसर्गात् ल्यबन्तक्रियापदाध्याहारः अतीत्य, **देव! पश्यसि** दृश्यसे। यस्य तव तमसापि दर्शनशक्तिर्न प्रतिहन्यत इत्यर्थः। तस्य **तव** हे **अग्ने! सख्ये** स्तुत्यस्तोतृत्वलक्षणे वर्तमाना इति शेषः, **मा रिषाम** मा हिंसिष्महि केनचिद् **वयमि**त्येतदाशास्महे।

वधसाधनत्वाद् वज्रस्य तन्नामान्यष्टादशेत्याह-दिद्युत् नेमिः हेतिः इत्यादीनि। **वर्जयतीति सतः**। वर्जयति प्राणैरिति केचिद् वाक्यशेषमध्याहरन्ति। अन्ये वर्जयतिमेव विनाशार्थं वर्णयन्ति। धनुराद्यायुधमात्रवचनश्च वज्रशब्द इति केचित्, इन्द्रसम्बन्ध्येव च विशिष्टमुभयमिति। त्रिशूलमित्यन्ये। धनुरादिषु तुल्यस्तुत्यर्थतया प्रयोगः। तत्रार्कवृक- तुजादयोऽनेकार्थाः तेषां प्रदर्शनार्थमेतन्निर्ब्रवीति **तत्र कुत्स इत्येतद्** यदा वज्रः, तदा **कृन्ततेः**, छिनत्तीति कुत्सः, ऋकारस्योकारः सो नामकरणः। यदा तु **ऋषिः कुत्सस्तदा कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः**। करोतेरकारस्योकारः, स्तोमशब्दात् सकारतकारौ व्यत्यस्तौ।

स्वमतमाह-**अत्राप्यृषौ अस्य** कुत्सशब्दस्य **वधार्थ** एव प्रवृत्तिनिमित्तं युक्तं भवति। कुतः? सति सम्भवेऽनेकनिमित्तताया अन्याय्यत्वात्। **'तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघान'** (निरु०३.११) **इति च दर्शनाद्** वधार्थतयोपपत्तेः। तदृषिसहित इन्द्रः शुष्णं शोषयितारमसुरं मेघं वोदकाप्रदानेन सस्यं, हतवान्। स च स्तुत्या वीर्यविवृद्धिं कुर्वन् मेघवधे साहाय्यकर्म प्रतिपद्यते। **'यासि॒ कुत्से॑न'** (ऋ०४.१६.११) इति च मन्त्रलिङ्गात्।

शत्रुवधादैश्वर्यं सम्भवतीत्याह-**ऐश्वर्यकर्माणश्चत्वारो धातवः**-इरज्यति, पत्यते-इत्यादयः।

ऐश्वर्यसम्बन्धादेवेश्वरनामानि **चत्वारि**-राष्ट्री, अर्यः-इत्यादीनि। तत्र इन इत्येतदेवं **निर्वक्तव्यम-सनितः** सम्भक्तः सङ्गत एकीभूतो विभक्तः सर्वथा इन एवेत्यर्थः। निजैश्वर्येणायमणिमादिना परमात्मा आदित्यो वा, तस्य पारमार्थिकमैश्वर्यम्, तदपेक्षयान्यत्र भुवनाधिपत्यमपि तृणवदसंप्रख्यम्। तथा चाह।

इदं फेनो न कश्चिद्वा बुदबुदो वा न कश्चन।

मायेयं तव दुष्पारा विपश्चिदिति पश्यति॥

मायामात्रमिदं सर्वमद्वैतं परमार्थतः॥ इति॥

लौकिकस्तु लवमात्रेणैवैश्वर्यव्यवहारः। सनितमवरुद्धमनेनैश्वर्यमिति, अन्येषां तदनुग्रहाल्लवमात्रकं स्यात्। कर्मकर्तृव्यापारभेदप्रदर्शनमात्रेण च व्याख्याविकल्पः। समितमित्यन्ये पठन्ति, तेषाम् इण उपसर्गार्थविशिष्टात् **'भावे क्तः'**। एकीभूतमैश्वर्येण यस्मिन्स उच्यते। इन आदित्यः परमात्मा वेति निगमः।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति। इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ (ऋ०१.१६४.२१) यत्र सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः। आदित्यरश्मयः। अमृतस्य भागमुदकस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपयितादित्यः। स मा धीरः पाकमत्रा विवेशेति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। 'विपक्वप्रज्ञ आदित्यः।' (मूल अज्ञात) इत्युपनिषद् वर्णो भवति। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यत्मम्। यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि। अमृतस्य भागं ज्ञानस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा। स मा धीरः पाकमत्रा विवेशेति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आत्मा। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥१२॥

भाष्यटीका

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ (ऋ०१.१६४.२१)

दीर्घतमसः। अधिदैवतं तावदस्या ऋचोऽर्थः। **यत्रेति** सप्तमीश्रुतेः। स्थिता इति शेषः। **सुपर्णा** इति रश्मिनाम, यस्मिन् आदित्यमण्डले स्थिता रश्मयः। **अमृतस्य** प्राणिनां जीवनहेतुत्वादमृतसदृशस्य अमरणधर्माणो वा भौमरसलक्षणस्योदकस्य। **भागम्** अंश स्वं स्वम्। **अनिमेषम्** निमेषवर्जितम्, महतादरेण सातत्येन वेत्यर्थः। **विदथा** वेदनेन, देवतामाहाभाग्यात् स्वेन केनापि विज्ञानेन। **अभिस्वरन्ति 'स्वृ शब्दोपतापयोः'** (धा०१.९७९) आभिमुख्येनोपतापयन्ति शोषयन्तीत्यर्थः।

अथवा स्वरतिरत्र गतिकर्मस्वपठितोऽपि गत्यर्थः। भागमिति द्वितीयाश्रुतेरादायेति शेषः। यस्मिन्नादित्यमण्डले उदकस्यांशं स्वं रसमादाय गच्छन्तीत्यर्थः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तत्र स्थित **इन** ईश्वरो **विश्वस्य** सर्वस्य **भुवनस्य** भूतजातस्य, **गोपाः** गोपायिता च, य इति शेषः परस्तात् तच्छतेः। **स मा** मां **धीरः** प्रज्ञावानादित्यः, **पाकम्** अर्थित्वाद् भक्तित्वादपक्वप्रज्ञत्वाच्च वक्तव्यप्रज्ञं मामत्रादित्यमण्डले **आविवेश** आवेशयतु प्रापयत्वित्यर्थः।

सुकृतिनां हि तत्स्थानम्। तेन तत्र प्रापणमर्थ्यत **इत्युपनिषद्वर्णः**। रहस्यविद्या उपनिषत्, वर्णनं वर्णः, तद्विषयं व्याख्यानं नैश्रेयसं ज्ञानमुपनिषद्वर्णः। तदर्थं वोपनिषीदन्त्याचार्याः। तेभ्यश्च वर्णयन्त्याचार्या इति उपनिषद्वर्णो भवति, **इत्यधिदैवतम्**। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (तु०पा०२.१.६)। देवतायामित्यर्थः। देवताविषयं विज्ञानं ताद्भाव्यापत्तिश्रुतेर्नैश्रेयसत्वाद् उपनिषद्वर्ण उच्यते। भाष्यं मन्त्रव्याख्यानेन गतम्।

अथवोपनिषद्वर्णता **'असौ वा आदित्यो मधु'** (तु०छा०उ०३.१.१) इत्यादि अध्यात्ममप्यस्या ऋचोऽर्थः। **यत्र** यस्मिन् शरीरे स्थिताः, रश्मयः प्रकाशकत्वाद् रश्मिसदृशानि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, **अमृतस्य** रूपादेर्ज्ञेयस्य विषयस्य **भागं** स्वं स्वमंशं चक्षू रूपं श्रोत्रं शब्दं घ्राणादीनि गन्धादीनि, **अनिमेषं** विज्ञानेनोपतापयन्ति, आत्मानं प्रकाशयन्तीत्यर्थः। तत्र भोक्तृत्वेन स्थित **इन** ईश्वरः सर्वस्येन्द्रियग्रामस्य **गोपा** यः **स धीरः** प्रज्ञावान्, **पाकं** वक्तव्यप्रज्ञम**त्रै**व स्थितमाविशतु मम प्रकाशीभवत्वित्यर्थः।

अथवा यत्रेत्यात्मा निर्दिश्यते न शरीरम्। भागमित्यत्र च पूर्ववदादायेति शेषः। स्वरतिश्च गत्यर्थः। यस्मिन्निहितानीन्द्रियाणि विषयस्यांशं स्वमादाय विज्ञानेनोपलभ्यार्थमभिगच्छन्ति। ईश्वरो गोपायिता च स मामाविशत्विति। अनिमिषमिति गतम्। आत्मगतिमात्मज्ञानम्। अयमप्युपनिषद्वर्ण एव। पूर्वो देवताविषयः। अयमात्मविषय इति विशेष इति।

इत्याचार्यमहेश्वरविरचितायां निरुक्तभाष्यटीकायाम् अष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः पादः। द्वादशश्च खण्डः॥

अथ तृतीयः पादः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

बहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बहुः कस्मात्? प्रभवतीति सतः। ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश। ह्रस्वो ह्रसतेः। महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। महान् कस्मात्? मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः। मंहनीयो भवतीति वा। तत्र ववक्षिथ विवक्षसे इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासात्। गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। गृहाः कस्मात्? गृह्णन्तीति सताम्। परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश। सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः। सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः। खं पुनः खनतेः। रूपनामान्युत्तराणि षोडश। रूपं रोचतेः। प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश। प्रज्ञानामान्युत्तराण्येकादश। सत्यनामान्युत्तराणि षट्। सत्यं कस्मात्? सत्सु तायते। सत्प्रभवं भवतीति वा। अष्टा उत्तराणि पदानि पश्यतिकर्माण उत्तरे धातवश्चायतिप्रभृतीनि च। नामान्यामिश्राणि। नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय। अथात उपमाः। यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्॥१३॥

भाष्यटीका

ईश्वराणामेव बह्वित्याह-**बहुनामान्युत्तराणि द्वादश**-उरु पुरु इत्यादि। **बहु प्रभवति** पर्याप्नोति व्रतनिवृत्तये।

बह्वपेक्षयैवाल्पव्यपदेश इत्याह-**ह्रस्वनामान्येकादश**-ऋहन्, ह्रस्व इत्यादीनि। ह्रस्वाल्पयोर्मात्रापचय-सामान्येऽभेदोऽभिप्रेतः। अनायामवैपुल्यलक्षणो विशेषः। **ह्रस्वो ह्रसतेः** (तु०१.७४३), आरोहपरिणामाभ्याम्।

ह्रस्वविपर्यप्रसङ्गादाह-**महन्नामानि पञ्चविंशतिः**-महत्, ब्रध्नः, ऋष्वः-इत्यादीनि। **महान् मानेन** स्वगुणेन परिमाणेन **अन्यान्** यदपेक्षमस्य महत्त्वं तान् **जहाति** अतिक्रामति, मानशब्दाज्जहातेश्चेति **शाकपूणिः**। निर्वचनलाघवात् मंहतेः पूजाकर्मणः, पूजनीय इत्याचार्यः। तेषु **ववक्षिथ विवक्षसे इत्येते** आख्यातपदे इति शेषः। ते तु **वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासात्** सन्नाभ्यासस्य द्वे अपि न यथासंख्येन। अर्थरूपस्य चोभयत्र सम्भवात्, अतिशयवतो वचनाद्वहनाद्वा महत्त्वस्यापि प्रतीतेः, महन्नामसूपपन्नः पाठः। योऽभिविश्वं वक्तुं वोढुं वा समर्थः महानसौ। तच्चेदं निगमपदान्तरसम्बन्धसामार्थ्यादुन्नीयत इत्युभयत्र निगमौ प्रदृश्येते। ववक्षिथेत्यस्य।

आ प॒प्रौ पार्थि॑वं॒ रजो॑ बद्ब॒धे रो॑च॒ना दि॒वि।

न त्वावाँ॑ इन्द्र॒ कश्च॒न न जा॒तो न ज॑निष्य॒तेऽति॒ विश्वं॑ ववक्षिथ॥ (ऋ०१.८१.५)

गौतमस्य। आपूरयतीन्द्रो वृष्ट्या **पार्थिवं रजः** पृथिवीलोकं वृष्टिद्वारेण। एवञ्च **बद्बधे** बध्नाति, **रोचना** रोचनानि नक्षत्रादीनि, **दिवि** तेषां दिवि बन्धनस्य धर्ममूलता, धर्मस्य च वृष्टिमूलत्वात्, वृष्टिप्रदानद्वारेण बध्नातीत्युच्यते। परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्। **न त्वावां** त्वत्सदृशः हे **इन्द्र! कश्चन** कश्चिदपि पूर्वं

न जातो नापि जनिष्यते। कुत: ? यतोऽ**तिशयेन** सर्वं भुवनं **ववक्षिथ** अनुशासितुं वोढुं वेच्छसि, अनुशास्मि वहसि वेत्यर्थ:। अतिशयवत: सामर्थ्यान्महानसि, अतो भवन्तं स्तुम इति शेष:।

उपाध्यायस्त्वाह-अनेकार्थत्वाद्धातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम्। अत्युपसर्गाद् योग्यक्रियाध्याहार:, अतीत्य सर्वं महान् भवसीत्यर्थ:। विवक्षसे इत्येतस्य।

आग्निं न स्ववृ॑क्तिभि॒र्होता॑रं त्वा वृणीमहे।

य॒ज्ञाय॑ स्ती॒र्णब॑र्हिषे॒ वि वो॒ मदे॑ शी॒रं पा॑व॒कशो॑चिषं॒ विव॑क्षसे।। (ऋ०१०.२१.१)

विमदस्य। आ इत्याख्यातेन। **अग्निं न** शब्द: अस्त्युपमार्थस्य सम्प्रत्यर्थोपयोग इति एवं पदपूरण:। **स्ववृक्तिभि:** या: स्वयमात्मनैव वर्जिता दोषै:, ताभि: स्तुतिभि:, **होतारं** त्वाम्, **आवृणीमहे** आभिमुख्येन वृणीमहे **यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे** यज्ञस्य स्तीर्णबर्हिषोऽर्थाय। **वि**शब्दो वैविध्ये, विविधमावृणीमह इति। **व:** युष्माकं सर्वेषामेव देवानां **मदे** निमित्ते सोमजन्यमदार्थमित्यर्थ:। कीदृशं त्वाम्? **शीरं** सम्भूतानुशायिनम् **पावकशोचिषम्** पावकदीप्तम्। किञ्च **विवक्षसे**, अग्निघातौ नानावाक्यत्वात्। महांस्त्वं भवसि तत्र समिध्यमान इति शेष:। इत्युपाध्यायव्याख्यानम्। अन्यत्तु पूर्वकृतमेव, यो वक्तुं वोढुं वेच्छसि। एवं सामर्थ्ययुक्तं तं त्वां वृणीमह इति। अस्मिन् पक्षे एकवाक्यत्वाच्छान्दसाच्च निघात:।

महतामेव गृहा: इत्याह-**गृहनामानि द्वाविंशति:**-गय:, कृदर:, गर्त्त:-इत्यादीनि। **गृहा: कस्मादिति**? लोके वेदे चोद्भूतावयवभेदानुगतस्यास्यैव विवक्षायां नित्यं बहुवचनम्। एते मम गृहा:, गृहान् गच्छ, गृहपत्नी यथा सा, न्यग्भूतावयवभेदस्य समुदायस्यैकत्वेन विवक्षायामेकवचनम्। कतरद्देवदत्तस्य गृहम्, गृहमिन्द्रा जगन्तन, गृहं गृहं विचाकशत्। **गृह्णन्ति** रहन्ति। विषयिण: पुरुषानिति। यावद्वा प्रक्षिप्यते तत्सर्वं गृह्णन्ति दुष्पूरत्वात्। **सतामिति** भेदेन प्रक्रमात् भेदेनैव कारकावधारणम्। दुर्यगर्तादीनि चावटपर्वतादिसाधारणनामान्युक्तेनैव प्रकारेण निगमसामर्थ्याद् विवेक्तव्यानि।

गृहसम्बन्धात् परिचरणस्याह-**परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश**-इरज्यति, विधेम इत्यादय:।

परिचरणनिमित्तत्वात् सुखस्याह-**सुखनामानि विंशति**-शिम्बाता, शतरा-इत्यादीनि। **सुखम्** सुष्ठु **हितं खेभ्य:**। नेयं हि योगलक्षणा चतुर्थी, इन्द्रियाणामाचैतन्यात् सुखादिभिरनभिसम्बन्धात्। अत इयं हेतौ पञ्चमी। इन्द्रियविषयसन्निकर्षस्य सुखहेतुत्वादुपपद्यत इन्द्रियाणां हेतुता। यथाश्रुतसम्बन्धानुपपत्तेश्च सम्बन्धयोगि-पदान्तराध्याहार:। अतिशयेन हितं पुरुषस्य खेभ्य:, सुखहेतुकमित्यर्थ:। हितं वा पुरुषे, आत्मधर्मत्वात् सुखादीनाम्, धर्म्यधिकरणत्वाच्च धर्माणाम्।

अथवा खेभ्य इति चतुर्थ्येव। खशब्देन च **'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण'** (न्या०वात्स्या०१.१.४) इति सम्बन्धसम्बन्धात् पुरुष एवोच्यत इति यथाश्रुतसम्बन्ध:। तथाचोपनिषद्वर्ण: **'स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुर: क्षुरधानेऽवहित: स्यात्'**[1] इत्युपक्रम्य **'प्राणन्नेव प्राणो भवति'** (तु०बृहदा०उप०१.५.१) इति प्राणादिशब्दैस्तस्यैवाभिधानं दर्शयति।

---

१ (बृहदा०उप०१.५.१ एवं तु० कौ०उप० ४.२०)

खं पुनः खनतेः (धा०१.९२७), खातमिव हि तत् केनापि। अधिष्ठानाभिप्रायश्चैतत्। अथवा खद्वारेण विषयेण विषयविवेकोत्पत्तेर्वस्तुखननात् खं खनतेरित्याह। अथवा खं पुनः खनतेरुत्पूर्वस्य, उत्खनति विनाशयति। किम्? परं ब्रह्मप्राप्तिसुखम्। कथम्? तद्द्वारेण ग्राम्यसुखप्रवृत्तेरधोगमनात्।

सुखिनामेव प्रायेण रूपवत्त्वाद् रूपनामान्याह-**रूपनामानि षोडशेति**, वव्रिः, वर्पः-इत्यादीनि। ननु **'रूपं रोचतेः'** (निरु०२.३) इत्युक्तनिर्वचनस्य पुनर्वचनमयुक्तम्? उच्यते, इह प्रकरणे प्रदर्शितनिर्वचनस्य रूपशब्दस्य, तत्र प्रविभज्य निर्ब्रूयात् समासनिर्वचनप्रकारप्रदर्शनपरयता प्रासङ्गिकोऽनुवादः, **'कल्याणं कमनीयं वर्णो वृणोतेः रूपं रोचतेः'** इति।

अत्रापि मरुदादीनामुपेक्षा, रूपवतः प्रशस्यत्वादाह-**प्रशस्यनामानि दश**-अस्रेमाः, अनेमाः, अनेद्यः-इत्यादीनि।

प्रशस्यानामेव प्रज्ञेत्याह-**प्रज्ञानामांन्येकादश**-केतः, केतुः-इत्यादीनि। अर्थान्तरवृत्तीन्युपेक्ष्याणि।

प्रज्ञावतां प्रायेण सत्यमित्याह-**सत्यनामानि षट्**-बट्, श्रत्-इत्यादीनि। बडादयो निपाताः। ऋतमित्युदकमपि। **सत्यम् सत्सु तायते**। सन्तः शास्त्रार्थस्थानाः सत्त्वप्रधानास्तेषु प्रथते। स्वभावतो विनष्टधर्मानुग्रहाद्वा ते प्रभवो यस्य, गृह्यमाणकारणव्यवस्थाकारित्वात् तेभ्यः प्रभवतीत्यर्थविकल्पः। पूर्वत्र सत्पूर्वात् तायतेश्च निर्वचनम्। यद्वा **सत्सु** विद्यमानेषु स्तम्भकुम्भकरकादिषु भावेषु **यत्तायते** तत्सत्यम्, नासत्सु **'नापुत्रकस्य शरीरम्'** इत्यादिषु शब्दमाहात्म्यनिबन्धनेषु विकल्पमात्रेषु। **सत्प्रभवम्** सद्भिरेव वा भावैः प्रयुक्तं नासद्भिः शशविषाणादिभिः। तदेतेद् व्यावहारिकमभिधानं सत्यमुररीकृत्योक्तम्।

अन्यस्तु परमार्थलक्षणं ब्रह्म शाश्वतं सत्यम्, तदपि सत्सु विकारेषु महदादिषु तायते प्रकाशते अस्तीति ज्ञायत इत्यर्थः। कैवल्यायां हि तत्, नासन्नो सत्। तथा च **'नासदासीत्'** (ऋ०१०.१२९.१) इत्यादिमन्त्रदर्शनम्। आविकारिकं वा ब्रह्म, तदपि पुनः प्रविकसति विकारात्मनि तायते। तदुक्तम् **'ऋतं च सत्यं च'** (ऋ०१०.१९०.१) इति। तथा च पौराणिकाः।

यदा यथा सिसृक्षुस्तु भवेद्देवो रजस्वलः।
विभक्तेषु विशेषेषु स तदैव प्रतायते॥

प्रधानमित्यन्ये। यतः प्रधानपरिकल्पेप्येतद्युज्यते **सत्प्रभवं भवतीति वा**। सत्तामात्रात् तस्मादेव ब्रह्मणः प्रभवन्त्युपपद्यन्ते। यद्विशेषसत्ताभिन्नमिति। तदप्युक्तम् **'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्'** (ऋ०१०.१२९.४) **सतो** विद्यमानस्य विकारस्य **बन्धुं** बन्धनमूलं यतः प्रभवति, तदस्ति बीजभूतम्। न हि बीजोत्पत्तिर्दृष्टेति। एतद् **हृदि** हृदये, **प्रतीष्य** पर्येष्य **कवयो** मेधाविनः, **मनीषा** प्रज्ञतया प्रज्ञयेत्यर्थः। तस्य च बीजभावः पूर्वार्धर्चेन प्रदर्श्यते **'कामस्तदग्रे'** (ऋ०१०.१२९.४) इति। **काम** इच्छा तद्धेतुभूतो वा संकल्पः। **अग्रे** सृष्टिकाले, **तत्समवर्तत** समनुगतवान्। किं तत्? **मनसः** मननस्य ज्ञानात्मकस्य, **रेतः** बीजं कारणम्, **प्रथमम्** अनन्यपूर्वम्, **यदासीत्** तन्निरविन्दन्, इत्येवमेकवाक्यता। सोऽयं सर्वोपनिषत्सु सिद्धान्तः।

कैश्चित्तु मीमांसकैः वेदोत्तरमुपनिषत्, न वाग्व्यवहारातीतं ब्रह्म इति शून्यवाचोयुक्तिरिति वदद्भिः अपहसितम्। तत्पुनर्युक्तायुक्ततया परीक्ष्यमिति।

अष्टावुत्तराणीत्यादि। किमर्थानीति? आह-**पश्यतिकर्माणो** दर्शनार्था **धातवः**, आख्यातानि च आचक्ष्म चष्टे विचष्टे-इति चक्षिङो दर्शनार्थस्य। चायतिप्रकृतीनि च चायतिस्वभावानि वात्यर्थानि चिक्यत् चाकनत् विश्वचर्षणिर्विचर्षणिरवचाकशत्-इति **नामान्येतान्यामिश्राणि**। अत एव च सामान्येनोक्तम् पदानीति। अभिहितनामाख्यातलक्षणाच्च प्रविभागः। चायतिप्रकृतित्वं कथमवसीयतीति चेदत आह-'**पिता कुटस्य चर्षणिः**' (ऋ०१.४६.४, निरु०५.२४) इत्यस्य **पिता कुटस्य** कृतस्य कर्मणश्चायितादित्य इत्यर्थः। इत्युपसर्गस्यापि चायत्यर्थदर्शनात्।

नवोत्तराणि पदानि, आमिश्राणीत्यनुषङ्गः-हिकं नुकम्- इत्यादीनि। निपातोपसर्गसमाहाररूपत्वाच्चा-मिश्रत्वम्। अथ किमर्थमित्थंभूतानामाम्नानमिति चेत्? **सर्वपदसमाम्नानाय**। चत्वार्यपि पदजातानि समाम्नातानि कथं स्युरिति। एतच्च दृष्ट्वैवमवोचत नामान्येतानीति। प्रदर्शनार्थञ्च कतिचिन्निपाताः पठिताः, न साकल्येन, गौरव-प्रसङ्गादपरिमितत्वाच्च। यतश्चादीन् पठित्वा विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपातः, इत्यभियुक्तैरपठितोपसंग्रहाय लक्षणमुक्तम्-उच्चावचेष्विति। हिकं नुकमित्यादयो निपातसमाहाररूपा निपाताः। सुकमित्युपसर्गनिपातसमाहारः।

परमार्थतस्तु निपातान्तराण्येवैतानि। निपातोपसर्गसंज्ञावयवाच्च समाहारव्यपदेशः। व्यस्तमस्तानां निगमेषु दर्शनात्। समभिव्याहारत्वेऽपि च पदकाराणां वैचित्र्यम्। केषाञ्चिदेकपदत्वम्, न चैकेषाम्। '**वसुर्वसुपतिर्हि कम्**' (ऋ०८.४४.२४) '**नहि ग्रभाय** (ऋ०७.४.८, निरु०३.३) '**इमा नु कं भुवना** (ऋ०१०.१५७.१) '**तिष्ठा सु कं** (ऋ०३.५३.२) '**पृङ्क्तं हवींषि मधुना हि कं**' (ऋ०२.३७.५) '**आकीं सूर्यस्य रोचनात्** (ऋ०१.१४.९) '**न किरिन्द्र** (ऋ०४.३०.१)। '**माकिर्नेशत्** (ऋ०६.५४.७) एवमादिष्वेते द्रष्टव्याः।

सम्प्रति निपातोदाहरणप्रसङ्गेनोपमालक्षणं वक्तुमधिकरोति-**अथात उपमा** इति। उपमार्थत्वान्निपाता-नुपादायोपमा उच्यन्ते। इदमिव इदं यथा इत्यादि प्रदर्शयितुम्। इह तु तात्पर्येण इदमिव अग्निं न इति सामान्यविशेषाभ्यां व्याचिख्यासोरुपन्यासः। समाम्नायक्रमात्, तत्र सामान्यं तावल्लक्षयति। लक्षणमाह। **यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म**। '**गौरिव गवयः**'[1] '**अग्निरिव मन्यो त्विषितः** (ऋ०१०.८४.२, निरु०१.१७)। लोके वेदे च गवादिरर्थः प्रसिद्धः, अप्रसिद्धस्य गवयमन्युप्रभृतेरवयवक्रियागुणसामान्येन परिच्छेदाय पारार्थ्येनोपादीयमान उपमीयते। उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्, तदाश्रितो धर्मः, यत्कृतमस्य गवादेरुपमानत्वम्, अवयवक्रियागुणसामान्यलक्षणः, गोशब्देनानुपात्तः परित्यक्तः, उपमाख्यो यः स इवादीनामर्थः, तद्भावभावित्वेन प्रतीतेः।

एवञ्च कृत्वा षष्ठे व्याख्यातम्-सर्व एव निपातः पराश्रितधर्मप्रतिपादनार्थाः। यथा इवादिरुपमानत्वादेरिति। तदेतदुक्तम्-यदतदित्यनेन। सामान्येनोपमेयमात्रं निर्दिश्यते, न तत् अतत्, अनुमेयं किं तत्सदृशं केनोपमेयेन सदृशम्। तदासामुपमानानामिवादीनां कर्म अर्थः, एवं **गार्ग्यो** मन्यत इति शेषः। उपमाभिप्रायश्चासामिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। ननु च सदृशं गोद्रव्यं न च द्रव्यमिति वादिनामर्थः? उच्यते। धर्मधर्मिणोरभेदोपचारेण सदृशं सादृश्यापदेशार्थम्। एतदुक्तं भवति अप्रसिद्धावयवस्थानक्रियागुणपरिच्छेदाय गवादिशब्दानुपरिवर्तित्वेन

---

१ (तु०यथा गौरेवं गवयः। न्या०वात्स्या०भा०१.१.६ लौकिकोदाहरणानुरोधेनेदम्। गवयतः)

प्रयुज्यमानाः प्रसिद्धगवादिसमवेता- वयवादिसादृश्यलक्षणं धर्ममुपाददानाः सन्त इवादय उपमा उच्यन्ते। तथा प्रतीतेरित्युक्तम्।

इदानीमनेकत्र स्थितानामुपमेयप्रवृत्तिं दर्शयति **ज्यायसा** वेत्यादि। अतिशयप्रशस्तेनोत्कृष्ट**गुणेन** प्रदर्शनमेतत् क्रियादौ कनीयांसमतिशयेनाल्पं निकृष्टमित्यर्थः। **प्रख्याततमेन** वात्यन्तप्रसिद्धेन **अप्रख्यातमप्रसिद्धमुपमिमीते**। पूर्वस्योदाहरणम्-**'इन्द्र॑ इवे॒ह ध्रु॒वस्ति॑ष्ठ'** (ऋ०१०.१७३.२) इति इन्द्रस्यातिशयप्रशस्तं देवैश्वर्यस्थानम्, तेन निकृष्टं कनीयांसं मर्त्यं राजानमुपमिमीते। उत्तरस्य **'अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्वि॒षि॒तः'** (ऋ०१०.८४.२) इति। दीप्तिरग्नौ प्रख्याता यथा, न तथा मन्यौ। तथा दुर्मदपानानां संघर्षः प्रसिद्धः। तेन सोमानामुपमानम् **'दु॒र्मदा॑सो॒ न सुरा॑याम्'** (ऋ०८.२.१२) इति। ज्यायसा कनीयांसमित्यस्य क्वचिद्व्यभिचारोऽपि छन्दसि दृश्यते।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

त॒नू॒त्यजे॑व॒ तस्क॑रा व॒न॒र्गू र॑श॒नाभि॑र्द॒शभि॑रभ्य॑धीताम्॥ (ऋ०१०.४.६) तनूत्यक् तनूत्यक्ता। **वनर्गू** वनगामिनौ। अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते। तस्करस्तत्करो भवति, यत्पापकमिति **नैरुक्ताः**। तनोतेर्वा स्यात्, सन्ततकर्मा भवति, अहोरात्रकर्मा वा। **र॒श॒नाभि॑र्द॒शभि॑र॒भ्य॑धीताम्।** अभ्यधीतामित्यभ्यधातां ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः॥१४॥

भाष्यटीका

त॒नू॒त्यजे॑व॒ तस्क॑रा व॒न॒र्गू र॑श॒नाभि॑र्द॒शभि॑र॒भ्य॑धीताम्।

इ॒यं ते॑ अग्ने॒ नव्य॑सी मनी॒षा यु॒क्ष्वा रथं॒ न शु॒चय॑द्भि॒रङ्गैः॥ (ऋ०१०.४.६)

त्रितस्यार्षम्। **तनूत्यजाविव** क्षुधा चौर्यं कुर्वतो यदा कदाचिच्छरीरविनाशस्यावश्यम्भावात् स्वस्यास्तन्वास्त्यक्तारौ स्वशरीरनिरपेक्षौ **तस्करौ** चौरौ, **वनर्गू** वनगामिनौ अरण्ये मुष्णन्तौ, तौ यथा कश्चिद् दृष्ट्वा गाढं रज्ज्वा बध्नीयाताम्। एवं त्वामाधानकाले जनयन्तौ **रशनाभिरभ्यधीताम्**, अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने, बद्धवन्तौ बाहू, अध्वर्ध्योः स्वभूतौ महतादरेण जनितवन्तावित्यर्थः। **इयञ्च ते** तव, हे **अग्ने! नव्यसी** अतिशयेन नव्या अन्येनाकृतपूर्वा, **मनीषा** मनस ईषा स्तुतिः, एतज्ज्ञात्वा **युक्ष्व** नियुङ्क्ष्वात्मानं स्वकर्मणि हविर्वहनादौ। **रथं न** रथमिव, यथा रथं कश्चित् **शुचयद्भिः** दीप्यमानैः स्वैरङ्गैर्योजयेत्। तद्वद्वा प्रियस्व आविर्भव ज्वलयेत्यभिप्रायः।

तनूत्यक्ता ताच्छीलिकस्तृन्, अयमर्थनिर्देशपरार्थत्वाच्चानिर्देशस्य वचनमपि विवक्षितम्। बहुवक्तव्यत्वाच्च क्रमप्राप्तमपि तस्करमतीत्य वनर्वं निराह-**वनर्गुर्वनगामीति**। तस्करसन्निधानाच्चायमर्थो निश्चितः। उपमा चैवं समर्थिता भवति। ग्रामेऽरण्ये वा तस्करादन्यत्र गाढबन्धनमप्रशस्तं भवतीति कनीयसा ज्यायांसमिति दर्शयति **प्रशस्तावग्निमथनौ बाहू**, अप्रशस्ताभ्यां **तस्कराभ्यामिति**। **तस्करः तत्करोतीति**, तच्छब्देन **प्रकरणसामर्थ्यादर्थप्राधान्याच्च** पापकमेव निर्देष्टुमभिप्रेतमाह-**यत् पापकमिति नैरुक्ताः** इति। वैयाकरणास्तु

शब्दपरत्वाच्च सामान्येनाहुः **'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुडागमस्तलोपश्च'** (अष्टा०वा०६.१.५७) इति। **तनोतेर्वा** (तु०धा०८.१) **स्यात् सन्ततकर्मेति**। सन्ततं कर्म स्तेयमस्येति, तनोतेः कर्मशब्दाच्च तस्करः। तच्च सन्ततकर्मत्वं दर्शयति-**अहोरात्रकर्मेति**। अहनि पथि मोषणेन, रात्रौ सन्धिच्छेदनेन। ततश्चात्र **वेत्यपठा**ठः। **ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः**-उपमेयगुण उपमानाच्चौरगुणादिति केचित्। अन्ये तु नायमपवादः, ज्यायानेवात्र गुणोऽभिप्रेत उपमानभूतो गाढबन्धनप्रकर्षलक्षणो यश्चौरगतः, तेनाग्निबन्धनो बाहुरत्रोपमीयते, ज्यायसा कनीयांसमिति। अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणम्। एतदप्येवमेवोभयथा अपवादरूपेणोत्सर्गरूपेण च योजनीयम्।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

कुह॑ स्विद् दो॒षा कुह॒ वस्तो॑र॒श्विना॒ कुहा॑भिपि॒त्वं क॑रत॒ः कुहो॑षतुः। को वां॑ शयु॒त्रा वि॒धवे॑व दे॒वरं॒ मर्यं॒ न योषा॑ कृणुते स॒धस्थ॒ आ॥ (ऋ०१०.४०.२) क्व स्विद् रात्रौ भवथः क्व दिवा। क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः। क्व वसथः को वां शयने विधवेव देवरम्। देवरः कस्मात्, द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति। विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति चर्मशिराः। अपि वा धव इति मनुष्यनाम। तद्वियोगाद् विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा। मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा। योषा यौतेः। आकुरुते सधस्थाने। अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः। यथेति कर्मोपमा। **यथा॒ वातो॒ यथा॒ वनं॒ यथा॑ समु॒द्र एज॑ति॥** (ऋ०५.७८.८) **भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा॥** (ऋ०१.५०.३; अथर्व०१३.२.१८; वा०सं०८.४०) **आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा॥** (ऋ०१०.९७.११; वा०सं०१२.८५) आत्मा अततेर्वा। आप्तेर्वा। अपि वाप्त इव स्यात्। यावद् व्याप्तिभूत इति वा। **अ॒ग्निर्न ये भ्राज॑सा रु॒क्मव॑क्षसः।** (ऋ०१०.७८.२) अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः॥१५॥

भाष्यटीका

कुह॑ स्विद्दोषा कुह॒ वस्तो॑र॒श्विना॒ कुहा॑भिपि॒त्वं क॑रत॒ः कुहौ॑षतुः।
को वां॑ शयु॒त्रा वि॒धवे॑व दे॒वरं॒ मर्यं॒ न योषा॑ कृणुते स॒धस्थ॒ आ॥ (ऋ०१०.४०.२)

घोषा नाम ब्रह्मवादिनी, तस्या आर्षम्। चिरादागतावश्विनौ दृष्ट्वा सप्रणयं सोपालम्भमाह-**कुहस्विदिति**, स्विदिति पदपूरणः। परिदेवनायामीर्ष्यायां वा। क्वेति सप्तमीसामानाधिकरण्यात् दोषा वस्तोरपि सप्तम्या एव। अव्ययलुगध्यवसितः। **दोषा** रात्रौ क्व, क्व वा **वस्तो**रहनि युवामश्विनौ। क्व वा **अभिपित्वम्** अभिप्राप्तिम् अभिगमनं **करतः** कुरुतः। क्व वा ऊषतुः सामर्थ्यादत्र वर्तमानकालता, वसत इत्यर्थः। **को वां** युवाम्, यजमानोऽस्मत्तो विशिष्टोऽद्य, **शयुत्रा** शयने, **विधवेव देवरम्** यथा विधवा देवरम्, **मर्यं न योषा** यथा च सर्वमेव मर्यं मनुष्यं संभोगकाले सर्वा स्त्री, एवं परिचर्यार्थम्। ऋगन्त्याकारः कृणुत इत्यनेन सम्बध्यते, **आकृणुते** अतिशयेनार्वाक् करोति, विस्मृतान्यवृत्तान्तोऽभिमुखीकरोति, परिचरतीत्यर्थः। **सधस्थे** सहस्थाने वेद्याख्ये।

येनास्मद्यज्ञं चिरादागतौ स्थ इति। अत्रापि निकृष्टनियोगकर्मणा देवरेण प्रशस्तावाश्विनौ, विधवया चाप्रशस्तया प्रशस्तकर्माणं यजमानम्, कनीयसा ज्यायांसमुपमिमीत इति।

केचित्त्वत्रापि प्रकृष्टातिशयपरिचर्यादरश्च ज्यायानेव गुणोऽभिप्रेत इति। अन्ये **विधवा विधातृका** सर्वस्य दृष्टादृष्टस्योपकारस्य विधाता पतिः स्त्रियाः, स विगतो यस्याः सा। **विधवनाद्वा 'धूञ् कम्पने'** (धा०५.९) पतिमरणदुःखार्दितत्वादसौ वेपते। **विधावनाद्वा** सा हि शरणार्थिनी इतश्चेतश्च धावति। अनन्तरनिर्वचनद्वयाभि-सम्बन्धित्वेन चाह-**इति प्रचर्मशिराः** आचार्यो मन्यते। अश्वत्थसंज्ञा चेयम्, चर्मैव शिरसि यस्य न केशाः सन्ति, स हि खलतिरभूत्।

अपि वेत्यादि। **धव इति मनुष्यनाम**, तदपि पत्युरेव मनुष्यमात्रस्य, पृथिवीपतौ क्षमाधव इति प्रयोगदर्शनात्। **तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा**, क्रीडनकार एवासौ न धर्माय। **मर्यो मनुष्य** इत्यर्थकथनम्, **मरणधर्मे**ति शब्दनिर्वचनम्। **योषा यौतेः**, मिश्रयत्यात्मानं पुरुषेण।

सामान्येन लक्षणतो व्याख्याय विशेषतो व्याचिख्यासुराह-**अथ निपाताः**, उपमार्थीयाः। ते पुनः **पुरस्तादेव** प्रसङ्गेन प्रथमे **व्याख्याताः**। इह च लक्षणतो **'यदतत्'** (निरु०३.१३) इति व्याख्याताः। इह चोदाहरणं लक्षणकथनप्रसङ्गेन प्रदर्शितम्। सम्प्रति यथासमाम्नायं यथादयो विशेषेण वक्तव्या इत्याह-**यथेति कर्मोपमा।** कर्मणा क्रिया कर्मैवोपमीयत इति। प्रायेण च यथाशब्दः कर्मोपमाविषय इति कर्मोपमेत्युक्तम्। द्रव्योपमायामपि क्वचित्। यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त इति। उदाहरणम्।

यथा॒ वातो॒ यथा॒ वनं॒ यथा॑ समु॒द्र एज॑ति।

ए॒वा त्वं द॑शमास्य स॒हावे॑हि ज॒राय॑ुणा॥ (ऋ०५.७८.८)

सप्तवध्रेरार्षम्। प्रमूढगर्भाया गर्भच्यावनेऽस्या विनियोगः। **यथा वातः** वायुः, **यथा वनमु**दकं निम्नप्रदेशं प्रति, **यथा च समुद्रो** नदीमुखानि प्रति **एजति** गच्छति। **एवा** एवम् त्वं हे **दशमास्य** दशभिर्मासैर्निष्पन्न! गर्भ! **सह जरायुणा सममवेहि** अधो गच्छ मातुरुदरात् पत, माऽत्र स्था इत्यर्थः। वातवनसमुद्रैजनकर्मणा गर्भैजनकर्मोपमीयते। द्वितीयमुदाहरणम्-

अदृ॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒ अनु॑।

भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा॥ (ऋ०१.५०.३)

प्रस्कण्वस्य, सूर्यदेवत्येयम्। **अदृश्रम्** इति व्यत्ययेन कर्मणात्मनेपदबहुवचनस्य स्थाने परस्मैपदैकवचनम् दृश्यन्ते, **अस्य** सूर्यस्य **केतवः** प्रज्ञानसतत्त्वाः प्रज्ञाहेतुभूता **रश्मयः**, **जनान् अनु** जनान् प्रति, **विभ्राजन्तः** विविधं भ्राजमानाः, **अग्नयो यथा** अग्नय इव। अथवा अदृश्रमिति स्वार्थ एव, केतव इत्यादौ तु सर्वत्र प्रथमा द्वितीयार्थे। अदर्शमस्य केतून्, इत्थं वक्ष्यमाणगुणानित्यर्थः। अग्निभ्राजननेन रश्मिभ्राजनमुपमीयते-

प्राचुर्यप्रदर्शनार्थमन्यदप्युदाहरणम्।

यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हमोष॑धी॒र्हस्त॑ आद॒धे।

आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा॥ (ऋ०१०.९७.११)

आथर्वणो भिषगवपश्यत्, दीक्षितस्योपतापे शीतोष्णा अपः समानीय एकविंशतिमासु यवान् प्रक्षिप्य कुशपिञ्जूलांश्चावधाय ताभिराप्लावनेऽस्या विनियोगः। **यत्** यदा, **इमाः**, **वाजयन्** स्तुवन्, **अहमोषधीः** यवकुशपिञ्जूललक्षणाः, स्व**हस्ते आदधे** स्थापयामि, हस्ते गृह्णामीत्यर्थः। यदा **आत्मा यक्ष्मस्य रोगस्य नश्यति**, पञ्चमो लोडर्थे, नश्यतु, **पुरैव** हननात्, **जीवगृभो यथा** कस्यचिद्राजविद्विष्टकारिणः करे जीवग्राहं गृहीतस्यातिभयाज्जीव इति शेषः। अत्रापि जीवनाशशब्देन यक्ष्मनाश उपमीयते।

आत्मशब्दं निगमप्रसक्तं निराह-**आत्मा अततेर्वा** (तु०धा०१.३८), अतनं गतिः, तननात् सर्वं हि तेन ततम्, विभुत्वात् सर्वग इत्यर्थः। **अत्तेर्वा** (तु०धा०२.१), भोक्त्रभिप्रायः, भोक्ता पुरुषः शब्दादीनाम्। **अपि वात्त इति स्यात्**। जीवेन हि प्राज्ञ आत्मा संपरिष्वक्तः परिगृहीत आत्त उच्यते। अन्तःकरणञ्च जीवसंज्ञम्। कुत एतत्? एवं स्मरणात्। स्मर्यते हि-

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।

येन वेदयते जन्तुः सुखं दुःखञ्च जन्मसु॥ इति॥ (मनु० १२.१३)

अन्तःकरणेन यदैव ध्यायते, तेन चात्मा। आपवर्गात् सम्बन्ध आत्त उच्यते। पाठान्तरम् अपि वाप्त इति स्यात्। आपेरेवात्मा, न पूर्वस्मात्। तस्य चार्थानुगमनं दर्शयति-**यावद्व्याप्तिभूत इति**। व्याप्यत इति व्याप्तिशब्दः कर्मसाधनः। यस्य **'यावदवधारणे'** (अष्टा०२.१.८) इत्यव्ययीभावः। भू प्राप्तौ, व्याप्यश्च क्षेत्रश्च। आत्मपक्षे शरीरम्, आकेशादानखात् तत्सर्वं भूतः प्राप्तः, आत्मा क्षेत्रज्ञः, तत्र सर्वत्र चैतन्योपलब्धेः। परमात्मपक्षे व्याप्यं कृत्स्नं विकारजातं यावद्भूतं तत्सर्वं व्याप्तः, आमहाप्रलयाद्विकारात्मना परिणतः, व्यवस्थित इत्यर्थः। आह-च-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ इति॥ (गी० १५.१७)

प्रलयावस्थायां तु कैवल्यनिरुपाख्यत्वान्न व्याप्यम्, न व्याप्ता, न व्याप्तिः। तथा च मन्त्रः **'नासदासीत्'** (ऋ०१०.१२९.१) इति प्रदर्शित एव। तनोतेरत्तेराददातेराप्नोतेर्वा आत्मा। एतद्व्याप्यानां क्रियाणां तत्र समवायसम्भवादिति संक्षेपः।

अग्निर्न ये समाम्नायक्रमान्न शब्दस्योपमार्थत्वमिह-प्रकरणे। पूर्वत्र **'दुर्मदासो न सुरायाम्'** (ऋ०८.२.१२, निरु०१.४) इति प्रसङ्गादुक्तम्। उदाहरणम्-

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः।

प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते॥ (ऋ०१०.७८.२)

स्यूमरश्मेरार्षम् मारुतीयमृक्। नशब्द उपमार्थीयः। **अग्निरिव ये** मरुतः, **भ्राजसा** दीप्त्या, **रुक्म** रोचिष्णु **वक्षो** येषां ते रुक्मवक्षसः। आभरणविशेषो वा रुक्मविकारो रुक्मशब्देनोच्यते। स उरस्सु येषां ते। **वातासो न** वाता इव च, ये **स्वयुजः** आत्मनैवात्मनः सर्वकार्येषु नियोक्तारः, **सद्यऊतयः** ऊतिर्गतिः सद्योगतयश्च **प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः** यथा च प्रज्ञा अतिशयेन वृद्धा ये ते **सुनीतयः** स्युः, एवं ये सुनीतयस्ते, **सुशर्माणो न सोमाः** शर्म सुखं सुष्ठुसुखाः, वर्षाद्यनुग्रहेण सोमा इवाभिलषितफलसिद्ध्या **ऋतं** यज्ञं **यते** गच्छते यजमानायेत्यर्थः। य इत्थंगुणा मरुतस्तेऽभि-लषितमर्थं सम्पादयन्त्वित्यवमाशिषैकवाक्यता।

'चतुरश्चिद्ददमानात्' अत्र चिच्छब्द उपमायाम्। पौनरुक्त्यं चोदितं परिहृतञ्चं।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

चतुरश्चिद्ददमानाद् बिभीयादा निधातोः। न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥ (ऋ०१.४१.९) चतुरोऽक्षान् धारयत इति। तद्यथा कितवाद् बिभीयादेवमेव दुरुक्ताद् बिभीयात्। न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित्। आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथाप्युपमार्थे दृश्यते। **'जार आ भगम्।'** (ऋ०१०.११.६; अथर्व०१८.१.२३) जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते। रात्रेर्जरयिता। स एव भासाम्। तथापि निगमो भवति। **'स्वसुर्जारः शृणोतु नः।'** (ऋ०६.५५.५) इत्युषसमस्य स्वसारमाह साहचर्यात्। रसहरणाद्वा। अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात्। स्त्रीभगस्तथा स्यात्। भजतेः। मेष इति भूतोपमा। **मेषो भूतो३ऽभि यन्नयः।** (ऋ०८.२.४०) अग्निरिति रूपोमपा। **हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः।** (ऋ०२.३५.१०) हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्। था इति च। **तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।** (ऋ०५.४४.१; वा०सं०७.१२) प्रत्न इव पूर्व विश्व इवेम इवेत्ययमेततरोऽमुष्मात्। असावस्ततरोऽस्मात्। अमुथा यथासाविति व्याख्यातम्। वदिति सिद्धोपमा। **'ब्राह्मणवद् वृषलवत्।** (मूल अज्ञात) ब्राह्मण इव वृषला इवेति। वृषलो वृषशीलो भवति। वृषाशीलो वा॥१६॥

भाष्यटीका

चतुरश्चिद्ददमानाद् बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥ (ऋ० १.४१.९)

कण्वस्य। **चिदु**पमायाम्। यथा **चतुरो**ऽक्षान् **ददमाना**द्धारयतः कितवादितरः कितवः किमयं तत् पातयिष्यति येन मामयं जेष्यतीति एवं बिभेति। **आ निधातोः** आनिधानात् आपातनादाक्षेपणात् तेषामक्षाणाम्। एवं दुरुक्ताद् **बिभीयात्**। अतश्च नास्मै **दुरुक्ताय स्पृहयेत्** कदाचिन्न दुरुक्तं ब्रूयात् शृणुयाद्वेत्यर्थः।

'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' (ऋ०७.१०३.१; निरु०९.६) इह स्वावसरे लुप्तोपममिदं समाम्नातम्। उपरिष्टाच्च **दैवते** (निरु०९.६) व्याख्यास्यति। इह नोपन्यस्तम्।

एवमेतदुदाहरणद्वयमुक्तवक्ष्यमाणार्थमिति परित्यज्यानन्तरं **'जार आ भगम्'** (ऋ०१०.११.६; निरु०३.१६) भाष्यकारो व्याचिख्यासुराह–**आ इत्याकार उपसर्गः**, अयं क्रियाविशेषकः स पुरस्तादेव **आ इत्यार्वागर्थे** (निरु०१.३) इत्यत्र **व्याख्यातः**। इह तु निपात उपमार्थीयप्रकरणात् प्रदर्श्यते–**अथाप्युपमार्थे दृश्यत** इति। निपातत्वे सत्युच्चावचार्थत्वादुपमार्थत्वमविरुद्धम्। उपसर्गत्वे तु क्रियाविशेषकत्वम्, **'क्रियायोगे'** (अष्टा०१.४.५९) इति स्मरणात्। उदाहरणम्–

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।

विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥ (ऋ० १०.११.६)

हविर्धानस्यार्षम्। अग्निरुच्यते। **उदीरय** उद्गमय, स्वमात्मानमरण्योः सकाशान्मथ्यमानः। स्वयं वा ज्योतिरिति शेषः। **पितरा** पितरौ, सर्वप्राणिनां मातापितृभूते द्यावापृथिव्यावत्र पितरावुच्येते, तौ प्रतीति शेषः। अथवा आदित्यादिषूद्गमनस्य प्रकाशनस्य च सम्बन्धदर्शनात्, उद्गमनेनात्र प्रकाशनं लक्ष्यते। प्रकाशय, ते अपि द्यावापृथिव्यौ सुष्ठु ज्वलयेत्यर्थः। रात्रेर्नक्षत्रादिदीप्तीनां च जरयितृत्वाज्**जार** आदित्यः। स च सवितृशब्दवाच्यो द्युस्थानः। **आकार** उपमायाम्। स यथा **भगं** द्युस्थानमेवोत्तरावस्थं भजतीति। अयं स्वं ज्योतिर्भौमं वा रसमुदीरयेत् तद्वत्। अथवा जारः पारदारिक एव, भागोऽपि स्त्रीभगः, स यथा पारदारिकः क्षरत्यतिशयवशाद् रागी भगमुदीरयेत् प्रकटयेत् तद्वत्। कुत एवमुच्यते? यत **इयक्षति** छान्दसो यकारलोपः, यियक्षति यष्टुमिच्छतीति यजमानः। कान्? **हर्यतः** प्रेप्सून् कामयमानान् देवान्, न च केवलं यष्टुमिच्छत्येव, किन्तर्हि? अधिकृतोऽपीत्याह–**हृत्तः** हृदयेन। **इष्यति 'इष गतौ'** (धा०४.१९) शुद्धोऽपि सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। अधिगच्छति विद्वान्, तत्त्वेनानुष्ठाय जानातीत्यभिप्रायः।

किञ्च **विवक्ति** अन्तर्नीतसनर्थोऽयम्, विवक्षति, शस्त्रलक्षणां स्तुतिमिति शेषः। कोऽसौ? **वह्निः** वेधाः स्तुतीनां कर्ता होतेत्यभिप्रायः। **स्वपस्यते** शोभनमपः स्वपः, तस्मात् क्यच, सुकर्मेच्छति कर्तुम्। कः? **मखः** मख इति यज्ञनाम, तस्मात् तत्करोतीति णिजन्तादच्च। मखः यज्ञकार्यध्वर्युः। **तविष्यते** इति वृद्ध्यर्थः, सौत्रोऽन्तर्नीतण्यर्थः। सनन्तस्तु तावयिषति, वर्धयितुञ्चेच्छति स्तोत्रलक्षणां स्तुतिम्। कः? **असुरः** प्राणवानुद्गाता। **वेपते मती** उत्पन्ने चोत्पन्ने ऋत्विक्कर्मवैगुण्ये प्रायश्चित्तकारित्वाद् वैगुण्योत्पत्तेः बिभ्यत् कम्पते। **मती** मत्या बुद्ध्या चेतसेत्यर्थः। कः? सामर्थ्याद् ब्रह्मा। यतो यजमानः सर्व ऋत्विजश्च स्वं स्वं व्यापारं कर्तुमिच्छन्ति, स च त्वदुद्गमनमन्तरेण न शक्यः कर्तुम्। अत उच्यसे उदीरय इति समस्तार्थः।

स एव भासाम्-नक्षत्रग्रहोषःप्रभृतीनां जरयितृत्वाज्जार आदित्यः। तथाप्येष निगमः।

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।

भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥ (ऋ० ६.५५.५)

भरद्वाजस्य। माता आदित्यस्य रात्रिः। ततोऽनन्तरमुत्पत्तेस्ततोऽस्य जन्मावगमनात्। तस्या **मातुः**। **दिधिषुम्** धारयितारम्, स्वोदयेन विरोद्धारमित्यर्थः। **अब्रवम्** ब्रवीम्यहम्, यद्यद् विवक्षितम्। स च मयोच्यमानः, **स्वसुर्जारः** एकतो रात्रेर्जातत्वादादित्यस्य स्वसा उषाः, भ्राता भगिन्याः सहचारी भवति, तदीयानाञ्च क्रीडनकानामपहर्ता बाल्ये। आदित्यश्चोषसा सहचारी, तदीयानाञ्च रसानामवश्यायानां शोषणेनापहर्ता अतः साहचर्यसामान्यात् तदीयरसापहरणसामान्याच्चोषा अस्य स्वसा उच्यते। तस्या जरयिता, तदुदये हि सा जीर्यति, अतस्तस्या जारः **शृणोतु**। **नः** अस्माकम्। **भ्राता इन्द्रस्य** उभयोरिन्द्रादित्ययोरेव। कस्मात् कारणात्? मनोजातत्वात् भरणाद्वा, स हि रसान्मध्यमस्य रश्मिभिरादाय तैस्तं बिभर्ति। **सखा मम** स्तुत्यस्तोतृत्वलक्षणेन सम्बन्धेन सखीभूतः।

यद्यपि **पौष्णे सूक्ते** (ऋ०६.५५) पठ्यमानत्वात् पौष्णीयमृक् तथाप्यादित्य एवोत्तरावस्थः पूषा न वस्त्वन्तरमित्यविरोधः। एवं प्रसङ्गेनादित्यजारत्वे मन्त्रमुदाहृत्य पूर्वस्यामेवर्चि व्याख्यानानन्तरमुत्प्रेक्ष्याह-**अपि त्वयमित्यादि**। निगदव्याख्यातम्।

मेष इत्यादि। भूतशब्देनोपमोच्यत इति भूतोपमा। उदाहरणम्-

इ॒त्था धीव॑न्तमद्रिवः का॒ण्वं मेध्या॑तिथिम्।

मे॒षो भू॒तो॒३॒॑भि यन्नयः॑॥ (ऋ०८.२.४०)

काण्वो मेध्यातिथिरिन्द्रमाह-**इत्था** इत्थम्, योऽयं ममाभीष्टोऽत्यन्तवशवर्तित्वलक्षणः, अनेन प्रकारेण। **धीवन्तम्** कण्ववन्तं प्रज्ञावन्तं वा हे **अद्रिवः**! अद्रिविकारत्वादादरणाद्वा अद्रिर्वज्रः, तद्वत्, **काण्वं** मामेव कण्वस्य पुत्रम्, **मेध्यातिथिम्** मेध्यातिथिनामानम्, **मेषोभूतः** मेष इव। यथा मेषस्तत्पोषकमाभिमुख्येन गच्छेत्, एवं **अभियन्** आभिमुख्येन गच्छन्, अयः पूर्वमभिगतवांस्त्वमिदानीमप्यनेनैव प्रकारेणाभिगच्छेत्यभिप्रायः।

निगमप्रसक्तं मेषशब्दं निराह-**मेषो मिषतेः**। स हि मिषति निमिषत्येव केवलं न तु किञ्चित् प्रजानाति, निःसंज्ञकत्वात्, यदि मारयितुं नीयते, यदि वा दारयितुम्। **'तां वि॒श्वरू॑पाः प॒शवो॑ वदन्ति'** (ऋ०२.३५.१०) इत्यादौ निरुक्तो भविष्यतीति प्रसङ्गात् सामान्येन पशुं निराह-तेनैवोक्तेन प्रकारेण **पशुः पश्यतेः**, पश्यत्येव, निर्बुद्धिरित्यभिप्रायः।

तद्रूपस्तद्वर्ण इति क्रमप्राप्तव्याचिख्यासयाह-**अग्निरित्यादि**। अग्निर्वैद्युतोऽत्रापान्नपादभिप्रेतस्तस्य रूपशब्देनोपमा **रूपोपमेति**। अस्योदाहरणं हिरण्यरूपम्, वर्णशब्दस्याप्युपमार्थत्व एतदेवोदाहरणम्।

हिर॑ण्यरूपः स हिर॑ण्यसंदृगपां नपा॒तसेदु॒ हिर॑ण्यवर्णः।

हि॒र॒ण्यया॒त् परि॒ योनेर्नि॒षद्या॑ हिरण्य॒दा द॑द॒त्यन्न॑मस्मै॥ (ऋ०२.३५.१०)

गृत्समदस्य। हिरण्यस्येवं रूपं यस्य स **हिरण्यरूपो** वैद्युतोऽग्निः **स हिरण्यसंदृक्** हिरण्यमिव च परया प्रीत्या संदृश्यते। **अपां नपात्** अपां पौत्रः। कथम्? अद्भ्यो हि मेघो जायते तत्संघातरूपत्वात् तस्य, मेघाद् वैद्युतः। **'अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशति'** इति श्रुतेः। प्रातरद्भ्य आदित्यो जायते आदित्याद् वर्षासु रसादानद्वारेण वैद्युत इत्येवमन्यपौत्रत्वम्। **सेदु** इदेवार्थे, उः पदपूरणः, स एवात्यन्तोपकारित्वात्। **हिरण्यवर्णः** हिरण्यमिव वर्णनीयः। किञ्च **हिरण्ययात्** हिरण्यशब्देनात्र तद्रूपमुच्यते न सुवर्णम्, तन्मयसदृशादत्यन्तस्वच्छ- शुक्लरूपादित्यर्थः। **योनेः** स्थानादन्तरिक्षाख्यात्, **परि** सर्वतः, **निषद्या** निषद्य, **हिरण्यदाः** हिरण्यसदृशस्य दाता। **ददति 'दा दाने'** (धा०३.९) इत्यस्य लेटि व्यत्ययेन परस्मैपदम्, बहुवचनमेकवचनस्य स्थाने ददात्वित्यर्थः। **अन्नम्** अन्नवृष्ट्युदकम्, **अस्मै** यजमानाय सर्वस्मै वा प्राणिजाताय।

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्-इत्यनेनैतदाचष्टे संक्षेपेण, समासद्वयमेतदुपक्षिप्तं वर्णशब्देन रूपशब्देन च, **'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य'**[१] इति। एवं हिरण्यस्येव वर्णो यस्य, हिरण्यस्येव रूपं यस्येति। परमार्थतस्तु रूपशब्देनोत्तरपदेन समासे स इत्युपमा प्रतीयते। रूपोपमेत्युद्भवति।

---

१ (पात०व्या०महा०२.२.२४)

क्रमप्राप्तमतीत्याह-**था इति चेति**। क्रमभेदः किमर्थ इति चेत्? वदेत् लोकवेदयोरुभयविषयत्वाच्चास्य पुनर्वेदविषयप्रतिपत्त्यर्थम्, यन्नम्याकार्षमिति केचित्। यद्येवं भूतादयोऽपि उभयविषयास्तेषामप्युत्कर्षः प्राप्तः। न चान्वध्यायविषयो यो वतिः स व्याख्यानेन विच्छिद्येत। तस्मादयमभिप्रायः क्रमेण व्याख्यायमाने यथा इवादीनामुभयविषयत्वमेवं था इत्येतस्यापि गम्येत, अयं त्वन्वध्यायमेवेति, अतः क्रमभेदोऽस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थः। अस्त्यस्यैभ्यो भेदः, भेदविषयत्वं नामेति बुद्धिविघटनमात्रञ्चैतत्। तेन **'न चिन्वाथा'** इत्यन्वध्यायम्। अन्ये भाषायामन्वध्यायञ्च। था इत्यस्योपमायामुदाहरणम्-

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्।

प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिराशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे॥ (ऋ०५.४४.१)

अवत्सारस्य। वर्षकर्मसम्बन्धादिन्द्रोऽस्य देवता। **'दोहसे'** इति मध्यमपुरुषश्रुतेः प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः। **तम्** त्वामिन्द्रं स्तुम इति शेषः। **प्रत्नथा** प्रत्नमिति पुराणनाम, था उपमायाम्, पुराणा इवात्रिवसिष्ठप्रभृतयः ऋषयः। **पूर्वथा** पूर्व इव च शक्तिप्रभृतय ऋषयस्ते हि पूर्वे न च पुराणाः, अत्रिप्रभृतीनामपत्यत्वात्। **विश्वथा** विश्व इव सर्वं इव भविष्यन्तश्च ऋषयः। **इमथा** इम इव वर्तमानाः। **ज्येष्ठतातिम्** अतिशयेन वृद्धः 'प्रशस्यो वा ज्येष्ठः, ज्येष्ठ एव ज्येष्ठतातिः', अतिशयेन प्रशस्यं वृद्धं वा। अथवा तातिशब्दस्तनोतेः सन्तानवचनः। अतिशयेन वृद्धः प्रशस्तो वा वृष्टिसन्तानो यस्य तम्। **बर्हिषदम्** वेदिस्तरणे सत्तारम्। **स्वर्विदम्** दिव आदित्यस्य वा स्वरशब्दवाच्यस्य वेदितारम्। तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यः **प्रतीचीनम्** अञ्चेर्गत्यर्थस्येदं रूपम्, प्रतिगतमन्तरिक्षे, पराङ्मुखमित्यर्थः। **वृजनम्** बलनामैतत्, तस्मात् अर्शआदित्वात् अच्, बलवन्तम्। **दोहसे** क्षारयसि। कम्? सामर्थ्यान्मेघमुदकम्, द्विकर्मकोऽयम्, **'दुहियाचि'**[१] इत्यादिस्मरणात्। **गिरा** वाचा, हुंकारमात्रेणैवेत्यर्थः। वाचा वा माध्यमिकया। **आशुम्** शीघ्रमघत्वेनोदकेन वा मेघान् जनयन्तम्। क्व? **अनु यासु वर्धसे** यास्विति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् दिशः प्रतिनिर्दिश्यन्ते, यासु दिक्षु स्तुतिभिर्हविर्भिश्चानुपूर्व्येण वर्धसे, येषु देशेषु मनुष्यैः स्तूयसे इज्यसे च तेष्वित्यर्थः।

इमथेति निगमप्रसक्तस्य प्रकृतिं निराह-**अयमेततरः** आगततरः, आगततर इव भवति, प्रत्यक्षात्यन्तासन्नोपाधित्वादिदमः, आपेक्षिकत्वाद् दूरासन्नव्यपदेशस्य। अत्यन्तविप्रकृष्टापेक्षायामीषद्विप्रकर्षप्रति-लब्धासन्नव्यपदेशविषयोऽदः शब्दोऽत आह-**अमुष्मात्** अदस इत्यर्थः। इदंसम्बन्धाददसोऽप्यन्तर्निराह-**'असेय एषि वीर'** इत्येवमादिषु निरुक्तो भविष्यतीति। **असावस्ततरः** क्षिप्ततर इव। कुतः? अस्मादिदम इत्यर्थः। अत्राप्युक्तेनैव प्रकारेण प्रकर्षप्रत्यययोजना। असावित्यप्रसङ्गेनाह-**अमुथेत्यादि**। यथा इमथा इतीदमवस्था भवत्युपमायाम्, एवम् अदसोऽप्यमुथा इति पदं व्याख्यातम्। यथासावित्यनेन कृतनिर्वचनेन पदद्वयेनासावस्ततर इति प्रकृत्यर्थो यथेत्युपमायामिति थाशब्दार्थः, एवममुथेति, यथासावित्यनेन व्याख्यातम्।

ननु था इति चोपमायामित्यनेनैव अमुथाऽन्यथेत्यादिकं प्रत्नथेत्यादिवद् व्याख्यातम्। किमुच्यते अमुथा यथासाविति व्याख्यातमिति? उच्यते। था इति च इत्यस्यैवायं प्रपञ्चो भाष्यग्रन्थत्वान्नातिमहते दोषाय। यथा च प्रत्नादिभ्य इवार्थे छन्दसि था, तथादिभ्योपि द्रष्टव्यः, न प्रकारवचन एव।

---

१ अकथितं च (अष्टा०१.४.५१) इति सूत्रे इयं कारिका वर्तते पातञ्जलव्याकरणमहाभाष्ये १.४.३, पृ०३३४)

वदिति सिद्धोपमा। सिद्धा प्रसिद्धा उपमा **ब्राह्मणवद**धीयते तेजस्विनः, अक्रोधना वा। **वृषलवत्** परिचरन्तीति लौकिकमुदाहरणम्। तस्यार्थप्रदर्शनम्–**ब्राह्मणा इव**, इत्येवमादि। ननु यथेवाद्यपि सिद्धैव, ब्राह्मण इवाधीते, यथा ब्राह्मणस्तथाधीते इति प्रतीत्यविशेषात्। एवं तर्हि विरुद्धार्थसदसद्भावविषयो वतिः पूर्वसिद्धार्थप्रतीतिवशेन दार्ष्टान्तिके तुल्यताप्रत्ययमाधातुं समर्थो यथा, न तथेवादयः। तथा च चूर्णिकारः पठति– **वतिनिर्देशोऽयं कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति** (पात०व्या०महा०१.१.५७)। मातृवदस्यास्तार्षाः। सन्ति न सन्तीति। मातुरिवास्याः कालाः, यथा मातुस्तथास्याः कालाः, इत्युक्ते यादृशा मातुंस्तादृशा इति कालस्तिलगतसादृश्यं प्रतीयते। तत्र सदसद्भावयोरन्यतरप्रतीतेररिति। अनेन प्रतीतिविशेषेणोच्यत इति केचित्।

परमार्थतस्तु वाक्यशेषे द्व्याहारे वतिवदिवादिष्वपि न कश्चिद्विशेषो दृश्यते सदसद्भावौ प्रति। कथं तर्हि वदिति सिद्धोपमेति? अनुवादमात्रञ्चैतत्। उदित्यपि ज्यायसा प्रख्याततमेन पूर्ववत् सिद्धेन गुणेनोपमेति भाषायामुदाहृतम्। छन्दसि दर्शयितुमाह।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य षोडशः खण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥
(ऋ०१.४५.३) प्रियमेधः। प्रिया अस्य मेधा। यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। कण्वप्रभवः। यथा प्राग्रम्। अर्चिर्षि भृगुः संबभूव। भृगुर्भृज्यमानो न देहे। अङ्गारेष्विङ्गिराः। अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः। अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः। तस्मादत्रिः। न त्रय इति। विखननाद् वैखानसः। भरणाद् भारद्वाजः। विरूपो नानारूपः। महिव्रतो महाव्रत इति॥ १७॥

भाष्यटीका

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ (ऋ० १.४५.३)

प्रस्कण्वस्य। प्रियमेधस्येव, **अत्रिवत्** अत्रेरिव च, हे **जातवेदः! विरूपवत्** विरूपस्येव च, **अङ्गिरस्वत्** अङ्गिरस इव च, हे **महिव्रत!** व्रतं कर्म, महाकर्मन्, मम **प्रस्कण्वस्य श्रुधि** शृणु, **हवम्** आह्वानम्।

प्रियमेध प्रियोऽस्य यज्ञः। **प्रियमेधः–प्रियास्य मेधा** इति पाठान्तरम्। **'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः'** (अष्टा०५.४.१२२) इति समासान्तस्मरणात्। नृमेधः प्रियमेध इति। तथा सकारान्तमेव पदमित्यन्येषाम्। छान्दसो वर्णलोप इत्यपरे। प्रियमेधवत् इति लिङ्गम्। **प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्र** इत्यर्थकथनम्, प्रोऽपत्यार्थेऽत्र प्रयुक्तः, यथा सुवीर इति सुर्मत्वर्थे पूर्वत्र प्रयुक्तः। **कण्वप्रभव** इति शब्दार्थसमाधिप्रदर्शनम्। प्रकण्वः सन् ऋषौ सुटो निपातनात् प्रस्कण्वः। अस्त्येवान्यत्र प्रयोगः–**यथा प्राग्रम्**। अग्रभवं सत् प्राग्रमुच्यते। प्रभवार्थप्रवृत्तिरित्याह मन्त्रक्रमेणात्रेर्निर्वचने प्रसक्ते तत्प्रसिद्ध्यर्थं भृगुमाह–**अर्चिषि भृगुः सम्बभूव**

यज्ञे देवस्य वितते महतो वरुणस्य हि।

ब्रह्मणोऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित्।।

तत्परीक्ष्य सवर्णो न स जुहाव विभावसौ।

ततोऽर्चिषोऽभूद् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः।।

अत्रैवान्वेषणादत्रिः खननाद्विखनो मुनिः।

इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा ऋषिसत्तमाः।। (तु०बृहद्देवता ५.९९, १०१, ४.१४९)

अथवा भृगुर्भृज्यमानो न दग्धः, भर्जतेर्भृगुः। नैतावतात्रिः प्रसिध्यतीति पुनरपि हित्वा क्रममाह- **अङ्गारेष्वङ्गिरा** इति। प्रशान्तार्चिभ्योऽङ्गारेभ्योऽङ्गिराः। अङ्गाराः पुनरङ्कनाः, अङ्कित एव वह्निर्गत इत्यर्थः। **अङ्कना** इति पाठान्तरम्। अङ्क्यते तैरिति। द्वयोरुत्पन्नयोरत्रैव **तृतीयमृच्छतेत्यूचुर्महर्षयः**। तस्मादिदमभिव्याहारादन्तेऽभवत्, **तस्मादत्रिः। न त्रय इति वा**, नञो नलोपेन नान्ये त्रयः। एवं सम्भवाः सन्तीति।

उत्पत्तिप्रसङ्गादाह-विखननादग्निस्थानस्य **वैखानसः। विरूपो** नानारूपः, जपयोगैश्वर्यात्, इत्यैतिहासिकाः। नित्यपक्षे तु सततप्रवृत्तयज्ञः कश्चिन्मृजमानः प्रियमेध उच्यते तथा भृग्वादयोऽपि यजमानविशेषा एव। भृगुः पञ्चतपःप्रभृतिना तपसा भृज्यमानोऽपि न देहे। गार्हपत्योपायित्वादिना अङ्गारेषु वसतीत्यङ्गिराः। अदनाद् भक्षणात् क्षपणाद् रागादीनां दोषाणामत्रिः। विविधं खननाद् वेदार्थवस्तूनां वैखानसः। वैरुप्यात्तपसो विरूपः। यथैतेषामृषीणाम्। दर्शनाद् ऋषयः। प्रस्कण्वः कण्वस्य मेधाविनः पुत्रः। एकवाक्यता तु पूर्ववद्योजनीयेति।

इत्याचार्यमहेश्वरकृतायां निरुक्तटीकायाम् अष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य तृतीयः पादः

सप्तदशश्च खण्डः समाप्तः।

अथ चतुर्थः पादः।

अथ अष्टादशः खण्डः।

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते। सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्। श्वा काक इति कुत्सायाम्। काक इति शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः। काकोऽपकालयितव्यो भवति। तित्तिरिस्तरणात्। तिलमात्रचित्र इति वा। कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः। कपिरिव जवते। ईषत्पिङ्गलो वा। कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा। श्वा शुयायी। शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। श्वसितेर्वा। सिंहः सहनात्। हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य। संपूर्वस्य हन्तेः। संहाय हन्तीति वा व्याघ्रो व्याघ्राणात्। व्यादाय हन्तीति वा॥१८॥

भाष्यटीका

इदमिवेत्यादावुपमासमाम्नाये समाम्नातस्य **'ब्राह्मणा व्रतचारिणः'** इत्यस्य वाक्यार्थसामर्थ्यान्मण्डूकार्थत्वेन परार्थत्वात्, प्रकरणसामर्थ्याच्चैवान्यभावेऽपि निश्चितोपमानभावस्य प्रसङ्गेन बहुवक्तव्यतया किञ्चिद्वैलक्षण्याच्च व्याख्यानक्रमादुत्कृष्टस्य अयं व्याख्यानावसर इत्याह-**अथ लुप्तोपमानी**ति। अथेत्यानन्तर्ये। श्रूयमाणेवाद्युपमानशब्दव्याख्यानानन्तरम्, लुप्तोपमानि लुप्ता उपमा येषु तानि पदानि वाक्यानि व्याख्यायन्त इति शेषः। तानि **चार्थोपमानीत्याचक्षते** आचार्या लौकिका वा।

अथ किमिदमर्थोपमानीति? अर्थवद्वाक्यसामर्थ्यादसत्युपमाशब्देऽपि येषूपमा प्रतीयते, तान्यर्थोपमानि। अथवा अर्थ एवोपमा येषु तान्यर्थोपमानि। न हि सर्वत्रैवार्थ एवोपमा, शब्दस्त्वर्थं प्रत्याय्य विनिवर्तते। सत्यम्, तथापि शब्दोऽप्यर्थद्वारेणोपमोच्यते इति। तथा च अथात उपमाः इत्युक्तम्। इह तु शब्दाभावे स एवार्थ उपमेत्यर्थोपमानीत्युक्तम्।

अथार्थोपमानीति किमर्थम्, लुप्तोपमानीत्येवास्तु? उच्यते, यद्यर्थोपमानीति नोच्यते, यथैवेवादिलोपे सत्युपमार्थसद्भावे च ब्राह्मणा व्रतचारिणः, सिंहो देवदत्तः इत्यादीनां लुप्तोपमानीति व्यपदेशः। एवं यत्राप्युपमार्थो लुप्तः, शब्दमात्रमेवास्ति तत्राप्येष व्यपदेशः स्यात् लुप्तोपमार्थ इति। भाष्यकृता न चेष्यते। अस्ति पुनः क्वचिदेतत्, यच्छब्दे सन्निहितेऽर्थस्य लोपः? अस्तीत्याह-**'या॒व॒न्मा॒त्रमु॒षसो॒ न प्रती॑कम्'** (ऋ०१०.८८.१९; निरु०७.३१) इति। यत्रेदमुच्यते **अस्त्युपमार्थस्येति**।[1] अतो लुप्तोपमानीत्यस्य शब्दलोप विषयतैव कथं विज्ञायेत, अर्थलोपविषयता मा विज्ञायि, इत्यर्थोपमानीत्युक्तम्। एवञ्च कृत्वा यावन्मात्रादिषु **'अस्त्युपमार्थस्य'** इति वदन् शब्दोपजनमात्रतामेवा-पमाशब्दस्य दर्शयति।

नन्वेवं सति हिरण्यरूपादीनामपि लुप्तोपमव्यपदेशः, प्राप्नोति, न ह्यत्रेवादिः श्रूयते? उच्यते, अस्त्यत्र विशेषः, समासादत्रोपमाप्रतीतेः। तथाचोक्तम् **'अग्निरिति रूपोपमा** (निरु०३.१६) इति। रूपशब्देनोत्तरपदेन

---

१ (अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः, इति पाठोऽस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे निरुक्ते ७.३१, प्रदर्शितः)

समासादुपमा रूपोपमा, तस्माद् भवत्येवैषा। यत्र तु नेवादिर्न च समासः केवलमुपमारूपोऽर्थः प्रतीयते, तानि लुप्तोपमानि अर्थोपमानीति सिद्धम्। उदाहरणम् '**सं॒व॒त्स॒रं श॑शया॒ना** (ऋ०७.१०३.१); इति चतुर्दशे व्याख्यास्यते।

सम्प्रति तु तादर्थ्येनैव सुखप्रतिपत्त्यर्थं भाषिकाण्युदाहरणानि दर्शयति-**सिंह** इत्यादीनि। **पूजाया**मिति प्रायिकमेतदवधारणम्। यद्यपि सिंहे क्रौर्यादयोऽसत्पुरुषधर्मा अपि सन्ति, तथापि प्रायेण प्रशस्तानेव शौर्यप्रसह्यकारित्वादीनुररीकृत्य प्रयुज्यते। सिंहो देवदत्त इत्यत्र सिंहशब्दस्य देवदत्तेन सहैकवाक्यगतस्य समानविभक्तित्वेऽपि सत्यर्थभेदात् सामानाधिकरण्यानुपपत्तेरानर्थक्यप्रसङ्गः, न सिंह एव देवदत्तः, नापि सिंहगतं यच्छौर्यादि तदेव देवदत्तः, अतस्तद्धर्मसामान्येन सामर्थ्याद् गुणकल्पनैषा माभूदानर्थक्यमतः सिंहशब्दः स्वार्थसमवायी विशेषशौर्यादिधर्मसामान्योपसंग्रहवशेन प्रवर्तमानो देवदत्तेन सङ्गच्छते-यथा सिंहः शूरः प्रसह्यकारी तथा देवदत्तोऽपीति। सिंह इव सिंह इत्यश्रूयमाणेऽप्युपमाशब्दे अतस्मिंस्तच्छब्दप्रयोगात् तादर्थ्यं गम्यते।

तथा **श्वा** वृषलः **काको** जाल्म इति कुत्सायाम्। प्रायिकमेतदप्यवधारणम्। यद्यपि कृतज्ञत्वगुह्यमैथुनत्वादिः सत्पुरुषधर्मो दृश्यते तथापि लोके कुत्साविषयेणैव प्रायेण प्रसिद्धाः। यथा श्वा काको वा आहारार्थमातुर इतश्चेतश्च धावति, तद्वदिति प्रतीयते।

काक इति शब्दानुकृतिः, तदीयशब्दानुकरणनिमित्तमेवास्यैतन्नामधेयमिति दर्शयति एवमपीति। तित्तिरि-कपिञ्जलादीनीत्यभिप्रायः। कुत एतत्? यत उपरिष्टात् काकवदेकप्रघट्टनेनैव निर्वचनान्तराणि वक्ष्यति। दर्शयति च **तदिदं शकुनिषु बहुलम्**। तदिदं शब्दानुकरणनिमित्तनामत्वमन्येष्वपि शकुनिषु बहुलं प्रायेण दृश्यते। अथवा बहुलमनियतमनित्यमित्यर्थः। हंसादिषु व्यभिचारात्। हंसो हतेः। श्येनः शंसनीयं गच्छतीति। **तस्मान्नशब्दानुकृतिर्विद्यत इति औपमन्यवो** मन्यत इति सम्बन्धः। निर्वचनान्तराभिधित्सया च पूर्वोक्तं प्रतिषिध्य निर्वचनान्तरमाह-**काकोपकालयितव्यो** निषेद्धव्योऽन्नाद्युपघातभयाद् भवति।

तथा-**तित्तिरिस्तरणात्** प्रवनात्, तरत्यन्तरिक्षे गच्छति। तिलमात्राणि वा चित्राण्यस्य। अत्र रूपसिद्धि-लाघवमर्थस्य च पोषः।

कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः, जीर्णमर्कटवर्णः, तथावयवसामान्यात्। यद्वा उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गमनान्मर्कट इव **जवते** गच्छति, वर्णव्यापत्त्यादिना कपिजवः सन् कपिञ्जलः। **ईषत् पिङ्गलो वा** ईषदर्थे कः पिङ्गल इत्यस्य गकारस्य जकारापत्त्या कपिञ्जलः। **कमनीयं वा** मधुरं **शब्दं पिञ्जयति** विवृणुते। अत्र कमेः कः पिञ्जेः लकारो नामकरणः।

श्वा शुयायी, शु इति क्षिप्रनाम शुपूर्वस्यायतेर्णिनिः, शीघ्रगामीत्यर्थः, **शवतेर्वा** (तु०धा०१.७६१) गत्यर्थस्योपधालोपः अन्कारो नामकरणः, **श्वसितेर्वा** अन्तलोपः, अन्कारश्चान्तकरणः।

सिंहः सहनात्, सहेरभिवार्थस्योपधाविकारोऽनुस्वारागमश्च। **हिंसेर्वा विपरीतस्य**। अत्रापि रूपसिद्धिलाघवम्। संपूर्वस्य वा हन्तेः समोऽकारस्येकारो डश्चान्तकरणः। **संहाय हन्तीति** संकोच्यात्मानं पश्चाद्वितत्य हन्तीति पूर्वस्यैवार्थवचनम्। अतो वेत्यपपाठः।

व्याघ्रो व्याघ्राणात् उपजिघ्रमाणो गन्धेनामिषमनुधावतीति व्याघ्रः। संज्ञायां प्रतिदित्सा क एव नामकरणः। **व्यादाय वा** विवृत्यास्यं विविधं वादायाकृष्य हन्तीति, व्युपसर्गपूर्वस्यैव हन्तेः, हकारस्य घकारः, डकारो नामकरणः।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथ एकोनविंशः खण्डः।

अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत्। मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः। मेधावी कस्मात्? मेधया तद्वान् भवति। मेधा मतौ धीयते। स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश। स्तोता स्तवनात्। यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश। यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याच्ञो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येनं नयन्तीति वा। ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। ऋत्विक् कस्मात्? ईरणः। ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा। याच्ञाकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश। दानकर्माण उत्तरे धातवो दश। अध्येषकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः। स्वपितिसस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ। कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश। कूपः कस्मात्? कुपानं भवति। कुप्यतेर्वा। स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दश। स्तेनः कस्मात्? संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट्। निर्णीतं कस्मात्, निर्णिक्तं भवति। दूरनामान्युत्तराणि पञ्च। दूरं कस्मात्, दुतं भवति। दुरयं वा। पुराणनामान्युत्तराणि षट्। पुराणं कस्मात्? पुरा नवं भवति। नवनामान्युत्तराणि षळेव। नवं कस्माद्? आनीतं भवति॥१९॥

भाष्यटीका

प्रायेणार्चित उपमीयत इत्युपमानान्तरम**र्चतिकर्माणः** पूजार्था **उत्तरे धातव** आख्यातानि **चतुश्चत्वारिंशत्** अर्चति, गायति-इत्यादयः।

अथोत्तरे वचोपेक्षा मेधाविन एवार्च्या भवन्तीत्याह-**मेधाविनामानि चतुर्विंशतिः**- विप्रः, विग्रः-इत्यादीनि। ब्राह्मणादिष्वप्युपेक्षा निगमेषु। **मेधावीति** विन् मत्वर्थे। **'अस्मायामेधा०'** (अष्टा०५.२.१२१) इति। विग्रहप्रसक्तम्- **मेधा तु** ग्रन्थग्रहणशक्तिः। सा कस्मात्? **मतौ** असंमूढ़ा ग्रन्थपरिवादिप्रविवेकलक्षणा बुद्धौ **धीयते**।

मेधाविन एव स्तोतुं समर्था इत्याह-**स्तोतृनामानि त्रयोदश**-रेभः, जरिता-इत्यादीनि।

प्रायेण च स्तोतृविषयो यज्ञ इत्याह-**यज्ञनामानि पञ्चदश**-यज्ञः, वेनः-इत्यादीनि। **यज्ञः प्रख्यातं** प्रसिद्धं **यजतिकर्म**। प्रख्यातग्रहणं सङ्गतकरणादिनिवृत्त्यर्थम्। **याच्ञो भवतीति वा** याच्ञ्या तन्वात् अर्शआदित्वादच् (अष्टा०५.२.१२७)। याच्यन्ते देवतास्तस्मिन्निति, सर्वो वा भक्तादिः याचते तस्मिन्निति। **'स वा यष्टा स न याचते हि' 'द्वादशरात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्तीति'** इति।

यजुरुन्नो भवतीति वा-इति, यजुषां भूयस्त्वं व्याप्तिं दर्शयति, क्लेदनासम्भवात्। तेन यजुःशब्दाद् उन्देश्च यज्ञः। **बहुकृष्णाजिन इति**, अजिनशब्दादिकारं जकारेण गृहीत्वा तस्मादज् मत्वर्थीयः। सोमोपहननानि बहूनि कृष्णाजिनान्यस्मिन् यज्ञः। **यजूंष्येनं नयन्तीति वा** यजूंष्येनमादित आरभ्यान्तं नयन्तीति।

यज्ञसम्बन्धादाह-**ऋत्विङ्नामान्यष्टौ**-भारताः, कुरवः-इत्यादीनि। यज्ञद्वारेण कृत्स्नं भरन्तीति भरताः। कुर्वन्ति कर्माणीति कुरव **ऋत्विक् ईरणः**, कर्म आदावारभ्यान्तं प्रेरयति करोतीत्यर्थः। ऋत्विग्भिर्यजतीति वा याज्याभिप्रायः। स्तुतिभिर्वा देवान् पूजयतीति। अतश्च **ऋग्यष्टेति** विगृह्य वचनमेतत्। ऋक्शब्दाद् यजेश्चेति **शाकपूणिः**। ऋतावृतौ याजनशीलः। **'ऋत्विग्दधृक्'** (अष्टा०३.२.५९) इति निपातनात्।

कर्मकरणानां यज्ञसम्बन्धादाह-**याच्ञाकर्माणः** प्रार्थनार्था **धातवः सप्तदश**-ईमहे, यामि-इत्येवमादयः।

याच्ञासम्बन्धात् दानार्था **धातवो दश**-दाति, दाशति-इत्यादयः।

अध्येष्य हि देवब्राह्मणेभ्यो दीयत इत्याह-**अध्येषणाकर्माणः** अभ्यर्थनार्था **धातवश्चत्वारः** परिस्रव पवस्व इत्यादयः। वक्ष्यति **'इन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव'** (ऋ०८.९१.३, ९.१०६.४) इति, अध्येषणेति।

अध्येषितस्य सुखं सुखितस्य स्वाप इत्याह-**स्वपिति सस्ति इति द्वौ स्वपतिकर्माणौ**। द्विग्रहणं समाम्नाय एतावेवेति, निगमेष्वन्येपि। शेषे वनेषु मात्रोरित्यादयः।

स्वापरूपयोरन्धकारप्रवेशसादृश्यादाह-**कूपनामानि चतुर्दश**-कूपः, कातुः, कर्तः-इत्यादीनि। **कूपं कुत्सितं पानमस्मिन्निति**, कृच्छ्रसाध्यत्वात् शौचासम्भवाद्वा। कुप्यन्ति वा तत्र मनुष्यास्तृष्णया परस्परेणेति।

कूपगर्ताद्याश्रयत्वात् **स्तेननामानि चतुर्दशैव**-तृपुः, तक्वा, रिभ्वा-इत्यादीनि। तृप्तिरेव पानेन धर्म इति तृपुः। **स्तेनः संस्त्यानमस्मिन्** आश्यानं संघातं पिण्डीभूतं बह्वित्यर्थः। **पापकं** हननहरणादिनिमित्तमिति **नैरुक्ताः**।

स्तेना एवान्तर्हिताश्चरन्तीयाह-निर्णीतमन्तर्हितं निगमेषु विवेक्तव्यानि। अथवा निर्णीतञ्च तदन्तर्हितं चेति कर्मधारयः।

अन्तर्हितदूरयोरनुपलब्धिसामान्यादाह-**दूरनामानि पञ्च**-आके, पराके-इत्यादीनि। आक्रीयत इत्याके, पराकितमिति पराके। **दूरं द्रुतं** विक्षिप्तमिव तद् **भवति**। **दुरयं वा** दुर्गमम्।

दूरसाम्यादाह-**पुराणनामानि षट्**-प्रत्नम्, प्रदिवः-इत्यादीनि। **पुराणं पुरा नवं भवति** नेदानीम्। जीर्णं हि पुराणमुच्यते। पुरानवशब्दस्य वलोपेन णत्वेन च।

पुराणविरोधित्वादाह-**नवनामानि षडेव**-नवम्, नूत्नम्-इत्यादीनि। **नवम् आनीतमिव तद् भवति**। आनीतवचनमचिरकृतप्रज्ञापनार्थम्, आनीतमिवेदानीं केनचित्, आनयन्नवम्, उपसर्गलोपेन।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य एकोनविंश खण्डः।

अथ विंशः खण्डः।

द्विश उत्तराणि नामानि षड्विंशतिः। प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य। प्रपित्वे प्राप्ते। अभीकेऽभ्यक्ते। **आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि।** (ऋ०८.४.३) **अभीके चिदु लोककृत्।** (ऋ०१०.१३३.१; अथर्व०२०.९५.२) इत्यपि निगमौ भवतः। दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य। दभ्रं दभ्नातेः। सुदम्भं भवति। अर्भकमवहृतं भवति। **उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।** (ऋ०१.१२६.७) **नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः॥** (ऋ०१.२७.१३; वा०सं०१६.२६) इत्यपि निगमौ भवतः। तिरः सत इति प्राप्तस्य। तिरस्तीर्णं भवति। सतः संसृतं भवति। **तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या।** (ऋ०५.७५.७) **पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः।** (ऋ०७.१०४.२१) इत्यपि निगमौ भवतः। त्वो नेम इत्यर्धस्य। त्वोऽपततः। नेमोऽपनीतः। अर्धं हरतेर्विपरीतात्। धारयतेर्वा स्यात्। उद्धृतं भवति। ऋध्नोतेर्वा स्यात्। ऋद्धतमो विभागः। **पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति।** (ऋ०१.१४७.२) **नेमे देवा नेमेऽसुराः।** (मै०सं०१.११.९) इत्यपि निगमौ भवतः। ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम्। नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः। 'नेमे नक्षत्राणि' इति च ब्राह्मणम्। ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते। स्तृभिस्तीर्णानीव ख्यायन्ते। **अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा।** (ऋ०१.२४.१०) **पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।** (ऋ०४.७.३) इत्यपि निगमौ भवतः। वम्रीभिरुपजिह्विका इति सीमिकानाम्। वम्र्यो वमनात्। सीमिका स्यमनात्। उपजिह्विका उपजिघ्र्यः। **वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम्।** (ऋ०४.१९.९) **यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।** (ऋ०८.१०२.२१) इत्यपि निगमौ भवतः। ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्य। ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति। ऊर्जे दीर्णं वा। **'तमूर्दरं न पृणता यवेन।'** (ऋ०२.१४.११) इत्यपि निगमो भवति। तमूर्दरमिव पूरयति यवेन। कृदरं कृतदरं भवति। **'समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम्।'** (वा०सं०२९.१) इत्यपि निगमो भवति॥ २०॥

भाष्यटीका

नवपुराणद्वन्द्वसम्बन्धादाह-**द्विश उत्तराणि**। वीप्सायां शस्। उत्तराणि नामानीति सामान्येनोक्त्वा प्रत्येकमुपन्यस्यति व्याख्याधर्मप्रदर्शनार्थम्। ततो निगमः प्रत्येकम्। एवं सर्वत्र व्याख्या कर्तव्येति। एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि। ततो गौरिति प्रत्येकमुच्चार्य तस्यैकैकस्य निगमः प्रदर्शनीयः, एवं सर्वत्रेति भाष्ये सर्वपाठः। उदाहरणानि च प्रत्येकम्।

प्रपित्वे अभीके इत्येते आसन्नार्थस्य नामनी भवतः। **प्रपित्वे प्राप्त** इत्यर्थः। **अभीके अभ्यक्त** आसन्न इत्यर्थः। सोपसर्गौ सप्तम्यन्तौ दृष्टाविति तथा पठितौ। पित्व इत्यासन्नार्थः, तथाच पित्व इत्युक्तम्। तत्रोपसर्ग-कृतेनार्थभेदेन भवितव्यम्। ससंरब्धा प्राप्तिरासन्नदेशकाला अपित्व इति। संरम्भ आयास इत्यर्थः। विप्रकृष्टदेशकाला प्रपित्व इति। प्राप्तशब्दस्यैव वा प्रविश्येकारवकारैः प्रपित्वः। निगमौ-

यथा॑ गौ॒रो अ॒पा कृ॒तं तृष्य॒न्नेत्यवेरि॑णम्।

आ॒पि॒त्वे नः॑ प्रपि॒त्वे तूय॒मा ग॑हि॒ कण्वे॑षु॒ सु सचा॒ पिब॑।। (ऋ०८.४.३)

देवातिथेरार्षम्। इन्द्र उच्यते। **यथा गौरः, (अपाकृतम्)** आपः, अद्भिः कृतं खातं नदीप्रस्रवणदेवखातादि तडाकं वा अद्भिः संबद्धम्, **तृष्यन्नेति** तृषा पिपासया हेतुभूतया आगच्छति। **अव इरिणम्** अवोपसर्गश्रुतेर्हायित्यध्याहार्यम्, अवहाय परित्यज्य, इरिणं निरुदकं देशम्, **एवमापित्वे** आसन्ने सुत्यालक्षणे आगमनकाले, **नः** अस्माकम्, **प्रपित्वे** चिरात् प्राप्ते, **तूयम्** क्षिप्रम्, **आगहि** आगच्छ। आगत्य **कण्वेषु** मेधाविनामैतत्, तृतीयायाः सप्तमी, मेधाविभिः ऋत्विग्भिः, **सचा** सह, **सुपिब** सुष्ठु पिब। किम्? सामर्थ्यात् सोमम्। तद्वदेव-

प्रो ष्व॑स्मै पुरोर॒थमिन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चत। अ॒भीके॑ चिदु लोक॒कृत्स॒ङ्गे स॒मत्सु॑ वृ॒त्रहास्माकं॑ बोधि चोदि॒ता नभ॑न्तामन्य॒के॑षां ज्या॒का अधि॒ धन्व॑सु।। (ऋ०१०.१३३.१)

सुदासः पैजवनस्यार्षम्। **प्र** अर्चतिना सम्बध्यते। प्र+उ प्रो, **उसू** पदपूरणौ। **अस्मै इन्द्राय**, अस्येन्द्रस्य स्वभूतं **पुरो रथो** यस्य तत् पुरोरथम्, **शूषम्** सेनालक्षणं बलम्, **प्रार्चत** प्रकर्षेण स्तुत, एकवाक्यतायै द्वितीया। अर्धर्चादौ यच्छब्दोऽध्याहार्यः। य इन्द्रः, **अभीके** अभ्यर्णे आसन्ने। **चिदू** पदपूरणौ, अप्यर्थे वा। **लोककृत्** लोकशब्दः स्थानवचनः, तथाहि देवलोकः पितृलोक इति देवादिस्थानमुच्यते, स्थानकृत्। **सङ्गे** संग्रामे, आसन्नेऽपि संग्रामकाले तिष्ठति न पालयत इत्यर्थः। न च केवलं तिष्ठत्येव, किन्तर्हि? **समत्सु** बहुष्वपि संग्रामेषु, **वृत्रहा** शत्रूणां हन्ता। अपर ऋक्शेषः प्रत्यक्षकृतः बोधीति मध्यमयोगात् **अस्माकं बोधि** बुध्यस्व। किम्? सामर्थ्यात् कृताः स्तुतीः शृण्वित्यर्थः। **चोदिता** चोदयिता च कल्याणाय भवेति शेषः। यो वा चोदिता स बुध्यस्वेति सम्बन्धः। किञ्च तव प्रसादात् नभन्ताम् छान्दसो वर्णलोपः, नभन्त माभूवन्नित्यर्थः। अथवा नभतीति वधकर्मा, **नभन्तां** हन्यन्तां विनश्यन्त्वित्यर्थः। **अन्यकेषाम्** अस्मत्तोऽन्येषाम्, सर्वलोककुत्सितानामस्मद्द्विषाम्, कुत्सिता ज्या **ज्याकाः**, अपि **अधिधन्वसु** धनुषामुपरि नष्टयुद्धोपकरणा अस्मद्विनाशं प्रति असमर्था अस्मद्द्विषो भवन्त्वित्यर्थः।

दभ्रमल्पकमित्यर्थः, अर्भकस्य नामनी। **दभ्रम्, दभ्नोतेः** वधार्थस्य, तद्धि सुदम्भं सुच्छेदं भवति। अल्पत्वात्। सु सौकर्येण। अर्भकमवहृतम् ऊनपरिमाणम्, हकारस्य च भकारः, **'संगृभाय'** इति यथा। उदाहरणे-

उपो॑प मे॒ परा॑ मृश॒ मा मे॑ द॒भ्राणि॑ मन्यथाः।

सर्वा॒हम॑स्मि रोम॒शा ग॒न्धारी॑णामिवावि॒का।। (ऋ०१.१२६.७)

दभ्राणि अल्पानि, उत्तरत्र रोमश्रवणाद् रोमाणि, **मन्यथाः** मंस्था इत्यर्थः। **सर्वाहमस्मि** भवामि वर्ते। **रोमशा** उपस्थकक्षादिषु स्थानेषु रोमवती जातेत्यर्थः। अतः सम्भोगयोग्यां सतीं किं मामुपेक्षस इत्यर्थः। अस्योपमा **गन्धारीणामिवाविका** गन्धार इति उत्तरापथे क्वचिद् देशाभिधानम्। अतो गन्धारीणां सम्बन्धिनीति तत्र जाता अविका, उरणिका। सा ह्यतिशयसूक्ष्मदीर्घघनमृदुरोमा, सेव। अथवा पुंसः सकाशात् स्त्रियाभिगम्यमानत्वाद् गमिति गर्भ उच्यते, गं धारयतीति गर्भिणी स्त्री। अविका इत्यवतेः प्रीत्यर्थस्य, प्रीतिकरत्वादुपस्थ उच्यते। **यथा**

गर्भिणीनामुपस्थो रोमशस्तद्वदित्यर्थः। स हि तासां समाचारः, यद् गर्भिण्यः स्त्रियो रोमाणि नोत्खिदन्तीति। तत्वेतनेयार्थम्।

नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यो॒ नमो॒ युव॑भ्यो॒ नम॑ आशि॒नेभ्यः॑।

यजा॑म दे॒वान् यदि॑ श॒क्नवा॑म॒ मा ज्याय॑स॒: शंस॒ मा वृ॑क्षि देवा:॥ (ऋ० १.२७.१३)

शुनःशेपो यूपे बद्धो विश्वान् देवानाह–**नमो महद्भ्यः** वृद्धेभ्यो युष्मभ्यं नमः, **अर्भकेभ्यः** बालेभ्यो **नमः**, **युवभ्यः** तरुणेभ्यो **नमः**, **आशिनेभ्यः** 'अशू व्याप्तौ (धा०५.१८) इत्यस्येदं रूपम्, व्याप्तृभ्यः। पलितानां कारुण्य-वृद्धत्वलक्षणयोर्द्वयोरपि वयसोर्व्याप्तृत्वादाशिना आसन्नपलिता मध्यमवयोऽवस्था उच्यन्ते। कुत एतत्? वयोऽधिकारात्। मध्यमस्य वयसोऽवशिष्टत्वात्। यूपाच्च मुक्ताः सन्तो **यजाम देवान् यदि शक्नवाम** इत्यात्मनो दैन्यातिशयं सूचयति।.......

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः॥

अथ एकविंशः खण्डः।

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य। रम्भ आरभन्त एनम्। **'आ त्वा॑ र॒म्भं न॒ जिव्र॑यो रर॒म्भ।'** (ऋ०८.४५.२०) इत्यपि निगमो भवति। आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम्। पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन। **'कृत्ति॑वासा॒: पिना॑कह॒स्तोऽव॑ततध॒न्वा।'** (का०सं०९.७) इत्यपि निगमो भवति। मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्। स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः। मेना मानयन्त्येनाः। ग्ना गच्छन्त्येनाः। **अ॒मे॒नाँश्चि॒ज्जनि॑वतश्चकर्थ।** (ऋ०५.३१.२) **'ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत।'** (मै०सं०१.९.४; का०सं०९.९) इत्यपि निगमौ भवतः। शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य। शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः। वैतसो वितस्तं भवति। **'यस्या॑मु॒शन्त॑: प्र॒हरा॑म॒ शेप॑म्।'** (ऋ०१०.८५.३७; अथर्व०१४.२.३८) **'त्रिः स्म॒ माह्न॑: श्नथयो वैत॒सेनो॒त।'** (ऋ०१०.९५.५) इत्यपि निगमौ भवतः। अयैनेत्युपदेशस्य। **'अ॒या ते॑ अग्ने स॒मिधा॑ विधेम॒।'** (ऋ०४.४.१५) इति स्त्रियाः। **'ए॒ना वो॑ अ॒ग्निम्।'** (ऋ०७.१६.१; वा०सं०१५.३२) इति नपुंसकस्य। **'ए॒ना पत्या॑ त॒न्वं॑ सं सृ॑ज॒स्व।'** (१०.८५.२७; अथर्व०१४.१.२१) इति पुंसः। सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य। **'स न॑: सिषक्तु॒ यस्तु॒रः।'** (ऋ०१.१८.२; वा०सं०३.२९) स नः सेवतां यस्तुरः। **'सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑।'** (ऋ०१.१.९; वा०सं०३.२४) सेवस्व नः स्वस्तये। स्वस्तीत्यविनाशनाम। अस्तिरभिपूजितः। सु अस्तीति। भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः। **'यस्य॒ शुष्मा॒द् रोद॑सी॒ अभ्य॑सेताम्।'** (ऋ०२.१२.१; अथर्व०२०.३४.१) इत्यपि निगमौ भवतः। द्यावापृथिवीनामधेयान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः। तयोरेषा भवति॥२१॥

भाष्यटीका

यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।

स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ (ऋ०१.१८.२)

............अस्य वैतद्रूपम्, रोगादीनां होता, अनातङ्क इत्यर्थः। **वसुवित्** **'विद्लृ लाभे** (धा०६.१३८) वसूनाञ्च लब्धा लम्भयिता वा दान इत्यर्थः। **पुष्टिवर्धनः** सर्वप्रकारायाश्च पुष्टेर्वर्धयिता **स नः** अस्मान् अभिलषितार्थसम्पादनेन विप्रकारीत्यर्थः। अथवा रेवानित्यादिभिः पुत्र उच्यते, य एवंरूपः पुत्रः स ब्रह्मणस्पतेः प्रसादेनास्मन् सेवताम्। अस्माकं जायतामित्यर्थः। अस्मिंश्च पक्षे **यस्तुर** इत्याद्यक्षरलोपेन चक्तुरः प्राह-इत्येवं वा नेयम्।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये॥ (ऋ०१.१.९)

मधुच्छन्दस आर्षम्। तच्छ्रुतेर्यच्छब्दः। य उक्तगुणोऽसि **स नः** अस्माकम्, **पितेव सूनवे** चतुर्थी षष्ठ्यर्थे, सूनोः पुत्रस्य, हे **अग्ने! सूपायनः** सूपगमना **भव**, सूपसर्प इत्यर्थः। **सचस्व** सेवस्व च, **नः** अस्मान्, **स्वस्तये** अविनाशाय।

स्वस्तिशब्दं निगमप्रसक्तं निराह-**स्वस्तीत्यविनाशिनोऽर्थस्य नाम** आख्या, सरूपमव्ययः अविनाशनाम इति पाठान्तरम्, अविनाशस्य च नाम स्वस्ति, कस्मात्? **अस्तिरभिपूजितः**, सुता सन्ता विनाशाभावश्चात्र पूजा। अर्थाभिव्यक्त्यर्थो विगृहीतपाठः। **'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी** (य०वा०सं०८.३६; ३२.५) 'इति यथानिगममुदाहरणम्।

भ्यसते रेजते इति भयवेपनयोरर्थयोर्धातूदाहरणे। **'यो जात एव** (ऋ०२.१२.१) उपरिष्टाद् (निरु०१०.१०) व्याख्यास्यते।

प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।

ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥ (ऋ०६.६६.९)

भरद्वाजस्य। प्रोपसर्गो भरध्वमित्याख्यातेन। **चित्रम्** विचित्रम्, **अर्कम्** मन्त्रं स्तुतिलक्षणम्, **गृणते** कर्मणि शतृप्रत्ययः, गीर्यमाणाय स्तोतव्यायेत्यर्थः' **तुराय** तुर्वतेर्हिंसार्थस्य रूपम्, तुर्विते शत्रूणां हिंसित्र इत्यर्थः। **'त्वर त्वरणे** अस्य वा, त्वरित्रे क्षिप्रकारिणे। **मारुताय** मरुतां समूहाय, **स्वतवसे** स्वबलाय, **भरध्वम्** प्रभरध्वम्, प्रहरत प्रापयत प्रोच्चारयेत्यर्थः। अथवा अर्कमन्त्रं हविर्लक्षणं तद्धेतुमाहवनीयं प्रति प्रापयत, ऋत्विजाञ्चायं प्रैषः। किञ्च **ये** मरुतः, **सहांसि** बलानि शत्रूणां स्वभूतानि, **सहसा** बलेनात्मीयेन, **सहन्ते** सहिरभिभवे, अभिभवन्ति। यच्छ्रुतेस्तच्छ्रुतिः, तेभ्यो **रेजते** बिभेति, भयेन वा कम्पते। हे **अग्ने! पृथिवी** पृथिव्यपि किमुतान्यानि भूतानि। **मखेभ्यः** म इत्यपमितमः वि महन्नाम। यद्वा मह इत्यस्य महन्नाम्नो हकारस्य खकारः, महद्भ्य इत्यर्थः। अथवा महो यज्ञस्तमङ्गभावोपगमनेन वृष्टिप्रदानद्वारेण वा कुर्वन्ति **'तत्करोति** (तु०अष्टा०वा०३.१.२५) इति णिच् ण्यन्तात् **'णेरनिटि** (अष्टा०६.४.५१) इति णिलोपः मखा यज्ञकारिण इत्यर्थः। तेभ्यः, वित्व? सम्बन्धेनोच्यते

द्यावापृथिवीनामानि चतुर्विंशतिः-स्वधे, पुरन्धी-इत्यादीनि स्वेनात्मना भूतग्रामं धारयत इति स्वधे। पुराणि वा धारयित्र्यौ पुरन्धी। एवं सर्वत्र भवति। कर्मातिशययोगेन माहाभाग्यस्य वाचिका ऋक्।

इत्यष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य एकविंशः खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद। विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥ (ऋ०१.१८५.१) कतरा पूर्वा कतरापरैनयोः। कथं जाते। कवयः क एने विजानाति। सर्वमात्मना बिभृतो यद्ध। एनयोः कर्म। विवर्तेते चैनयोः। अहनी अहोरात्रे। चक्रियेव चक्रयुक्ते इवेति। द्यावापृथिव्योर्महिमानमाचष्ट आचष्टे॥ २२॥

भाष्यटीका

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद॥

विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥ (ऋ० १.१८५.१)

अगस्त्यस्यार्षम्। स हि पूर्वमेव संसाररूपे दृष्ट्वैवमवोचत्, **कतरा पूर्वा** पूर्वकाला, तत् **कतरा** अपरकाला, **अयोः** अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये, **कथा जाते** कथं वा जाते एवं महापरिमाणे, **कवयः** मेधाविन ऋषयः, **को विवेद** क एतद्विवेद वेत्ति जानाति, अहं तावत्तं जानामीत्यभिप्रायः।

किञ्च **विश्वं** सर्वं प्राणिजातमेते **त्मना** आत्मना **बिभृतः** धारयतः, **यत्** तादर्थ्यायाश्चतुर्थ्या लुग्भवति **पदपूरणः**, यस्मै। ये एनयोर्नाम परिणाम उत्पत्तिः, यदर्थमेते उत्पन्ने इत्यर्थः। **वर्तेते** विविधं यतेते, एतयोर्मध्य इति शेषः। **अहनी** अहोरात्रे, **चक्रियेव** चक्रशब्दात् प्रथमाद्विवचनस्य .... **वाजीकाराणामुपसंख्यानम्**[1] इत्येवमियादेशः। चक्रे इत्यर्थः। चक्रे च ते युक्ते च चक्रयुक्ते च, परिवर्तमानसामान्यादहोरात्रे उच्येते। अर्थप्राप्तार्थवचनं चैतद् भाष्यकारस्य नाम मन्त्राक्षरविवरणं महिमानमाचष्टे, मन्त्रो मन्त्रद्वारा। अन्त्यपदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिज्ञापनार्थः, शिष्टभागो निगमसिद्धः।

निरुक्तमन्त्रभाष्यार्थपूर्ववृत्तिसमुच्चयः।

...............मन्त्रेण रचितः सूनुना पितृशर्मणः॥

इत्याचार्यमहेश्वरविरचितायां निरुक्तभाष्यटीकायाम् अष्टमस्या-(तृतीयस्या)-ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः। अष्टमो-(तृतीयो)-ऽध्यायश्च समाप्तः।

---

१ (इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् इति अष्टा०वा०७.१.३९ सूत्रे वार्तिकम्)

॥अथ चतुर्थोऽध्यायः॥

प्रथमः पादः। प्रथमः खण्डः।

एकार्थमनेकशब्दमित्युक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। अनवगतसंस्कारांश्च निगमांस्तदैकपदिकमित्याचक्षते। जहा जघानेत्यर्थः॥१॥

भाष्यटीका

एकार्थमनेकशब्दमित्यादि, उक्तप्रकारेणोपसंहारो विस्मरणार्थः, प्रकरणान्तरोपन्यासार्थश्च। एकः पृथिव्यादिरर्थो यस्मिन् तदेकार्थम्। अनेको वाचकः शब्दो गवादिर्यस्मिन् तदनेकशब्दम्। उक्तोपसंहारत्वाच्च, एकोऽर्थोऽनेकशब्दस्य, अनेकश्च शब्द एकार्थस्य, इत्येतदुक्तं गम्यते। कथम्? पुरस्तात् **'एतावन्तः समानकर्माणो धातवः, एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि** (निरु०१.२०) इत्यस्यार्थस्य नैघण्टुकस्य प्रतिज्ञातत्वात्, यथाप्रतिज्ञातं चोक्तत्वात्। यच्चोक्तं तस्योपसंहारवचनेनोपसंहर्तव्यत्वात्, तस्य च एकोऽर्थो यस्मिन् अनेकः शब्दो यस्मिन् इत्येवमेव ज्ञायमाने उपसंहर्तुं शक्यत्वात्।

अपि च यद्येकार्थत्वमेकस्य शब्दास्याभिप्रेतं स्यात्, अनेकशब्दत्वञ्चानेकस्यार्थस्य, ततो वचनानर्थक्यम्, तस्यार्थस्योत्सर्गसिद्धत्वात्। अत आरम्भसामर्थ्यादप्येकोऽनेकशब्दस्य, अनेकशब्द एकस्येति युक्तमवोचाम। अर्थाच्चायमर्थ इत्यपौनरुक्त्यम्। अन्यथा ह्येकोऽर्थोऽयमनेकस्य शब्दस्येत्युक्ते, अनेकशब्दो यस्मिन्नेकार्थस्येति पुनरुक्तं स्यात्। **इति**शब्द एवमित्यस्यार्थे, बुद्धौ सन्निहितस्य **एतदिति** प्रतिनिर्देशः प्रकरणमन्यपदार्थं तदभिप्रायञ्च न नपुंसकैकवचनम्। एतदेवमेकार्थमनेकशब्दं नैघण्टुकं प्रकरणमुक्तमित्यर्थः। यद्यपि च गोकाष्ठादीनामनेकार्थत्वं क्वचित् प्रदर्श्यते, अनवगतसंस्कारश्च विश्चकद्राकर्षादिः। तथापि तत्प्रासङ्गिकं द्रष्टव्यम्। न च प्रासङ्गिकं प्रकरणं विहन्ति।

अथेत्यादि, अनन्तरं यानि **'दयतिरनेककर्मा** (निरु०४.१७) इत्यादीनि। **अनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतः** परम**नुक्रमिष्यामः** अभिधानाभिधेयतन्निर्वचनोदाहरणादिक्रमेणोदाहृत्य व्याख्यास्याम इत्यर्थः।

न चैतावदेव, किन्तर्हि? अनवगतेत्यादि। व्याकरणेन प्रत्यक्षेण भाषितेन विशेषलक्षणेनानवगतः, अनवबुद्धः प्रकृत्यादिविभागलक्षणः संस्कारो येषाम्। केन तर्हि? सामान्येन **'उणादयो बहुलम्** (अष्टा०३.३.१) **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (अष्टा०६.३.१०९) इत्यादिना प्रदर्शितसाधुत्वात्। **'बहुलं छन्दसि**[1] इति च। तांश्च निगमान् निगमयितव्यान् वैदिकान् शब्दानित्यर्थः। तेषाञ्चानेकावगतसंस्करणात्, कश्चिदनेकार्थ एव। यथा **'दयतिरनेककर्मा** (निरु०४.१७) **'नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः**(निरु०४.१७) इति। एतयोर्हि धातुत्वान्निपातत्वाच्च नान्यः संस्कारोऽस्तीति। कश्चिदनवगतसंस्कार एव, यथा जहा इति। कश्चिदुभयवान्, यथा अकूपार इति। तथा क्वचिन्निगमेनैवोपक्रमः, इषिरेण इति क्वचिदभिधेयं निगमेनैव गतत्वादप्रदर्शितः। यथात्रैव इषिरमुनयति नोक्तम्। क्वचिदतिप्रसिद्धे निगमोऽपि न पठ्यते। यथा कुरुतनादिषु। तदेतद्यथासम्भवं सर्वत्र प्रदर्शयितव्यम्।

---

१ (२.४.३९, ७६; ३.२.८८; ५.२.१२२; ६.१.३४; ७.१.८, १०, १०३; ३.९७; ४.७८)

न चैतद् व्याख्यायैवानुक्रमणात् '**तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्याम:। नैघण्टुकानि नैगमानीह** (निरु०१.२०) वक्ष्याम इति पुरस्ताद् व्याख्यानप्रतिज्ञामवत्सव्याप्तिर्न क्रियते। सा चेयं पूर्वाचार्यैः प्रदर्शिता।

तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।

निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं निगमे पदे॥

तत्त्वं पर्यायशब्देन यथा निधा पाश्या भवति इति। **व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि** तस्य च पर्यायस्य च, निधा यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः (निरु०४.२) इति। **निगमः** अस्मिन्नर्थ इति। निगमो वैदिकः प्रयोगो मन्त्रो वा। यथा '**वयः सुपर्णा** (निरु०४.२) इति। '**निधयेव बद्धान्** (निरु०४.२) इति बन्धनकस्य करणं निधेत्युक्तम्, पाश्या च बन्धनस्य करणम्, अतः पाश्या निधेति निर्णयः।

तत् एतत्प्रकरणम्, **ऐकपदिकमित्याचक्षते** पूर्वाचार्यप्रसिद्धेयमस्य संज्ञेत्यभिप्रायः। एकपदानां व्याख्यानम् ऐकपदिकम् इति। अत्र हि एकैकमेव जहादि पदं व्याख्यायते। न यथा पूर्वत्र, एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि, हिरण्यानामानि पञ्चदश इति पदसमुदायः।

तत्र प्रथमं पदम् **जहा** इति। तदनवगतम्, तत् किं हन्तेः जिहातेः जिहीतेरिति। धातुस्तावद् विशेषेणानवगतः। प्रत्ययोऽपि जातिरपि नामाख्यातं निपातो वेति, कारकमपि। अतो धातुप्रत्ययपदजातिकारकानव- गमादनवगतम्। तस्य प्रकरणपदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यादिना धात्वादि निश्चित्य तदभिव्यक्त्यर्थं हन्तेर्लिड्उत्तमैकवचनेन वा '**अभ्यासाच्च** (अष्टा०७.३.५५) इति कुत्वस्याभावो नकारलोपश्छान्दसत्वादित्याह-**जघानेत्यर्थ** इति। इतरयोर्धात्वोः पूर्वपराभ्यासे सम्बन्धभावान्निगमः।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

को नु मर्या॒ अमि॑थित॒: सखा॒ सखा॑यमब्रवीत्। ज॒हा को अ॒स्मदी॑षते। (ऋ०८.४५.३७) मर्या इति मनुष्यनाम। मर्यादाभिधानं वा स्यात्। मर्यादा मर्यैरादीयते। मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः। मेथतिराक्रोशकर्मा। अपापकं जघान कमहं जातु। कोऽस्मद्भीतः पलायते। निधा पाश्या भवति। यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः। पाशः पाशयतेर्विपाशनात्॥ २॥

भाष्यटीका

को नु मर्या॒ अमि॑थित॒: सखा॒ सखा॑यमब्रवीत्।

ज॒हा को अ॒स्मदी॑षते॥ (ऋ०८.४५.३७)

जहेत्यस्य पदस्य प्रतिज्ञातार्थोपपादनार्थं प्रथमं तावत् पूर्वा ऋगत्र व्याख्यायते। त्रिशोक इन्द्रमाह-

मा न॒ एक॑स्मि॒न्नाग॑सि॒ मा द्वयो॑रु॒त त्रिषु।

वधी॒र्मा शू॑र॒ भूरि॑षु॥ (ऋ०८.४५.३४)

माशब्दो वधीरित्येतेन सम्बध्यते। **नः** अस्मान्, **एकस्मिन्नागसि** अपराधे, **मा च द्वयोः, उत त्रिषु मा वधीः** मा हिंसीरित्यर्थः। **मा** च हे **शूर! भूरिषु** बहुषु **'बिभया हि** (ऋ०८.४५.३५), बिभेमि हि। त्वावतः **'वनुप्रकरणे युष्मदस्मदोश्छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्** (अष्टा०वा०५.१.६१) इति वतुप्रत्ययः तेन त्वत्सदृशादित्यर्थः। **उग्रात्** अप्रसह्यात् क्रूराद्वा, **अभिप्रभङ्गिणः** अभिप्रभङ्क्तुः शत्रूणाम्, **दस्मात्** उपक्षपयितुश्च, **अहमृतीषहः** गन्तृत्वादृतिः सेनानामभिभवितुरित्यर्थः। यत एवमतो ब्रवीमि **'मा सख्युः** (ऋ०८.४५.३६) माशब्द आविद इत्येतेन सम्बध्यते। **सख्युः** मित्रस्य, **शूनम्** प्रवृद्धम्, किं तत्? सामर्थ्यात् पापम्, पापपर्याय एव वा शूनम्। **आविदे** आभिमुख्येन मा ज्ञासिषम्। **मा च पुत्रस्य। प्रभूवसो** प्रभूतधन! किञ्च आवृत्तत्वादावृतावृत्तिस्तया तद्वत्, आवृत्तिमदित्यर्थः। **भूतु** छान्दसत्वाद् विकरणाभावः। अस्मान् प्रति सर्पि देवप्रसादपरं भवतु, **ते** तव, **मनः**।

एवमुक्त इन्द्रस्तं सोपालम्भं प्रत्याह-**को नु**, कः प्रश्ने, नु इत्युपालम्भे पादपूरणो वा हे **मर्या!** मनुष्याः! अथवा का+उ को लकारः पदपूरणः, मर्याशब्दोऽपि मर्यादावचनः, केयं मर्यादा, कोऽयमाचार इत्यर्थः। अनाक्रुष्टः **सखा** न **सखायं सन्तमब्रवीत्** ब्रवीति-मा नो वधीरिति। को हि नाम सखायं सन्तं हन्ति **जहा** हतवान् वा आह-किमिति शेषः, येनैवमुच्यते। **कः** को वा, **अस्मत्** अस्मत्तः, **ईषते** ईषतिर्गतिकर्मा। शुद्धोऽपि चात्र सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः, अवगच्छति पालयत इत्यर्थः। एवमत्र मा नो वधीरिति वधप्रतिषेधलक्षणोपालम्भत्वादस्या ऋचो जहेत्यस्यार्थस्योपपत्तेः शब्दसारूप्याच्च जघानेत्यर्थ इत्युपपन्नम्।

अत्र **मर्यादभिधानं वा स्यात्** इयं मर्यादा अभिधानमुक्तम्। तदयुक्तम्, प्रथमाबहुवचनान्तं हीदमामन्त्रिम्, न तु टाबन्तमेकवचनान्तम्, मर्या अमिथित इति सवर्णदीर्घत्वप्रसङ्गात्। अनुदात्तस्य चामन्त्रितत्वासम्भवान्न दोषः, छान्दसत्वादुभयं भविष्यति। अन्ये तु शाखान्तराभिप्रायं मन्यन्ते।

मर्यादा मर्याद्योर्विभागः मर्यादा नाम पूर्वस्या भूमेरन्तः, म्रियते सा तत्रेति मर्या, आदिः परभूमेरारम्भः, मर्य्या चादिश्च मर्यादी, तौ येन यस्मिन् वा प्रदेशे विभज्येते, स मर्याद्योर्विभागः। स मर्यया चादिना च योगात्। मर्यादामर्यादिनोः- इति पाठे व्रीह्यादिदर्शनादिनिः। मर्यादिना तद्वतोर्ग्रामयोर्विभागो वा।

अपापकमिति न्यायप्राप्तवचनम्, अपापको हि न हन्यते। तथा भीत इत्यर्थप्राप्तवचनमेव, अत एव हि पलायतिनाभिहितम्।

निधेत्यनन्तरमनवगतसंस्कारम्, तस्य **पाश्या भवतीति** पर्यायेणाभिधेयकथनम्। **यद् यस्मिन्निधीयते** स्थाप्यते मृगपक्षिग्रहणाय इति निर्वचनम्। अभिधेयप्रसक्तं निराह-**पाश्या पाशसमूहः**, समूहार्थे पाशादिभ्य इति यः। पाश्या जालम्, पाश्यानुप्रसङ्गात् पाशं निराह-**पाशः पाशयतेः** बन्धनार्थाद् **विपाशनात्**। तेन विविधं मृगः पक्षी वा बध्यते। निगमः-

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्॥ (ऋ०१०.७३.११) वयो वेर्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मय उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः। अपोर्णुह्याध्वस्तं चक्षुः। चक्षुः ख्यातेर्वा। चष्टेर्वा। पूर्धि पूरय देहीति वा। मुञ्चास्मान् पाशैरिव बद्धान्। **'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः।'** (वा०सं०२१.४३) पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेः, संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः, संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्गनात्। अञ्चनाद्वा। श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः। श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शिताम भवति। दोर्द्रवतेः। योनिः शितामेति शाकपूणिः। विषितो भवति। श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः। श्यामं श्यायतेः। यकृद् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। शितिः श्यतेः। मांसं माननं वा। मानसं वा। मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा। मेदो मेद्यतेः॥ ३॥

भाष्यटीका

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।

अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्॥ (ऋ०१०.७३.११)

शाक्त्यस्य गौरिवीतेरार्षम्। **वयः** वेर्बहुवचनम्, विः पक्षी गन्ता वा। अन्तर्नीतोपमानश्च। वयः पक्षिसदृशाः शीघ्रगन्तृत्वेन गन्तारो वा। **सुपर्णा** इति, रश्मीनाम, आदित्यरश्मयः। **उपसेदुरिन्द्रम्** उपसीदन्ति ईश्वरमादित्यम्। **प्रियमेधाः** प्रिययज्ञाः। **ऋषयः** द्रष्टारः। **नाधमानाः** याचमानाः। किम्? उच्यते, **अपोर्णुहि** अपच्छादितं कुरु अपनयेत्यर्थः। **ध्वान्तम्** तमः। तच्च कुर्वन्, यदेनं संपूर्णमालोकाभावाद् दर्शनस्यासमर्थं ध्वस्तमिव वा तमसा, एतत् **पूर्धिं** पूरय देहि वा। **चक्षुः** सर्वस्य लोकस्य तच्चिचीषन्, **मुमुग्धि अस्मान्, निधयेव** पाशसमूहेनेव, बद्धान् उद्गततमोऽपनयनार्थं सर्वान् विक्षिप्येत्यर्थः।

सुपर्णशब्दस्य रश्मिनामसु पाठात् **सुपतना** इति निर्वचनाभिप्रायः। **आध्वस्तं चक्षुरिति** आध्वस्तमाच्छादितं तमसा, अर्थप्राप्तस्य चार्थस्येदं वचनम्, न ध्वान्तशब्दनिर्वचनार्थम्। तमःपर्यायत्वादस्य चक्षुषा सामानाधिकरण्यासम्भवात्। **चक्षुः ख्यातेर्वा** (तु०धा०२.५०) दर्शनार्थस्य, **चष्टेर्वा** (तु०धा०२.७)) अनेन हि दृश्यते।

शिताम–इत्यनवगतसंस्कारमनेकार्थञ्च। आचार्यविप्रतिपत्तेः पूर्वपूर्वपदोत्तरपदाद् विप्रतिपत्तिनिमित्ता च विप्रतिपत्तिरुपन्यस्ता निगमे सुप्रतिपादिता भवतीति भाष्यकारो निगमेनैवोपक्रमते **पार्श्वतः श्रोणित** इत्यादिना–

होता यक्षदिन्द्राग्नी छागस्य हविष आतामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानाꣳ सुमक्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करत एवेन्द्राग्नी जुषेताꣳ हविर्होतर्यज॥ (तैत्ति०ब्रा०३.६.११.२ ३)

पशोर्हविः प्रदानस्य प्रैषोऽयम्। **होता यक्षत्** लोडर्थे पञ्चमः, हृदयादियागेन यजतु। अग्नीषोमौ, यतस्तौ, **छागस्य हविष आत्ताम्** भक्षितवन्तौ। **अद्य मध्यतः** मध्यात्। **मेदः** मध्यवपाख्यम्, यतो वपायागः कृतः। अतो ल्हादय, आदिकालो वर्तत इत्यर्थः। कदा यजते? उच्यते, **पुरा द्वेषोभ्यः** द्वेष्टृभ्यो वा हविर्मथिभ्यो रक्ष आदिभ्यः, यावत् कालातिक्रमदोषाद् देवतावद्धवींषि रक्ष आदीनि न विध्वंसयन्तीत्यर्थः। **पुरा** च **पौरुषेयी** गृह्यत इति गृही इडा, तस्याः। तौ चेज्यमानौ **घस्तां** भक्षयेताम्। **नूनम्** निश्चयेन। **घासे अज्राणाम्** घासनिमित्ते अजन्ति गच्छन्ति, घासे वा न जीर्यन्ते ये ते, घासे अज्राः पशवः। जात्याख्यायामिति, एवञ्चात एकस्मिन्नेव बहुवचनम्। वचनव्यत्ययो वा। घासे भक्षणे वाजस्य पशोरवयवभूतानि। **यवसप्रथमानामित्यादौ** सर्वत्र द्वितीयार्थे षष्ठी। यवसमन्नं प्रथममुत्कृष्टम्। अन्नान्युत्कृष्टानि मांसानीत्यर्थः। **सुमत्क्षराणाम्** सुसिद्धतया मृदुत्वात् स्वयमेवोदरं प्रति क्षरितृणि। **शतरुद्रियाणाम्** रुद्र इति स्तोतृनाम तस्य स्वभूताः स्तुतयो रुद्रियाः ताः शतसंख्याका येषां तानि बहु स्तुतीनीत्यर्थः। **पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः**। शितामशब्देन बाहुरुच्यते, कुतः। पार्श्वतः श्रोणित इति बाह्यावदानप्राये वचनात्। बाह्यत्वं च हृदयाद्यपेक्षया पार्श्वादीनाम्। तथा च श्रुतिः। **अग्निष्वात्तानाम्**। अग्निना पावकेन स्वादूकृतानि। **पीवा** बलवान् पशुः। उपगम्य इष्यते यस्मिन् उपवसनम्। पीवा उपवसनं येषां तानि। बलवन्तं पशुमवयवयोगेनोपयम्य यानि व्यवस्थितान्यासन्तीत्यर्थः। साहचर्यं दर्शयति। दोषोरवद्यति पार्श्वयोरवद्यतीति। पार्श्वादिसाहचर्याच्च पर्वतनारदादिवत् सन्दिग्धे निर्णयः।

अथवा योनिः शितास श्रोण्यानन्तर्यात् योनिशब्देन अग्नीषोमीयस्य पुंस्पशुत्वात् पुंस्पशोश्च योनेरभावाद् अनवदानीयत्वाच्च सामीप्याद् गुदः प्रतिपाद्यते। तेन शितामतो गुदादित्यर्थः।

श्यामं वा यज्ञमांसं कालेयकाख्यं शिताम उच्यते। श्वेतं वा मांसं मेद आख्यम्। तदपि हि **'मेदसा स्रुचौ प्रोर्णोति'** इति वचनादवदानमध्ये प्रक्षिप्यते। पार्श्वात् श्रोणेर्वा बाह्यादीनां वान्यतमस्मात्। **उत्सादत**। पार्श्वादीनां छेदप्रदेशस्ततः। अन्यस्माच्च हृदयादेः। **अङ्गादङ्गदवत्तानाम्**। अवत्तानि। कुरुत एव भक्षणं चैतदग्नीषोमौ। मा न कार्षाम्। **जुषेतां** सेवेताम् नित्यं **हविरस्मदीयम्**। त्वमपि **होतः यज**। मा विलम्बिष्ठाः। **पार्श्वं** कस्मात्। **पर्शुमयमङ्गं भवति**। तद्धि पर्शूनां समूहः पार्श्वमित्येवं वैयाकरणा अन्वाचक्षते। न पर्शुसमूहरूपत्वात् पर्शुमयम्। **पर्शुः स्पृशतेः**। स हि संसृष्टा पृष्ठदेशेन। तत्र लग्नत्वात् पृष्ठदेशमित्यपवादे द्वितीयाया अर्थासम्भवात्। **पृष्ठमपि स्पृशतेरेव**। तद्धि **संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्गनादञ्चनाद्वा।** अङ्कनलक्षणमञ्चनमङ्गम्। अङ्क्यते हि तेन लक्ष्यते गतञ्च नवकाये।

श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः। गतेः सम्बन्धि यत् कृतं चलनं गतिचलादिना द्रष्टव्यम्। अर्थसमन्वयं दर्शयति। **श्रोणिश्चलतीव गच्छतः** पशोः पुरुषस्य वा। **दोः** बाहुः। स **शिताम भवति**। अङ्गे श्रितत्वात्। श्रितशब्दस्य **पृषोदरादित्वाद्** (अष्टा०६.३.१०९) रेफस्य लोपः। इतस्य दीर्घत्वम् मशब्दश्चोपजनः। दोष्णश्च शितामत्वे उक्ता युक्तिः। **दोः द्रवतेः**(धा०१.९९२) गत्यर्थस्य। पादाभ्यामिव बाहुभ्यां वि पशुर्गच्छति।

योनिः शिताम इति शाकपूणिः। गुदोऽत्र योनिरुच्यत इत्युक्तम्। स हि **विषितः**। **'षिञ् बन्धने** (धा०५.२)। विविधं सितो बद्धो भवति। गुदो हि पुरीषोत्सर्गवेलायां विकसति। संकुचत्यन्यदा। न च विविधं बद्धस्य विकसनमुपपद्यते। सितशब्दस्य सकारस्य शकारः। तशब्दस्य दीर्घत्वम्। मकारश्चोपजनः। **पृषोदरादित्वात्** (अष्टा०६.३.१०९)।

श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः। श्यामशब्दस्य यकारस्य सम्प्रसारणम्। ताशब्दश्चागमः। यकृत्त इत्यर्थः। प्रप्तार्थवचनम्। **श्यामकृत्त** एव कालेयकाख्यम्। अवदानविधानात्। तैटीकिराचार्यः। **श्यायते**रित्यर्थस्य। तद्धि गतं द्वाभ्यां वर्णाभ्यां शुक्लेन च कृष्णेन च। शुक्लकृष्णसम्पर्कात् श्यामस्योपजायमानत्वात्। **यकृद्यथा कथा च**। यथा कथञ्चिन्मृदुत्वादक्लेशेनैव **कृत्यते** छिद्यत इत्यर्थः।

शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। शितिशब्दः श्वेतवर्णवचनः। तस्येकारस्याकारः। मांस इत्यस्यापि आकारस्य ह्रस्वत्व-अनुनासिक **'स'**[1] शब्दलोपः शितामतः मेदस्त इत्यर्थप्राप्तवचनम्। तद्धि श्वेतस्यां स गालव आचार्यो मन्यते। **शितिः श्यतेः** तनूकरणार्थस्य। कृष्णादिभ्यो हि तनुरिव शुक्लवर्णः। **मांसं माननं वा**। तेन हि मान्यतेऽतिथ्यादि। **मानसं वा** मन इति। प्रसन्नचेतसो हि पुरुषस्य तदुपचीयते नोद्विग्नस्य। **मनोऽस्मिन् सीदतीति वा**। मांसे हि मनः प्रायेण सर्वस्य सीदति भक्षयेयमेतदिति। **मेदो मेद्यतेः**। मेद्यतिः स्नेहार्थः। स्निग्धं हि तत्। एवमन-वगताभिधेयोऽनवगतसंस्कारोऽनेकार्थश्च। एवञ्चानेकप्रकारमनवगतं पदजात्यभिधेयविभागाध्याहारः कृतो द्रष्टव्यः।

तत्र किञ्चिदुदाहरणानि प्रदर्शयामः-

तत्रार्थनवगतत्वे उदाहरणम्-त्व इति। इदं हि नामत्वेन चोपन्यासात् पदजात्यनवगतं केचिन्नामत्वेन प्रतियन्ति। अन्ये निपात इति षष्ठे विचारितम्। **अभिधेयानवगतम्**। शिताम योनिमिति। अभिधेयविप्रतिपत्तेः। तथा **पदविभागानवगतम्**। मेहना इति। **अध्याहारानवगतम्**। दमूना इति। दानमना इत्यध्याहारात्। तथा **क्रमानवगतम्**। यत्रान्यस्यावसरेऽन्यो वर्णः प्रयुज्यते। **'उभयाहुस्त्या भर** (ऋ०५.३१.१, निरु०४.४)। 'समृवृतातेवानु मा गृहाय' इति वर्णव्यापत्तीरनवगमः। तथा **स्वरानवगतम्**। 'वने न वा यो (ऋ०१०.२९.१; निरु०६.२८) इति। तथा **विक्षेपानवगतम्**। 'द्यावा नः पृथिवी इमम् (ऋ०२.४१.२०; तै०सं०४.१.११.४; निरु०९.३८) 'इन्द्रा नु पूषणा वयं (ऋ०६.५७.१) अनानुपूर्व्यसहिता शूतश्चिच्छेदादि द्रष्टव्यम्। **गुणानवगतम्** 'कुविर्दती करूलती (निरु०६.३०) त्यादि। यत्रैतच्छब्दाद् व्याख्यागुण एवावगतः। संस्कारान्यदन्यज्जहेति। **व्यवधानानवगतम्** 'वायुः पूषा स्वस्तयै नियुत्वान् (ऋ०७.३१.२)। तथा हि दर्शयति 'वायुश्च नियुत्वान् (निरु०५.२८) इत्यादिना। तथा **क्वचिदेकस्यानेकत्वं** क्रियते। 'ततो वयः प्र पतान् पूरुषादः (ऋ०१०.२७.२२) इति पुरुषानादनाय। **क्वचिच्चानेकमप्येकम्**। 'चकार गर्भं सनितुर्निधानम् (ऋ०३.३१.२)। गर्भनिधानमिति। क्वचित् **प्रसिद्धाख्यातार्थासम्भवादन्यथा निरुच्यते**। 'विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत (ऋ०८.९९.३) इति भक्षयत्यर्थासम्भवात् भजेन्निरुच्यते। **क्वचिच्च नवैवाख्यातं क्रियते**। 'अग्निर्वरूथं मम तस्य चाकन् (ऋ०१.१४८.२)। आख्यातं येन 'आ तो भर सुवितं यस्य चाकन्' इति। यद्वृत्तसम्बन्धान्निघातप्रतिषेधेसत्युदात्तश्रुतिर्भवति। तेन कामयता कामयत इत्यर्थः। सोऽयं पदान्तरसम्बन्ध-सामर्थ्यापेक्षोऽनेकविकल्पावगमः प्रदर्शनीयः। तथा चोक्तम् 'अर्थनित्यः संस्कारमाद्रियेत (निरु०२.१) इति।

मेहना इति आचार्यविप्रतिपत्तेः। मिहोऽनवगतम्। एकमिति शाकल्यः। त्रीणीति गार्ग्यः। तां च विप्रतिपत्तिमुदाहरणेनैव दर्शति।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

---

१ (आदर्शपुस्तकेषु **स** इति नास्ति। अर्थानुसारित्वादस्माभिरेवात्र निवेशितः। मांस शब्दे अनुनासिककस्य सशब्दस्य च लोप इत्यर्थः। अन्यथा **शितामत** इति रूपाव्युत्पत्तेः)

अथ चतुर्थः खण्डः।

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः। राधस्तन्नो विद्वस उभयाहस्त्या भर॥
(ऋ०५.३९.१) यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्तीति वा। त्रीणि मध्यमानि पदानि। त्वया नस्तद् दातव्यम्। अद्रिवन्। अद्रिरादृणात्यनेन। अपि वात्तेः स्यात्। **'ते सोमादो।'** (ऋ०१०.९४.९) राध इति धननाम। राध्नुवन्त्यनेन। तन्नस्त्वं वित्तधनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर। उभौ समुब्धौ भवतः। दमूना दममना वा। दानमना वा। दान्तमना वा। अपि वा दम इति गृहनाम। तन्मना स्यात्। मनो मनोतेः॥४॥

भाष्यटीका

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ (ऋ०५.३९.१)

अत्रेर्भौमस्येयम्। **यत्** हे **इन्द्र चित्रं** चायनीयं पूज्यम्। **मेहना** मंहतेः (निरु०३.२०) दानकर्मणः। अकारस्य एकारः। अनुस्वारलोपश्च। शाकल्यपक्षे मंहनीयं दानार्हम्। अस्ति तव। छन्दोगानां तु मेहना शब्दे नैवास्ति। **'यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति'** इत्येवंरूपः पाठः। तेषां चित्र **म इह नास्तीत्येषां** पदानां पञ्चानां मह-न इत्येवं रूपाणि मध्यानि पदानि। यन्मे मम गृहे नास्तीत्यर्थः। परार्थं वा प्रार्थ्यते। असद्वेत्यर्थिधर्मप्रसङ्गेन चेदमस्या ऋचः शाखान्तरे वेदान्तरे वाऽधीतस्या अवयवस्य च व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। **त्वादातं** कृत्यार्थे प्रत्ययः। यद्देयं त्वया स्तोतृभ्यो यष्टृभ्यश्च दातुं संकल्पिमित्यर्थः। हे **अद्रिवः**! अद्रिः ग्रावा तद्विकाराद्वा आदरणाद्वा। वज्रोऽत्राद्रिरुच्यते तेन तद्वता। **राधो** धनम्। **तन्नः** अस्मदर्थमस्मभ्यं दातुमित्यर्थः। हे **विदद्वसः** विन्दति लभते वसूनि धनानि यः विदद्वसः धनानां लब्धा तस्येदं सम्बोधनम्। **उभयाहस्ति** द्विदण्ड्यादिरयम्। उभाभ्यां हस्ताभ्यामित्यर्थः। **आभर** आभर प्रभूतमित्यर्थः।

अद्रिः आदृणाति विदारयति **अनेन** सोममिदं गदादि वा। **अपि वात्तेः स्याद्** भक्षणार्थस्य। अद्रयो ह्यभिषवकाले सोममदन्ति। तथाच मन्त्रेऽपि **'सोमादो** (ऋ०१०.९४.९) इत्यस्मि। सोमादनमेषां विज्ञायते। अयं च मन्त्रः पुरस्तात् **'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।** (ऋ०१०.९४.९) **इत्यधिषवणचर्मणः** (निरु०२.५) इत्यत्र व्याख्यातः।

राध इति धननाम। किमर्थमेतदुच्यते पठितमेवं ह्येतदुच्यते प्रसङ्गेन निर्वचनप्रदर्शननार्थम्। **राध्नुवन्ति** साधयन्ति एतेन धर्मादीन् पुरुषार्थानिति। **तन्नस्त्वं वित्तधन**=लब्धधनेत्यर्थः। **उभौ**=समुपलब्धौ भवतः। **'उभ उम्भ पूरणे** (धा०६.३२)। संपूरितौ परस्परेण। उभशब्दस्य वि द्विगतं साहित्यमित्यर्थः। यो यश्च साहित्यसंपूरितौ परम्परेण भवतः।

दमूना इत्यनवगतम्। संस्कारगुणादिव्युत्पत्तेः। **दमेरुनसिः** (४.२३५) इति। अनेकार्थञ्च। दमे मनो यस्य स दमूना अक्रूर इत्यर्थः। अथवा दाने मनो यस्य सः। अथवा दान्तेषु शीलवत्सु पुरुषेषु। दान्तं वा मनो यस्य सः।

अपि वा दम इति गृहनाम। सामर्थ्याच्चात्र यजमानगृहे वर्तते। तस्मिन् दमेदं गृहमिति। एवं मनो यस्य स दमूनाः। सर्वेष्वेतेषु वर्णानां लोपविकारौ दर्शयितव्यौ। **मनो मनोतेः** बोधनार्थस्य। तेन हि सर्वं बुध्यते। निगमः।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान्। विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्या॑ शत्रूय॒तामा भ॑रा॒ भोज॑नानि॥ (ऋ०५.४.५) अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा। परगृहाणीति वा। दुरोण इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः। इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्। सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामाभर भोजनानि। विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा। धनानीति वा। मूषो मूषिका इत्यर्थः। मूषिकाः पुनर्मुष्णातेः। मूषोऽप्येतस्मादेव॥५॥

भाष्यटीका

जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान्।
विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्या॑ शत्रूय॒तामा भ॑रा॒ भोज॑नानि॥ (ऋ०५.४.५)

वसुश्रुतस्यात्रेयस्य। अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यस्त्वं **जुष्टः** सेवितः सर्वेण प्रियो वा सर्वस्य। **दमूनाः** यथोक्त्यश्चातिथिः अतिथिस्थानीयश्च। सायं प्रातश्चाग्निहोत्रिणां **दुरोणे** गृहेऽस्मदीये। **इमं नो**ऽस्माकं स्वभूतं **यज्ञमुपयाहि** उपगच्छ। **विद्वान्** जानन् स्वमधिकारं भक्ततां वाऽस्माकम्। उपगम्य च **विश्वाः** सर्वाः हे **अग्ने! अभियुजः** स्त्रीलिङ्गनिर्देशादभियोक्त्रीरस्मच्छत्रुसेना इत्यर्थः। **विहत्या** विविधं हत्वा **शत्रूयतां** येऽस्माकमिच्छन्ति तेषां स्वभूतानि **आभरा** आहर **भोजनानि** अन्नानि। अथवा भोजनमिति धननाम धनानि।

अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति। अततिर्गतिकर्मा अभिगतो हि स नूनं निवासं गृहाण्यतिथिः। अभ्येति तिथिषु वा कुलानि। अभ्येति तिथिषु सुष्ठु गच्छन्तीत्यर्थः। अतिथिर्हि यावद् गन्तव्यं तावद् याति परकुलानीति। तिथिषु सर्वासु इत्यादावुपादाय निहत्यान्येषां बलानि इत्यादिना तयोरर्थविवरणम्।

मूष इत्यनवगतम्। मुषेः क्विपि दीर्घत्वं द्रष्टव्यम्। मुष्णन्तीति मुषः मूषिका इत्यर्थावगमश्च। औणादिके किकनि प्रत्यये मुषेः दीर्घश्चेति। **मूषिकाः पुनर्मुष्णातेः**। ता हि सुस्थापितमपि हरन्ति। तथाचायं **मूषोऽप्येतस्मादेव** धातोस्तथोक्तः। निगमः।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

सं मा॑ तपन्त्य॒भितः॑ स॒पत्नी॑रिव॒ पर्शवः॑। मूषो॒ न शि॒श्ना व्य॑दन्ति मा॒ध्यः॑ स्तो॒तारं॑ ते शतक्रतो वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ (ऋ०१.१०५.८) सन्तपन्ति मामभितः सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवः। मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति। स्वाङ्गाभिधानं वा स्यात्। शिश्नानि व्यदन्तीति वा। सन्तपन्ति माध्यः कामाः। स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी। जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति। त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति। त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा सङ्ख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात्। एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः॥६॥

भाष्यटीका

सं मा॑ तपन्त्य॒भितः॑ स॒पत्नी॑रिव॒ पर्शवः॑।

मूषो॒ न शि॒श्ना व्य॑दन्ति मा॒ध्यः॑ स्तो॒तारं॑ ते शतक्रतो वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ (ऋ०१.१०५.८)

त्रितं कूपे पतितमुत्तारयितुमशक्नुवन् इन्द्रमाह। **सं मा तपन्ति** तापयन्ति मामभित उभयतः, अग्रतः पृष्ठतश्चोभयोरपि पार्श्वयोः। अस्य दृष्टान्तः प्रसिद्धः **सपत्नीरिति। 'वा छन्दसि** (अष्टा०६.१.१०६) इति पूर्वसवर्णः। सजत्येवं को भर्तारं संबाधत्वात् परस्परं वा। **पर्शवः** पर्शस्थानीयाः कूपस्य भित्तय इष्टका वा। किञ्च **मूषो न शिश्ना** स्तोतेः स्नातेर्वा एतद्रूपम्। कथम् **'घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्** (अष्टा०व्या०महा०३.३.५८) इति कप्रत्ययश्छान्दसत्वात्। सकारस्य शकारः। **'द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां के** (अष्टा०व्या०महा०६.१.१२) इति द्विर्वचनम्। **'बहुलं छन्दसि**[1] इत्यभ्यासस्येत्वम्। कोऽस्यार्थः? उच्यते। **शिश्ना** शिश्नानि सामर्थ्यात् पायितानि सूत्राण्युच्यन्ते। तान्यन्नलिप्तत्वात् शौचार्हाणि वेष्टने च तुयः।

अथवा शिश्नं प्रजननं प्रसिद्धम्। सादृश्यादत्र पुंशिश्नमुच्यते। यथा मूषिकाः शिश्नानि पायितनि सूत्राणि अन्नगन्धत्वात् स्वादूनि वा पुच्छानि घृततैलमाक्षिकभाण्डादौ प्रक्षिप्य तत उत्तार्य विविधमदन्ति लिहन्ति तद्वत्। **व्यदन्ति** विविधमदन्ति। **मा** माम्। **आध्यः** छान्दसत्वाद्यणादेशः आधयो मनसः पीडयितारः कामा यागदानहोमभोग- विषया असम्पद्यमानाः **स्तोतारं** सन्तं ते तव हे **शतक्रतो** इन्द्र न चैतत्तव स्तोतुं न्याय्यम्। किञ्च **वित्तं 'विद ज्ञाने** (धा०२.५५) श्रवणेन च यज्ज्ञानं तदिहाभिप्रेतं शृणुतमित्यर्थः। **मे** मम। **अस्य** द्वितीयार्थे षष्ठ्येषा इदं स्तोत्रमित्यर्थः। अथवा अस्येति दुःखं प्रतिनिर्दिश्यते। इदं कूपपातकृतं दुःखं मम जानीतमिति। उत्तरेणार्थश्चेदमुच्यते। श्रुत्वा स्तोत्रं ज्ञात्वा वा दुःखमुत्तारतम्। अस्मात् कूपादित्यर्थः। हे **रोदसी** द्यावापृथिवी।

स्वाङ्गेत्यादि। स्वाङ्गं प्रजननं तत्सदृशं वा। पुष्टं प्रजननमपि हि तिर्यञ्चो विहन्नो दृश्यन्ते। **त्रितं कूपेऽवहितं** पतितमित्यर्थः। एतत्सूक्तं यत्रेयमृक् **प्रतिबभौ** प्रतिभातम्। त्रितस्य कूपे पतितस्येदं सूक्तमार्षमित्यर्थः। तत् कतमत्? **'च॒न्द्रमा॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तरा** (ऋ०१.१०५.१) इति। **तत्रेत्यादि**। पुरावृत्तमितिहासस्तेन **मिश्रम्। 'त्रि॒तः**

---

१ .(अष्टा०२.४.३९, ७३, ७६ इत्यादयः)

कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। तच्छुश्राव बृहस्पतिः (ऋ०१.१०५.१७) इत्यादिनां। त्रितं चात्र कल्पान्तरे य आसीत् सोऽत्राभिप्रेतः। आत्मनो वा परोक्षरूपेण प्रतिनिर्देशः।

ऋङ्मिश्रम्। ऋक्छब्देन सामान्यशब्देनापि समार्थ्यात् परिदेवनार्था ऋच इहोच्यन्ते। **गाथामिश्रम्। 'अरुणो मा सकृत्** (ऋ०१.१०५.१८) इत्यादिभिर्गायन्ति स्तुवन्ति याभिस्ता गाथाः केवलाः स्तुत्यर्था ऋचः, ताभिर्मिश्रम्। **'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा** (ऋ०१.१०५.१) इत्यादिभिस्तनू मनाक् स्तुतिं प्रदर्शयामः। निरुक्ते प्रदर्शितत्वाच्च। चन्द्रमा अप्स्वन्तोऽपां मध्ये स्थित इति वाक्यशेषः। अम्मण्डले स्थित इत्यर्थः। सुवर्ण इति। रश्मीनां सुषुम्नाख्यो हि सूर्यरश्मिश्चन्द्रमाः। अन्तर्नीतमत्वर्थो वा सुवर्णशब्दः। सुषुम्नरश्मिवान् आधावते दीपति।

त्रितस्तीर्णतमः प्रकृष्टं तप इत्यर्थः। केन? **मेधया**। आसीद् भ्रात्रोः सकाशात्। अपि वा सख्यनिमित्तमेवेदं नामाभिप्रेतं स्यात्। एते हि भ्रातर एतेन क्रमेण एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः। तथाहि ब्राह्मणम्- **'सोऽङ्गारेणापोभ्यपातयत् तत एकतोऽजायत, स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितः, स तृतीयं ततस्त्रित इति** (तु०तैत्ति०ब्रा०३.२.८ मैत्रा०सं०४.१.९)। नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बुद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमवाप्नुवन् नरके घटियन्त्रवत् घटिते संसारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे। सन्तापयन्ति मां पुनर्मातुरुदरे मग्नमशुचिप्रस्तरके पुरीषतन्तुजालये यकृल्लोमावष्टम्भादे- र्विभक्तोच्छ्वासो बीभत्समानमसृक्पङ्कमध्यशायिनं तमसि निरालोके संवर्तमानमभितो मातुः पशव इव तत्रस्थस्य च मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः सम्यग्दर्शनविषयाः कामा असम्पद्यमानाः। परं समानयोजनम्।

इषिर इत्यनवगतम्। उदाहरणे मनसा समानाधिकरण्यदर्शनात् मनोविशेषणमेतत् इत्यभिधेयप्रतीतेर्निगमेनैवोपक्रमते।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः। सोमे राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि॥ (ऋ०८.४८.७) ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा। ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य। प्रवर्धय च न आयूंषि सोमराजन्। अहानीव सूर्यो वासराणि। वासराणि वेसराणि। विवासनानि गमनानीति वा। कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति कर्तन हन्तन यातनेति। जठरमुदरं भवति, जग्धमस्मिन् ध्रियते। धीयते वा॥७॥

भाष्यटीका

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि॥ (ऋ०८.४८.७)

प्रगाथस्यार्षम्। इषिरेणेति ईषतेर्गतिकर्मणः (तु०निघ०२.१४)। **इषेर्वा** (तु०धा०६.५९) इच्छार्थस्य **'इषिमदिमुदिखिदि०** (उणा०१.५२) इत्यौणादिककिरच्प्रत्ययान्तरस्य। ऋषेर्वा दर्शनार्थस्य रूपम्। गतेन त्वां

प्रति त्वद्ध्यानपरेणेत्यर्थः। एषित्रापि त्वत्साध्यस्य पलस्य द्रव्यं वा सर्वार्थानाम्। तद् भाष्यकार आह। **ईषणेन वैषणेन वार्षणेन** वेति। केन? **मनसा। ते** तव। **सुतस्येति** द्वितीयार्थे षष्ठी। त्वां सुतं **भक्षीमहि** नित्यं भजेमहि। त्वया सुतेन नित्यं यजेमेत्यर्थः। अथवा भक्षीमहीति भक्षयते रूपं न भजतेः। उत सुतस्येति षष्ठीश्रुतेरेकदेशमिति शेषः। सुतस्यैकदेशं स्वांशलक्षणं भक्षयेम। **पित्र्यस्येव रायः**। अत्रापि द्वितीयार्थे षष्ठी। षष्ठीश्रुतेर्वा एकदेशमिति शेषः। पितुरागतं पित्र्यं पित्र्यमिव धनं पित्र्यस्येव धनस्यैकदेशं स्वांशलक्षणं पुत्रः।

किञ्च हे **सोम राजन् नः** अस्माक**मायूंषि प्रतारीः** तरतिर्वृद्ध्यर्थः[१] प्रवर्धय। किमिव? उच्यते। **अहानीव सूर्यः**। कतमानि? उच्यते। **वासराणि**। अह्नामत्रैतद् विशेषणं नाहन्नाम अहानीत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। वेसरशब्दस्य चायमेकारस्याकारश्छान्दसः। सादृश्येन च विशेषणं वेसरसदृशानि। कतमानि पुनस्तानि वा सन्ति कानि तानि हि या वेसरो निष्पादकगताभ्यां विरुद्धाभ्यां जातिभ्यामश्वजात्या च सम्बन्धः। एवं यावह्नौ निष्पादकौ पूर्वभागापरभागौ तद्गताभ्यां विरुद्धाभ्यां पूर्वभागगतेन चोष्णेन च सम्बन्धाद् वेसरसदृशानि।

अथवा वासराणीति वासयते[२] रूपम्। वासयतिश्चात्र शुद्धोऽपि विशुद्धस्यार्थे। तद् भाष्यकार आह- **विवासनानीति वा**। सन्ति कानि ह्यहानि विवासनानि शीतकालस्यापनायनानीत्यर्थः। **गमनानीति वा** अर्थवचनमेतत्। रूपं तु सर्त्तेर्विपूर्वस्य गत्यर्थस्य। वीत्यस्येकारस्याकारः। विविधं सराणि विविधं सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः।

कुरुतनेत्यभाषिकत्वादनवगतम्। लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य। तात् **'तप्तनप्तनथनाश्च'** इति छान्दसस्तनादशः। तत्र तशब्द एवार्थवान् नशब्दस्त्वनर्थकः। उपजनश्चात्र विकरणो धातुर्वा तन्त्रमित्यस्य प्रतिपादनार्थमाह। **कर्तन हन्तन यातनेति**। अनर्थका उपजना भवन्तीति बहुवचनं भाष्ये। आद्येऽप्येवंरूप उपजनाः सन्तीत्यस्य प्रतिपादनार्थम्। यथाचेयमृक् **'भत्वाशयत्रेद् विभजस्व वेद'** इति। **'आज्जसेरसुक्** (अष्टा०७.१.५०) ब्राह्मणासः सौम्यास इत्यादयः।

कुरतनेत्यादीनां निगमाः प्राचुर्याद् भाष्यकारेण न प्रदर्शिताः। अतः प्रदर्श्यन्ते। कुरुतनेत्यस्य तावत्।

एता हि नो मरुतो अरातीर्जिघांसन्ते शवसा मघानि।

विश्वास्तन्वो रेषणाय दध्रेऽरिप्रेणाहनसा कुरुतना ता॥ (अनुपलब्धमूलमिदं वचनम्।)

एता इत्यस्यार्थोऽन्त्यशब्देन सम्बन्धयितव्यः। ता एताः। हिशब्दो यस्मादर्थे यस्मादेता **नः** अस्माकं हे **मरुतः, अरातीः** शत्रु सेनाः। **जिघांसन्ते** हन्तुमिच्छन्ति। **शवसा** बलेन स्वेन। **मघानि** गवादीनि। **विश्वाः** सर्वाश्चात्मीयाः **तन्वः** शरीराणि **रेषणाय** हिंसायै अस्माकं **दध्रे** धारयन्ति। यस्मादिति वचनात् तस्मादित्यध्याहार्यम्। कस्मात् **अरिप्रेण** पापेन भयानकेन **आहनसा** आननकेन गदया अन्येन वा केनचित् कुरुत सङ्गत इति शेषः। करोतिरिव वा सामर्थ्याद् वधार्थः, हत।

कर्तनेत्यस्य निगमः-

---

१ (धा०१.९६९, अयं प्लवनतरणयोरेव। तरतिरन्यो।)

२ (तु०धा०१०.२०४,३९२)

भाष्यटीका

शुनं सुफाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।

शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे॥ [१]

शुनं सुखमक्लेशेनेत्यर्थः। अस्माकं स्वभूताः **फाला विकृषन्तु** विलिखन्तु **भूमिमि**त्येतदाशास्महे। **शुनं** सुखमेव **कीनाशाः** कीलस्य नाशयितारः कर्षकाः कर्षणार्थम**भियन्तु** अभिगच्छन्तु क्षेत्रं **वाहैः** वोढृभिर्महोक्षैः सह। **शुनासीरा** हे शुनासीरौ शुना वायुः सीर आदित्यो युवामपि वाय्वादित्यौ। **हविषा** उदकेन मेदम्, उदकेन वृष्टिलक्षणेन। तोशतिर्वधकर्मा घ्नन्तौ प्रभूतं वर्षन्तावित्यर्थः। **सुपिप्पलाः** पिप्पलं फलं सुखफला **ओषधीः कर्तन** द्विवचनस्य स्थाने व्यत्ययेनेदं बहुवचनम्। कुरुतमस्मै अस्मदर्थम्।

अथवेदमन्यदा वैदिकमुदाहरणम्–

अध्वर्यवः कर्तना श्रुष्टिमस्मै वने निपूतं वन उन्नयध्वम्।

जुषाणो हस्त्यमभि वावशे व इन्द्राय सोमं मदिरं जुहोत॥ (ऋ० २.१४.९)

गृत्समदस्य। हे **अध्वर्यवः कर्तन** शुद्धोऽपि करोतिरत्र संपूर्वार्थे संस्कुरुत। **श्रुष्टिं** सुखनामस्वपठितोऽपि श्रुष्टिशब्दः सामर्थ्यात् सुखवचनः सुखम्। कम्? **सोमम्समै** अस्येन्द्रस्यार्थाय संस्कृत्य **वने** वनं वृक्षाः। अथवा ताद्धितेनेत्येवमयं वनशब्दस्तद्विकारे द्रष्टव्यः। वनविकारभूते द्रोणकलशे। **निपूतं** नियमेन शास्त्रलक्षणे तत्पूतं **वने** वनविकारभूते एव ग्रहचमसादौ **उन्नयध्वम्**। किञ्च **जुषाणो** प्रियमाणं **हस्त्यं** हस्ते भवं सोमम्। **अभिवावशे** 'वश **कान्तौ** (धा०२.७०) अभिकामयते इन्द्रः। कस्य हस्त्यम्? उच्यते। युष्माकम्। एतज्ज्ञात्वा इन्द्राय **सोमं मदिरं** मदकरं **जुहोत** मा विलम्बध्वम्।

हन्तनेत्यस्य निगमः–

यो नो मरुतो अभि दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।

द्रुहः पाशान् प्रति स मुचीष्ट तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम्॥ (ऋ०७.५९.८)

अस्माकं हे **मरुतः अभी**त्ययं जिघांसतीत्येतेन सम्बध्यते। **दुर्हणायुः** हृणिः क्रोधः कुत्सितो हृणिर्दुर्हृणिर्वैरानुबन्धिनी प्रणयपूर्व इत्यभिप्रायः। तं यच्छति यद्वा स दुर्हणायुः। **'तिरोऽन्तर्धौ** (अष्टा०१.४.७१) इत्येवमस्य गतिना। गतीनां च क्रियासम्बन्धात् क्रियाशब्दोऽत्राध्याहार्यः। **तिरस्कृतात्मानोऽन्तर्हितानीत्यर्थश्चित्तानि** अभिप्रायः। हे **वसवः** 'वस आच्छादने (धा०२.१३) छादयितारः। केन कस्य? सामर्थ्याद् वृष्ट्या जगतः। कोऽन्वत्र। मरुतः। अभिजिघांसन्ति अभिहन्तुमिच्छन्ति। **द्रुहः** 'मूलविभुजादित्वात् (अष्टा०व्या०महा०३.२.४) द्रोग्धा **पाशान्** युष्मदीयान्। **स प्रतिमुचीष्ट** प्रतिमुञ्चतु आत्मनि स युष्मदीयैः पाशैर्बध्यतामित्यर्थः। बद्धञ्च सन्तं **तपिष्ठेन** अतिशयेन तापयित्रा दुःखयित्रेत्यर्थः। **हन्मना** अनेन आयुधेन **हन्तन** हत आ यूयम्।

को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखीँरच्छा सखायः।

---

१ (वा०सं०१२.६९॥ मैत्रा०सं०२.७.१२॥ का०सं०१६.१२॥ ऋग्०५.५७.७॥ तैत्ति०सं०८.२.५.६॥ अथर्व०३.१७.५)

मन्मा॑नि चित्रा अपिवा॒तय॑न्त ए॒षां भू॑त॒ नवे॑दा म ऋ॒ताना॑म्।। (ऋ०१.१६५.१३)

अगस्त्येन्द्रमरुतां संवादे सूक्ते कयाशुभीये अगस्त्यस्यार्षम्। **कः** मर्त्यः। नु इति पादपूरणः। **अत्र** काले आगते। हे **मरुत मामहे** 'मह पूजायाम् (१.७६६) अत्यर्थं पूजयति। **वः** युष्मान् न कश्चिदपीत्यभिप्रायः। एतज्ज्ञात्वा **प्रयात** प्रेत्येष उपेत्येतस्य स्थाने उपयात अस्मानेव **सखीन् अच्छ** आप्तुं हे **सखायः** मम स्तुत्येत्यर्थः। उपगम्य च **मन्मानि मन्यते**रर्चतिकर्मण (निरु०३.१४) एतद्रूपम् मननानि स्तोत्राणि हे **चित्रा** चायनीया **अपिवातयन्तः** अपि धात्वर्थानुवादी वातयतिश्च गमयतेरर्थे गमयन्त आत्मानं प्रतिपादयन्तः स्तूयमाना अस्माभिरिति शेषः। **एषां भूत** भवतेत्यर्थः। के? उच्यते। **नवेदाः** व्यत्ययेनात्रैकवचनं नवेदसः। नवेदा इत्येवच्च मेधाविनामान्यत्र। इह त्वेषां भूतेत्यस्य के भवाम इत्येवमाकाङ्क्षतत्वात् प्रत्यक्षकृतत्वाच्च मन्त्रस्य मेधाविनां मनः सत्तास्यामन्त्रिततत्वप्रसङ्गात् आमन्त्रितस्य च सतो निघातप्रसङ्गात् न मेधाविनामेदम्। किन्तर्हि। तत् न न वेत्ति वेत्येव इत्येतस्मिन्नर्थे वर्तते। कुत एतत्? निपातनात्। वैयाकरणा हि **'नभ्राण्णपान्नवेदानासत्या'** (अष्टा०६.३.७५) इति नवेदाशब्दं न न वेत्ति वेत्त्येव इत्येतस्मिन्नर्थे निपातयन्तीति। द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतं गमयतः। न त वेदि कारणम्। वेदानां चानुभवः, एषां भयतामनुभवितार इत्यर्थः। **मे** मम स्वभूतानां यज्ञानाम्।

जठरमित्येतदनवगतसंस्कारम्। **'आ सि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॑** (ऋ०३.४७.१) इति मन्त्रे सिचि संबोधोपपत्तेः। **उदरं भवति** इत्यभिधेयकथनम्। **जग्धं** भक्षितमन्न**मस्मिन् ध्रियते** तिष्ठति **धीयते वा** प्रक्षिप्यत इत्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्वचनम्। निगमः।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथ अष्टमः खण्डः।

म॒रुत्वाँ॑ इन्द्र वृष॒भो रणा॑य॒ पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य। आ सि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिं त्वं राजा॑सि प्र॒दिवः॑ सु॒ताना॑म्।। (ऋ०३.४७.१; वा०सं०७.३८) मरुत्वानिन्द्र मरुद्भिस्तद्वान्। वृषभो वर्षितापाम्। रणाय रमणीयाय संग्रामाय। पिब सोमम्। अनुष्वधमन्वन्नम्। मदाय मदनीयाय जैत्राय। आसिञ्च स्वजठरे मधुन ऊर्मिम्। मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः। इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव। त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहःसु सुतानाम्।।८।।

भाष्यटीका

म॒रुत्वाँ॑ इन्द्र वृष॒भो रणा॑य॒ पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य।

आ सि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिं त्वं राजा॑सि प्र॒दिवः॑ सु॒ताना॑म्।। (ऋ०३.४७.१)

विश्वामित्रस्य। मरुद्भिस्तद्वान् सहित इत्यर्थः। हे **इन्द्र वृषभः** प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः। न चेदमामन्त्रितम्। अतो यत्तच्छब्दावध्याहृत्य एकवाक्यत्वं नेयम्। यस्त्वं वर्षिता अपां वृष्टिलक्षणानां **संपिब सोमम्। अनुष्वधम्** अनुगतं स्वधयाऽन्नेन सवनीयपुरोडाशादिना सवनीयपुरोडाशादिसंयुक्तमित्यर्थः। उच्यते। **रणाय मदाय** संग्रामार्थो यो मदः संग्रामे जयकरो न संमोहकरस्तदर्थमित्यर्थः। मा चाल्पम्। किं तर्हि? **आसिञ्चस्व** क्षारय **जठरे मध्वो**

मधुसदृशस्य स्वादोः सोमस्य ऊर्मिं सघातं बहुसोमं पिबेत्यर्थः। यतस्त्वं **राजासि** ईशितासि। **प्रदिवः** पुराणनामैतत्। ये पूर्वेष्वपि अहस्सु सुतास्ते पुराणास्तेषामपि **सुतानां** सोमानां न केवलमिदानीन्तनानामेवेति।

रणाय रमणीयायेति। रमणीयशब्दोपादानं रणशब्दस्य निर्वचनप्रदर्शनार्थम्। **जेत्राय** जयतमायेत्यर्थः। अर्थप्राप्तवचनं चेदम्। संग्रामार्थो हि मद इहोपात्तः। जयकरश्च मदः संग्रामार्थे भवति न संमोहकरः।

मधु सोममित्यौपमिकम्। उपमाप्रयुक्तं मधुसादृश्यात् दुत्वाद्वा। मधु सोमं **माद्यतेः**। विनापि च शब्देन सोमे मधुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तान्तरवचनमेतत्। **माद्यतेर्वा** मधु सोममित्यर्थः। '**मद तृप्तौ** (धा०१०.१६५) तृप्यन्ति हि सोमेन देवताः। **इदमपीतरत् मधु** माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रमेव वा एतस्मादेव धातोः। तेनापि हि तृप्यन्ति पातारः।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तटीकायां नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य प्रथमः पादः।

अष्टमश्च खण्डः समाप्तः।

॥अथ द्वितीयः पादः॥

अथ नवमः खण्डः।

तितउ परिपवनं भवति ततवद्वा। तुन्नवद्वा। तिलमात्रतुन्नमिति वा॥९॥

भाष्यटीका

तितउ इत्यनवगतम्। **परिपवनम**भिधेयम्। परिपूयते अनेनेति। यल्लोके चालनमिति प्रसिद्धम्। तच्च क्वचित् चर्म क्वचित् विदलं सर्वथा ततेन मध्ये तुन्नैश्छिद्रैस्तिलमात्रैश्च तद्वत् इत्येकगुणसमुच्चयेऽपि किञ्चिद् विवक्षितमनुपात्तापरित्यक्तमनुदितिति। **ततवद्वा** इत्यादयो निर्वचनविकल्पाः। यावत् ततवत् तावत् तितउ। कथम्? तनोतेर्निष्ठायां मनुपि उपधाया इकारो वकारस्य सम्प्रसारणं परलोपश्च।

एवं तुदेस्तुन्नवत्। अत्राप्युपधेत्वं संयोगस्य च तत्त्वम्। परं पूर्ववत्। **तिलमात्रतुन्नमिति वेति।** तिलशब्दार्थस्तदितकारोष्ठोतशब्देन व्युत्पन्नः परलोपश्च। मयडर्थे बहुव्रीहिः। निगमः–

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

स॒क्तुमि॑व॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त। अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि॥ (ऋ०१०.७१.२) सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेः। दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः। तत्र सखायः सख्यानि संजानते। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचीति। भद्रं भगेन व्याख्यातम्। भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम्। भवद्रमयतीति वा। भाजनवद्वा। लक्ष्मीर्लाभाद्वा। लक्षणाद्वा। लप्स्यनाद्वा। लाञ्छनाद्वा। लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणः। लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणः। लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः। शिप्रे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः॥१०॥

भाष्यटीका

स॒क्तुमि॑व॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि॥ (ऋ०१०.७१.२)

बृहस्पतेर्विद्यासूक्ते ज्ञानप्रशंसैषा। **सक्तुमिव तितउना।** यथा सक्तुं कश्चित् तितउना उक्तनिर्वचनेन चालनैकेन काल्परनाम्ना पुनीयात् तद्वत् **पुनन्तो यत्र** विद्वत्समवाये यज्ञे **धीराः** प्रज्ञावन्तो **मनसा** चालनकस्थानीयेन शास्त्रजनितविवेकज्ञानेनेत्यभिप्रायः। **वाचं** सक्तुस्थानीयाम् **अक्रत** करोतेर्लुङि रूपम्, अक्षतं संस्कुर्वन्ति। किम्? प्रकृतत्वाद् वाचमेव अपेतमलां प्रयुञ्जत इत्यर्थः। प्रज्ञातार्थत्वाद् वाचः प्रज्ञानं मनश्च केचित्। भाष्ये **'अकृषत प्रज्ञानम्'** इत्यभिधीयते।

एतदुक्तं भवति। स्वेन मनसा विविच्य यद् वाचः सारभूतमर्थं निरवशं च तत् प्रयुञ्जाना इतरत् त्यजन्तः स्वज्ञानप्रकाशनार्थं यत्र प्राज्ञा व्याख्यानं कुर्वन्तीति। **अत्र** यत्रेत्युद्दिष्टस्य तत्रेत्यनेन प्रतिनिर्दिष्टत्वात् अत्रशब्दोऽत्र तत्रेत्यस्यार्थे। तत्र **सखायः** समानख्याना व्याख्यानं व्याकरणविद्यास्थानं तेन यः शास्त्रविषयो जल्पस्तद्विज्ञाना इत्यर्थः। **सख्यानि** समानख्यानेषु व्याख्यातृषु भवानि ज्ञानादीनि **जानते**। कस्मात्? **भद्रा** कल्याणी **एषां लक्ष्मीर्ज्ञानाख्या निहिता। अधिवाचि** वाच उपरि। यस्मात् प्रज्ञानेन तच्छास्त्रविषयेण विशिष्टेन वाचा शुद्धया युक्ता इत्यर्थः।

सक्तुः सचतेः। सचिश्च सेवा तया पात्रसम्बन्धात् संश्लेषो लक्ष्यते। स हि क्तिनान्तः संश्लिष्यते। तथाहि सक्तुर्हि **दुर्धावो** दुःप्रक्षालो भवति। **कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य**। स हि **विकसितः** पुष्पितः प्रविरलावयवीभूत इत्यर्थः। अथवा विकसितो विहिसितो भृष्टपिष्टत्वात्। **धीराः** रो मत्वर्थे ध्यातं धीस्तद्वन्तः। **भद्रं** कल्याणं **भगेन व्याख्यातम्। 'स्त्रीभगस्तथा स्याद् भजतेः** (निरु०३.१६) इति **भजनीयं** हि तत्। अथवा **भूतानामभिद्रवणीयम**भिगमनीयम्। भद्रम् भजेर्भः, द्रवतेर्द्रः शब्दः। **भवदुत्पद्यमानं रमयतीति वा**। यस्य तद् भवति रमतेऽसौ। **भाजनवद्वा**। भाजनं स्थानं भद्रस्य कर्मणः पुरुषास्तद्वत्। भद्रं भाजनशब्दे भाशब्दस्य ह्रस्वत्वम्, जकारस्य दकारः, अनशब्दस्य लोपः, मत्वर्थे रो नामकरणः।

लक्ष्मीर्लाभाद्वा लभ्यते हि सा। **लक्षणाद्वा** नहि लक्ष्यते चिन्त्यते सर्वेण। **लाञ्छनाद्वेति** धात्वन्यमात्रम्, अर्थस्तु स एव। **'लाञ्छितो लाञ्छि लक्षणे'** इति लाञ्छतेरपि **लषतेर्वा** (तु०धा०१.९३७) प्रेप्सार्थस्य। लक्ष्मीर्हि **सर्वेण** प्राप्तुमिष्यते वा। **लग्यतेर्वा आश्लेषकर्मणः**। लक्ष्मीर्हि आश्लिष्टा तद्वद्भिः। **लज्जतेर्वा** अश्लाघनार्थस्य। लक्ष्मीवान् य उत्तम स लज्जित इव तया न श्लाघते।

शिप्रे इत्यनवगतम्। तत् पुनः प्रसङ्गादुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। **'शिप्रे हनू नासिके वा** (निरु०६.३७) इति।

मध्या इत्यनवगतम्। मध्यशब्दात् **'सुपां सुलुक्** (अष्टा०७.१.३९) इत्येवमयमकारः सप्तम्याः स्थाने छान्दसत्वात्, मध्ये इत्यवगमः।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथ एकादशः खण्डः।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार। यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ (ऋ०१.११५.४; अथर्व०२०.१२३.१; वा०सं०३३.३७) तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदासावयुङ्क्त हरणानादित्यरश्मीन्। हरितोऽश्वानिति वा। अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात्। अपि वोपमार्थे स्यात्। रात्रीव वासस्तनुत इति। तथापि निगमो भवति। **'पुनः समव्यद्विततं वयन्ती।'** (ऋ०२.३८.४) समनात्सीत्॥११॥

भाष्यटीका

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।

यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ (ऋ०१.११४.४)

कुत्सस्यार्षम्। **तत् सूर्यस्य देवत्वं तच्च महित्वं** महत्त्वम्। तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। **मध्या** मध्ये **कर्तोः** कर्मणः कृष्यादेरपरिसमाप्त एव कृष्यादावित्यर्थः। **विततम्** अतिमहदेतत् स्वरश्मिजालं भौमस्य रसस्य हरणात् क्षणेनैकेन संजहार संहरति। भाष्येऽपि तत्संह्रियत इत्यर्थः। कथम्? न शब्दार्थविवरण संजहारेत्यस्य कर्त्रर्थत्वात् संह्रियत इत्यस्य च कर्मार्थत्वात्। कदा संहरति? उच्यते। **यदेतदनर्थकः**। अस्तं गन्तुम**युक्त** नियुक्ते। **हरितो** भौमस्य रसस्य हरणान् रश्मीन् हरतिवर्णाद्वा अश्वान् **सधस्थात्** सहस्थानात् पार्थिवाल्लोकात् मन्दुरातो वा। पञ्चमीश्रुतेरादाय इति शेषः। सप्तम्यर्थे वा पञ्चमी। सहस्थाने स्वस्मिन् मण्डले रथे वा। **आत्** अथ अनन्तरं चेत्यर्थ।

रात्री वासस्तनुते। वास इति वासरशब्दस्य अहर्नाम्नश्छान्दसोऽन्त्यस्याकारस्य लोपः। अनयोश्च क्रियाकर्मणोः परस्परतः सम्बन्धुमयोग्यत्वात् प्रविश पिण्डीमित्यादिवत् योग्यक्रियाकर्मान्तराध्याहारः। अहरवयुवती तमस्तनुत इति। अवयुवती अवनतीत्यर्थः। हेतौ चात्र शतृप्रत्ययः। **'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः** (अष्टा०३.२.१२६) इति। प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा। अहरपनयनार्थं तमस्तनुत इत्यर्थः। **सिमस्मै** पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। अवयुवतीत्येतेन चास्य सम्बन्धः। सर्वस्मात् पार्थिवाल्लोकादवयुवती। भाष्ये **'अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै वासरमहरवयुवती सर्वस्मा'** इति पाठः, न **'वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात्'** इति। वासरशब्दस्याहर्नामत्वात् तस्य चान्त्याकारलोपेन वासर इत्येतस्य विज्ञानात्।

अथवा क्रियाकर्मान्तराध्याहारस्यान्याय्यत्वात् तनुत इत्युपमार्थे यदेति च उदयकाल नास्तमयकालः। यदा सूर्य उद्गन्तुं युङ्क्ते रश्मीनश्वान् वा तदा वसूमिव काचित् स्त्री रात्रिस्तमस्तनुते सर्वस्मै लोकायेति। भाष्ये **'अपि वोपमार्थे स्याद् रात्रीव वासस्तनुत इति**। इव शब्दोऽस्थाने प्रयुक्तो न हि रात्रीत्येतदुपमार्थे। किं तर्हि? तनुते वास इत्यनयोरन्यतरः।

यथोपमार्थे तथा निगमो भवति।

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः।

उत्संहायास्थाद् व्यृ१तूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात्॥ (ऋ०२.३८.४)

गृत्समदस्यार्षम्। यदा तावत् पूर्वस्यामृचि तनुत इत्युपमार्थे तदास्या ऋचः प्रथमोऽर्धर्च एवं व्याख्येयः। यदुदयकाले तत्तदस्तमयकाले **पुनः समव्यत् 'व्येञ् संवरणे** (धा०१.१०५६) प्रवृणोति वेष्टयतीत्यर्थः। **विततं वयन्ती** वस्त्रं वयन्ती काचित् स्त्री। का पुनः सा संवृणोति? रात्रिः। कुत एतत्? ऋग्वेदे या अधस्त्या ऋक् **'अनुव्रतं सवितुर्मोक्यागात्** (ऋ०२.३८.३) इति मोक्त्याः प्रकृतत्वात् मोकीशब्दस्य रात्रिनामत्वात्। किं संवृणोति? उच्यते। **मध्या** मध्ये **कर्तोः** कर्मणो **न्यधात् शक्म** कर्मनामैतत् तृतीयार्थे चात्र प्रथमा कर्मणा उदयादिनाऽस्तमयपर्यन्तेन **धीरः** प्रज्ञावान् सविता। किं पुनस्तत्? अहा तत् कर्मणां मध्ये उदयादिनास्तमयपर्यन्तेन कर्मणा सविता निधत्ते।

यदा तु पूर्वस्यामृचि मासा इत्येतदुपमार्थे तदायमर्धर्च एवं व्याख्येयः। यदुदयकाले ततमासीत् तत्पुनः संवृणोति रात्रिस्तमपि विततमिव वस्त्रं वयन्ती काचित् स्त्री। कदा? उच्यते। यदा मध्ये कर्मणां विधत्ते स्वेन कर्मणा यदाख्येयेनाह। प्रज्ञावान् सविता। यदोदयेनाहः सविता प्रवर्तयतीत्यर्थः।

किञ्च **संहाय** '**ओहाक् त्यागे** (धा०३.८) इत्यस्य वा '**ओहाङ् गतौ** (धा०३.७) इत्यस्य वा एतद्रूपम्। सम्यक् त्यक्त्वा रात्रिं सङ्गम्य वा स्वरश्मिभि**रुदस्थात्** उत्तिष्ठति उदेतीत्यर्थः। उत्थाय चापि जन्तून् **व्यदर्धः** विविध**मृतून्** वसन्तादीन् धारयति। किञ्चिन्मन्देनातपेन किञ्चिन्मध्येन किञ्चित्तीव्रेण। किञ्च अरमतिरलंशब्दस्य पर्याप्त्यर्थस्य लकारस्यायं रकारो मकारलोपश्च अलंमतिः पर्याप्तज्ञानः। **सविता देव आगात्** आगच्छति च नभसो मध्येनास्तमियदेशम्। भाष्ये **समनात्सीदिति** समव्यदित्यस्यार्थस्य कथनम्। '**णह बन्धने** (धा०१.१३) इत्यस्यैतद् रूपम्। सम्यग्बध्नाति संपृणोति वेष्टयतीत्यर्थः।

मन्दू इत्यनवगतम्। मन्देस्तृप्त्यर्थस्य ताच्छीलिक इकारो द्रष्टव्यः। तदन्तात् प्रथमाद्विवचन एतद्रूपम्। तृतीयैकवचने वा '**सुपां सुलुक्** (अष्टा०७.१.३९) इति पूर्वसवर्णः। मदिष्णू मदिष्णुना वेत्यवगमः। निगमः-

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से सञ्जग्मा॒नो अबि॑भ्युषा। म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा॥ (ऋ०१.६.७; अथर्व०२०.४०.१; ७०.३) इन्द्रेण हि संदृश्यसे संगच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन। मन्दू मदिष्णू। युवां स्थः। अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्। समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम्॥१२॥

भाष्यटीका

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संजग्मा॒नो अबि॑भ्युषा।
म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा॥ (ऋ० १.६.७)

मधुच्छन्दसा इन्द्र उच्यते। **इन्द्रेण** ईश्वरो मरुद्गणस्तेन सह। **सं हि**शब्दः पदपूरणः संदृश्यसे **संजमानः** सङ्गच्छमानस्त्व**मबिभ्युषा** भयवर्जितेन। किञ्च **मन्दू** प्रथमाद्विवचनमेतत्, मदनशीलौ युवामिन्द्रमरुद्गणौ। अथवा मन्दू इत्येतदपि तृतीयैकवचनान्तमेव मरुद्गणविशेषणम्। मन्दुता मदिष्णुना मरुद्गणेनेति। **समानवर्चसा** इत्येतेन व्याख्यातम्। द्विवचनान्तं वा तृतीयैकवचनान्तं वा। समानदीप्ती युवाम्। समानदीप्तिना वा मरुद्गणेनेति।

ईर्मान्तास इत्यनवगतम्। मन्त्रेष्वश्वेन सामानाधिकरण्यादभिधेयप्रतीतेरश्वविशेषणत्वेन सुप्रतिपादकत्वान्निगमेनैवोपक्रमते। समीरिवान्ताः पृथ्वन्ता वेत्यवगमः। निगमः-

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः॥ (ऋ०१.१६३.१०; वा०सं०२९.२१) ईर्मान्ताः समीरितान्ताः सुसमीरितान्ताः पृथ्वन्ता वा। सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः शीर्षमध्यमा वा। अपि वा शिर आदित्यो भवति। यदश्नुते सर्वाणि भूतानि। मध्ये चैषां तिष्ठति। इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव। समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति। **सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।** शूरः शवतेर्गतिकर्मणः। दिव्या दिविजाः। अत्या अतनाः। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते। हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्। श्रेणिश इति श्रेणिः श्रयतेः। समाश्रिता भवन्ति। यदाक्षिषुर्यदापन्। दिव्यमज्ममजनिमाजिमश्वाः। अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्य। आदित्यादश्वो निरतष्ट इति। **'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।'** (ऋ०१.१६३.२; वा०सं०२९.१३) इत्यपि निगमो भवति॥१३॥

भाष्यटीका

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः॥ (ऋ०१.१६३.१०)

दीर्घतमस् आर्षम्। आदित्याश्वानामियं स्तुतिः। ते च सप्त, तेषां य अन्तर ईरिताः प्रेरिता विरला इत्यर्थः। ये तु मध्यमास्ते संसृताः सङ्गताः परः समुच्चिता इत्यर्थः। तेन मे **ईर्मान्ताः सिलिकमध्यमाश्चोच्यन्ते।** अथवा प्रत्येकं शरीरद्वारेण एते विशेषणे। अश्वस्यान्त एकत उरोऽन्यतो जघनं स येषामीर्मा प्रेरितः पृथुरित्यर्थः। ते ईर्मान्ताः। मध्यप्रदेश उदरं स येषां संसृतः सङ्गतस्तनुरित्यर्थः। ते सिलिकमध्यमाः। शीर्षं प्रधानो मध्यमो येषां ते सिलिकमध्यमाः। अथवा शिर इत्यादित्य उच्यते सोऽधिष्ठातृत्वान्मध्यवर्ती येषां ते सिलिकमध्यमाः। समित्युपसर्गो यतन्त इत्याख्यातेन संबन्धयितव्यः। **शूरणासः** शूर आदित्यः स नेता येषां ते शूरनेतृकाः शूरणासः। **दिव्यासो** दिवि जाताः। **अत्याः** परस्तादश्वश्रुतेः पौनरुक्त्यप्रसङ्गादत्यशब्दः सत्यप्यश्वनामत्वे क्रियायोगाद् विशेषणत्वेन द्रष्टव्यः। '**अत सातत्यगमने** (धा०१.३८) सततगामिन इत्यर्थः। **हंसा इव श्रेणिशः।** एकव्यापाराणां बहूनां समूहः श्रेणिरुच्यते। बह्वर्थत्वाच्चास्य **'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्** (अष्टा०५.४.४२) शस्। समूहीभूताः **संयतन्ते** सम्यग् गच्छन्ति। कदा? उच्यते। **यद्** यदा **आक्षिषुः 'अक्षू व्याप्तौ** (धा०१.६८४) व्याप्नुवन्ति। **दिव्यं** दिवि भवम्। **अज्मम**जतं गमनमार्गम्। **अश्वा** आदित्यस्य स्वभूताः।

अपि वा शिर आदित्यो भवति। यद् यस्मादनुशेते **सर्वाणि**। शेतिरत्र स्थानार्थः। रश्मिभिरनुप्रविश्य सर्वाणि भूतानि तिष्ठतीत्यर्थः। **इदमपीतरन्मनुष्यशिर एतस्मादेव** धातोः। तदपि ह्यनुप्रविश्य चक्षुरादिभूतानीन्द्रियाणि तिष्ठन्ति। **समाश्रितान्येनदिन्द्रियाणि भवन्तीत्युपपत्तिवचनम्।** एतत् तानि समाश्रितानीत्यर्थः।

शूरः शवतेर्गतिकर्मणः। गच्छति ह्यसौ शत्रून्। आदित्योद्वासनार्थमाह। **अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्येत्यादि।** आदित्यशब्देनात्र आदित्यप्रभवोऽश्व उच्यते। कथम्? आदित्यशब्दाद्धि प्रभवतीत्येतस्मिन्नर्थे **'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (अष्टा०४.१.८५) इति यो ण्यः प्रत्ययस्तदन्तोऽयमादित्यशब्दो विज्ञायते। अस्त्यादित्यप्रभवत्वेन स्तुतिरश्वस्येत्यर्थः। यत आदित्यादश्वो निस्तष्ट आवृत्येत्यर्थः। एवं चेदुपपन्नमिदं दिव्यादित्यस्य दिवि जात इति निर्वचनम्।

आदित्यप्रभवत्वेन स्तुतेरुदाहरणम्-

यमेनं दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।

गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ (ऋ० १.१६३.२)

दीर्घतमसः। यमो द्युस्थान आदित्यस्तेन **दत्तं त्रितस्त्रि**स्थानो वायुर्ऋषिर्वा स **एनमश्वं आयुनग्** युक्तवान् रशनया पर्यायणेन वायवा पर्याणितवान् वेत्यर्थः। **इन्द्र एनमेनमश्वम् प्रथम** उत्कृष्टो देवानां मध्ये **अध्यतिष्ठत्** अधिष्ठितवान् आरूढः। **गन्धर्वोऽस्या**ह्रियमाणस्य **रशनां** बन्धनीं रज्जु**मगृभ्णात्** गृहीतवान्। एवं **सूरादश्वं** यूयं हे **वसवः** स्वेन स्वेन व्यापारेण सर्वस्याच्छादयितारो **निरतष्ट** निरित्येष आ इत्येतस्य स्थाने तक्षतिः करोतिकर्मा, करोतिश्च क्रियासामान्यवचनः, सोऽत्र सामर्थ्यात् हारणे वर्तते, आहूतवन्त इत्यर्थः।

कायमान इत्यनवगतम्। अस्यार्थोऽवगमश्च निगमादेव गम्यत इत्युदाहरणेनैवोपक्रमः-

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः। न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः॥ (ऋ०३.९.२) कायमानश्चायमानः कामयमान इति वा। वनानि। त्वं यन्मातृरपोऽगम उपशाम्यन्। न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्तनम्। दूरे यत् सन्निह भवसि जायमानः। **'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः।'** (ऋ०३.५३.२३) लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः। **'शीरं पावकशोचिषम्।'** (ऋ०३.९.८; ८.४३.३१; १०.२.११) पावकदीप्तिम्। अनुशायिनमिति वा। आशिनमिति वा॥१४॥

भाष्यटीका

कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः।

न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभवः॥ (ऋ० ३.९.२)

विश्वामित्रस्य। **कायमानश्चायमानो** योनिद्वेन पश्यन्नित्यर्थः। कामयमानो वा। वनानि वृक्षान् तद्धितेन तद्विकारभूतानि काष्ठान्युच्यन्ते काष्ठानि। **त्वं यद्** यदा **मातृ**र्मातृभूताश्च **अजगन्** गच्छतिकर्मायम्, गच्छसि **अपः**। कदा पुनरग्निः काष्ठान्यपश्च गच्छति? उच्यते। यदोपशाम्यति। कथम्? सर्वं हि कार्यं विनश्यत् स्वयोनिं गच्छति। अग्नेश्च पार्थिवस्य योनिः काष्ठानि वैद्युतस्यापस्तेन पार्थिवोऽग्निरुपशाम्यन् काष्ठानि गच्छति

वैद्युतोऽपः। अत एतदुच्यते काष्ठान्यपश्च गच्छसीति। **न तत् ते** तव हे **अग्ने प्रमृषे** मृष तितिक्षाकर्मा यतिक्षो क्षमा प्रकर्षेण न क्षम्यते। **निवर्तनं** विनाशो न सर्वनाशोऽत्यन्तविनाशत्वं नानेनावगम्यत इत्यर्थः। **यद् दूरे** भवति न स दृश्यते। तत्सम्बन्धाद् दूरे सत्तयात्रादर्शनं लक्ष्यते। अदृश्यमानः **सन्नि**त्यर्थः। **इहाभवः** पुनर्भवसि तत एव काष्ठाद्वा पुनः।

लोधमित्यनवगतम्। लुब्धमित्यवगमः। निगमः-

न साय॑कस्य चिकिते जनासो लो॒धं न॑यन्ति॒ पशु॒ मन्य॑मानाः।

नावा॑जिनं वा॒जिना॑ हासयन्ति॒ न ग॑र्द॒भं पुरो अश्वा॑न् नयन्ति।। (ऋ०३.५३.२३)

विश्वामित्रस्य। नेति प्रतिषेधश्चिकित इत्याख्यातेन सम्बध्यते। **सायकस्ये**ति षष्ठीश्रुतेः सामर्थ्यमिति शेषः। द्वितीयार्थे वा षष्ठी न **चिकिते** नत्र जानन्ति सामर्थ्यं वज्रस्य वज्रं वा। येनेन्द्रस्य स्तोतारं सन्तमृषिं **लोधं** मां स्वधर्मे तपसि वा **नयन्ति** परिभूय प्रेरयन्ति यष्टिहस्ताः। **पशु** द्वितीयैकवचनस्य लुक्, पशुम्। लुप्तोपमं चैतत् पशुमिव अजं **मन्यमाना** वसिष्ठा विदितैतद्वृत्तान्तेन इन्द्रेण नियमेनैते वज्रेण हनिष्यन्त इत्यभिप्रायः। तत्र तपस्यास्थित एव मयि इन्द्र एतान् पुरस्करिष्यतीति। ततश्चैते मया सह स्पर्धयिष्यन्त इतीति। तच्च न। यतो लोकेऽपि **नावाजिनं वाजिना हासयन्ति**। हसतिः स्पर्धायाम्। नाश्वमश्वेन सह स्पर्धयन्ति। **न च गर्दभं पुरो**ऽग्रतो**ऽश्वान्नयन्ति** अश्वे सति गर्दभं न दधतीत्यर्थः। एवं चेदिन्द्रोऽपि मयि स्थिते कानपरान् गर्दभकल्पान् वसिष्ठान् न कथञ्चित् पुरो धास्यतीत्यर्थः।

अथवा स सायको वा वज्रः शाकरूपोऽत्राभिप्रेतस्तं वा मदीया तव सायकं न जानन्ति नूनं यतो लोधं नयन्तीत्यादि समानव्याख्यातम्। तत्रैतत् स्यात् यात् सायकेन शापेनैनान् हिंसानीति। तच्च न। यतो मम त्यक्ताशेषस्य एषां च बहुयाजिनां कामात्मनां कः संघर्षः। लोकेऽपि च नैव विप्रकृष्टान्तरालानां स्पर्धा भवति न ह्येकनिष्कधनः शतनिष्कधनेन सह स्पर्धते। तथाहि नावाजिनमित्यादि समानं पूर्वेण।

शीरमित्यनवगतम्। अनुशायिनं वाशिनं वेत्यवगमः। अग्निरभिधेयः। निगमः-

शी॒रं पा॑व॒कशो॑चिषं॒ ज्येष्ठो॒ यो दमे॒ष्वा।

दी॒दाय॑ दी॒र्घश्रु॑त्तमः।। (ऋ०८.१०२.११)

प्रयोगो नाम भार्गवस्तस्यार्षम्। **शीरम्** अनुगम्य भूतानि जङ्गमानि जाठरात्मना स्थावराणि च सूक्ष्मेण चाभिव्यक्तशक्त्यात्मनाऽयं शेते व्यवतिष्ठते अश्नाति वा, एवं शीलः स शिरोऽग्निः, तं शीरमनुशायिनं वेत्यर्थः। **पावकशोचिषं** पावकदीप्तिम्। **ज्येष्ठो**ऽतिशयेन वृद्धः। **यो दमेषु** यज्ञगृहेषु। अत्र **आदीदाय** दीङे दीप्त्यर्थस्येदं रूपमादीप्यते। **दीर्घश्रुत्तमः** श्रूयत इति श्रुत् कीर्तिः, दीर्घा श्रुद्येषां ते दीर्घश्रुतः। तेषां मध्ये अतिशयेन दीर्घकीर्तिस्तं स्तुम इति शेषः।

अतः शीरं पावकशोचिषमिति च कर्मश्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् अपरत्रैकवाक्यता-

तमर्व॑न्तं॒ न सा॑न॒सिं गृ॑णी॒हि वि॑प्र शु॒ष्मिण॑म्।

मि॒त्रं न या॑त॒यज्ज॑नम्।। (ऋ०८.१०२.१२)

तमर्वन्तन्न अश्वमिव **सानसिं** संभक्तारं ग्रामादेः शीघ्रगामिनमित्यर्थः। **गृणीहि** स्तुहि हे **विप्र** मेधाविन् आत्मन एवायमन्तेरात्मनः प्रैषः। **शुष्मिणं** बलवन्तं **मित्रमिव** च। कीदृशम्? **यातयज्जनम्** इति अस्यतेर्वा गतिकर्मण एतद् रूपम्। प्रथममग्निहोत्रादौ यः कारयति वा स्वर्गं जनान्यष्टॄन् स यातयज्जनोऽग्निः।

विद्रधे द्रुपदे इत्यनवगते। तयोर्मतभेदेनानेकार्थत्वमनवगमं च लाघवान्निगमेनैव दर्शयिष्यामीत्युपन्यासाद् द्वयोरप्येकमुदाहरणम्।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते।। (ऋ०४.३२.२३) कनीनके कन्यके। कन्या कमनीया भवति। क्वेयं नेतव्येति वा। कमनेनानीयत इति वा। कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि। सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः। व्यृद्धयोर्दारुपाद्वोः। दारु दृणातेर्वा। द्रूणातेर्वा। तस्मादेव द्रु। नवे नवजाते। अर्भके अवृद्धे। ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते। बभ्र्वोरश्वयोः संस्तवः। इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसंख्यायाह। **'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।'** (ऋ०८.१९.३७) सुवास्तुर्नदी। तुग्व तीर्थं भवति। तूर्णमेतदायन्ति।**'कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः।'** (ऋ०७.५८.५) पुनर्नो नमन्ते मरुतः। नसन्त इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। **ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्।** (ऋ०९.७५.५) ये ते मदा आहनवन्त वचनवन्तस्तैरिन्द्रं चोदय दानाय मघम्।। १५।।

भाष्यटीका

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके।
बभ्रू यामेषु शोभेते।। (ऋ०४.३२.२३)

वामदेवस्य। **कनीनके** कन्यके। प्रथमाद्विवचनस्यायमाकार आदेशः। कनीनका **इव** कनीनकेव। इतरथा हि प्रगृह्यत्वात् कनीनके इव इति स्यात्। तेनायमर्थः, यथा कन्यके **विद्रधे** दुहेर्हिंसार्थस्येदं रूपम्। व्यत्ययेन चात्र सर्वत्र बहुवचनस्य स्थान एकवचनम्। विदथेषु इत्यवगमः। विविधं हिंसितेषु अधःकृतेष्वित्यर्थः। **नवे**नवेषु नवघटितेषु द्रुपदेषु दारुमयेषु पादुकाख्येषु **अर्भके** अल्पकेषु अन्यूनानतिरिक्तेषु। सप्तमीश्रुतेरारूढे इति शेषः। एवमेतानि कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तमीबहुवचनस्य स्थाने एकवचनानीति शाकपूणिर्मन्यते।

यास्कस्तु कनीनकेव इति कन्ययोर्दृष्टान्तत्वेनोपन्यासादर्थसामर्थ्यात् नवे अर्भके इत्येते द्वे कन्ययोर्विशेषणे। सप्तम्येकवचने प्रथमाद्विवचने च तुल्यश्रुतित्वात् प्रथमाद्विवचनान्ते इति मन्यते। नवजाते अर्भके अवृद्धाल्पप्रमाणे तथा। के ते? यथा विद्रधेषु द्रुपदेषु पादुकाख्येषु आरूढे। एवं वा पादुकास्थानेषु खुरेषु आरूढौ **बभ्रू** बभ्रूवर्णावश्वौ। **यामेषु** यामशब्दो रथवचनः। कुत एतत्? **वीळो वीळित वीळयस्व मायामादस्मादवजीहि वो न**

इति मन्त्रान्तरे अर्थदर्शनसामर्थ्यात्। रथेषु आजिधावनादिषु वा यानस्थानेषु शोभते। एवमेव चानवगतेषु विद्रधे द्रुपदे इति द्वयोः पाठ उपपन्नः। शाकपूणिमते तु वचनावगमाय चत्वार्यपि पदानि स्युः।

एकपदनिरुक्तम्। **कन्या कमनीया** प्रार्थनीया **भवति** सर्वस्य। **क्वेयं नेतव्येति वा**। प्राक् प्रदानकालात् कन्यायाः पितुरेवं चिन्ता भवति। उद्वाहलक्षणेन नयनेन क्वेयं मया नेतव्या केनोद्वाहयितव्येत्यर्थः। **कनतेर्वा** कान्त्यर्थस्य। कन्या हि बाल्यात्सर्वस्य कान्ता। **दारु दृणातेर्विदारणार्थस्य। द्रुणातेर्वा** वधकर्मणः (निरु०२.१९)। तस्मादेव धातुद्वयाद्रूपम्। **बभ्र्वोरश्वयोः संस्तव** इत्यृचः समस्तार्थवचनम्।

तुग्वनि इत्यनवगतम्। तस्याभिधेयावगमो निगमादेवोपगम्यत इति निगमस्य समस्तार्थमाह। इदं च मेदादित्यादिना। ऋषिः सौभरिः प्रसंख्याय गणयित्वाह-'**सुवास्त्वा अधि तुग्वनि** (ऋ०८.१९.३७)। अत्र **सुवास्तुर्नदी** तस्यास्तुग्व **तीर्थं** तस्य **तूर्णमेतत्** इत्यादि निर्वचनम्। तीर्थं पानायावगाहनाय वा क्षिप्रमागच्छन्ति। निगमः-

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः॥ (ऋ०८.१९.३६)

अत्र सौभराख्याने वते? इतिहासः। सौभरिर्नाम ऋषिः। स नद्या उदके तिष्ठन् पुत्रसहस्रेण परिवृतं सामन्तं नाम मत्स्यं ददर्श। तेनोपजातापत्याभिलाषश्च दारार्थी त्रसदस्युं राजानमुपगम्य इदमुवाच। तव पञ्चाशत् कन्यास्तासामेकां भार्यार्थं मह्यं देहीति। स तं विरूपं वृद्धं दृष्ट्वा सापदेशं प्रत्याख्यातुं प्रत्युवाच। कुलधर्मोऽयमस्माकं कन्याः स्वयंवरा इति। एतज्ज्ञात्वा त्वं कन्यान्तःपुरं गत्वा या वरयिष्यति सा तुभ्यमिति। स कथं तथा प्रत्याकलय्य योगैश्वर्यबलाद् दिव्यं रूपमास्थाय कन्यान्तःपुरं जगाम। स तत्र रूपयौवनलावण्यातिशयक्षिप्तान्तःकरणाभिः सर्वाभिः कन्याभिर्युगपदेव वृतः। विदित्वैतद् वृत्तान्तं राजा त्रसदस्युस्तस्मै ताः सर्वाः सुवास्त्वा तीर्थे प्रादात्। कन्या गृहीत्वा आगच्छन्तं पथीन्द्रो ददर्श। स एनं पप्रच्छ कुतस्त्येयं विभूतिरिति। स तस्मादाचचक्षे।

अदात् दत्तवान् मह्यं **पौरुकुत्स्यः** पुरुकुत्स्यस्य पुत्रस्त्रसदस्युर्नाम **पञ्चाशतं** कन्याः। एतासां **वधूनामचिरोढा** स्त्री वधूरुच्यते। **मंहिष्ठो** मंहतेर्दानार्थस्य इष्ठनि रूपम्। अतिशयेन दाता। **अर्य ईश्वरः। सत्पतिः** सतां पाता।

उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।
तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः॥ (ऋ०८.१९.३७)

अपि च **मे** मह्यं **प्रयियोर्वयियो**र्द्वितीयार्थे षष्ठी, अत्यर्थं प्रयाति तत् प्रयियु अश्वोष्ट्रादि, ऊयते यत्तद् वयियु वस्त्रं कम्बलप्रावरणास्तरणादि तच्च दत्तवान्। अथवा प्रयियोरिति **सुवास्त्वा** तते विशेषणे। वयतिश्चात्र सन्तानमात्रलक्षणार्थः। प्रयियोरत्यर्थं प्रयित्र्याः वयियोः सन्ततायाश्च सुवास्त्वा सुवास्तुनाम्ना नद्या **अधिवनि** तीर्थस्योपरीत्यर्थः। एतन्मन्त्रलिङ्गमूलं तु '**देशे काले च यत्पात्रे**' (भग०गी०१७.२०) इति स्मरणाद् द्रष्टव्यम्। गवां च **तिसृणां सप्ततीनां** दशोत्तरे द्वे शते तिस्रः सप्ततयस्तासाम्। **श्यावः** श्याववर्णो वृषभः। **प्रणेता** अग्रतो गामी। **भुवद्** आसीत्। **वसुः** 'वस आच्छादने' (धा०२.१३) सर्ववृषभाणां स्वेन शोभातिशयेन आच्छादयिता। **दियानां** देयानां गवां **पतिर्भर्तृभूतः**। शोभने च द्वे शतोत्तरे श्यावेन वृषभेण सह दत्तवानित्यर्थः।

नंसन्ते इत्यनवगतम्। नसन्ते इति प्राप्ते नमतेर्मकारात्परं सकारागमः। निगमः-

ताँ आ रुद्रस्य मीळहुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः।

यत्सस्वर्ता जिहीळिरे यदाविरव तदेनं ईमहे तुराणाम्।। (ऋ०७.५८.५)

वसिष्ठस्यार्षम्। **तान्** प्रकृतान् **रुद्रस्य मीढुषः** सेक्तुर्धनवतो वा पुत्रानिति शेषः। कुत एतत्? ऋग्वेदे '**रुद्रस्य ये मीळहुषः सन्ति पुत्राः** (ऋ०६.६६.३) इत्यादौ मन्त्रान्तरे दर्शनात्। **आविवासे** विवासतिः परिचर्यायाम्, आभिमुख्येन परिचरामि। कस्मात्? यस्मात् **कुविद्** बहुवचनान्तं **नंसन्ते** नमन्ते वर्षाद्युपकारेण प्रह्वीभवन्ति। **मरुतः पुनः** अन्तर्नीतवीप्सार्थोऽयं पुनः शब्दः पुनः पुनः। **नो**ऽस्माकम्। किञ्च **यत् सस्वर्ता** सस्वरित्यन्तर्हितनाम तर इति '**तनु विस्तारे** (धा०८.१) इत्यस्य रूपम्। अन्तर्हितमेव तायमानमप्रकाशमानमेवेत्यर्थः। **जिहीळिरे** लज्जयन्ति। **यदाविर्**यच्च प्रकाशं तदुभयमपि **एनः** पापम् **अव ईमहे** अवेत्येष अपेत्येतस्य स्थाने ईमहे इति '**इण् गतौ** (धा०२.३६) इत्यस्य अन्तर्नीतण्यर्थस्य रूपम्, अपगमयेम नाशयेमेत्यर्थः। **तुराणां** सर्वस्य स्वशत्रोरतृणां त्वरमाणानां मरुतां प्रसादेनेति शेषः।

नसन्ते इत्यनवगतम्। तदुपरिष्टाद् द्वादशे '**घृतस्य धाराः समिधो नसन्त** (ऋ०४.५८.८) इत्यत्र व्याख्यास्यामः।

आहनस इत्यनवगतम्। आहननवन्त इत्यवगमः। निगमः-

परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि वासयाशिरम्।

ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्।। (ऋ०९.७५.५)

भार्गवस्य कवेरार्षम्। हे **सोम** एतस्माद् दशापवित्रात् **परि प्रधन्व** सर्वतः प्रगच्छ प्रक्षरेत्यर्थः। **स्वस्तये** अविनाशाय कर्मणोऽस्माकं वा। **नृभिर्**मनुष्यैर्ऋत्विगाख्यैः **पुनानः** पूयमानोऽभिवासय ....वय चेत्यर्थः। **आशिरं** दधिपूतभृतिद्रावनीतम्। **ये** च तव **मदाः**। **आहनसः** 'ब्राह्मण इदमाहतम्' इत्यादौ दर्शनादाहन्निर्वचनार्थं वचनवन्तः पाटवजनना नः संमोहकरा इत्यर्थः। **विहायसो** महन्नाम मदं महान्तः। **तेभिस्तैरिन्द्रं चोदय दातवे** दातुमस्मभ्यं **मघं** धनम्।

अद्मसत् इत्यनवगतम्। अदेरौणादिके मन्प्रत्यये अद्म। अन्तमभिधेयम्। तत्रात्मनि सीदति तद्मा संभजते अद्मनि उपपदे सदेः सनेर्वा '**अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (अष्टा०३.२.७५,७६) '**कविप्र**' इति क्विपि रूपम्। एदसत्वादनवगतम्। अन्नसानिनीति वेत्यवगमः। निगमः-

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

उपों अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षों नोधा इंवाविरंकृत प्रियाणिं। अद्मसन्न संसतो बोधयंन्ती शश्वत्तमागात् पुनंरेयुषीणाम्।। (ऋ०१.१२४.४) उपादर्शि शुन्ध्युवः। शुन्ध्युरादित्यो भवति शोधनात्। तस्यैव वक्षो भासाध्यूढम्। इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेव। अध्यूढं काये। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते शोधनादेव। उदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते शोधनादेव। नोधा ऋषिर्भवति। नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अद्मसत्। अद्मान्नं भवति। अद्मसादिनीति वा। अद्मसानिनीति वा। ससतो बोधयन्ती। शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्। स्वपतो बोधयन्ती। शाश्वतिकमागात् पुनरेयुषीणाम्। **'ते वाशींमन्त इष्मिणः।'** (ऋ०१.८७.६) ईषणिन इति वैषणिन इति वार्षणिन इति वा। वाशीति वाङ्नाम। वाश्यत इति सत्याः। **'शंसावाध्वर्यो प्रतिं मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टंम्।'** (ऋ०३.५३.३) अभिवहनस्तुतिमभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते। ऐन्द्री त्वेव शस्यते। परितक्म्येत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।।१६।।

भाष्यटीका

उपों अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षों नोधा इंवाविरंकृत प्रियाणिं।
अद्मसन्न संसतो बोधयंन्ती शश्वत्तमागात् पुनंरेयुषीणाम्।। (ऋ०१.१२४.४)

कक्षीवत आर्षम्। **उपो** उकारः पदपूरणः। उपोपसर्गश्रुतेश्च योग्यक्रियापदाध्याहारः। उपगता उदिता सतीत्यर्थः। **अदर्शि** वर्तमाने कर्मणि लुङ् दृश्यते उषाः। किमिव? **शुन्ध्युवो न वक्षः** उदकेचरो वा पक्षी हंसादिः शुक्लवर्णस्तस्येव वक्ष उरः, भास्वरा शुक्लवर्णा वेत्यर्थः। किञ्च **आविरकृत** स्वेन ज्योतिषा कृत्स्नं जगदाविष्करोति। **नोधा** ऋषिः स यथात्मनः प्रियाणि धनादीनि स्वेनार्षेण **'सपर्यामि प्रयंसा** (ऋ०१.५८.७, ३.५४.३) **'नू ष्ठिरं मरुतो वीरवंन्तम्** (ऋ०१.६४.१५) इत्यादिनाविष्कृतवान्, तद्वत्। किञ्च **अद्मसन्नदनादन्नं** तस्मिन् यक्षितृत्वेन सीदति सनोति वा तत्सा अद्मसत् सा च सामर्थ्यात् सूचकारी मक्षिका वात्राभिप्रेता सा यथा प्रातरुत्थाय क्षीरादिसंग्रहार्थं जनान् प्रबोधयति। **शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्।** शश्वच्छब्दो नित्यवचनः पुनरायान्ति। गवादयो हि गव्यूतिप्रभृति गत्वा गत्वा पुनरायान्ति। निर्धारणे चेयं षष्ठी। अतिशयेन नित्या पुनरेयुषीणां मध्ये आगात् कृत्स्नं जगदभ्येति व्याप्नोतीत्यर्थः।

शुन्ध्युरादित्यो भवति शोधनात्। स हि तमसा व्याप्तं कृत्स्नं रश्मिभिः शोधयति। तमोऽस्मादपनयतीत्यर्थः। अथवा अशुद्धमशुचितः शुचीकरोति। यथा च स्मृतिः-

स्पर्शने विहितं शौचं सोमसूर्यांशुमारुतैः। इति॥

भासाध्यूढमित्यादित्यवक्षसो निर्वचनप्रदर्शनम्। आदित्यवक्षो हि दीप्त्या रूढम्, **'वह प्रापणे** (धा०१.१०५३)। तया न प्रयोजकव्यापारभूतया प्रयोज्यव्यापारः प्राप्तिर्लक्ष्यते। उपरि प्राप्तं व्याप्तमित्यर्थः।

अतो वहेर्वक्षः। इदमपीतरद् वक्षो मुनष्यवक्ष **एतस्मादेव** धातोः। तदप्यध्यूढं काये उपरि कायस्य व्याप्तं प्रापितं वेत्यर्थः। **शकुनिरपि शुश्ध्युरुच्यते शोधनादेव स ह्युदकचरो भवति** उदकचरत्वान्नित्यशुद्धः। **आपोऽपि शुश्ध्युव उच्यन्ते शोधनादेव** ता ह्यशुद्धं शोधयन्ति स्नानप्रक्षालनादिना।

नोधा ऋषिर्भवति। कस्मात्? स हि **नवनं** स्तवनं **दधाति** देवतानाम्। ददाति वा देवताभ्यः देवताः स्तौतीत्यर्थः। परं भाष्यमृग्व्याख्यानेनैव गतम्।

इष्मिण इत्यनवगतम्। ईषतेर्गतिकर्मण इषेर्वा इच्छार्थस्य। तथा चावगमप्रदर्शनं ईषणिन एषणिन आर्षणिन इति वेति। निगमः-

श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्वभिः सुखादयः।

ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः॥ (ऋ० १.८७.६)

गौतमस्य रहूगणपुत्रस्यार्षम्। **'पृश्निदुग्धे प्रैयङ्गवं चरुं निर्वपेत् पृश्निभ्यो ग्रामकामः** (तैत्ति०सं०२.२.११.४) इति। तत्रेयं याज्या। पृश्नय इति मरुतोऽभिधीयन्ते। **श्रियसे** श्रीशब्दस्य तादर्थ्ये चतुर्थ्येकवचनम्, छान्दसत्वात्। दसुगागमश्रिये यस्य संपत्याख्यायै **कमुदकं भानुभिर्दीप्तिभिर्विद्युदाख्याभिः संमिमिक्षरे 'मिह सेचने** (धा०१.१०४१) सम्यक् सेक्तुमिच्छति मरुतो न केवलादिभिः किन्तर्हि? **ते रश्मिभिः** प्रग्रहैरश्वानां **ते** एवम् **ऋक्वभिः** अर्चनमृक् स्तुतिस्तद्वद्भिः। कैः? सामर्थ्यादश्वै रथैर्वा सर्वैश्चोपकरणैर्वर्षन्तीत्यर्थः।

अथवा कमिति सुखनाम। संमिमिक्षिर इति **म्यक्षतेर्गतिकर्मणोरूपम्** (निरु०२.१४)। तेनायमर्थः। श्रिये यस्य संप्लक्षणाय सुखाय प्राणिनां रसानुप्रदानकाले दीप्तिभिरादित्यस्य रश्म्याख्याभिः सङ्गच्छन्ते। तेन मरुतस्त एव यागकाले स्तुतिमद्भिः। कैः? सामर्थ्याद् ऋत्विग्भिः **सुखादयः** शोभनानां खादितारः। किञ्च **ते वाशीमन्तो** वाचा च तद्वन्तः। **इष्मिणो** गन्तार इषितारो वा स्तुतीनां हविषां च द्रष्टारो सर्वार्थानामित्यर्थः। **अभीरवो** भयवर्जिताश्च। किञ्च **विद्रे** विदेश्छान्दसमेतद् रूपम्, वेद्मीत्यर्थः, अहम्। **प्रियस्य मारुतस्य धाम्नो** द्वितीयार्थे षष्ठी, प्रियमारुतं धाम स्थानम्। धाम जन्म तेजो वा सामर्थ्याख्यम्। वाशीति वाङ्नाम्नोर्विवक्षयोपन्यासः। वाश्यत इति सत्याः। कर्मणि कारके वाशी वाश्यते शब्द्यते।

वाह इत्यनवगतार्थम्। कल्पनाभेदाच्चानेकार्थम्। स्तुतिरधिषवणचर्म वा अभिधेयम्। निगमः-

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्।

एदं बर्हिर्यजमानस्य सीदाथा च भूदुक्थमिन्द्राय शस्तम्॥ (ऋ० ३.५३.३)

विश्वामित्रस्य। होताध्वर्युमाह। अहं च त्वं च समीभूय शंसावहे। **अध्वर्यो** अहं शंसामि त्वं **प्रति मे गृणीहि** प्रतिगिरं मे देहि एतत् कुर्वन्तौ यदेत**दिन्द्राय** इत्थं **वाहो** देवताः प्रत्यूहमानत्वादहःशब्देनात्र स्तुतिरुच्यते। अथवा एतद्रूपसमीपे तदुदकस्योद्धतस्य स्थानमावाह इति लोके प्रसिद्धम्। तत्सादृश्यात् सोमरसस्य पूर्णमधिषवण इति चर्म वाह इत्युच्यते। तत् **कृणवाव** करवाव। **जुष्टं** प्रियमिन्द्रस्य। **आकारः** सीदेत्यनेन सम्बध्यते। तदर्थमिदं **बर्हिर्यजमानस्य** स्वभूतमासीद। **अथा च** अथ चानन्तरमेव **भूत्** वर्तमाने लुङ् अडभावश्च भवति। इत्थमिदं शस्त्रमिन्द्राय **शस्तं** न कश्चिद् व्याक्षेप इत्युच्यत इत्यभिप्रायः।

भाष्ये **अभिवहनस्तुति**मिति अभिवहनशब्देन स्तुतिरुच्यते। अधिषवणशब्देन अधिषवणचर्म। असत्यपि वाशब्दे विकल्पवचनमेतद् द्रष्टव्यम्। अभिवहनस्तुति**मधिषवणप्रवादं** वा प्रवदन्तीत्यनेन स्तुतिरुच्यते। ततस्तज्जुष्टवचनेनोच्यते। देवताः प्रतीतिवहनसम्बन्धेयं स्तुतिः। अथवा अधिषवणचर्म ततोऽधिषवणप्रवादः। प्रोद्यतेऽसाविति प्रवादः। अधिषवणं प्रवादो यस्यामधिषवणं वा प्रवदन्तीत्यर्थः। साधिषवणप्रवादा **ऐन्द्री** त्वेषा। पक्षद्वये अधिशब्दस्य ते वाह इत्यस्य गुणत्वाद् गुणत्वं चास्येन्द्रायेतीत्याद्यर्थवचनात्।

परितक्म्या इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। 'परितक्म्या रात्रिः परित एनां तक्म' (निरु०११.३५) इत्यत्र प्रसङ्गाद् व्याख्यास्यामो लाघवार्थम्।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तवृत्तौ नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः पादः षोडशश्च खण्डः समाप्तः।

।।अथ तृतीय: पाद:।।

अथ सप्तदश: खण्ड:।

सुविते सु उते सूते सुगते। प्रजायामिति वा। **'सुविते मा धा:।'** (तै०सं०१.२.१०.२; क़ा०सं०२.८; मै०सं०१.२.७) इत्यपि निगमो भवति। दयतिरनेककर्मा। **'नवेन पूर्वं दयमाना: स्याम।'** (का०सं०१९.३; तै०ब्रा०३.५.१३.१; मै०सं०४.१३.७; तु०वा०सं०२८.१६) इत्युपदयाकर्मा। **'य एक इद्विदयते वसु।'** (ऋ०१.८४.७; अथर्व०२०.६३.४) इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा। **'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि।'** (ऋ०६.६.५) इति दहतिकर्मा। दुर्वर्तुर्दुर्वार:। **'विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।'** (ऋ०३.३४.१; अथर्व०२०.११.१) इति हिंसाकर्मा। **इमे सुता इन्दव: प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्। अहं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्।।** (मूल अनुपलब्ध) दयमान इति। नू चिदिति निपात:। पुराणनवयो:। नू चेति च। **'अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम्।'** (ऋ०६.३०.३) अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम्। **'नू च पुरा च सदनं रयीणाम्।'** (ऋ०१.९६.७) अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम्। रयिरिति धननाम। रातेर्दानकर्मण:।।१७।।

भाष्यटीका

सुविते इत्यनवगतम्। अनेकार्थविकल्पं च। **सु** इति **इते सूते** इत्यवगमौ। विकल्पेन एते: क्तप्रत्यये इत:। तस्मिन् सु इत्युपसर्गस्य यणादेशे प्राप्ते छान्दसत्वादुवङ्। **'षूङ् प्राणिगर्भविमोचनयो:** (तु०धा०२.२१) इत्यस्य वा क्तप्रत्यये इडागम उपजन:। सुगते **प्रजायामिति** वेत्यर्थ:। वचनवैकल्पिके निगम:-

अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोज:। अभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यम्। अनु म इदँ व्रतँ व्रतपतिर्मन्यतामनु दीक्षां दीक्षापतिरञ्जसा सत्यमुपागाँ सुविते मा धा:।। (मैत्रा०सं०१.२.७)

तानूनप्त्रं करिष्यन्नाज्यमभिमृशन्नाह **अनाधृष्टमसि** धृषिरभावे अनभिभूतमसि केनचित्। **अनाधृष्यं देवानामोजो-** ऽसीत्यनुषक्तव्यम्। अनभिभवनीयं च यद् देवानामोजस्तच्चासि। **अभिशस्तिपा** अभिशस्ति: परस्परद्रोहलक्षणा हिंसा तत: पालयितृ। **अनभिशस्तेन्यं** अनभिहिंसनीयञ्च। **अनु मे इदम्** अनुशब्दो मन्यतामित्यनेन संबध्यते। मम इदं व्रतमद्रोहलक्षणं **व्रतपतिरग्निरनुमन्यताम्। दीक्षां दीक्षापति:** सोमोऽनुमन्यताम्। अनुतप अनुमन्यतां चतिद्वेमकस्तनवाञ्चनादि तपस्पतिरग्निरग्निदेव। यतश्च **अञ्जसा** ऋजुना अशठेन चित्तेन। सम्यगुपगतमिति पाठान्तरं सत्यमुपगतमित्यर्थ:। अतस्त्वमपि **सुविते** शोभनं गम्यते यत्र स्वर्गादौ तत्र सूते वा प्रजायां वा **मा** मां **धा:** निधेहि। स्वर्गे मां गमय प्रजा वा मह्यं देहीत्यर्थ:। अनेककर्मत्वं चावधारणार्थम्।

दयते। **दयतिरनेककर्मै**व नत्वनवगतोऽपि सुवितादिवत्। **'नतेन पूर्वं दयमाना: स्याम** (मैत्रा०सं०४.१३.८; तैत्ति०सं०३.६.१३) इत्युपदयाकर्मा। उपदया रक्षा चतुर्दशे शेष: पठ्यते। तत्रैव व्याख्यास्यते। य एक इद्वि इयते

वस्विति दानार्थो वा विभागार्थो वा।

य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।

ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥ (ऋ०१.८४.७)

राहूगणस्य गौतमस्यार्षम्। **य एक इत्** एवार्थे एक एव **विदयते** विविधं ददाति विभजते वा। किम्? **वसु** धनम्। कस्मै? **मर्ताय** मनुष्याय। किंभूताय? **दाशुषे** हवींषि दत्तवते यजमानाय। यतः श्रुतेः स इत्यध्याहार्यम्। स **ईशान** ईश्वरः कृत्स्नस्य जगतः। **अप्रतिष्कुतः** अप्रतिगतश्च केनचिद् युद्धेन नाभियुक्तोऽप्रत्यभियुक्तपूर्व इत्यर्थः। कोऽसौ? **इन्द्रः**। **अङ्गे**ति निपातः क्षिप्रार्थो विदयत इत्यनेन सम्बध्यते। क्षिप्रं ददाति विभजते वेति।

'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि' इति दहतिकर्मा-

अधं जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना।

शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्नेर्दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि॥ (ऋ०६.६.५)

भरद्वाजस्यार्षम्। दावरूपस्याग्नेः स्तुतिरेषा। प्रवृत्तश्च दावरूपोऽग्निः, **अध** अनन्तरमेव चास्य **जिह्वा** जिह्वास्थानीया ज्वाला **पापतीति** वीप्सेत्यर्थः। प्रतपति गच्छति। **वृष्णो** हविर्वहनद्वारेण वर्षितुः। **गोषुयुधो न** गाव आपस्तासु निमित्तभूतासु योद्धृत्वाद् गोषुयुत् इन्द्र उच्यते। तस्यैव स्वभूता **अशनिः सृजाना** तेन विसृज्यमाना क्षिप्यमाणेत्यर्थः। किञ्च **शूरस्येव** यादृशी शूरस्य मुनष्यस्य **प्रसितिः** स्यतेरिदं रूपम्। स्यतिश्चोपसृष्टा विमोचने हत्वा हताः शत्रवो यत्र विमुच्न्ते सा प्रसितिः संग्रामभूमिः सा हताद्धतैः शत्रुभिराकीर्णा। ईदृशी **क्षातिः** क्षिपते द्रव्यमाना ओषधिवनस्पतयो यस्यां सा क्षातिर्भोगभूमिः। सा दग्धा दग्धैरोषधिवनस्पतिभिराकीर्णा **अग्नेर्दा**वरूपस्य। किञ्च **दुर्वर्तुर्दु**र्वारो दावरूपोऽग्निः। **भीमो** भयानकः। **दयते** दहति **वनानि**।

'विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्' इति हिंसाकर्मा-

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।

ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे॥ (ऋ०३.३४.१)

विश्वामित्रस्य। **इन्द्रः पूर्भित्** पुरां भेत्ता। **आतिरत्** तरतिर्वधकर्मा। आतिरदिति वधकर्मसु पाठात्। आभिमुख्येन वहति। कम्? **दास**मुपक्षयितव्यं मेघम्। कैः? **अर्कैः**। वज्रोऽत्रार्क उच्यते। ते पाननसाधनत्वादेव वा मरुतः। वज्रैर्देवैर्वा मरुद्भिः सह। **विदद्वसुर्दयमानो** विविधं हिंसन् **शत्रून्**। **ब्रह्मजूतो** ब्रह्मणा स्तुत्याख्येनाभिगतः। **तन्वा** शरीरेण **वावृधानो** वर्धमानः। **भूरिदात्रो** बहुदानः। **आपृणद्** आभिमुख्येन। **रोदसी उभे** उभे अपि द्यावापृथिव्यौ।

मां विहायस इत्यत्र विहायोगतिकर्मणा दयतिनार्थमाह-दयमान इति। **'मा वायस'** इत्यस्य शेषः।

इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्।

अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्॥

(अनुपलब्धमूलम्, निरु०४.१७)

अस्यार्थः। तानिति तच्छब्दश्रुतेर्ये इत्यध्याहार्यम्। ये **इमे सुता** अभिषुता **इन्दवः** सोमाः हे **प्रातरित्वना** प्रातर्गामिनौ सह उषसा **पिबतमश्विनौ** तान् **अयं हि** यस्माद् **वां** युवयोरू**तये** तर्पणाय **वन्दनाय** स्तवनाय च **मां वायसः** काको **दोषा** रात्रौ **दयमानः** 'डीङ् विहायसा गतौ (धा०१.१०१७) आकाशेन गच्छतीत्यर्थः, **अबूबुधन्** बोधितवान्।

नूचित् इति निपातः पुराणनवयोर्नूच इति च। नूचिदिति च द्वावेतौ निपातौ नैकः। अतोऽत्रात्रशब्दोऽध्याहार्यः। नूचिदित्यत्र निपात ये यो यत्न इति निपातो **नूचेत्यत्र च** अयं **पुराणनवयो**र्वर्तते। नूचेत्यत्र नवे। चिच्छब्दचशब्दौ तु समुच्चये। यतश्च नु इत्ययं पुराणनवयोर्वर्तते। अतोऽनेकार्थः। अनेकार्थः। अनेकार्थत्वाच्च इहैकपदिके प्रकरणे समाम्नातः। नानवगतत्वात्। नहि निपातानां व्याकरणे प्रकृत्यादिविभागोऽस्ति।

पुराणे तावदुदाहरणम्-

अ॒द्या चि॒न्नूचि॒त्तदपो॑ न॒दीनां॒ यदा॑भ्यो॒ अर॑दो गा॒तुमि॑न्द्र।
नि पर्वता॑ अद्म॒सदो॒ न से॑दु॒स्त्वया॑ दृ॒ळ्हानि॑ सुक्रतो॒ रजां॑सि॥ (ऋ०६.३०.३)

भरद्वाजस्य। **अद्या** इति सांहितिकं दीर्घत्वम्। अद्य **चिन्नूचित्** अद्य च पुरा च **तदपस्**तदेव कर्म **नदीनाम्। यत् आभ्यो** व्यत्ययेनैत चतुर्थीद्वितीयार्थयोर्द्वितीयाचतुर्थ्यौ। यस्मै इमाः। यदर्थमेता नदीरित्यर्थः। **अरदो** 'रद विलेखने (धा०१.५४) खातवान् वृष्ट्युदकद्वारेणाखनस्त्वम् हे **इन्द्र गातु**मत्रापि चतुर्थ्यर्य एव द्वितीया यस्मा इत्यनेन सामानाधिकरण्यम्। **यस्मै** गातवे सर्वत्र प्राणिनामुपकारार्थमुदकपूर्णानामासां गमनायेत्यर्थः। किञ्च निशब्दः **सेदु**रित्यनेन सम्बन्धयितव्यः। **पर्वता** मेघाः। **अद्मसदो न** (अद्मनां तत्र ये निषण्णा औदरिका आत्मम्भरयो न ते अदः) त इव निषेदुस्त्वया हन्यमाना निषीदन्ति। यथा भोजनप्रधाना दैवपित्र्यकर्मवर्जिता अनन्याः पुरुषा नरकान्नरकं पततोऽधो गच्छन्ति तद्वत् त्वया हन्यमाना मेघा इत्यर्थः। किञ्च त्वया दृष्टानि सुस्थितानि। हे सुक्रतो सुकर्मन् सुप्रज्ञ वा रजांसि लोकास्त्रयो लोका अपि त्वामाश्रिता इत्यर्थः।

नू च इति निगमः-

नू च॑ पु॒रा च॒ सद॑नं र॒यी॒णां जा॒तस्य॑ च॒ जाय॑मानस्य॒ च॒ क्षाम्।
स॒तश्च॑ गो॒पां भव॑तश्च॒ भूरे॑र्दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन् द्रविणो॒दाम्॥ (ऋ०१.९६.७)

कुत्सस्य। **नू च पुरा च** अद्य च पुरा च। **सदनं** स्थानम्। **रयीणां** धनानां **जातस्य** भूतग्रामस्य **जायमानस्य च** श्रुतेर्जनिष्यमाणस्य च। **क्षां** क्षा पृथिवी तत्स्थानीयमाश्रयमित्यर्थः। **सतश्च** पूर्वोत्पन्नस्य **गोपां** गोपायितारं **भवतश्च** इदानीं चोत्पद्यमानस्य च श्रुतेरुत्पत्स्यमानस्य च। **भूरे**र्बहुना **देवा अग्निं धारयन्** धारितवन्तः। न दैवे होतृ द्वे। **द्रविणोदां** हविर्लक्षणधनस्य दातारम्। ऊर्ध्वां देवलोकमविकारमित्यर्थः। तथा च '**दे॒वा द॑धिरे ह॒व्य॒वाह॑म्** (ऋ०१०.५२.३॥ निरु०६.३५) इति मन्त्रान्तरे दर्शनम्। **रयिरिति धननाम रातेर्दानार्थस्य** दीयते हि तत्।

दावने इत्यनवगतम्। ददातेः। '**आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च** (अष्टा०३.२.७४) इति कर्मणि वनिप् प्रत्ययः। ततो दावच्छब्दात् चतुर्थी सा च षष्ठ्यर्थे द्वितीयार्थे वा। दानस्य दानं वेत्यवगमः।

तथा अकूपारस्य इत्यनवगतमनेकार्थं च। तस्याप्यकुपरणस्य इत्यवगमः। यथा मन्त्रव्याख्याने तथा दर्शयिष्यते। तयोश्चैकमेवोदाहरणम्।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः।

अथ अष्टादशः खण्डः।

वि॒द्याम॒ तस्य॑ ते व॒यमकू॑पारस्य दा॒वने॑। (ऋ०५.३९.२) विद्याम तस्य ते वयमकूपारणस्य दानस्य। आदित्योऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते, न कूपमृच्छतीति। कच्छपः कच्छं पाति। कच्छेन पातीति वा। कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः खच्छः, खच्छदः। अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव कमुदकं तेन छाद्यते। **शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्ष॑से वि॒निक्षे॑।** (ऋ०५.२.९) निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिरक्षणाय। रक्षो रक्षितव्यमस्मात्। रहसि क्षणोतीति वा। रात्रौ नक्षत इति वा। **अ॒ग्निः सु॒तुकः॑ सु॒तुके॑भि॒रश्वैः॑।** (ऋ०१०.३.७) सुतकनः सुतकनैरिति वा। सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा। **सु॒प्रा॒य॒णा अ॒स्मिन् य॒ज्ञे वि श्र॑यन्ताम्।** (यजु०२८.५) सुप्रगमनाः॥१८॥

भाष्यटीका

यन्मन्य॑से॒ वरे॑ण्य॒मिन्द्र॑ द्युक्षं तदा भ॑र।
वि॒द्याम॒ तस्य॑ ते व॒यमकू॑पारस्य दा॒वने॑॥ (ऋ०५.३९.२)

अत्रेरार्षम्। **यत्** त्वं **मन्यसे वरेण्यं** वरणीयमत्यन्तोत्कृष्टमित्यर्थः। किं पुनस्तत्? सामर्थ्यादिदम्। हे **इन्द्र द्युक्षं** द्युशब्दो दीप्तिवचनः। '**क्षि निवासगत्योः**(धा०६.११४)। दीप्तेर्निवासभूतमत्यन्तोज्ज्वलमित्यर्थः। **तद् आभर**। आहृतस्य च सतो **विद्याम**। विदिर्लाभे। विन्देम लभेमहि। **तस्य ते** तव स्वभूतस्य **वयमकूपारस्य**। '**पॄ पालनपूरणयोः** (धा०३.४॥९.१९)। इत्यकुपरणं पारतं पूरणं वा यस्य तदकूपारं तस्याकुत्सितपालस्य सारवत्त्वात् सम्यक् पालितस्येत्यर्थः। अकुत्सितपूरणस्य वा प्रभूतत्वात् सर्वजनभाजनपूरणसमर्थस्येत्यर्थः। **दावने** दीयत इति दावं देयमुच्यते। चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। तच्छुतेश्च एकदेशमिति शेषः। देयस्यैकदेशमित्यर्थः।

अथवा दावन इति द्वितीयार्थे चतुर्थी। तस्य तव स्वभूतस्य धनस्यावयवभूतं यद्धनं दावं देयं तदित्यर्थः। भाष्ये अकूपरणस्येति निर्वचनम्, वरणस्येत्यर्थकथनम्। यद्धि अकुत्सितं वरणं परणं तद् भवति। अकुत्सितपालितं सम्यक् पूरणसमर्थं चेत्यर्थः।

अनेकार्थतां दर्शयितुमाह। **आदित्योऽपीत्यादि**। अकूपारः **सन्नकूपारो भवति**, अकुत्सितं पालयितेत्यर्थः। आदित्यो ह्यकुत्सितं रश्मिभिः पालयति पूरयति वा। **दूरपार** इति हेतुवचनं यतोऽसौ दूरं पालयिता पूरयिता वा। आपूर्ता त्रयाणामपि लोकानाम्।

समुद्रोऽपीत्यादि सोऽपि **ह्यकूपारो भवति** यतो **महापारः**। अत्रापि पारशब्देन पालनमुच्यते पूरणं वा। महापालनो महापूरणो वेत्यर्थः। समुद्रो हि पालनं बहुसत्त्वाश्रयत्वात् पूरणं वा उदकप्रभूतत्वात्।

कच्छपोऽपीत्यादि। स तु **न कूपमृच्छति** गच्छतीत्यकूपारः। कूपशब्द उपपदे अर्तेर्गत्यर्थस्य कर्मण्यणि कूपारः। अकूपारः कच्छपो हि सति सम्भवे वा सा (नदी) गच्छति न कूपम्, अल्पोदकत्वात्। निगमाः सर्वेषां पर्येष्याः।

कच्छपः कस्मात् **कच्छं पातीत्यादि**। कच्छपस्य पृष्ठे यत् कच्छ उच्यते, तमसौ कलया तटाकादिप्रक्षिप्त-लोष्टवधादेरधोनिमज्जत्वाद् रक्षति। सर्वाङ्गानामस्य तदायत्तत्वात्। तेन वा सर्वाङ्गानि निरुध्यास्ते। तेन चोदकं पिबति। **कच्छः** कस्मात्? **खच्छः** अस्यार्थवचनं **खच्छद** इति। कच्छपस्यैतावत् कच्छः शरीरस्य यत् खमाकाशं तच्छादयति। नद्या अपि कच्छस्तृणैः कं छादयति। अतः कच्छादस्मात् खच्छदः। खच्छदः सन् खच्छदः।

शिशीते इत्यनवगतम्। निश्यतीति प्राप्ते। **'शो तनूकरणे'** (धा०४.३)। इत्यस्य व्यत्ययेन शपः श्लौ औकारस्येत्वे यत् छान्दसं रूपम्। वर्णसारूप्यान्निर्वचनम्। निगमः-

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः संहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥ (ऋ०५.२.९)

प्रवृषस्यार्षम्। उभयोर्वा कुमारप्रवृषयोः। वेर्भातिना सम्बन्धः। **ज्योतिषा बृहता** महता **विभाति** विविधं दीप्यते। **अग्निः**। **आविः**शब्दः **कृणुते** इत्यनेन सम्बध्यते। **आविष्कृणुते** आविष्करोति च। **विश्वानि** सर्वाणि भूतजातानि। **महित्वा** महत्त्वेन। किञ्च प्र सहिना सम्बध्यते। **अदेवीर्देवेभ्योऽन्ये** अदेवा असुरादयस्तेषां स्वभूता मायाः सोऽयमित्यभिसम्बन्धेनादेव्य उच्यन्ते ता अदेवीरतिसन्धानप्रज्ञाः **प्रसहते** आकर्षेणाभिभवति। **दुरेवा** माया-विशेषणमेतत्। अवते रक्षणार्थस्य दूरक्षा इत्यर्थः। अग्नेर्वा विशेषणम्। अवतिरपि तर्पणार्थो दुस्तर्पः। **शिशीते** निश्यति च। स्वयमच्च स्त्री चू.........।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथ एकोनविंशः खण्डः।

देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे। (ऋ०१.८९.१; वा.सं.२५.१४) देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युः। अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तः। रक्षितारश्च। अहन्यहनि। च्यवन ऋषिर्भवति। च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति। **युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।** (ऋ०१०.३९.४) युवं च्यवनम्। सनयं पुराणम्। यथा रथं पुनर्युवानं चरणाय ततक्षथुः। युवा प्रयौति कर्माणि। तक्षतिः करोतिकर्मा। रजो रजतेः। ज्योति रज उज्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते। **रजांसि चित्रा वि चरन्ति तान्यवः।** (ऋ०५.६३.५) इत्यपि निगमो भवति। हरो हरतेः। ज्योतिर्हर उच्यते। उदकं हर उच्यते। लोका हरांस्युच्यन्ते। असृगहनी हरसी उच्येते। **प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि।**

(ऋ०१०.८७.२५) इत्यपि निगमो भवति। **जुहुरे वि चितयन्तः।** (ऋ०५.१९.२) जुह्विरे विचेतयमानाः। व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा। **'पदं देवस्य नमसा व्यन्तः।'** (ऋ०६.१.४) **'वीहि शूर पुरोळाशम्।'** (ऋ०३.४१.३; अथर्व०२०.२३.३) इति खादतिकर्मा। **वीतं पातं पयस उस्रियायाः।** (ऋ०१.१५३.४; अथर्व०७.२३.५) अश्नीतं पिबतं पयस उस्रियायाः। उस्रियेति गोनाम, उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः, उस्रेति च। **'त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः।** (मूल अनुपलब्ध) **गोभिः क्राणा अनूषत॥'** (तु०ऋ०१.१३४.२) गोभिः कुर्वाणा अस्तोषत। **'आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।'** (ऋ०१०.१०१.१०) आसिञ्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य। हरिः सोमो हरितवर्णः। अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव। वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः। वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा। वाग्भिरिति वा। **स शर्द्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः।** (ऋ०७.२१.५) स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य। मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः। शिश्नं श्नथतेः। अपि गुर्ऋतं नः। सत्यं यज्ञं वा॥ १९॥

भाष्यटीका

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥ (ऋ०१.८९.१)

..........नोऽस्माकम्। यथा **सदम्** इदेवार्थे सदैव **वृधे** वृद्ध्यै **असन्** भवेयुः सर्वदा वृद्धिभिर्वर्धयेयुरित्यर्थः। **अप्रायुवो**ऽर्थान्तरेणाप्रमिश्रिता बुद्धिर्येषां ते अप्रायुवोऽतिच्छिन्नचेतस्का अप्रमाद्यन्त इत्यर्थः। **रक्षितारश्च दिवे दिवे** अहन्यहनि।

च्यवन इत्यनवगतम्। च्यवान इत्येव न्याय्यम्। ऋषिरभिधेयः। तदाह–**च्यावयिता स्तोमानाम्।** देवानां प्रतिगमयिता स्तोतेत्यर्थः। रूढत्वाच्च तक्षादिवदतिप्रसङ्गनिवृत्तिः। प्रसिद्धत्वात् च्यवनस्य ऋषित्वे न निगमो दर्शितः। अप्रसिद्धत्वात् च्यवानशब्दस्य निगमं दर्शयति। च्यवनमित्यप्यस्यैवेति।

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।

निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या॥ (ऋ०१०.३९.४)

कक्षीवतो दुहिता कक्षीवत इत्यश्विनावाह। युवं युवां **च्यवानं** च्यवनमृषिं **सनयं** पुराणं **यथा रथं** कश्चित् तक्षा एवं **पुनर्युवानं चरथाय** चरणाय गमनाय सुकन्यां संभोक्तुमित्यभिप्रायः। **तक्षथुः** कृतवन्तौ स्थः। अयं चेतिहासः शतपथे सुकन्याब्राह्मणे पठ्यते। किञ्च **तौग्र्यं** तुग्रस्य पुत्रं भुज्यमानं समुद्रे विपन्नयानं सखिभिस्त्यक्तं **निरूहथुर्**निरूढवन्तौ स्थः, उत्तारितवन्तावित्यर्थः। **अद्भ्यः** समुद्राः समुद्रेभ्यः। **परि** सर्वतः।

अयमितिहास ऋग्वेदे **'उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुदुरेवासः समुद्रे** (ऋ०७.६८.७)। **'तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे'** इत्यादिषु भूय आश्विनेषु दृश्यते। अथवा तुग्न्य इत्युदकनाम। तत्समूहस्तौग्न्यं **तन्निरूहथुर्मेघात्र** भृतवन्तौ स्थ इत्यर्थः। **अद्भ्यः परि** अपां चिरन्तनीनामुपरि अक्षीणायामेव पूर्वदृष्टावित्यर्थः। यान्येवमादीनि

कर्माणि विश्वा सर्वाणि कर्माणि। **इति** पदपूरणः। **ता** तानि युवां युवयोः **सवनेषु** यज्ञेषु **प्रवाच्या** प्रकर्षेण वचनार्हाणि। युवा तारुण्यात् शीघ्रं कुर्वन् प्रयौति प्रकर्षेण मिश्रयतीव कर्माणि। तक्षतिः करोत्यर्थः।

रज इति। रजःशब्दस्यानेकार्थत्वेनोपन्यासः। **रजतेरिति** धातुनिर्देशो न तु रजेः। पाचादिके अचि अनुनासिक-लोपाभावादकारान्तत्वप्रसङ्गाच्च अनवगतसंस्कारोऽप्युच्यते। **'भूरञ्जिभ्यां कित्** (उणा०४.२.६) इत्यसुक्प्रत्ययान्तस्य व्युत्पादनान्नावगतत्वम्। न च औणादिकत्वमात्रेणावगतत्वमिष्यते। किं तर्हि? तत्राप्यसकृत् छन्दोग्रहणाद् य एव छान्दसं बहुलवचनेन वा व्युत्पाद्यन्ते नैवावगताः। ये तु भाषायां सिद्धसाधुभावा रूढिशब्दाः प्रत्यक्षेण लक्षणेन ख्याता अवगतसंस्कारा एव ते इति। अतो युक्तोऽनैकार्थत्वेनोपन्यासः। ये त्वविशेषेणौणादिकानामनवगतत्वं मन्यन्ते तेषामनवगतोऽपि।

तां चानेकार्थतां दर्शयति **ज्योति रज उच्यते**। तद्धि स्वभासा सर्वमनुरञ्जयति प्रकाश्यम्। **उदकं रजः**, तदपि क्लेदयदनुरञ्जयति क्लेद्यम्। **लोका रजांसि,** तेऽपि हि रञ्जयन्ति प्राणिनः। **असृगहनी** असृग् रुधिरं तत्स्वयमेव रक्तम्। अहस्तदपि रञ्जयति स्वेनोपकारेण सर्वप्राणिनः। प्रसिद्धत्वाद् भाष्ये न पठिता निगमाः।

ज्योतिषां तावत्-

या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।

उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा॥ (यजु०५.८)

या ते तव हे **अग्ने रजःशया** रजो ज्योतिस्तद्यस्यां शेते तिष्ठति सा रजःशया। एवं वाजसनेयिनां पाठः। **'चकारणान्नु रजाशया'** इति पाठः। तत्र छान्दसः सकारस्याकारः। **तनूर्वर्षिष्ठा** अतिशयेन **गह्वरेष्ठा** गह्वरे च गहने दुर्ज्ञाने क्वापि प्रदेशे स्था स्थात्री **उग्रं वचो**ऽप्रसह्यं च यच्छत्रवादेर्वचस्त**दपावधीद्** अपहतवती। **त्वेषं** दीप्तं च यद् आज्ञापयितुं कस्यचित् तदप्य**पावधीत्**। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तस्यै **स्वाहा** सम्प्रदानार्थोऽयं निपातः।

उदकस्योदाहरणम्-

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।

दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्॥ (ऋ०१०.८.६)

त्वाष्ट्रस्त्रिशिरा नाम तस्यार्षम्। भुव इति नायं भूशब्दः पञ्चम्यन्तः पृथिवीवचनः। **'सावेकाचः** (अष्टा०६.१.१६८) इति विभक्तेरुदात्तत्ववचनात् **'मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः** (ऋ०१०.८८.६, निरु०७.२७) इत्यादिवदन्तोदात्तत्वप्रसङ्गात्। किन्तर्हि? आख्यातमेतत्। **'भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्** (ऋ०१०.५०.४) इति यथा। अतोऽयमर्थः **भुवो** भवसि त्वं **यज्ञस्य रजसश्च** उदकस्य **'अग्निर्वा इति वृष्टिं समीरयति'** (तैत्ति०सं० २.४.१०.१; का०सं०११.१०) इति श्रुतेरितो लोकान्नेता। क्व? उच्यते। **यत्रा** यत्र **नियुद्भि**रादिष्टोपयोजनमेतत्। नियुतो वायेरिति। तृतीया **'इत्थम्भूतलक्षणे'** (अष्टा०२.३.२१) सा च सर्वत्र सम्प्रतिपादयति। **'अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्'** (काशिका २.३.२१) इति यथा। नियुद्भिः सम्बद्धं वायुं **सचसे** हविर्नयनेन त्वं सेवसे। कीदृशीभिर्नियुद्भिः? **शिवाभिः** सुखाभिः। क्व पुनर्नियुद्भिः सम्बन्धं वायुं हविर्नयनेनाग्निः सेवते? उच्यते। अन्तरिक्षे तद्धि वायोरुचितम्। किञ्च **दिवि** द्युलोके **मूर्धानं** प्रधानभूतं **दधिषे**

हविर्जननद्वारेण धारयसि। **स्वर्षां** स्वर्द्यौस्तस्याः सनितारं संविभक्तारमादित्यम्। **जिह्वां** जिह्वास्थानीयां च ज्वालाम्। हे **अग्ने! चकृषे** करोषि **हव्यवाहं** हविर्नयनसमर्थाम्।

लोकानामुदाहरणम्। **'त्वया॑ दृ॒ळ्हानि॑ सुक्रतो॒ रजां॑सि'** (ऋ०६.३०.३) इति पुरस्ताद् व्याख्यातम्।

असृजः। **'त्रिरात्रं रजस्वलाऽशुचिर्भवति'**। **'मासि मासि रजो ह्यासाम्'** (वासि०ध०शा० २८.४) इति च।

अह्नः। **'अह॑श्च कृ॒ष्णमह॒रर्जु॑नं च॒ वि व॑र्तेते॒ रजो॑भिः'** (ऋ०६.९.१) इति पुरस्ताद् व्याख्यातम्।

हर इत्यनेकार्थम्। **हरतेरिति** धातुनिर्देशः। **ज्योतिर्हरः**, तद्धि हरति तमः। **उदकं हरः**, तदपि च हरति सर्वम्। **लोका हरांसि**, तेषु ह्रियते सर्वम्। त एव वा मृत्युना कालेनाह्रियन्ते।

ज्योतिष उदाहरणम्। ब्रह्मचारिणोऽग्निकार्ये मन्त्रः **'यत्ते॑ अग्ने॒ ह॒रस्तेना॒हं ह॑र॒स्वी भू॑यासम्'** (तैत्ति०सं०३.५.३.२) इति। उदकस्य लोकानां चोदाहरणं पर्येष्यम्।

जुहुरे इत्यनवगमः।

> **जु॒हु॒रे वि चि॒तय॒न्तोऽनि॑मिषं नृ॒म्णं पा॑न्ति।**
>
> **आ दृ॒ळ्हां पुरं॑ विविशुः॥ (ऋ०५.१९.२)**

वव्रेरात्रयस्यार्षम्। **जुहुरे** अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। ये जुहुरे हतवन्तं जुह्वति वा हवींषि **विचितयन्तोः** विविधं जानन्तः। किम्? होमकर्मैव ब्रह्म वा आत्माख्यम्। **अनिमिषं** निमेषवर्जितं च महता यत्नेनेत्यर्थः। **नृम्णं** बलं योगसामर्थ्यलक्षणं **पान्ति** रक्षन्ति। सततं च योगमभ्यस्यन्तीत्यर्थः। ते ज्ञानकर्मसमुच्चय-कारिणः। आकारो विविशुरित्यनेन संबध्यते। **दृळहां** दृढां दुर्भेदां **पुरं** परमात्माख्यामा**विविशु**राविशन्ति परमात्मनि लीयन्ते मोक्षं गच्छन्तीत्यर्थः।

व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा। व्यन्त इत्यत्र य एष धातुः स दयतिवदनेकार्थ इत्यर्थः। तथा चोदाहरणानि दर्शयति। **'पदं देवस्य'** इति पश्यत्यर्थः।

> **प॒दं दे॒वस्य॒ नम॑सा॒ व्यन्तः॑ श्रव॒स्यवः॒ श्रव॑ आप॒न्नमृ॑क्तम्।**
>
> **नामा॑नि चिद्दधिरे य॒ज्ञिया॑नि भ॒द्रायां॑ ते रणय॒न्त संदृ॑ष्टौ॥ (ऋ०६.१.४)**

भारद्वाजस्य। **पदं** स्थानमग्निलोके स्वर्गे वा। **देवस्य** भगवतोऽग्नेः। **नमसा** स्तुत्या मन्त्रलक्षणया **व्यन्तः** पश्यन्तो जानन्त इत्यर्थः। देवानां हि यावत् किञ्चित् तत्सर्वं स्तुतिपूतेभ्यो मन्त्रेभ्यो ज्ञायते, अत एतदुच्यते पदं स्तुत्या जानन्त इति। **श्रवस्यवः श्रवो**ऽन्नं यशो वा प्राप्नुवन्तम्। कीदृशम्? **अमृक्तम्** अमृतशब्दस्यायं छान्दसः ककार उपजनः, अमृतसदृशम्। अथवा **'मृजू शुद्धौ** (धा०२.५७) इत्यस्येदं रूपम्। **'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज'** (अष्टा०८.२.३६) इति षत्वे प्राप्ते छान्दसः **'चोः कुः** (अष्टा०८.२.३०) इति कुत्वम्। शुद्धं केवलं धनादिभिः सहितमित्यर्थः। अमृतं वा परैरपरामृष्टामित्यर्थः। अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। किं बहुना **नामानि चित्** चिदप्यर्थे जना नामान्यपि ये **दधिरे** भगवतोऽग्नेर्धारयन्ति कीर्तयन्तीत्यर्थः। **यज्ञियानि** यज्ञार्हाणि। तेऽपि **भद्रायां ते** तव **संदृष्टौ** संदर्शने अनुहग्रहबुद्धावित्यर्थः। सप्तमीश्रुतेः स्थिता इति शेषः। **रणयन्त** रमयन्ते त्वयाऽनुगृह्यमाणाः सुखिनो भवन्तीत्यर्थः।

'वीहि शूर पुरोळाशम्' इति खादत्यर्थः।

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद।

वीहि शूर पुरोळाशम्॥ (ऋ० ३.४१.३)

विश्वामित्रस्य। **इमा ब्रह्म** ब्रह्माणि स्तुतिरूपाणि। **ब्रह्मवाहो** ब्रह्म स्तुतिलक्षणमुच्यते प्राप्यते यत्र स्तोतृभिः स ब्रह्मवाहः। स्तुत्यर्थं तस्येदं सम्बोधनम्। **क्रियन्ते**ऽस्माभिरेतज्ज्ञात्वा। **आ बर्हिः सीद**। आसीदेदं बर्हिः। आसद्य च **वीहि** खाद हे **शूर** इन्द्र **पुरोळाशम्**। पुरोडाशकर्मत्वाच्च वीतेः खादतिकर्मत्वाध्यवसानम्। खादतेर्द्रव्यकर्मत्वात्।

'वीतं पातं पयसः' इत्यत्राश्नातिकर्मा।

उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो गाव आपश्च पीपयन्त देवीः।

उतो नो अस्य पूर्व्यः पतिर्दन्वीतं पातं पयस उस्रियायाः॥ (ऋ० १.१५३.४)

दीर्घतमसः। मित्रावरुणावुच्येते। अपि वां युवयोरर्थाय **विक्षु मद्यासु** स्त्रीलिङ्गनिर्देशान्मनुष्यजातिषु मदयित्रीषु देवानाम्। सप्तमीश्रुतेः स्थितमिति शेषः। **अन्धो**ऽन्नपेयस्याख्या। **गाव आपश्च पीपयन्त** प्यायतेर्वृद्ध्यर्थस्येदं रूपम्। वर्धयन्यो **देवी**र्देव्यः। **उतो** अपि **नो**ऽस्माकमृत्विजां **पूर्व्यः** पुराणः **पतिः** स्वामी चिरन्तन एव याज्य इत्यर्थः। **अस्या**न्नस्य युवाभ्यां **दन्** ददत् दाता दास्यते तदित्यर्थः। एतद् द्वयं ज्ञात्वा **वीतम**श्नीतं पिबतं च। यदस्य नातिद्रवं नातिकठिनं तदश्नीतं यद् द्रवं च तच्च पिबतम्। **पयसः** पयोविकारभूतस्य पायसाख्यस्य हविषः। **उस्रियाया** गोसम्बन्धिन इति शेषः। उस्रियेत्यादि पठ्यमानस्यैव निर्विवक्षयोपन्यासः। उत्स्राविणो येऽस्यां भोगास्ते ऊर्ध्वं स्रवन्ति गच्छन्ति क्षीरदधिनवनीतक्रमेण।

क्राणा इत्यनवगतम्। कुर्वाणा इत्यवगमः।

त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः।

गोभिः क्राणा अनूषत॥ (अनुपलब्धमूलम्)

वामदेवस्य। **त्वां** हे **इन्द्र मतिभि**र्मेधाविभिरध्वर्युभिः। **सुते** अभिषुते। **सुनीथासः** सुनीथाः प्रशस्यनामेदं सुष्ठुः प्रशस्याः। के? सामर्थ्यादुद्गातारो होतारश्च। **वसूयवो** वसु धनं दक्षिणालक्षणं तत्कामाः। **गोभि**र्गौरिति वाङ्नाम वाग्भिः। **अनूषत** अस्तोषत स्तुवन्तः **क्राणाः** कुर्वाणाः। किम्? ता एव स्तुतिलक्षणा वाचः सोमप्रदानं वा।

वाशी इत्यनवगतम्। यद्वा अवाशीशब्दस्य वाङ्नामत्वेनाम्नानम्। वाश्यसाविति वाशिनीत्यवगमः। निगमः-

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताऽश्मन्मयीभिः।

परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त॥ (ऋ० १०.१०१.१०)

बुधस्यार्षम्। **तु** इति पादपूरणः। सिञ्चतिर्द्रवद्रव्यप्रक्षेपे प्रसिद्धः। स इह लतासोमस्य द्रवत्वात् प्रक्षेपसामान्यलक्षणार्थः। व्यत्ययेन चैकवचनम्। **आसिञ्च** प्रक्षिपतः। **हरिं** हरितवर्णमिनं लतासोमम्। **द्रोर्**द्रुममयस्या- धिषवणफलकाख्यस्य **उपस्थे** समीपे उपरीत्यर्थः। प्रक्षिप्य **वाशीभि**र्वाशीशब्दः

छेदनद्रव्यविशेषवचनस्तस्य सकारस्य शकारेण व्यापत्ति। वासीभिरधिषवणग्रावाख्याभिः। **तक्षत** तक्षतिः करोतिकर्मा शुद्धोऽपि चात्र संपूर्वार्थे द्रष्टव्यः, संस्कुरुत अभिषुणुतेत्यर्थः। **अश्मन्मयीभिः** पाषाणमयीभिः।

अथवा सिचेर्द्रवद्रव्यप्रक्षेपे या प्रसिद्धस्तस्यां त्यक्तुमयोग्यत्वाद्। वाशीशब्दस्य च वाङ्नामत्वाद् रसावस्थः सोम इहोच्यते न लतावस्थः। आसिञ्चत हरितवर्णमेनं रसावस्थं सोमं द्रुममयस्य द्रोणकलशस्योपरि। आसिच्य च वशीभिस्तक्षत वाग्भिः संस्कुरुत स्तुतेत्यर्थः। अश्ममयीभिरेतद्गुणानां व्यप्तिभिरित्यर्थः। **परिष्वजध्वं** च ग्रहचमसस्थं सन्तं गृह्णीतेत्यर्थः। **दश** तृतीयाया अत्र लुक्, दशभिः **कक्ष्याभिः**। **उभे** च हविर्धानस्य **धुरौ** प्रति **वह्निं** लुप्तोपममेतद्वह्निमिव वोढारमिव अनड्वाहं **युनक्त** हविर्धानधुरोऽधस्तात् खरे सादयतेत्यर्थः। **अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव** वर्णसामान्यात्। अन्यो वा वर्णकायश्यक्करूक्षानीतामन्यतमः।

विषुण इत्यनवगतम्। विषम इत्यवगमः।

न या॒तव॑ इन्द्र जूजुवुर्नो॒ न वन्द॑ना शविष्ठ वे॒द्याभि॑ः।

स शर्ध॑द॒र्यो विषु॑णस्य ज॒न्तोर्मा शि॒श्नदे॑वा॒ अपि॑ गुर्ऋ॒तं न॑ः॥ (ऋ०७.२१.५)

वसिष्ठस्य। **न** शब्दोऽत्र माशब्दार्थे। **यातव** उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यो भीमभामावत्। यातुधाना राक्षसा हे **इन्द्र जूजुवुर्ज**वतिर्गतिकर्मा मा गमन्नित्यर्थः। अस्माकं ये भूतं यज्ञम्। **न वन्दना** अयमपि नशब्दो माशब्दस्यैवार्थे मा च वन्दना तृतीयैकवचनस्थानेऽयमाकारस्तच्छतेश्च युक्ता इति शेषः। वन्दनया स्तुतिवचनजीविनो नटनर्तकनत्रप्रस्थापकप्रभृतय इत्यर्थः। **शविष्ठ** अतिशयेन बलवत्। **वेद्याभिर्वे**द्या वेदितव्याः कुहकप्रभृतय ईश्वरप्रतारणोपायभूतास्ताभिर्वा युक्ताः।

कस्तर्हि? **स शर्धत्** शर्धतिरुत्साहार्थ उत्सहतामागन्तुम्। **अर्यः** '**ऋ गतौ** (धा०१.९८३; ३.१६) इत्यस्य शुद्धस्याप्यधिपूर्वार्थे वर्तमानस्येदं नेश्वरताम्। बाहुलकत्वाच्च कर्तरि कृत्प्रत्ययः। स इति तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। अर्योऽधिगन्ता ज्ञातेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः '**तर्डति वै यज्ञो विदुषा गच्छता य मे समृद्धं भविष्यति**'। अयमेतत् समर्थयिष्यति। **विषुणस्य** विषमस्य **जन्तो**र्जननधर्मिण आत्मनो यज्ञस्य वा। **मा** च **शिश्नदेवा अपि** शिश्नेन ये च नित्यं दीव्यन्ति क्रीडन्ति ब्रह्मचर्यवर्जितास्ते अपि **गुर्ग**मन्। **ऋतं** यज्ञं नोऽस्माकम्।

अथवा ऋतमत्र सत्यमुच्यते। ऋ जुर् इत्येतावपि शुद्धावधिपूर्वार्थे द्रष्टव्यौ। सत्यं परमार्थमस्माकमधिगमनज्ञासिषुरित्यर्थः। शिश्नं श्नथतेस्ताडनार्थस्य। ताड्यते हि तेन स्त्री संभोगकाले। तथा चोर्वश्या उक्तम् '**त्रि स्म माह श्नथयोवै॒तसेन**' (ऋ०१०.९५.५) इति।

जामिरित्यनवगतम्। अनेकार्थं च। अतीरे बालिशसमानजातीयविषयत्वात्। निगमः-

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः।

।।अथ विंशः खण्डः।।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। (ऋ०१०.१०.१०) आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि। यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्मणि। जाम्यतिरेकनाम। बालिशस्य वा। समानजातीयस्य वोपजनः। उपधेहि वृषभाय बाहुम्। अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम्।। २०।।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। (ऋ० १०.१०.१०)

यमीयमसंवादे यमी यमं चकमे। तां सोऽनया प्रत्याचष्टे। आकारो गच्छानित्यनेन सम्बध्यते। यो न सम्बध्यते सोऽनर्थः। **आगच्छन्** आगमिष्यन्ति। **ता** तानि **उत्तरा** उत्तराणि **युगानि** कालाः कलियुगान्ते ते काला आगमिष्यन्ति न इदानीं वर्तन्त इत्यर्थः। **यत्र** येषु सर्वशास्त्रव्यवस्थापरिलोपा **जामयो** भगिन्यः **कृणवन्** करिष्यन्ति। **अजामि** अविद्यमाना जामिः कर्तृत्वेन यस्य तदजामि भगिन्यामयोग्यमैथुनलक्षणं कर्म। एतज्ज्ञात्वा **उपबर्बृहि** बिभर्तेर्धारणार्थस्य। वर्णस्यापत्त्या भकारस्य बकार उपबर्बृहि एकशयनगतस्य समीपे धारय उपधानीकुर्वित्यर्थः। **वृषभाय** योऽविरुद्धैतत्कर्म रेतो वर्षति स वृषभस्तस्यार्थाय तं परिष्वक्तुमित्यर्थः। **बाहुमात्मीयं चान्यमिच्छस्व** इच्छ कामयस्व। **सुभगे पतिं मत्** मत्तः। अहमयोग्यस्तव पतित्वस्येत्यर्थः।

जाम्यतिरेकनाम। अतिरिच्यत इत्यतिरेकः पुनरुक्तमुच्यते तस्य नाम पुनर्जायमानत्वात्। उदाहरणम्। **'अथ यदसन्नयत् पुरोडाशान्तरेणोपांश्वाज्यस्य यजत्यजामितया'** इति। तथा **'जामि वा एतद् यज्ञे क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ'** इति। बालिशस्य वा अञ्चतिकार्येषु मुग्धः शेत इति बालिशो मूर्खस्तस्य वा नाम। स हि जात एव केवलं न कस्मैचित् पुरुषार्थायालम्। तत्र निगमः पर्येष्यः। **समानजातीयस्योपजनः**। अन्ये बालिशस्य वासमानजातीस्य वेति तुल्यत्वात् संहिताया असमानजातीयस्य वा इत्येवमवच्छिन्दन्ति। सा स्त्रीत्वादेव भगिनी भ्रातुरसमानजातीया इत्युच्यत इति व्याचक्षते।

अथवा **जाम्यतिरेकनाम**। कस्यातिरिच्यमानस्य नाम। **बालिशस्य वा असमानजातीयस्य वोपजनो** जामिः। तौ हि जातावेव केवलं न कस्मैचित् प्रयोजनाय। एको मूर्खत्वात् अपरोऽपरोपकरणत्वात्। तथा चान्यत्र **'जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति'** (निरु०३.६) इति निरवोचत्। इह तूभयोर्जायावाच्ययोः मिरुपजनः। अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातं निगदेन। अथवा **'अन्यो नानेयः'** (निरु०१.६)। **'अति सु इत्यभिपूजितार्थे'** (निरु०१.३)। **'स्त्रीभगस्तथा स्याद् भजतेः'** (निरु०३.१६)। **'पतिः पाता वा पालयिता वा'** (निरु०४.२१) इति निर्वचनतः पुरस्ताद् व्याख्यातम्।

पितेत्यनवगतम्। **'पा रक्षणे'** (धा०२.४७) इत्यस्य। पातेत्यवगमः। **'वा णो लुट् वक्तव्यः'** (अष्टा०७.३.३७ इति सूत्रे वार्तिकम्) इत्येवं वा ण्यन्तस्य वा पायिता अन्यै रक्षयितव्येत्यर्थः। अन्ये तु **'पाल रक्षणे'** (धा०१०.६९) इति धातुमर्थैकत्वं चाहुः।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथ एकविंशः खण्डः।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ (ऋ०१.१६४.३३; अथर्व०९.१०.१२) द्यौर्मे पिता। पाता वा पालयिता वा जनयिता। नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम्। बन्धुः सबन्धनात्। नाभिः सन्नहनात्। **'नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते'** (तु०तै०सं०६.१.७.२) इत्याहुः। एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते। सबन्धव इति च। ज्ञातिः संज्ञानात्। उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तः। उत्तान उत्ततान ऊर्ध्वतानो वा। तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः। शंयुः सुखयुः। **'अथा नः शं योररपो दधात॥'** (ऋ०१०.१५.४) रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्। अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते। **'तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये।** (तै०सं०२.६.१०.२) इत्यपि निगमो भवति। गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये॥ २१॥

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ (ऋ०१.१६४.३३)

दीर्घतमा आह। **द्यौर्मे** मम **पिता** यः स **जनिता** जनयिता। कथम्? उच्यते। **नाभिरत्र** नाभिभूतो भौमो रसः। अत्र तिष्ठतीति शेषः, ततश्चान्नं जायते। अन्नाद्रेतः। रेतसो मनुष्याः। एवं पारम्पर्येण जननहेतो रसस्याधारभावाद् द्यौर्जनयिता ततश्च मम पिता। **बन्धुः** शरीरस्य बन्धनकशरीरात्मना परिणमयित्रीत्यर्थः। **मे** मम **माता** मातृभूता। अथवा बन्धुशब्दोऽत्र जातिवचनः। संज्ञातिर्मतेत्यनेन विशेष्यत इति। **पृथिवी मही** महती **इयम्।** किञ्च यदिद**मुत्तानयोश्चम्वो**र्द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये **योनिः** स्थानमन्तरिक्षाख्यातम्। **अत्र** स्थित इति शेषः। **पिता** पालयिता पर्जन्यो **दुहितु**र्दूरे निहितायाः पृथिव्याः।

अथवा सस्यवत्ताया जनयितृत्वात् पितैव पर्जन्यः पृथिव्याः पृथिवी चास्य दुहिता। स तस्या वृष्टिप्रदानद्वारेण सस्यनिष्पत्तिफलं **गर्भमाधाद्** आधत्ते। **बन्धुः सम्बन्धनात्** समबन्धो हि सः। **नाभिः सन्नहनात्।** किं तत्र सन्नहनम्? उच्यते। **नाभ्या सन्नद्धाः** परिवेष्टिता **गर्भा जायन्ते।** अतः सन्नहमाना नाभिरित्याहुः। प्रत्यक्षेणापि चैतत् स्वयमपि दृश्यत एव। **एतस्मादेव** सन्नहनात् सम्बन्धनाच्च **ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते। सम्बन्धव इति च** समाना हि तेषां नाभिर्मातुः। माता मह्यवयवभूता। बन्धुश्च माता। माता मही वा।

ज्ञातीः संज्ञानात्। प्रसङ्गेन ज्ञातिनिर्वचनम्। स हि संज्ञायते मातृपितृसम्बन्धात्। **उत्तान उत्ततान** ऊर्ध्वं ततो विस्तीर्णो नः प्राणो निश्वासलक्षणो यस्य स उत्तान **ऊर्ध्वतानो वा।** तानो विस्तारो निश्वासस्य स ऊर्ध्वं यस्य स उत्तानः।

शंयोरिति द्वैपदमेतदनवगतम्। द्वे नात्मनस्ततः शमित्येकमनवगतम्। शमनमित्यवगमः। योरिति द्वितीयम्। अन्यस्यापि यावनमिति। द्वयोरप्येकमेवोदाहरणम्।

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।

त आ गुतावसा शंतमेनाथा नः शं योरंरपो दंधात।। (ऋ० १०.१५.४)

शंयो नाम यामायनस्तस्यार्षम्। हे **बर्हिषदः पितरः**। परस्तात्तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। येषा**मूति** चतुर्थ्या। अत्र **'सुपां सुलुक्'** (अष्टा०७.१.३९) इति पूर्वसवर्णः। ऊतये अवताय तर्पणाय। **अर्वागित्या**गतेत्यनेन संबध्यते। **इमा** इमानि **वो** युष्माकं **हव्या** हवींषि चकृमा कृतवन्तो वयम्। **जुषध्वं** सेवध्वम्। **ते** एतानि तदर्थश्च **अर्वागा**गत आगच्छत। **अवसा शन्तमेन 'इत्थम्भूतलक्षणे'** (अष्टा०२.३.२१) इत्येवमेषा तृतीया। सा च ससम्बन्धत्वं प्रतिपादयति। अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदिति यथा। पालनेन सुखतमेन यत्पालनमतिशयेन सुखं तेन सबन्धः। तदर्थं गृहीत्वेत्यर्थः। **अथ** अनन्तरं च **नो**ऽस्मभ्यम्। **शंयोः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (अष्टा०६.१.१५८) इत्येकस्मिन् पदे नैकोदात्तत्वस्यासम्भवाच्छंयोरित्यनयोश्च द्वयोरप्युदात्तत्वात् द्वे ते पदे। शमनं शमुपशमनमुत्पन्नानां रोगाणां तत् शम्। योर्यावनं पृथग्भावोऽसंबन्ध उत्पन्नस्य मानैर्भयैः। तं **चारपो** रपो रिप्रमिति पापनामनी भवत इति पापानां शमनयावनयोश्चेदं विशेषणं पापशमनं यावनं चेति। अथवा एतदपि पृथगेव। प्रां प्रापत्वं च दधाति धत्त एव एते द्वे पदे।

क्वचित्तु शंयोरित्येवं रूपमेवैकम्। तत्प्रदर्शनाय अथापि शंयुरित्यादि। शंयुर्नाम बृहस्पतेः पुत्र इति सोऽपि शंयोरित्यनेनोच्यते **'तच्छंयोरावृणीमहे'** इत्यत्र। प्रसङ्गेनेदं श्रुतिसारूप्यात् भिन्नस्वरस्यापि शंयोरित्येकपदस्यार्थवचनम्। एकपदत्वमेकोदात्तत्वात्। अभ्यस्यत एवैको यो नित्यमुदात्तः। आदिस्तु शमित्यनुदात्तः।

तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः।
ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।। (मैत्रा०सं०४.१३.१०)

बार्हस्पत्यः शंयुराह। **तच्छंयोः** शंयुनाम्नोऽस्मदीयस्यान्तरात्मनोऽर्थाय वयम**आवृणीमहे** आभिमुख्येन वृणीमहे प्रार्थयामहे। किं तत्? **गातुं यज्ञाय** शमनं यज्ञस्य देवान् प्रति **गातुं** यज्ञस्य पतये गमनमेव यज्ञपतेः स्वर्गे। किञ्च **दैवी स्वस्तिरस्तु नः** देवप्रभवा च स्वस्तिरस्माकम्। **स्वस्ति**रेव **मानुषेभ्यः**। देवाश्चास्माकं मनुष्याश्च स्वस्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। **ऊर्ध्वं** चैतद् देवलोकं **जिगातु** नित्यं गच्छतु। **भेषज**मौषधं भेषजं सुखं वा। औषधभूतत्वात् सुखभूतत्वाद् यज्ञोऽत्र भेषजमुच्यते। कुत एतत्? **'ऊर्ध्वा नो यज्ञो देवलोकं गच्छतु इत्येवैतदाह'** इति शतपथे विवरणात्। किञ्च **शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे** (ऋ०१०.१६५.१) मानुषेभ्यो गवादिभ्यश्चेत्यर्थः।

इति स्कन्दस्वामिकृतायां निरुक्तवृत्तौ नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य तृतीयः पादः।
एकविंशश्च खण्डः समाप्तः।

॥अथ चतुर्थः पादः॥

अथ द्वाविंशः खण्डः।

अदितिरदीना देवमाता॥ २२॥

अदितिरित्यनवगतम्। अनेकार्थत्वञ्च दर्शनभेदेन। कथम्? ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणः। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः। यद्यपि च **'द्यतेः'** (धा०४.४२) क्तिनि **'द्यतिस्यति'** (अष्टा०७.४.४०) इति त्वेवं सिध्यति अदितिरिति। तथापि द्यतेर्नित्यं विपूर्वत्वादनन्वयाच्च **'दीङ् क्षये'** (धा०४.२८) इत्यस्य छान्दसं रूपं द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तम् **'न संस्कारमाद्रियेत अर्थनित्यः परीक्षेत'** (निरु०२.१) इति। अतः सर्वेषु पक्षेष्वखण्डनस्यासम्भवादनवगतत्वमुच्यते।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

अदि॑तिर्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥ (ऋ०१.८९.१०) इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे। एनान्यदीनानीति वा। **यमेरि॒रे भृग॑वः॥** (ऋ०१.१४३.४) एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः॥ २३॥

भाष्यटीका

अदि॑तिर्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥ (ऋ० १.८९.१०)

गौतमस्य। षष्ठा चैतदुत्कृष्टम्। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। तदिहानवगतत्वप्रसङ्गादागतं व्याख्यायते। **अदितिर्द्यौः**। देवमातृत्वाददितेर्द्युप्रभृतयस्तत्प्रभवाः। तेषां तत्प्रभवत्वाच्च तच्छब्देनैवाभिधानम्। अदितिप्रभवा द्यौरित्यर्थः। एवमेव **अदितिरन्तरिक्षम्**। अदितिप्रभवत्वादित्यर्थः। **अदितिर्माता सः**। स इति लिङ्गव्यत्ययः सैव पिता सैव पुत्रः। **विश्वे देवा अदितिः। पञ्चजनाश्च** गन्धर्वादयः। निषादपञ्चमा वा वर्णाः। किं बहुना। **अदितिरेव जातम्। अदितिरेव** जनिष्यमाणमित्यर्थः। एवं लोके यावद् द्युवियन्मातृपितृपुत्रादिसंमतं तत्सर्वं तत्प्रभवत्वाददितिरिति कृत्स्नस्य जगतस्तत्प्रभवत्वेन। एवमदितेर्विभूतिमाचष्टे मन्त्रो मन्त्रदृग्वा।

अदीनपर्यायो वा नैरुक्तपक्षेऽदितिशब्दो न देवमातृवचनः। अत आह। **एनान्यदीनानीति वा** इति। अक्षीणा द्यौः। तथान्तरिक्षादीनि। अध्यात्ममपि अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च तत्प्रभवत्वे सति सर्वमदितिरिति व्याख्येयम्।

एरिरे इत्यनवगतम्। एरिरे इत्यस्य स्वयमेव च रूपसिद्धिमाचष्टे ईरिति। **'ईर गतौ'** (धा०२.८) इत्ययमुपसृष्ट आ इत्यनेनोपसर्गेण युक्तोऽभ्यस्तः **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (अष्टा०६.१.८) इति कृताभ्यासः। यद्येवं कोऽत्रानवगमः ? उच्यते। उपसर्गस्य उपसर्गान्तरार्थे वृत्तिरनवगमः। अत्र चायं प्र इत्येतस्य स्थाने आङ्।

यमैरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।

अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥ (ऋ०१.१४३.४)

दीर्घतमसः। **यमेरिरे** अभिलषितार्थसिद्धये प्रेरितवन्तः। के? **भृगवः**। **विश्ववेदसं** सर्वस्य वेदितारं सर्वधनं वा। **नाभा** नाभिभूतायां पृथिव्यामुत्तरवेद्यां **भुवनस्य** भूतजातस्य **मज्मना** बलनामैतत्। तद्धेतौ चात्र वर्तते। बलहेतुनानेन हविराख्येनाग्निं तम्। **गीर्भिर्हिनुहि** नुदस्व **आ दमे**। हिनोतिर्वृद्ध्यर्थः। आङ् मर्यादायाम्। वर्धयस्व दमे यज्ञगृहे। कीदृशः सोऽग्निः? उच्यते। **य एक** एव **वस्वो** वसुनो धनस्य **वरुणो न** वरुण इव यथापां पतिर्न राशेः। एवं **राजति** ईष्टे।

जसुरिरित्यनवगतम्। '**जसु मोक्षणे** (धा०४.१०५) '**जसु ताडने** (धा०१०.१३५) इत्यस्य वा एतद्रूपं अरिन् प्रत्यये।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु। नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ (ऋ०४.३८.५) अपि स्मैनं वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम्। वस्त्रं वसतेः। तायुरिति स्तेननाम। संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। तस्यतेर्वा स्यात्। अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु। भर इति संग्रामनाम। भरतेर्वा। हरतेर्वा। नीचायमानं नीचैरयमानम्। नीचैर्निचितं भवति। उच्चैरुच्चितं भवति। जस्तमिव श्येनम्। श्येनः शंसनीयं गच्छति। श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्। श्रवश्चापि पशुमच्च यूथम्। प्रशंसां च यूथं च। धनं च यूथं चेति वा। यूथं यौतेः। समायुतं भवति। **इध्मान एनं जरते स्वाधीः॥** (ऋ०१०.४५.१) गृणाति। मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः। '**प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः॥**' (ऋ०१.१०१.१) प्रार्चत मन्दिने पितुमद्वचः। गौर्व्याख्यातः (निरु०२.५-८)॥२४॥

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।

नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ (ऋ०४.३८.५)

वामदेवस्य। उत अपि। पूर्वर्गपेक्षया चैतदुच्यते। अपि पूर्वस्यामृचि यदुक्तमप्येतदन्यत् किमुच्यते। **स्म** इति पदपूरणः। एवमधिकृतत्वात्सूक्तस्य दधिक्राम्। **वस्त्रमथिं न** वस्त्रमाथनमिव वस्त्रापहारिणमिव **तायुं** स्तेनम्। अयमागतोऽयमागतोऽयमागतोऽयमित्य**नुक्रोशन्ति** प्रतियोद्धुमशक्नुवन्तः। **क्षितयो** मनुष्याः शत्रुभूताः। **भरेषु** संग्रामेषु। **नीचायमानं** शत्रूणां वञ्चनार्थं नीचैर्गच्छन्तम्। किमिव? उच्यते। **जसुरिं न श्येनं** बद्धस्ताडितो वाहनं वेगश्रान्तो जसुरिरुच्यते। श्रान्तमिव श्येनम्। किमर्थं गच्छन्तम्? **श्रवश्च** श्रवो यशो धनं वा तच्च **अच्छ** आप्तुम्। **पशुमच्च** पशुभिश्चावयवभूतैर्बन्धुभिस्तद्वद् **यूथम्।** भाष्ये त्वच्छशब्दोऽहेः। अत्रोपसर्गश्रुतेः क्रियापदमध्याहार्यम्। अभिसन्धायेति।

वस्त्रं वस्तेराच्छादनार्थस्य। आच्छाद्यते हि तत्। **तायुः स्तेनः**। **संस्त्यानं** संहतं पिण्डीभूत**मस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः**। **तस्यतेर्वा स्याद**पक्षयार्थस्य। उपक्षीणो ह्यसाविह लोके आयुषा यदा राज्ञो मारयिष्यमाणत्वात्। परलोकेऽपि धर्मेण अधर्मकारित्वात्। भर इति निर्विवक्षयोपन्यासः। **भरतेर्वा**। ह्रियन्तो हि तदर्थं योधानामायूंषि धनानि च। **नीचैर्निचितम**धश्चितम्। **उच्चैरुच्चितम**ूर्ध्वचितम्। प्रासङ्गिकं चेदमुच्चैः शब्दस्य निर्वचनम्। **श्येनः शंसनीय गच्छति**। उच्चैर्दूरं च गमनात्। प्रशंसायां च। यूयं चेति। प्रशंसाहेतुत्वाद् यशःप्रशंसेत्युक्तम्। **यूथं यौतेः**। **समायुतं भवति**। समायुतं संमिश्रं स्त्रीभिः पुंभिर्बालैर्वृद्धैः पशुभिः।

जरते इत्यनवगतम्। **'गॄ स्तुतौ** (धा०३.२४) इत्यस्य छान्दसोऽयं गकारस्य जकारः। एवं रूपस्य स्तुत्यर्थस्य धात्वन्तरस्याभावात्। निगमः-

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।

तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥ (ऋ०१०.४५.१)

भलन्दनपुत्रो वत्सप्रीर्नाम। तस्यार्षम्। **दिवः परि** दिव उपरि **प्रथमं जज्ञे** जातोऽग्निरादित्यात्मना। **अस्मत्परि** अस्माकमुपरि **द्वितीयं** पार्थिवात्मना **जातवेदा** जातधनो जातविद्यो वा। **तृतीयमप्सु**। आप इत्यन्तरिक्षनाम। अन्तरिक्षे वैद्युतात्मना। **नृमणा** नृषु अनुग्राहकं मनो यस्य स नृमणाः। एवंरूप**मजस्रं** नित्य**मिन्धानो** भवीभिर्दीपयन्ते। तं **जरते स्वाधीः**। अत्र वाक्यपरिसमाप्त्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यो जरते गृणाति स्तौति स स्वाधीः सुप्रज्ञः।

मन्दिने इत्यनवगतम्। **मन्दतेः स्तुतिकर्मणो** घञि मदनं मन्दः स्तुतिस्तद्वान्मन्दी। छान्दसत्वात् **'अत इतिठनौ'** (अष्टा०५.२.११५) नेष्येते। **'एकाक्षरात् कृतो जाते सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ'** इति।

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।

अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ (ऋ०१.१०१.१)

मन्दिने स्तुतिमते स्तुत्यायेत्यर्थः। **पितुमत्** पितुरित्यन्ननाम। अन्नेन हविराख्येन संयुक्तम्। **प्रार्चत** अर्चतिनात्र उच्चारणपूर्वकत्वात् स्तुतेरुच्चारणं लक्ष्यते, प्रोच्चारयत हे ऋत्विजः। **वचः** स्तुतिरूपम्। **यः कृष्णगर्भाः** कृष्णवर्णस्य मेघस्य गर्भभूताः। कास्ताः? सामर्थ्यादपः। **निरहन्** हन्तिर्गतिकर्मा सामर्थ्याच्चान्तर्नीतण्यर्थो निर्गमितवान्। **ऋजिश्वना** ऋजुः शवति गच्छति यः स ऋजिश्वा वज्रस्तेन। वयमपि **अवस्यवः** पालनकामाः। **वृषणं** वर्षितारम्। **वज्रदक्षिणं** वज्रो दक्षिणे हस्ते यस्य तं वज्रदक्षिणम्। **मरुत्वन्त**मिन्द्रम्। **सख्याय** स्तुत्यस्तोतृलक्षणाय स्तोतुमित्यर्थः। **हवामहे** आह्वयामः।

गौरित्यनेकार्थः। स निर्वचनतोऽभिधेयतश्च पुरस्तात् सप्तमे व्याख्यातः। तत्र यदुक्तम् **'अथाप्येको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते'** इत्याद्युपक्रम्य **'सोऽपि गौरुच्यते। अत्राह गोरमन्वत'** (निरु०२.६) इति तस्य तदुद्दिष्टस्यायमवसर इति व्याख्यायते।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंश खण्डः।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे।। (ऋ०१.८४.१५; अथर्व०२०.४१.३) अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नाम। अपीच्यमपगतम्। अपचितम्। अपिहितम्। अन्तर्हितं वा। अमुत्र चन्द्रमसो गृहे। गातुर्व्याख्यातः (निरु०४.२१)। '**गातुं कृणवन्नुषसो जनाय।।**' (ऋ०४.५.१) इत्यपि निगमो भवति। दंसयः कर्माणि। दंसन्त्येनानि। '**कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः**' (ऋ०१०.१३८.१) इत्यपि निगमो भवति। '**स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः।।**' (ऋ०१.९४.२) स तुताव नैनमंहतिरश्नोति। अंहतिश्चांहश्चाहुंश्च हन्तेः निरूढोपधाद् विपरीतात्। '**बृहस्पते चयस इत्पियारुम्।।**' (ऋ०१.१९०.५) बृहस्पते यच्चातयसि देवपीयुम्। पीयतिर्हिंसाकर्मा। वियुते द्यावापृथिव्यौ वियवनात्। '**समान्या वियुते दूरे अन्ते।।**' (ऋ०३.५४.७) समानं संमानमात्रं भवति। मात्रा मननात्। दूरं व्याख्यातम् (निरु०३.१९)। अन्तोऽततेः। ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति। अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते। **ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः।।** (यजु०८.२०) ऋध्नुवन्नयाक्षीः। ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च। अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे। अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। **अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व। (श्रवस्यतामजाश्व।)** (ऋ०१.१३८.४) अस्यै नः सातय उपभव। अहेळमानोऽक्रुध्यन्। ररिवान्। रातिरभ्यस्तः। अजाश्वेति पूषणमाह। अजाश्वा अजा अजनाः। अथानुदात्तम्। **दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्।** (ऋ०१०.८५.३९; अथर्व०१४.२.२) दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु स शरदः शतम्। शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति। शीर्णा आप इति वा। अस्येत्यस्या इत्येतेन व्याख्यातम्।। २५।।

भाष्यटीका

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे।। (ऋ०१.८४.१५)

गौतमस्य। **अत्राह** अहनिपातो विनिग्रहार्थीय एवशब्देन समानार्थीयः। अत्रैव **गोः** सुषुम्नाख्यस्य सूर्यरश्मेः। **अमन्वत** अमंसत मतवन्तः। के? अन्ये रश्मयः। किमिदं नाम? **नाम** नमनं प्रह्वीभावमनुप्रवेशमित्यर्थः। **त्वष्टुः** पञ्चम्येषा। आदित्यस्य सकाशात्। **अपीच्यं** अपेत्य चितं स्थितम्। अथवा **अञ्चतेर्गत्यर्थस्य** (धा०१.१८८) अनेकार्थत्वाद् धातूनामञ्चतिनार्थस्येदं रूपम्। अन्तर्हितनाम वा। अवगच्छतमाच्छादितं वा चन्द्ररूपेणेत्यर्थः। **इत्था** अमुत्र **चन्द्रमसो गृहे** गृहभूते मण्डले।

गातुरित्यनवगतम् अवसरप्राप्तं तत्पुरस्तात्। तत् शंयोः प्रसङ्गेन व्याख्यातं गमनं जनायेति।

दंसय इत्यनवगतम्। **कर्माणीत्यभिधेयवचनम्।** **दसयन्ति एनानि** धातुकारकविशेषप्रदर्शनम्। 'दसि

दंसनदर्शनयोः' (धा०१०.१४२)। दर्शयन्ति हि तानि तत्कारिणो दृश्यन्त इति वा दंसयः। अथवा **'तसूपक्षये दसु च'** (धा०४.१०६ १०७) इत्यस्य। उपक्षेतव्यानि हि तानि अन्तन्नेतव्यानीति। निगमः-

तव॒ त्य इ॑न्द्र स॒ख्येषु॒ वह्न॑य ऋ॒तं म॑न्वा॒ना व्य॑दर्दिरुर्ब॒लम्।

यत्रा॑ दश॒स्यन्नु॒षसो॑ रि॒णन्न॒पः कुत्सा॑य॒ मन्म॑न्न॒ह्य॑श्च दं॒सय॑ः॥ (ऋ०१०.१३८.१)

अङ्ग औरवस्तस्यार्षम्। **तव त्ये** ते हे **इन्द्र सख्येषु**। सप्तमीश्रुतेर्वर्तमान इति शेषः। सखीभूता इत्यर्थः। **वह्नयो** बलवन्तो वोढारः स्वकर्मणा मरुतोऽश्वा वा। **ऋतं मन्वना** ऋतमुदकं तत्रावबुध्यमानाः। **व्यदर्दिरु**रवदारयन्ति। **बलं** मेघम्। कस्मिन् काले? उच्यते। **यत्र** यस्मिन् काले। **दशस्यन्** दशस्यतिदार्नकर्मा ततो वर्तमाने लटि छान्दसमेतद् रूपम्। ददातीत्यर्थः। काः? **उषसः**। पूजायां बहुवचनम्। माध्यमिका वाचः। **रिणन्** रिणोतेर्गतिकर्मण (धा०६.१२४) एतद्रूपं पूर्ववत्। गच्छन्ति च। **अपो** मेघस्थाः प्रति **कुत्साय** कृन्ततेः कुत्सः कर्षकोऽभिप्रेतः। स हि भूमिं कृन्तति तस्यार्थाय। **मन्मन्** मन्यत इत्यर्चतिकर्मा। लुप्तविभक्तिकं चेदं द्रष्टव्यम्। कुत्सस्य विशेषणम्। अपां कुत्साय मन्मने स्तोत्रे अपो मन्मनस्तुत्याः। **अह्नश्च दंसयो**ऽहिर्मेघस्तस्मिन् भवस्तन्निमित्त इत्यर्थः। अह्नो व्यत्ययेन चैकवचनम्। छान्दसत्वात्। मेघनिमित्तानि कर्माणि वर्षणादीनि यस्मिन् काले वर्षास्वित्यर्थः।

तूतावेत्यनवगतम्। तुतावेत्यवगमः।

यस्मै॒ त्वमा॒यज॑से॒ स सा॑धत्यन॒र्वा क्षे॑ति॒ दध॑ते सु॒वीर्य॑म्।

स तू॑ताव॒ नैन॑मश्नोत्यंह॒तिरग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ (ऋ०१.९४.२)

कुत्सस्यार्षम्। **यस्मै त्वं** यस्यार्थाय त्वमायजसे। आङ् मर्यादायाम्। यथाशास्त्रं यजसि देवान् दैव्ये होतृत्वे वर्तमानः। **स साधति** साधयत्यात्मनोऽभिप्रेतानि। **अनर्वा** अप्रत्यृतोऽपराश्रितश्च। **क्षेति** क्षीयति निवसति स्वस्मिन् स्थाने। **दधते** धारयति चात्मनि प्राप्नोतीत्यर्थः। **सुवीर्यं** शोभनं वीर्यम्। **स** एव **तूताव** तुवतिर्वृद्ध्यर्थः। सर्वां वृद्धिम**श्नोति नैनं** व्याप्नोति पापं वधो वा। यत एवमतो ब्रूमः। हे **अग्ने सख्ये** स्तुत्यस्तोतृलक्षणे वर्तमाना इति शेषः। **मा रिषाम** मा हिंसिष्महि केनचिद्वयं **तव**।

अंहतिरंहश्चांहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद्विपरीतात्। हन्तेरुपधाया अकारः सन्निकृष्य ऊढः प्रापितो नीत आदौ यस्य स निरूढोपधः। यावपि हकारनकारावयवौ तावपि विपरीतौ यस्य स विपरीतावयवत्वाद् विपरीतः। भीमभामावदुत्तरपदलोपेन च। प्रसङ्गेन चात्र अंहोऽहुशब्दयोर्निर्वचनम्। अंहतिशब्दस्यैव पठितत्वात्।

चयसे इत्यनवगतम्। चातयसीत्यवगमः।

ये त्वा॑ देवोस्रि॒कं मन्य॑मानाः पा॒पा भ॒द्रमु॑प॒जीव॑न्ति प॒ज्राः।

न दू॒ढ्ये॒ ३ अनु॑ ददासि वा॒मं बृह॑स्पते॒ चय॑स॒ इत्पिया॑रुम्॥ (ऋ०१.१९०.५)

अगस्त्यस्येदमार्षम्। **ये त्वा** हे **देव** उस्त्रिकमुस्रविणं भोगानां **मन्यमानाः**। ऋजुरयं वराको न मुधैव भागान् ददातीत्येवं मन्यमाना इत्यर्थः। अथवा उस्त्रिकमिति। उस्रियाशब्दो गोनाम छान्दसोऽयं यकारस्य ककारादेशः। गौणश्चायमत्र गौर्वाहीक इति यथा। उस्त्रिकं गां गोसदृशं मूर्खं मन्यमाना इत्यर्थः। **पापा भद्रमुपजीवन्त्येव** केवलं

न यजते न स्तुतिं वदति च। **पज्राः** प्राजितधना ईश्वराः सन्त इत्यर्थः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तेभ्यो **न दूढ्ये** व्यत्ययेनात्रैकवचनं पापबुद्धिभ्यः। **अनुददासि** आनुपूर्व्येण **ददासि** त्वम्। **वाम** प्रशस्यं धनम्। किं तर्हि? **बृहस्पते चयसे** चातयसि त्वं तान्। इदिति पदपूरणः। **पियारुं** पीयतिर्हिंसतिकर्मा। अत्रापि व्यत्ययेनैकवचनम्। पियारुं देवानां हिंसकान् हिंस्यान् वा। पीयतिर्हिंसार्थः **'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति'** (ऋ०१.१४७.२) इति यथा।

वियुते। किमर्थमिदं यावता अवगतं चैतदेकार्थं च? उच्यते। यौतेर्विरुद्धानेकार्थविषयत्वप्रदर्शनार्थः। अयं हि युर्मिश्रणे पठ्यते। प्रयुज्यते च **'जनयद्यै त्वा संयौमि'** (यजु०१.२१) इति। ततोऽर्थान्तरेऽपि वृत्तिं दर्शयितुमस्य पाठः। मिश्रणविपरीतपृथग्भावेऽपि दर्शनात्। न चायं वेरुपसर्गस्यार्थः। शुद्धस्यापि प्रयोगे प्रतीतिदर्शनात्। युतं धनमस्य भोजनमस्य युतोऽयमिति पृथग्भूत इति गम्यते। अतोऽत्र विशब्दः क्रियाविशेषणे वैविध्यादौ द्रष्टव्यः। द्यावापृथिव्यावभिधेये। वियवनादिति निर्वचनम्। विमिश्रणं सह सत्योः पृथक्पृथग्भवनम्। तथाहि मैत्रावरुणीयानां श्रुतिः **'इमे वै सहास्तां ते शम्यामात्रं न्यैताम्'** (मैत्रा० सं०४.१.७) इति। बह्वृचानाम् **'इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ व्येत्तानां वर्षन्ते न समन्तयदित्'** (ऐत०ब्रा०१९.५) इति। निगमः-

समान्या वियुते दूरे अन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके।

उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम॥ (ऋ०३.५४.७)

विश्वामित्रस्य। **समान्या** आकारो द्विवचनस्थानिकः। परिमाणतः समाने इत्यर्थः। **वियुते** सह सत्यौ विमिश्रिते पृथग्भूते इत्यर्थः। **दूरे अन्ते** द्यावापृथिवीनामधेयमेतत्। तयोर्ह्यतिमहत्त्वाद् दूरतस्तेन तथोच्यते। **ध्रुवे पदे** ध्रुवं नित्यं तत्स्थानं शाश्वतं यत् स्थानमन्तरिक्षाख्यं तस्मिन्। **तस्थतु**स्तिष्ठतः। तथा च **'सर्वमिदमाकाशं प्रोतं च'** इति श्रुतिः। **जागरूके** जागरणशीले धृतिद्योतनादौ स्वव्यापारे प्रमादवर्जिते इत्यर्थः। **उत स्वसारा** अपि च स्वसारौ भगिन्यौ। एकस्मात् कारणात्मनो जातत्वात्। **युवती भवन्ती** सर्वदैव परस्परोपकारकरणेन मिश्रीभवन्त्यौ। **आदि**ति पदपूरणः। इवार्थे वा। **ब्रुवाते** कथयत इव स्तोतृभ्यः। **मिथुनानि** द्विवचनसंयुक्तानि। **नाम** बहुवचनस्यात्र लुक् नामानि स्वानि स्वधे पुरन्ध्री इत्यादीनि।

समानं संमानमात्रं भवति समानपरिमाणम्। **मात्रा मानात्** परिमाणमित्यर्थः। **दूरं** व्याख्यातम्। द्रुतं भवति दूरयं वेति। **अन्तोऽन्ततेः। 'अत सातत्यगमने'** (धा०१.३८) अन्तो ह्यादेर्मध्याच्च सततगतो भवति। न कदाचिदादौ मध्ये वास्ति।

ऋधगित्यनवगतम्। अनेकार्थं चावगतम्। अनेकार्थं दर्शयति पृथग्भावस्येत्यादिना। पृथग्भावोऽनुप्रोच्यते येन तत् पृथग्भावस्यानुप्रवचनम्। वाचकमित्यर्थः। अत्र भाष्यकारेण नियमो नोक्तः। उच्यते।

यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग् यद्वा स्वे सदने यत्र वासि।

अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वान्त्सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः॥ (ऋ०६.४०.५)

भरद्वाजस्य। **यद्** यदि त्वं हे **इन्द्र! दिवि** द्युलोके **पार्ये** पारयितव्ये दूरवर्तित्वाद् यत्नेन गन्तव्य इत्यर्थः। **यदृधक्** यदि वा पृथग् द्युलोकाद् **यद्वा** यदि वा **स्वे सदने** अन्तरिक्षे **यत्र वा** क्व चाप्य**सि**। **अत** आगत्येति शेषः। **नो**ऽस्माकं स्वभूतं **यज्ञमवसे** तर्पणायात्मनः। **नियुत्वान्** नियुतोऽश्वास्तैस्तद्वान्। **सजोषाः** संप्रीयमाणः **पाहि**

रक्षादिभ्यो रक्ष। यद्वा **'पा पाने'** (धा०१.९५०) इत्यस्येदं छान्दसत्वात् पिबादेशाभावे रूपम्। पिब सोमम्। हे **गिर्वणो**! गीर्भिर्वननीय आभिः सहेत्यर्थः।

अनेकार्थतां दर्शयितुमाह अथापीत्यादि।

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन्नग्ने॒ होता॑र॒मवृ॑णीमही॒ह।

ऋध॑गया॒ ऋध॑गु॒ताश॑मिष्ठाः प्रजा॒नन् य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान्॥

(तैत्ति०सं०१.४.४४.२, मैत्रा०सं०१.३.३८)

अध्वर्यवे मन्त्रः। **यद्** यस्माद् **अद्य त्वा प्रयति** प्रगच्छति प्रोत्सर्पतीत्यर्थः, **यज्ञे अस्मिन्** हे **अग्ने! होतारमवृणीमहि** वृतवन्तो वयम्। **इह** वेद्याम्। **ऋधगया** यस्माच्च होतृत्वात् कारणाद् अन्येषामपि यष्टॄणा**मृधक्** अवृद्धमपि यागमृद्धं कुर्वन् **अयान्** अयाक्षीद् देवान्। **ऋधक् उत**शब्द एवार्थे अवृद्धां च स्तुतिमृद्धोमे कुर्वन्। **अशमिष्ठाः** शममान (निरु०३.१४) इत्यर्चतिकर्मसु पाठात् शमिरत्र स्तुत्यर्थः। अस्तौषीर्देवान्। यस्मादिति वचनात् तस्मादित्यध्याहार्यम्। तस्मात् प्रयोजनात् स्वमधिकार**मुपयाहि यज्ञ**मस्मदीयम्। **विद्वान्** जानंश्चास्मद्भक्तताम्।

अस्या अस्येति पदद्वयं सन्निहितार्थप्रतिनिर्देशार्थं प्रथमनिर्देशादेशविषयत्वेन वर्तमानत्वादनेकार्थत्वमिति समाम्नातम्। तद्विषयप्रज्ञापनार्थं चाह-**उदात्तमिति**। प्रत्येकविशेषणे एवमेव वक्ष्यमाणव्याख्यानातिदेशोऽवकल्पते अस्या इत्येतेनेति। यदुदात्तं तत्प्रथमादेशविषयं द्रष्टव्यम्। यदनुदात्तं तदन्वादेशविषयम्। उदात्तानुदात्तव्यपदेशश्च **'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्'** (अष्टा०वा०५.२.९४) इत्युदात्तवदुदात्तमिति द्रष्टव्यम्। उत्तरपदलोपो वा भीमादिवत् उदात्तावयवमुदात्तमिति। **'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (अष्टा०६.१.१५२) इति सर्वोदात्तताया असंभवात्।

कः पुनः प्रथमादेशो द्वादेशो वा? उच्यते। केचित्तावत् प्रथमे पादे अर्धर्चे वादेशः प्रथमादेश इतरोऽन्वादेश इति मन्यन्ते। तथोदाहरणे दर्शनात्। **'अ॒स्या ऊ॒ षु ण॒ः'** (ऋ०१.१३८.४), **'अ॒स्य वा॒मस्य॑'** (ऋ०१.१६४.१) इति। इतरत्रापीति **'दी॒र्घायु॑रस्या॒ यः पति॒ः'** (ऋ०१०.८५.३९) **'तृ॒तीयो॒ भ्राता॑ घृ॒तपृ॑ष्ठो अ॒स्य'** (ऋ०१.१६४.१) इति। तदेतदयोग्यम्। अन्यत्र व्यभिचारात्। **'सु॒प॒र्णं व॑स्ते मृ॒गो अ॑स्या॒ दन्त॒ः'** (ऋ०६.७५.११) **'हिर॑ण्यशृङ्गो यो॑ अस्य॒ पादा॑'** (ऋ०१.११४.९) इति प्रथमेऽप्यनुदात्तत्वात्। तथा **'त्वं नौ॑ अ॒स्य वच॑सश्चिकिद्धि'** (ऋ०४.४.११) इति **'अस्य कुर्मो हरिवो मेदिनं त्वा'** इति तृतीयचतुर्थयोः पादयोरुदात्तत्वश्रवणात्।

अपरे वर्णयन्ति। प्रथमं प्रधानं तस्यादेशः प्रथमादेशस्तद्विषयमुदात्तम्। गुणोपदेशविषयमनुदात्तम्। अगुणभूतस्य पश्चादादेशाद् इति। गुणान्वादेश इति। एतदपि पूर्ववद् भाष्यकारप्रदर्शितोदाहरणविषयमेव स्यात्। अन्यत्र व्यभिचार एव **'मृगो अ॑स्या॒ दन्त॒ः'** (ऋ०६.७५.११) इति प्राधान्यमनुदात्तत्वं चेति। **'गु॒ह्यु॒र्वो अ॑स्य रश॒नाम्'** (ऋ०१.१६३.२) इति प्राधान्यमनुदात्तव्यं च। **'त्वं नौ अ॒स्य वच॑सः'** (ऋ०४.४.११) **'अस्य कुर्मो हरिवः'** इत्यप्राधान्येऽप्युदात्तत्वात्। तस्मात् पूर्ववन्न वक्तव्यमेतद् व्याख्यानम्।

कस्तर्हि प्रथमादेशः? उच्यते। अन्येन शब्दान्तरेणादिष्टस्य प्रथममेव य आदेश उच्चारणं स प्रथमादेशः। यथा **'अस्या ऊ षु णः'** (ऋ०१.१३८.४) इत्यर्थसातेः प्रथमादेशत्वादस्या इति तद्विषयत्वादुदात्तम्।

नन्वत्रापि सातेः सातिशब्देनादिष्टत्वान्नैव प्रथमादेशः। उच्यते। नैतदेवम्। सातिब्देन हि सातिमात्रं निर्दिष्टं न तु सन्निहिता सातिः **'दीर्घायुरस्या यः पतिः'** (ऋ०१०.८५.३९) इति यथा। अत्र हि **'पुनः पत्नीमग्निरदात्'** (ऋ०१०.८५.३९) इति पूर्वार्धर्चवाक्ये समवायप्रतिपत्त्यर्थः पत्नीशब्देनादिष्टायाः पत्न्या उत्तरार्धर्चे समवायप्रतिपत्त्यर्थं **'दीर्घायुरस्या यः पतिः'** (ऋ०१०.८५.३९) इति सन्निहितायाः पत्न्याः पश्चादादेशोऽन्वादेश उच्यते। अतोऽत्रानुदात्तत्वम्। एकद्विपर्ययात्तु सातेः प्रथमादिष्टत्वात्तद्विषयमस्या इत्युदात्तत्वम्। अतश्च युक्तमुक्तम् उदात्तं प्रथमादेशे **'अस्या ऊ षु णः'** (ऋ०१.१३८.४) इति। अनुदात्तमन्वादेशे **'दीर्घायुरस्या यः पतिः'** (ऋ०१०.८५.३९) इति। तथा च व्याकरणस्मृतिः **'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तः'** (अष्टा०२.४.३२) इति।

एवं प्रथमादेशान्वादेशविषयत्वेन प्रतीतोदात्तत्वानुदात्तत्वयोरस्या अस्य शब्दयोरनेकार्थत्वप्रतिपादनार्थत्वमाह-**तीव्रार्थतरमि**त्यादि। तीव्रः स्फुटोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तीव्रार्थमतिशयेन तीव्रार्थतरं यदुदात्तं तदतिशयेन स्फुटप्रयोजनम्। तदर्थस्यान्येनानादिष्टत्वात्। तत एव प्रथमः प्रतीतेः। अतिशयेनाल्पोऽल्पवानर्थः प्रयोजनं यस्य तदल्पीयोऽर्थोऽतिशयेनाल्पीयोऽर्थतरं यदनुदात्तं तदप्रयोजनम्। तदर्थस्यानेनादिष्टसन्निधेरपि प्रतीतेः सम्भवादित्यर्थः।

अत्र च तीव्रार्थाल्पीयार्थयोर्न परस्परापेक्षः प्रकर्षप्रत्ययः। अतुल्यजातीयत्वात्। न हि कृष्णमपेक्ष्य शुक्लतर इति। अतोऽत्र सामर्थ्यात् कल्पिततुल्यजातीयत्वप्रतियोगी द्रष्टव्यः। तीव्रार्थमनुदात्तमिति। तदपेतमुच्यते तीव्रार्थतरमुदात्तमिति। एवमल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तमिति। स्वार्थिको वा तरबुभयत्र। तावदुच्चैस्तावदुच्चैस्तरमिति यथा।

अस्या इत्युदात्तस्योदाहरणम्।

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व। ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः। नहि त्वा पूषन्नतिमन्य आघृणे न ते सख्यमपह्नुवे॥ (ऋ०१.१३८.४)

परुच्छेपर्स्यार्षम्। **अस्या ऊषू** पदपूरणौ। नोऽस्माकं लिप्सिकाया इत्यर्थः। **सातये** षष्ठ्यर्थ एषा चतुर्थी सातेः **'षणु दाने'** (धा०८.२) दानस्य। **उपभुवः** समीपे भव। तेन चात्र तदाभिमुख्यं लक्ष्यते यदेतल्लिप्सितमस्माकं दानमेतस्या अभिमुखो भव चिकीर्षेस्तदित्यर्थः। **अहेळमानः** क्रुध्यति कर्मायं याच्ञयाः क्रोधहेतुत्वेन लोके दृष्टत्वादेवमुच्यतेऽहेळमान इति। **ररिवान्** छान्दसत्वाद् वर्तमाने लटि क्वसावेतद् रूपम्। नेदर्दिरित्यर्थः। **अजाश्व** अजजातीया अजाकारा वा अश्वा यस्यासावजाश्वस्तस्य सम्बोधनं हे अजाश्व। **श्रवस्यतां** श्रवो धनं तदिच्छतां धनकामानामस्माकं हे **अजाश्व**! पूर्वेण पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् **'अज गतिक्षेपणयोः'** (धा०१.२३०) इत्येवं व्युत्पाद्यते। अजानां च गमनस्वभावकाश्चाश्वा वा यस्येत्यर्थः। कस्मादेवमुच्यते। **ओ षु त्वा ववृतीमहि** यस्मात् त्वा त्वाम् आ ऊ ओ इति पदपूरणाः सुष्ठु आवर्तयामो वयम्। केन? **स्तोमेभिः** स्तोमैस्तीव्रस्तुतिभिः। **दस्म** उपक्षयितव्यस्तमसां तस्कराणां वा। **साधुभिः** शोभनैर्मधुरस्वरसौष्ठवादियुक्तैः। यस्माच्च **नहि त्वा** नहीत्ययमेको निपातो नशब्दस्यार्थे न त्वाम् हे **पूषन्**! **अतिमन्ये** अतीत्ययमवेत्यस्य स्थाने

अवमन्ये कदाचिदप्यहम्। हे **आघृणे** 'घृ क्षरणदीप्त्योः' (धा०३.१४) इत्यस्य घृणिर्दीप्तिरागतदीप्तिके **न ते** न च तव **सख्यं** स्तुत्यस्तोतृलक्षण**मपह्नुवे** अपलपामि अपनयामीत्यर्थः। यथैव पुरा एवमिदानीमपि स्तौम्येवेत्यर्थः।

अत्र भाष्ये केचित् '**अ॒स्या ऊ॒ षु ण॒**' (ऋ०१.१३८.४)' इति चतुर्थ्याः षष्ठ्याश्च संप्रसज्येत अपि उपभुव इत्येतेन न सम्बध्यते। सातय इत्येतेन व्यवधानात्। नहि अनन्तरसम्बन्धकल्पनायां सत्यां व्यवहितसम्बन्धकल्पना न्याय्या। अतः सातय इत्येतेनैव सम्बध्यते। अस्या इति षष्ठ्यन्तं न चतुर्थ्यन्तम्। तथा च पदकारः षष्ठ्यन्तमेवावधृतवान् अस्या इति स्थितिः। सातय इत्येतत्त्वङ्गत्वाद् व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थे कल्पितचतुर्थीकम्। अस्या इत्यस्य समानाधिकरणं विशेषणं चैतत्। सामानाधिकरण्येन बलेन अस्या इत्यस्य चतुर्थ्यन्तकल्पना अयुक्ता। तस्मात् '**अस्या नः सातये**'; इति पाठः। '**अस्यै नः सातये**' इत्यपपाठः। ररिवानिति '**रा दाने**' (धा०२.४७) इत्ययं '**लिटि धातोः**' (अष्टा०६.१.८) इत्येवं कृताभ्यासः। अजाश्वेति पूषणमाह अजा अस्या अश्वा इत्यपरम्। केचित् अत्या अतना इति पचतिना साकं पठन्ति। तदसत्। अत्यशब्दस्येहाभावात्। ईर्मान्तास इत्यत्र च कृतत्वात्। कस्तर्हि पाठः ? अजा अस्याश्वा अजाता इति। अस्येति बहुव्रीह्यर्थस्यान्यपदार्थस्य निर्देशः। अजाना इत्यजशब्दस्य निर्वचनम्। कुत एतदीदृशः पाठ इति। अजाश्वेति बहुव्रीहिर्नान्यपदार्थेन निर्दिष्टस्य काङ्क्षितत्वादन्यत्र चाकृतत्वादजशब्देन निर्वचनस्याकाङ्क्षितत्वात्।

अथानुदात्तमुदाह्रियते-

पुन॒ः पत्नी॑म॒ग्निर॑दा॒दायु॑षा स॒ह वर्च॑सा।

दी॒र्घायु॑रस्या॒ यः पति॒र्जीवा॑ति श॒रद॑ः श॒तम्॥ (ऋ०१०.८५.३९)

आर्यायाः। पित्रा सकृद्दत्तां पुनरेनां **पत्नीं** विवाहकाले **अग्निरदात्। आयुषा सह वर्चसा**। अन्ननामेदम्। अन्नेन सहिताम्। किञ्चित् **दीर्घायुरस्या यः पतिर्यः** पतिरस्याः स दीर्घायुः। **जीवाति** लोडर्थे पञ्चमः, जीवतु। कियन्तं कालम् ? **शरदः शतम्**। दुर्जीवत्वाच्छरदि तत्सम्बन्धाच्छतं प्रार्थ्यते वर्षाणाम्।

शरत् श्रृता ह्यस्यां व्रीह्याद्योषधयो भवन्ति। आश्रिता वा प्रायेण तेषां तत्र ग्रहणस्मरणाद् वैद्यके। **शीर्णा आप इति वा**। वर्षासु सर्वतोऽभिप्लुता या आपो बह्व्यस्ताः शीर्णा विशीर्णा अल्पीभूता अस्यामिति। अस्येति अस्या इत्येतेन व्याख्यातम्। उदाहरणमत्र व्याख्यातं तदुच्यते।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

अ॒स्य वा॒मस्य॑ पलि॒तस्य॒ होतु॒स्तस्य॒ भ्राता॑ मध्य॒मो अ॒स्त्यश्न॑ः। तृ॒तीयो॒ भ्राता॑ घृ॒तपृ॑ष्ठो अ॒स्यात्रा॑पश्यं वि॒श्पतिं॑ स॒प्तपु॑त्रम्। (ऋ०१.१६४.१.) अस्य वामस्य वननीयस्य। पलितस्य पालयितुः। होतुर्ह्वातव्यस्य। तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः। भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागम्। भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा। विश्पतिं सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा। सप्त सृप्ता सङ्ख्या। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति॥२६॥

भाष्यटीका

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ (ऋ० १.१६४.१)

दीर्घतमस आपादपरिसमाप्तेः। द्वितीये पादे तच्छब्दश्रुतेर्योगार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। योऽयं दिवि दीप्यते तस्यास्य **वामस्य** वननीयस्य। **पलितस्य** पालयितुः। **होतुराह्वानार्हस्येत्यर्थः।** **भ्राता मध्यमो** वायुः। **अस्ति** भवति। एकस्मात् कारणादुत्पन्नत्वात्। क्रियाशब्दो वा भ्रातृशब्दः हरतेर्बिभर्तेर्वृष्ट्यर्थः। रश्मिभिराहृतानां भौमानां हर्ता भर्तव्यो वा रसैः। **अश्नोऽ**शनो व्यापी। **तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो** घृतमाहुतिलक्षणं पृष्ठे यस्य घृतेन वा यः स्पृष्टः स घृतपृष्ठः पार्थिवोऽग्निः सो**ऽस्येति**। **अत्र** एषां च मध्ये **अपश्यं** पश्याम्यहम्। **विश्पतिं** विश्वस्य पातारं भौमस्य रसस्य पालयितारं वा रश्मिभी रक्षितारमित्यर्थः। तथा त्वन्यत्र **सप्तपुत्रं** सप्तसंख्याका रश्मयः पुत्राः पुत्रस्थानीया अस्य सप्तमो वा योऽदितेः पुत्र इति इतिहासपक्षे। **'अदितिः पुत्रकामा'** (तै०सं०१.१.९.१-३) इति प्रस्तुतस्यैव मित्रं च वरुण इत्यादिषु सप्तम इति। सर्पणा वा सततगन्तारो रश्मयः पुत्रा रसादानप्रकाशनात् पुत्रवदेनं पुरुणस्त्रातारो यस्य स सप्तपुत्र आदित्यस्तम्। एवमत्र अस्येत्येतद् **'अस्य वामस्य'** इत्युदात्तत्वं प्रथमादेशे वर्ण्यते। **'तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य'** इत्येतदनुदात्तमन्वादेशे। तेनैतयोरप्युदात्तानुदात्तयोरेकमेवोदाहरणम्।

भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः। हरते भागं पित्र्यस्य हि धनस्य। मध्यमोऽपि वृष्ट्यर्थं रश्मिभिराहृतानां भौमानां भागान् हरति। **भर्तव्यो भवतीति वा** सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् बिभृयात् पितृवदिति। अविभागपक्षे भर्तव्यो भ्राता पित्र्येण स्वयं वार्जितेन धनेन। मध्यमो वृष्ट्यर्थं रसैर्भर्तव्यः। **तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं पालयितारं** वेति धात्वन्यत्वम्। अर्थस्त्वेक एव। व्याख्याय चार्थं यस्य पदस्यायमर्थस्तद्दर्शयति विश्पतिमिति। **सप्त सृप्ता संख्या** गता षड्भ्यः सकाशात्। सप्तपुत्रमित्यस्य सप्तसंख्याका रश्मयः पुत्रा यस्येति यदुक्तं निर्वचनं तस्यापवादेनार्थमाह–**सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति।**

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ (ऋ०१.१६४.२; अथर्व०९.९.२; १३.३.८) सप्त युञ्जन्ति रथम्। एकचक्रमेकचारिणम्। चक्रं चकतेर्वा। चरतेर्वा। क्रामतेर्वा। एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति। सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा। इदमपीतरन्नामैतस्मादेव। अभिसन्नामात्। संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः। त्रिनाभिचक्रम्। त्र्यृतुः संवत्सरः। ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। संवत्सर संवत्सन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तः हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा। अजरमजरणधर्माणम्। अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्।

यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते। तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति। **'पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने।'** (ऋ०१.१६४.१३) इति पञ्चर्तुतया। **'पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति'** च ब्राह्मणम्। (श०ब्रा०१.५.२.१६) हेमन्तशिशरयोः समासेन। **'षळर आहुरर्पितम्।'** (ऋ०१.१६४.१२) इति षळृतुतया। अराः प्रत्यृता नाभौ। षट् पुनः सहते। **'द्वादशारं नहि तज्जराय।'** (ऋ०१.१६४.११; अथर्व०९.९.३) **द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्।** (ऋ०१.१६४.४८; अथर्व०१०.८.४) इति मासानाम्। मासा मानात्। प्रधिः प्रहितो भवति। **'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।'** (ऋ०१.१६४.४८; अथर्व०१०.८.४) **'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः।'** (गो०ब्रा०१.५.५) इति च ब्राह्मणं समासेन। **'सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।'** (ऋ०१.१६४.११; अथर्व०९.९.३) **सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोत्राः।** (ऐ०ब्रा०२.१७) इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन॥ २७॥

भाष्यटीका

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ (ऋ०१.१६४.२)

सप्त युञ्जन्ति योजयन्त्यात्मना उदितामात्रमेव **रथम्**। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। रंहितारं गन्तारमादित्यम्। **एकचक्रम्** एकमेव चरितारं दीपितारमित्यर्थः। चरितारं गन्तारमित्यर्थः। उदिते ह्यादित्ये स एवैकश्चरति वा नान्यानि ज्योतींषि तद्रश्मिभिराच्छादितत्वाददृश्यमानत्वात्। स च तैर्युक्त **एकोऽश्वोऽ**शनो व्यापी **वहति** गच्छति **सप्तनामा** सप्त रश्मयो यस्मै रसानभिसंनामयन्ति। सप्तर्षयो वा यं प्रति स्तावकत्वेन नमन्ति स सप्तनामा। उत्तरोऽर्धर्चः संवत्सरस्तुतिः। **त्रिनाभि** नाभित्रयं ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इत्येते ऋतवो नाभिस्थानं यस्य तत् त्रिनाभि। **चक्रं** संवत्सराख्यम्। परिवर्तमानसामान्यात् संवत्सरस्य चक्रव्यपदेशः। **अजरं** जरावर्जितम्। **अनर्वमप्रतिहतम्।** अन्यत्राश्रितत्वेन पराश्रयमित्यर्थः। **यत्र** यस्मिन् **इमा विश्वा** इमानि सर्वाणि भूतजातानि। **अधितस्थुरधिशब्दः 'अधिपरी अनर्थकौ'** (अष्टा०१.४.९२) इत्येवं कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः पदपूरणः। उत्पत्तिप्रलयस्थितिभिरपि स्थानि यदनपेक्ष्य न कस्यचिदुत्पत्तिः स्थितिः प्रलयो वास्तीत्यर्थः।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणमिति। एकचक्रमित्यस्यार्थस्य वचनप्रदर्शनार्थं चात्र चरणस्योपादानम्। परस्ताच्चक्रशब्दनिर्वचनेन चक्रे चङ्क्रमणस्याप्युपादानात् एकचारिणमेकचक्रात्मकमित्यर्थः। **चक्रं च चकतेर्वा चरतेर्वा क्रामतेर्वेति** धात्वन्यत्वम्। अर्थस्तु यश्चरतेः स एव क्रमेरपि। **इदमपीतरं नाम संज्ञा। एतस्मादेवाभिसंनामात्**। न तं हि स्वस्मिन्नामवति।

संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः। संवत्सरस्तुतिरित्यर्थः। **संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन भूतानि** संवासो मैथुनं तद् भूतानि संवत्सरे कुर्वन्ति तान्यत्र संवत्सरादन्यस्य कालस्याभावात्। **ग्रीष्मो गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा** आदित्येन। **वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तो हिमवान्** मत्वर्थे तप्रत्ययः पर्वतो मरुत्त इति यथा।

हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हन्ति हि तदोषधिवनस्पतीन्। **हिनोतेर्वा** वृद्ध्यर्थस्य वर्धते हि तत् स्वस्मिन् काले यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते। अभिगत्य सम उत्पत्त्यादिभिस्त्रिभिरभिसन्तिष्ठन्तीत्यर्थः। कथं पुनर्ज्ञायते संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्च इति, यावता त्रिनाभीत्यादिरुपकल्पनयाऽन्यस्यापि कस्यचित् संभवत्येवेयं स्तुतिः? उच्यते। संवत्सर-स्तुतिप्रायस्त्वादस्यवामीयसूक्ते तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः सर्वावयवैः स्तौति मन्त्रदृग् दीर्घतमाः-

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्न तस्थुर्भुवनानि विश्वा।

तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥ (ऋ० १.१६४.१३)

इत्यत्र तावत् पञ्चर्तुतया। **पञ्चारे चक्रे** ऋतवः पञ्च हेमन्तशिशिरौ तुल्यप्रभावत्वात् समासेनैकः। इतरे चत्वारस्ते अरभूता यस्य तत् पञ्चारस्तस्मिन् चक्रे संवत्सराख्ये। **परिवर्तमाने** तस्मिन् प्रकृतप्रतिनिर्देशोऽयं पूर्वस्यामृचि **'अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षडर आहुरर्पितम्'** इति यत् प्रकृतं **तस्मिन्नातस्थुरा**स्थितानि आरूढानीत्यर्थः। **भुवनानि** भूतजातानि। **विश्वा सर्वाणि**। **तस्य** नाक्षोऽक्षभूत आदित्यः। **तप्यते भूरिभारो** बहुभारेण सर्वभूतैर्बहुभारोऽपि यत्**सनादेव** पुराण एव सन्न तप्यते नापि **शीर्यते**। **सनाभिः** सह नाभ्या। नाभिस्त्रय ऋतवो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इत्येते। आदित्यमण्डलं वा। **'पञ्चर्तवः संवत्सरस्य'** (ऐत०ब्रा०१.१) इति ब्राह्मणम्। पञ्चर्तुतयैव स्तौति। स च **'हेमन्तशिशिरयोः समासेन'**। समासः संक्षेपः। तुल्यस्वभावत्वादेकीकरणम्।

'षडर आहुरर्पितम्' इति षड्तुतया।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्॥ (ऋ० १.१६४.१२)

पञ्चर्तवः पादा यस्य स **पञ्चपाद**स्तं **पितरं** पातारं वा सर्वस्य। **द्वादशाकृतिं** द्वादश मासा आकृतिराकारो यस्य स द्वादशाकृतिस्तम्। **दिवो** द्युलोकस्य। **परे** अपरे **अर्धे** तात्स्थ्यादत्र ताच्छब्द्यं मञ्चाः क्रोशन्तीति यथा। परस्मिन्नर्धे यः स्थित आदित्यस्तत्रेत्यर्थः। **पुरीषिणं** वृष्ट्युदकेन तद्वन्तं संवत्सरमा**हुरर्पितमि**त्येतदनुषङ्ग स्याद् येनादित्यमाहुरर्पितं केचित्।

अथेमे अन्ये उपरे उपरि स्थितमिति शेषः। **विचक्षणं** विविधदर्शनकरमादित्यम्। **सप्तचक्रे** चकनाच्चरणात् क्रमणात् चक्रा रश्मयस्ते सप्त आदित्यद्वारेण सम्बन्धिनो यस्य स सप्तचक्रस्तस्मिन्। **षडरे** षड्भिररभूतैर्युक्ते तस्मिन् संवत्सरचक्रे **आहुरर्पितम्**। यद्यदर्पितं तदधीनं तद् भवति। अतोऽत्रार्पितत्वेन अधीनत्वं लक्ष्यते अधीनमाहुः। केचित्संवत्सरमादित्यस्यायत्तमाहुः। अन्ये आदित्यं संवत्सरस्य। कथं पुनः संवत्सर आदित्यायत्तः, आदित्यो वा संवत्सरस्य? उच्यते। संवत्सरस्तावदहोरात्रनिर्वर्त्यः। तेन स तस्यायत्तः। आदित्यस्यापि संवत्सरावयवभूतैर्ऋतुभि- स्तावदस्य तीव्रत्वमन्दत्वे क्रियेते। गतेश्च कालवैषम्यं दक्षिणोत्तरादिदिग्गमनभेदश्च। अतः सोऽपि संवत्सरायत्तः।

अराः प्रत्यृता नाभौ। प्रत्यृताः प्रतिगताः प्रोता इत्यर्थः। **षट् पुनः** सहतेरभिभवार्थस्य। षट् संख्याभिभूयस्त्वादभिभवन्ति।

इति नवमस्या-(चतुर्थस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

चतुर्थोऽध्यायश्च समाप्तः।

॥अथ पञ्चमोऽध्याय:॥

प्रथम पाद:। अथ प्रथम: खण्ड:।

'सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम्।' (ऋ०१०.१३९.६) सस्निं संस्नातं मेघम्। **'वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा।'** (ऋ०८.२६.१६) वोढृतमो ह्वानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ। नरा: मनुष्या:, नृत्यन्ति कर्मसु। दूतो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा। **'दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्।'** (ऋ०१०.४.२) इत्यपि निगमो भवति। वावशानो वष्टेर्वा। वाश्यतेर्वा। **'सप्त स्वसृररुषीर्वावशान:।'** (ऋ०१०.५.५) इत्यपि निगमो भवति। वार्यं वृणोते:। अथापि वरतमम्। **'तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्।'** (ऋ०८.२५.१३) तद्वार्यं वृणीमहे। वर्षिष्ठं गोपायितव्यम्। गोपायितारो यूयं स्थ। युष्मभ्यमिति वा। अन्ध इत्यन्ननाम। आध्यायनीयं भवति। **'आमत्रेभि: सिञ्चता मद्यमन्ध:।'** (ऋ०२.१४.१) आसिञ्चताममत्रैर्मदनीयमन्ध:। अमत्रं पात्रम्। अमा अस्मिन्नदन्ति। अमा पुनरनिर्मितं भवति। पात्रं पानात्। तमोऽप्यन्ध उच्यते। नास्मिन् ध्यानं भवति, न दर्शनम्। अन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते। अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव। **'पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्ध:।'** (ऋ०१.१६४.१६) इत्यपि निगमो भवति॥१॥

....

....

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्।

मित्रो यत् पान्ति वरुणो यदर्यमा॥ (ऋ०८.२५.१३)

.... तदा **'युष्मभ्यमिति वा'** इति वचनात्। **मित्रो यत् पान्ति** व्यत्ययेनेदं बहुवचनमेकवचनस्य स्थाने। पाति रक्षति। **वरुणश्च यद्** यच्चार्यमा।

अन्ध इत्यनवगतम्। कथम्, यावता **'अदेर्नुम् धौ च'** (उणा०४.२०६) इत्यसुप्रत्ययेऽस्त्यवगम:? उच्यते। अनादृत्येमं संस्कारं भाष्यकार आङ्पूर्वस्य ध्यायतेरित्यवगतं मन्यते। अनेकार्थं च अन्ननामैतत् तमोवचनं च वक्ष्यते। **अन्ध यदन्ननाम तस्याध्यानीयं भवतीत्यवगम:।** आभिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नं प्रीते: शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात्। निगम:-

अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभि: सिञ्चता मद्यमन्ध:।

कामी हि वीर: सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि॥ (ऋ०२.१४.१)

गृत्समदस्य। हे **अध्वर्यव:! भरत** हरत हविर्धानादुत्तरवेदिदेशम्। **इन्द्राय** इन्द्रार्थं **सोमम्।** हृत्वा **आ अमत्रेभि:** पात्रैश्चमसाख्यैरासिञ्चत अग्नौ जुहुतेत्यर्थ:। **मद्यं** मदनीयमेतत्। **अन्धो**ऽन्नम्। **कामी हि** यस्मात्

कामयते **वीर** इन्द्रः। **सदमस्य पीतिं** सदैवास्य पानम्। **जुहोत** जुहुत च। **वृष्णे** वर्षित्रे सवनीयादि हविः। **तदित्** इच्छब्दोऽत्राप्यर्थे तदप्येष वृषा **वष्टि** कामयत एव।

अमत्रं पात्रम्। अमा अस्मिन्नदन्तीत्यस्य निर्वचनम्। किं पुनरमा इत्येतेनोच्यते? **अमा पुनरमत्रं भवत्यपरिमाणम्,** न हि यत्पात्रे दत्तं तस्य परिमाणमस्ति। ये वदन्ति तेषां **पात्रं पानात्** पीयते हि तेनोदकादि। **तमोऽप्यन्ध इत्युच्यते।** अत्र निर्वचनं **नास्मिन् ध्यानं भवतीति।** अविद्यमानं ध्यानमस्मिंस्तदिदमन्धः। किं पुनर्ध्यानम्? **दर्शनम्,** तद्धि तमसि **न** भवति आलोकाभावात्। निगमो भाष्यकारेण न दर्शितः। स दर्शयितव्यः। **'यो वि॒श्वत॑ः सु॒प्रती॑कः स॒दृङ्ङसि॑'** (ऋ०१.९४.७) इति पुरस्ताच्चायम् **'अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्'** (निरु०३.११) इत्यत्र व्याख्यातम्। अदर्शन**मन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते।** किमर्थमेतत्? अन्यत्रापि ध्यायतिर्दर्शने प्रयुज्यत इत्यस्य प्रदर्शनार्थम्। यदा ह्यन्तर्वेश्मनि मेघैर्वा निरुद्धे चन्द्रमसि बहुलेन तमसाऽत्यन्तदर्शनस्याभावः। तदेवं भाषन्ते अन्धन्तम इति। अन्धमविद्यमानं ध्यानमत्यन्तदर्शनरहितमित्यर्थः। **अयमपीतरो** निद्रयोपहतचक्षुरुत्खाताक्षो वा न पश्यति सोऽन्ध **एतस्मादेव** दर्शनाभावात्। तस्य प्रसङ्गेन निगम उच्यते-

> **स्त्रिय॑ः स॒तीस्ताँ उ॑ मे पुं॒स आ॑हु॒ः पश्य॑दक्ष॒ण्वान्न वि चे॑तद॒न्धः।**
> **क॒विर्यः पु॒त्रः स ई॒मा चि॑केत॒ यस्ता वि॑जा॒नात्स पि॒तुष्पि॒तास॑त्॥** (ऋ०१.१६४.१६)

दीर्घतमसः। स्त्रीत्वपुंस्त्वयोरेकत्रासम्भवात् स्त्रीशब्दोऽत्र क्रियानिमित्तस्त्रातुर्वाचकः पुंशब्दोऽपि पुरुमनसः। **स्त्रियः सतीस्तमोपनयनान्नपक्त्यादिना** कृत्स्नस्य जगत इत्यर्थः। **तान्** रश्मीन्। **उ** इति पदपूरणः। **मे** मह्यं **पुंसः** पुरुमनसो बहुमनस आत्मादिविषयस्य मननस्य स्थानस्य कारणभूतानीत्यर्थः। **आहुर्**ब्रह्मविदः। कथम्? आदित्यान्तरपुरुषो हि बुद्ध्याधिदैवतं तदवयवभूताश्च रश्मयः। तेनैते बुद्धिमधिष्ठाय ब्रह्मविदः सर्वानात्मादीनर्थान् प्रकाशयन्ति। अत उच्यते बहुनो ज्ञानस्य कारणभूतानाहुरिति। तांश्च **पश्यन्** पश्यन्ति। **अक्षण्वान्** अक्षशब्देनात्र ब्रह्मज्ञानमुच्यते क्षितायुकरत्वाद् ब्रह्मज्ञानवान्। **न विचेतदन्धो** न विजानात्यन्धस्तद्रहितः सतः। अपि च **कविर्मे**धावी **यः पुत्रो** बहुनोंऽहस आत्मज्ञानस्य त्राता परिनिष्ठितविद्यश्चेत्यर्थः। **स** तान् **ईमिति** पदपूरणः **आचिकेत** जानाति नेतरः। **यश्च तान् विजानाद्** विजानाति **स पितुरपि पिता** पितृस्थानीयः पालयिता वा **असद्** भवति।

असश्चन्तीत्यनवगतम्। उदाहरणे रोदस्यादिसमानाधिकरण्याद् द्यावापृथिवीविशेषणम्। अतोऽर्थान्तरा-संभवादक्षरवर्णसामान्याच्च युक्तरूपम् **'असज्यमाने' 'अव्युदस्यन्तौ'** इति वेत्यवशमं दर्शयति द्यावापृथिव्यावभिधेये। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

'असंश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती।' (ऋ०६.७०.२) असज्यमाने इति वा। अव्युदस्यन्याविति वा। बहुधारे उदकवत्यौ। वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा। अनवगतसंस्कारो भवति। **'वनुयाम वनुष्यतः।'** (ऋ०१.१३२.१; ८.४०.७) इत्यपि निगमो भवति। **'दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः।'** (ऋ०७.८२.१) दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं ते जयेम पृतनासु। दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्। पापः पाताऽपेयानाम्। पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा। पापत्यतेर्वा स्यात्। तरुष्यतिरप्येवंकर्मा। **'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्।'** (ऋ०७.४८.२) इत्यपि निगमो भवति। भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः। **'पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः।'** (ऋ०३.३.४) इत्यपि निगमो भवति। **'स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः।'** (ऋ०९.८६.४१) इति च। **'अन्येन मदाहनो याहि तूयम्।'** (ऋ०१०.१०.८; अथर्व०१८.१.९) अन्येन मदहनो गच्छ क्षिप्रम्। आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवति। एतस्मादाहनः स्यात्। ऋषिर्नदो भवति। नदतेः स्तुतिकर्मणः। **'नदस्य मा रुधतः काम आगन्।'** (ऋ०१.१७९.४) नदनस्य मा रुधतः काम आगमत्। संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः। इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते॥ २॥

असंश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।

राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्॥ (ऋ०६.७०.२)

भारद्वाजस्य। संश्चतिकर्मा। शुद्धोऽपि चात्र संपूर्वार्थे द्रष्टव्यः। असङ्च्छमाने असज्जमाने परस्परेणासंमिश्रीभवन्त्यौ विक्षिपन्त्यावाश्रितान्। **भूरिधारे** भूरिणो भूतजातस्य ज्योतिषां च धारयित्र्यौ। **पयस्वती** उदकवत्यौ। **घृतं** वृष्टिलक्षणमुदकम्। **दुहाते** क्षरतो वर्षत इत्यर्थः। **सुकृते** तादर्थ्य एषा चतुर्थी शोभनयागादिकर्म-चारिणो यजमानस्यार्थाय। **शुचिव्रते** शुद्धकर्माणौ।

परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्। **राजन्ती** राजतिरैश्वर्यकर्मा ईशाते। **अस्य भुवनस्य** भूतजातस्य। **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ। **अस्मे** अस्मदर्थः। **रेत** उदकनामैतत्। उदकं **सिञ्चतं** क्षारयतम्। कीदृशम्? **यन्मनुर्हितं** मनुष्येभ्यो हितम्। यत्संपत्करं तदित्यर्थः।

वनुष्यतीत्यनवगतम्। **हन्तिकर्मे**त्यर्थावगमं दर्शयति। यतो नायं हन्त्यर्थत्वे तु प्रसिद्धः। **अनवगतसंस्कार** इत्यनेन शब्दावगमः। अनवगताधिकारे च सति पुनर्वचनमुभयानवगतत्वप्रदर्शनार्थमिति केचित्। वनुयाम-तरुष्यत्यादीनामन्येषामपि हन्त्यर्थेऽवगतत्वप्रदर्शनार्थमिति भाष्यकाराभिप्रायः। तथा च वक्ष्यति तरुष्यतिरप्येवंकर्मेति। एतदुक्तं भवति। पुनर्वचनं बुद्धिविघट्टनमात्रमत्र किमपीति। तच्च प्रदर्शितमेव। तत्र वनोतेः कण्ड्वादिप्रक्षेपाद् यत्प्रत्ययः। तत्सन्नियोगेन च वनुष्टापो द्रष्टव्यः। उदाहरणम्-

यदिन्द्राग्नी जना इमे विह्वयन्ते तना गिरा। अस्माकेभिर्नृभिर्वयं सासह्याम पृतन्यतो वनुयाम वनुष्यतो नभन्तामन्यके समे॥ (ऋ०८.४०.७)

नाभाकस्यार्षम्। यच्छब्दो यदेत्यस्यार्थे यदा हे **इन्द्राग्नी जना इमे** आस्माकीनाः परे च युयुत्सवो **विह्वयन्ते** विविधं युद्धार्थं परस्परमाह्वयन्ते। **तना गिरा** सन्ततया वाचा। अथवा तनेति धननाम निमित्तार्थे चात्र तृतीया द्रष्टव्या। धनेन निमित्तभूतेन, प्रयोजनस्य च निमित्तत्वेन विवक्षा। जित्वा परेषां स्वभूतं धनं विलुम्पयितुमित्यर्थः। गिरा नामाभिजननादियुक्तया वाचा। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तेन युवयोः प्रसादेन। **अस्माकेभिः** छान्दसत्वाद् वृद्ध्यभाव आस्माकैर्नृभिर्योद्धपुरुषैः सह **वयं सासह्याम** अत्यर्थमभिभवेम। कान्? **पृतन्यतो** येऽस्माभिः सह संग्रामं कर्तुमिच्छन्ति तान् शत्रूनित्यर्थः। **वनुयाम** हन्याम च **वनुष्यतो** घ्नतस्तान्। **नभन्तां** न मा भवन्तु मा भूवन्नित्यर्थः। कुत्सिता अन्ये **अन्यके** अस्मद्द्विषः। **समे** समशब्दः सर्वादिः सर्वपर्यायः सर्व एवेत्यर्थः। संग्रामे ह्यभिभवनव्यतिरेकेण वध एवं संभवतीति सामर्थ्यात् हन्तिकर्मेत्युक्तम्।

दीर्घप्रयज्युमिति विषयभूमानं दर्शयितुमाख्यातमुदाजहार-

इन्द्रा॑वरुणा यु॒वम॑ध्व॒राय॑ नो वि॒शे जना॑य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छतम्।

दी॒र्घप्र॑यज्यु॒मति॒ यो व॑नु॒ष्यति॑ व॒यं ज॑येम॒ पृत॑नासु दू॒ढ्य॑ः॥ (ऋ०७.८२.१)

वसिष्ठस्य। हे **इन्द्रावरुणौ युवमध्वराय** यज्ञाय **नो**ऽस्माकं **विशे** मनुष्याय **जनाय** पुत्रादिकाय जनाय च परिचारकाय **महि** महत् **शर्म** सुखं **यच्छतं** दत्तम्। किञ्च **दीर्घप्रयज्युं** दीर्घप्रवृत्तयज्ञमग्निहोत्रसमादिकमस्माकम्। **अति यो वनुष्यति** अतीत्यव्ययमभीत्यस्य स्थाने योऽभिवनुष्यति अभिजिघांसति। यजमानविशेषणं चैतत्। दीर्घप्रततयज्ञं नित्यानामग्निहोत्रादीनां कर्मणां कर्तारं यजमानमभिवनुष्यति। **वयं** यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तं **जयेम पृतनासु** संग्रामेषु **दूढ्यो** जयकर्मा तच्छब्दसामानाधिकरण्योपपत्तेर्विभक्तिविपरिणामः। दूढ्यं दुर्धीकं पापबुद्धिमित्यर्थः।

निर्वचनप्रसक्तमाह। **पापः पाता** रक्षिता **अपेयानाम**रक्षितव्यानां त्याज्यानाम्। पिबतेर्वा कृत्यः, अपातव्यानां प्रतिषिद्धानां सुरादीनाम्। अकार्यमात्रोपलक्षणं चैतत्। अकार्याणां कर्तेत्यर्थः। **पापत्यमानः**, अथवा विषयासक्त्याऽत्यर्थं पात्यमानः। **अवाङेव** अधो नरकमेव **पतति** प्रायश्चित्ताकरणाद् नोर्ध्वमिति पापः। अधोभावविष्ठाक पततेः पाप इत्यर्थः। तथा च स्मरणम्-

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।

व्यसन्यधोऽधो व्रजति स यात्यव्यसनं मृतः॥

इति। अथवा किन्न एतेन अवाङ् नामादिति। **पापत्यतेरेव** पापो विहिताकरणाद् नोर्ध्वमिति पापो विहिताकरणात् प्रतिषिद्धसेवनाच्च। नित्यमत्यर्थं श्रेयसः पततीति पततेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यचि तलोपः। डप्रत्ययो वा छान्दसत्वात्। एवं पातेः पिबतेर्वा पापः। अन्ये **'त्वयां व॒यं म॑घवन्'** (ऋ०१.१३२.१) इत्युदाहरन्ति।

तरुष्यतिरप्येवंकर्मेति। यत्कर्मा वनुष्यतिर्हन्त्यर्थे। धात्वन्तरमनवगतमिति केचित्। अन्ये तु **'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्'** इति हन्ति विनाशयति व्यपोहतीति हन्त्यर्थे तरतेः प्रयोगदर्शनान्नेदमर्थानवगतम्। किन्तर्हि? उकारषकारानवगमात् शब्दानवगतमेवैतद् इति वर्णयन्ति। उदाहरणम्-

ऋ॒भुर्ऋ॒भुभि॑र॒भि व॑ः स्याम॒ विभ्वो॑ वि॒भुभि॒ः शव॑सा॒ शवां॑सि।

वाजो॑ अ॒स्माँ अ॑वतु॒ वाज॑साता॒विन्द्रे॑ण यु॒जा त॑रुषेम वृ॒त्रम्॥ (ऋ०७.४८.२.)

वसिष्ठस्य। **ऋभुरिति** मेधाविनाम। व्यत्ययेन चात्रैकवचनं बहुवचनस्य स्थाने। ऋभवो मेधाविनो वयम्। ऋभुभिर्ऋभुर्विभ्वा वाज इत्येतैर्देवैः सह। **अभि वः स्याम** अधिभवेम युष्मान् शत्रून्। न च केवला मेधाविनः। किं तर्हि? विर्भुबलवत्त्वान्निग्रहे चानुग्रहे च समर्थो विभुरुच्यते। तेनायमर्थः। **विभ्वो** वयं विभुभिर्निग्रहानुग्रहसमर्थैर्विभु- प्रभृतिभिर्वा तैरेव देवैः सह। **शवसा** बलेन सेनाख्येन **शवांसि** युष्माकं स्वभूतानि बलानि सेनाख्यानि अभिस्याम इति सम्बन्धः। **वाजो** वाजश्च देवोऽ**स्मान् अवतु** रक्षतु। क्व? **वाजसातौ** संग्रामे **इन्द्रेण युजा** युज्यत इति युक् सहायः इन्द्रेण सहायेन **तरुषेम** हन्याम। कम्? **वृत्रं** शत्रुम्।

भन्दना इत्यस्य धात्वर्थानवगमं रूपानवगमञ्च दर्शयितुं निगमेषूपक्षेपः। तत्र **'भदि कल्याणे सुखे च'** (धा०१.१२) इति पाठाद् भन्दतेः स्तुत्यर्थत्वमप्रसिद्धमिति अर्चतिकर्मसु पाठं दर्शयन्नाह-**भदन्तेः स्तुतिकर्मणः** स्तुत्यर्थे वर्तमानस्येति। अत एव चाख्यातं प्रथममुदाहरन्ति। **'पुरुप्रियो भन्दते'** इति। रूपमपि भन्दतेर्ल्युटि नपुंसके भावे भन्दनमिति स्यात्। स्त्रियां भन्दनीति। भन्दनाशब्दस्योभयानवगतस्य पश्चादुदाहरणम् **'स भन्दना उदियर्ति'** इति।

पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।
आ विवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः॥ (ऋ०३.३.४.)

विश्वामित्रस्य। **पिता** पालयिता **यज्ञानाम्**। असुरोऽसुः प्रज्ञा रो मत्वर्थे प्रज्ञावांश्च **विपश्चितां** मेधाविनां मध्ये। **विमानं** विनिर्माणहेतुत्वात्। विनिर्माता चाग्निर्हविर्नयनद्वारेण कृत्स्नस्य जगतः। **वयुनञ्च** प्रज्ञानभूतं च प्रशस्योपक्रान्तः **वाघताम्** ऋत्विजां मध्ये। एवंविशिष्टः किं चकार? उच्यते। **आविवेश** आविष्ट आविशति वा। **रोदसी** द्यावापृथिवौ। **भूरिवर्पसा** बहुरूपेणात्मना। तथा च बहुरूपत्वे **'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्'** (ऋ०१०.८८.१०) इति च मन्त्रलिङ्गम्। आविश्य च **पुरुप्रियः** बहूनामृत्विग्यजमानानामिष्टः। **भन्दते** दैव्यहोतृत्वात् स्तौति। कान्? सामर्थ्यात् देवान्। **धामभिः** स्वैर्जन्मभिर्नामभिर्वा, **कविर्मे**धावी। एवं तावद् विनैव यत्तच्छब्दाध्याहारकल्पनया अत्रैकवाक्यता। अन्ये तु पिता यज्ञानामित्यादिगुणो योऽग्निस्तं **पुरुप्रियो** बहुकामो यजमानो भदन्त इति यत्तच्छब्दाध्याहारकल्पनाः।

नामभूतस्योदाहरणम्-

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीर्विश्वायुर्विश्वाः सुभरा अहर्दिवि।
ब्रह्म प्रजावद्रयिमश्वपस्त्यं पीत इन्दुविन्द्रमस्मभ्यं याचतात्॥ (ऋ०९.८६.४१.)

अत्रेः। **स भन्दना** इति तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽत्राध्याहर्तव्यः। यो यज्ञ उपनते सोमं स्तोष्यामीति जन्मनः प्रभृति भिन्द्यात् **सो**ऽयं स्तोता **भन्दनाः** स्तुती**रुदियर्ति** उदीरणं समुच्चारणम्, उच्चारयति। किंविशिष्टाः? **प्रजावतीः** प्रजाशब्देन जन्यमानत्वादाहुतय उच्यन्ते, ताभिस्तन्वतीराहुतीसंयुक्ता इत्यर्थः। प्रजालिङ्गा वा। **विश्वायुः छन्दसीणः**(उणा०१.२) इत्युणि आयुर्गन्ता सर्वत्राप्रतिहतगतिः सर्वप्रज्ञातेत्यर्थः। अन्नवचनो वा आयुशब्दः। हविर्लक्षणैरन्नैः सर्वान्नो **विश्वाः** सर्वाः सर्वप्रकाराः **सुभराः** संभृता अभवन् गुणैः। कदा उदियर्ति? उच्यते। **अहर्दिवि** रात्रावहनि चेत्यर्थः। एतज्ज्ञात्वा **ब्रह्म** अन्नं व्रीह्यादि। **प्रजावत्** प्रजासहितम्। **रयिं** धनं च। कीदृशम्? **अश्वपस्त्यं** यादृशेनाश्वैः पत्यते गम्यते तादृशं सारवच्च बहु चेत्यर्थः। **पीतः** सन् हे **इन्दो! इन्द्रमस्मभ्यम**स्माकमर्थाय **याचतात्**, आशिषि लोट्, याचस्व।

आहन इत्यनवगतार्थरूपस्य **'अन्येन महाहन'** इत्युदाहरणोपक्षेपः। आहंसीवेत्यादि समाधिप्रदर्शनम्। आहन्तीति समाधिः। कथम्? संवादसूक्ते **'को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः** (ऋ०१०.१०.६) **'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्** (ऋ०१०.१०.७) इत्येवं यम्या यः समायोगं प्रत्यभियोगस्तां प्रत्याह–

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।

अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा॥ (ऋ० १० . १० . ८)

मैवं मंस्थाः रहो वर्तत इति। यतः क्षणमपि **न तिष्ठन्ति** नोपरमन्ति नोदासते रन्ध्रान्वेषणपरा इत्यर्थः। **न निमिषन्ति** न च प्रमाद्यन्ति यत्नेन यो यत् करोति तन्निरीक्षन्त इत्यर्थः। के? **एते देवानां** स्वभूताः **स्पशः** स्पाशयितारः कृतानां कर्मणां चिह्नयितारः कृतानां कर्मणाम्। **'द्यौर्भूमिरापो हृदयम्'** इत्यादयो वृत्तज्ञाश्चरा **इह** लोके **ये चरन्ति** ते ज्ञात्वा **अन्येन मत्** मत्तः केनापि लोकद्वयाविरुद्धैतत्कर्मसंबन्धेन पुरुषेण सह। **आहनः** लोकेऽपि या अप्रतिरूपमप्रतियोग्यं भाषते सोऽच्यते **आहंसीव भाषमाणेति**। अतश्चासभ्यभाषणादयोग्यवचनाद् आङ्पूर्वस्य हन्तेरप्रत्यये आहन्तीत्याहना इत्येतद्रूपं भवति। तस्य सम्बुदौ **आहनः**। असभ्यवचना मामाह। **तूयं याहि** गच्छ। तूयं तूर्णं क्षिप्रं याहि सामर्थ्यान्मैथुनम्। गत्वा च **तेन** तेनैवोचितेन पत्या सह **विवृह 'बृहू उद्यमने'** (धा०६.५७) धर्मार्थकामानुद्यच्छ उत्कृष्टान् कुर्वित्यर्थः। उत्कृष्टानां हि तेषां करणमुद्यमनम्। कथमिवोद्यच्छः? उच्यते। **रथ्येव** रथ्या इव। रथावयवभूते इव। यथा रथावयवभूते **चक्रा** द्विवचनस्य स्थानेऽयमाकारः, चक्रे रथमुद्यच्छतस्तद्वदित्यर्थः। एवमत्र आहंसीवेत्यादिना भाष्येण आहन्तीत्यवगमः प्रदर्शितः। इतिहासदर्शनस्यैतत्।

नित्यपक्षे तु यम आदित्यो यस्यापि रात्रिः सोच्यत इति। प्रातरुद्गच्छतः सायं चास्तमाना च तिष्ठन्ति। तमांस्येवं घ्नन्तो रश्मयो न च निमिषन्ति न क्षणमपि प्रमाद्यन्ति, एते देवानां लोकपालानामिह.........रन्ति तैश्च सह प्रतिद्वन्द्वाभावात् तवावस्थानं नास्ति, अतोऽन्येन मत्। दर्शनादिनिवृत्त्याष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यमित्याह। नित्यपक्षे तु काचिद् ब्राह्मणो पत्यौ प्रव्रजिते कामार्त प्रब्रवीतीति योज्यम्। लोपामुद्रेति मुद्रेत्युत्सेकलुसोत्सेका विनयाच्छिन्नमन्मथा। अन्यत्समानम्। अथवा पत्युर्गमने ब्रह्मचर्यनिर्विण्णा भार्याऽस्यामवस्थायां नोपेक्षयितव्येत्यर्थ आर्तवे। तथा च **'पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्** (मनु०३.४५) **सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्** इति स्मरणमेतन्मन्त्रलिङ्गमूलं दृष्टमिति।

सोमो अक्षा इत्यनवगतम्। ऐकपदिके च द्विपदोपादानं विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। को विशेषः? सोमसमानाधिकरणस्याख्यातभूतस्य **अनूपे गोमान्** इति गोविषयस्याक्षा इत्येतस्य ग्रहणं यथा विज्ञायते। अक्षसूक्तादिषु नामभूतस्याक्षशब्दस्य ग्रहणं मा विज्ञायीति। अनेकार्थं च। आचार्यगोविप्रतिपत्तेः। विप्रतिपत्तिश्च भाष्ये प्रदर्शितैव। अत्र ययोरुदाहरणास्त्रय एते आख्यातशब्दास्तत्र पूर्वस्मिन्नुदाहरणे अश्नोतेरक्षाः। तस्य च **उदितो वा** (अष्टा०७.२.५६) इति विभाषितेट्त्वात् लुङि सिचि अनिट्पक्षे अष्टेत्यनवगमः। इट्पक्षे अशिष्टेति। द्वितीय उदाहरणे पूर्वं क्षीयतेरपरः क्षरतेः। तत्राप्यक्षयिषीदक्षारीरिति वावगमः। शाकपूणेस्तु सर्वत्रैवाक्षैषीदिति। उदाहरणम्–

इति दशमस्य-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

'न यस्य॒ द्यावा॑पृथि॒वी न धन्व॒ नान्तरि॑क्षं॒ नाद्र॑यः॒ सोमो॑ अक्षाः।' (ऋ०१०.८९.६) अश्नोतेरित्येवमेके। **'अ॒नूपे गोमा॒न्गोभि॑रक्षाः॒ सोमो॑ दु॒ग्धाभि॑रक्षाः।'** (ऋ०९.१०७.९) **'लो॒पा॒शः सिं॒हं प्र॒त्यञ्च॑मत्साः।'** (ऋ०१०.२८.४) क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके। अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति। सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः। श्वात्रमिति क्षिप्रनाम। आशु अतनं भवति। **'स प॑त॒त्री॑त्व॒रं स्था जग॒द्यच्छ्व॒ात्रम॒ग्निर॑कृणोज्जा॒तवे॑दाः॥'** (ऋ०१०.८८.४) स पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्तत् क्षिप्रमग्निरकरोत् जातवेदाः। ऊतिरवनात्। **'आ त्वा॒ रथं॒ यथो॒तये॑।'** (ऋ०८.६८.१) इत्यपि निगमो भवति। हासमाने इत्युपरिष्टाद् (निरु०९.३९) व्याख्यास्यामः। **'व॒म्रकः॑ प॒ड्भिरुप॑ सर्प॒दिन्द्र॑म्।'** (ऋ०१०.९९.१२) पानैरिति वा। स्पार्शनैरिति वा। स्पर्शनैरिति वा। **'स॒सं न प॒क्वम॑विदच्छु॒चन्त॑म्।'** (ऋ०१०.७९.३) स्वप्नमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम्। तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम्। **'द्वि॒ता च स॒त्ता॑ स्व॒धया॑ च शं॒भुः।'** (ऋ०३.१७.५) द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च। शंभुः सुखभूः। **'मृ॒गं न व्रा मृ॒गय॑न्ते।'** (ऋ०८.२.६) मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः॥३॥

न यस्य॒ द्यावा॑पृथि॒वी न धन्व॒ नान्तरि॑क्षं॒ नाद्र॑यः॒ सोमो॑ अक्षाः।
यद॑स्य म॒न्युर॑धिनी॒यमा॑नः शृ॒णाति॑ वी॒ळु रु॒जति॑ स्थि॒राणि॑॥ (ऋ०१०.८९.६)

विश्वामित्ररेणोरिन्द्रस्तुतिः। **न यस्ये**न्द्रस्य माहात्म्यमिति शेषः, अथवा यस्येति षष्ठी द्वितीयास्थाने यमिन्द्रम्। **द्यावापृथिवी** वा च्छन्दसि (अष्टा०६.१.१०५) इति पूर्वसवर्णः, द्यावापृथिव्यौ। **न धन्व**शब्दोऽन्तरिक्षवचनः। तथापि परेणान्तरिक्षशब्देन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् क्रियानिमित्तो द्रष्टव्यो धन्वतेर्गतिकर्मणः। तेन च गन्तृस्वभावमुदकमुच्यते। नापि धन्व नदीसमुद्राधिकरणमुदकम्। **नान्तरिक्षं नाद्रयो** नापि हिमवदादयः पर्वता व्याप्तवन्तो व्याप्नुवन्ति वा। किं तर्हि? **सोमो अक्षाः** सोम एवैको व्याप्तवान्। कथं पुनर्गम्यते सोम एव व्याप्नोतीति? उच्यते। **यत्** पञ्चम्या अत्र लुग् द्रष्टव्यश्छान्दसत्वात्। **यस्मादस्य** सोमस्य षष्ठीश्रुतेर्जन्यजनकसम्बन्धेन सम्बन्धिनानेन पीतेन जन्यमान इत्यर्थः। कोऽसौ? **मन्युः** क्रोधः, **अधि** उपरि **नीयमानः**। केषाम्? सामर्थ्यात् शत्रूणाम्। **शृणाति**र्हिंसायां हिनस्ति। **वीळु** संस्तब्धं वीर्यमदावलिप्तम्। किं पुनस्तत्? सामर्थ्यात् शत्रुजातम्। **रुजति** भिनत्ति। **स्थिराणि** दृढानि च मेघवृन्दानि। अत्र न यस्येति यच्छब्दश्रुतेः साकाङ्क्षत्वाद् वयं स्तुम इति वाक्यशेषः। एवमश्नोतेरक्षा इत्येके आचार्या मन्यन्त इति शेषः।

द्वितीयमुदाहरणम्–

अ॒नूपे गोमा॒न् गोभि॑रक्षाः॒ सोमो॑ दु॒ग्धाभि॑रक्षाः।
स॒मु॒द्रं न सं॒वर॑णान्यग्मन् म॒न्दी मदा॑य तोशते॥ (ऋ०९.१०७.९)

ससर्षीणाम्। **अनूपे** अनुगता आपो यस्मिन् असौ तृणोदकवद्देशोऽनूप उच्यते तस्मिन्। **गोभिः** सह। अत्रैकवाक्यतायै यदा तदेत्यध्याहारः। यदा **अक्षाः** छान्दसत्वाद् वर्तमाने लुङ् क्षियति निवसति तदा सुपुष्टत्वात् **गवां सोमः** पय आख्यं **दुग्धाभिस्**तृतीयैषा पञ्चम्याः स्थाने सामर्थ्यादपिशब्दलोपश्च द्रष्टव्यो दुग्धाभ्योऽपि गोभ्योऽक्षाः क्षरति। दुग्धा अपि पुनर्दुह्यन्त एव। न निर्दुग्धा भवन्तीत्यर्थः। कथं च क्षरति। उच्यते- **समुद्रं न** समुद्रमिव यथा समुद्रं **संवरणानि** संवरणशब्देनात्र संवरणस्वभावकानि स्रोतांस्युच्यन्ते तानि **अग्मन्** अगमन् अविच्छेदेन गच्छन्ति। एवमूधःप्रदेशं पयांसि सर्वाङ्गेभ्यो गच्छन्ति, किमर्थम्। सान्नाय्ययागादिषु इन्द्रस्य **मदाय** मदर्थम्। तृप्तौ तृप्त्यर्थः। तृप्तश्च सन् स इन्द्रो **मन्दी** स्तुत्या। **तोशति**र्वधकर्मा हन्ति विनाशयति। कम्। सामर्थ्यात् यजमानस्य शत्रूनित्यर्थः।

एवं चायं क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम इति द्वितीयः पक्षः। यदा तु शाकपूणिपक्षः समे क्षियतिनिगमा इति तृतीयः। तदा **'न यस्य'** इत्यस्य तावदेवं योजना। **यस्ये**ति षष्ठी सप्तम्यर्थे यस्मिन्निन्द्रे **न द्यावापृथिव्यौ** नाप्युदकं **नान्तरिक्षं** नापि पर्वताः क्षयन्ति। किं तर्हि? **सोम** एवैकोऽ**क्षाः** क्षियति निवसति आहारत्वात्। उत्तरोऽर्धर्चः समानव्याख्यानः। अनूपे गोमानिति। तत्रापि **अनूपे गोमान् गोभिः** सह यदान्भक्षाः क्षियति निवसति तदा **सोमः** पय आख्यो **दुग्धाभिः**, सप्तम्यर्थ एषा तृतीया। अपि च पूर्ववत् दुग्धास्वपि गोषु **अक्षा** निवसत्येव। दुग्धास्वपि पयो विद्यत एव। न निर्दुग्धा गावः शक्यन्ते कर्तुमित्यर्थः। किमल्पको निवसति। न। **समुद्रं न संवरणानी**त्युक्तं प्रभूत इत्यर्थः। समानमन्यत्। लोपाश इत्याद्यतिरिक्तपाठः। केचित्त्वर्थाः।

श्वात्रमित्यनवगतम्। **क्षिप्रनामे**त्यभिधेयवचनम्। आश्वतनमिति प्राप्तिवचनम्। आश्वतनमततेराकारस्य मध्यमानुप्रवेशेन वर्णलोव्यापत्यादिना आश्वतनः क्षिप्रगमनश्च। अत्रोदाहरणम्–

यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना वृणानाः।

स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः॥ (ऋ० १०.८८.४)

मूर्धन्वतो वामदेवस्यार्षम्। **यः** कृताग्निः **होतासीत् प्रथमो** मानुषाद्धोतुर्देवजुष्टो देवप्रियो देवसेवितो वा। **यं समाञ्जन्** समुक्षितवन्तः। **आज्येन** आघाराज्यभागादिसाधनभूतेन। **आवृणानाः** संभजमानाः। किं तस्य। उच्यते। **स पतत्रि** पक्षिजातम्। **इत्वरं** गमनशीलं सरीसृपादि। **स्था** स्थावरं च वृक्षादि। **जगत्** जङ्गमं च यद्गवादि, यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोध्याहार्यः। तत्सर्वं **श्वात्रं** क्षिप्रं **अग्निरकृणोत्**, करोतिना क्रियासामान्यवचनेन क्रियाविशेषो लक्ष्यते सामर्थ्यात्। आह किं हि। दहनाद् यदग्निः क्षिप्रं कुर्यात्। तेन अदहद् दहतीत्यर्थः। दावात्मको युगान्तकाललक्षणो वा। **जातवेदा** इति जातवित्तो जातविद्यो वा।

ऊतिरित्यनवगतम्। **सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽपि** (निरु० १.१४) **तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तय** (निरु० २.२) इत्युक्तम्। अतो रक्षणतर्पणमात्रं विषयत्वमनवगममिहाभिप्रेतं न त्वनवगतसंस्कारलक्षणम्। कुत एतत्। निपातनस्मरणात् **'ऊतियूतिजूतिसाति'** (अष्टा० ३.३.९७) इति। ततोऽर्थश्च संस्कारश्चोभयमवगम्यते। नैवम्। सत्यपि निपातने प्रकृत्यादिविभागानवगमादनवगतत्वमिच्छति। निपातनाद्धि साधुत्वमात्रं गम्यते न प्रकृत्यादिविभागः। अत एव लोकवेदप्रसिद्धोऽपि जठरशब्दो निगमेषु पठितः प्रकृत्यादिविभागायेति। ननु ऊतिशब्दे प्रकृत्यादिविभागो **'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च'** (अष्टा० ६.४.२०) इत्युपदर्शितः। एवं तर्हि

कृतिनास्यसंज्ञात्वात् क्विनि चाद्युदात्तत्वेन भवितव्यम्। अयं चान्तोदान्तः। तस्मान्निपातनमेवाश्रयणीयम्। निपातने चाविभाग इत्युक्तम्। **अवनादित्यर्थप्रतीतिवचनम्।** उदाहरणम्-

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।

तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते॥ (ऋ०८.६८.१.)

प्रियमेधो नाम तस्यार्षम्। आकारो वर्तयामसीत्यनेन सम्बध्यते। **त्वा** त्वां रथो **यथा** हि कश्चिदू**तये** गमनाय रथमावर्तयेत् तद्वत् वयं **सुम्नाय** सुखायात्मन आवर्तयामो हविषा स्तुत्या वाभिमुखीकुर्मः। कीदृशं तम्। **तुविकूर्मिं** बहूनां रसप्रदानादीनां कर्मणां कर्तारम् **ऋतीषहं** प्रतिपक्षं प्रति गन्तॄणां सेनानामार्तानां वा दुःखानामभिभवितारम्। हे **इन्द्र! शविष्ठ** अतिशयेन बलवत्। **सत्पते** सतां पालयितः।

हासमाने इत्यनवगतम्। तदुपरिष्टात् **'प्र पर्वतानाम्'** (ऋ०३.३३.१०) इति **चतुर्दशे प्रसङ्गाद व्याख्यास्यामः** (निरु०९.३९)। **'हासति स्पर्धायाम्'** (निरु०९.३९) इत्यादिनाब्दं त्वनवगतस्थानमिति धात्वर्थानव-गमात् पठितम्।

पड्भिरित्यनवगतम्। पानैरिति वा स्पाशनैरिति वेत्यवगमः। उदाहरणम्-

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्।

स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः॥ (ऋ०१०.९९.१२.)

वम्रनाम्नो वैखानसस्यार्षम्। एवमधस्त्यासु ऋक्षु उक्तेन प्रकारेण। हे **असुर**! प्रज्ञावान् प्राणवान् वा। **महो** महतोऽन्नादेः। **वक्षथाय** वहनाय प्राप्तय इत्यर्थः। **वम्रको** वम्रकनामायमृषिः। अथवा ह्रस्वनामैतत् ह्रस्वप्रमाणको वामनक इत्यर्थः। **पड्भिः** पानैः सोमस्य स्पाशनैर्वा बन्धनैः स्पर्शनैस्तव गुणानां स्तुतिलक्षणैरित्थं स्तुतः सम्बन्ध इत्यर्थः। **उपसर्पद्** उपसर्पति भवन्त**मिन्द्रम्**। आत्मन एवायं परोक्षरूपेण प्रथमपुरुषेण निर्देशः। अहं वम्रक इत्थंभूत उपसर्पामीत्यर्थः। **स** भवान् **इयानो** गम्यमान उपसृष्यमाण इत्यर्थः। **करति** लोडर्थे पञ्चमः करोति। **स्वस्तिम**नाशम्। **अस्मै** वम्रकाय। **इषमूर्जं** अन्नं च रसं च शालिगोधूमादिकं गुडघृतादिकं चेत्यर्थः। **सुक्षितिं** शोभनं च निवासम्। **विश्वं** सर्वं चान्यदपि यथाभिलषितं धनादि। **आभा** आभरतु आहरतु।

ससमित्यनवगतम्। सस **स्वप्न** इति ससम्। अष्टौ मासान् स्वपिति माध्यमिकं ज्योतिस्तदुच्यते। स्वपनमित्यर्थप्रतीतिवचनम्। उदाहरणम्-

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।

ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः॥ (ऋ०१०.७९.३.)

अग्नेरार्षम्। ससेर्वा वाजम्भरस्य। प्रातरनुवाके विनियोगः शस्यते। **प्र**शब्दः पदपूरणः **सर्पदि**त्यनेन वा सम्बध्यते। **मातु**र्जनयित्र्याः **प्रतरं** प्रकृष्टतरं प्रीत्यतिशयहेतुः। **गुह्यं** संवरणीयम्। स्त्रीस्वभावप्रदर्शनं चैतत्। कम्। सामर्थ्यात् स्तनप्रदेशं पानमिच्छन्। कुत एतत्। दार्ष्टान्तिके रिरिह्वांसमित्यास्वादस्य श्रवणात् दृष्टान्तेऽपि तदेव गम्यते। तत्सामर्थ्यादुच्यते पान**मिच्छन्नि**ति। **कुमारो न** कुमार इव यथा कुमारो बालः सर्पति एवं दावात्मकोऽग्नि**र्वीरुधो** नदीकक्षनिदेशस्था गुच्छगुल्मवल्लीलतावितानरूपा ओषधीः प्रसर्पति प्रेत्येष उपेत्येतस्य

स्थाने उपसर्पति। **उर्वीर्बह्वीः**। किं च तत्रोपसर्पन्तं **ससं न** स्वपनं यथा एतदष्टौ मासान् स्वपनशीलं निर्व्यापारमनभिव्यक्तं क्वापि निलीनं वर्षासु **पक्वं** सदभिव्यक्तमित्यर्थः। किं पुनस्तत्। भाष्यकार आह। **माध्यमिकं ज्योतिर्विद्युदाख्यम्**। सर्वदा अदर्शनादनित्यं दृष्टनष्टस्वभावकं वा। सर्वमेव वेत्ति विन्दति वा उपलभते एवमविन्दन् सर्वमेव जानाति उपलभते वा पश्यतीत्यर्थः। **शुचन्तं** दीप्यमानम्। **रिरिह्वांसं** 'लिह आस्वादने' (धा०२.६) वकारस्य रेफापत्तिरास्वादयन्तम्। किम्। सामर्थ्यादुपसर्पणकर्मभूता ओषधीः। **रिपः** पृथिवीनामैतत्। **उपस्थ** इत्यपि सप्तमी षष्ठ्यर्थे। पृथिव्या अवयवभूतस्योपस्थस्याप ओषध्यादयश्चोपेत्य यत्र तिष्ठन्ति स उपस्थः कच्छनिर्झरादिदेशः। **तस्यान्तः** मध्ये। तदिवाविददिति। अनद्यतने लङ् अवेदिति भवितव्यम्। लाभार्थस्यापि विन्ददिति विचारणा सर्वार्थयोरर्थासम्भवादप्रसङ्ग एव तस्मादुदाहरणस्याश्रितस्यानुकरणमेवेदं विन्ददिति पठितव्यम्। तत्रैतद् यति रूपं जाज्वल्यमानमिति मध्यमं दावात्मकयोः साधारणं विशेषणम्।

द्विता इत्यनवगतम्। **द्वैधं** द्विधेति वेत्यवगमः।

यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः।

तस्यानु धर्म प्र यजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ॥ (ऋ०३.१७.५)

वैश्वामित्रः कतो नाम तस्यार्षम्। प्रातरनुवाके विनियोगः। अग्निरुच्यते। **यस्त्वत्** त्वत्तः **पूर्वो होता** 'हु दानादनयोः' (धा०३.१) वृष्टिलक्षणानामपां दाता मध्यमोऽग्निः। आहोता वो। हे **अग्ने**! पार्थिव **यजीयान्** वृष्टिहेतुत्वादतिशयेन यष्टा। **द्विता च** द्विधा च यस्य **सत्ता**। मध्यमे च स्थाने वैद्युतात्मना उत्तमे चादित्यात्मना। **स्वधया** स्वधेत्युदकनाम उदकेन **च** वृष्टिलक्षणेन यः **शम्भुर्भ**वति। तत्रान्तर्नीतण्यर्थः। सुखस्य भावयिता सर्वप्राणिनाम्। **तस्यानु धर्म**शब्दः कर्मवचनोऽनु पश्चाद्भावे तस्य सम्बन्धि यत् कर्मलक्षणं वृष्टिलक्षणं वा तदनु तस्य पश्चात् तेन वृष्टौ वृत्तायां वा तेन वोपस्थापितः सन्नित्यर्थः। **प्र यजा** प्रकर्षेण यज देवान्। **चिकित्वन्** हे प्रज्ञावन्। **अथ** अनन्तरं च। **नः** अस्माकं स्वभूतम्। **अध्वरं** यज्ञवाटम्। **धाः** छान्दसत्वाद् वर्तमाने लटि अडभावो निधेहि स्थापय। क्व? **देववीतौ** देवानां कान्तौ काम्ये देवानां काम्यं कुर्वित्यर्थः।

व्रा इत्यनवगतम्। वरणा व्रात्याश्चेत्यवगमः। उदाहरणम्–

गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते।

अभित्सरन्ति धेनुभिः॥ (ऋ०८.२.६)

मेधातिथिप्रियमेधयोरार्षम्। **गोभिः** गोशब्देनात्र सोम उच्यते। **'प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय'** (ऋ०१.१९.१) इति यथा। **यच्छब्दो** यद्यर्थे। **ईमप्यर्थे**। तेनायमर्थो गोभिः सोमैः। इत्थंभूतलक्षणा तृतीया धेनुभिरिति च सोमैरित्थंभूता गृहीताः सोमाः सन्त इत्यर्थः। यदी यद्यपि **अन्ये अस्मद्** अस्मत्त ऋत्विग्यजमानाः। **मृगमिव** यथा मृगं महता यत्नने **व्रा** वरणा वरितारो नेष्टार आहुतिकृतत्वसामान्यं वा। व्रा व्रात्यस्थानीया लुब्धकादय इहाभिप्रेताः। तद्वदिन्द्रं **मृगयन्ते**। अभित्सरतिर्गतिकर्मा अधिगच्छन्ति। **धेनुभिः** धेनुरिति वाङ्नाम। वाग्भिश्च स्तुतिलक्षणाभिः। यद्यपीति श्रुतेस्तथापीत्यध्याहार्यम्। परस्य चैकवाक्यता योज्या। अस्मानेव प्रतीन्द्र आगच्छत्विति वाक्यशेषोऽध्याहार्यः। भाष्ये तु व्रात्या इत्येवमनुगम्यमानस्येत्युक्तम्। प्रैषा इत्येतदर्थप्रासार्थवचनम्। प्रैषाः प्रेष्याद् उत्सेधजीविनः कर्मकरास्त एव लुब्धकादय उच्यन्त इति द्रष्टव्यम्।

वराह इत्यनवगतमनेकार्थम्। **मेघ** इत्यभिधेयवचनम्। **वराहार** इत्यवगमः। वरमुदकलक्षणमाहारो यस्येति वा वरमुदकमाहरतीति वा कर्मोपपदे वराहारः सन् वराहः। उदाहरणम्-

(इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।)

अथ चतुर्थः खण्डः।

वराहो मेघो भवति। वराहारः। **'वराहारमहार्षीः'** इति च ब्राह्मणम्। विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता (ऋ०१.६१.७) इत्यपि निगमो भवति। अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। वृहति मूलानि। वरं वरं मूलं वृहतीति वा। **'वराहमिन्द्र एमुषम्।'** (ऋ०८.७७.१०) इत्यपि निगमो भवति। अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। **'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः।'** (ऋ०१०.६७.७) अथाप्येते देवगणा वराहा उच्यन्ते। **पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून्॥** (ऋ०१.८८.५) स्वसराण्यहानि भवन्ति, स्वयं सारीण्यपि वा। अपि वा स्वरादित्यो भवति, स एनानि सारयति। **'उस्रा इव स्वसराणि।'** (ऋ०१.३.८) इत्यपि निगमो भवति। शर्य्या अङ्गुलयो भवन्ति। शर्या इषवः शरमय्यः। शरः श्रृणातेः। **'शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः।'** (ऋ०९.११०.५) इत्यपि निगमो भवति। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति यदर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति। स वृतः कटुकिम्ना॥४॥

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ (ऋ०१.६१.७)

नोधस आर्षम्। **अस्य इदु** पदपूरणौ अस्येदु **मातुः** वृत्तिद्वारेण कृत्स्नस्य जगतो निर्माता यज्ञस्तस्यावयवभूतेषु **सवनेषु** प्रातःसवनादिषु। **महः पितुं** महः सोमलक्षणमन्नं **पपिवान्** पीतवानिन्द्रः। **चारु अन्ना** चारूणि चरुपुरोडाशादीनि अन्नानि क्रियासाकाङ्क्षत्वाद् भक्षितिवानिति शेषः। किञ्च **मुषायत्** मुषितवान् मुष्णाति मोदकानि। **विष्णुः** व्यापी कृत्स्नस्य जगतः कषायन्। **पचतं** परिपक्वमार्षयोग्यमित्यर्थः। **सहीयान्** सहो बलं तेन तद्वान् अतिशयेन बलवानित्यर्थः। **विध्यद्वराहं** विध्यति च वराहं मेघम्। **तिरः** प्राप्तः सन्। **अद्रिमस्ता** अद्रिश्च वज्रः तं साधु क्षेप्ता वज्रक्षेपणशीलो वा।

अयमपीतरोऽसुरवराहः पशुवराहो वा **एतस्मादेव** वराहारत्वाद् वराहरणत्वाद् वा। तत्रासुरवराहस्य श्रुत्या निर्वचनं प्रदर्शयति **'वरमाहारमाहार्षीदिति'** (निरु०५.४)। मेघेऽप्येतत्समानम्। **वृहति मूलानीत्यादि** सामान्येनोपक्षिप्तस्य पशुवराहस्य निर्वचनम्। वृहति उद्यच्छति वक्रेण खनति वनेषु मूलानीति। वृहेर्वराह इत्यर्थः। वरं वरमित्येकस्य वरशब्दस्य निवृत्तिः। वरशब्दाद् वृहेश्च वराह इति श्रुतिर्द्रष्टव्या।

असुरवराहस्योदाहरणम्-

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।

शृतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥ (ऋ०७.७७.१०)

कुरुसुतेरार्षम्। नैरुक्तपक्षेण प्रथमं तावन्मेघ एव योजयति। **विश्वा इत्** पदपूरणः। इन्द्र उच्यते यानि वर्षाणि त्वया पातितानि तानि विश्वानि सर्वाणि भ्राता **विष्णुः** आदित्यः स्वरश्मिभिरा**भरत्** आहरति। कीदृशो विष्णुः। **उरुक्रमो** बहुगतिः। **त्वेषितस्त्वयाधीष्टोऽभ्यर्थित** इत्यर्थः। न चोदकान्येव केवलानि **शतं महिषान्** शतसंख्याकांश्च महिषाख्यान् पशून्। अथवा शतशब्दो बहुनाम महिष इत्यपि महन्नाम बहून् महतश्च। कान्। सामर्थ्याद् यज्ञान्। स्तोतृ आहरत् आहरति ददातीति सम्बन्धः। **क्षीरपाकमोदनं** क्षीरपाकं चौदनरसपायसं भोजनार्थमित्यर्थः। **वराहमिन्द्रः** वराहं वराहारं वा कृष्णमेघं हन्तीति शेषः। कीदृशम्। **एमुषम्** आ इत्यस्योपसर्गस्य छान्दसोऽयमेकार आमुषमारोषणयोग्यमुदक- वन्तमित्यर्थः। एवमियं तावदेतन्मन्त्रद्वयस्यापि नित्यपक्षेण वराहशब्दस्य मेघविषयतयैव योजना।

ऐतिहासिकास्तु द्वे अप्येते ऋचावन्यथा व्याचक्षते। अत्र च चरकब्राह्मणे पठितमितिहासमाचक्षते। **'विष्णुर्यज्ञः स देवेभ्य आत्मानमन्तरधात्। तमन्यदेवता नाविन्दन् इन्द्रस्त्ववेत्। स इन्द्रमब्रवीत् को भवानिति। तमिन्द्रः प्रत्यब्रवीत् अहं दुर्गाणामसुराणां च हन्ता। ततोऽयं वराह एमुष एकविंशत्याः पुरां पारे अश्मन्मयीनां वसति तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति तमिमं जहीति। तस्येन्द्रस्ताः पुरो हित्वा हृदयमन्विध्यात्। अथ यत्र यदासीत् तद्विष्णुराभरदिति'**। तदेतदेतेन मन्त्रद्वयेनोच्यते।

अस्येदु मातुरिति। सामान्यव्याख्यानं पूर्वार्धचम्। एवं पीतसोमो भक्षितचर्वाद्यन्न इन्द्रो **विध्यद्** हृद् हृदये विद्धवान्। **वराहं** वराहनामानमसुरं वराहाकारं वा। **तिरः** प्राप्तनामैतत्, प्राप्तः सन्नित्यर्थः। **अद्रिमस्तेत्युक्तार्थम्**। **मुषायद् विष्णुस्तदेव** च मुषितवान् विष्णुर्नारायणः। **पचतं** परिपक्वं मोषयोग्यमतिशयेन बलवान्। किं पुनर्मुषितवान्? उच्यते। **विश्वेत्ता** तानि तत्र धनानि सर्वाणि **शतं महिषान् क्षीरपाकं चौदनं** पक्वमात्रमेतद्वौदनं **वराहमसुरमिन्द्र एमुषनामानं** हृदये विध्यदिति वाक्यशेषः। समानमन्यत् पूर्वेण। एवमितिहासपक्षे काः श्रुत्यानयादित्यावेते ऋचौ। पशुवराहस्य प्रसिद्धत्वान्निगमोदाहरणं न दर्शितम्।

अङ्गिरसो वराहा उच्यन्ते। उदाहरणम्-

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः।

ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट्॥ (ऋ०१०.६७.७.)

अयास्यस्यार्षम्। बार्हस्पत्यैषा प्रकृतौ बृहस्पतिम्। **ईमिति** पदपूरणः। **सत्येभिः** सत्यैरवितथैः। **सखिभिर्मेघ**- वधादिषु सहयोगित्वात् सखिभूतैः स्तुत्यस्तोतृलक्षणे सख्ये वर्तमानैः **शुचिभिर्दी**प्यमानैः। **गोधायसं** गौरुदकं तं धयति वा राधयति वा मेघस्तं गोधायसम्। वीत्ययमदर्द इत्यनेन सम्बध्यते। **धनसैर्ध**नस्योदकलक्षणस्य हविर्लक्षणस्य वा संभर्तृभिः सहयोगलक्षणा तृतीया एवंगुणैरङ्गिरोभिः सह **व्यर्ददो** मध्यमः प्रथमस्य स्थाने व्यत्ययेन, व्यदर्दद् विदारितवान्। **ब्रह्मणस्पतिर्**ऋग्यजुःसामलक्षणस्य ब्रह्मणोऽधिपतिः। **वृषभिर्नि**त्यमेव हविषां वर्षितृभिः सद्भिरित्यर्थः। **वराहैः** वरस्योदकस्य भर्तृभिः। **घर्मस्वेदेभिर्घ**र्मो यज्ञः स्विदिः क्षरणार्थः क्षरणं च गमनम्, यज्ञं प्रति गन्तृभिरित्यर्थः। विदार्य च **द्रविणं** धनमुदकाख्यम्। **व्यानड्** व्याप्तिकर्मायं विविधं प्राप्तवान्।

अत्रोच्यते। कथं पुनरसत्यङ्गिरःशब्देनाङ्गिरसोऽत्र वराहा उच्यन्त इति गम्यते? उच्यते। सखिभिरित्यनेन तेषामुपादानात्। अङ्गिरसो हि बृहस्पतेः सखायः। तथाहि अत्रैव सूक्ते जागते बृहस्पतेः सखिव्यपदेशोऽङ्गिरसां दृश्यते।

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।

विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त॥ (ऋ०१०.६७.२)

सत्यं स्तुवन्तः **ऋजु दीध्याना** ध्यायन्तो **दिवो** दीप्तस्याग्नेः **पुत्रासः** पुत्रा आङ्गिरसोऽभ्यङ्गारेभ्यो जाता इत्युक्तमङ्गारेष्वङ्गिरा इति। द्युलोकस्य वा पुत्रस्थानीयाः। कीदृशस्य द्युलोकस्य वा? **असुरस्य** असुरिति प्रज्ञानाम प्राणनाम वा रो मत्वर्थे प्रज्ञावन्तः प्राणवन्तो वा। **वीराः** विक्रान्ताः शूराः। **विप्रं** विप्रं यत्पदमात्माख्यस्थानम्। **अङ्गिरसो दधानाः** धारयन्तश्चेतसा जिज्ञासमाना इत्यर्थः। कीदृशं पदम्? **यज्ञस्य धाम** स्थानम्। **प्रथमम**ात्माख्यम्। आत्मा हि यज्ञस्य प्रथमं स्थानम्। सर्वदेवतानां तद्विकारत्वात्। द्रव्यदेवतात्यागरूपश्च यागः। तदुच्यते यज्ञस्य धाम प्रथममात्माख्यम्। **मनन्त** अत्यन्तं ज्ञातवन्त इत्यर्थः।

एवमियता ऋक्स्वरूपेणाङ्गिरसां स्तुतिर्न बृहस्पतेः। बार्हस्पत्ये चेयं सूक्ते पठ्यते। अतोऽस्य बार्हस्पत्यत्वसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहृत्य उत्तरयर्चा-

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।

बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत्॥ (ऋ०१०.६७.३)

इत्येतया सहैकवाक्यता योज्या। येऽङ्गिरसो यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त तैः **सखिभिः** सह **हंसैरिव वावदद्भिरत्यर्थं** स्तोतृलक्षणाः स्तुतिर्वदद्भिः सहयोगलक्षणा तृतीया, वदद्भिरेवं गुणैरङ्गिरोभिः सह। **अश्मन्मयानीव** अश्ममयसदृशानीव अतिदृढानि। कानि? **नहनानि** सम्बन्धनानि। कस्य? सामर्थ्यान्मेघस्य। **व्यस्यन्** विक्षिपन् मेघं घ्नन्नित्यर्थः। कः? **बृहस्पति**रभिक्रन्दयति उच्चारयति। **गाः** शस्त्रलक्षणा वाचः। **उत्प्रास्तौद्** उदित्ययमगायदित्यनेन सम्बध्यते, **उदगायच्च** उद्गायति च **विद्वान्** वेदार्थतत्त्ववित्।

यद्यपि वस्तुतोऽभिक्रन्दितानि मनुष्या यजमानऋत्विजः कुर्वन्ति न बृहस्पतिस्तानि करोतित्युच्यते। एवमत्र बृहस्पतेः सखिव्यपदेशस्याङ्गिरसां दर्शनात् **'स ईं सत्येभिः'** इत्यत्र सखिशब्देन तेषामुपादानम्। तस्मादसत्यप्यङ्गिरश्शब्देन अङ्गिरसोऽत्र वराहा उच्यन्ते इत्युपपन्नम्।

अथापीत्यादि। देवगणा मरुतो रुद्रा इत्येवमादयो **वराहा उच्यन्ते,** मन्त्रे यथा दृष्टं तथा पठितम्। अङ्गिरसां च मध्यमदेवगणत्वेऽपि ऋषित्वात् पृथग् ग्रहणम्। वराहशब्देनापि मध्यमदेवग्रहणसामान्येन य उच्यन्ते उच्यन्तां को दोषः। उदाहरणम्-

एतत्त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो वः।

पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून्॥ (ऋ०१.८८.५)

राहूगणस्य गौतमस्यार्षम्। युज्यन्ते प्राणवियोजनमनेन शत्रव इति **योजनं** सेनालक्षणं बलमिहाभिप्रेतम्। **एतत्त्यद्** युष्मदीयं बलम्। **नाचेति** न चेत्यते न ज्ञायते केनचित् **सस्वः** अन्तर्हितं नाम। हशब्दस्तु पदपूरणः।

देवतामाहात्म्यादन्तर्हितं युष्मदीयं बलं केनचिदपि न चेत्यते न दृश्यत इत्यर्थः। तत् कीदृशम्? उच्यते। **यद्** बलं हे **मरुतः**! अहं **गौतमः** साकाङ्क्षत्वात् स्तुतवानिति वाक्यशेषः। **वो** युष्मान् **पश्यन्। हिरण्यचक्रान्** हिरण्यशब्दोऽत्रापि **'ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति'** (निरु०२.५) इत्येवं हिरणमये वर्तते। हिरणमयानि रथचक्राणि येषां मरुतां ते हिरण्यचक्रास्तान् हिरणमयचक्ररथस्थानित्यर्थः। अयोदंष्ट्रास्थानीयत्वात् रथस्य उद्वित् अत्र दंष्ट्रे उच्येते। अयोमयरथोद्विन् लोहमयो द्विकरस्थानित्यर्थः। **विधावत** इतश्चेतश्च विविधं धावतः। **वराहून्** वरमुत्कृष्टं श्रेष्ठमिति पर्यायाः। हुशब्दो हन्तेर्वा हरतेर्वा हूयतेर्वा जुहोतेर्वा दानार्थस्य। उत्कृष्टस्य शत्रोराहन्तॄन् उदकस्याहर्तॄन् देवानामाह्वातॄन् हविषो वा भक्षयितॄन्।

स्वसराणीत्यनवगतम्। **अहानी**त्यभिधेयवचनम्। **स्वयं सारिणी**त्यर्थावगमः। स्वयमेव तानि गच्छन्ति नहि कश्चित् सारयन् दृश्यते। अपि वा **स्वरादित्य** एनानि सारयति। तदुदयास्तमयाभ्यां तानि गमयति। उदाहरणम्-

विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒प्तुरः॑ सु॒तमा ग॑न्त॒ तूर्ण॑यः।

उ॒स्रा इ॑व॒ स्वस॑राणि॥ (ऋ०१.३.८)

विश्वेदेवाः। किंविशिष्टाः? **अप्तुरो**ऽबिति उदकवचनमन्तरिक्षनाम वा। तुरशब्दस्तुर्वतेर्हिंसार्थस्य। प्लवनं च गमनं प्लवतेर्गत्यर्थत्वात्। अप्लुत उदके अन्तरिक्षे वा। स्त्रीतस्य कुर्वीतारम्। अप्सु वा गन्तारः। उदकेऽन्तरिक्षे वा अप्रतिहतगमनशक्तय इत्यर्थः। अथवा तुरशब्दोऽन्तर्नीतस्य तरतेः स्थातार आदित्यं प्रत्यभिगमयितारः। रश्मयो हि नैरुक्तानां विश्वेदेवाः, ते च रसानामादातारः। अथवा **'आप्लृ व्याप्तौ'** इत्यस्य तृजन्तस्य षष्ठ्येकवचन एतद्रूपम्। स्तुतिभिर्हविर्भिश्च देवानाप्तुर्यजमानस्य स्वभूतं **सुतं** सोमम्। **आगन्त** आगच्छत। आगन्तेति च मध्यमपुरुषश्रुति- सामर्थ्याद् विश्वेदेवासः, अप्तुर इत्येते आमन्त्रितप्रथमे व्याख्यातव्ये। हे विश्वेदेवा अप्तुरः, यूयमागच्छत इति। **तूर्णयः** क्षिप्रनामैतत्, क्षिप्राः। कथम्? **उस्रा इव स्वसराणि** उस्रा इति गोनाम रश्मिनाम वा। स्वसराणीत्यहर्नाम। यथा दोहार्थं गावः समस्ता रश्मयोऽहानि धृत्या गच्छन्ति तद्वत् समस्ता आगच्छतेत्यर्थः।

शर्या इत्यनवगतम्। **इषव** इत्यभिधेयवचनम्। **शरमय्य** इत्यवगमः। शरविकारश्चात्र संस्कारविशेषोऽभि-प्रेतः। संस्कारा हि शरा इषव उच्यन्ते। प्रायविषयो वा मयट् शरप्रायाः शरमयं स्रुवमयमिति यथा। निर्वचनप्रसक्तं शरं निराह। **शरः शृणातेर्हिंसार्थस्य**। हिंसागतमेव प्रायेणोदाहरणम्-

अ॒भ्य॑भि॒ हि श्रव॑सा त॒तर्दि॒थोत्सं॒ न कं चि॑ज्जन॒पान॒मक्षि॑तम्।

शर्या॑भि॒र्न भर॑माणो॒ गभ॑स्त्योः॥ (ऋ०९.११०.५)

त्र्यरुणत्रसदस्योरार्षम्। **हीति अभिशब्दश्चैकः** पदपूरणः। तृदि हिंसार्थे। अभिषोता उच्यते। **अभिततर्दिथे**त्यर्थः, अभिहिंसितवान् सोममभिष्टुतवानित्यर्थः। **श्रवसा** श्रवणीयेन अभिघातजेन ग्रावशब्देन। **उत्सं न** उत्स इति कूपनाम कूपमिव यथा कूपं कश्चित् क्वचित् कूपखननपाषाणकुट्टकादिभिः। कीदृशं कूपम्? **जनपानं** जनाः पिबन्ति यस्मिन् तं जनपानम्। **अक्षित**मक्षीणोदकं कर्तुं हिंस्यात् कुट्टयेत् तद्वदेव पानं सोममक्षीणं सर्वदेवानां समर्थमित्यर्थः। **शर्याभिर्न** द्वितीयोपमा। शरमयीभिरिषुभिः। यथा कश्चिद् **भरमाणो** धारयन्। किम्? धनुः। **गभस्त्यो**र्गभस्ती इति बाहुनाम। तत्सम्बन्धस्तु हस्तयोर्द्रष्टव्यः। सप्तमी तृतीयास्थाने बाहुसम्बन्धाभ्यां

हस्ताभ्यामभिहिंसितः स्यात् तद्वत्। एवं पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यात् शर्या इषव इत्युपपन्नम्। अङ्गुलय इत्युपपाठस्तोषः। अङ्गुलिनामत्वेन पठितत्वात् पाठसिद्धित्वादभिधेयस्य।

अर्क इत्यनेकार्थम्। अर्चतेरौणादिकः कर्मसाधनः। यस्माद्देवमर्चन्ति। मन्त्रैः करणसाधनः। अन्ये कर्तृसाधनः। अर्चतिरपि जीवनार्थः। जीवन्ति हि तेन भूतानि। अतश्च धात्वर्थानवगमात्, अथापि घञ्स्मरणात् पचादिव्यमिकत्वानुपपत्तेरनवगमः। वृक्षः प्रसिद्ध एव अर्चतिश्चात्र कटुकभावार्थः। यतो दर्शयति स वृक्षो वृतः कटुकिम्ना। वृधत्वादिषु वृधादिषु वा वृक्कृतत्वात् प्रक्षेप्तव्यः। देवमन्त्रयोरेकमेवोदाहरणम्। अन्ने मृग्यम्। अत एव केचिन्न पठन्त्येवान्ने। तथा वृक्षे प्रसिद्धत्वादनुपन्यासः। उदाहरणमस्य-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ (ऋ०१.१०.१) गायन्ति त्वा गायत्रिणः। प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव। वंशो वनशयो भवति। वननाच्छ्रूयत इति वा। पवी रथनेमिर्भवति। यद्विपुनाति भूमिम्। **उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा।** (ऋ०५.५२.९) तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुरित्यपि निगमौ भवतः। वक्षो व्याख्यातम् (४.१६)। धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः। **'तिरो धन्वातिरोचते'**। (ऋ०१०.१८७.२) इत्यपि निगमो भवति। सिनमन्नं भवति। सिनाति भूतानि। **'येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः।'** (ऋ०३.६२.१) इत्यपि निगमो भवति। इत्थामुत्थेत्येतेन व्याख्यातम्। सचा सहेत्यर्थः॥ **वसुभिः सचाभुवा॥** (ऋ०८.३५.१) वसुभिः सहभुवौ। चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः। **चिदसि मनासि॥** (यजु०४.१९) चितास्त्वयि भोगाश्चेतयस इति वा। आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः (१.३)। अथाप्यर्धे दृश्यते। **अभ्र आँ अपः॥** (ऋ०५.४८.१) अभ्रे आ अपः। अपोऽभ्रेऽधीति। द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा। **अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि॥** (ऋ०७.२५.३) अस्मासु द्युम्नं च रत्नं च धेहि॥५॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ (ऋ०१.१०.१)

गायतिरर्चतिकर्मा। **गायन्ति** स्तुवन्ति **त्वाम्**। के? **गायत्रिणो** गायत्रं साम ते तव तन्वन्त उद्गातारः। न च त एव केवलाः। किं तर्हि? **अर्चन्ति** स्तुवन्ति **अर्कं** देवं त्वाम् **अर्किणो** मन्त्रोऽत्रार्क उच्यते तद्वन्तो होतारोऽपि। **ब्रह्माणो** ब्राह्मण ऋत्विक् तत्पुरुषास्तु ब्राह्मणाः शंस्योनीनवेक्ष्येदं बहुवचनम्। ब्राह्मणा अपि त्वां हे **शतक्रत!**

बहुकर्मन् बहुयज्ञ इन्द्र। **उद्वंशमिव येमिरे** यथा हि कश्चिद् वंशमुद्यच्छति एवमुद्येमिरे उद्यच्छन्ति उत्क्षिपन्तीत्यर्थः।

नियमप्रसङ्गादाह। **वंशो वनशयो** जायत इत्यर्थः। **वननाद्वा** वंशाभिप्रायमेतत्। स हि संसेव्यते मनोहारिस्वरत्वाद् गीतिव्यसनिभिः श्रूयते।

पविरित्यनवगतमनेकार्थं च। **रथनेमि**रित्यभिधेयवचनम्। रथश्चक्रधारेत्यर्थः। वज्रोऽपीति। अतोऽनेकार्थम्। इह तूदाहरणे रथसम्बन्धान्नेमिरित्युच्यते। **यद्** यस्माद् **विपुनाति** विपाटयति भूमिम्। पुनातेरर्थान्तरवृत्तित्वमनवगमत्वम्। औणादिक इकारो नामकरणो द्रष्टव्यः। उदाहरणम्-

उ॒त स्म॑ ते॒ परु॑ष्ण्या॒मूर्णा॑ वसत शु॒न्ध्यवः॑।

उ॒त प॒व्या रथा॑ना॒मद्रिं॑ भिन्द॒न्त्योज॑सा॥ (ऋ०५.५२.९)

श्यावाश्वस्यार्षम् **उत**शब्दोऽप्यर्थे। **स्म**शब्दश्चार्थे। अपि च ते प्रकृता मरुतः। **परुष्ण्याम्** इरावतीं परुष्णीत्याहुः। माध्यमिका वा वाक् परुष्णी पर्ववत्वात् तस्याम्। **ऊर्णाः** छन्नाः **वसत** व्यत्ययेनायं मध्यमपुरुषः वसन्ति न्यवतिष्ठन्तीत्यर्थः। **शुन्ध्यवः** शोधयितारः मेघस्य यावत्तत्रोदकं सञ्चार्यस्यापनेतार इत्यर्थः। अथवा शुन्ध्युर्मद्गुरुच्यते। लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम्। शुन्ध्यव इव। यथा मद्गव इरावत्यां नद्यां छन्ना वसन्ति व्यवतिष्ठन्ते तद्वन्मरुत इत्यर्थः। **उत** अपि च **पव्या** नेम्या चक्रधारया **रथानाम**वयवभूतया। **अद्रिं** मेघम्। **भिन्दन्ति** मेघस्योपरि रथेन चङ्क्रम्यमाणा रथचक्रधारया मेघान् विदारयन्तीत्यर्थः। **ओजसा** बलेन। कालभेदाद् द्वे कर्मणी मरुताम्। वर्षाभ्योऽन्यत्राष्टौ मासान् छन्ना वसन्ति न स्वयं दृश्यन्ते नाप्येषां किञ्चित् कर्मेत्यर्थः। वर्षासु त्वाविर्भूतरूपा रथचक्रधारया अद्रिं भिन्दन्ति। ब्राह्मणमप्यस्मिन्नर्थे उदाहरन्ति। सान्तपनीयं हविः प्रकृत्य श्रूयते-

देवा वै वृत्रस्य मर्म नाविन्दन्

तं मरुतः क्षुरपविना तीक्ष्णधारया व्ययुः। (मैत्रा०सं०१.१०.१४)

मिश्रेण विपूर्वस्तु पृथक् विश्लिष्टसर्वाङ्गबन्धनं कृतवन्त इत्यर्थः। तस्मादुपपन्नं पवी रथनेमीति।

वक्ष इत्यनवगतमनेकार्थं च। तत्तु प्रसङ्गेन व्याख्यातं वहेः। **'उपो अदर्शि'** (निरु०४.१६) इत्यत्र।

धन्वेत्यनवगतम्। **अन्तरिक्ष**मित्यभिधेयवचनम्। **धन्वन्ति** गच्छन्ति धवं सन्ति **अस्मादाप** इति निर्वचनम्। धन्वना इत्यवगमः। **'धन्व॑ना॒ गा'** (ऋ०६.७५.२) इति च धनुषि च प्रयोगदर्शनादनेकार्थत्वप्रदर्शनार्थ उपन्यासो द्रष्टव्यः। उदाहरणम्-

यः पर॑स्याः परा॒वत॑स्ति॒रो धन्वा॑ति॒रोच॑ते।

स नः॑ पर्ष॒दति॒ द्विषः॑॥ (ऋ०१०.१८७.२)

अग्निपुत्रस्य वत्सस्यार्षम्। य इत्यग्नेर्निर्देशः सूक्तस्याग्नेयत्वात्। **यो**ऽग्निः **परस्याः परावतो** यद्दूरं तस्मादत्यन्तदूरादित्यर्थः। **तिरः** शब्दस्य **'विभाषा कृञि'** (अष्टा०१.४.७२) इति गतित्वस्मरणं च श्रूयते, तच्चात्र क्रियापदमध्याहार्यं तिरस्कृत्य। **धन्व** अन्तरिक्षमन्तरालवर्तिन**मतिरोचते** सुदीप्य इत्यर्थः। अथवा तिर इति प्राप्तनाम। अवीत्युपसर्गश्रुतेस्तत्रापि क्रियापदोपन्यासे उक्तं प्रयोजनम्। ....।

सिनमित्यनवगतम्। अन्नमित्यभिधेयवचनम्। सिनाति भूतानीति धातुदर्शनम्। 'षिञ् बन्धने' (धा०९.५) इत्यस्य कर्तरि औणादिको नक् प्रत्ययः। उदाहरणम्–

इ॒मा उ॑ वां भृ॒मयो॒ मन्य॑माना यु॒वाव॑ते॒ न तुज्या॑ अभूवन्।

क्व१॒॑त्यदि॑न्द्रावरुणा॒ यशो॑ वां॒ येन॑ स्मा॒ सिनं॒ भर॑थः॒ सखि॑भ्यः॥ (ऋ०३.६२.१)

विश्वामित्रस्यार्षम्। इमा इति सामर्थ्यात् स्तुतीनां प्रतिनिर्देशः। **इमाः** स्तुतयः। **उकारः** पदपूरणः। **वां** युवाम्। किंविशिष्टाः स्तुतयः। **भृमयो** भ्रमणशीलः। **मन्यमानाः** मन्यतेरर्चतिकर्मण एतद् रूपम्। अर्चन्त्यः स्तुवन्त्यः। **युवावते** युष्मद्वते युवां स्तुत्यतया यष्टव्यतया च यस्तद्वामस्मै मुह्यं द्य। **तुज्या** तुजतेर्दानार्थस्य पूर्ववत्। सम्प्रति दानाहरता स्वप्रतिपद्यत इत्यर्थः। पृच्छात्वाभ्यदिन्द्राय **वरुणः**। कार्यकारणयोरभेदोपचारात् कार्यशब्दस्यायं कारणे प्रयोगः। यशसः कारणभूतं दानसामर्थ्यम्। **वां** युवयोः। **येन स्मशब्दः** पादपूरणः। **सिनमन्नम्। भरथः** प्रापयथो दत्त इत्यर्थः। **सखिभ्यः** स्तुत्यस्तोतृलक्षणे च सख्ये वर्तमानेभ्योऽस्मदादिभ्यः।

इत्था इत्यनवगतः। संस्कार्यत्वं च निपातनादनेकार्थत्वं च तत्पुनरेतत् **अमुथा** इत्येतेन व्याख्यातमष्टमे। यथासाविद्य तेन कृतनिवर्चनेन पदद्वयेन कथमापस्तन्तरो अस्मादिति प्रकृत्यर्थः। यथेत्युपमानमिति तथाशब्दार्थः। एवमथेति व्याख्यातम्। यथा चायममुथेति एवमित्थेत्यपि। अयमेकतरो युष्मान्। तथा इति चोपमायामिति एवमनेन प्रकारेण अमुथेत्येतेन व्याख्यातं द्रष्टव्यम्। अनेकार्थत्वं च यथा हेतौ वेति प्रकारवचने हेत्वर्थतायामुपमायां च द्रष्टव्यम्। उदाहरणम् **'अत्राह-गोरमन्वत'** (निरु०४.२५) इति तत्पुनर्नवमे प्रसङ्गेन व्याख्यातम् **'अमुत्र चन्द्रमसो गृहे'** इति।

सचा इत्यनवगतो निपातः। सहेत्यर्थः। उदाहरणम्–

अ॒ग्निनेन्द्रे॑ण॒ वरु॑णेन॒ विष्णु॑नादि॒त्यै रु॒द्रैर्वसु॑भिः सचा॒भुवा॑।

स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ सोमं॑ पिबतमश्विना॥ (ऋ०८.३५.१.)

श्यावाश्वस्येयमार्षम्। **अग्निना इन्द्रेण वरुणेन विष्णुना आदित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा** सहभुवौ। सचाशब्दः सहार्थे। सर्वत्र च सहयोगलक्षणा तृतीया, सहभुवौ सहभाविनौ अग्न्यादिभिः सहितावित्यर्थः। **सजोषसौ** संप्रीयमानौ, **उषसा सूर्येण सोमं पिबतमश्विना** हे अश्विनौ।

चिदित्येष निपातोऽनुदात्तः **पुरस्तादेव** षष्ठे (निरु०१.४) **व्याख्यातः। 'चिदित्येषोऽनेककर्मा'** इति। **'च॒तुर॑श्चि॒द्दद॑मानाद्'** (ऋ०४.४१.९, निरु०३.१६) इत्यादि। स एव रूपसामन्यात्, **अथापि पशुनामेह भवति** नैगमे प्रकरणे। स चोदात्तश्चिनोतेश्चयतेर्वा। उदाहरणम्– **'चिद॑सि म॒नासि॒ धीर॑सि॒'**[1] (मैत्रा०सं०१.२.४)।

अनेन च यजुषा सोमक्रयणी गौरुच्यते। **चिदसि सना** इति परस्तात् तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः कर्तव्यः। यात्वञ्चितास्यां भोगाः क्षित्यादयः। या वा चेतसे सा सिञ्चितासि भोगैश्चिद्रूपा वासीत्यर्थः। **मनासीति** मन्यतेः कान्तिकर्मण एतद्रूपम्। कमनीयासि। **धीरसि** धीरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम वा कर्म चासि कर्म वा प्रज्ञा वा। तत्कारणत्वाच्चैवमुच्यते। कर्मणः प्रज्ञाया हेतुरसीत्यर्थः। सत्यां हि तस्यां बुद्धिकर्मणी तायेते। **दक्षिणा चासि**

---

१ तु० यजु०४.१९-२०

दक्षिणाद्रव्यमध्ये गौश्चाश्वश्चेति समाम्नानात्। **यज्ञियासि** यज्ञार्हा चासि। **क्षत्रिया चासि** क्षत्रशब्दो धनवचनः स्वार्थे तद्धितो धनं चासि। अर्हार्थ एव वा धनमर्हसीत्यर्थः। **अदितिरसि** अदीना अक्षीणा चासीत्यर्थः। **उभयतश्शीर्ष्णी** उभयतः शिरो यस्याः सा उभयतः शिरसा अक्तेत्यर्थः। कथम्? मुखत आत्मनः स्वभूतेन पृष्ठतः प्रसवकाले प्रजायमानस्यापत्यस्य या त्वमेवं चासीत्यर्थः। **अद्रिरसि** अदीना अक्षीणा चासीत्यर्थः। **सा नो**ऽस्माकं **सुप्राची** सुप्रगमना क्रयार्थं सोमं प्रति। **सुप्रतीची** सुप्रगमना निष्कृता च सती अस्मान् प्रति **एधि**। लभते **मित्र** इत्यादिभ्यः। गच्छति क्रयणाय त्वाम्। **पथि वा देवो बध्नातु** पूषा च पथि रक्षतु अध्वनि पातु अध्वनि रक्षतु। **इन्द्रायाध्यक्षाय** कृताकृतप्रत्यवेक्षणार्थं सर्वस्य। अधि उपरि अक्षिणी यस्य सोऽध्यक्ष उच्यते। तेनेन्द्रस्यैव विशिष्टस्यार्थायेत्यर्थः। **अन्वेनं माता मन्यतां** माता अत्र उपसर्गश्रुतिसामर्थ्यान् मन्यते सर्वत्रानुषङ्गः। **अनुमन्यतां च पिता अनु भ्राता च**। किंविशिष्टः? **सगर्भ्यः** समाने गर्भे भवः। **अनुसखा सयूथ्यः** समाने यूथे भवः। या च तैरनुमन्यते सा भेदेऽपि दानादिगुणे **देवमच्छाभेरभिगच्छ इन्द्राय** इन्द्रार्थाय। कतमं देवम्? **सोमम्**। अभिगतवतीश्चवतीं सतीम्। **रुद्रस्त्वा** त्वामावर्तयतु। **स्वस्ति** क्रियाविशेषणमेतत्। कथमावर्तयतु? अविनाशम्। किंविशिष्टो रुद्रः? सोमः सखा यस्य तेन चापत्या पुनरेहि अस्मान् प्रतीति शेषः। चिदित्यस्य व्याख्यानं चितकृत्यादि।

आ इत्याकार उपसर्गो यः पुरस्तादेव **'आ इत्यर्वागित्यर्थे'** (निरु०१.३) इत्यत्र **व्याख्यातः**। पुनश्च अथाप्युपमार्थे दृश्यत इति निपात इत्युक्तः। **इहाप्यध्यर्थ** इत्याह। अध्यर्थश्च **'अधीत्युपरिभाव'** (निरु०१.३) इत्युक्तम्। उदाहरणे पदविभागं दर्शयितुमाह। अभ्र आँ अपः अभ्रे अध्यय इत्यर्थकथनम्। उदाहरणम् इति।

कदुं प्रियाय धाम्नें मनामहे स्वक्षत्राय स्वयंशसे महे वयम्।

आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपो वृंणाना वितनोति मायिनी॥ (ऋ०५.४८.१)

प्रतिभानोरार्षम्। कमिति सुखनाम अतश्चतुर्थ्या अदादेशः। उकारः पदपूरणः। सुखाय **प्रियाय च धाम्ने** धाम्नः स्थानाय स्वर्गाय सुखं प्रियं च स्वर्गाख्यं स्थानं प्राप्तुमित्यर्थः। **मनामहे** याच्ञाकर्मायं याचामहे। कान्? विश्वेदेवान्। कृत एतत्। सूक्तस्य वैश्वदेवत्वात्। कीदृशाय धाम्ने? उच्यते। **स्वक्षत्राय** क्षत्रं धनं स्वयमेव यस्मिन्नाश्रितं धनम्। **स्वयशसे** स्वयमेव च यशः कीर्तिलक्षणं यस्मिंस्तस्मै। **महे** महते। **वयमामेन्यस्य** मेन्यं मातव्यमतिमहत्त्वात् सर्वदैवाभिमुख्येन मातव्यं न कदाचिदपि मितं निर्मातृतया जगतः। आमेन्यो रजोऽन्तरिक्षलोकस्तस्य **रजसः** षष्ठीश्रुतेः सम्बन्धिनि **अभ्रे आ** रजस्सम्बन्धिनोऽभ्रस्याधि उपरि स्थितेति वाक्यशेषः। **अप** उदकादीनि **वृणाना** संभजमाना वृष्टिं ददतीत्यर्थः। यदुक्तविशेषणं स्थानं तत् प्राप्तिस्थितिहेतुभूतसम्पादनद्वारेण **वितनोति** विस्तारयति। **मायिनी** माया प्रज्ञा प्रज्ञावती। का पुनरसौ? सामर्थ्यान्माध्यमिका वाक्।

द्युम्नमित्यनवगतम्। द्योततेरिति धातुनिर्देशः। द्योतनमित्यवगमः। **यशो वा अन्नं** वेत्यभिधेयवचनम्। उदाहरणम्-

शतं तें शिप्रिन्नूतयः सुदासें सहस्रं शंसां उत रातिरस्तु।

जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्यास्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि॥ (ऋ०७.२५.३)

शिप्रे हनू नासिके वा ताभ्यां तद्वान् **ऊतयस्तर्पणानि धाम्नो गमनानि** वा सन्तु अस्मिन् यज्ञे नित्यप्राप्तत्वं नित्यागमनं वेत्याशास्महे। **सुदासे** सुदाः कल्याणदानो यजमानस्तस्मै सुदासे कल्याणदानस्य यजमानस्यानुग्रहार्थ- मित्यर्थः। न च केवलं बहूनि तर्पणान्येवं गमनानि वा। किं तर्हि? **सहस्रं शंसाः** स्तुतयः। **उत रातिर्दानं** सवनीयपुरोडाशादेः। **अस्तु** भवतु अस्मिन् यज्ञे। किञ्च **जहि** विनाशय। किम्? **वधः** वज्रनामेदमायुधमात्रोपलक्षणं चेह द्रष्टव्यम्। सर्वमायुधमित्यर्थः। अस्मान् **वनुषो** हिंसितुर्**मर्त्यस्य** मनुष्यस्य स्वभूतम्। **अस्मे** अस्माकम्। **द्युम्नं** यशोऽन्नं वा। अधि नीत्यस्य स्थाने। **रत्नं** चानेकप्रकारं पद्मरागादि **धेहि** निधेह्यस्मभ्यमित्यर्थः।

इति स्कन्दस्वामिकृते विवरणसमुच्चये दशमस्या-(पञ्चमस्या) ध्यायस्य प्रथमः पादः।

पञ्चमश्च खण्डः समाप्तः।

॥अथ पञ्चमस्य (दशमस्य) द्वितीयः पादः॥

अथ षष्ठः खण्डः।

पवित्रं पुनातेः। मन्त्रः पवित्रमुच्यते। येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा। (सा०उ०५.२.८.५) इत्यपि निगमो भवति। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। **गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः।** (ऋ०९.८६.३४) इत्यपि निगमो भवति। आपः पवित्रमुच्यन्ते। **शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः॥** (ऋ०७.४७.३) बहूदकाः। अग्निः पवित्रमुच्यते। वायुः पवित्रमुच्यते। सोमः पवित्रमुच्यते। इन्द्रः पवित्रमुच्यते। **अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः। पवित्रं ते मा पुनन्तु॥** आप०श्रौ०१२.१९.६ इत्यपि निगमो भवति। तोदस्तुद्यतेः॥ ६॥

ओं **पवित्रम्**। किमर्थमिदम्, यावताऽस्मिन् प्रकरणेऽनेकार्थमनवगतं व्याख्यायते? अवगतञ्चैतत्, **'पुवः संज्ञायाम्'** (अष्टा०३.२.१८५) इति। इतो नामकरणार्थमस्त्ययमवगमः किन्तु संज्ञायामिति प्रत्ययान्तोपाधिः। स चायं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायं कुशतृणविशेषविषयताय रूढो मन्त्रादौ बहुमन्त्रः पवित्रमुच्यते।

एवं तर्हि **'कर्तरि चर्षिदेवतयोः'** (अष्टा०३.२.१८६) इत्येवं भविष्यति। एवमपि ऋषिदेवतयोरित्युच्यते। मन्त्रो न देवता नापि ऋषिः। उच्यते। दर्शनाद् ऋषिर्मतो वेदः। वेदत्वाद् दिव्यञ्चक्षुरेतद् दृश्यते न पश्यतीति ऋषिर्मन्त्रः इत्युपपन्नो पवित्रशब्दस्यावगमः। रश्म्यादिषु च देवतात्वात्।

एवं तर्ह्यनेकार्थत्वादुपन्यासः। स च मन्त्रादिषु करणसाधनः। अग्न्यादिषु कर्मसाधनः। तदेतत् **'पवित्रं पुनातेः, मन्त्रः पवित्रम्'** इत्यादिना भाष्यकारेण दर्शितम्। उदाहरणम्–

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।

येन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः॥ (साम०, उ०, ५.२.८.५)

ऋषिः, तस्यार्षम्। **येन** कारणभूतेन **देवा** दातारो हविषाम्, के? सामर्थ्याद् ऋत्विग्यजमानाः **पवित्रेण** मन्त्रेणात्मानं **पुनते** शोधयन्ति। **सदा** सर्वदा। तेन किंविशिष्टेन? **सहस्रधारेण** धारेति वाङ्नाम सहस्रमित्यपि बहुनाम बह्वी धारा वा ऋग्यजुःसामलक्षणभावा विशेषाभावेन सम्बन्धिनी यस्य सः सामान्येन सहस्रधारेण पवमानः पूयमानः सोमः पुनातु नोऽस्मानिति।

रश्मयः पवित्रम्। उदाहरणम्–

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः।

देवो देवानां पवित्रमसि येषां भागोऽसि॥[1] **(मैत्रा०सं०१.३.४)**

---

१ तु० यजु०७.१

वाचोऽधिपतिरिन्द्रस्तस्यार्थाय **पवस्व** क्षर पवतेः क्षरार्थत्वात्। कीदृशस्येन्द्रस्यार्थाय? **वृष्णो** वर्षितुः। कुतः क्षर? उच्यते। **अंशुभ्यां** व्यत्ययेनेदं द्विवचनं बहुवचनस्य स्थाने अंशुभ्यः। अशुंशब्देन लतावचनात् लताभ्य इत्यर्थः। **गभस्तिपूतः** गभस्तिभी रश्मिभिः पूतोऽसि योऽरण्ये। किञ्च **देवस्त्वं** दानादिगुणो **देवानां** दातॄणां हविषामृत्विग्यजमानानां **पवित्रमसि** प्रापितासि। केषाम्? **येषां भागोऽसि** भज्यत इति भागः। ये त्वां यज्ञे वा भजन्त इत्यर्थः।

अन्ये तुल्यत्वात् प्रीतिप्रतीतस्य-

पव॑मान॒ मह्यर्णो॒ वि धा॑वसि॒ सूरो॒ न चि॒त्रो अव्य॑यानि॒ पव्य॑या।

गभ॑स्तिपूतो॒ नृभि॒रद्रि॑भिः सुतो म॒हे वाजा॑य॒ धन्या॑य धन्वसि॥ (ऋ०९.८६.३४)

इत्युदाहरन्ति। पवमान अत्रिणामार्षम्। हे **पवमान** सोम। **महि** महत्। **अर्ण** उदकं वसतिः ये पर्येकधनाख्यम्। **विधावसि** विविधं गच्छसि त्वम्। **सूरो न** सूर्य इव यथा सूर्य**श्चित्रो** विचित्ररश्मिना तेजसा वा मृदुमध्यादिमात्रतया वैचित्र्याद् विचित्रमननीयौ पूजनीयौ भौमरसलक्षणं रश्मिभिर्गच्छतीति तद्वत्। **अव्ययानि** अविशब्देनात्र अविमयो गृह्यते इत्येवमूर्णा उच्यते नायमर्थः। अविविकार ऊर्णा तन्मयानि अव्ययानि दशापवित्राख्यानि। **गभस्तिपूतो** गभस्तिभी रश्मिभिः पूतोऽसि योऽरण्ये। **नृभिर्मनुष्यैर्ऋत्विग्यजमानादिभिः। अद्रिभिर**भिषवग्रावभिः। **सुतो**ऽभिषुतः। **धन्वसि** गच्छसि। किमर्थम्? **महे** महते **वाजाय** अन्नाय **धन्याय** धनाय च। यजमानस्य बह्वन्नं धनं च तथा स्यादित्येवमित्यर्थः। अथवा धन्वसि द्रोणकलशं वा देवान् प्रति।

ननु मन्त्रद्वये रश्मीनां पवमानसम्बन्धमात्रं गम्यते नाभिधानं पवित्रशब्देन। एवञ्च **'पवित्रवन्तः परि वाचमासते'** (ऋ०९.७३.१३, निरु०१२.३२) इत्युदाहरणम्। तच्चोपरिष्टाद् व्याख्यास्यते।

आपो हि पाविका इति पवित्रमुच्यन्ते।

श॒तप॑वित्राः स्व॒धया॒ मद॑न्तीर्दे॒वीर्दे॒वाना॒मपि॑ यन्ति॒ पाथः॑।

ता इन्द्र॑स्य॒ न मि॑नन्ति व्र॒तानि॒ सिन्धु॑भ्यो ह॒व्यं घृ॒तव॑ज्जुहोत॥ (ऋ०७.४७.३)

वसिष्ठस्यार्षम्। बहून्यवयवानि पवित्राण्युदकानि यासु ताः **शतपवित्राः** बह्व्य इत्यर्थः। **स्वधया** अन्नेन सह। **मदन्तीः 'मद तृप्तौ'** (धा०१०.१७२) **'वाच्छन्दसि'** (अष्टा०६.१.१०५) इति पूर्वसवर्णः। सर्वप्राणिनस्तर्पयन्त्य इत्यर्थः। **देवीर्दे**व्य आपः। **देवानां** पाथोऽन्नं सोमाख्यम्। **अपियन्ति** गच्छन्ति। **ता** इति तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यास्ता **इन्द्रस्य** स्वभूतानि **न मिनन्ति** हिंसायां न हिंसन्ति **व्रतानि** कर्माणि मेघवधया अन्यानि। मेघहननादनन्तरमेव क्षरन्तीत्यर्थः। अक्षरन्तीषु हि तासु तद्धिंसतः कर्म स्यान्निष्फलत्वात्। अतस्ताभ्यः **सिन्धुभ्यो हव्यं** हवि**र्घृतवद्** घृतसंयुक्तं **जुहोत**।

शतपवित्रा इत्यस्यार्थस्य कथनं बहूदका इति। अग्न्यादयोऽपि पवित्रमुच्यन्ते। तेऽपि हि पावयन्ति जगत् स्वेन स्वेन स्पर्शनादिद्वारेण। उदाहरणम् **'अग्निः पवित्रं'** इत्यादि निगदव्याख्यानम्।

तोद इत्यनवगतम्। **तुद्यत** इति धातुनिर्देशः। इदमयुक्तं वर्तते। किमत्रायुक्तम्? यदि तावत् तुदेरकर्तरि कारके घञ् तुद्यते ततस्तोद इत्येव भवितव्यम्। अथ कर्तरि..........। ननु च सलक्षणः कः क्रियते

ततस्तुदतीति तुद इति प्राप्ते तोद इत्यनवगतम्। किन्तु तुद्यतेरित्ययुक्तं तुदतेरिति स्यात्। एवं तस्य पठितं धात्वन्तरमेव तुद्यतिः, अवृत्कृतत्वाद्वा हुरण्यतिवत्। तुद्यत्यश्यनि द्रष्टव्यः। तच्च फालादिकमुच्यते। नातो लोके तुद्यत इत्यवगमः। अत उपपन्नं तोद इत्यनवगतम्। तुद्यत इति तोदो गृहस्थः। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

पुरु त्वां दाश्वान् वोंचेऽरिरंग्ने तवं स्विदा। तोदस्येव शरण आ महस्यं॥ (ऋ०१.१५०.१)

बहुदाश्वाँस्त्वामेवाभिह्वयाम्यरिरमित्र ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव। यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्। तोदस्येव शरण आ महस्य। तुदस्येव शरणेऽधिमहतः। स्वञ्चाः सु अञ्चनः। **'आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः।'** (ऋ०५.३७.१) इत्यपि निगमो भवति। शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः॥७॥

पुरु त्वां दाश्वान् वोंचेऽरिरंग्ने तवं स्विदा।
तोदस्येव शरण आ महस्यं॥ (ऋ०१.१५०.१)

दीर्घतमसः। **पुरु** बहु। किम्? सामर्थ्यात् हविः। यत् त्वद्देवत्यं यच्चान्यदेवत्यं तत्सर्वं **दाश्वान्** तुभ्यं ददाम्यहम्। त्वामेव **वोचे** ब्रवीमि। किम्? सामर्थ्यात् आगच्छ इति। आह्वयामीत्यर्थः। अत्रैकवाक्यतायै यस्मात् तस्मादित्यध्याहार्यम्। तस्मादत्र त्वामेव वोचे यस्माद् **अरि**रीश्वरस्त्वं सर्वहविषाम्। हे **अग्ने**! ग्रन्थदेवतानामपि त्वय्येव हव्यस्य होमात्। यस्माच्च **तव स्विदे**वार्थे तवैवाहं स्वभूत इति शेषः। **आ**कारः पादपूरणः। कथमिव स्वभूत इति? उच्यते। **तोदस्येव** तुद्यति भृत्यजनान् तैर्वा तोदमात्मन इच्छतीति गृहस्थोत्र तोदोऽभिप्रेतः। यथा तोदस्य गृहस्थस्य **महस्य** महतः **शरणे** गृहनामेदम्, गृहे आत्मीये च किञ्चित् सर्वं स्वभूतं भवति तद्वदहमित्यर्थः। प्रसिद्धं त्वमेव नान्यदेवतान्तरम्। **अरिरमित्रः** प्रसिद्धस्योपादानं यथा अरिर्ऋच्छतेर्गत्यर्थस्य शत्रून् प्रति गच्छत्यसौ तैर्वा अर्यते। एवमी**श्वरोऽपि** तेन तेन भूतानुग्रहेण सर्वप्रवृत्तिर्गतिः। अर्यतेर्वार्थी भृत्यजनेन। **यद्** यस्माद् **अन्यदेवत्या** अप्यग्नावाहुतयो **हूयन्ते** सवनीयादिदेवेभ्यो विभजन्ते भृत्यजनेभ्य इत्येव**मेतद् दृष्ट्वा** उपलभ्य पतित्वं सर्वहविषामित्येव**मवक्ष्यद्** मन्त्रदृक्।

स्वञ्चा इत्यनवगतम्। सुगमन इत्यर्थः। उदाहरणम्-

सं भानुनां यतते सूर्यस्याजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः।
तस्मा अमृध्रा उषसो व्युच्छान् य इन्द्राय सुनवामेत्याहं॥ (ऋ०५.३७.१)

आङ्गिरसस्यात्रेरार्षम्। तस्मा अमृध्रा इति तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यस्य यजमानस्य **संयतते** सङ्गच्छते। **भानुना** दीप्त्या रश्म्या **सूर्यस्य** स्वभूतया **आजुह्वान** आहूयमान आहवनीयः। **घृतपृष्ठो** घृतमाहुतिलक्षणं पृष्ठे यस्य स घृतपृष्ठो घृतेन वा स्पृष्टो घृतपृष्ठः। **स्वञ्चा** अञ्चतिर्गत्यर्थः। घृतमाहुतिलक्षणं पृष्ठे यस्य स घृतपृष्ठो घृतेन वा स्पृष्टो घृतपृष्ठः। स्वञ्चा अञ्चतिर्गत्यर्थः सुगमनः सुष्ठु प्रज्वाल्य इन्द्रं यजत इत्यर्थः। **तस्मै** तादर्थ्य एषा

चतुर्थी षष्ठ्यर्थे वा तदर्थं तस्य वा। **अमृध्रा** मृधिर्हिंसार्थः, अहिंसिताः। **उषसो व्युच्छान्** व्युच्छन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। न च केवलाय तस्मै। किं तर्हि? यो दारिद्र्याद् यष्टुमशक्नुवन् केवलं श्रद्धालुतया विनायं **सोममिन्द्राय सुनवामेत्येवमाशंसनमाह** तस्मा अपि।

शिपिविष्टो विष्णुरिति एकविषयत्वादेकोदाहरणत्वाच्च युगपदुपन्यासः। तयोश्चैकविषयतां दर्शयति विष्णोरित्यादिना। तत्र शिपिविष्ट इत्येवं तदनेकार्थं कुत्सितप्रशंसाविषयत्वेन। अनवगतत्वं च नेतरत्। विष्णुरिति विशतेर्व्यश्नोतेर्वा। चेष्टाव्यष्टा वेत्यवगमः स चादित्य इहाभिप्रेतः शिपिविष्ट इति च। क्रियानिमित्तत्वे एव चासंविज्ञानपदत्वादेव दैवते नाम्नातम्। तयोः पूर्वं कुत्सितार्थीयमौपमन्यवो मन्यते। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः॥

अथ अष्टमः खण्डः।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदुन्यरूपः समिथे बभूथ॥ (ऋ०७.१००.६) किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्। किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति। प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते। तैराविष्टो भवति। मा वर्पो अस्मदप गूह एतत्। वर्ष इति रूपनाम। वृणोतीति सतः। यदन्यरूपः समिथे सङ्ग्रामे भवसि। संयतरश्मिः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥८॥

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद् यदुन्यरूपः समिथे बभूथ॥ (ऋ०७.१००.६)

वसिष्ठस्य। परा च। **किं** क्षेपे **इत्** पदपूरणः। किं **ते** तव **विष्णो परिचक्ष्यं** परीत्ययं प्रशब्दस्यार्थे चक्षिङ् ख्यापनायाम्। प्रख्यापनीयमेतद् रूपं **भूद्** भवति। अश्लीलोपमायोगान्नैतत् प्रख्यापनीयमित्यभिप्रायः। अथवा परिपूर्वः ख्यातिः परिवर्जने अवक्षिसमवशीतमुक्तादेव कारणात् परिवर्जनीयमित्यर्थः। **प्र**शब्दो ववक्ष इत्यनेन सम्बध्यते। कतमद्रूपं **यद् ववक्षे** प्रब्रवीषि प्रदर्शयसीत्यर्थः। कस्मै? सामर्थ्यादस्मदादिभ्यः। **शिपिविष्टः** सामर्थ्यादन्तर्नीतोप-मानमेतत् शिपिविष्ट इव यादृशः शेपो निर्वेष्टितस्तादृशोऽस्तीति उदितमात्रादप्रतिपन्नरश्मिरस्यामवस्थायामारक्ततां प्रतिपन्नः। **मा वर्पो** वर्प इति रूपनाम। मा **अस्मत्** अस्माकमित्यर्थः। **अपगूहः** 'गुहू संवरणे' (धा०१.९२१) मा संवरणं प्रकटय **एतत्** प्रख्यापयैतदित्यभिप्रायः। युक्ततममुच्यते **यदन्यरूप** एव कोऽप्यत्यन्तदीसः। **समिथे** संग्रामे। केन सह? सामर्थ्यात् तमोभि**र्बभूथ** भवति। मध्यन्दिनसमये एवमित्ययमौपमन्यवो मन्यते। मया जनः वा।

आचार्यमतेन यदा तु **शिपयो** बालरश्मय **उच्यन्ते तैराविष्ट** इति, एवमेतत् प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्। तदप्येवं व्याख्येयम्। **किं** प्रश्ने। **इदे**वार्थे। **मा वर्पो अस्मदि**ति परस्ताद् रूपश्रुतेरिहाप्येतद्रूपमित्यध्याहार्यम्। तेनायमर्थः। किमेतदेव रूपं तव हे **विष्णो**! अप्रख्यातमिव **परिचक्ष्यं** प्रख्यापनीयं **भूद्** भवति। युक्ततमुच्यते।

उदयोत्तरकालभाविनी या अवस्था तस्यां वर्तमानो यत् तद् ब्रवीषि **शिपिविष्टोऽस्मि** बालरश्मिभिराविष्टोऽस्मीत्यर्थः। किमेतदेव रूपम्? तेनेत्युच्यते। अन्यदप्यस्ति रूपं तन्मापगूह इत्यादि समानं पूर्वेण।

भाष्ये तु परिपूर्वश्चक्षिर्वर्जनार्थः। किमित्ते तव विष्णो अप्रख्यानं भवति परिचक्ष्यं परिवर्जनीयम्। अश्लीलोपमायोगादप्रख्यापनीयं प्रब्रूम इति पाठः। प्रशंसानामत्वे तु किन्ते विष्णो अप्रख्यातमेतद् भवति। अप्रख्यातमेवेत्यर्थः। परिचक्ष्यं भूत् प्रख्यापनीयं सद् यदुत प्रब्रूष इति वा पाठः। वर्प इति रूपनाम तद्धि आश्रयमावृत्य तिष्ठति सत इति कर्त्रसाधारणम्। संयतरश्मिः संयतरूपो भवसीति द्रव्यम्। संगृहीतरश्मिर्वा। उपात्तरश्मिभिराविष्टः कोमलमयूखाभिरुदयोत्तरकालभाविन्यामवस्थायां वर्तमानस्य यत् कुत्सितार्थीयमिव दृश्यते।

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य अष्टमः खण्डः॥

अथ नवमः खण्डः।

प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्। तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥ (ऋ०७.१००.५) तत्तेऽद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि। अर्योऽहमीश्वरः स्तोमानाम्। अर्यस्त्वमसीति वा। तं त्वां स्तौमि तवसमतव्याँस्तवस इति महतो नामधेयमुदितो भवति। निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते। आघृणिरागतहृणिः। **आघृणे सं सचावहै॥** (ऋ०६.५५.१) आगतहृणे संसेवावहै। पृथुज्रयाः पृथुजवः। **पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः॥** (ऋ०३.४९.२) प्रामापयदायर्दस्योः॥९॥

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥ (ऋग् ७.१००.५)

प्र तत्ते तव अद्य हे **शिपिविष्टाख्य नामार्य** ईश्वरोऽहं स्तोमानां च करणे समर्थ इत्यर्थः। अथवा शिपिविष्टस्यैव तद् विशेषणमर्य इति। अनामन्त्रितत्वाच्चैकवाक्यभावाय यस्मात्तस्मादित्याध्याहारः कर्तव्यः। यस्मादर्य ईश्वरस्त्वमसि तस्मात् **प्रशंसामि। वयुनानि** प्रकाशरूपाणि कान्तिलक्षणानि ज्ञानानि वा सर्वार्थविषयाणि तावकीयानि। **विद्वान्** जानन्। तमिति तच्छुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। यतश्चैतन्नामासि **तं त्वा** सर्वावस्थं **गृणामि** स्तौमि। तवसं महन्नामैतत्। महान्तमुदयोत्तरकालभाविनीष्ववस्थासु वर्तमानमित्यर्थः। **तवसं** महान्तम्। **अतव्यान्** तवतेर्वृद्ध्यर्थस्य **'तुश्छन्दसि'** (अष्टा०५.३.५९) इति तृन्नन्तादीयासुनि तुरित्यादिलोपेन तव्यानिति रूपम्। न तव्यान् अतव्यान् अतिशयेनावर्द्धितः प्रज्ञया अत्यन्तमहमल्पप्रज्ञ इत्यर्थः। **क्षयन्तं** क्षियन्तं निवसन्तम्। **अस्य रजसः** सोमलोकस्य द्विसंज्ञस्य षष्ठीश्रुतेरेकदेशमते **पराके** दूर इत्यर्थः। पराके दूर इत्यस्य निर्वचनं पराक्रान्ते गत इत्यर्थः।

आघृणिरित्यनवगमः। आहृतदीप्तिरागतक्रोधो वेत्यर्थः। अतश्चानेकार्थमपि। ज्वलन्नामसु क्रोधनामसु वा घृणिशब्दस्य पाठात्। दीप्तिनामत्वमङ्गीकृत्योदाहरणम्-

एहि वां विमुचो नपादाघृणे सं सचावहै।

रथीर्ऋतस्य नो भव॥ (ऋ०६.५५.१)

भरद्वाजस्यार्षम्। **एहि** आगच्छ। **वां** त्वशब्दस्यायं छान्दसत्वात् तकारलोपस्त्वम्। हे **विमुचो नपात्** संहारकाले ग्रसित्वा प्रजाः पुनः सृष्टिकाले विमुञ्चतीति प्रजापतिस्तस्य नपात् पौत्रम्। कथं पुनः प्रजापतेः पौत्रत्वम्? उपनिषत्सु कृत्स्नस्य जगतोऽद्भ्यः, अपाञ्च प्रजापतिः स्रष्टा ततस्तदुत्पत्तिश्रुतेः। अपत्यमात्रनाम वा नपाच्छब्दः प्रजापतेरपत्यभूतः। **आघृणे** आगतदीप्ते पूषन् **संसचावहै** पूषापेक्षं च द्विवचनम्। अहं च त्वं च आवां परस्परं सेवावहे। अहं त्वां हविषा च संसेवे त्वमपि मां सेवस्व सेवितुं मामिच्छस्व। **रथीः** सारथिस्थानीयो नेता **ऋतस्य** यज्ञस्य **नो भवे**ति। क्रोधवचनत्वे त्वन्यदुदाहरणं कर्तव्यम्।

पृथुज्रया इत्यनवगतम्। **पृथुजव** इत्यवगमः। **'ज्रि अभिभवे'** (धा०१.९७२) इत्यस्येदं रूपम्। वेगेनान्यानभिभविता महाजव इत्यर्थः। उदाहरणम्-

यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति नृतमं हरिष्ठाम्।

इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषैः पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः॥ (ऋ०३.४९.२)

विश्वामित्रस्यार्षम्। इन्द्र उच्यते। **यन्नु**शब्दः पदपूरणः। **नकिर्न** कश्चिदित्यर्थः। **पृतनासु** संग्रामेषु। **स्वराजं** स्वयं राजितारमात्मना दीप्यमानमित्यर्थः। **द्विता** द्वेधशरीरेण सेनालक्षणेन बलेन च। **तरति** शक्नोत्यर्थेऽयं तरतिर्द्रष्टव्यः शक्नोति जेतुमिति शेषः। **नृतमं** प्रकृष्टमनुष्याकारमत्यन्तशूरमित्यर्थः। **हरिष्ठां** हर्योरास्थानम्। यश्च **इनतमो**ऽतिशयेनेश्वरः। **सत्वभिः** **'षणु दाने'** (धा०८.२) इत्यस्य। सत्वानो दातारो मरुत इहाभिप्रेतास्तैः सहायैः। **यो ह शूषै**र्बलैश्च सेनाख्यैः करणभूतैः। **पृथुज्रया** पृथुजवः। **अमिनाद्** मिनातिर्वधकर्मा हिंसीतवान् हिनस्ति वा। **आयु**र्जीवितम्। कस्य? **दस्योः**। उपलक्षयितुं तच्छ्रुतेः साकाङ्क्षत्वाद् वयं स्तुम इति वाक्यशेषः।

अथर्युमित्यनवगतम्। **अतनवन्त**मित्यवगमः। अततेरथरादेशः। युर्नामकरणः।

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्॥ (ऋ०७.१.१) दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति। धीयन्ते कर्मसु। अरणौ। प्रत्यृत एने अग्निः। समरणाज्जायत इति वा। हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या। जनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदर्शनं गृहपतिमतनवन्तम्॥ १०॥

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्।

दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्॥ (ऋ०७.१.१)

वसिष्ठस्यार्षम्। **अग्निं नरो** मनुष्या ऋत्विजः। **दीधितिभिरङ्गुलिनामैतत्** अङ्गुलीभिः। योक्त्रमुत्तरारणिं वा परिगृह्य ताभिरिति शेषः। **अरण्योः** सकाशात्। **हस्तच्युती** तृतीयायां पूर्वसवर्णः हस्तच्युत्या हस्तप्रच्यावनेन जयन्तीत्यर्थः। **प्रशस्तं दूरेदृशं** दूरे यो दृश्यस्तम्। दूरे वसतो वा देवान् पश्यतीति **गृहपतिं** यज्ञस्वामिनम् **अथर्युमतनवन्तं** देवान् प्रति गमनवन्तमित्यर्थः।

धीयन्ते कर्मसु धीयन्ते वा पुरुषैः कर्मसाधनानि। **अरणी** यस्मादेते **प्रत्यृतो** गतोऽग्निः। कुत एतत्? तत उत्पत्तेः। **समरणात्** सङ्गमनात् तयोर्जायत इति।

काणुकेत्यनवगतमनेकार्थं च। **कान्तकानी**त्यादयोऽवगमाः। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथ एकादशः खण्डः।

एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ (ऋ०८.७७.४)

एकेन प्रतिधानेनापिबत् साकं सहेत्यर्थः। इन्द्रः सोमस्य काणुका कान्तकानीति वा। क्रान्तकानीति वा। कृतकानीति वा। इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा। कणेघात इति वा। कणेहतः। कान्तिहतः। तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते। त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि। तान्येतस्मिन् काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति, रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति। तथापि निगमो भवति। **'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति'** (तै०सं०२.४.१४.१) इति। तं पूर्वपक्ष आप्यायन्ति। तथापि निगमो भवति। यथा देवा अंशुमाप्यायन्तीति। अध्रिगुर्मन्त्रो भवति। गव्यधिकृतत्वात्। अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात् तच्छब्दवत्त्वाद् **'अध्रिगां शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगविति।'** (मै०सं०४.१३.४) अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते। **तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः**॥ (ऋ०३.२१.४) अधृतगमन कर्मवान्। इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते। **'अध्रिगव ओहमिन्द्राय'** (ऋ०१.६१.१) इत्यपि निगमो भवति। आङ्गूषः स्तोम आघोषः। **एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः**॥ (ऋ०१.१०५.१९) **अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः**॥ ११॥

एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।

इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ (ऋ०८.७७.४)

कुरुसुतेरार्षम्। **प्रतिधा** प्रणिधानेन **एकेन** मनसः प्रणिधानेन अवश्राम्येत्यर्थः। **अपिबत्** पीतवान् पिबति वा। किम्? **सरांसि**। कियन्ति? **त्रिंशतं** त्रिंशत् संख्याकानि। कः? **इन्द्रः** सोमस्य सम्बन्धीनि। कीदृशानि सरांसि?

काणुका कान्तकानीति वा आहवनीयं प्रति गतानीत्यर्थः। कृतकानीति वा ऋत्विग्भिः संस्कृतानीत्यर्थः। अथवा इन्द्रविशेषणमेतत्, इन्द्रः काणुका कान्तो वल्लभः सोमस्य। अथवा कणेशब्दः श्रद्धाप्रतीघातेऽस्ति **'कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते'** (अष्टा०१.४.६६) इति तस्य काणुका इति रूपं क्रियाविशेषणं च। कथमपिबत्? काणुका श्रद्धा प्रतिहता व्यावृत्तेत्यर्थः। तदेतद् भाष्यकारो दर्शयति-**कणेघात इति वा। कणेहत** इत्यादिना च लौकिकं प्रयोगं दर्शयति। कणेहतोऽश्वः **कान्तिहत** इत्यस्यैव पर्यायवचनम्। अप्रकामो हि प्रतिहतश्रद्ध उच्यते। तस्यापभ्रंशः कणितोऽश्वः कणितो दम्य इति कणेहत इत्यर्थः।

त्रिंशत्सरांसीत्युक्तम्। कानि पुनः सरांस्युच्यन्ते? तत्रैतस्मिन् सन्देहे एतद् याज्ञिकाः स्वमतं वेदयन्ते ज्ञापयन्ति। याज्ञिकानां तावदेतन्मतमित्यर्थः। माध्यन्दिने सवने त्रय उक्थविशेषः। **'इन्द्राय त्वा इति त्रिभिरुक्थपर्यायैश्चरन्ति'** इति वचनात्। तेषामेकैकस्मिन्नुक्थविग्रह उच्यते। अस्या भ्रंशो दश दश च मासाः। ते तु सीधुसरकस्थानीयत्वात् त्रिंशत् सरांसीत्युच्यन्ते इति। तत्स्थस्य वचनात् तत्पानव्यपदेशः। त्रीणि भाजनानि इषितानि यथा। तदेतद् भाष्यकार आह-**त्रिंशदुक्थपात्राणी**त्यादिना नैरुक्तानां मतम्- पक्षस्य पञ्चदशाहानि पञ्चदश रात्रयः। एवं त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः। त्रिंशत् पूर्वपक्षस्य। ततः किम्? उच्यते। तत्रैताश्चन्द्रमसि भवाश्चान्द्रमस्यः चन्द्रमसः सम्बन्धिन्यः। **चान्द्रमस्य आगामिन्यः** पुनः पूर्वपक्षापरपक्षयोरागमिष्यन्तीत्यागामिन्य **आपो भवन्ति**। यदागमनात् पूर्वपक्षे प्रत्यहोरात्रं चन्द्रमा वर्धते। किं तासाम्? उच्यते। **रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति** यत्क्षयात् प्रत्यहोरात्रं चन्द्रमाः क्षीयते। ता अहोरात्रविभागेन पूर्वपक्षापरपक्षयोर्वृद्धिक्षययुक्ता आपस्त्रिंशत् सरांसीत्युच्यन्त इति। तत्र सरःशब्द उदकनामसु पाठाद् उदकवचनः। इन्द्र आदित्य ईश्वरश्च। सोमोऽपि चन्द्रमा इति। एवं मन्त्रे व्याख्येयम्। त्रिंशत् सरांस्युदकानि सोमस्य चन्द्रमसोऽवयवभूतानि। ईश्वर आदित्यः पिबतीत्यर्थः। साकं सह एकेनैव क्षणेनेति समानमन्यत्। एतच्च पानाप्यायनं मन्त्रान्तरेऽपि दृश्यते। यथाह भाष्यकारः-**तथापि निगम** इति। द्वयोरेकमेवोदाहरणम्-

यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति।
तेन न इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः॥ (मैत्रा०सं० २.२.७)

राजयक्ष्मगृहीतस्य आदित्ये चरौ याज्यैषा। **यमक्षिति**मित्युद्देशार्थो यच्छब्दः। द्वितीयः पादः पूर्वमुपक्रमितव्यः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः प्रथमे पादे कर्तव्यः। यमेकस्याः कायाधुपत्वात् क्षयाभावाद् **अक्षितिमक्षितयो** रश्मयोऽपरपक्षे कलाः **पिबन्ति** तथा देवास्ता एव रश्मयोऽंशुं चन्द्रमसं पूर्वपक्षे **आप्याययन्ति यथै**व भागशस्तेनैव प्रकारेण एवं त्वां यक्ष्मगृहीत**मिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिश्चाप्याययन्तु। भुवनस्य** भूतजातस्य **गोपा** गोप्तारः। एवमियं नैरुक्तपक्षे योजना।

अध्रिगुरित्यनवगतमनेकार्थं च। **मन्त्र** इत्यभिधेयवचनम्। **गव्यधिकृतत्वादि**ति हेतुवचनम्। गोशब्दश्चात्र पशुमात्रोपलक्षणः। यागादिष्वधिकृतत्वादधिकृतो गवीति। अधिकृतपशुरित्यवगमः। अथवा **संशासनमेवाभिप्रेतं स्यात्।** कथम्? उच्यते। अयं संशासन इति शब्दोऽस्ति भावसाधनः संशिष्टः संशासनं प्रैषणमित्यर्थः। अस्ति कर्मसाधनम्। संशास्यतेऽसाविति संशासनम्। सकृच्छुतोऽपि चायं सामर्थ्यान्मन्त्रवृत्त्यादिकल्पनयात्रोभय-साधनोप्युपादीयते। भावसाधनेन आरभध्वमित्यादयो लोडन्ता लक्ष्यन्ते। कर्मसाधनेन आशास्यमाना अध्रिग्वादयः शमितार अत इदमिदं चैकदेशमेवं च कुरुतारभध्वं संशासनशब्दात्मत्वात्। संशासनमेवाभिमतं स्यादित्येवमुच्यत

इति युक्तम्। यद्ययं मन्त्रः संशासनः। अतः किम्? अत एतत्। अध्रिगुशब्देनाभिधानम्। यत आह **तच्छब्दवत्त्वादिति**। संशासनशब्दोऽध्रिग्वादिरस्मिन्नस्तीति। अतोऽध्रिग्वादिशब्दादध्रिगुरिति।

ननु तच्छब्दवत्त्वे वैशिष्ट्येऽध्रिगुशब्देनाभिधानं न लोडेति। कुत एतत्? उच्यते। अभिधानं स्वाभाविकं तुल्ये हेतौ क्वचिन्न वृक्षमूलादागत इति यथा। तद्वदत्रापीति क्रमः। अथवा आख्यातत्वाद् आख्यातेन हि स्वत्वभूतस्याभिधानासम्भवात्। अव्यापित्वादनेकत्वाच्चारभध्वमित्यादिनास्याभिधानम्। शमितृशब्देनापि तस्य सामान्यशब्दत्वादध्रिग्वपापप्रभृतीनां च मध्ये अध्रिगोर्मुख्यत्वाद् अध्रिगुशब्देनाभिधानं तच्छब्दवत्त्वादिति युक्तम्। तच्छब्देन चोभयस्यापि प्रतिनिर्देशाद् यस्मिन् प्रैष उपदेश उभयमस्ति अध्रिगुशब्दः प्रैषं च तयोरेवोपन्यस्यति **'अध्रिगो शमीध्वम्'** इत्यदिना। अस्मिंश्चोह्यानूह्योऽपि च विचारस्य मीमांसाविषयत्वात् ऊह्यस्य प्रतिपत्तौ न व्याकरणस्य व्यापारान्निरुक्तव्यापारस्तेनेह व्याख्यातृभिरक्षरमात्रं विव्रियते।

दैव्याः शमितार उत मनुष्या आरभध्वमुपनयत मेध्यादुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधं प्रास्मा अग्निं भरत स्तृणीत बर्हिरन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य उदीचीनाँ अस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं पृथिवीं शरीरमेकधास्य त्वचमाच्छ्यतात् पुरा नाभ्या अपिशसो वपामुत्खिदतादन्तरे वोष्माणँ वारयतात् श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू शला दोषणी कश्यपेवाँसा छिद्रे श्रोणी कवषोरू स्रेकपर्णाष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता अनुष्ठीयोच्च्यावयताद् गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतादूवध्यगोहं पार्थिवं खनतादस्ना रक्षः संसृजताद् वनिष्टुमस्य मा राविष्टोरूकं मन्यमाना नेद्वस्तोके तनये रविता रवदध्रिगो शमीध्वँ सुशमि शमीध्वँ शमीध्वमध्रिगो॥ (मै०सं०४.१३.४)

दैव्या देवानां स्वभूताः। हे **शमितारो**ऽध्रिग्वपापप्रभृतयः। अपि च **मनुष्या** अध्वर्युप्रभृतयः सर्व **एवारभध्वम्।** किम्? सामर्थ्यात् पशुं संज्ञपयितुं संज्ञपनायो**पनयत। मेध्या** मेधस्य यज्ञस्य स्वभूताः। **दुरो** द्वाराणि यज्ञगृहद्वाराणीत्यर्थः। सामीप्योपलक्षणं चैतत्। यज्ञसमीपमुपनयतेत्यर्थः। **आशासानाः** प्रार्थयमानाः। **मेधपतिभ्यां** तादर्थ्ये एषा चतुर्थी मेध इति यज्ञनाम तत्साधनत्वादत्र पशुर्वै मेध इति तस्य मेधस्य पती स्वामिनौ देवते अग्नीषोमौ तयोरर्थायेत्यर्थः। **मेधं** पशुम्। **प्र**शब्दः **'तस्योल्मुकं परस्ताद्धरन्ति'** इति विधानात् परस्ताच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः। परस्ताच्चा**स्मै** पशोरर्थाय। **अग्निम्** उल्मुकमित्यर्थः। **भरत** हरत प्रापयत शरणार्थं रक्षार्थं चेत्यभिप्रायः। **स्तृणीत** स्तृणीत च। यत्रैव निपात्य संज्ञपयिष्यते तत्र **बर्हि**र्दर्भाणीत्यर्थः।

अन्वेनं माता मन्यताम्। अनुमन्यतां धर्मार्थमस्यैवोत्कर्षार्थमेनं पशुं हन्यमानं माता। **अनु**मन्यतां च **पिता अनु**मन्यतां च **भ्राता।** किंविशिष्टः? **सगर्भ्यः** समाने गर्भे भवः। **अनु सखा** अनुमन्यतां च सखा **सयूथ्यः** समाने यूथे भवः। **उदीचीनां** संज्ञपयंश्च संज्ञप्यमानस्योदङ्मुखान् **पादान्निधत्तात्** स्थापय। **सूर्यं चक्षुर्गमयतात्** सूर्यप्रभवत्वाच्च सूर्यमेव प्रत्यस्य चक्षुर्गमयन्ति। सर्वेषां म्रियमाणानामेवंधर्मकत्वेतिवचनं यथान्यायमरणपरिग्रहम्। **वातं** प्रति **प्राणमन्ववसृजताद्** मुखनासिकाभ्यां वायुं वारयत श्वासं संज्ञपयतेत्यर्थः। **श्येनं** श्येनाकार**मस्य वक्षः कृणुतात्** कृणुत **प्रशसा** शस्त्रेणेति केचित्। स्वधित्याकारावित्यपरे। अथवा प्रशस्तौ **बाहू** कृणुतादिति सम्बन्धः। **शला दोषणी** बाह्वोरुपरितने द्वे दोषानित्येतेन शब्देनोच्यते। शलाकाकारे दीर्घ इत्यर्थः। **कश्यपेवाँसा** कच्छाविव कच्छपौ तदाकारावंसौ। **अच्छिद्रे श्रोणी** साकल्यमेवाच्छिद्रत्वम्। **कवषोरू** कवषस्याकारावूरू। **स्रेकः** करवीरस्तद्वर्णाकारौ सर्वत्र कृणुतादिति सम्बन्धः। **षड्विंशतिश्चास्य वङ्वक्रयः**

पर्शवस्ता **अनुष्ठुया** अनुष्ठानेन यत्नेन निश्चयेन वा कृत्स्नम् **उच्च्यावयताद्** उत्कृन्तत। एवं **गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुताद्** अनतिरिक्तं च कृणुतात्। कुतः? **ऊवध्यगोहं** भक्षिततृणादि यदजीर्णं पशोरुदरे तिष्ठति तदूवध्यमित्युच्यते यस्मिन् गूह्यते प्रजायते स ऊवध्यगोहस्तं च **पार्थिवं** गर्तं श्वभ्रं **खनतात्** खनत। **अस्ना** असृक् शब्दस्य लोहितवचनस्य **'पद्दन्नोमास् हृद्'** (अष्टा०६.१.६३) इत्येवसमन्नादेशः। ततस्तृतीया लोहितेन च **रक्षः संसृजतात्** संयोजेत। तद्धि पशो रक्षसां भागः।

या उद्ध्रियते वपा तस्याः समीपे तत्सदृशो **वनिष्टुर्**नाम पशोरवयवः, तां चास्यावयवस्य कस्यचिदयशसः ख्यापयिता कश्चिद् दुर्जनो विगुणकर्मकरणनिमित्तमयशस्येन ख्यापयिष्यति। हे शमितारः, एतच्च ज्ञात्वा हे **अध्रिगो! शमीध्वमेनं** पशुम्। **सुशमि शमीध्वं** शमितं च शमयध्वं च शीघ्रं मा विलम्बिध्वं मा वा शङ्कां कृध्वं हिंसेति। धर्म एवेयं हिंसा शास्त्रविहितत्वात्। अस्य पशोरुत्कर्षहेतुत्वात्। तथा चैतरेयकब्राह्मणे **'पशुर्वै नीयमान'** इत्यादिभिः हिंसास्तुतिर्द्रष्टव्या। हे **अध्रिगो** हे **अपाप** प्राधान्यख्यापनार्थमत्र केवलस्याध्रिगोरपापस्य चामन्त्रणम्। प्रैषस्तु सर्वेषां देवानां शमितृणां चेति तच्छब्दपरत्वादेवास्य मन्त्रस्य अध्रिगुशब्देनाभिधानमित्युक्तम्।

अनेकार्थतां दर्शयन्नाह-**अग्निरपीत्यादि**। उदाहरणम्-

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर॥ (ऋ०३.२१.४)

कुशिकपुत्रस्य गाथिनः। **तुभ्यं** त्वदर्थमित्यर्थः। **श्चोतन्ति** क्षरन्ति। **अध्रिगो** हे अधृतगमन। **शचीवः** शचीति कर्मनाम कर्मवत्। के श्चोतन्ति? **स्तोकासो** बिन्दवः। हे **अग्ने**! कस्य? **मेदसो घृतस्य** कदस्य मेदसश्च घृतस्य च। एतज्ज्ञात्वा **कविशस्तः** कविभिर्मेधाविभिः स्तुतः। समानाधिकरणो वा कविश्चासौ शस्तश्चेति कविशस्तः। **बृहता भानुना** महत्या दीप्त्या सुष्ठु दीप्यमानेत्यर्थः। **आगा** आगच्छ। आगत्य च **हव्या** हवींषि **जुषस्व। मेधिर** मेधो यज्ञो रो मत्वर्थः, हे यज्ञवन्। एवमत्र अध्रिगो, शचीवः, अग्ने इति सामानाधिकरण्याद् अधृतगमन इत्युपपन्नमग्ने-र्विशेषणमिति।

इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यत एव। न तस्यापि कश्चिद् गमनं प्रतिबन्धमुत्सहते। उदाहरणम्-

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा॥ (ऋ०१.६१.१)

नोधस आर्षम्। **इदू** पदपूरणे। **प्र**शब्दो हर्मीत्याख्यातेन सम्बध्यते। **तवसे** तवतिर्वृद्ध्यर्थः, वृद्धाय। **तुराय** तुर्वतिर्हिंसार्थे हिंसित्रे शत्रूणाम्। **प्रयो न** प्रय इत्यन्ननाम न शब्द उपमार्थीयः, **प्रय** इव यथा कश्चिन्मनुष्यः कस्मैचिदन्नं प्रहरेत् तद्वत् **प्रहर्मि** प्रहरामि प्रापयामि। **स्तोमम् एतदर्थं स्तुतिमुच्चारयामीत्यर्थः।** कीदृशायास्मै? उच्यते। **माहिनाय** महते। **ऋचीषमाय** स्तुत्या समाय यादृशी स्तुतिः क्रियते तादृशायेत्यर्थः। **अध्रिगवे** अधृतगमनोऽध्रिगुस्तस्मै अधृतगमनाय सर्वत्राप्रतिहतगमनायेत्यर्थः। कीदृशं स्तोमम्? उच्यते। **ओहं** वहेरिदं कृतसम्प्रसारणस्य रूपम्। वचस्तच्च छित्र ओहस इति यथा। आहवनीयं प्रापणार्हमत्यन्तोत्कृष्टमित्यर्थः। कस्मै? उच्यते। **इन्द्राय**। न च केवलं स्तोमम्। किं तर्हि? **ब्रह्माणि** अन्नानि च हविर्लक्षणानि। **राततमा** दत्ततमानि पूर्वमपि यान्यतिशयेन दत्तानीत्यर्थः।

आङ्गूष इत्यनवगतम्। **स्तोम** इत्यभिधेयकथनम्। आघोष इत्यवगमः। प्रत्याघुष्यत इत्याङोऽनुनासिकः। घोषशब्दस्य गूषशब्देन व्यापत्तिः। उदाहरणम्–

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभिष्याम वृजने सर्ववीराः।

तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ (ऋ०१.१०५.१९)

कुत्सस्य त्रितस्य वार्षम्। **एना** अनेन **आङ्गूषेण** आघोषणीयेन स्तोमेन हेतुभूतेन सहायेनेन्द्रेण **इन्द्रवन्त** इन्द्रेणानुगृह्यमाणा इत्यर्थः। **अभिष्याम** अभिष्यामः शत्रुम्। **वृजने** रणे संग्रामे। अथवा वृजन इति बलनाम इह चान्तर्नीततद्वदर्थो द्रष्टव्यः। द्वाभ्यां बलाभ्यां स्वसेनालक्षणाभ्यां तद्वदिति तस्मिन् सामर्थ्यात् संग्रामे। **सर्ववीराः** सर्वैर्वीरैः पुत्रैः पौत्रैश्चोपेताः। तच्चेदं नोऽस्माकमिन्द्रस्यैव प्रसादेन **मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत** अपि **द्यौर्मामहन्तां** **'मह पूजायाम्'** (धा०१.७३१) इत्यस्यायं लुक्येतद् रूपम्। मित्रादयोऽत्यन्तं पूजयन्तोऽनुमन्यन्तामित्यर्थः।

आपान्तमन्युरित्यनवगतमनेकार्थं च **आपातितमन्युरि**त्यवगमः। **सोमो वेन्द्रो वा**भिधेयः। उदाहरणम्–

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी। सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥ (ऋ०१०.८९.५) आपातितमन्युस्तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारी सोमो वेन्द्रो वा। धुनिर्धूनोतेः। शिमीति कर्मनाम। शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा। ऋजीषी सोमः। यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति। तेनर्जीषी सोमः। अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति। **'ऋजीषी वज्री।'** (ऋ०५.४०.४) इति। हर्योरस्य स भागो धानाश्चेति। धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति। फले हिता भवन्तीति वा। **'बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्'** इत्यपि निगमो भवति। आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते बभस्तिरत्तिकर्मा। सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि। नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि दभ्नुवन्ति। यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्त्यर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति। इन्द्रप्रधानेत्येके। नैघण्टुकं सोमकर्मोभयप्रधानेत्यपरम्। श्मशा शु अश्नुत इति वा। शमाश्नुत इति वा। **आव श्मशा रुधद्वाः।** (ऋ०१०.१०५.१) अवारुधच्छ्मशा वारिति॥१२॥

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।

सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥ (ऋ०१०.८९.५)

रेणोरार्षम्। अर्धर्चेन सोमो वेन्द्रो वाभिधीयते। यदा सोमस्तदा आपान्तमन्युरित्यादीनां पदानामयमर्थः। मन्युर्दीप्तिरापादिता संस्कारेणोत्पादिता दीप्तिर्यस्य स **आपान्तमन्युः** समुत्पादितदीप्तिरित्यर्थः। **तृपलप्रभर्मा** तृपलमिति तृपिः सामर्थ्यात् क्षिप्रार्थः। प्रभर्मेति प्रपूर्वत्वाद् भरतेर्भावे मनिन् प्रत्ययः। अभिषवग्रावभिस्तृपलं क्षिप्रं प्रभर्मा प्रहरणं

यस्मिन् स तृपलप्रभर्मा। **धुनिः** पवमानाशङ्कया कम्पिता पात्राणाम्। **शिमीवान्** शिमीति कर्मनाम यागेन संस्कारकर्मणा कर्मवान्। **शरुमान्** शरुर्हिंसा अभिषवणलक्षणा तया हिंसावान्। **ऋजीषी** ऋजीषवांश्च सोमः।

यदा पुनरिन्द्रस्तदा दीप्तिर्वा क्रोधो वा सोमपानेना**पान्तमन्यु**रुत्पादितदीप्तिर्वा उत्पादितक्रोधो वा **तृपलप्रभर्मा** तृपलं क्षणं क्षिप्रं दृढं चोच्यते कर्तरि मनिन्। तेनायमर्थः। तृपलं क्षिप्रं दृढं वा शत्रुषु प्रहरतीति क्षिप्रप्रहारी। **धुनि**र्भयेन कम्पयिता शत्रूणाम्। **शिमीवान्** अत्र वधादिकर्मभिः कर्मवान्। **शरुमान्** शत्रुहिंसया हिंसावान् ऋजीषवांश्चेन्द्रः। अतसावनानि **'तं धक्ष्यतसं शुष्कम्'** (ऋ०४.४.४) इत्यादौ दर्शनात् अतसादिवृक्षगहनानि। अप्युदकानि प्रतिमानानि। अप्युपवनानि। वाक्यार्थस्तु यदान्येनार्धर्चेन **सोम** उच्यते नैघण्टुकं च सोमकर्म तदैवं व्याख्येयम्। उत्पादितदीप्तित्वादिगुणः सोमो यानि च **विश्वानि** सर्वाणि **अतसावनानि** वृक्षे गहनानि वनानि चोदकानि तानि **प्रतिमानानि** उपमानानि उपमानत्वेनोपन्यस्तानि सन्ति। **न इन्द्रं देभु**र्दम्नातिर्वधकर्मा न घ्नन्ति ततो हि न्यूनगुणत्वमिन्द्रस्य हननं तत्र कुर्वन्ति प्रत्युत **अर्वागिन्द्राद्** भवन्ति न्यूनगुणानीत्यर्थः। एतद् भाष्यकार आह- **इन्द्रप्रधानेत्येके नैघण्टुकं सोमकर्मेति।**

उभयप्रधानेत्यपरं दर्शनं यदा तदेष वाक्यार्थः। योऽयमुत्पादितदीप्तित्वादिगुणः सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि तृप्तिद्वारेण तत्प्रभवत्वाद् वृक्षवनानाम्। तदाकारैश्चैवमुच्यन्ते सोमः सर्वाण्यतसानि चेति। चतुर्थेन तु पादेन इन्द्रस्य स्तुतिरुक्तेनैव प्रकारेण। एवं चोभयप्राधान्यम्। अथवा यदान्येनार्धर्चेन इन्द्र उच्यते तदान्येनार्धर्चेन यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। चतुर्थेन पादेन सम्बन्धयितव्यः। उत्पादितदीप्तित्वादिगुणो यस्त इन्द्रं न प्रतिमानानि देभुरिति। तृतीयेन तु पादेन सर्वप्रभवत्वेन सोमस्य स्तुतिरिति। एवमुभयप्रधानता। इन्द्रप्रधानपक्षे च तृतीय एव पादे नैघण्टुकं सोमकर्मेत्युच्यते पादत्रयेण त्विन्द्र एव। पादो नैघण्टुकस्तु न य इति।

अयमपि चतुर्थप्रकारः सम्भवति। **शिमीति** पठ्यमानस्यैव निर्विवक्षयोपन्यासः **शमयतेः** शमयति हि तदनिष्टं व्याध्यादिकमिति। अथवा पालयितुमिष्टं सम्पादयितुं रसादन्यदसार**मतिरिच्यते**। तच्चैतद् **ऋजीषम्।** कस्मादिति चेत्? **अपार्जितम**पवर्जितमवनीयं वावभृथार्थं तस्यासौ प्रतिपत्तिस्तेन तद्वान् सोमः।

अथेन्द्रस्य कथमृजीषित्वमित्याह-**अथाप्ययमैन्द्रो निगम** इन्द्रस्यापि ऋजीषित्वे लिङ्गं भवति।

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः॥ (ऋ०५.४०.४)

अत्रेरार्षम्। **ऋजीषी** ऋजीषवान्। **वृषभो** वर्षिता। **तुराषाट्** सहेरभिभवार्थस्य णिः, तूर्णमभिभविता शत्रूणाम्। **शुष्मी** बलवान्। **राजा** ईश्वरः। **वृत्रहा** असुरस्य मेघस्य वा हन्ता। **सोमपावा** सोमानां च पाता। **युक्त्वा हरिभ्याम्।** कथम्? सामर्थ्यात् सरथ **उपयासत्** लोडर्थेऽयं पञ्चमः, उपयातु। **अर्वाग्** अस्मदभिमुखः। उपगम्य च **माध्यन्दिने सवने मत्सत्** अयमपि लोडर्थ एव तृप्यतु। कः? **इन्द्रः।**

हर्योरश्वयोरस्येन्द्रस्य स्वभूतयोः स भाग ऋजीषं धानाश्च। एवं हि हर्योर्ऋजीषित्वम्। इन्द्रे किमायातम्? उच्यते। तद्वन्तो यस्य सन्ति स तद्वान् भवति यथा साधनवन्तो भृत्या यस्य सन्ति तत्साधनेन राजापि साधनवान् व्यपदिश्यते। धनवन्तश्च यस्मिन् सन्ति तन्नगरं धनवदिति तद्वदित्यभिप्रायः। भागशब्दप्रसङ्गेन धानाशब्दं निराह। भ्राष्ट्रे भर्ज्जनार्थं फलके च किरणार्थं निहिता भवन्ति। दधातेर्धाना इत्यर्थः। हर्योरस्य स भाग इति नेयं स्वमनीषिकेति। निगमं दर्शयति-

धानासोमानामिन्द्राद्धि च पिब च बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रतामा रथचर्षणे सिञ्चस्व। यत्त्वा पृच्छाद् वृषन् पत्नी क्वामीमदथा इत्यस्मिन् सुन्वति यजमाने तस्मै किमरास्थाः सुष्टु सुवीर्यं यज्ञस्यागुर उद्धुचं यद्यदचीकमतोतो तत्तथाभूद्धोतर्यज॥ (कुन्तापाध्याये प्रैषः ६६)

अस्ति तृतीयसवने हारियोजनो नाम ग्रहः। तस्यैष प्रैषः। धानानां **सोमानां** च हे **इन्द्र अद्धि पिब च** यददनीयं तदद्धि धाना यदपि पेयं तत् पिब सोमम्। **बब्धां** भसेर्लोट् प्रथमाद्विवचने तसि श्लौ द्विर्वचने कृते उपधालोपधत्वजश्त्वानि भक्षयतां च। **ते** तव स्वभूतौ। **हरी** अश्वौ। किम्? **धानाः। उपऋजीषं जिघ्रतां** घ्राणेन अतत्पूर्वकत्वाद् भक्षणं लक्ष्यते, ऋजीषं च भक्षयन्तामित्यर्थः। न च पिबैव केवलम्। किं तर्हि? **आ रथचर्षणे सिञ्चस्व** आसिञ्च च पयःपानार्थं रथचर्षणे **'यो ह॑ वां॒ मधु॑नो॒ दृति॒राहि॑तो रथ॒चर्ष॑णे। तत॑ः पिबतमश्विना'** (ऋ०८.५.१९) इत्यादौ मन्त्रान्तरे दर्शनात्। तदैव कूपस्थापनार्थं रथस्य मुष्टिकं रथचर्षण उच्यते। तात्स्थ्यात् तद्वर्तित्वात्ताच्छब्द्यम्। मुष्टिकस्थे दृतौ आसिञ्चेति सम्बन्धः। गतं सन्तं यदि **त्वा वृषन्** हे वर्षिन्! **पत्नी** भार्या गद्वी **पृच्छ्यात्** पृच्छेत् **क्वामीमदथा** इति **'मद तृप्तौ'** (धा०१०.१७२) क्व अतीतृप इति। अतो ब्रूया अस्मिन् अमुकनाम्नि **सुन्वति** सोमाभिषवं कुर्वति **यजमाने** इति। ततोऽसौ पुनर्यदि पृच्छेत् **तस्मै** परितुष्टः सन् **किमरास्थाः** किं दत्तवानसीति। ततो ब्रूयाः। **सुष्टु सुवीर्यं** शोभनं शरीरेन्द्रियसामर्थ्यलक्षणम्। **यज्ञस्यागुर उद्धुचं** यज्ञस्य य आगुर आगूर्णस्य च उद्धुचं समाप्तिम्। किं बहुना। **यद्यदचीकमत** यच्च यत् कामितवान्। **उत** उतशब्दोऽध्यर्थे तच्छब्दाच्च परो द्रष्टव्यः। उकारः पदपूरणः। **तदपि** मम प्रसादेन सर्वं **तथैवाभूदिति**। त्वमपि **होतर्यज** तमिन्द्रं मा विलम्बिष्ठाः।

अत्र भाष्यकारो बब्धामिति रूपसिद्ध्यादेशमर्थं दर्शयति-**आदिनेत्यादिना। उपहितेनो**पश्लेषितेन द्विर्वचनेन कृत इत्यर्थः। **उपधामादत्ते** लुम्पति **'घसिभसोर्हलि च'** (अष्टा०६.४.१००) इत्येवमलोपः **बभस्तिरत्तिकर्मे**त्यर्थ-कथनम्। चतुर्थपादं व्याचष्टे नार्वागित्यादिना।

श्मशेत्यनवगतमनेकार्थं च। श्म शरीरं तस्य व्यापिनी श्माशिनीत्यवगमः। कुल्या नदी वाभिधेया। उदाहरणम्-

कु॒दा व॑सो स्तो॒त्रं हर्य॑त॒ आव॑ श्म॒शा रु॑धद्वाः।
दी॒र्घं सु॒तं वा॒ताप्या॑य॥ (ऋ०१०.१०५.१)

कुत्सपुत्रस्य दुर्मित्रस्यार्षम्। **कदा** कस्मिन् काले अपि नाम स कालः स्यात् यस्मिन् **वसो** हे प्रशस्य धनवन् वा। **स्तोत्रं हर्यते** कामयमानाय। **आवे**त्ययं रुधदित्यनेन सम्बन्धयितव्यः। **अवारुधत्** त्वामपरोत्स्यति। **वाः** वारयिष्यति च। कदा सोमः सम्पत्स्यत इत्यभिप्रायः। कथमिव? **श्मशा** लुप्तोपममेतत् श्मशेव कुल्येव उदकानि। नाडीव वा शरीरि अन्नपानरसम्। **दीर्घमि**ति स्तोत्रस्य विशेषणम्। **सुतं** सोमं प्रतीतिः। सप्तम्यर्थे वा द्वितीया। यः सुते सोमे **वाताप्याय** उदकनामैतत्, उदकाय वृष्ट्युदकार्थमिति शेषः।

इति स्कन्दस्वामिकृते निरुक्तविवरणसमुच्चये दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः। द्वादशश्च खण्डः।

॥अथ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

अथ त्रयोदशः खण्डः।

उर्वश्यप्सरा। उर्वभ्यश्नुते। उरुभ्यामश्नुते। उरुर्वा वशोऽस्याः। अप्सरा अप्सारिणी। अपि वाप्स इति रूपनाम। अप्सातेरप्सानीयं भवति, आदर्शनीयम्। व्यापनीयं वा। स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः। अप्स इति रूपनाम। तद्रा भवति रूपवती। तदनयाऽऽत्तमिति वा। तदस्यै दत्तमिति वा। तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द। तदभिवादिन्येषगर्भवति॥ १३॥

उर्वशीत्यनवगतम्। उरुर्वा महान्। **अप्सरा** इत्यभिधेयकथनम्। **उर्वश्यश्नुत** इत्यादि व्युत्पत्तिकथनम्। उरु महत् स्थानं यशो वा व्याप्नोतीति उर्वशीत्यवगमः। **ऊरुभ्यामश्नुते** सम्भागेकाले कामिनं वशीकरोति शिल्पाचारकुशलेत्यर्थः। उर्वशिनीत्यवगमः। **उरुर्वा** महान् **वशः** कामो**ऽस्य** महेच्छेत्यर्थः। व्यधिकरणे वा बहुव्रीहिः, बहुषु कामोऽस्याः, बहूनां वा कामो यस्यामिति। उरुवशेत्यवगमः।

अर्थकथने प्रसक्तमप्सरः शब्दं निराह। **अप्सारिणी**त्यप्सराः, अन्तरिक्षे वा विचरन्ती उदके वा तत्प्रभवत्वस्मरणात्। स्त्रीजलक्रीडाभिप्रायेणाप्सरः। अपिवेत्याद्यप्सरश्शब्दस्य निर्वचनान्तरविवक्षया **अप्स**शब्दं तावन्निराह। **रूपनामे**त्यर्थकथनम्। **अप्साते**र्धातोः अप्सातिश्च भक्षणनिवृत्तिवचनोऽत्र कल्प्यते। प्सातेर्भक्षणार्थस्य नञ्पूर्वोऽयं निर्देशः। तद्धि नियमेनाभक्ष्यं भवति नहि तद् भक्ष्यते। किं तर्हि? आदर्शनीयं द्रष्टव्यं व्यापनीयं वा। कृत्कृत्योर्बाहुलकेन। नाप्सातेरप्सः। किं तर्हि? आप्नोतेः सोऽन्तकरणं ह्रस्वत्वम्। व्याप्यते नेत्रेण नयनाश्रयो द्रष्टव्यमित्यप्सः।

स्पष्टं दर्शनाय नञ्पूर्वस्य स्पर्शेः स्पर्शनार्थस्य सकारपकारविपर्ययेण वर्णलोपेन चाप्स इति शाकपूणिर्मन्यते न स्पर्शनाय। एतदुक्तं भवति। अस्पष्टमबद्धं स्पर्शनाय। कस्य तर्हि स्पष्टम्? दर्शनाय वेत्यस्मिन्नर्थ एतद् वचनमप्सु इति अभक्षस्य निगम इति शेषः।

अप्सानीयमिति यदुक्तं तत्स्वमनीषिकाशङ्काविनिवृत्तये निगमोपन्यासः-

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।

यदेनश्चकृमा वयं यदप्सश्चकृमा वयम्।

यदेकस्यापि धर्मण्येतत्तदवयजामहे स्वाहा॥ (काठ० सं० ९.४)

करम्भपात्रहोमे दम्पत्योर्यजमानयोरयं मन्त्रः। **यद् ग्रामे यदरण्ये** यच्चारण्ये **यत्सभायां** गृह इत्यर्थः। **यदिन्द्रिये** इति सप्तमी तृतीयार्थे, इन्द्रियेण प्रजननाख्येन। **यदेकस्यापि** यच्चावयोरेकस्यापि यच्च समुच्चितयो**र्धर्मणि** धर्मशब्दः कर्मवचनस्तृतीयार्थे एषा सप्तमी, कर्मणा **यदप्सो** यच्चाभक्ष्यभक्षणं **चकृमा वयं 'अस्मदो द्वयोश्च'** (अष्टा०१.२.५९) इत्येवमिदं द्वयोर्बहुवचनं कृतवन्तो वयम्। **यदेनश्च** यच्चान्यदपि किञ्चिन्मनसा व्यभिचारात् पापं **चकृमा वयं** कृतवन्तो वयं तत्सर्वमनेन करम्भपात्रहोमेन **अवयजामहे** अवपूर्वो यजिरपनयनार्थः। **स्वाहे**ति प्रदानार्थो निपातः। अस्मिन्निगमेऽप्सशब्दोऽभक्ष्ये दृष्ट इत्येतदवष्टम्भादप्सातेरप्सो नाम इति।

यच्चोक्तं **'व्यापनीयं वा'** इति तत्रापि निगमं दर्शयति **'अप्सो नाम'** इति व्यापिन इति। आप्नोतेर्व्याप्त्यर्थस्याप्स इति रूपम्। तत्रैव निगमः-

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः।

स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मै द्रविणा यजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा।। (मैत्रा०सं०२.८.१)

द्वितीयाग्निचये आश्विनीनामिष्टकानामेकस्यामयमुपधानमन्त्रः। **पृथिव्याः पुरीषमसि** त्वं पृथ्वीं व्याप्नोषि। तव **अप्सो नाम** व्यापिनो यद्रूपं तत् त्वमसि तदात्मिका त्वमसीत्यर्थः। **तां त्वा विश्वे** सर्वे **अभिगृणन्तु** अभिष्टुवन्तु **देवाः**। त्वमपि **स्तोमपृष्ठा** स्तोमैः पृष्ठा स्तुता सती सतीत्यर्थः। **घृतवती** घृतेन व्याघारणाख्येनोदकेन वा प्रलोपगते तद्वती **इहाग्नौ सीद**। सा त्वं **प्रजावत्** प्रजासहित**मस्मै** अस्मभ्यं द्रविणानि **यजस्व** धेहि। सा त्वं न स्वतन्त्रा सीदसि। किं तर्हि? **अश्विनौ अध्वर्यू** देवानामध्वरं कामयितारौ **सादयतामिह** त्वाम्।

एवमप्सशब्दं निरुच्य उत्तरार्धविवक्षया- **तद्रा भवति**। तदित्यनेनाप्सशब्दवाच्यं रूपमनयोर्वश्या आत्तं साकल्येन गृहीतमित्यर्थः। अस्मिंस्तु पक्षे निदान इत्यस्य उत्तरार्ध इत्यभिप्रायः। अत्र च नित्यपक्षे केचिद् उर्वशी विद्युद् वायुः पुरूरवा इति मन्यन्ते। सा च उरु अन्तरिक्षमश्नुते प्रभया। इह तु इतिहासपक्षमास्थाय तस्या उर्वश्या दर्शनादित्यादि तदर्थाभिधायिन्येषा।

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त।। (ऋ०७.३३.११) अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन। द्रप्सः सम्भृतप्सानीयो भवति। सर्वे देवाः पुष्करे त्वा अधारयन्त। पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतानि, उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यं वा। इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा। इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा। पुष्यं पुष्यतेः। वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा।।१४।।

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।

द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त।। (ऋ०७.३३.११)

वसिष्ठस्य स्तुतिरिन्द्रस्यार्षं संवादो वा तेषाम्। उतशब्दोऽप्यर्थे। अप्यर्थश्च समुच्चयः। किं समुच्चीयते? जते....कं तावन्मनोः प्रजायते मान...तवजन्मरीचिररिङ्गसमिति स्वराणाम्। **अप्यसि** मैत्रावरुणम्। अन्ये तु पूर्वगपेक्षं समुच्चयं मन्यन्ते। ततश्च सापि व्याख्यायते।

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।

तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आ जभार।। (ऋ०७.३३.१०)

विद्युतः परि उपरि **ज्योतिः संजिहानं** सङ्गच्छमानमेकीभवत् पिण्डीभूतं तेजः शरीरमित्यर्थः। **मित्रावरुणौ यदपश्यतां** दृष्टवन्तौ **त्वा** त्वाम्। **तत्ते** तव **जन्म एकं** हे **वसिष्ठ**! उत अपि अन्यद् द्वितीयम्। कतमत्? उच्यते। मित्रावरुणयोः सकाशात्। कथम्? **अगस्त्य** ऋषि**र्यद्** यदागमत् **विशो** मनुष्यान् प्रति आगतस्तदा वसिष्ठोऽपि। अतः सहागमनाद् अगस्त्यो वसिष्ठमाहृतवानित्युच्यते। एवमस्यामृचि उतशब्देन समुच्चयार्थदर्शनाद् मित्रावरुणयोः सकाशाद् यज्जन्म प्रदर्शितं तस्यैवोत्तरयर्चा प्रकारोपवर्णनं क्रियते।

तत्र चोतशब्दोऽपि चेत्यस्यार्थे। **उतासि** अपि चानेन द्वितीयेन जन्मप्रकारेणासि मित्रावरुणयोरपत्यमित्यर्थः। हे **वसिष्ठ**! कतमेन? उच्यते। **उर्वश्या** अप्सरसोऽधि उपरि हे **ब्रह्मन्**! यन्मनश्चित्तमभिलाष इत्यर्थः। कस्य? तन्निर्देशसामर्थ्यान्मित्रावरुणयोस्ततस्त्वं **जातः**। तस्या दर्शनात् तयोः स्वभूतं **द्रप्सं** द्रप्सशब्देनानत्यन्तच्छन्नानि बहुलं यत्नमुच्यते। तच्चेह सामर्थ्याद्रेतः **स्कन्नम्। ब्रह्मणा दैव्येन** देवानां स्वभूतेन ऋगादिलक्षणेन तृतीयास्तुतेः स्तुवन्त इति शेषः। **विश्वे** सर्वे **देवाः पुष्करे**ऽन्तरिक्षे भूमावपतितमेव **त्वा** त्वां त्वत्कारणभूतं बीजमित्यर्थः। **अददन्त** ददिर्धारणार्थः, धारितवन्त इत्यर्थः। चतुर्मुखेन वा ब्रह्मणा सह विश्वे देवा इत्यर्थः। अथवा त्वदीयेनैवान्तरात्मना ब्रह्मणा क्षेत्रज्ञेन निमिशापाद् विशीर्णशरीरेण वा धृतमिति शेषः।

द्रप्सः सम्भृत उपचितार्थः सन् **प्सानीयः** प्सा भक्षणे। भक्षणेन चात्र संभोगहेतुत्वं लक्ष्यते संभोगहेतुमित्यर्थः। भक्षणीय एव वा स्त्रीयोन्याः। संभरतेः प्सातेश्च द्रप्स इत्यर्थः। पुष्करस्यान्तरिक्षनामसु पठ्यमानस्यैव निर्विवक्षयाऽनेकार्थत्वप्रदर्शनाय चोपक्षेपः। पोषयति भूतान्यवकाशदानेनोदकधारणादिना चोपकारेण। उदकमपि पुष्करं देवपितृमनुष्याणां पूजाकरत्वात्। **पूजयितव्यं** वा देवतारूपत्वात्। **'आपो वै सर्वा देवताः'** (ऐत०ब्रा०२.१६, कौ०ब्रा०११.४) इति श्रुतेः। पूजयितव्यं पुष्करमित्यर्थः। **इदमपीतरत्** पद्मं **पुष्करमेतस्मादेव** धातोः। तेनाप्युच्यते पूज्यते वा तदेवं शोभनत्वात्। **वपुष्करं** वा सन् वकारलोपेन **पुष्करं** शोभाकरमित्यर्थः। अक्षरवर्णसामान्यात् सुमनस्सामान्याद्वा प्रयुक्तं पुष्पं निराह- **पुष्पं पुष्पते**स्तद् विकसितं भवति। एवमितिहासपक्षे।

नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युद् वशिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसंघातः। वसुनिमित्तत्वाद्वा वसुमत्तमः। मित्रावरुणावपि वाय्वादित्यौ विश्वे देवा रश्मयः। एकवाक्यतायै चात्र तच्छब्दाध्याहारः कर्तव्यः। तेनायमर्थः। यत् पूर्वं तावत् पृथिव्यां भवः पार्थिवः। **उत अप्यसि मैत्रावरुणो** मित्रावरुणाभ्यां वाय्वादित्याभ्यामाकृष्टः सन् तत्सम्बन्धान्मैत्रावरुणो मित्रावरुणसम्बन्धीत्यर्थः। हे **वसिष्ठ**! आच्छादयितृतम वसुनिमित्तत्वाद्वा वसुमत्तम उदकसंघात **उर्वश्या** उर्वन्तरिक्षव्यापिन्या विद्युतः। **अधि** धात्वर्थत्वानुवादी **जात** उत्पन्नः। हे **ब्रह्मन्!** परिवृद्ध उपचाराद्वा ब्रह्मणोऽन्यस्य हेतुभूत। **मनसः**। निमित्तलक्षणा चैषा पञ्चमी तमसावसम्बन्धात् संकल्पो लक्ष्यते। स मित्रावरुणवप्राणां संकल्पनिमित्तत्वादित्यर्थः। **द्रप्सं** संमितं भक्षयितव्यं चोदकसंघातं **स्कन्नं** मुक्तं **ब्रह्मणा दैव्येन** दिवि भवेनादित्येन **विश्वे देवा** रश्मयो मध्यमाया.........प्रावृषि **पुष्करे**ऽन्तरिक्षे त्वां धारितवन्तः। एवं सिन्ध्वादीनामप्युर्वशीत्वे मन्त्रा यथासम्भवं योजनीया इति।

वयुनमित्यनवगतमनेकार्थं च। वेतेर्धातोर्वयुनमित्यवगमः। कान्तिर्वेत्यभिधेयम्। अत्रोदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार॥ (ऋ०६.२१.३) स तमोऽप्रज्ञानं ततन्वत्। स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार। वाजस्पत्यं वाजपतनम्। **'सनेम वाजपस्त्यम्'** (ऋ०९.९८.१२) इत्यपि निगमो भवति। वाजगन्ध्यं गध्युत्तरपदम्। **'अश्याम वाजगन्ध्यम्'** (ऋ०९.९८.१२) इत्यपि निगमो भवति। गध्यं गृह्णातेः। **'ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्'** (ऋ०४.१६.११) इत्यपि निगमो भवति। गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा। **'आगधिता परिगधिता'** (ऋ०१.१२६.६) इत्यपि निगमो भवति। कौरयाणः कृतयानः। **'पाकस्थामा कौरयाणः'** (ऋ०८.३.२१) इत्यपि निगमो भवति। तौरयाणस्तूर्णयानः। **स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः॥** इत्यपि निगमो भवति। अह्रयाणोऽह्रीतयानः। **'अनुष्टुया कृणुह्यह्रयाण'** (ऋ०४.४.१४) इत्यपि निगमो भवति। हरयाणो हरमाणयानः। **'रजतं हरयाणे।'** (ऋ०८.२५.२२) इत्यपि निगमो भवति। **य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः॥** (ऋ०१.१०१.४) प्रत्यृतः स्तोमान्। व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदूभावकर्मणः॥१५॥

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार।

कदा ते मर्ता अमृतस्य धामेयक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः॥ (ऋ०६.२१.३)

भरद्वाजस्यार्षम्। अत्रेतिहासमाचक्षते। वृत्रः किल महत्तमस्ततान। तेनावृतं सर्वमप्रज्ञानं बभूव। तं ततन्वत् सूर्यं दिव्यारोपयाञ्चकारेति। तदेतेनार्धर्चेनोच्यते। **स इदेवार्थे** स एव प्रकृत इन्द्रः। **अवयुनम्** अकान्तमप्रज्ञानं वा निरुद्धसर्वदृष्टिपथमित्यर्थः। **ततन्वद्** अत्यन्तं ततवद् विस्तीर्यमाणमित्यर्थः। **सूर्येण वयुनवत्** कान्तिमत् प्रज्ञानवद्वा **चकार**। वृत्रं हत्वा सूर्यं दिव्यारोपितवान्। कः ? इन्द्रः। प्रातः प्रातश्च सूर्यमुद्गमयन् अस्तं च नयति। परोऽर्द्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्। **कदा** कस्मिन् काले। **ते** तव स्वभूतम्। **मर्ता** मनुष्याः। **अमृतस्य** अमरणधर्मणः। **धाम** स्थानं वेद्याख्यमभिप्रेतम्। **इयक्षन्त** इत्यपि यजतेः सन्नन्तस्यादिलोपेन रूपं तव स्थानं वेद्याख्यमियक्षन्तः खनद्यादि हिंसन्ति। सर्वदानादिसंस्कारैः संस्कुर्वन्तीत्यर्थः। **स्वधावः** स्वधान्नमुदकं वा तेन तद्वत्।

वाजपस्त्यमित्यनवगतम्। वाजपतनमित्यवगमः। उदाहरणम्–

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः।

अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम्॥ (ऋ०९.९८.१२)

अम्बरीषस्य ऋजिश्वनश्चार्षम्। पावमानीयमतः सोम उच्यते। **तं** प्रकृतं सोमम्। **सखायः** समानख्याना ऋत्विजः। **पुरोरुचं** सर्वस्य पुरतोऽग्रतो रुग् दीप्तिर्यस्य तं पुरोरुचम्। **यूयं वयं च सूरयः** स्तोतृनामैतत् स्तोतारः। **अश्याम** अश्नुमः। कीदृशं सोमम् ? **वाजगन्ध्यं** वाजेनान्नेन सक्त्वादिना मिश्रयितव्यम्। प्राप्य च **सनेम** संभजेमहि। **वाजपस्त्यं** वाजं चान्नं पतनं च परमेतदन्नाद्यमस्माकमिति मन्यमानाः पतन्ति यस्मिन् देवास्तमित्यर्थः।

वाजगन्ध्यमित्यनवगतम्। गध्यत्युत्तरपदं वाच्यमत्रापि गन्ध्यमित्येवात्रानवगतमित्यर्थः। अत्र च मन्त्रक्रममनादृत्य निगमसमाम्नायक्रमेणैवोपन्यासः। तद्धि व्याख्येयतया प्रकृतत्वात्। उदाहरणं पूर्वमेव **'तं सखायः'** इति।

गध्यमित्यनवगतम्। गृह्णातेरिति धातुनिर्देशः। ग्राह्यमित्यवगमः। आत्मना मिश्रयितव्यमित्यर्थः। उदाहरणम्-

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः।

ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन् कविर्यदहन् पार्याय भूषात्॥ (ऋ०४.१६.११)

वामदेवस्यार्षम्। इन्द्र उच्यते। **यासि** त्वं **कुत्सेन** सहयोगलक्षणे तृतीया कुत्सनाम्ना प्रियसखेन ऋषिणा सह। **सरथं** क्रियाविशेषणमेतत् समानो रथो यस्मिन् याने तत् सरथं यासीति साधु पतन्ति समानेन रथेन यासीत्यर्थः। **अवस्युरवस्तर्पणमात्मानं** सोमेन तत्कामः। **तोदस्तोदकः** प्रेरयिता **वातस्य** वातादपि शीघ्रतर इत्यर्थः। स्यादेतत्। शीघ्रत्वादनधीनाश्च इति **हर्योरा**त्मीययोरश्वयोरी**शान** ईश्वरो वश्याश्च एवेत्यर्थः। **ऋज्रा** ऋजुना। केन? सामर्थ्यान्मार्गेण। **वाजं न** वाजमिव अन्नमिव। **गध्यं** ग्राह्यं भोज्यमात्मना मिश्रयितव्यं भक्षयितव्यमित्यर्थः। **युयूषन्** **'यु मिश्रणे'** (धा०२.२३) मिश्रयितुमिच्छन् बिभक्षयिषुः सोममित्यर्थः। **कविर्मे**धावी कदा? उच्यते। **यदहन्** **पार्याय** पारणाय प्राप्तये तव यज्ञं प्रति **भूषाद्** भवति। यस्मिन्नहनि त्वं यज्ञं प्राप्नोषि तस्मिन्नित्यर्थः।

गध्यतिरित्यनवगतम्। धातोरर्थस्य चानवगमात्। अतश्चाह-**गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मे**ति। अत्र विगृह्यमाणस्य मिश्रीभावाद् गृह्णात्यनुगम एव लक्ष्यते यस्मिन् कर्मणि मिश्रीभवनं तत् कर्मेत्यभिप्रायः। उदाहरणम्-

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।

ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ (ऋ०१.१२६.६.)

भावयव्यस्य। स स्वया भार्यया रोमशया संभुक्ष्व मामित्युक्तस्तामनयर्चया प्रत्याह। तेनेयमृक् चरूप जायापत्यौ वै ऋचौ संवादौ। **आगधिता** आगृहीता आमिश्रिता अवयवैर्गाढं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः। **परिगधिता** सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रिता आलिङ्गनचुम्बनपुरस्सरं प्रक्षिप्तप्रजनना स्वानुरागं संभोगाय परिगृहीता च सतीत्यर्थः। **या कशीकेव 'दिवे कशान्'** (यजु०२४.३६, मैत्रा०सं०३.१४.७) इति हि श्रूयते। स हि नकुलप्रकारः। अश्वमेधे मन्त्रेषु प्रयोगदर्शनात्। कशाशब्दः पूतिकेशवचनम्। तस्मात् **'जातेरस्त्रीविषयात्'** (अष्टा०४.१.६३) ईकारः स्त्रीप्रत्ययः। पूतिकेशी कशीकेव सा यथा पूतिकेशी सम्भोगकाले गृह्णीयात् तद्वत्। **जङ्गहे** तदत्र गमिः सामर्थ्याद् ग्रहणार्थः, गृह्णाति पूतिकेशीव परिष्वज्येत्यर्थः। परिष्वज्य च **ददाति मह्यम्। यादुरी** यादुरित्युदकनाम रो मत्वर्थे रेतोलक्षणकेनोदकेन तद्वती, भूम्नि च मत्वर्थीयः। प्रभूतं रेतः क्षरन्ती आविर्भूतस्नेहरसेत्यर्थः। ईकारश्छान्दसः। **याशूनां शता** याशुशब्दः सम्भोगे, सम्भोगानां शतानि च। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। सा **भोज्या** सा भोगार्हा सम्भोगयोग्या। त्वमत्यन्तबालत्वान्न तावदेवंरूपेत्यर्थः।

कौरयाण इत्यनवगतम्। **कृतयान** इत्यवगमः। शत्रून् प्रति कृतमेव यानं येन नित्यं कृतगमन इत्यर्थः। हस्त्यश्वरथेत्यादि साङ्ग्रामिकं कृतमाकल्पितं प्रयाणाभिमुखं यानं यस्य। उदाहरणम्-

यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः।

विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम्॥ (ऋ०८.३.२१)

मेधातिथिर्दानमनयाचष्टे। यमिति रोहितस्य ऋषभस्य प्रतिनिर्देशः। कुत एतत्? उत्तरस्यामृचि-

रोहि॑तं मे॒ पाक॑स्थामा सु॒धुरं॑ कक्ष्य॒प्राम्।

अदा॑द् रा॒यो वि॒बोध॑नम्॥ (ऋ०८.३.२२)

इति पाकस्थाम्नस्तस्य दानदर्शनात्। अतोऽयमर्थः। **यं** रोहितमृषभं **मे** मह्यं **दुरदुर्दत्तवन्तः**। के? **इन्द्रो मरुतश्च**। **पाकस्थामा** स्थामशब्दो लोके प्राणे प्रसिद्धः पाकः परिपक्वो महान् स्थामो यस्य सः पाकस्थामा महाप्राणश्चेत्यर्थः। भोजो नाम राजा **कौरयाणः** शत्रून् प्रति कृतयानः। **विश्वेषां** सर्वेषां वृषभाणां मध्ये **त्मना** **'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः'** (अष्टा०६.४.१४१) इत्याकारलोपः, आत्मना एवं **शोभिष्ठम**तिशयेन शोभावन्तम्। महता नादेन **उपदिवि धावमानमिव**। दिवि द्वितीयार्थे सप्तमी। दिव्याकाशेनैव गच्छन्तमित्यभिप्रायः। यच्छ्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तमहं प्रतिगृहीतवानिति शेषः।

अथवा यमिति सप्तम्यर्थे द्वितीया। उत्तरयर्चा चैकवाक्यता। यस्मिन् काले मह्यं दत्तवन्त इन्द्रादयो दानानि। यस्मिन्निति श्रुतेस्तस्मिन्नित्यध्याहार्यम्। तस्मिन्नेव सर्वेषां मध्येऽतिशयेन शोभावन्तं महता नादेन बृहता उपधावमानमिव दिवि **रोहितं** वृषभं **मे** मह्यं **पाकस्थामा** महाबलो भोजो राजा **सुधुरं** सम्यग्गूह्यमानत्वात् शोभना धूर्यस्य तं सुधुरं सम्यग्वोढारमित्यर्थः। **कक्ष्यप्रां** कक्ष्यया पाशेनापूरयितारं पीवरं बलवन्तमित्यर्थः। **अदाद्** दत्तवान्। **रायो** गोधनस्य विबोधन विबोधनकरं मन्थनकरमित्यर्थः।

तौरयाण इत्यनवगतम्। **तूर्णयान** इत्यवगमः। क्षिप्रगमन इत्यर्थः। उदाहरणम्-

जा॒तं यत्त्वा॒ परि॑ दे॒वा अभू॑षन् म॒हे भरा॑य पुरुहू॒त विश्वे॑।

स तौर॑याण॒ उप॑ याहि य॒ज्ञं म॒रुद्भि॑रिन्द्र सखि॑भिः स॒जोषाः॑॥ (मूलमनुपलब्धम्)

स तौरयाण उपयाहि उपगच्छ अस्मद्**यज्ञम्**। न च केवल एव। किं तर्हि? **मरुद्भिः** सह **इन्द्र**। **सखिभिः** सह। **सजोषाः** संप्रीयमाणः। **जातं** जातमात्रमेव। **यद्** व्यत्ययेनेदं नपुंसकम्, यं **त्वा** त्वाम्। परीत्ययमभूषन्नित्येतेन सम्बध्यते, **देवाः पर्यभूषन्** परिगृहीतवन्तः। किमर्थम्? **महे** महते **भराय** संग्रामाय **पुरुहूत** स्तोतृभिः। कतमे देवाः? **विश्वे** सर्वे।

अह्रयाण इत्यनवगतम्। अह्रितयानोऽलज्जितयान इत्यर्थः। यो हि अर्थितो दातुं न शक्नोति स प्रीतो गच्छति तदस्य नास्ति, अतः श्लाघ्यगमन इत्यभिप्रायः। उदाहरणम्-

त्वया॑ व॒यं स॑ध॒न्य१॒॑स्त्वोता॒स्तव॒ प्रणी॑त्यश्याम॒ वाजा॑न्।

उ॒भा शंसा॑ सूदय सत्यतातेऽनुष्ठु॒या कृ॑णुहि अह्रयाण॥ (ऋ०४.४.१४)

वामदेवस्यार्षम्। **त्वया** अग्निना सह **वयं सधन्याः** समानधना दर्शपौर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमादियाग-क्रियायां साधारणधना इत्यर्थः। यतस्त्वोतास्त्वया रक्षिता यस्माच्चैवमतो ब्रूमः। **तव प्रणीती** तृतीयायाः पूर्वसवर्णस्तवैव प्रणीत्या प्रकर्षेण धनेन त्वदुपदेशेनेत्यर्थः। **अश्याम** प्राप्नुयाम **वाजान**न्नानि। किञ्च **उभा** उभौ च प्रकाशयशसी ते प्रत्यक्षपरोक्षौ वा सन्निकृष्टविप्रकृष्टौ वा **शंसा**शंसौ अस्माकं पापानां शंसितारौ। **सूदय** 'षूद क्षरणे' (धा०१.२५) क्षरय। **सत्यताते** सत्याय तनोति यस्मिन् वा तायते स सत्यतातिः तस्य सम्बोधनं हे सत्यताते

सत्यस्य तनितः। तथा च स्मरणम्-'**नाग्निर्ददाह-रोमापि सत्येन जगति स्थितः।**' (अनुपलब्धमूलमिदम्) इति सर्वं चेदमनुष्टुया अनुष्ठानेन **कृणुहि** कुरु देहे **अह्रयाण** अलज्जयान।

हरयाण इत्यनवगतम्। **हरमाणयान** इत्यवगमः। शत्रूणां जीवनस्य हरणमेवं शीलं यानं यस्य स हरमाणयानः। शत्रुजीवितानां हन्तेत्यर्थः। उदाहरणम्-

ऋ॒ज्रमु॑क्ष॒ण्याय॑ने रज॒तं हर॑याणे।

रथं॑ यु॒क्तम॑सनाम सु॒षाम॑णि॥ (ऋ०८.२५.२२)

सुषाम्णः पुत्रो वरुर्नाम स राजा यद् यानं प्रादाद् विश्वमनसे। तदसौ विश्वमना ऋषिरनयाचष्टे। उक्षा नाम कश्चिद् वरोः पूर्वजस्तस्यापत्यमुक्षण्यायनः छान्दसत्वाद् वृद्ध्यभावः, **'यस्य च भावेन'** (अष्टा०२.३.३७) इत्येवं चैषा सप्तमी। तच्छ्रुतेश्च लक्षणभूतयोग्यक्रियापदाध्याहारः। तेनायमर्थः। **ऋज्रमृ**जुगामिनम्। **उक्षण्यायने** वरौ राजनि ददति सति। किम्? **रजतं** रजतमयं रजतसदृशं वा। **हरयाणे** शत्रुजीवितैश्वर्यादिहर्तृयाने **रथं** युक्तमश्वाभ्याम्। **असनाम** संभक्तवन्तो वयं लब्धवन्त इत्यर्थः। **सुषामणि** सुषामणीति पितृशब्देन सोऽयमित्यभिसम्बन्धात् पुत्रस्याभिधानं बभ्रुर्मण्डुरिति यथा। सुषामणपुत्रे वरावित्यर्थः। अथवा साम सान्त्वं सुखमिति पर्यायाः सुष्ठु सुख इत्यर्थः।

आरित इत्यनवगतम्। **'ऋ गतौ'** (धा०१.९६१) इत्यस्य। ऋषतेराङ्पूर्वस्य निष्ठायामिदं रूपमिति केचित्। यास्कपदकारौ तु **प्रत्यृत** इति विवरणादवग्रहकारणाच्च अर्तेर्यङ्लुगन्तस्येदं रूपमिति मन्येते। तस्य हि यङ्लुकि **'उरत्'** (अष्टा०७.४.६६) इत्यभ्यास ऋकारस्यात्वे **'रुग्रिकौ च लुकि'** (अष्टा०७.४.९१) इति रुकि निष्ठायाश्छान्दसत्वादिटि ऋकारस्य यणादेशे **'रो रि'** (अष्टा०८.३.१४) इत्यभ्यासलोपे ढ्रलोपदीर्घत्वे चारित इति। ण्यन्तस्य वा लुगभावश्छान्दसत्वात्। तेनानवगम आरित इति। ऋत इत्यवगमः। प्रत्यृत इति धातुप्रत्यययोः प्रदर्शनमात्रम्। उदाहरणम्-

यो अश्वा॑नां॒ यो गवां॒ गोप॑तिर्व॒शी य आ॑रि॒तः क॑र्मणि कर्मणि स्थि॒रः।

वी॒ळोश्चि॒दिन्द्रो॒ यो असु॑न्वतो व॒धो म॒रुत्व॑न्तं स॒ख्याय॑ हवामहे॥ (ऋ०१.१०१.४)

कुत्सस्य। **यः** प्रकृत इन्द्रोऽश्वानां **गवां वशी** ईशिता। **गोपतिर्गो**शब्दोऽत्रापवचनः स्तुतिवचनः स्तोतृवचनो वा पतिशब्दोऽधिपतिवचनः पालयितृवचनो वा। अपां वा स्तोमस्य स्तुतीनां वाधिपतिः स्वामी स्तोतृणां पालयितेत्यर्थः। **आरितो यश्च** प्रत्यृतः **कर्मणि कर्मणि** यागस्य स्तोमान् स्तोमशब्दो यज्ञोपलक्षणो यज्ञं प्रति गत इत्यर्थः। **स्थिर** आपरिसमाप्तेरविचाली। **वीळोश्चित्** चिदप्यर्थे संस्तब्धस्यापि अत्यन्तदृढस्यापि असुरादेरिन्द्रो **य असुन्वतः** सोमभिषवमकुर्वतो **वधः** **'हनश्च वधः'** (अष्टा०३.३.७६) इत्येवमादयश्छान्दसत्वात् कर्तर्यप्रत्ययो द्रष्टव्यस्तेन हन्तेत्यर्थः। यच्छ्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् तच्छब्दोऽध्याहार्यः। **मरुत्वन्तं** मरुद्भिः सहितमिन्द्रं **सख्याय** मनुष्याणां देवैः सह स्तुत्यस्तोतृलक्षणः सम्बन्धः सख्यं तदर्थं **हवामहे** स्तोतुमाह्वयाम इत्यर्थः।

व्रन्दीत्यनवगतम्। रूपतश्चार्थतोऽपि। तदुभयं दर्शयति **व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदूभावार्थस्ये**ति। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

नि यद्वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना।। (ऋ०१.५४.५) निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः शुष्णस्यादित्यस्य च शोषयितू रोरूयमाणो वनानीति वा। वधेनेति वा। **'अव्रदन्त वीळिता।'** (ऋ०२.२४.३) इत्यपि निगमो भवति। वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। निष्षपी स्त्रीकामो भवति। विनिर्गतपसाः। पसः पसतेः स्पृशतिकर्मणः।। **मा नो मघेव निष्षपी परा दाः।।** (ऋ०१.१०४.५) स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः। तूर्णाशमुदकं भवति। तूर्णमश्नुते। **'तूर्णाशं न गिरेरधि।'** (ऋ०८.३२.४) इत्यपि निगमो भवति। क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति। यत्क्षुम्पते।।१६।।

नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना।

प्राचीनेन मनसा बर्हणावता यदद्या चित् कृणवः कस्त्वा परि।। (ऋ० १.५४.५)

सव्यस्यार्षम्। नीत्ययं वृणक्षीत्यनेन सम्बध्यते। यच्छब्दो यस्मादर्थे। **निवृणक्षि** रौधादिकस्य **'वृजी वर्जने'** (धा०७.२४) इत्यस्येदं रूपम्। वरणार्थस्य चात्रासम्भवादावर्जनार्थत्वं द्रष्टव्यम्। निवर्जयसि प्रापयसीत्यर्थः। **यद्** यस्मात्। क्व? **श्वसनस्य** शब्दकारिणो वायोः। **मूर्धनि** उपरि। न च केवलस्य वायोरेव, किं तर्हि? **शुष्णस्य** विशोषयितुरादित्यस्य। **व्रन्दिनः** पाकेनाम्रादीनां मृदुभावकारिणः। **रोरुवत्** स्तयित्नुशब्दं कुर्वन्। **वना** वनान्युदकानि वृष्टिलक्षणानि। कथमादित्यस्य मूर्धनि वनानीन्द्रः स्थापयति? उच्यते। तत्समर्थाचरणान्यतस्तेन भूमौ पतितानि रश्मिभिरादित्यस्य मूर्धनि स्थाप्यन्ते स एवेन्द्रः स्थापयतीति व्यपदिश्यते। **प्राचीनेन** प्रागन्वितेन पराङ्मुखेन **मनसा** उत्साहयतेत्यर्थः। निबर्हतीति वधकर्मसु पाठाद् **बर्हणा** हिंसा मेघस्य तद्वता मेघहिंसापरेण मनसेत्यर्थः। **यद्** यस्मादद्य। **चिद**प्यर्थे। **अद्या**पि **कृणवः** करोष्येवेदं कर्म। यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यध्याहारः। तस्माच्च **कस्त्वा** त्वां प्रति **परि**। अध्यर्थे वा परिः कस्तवाधिकोऽन्यस्तवोपरि। सर्वस्य त्वमुपरि न कश्चित्तवोपरीत्यर्थः। भाष्ये वनानीव धेनानीति पाठात् सामर्थ्याच्च मेघस्येति शेषः। यतो न मेघवधमन्तरेणावर्जनं सम्भवति। अतश्च वाशब्दद्वयस्यापपाठः।

इदानीं व्रन्दीत्यस्य मृदुभावार्थतां प्रतियोगिपदान्तरसमवधानेन स्पष्टयिष्यन्नुदाहरणान्तरं दर्शयति **अव्रदन्त वीळिता** इति। उदाहरणम्-

तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।

उद्गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः।। (ऋ० २.२४.३)

निर्धारण एषा षष्ठी **देवानां** मध्ये। **देवतमाय** कर्मसम्बन्धव्यतिरेकजनितायाः षष्ठ्याः स्थान एषा चतुर्थी। देवतमस्यातिशयेन दानादिगुणयुक्तस्य ब्रह्मणस्पतेः **कर्त्वं** कर्म। कतमत्? उच्यते। **अश्रथ्नन्** शिथिलीभवन्ति **दृळ्हा** दृढान्यपीति। किञ्च **अव्रदन्त वीळिता** वीलितानि संस्तम्भानि अत्यन्तकठिनानि ओषधिवनस्पत्यादिबीजानि शिथिलीभवन्ति च विपरीतगुणानि भवन्ति प्रतिद्वन्द्वीभूतानि मेघवृन्दानि च। न चैतावदेवास्य कर्म। किं तर्हि?

उद्गा आजद् उदाजद् उद्गमयति गा वृष्टिलक्षणाः। **अभिनद्** भिनत्ति च **ब्रह्मणा** परिवृद्धेन। केन? सामर्थ्याद् वज्रेण। **वलं** मेघम्। त्रैलक्षणेन वा ब्रह्मणा स्तूयमान इति शेषः। **अगूहद्** गूहतश्च विद्युद्वलयविलसितैः शार्वरं **तमः**। **व्यचक्षयत्** चक्षिर्दर्शनार्थे व्यदर्शयद् नभसो व्यभ्रकरणेन **स्व** आदित्यम्। **वीळयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भनार्थे**, संस्तम्भश्च दृढं काठिन्यमुच्यते। पूर्वेण श्रुतेन अव्रदन्त इति व्रन्दिना मृदुभावार्थेन सह प्रयुज्यते मन्त्रेषु। तत्रानया संस्तम्भार्थत्वेन प्रतिद्वन्द्वीभावान्मुक्तसंशयं व्रन्दी मृदुभावार्थ इति गम्यते। रामार्जुनवत्। तथा चोक्तम् **'साहचर्यं विरोधिना'** (वाक्यपदीयम्) इति। व्रीळयतेर्व्रन्दिना सह प्रयोगो द्रेष्यः।

निष्षपीत्यनवगतम्। स्त्रीकाम इत्यभिधेयवचनम्। पुंश्चल्य इत्यर्थः। **विनिर्गतपसो** इत्यवगमः। विनिर्गतं नित्योत्थितं पसः शेपो यस्येति बहुव्रीहिः। स्त्रीव्यसन्यन्यपदार्थः। पसः पुनः **सपतेः 'षप समवाये'** (धा०१.४०१) इत्यस्य स्पृशत्यर्थस्य विपरीतस्य। स्पर्शश्चात्र सुरतस्य सुखातिशयोऽभिप्रेतः, न त्वगिन्द्रियविषयसंस्पर्शमात्रकम्, सपति स्पर्शयति सुखयतीति। उदाहरणम्–

प्रति॒ यत्स्या॒ नीथाद॑र्शि॒ दस्यो॒रोको॒ नाच्छा॒ सद॑नं जान॒ती गा॑त्।

अध॑ स्मा नो मघवन् चर्कृ॒तादिन् मा नो॑ म॒घेव॑ निष्ष॒पी परा॑ दाः॥ (ऋ०१.१०४.५)

कुत्सस्यार्षम्। **प्रति**शब्दो धात्वर्थानुवादी अदर्शीत्येतेन सम्बध्यते **यच्छ**ब्दो यस्मादर्थः, यस्मात् **स्या** तच्छब्दसमानार्थस्त्यच्छब्दः, त्यच्छब्दश्रुतेर्योगार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। या त्वया काङ्क्षिता स्तुतिः सा। **नीथा** स्तुतिरत्र नीथोच्यते **'नीथा॒विदो॑ जरि॒तारः॑'** (ऋ०३.१२.५) इति यथा। स्तुतिर**दर्शि** दृष्टा अस्माभिरालोचिता कृतेत्यर्थः। कृता च सती **दस्योरोको नाच्छा** ओक इति निवासस्थानमुच्यते अच्छेति व्याप्तुमित्यस्यार्थे। यथा कश्चिद् राजा स्वस्य शत्रोर्निवासस्थानमाप्तुं महता यत्नेन शीघ्रं च गच्छेत् तद्वत्। **सदनं** सर्वस्तुतीनां स्थानमाश्रयं भवन्तम्। **जानती गाद्** गता प्राप्ता। **अध** अथ एतस्मात् कारणात्। **स्म** इति पदपूरणम्। **न**स्तृतीयार्थ एषा षष्ठी, अस्माभिः। हे **मघवन्**! अत्यर्थं **चर्कृतात्**। किम्? सामर्थ्यादप्यधारयत्। **इत्** पदपूरणः। **मा नः** अस्मान्मा **परादाः** परादादातिः सामर्थ्याद् विनाशार्थः परित्यागार्थो वा विनीनशः परित्याक्षीर्वा इति। कथम्? **मघेव निष्षपी** स्त्रीभोगसक्तहृदयो दासीपतिर्यथा दास्यादिभ्योऽददाद् मघानि धनानि विनाशयति परित्यजति वा मा नस्त्वं तथा परादा इति।

तूर्णाशमित्यनवगतम्। शब्दतश्चार्थतश्च। अत आह–उदकमभिधेयम्। **तूर्णमश्नुते** व्याप्नोति एवं निर्वचनेन तूर्णशब्दस्य क्रियाविशेषणत्वेन सकर्मकत्वात् कर्मोपपदाभावात् वचादि केचिद् स्यादिति चेद् अश्नुत इत्यशं तूर्णं च तदशं च तूर्णाशम्। एवमपि ताच्छील्यानवगमः। अथाप्यशनमाशस्तूर्णमाशोऽस्येति तथापि ताच्छील्यस्यानवगतिः। तस्मात् तूर्णाशीति भाव्यम्। उदाहरणम्–

प्रति॑ श्रु॒ताय॑ वो धृ॒षत् तूर्णा॑शं न गि॒रेरधि॑।

हु॒वे सु॑शि॒प्रमू॒तये॑॥ (ऋ०८.३२.४)

मेधाति॒थेः। **प्रतीति** कर्मप्रवचनीयश्रुतेस्तद्योगिक्रियाशब्दोऽध्याहार्यः। **श्रुताये**त्यपि व्यत्ययेन चतुर्थी द्वितीयार्थे। **व** इति बहुवचनमेकवचनस्य स्थाने। तेनायमर्थः। आत्मीयं यागं प्रतिश्रुतं विख्यातं वा त्वामिन्द्र **धृषत्** क्रियाविशेषणमेतद् द्रष्टव्यम्। धृष्टं प्रगल्भं निशङ्कमित्यर्थः। **तूर्णाशं न** उदकमिव। यथा वृष्ट्यर्थिनो

बहूपकारसमर्थ- मुदकम्। **गिरेरधि** उपरि स्थितमिति शेषः, आह्वयेयुः। एवमहं **हुवे** ह्वयतेरात्मनेपदोत्तमैकवचने बाहुलकेन शपो लुक् सम्प्रसारणमुवङादेशे चैतद् रूपम्। आह्वयामि **सुशिप्रं** सुहनुं सुनसं वा। किमर्थम्? **ऊतये** तर्पणाय पालनाय वात्मनः।

क्षुम्पमित्यनवगतम्। **अहिच्छत्रकम**भिधेयम्। **यत् क्षुभ्यत** इति हेतुवचनम्। यद्यस्मादयत्नेनैव शक्यं क्षोभयितुम्। क्षोभ्यमिति न्याय्यम्। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य षोडशः खण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

कुदा मर्तमराधसं पुदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कुदा नः शुश्रुवद् गिर् इन्द्रो अङ्ग॥ (ऋ०१.८४.८) कदा मर्त्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति। कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग। अङ्गेति क्षिप्रनाम। अञ्चितमेवाङ्कितं भवति। निचुम्पुणः सोमो निचान्तपृणो निचमनेन प्रीणाति॥१७॥

कुदा मर्तमराधसं पुदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कुदा नः शुश्रवद्गिर् इन्द्रो अङ्ग॥ (ऋ०१.८४.८)

गोतमस्य राहूगणस्यार्षम्। **कदा** कस्मिन् काले। **मर्तं** मनुष्यम्। **अराधसं** हविर्लक्षणेन धनेन रहितमयष्टारमित्यर्थः। **पदा क्षुम्पमिव 'स्फुरति स्फुलति'** इति वधकर्मसु पाठात् (निरु०२.१९) स्फुरतिरभिभवार्थे। यथाहेः कश्चित् क्षुम्पमाक्रमत् पादेन स्फुरेत् हन्यात् तद्वत् स्फुरिष्यति वधिष्यतीत्यर्थः। **कदा नः** कदा वास्माकं सर्वदा यष्टॄणां **शुश्रवत्** श्रोष्यति **गिर इन्द्रो अङ्ग** क्षिप्रम्। अयष्टॄन् कदा निग्रहीष्यति यष्टॄंश्चास्मान् स्तुतिश्रवणादनुग्रहीष्यतीत्यर्थः। अनाराधयन्तमित्यर्थप्राप्तं वचनं न दारिद्र्यात्, किं तर्हि? नास्तिक्याश्रद्दधानतया अयष्टारमित्यर्थः। अवस्फुरति शृणोतीति पाठः, अवस्फुरिष्यतीति वेति। अङ्गेति निपातः क्षिप्रार्थः। तस्यार्थो विदितमेवेति। यद्धि क्षिप्रं तदन्वितमेवात्यन्तलग्नमेवेति। अङ्कितमित्यङ्गशब्दसमाधिः। अगिवमेगीत्यगेन नत्यर्थस्य।

निचुम्पुण इत्यनवगतमनेकार्थं च **सोमो**ऽभिधेयः। स चोदाहरणसामर्थ्याद् ऋजीषरूपशुभाभिप्रेतः। **निचान्तपृण** इति प्राप्तिवचनम्। निचान्तो भक्षितः प्रीणातीति। **निचमनेन प्रीणातीति** निचुम्पुणशब्दस्यार्थवचनम्। भक्षणेन तर्पयतीती। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः॥

अथ अष्टादशः खण्डः।

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये। अपां जग्मिर्निचुम्पुणः॥ (ऋ०८.९३.२२)

पत्नीवन्तः सुता इमेऽद्भिः सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये पानाय। अपां गन्ता निचुम्पुणः। समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते। निचमनेन पूर्यते। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते, नीचैरस्मिन् क्वणन्ति। नीचैर्दधतीति वा। **'अवभृथ निचुम्पुण'** (यजु०३.४८) इत्यपि निगमो भवति। निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च। पदिर्गन्तुर्भवति। यत्पद्यते॥१८॥

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।

अपां जग्मिर्निचुम्पुणः॥ (ऋ०८.९३.२२)

पत्न्यः पालयित्र्य आपो वसतीवर्यस्ताभिस्तद्वन्तः। **सुता** अभिषुता **इमे** गृहस्थाश्च। **सोममुशन्तः** सामर्थ्यादिवशब्दलोपो द्रष्टव्यः कामयमाना इव। किम्? पानमात्मनः। **यन्ति** गच्छन्ति इन्द्रम्। किमर्थम्? **वीतये** पानाय। **अपां जग्मिर**पामिति षष्ठी द्वितीयार्थे। तच्छ्रुतेर्वा मध्यमिति वाक्यशेषः। अपः प्रति अपां वा मध्ये जग्मिः **'आदृगमहन'** (अष्टा०३.२.१७१) इत्येवं किन्नमन्तमेतत्? गमनशीलः साधु वा गन्तेत्यर्थः। कः पुनरसौ? **निचुम्पुण** ऋजीषरूपः सोमः स हि **'अवभृथकाले ऋजीषमप्सु प्रास्यन्ति'** इति वचनादप्सु प्रक्षिप्यते। तदुच्यते अपः प्रति गमनशीलः साधु वा गन्ता चापां मध्यमिति।

अनेकार्थतां दर्शयितुमाह-**समुद्रोऽपी**त्यादि। **निचमनेन** नियमेनाचम्यन्त इति निचमनमुदकं तेन **पूर्यते**। पर्येष्यो निगमः। **अवभृथोऽपि** कर्मविशेषः सोऽप्येवमुच्यते कस्मात्? **नीचैरस्मिन् क्वणन्ती**ति नीचैः शब्देन कर्म कुर्वन्तीत्यर्थः। अवभृथेष्टौ **'अध्यानमुपांशु चरन्ति'** इति वचनात्। **नीचैर्वा** रिक्तान्यधोमुखानि पात्राणि **दधति** अप्सु सृजन्ति। के? सामर्थ्यादृत्विजः।

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।

अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि॥ (यजु०२०.१८)

सोमपात्राण्यनेन मन्त्रेणाप्सु प्रह्रियन्ते। अवभृथकर्मणो हि मन्त्रे देवता वरुणः। तदेव वा कर्मामन्त्र्यते **'शृणोत ग्रावाणः'** इति यथा। हे **अवभृथ**! अवभृथस्य वामन्त्रणम्। **निचुम्पुण** वरनाम। **निचेरुरसि** नीचैश्चरणधर्मा त्वमसि। समासत्वात् परभावः। नीचैः क्वणनधर्मा य ईदृशोऽसि सो**ऽवदेवैर्देवकृतमेनोऽयक्षी**त्यनेन सम्बध्यते। देवैरिति सहयोगलक्षणा तृतीया। अवपूर्वो यजिरवयजने द्रष्टव्यः। तेनायमर्थः। देवैः सह देवकृतं देवापराधजनित-मित्यर्थः। किं पुनस्तत्? **एनो** यदस्माकं पापं **तदवयक्षि** अवयज अपगमयेत्यर्थः। एवमेव **अवमर्त्यैर्मर्त्यकृतमपनय**-मवमर्त्यैर्मनुष्यैः। सह मर्त्यकृतं मनुष्यैरस्माभिः कृतं पुरुषापराधजमेनः। **पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि** उर्व्या विस्तीर्णया अस्मादेव रिषो हिंसायाः पाहि रक्ष। निचुम्पुण निचुङ्कुणेत्येतद् व्याख्यातव्यम्। क्वणतेरिति शेषः। द्वावप्येतौ क्रियासम्बन्धेनावभृथविषयावित्यर्थः। तथा व्याख्यातम्।

पदिरित्यनवगतम्। गन्तुरभिधेयः। **यत्पद्यत** इति हेतुर्वचनम्। यस्मादसौ नित्यमाकाशे पद्यते गच्छति। तदिह गमिधासीत्येवं (उणा०१.६९) तुन् प्रत्ययान्तोऽयं गन्तुः गन्तेत्यर्थः। पदान्तरसम्बन्धाच्चात्र पक्ष्यभिधेयः। उदाहरणम्–

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथैकोनविंशः खण्डः।

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति। यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति।। (ऋ०१.१२५.२) सुगुर्भवति सुहिरण्यः। स्वश्वो महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति यस्त्वा यन्तमन्नेन प्रातरागमन्नतिथे। मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति। कुमारो मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च। पादु पद्यतेः। **आवि स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।।** (ऋ०१०.२७.२४) आविष्कुरुते भासमादित्यः। गूहते बुसम्। बुसमित्युदकनाम, ब्रवीतेः शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा। यद्वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते।।१९।।

सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वा यन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति।। (ऋ०१.१२५.२)

कक्षीवत आर्षम्। अग्निरुच्यते। **सुगुः** शोभना दृष्टादृष्टप्रयोजनसामर्थ्याद् गावो यस्य सः सुगुः। **असद्** भवति। एवमेव **सुहिरण्यः स्वश्वश्च**। **बृहन्महच्चास्मै। वयो**ऽन्ननामैतत्, अन्नमिन्द्रो **दधाति** ददाति चास्मै सर्वाः सम्पदः। कस्मै? उच्यते। **यस्त्वा** त्वां सायं प्रातश्चाग्निहोत्र**मायन्त**मागच्छन्तं **वसुना** हविर्लक्षणेन धनेन। **प्रातरित्वः 'इण् गतौ'** (धा०१.३५) इत्यस्येदं क्वनिपि रूपं प्रातरेवाग्निहोत्रार्थमागामिन्नित्यर्थः। **मुक्षीजा** जालपाशिका **पदिं** पक्षिणम्। यथा मक्षीजया जालपाशिकया कश्चित् कुमारः पक्षिणं सिनुयात् एवमु**त्सिनाति**। उदित्येष समित्येतस्य स्थाने **'षिञ् बन्धने'** (धा०९.५) बन्धनं संरोधः, स चापि योऽभ्यर्चनापूर्वः स इहाभिप्रेतः। अनया रज्ज्वा हि बन्धः सम्यग् बध्नाति अत्यन्तं संरुणद्धीत्यर्थः। अतिथेरतिथिस्थानीयस्य। दृष्टं चेदमग्नेरतिथित्वं मन्त्रान्तरे **'जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण'** (ऋ०५.४.५) इति। मोचनाद् मुच्यते हि सा बध्यमानेषु पक्षिषु, आमुच्यन्ते वा पक्षिणः, पादे तन्यते वासौ प्रसार्यते पक्षिबन्धनपाशजालरूपा चेति मुक्षीजा।

पादुरित्यनवगतम्। **पद्यतेरि**ति धातुनिर्देशः **'पद गतौ'** (धा०४.६३) इत्यस्य। पदनं पाद इत्यवगमः। उदाहरणम्–

सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये।

आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।। (ऋ०१०.२७.२४)

वसुक्रस्यार्षम्। तच्छतेरत्र यच्छब्दोऽध्याहार्यः। उत्तरस्मिन्नर्धर्चे यच्छब्दसम्बन्धाच्च स एव व्याख्यानकाले प्रथममुपक्रमितव्यः। यद् रश्मिद्वारेण गत्वा **आविः स्वः कृणुते** आविष्कुरुते प्रकाशयति। स्वः सर्वपर्यायोऽयम्, सर्वम्। उदकनाम वा स्वं रश्मिभिः पर्यावर्तमानोयदुदकमाविष्कुरुते। आदित्यो वा स्वरित्युच्यते, आविष्कुरुते

भासमादित्यः। **गूहते** सर्वं संवृणोति च रश्मिभिरादत्ते चेत्यर्थः। अथवा **सा** देवता **ते** तव **जीवातुः** **'जीवेरातुः'** (उणा०को०१.७८) प्रत्ययो भावे जीवनं जीवातुर्जीविकाहेतुरित्यर्थः। किम्? सामर्थ्याद् यागं स्तुतिं च **मा स्म एतादृगुपकृतस्यापगूहः** प्रत्युत कुरुष्वेत्यभिप्रायः। **समर्ये** संग्रामनामेदम्, संग्रामे सप्तमीश्रुतेर्वर्तमान इति शेषः। केन सह संग्रामः? सामर्थ्याद् मृत्युना, सर्वप्राणिनां हि सर्वदैव मृत्युना सह संग्रामो जीवितस्येष्टत्वात्, मृत्योश्च तदपहरणे सर्वदा प्रवृत्तत्वात्। अत्र भाष्यकार **आविष्कुरुते भासमादित्य** इति भासमित्येतद् व्यवहरन् स्वःशब्दमादित्यवचनं मन्यते न सर्वपर्यायमुदकवचनञ्चेति गम्यते।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य तृतीयः पादः।

एकोनविंशश्च खण्डः समाप्तः॥

॥अथ पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

अथ विंशः खण्डः।

वृकश्चन्द्रमा भवति। विवृतज्योतिष्को वा। विकृतज्योतिष्को वा। विक्रान्तज्योतिष्को वा॥ २०॥

वृक इत्यनवगतमनेकार्थं च। **चन्द्रमा** इत्यभिधेयः। **विवृतज्योतिष्क** इत्यादयोऽवगमाः। विवृतं स्पष्टं व्यक्तं ज्योत्स्नारूपं ज्योतिरस्य न नक्षत्राणामिवाव्यक्तम्। विवृतं वा नक्षत्रादिज्योतिरमुष्मिन्नुदितेऽपि। न ह्यसावादित्यवत् प्रच्छादयतीत्यर्थः। अविकृतत्वं वा शीतत्वात्। औष्ण्यं हि प्रकृतं ज्योतिषे अग्न्यादौ दर्शनात्। ह्रासवृद्धिभ्यां वाल्पत्वेन महत्त्वेन विकृतं ज्योतिरस्मिन्। विक्रान्तं दिगन्तराणि ज्योतिरस्य। नक्षत्रादिभ्यः प्रकृष्टमित्यर्थः। वृकश्चन्द्रमाः। उदाहरणम्–

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथैकविंशः खण्ड।

अरुणो मा सकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि। उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥ (ऋ०१.१०५.१८) अरुण आरोचनः। मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति। चन्द्रमा। वृकः। पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्। अभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः। तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी। जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति। आदित्योऽपि वृक उच्यते। यदावृङ्क्ते। **अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य॥** (ऋ०१.११७.१६) आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता। तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्। श्वाऽपि वृक उच्यते। विकर्तनात्। **'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा।'** (ऋ०८.६६.८) उरणमथिः। उरण ऊर्णावान् भवति। ऊर्णा पुनर्वृणोतेः। ऊर्णोतेर्वा। वृद्धवाशिन्यपि वृक्युच्यते॥ **शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पिताान्धं चकार॥** (ऋ०१.११६.१६) इत्यपि निगमो भवति। जोषवाकमित्यविज्ञातनामधेयम्। जोषयितव्यं भवति॥ २१॥

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।

उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥ (ऋ० १.१०५.१८)

त्रितस्य कूपे पतितस्यैतदार्षम्। **अरुण** आरोचनः प्रकाशते प्रकाशको जगत्। **मासकृद्** मासानां कर्ता। मन्त्रे तु मासः प्रदर्शनं यत आह–**अर्धमासानां चे**ति। विरूपैकशेषो वा मासार्धमासानां वेति। विरूपैकशेषो वा मासार्ध–माससंवत्सरऋत्वयनाहोरात्राणामित्यर्थः। **वृकश्**चन्द्रमा **पथा** स्वेन **यन्तं** गच्छन्तं **ददर्श**। कम्? चन्द्रमस्सम्बन्धादिज्ञाते श्रवणेन च यज्ज्ञानं तदिहाभिप्रेतम्। पथ एकत्वेन निर्देशात् तेन पथान्यस्य

गमनासम्भवात् तत्सामर्थ्यान्नक्षत्रगणम्। **हीति** पदपूरणः। केचिदेवशब्दस्यार्थ इति वर्णयन्ति नक्षत्रगणमेव न मामिति। यदि पश्येद् उद्धरेत् कूपादित्यभिप्रायः। **उज्जिहीते 'ओहाङ् गतौ'** (धा०३.७) इत्यस्यैतद्रूपम्। **निचाय्येति** चायतिर्दर्शनार्थः प्रसिद्धः। निचाय्य दृष्ट्वा चोज्जिहीते ऊर्ध्वं गच्छति सामर्थ्याद् येन येनास्य नक्षत्रेण योगस्तेन तेन सहोत्तिष्ठतीत्यर्थः। क इव? **तष्टेव** यथा तक्षा नित्यं निकुटितत्वात् **पृष्ट्यामयी** पृष्टिरिति पृष्ठमुच्यते तस्यामामयो रोगस्तद्वान् पृष्ट्यामयी समुपजातपृष्ठवेदनो विश्रमार्थं मन्दमुत्तिष्ठेत् तद्वदित्यर्थः। **वित्तं मे अस्य 'विद ज्ञाने'** (धा०२.५४) श्रवणेन च ज्ञानमिहाभिप्रेतम्। शृणुतं **मे** मम। अस्येति षष्ठी द्वितीयार्थे इदं वच इति शेषः। अथवा अस्येति दुःखस्य प्रतिनिर्देशमपि जानीतं ममेदं कूपपातनिमित्तदुःखं विज्ञाय चार्थानुग्रहस्वभावकतया मामितः कूपादुत्तारयतमित्यर्थः। हे **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ।

मासकृदिति यस्यैतदेकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम। शाकल्यस्य तु द्वे एव पदे। अस्य कोऽभिप्रायः? उच्यते। पथा यन्तमिति वचनात् पुनः पुनर्दर्शनाच्च सकृदिति सकृद्दर्शनादनादरः ख्याप्यते। सकृदपि निचाय्य तत उज्जिहीते ऊर्ध्वमेव तथा दक्षदुहितृभूतया सह गच्छति न मामुत्तारयतीत्यभिप्रायं वित्तं चेमं वृत्तान्तं युवामपि।

अनेकार्थतां दर्शयन्नाह-**आदित्योऽपीत्यादि। यद्यस्मादावृङ्क्ते** आवृणोति जगत् प्रकाशनेन। अथवा वृणक्तीति वधकर्मसु पाठाद् यस्माद् विनाशयति तमांसीत्यर्थः। आवृणोति वोदकानि रश्मिभिः संभजत इत्यर्थः।

अजो॑हवीदश्विना॒ व॒र्तिका॑ वामा॒स्नो यत्सी॒मम॑ुञ्चतं॒ वृक॑स्य।

वि ज॒युषा॑ ययथु॒ः सान्वद्रे॑र्जा॒तं वि॒ष्वाचो॑ अहतं वि॒षेण॑॥ (ऋ०१.११७.१६)

कक्षीवत आर्षम्। अत्रेतिहासो भाष्यकारेणाख्यातः। **अजोहवीद्** आहूतवतीत्यर्थः। **अश्विना** हे अश्विनौ। **वर्तिका** वर्तते पुनः पुनरावर्तयत इत्युषा अत्र वर्तिकाऽभिप्रेता न चटका। आवर्तनस्वभाविकोषाः। **वां** युवाम् **आस्न** आस्यशब्दस्यायमास्नादेशः पदादिसूत्रस्मरणात्। आस्याद् **यदैताम् अमुञ्चतम्** अन्तर्नीतण्यर्थोऽयं मुचिः, मोचितवन्तौ स्थः। कस्यास्यात्? **वृकस्या**दित्यस्य। किंच नैतावदेव कर्म युवयोः। किं तर्हि? **विशब्दो** ययुरित्येतेन सम्बध्यते। **जयुषा** जितवता शत्रून् जघनशीलेन वातेन सामर्थ्याद् रथेन। **वियय**थुर्विविधं गतवन्तौ स्थः। किम्? **सानु** समुच्छ्रितं प्रदेशम्। **अद्रे**र्मेघस्य। गत्वा च **जातं** जननधर्मा च सर्वभूतजातं कृतमित्यर्थः। कथम्? **विष्वाचो** मेघविशेषणमेतद् विषुशब्दो नानार्थे, अञ्चतिर्गत्यर्थः। नानाञ्चितुमितश्चामुत्र च गन्तुं गमनशीलो विशीर्यमाणवपुषो मेघस्य मेघसम्बन्धिनः। **अहतम्** आहतवन्तौ स्थ इत्यर्थः। केन? **विषेण** उदकनामैतत्, उदकेन। मेघं विपात्य महतीं वृष्टिं पातितवन्तावित्यर्थः।

श्वापि वृक इति श्वजातीयोऽपि योऽयं लोके प्रसिद्धो वत्सोरणकानां विवर्तनादाता असावप्युरणानां विकर्तनयोगाद् वृक उच्यते। विविधमसौ कृन्ततीति वृङ्क्ते तस्माद् वृकः। उदाहरणम्-

वृक॑श्चिदस्य वार॒ण उ॑रा॒मथि॒रा व॒युने॑षु भूषति।

सेमं न॒ः स्तोम॑ जुजुषा॒ण आ ग॒हीन्द्र॒ प्र चि॒त्रया॑ धि॒या॥ (ऋ०८.६६.८)

प्रगाथपुत्रस्य कलेरार्षम्। **वृकश्चित्** चिदप्यर्थे वृकोऽपि श्वा सारमेयः। **अस्य वारणो** वारयिता यस्मादयत्नेनैव शत्रूणामुरामथिरुरणवदवमथ्नाति अतो वृक इत्युच्यते। आकारो भूषतीत्यनेन सम्बध्यते, **वयुनेषु**

कान्तिषु इच्छासु **आभूषति** आभिमुख्येन करोति। यद्यद् भवानिच्छति तत्तत् करोतीत्यर्थः। **स इमं नो**ऽस्माकं स्वभूतं **स्तोमं जुजुषाणः** सेवमानः प्रीयमाणो वा **आगहि** आगच्छ हे **इन्द्र**! **प्रचित्रया** प्रकर्षेण चित्रया पूजनीयया **धिया** प्रज्ञया इत्थंभूतया।

निगमप्रसक्तमुच्यते। **उरण** ऊर्णया तद्वान्। उरशब्द ऊर्णायां द्रष्टव्यः, ततो नकारो मत्वर्थीयः। वामन इति यथा। निर्वचनप्रसक्तमाह–**ऊर्णा पुनर्वृणोतेः** व्रीयन्ते हि ता शीतार्थैः छादितो वा ताभिर्मेषः।

वृद्धवाशिन्यपि वृद्धं वाश्यते एवंशीला वृद्धवाशिनी वृद्धसृगाली वेति प्रसिद्धा। सापि प्रत्युच्यते। उदाहरणम्–

शतं मेषान् वृक्यें चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।

तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्॥ (ऋ०१.११६.१६)

कक्षीवत आर्षम्। **ऋज्राश्वम्**। किम्? तमिति तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धाद् यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यो युवयोः स्वभूतो रासभो वृको भूत्वा उपतस्थे। **शतं मेषान्** एकं चेति वाक्यशेषः। कुत एतत्? **'ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्'** (ऋ०१.८.१६) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। **वृक्ये** आहारार्थम्। **चक्षदानं** क्षदिरत्र विशसनार्थः। विशसन्तम् ऋज्राश्वं नाम राजपुत्रमयोग्यमिति कृत्वा **पिता** शापेना**न्धं चकार तस्मै** ऋज्राश्वाय। **अक्षी** हे **नासत्या** भावे च नासत्यौ **विचक्षे** विविधादर्शनाय **आधत्तं** दत्तवन्तो **दस्रा** दस्रनामानौ दर्शनीयौ वा यौ **भिषजौ** देवानां वैद्यभूतौ। **अनर्वन्** अर्तेर्गत्यर्थस्येदं रूपम्। अन्यव्यावृत्त्याश्रिततया यो न गतः सोऽनर्वा। अक्षिविशेषणं चेदम्। छान्दसत्वाच्च द्विवचनस्य स्थान एकवचनम्। अनर्वणी अपराश्रिते स्वायत्ते। पित्रान्येन वा शापेन वा उदेतुमशक्ये इत्यर्थः। तदेतत् कुत्सेनाप्युक्तम् **'याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजम्'** (ऋ०१.११२.८) इति।

जोषवाकमित्यनवगतम्। प्रविभज्य निराह–जोषमित्यविज्ञातस्य अस्पष्टस्य नामधेयम्। तद्धि **जोषयितव्यं** संस्कर्तव्यं सेवितव्यं वा ज्ञानाय स्पष्टतायै। लोके तूष्णीम्भावेऽप्यस्य प्रयोगो दृश्यते **'जोषमासं कुदेशजा'** इति। अस्मिन्नप्यर्थे धात्वर्थाप्रसिद्धिरनवगमः। उदाहरणम्–

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य एकविंशः खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

य इन्द्राग्नी सुतेषुं वां स्तवत्तेष्वृंतावृधा। जोषवाकं वदंतः पज्रहोषिणा न देंवा भसथंश्चन॥ (ऋ०६.५९.४) य इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्याश्नीथः। अथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीथः। कृत्तिः कृन्ततेः। यशो वान्नं वा। **महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र॥** (ऋ०८.९०.६) सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरेवेति। इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव। सूत्रमप्युपमार्थे वा। **'कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि।'** (यजु०१६.५१) इत्यपि निगमो भवति। श्वघ्नी कितवो भवति। स्वं हन्ति। स्वं पुनराश्रितं भवति।

'कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने।' (ऋ०१०.४३.५) कृतमिव श्वघ्नी विचनोति देवने। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः। कृतवान् वा। आशीर्नामकः। सममिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्॥ २२॥

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृंतावृधा।

जोषवाकं वदंतः पज्रहोषिणा न दैवा भसथंश्चन॥ (ऋ०६.५९.४)

भरद्वाजस्य। **यः** स्तोता हे **इन्द्रग्नी! सुतेषु** सोमेषु **वां स्तवद्** आदरेण स्तौति। **तेषु** व्यत्ययेन षष्ठ्येकवचन-स्थाने सप्तमीबहुवचनमेतत्। भसथ इत्येतच्चाख्यातमुत्तरस्मादर्धर्चादनुषक्तव्यम्। तस्य सोमान् **न भसथो** भक्षयथः। हे **ऋतावृधा** ऋतावृधौ सत्यस्य यज्ञस्योदकस्य वा वर्धयितारौ। **जोषवाकमविज्ञानमस्पष्टं** किमपि वचनं **वदतोऽ**सम्यक् स्तुवत इत्यर्थः। हे **पज्रहोषिणा** पज्रमन्नं हविराख्यं वा स्तुतिक्रियाविषयं तद् येषामस्ति ते पज्रा व्रातविष्का वा। के पुनस्ते? ऋत्विग्यजमानाः। तेषां स्वभूतं होतव्यं हविः पज्रहोषमित्यर्थः, तेन तद्वन्तौ पज्रहोषिणौ **देवा** देवौ **भसथो** भक्षयथः। **चनेति** पादपूरणः। कदाचिदपीत्यस्य वार्थे। न कदाचिदपि भजतः, स हि तेन भावेन शब्दमात्रमस्पष्टमुच्चारयति।

कृत्तिरित्यनवगतमनेकार्थं च। **कृन्ततेरिति** धातुनिर्देशः। **यशो वान्नं वा** प्रसिद्धमभिधेयम्। यशो हि द्विषतः कृन्तति। दुर्भुक्तं वान्नं माषादि। कर्तनमित्यर्थः। उदाहरणम्-

तमुं त्वा नूनमंसुर प्रचैतसं राधौ भागमिवेमहे।

महीव कृत्तिः शरणा तं इन्द्र प्र तें सुम्ना नौ अश्नवन्॥ (ऋ०८.९०.६)

नृमेधप्रियमेधयोरार्षम्। य उक्तगुणोऽस्ति तं च। **नूनमिति** पदपूरणः। **त्वा** त्वां हे **असुर** प्राणवन्। किं विशिष्टं त्वाम्? **प्रचेतसं** वृद्धप्रज्ञानं **राधो** धनमी**महे** याचामहे। **भागमिव** यथा कश्चित् पुत्रस्य वान्यस्य वा साधारणस्य कस्यचिद् भागं याचेत तद्वत्। किञ्चि**न्महीव** महती **कृत्ति**र्यशोऽन्नं वा। एवं **शरणा** शरणं गृहमन्तरिक्षे **ते** तव हे **इन्द्र**! किञ्च **प्र**शब्दोऽश्नवदित्येतेन सम्बध्यते तव स्वभूतानि **सुम्नानि** सुखानि त्वया दत्तानीत्यर्थः। अस्मिन् **अश्नवन्** प्राप्नुवन्तु अस्माकं भवन्त्वित्यर्थः।

इयमपि तत्र लोकप्रसिद्धा चर्ममयी **कृत्तिरेतस्मादेव**। बहुधा कृत्ता हि सा शरीरात्। यदा **सूत्रमयी** तदोपमार्थे कृत्तजरद्वस्त्रखण्डग्रथितत्वात् कर्तनसामान्यात् कृत्तिरिव कृत्तिः कन्थोच्यते। उदाहरणं परमे वृक्षे। संसारस्य मूलत्वाद् ब्रह्मा वृक्षस्तस्मिन् आयुधं निधाय कृत्तिं वसानः पिनाकं बिभ्रदागहीति निगमः।

श्वघ्नीत्यनवगतम्। **कितवोऽभिधेयः। स्वं हन्तीति** व्युत्पत्तिप्रदर्शनम्। ततः स्वकर्मोपपदे स्वघाते भूते **'कर्मणि हनः'** (अष्टा०३.२.८६) इति स्वघातीति स्यात्। स्वस्य चाभुक्तस्य नाशो वध इहाभिप्रेतः। निर्वचनप्रसक्तं स्वमाह। धृतमिति रिक्थक्रयसंविभागप्रतिग्रहाधिगमैरुपायैः स्वामिनं प्रत्यागतमित्यर्थः। उदाहरणम्-

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयंत्।

न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन् न पुराणो मघवन्नोत नूतनः॥ (ऋ०१०.४३.५)

कृष्णस्याङ्गिरसस्यार्षम्। **कृतं न** कृतमिव कृतत्रेतादिन्यायनामधेयानि। तत्र यथाकृतमायविशेषं **श्वघ्नी** कितवो जिगीषया आयानां विचिनुयात् परीक्ष्य गृह्णीयादित्यर्थः। **देवने** दीव्यत्यस्मिन्निति देवनमास्तरप्रदेशस्तस्मिन्। एवं मेघानां मध्ये **संवर्गं** संवर्जयितारं संभक्तारं संग्रहीतारमित्यर्थः। कस्य? सामर्थ्यादपाम्। सम्यगावर्जयितारमधः प्रक्षेप्तारं मेघं **विचिनोति** वृष्टये परीक्ष्य गृह्णातीत्यर्थः। विचित्य च प्रत्यकृतत्वाद् मन्त्रस्य मघवेति दानासंवृतत्वाद् एकवाक्यतायै भवच्छब्दोऽध्याहार्यः। **मघवा** भवानिन्द्रः **सूर्यं** मेघविशेषणमेतत्, सुष्ठु सर्तारं नष्टारम**जयत्**। पौरस्त्यो यच्छब्द इहासक्तव्यः, यज्जयसि ततो रसाद्दानं **न तत्ते तवान्यो** देवोऽ**नुवीर्यं शकत्**। अनूपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियापदाध्याहारः, अनुकर्तुं सामर्थ्यातिशयलक्षणं वीर्यं शक्नोतीत्यर्थः। अनुकर्तुमपि किमङ्ग पुनरतिशयितुमित्यभिप्रायः। **न पुराणः** कश्चित् हे **मघवन्! नोत नूतनो** नापि नव इत्यर्थः।

पर्यायप्रसक्तं कितवमाह, **किं तवास्तीति** पृच्छ्यते किमतश्च तदनुकरणनिमित्तकमेवास्यैतन्नामधेय-मित्यर्थः। **कृतवान् वा** कृताख्येन येन तद्वानहं स्यामिति जयार्थमाशास्ते। आशीर्नाम आशीर्निमित्तनामकमित्यर्थः।

सममित्यनवगतमनवगतसंस्कारं च परिग्रहार्थीयम्। किमः सर्वनामसु पाठात् सर्वनामेत्युक्तम्। नापि च सदनुदात्तत्वेन.........संसमेत्य उच्चानीति स्मरणात्। अर्धनामेत्येकमिति त्वपपाठः, उदाहरणस्याप्रदर्शनात्। उदाहरणम्–

इति दशमस्य (पञ्चमस्या) ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

मा नः समस्य दूढ्य१ः परिद्वेषसो अंहतिः। ऊर्मिर्न नावमा वधीत्॥ (ऋ०८.७५.९) मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधियः सर्वतो द्वेषसोंऽहतिरूर्मिरिव नावमावधीत्। ऊर्मिरूर्णोतेः। नौः प्रणोत्तव्या भवति। नमतेर्वा। तत्कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति। **'उतो संमस्मिन्ना शिशीहि नो वसो।'** (ऋ०८.२१.८) इति सप्तम्याम्। शिशीतिर्दानकर्मा। **'उरुष्या णो अघायतः समस्मात्।'** (ऋ०५.२४.३) इति पञ्चम्याम्। उरुष्यती रक्षाकर्मा। अथापि प्रथमाबहुवचने। **नभन्तामन्यके समे॥** (ऋ०८.३९.१, ३, ४, ६)॥२३॥

मा नः समस्य दूढ्यः१ परिद्वेषसो अंहतिः।
ऊर्मिर्न नावमा वधीत्॥ (ऋ०८.७५.९)

विरूपो नामाङ्गिरसस्तस्यार्षम्। मेति प्रतिषेधार्थो वधीदित्यनेन सम्बध्यते। **नो**ऽस्माकं **समस्य** सर्वस्य दुर्धियः पापबुद्धेः **परिद्वेषसः** सर्वतो द्वेष्टुर्द्वेषस्य च सम्बन्धिनी **अंहतिः** हिंसा वधमित्यर्थः। **ऊर्मिर्न** ऊर्मिरिव यथा उदकोर्मि**र्नावमावधीद्** आभिमुख्येन हन्यात् तद्वन्मा वधीर्मा हिंसीरित्यर्थः।

ऊर्मिरूर्णोतेराच्छादनार्थस्य। सा हि च्छादयति नावम्। नौर्नुदेः सा हि पारं प्रति प्रेर्यते। नमतेर्वा प्रभवति। विरोधमुत्पादयन्नाह तत्कथमित्यादि। एतद्भाष्यं षाष्ठीकेन तुल्यव्याख्यानं द्रष्टव्यम्। यत्तत् षाष्ठीकं तावत् प्रदर्शितमेव।

उरुष्याण इति पञ्चम्याम्।

स नो॑ बोधि श्रुधी हव॑मुरु॒ष्या णो॑ अघाय॒तः स॑मस्मात्।

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः॥ (ऋ०५.२४.३,४)

इयं द्विपदा श्रुतबन्धोः। सापि च प्रसङ्गाद् व्याख्यायते। वेति प्रसिद्धयेति य उक्तगुणोऽसि। हे अग्ने **नो**ऽस्माकं स्वभूतां स्तुतिमिति शेषः, **बोधि** बुध्यस्व **श्रुधि** शृणु **हवमा**ह्वानम्, **रुष्य** च **नो** रक्ष **चास्मान्**। कुतः? **अघायतः** पापमिच्छतः **समस्मात्** सर्वस्माद् रक्ष आदेः। **तं त्वा** य उक्तगुणोऽसि तं त्वां **शोचिष्ठ** अतिशयेन शोचित। **दीदिवः** दीप्तिमत् **सुम्नाय** सुम्नमिति सुखनाम द्वितीयार्थे चात्र चतुर्थी सुखम्। **नूनं** निश्चयेन **ईमहे** याचामहे। **सखिभ्यः** सखीनामर्थाय।

सप्तम्यामपि–

वि॒द्मा स॑खि॒त्वमु॒त शू॑र भो॒ज्य१॒॑मा ते॒ ता व॑ज्रिन्नीमहे।

उतो॒ स॑मस्मि॒न्ना शि॑शीहि नो वसो॒ वाजे॑ सुशिप्र गोम॑ति॥ (ऋ०८.२१.८)

सौरभेरर्षम्। **विद्मो** जानीमो वयं तव **सखित्वं** सखिभावं स्तुत्यस्तोतृत्वलक्षणम्। **उत** अपि च हे **शूर** विक्रान्त **भोज्यं** भोग्यत्वमुपजीव्यतामित्यर्थः। आकार ईमहे इत्यनेन सम्बध्यते। अतो विद्वानहं **ते** तव स्वभूतानि यानि धनानि हे **वज्रिन् ईमहे** याचामहे आभिमुख्येन। तव अपि च **समस्मिन्** सर्वस्मिन् काण्डे। **आशिशीहि** शिश्यतेस्तनूकरणार्थस्यैतद् रूपम्। तनूकरणेन चेह संस्कारो लक्ष्यते। आकारः समित्यस्य स्थाने। तेनायमर्थः। संशिशीहि संस्कुरु योग्यं कुर्वित्यर्थः। **नो**ऽस्मान्। **वसो** हे प्रशस्य धनवन् **वाजे** अन्ये **सुशिप्र** सुहनो सुनस वा। कीदृशेऽन्ने? **गोमति** गोभिः सहिते। समस्मिन् वाजे गोमतीत्यत्र सप्तमी **'निमित्तात् कर्मसंयोगे'** (अष्टा०२.३.३६) इत्येवं द्रष्टव्या। **'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति'** इति यथा। सर्वस्यान्नस्य गोसहितस्य प्राप्त्यर्थमित्यर्थः।

प्रथमाबहुवचने नभन्तामित्युदाहरणम्। **'यदि॑न्द्राग्नी जना॑ इ॒मे'** (ऋ०८.४०.७) इति पुरस्ताद् (निरु०५.२) व्याख्यातम्।

कुटस्य चर्षणिरिति चानवगते। कृतस्य चायितेति चावगमः। द्वयोरप्येकमुदाहरणम्।

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः॥

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

ह॒विषा॑ जा॒रो अ॒पां पिप॑र्ति॒ पपु॑रिर्नरा। पि॒ता कु॒ट॑स्य च॒र्ष॒णिः॥ (ऋ०१.४६.४) हविषापां जरयिता। पिपर्ति पपुरिति पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा। पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः। शम्ब इति वज्रनाम। शमयतेर्वा। शातयतेर्वा। **'उ॒ग्रो यः शम्ब॑ः पुरुहू॒त तेन॑।'** (ऋ०१०.४२.७) इत्यपि निगमो भवति। केपयः कपूयाः भवन्ति। कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितम्। यच्च तद् दुष्पूयं भवति॥२४॥

ह॒विषा॑ जा॒रो अ॒पां पिप॑र्ति॒ पपु॑रिर्नरा।

पि॒ता कुट॑स्य चर्ष॒णिः॥ (ऋ० १.४६.४)

प्रस्कण्वस्य। हविरित्युदकनाम। **हविषा** उदकेन **जारो** जारयिता आदित्यः। कस्य? **अपाम्। पिपर्ति** आश्विनत्वात् सूक्तस्य युवामेवं द्यावापृथिव्यादिरूपावश्विनौ पूरयत्वित्युच्यते। रश्मिभिर्भौमरसलक्षणमाददानो दिवं प्रत्यर्पयन् पृथिवीं च यदासावादित्यादिना चर्म वर्षकर्म समानमेतदुदकमग्नेरिति वक्ष्यति। **पिता** पितृभूतः पालयिता वा कृत्स्नस्य जगतः। **कुटस्य** कृतस्य च सामर्थ्यात् शुभाशुभस्य च कर्मणः। **चर्षणिः** चायिता द्रष्टा। सर्वं चैतल्लोकत्वात् **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** (अष्टा०१.११५.१) इति चात्मरूपत्वादादित्य उपपन्नम्। एवं च मन्त्रब्राह्मणवर्णाः। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः'** (मनु०३.७६) इति च स्मरणात्। आदित्यस्य वृष्टिद्वारेण चाश्विनोर्हविषा तर्पणात् प्राधान्ये सत्यश्विनीत्वमुपपद्यत इति सर्वमुपपन्नम्। **'दिवं॑ जिन्वन्त्य॒ग्नयः॑'** (ऋ०१.१६४.५१) इति च। एवमुपपत्तौ सत्यां यदन्यथा कैश्चिद् व्याख्यायते यास्कमतं चापोह्यते तदाहोपुरुषिकामात्रमिति मन्यामहे।

शम्ब इत्यनवगतार्थम्। **वज्रो**ऽभिधेयः। शमनः शात इति चेत्यवगमः। उदाहरणम्-

आ॒राच्छत्रु॒मप॑ बाधस्व दू॒रमु॒ग्रो यः शम्बः॑ पुरुहू॒त तेन॑।

अ॒स्मे धे॑हि॒ यव॑म॒द्गोम॑दिन्द्र कृ॒धी धियं॑ जरि॒त्रे वाज॑रत्नाम्॥ (ऋ०१०.४२.७)

कृष्णस्याङ्गिरसस्यार्षम्। आराच्छब्दोऽयं सन्निकर्षविप्रकर्षवचनः। तस्य सर्वस्य सामर्थ्यादर्थविशेषोऽध्यवसेयः। आरादपीय इति तुल्यजातीयापेक्षत्वात् प्रकर्षप्रत्ययस्य दूरतरमित्यर्थः। इह तु दूरप्रतियोगित्वात् सन्निकृष्टे चापायभूयस्त्वाशङ्कया शत्रोर्दूरापगमः प्रार्थ्यत इति सन्निकर्षवचनो गम्यते। तेनायमर्थः। सन्निकृष्टादस्य **शत्रुमप बाधस्व** अवगमय दूरम्। अन्ये वर्णयन्ति शत्रोरवस्थानं बहुदोषत्वादनिष्टमिति दूरवचन एवाराच्छब्दो दूरशब्दश्चात्रान्तर्नीतप्रकर्षार्थः। दूरादप्यस्य शत्रुमपनय **दूरं** दूरतममित्यर्थः। तेनोच्यते **उग्रो**ऽप्रसह्यः क्रूरो वा **यः शम्बो** वज्रः। **पुरुहूत** हे बहुभिराहूत। **तेन** किञ्च **अस्मे** अस्मभ्यं **धेहि यवमद् गोमत्**। प्रदर्शनं चेदं यवादिभिर्धान्यैर्गवादिभिश्च पशुभिस्तद्वत् संयुतमित्यर्थः। अथवा **वाजरत्नां** वाजवतीं रत्नवतीं चेत्यर्थः।

केपयमित्यपरोक्षवृत्तित्वादत्यन्तानवगतम्। तस्य परोक्षवृत्तिना **कपूया भवन्तीति** इदमर्थप्रदर्शनम्। एवमपि न विज्ञायते पूया इति। अत उभयोरनयोरक्षरवर्णसामान्येन शब्दार्थौ निराह। कपूय कमिति च पूयमिति च कर्मोच्यते। तेन च **पुनाति**कर्मणोः **कर्म**विशेषेण कर्मसामान्यं लक्ष्यते। **कुत्सितमिति** कशब्दार्थप्रदर्शनम्। स्पष्टार्थमाह। **दुष्पूयमिति** दुःशोभनधनं दुष्पानमिति चेत्यर्थः। तेन कपूयशब्दवाच्ये कर्मणा तद्वत् तस्यानुष्ठातारः कपूयाः। आकारो मत्वर्थीयः, कपूयास्सन्तः केपयः कुत्सितकर्मानुष्ठायिनः पापकर्माण इत्युच्यन्ते। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंशः खण्डः।

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा। न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥ (ऋ०१०.४४.६) पृथक् प्रायन्। पृथक् प्रथतेः। प्रथमा देवहूतयः। ये देवानाह्वयन्त। अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि दुरनुकराण्यन्यैः। येऽशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्। अथ ये नाशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुमीर्मैव ते न्यविशन्तेहैव ते न्यविशन्त। ऋणे हैव ते न्यविशन्तास्मिन्नव लोक इति वा। ईर्म इति बहुनाम। समीरिततरो भवति। **एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे॥** (ऋ०१०.५०.६) एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व। अंसत्रमंहस्त्राणं धनुर्वा कवचं वा। कवचं कु अञ्चितं भवति। काञ्चितं भवति। कायेऽञ्चितं भवतीति वा॥ २५॥

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥ (ऋ०१०.४४.६)

कृष्णस्यैव। **पृथक्** कर्मकृतत्वान्नाना असहायभूताः **प्रायन्** प्रगताः, कम्? सामर्थ्यात् स्वर्गम्। **प्रथमाः** मुख्याः। के? उच्यन्ते। **देवहूतयो** देवान् प्रत्याह्वानं येषां ये देवानां ह्वयन्ति देवानाह्वातारः। आह्वानेन च यागो लक्ष्यते यष्टार इत्यर्थः। **अकृण्वत** कृतवन्तश्च **श्रवस्यानि** श्रवणीयानि आस्तिक्यश्रद्धोपग्रहविशेषाद् विशिष्टानि साधनानि यशांसि **दुष्टरा** दुस्तराणि दुष्प्रापाणि दुरनुकरणानि चान्यैर्ये यज्ञमयीं **नावमारोढुं** शक्नुवन्तस्त एवमुच्यन्ते। अथ **न ये शेकुः** शक्नुवन्तस्त एवमुच्यन्ते यज्ञमयीं **नावमारुहमारोढुं** यागदानादि कर्तुमित्यर्थः। तदशक्त्या चात्र विहितविपरीतप्रतिषेधं सेवनं च लक्ष्यते। ये विपरीतं प्रतिषिद्धमासेवन्त इत्यर्थः। **ईर्मैव** इहैव सर्वमर्यादातिक्रमहेतौ दारिद्र्येण गुणेन वा सह। **'यज्ञेन देवानाम्'** इति श्रुतेः। अस्मिन्नेव वामकृष्य लौकिके **न्यविशन्त** नीचैर्नीचैस्तरामविशन्त अधोगतिं गता इत्यर्थः। के? उच्यन्ते। **केपयः** कपूयाः पापकर्माण इत्यर्थः।

पृथग्विस्तरार्थस्य पृथग्भूतानामभिविस्तरस्यावश्यम्भावात् शब्दसारूप्यप्रसङ्गादाह। **ईर्म इति बाहुरुच्यते।** स ह्यङ्गान्तरेभ्यो विक्षिप्ततमो भवति। अन्येऽपीर्मशब्दं प्राणप्रचनं वर्णयन्ति। दक्षिणमीर्मस्य दक्षिणमङ्गस्य व्रणितं व्याधेनेति दक्षिणेर्मा मृग इति।

ततुमाकृषे इत्येते नावगते। शीघ्रगत्यर्थस्य तूर्णमित्यवगमः, कृषे इत्यस्योपाकुरुष इति। उदाहरणमुभयोरेकम्।

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः॥ (ऋ०१०.५०.६)

वैकुण्ठ इन्द्रस्यार्षम्। **एता** एतान्यर्थितानि **विश्वा** सर्वाणि **सवनानि** प्रातस्सवनादीनि वापस्थानानि यज्ञानीत्यर्थः। **तूतुमा** तूर्णं **कृषे** करोषि **स्वयं** क्षिप्रमागच्छ हे **सूनो सहस** इन्द्रस्यात्यन्तबलवत्त्वात् **'ओजसो जातम्'** (ऋ०१०.७३.१०) इत्यादौ च मन्त्रान्तरे दर्शनाद् बलादेव जात इति गम्यते। तेनैवमामन्त्र्यते सूनो

सहस इति। **यानि** वृष्टिप्रदानद्वारेण द्युलोकादीनि यागाङ्गतारूपत्वेन वा **दधिषे** धारयसि। किञ्च **वराय** श्रेष्ठाय **ते** तुभ्यं **पात्रमिदं** सोमस्य पूर्णमिति शेषः। **धर्मणे** धारयित्रे सर्वस्य जगतः। **तना** धननामैतद् धनं वास्मदीयम्। अयं च प्रकृतो **यज्ञो मन्त्रश्च** ऋग्यजुरादिः। **ब्रह्म** अन्ननामेदम्, अन्नं च सवनीयपुरोडाशादि ह्येतत्। यच्चेदमसूक्तृतं **वचः** स्तुतिलक्षणं यावत् किञ्चित् सर्वं त्वदर्थ उपाकुरुष इत्युपसर्गद्वयापेक्षं भाष्यकारो दर्शयति तूर्णमुपगत्याभिमुख्येन करोषीति।

अंसत्रमित्यनवगतमनेकार्थम्। पार्ष्णित्रमित्यवगतमिति केचित्। अत आह-**अंसत्रमहंसस्त्राणमंहः**शब्देन पापमुच्यते। अन्ते निरूढोपयादित्युक्तत्वात्। त्राणमिति च यदि कर्तरि ल्युट् अंहसस्त्रायत इति **'आतोऽनुपसर्गे कः'** (अष्टा०३.२.३) इति अंहस्त्रमिति प्राप्तम्। अथ करणे ततः षष्ठीसमासः। **धनुर्वा कवचं** वाभिधेयम्। तयोर्धनुर्निर्विवक्ष्यति। कवचं प्रविभज्य ब्रवीति-**कु अञ्चितमिति**। कुशब्दस्य कुत्सार्थस्याञ्चतौ लुप्तनकारे उकारस्यादेशः। तद्धि स्वभावकुटिलमिति। कवचं कारुत्सेति चेत् कौटिल्यमेव। ईषदर्थे वा कुः। ततश्च **काञ्चितं** सत् कवचम्। **काये वाञ्चितं** कायशब्दात् पूर्वपदादित्यर्थः। उदाहरणम्।

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

प्री॒णी॒ताश्वा॑न् हि॒तं ज॑याथ स्वस्ति॒वाहं॒ रथ॒मित्कृ॑णुध्वम्। द्रोणा॑हावमव॒तमश्म॑चक्र॒मंस॑त्रकोशं सिञ्चता नृ॒पाण॑म्।। (ऋ०१०.१०१.७) प्रीणीताश्वान्त्सुहितं जयथ जयनं वो हितमस्तु। स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम्। द्रोणाहावं द्रोणं द्रुममयं भवति। आहाव आह्वानात्। आवह, आवहनात्। अवतोऽवातितो महान् भवति। अश्मचक्रमशनचक्रमसनचक्रमिति वा। अंसत्रकोशमंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु। कोशः कुष्णातेः। विकुषितो भवति। अयमपीतरः कोश एतस्मादेव। संचय आचितमात्रो महान् भवति। सिंचत। नृपाणं नरपाणम्। कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते। काकुदं तालूच्यते जिह्वा कोकुवा साऽस्मिन् धीयते। जिह्वा कोकुवा। कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा। कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। जिह्वा जोहुवा। तालुस्तरतेस्तीर्णतममङ्गम्। लततेर्वा स्याद् लम्बकर्मणो विपरीतात्। यथा तलम्। लतेत्यविपर्ययः॥ २६॥

प्री॒णी॒ताश्वा॑न् हि॒तं ज॑याथ स्वस्ति॒वाहं॒ रथ॒मित् कृ॑णुध्वम्।
द्रोणा॑हावमव॒तमश्म॑चक्र॒मंस॑त्रकोशं सिञ्चता नृ॒पाण॑म्।। (ऋ०१०.१०१.७)

सोमपुत्रस्य बुधस्यार्षम्। **प्रीणीत** प्रीणयत**ाश्वान्** स्नानपानयोग्याशनैः संग्रामयोग्यान् कुरुतेत्यर्थः। **हितं जयाथ** हितमिति क्रियाविशेषणम्। कथं जयत? हितबन्धुसुहृज्जनवर्जितं जयं प्राप्नुतेत्यर्थः। **स्वस्तिवाहं** स्वस्तीत्यविनाशिनाम अविनाशवाहनं कृत्वाश्वं सारथिं च तेत्यनेन सम्बध्यते। **कृणुध्वं** कुरुत। तेन च गत्वा संग्रामभूमिं **द्रोणाहावमित्यादीनि** द्वितीयान्तानि रूपसंख्यासंग्रामविशेषणानि सिञ्चतेत्यनेन सम्बध्यते। द्रोणं द्रुममयं

स एव रथ आहावमाहवस्थानीयो यस्य संग्रामस्य **तमवतं** रूपनामैतत्, रूपसंग्रामाख्य**मश्मचक्रमश्ममयम्**। अशनो वा व्यापकोऽक्षरस्य। असनो वा व्युदसनं भ्रमणचक्रं लोकं नाम। असनानि वा क्षेपणानि चक्राण्यायुधविशेषा यस्मिन् तम्। **अंसत्रकोशम्** अंसत्राणि धनूंषि कवचानि कोशस्थानीयानि यस्मिन् तम्। **सिञ्चत** उत्सिञ्चत। **नृपाणं** पीयत इति पानं यस्मिन् योधाम उदयति पीयन्ते मार्यन्त इत्यर्थः, तम्। वैश्वदेवत्वात् सूक्तस्य विश्वेषां देवानां प्रसादेन हे सैनिकाः सर्वमेतत् कुरुतेत्यभिप्रायः।

हितं जयाथ इत्यस्यार्थकथनं **सुहितं नयत** इति। ततोऽपि विस्पष्टतरमाह। **जयनं वो हितमस्तु** देवानां प्रसादेनेत्यभिप्रायः। **आहाव आह्वानात्** हूयन्ते हि तत्र पानार्थं गवादयः। उदकप्रसङ्गाद् आहवमिति। तत् पर्यायं निराह **आहवनात्**। आभिमुख्येनोह्यते तस्मिन्नुदके रथोऽपि तत्स्थानीयः। आहूयन्ते तत्रस्थैर्योद्धारः ऊह्यन्ते वा जित्वानेन परधनानीति। अवतो रूपं हि खन्यमान उपचितकल इत्यर्थः। **महान् भवतीत्यर्थप्रासार्थवचनम्**। नाशकल्पत्वं च धनुरादेः। यो व्रजिनोत्सेधनसामान्यात्। **कुष्णातेर्विकुषित** इव ह्यसौ **भवति**। अन्तस्सुषिरत्वात्। **अयमपीतरः कोश एतस्मादेव** धातोर्वृद्ध्यर्थस्येति शेषः। कुत एतत्? यत आह **सञ्चयः** सञ्चयरूपो धनं निकाशः संवृतं हि धनं कोश इत्युच्यते। सञ्चयमर्थकथनप्रसङ्गादाह। **आचितमात्र** उपचितलक्षणमित्यर्थः। **महानित्यर्थप्रासार्थवचनम्**।

काकुदमित्यनवगतम्। **तालुमित्याचक्षते**। प्रसिद्धमिदस्याभिधेयमिति दर्शयति जिह्वा जुहुवा। किमाम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे? काकुदशब्दप्रसङ्गे जिह्वानि ब्रवीति। इष्यते काकुदशब्दनिर्विवक्षयैवायमुपन्यासः। काकुदशब्दस्य जिह्वाशब्दो नापि जोहुवाशब्दो निर्वचनाङ्गम्। कस्तर्हि? **कोकुवा**शब्दस्तस्य पर्यायो **जिह्वा**। अतो निर्विपत्ति काकुदशब्दनिर्वचनाङ्गभूतस्य कोकुवाशब्दस्यार्थकथनप्रसङ्गेन जिह्वाशब्दं तावन्निराह। **जिह्वा** कस्मात्? **जोहुवा** आह्वयतेर्जुहोतेर्वा यङ्लुगन्तस्य **'ह्वः सम्प्रसारणम्** (अष्टा०६.१.३२)। **अभ्यस्तस्य च'** (अष्टा०६.१.३३) इति सम्प्रसारणे च पचादिकेऽचि तद्रूपम्। पुनः पुनराह्वयति शब्दं करोति, रसान् वादत्ते, जुहोति वात्मनीति सास्मिन् धीयते सा शब्दान्तरवाच्या सती अस्मिन् शब्दोऽभिव्यक्तये धीयते इत्यधिकरणसाधनम्। कोकुवा नाम जिह्वा इत्येव सम्बन्धक्रमो द्रष्टव्यः।

अथ **कोकुवा** कस्मात्? **कोकूयमाना** हेतौ शानचि मुक्। छान्दसत्वात् प्रथमासमानाधिकरणेऽपि क्वचिद्दर्शनात्। अधीयमानोऽधीयत इति यथा। कोकूयते यस्माद् अतः कोकुवा कवतेः शब्दकर्मणः कोकुवेति पूर्ववच्चर्करीतवृत्तम्। पुनः पुनः कवते शब्दं करोति अतः कोकुवानं सत् काकुदं वर्णव्यापत्त्यादिना। कोकूयमान एतं तुदतीति वेति निर्वचनान्तरम्। एतदिति **तालुनोऽन्वादेशः**। **तालुपर्यायप्रसक्तमाह**। **तरतेः** कुणिप्रत्यये रेफलकारापत्त्या। विस्तीर्णतमं हि तदास्यान्तर्गतेभ्योऽङ्गान्तरेभ्यः। **लततेर्वा** नैरुक्तधातोरुण्येव प्रत्यये वर्णविपर्ययेणैतद्रूपम्। अर्थप्रतीतये दाढर्यार्थप्राह। **यथा तलं** पादतलं भूमितलमिति। विश्लिष्टं हि तद् भवति। **लतेत्यविपर्ययः**। सा हि वृक्षे श्लिष्टा भवति। सर्वथा साधर्म्येण प्रोक्तस्यार्थस्य दाढर्यं दर्शितम्। उदाहरणम्–

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ०८.६९.१२) सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः कमनीयदेवो वा भवसि वरुण। यस्य ते सप्त सिन्धवः। सिन्धुः स्रवणात्। सिन्धुः स्यन्दनात्। यस्य ते सप्त स्रोतांसि तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति। सूर्मिं कल्याणोर्मिः स्रोतः सुषिरमनु यथा। बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवाह पूर्वं वयतेरुत्तरमिरतेः वयांसीरन्त्यस्मिन्। भांसि वा। तदेतस्यामृच्युदाहरन्त्यपि निगमो भवति॥ २७॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ०८.६९.१२)

प्रियमेधस्य। शोभनस्त्वं **देवोऽसि** हे **वरुण**! समुद्राधिपते **यस्य ते** तव **सप्त सिन्धवो** नद्यो गङ्गाद्या अन्तरिक्षनद्यो वा। अम्बा अलोलेत्येवमाद्या अन्तरिक्षनद्यः। अवधः वरुण उत्तमस्थान आदित्यः, सिन्धवोऽपि रश्मयः, ते**ऽनुक्षरन्ति** अनुगच्छन्ति आपूरयन्ति वा। किम्? **काकुदं** तालु। आदित्यपक्षे तालुस्थानीयं तालुमण्डलमभिप्रेतम्। कथमिवानुक्षरन्तीष्यते। **सूर्म्यं सुषिरामिव** शोभनामूर्मिं छान्दसत्वात् यणादेशः, सूर्मिं काष्ठानां संघातं सुषिरामिव मत्वर्थीयकल्पनया सुषिरवतीं यथा अग्निरिति शेषः। अनुगच्छेदापूरयेद्वा तद्वदित्यर्थः।

समस्तमन्त्रपाठे प्रयोजनं मृग्यम्। अनवगतस्य पदान्तरस्याभावात्। यत्र तु तदस्ति तत्र तदवगमप्रयोजनं समस्तपाठो द्रष्टव्यः। इह प्रदर्शनमन्यत्रापि समस्तो मन्त्रो व्याख्यायत इति।

बीरिट इत्यनवगतमनेकार्थं च। अन्तरिक्षं गणोऽसौ मनुष्याणामभिधेयः। भियो वा नक्षत्रादीनां वा भासः। ततिस्तननं यस्मिन् तत् भीस्तननं भास्तननं वा बीरिटम्। अनालम्बनान्तरिक्षे भीतिः कस्य न जायते। वन्दनं नरेन्द्राय ते हि तस्मात्तत्रापि तद्द्वयम्। उदाहरणम्-

इति दशमस्या-(पञ्चमस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथ अष्टाविंशः खण्डः।

प्र वांवृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते। विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥ (ऋ०७.३९.२) प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषाम्। एयाते सर्वस्या पातारौ वा पालयितारौ वा। बीरिटमन्तरिक्षम्। भियो वा ततिः। भासो वा ततिः। अपि वोपमार्थे स्यात्। सर्वपती इव राजानौ बीरिटे गणे मनुष्याणाम्। रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिहूतौ। वायुश्च नियुत्वान् पूषा च स्वस्त्ययनाय। नियुत्वान् नियुतोऽस्याश्वाः। नियुतो नियमनाद्वा। नियोजनाद्वा। अच्छाभेरासुमिति शाकपूणिः। परीं सीमिति व्याख्याताः। एनमेनामस्या अस्त्येत्येनेन व्याख्यातम्। सृणिरङ्कुशो भवति सरणात्। अङ्कुशोऽञ्चतेः। आकुञ्चितो भवतीति वा। **'नेदीय इत्सृण्यः**

पुक्वमेयात्।' (ऋ०१०.१०१.३, यजु०१२.६८) इत्यपि निगमो भवति। अन्तिकतममङ्कुषादायात्। पक्वमौषधमागच्छत्विति आगच्छत्विति॥ २८॥

प्र वांवृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।

विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥ (ऋ०७.३९.२)

व्रजिस्तरणार्थः। ततः कर्मणि लट् प्रव्रज्यते प्रस्तीर्यते। **सुप्रया** सुखं गम्यते यस्मिन् देवताभिः। किं पुनस्तत्? **बर्हिर्वेदिरास्तरणाद्** दर्भात्मकस्य। इदं बर्हिरे**षामृ**त्विग्यजमानानां स्वभूतम्। विस्तीर्णे च तस्मिन् आकार इयाते इत्यनेन सम्बध्यते, **विश्पतीव** संप्रत्यर्थत्वात् पदपूरणः, विश्वशब्दस्य वलोपेन च **विश्पती** सर्वस्य स्वामिनौ पातारौ **बीरिटे** अन्तरिक्षे ससमीश्रुतेः स्थितौ सन्तौ। पञ्चम्यर्थे वा ससमी। ततो बीरिटाद् यज्ञं प्रति **आ इयाते** आगच्छतम्। अथवा विशां पती विश्पती राजानौ कौचित्। बीरिटोऽपि मनुष्यगण इव स्वार्थ एव। यथा कौचिद् विशां पती राजानौ बीरिटे स्वस्मिन् सैनिके मनुष्यगणे स्थितौ ततो वा आगच्छेतां तद्वदागच्छतम्। **विशामि**त्येतत् पूर्वहूतावित्येतेन व्यवहितेनापि सामर्थ्यात् सम्बध्यते। कस्मिन् काले आगच्छतम्? उच्यते। **अक्तो** रात्रिनामेदम्। रात्रे**रुषस** उषसश्चापि वा स काल इति विशां मनुष्याणामृत्विग्यजमानानाम्। **पूर्वहूतौ** पूर्वस्मिन्नाह्वाने। कौ इयाते? **वायुः पूषा** नियुतो वायुरित्यादिष्टोपयोजनत्वा**न्नियुत्वा**नित्येव हितमपि वायुना सम्बध्यते। वायुश्च नियुत्वान् पूषा च। किमर्थमागच्छतम्! **स्वस्तये** अविनाशाय यज्ञस्यास्माकं चेत्यभिप्रायः। सर्वस्यात्मा पालयितारौ वा कृत्स्नस्य नियुक्तत्वात्। कस्मान्नियुज्यन्ते? अस्याश्चादिष्टोपयोजनं दर्शयति। नियुक्तः कस्मात्? **नियमनाद्वा** युजेर्वा।

अच्छेति निपातत्वाच्च संस्कारादनारम्भादनवगतोऽनेकार्थश्च। अत इहोपन्यस्तः। स पुनरय**मभेरर्थे** आभिमुख्यादौ। **आप्तुमि**त्यस्यार्थ इति शाकपूणिः। तथा चैवोदाहृतं बहुश इत्युदाहरणोपन्यास इति।

परि ईम् सीमिति व्याख्यातं (परि (निरु०१.३) ईम् (निरु०१.७) सीम् (निरु०१.९) इत्येते व्याख्याताः) षाष्ठिके निपातप्रकरणे। अनेकार्थत्वादिहोपन्यासः।

एनमिति एनामिति च पदद्वयमेतत्। **अस्या अस्ये**त्येतेन पदद्वयेन उदात्तं प्रथमादेशे अनुदात्तमन्वादेश इत्येवं नवमे (निरु०४.२५) व्याख्यातः। पुराऽनवगतस्तत्रोक्तः। इहानेकार्थत्वादुपन्यासः। त्रित एनमायुनगित्येवमादीन्युदाहरणानि व्याख्यातानि।

सृणिरित्यनवगतम्। **अङ्कुशो**ऽभिधेयः। **सरणादि**ति व्युत्पत्तिवचनम्। सरणाद् गमनात् सरणः सन् सृणिः। पर्यायप्रसक्तमङ्कुशं निराह। **अञ्चतेरञ्च**ति ह्यसौ हस्तिपकहस्तात् हस्तिमस्तकं नित्यम्। **आकुञ्चितो वासौ भवति 'कुञ्च कौटिल्ये'** (धा०१.१८५) घट्टनाविशेषेणाभिमुख्येन कुटिल इत्यर्थः। निगमेन हस्त्यङ्कुशस्यासङ्गतेः क्रियामात्रादत्राङ्कुशोऽभिप्रेतो लापितव्यः। प्रतिसारणात् सृणिः अञ्चनादङ्कुश आकुटिलाकाराद्वा। तथा च क्वचिदेवासौ दात्रमङ्कुश इति भाष्ये। उदाहरणम्-

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।

गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पुक्वमेयात्॥

(ऋ०१०.१०१.३, यजु०१२.६८)

बुधस्य सोमपुत्रस्यार्षम्। **युनक्त** हे हालिकाः **सीराः** सीराणि हलानि। तदर्थं च **वियुगस्तनुध्वं** वितनुत च युगानि। तदनन्तरं हलबलीवर्दसंयोगोपपत्तेः। तैश्च सीरैः **कृते** च संस्कृते कृष्ट इत्यर्थः। तेनायमर्थः। सदा धान्यशलाकाः सपरा वार इति श्रीयमाणत्वात् फलमुच्यते सम्भृतफला आपूरितबृहच्छीर्षकेत्यर्थः। **असत्** लोडर्थे लिङ् भवतु। **नो**ऽस्माकम्। किञ्च **नेदीयो**ऽन्तिकतरं सन्निकृष्टतरं च। **इत्** पदपूरणः। **सृण्यो**ऽङ्कुशात् प्रागेव दात्रलवनादित्यर्थः। मुष्टिन गृहीतमात्रमेवेत्यभिप्रायः। **पक्वं** सत्। किम्? सामर्थ्याद् यवादि धान्यम् **एयाद्** आगच्छतीत्याशास्महे।

सृणिशब्दस्य स्वव्यापारे लक्षणतां दर्शयति। अङ्कुशाभावादिति। अङ्कुशाकर्षणादित्यर्थः। द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिज्ञापनार्थ इति सिद्धम्।

इति आचार्यमहेश्वरकृते निरुक्तविवरणे दशमो-(पञ्चमो)-ध्यायः समाप्तः॥

अथ षष्ठोऽध्यायः। प्रथमः पादः।

प्रथमः खण्डः।

त्वम॑ग्ने द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑। त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचिः॑॥ (ऋ०२.१.१) त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिः। आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः। क्षणिरुत्तरः क्षणोतेः। आशु शुचा क्षणोतीति वा। शुक् शोचतेः। आशु शुचा सनोतीति वा। पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा। तथा हि वाक्यसंयोगः। आ इत्याकर उपसर्गः पुरस्तात्। चिकीर्षितज उत्तरः। आशुशोचयिषुरिति। शुचि शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। अयमपीतर शुचिरेतस्मादेव। निःषिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः। **इन्द्र॒ आशा॑भ्य॒स्परि॒ सर्वा॑भ्यो॒ अभ॑यं करत्॥** (ऋ०२.४१.१२) आशा दिशो भवन्ति। आसदनात्। आशा उपदिशो भवन्ति। अभ्यशनात्। मुष्टिर्मोचनाद्वा। मोषणाद्वा। मोहनाद्वा। **इ॒मे चि॑दिन्द्र॒ रोद॑सी अपा॒रे यत्सं॒गृभ्णा म॑घवन् का॒शिरित्ते॑॥** (ऋ०३.३०.५) इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात्। रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः। कूलं रुजतेर्विपरीतात्। लोष्टोऽपि विपर्ययेण। अपारे दूरपारे। यत्सङ्गृभ्णासि मघवन् काशिस्ते महान्। **अ॒हु॒स्तमि॑न्द्र॒ सं पि॑ण॒क्कुणा॑रुम्॥** (ऋ०३.३०.८) अहस्तमिन्द्र कृत्वा सम्पिण्ढि परिक्वणनं मेघम्॥१॥

आशुशुक्षणिरित्यनवगतमनेकार्थं च। अग्निर्वा मनुष्यो वाभिधेयः। यदा अग्निराशुशुक्षणिस्तदा सनिता वेत्यवगमः। यदा मनुष्यस्तदा शुशोचयिषोरिति। उदाहरणम्।

त्वम॑ग्ने॒ द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचिः॑॥ (ऋ०२.१.१)

गृत्समदस्यार्षम्। त्वं हे **अग्ने द्युभिर**होभिर्जायस इत्यर्थः। सप्तम्यर्थ एषा तृतीया। द्युषु दिवसेषु अमावास्यादिषु आधानकाल इत्यर्थः। अरणिजो निर्मथ्यमानो वा जायसे। **त्वं** त्वमेव च**आशुशुक्षणिः** आशुशुचा दीप्त्या। कस्य? सामर्थ्यात् तमसः। सनिता वा संभक्ता वा सर्वस्य पाकदाहप्रकाशनादेर्व्यापारस्य। अलौकिकस्यात्मना वा जायसे। पञ्चम्यर्थे वा आशुशुक्षणिरित्येषा प्रथमा। अस्मिंश्च पक्षे आङ्पूर्वस्य शुचेर्दीप्तिकर्मणः सनि एतद्रूपम्। आदिदीपयिषोः पुरुषात् तेन मथ्यमानो जायस इत्यर्थः। एवञ्च कृत्वा पक्षद्वयेऽप्यर्थभेदाद् भेदप्रदर्शनार्थत्वाच्चावग्रहस्य अन्यतरपक्षपरित्यागकारणाभावात् पक्षद्वयापेक्षया एतत्पदं पदकारा नावगृह्णन्ति। **त्वमद्भ्यस्त्व**मेवाद्भ्यो वैद्युतात्माना। **त्वमश्मनस्त्व**मेव पाषाणादस्यान्तरेण लोहेन वाभिहन्यमानात्। **परि त्वं वनेभ्यस्त्व**मेव वृक्षेभ्यो वायुना परस्परं संघुष्यमाणेभ्यः। **त्वमेव** शरवशादिभ्य **ओषधीभ्यः**। एवं त्वं ततस्ततो **नृणां** मनुष्याणामर्थायेति शेषः, हे **नृपते**! मनुष्यपते सर्वतो **जायसे शुचि**र्दीप्तः। अथवा नृपतिशब्दो निरस्तपूर्वापरविभागः स्वाभिवचनत्वेन रूढः। तेन नृणां पते नृपते मनुष्याणां स्वामिन्नित्यर्थः।

प्रविभज्य निराह **आशु** इति। प्रासङ्गिकमेतत्। शुनो वायुरित्यवयुज्यते। क्षिप्रनाम इत्यवाच्यं क्षिप्रनामसु पाठात्। निर्विवक्षयोपन्यास इति चेन्न निपातत्वात्। तस्मात् क्षिप्रनामनी इति नित्यानुवादः। **क्षणिरुत्तरः** अत्राप्युत्तम इति न्याय्यम्। मध्यमस्यापि शु इत्येतस्यापि भावात्। क्षणोतेः **'क्षण हिंसायाम्'** (धा०८.३) इत्यस्य।

अथवा एवमन्यथा स्यात्। पञ्चम्यर्थे प्रथमेयं विभक्तिराशुशुक्षणिरित्याह। किं पुनः कारणं प्रथमैषा सती पञ्चमीत्वेन विपरिणम्यत इति? उच्यते। तथाहि वाक्यसंयोगः। तेन हि प्रकारेण पञ्चमीत्वेन विपरिणतस्यास्य शब्दस्य अनेन वाक्येनार्थसङ्गतिर्भवति नेतरथा यथावस्थितस्य। आह कथं कृत्वेति? उच्यते। त्वमद्भ्यः, त्वमश्मनः, वनेभ्य इत्येतान्युत्तराणि बहूनि पदानि पञ्चम्यन्तानि। तस्मादनेनापि पञ्चम्यन्तेनैव भवितव्यमित्युपपद्यते पञ्चमीत्वेन विपरिणाम इति। आशुशुक्षणिरित्येतस्याक्षरपञ्चकस्य य एष पुरस्ताद् आ इत्युपसर्गः शुशुक्षणिरित्युत्तरश्चतुरक्षर एष चिकीर्षितः सन्नन्त इत्यभिप्रायः। अथ समस्तस्य कोऽर्थ इति? उच्यते। यः कश्चिदाशुशोचयिषुरादिदीपयिषुर्भवति स आशुशुक्षणिस्तस्माद् आशुशुक्षणे त्वं भगवन् हे अग्ने जायसे लोकप्रसिद्धः। शुचिराषाढोऽयं ग्रैष्मो मास इत्यस्मादेव धातोर्दीप्तत्वान्निर्मलत्वादिति वैयाकरणा मन्यन्ते। निष्षिचेर्नैरुक्ता इत्याह। निःक्षारितं कात्स्र्त्येनापनीतमस्मात् पापकम्। सिचेः शुचिरित्याह।

आशा इत्यनवगतम्। यथादृष्टं वेदे तथा पठितम्। दिशोऽभिधेयाः। **आसदनादिति** व्युत्पत्तिवचनम्। शदिर्गत्यर्थः। तं तमर्थं प्रत्यागमनात्। आशदना इत्यवगमः। **उपदिश** इत्यतोऽनेकार्थता। **अभ्यशनात्** परस्परं दिग्भिरहोभिः संव्याप्तेः। उदाहरणम्-

> **इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।**
> **जेता शत्रून् वि चर्षणिः॥ (ऋ०२.४१.१२)**

गृत्समदस्यार्षम्। **इन्द्र आशाभ्यो** दिग्भ्यः। **परि** करदित्येतेन सम्बध्यते **सर्वाभ्यो** दिग्भ्यः। दिग्भिरत्र तन्निवासिनो लक्ष्यन्ते। सर्वदिङ्निवासिभ्यो भयंकरेभ्यो रक्ष आदिभ्योऽस्माक**मभयं परिकरत्** सर्वतः करोत्वित्यर्थः। कीदृश इन्द्रः? **जेता** ताच्छीलिकस्तृनयम्। तृन्प्रयोगे च षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव **शत्रूनि**ति। शत्रून् जेता एवंशीलः। **विचर्षणिः** पश्यतिकर्माऽयम्। द्रष्टा लोकपालत्वात् कृत्स्नस्य जगतः।

काशिरित्यनवगतम्। **मुष्टिरभिधेयः**। **प्रकाशनादिति** निर्वचनम्। प्रकाश्य इत्यवगमः। प्रसक्तं मुष्टिं निराह **मोचनादेव** मोक्तव्यो ह्यसौ भवति। **मोषणाद्वा** मुष्टिर्मुषितमिव तदन्तर्गतादर्शनसामान्यात्। **मोहनाद्वा** किमत्रेत्यज्ञान् मोहयतीति मुष्टिः। उदाहरणम्-

> **उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेको दृळहमवदो वृत्रहा सन्।**
> **इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत् संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते॥ (ऋ०३.३०.५)**

विश्वामित्रस्य। पराश्च तिस्रः। उताप्यर्थे। **अभय** इत्यपि सामर्थ्याल्लुप्तोपमं द्रष्टव्यम्। अभयमिव भवतीत्यर्थः। कस्मिन्? संग्रामे। **पुरुहूत** बहुभिराहूत **श्रवोभिः** श्रवणीयैः शब्दै**रेक**स्त्वं दृढं सुष्ठु उच्चैरित्यर्थः। **अवदो** वदसि युद्धायां वयसि सिंहनादं नदसीत्यर्थः। **वृत्रहा** वृत्राणां शत्रूणां हन्ता **सन्** शत्रुवधवेलायामित्यर्थः। **चिदिति** वार्थे **इमे** वा **इन्द्र रोदसी** द्यावापृथिव्यौ। किंविशिष्टे? **अपारे** सत्यपि द्यावापृथिवीनामगुणत्वे

गुणनिमित्तत्वमस्य द्रष्टव्यम्। अविद्यमानं पारमन्तं ययोस्ते अपारे इत्यर्थः। **यत्** यस्मान्मुष्टिना **संगृभ्णा** संगृह्णासि हे **मघवन्**। यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यध्याहारः। तस्मात् **काशिरित्** इच्छब्दोऽत्र महत्त्वे अहो मुष्टिस्ते तव महान्।

रोदसी कस्मात्? रोधसी सत्यौ रोदसी। द्यावापृथिव्यावभिधेये। विरोधनादिति निर्वचनम्। ताभ्यां हि विविधं रुद्धानि सर्वभूतानि ततो बलिनोऽभावात्। सारूप्यप्रसक्तं रोधः। कूलमित्यभिधेयम्। तदपि निरोधनादेवेत्याह-निरुणद्धि वहत् स्रोतः। अनुप्रसक्तं कूलं निराह-रुजतेराद्यन्तं विपरीतात्। जकारस्य कुत्वं रेफस्य लत्व मुकारस्यदीर्घत्वम्! आरुज्यते कदाचित् स्रोतसा। हस्तीवेनिरोग्यम्। कूलविपर्ययप्रसङ्गादस्यैव धातोरविपर्ययेण यत्तन्निराह-लोट इति लत्वापत्त्या। दूरत्वेन पराभावं दर्शयति परा दृष्ट्या वा लोकपर्यन्तता।

कुणारुमित्यनवगतम्। क्वणतेः शब्दकर्मणः। ताच्छीलिक आरुः। सम्प्रसारणं छान्दसत्वात्। क्वणन इत्यवगमः। मेघोऽभिधेयः। उदाहरणम्-

स॒ह॒दानुं॑ पुरुहूत क्षि॒यन्त॑मह॒स्तमि॑न्द्र॒ सं पि॑ण॒क्कुणा॑रुम्।

अ॒भि वृ॒त्रं वर्ध॑मानं॒ पिया॑रुम॒पाद॑मिन्द्र त॒वसा॑ जघन्थ॥ (ऋ०३.३०.८)

सहस इत्युदकनाम्नश्छान्दसत्वादन्तलोपः। सहस उदकस्य दातारं **सहदानुम्**। हे **पुरुहूत**! बहुभिराहूत **क्षियन्त**मन्तरिक्षे निवसन्तम्। **अहस्तम**प्रत्यवस्थानसमर्थं कृत्वेति शेषः। हे **इन्द्र संपिणक्** **'पिष्लृ संचूर्णने'** (धा०७.१५) संपिण्ढि संचूर्णय **कुणारुं** क्वणनं शब्दशीलम्। सामर्थ्याद् मेघम्। इमं चापरम्। **अभी**त्ययं वर्धमानमित्येतेन सम्बध्यते। **वृत्रं** वर्तिकारं नष्टारमित्यर्थः। **अभिवर्धमानं** सर्वतः पृथुभवन्तं **पियारुं** पियतिर्हिंसाकर्मा तत आरुस्ताच्छील्ये अर्हार्थे वा। हिंसाशीलं बहूदकत्वाद्वा हिंसार्हम्। **अपादम**पयानासमर्थं कृत्वेति शेषः। **इन्द्र तवसा** बलनामैतत्, बलेन **जघन्थ** जहि मारयेत्यर्थः।

अलातृण इत्यनवगतम्। **अलम**त्रोपपदं आङ्पूर्वस्य तृदेर्ल्युटि अलमो मकारस्याकारेण व्यापत्तिर्वर्णलोपश्च तृदेर्दकारस्य अन इत्यस्य च प्रत्ययस्याकारस्य। **अलमातर्दन** इत्यवगमः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः॥

अथ द्वितीयः खण्डः।

अ॒ला॒तृ॒णो व॒ल इ॑न्द्र व्र॒जो गोः पु॒रा हन्तो॒र्भय॑मानो॒ व्या॑र। सु॒गान् प॒थो अ॑कृणोन्नि॒रजे॒ गाः प्राव॒न् वाणीः॑ पुरुहू॒तं धम॑न्तीः॥ (ऋ०३.३०.१०) अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः। वलो वृणोतेः। व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे। गोरेतस्या माध्यमिकाया वाचः पुरा हननाद् भयमानो व्यार। सुगान् पथो अकृणोन्निरजे गाः। सुगमनान् पथोऽकरोन्निर्गमनाय गवाम्। प्रावन् वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः। आपो वा वहनाद् वाचो वा वदनात्। बहुभिराहूतमुदकं भवति। धमतिर्गतिकर्मा॥ २॥

अ॒ला॒तृ॒णो व॒ल इ॑न्द्र व्र॒जो गोः पु॒रा हन्तो॒र्भय॑मानो॒ व्या॑र।

सु॒गान् प॒थो अ॑कृणोन्नि॒रजे॒ गाः प्राव॒न् वाणीः॑ पुरुहू॒तं धम॑न्तीः॥ (ऋ०३.३०.१०)

(अलातृणः) अलं पर्याप्तमातर्दनं हिंसा यस्य बहूदकत्वात्। **वलो** मेघः हे **इन्द्र व्रजो** व्रजितान्तरिक्षे **गोः** पञ्चम्यन्तमित्येतद् भयमान इत्येतेन सम्बध्यते। एतस्यास्तदीयाया माध्यमिकाया गोर्वाचः **पुरा हन्तोः** प्रागेव हननाद् यावत् त्वया नैव हन्यते तावदेवेत्यर्थः। **भयमानो** गोरेव बिभ्यद् **व्यार 'ऋ गतौ'** (धा०१.९६१) इत्यस्य लिटि रूपम्, व्यगच्छत् विविधं गतः, विशिष्टसन्धिबलिनीभूत इत्यर्थः। विशिष्टस्य च **सुगान्** सुगमान् **पथो** मार्गान् निर्गमनलक्षणान**कृणोद्** अकरोत्। किमर्थम्? **निरजे** निरजनाय निष्क्रमणाय। **गाः** द्वितीयैषा षष्ठ्यर्थे, गवामन्तर्गतानामपाकृतेषु च पथिषु **प्रावन् अवतिर्गतिकर्मा** (धा०१.६०१) आगच्छन् **वाणी**रपो वृष्टिलक्षणाः। **पुरुहूतमु**दकं पार्थिवं प्रति शेषः। अथवा वाणीरिति वाचो नाम अहो शोभनं वर्षमहो शोभनमित्यादिका वाचः प्रागच्छन् बहुभिराहूतं वृष्टिलणमुदकं **धमन्ती**र्धमतिर्गतिकर्मा छान्दसत्वात् पूर्वसवर्णः, धमन्त्यो गच्छन्त्यः क्रमेण।

वाणीशब्दस्यार्थनिर्वचनम्। **आपो वा वहनादि**त्यादि। आपो वाणीशब्देनोक्तास्तां हि वहनाद् वाणिरित्युच्यन्ते। वाचो वा वदनाद् वाणीशब्देनोच्येरन्। धमिर्गतिकर्मा अत्र स्तुतिकर्मा स्तुतिकर्मसु पाठात्।

सललूकमित्यनवगतम्। **'लुभो विमोहने'** (अष्टा०७.२.५४) निष्ठायामिट्स्मरणात् **सालुभितमि**त्यवगमः। ततश्च **संलुब्धमि**त्यपपाठः। अक्षोऽभिधेयमिति केचित् **पापकं** मन्यते कुत्सितमनिष्टफल**मिति नैरुक्ताः**। ततश्चानेकार्थमपि। अथवा **सररूकमे**तत्। सररूकाल्लसल्लत्वापत्त्या सललूकम्। सररूकं कस्मात्? उच्यते। **सर्ते**र्धातोर्जरुत्वदुते प्रत्यये गुणे रपरत्वे चास्य नैगमं द्विर्वचनम्, अत आह **अभ्यस्तादि**ति। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

उद्वृ॑ह॒ रक्षः॑ स॒हमू॑लमिन्द्र वृ॒श्चा मध्यं॒ प्रत्यग्रं॑ शृणीहि। आ कीव॑तः सल॒लूकं॑ चकर्थ ब्रह्म॒द्विषे॒ तपु॑षिं हे॒तिम॑स्य॥ (ऋ०३.३०.१७) उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र। मूलं मोचनाद्वा। मोषणाद्वा। मोहनाद्वा। वृश्च मध्यं प्रतिशृणीह्यग्रम्। अग्रमागतं भवति। आ कियतो देशात्। सललूकं संलुब्धं भवति। पापकमिति नैरुक्ताः। सररूकं वा स्यात्। सर्त्तेरभ्यस्तात्। तपुषिस्तपतेः। हेतिर्हन्तेः। **त्यं चि॑द्रि॒त्था क॑त्प॒यं शया॑नम्॥** (ऋ०५.३२.६) सुखपयसं सुखमस्य पयः। विस्रुह आपो भवन्ति। विस्रवणात्। **व॒या इ॑व रुरुहुः स॒प्त वि॒स्रुहः॑॥** (ऋ०६.७.६) इत्यपि निगमो भवति। वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्। **'वी॒रुधः॑ पारयि॒ष्ण्वः॑॥'** (ऋ०१०.९७.३) इत्यपि निगमो भवति। नृक्षद्वाभमश्नुवानदाभम्। अभ्यशनेन दभ्नोतीति। **'न॒क्षद्दा॒भं तत॑ुरिं पर्वते॒ष्ठाम्।'** (ऋ०६.२२.२) इत्यपि निगमो भवति। अस्कृधोयुरकृध्वायुः। कृध्विति ह्रस्वनाम। निकृत्तं भवति। **'यो अस्कृ॑धोयुर॒जरः॒ स्व॑र्वा॒न्'** (ऋ०६.२२.३) इत्यपि निगमो भवति। निश्रृम्भा निश्रथ्यहारिणः॥३॥

उर्द्वृह॒ रक्षः॑ स॒हमू॑लमिन्द्र वृ॒श्चा मध्यं॒ प्रत्यग्रं शृणीहि।

आ कीवंतः सलुलूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुंषिं हेतिमस्य।। (ऋ०३.३०.१७)

उद्वृह उद्यज उत्खन। किम्? **रक्षः सहमूलं** सानुबन्धमित्यर्थः। हे **इन्द्र**! उद्वृह्य च **वृश्च** छिन्धि **मध्यमु**दरप्रदेशं पाटयेत्यर्थः। **प्रत्यग्रं शृणीहि** प्रतिशातय चास्याग्रं कर्णनासिकादेः। एवं चोद्धृतपाटितशातितमूल-मध्याग्रमपि सद् **आ कीवत** आदेर्मध्यादग्राच्च कियत इति। किमोऽत्र घाभावश्छान्दसः। आ कियतोऽपि अनिर्ज्ञायमानपरिमाणाद् दूरादित्यर्थः। **सललूकं** संलुभितमत्यन्तमूढं मूर्च्छायुक्तमित्यर्थः। सरणशीलं वा अत्यन्तं दूरं नष्टमित्यर्थः। **चकर्थ** कुर्विति। कृत्वा च **ब्रह्मद्विषे** तादर्थ्ये चैषा चतुर्थी। निवृत्तिश्चात्र तादर्थ्यं विवक्षितम्। मशकेभ्यो धूम इति यथा। अस्य ब्रह्मद्विषो निवृत्त्यर्थं **तपुषिं** ताडयितारम्। कम्? **हेतिं** वज्रनामेदम्, **वज्रमस्य** क्षिप उक्तेन प्रकारेण दूरमुत्कृष्य मारयेत्यर्थः।

उद्वृह इत्यादेर्मूलतो मध्यतः शिरस्तश्चैवं तावत् प्रत्यक्षमीक्ष्य **शृणीहि** जहि मारणं कुर्वित्यर्थः। एवमयं प्रथमोऽर्धर्चः प्रत्यक्षरक्षोविषयः। **आकीवत** आकियतोऽपि देशाद् यदपि दूरदेशस्थं तदपि **सललूकं** संलुभितमूढमस्मिन् प्रत्यागमनासमर्थम्। सररूकं वा दूरतरोऽपि नष्टं कुरु। **ब्रह्मद्विषे** ब्रह्मद्विट् नास्तिको भिन्नदृष्टिरसाधुरित्यर्थः। तस्मै **तपुषिं हेतिमस्ये**ति समानम्। एवमनेकार्थविषया प्रार्थनैषा नैकवाक्यतां विरुणद्धि **'नूनं सा ते'** (ऋ०२.१६.९, निरु०१.७) इति यथा।

यदापि नैरुक्तपक्षः, तदापि **उद्वृह रक्ष** इति रक्षो रक्षितव्यं यस्मादिति पापकमुच्यते। तत् **सहमूलं** सानुबन्धमुद्धर अस्मत्तोऽपनयेत्यर्थः। कथं च तत्सानुबन्धमपनीतं भवति? यदि खण्डशः शात्यते। अत उच्यते **व्रश्च मध्यं प्रतिशृणीहि** अग्रमिति। एवमनेनार्धर्चेन कृतस्य पापस्यापनयः प्रार्थ्यते, परेण करिष्यमाणस्य। **आ कीवतः** कालादिति द्रष्टव्यम्। अनिर्ज्ञायमानपरिमाणात् कियताऽपि कालस्य यावज्जीवभावादित्यर्थः। तदपि **सललूकं** समूढमस्मत्प्राप्तिं प्रत्यसमर्थं कुरु नष्टं वा यथा तच्चिकीर्षा न जातुचिन्मनागपि मनसि समुल्लसति असमर्थं कुर्वित्यर्थः। किञ्च **ब्रह्मद्विषे** ब्रह्म तृतीयलक्षणं तत्पुरुषनिःश्रेयसं सुखसाधनं तत्प्रतिद्वन्द्वभावात् पापकद्विट् तस्मै **हेतिमस्य** तद्विषयश्चित्तो माद्येऽपि कदाचिन्माभूदित्यर्थः।

मोचनादङ्कुरादीनां तदेव वा वृक्षाद् बन्धान्मोचयितव्यम्। मुषितमिव वा तद्वृत्तितयान्तर्हितत्वात्। **मोहनाद्वा** परस्परमेव समूढत्वात् छेत्तुर्वा मोहनात् पांसुभिराच्छन्नत्वान्न ज्ञायते कियदधोगता कियत्तिर्यग्गतेति। आगतमाभिमुख्येनार्धावगतं भवति। पुत्रवतेरिति पाठः।

कत्पयमित्यनवगतम्। कमिति सुखनाम तस्येयं मकारस्य तकारेण व्यापत्तिः। छान्दसत्वात् पयसश्च सलोपः। **कपयसमि**त्यवगमः। **सुखमस्य पय** इति निर्वचनम्। मेघोऽभिधेयः उदाहरणम्-

त्यं चिदित्था कत्पयं शयानमसूर्ये तमसि वावृधानम्।
तं चिन्मन्दानो वृषभः सुतस्योच्चैरिन्द्रो अपगूर्या जघान।। (ऋ०५.३२.६)

गातुर्नाम आत्रेयस्तस्यार्षम्। **त्यमि**ति मेघस्य प्रतिनिर्देशस्तच्छब्दसमानार्थः। त्यच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। **चिदे**वार्थे। यं पश्यति त्यं तमेव। **इत्था** अमुत्रान्तरिक्षे **कत्पयं** सुखं पयो यस्य तं मेघं **शयानं** शयतिरत्र स्थानार्थः, आमाशयो जलाशय इति यथा तिष्ठन्तमित्यर्थः। **असूर्ये तमसि** यज्ञे मेघेन सूर्यस्य गमनं कृतं तेनाच्छादितत्वात् सूर्यो यत्र न दृश्यते तदसूर्यं तमस्तस्मिन् **वावृधानं** वर्धमानम्। **तं** तृतीयार्थ एषा द्वितीया।

तच्छुतेश्च योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। येन यज्ञा उपकल्प्यन्ते तेन सोमेन। **चित्** पदपूरणः। **मन्दानो वृषभो** वर्षिता **सुतस्य** तृतीयार्थे षष्ठ्येषा, सुतेनाभिषुतेन सोमेन तृप्तः सन्। **उच्चैरिन्द्रोऽपगूर्य** उद्यम्य। किम्? सामर्थ्याद् वज्रं तेन **जघान** हतवान् हन्ति वा।

विस्रुह इत्यनवगतम्। **आप** इत्यभिधेयवचनम्। **विस्रवणादिति** निर्वचनम्। विस्रव इत्यवगमः। उदाहरणम्–

वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना।

तस्येदु विश्वा भुवनाधि मूर्धनि वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः॥ (ऋ०६.७.६)

भरद्वाजस्यार्षम्। **वैश्वानरस्य** भगवतोऽग्नेश्**चक्षसा** दर्शनेन देवतामाहात्म्यादतिशयवत्या कयापि प्रज्ञयेत्यर्थः। **विमितानि** निर्मितानि उत्पादितानि **सानूनि** समुच्छ्रिताः प्रदेशा **दिवो** द्युलोकस्य। **अमृतस्य** वैश्वानरविशेषणमेतत्, मरणवर्जितस्य। न च केवलया प्रज्ञया किं तर्हि **केतुना** कर्मणा व्यापारेण च हविर्वहनादिना। एतदुक्तं भवति तदधीनत्वाद् यागादेर्धर्मस्य धर्माधीनत्वाच्च कृत्स्नस्य जगतो निर्माणस्य। अथवा अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूता ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुरिति प्रकृतिमाहात्म्येनेयं विकारस्य स्तुतिः। यो हि जगतः स्रष्टा कारणात्मा तस्य प्रज्ञाव्यापाराभ्यां दिवः सानूनि निर्मितानीत्युच्यन्ते।

तस्येदु इच्छब्द एवार्थे उ इति पदपूरणः। तस्यैव वैश्वानरस्य पृथिव्यामनुप्रविष्टस्य **विश्वा भुवना** सर्वाणि भूतजातानि **अधिमूर्धनि** मूर्ध्न उपरि तस्य प्रवृतत्वाद् वैश्वानरस्यैव। **वया इव** शाखा इव वृक्षस्य **रुरुहुः** रुहिर्जन्मार्थः, विरोहन्ति जायन्त इत्यर्थः। न च भूतान्येव केवलानि, किं तर्हि? **सप्त विस्रुहः** सप्तसंख्याकाश्चापः। कथं पुनरपां सप्तसंख्याकत्वम्? उच्यते। आधारभेदात् प्रधानभूता गङ्गाद्याः सप्त नद्यः, तासां समुद्राणां सप्तसंख्याकत्वं प्राधान्याच्च। तत्स्थानामपां भूयस्त्वाद् गणनानर्हत्वादिति। कथं पुनरिदमुभयं वैश्वानरस्य मूर्धनि विरोहति? उच्यते। उभयमिदं पृथिव्या मूर्धनि तथा **'ऋबीसे अत्रिमश्विनौ'** (ऋ०१.११६.८) इति मन्त्रवर्णः।

वीरुध इत्यनवगतम्। **ओषधय** इत्यभिधेयवचनम्। **विरोहणादिति** निर्वचनम्। विरुहा इत्यवगमः। मूलविभुजादित्वाद्वा के विरुहा विरोहिण्य इति वा। उदाहरणम्–

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।

अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः॥ (ऋ०१०.९७.३)

भिषगाथर्वणो नाम तस्यार्षम्। **ओषधीः** अत्र सर्वत्र प्रथमा द्वितीयार्थे, हे ओषधयः **प्रतिमोदध्वं** परया पुष्ट्या हृष्यन्तु। **पुष्पवतीः** पुष्पवत्यः **प्रसूवरीः** प्रसववत्यः। **अश्वा इव** वडवा इव **सजित्वरीः** यथा वडवाः सहजैत्र्यः संग्रामस्य तद्वद् यूयं व्याधीनां क्षुधां वा सहभूतया जैत्र्यो **वीरुधो** विरोहिण्यः **पारयिष्ण्वः** पारयित्र्यश्च विश्वस्य।

नक्षद्दाभमित्यनवगतम्। यदि तावद् वैयाकरणा धातुर्नक्षतिः **'तृक्ष स्तृक्ष णक्ष गतौ'** (धा०१.६६१, ६६३) इति। तस्य गतिकर्मत्वाद् व्याप्तिकर्मत्वे धात्वर्थानवगमः। अथाप्यनेकार्थत्वाद् व्याप्तिकर्मसु च **'इन्वति नक्षति'** (निघ०२.१८) इति पाठाद् नक्षतिर्व्याप्त्यर्थश्चापि। तथापि संस्कारानवगमः। कथम्? नक्षदानमभ्यश्नुवानं दभ्नोतीति कर्मण्यणि दभरेनुनासिकाच्चोपलक्षणाभावाद् नक्षदम्भमिति स्यात्। **अश्नुवानदाभमिति** नक्षतेर्व्याप्तिकर्मणः प्रदर्शनम्। **अभ्यशनेन दभ्नोति** इति समुदायार्थवचनम्। उदाहरणम्–

तमु॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरो॒ नव॑ग्वाः स॒प्त विप्रा॑सो अ॒भि वा॒जय॑न्तः।

न॒क्ष॒द्दा॒भं ततु॑रिं पर्व॒ते॒ष्ठामद्रो॑घवाचं म॒तिभि॒ः शवि॑ष्ठम्॥ (ऋ०६.२२.२)

भरद्वाजस्य। परा च। **तं** प्रकृतमिन्द्रम्। **उ** इति पदपूरणः। **नो**ऽस्माकं **पूर्वे** पूर्वजाः **पितरो**ऽङ्गिरः प्रभृतयः। **नवग्वाः** पार्वणाङ्गभावेन प्रतिमाससमागमनाद् नवगतयः। तथा च **'अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वाः'** (ऋ०१०.१४.६) इत्यादौ सर्वत्र नवभिर्मासैः सिद्धिं गतत्वाद् नवग्वा अङ्गिरस उच्यन्ते। **सप्त** सप्तसंख्याका **विप्रासो** मेधाविनो **वाजयन्तो**ऽभीष्टयन्ते धनं याचिवन्त इति शेषः। कुत एतद् वाजयन्त इति? **'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः'** (अष्टा०३.२.१२६) इति शतृश्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् परस्यां चर्चि स्वयं धनस्य याच्यमानत्वात्। कीदृशम्? उच्यते। **नक्षद्दाभं** दभ्नातिवर्धकर्मा युद्धार्थं नक्षतामभिगन्तां प्राप्नुवन्तां वा। केषाम्? सामर्थ्यात् शत्रूणां हन्तारं **ततुरिं** त्वरितारं **पर्वतेष्ठां** पर्वतो मेघस्तस्मिन् हन्तव्ये स्थातारम्। **अद्रोघवाचम**द्रोग्धव्यवचनमनतिक्रमणीयवाचमित्यर्थः।

अनिडागमेन उकारस्यौकारापत्त्या आयुःशब्दस्यादिलोपेन **अस्कृधोयु**र्दीर्घायुरित्यर्थः। व्युत्पत्त्यन्तरं तु मन्त्रव्याख्याने दर्शयिष्यामः। उदाहरणम्-

तमी॑मह॒ इन्द्र॑मस्य रा॒यः पु॑रु॒वीर॑स्य नृ॒वतः॑ पु॒रु॒क्षोः।

यो अस्कृ॑धोयुर॒जरः॒ स्व॑र्वा॒न्तमा भ॑र हरिवो माद॒यध्यै॑॥ (ऋ०६.२२.३)

यमङ्गिरसोऽपि याचितवन्तस्तं त्वां वयम**ीमहे** याचामहे। **इन्द्रमस्य रायस्**तत्र निर्द्धारणे षष्ठी अस्य सर्वस्य स्तोत्रभिलषितस्य रायो धनस्य। **पुरुवीरस्य** बहुभिर्वीरैः पुत्रैः पौत्रैश्चोपेतस्य। **नृवतः** परिचारकमनुष्यैस्तद्वतः। **पुरुक्षोः** **'क्षि निवासगत्योः'** (धा०६.१२६) प्रहत्य बहुषु स्थानेषु निवसितुः स्थापयितव्यस्येत्यर्थः। धर्मादिषु वा विनियोगः। गन्तुरेवं हि गुणस्य धनस्य मध्ये **यो अस्कृधोयु**श्चिरस्थायी पुत्रपौत्रानुगत इत्यर्थः।

अथवा अन्यथा व्युत्पाद्यते। अस्कृ इत्येतत्तावत् करोते रूपं न कृन्ततेः। धोशब्दस्तु दधातेर्वा दानार्थस्य। अकृतदानो यादृशो न कस्मैचिदपि त्वया दत्तपूर्व इत्यर्थः। अकृतपानो वा अभुक्तपूर्वो वा केनचिदित्यर्थः। **अजरो** जरा हानिस्तद्वर्जितोऽक्षय इत्यर्थः। **स्वर्वान्** सर्वैः सर्वविशेषैर्युक्तं याच्यमानश्च तमेवमर्थम्। **आभर** देहि। **हरिवः** हरी अश्वौ ताभ्यां तद्वत्। किमर्थम्? **मादयध्यै** मोदनाच्च तर्पणाय वास्माकम्।

अथवा **अस्य राय** इति द्वितीयार्थे षष्ठी न निर्धारणे। **यो अस्कृधोयु**रित्यादिरप्यायुस्सम्बन्धात् तद्दीर्घत्वं शममस्य च मनुष्याणां प्रसिद्धतरत्वात् पुत्रस्य प्रतिनिर्देशो न धनस्य। तेनायमर्थः। **अस्य राय** इदमभिलषितं धनं पुरुवीरादियुक्तं याचामहे। किञ्च **यो अस्कृधोयु**र्दीर्घायुर्जरावर्जितः सर्वान् सर्वैश्च गुणैस्तद्वान् तद्वतः पुत्रमाहरेति समानम्।

निशृम्भा इत्यनवगतम्। **निशृथ्य हारिण** इत्यवगमः। अशिथिलया गत्या हरणशीलानि **श्रथ्याश्च** ते हारिणोऽविश्रामहरणाः श्रथतेर्हन्तेश्चाक्षरसामान्यान्निर्वचनम्। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्। देवं वहन्तु बिभ्रतः॥ (ऋ०६.५५.६)

आवहन्त्वजाः पूषणं रथे निश्रथ्यहारिणस्ते जनश्रियं ज्ञातश्रियम्। बृबदुक्थो महदुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो वा। '**बृबदुक्थं हवामहे ।**' (ऋ०८.३२.१०) इत्यपि निगमो भवति। ऋदूदरः सोमो मृदूदरो मृदुरुदरेष्विति वा। '**ऋदूदरेण सख्या सचेय।**' (ऋ०८.४८.१०) इत्यपि निगमो भवति। ऋदूपे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। पुलुकामः पुरुकामः। '**पुलुकामो हि मर्त्यः।**' (ऋ०१.१७९.५) इत्यपि निगमो भवति। असिन्वती असंखादन्त्यौ। '**असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः।**' (ऋ०१०.७९.१) इत्यपि निगमो भवति। कपनाः कम्पनाः। क्रिमयो भवन्ति। '**मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः।**' (ऋ०५.५४.६) इत्यपि निगमो भवति। भार्ऋजीकः। प्रसिद्धभाः। '**धूमकेतुः समिधा भार्ऋजीकः।**' (ऋ०१०.१२.२) इत्यपि निगमो भवति। रुजाना नद्यो भवन्ति, रुजन्ति कूलानि। '**सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः।**' (ऋ०१.३२.६) इत्यपि निगमो भवति। जूर्णिर्जवतेर्वा द्रवतेर्वा दूनोतेर्वा। '**क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति।**' (ऋ०१.१२९.८) इत्यपि निगमो भवति। '**परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्॥**' (ऋ०७.६९.४) पर्यगाद्वां घ्रंसमहरवनायान्नम्॥४॥

आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्।
देवं वहन्तु बिभ्रतः॥ (ऋ०६.५५.६)

भरद्वाजस्यार्षम्। **आ**कारो वहन्त्वित्यनेन सम्बध्यते। **अजासो**ऽजाः पूष्णोऽश्वाः **पूषणं रथे** तृतीयार्थ एषा सप्तमी रथेन **निशृम्भास्त**च्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। ये निश्रृम्भाः शीघ्रगामिन इत्यर्थः। कीदृशं पूषणम्? उच्यते। **जनश्रियं** दीप्तमित्यर्थः। **देवं** दानादिगुणमा**वहन्तु** अस्मान्प्रति। **बिभ्रतः** सम्यग्धारयन्तः।

बृबदुक्थमित्यनवगतम्। **बृहदुक्थ** इत्यवगमः। **महदुक्थ** इत्यर्थवचनं यदि बृहे रूपम्। अथ ब्रूञस्ततो वक्तव्योक्थ इति। उक्थ इति स्तुतिपर्यायः, महत्स्तुतिं वक्तव्यस्तुतिं वा स्तुत्यर्हमित्यर्थः। तदाह **वक्तव्यमस्मा उक्थमिति** वा बृहदुक्थमिति। उदाहरणम्–

बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये।
साधु कृण्वन्तमवसे॥ (ऋ०८.३२.१०)

मेधातिथेः। **बृबन्** महद् वक्तव्यं वा **उक्थं** स्तोत्रं स्तुतिर्यस्य तमिन्द्रं महास्तुतिं वा **हवामहे** आह्वयामः। **सृप्रकरस्नं** सृप्रौ करस्नू बाहुनामैतत्, सृप्रौ बाहू यस्य तम्। किमर्थम्? **ऊतये** तर्पणाय सोमेन पालनाय वात्मनः सर्वैर्देवैश्च **साधु** रसानुप्रदानादि कर्म **कृण्वन्तं** कुर्वन्त**मवसे** पालनाय जगतः।

ऋदूदर इत्यनवगतम्। ऋदूदरस्यान्तः सुषिरत्वाद् मृदुर्वा उदरे अस्त्वित्येवं य आशास्यमानत्वाद् मृदूदरः सन्नादिलोपेन ऋदूदरः। इयक्षन्त इति यथा। सोमोऽभिधेयः।

उदाहरणम्–

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः।

अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः॥ (ऋ०८.४८.१०)

गाधस्यार्षम्। सोमवादिनः प्रायश्चित्तेष्टौ चरौ याज्यैषा। **ऋदूदरेण** सौषिर्याद् मृदु उदरं यस्य मृदुर्वामनविरोचनयोरकर्ता उदरेऽस्तु इत्येवं य आशास्यते यजमानैः स मृदूदरस्तेन मृदूदरेण सोमेनेत्यर्थः। **सख्या** सखिभूतेन **सचेय** सेवेयेत्याशास्महे। **यो मा न रिष्येत्** न हिंस्याद् वमनविरेचनाभ्यामायुषः परिमोषणनिमित्तं स्यादित्यर्थः। **हर्यश्व** हरी इन्द्रस्याश्वौ ताभ्यां तद्वान् हर्यश्वस्तस्य संबोधनं हे हर्यश्व! इन्द्र **पीतः** सन्। किञ्च **अयं यः सोम** इति पीतवांश्च व्यपदिशति **न्यधायि** पूर्वं निहितोऽ**स्मे** त्वस्माभिः पीतः सामर्थ्याद् वान्तश्च **तस्मै** निवृत्तिः तादर्थ्य एषा चतुर्थी तच्छब्देन च तद्धेतुक आयुषः क्षयो लक्ष्यते तदर्थं तद्धेतुकायुःक्षयनिवृत्त्यर्थमियर्थः। **इन्द्रं प्रतिरं** तिरतिर्वृद्ध्यर्थः, प्रतीर्णं प्रवृद्धम् **एमि** याचामह इत्यर्थः। किम्? **आयुः**।

ऋदूपे इत्येतत्पदमनेनैव सादृश्यादिह समाम्नातम्। तत् पुनः प्रसङ्गेनोपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

पुलुकाम इत्यनवगतम्। **पुत्रकाम** इत्यवगमः। उदाहरणम्–

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे।

यत् सीमागश्चकृमा तत् सु मृळतु पुलुकामो हि मर्त्यः॥ (ऋ०१.१७९.५)

अगस्त्यलोपामुद्राब्रह्मचारिसंवादे ब्रह्मचारिणः। **इमं नु** पदपूरण एवार्थे वा, इममेव **सोमम्। अन्तितो**ऽन्तिके सन्निकृष्टे स्थितमिति शेषः। कथमसावन्तिकस्थ इत्याह **हृत्सु पीतं** हृदये पीतं सन्तम्। **उपब्रुवे** उपगम्य मनसा ब्रवीमि। किम्? उच्यते। **यत् सीम्** सर्वतः सर्वप्रकारम्। **आगः** पापं **चकृम** कृतवन्तो वयं बुद्धिपूर्वमबुद्धिपूर्वं वा **तत् सुमृळतु 'मृळ सुखने'** (धा०६.४६) सुष्ठु सुखं करोतु नाशयतु बन्धम्। विपाकं करोत्वियर्थः। तस्मादेवमुच्यते **पुलुकामो हि मर्त्यः** हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्माद् बहुकामो मनुष्यः, तं च कामं पापेनावष्टब्धो न शक्नोति प्राप्तुमिति।

असिन्वतीत्यनवगतम्। तस्य **असंखादन्त्यौ** इत्यनेन कथनेन सिनोतेर्बन्धनार्थत्वात् धात्वर्थेऽनवगमं दर्शयति। उदाहरणम्–

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।

नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः॥ (ऋ०१०.७९.१)

वैश्वानरस्याग्नेः सौचीकस्य वा ऋषेर्वाजम्भरस्यार्षम्। **अपश्यं** पश्याम्यहम**स्य** भगवतोऽग्नेर्**महतो महित्वं** माहात्म्यम्। किं विशिष्टस्य? **अमर्त्यस्य** अमरणधर्मणो **मर्त्यासु** मरणधर्मसु **विक्षु** मनुष्यजातिषु सप्तमीनिर्देशाद् वर्तमानस्येति शेषः। किं पुनर्माहात्म्यमिति? उच्यते। **नाना हनू** पृथग्भूते हनू ज्वालाख्ये **विभृते** बिभ्रते सत्यौ यत् **संभरेते** एकीभवत इत्यर्थः। किञ्च **असिन्वती** असंखादन्त्याविव चूर्णयन्त्याविव **बप्सती** भक्षयन्त्यौ **भूरि** बहु **अत्तो**ऽन्यदेवत्यमपि हविर्भक्षयतः। एतदस्य माहात्म्यमित्यर्थः।

कपना इत्यनवगतम्। **कम्पना** इत्यवगमः। **कृमयो**ऽभिधेयाः। ते हि वृक्षं निस्सारीकुर्वन्तः कम्पयन्ति। स्वयं वावलम्बनस्वभावत्वादेवमुच्यन्ते। उदाहरणम्–

अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसं मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः।

अध स्मा नो अरमतिं सजोषसश्चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्॥ (ऋ०५.५४.६)

अभ्राजि भ्राजते दीप्यते। **शर्धो** बलं युष्मदीयं सेनालक्षणम्। हे **मरुतः**, **यत्** तृतीयाया अत्र लुक्, येन बलेन। **अर्णसम्** अर्ण उदकं सकारो मत्वर्थीयः, उदकवन्तम्। कम्? सामर्थ्यान्मेघम्। **मोषथा** मुष्णीथ निरुदकं कुरुतेत्यर्थः। कथमिव? **वृक्षं कपनेव** कम्पना घुणक्रिमयः, ते वृक्षं यथा मुष्णन्ति निस्सारीकुर्वन्ति तद्वत्। **वेधसो** मेधाविनो य ईदृग्बलाः। **अध** अस्मात्। **स्म**शब्दः पदपूरणः। **नो**ऽस्मान् **अरमति** व्यत्ययेनैकवचनं बहुवचनस्य स्थाने अरमतीन् अनल्पमतीन् पर्याप्तज्ञानान् स्वर्गापवर्गप्राप्तावधिकृतानित्यर्थः। हे **सजोषसः**! संप्रीताः परस्परतः। **चक्षुरिव यन्तं** यथा चक्षुर्गच्छन्तं मनुष्यं नयेत् तद्वत्। **अनुनेषथा** अनुरत्र धात्वर्थानुवादी नयया। **सुगं** सुखगमनं यत्र वा गतानां सुखं भवति स सुगः स्वर्गो मोक्षो वा तं यथा स्वेनैव यत्नेन गच्छन्तं मनुष्यं पथि प्रदर्शनमात्रेण चक्षुर्नयति एवं स्वीकृतेन कर्मणा स्वर्गं मोक्षं वा गच्छतोऽस्माननुग्रहमात्रक्रियया यूयं नयतेत्यर्थः।

भाऋजीक इत्यनवगतम्। ऋजूका अकुटिला अप्रतिहता प्रसिद्धा दीप्तिर्यस्य स ऋजूकभास्सन् भाऋजीकः। **प्रसिद्धभा** इति पर्यायेणार्थप्रदर्शनम्। उदाहरणम्-

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान्।

धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान्॥ (ऋ०१०.१२.२)

हविर्धानस्यार्षम्। प्रत्यक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य देव इत्यादीनां चानामन्त्रित्वादेकवाक्यतायै यत्तच्छाब्दाध्याहारः। अग्निरुच्यते। यस्त्वं **देवो** दानादिगुणो **देवान् परिभूः** परिभूतः। भवतिरपरिग्रहे देवानां यस्त्वं परिग्रहीतेत्यर्थः। स **ऋतेन** यज्ञेन सहार्थे च तृतीया यज्ञेन सह। **वह** प्रापय **नो**ऽस्माकं स्वभूतं **हव्यं** हविर्यज्ञं च हविश्च देवान् प्रति प्रापयेत्यर्थः। यश्च **प्रथमो** मुख्य**श्चिकित्वान्** ज्ञानवान् **धूमकेतु**र्धूमकर्ता। अथवा केतुः पताकोच्यते धूम एव केतुर्यस्य धूमेन वा यः केत्यते सः। **समिधा** समिन्धनेन इध्मघृतादिना **भाऋजीकः** ऋजुकदीप्तिः प्रकृष्टो ज्वलन इत्यर्थः। **मन्द्रः** स्तुत्यः स्तोता वा होत्राधिष्ठातृत्वात्। **होता** च **नित्यो** होत्रपेक्षया। **वाचा** च **यजीयान्** मनुष्यहोत्रपेक्षयैवातिशयेन यष्टा।

रुजाना इत्यनवगतम्। एतच्च पदं नदीनामसु पठ्यते। अत आह **नद्यो**ऽभिधेयाः। एवं चैकपदिके पठितस्यापि अनवगतत्वादिहोपक्षेपः। रुजेश्च परस्मैपदित्वात् शानजत्रानवगतम्। क्वचिच्च प्रथमासमानाधिकरणे शानच् द्रष्टव्यः। तच्च दर्शयित **रुजन्ति कूलानीति** रुजाना नद्यः। रुजन्त एवेत्यवगमः। उदाहरणम्-

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।

नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः॥ (ऋ०१.३२.६)

हिरण्यस्तूपस्यार्षम्। योद्धुमसमर्थोऽ**योद्धा** स यथा **दुर्मदः** सुरया मत्तः सन् दुर्मथो बाल्य इत्यर्थः। असमर्थोऽपि कश्चिद् युद्धायाह्वयेत एवं मेघः **आ हि जुह्वे** इति हिशब्दः पदपूरणः,युद्धायाहूतवान् इन्द्रम्। कीदृशम्? **महावीरं** महाविक्रान्तं **तुविबाधं** बहूनां शत्रुणां बाधितारम्। **ऋजीषम्** अर्जयितारं शत्रुधनानाम्। अथवा यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते। सामर्थ्याच्चात्र ऋजीषशब्दोऽन्तर्नीतमत्वर्थो द्रष्टव्यः, ऋजीषिणमित्यर्थः। कः

पुनरिन्द्रस्य ऋजीषेण सम्बन्धः? उच्यते। हर्योरस्य समभागो धानाश्चेति। आहूय च मेघो **नातारीत्** तरतिरत्र शक्नोत्यर्थः, शक्नोतिश्च धात्वन्तरापेक्षत्वात् सोढुमिति वाक्यशेषः। नाशक्नोत् सोढुमिति। **अस्य** स्वभूतानां **समृतिं** सङ्गतिं **वधानां** प्रहाराणां चेत्यर्थः। अथासहमानः किं कृतवान्? उच्यते। **सं रुजानाः** नदीं प्रति **संपिपिषे** संपिष्टवानात्मानमुदकम्। चूर्णरूपीभूय नदीषु स्थित इत्यर्थः। **इन्द्रशत्रुः**रिन्द्रस्य शातयितव्यः।

जूर्णिरित्यनवगतम्। **जवते**र्गतिकर्मणः। निशब्दो नामकरणः। रेफागमः। **द्रवतेर्वा** उकाररेफयोः स्थानव्यत्ययो दकारस्य जकारापत्तिः। शेषं पूर्ववत्। **जीर्यतेर्वा** हिंसार्थस्य। जूकपाल्वादिभ्यः कनिष्ठापदि एवं जूणावनाद्विजूर्णिशक्तिका सेनाऽभिधेया। **दुनोतेर्वे**त्यपाठः। उदाहरणम्-

प्रप्रा वो अस्मे स्वयशोभिरूती परिवर्ग इन्द्रो दुर्मतीनां दरीमन्दुर्मतीनाम्।

स्वयं सा रिषयध्यै या न उपेषे अत्रैः। हतेमसन्न वक्षति क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति।। (ऋ० १.१२९.८)

परुच्छेपस्यार्षम्। **प्रप्रेति 'प्रसमुपोदः'** (अष्टा०८.१.६) इति पदपूरणे द्विर्वचनम्। उपसर्गत्वाच्चास्य ऊतीत्यनेन क्रियाशब्देन सम्बन्धः। अवतेः कर्तरि **ऊतिः** प्रकर्षेणाविता रक्षितेत्यर्थः। कस्य? ऋत्विजामयं प्रतिनिर्देशः। अत्र पौत्रादीनां **वो** युष्माकमृत्विजां पुत्रपौत्रादीनां वा मदीयानाम्। **अस्मे** अस्माकम्। **स्वयशोभिः** निमित्ते चैषा तृतीया प्रयोजनस्य च निमित्तत्वेन विवक्षा स्वयशोभिर्निमित्तभूतैरात्मनः। क्व पुना रक्षिता? उच्यते। **परिवर्गे** परिवर्ज्यन्ते प्राणैर्यत्र योद्धारः स परिवर्गः संग्रामस्तस्मिन् **इन्द्रो दुर्मतीनां** पापबुद्धीनां चास्मच्छत्रूणां नेत्यर्थः। **दुर्मतीनां** दुस्स्तुतीनां च। केन पुनः प्रकारेण रक्षिता? उच्यते। **स्वयम्** आत्मनैव। **सा रिषयध्यै** तृतीयार्धर्चस्थे**नासदि**त्यनेन सम्बन्धो रिषयध्यै असद्रेषणाय हिंसनाय भवति इन्द्रप्रसादात् स्वयमेव वासौ विनश्यतीत्यर्थः। **या नो**ऽस्मान् प्रति **उप ईषे** उपेत्येष प्र इत्येतस्य स्थाने प्रेष्यते। **अत्रै**रदनशीलैरस्मच्छत्रुभिः। **हता** हता च विनष्टा सती। **ईम**िति पदपूरणः **न वक्षति** लडर्थेऽत्र लेट्, न वहति न प्राप्नोत्यस्मान् प्रति **क्षिप्तापि जूर्णिः** शक्तिका सेना वा प्रेरितापि सती **न वक्षति** लृडर्थे लेट्, न वक्ष्यति न प्राप्स्यति आगामिन्यपि काल इत्यर्थः।

ओमना इत्यनवगतम्। **अवनाय अवनेन** वेत्यवगमः। उदाहरणम्-

युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम्।

यद्देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्।। (ऋ०७.६९.४)

वसिष्ठस्य। अश्विनावुच्येते। **युवोर्**युवयोः **श्रियं परि** सर्वतः **योषा** स्त्री उप आख्या **अवृणीत** वृणते युवयोर्दीप्त्या दीप्तिमती भवतीत्यर्थः। **सूरो दुहिता** सूर्येण दिवि जन्यमानत्वात् सूर्यस्य दुहिता। कदा वृणीत? **परितक्म्यायां** रात्रौ ऊर्ध्वमर्धरात्रादश्विनोः काल इति वक्ष्यति तस्मिन् काले रात्रेः पश्चिमे भाग इत्यर्थः। किञ्च **यद्** यस्माद् **देवयन्तं** देवान् यष्टुमिच्छन्तम्, इच्छयात्र तत्पूर्वकत्वादनुष्ठानं लक्ष्यते देवानां यष्टारमित्यर्थः। **अवथो** रक्षथो युवाम्। **शचीभिः** कर्मभिः स्वैः प्रज्ञाभिर्वा। यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यध्याहारः, तस्मात् **परिघ्रंसं** परीत्यय प्रतीत्यस्य स्थाने घ्रंसमप्यह्नः, अहनीत्यर्थः। **ओमना** अवनायावनेन वा निमित्तभूतेन तर्पणार्थमित्यर्थः। **वां** युवां **वयो**ऽन्ननामेदम्, अन्नं हविर्लक्षणं **गाद्** अगाद् गच्छति युवाभ्यां दीयत इत्यर्थः। उदिते अश्विनोर्याग उच्यते। अहः प्रत्यहमगादिति। तस्माद् यजमानं रक्षथः। तस्मात् प्रातरेवेज्येथे इत्यर्थः।

इति (महेश्वरकृते) निरुक्तविवरणे एकादशा(षष्ठस्या)-ध्यायस्य प्रथमः पादः चतुर्थश्च खण्डः।।

।।अथ षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः।।

अथ पञ्चमः खण्डः।

उपलप्रक्षिणी। उपलेषु प्रक्षिणाति। उपलप्रक्षेपिणी वा। इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ दुर्भिक्षे केन जीवतीति तेषामेकः प्रत्युवाच। **शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम्। उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः।।** इति सा निगदव्याख्याता।।५।।

उपलप्रक्षिणीत्यनवगतम्। **उपलेषु** श्लक्ष्णेषु वालुकासु यवान् **प्रक्षिणाति**। क्षि हिंसायां हिनस्ति रुजतीत्यर्थः। अथवा दृषन्धूरद्दकादिषूपलेषु तदाधानभ्रष्टान् यवान् हिनस्ति चूर्णयतीत्यर्थः। ततश्च **उपलप्रक्षेपिणी**त्यवगमः। **सक्तुकारिका**ऽभिधेया रूढित्वात्। छत्रतया काचिदुत्पत्तये क्रियोपादीयते। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम इन्द्रायेन्दो परि स्रव।। (ऋ०९.११२.३) कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम्। ततो भिषक्। तत इति सन्ताननाम। पितुर्वा पुत्रस्य वा। उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका। नना नमतेर्माता वा दुहिता वा। नानाधियो नानाकर्माणः। वसूयवो वसुकामाः। अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम्। इन्द्रायेन्दो परिस्रवेत्यध्येषणा। **आसीनं ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति।** (ऋ०१०.२७.१३) उपस्थे। प्रकलविद् वणिग्भवति। कलाश्च वेद प्रकलाश्च। **'दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना।'** (ऋ०७.१८.१५) इत्यपि निगमो भवति। अभ्यर्धयज्वाभ्यर्धयन् यजति। **'सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा।'** (ऋ०६.५०.५) इत्यपि निगमो भवति। ईक्ष ईशिषे। **'ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्।'** (ऋ०६.१९.१०) इत्यपि निगमो भवति। क्षोणस्य क्षयणस्य। **'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय।'** (ऋ०१.११७.८) इत्यपि निगमो भवति।।६।।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव।। (ऋ०९.११२.३)

शिशुराङ्गिरसस्तस्यार्षम्। स हि दुर्भिक्षानन्तरं प्रवृत्तसोमयागः सन् दशापवित्रान् क्षरति सोमे निरुक्तं ह्येनः कनीयो भवति श्रुतं प्रतिबन्ध कनीयो भवति पापापनुत्तये दुश्चरितानुकीर्तनपुरस्सरमनेन किलाध्येषणा चक्रे। **कारुः** स्तोतृनामेदं स्तोता **अहं** तावत् कर्ता स्तोमानां सद्धोता उद्गाता वा अयाज्ययाजनोपलक्षणं द्रष्टव्यम्। **ततः** सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा तन्यतेऽस्मादिति पिता तन्यते वापीति पुत्रः। तेन सन्ताननिमित्तमिदं नाम। तातशब्दस्य वा ह्रस्वत्वं ततः पिता पुत्रो वा मम **भिषग्** भेषजकृद्यज्ञस्य ब्रह्मेत्यर्थः। स च **'त्रयी विद्या**

भिषज्यति' इति श्रुतेः। वैद्यो वा। **उपलप्रक्षिणी** सवनीयाद्यर्थं धानासक्तुकरम्भादीनां कर्त्री प्रसिद्धा वा सक्तुकारिका असौ **नना** माता दुहिता वा। कथं पुनर्ननाशब्देनासावुच्यते? नमतिना योगाद् माता पुत्रं प्रति स्तन्यपानादिना नमति दुहितापि शुश्रूषार्थम्। ते वयमेवं **नानाधियो** धीरिति कर्मनाम विविधकुत्सितकर्माणो **वसूयवो** धनकामा यथाकथंचिद् धनमिच्छन्तो यो यदिच्छति तस्य तत् कुर्वन्तोऽ**नुगा इव तस्थिम** प्रथमार्थे द्वितीयैषा गाव इव यथा गावः परार्थाः अन्वास्थिता वा न किञ्चिद् वर्जयन्ति एवं वयमत्र तस्थिमोऽन्वास्थिताः स्मोऽधिष्ठितवन्तः। कम्? सामर्थ्याल्लोकम्। सम्प्रति तु निष्क्रान्तारिभृतैरतीते दुर्भिक्षे त्वत्प्राप्त्यर्थं कथंचिद् धारितप्राणैरस्माभिर्मनोरथशतैरिदानीं प्राप्त इत्येतज्ज्ञात्वा **इन्द्राय** इन्द्रस्यार्थाय त्वं हे **इन्दो** सोम कारुण्यात् **परिस्रव** अस्माद् दशापवित्राद् इत्येवमेषाध्येषणा सत्कारपूर्विका व्यापारणा।

उपसीत्यनवगतम्। उपस्थशब्दस्य सप्तम्येकवचने धात्वादिसकारोऽवशिष्यते तत्स्थशब्दलोपेन उपसीति। उपस्थ इति प्राप्ते तद् भाष्यकारो दर्शयति **उपस्थे**। उदाहरणम्–

प॒त्तो ज॑गार प्र॒त्यञ्च॑मत्ति शी॒र्ष्णा शिरः॒ प्रति॑ दधौ॒ वरू॑थम्।

आसी॑न ऊ॒र्ध्वामु॒पसि॑ क्षिणाति॒ न्यं॑ङ्ङुत्ता॒नामन्वे॑ति॒ भूमि॑म्॥ (ऋ०१०.२७.१३)

शुक्रस्यार्षम्। इन्द्र उच्यते। **जगारे**ति जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा। आद्यादित्वात् तसिः पादतो रश्म्याख्यैः पादैरित्यर्थः। अत्र चैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यज्जगार निगरति मुञ्चति मध्यं प्रतिगृह्णाति वा पृथ्वीतः। कोऽसौ? सामर्थ्यादादित्यः। तदिन्द्रः **प्रत्यञ्च**मात्मानं प्रत्यञ्चितं गतम्। **अत्ति** भक्षयति स्वीकरोतीत्यर्थः। **शीर्ष्णा** आदित्येन दत्तं सदिति शेषः। स्वीकृत्य च सर्वस्य लोकस्य **शिरः प्रतिदधौ** विदधाति। किम्? **वरूथं** वरणीयं वृष्ट्याख्यं क्षिपति। किम्? उदकम्। किञ्च निहितेन च तेन **आसीन** एव। क्व? **उपसि** उपस्थे अन्तरिक्षाख्ये स्थाने। **ऊर्ध्वाम्** ऊर्ध्वताम्। काम्? सामर्थ्यात् पृथिवीं **क्षिणाति** हिनस्ति छादयति हतविहितविधस्तव प्रकरोतीत्यर्थः। हिंसितायां च सत्यां पृथिव्यां न्यङ् व्यत्ययेनेदं पुंलिङ्गं नपुंकस्य स्थाने **न्यग्** नीचैरञ्चितं तमुदक**मुत्तानामन्वेति** यथानिम्नमनुगच्छति **भूमिम्**।

प्रकलवित् इत्यनवगतम्। **वणिग**भिधेयः। प्रकलाविदित्यवगमः। स हि **कला** मानोन्मानप्रतिमानादिविषयाः **प्रकलाश्च** गणितरत्नपरीक्षादिका **वेद** विजानाति। उदाहरणम्–

इन्द्रे॑णै॒ते तृ॒त्स॑वो॒ वेवि॑षाणा॒ आपो॒ न सृ॒ष्टा अ॑धवन्त॒ नीची॑ः।

दु॒र्मि॒त्रास॑ः प्रकल॒विन्मिमा॑ना ज॒हुर्विश्वा॑नि॒ भोज॑ना सु॒दासे॑॥ (ऋ०७.१८.१५)

वशिष्ठस्य। **इन्द्रेणैते तृत्सवः** तृदेर्हिंसार्थस्यार्हार्थेऽसुन् प्रत्ययो द्रष्टव्यः, तर्दनार्हा मेघाः। **वेविषाणा 'विष्लृ व्याप्तौ'** (धा०३.१३) व्याप्यमाना **आपो न** आप इव यथा आपः केनचित् **सृष्टा अधवन्त** गच्छन्ति **नीची**र्नीचैः। एवमन्तरिक्षस्याधो भवन्तीत्यर्थः। अधोभूय च ये **दुर्मित्रासः** कुत्सितान्यनिशं धनपराणि मित्राणि। कतमानि? उच्यते। **प्रकलवित्** प्रथमाबहुवचनस्यात्र लुक् द्रष्टव्यः प्रकलाविदः प्रकृष्टानां कलानां वेदितारो वणिजः किञ्चित् स्वर्णमुक्ताप्रवालादि महता यत्नेन मिमते एवं **मिमाना** यावन्ति यदा यत्र योग्यानि तावन्ति तदा तत्र त्यजन्तो **जहु**र्जहति त्यजन्ति। **विश्वानि** सर्वाणि **भोजना** भोजनानि भोग्यार्हाण्युदकानि। **सुदासे** सुदा यजमानस्तस्मै कल्याणदानस्य यजमानस्यार्थायेत्यर्थः।

अभ्यर्धयज्वा इत्यनवगतम्। ऋधु वृद्धौ यजिर्दानार्थः। **अभ्यर्धयन् यजतीत्यस्य** वाक्यस्यार्थः। उदाहरणम्–

मिम्यक्ष येषु रोदसी नु देवी सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा।

श्रुत्वा हवं मरुतो यद्ध याथ भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते॥ (ऋ०६.५०.५)

ऋजिश्वन आर्षम्। **मिम्यक्षेति** म्यक्षतेर्गतिकर्मणो रूपम्। गच्छति **येषु** द्वितीयार्थ एषा सप्तमी, यान् युष्मान् **रोदसी** रुद्रस्य पत्नी नु इति पदपूरणः देवीर्मरुतः। **'रुद्रस्य ये मीळहुषः सन्ति पुत्राः'** (ऋ०६.६६.३) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। तेनैषां रोदसी माता सा च स्नेहेन पुत्रान् प्रत्यलक्ष्वं गच्छति अतस्त एवमुच्यन्ते। गच्छति यान् युष्मान् रोदसी देवी यांश्च **सिषक्ति** रश्म्याहतरसेन प्राणेन सेवते। **पूषा** किंविशिष्टः? **अभ्यर्धयज्वा** अल्पानपि अनभ्यर्धयन् मरुद्भ्यो ददाति न तं वा स्तोतृभ्योऽसौ ददाति स येष्विति यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। ते **श्रुत्वा हवमाह्वानं** हे **मरुतः**, यदा हेति पदपूरणः **याथ** गच्छथ यदेति वचनात् तदेत्यध्याहार्यम्। तदा **भूमा** यश्च बहुशब्दाद् विपुलवचनाद् बहुत्ववंचनाद्वा इमनिचि छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम्। सामर्थ्याच्चात्र अन्तर्णीतमत्वर्थता बहुवचनस्य लुक् **'शेश्छन्दसि** (अष्टा०६.१.७०) इति। तेनायमर्थः। वैपुल्यवन्ति बहुत्ववन्ति वा महान्ति बहूनि वेत्यर्थः। कानि? सामर्थ्यात् शत्रुवृन्दानि **रेजन्ते** ह्यस्यते रेजत इति भयवेपनयोः। अस्मान् मरुतो हन्तुमागच्छन्तीति मन्यमानानि बिभ्यति ध्वजाग्राणि वा कम्पन्ते। पदकारस्तु भूम रेजन्त इति ह्रस्वत्वं पठन्ति इति। क्रियाविशेषणमिदमेकवचनान्तमिति मन्यन्ते। तदा च स्वार्थिक इमनिच् द्रष्टव्यः। बहु सुष्ठु रेजन्त इत्यर्थः। **अध्वनि** अन्तरिक्षनाम अस्य च रेजन्त इत्यनेनैव सम्बन्धो याथ इत्यनेन वा अन्तरिक्षे रेजन्ते अन्तरिक्षे वा यदा वा याथेति। कीदृशे? **प्रविक्ते** प्रकर्षेण विविक्ते इमौ दीप्ते विस्तीर्णे इत्यर्थः।

ईक्षे इत्येतदनवगतम्। ईशिष इत्येवं प्राप्ते। उदाहरणम्–

नृवत्त इन्द्र नृतमाभिरूती वंसीमहि वामं श्रोमतेभिः।

ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन् धा रत्नं महि स्थूरं बृहन्तम्॥ (ऋ०६.१९.१०)

भरद्वाजस्य। **नृवत्** मनुष्यमतिथिमन्यं वा कंचित् प्रियं मित्रं भ्रातरं वा तद्वत्। **ते** द्वितीयार्थे षष्ठी त्वाम्। **नृतमाभिश्चात्र** स्वसम्बन्धियोग्यत्वं लक्षयन् नृतमयोग्या यास्ताभिः प्रकृष्टमनुष्ययोग्याभिरित्यर्थः। काभिः? **ऊती** अवतेस्तृप्तिकर्मण ऊतिः, ततस्तृतीयायाः पूर्वसवर्णः, ऊतीभिस्तर्पणैः सोमैर्**वंसीमहि 'वन षण संभक्तौ'** (अष्टा०१.४६४ ४६५) संभजेमहीत्याशास्महे। **वामं** प्रशस्यम्। न केवलाभिरूतिभिः। किं तर्हि? **श्रोमतेभिः** शृणोतेरयम् **'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'** (अष्टा०३.२.७५) इत्येवं कर्मणि विन्। आतिशायिकस्य तमपः प्रथमद्वितीयाक्षर–विपर्ययात् छान्दसत्वात् श्रोतव्यतमैरतिशयेन श्रोतव्यैः शास्त्रैरित्यर्थः। किञ्च **ईक्षे हि** हिशब्दो यस्मादर्थे यस्मादीशिषे त्वं **वस्वो** वसुनो धनस्य **उभयस्य**। कतमस्य? दिव्यस्य च पार्थिवस्य च। कुत एतत्? **'अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य'** (ऋ०२.१४.११) इत्यादौ दर्शनात्। **राजन्** दीप्त ईश्वरो वा। यस्मादिति वचनात् तस्मादित्यध्याहार्यम्। तस्माद् **धा** देहि **रत्नं** धनं **महि** महत् सारतरं **स्थूरं** स्थूलं परिमाणतः। **बृहन्तं** नेदं रत्नविशेषणं महीत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् पुंलिङ्गत्वाच्च। किन्तर्हि? कालप्रतिनिर्देशार्थमेतत् **'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'** (अष्टा०२.३.५) इति द्वितीया। महान्तं कालं यावज्जीवितव्यमित्यर्थः।

क्षोणस्येत्यनवगतम्। क्षयणस्येत्यवगमः। क्षीयतेर्निवासार्थस्य कर्तरि ल्युट्। उदाहरणम्–

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय।

प्रवाच्यं तद्वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्॥ (ऋ०१.११७.८)

कुष्ठत्वात् **श्यावाय** श्याववर्णाय अग्निपुत्रस्य घोरस्य ज्येष्ठपुत्राय **रुशतीं** दीप्तां त्वचम्। तत् हे **वृषणा** वर्षितारौ। तत् किम्? सामर्थ्यात् कर्म। **वां** युवयोः सम्बन्धि। कतमत्? **यन्नार्षदाय** ऋषये बधिराय **श्रवः** श्रोत्र**मध्यधत्तम्** अधिशब्दो **'अधिपरी अनर्थकौ'** (अष्टा०१.४.९३) इति कर्मप्रवचनीयः पदपूरणः, दत्तवन्तौ स्थः।

अस्मे इत्येतत् प्रकृत्यर्थाभेदेऽपि प्रत्ययार्थभेदादनेकार्थम्। सर्वविभक्त्यर्थेषु वृत्तेः। वयाद्यादेशानां चाकरणस्य नादेशस्य च छान्दसत्वादनवगतसंस्कारमपि। अनेकार्थतां सर्वविभक्त्यर्थप्रवृत्तिं तेन प्रदर्शयन् प्रथमायां तावद् वृत्तिमाह–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

अस्मे ते बन्धुः। (यजु०४.२२) वयमित्यर्थः। **अस्मे यातं नासत्या सजोषाः।** (ऋ०१.११८.११) अस्मानित्यर्थः। **अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः॥** (ऋ०१.१६५.७) अस्माभिरित्यर्थः। **अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्॥** (ऋ०३.३६.१०) अस्मभ्यमित्यर्थः। **अस्मे आराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु॥** (ऋ०६.४७.१३) अस्मदित्यर्थः। **ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे॥** (ऋ०३.३०.१९) अस्माकमित्यर्थः। **अस्मे धत्त वसवो वसूनि॥** (यजु०८.१८) अस्मास्वित्यर्थः। पाथोऽन्तरिक्षम्। पथा व्याख्यातम्। **'श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः।'** (ऋ०७.६३.५) इत्यपि निगमो भवति। उदकमपि पाथ उच्यते पानात्। **'आ चष्ट आसां पाथो नदीनाम्।'** (ऋ०७.३४.१०) इत्यपि निगमो भवति। अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव। **'देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्।'** (ऋ०१०.७०.१०) इत्यपि निगमो भवति। सवीमनि प्रसवे। **'देवस्य वयं सवितुः सवीमनि।'** (ऋ०६.७१.२) इत्यपि निगमो भवति। सप्रथाः सर्वतः पृथुः। **'त्वमग्ने सप्रथा असि।'** (ऋ०५.१३.४) इत्यपि निगमो भवति। विदथानि वेदनानि। **'विदथानि प्रचोदयन्।'** (ऋ०३.२७.७) इत्यपि निगमो भवति॥७॥

अस्मे ते बन्धुरिति। प्रथमान्तेन बन्धुशब्देन सामानाधिकरण्यात् प्रथमां निश्चित्य आह्वयामीत्यर्थः। उदाहरणम्–

तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुष्यन्ती।

अस्मे ते बन्धुः पुषेयम्॥ (तु० यजु०४.२६)

सोमक्रयणी याज्या उच्यते। तपोऽग्निस्तापकत्वात् तस्य **तपसोऽग्नेस्तनूः** शरीरं शरीरभूतोऽ**सि** **प्रजापतेर्वर्णो**ऽसि वरणीया वा स्यात्। अथवा **'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा' 'प्रजापतिर्वै सर्वा देवताः'** (तै०ब्रा०३.३.७.३) इति सर्वदेवतात्मसामान्यादेवमुच्यते प्रजापतेर्वर्ण इति। प्रजापतेश्च वर्णभूता प्रजापतिरूपेत्यर्थः। या चैवंगुणा सा त्वा **सहस्रपोषं पुष्यन्ती** एकस्या अजायाः पारम्पर्येण अजासहस्रोत्पत्तिस्तां प्रतिपद्यमानाऽसौ। सोम क्रीणीहीति शेषः। त्वं सोमं **परमेणा**नेनाजाख्येन **पशुना** क्रयस्व। **अस्मे** वयं **ते** तव **बन्धु**भूता याज्ञे कर्मणि विनियोक्तृत्वात्। अस्मे ते बन्धुरित्येकत्वनिर्देशादहमित्यर्थः।

तस्यैव पठन्ति द्वितीयायामुदाहरणम्–

आ श्येनस्य जवसा नूतनेनास्मे यातं नासत्या सजोषाः।

हवे हि वामश्विना रातहव्यः शश्वत्तमाया उषसो व्युष्टौ॥ (ऋ०१.११८.११)

कक्षीवत आर्षस्। **आ** इत्युपसर्गो यातमित्याख्यातेन सम्बन्धयितव्यः। **श्येनस्य जवसा** जवेन वेगेन **नूतनेन** नवेन यादृशः प्रथमोऽश्रान्तस्य श्येनस्य वेगस्तादृशेन वेगेनेत्यर्थः। **अस्मे** अस्मान् प्रति **आयातमा**गच्छतम्। **नासत्या** नासत्यनामानौ। **सजोषा** व्यत्ययेनेदमेकवचनम्, सजोषसौ संप्रियमाणावित्यर्थः। कस्मादेवमुच्यते शीघ्रमायातमिति? उच्यते। **हवे हि**शब्दो यस्मादर्थे यस्मात् हवे आह्वयामि **वां** युवां हे **अश्विना** अश्विनौ। **रातहव्यो** दत्तहविष्कः सम्मनसा। अथवा रातहव्यः संकल्पितहविष्क उच्यते उपकल्पितहविष्कः सन्नित्यर्थः। **शश्वत्तमायाः** शाश्वतिकतमाया अतिशयेन नित्याया **उषसो व्युष्टौ** विवासनवेलायाम्।

तृतीयायाम्–

भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः।

भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद्वशाम॥ (ऋ०१.१६५.७)

इन्द्रमरुत्संवादे इन्द्रं मरुत आहुः। **भूरि** बहु वृत्रवधादि कर्म त्वं **चकर्थ** कृतवान्। तत्तु **युज्येभिर्युज्य**मानत्वाद् युज्याः सहाया उच्यन्ते, युज्यैः सहायै**रस्मे**ऽस्माभिः **समानेभिः** समानैस्त्वया **वृषभ** हे वर्षितः। केन गुणेन समानैः? उच्यते। **पौंस्येभिर्**बलनामैतत्, बलैः समानबलैरस्माभिरित्यर्थः। **भूरीणि हि** विनापि त्वया केवला एव बहूनि कर्माणि **कृणवाम** कृतवन्तः **शविष्ठः** हे अतिशयेन बलवन् **इन्द्र**! **क्रत्वा** कर्मणा न वाङ्मात्रेण वयं **मरुतः**। आमन्त्रिततत्वाभावात् छान्दसमनुदात्तत्वम्। **यद्** व्यत्ययेनैकवचनं बहुवचनस्य स्थाने यानि **वशाम** कामितवन्तो यानि नोऽरोचन्तेत्यर्थः।

चतुर्थ्याम्–

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।

अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥ (ऋ०३.३६.१०)

........भूरेर्बहुनः। षष्ठीश्रुतेरेकदेशमिति शेषः, द्वितीयार्थे वा षष्ठी, धनं विश्ववारं भूरि **अस्मे**ऽस्मभ्यमेव **शतं शरदः** शतं वर्षाणि **जीवसे** जीवनाय **धा** देहि **अस्मे**ऽस्मभ्यमेव च **वीरान्** पुत्रान् **शश्वतो** बहुनामेदम्, बहून् हे **इन्द्र शिप्रिन्** हनु नासिके वा ताभ्यां तद्वत्।

तस्य॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म।

स सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॒ इन्द्रो॑ अ॒स्मे आ॒राच्चि॒द् द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑यो॒तु॥ (ऋ०६.४७.१३)

तस्य वयं सुमतौ शोभनायां मतौ पालनबुद्धौ **यज्ञियस्य** यज्ञार्हस्य, किम्? स्याम इति यत् परस्तात् क्रियापदम्। न च केवलायां सुमतौ, किन्तर्हि? **अपि भद्रे** कल्याणे **सौमनसे** शोभनं मनः सुमनस्तदेव सौमनसम्। किं पुनस्तत्? दानबुद्धिः, तत्रापि वयमेव **स्याम**। पालनबुद्धिषु वयं पाल्या दानबुद्धिषु च सम्प्रदानभूता वयमेव स्यामेत्यर्थः। किञ्च **सुत्रामा** शोभनस्त्राता **स्ववान्** धनवान् आत्मवान् वा **इन्द्रोऽस्मे** **अस्मद्** अस्मत्त इत्यर्थः। **आराच्चिद्** आराच्छब्दो दूरवचनः, चिदप्यर्थे दूरे अपिशब्दात् सन्निकृष्टेऽपि यद् **द्वेषो** **द्वेष्यं** वाऽस्माकं रक्ष आदि **सनुतर**न्तर्हितनामेदम्, अन्तर्हितमेतद् **युयोतु** पृथक् करोतु अपनयत्वित्यर्थः।

षष्ठ्याम्-

आ नो॑ भर॒ भग॑मिन्द्र द्यु॒मन्तं॒ नि ते॑ दे॒ष्णस्य॑ धीमहि प्र॒रे॒के।

ऊ॒र्वइ॑व पप्रथे॒ कामो॑ अ॒स्मे तमा पृ॑ण वसुपते॒ वसू॑नाम्॥ (ऋ०३.३०.१९)

विश्वामित्रस्य। **नो**ऽस्माकम्। **आभर** आहर देहीत्यर्थः। किम्? **भगम्** भगशब्दः पुंलिङ्गो धनवचनः, धनं हे **इन्द्र**! कीदृशं भगम्? **द्युमन्तं** दीप्तिमन्तम्। **नि ते देष्णस्य धीमहि** निशब्दो धीमहीत्यनेन सम्बध्यते, तव स्वभूत**देष्णस्य** देयस्य भागस्य, षष्ठीश्रुतेरेकदेशमिति शेषः। निधीमहि निखनेमेत्यर्थः। **प्ररेके** यांगदानभोगातिरेके सतीत्यर्थः। कस्मात् पुनरेवं बहु याच्यते? **ऊर्व इव** ऊर्वो वडवाग्निः स इव **पप्रथे** विस्तीर्यते धनविषयः **कामः**। **अस्मे** अस्माकम्। **तमापृण** आपूरय हे **वसुपते** धनस्याधिपते **वसूनां** धनानाम्।

सप्तम्याम् '**सुगावो देवाः**' (तै०सं०१.४.४४.२; अथर्व०७.९७.४) इति सप्तदशे (निरु०१२.४२) व्याख्यास्यते।

पाथ इत्यनवगतमनेकार्थं च। तत् पुनरेतद् यथा व्याख्यातम्, '**पन्थाः पथतेर्वा**'[१] इत्यादौ। अन्तरिक्षं तावदुच्यते।

यत्रा॑ च॒क्रुर॒मृता॑ गा॒तुम॑स्मै श्ये॒नो न दीय॒न्नन्वे॑ति॒ पाथः॑।

प्रति॑ वां॒ सूर॒ उदि॑ते विधेम॒ नमो॑भिर्मित्रावरुणो॒त ह॒व्यैः॥ (ऋ०७.६३.५)

वसिष्ठस्यार्षम्। अस्याश्च प्रथमोऽर्धर्चः सौरः, द्वितीयो मैत्रावरुणः। तेन भिन्न एवैते वाक्ये। **यत्र** यस्मिन् नभसः प्रदेशे **चक्रुः** कृतवन्तः। **अमृता** देवा **गातुं** गम्यते येन मार्गेण गातुं गमनमार्गम्। **अस्मै** सूर्यायेति निर्देशः। अस्य सूर्यस्येत्यर्थः। तेनैवायं मार्गेणानतिक्रामन् मर्यादां **श्येनो न** श्येन हव **दीयन्नन्वेति** दीयतिरिति गतिकर्मा गच्छन् उदयात् प्रभृत्यास्तमयात् अन्वेति अनुगच्छति। **पाथो**ऽन्तरिक्षम्। एवमियं कर्मणा सूर्यस्य स्तुतिः। किञ्च **प्रती**त्ययं धात्वर्थानुवादी **वां** युवां सूर्ये **उदिते** अहन्यहनीत्यर्थः। **विधेम** विधतिः परिचर्यायां परिचरेमेत्याशास्महे। केन? **नमोभिः** स्तुतिभिः। **मित्रावरुणा** हे मित्रावरुणौ न शुष्केन हस्तेन। किं तर्हि? **उत हव्यै**रपि च हविर्भिश्च पुरोडाशादीभिः।

---

१ (निरु०२.२८, पततेर्वा इति युक्तं स्यात्)

अनेकार्थतां दर्शयन्नाह–**उदकमपी**त्यादि। पानात् पीयते हि तत्। सोमपीथ इति वा वचनस्य दर्शनात्। उदाहरणम्–

अ॒भि वो॑ दे॒वीं धियं॑ दधिध्वं॒ प्र वो॑ देव॒त्रा वाचं॑ कृणुध्वम्।

आ च॑ष्ट आसां॒ पाथो॑ न॒दीनां॒ वरु॑ण उ॒ग्रः स॒हस्र॑चक्षाः॥ (ऋ०७.३४.९,१०)

वशिष्ठस्य। **अभी**त्युपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियापदमध्याहार्यम्। अभिवदामि **वो** युष्मान् ऋत्विजः। **देवीं** देवसम्बन्धिनीमित्यर्थः। **धियम्**। कम्? यागाख्यं **दधिध्वं** धारयत कुरुतेत्यर्थः। **प्रो**पसर्गश्रुतेः पूर्ववदध्याहारः, **प्र**ब्रवीमि **वो** युष्मानेव। किम्? **देवत्रा** देवान् प्रति **वाचं** स्तुत्याख्यं **कृणुध्वं** कुरुत। कस्मात् पुनरेवमुच्यते यागं स्तुतिं च देवानां कुरुत इति? उच्यते। यस्माद् **आचष्टे** सामर्थ्याल्लुप्तोपममेतत् तदिदं कर्तव्यमित्याचष्ट इव जनेभ्यो ददत् **पाथ** उदकमा**सां नदीनां** सम्बन्धि। कोऽसौ? **वरुणो** मध्यमस्थान उत्तमस्थानो वा **उग्रो**ऽप्रसह्यः **सहस्रचक्षा** विद्युद्भी रश्मिभिर्वा बहुदर्शनः।

अन्नमपीत्यादि। **पानादेव** पीतेरेवाभ्यवहारार्थस्य।

वन॑स्पते रश॒नया॑ नि॒यूया॑ दे॒वानां॒ पाथ॒ उप॑ वक्षि वि॒द्वान्।

स्वदा॑ति दे॒वः कृ॒णव॑त् ह॒वींषि॒ अव॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी हवं॑ मे॥ (ऋ०१०.७०.१०)

सुमित्रस्यार्षम्। **वनस्पते रशनया** रज्वा **नियूय देवानां पाथः** पश्वाख्यम्। **उपवक्षि** समीपं वह प्रापय **विद्वान्** जानन् स्वमधिकारं भक्ततां वास्माकम्। कस्मादेवमुच्यते वक्षीति? यस्मात् **स्वदाति** आर्स्वादयति सर्वो **देवः**। **कृणवत्** कृतवांश्च **हवींषि** यजमानः। किं च **अवताम्** अवतिर्गतिकर्मा गच्छतां **द्यावापृथिवी** द्यावापृथिव्यौ **हवमा**ह्वानं **मे** मम स्वभूतम्।

सवीमनीत्यनवगतम्। **प्रसव** इत्यवगमो वर्णव्यापत्तिना। उदाहरणम्–

दे॒वस्य॑ व॒यं स॑वि॒तुः सवी॑मनि॒ श्रेष्ठे॑ स्याम॒ वसु॑नश्च दा॒वने॑।

यो विश्व॑स्य द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदो नि॒वेश॑ने प्रस॒वे चासि॒ भूम॑नः॥ (ऋ०६.७१.२)

भरद्वाजस्य। **देवस्य** दानादिगुणस्य **वयं सवितुः सवीमनि** प्रसवेऽभ्यनुज्ञाने **श्रेष्ठे**ऽत्यन्तप्रशस्ये **स्याम** भवेम **वसुनश्च** धनस्य च **दावने** दाने? त्वं देव सवितः सर्वकर्मसु नित्यमभ्यनुजानीया धनं च दद्या इत्याशास्महे। कीदृशः? उच्यते। **यस्त्वं विश्वस्य** सर्वस्य **द्विपदो** मनुष्यादेर्**यश्चतुष्पदो** गवादेर्**निवेशने** स्वापाय व्यवस्थापने **प्रसवे** चाभ्यनुज्ञाय **च** सर्वकर्म **असि** अस्तिर्भवतिना समानार्थः शुद्धोऽपि चात्र पूर्वार्थे द्रष्टव्यः। **भूमनो** भूम्नोऽत्यन्तबहुनः।

सप्रथा इत्यनवगतम्। सर्वतः पृथुरित्यस्यार्थे द्रष्टव्यः। उदाहरणम्–

त्वम॑ग्ने स॒प्रथा॑ असि॒ जुष्टो॒ होता॒ वरे॑ण्यः।

त्वया॑ य॒ज्ञं वि त॑न्वते॥ (ऋ०५.१३.४)

सुतम्भरस्यार्षम्। हे **अग्ने सप्रथाः** सर्वतः पृथुरसि प्रियश्च **होता वरेण्यो** वरणीयः। **त्वया** च हेतुना तव प्रसादेनेत्यर्थः। **यज्ञं** सर्वयष्टारो **वितन्वते** मनुष्या वितन्वते कुर्वन्तीत्यर्थः।

विदथानीत्यनवगतम्। **वेदनानि** विज्ञानानीत्यवगमः। उदाहरणम्-

होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया।

विदथानि प्रचोदयन्॥ (ऋ०३.२७.७)

विश्वामित्रस्य। अग्नीषोमीयप्रणयनेऽग्निरुच्यते। **होता देवो अमर्त्यो**ऽमरणधर्माऽग्निः **पुरस्तात्** सोमस्य प्रणीयमानस्य **एति** गच्छति **मायया** प्रज्ञया **विदथानि** विज्ञानानि स्वकर्मविशेषणानि ऋत्विजां **प्रचोदयन्** इदमिदानीं कर्तव्यमिति प्रेरयन्निव।

श्रायन्त इत्यनवगतम्। श्रयतेः शतृप्रत्यये गुणायादेशयोः कृतयोरुपधाया अकारस्य दीर्घत्वं द्रष्टव्यम्। **समाश्रयन्त** इत्यवगमः। समाश्रिता वेति प्रासिविकल्पः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथाष्टमः खण्डः।

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत। वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ (ऋ०८.९९.३) समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते। अपि वोपमार्थे स्यात्। सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्त इति। सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः। स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च। तं वयं भागमनुध्यायाम्। ओजसा बलेन। ओज ओजतेर्वा। उब्जतेर्वा। आशीराश्रयणाद्वा। आश्रपणाद्वा। अथेयमितराशीराशास्तेः। '**इन्द्राय गाव आशिरम्।**' (ऋ०८.६९.६) इत्यपि निगमो भवति। सा मे सत्याशीर्देवेषु। (तै०सं०३.२.७) इति च। **यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः॥** (ऋ०१.१६३.७) यदा ते मर्तो भोगमन्वापदथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीः। जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृणातिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा। **मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से॥** (ऋ०१०.४.४) मूढा वयं स्मोऽमूढस्त्वमसि। न वयं विद्मो महत्वमग्ने त्वं तु वेत्थ। शशमानः शंसमानः। **'यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति।'** (ऋ०१.१५१.७) इत्यपि निगमो भवति। **देवो देवाच्या कृपा॥** (ऋ०१.१२७.१) देवो देवान् प्रत्यक्तया कृपा। कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा॥८॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।

वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ (ऋ०८.९९.३)

नृमेधो नामाङ्गिरसस्तस्यार्षम्। **श्रायन्त** समाश्रयन्त समाश्रिता वा सन्तः। के? सामर्थ्याद् रश्मयः। **इव** सम्प्रत्यर्थे तं **सूर्यम्**। अथवा सूर्यमिव रश्मय इन्द्रं मरुतं समाश्रयन्त समाश्रिता वोपतिष्ठन्त इति शेषः। **विश्वा** विश्वानि सर्वाणि **इत्** पदपूरणः, **इन्द्रस्य** स्वभूतानि विभक्ष्यमाणा इति शेषः। कुत एतत्? परस्ताद् विभागस्य करणवचनात्। ये विभक्तुमिच्छन्तो वोपतिष्ठन्त इत्यर्थः। उपस्थाय च **भक्षत** विभजन्ते। किम्? **वसूनि** धनानि

उदकलक्षणानि। कस्मै? **जाते** जनिष्यमाणे च जायमानाय च प्राणिजाताय। **ओजसा** बलेन सामर्थ्याख्येन च। यानि च ते विभजन्ते तानि तदायत्तत्वात् तेषामिन्द्र एव विभजतीत्याह। स यथा तानि धनानि विभजति तथा यस्तत्रास्माकमाभजति तं वयं **भागं** नशब्द उपमार्थत्वात् सम्प्रत्यर्थे **प्रतीत्येष** नु इत्येतस्य स्थाने नु **दीधिम** तं वयमनुध्यायाम इति।

ओजश्शब्दं निगमप्रसक्तं निराह। **ओजतेर्वा** नैरुक्तस्य धातोः सामर्थ्यकर्मणो वा **उब्जतेर्वा** न्यग्भावार्थस्य ओजो हि सामर्थ्यं वृद्धिर्वा तेजसा न्यग्भावयति विश्वम्।

आशीरित्यनवगतमनेकार्थं च। यजमानस्य व्रतधुङ् **'नाशिरं दुह्रे न तपन्ति'** (ऋ०३.५३.१४) इति दर्शनात्। **आश्रयणात्** सोमेनाश्रपणाद्वा होमार्थस्य। आङ् च द्योतकलक्षणः, ईषच्छ्रपणात्। **इतरा** प्रार्थनारूपा आशिषमाशास्त इति सकारान्ताद् आशासेर्धातोरिच्छार्थस्य क्विप्येव। उदाहरणम्–

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु।

यत्सीमुपह्वरे विदत्॥ (ऋ०८.६९.६)

प्रियमेधस आर्षम्। **इन्द्राय वज्रिणे** तादर्थ्य एषा चतुर्थी, इन्द्रस्य वज्रिणोऽर्थाय **गाव आशिरम्** आशीः सोमस्य श्रपणं दधि कार्येण सम्बन्धात् कारणं व्यपदिश्यते। आशिरो दध्नः कारणभूतं **दुदुह्रे** दुह्यते **मधु** स्वादु पय इत्यर्थः। **यत्सीम्** सर्वत **उपह्वरे** गह्वरे ऊधसः प्रदेशे दोग्धा **विदद्** विन्दति लभते।

इतरोदाहरणम्–

सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात्। शृण्वन्तु ते समर्धयन्तु। जुष्टाज्जुष्टतरा पण्यात्पण्यतरा। अहेडता मनसानुगच्छ यज्ञो देवान् गच्छतु॥ (मैत्रा०सं०१.४.५; मान०श्रौ०१.४.२.१७)

सा देवैर्ज्ञायतामित्यर्थः। **जुष्टाद्** यत् किञ्चित् जुष्टं प्रियं तस्माज्जुष्टतरा प्रियतरा। **पण्यात् पण्यतरा** यत् किञ्चित् पण्यं सुवर्णमणिमुक्तादि ततोऽपि पण्यतरा प्रियत्वाद् अत्यन्तग्राह्येत्यर्थः। त्वमपि प्रस्तर **अहेडता** हेडतिः क्रुध्यतिकर्मा अक्रुध्यता **मनसा** देवान् प्रति याहि। **यज्ञो**ऽपि वायं **देवान्** सर्वदैव चायमस्मदीयो यज्ञो देवान् प्रति **गम्यादि**त्याशासे अदः। तच्च सूक्तवाकफलं मा मां गच्छतु सम्भवत्वित्यर्थः।

अजीगरित्यनवगतं धात्वर्थसंस्कारश्च। कथम्? जिगर्तिनैरुक्तो धातुर्निगरणार्थो गृह्णात्यर्थो वा। उदाहरणम्–

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।

यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः॥ (ऋ०१.१६३.७)

दीर्घतमस आर्षम्। अश्व उच्यते। **अत्र** स्थितोऽत्र वा काले **ते** तव **रूपमुत्तम**मत्यन्तोत्कृष्टम् **अपश्यं** दृष्टवानहम्। **जिगीषमाणं** जेतुमिच्छन्तं सर्वम्। **इषो**ऽन्नस्य हविराख्यस्य सम्बधिनि **पदे** स्थाने वेद्याख्ये **गोः** पृथिव्या अवयव इति शेषः। किञ्च **यदा ते** तव **मर्तो** मनुष्यः। **अनु** इत्येतद् आनडित्येतेन सम्बध्यते भोगं वा हतलक्षणमानड् अनुसंव्याप्नोति तं वाहयतीत्यर्थः। यदेति श्रुतेस्तदेत्यध्याहार्यम्। **आद्** अथ तदा **इत्** पदपूरणः, श्रान्तः सन् **ग्रसिष्ठ**स्त्वमतिशयेन ग्रसिता भक्षयिता **ओषधीरजीगः** अवगिरसि अभ्यवहरसि गृह्णासि भक्षयसीत्यर्थः।

अमूर इत्यनवगतम्। मुहेर्वर्णव्यापत्त्या **अमूढ** इत्यवगमः। उदाहरणम्-

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से।

शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन् रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्॥ (ऋ० १०.४.४)

त्रितस्यार्षम्। **मूरा** मूढाः। हे **अमूर** अमूढ **न वयम्**। किम्? न वयमिति साकाङ्क्षत्वाद् अत्र वित्स इति अर्धर्चान्तस्थो विदिरनुषक्तव्यः, न वयं विद्मः। **चिकित्वः** हे चेतनवन्। किं न विद्मः? **महित्वं** माहात्म्यं तव हे **अग्ने**। **त्वमङ्गे**ति निपात एवार्थे, त्वमेव **वित्से**। किञ्च **शय** इति स्थानार्थः, आमाशयो जलाशय इति यथा स्थाने सामर्थ्यात्। **वव्रिः** रूपनामेदं सामर्थ्याच्चात्र अन्तर्नीतमत्वर्थो द्रष्टव्यः, आहवनीयाख्येन रूपेण रूपवान् भवान्। **चरति जिह्वया** ज्वालाख्यया **अदन्** हवींषि भक्षयन्। किञ्च **रेरिह्यते 'लिह-आस्वादने'** (धा०२.६) अत्यर्थं लेढि आस्वादयति दीर्घप्रसृतया ज्वालया **युवतिमा**त्मना मिश्रयतीमाहुतीमित्यर्थः। **विश्पति**र्विशां मनुष्याणामधिपतिः **सन्**।

शशमान इत्यनवगतम्। **'शंस स्तुतौ'** (धा०१.७२९) इत्यस्य शंसन् इत्यवगमः। ततश्च **शंसमान** इत्यपपाठः। उदाहरणम्-

यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति कविर्होता यजति मन्मसाधनः।

उपाह तं गच्छथो वीथो अध्वरमच्छा गिरः सुमतिं गन्तमस्मयू॥ (ऋ० १.१५१.७)

दीर्घतमसः। **यो वां** युष्मदः सम्प्रदाने चतुर्थी भवति द्विवचनमेतत्, युवाभ्यां मित्रावरुणाभ्याम् **यज्ञैः** ससम्यर्थ एषा तृतीया, यज्ञेषु **शशमानः** शंसन् स्तुवन् **दाशति** ददाति। किम्? सामर्थ्यात् हवींषि। **कविर्मे**धावी **होता** आह्वाता देवानां **यजति** यागं च करोति। **मन्मसाधनः** मननमनुष्ठेयपदार्थविषयज्ञानं तत्साधनभूतं यस्यास्ति स मन्मसाधनोऽधिकृत इत्यर्थः। तस्य किम्? उच्यते। **उपे**त्येतद् गच्छथ इत्येतेन सम्बध्यते, **अह**शब्द एवार्थे पदपूरणो वा **तमेवोपगच्छथ** नान्यम्। उपगम्य च **वीथो** भक्षयथस्तयैव नान्यस्य। **अध्वरम्** अध्वरशब्देनात्र सम्बन्धात् हविरुच्यते, अध्वरसम्बन्धि हविरित्यर्थः। यत एवमतोऽहमपि तथाभूत एवेति ब्रवीमि। अष्टप्रातप्राप्तुं **गिरो** मदीयां स्तुतिं शोभनां प्रज्ञां वा प्रति **गन्तं** गच्छन्तं हे मित्रावरुणौ **अस्मयू** अस्मत्कामौ मामनुग्रहीतुमित्यर्थः।

देवो देवाच्या कृपा इत्येते अनवगते। देवशब्दस्योपादानमनयोरेव सम्प्रतिपत्त्यर्थम्। ततो भूते क्तो द्रष्टव्यः। देवामुनयेत्यवगमः। स्पष्टतरमाह देवानक्तया चेति **'अञ्चोऽनपादाने'** (अष्टा०८.२.४८) इति निष्ठानत्वम्। **कृप् कृपते**रिति अकृतलत्वस्य ग्रहणम्। **कल्पतेर्वा** तस्यच्छान्दसत्वात् कर्मणि को विकल्प्यते। सापीति कवेरभिधानतया- पेक्षितव्यमित्यवगमः। उदाहरणम्-

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।

घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः॥ (ऋ० १.१२७.१)

परुच्छेपस्यार्षम्। **अग्निं होतारं मन्ये** मन्यतिरर्चतिकर्मा, अर्चामि स्तौमीत्यर्थः। कीदृशम्? **दास्वन्तं वसुं** वसुमिव प्रशस्यं धनवन्तं वा। **सूनुं** पुत्रं **सहसो जातवेदसं** जातधनं **विप्रं न** मेधाविनमिव। कम्? सामर्थ्यात्

कंचिद् **ब्राह्मणं जातवेदसं** जातविद्यम्। **या ऊर्ध्वया** अनावृत्तया वैश्वानर्य्या धिया अभिन्नरूपयेत्यर्थः। **स्वध्वरो** दैव्यहोतृत्वे वर्तमानत्वादनुष्ठेयतया शोभनोऽध्वरो यस्य सुयज्ञो **देवो** दानादिगुणः। **देवाच्या** उत्कृष्टत्वाद् देवान् प्रति अञ्चितया सुगत्या। **कृपा** वा स्तुत्या तृतीयाश्रुतेः स्तूयमान इति शेषः। किं करोति? उच्यते। **घृतस्य** आहुत्यर्थस्य **विभ्राष्टिं** विभ्रंशमनुवष्टि **'वश कान्तौ'** (धा०२.७०) विधिक्रमेण कामयते। **शोचिषा** ज्वालालक्षणेन जिह्वासमूहेन लेलिह्यमानमित्यर्थः। **आजुह्वानस्य** यथाविधिमन्वाहूयमानस्य **सर्पिष** आज्यविशेषणमेतत्, सर्पणस्वभावस्य विलीनस्याधिश्रयणेन संस्कृतस्येत्यर्थः।

विजामातेत्यनवगतम्। कोऽत्रानवगमः? उपसर्गस्यासमाप्तार्थता। जाशब्दोऽपि जायते जन्यते वा तवातदित्यवपत्यर्थ..........त्यनवगमः। समाप्तगुणपरोऽभिधेयः। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य अष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

अश्र॑वं॒ हि भू॑रि॒दाव॑त्तरा वां॒ विजा॑मातुरु॒त वा॑ घा स्या॒लात्। अथा॒ सोम॑स्य॒ प्रय॑ती यु॒वभ्या॒मिन्द्रा॑ग्नी॒ स्तोम॑ जनयामि॒ नव्य॑म्।। (ऋ०१.१०९.२) अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वां विजामातुः। असुसमाप्ताज्जामातुः। विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते। असुसमाप्त वरोऽभिप्रेतः। जामाता जा अपत्यं तन्निर्माता। उत वा घा स्यालात्। अपि च स्यालात्। स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः। स्याल्लाजानावपतीति वा। लाजा लाजतेः। स्यं शूर्पं स्यतेः। शूर्पमशनपवनम्। शृणातेर्वा। अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्रग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्। नवतरम्। ओमासः इत्युपरिष्टाद् (निरु०१२.४०) व्याख्यास्यामः।।।९।।

अश्र॑वं॒ हि भू॑रि॒दाव॑त्तरा वां॒ विजा॑मातुरु॒त वा॑ घा स्या॒लात्।

अथा॒ सोम॑स्य॒ प्रय॑ती यु॒वभ्या॒मिन्द्रा॑ग्नी॒ स्तोम॑ जनयामि॒ नव्य॑म्।। (ऋ०१.१०९.२)

कुत्सस्यार्षम्। **हिशब्दो** यस्मादर्थे यस्मादश्रौषम**श्रवं** श्रुतवानहम्। किम्? उच्यते। **भूरिदावत्तरा** बहुनो धनस्य दातृतरौ **वां** युवाम्। कुतो बहु दातृतरौ? **विजामातु**र्धनादन्ये कुलीनत्वादयो विगता जामातृगुणा यस्मात् सोऽसमाप्तगुणोऽपि जामाता क्रीतापतिरुच्यते। स हि निर्गुणत्वाद् धनेनोपप्रलम्भन्निति शतेन बहु ददाति ततोऽपि युवां बहु दातृतरौ। न विजामातुरेव केवलात्। किं तर्हि? **उत वा घा स्यालाद्** वाशब्दश्चार्थे घः पदपूरणः, अपि च स्यालात्। स्यालो हि भगिनीप्रियचिकीर्षया भगिनीभर्तुरतिबहु ददाति। ततोऽपि युवां बहुदातृतरौ। **अथ** एतस्मात् कारणात् **सोमस्य प्रयति**र्दानार्थः, ततो भावे क्तिनि तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्ण एतद्रूपम्। सहार्थे च तृतीयाप्रत्ययः। प्रदानेन सहेत्यर्थः। **युवाभ्यां** तादर्थ्य एषा चतुर्थी, युष्मदर्थं हे **इन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि।** कीदृशम्? **नव्यं** स्वार्थे तद्धितः, नवमन्यैरेवं कृतमित्यर्थः।

शश्वन्नित्यम्। **दाक्षिणाजा** दक्षिणस्यां दिशि देशे अजायन्त इत्याङ्पूर्वस्य जनेर्डः (अष्टा०३.२.९७) प्रत्ययः, दक्षिणजा[१] एव दाक्षिणाजाः **प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात्** (अष्टा०५.३.३८) स्वार्थिकोऽणप्रत्ययो द्रष्टव्यः। **क्रीतापतिमाचक्षते**। एवं प्रसिद्धो ह्यभिधानधर्मो दक्षिणापथे क्वचिद्देशे। इव सम्प्रत्यर्थे, सुष्ठु समाप्तगुणत्वात् सुसमाप्तो निर्माता तनयं यत् पितुरपि त्वं तदसौ अन्नपानभोगादिना निर्मिमीते एवंशीलः संभोगेन हि सम्पूर्णो भवति। अतोऽसौ पितुः कन्यापितुर्जामाता भवति। **स्याल आसन्नः** सहयोगेन सम्बन्धो नान्येभ्यः पि ....सदेः स्याल इति। निदानं नाम ग्रन्थस्तद्विदो **नैदाना** मन्यन्त इति शेषः। तथाहि तस्मिन् सर्वा विश्वासः स्यालाद्वा शूर्पाद्वा विवाहकाले **लाजानावपतीति** गृह्यमाणस्मरणाद् वाक्यार्थे पदं पदवचनाद् द्रष्टव्यम्। एवमेतौ निगप्रसक्तौ जामातृस्यालशब्दावुक्तौ। तत्प्रसङ्गादाह **राजतेर्लाजाः**। शोभन्ते हि ये नीलशमीपलाशमिश्रा विशेषेण तस्यां वेलायाम्। **शूर्पं स्यते**र्धातोः, तेन ह्यन्नस्य कणतुषविप्रमोकादिना तण्डुलसमिदादेरन्नं क्रियते तन्निर्वर्त्यत इत्यर्थः। पूयतेर्वा (निरु०१२.४०) पूयते तेन कणतुषादिशूर्पमशनस्य प्रत्यासन्नतण्डुलसमिदादेः पवनं शोधनम्। **शृणातेर्वा** हिंस्यन्ते मक्षिकादयः क्षुद्रप्राणिनः।

ओमास इत्यनवगतम्। तत्पुनः प्रसङ्गेन सप्तदशे व्याख्याते **'ओमासश्चर्षणीधृतः'** इति

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये एकादशस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः।

१ (दक्षिणाजा एव दाक्षिणाजाः इत्युचितम्)

॥अथ षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

अथ दशमः खण्डः।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः॥ (ऋ०१.१८.१) सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः। कक्षीवान् कक्ष्यावान्। औशिजः उशिजः पुत्रः। उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते॥१०॥

सोमानमित्यनवगतम्। 'षुञ् अभिषवे' (धा०५.१) इत्यस्य मनिन्प्रत्यय एतद्रूपं सोमानम्। **सोतारमित्यवगमः**। उदाहरणम्-

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः॥ (ऋ०१.१८.१)

मेधातिथेः। **सोमानं** सोतारम्। कस्य? सामर्थ्यात् सोमानाम्। **स्वरणं 'स्वृ शब्दोपतापयोः'** (धा०१.९५७) शब्दयितारमुच्चारयितारं च। कस्य? सामर्थ्यात् स्तुतीनां यष्टारं स्तोतारं चेत्यर्थः। **कृणुहि** कुरु मां बहुधनप्रदानेन। बहु धनं देहि येनाहं यष्टा स्तोता च स्यामित्यभिप्रायः। अथवा सर्वत्र यः शब्द्यते स स्वर्यत इति स्वरणः ल्युट् कर्मसाधनः प्रकाश्यत इत्यर्थः। कतमोऽसौ कक्षीवान्? उच्यते। **य औशिजः** पौत्रः। अथवा **कक्षीवन्तमिति** न ऋषिनाम न चोपमानम्। किं तर्हि? आत्मनो विशेषणम्। उशिक्शब्दोऽपि मेधाविनाम। योऽहं कर्मलक्षणेन मनुष्यावयवभूतेन तेन तद्वान् **औशिजः**। उशिजश्च मेधाविनः कण्वस्य पुत्रो मेधातिथिर्नाम। यच्छतेस्यदध्याहारः। तं मां सोमानं स्वरणं च कुर्विति सम्बन्धः। अथवा हस्त्यश्वश्च कक्ष्यादिस्तद्वान् ईश्वर इत्यर्थः। उशिज **उशिग्वष्टेः** कान्तो ह्यसौ।

अनवायं किमीदिने इत्यनवगते। पूर्वस्यानवयवत्वमव्यवेयमिति वावगमः। परस्य **किमिदानीं** कस्य किं छिद्रमिति चरति किमिदं वर्तत इति वा चरति यः स उच्यते। साधुजनवैरी सदा विद्धबुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथ एकादशः खण्डः।

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ (ऋ०७.१०४.२) इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम्। अघं हन्तेः। निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति। तपुस्तपतेः। चरुर्मृच्चयो भवति। चरतेर्वा। समुच्चरन्त्यस्मादापः। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे। क्रव्यादे क्रव्यमदते। घोरचक्षसे घोरख्यानाय। क्रव्यं विकृताज्जायत इति नैरुक्ताः। द्वेषो धत्तम्। अनवायमनवयवम्। यदन्ये न व्यवेयुरद्वेषस इति वा। किमीदिने

किमिदानीमिति चरते। किमिदं किमिदमिति वा। पिशुनाय चरते। पिशुनः पिंशतेः विपिंशतीति॥११॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ (ऋ०७.१०४.२)

वसिष्ठस्य। हे **इन्द्रासोमौ अघशंसं** पापं परेभ्यः शंसतीत्यघशंसस्तं पापस्यास्माकं शंसितारम्। **अभ्यु**पसर्गस्तच्छ्रुतेश्च योग्यक्रियापदाध्याहारः कार्यः। तेन अभिसन्तापयतमिति शेषः। **अघम्** अन्तर्नीतमत्वर्थमेतत्, अघवन्तम् अघात्मकं वाघं केवलं पापकमित्यर्थः। स च **तपुः** तपेः कर्मण्युप्रत्यये अभिसन्तप्यमान इत्यर्थः। **ययस्तु 'यसु प्रयत्ने'** (धा०२.१०४) आयस्यतु क्षीयतामित्यर्थः। तप उच्यते। **चरुरग्निवान्** अग्निसंयुक्त इत्यर्थः। क्षीणाय **ब्रह्मद्विषे** तस्मै ब्राह्मणद्विषे **क्रव्यादे** क्रव्यं मासं तदत्तीति क्रव्यात् तस्मै पृष्ठमांसादिने परोक्षाक्रोशक इत्यर्थः। लोकेऽपि यः परोक्ष आक्रोशति च उच्यते पृष्ठमांसानि खादतीति। **घोरचक्षसे** चक्षिर्दर्शने घोरदर्शनाय। **द्वेषः** सर्वलोकस्य द्वेष्यबन्धस्तं **धत्तम्**। कीदृशम्? **अनवायम्** अनवयवं सकलमित्यर्थः। अव्यवेयं वा अनवगमनीयं वा। अनवगमनीयं यद् द्वेषः सन्तः सुहृदो नेतुं न शक्नुयुरित्यर्थः। **किमीदिने** पिशुनाय।

अघं हन्तेः पूर्वस्याडो ह्रस्वत्वेन। आभिमुख्येन हन्ति श्रेयसो विनाशयतीत्यर्थः। चरुशब्दो मृन्मय्यां स्थाल्यामधिकरणे आधेये चरावपीति द्रोणादिशब्दवद् उभयत्र प्रसिद्धोऽविशेषात्। मुख्यं चरतेरर्थसमवायं दर्शयति **समुच्चरन्त्यस्मात्** तस्मादाप इति। **विकृत्तात्** प्रदेशाज्जायत इति विकृन्ततः **क्रव्यमिति** नैरुक्ताः। लोकस्तु समुदायप्रसिद्ध्या संस्मरन् क्राव्यादमाचष्टे। अनवायमव्यवेयमिति व्याख्यातम्। विशतेर्हिंसार्थस्येति केचित्। स हि हिनस्ति अनर्थेन योजयति।

अमवानित्यनवगतमनेकार्थं च। अमात्य इति वा अभ्यमनमिति वा आत्मवानिति वावगमः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन। तृष्वीमनु प्रसितिं दूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ (ऋ०४.४.१) कृणुष्व पाजः। पाजः पालनात्। प्रसितिमिव पृथ्वीम्। प्रसितिः प्रसयनात्, तन्तुर्वा जालं वा। याहि राजेवामात्यवान्। अमात्यवान्। अभ्यमनवान्। स्ववान्वा। इराभृता गणेन। गतभयेन हस्तिनेति वा। तृष्व्यानु प्रसित्या दूणानः। तृष्वीति क्षिप्रनाम, तरतेर्वा। त्वरतेर्वा। असिता असि। विध्य रक्षसस्तपिष्ठैस्तप्ततमैस्तृप्ततमैः। प्रपिष्ठतमैरिरिति वा। **यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये॥** (ऋ०१०.१६२.२) अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातः। दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः। क्रामतेर्वा। **'अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा।'** (तु०अथर्व०१२.२.२८) अतिक्रममाणा दुर्गतिगमनानि सर्वाणि।

अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते। व्याधिर्वा। भयं वा। **'अप्वे परेहि।'** (ऋ०१०.१०३.१२) इत्यपि निगमो भवति। अमतिरमामयी मतिरात्ममयी। **'ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि।'** (अथर्व०७.१४.२) इत्यपि निगमो भवति। श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम। आशु अष्टीति॥१२॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।

तृष्वीमनु प्रसितिं दूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ (ऋ०४.४.१)

वामदेवस्य। अग्निरुच्यते। **कृणुष्व** कुरु **पाजो** बलं ज्वालासमाख्यम्। **प्रसितिं न** प्रसितिमिव प्रसितिश्च वागुरा जालं वा तद्वत्। **पृथिवीं** विस्तीर्णां कृत्वा **याहि** रक्षांसि प्रतीति शेषः। क इव? उच्यते। **राजेव** यथा राजा. **अमवान्** ससहायः। अथवा ह्यमनं रोग उच्यते, कर्तव्यैः शत्रूणां रोगैस्तद्वत्। दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः। आत्मवान् वायत्तवानित्यर्थः। **इभेन** इरा अन्नं तद्भृतेन सुपुष्टेन गणेन बलसमूहेन गतभयेन वा शूरेण हस्तिना शत्रून् प्रति विश्वस्तो यायात्। एवं **तृष्वीमनुप्रसितिमित्युभयत्र** व्यत्ययेन द्वितीयैकवचनं तृतीयैकवचनस्य स्थाने। तृष्वीति क्षिप्रनाम. तृष्व्या क्षिप्रया। कया? सामर्थ्याद् गत्या। कीदृश्या? अनुप्रसित्या अनुबन्धया सन्ततयेत्यर्थः। गत्या च **दूणानो** दूणातीति वधकर्मा घ्नन्। तत्रैकवाक्यतायै सुखप्रतिपत्त्यर्थं यस्मात्तस्मादित्यध्याहार्यम्। **यस्मादस्तासि** तृत्रयं साधुकारिणि साधु क्षेप्तासि इषूनिति शेषः। तस्मात् तै**र्विध्य** ताडय **रक्षसस्तपिष्ठै**स्तापयितृतमैरतिशयेन तापकैर्दीप्ततमैर्वा अतिशयेन श्लक्ष्णैः। तृप्तं मूढमुच्यते प्रविष्टं श्लक्ष्णं वाजः पानात्।

अमीवेत्यनवगतम्। हिंसितारो गौर्वाभिधेयाः। ततश्च पूर्वमन्त्रोक्तेन **अभ्यमनेन** एतत् पदं व्याख्यातम्। अतो**ऽभ्यमनवान्** इत्यवगमः। उदाहरणम्–

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।

अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ (ऋ०१०.१६२.२)

रक्षोहा नाम ब्रह्मणः पुत्रस्तस्यार्षम्। गर्भरक्षणार्थे कर्मणि विनियोगः। स्त्री उच्यते। **यस्ते** तव **गर्भम् अमीवा** हिंसिता रोगभूतो **दुर्नामा** पापः कृमिरिति नाम यस्य स कृमिः **योनिमाशये** आस्थित वा आशेते वा तिष्ठति हि। तस्य किम्? उच्यते **अग्निस्तं ब्रह्मणा**ऽनेन मन्त्रलक्षणेन **सह** अग्निश्च ब्रह्मा चेत्यर्थः। **निरित्ययमनीनशदि**त्येतेन सम्बध्यते। **क्रव्यादं** मांसभक्षं निर्मूलं नाशयतु।

निर्वचनप्रसक्तमाह–**क्रव्ये** मांसे **मेद्यति** स्निह्यति गृध्यतीत्यर्थः। **क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मणो** हिंसार्थस्य सरणकर्मण इति पाठान्तरम्। **क्रामतेर्वे**ति तस्यैव धातोः स्वार्थवृत्तित्वेन पुनरुपन्यासः, हिनस्ति धावति वा **क्रामति वा।**

दुरितमित्यनवगतम्। किमत्रानवगतं यावता एतेर्भावे क्तः, गतिर्गमनमित्यर्थः। तस्य दुःपापत्वमेव द्योतयति पापगतिर्दुरितं भवेत्। यदि पङ्गुवामनखञ्जादीनां गतिर्दुरितमित्युच्यते। यद्वा क्रिमिकीटपतङ्गत्वादिप्राप्तिरूपा दुर्गतिर्दुरितमुच्यते। तत्र धात्वर्थमात्रकुत्सायां नेह किञ्चिदनवगतं स्यात्। अस्ति खलु दुर्गतिप्रापककारणभूतं कर्म। दुर्गतिर्गम्यते येन येन तद् दुरितमिहाभिप्रेतम्। तच्च दुर्गतिशब्देनैवाभिधातुं शक्यते न दुरितमित्यनेनानवगतम्। तदेतल्ल्युटा दर्शयति यावदुक्तं स्याद् **दुर्गतिर्गमनानि** तावद्दुरितानीति। उदाहरणम्–

वैश्वदेवीं सूनृतामारभध्वं शुद्धा भवन्तो यज्ञियासः पावकाः।

अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥ (तु०अथर्व०१२.२.२८)

विश्वेषां देवानां सम्बन्धिनीं **सूनृतां** सत्यां प्रियां च। एवंभूता हि वाक् सूनृतोच्यते। प्रियां सत्यां वाचं स्तुतिमित्यर्थः। **आरभध्वमुपक्रमध्वं** वक्तुम्। तया च **शुद्धाः** पूताः प्रकर्षोऽत्र द्रष्टव्यः। स्तोकेनापि पापेनासंबद्धा इत्यर्थः, **भवन्तो यज्ञियासो** यज्ञसम्पादिन ऋत्विजो यूयम्। वयमप्य**तिक्रामन्तो दुरितानि** दुर्गतिः कुत्सिता अध गतिर्गम्यते यैस्तानि पापानि **विश्वा** सर्वाणि **शतं हिमाः** हेमन्तः शतं वर्षाणीत्यर्थः। **सर्ववीराः** सर्वैर्वीरैः पुत्रैः पौत्रैश्चोपेता **मदेम** मोदेमेत्याशास्महे।

अप्वेत्यनवगतम्। अपपूर्वस्य वेतेरन्तर्नीतण्यर्थस्य एतद्रूपम्। **अपवाय** इत्यवगमयति। सुखं प्राणांश्चेत्यवगमः। यद् यस्माद् एनया वाचा शब्दवाच्यया **विद्धस्ताडितः**, ताडिस्सम्बन्ध इत्यर्थः। दृष्टव्याधिसम्बन्धोऽपविद्धो गुरुणा विद्धाङ्ग उपमीयते प्रमीयत इत्यर्थः। अतो **व्याधिजातिर्वा स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्।** उदाहरणम् **'अमीषां चित्तम्'** (ऋ०१०.१०३.१२) इति प्रसङ्गेन चतुर्दशे (निरु०९.३३) व्याख्यास्यते।

अमतिरित्यनवगतम्। **अमामयी**त्यस्यार्थवचनम्। **आत्ममयी** अततेर्वाऽमतेर्वा अमतिशब्द इति निर्दिष्टः। मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद् दीप्तिरात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा। अमतिर्दीप्तिरभिधेया। उदाहरणम्–

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।

अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि।

हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः॥ (अथर्व०७.१४.१, २)

नकुलस्यार्षम्। **अभी**त्ययमर्चामीत्यनेन सम्बध्यते। **त्यं** तं **देवं** दानादिगुणम्। **ओण्योर्द्यावापृथिव्योर्द्वयोरपि** मध्ये **कविक्रतुं** क्रान्तकर्माणं क्रान्तप्रज्ञानं वा। यथा मेधाविनोऽधोविकर्मणो वा विचार्य हितं कुर्वन्ति तथा सर्वजगद्धितं कुर्वाण**मभ्यर्चामि** अभिष्टौमि। **सत्यसवं** सवसंश्चानुज्ञानादभ्यनुज्ञातम्। उदयास्तमयाभ्यां हि यथास्वं सर्वकर्मसु सत्यमेवासावभ्यनुजानाति विश्वम्। **रत्नधां** रमणीयानां धनानां दातारम्। **अभी**त्ययं मतिमित्येतेन सम्बध्यते। **प्रियमिष्टं** सर्वस्य **मतिम्** अभिमन्तारं मण्डलस्याधिष्ठातारं लोकपालत्वाद्वा ज्ञातारं सर्वस्य कविं मेधाविनम्। **ऊर्ध्वा** उच्छ्रिता व्यापारवती वा। यथा लोके ऊर्ध्वो भव व्याप्रियस्वेति गम्यते। **यस्यामतिरा**त्ममयी आत्ममननसाधनभूता **भा** दीप्ति**रदिद्युतद्** द्योतते। **सवीमनि** प्रसवे। सप्तमीश्रुतेर्वर्तमान इति शेषः। सवित्रा ह्यनुज्ञाता सतीत्यर्थः। यश्च **हिरण्यपाणि**र्हिरण्यमिवोज्वला हंतक्षणा वा रसभरणा वा रश्मयः पाणिस्थानीया यस्य सः। **अमिमीत** निर्मिमीते **सुक्रतुः** सुकर्मा। **कृपा स्व**स्तया उपकारकल्पनया स्वरादित्यः सवितृभावविशेषणत्वादात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा अमतिरित्युपपद्यते।

श्रुष्टी पुरन्धिः इत्येतेऽनवगतेऽनेकार्थे। श्रुष्टीवरीरित्यर्थः। सुखमभिधेयम्। **'सुखवत्यो भवत'** इति वचनात्। रोचश्रुषिरिति च। इह तु **क्षिप्रनाम** निगमपदान्तरसम्बन्धसामर्थ्याद् गम्यते। तेनानेकार्थत्वमपि। **आश्वष्टी**त्य**वगमः**। पुरन्धिरित्यस्य पुरन्धीरिति वा पुरं दारयतीति वा। अनेकार्थत्वं तु विचारपुरस्सरं भाष्ये दर्शयिष्यते। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंन्धिम्॥ (ऋ०७.३९.४) तानध्वरे यज्ञ उशतः कामयमानान् यजाग्ने श्रुष्टी भगं नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः। नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति व। पुरन्धिर्बहूधीः। तत्कः पुरन्धिः। भगः पुरस्तात्। तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरम्। स बहुकर्मतमः। पुरां च दारयितृतमः। वरुण इत्यपरम्। तं प्रज्ञया स्तौति। **'इमामू नु कविंतमस्य मायां। '** (ऋ०५.८५.६) इत्यपि निगमो भवति। रुषत् इति वर्णनाम। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। **'समिंद्धस्य रुशंददर्शि पाजः।'** (ऋ०५.१.२) इत्यपि निगमो भवति॥१३॥

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः।

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंन्धिम्॥ (ऋ०७.३९.४)

वसिष्ठस्य। हिशब्दो यस्मादर्थे यस्मात् **ते यज्ञेषु यज्ञियासो** यज्ञार्हाः। **ऊमाः** अवितारोऽवनीयास्तर्पणीयाः। **सधस्थं** सधं स्थीयते यत्र तत्स्थानं वेद्याख्यम्। सधस्थम् **'सध मादस्थयोश्छन्दसि।'** (अष्टा०६.३.९६) इति सहस्य सधादेशः। **अभि सन्ति** अभिभवन्ति। के ते? **विश्वे** सर्वे **देवाः**। यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यध्याहारः। तस्मात् **तान् अध्वरे** यज्ञे **उशतः** कामयमानान् **यक्षि** यजामहे। **अग्ने श्रुष्टी** क्षिप्रं **भगं नासत्या** नासत्यौ चाश्विनौ **पुरध्विं** च।

निगमप्रसक्तं निराह–**सत्यावेवे**त्यादि। द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः, अविसंवादकावित्यर्थः। **और्णवाभो** मन्यते। नित्यपक्षे नित्यं प्रागुषसो दर्शनात् सत्यस्याविसंवादिनोऽर्थस्य प्रणेतारौ। तस्मिन् हि काले मनसः प्रसादः। स्वविपरीतं वसु प्रतिपातीति। तथा चोक्तम् **'ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत्'** (मनु०४.९२) इत्यादि। सत्यशब्दान्नयतेश्च नासत्या इत्या**ग्रायणो** मन्यते। **नासिकाप्रभवा**वित्यैतिहासिकाः। नासिकाशब्दात् प्रभवार्थेत्यपि नसादेशो द्रष्टव्यः। नासिकातः प्रतिलब्धः सन् तत्कावित्याख्यातं पुराणार्थत्वादेभ्य आगन्तव्यम्। पुरन्धीति धीशब्दस्य धीकर्मसु पठित्वाद् बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वोच्यते। अतोऽसंविज्ञानपदत्वाभावाद् गुणपदत्वे सति प्रकृतस्यैव कस्यचिद् गुणपदमाहोस्विद् अपूर्वस्येति सन्देहाद् विचारार्थः प्रश्नः। तदिति वाक्योपन्यासार्थः। **कोऽयं** पुरन्धिर्नाम। **भगः पुरस्ता**दित्यादि। आश्विनेन सत्यप्यानन्तर्ये द्विवचनान्तत्वात् सम्बन्धानुपपत्तेर्भागस्यान्वादेशादिह मन इत्यकर्मता। सधेरयं सम्बन्ध इत्युक्तम्। सामर्थ्यादप्रकृतेनापि सम्बन्धो भवतीत्याह–**इन्द्र इत्यपरम्**। तत्सामर्थ्यं दर्शयति देवराजत्वादतिशयेनासौ प्रकृष्टश्च बहुकर्मा। व्युत्पत्त्यन्तरसामर्थ्याद्वा। पुरामसुरसम्बन्धिनीनामतिशयेन दारयिता इन्द्रः। **'पूर्भि भातिरत्'** इति मन्त्रान्तरे दर्शनसामर्थ्यात्। **वरुण इत्यपरं** दर्शनम्। धीशब्दोऽत्र प्रज्ञावचनं दर्शयति। यस्मात् **प्रज्ञया** गुणेन **स्तौति** मन्त्रो वा मन्त्रदृग्वा अत्रिः।

इमामू नु कविंतमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दंधर्ष।

एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनंयः समुद्रम्॥ (ऋ०५.८५.६)

इमाम्। ऊनु पादपूरणे। **कवितमस्य** अतिशयेन मेधाविनो **मायां** प्रज्ञां **महीं** महतीं **देवस्य** वरुणस्य समुद्राधिपतेः। **नकिः** कश्चिदपि **आदधर्ष** आधर्षति अभिभवति। **एकं** सन्तं **यदुद्गा** उदकेन **न पृणन्ति** न पूरयन्ति। **एनीः 'इण् गतौ'** (धा०२.३५) इत्यस्यैतद्रूपम्। एनशब्दस्य व शुक्लपर्यायस्य **'वर्णादनुदात्तात्'** (अष्टा०४.१.३९) इत्येवमीकारः। व्यत्ययेन द्वितीया प्रथमार्थे। एन्यो गमनस्वभावाः शुक्लवर्णा वा। अधोभिगमनस्वभावाः शुक्लोदकवर्णस्वभावत्वात् शुक्लवर्णाः। **आसिञ्चन्तीराभिमुख्येन** सिञ्चन्त्यः पूरयन्त्य इत्यर्थः। **अवनयः** नदीनामेदम्। गङ्गाद्या नद्यः **समुद्रमुदधिम्**। गङ्गाद्या हि नद्यः प्रभूतेन स्वेन स्वेनोदकेन सततमापूरयन्त्यस्तत्समुद्रं जलाद् धारयन्ति। सैषा वरुणस्य माया एताश्चास्य न कश्चिदभिभवति।

रुशदित्यनवगतम्। **वर्णविशेषो** ज्वलनाविर्भूतप्रकाशरूपोऽभिधेयः। **रोचतेरिति** धातुनिर्देशात्। **रुगिति** वा विरोचन इति वावगमः। उदाहरणम्-

अबो॑धि॒ होता॑ य॒जथा॑य दे॒वानू॒र्ध्वो अ॒ग्निः सु॒मनाः॑ प्रा॒तर॑स्थात्।
समि॑द्धस्य॒ रुश॑ददर्शि॒ पाजो॑ म॒हान् दे॒वस्तम॑सो॒ निर॑मोचि॥ (ऋ०५.१.२)

बुधगविष्ठिरयोरार्षम्। **अबोधि** बुध्यति **होता 'अग्निर्देवो होता'** (ऐत०ब्रा०१.२८) इति श्रुतेर्होताग्निः। मानुषस्तु तदधिष्ठितो होत्रं करोति, अतः स होतेत्युच्यते। अथवा होतृशब्दोऽत्र तृन्प्रत्ययान्तः क्रियाशब्दः। साधुकारिणि च तृन्प्रत्ययः, साधु होमस्य कर्ता। **यजथाय** यजनाय **देवान्** अग्निहोत्रादिना होमेन यागेन च देवान् यष्टुमित्यर्थः। बुध्वा च **ऊर्ध्वं** ऊर्ध्वज्वालोऽग्निः **सुमनाः** सुचित्तो होमकारिणामनुग्रहपरचित्त इत्यर्थः। **प्रातः** प्रत्यूषस्येव उषस उदयवेलाया**मस्थात्** तिष्ठति ज्वालामालः सन्नित्यर्थः। **समिद्धस्य रुशद्** दीप्तवर्णम् **अदर्शि** दृश्यते। **पाजो** बलं ज्वालासमूहलक्षणं तेन च **महान् देवस्तमसः** सकाशाद् **निरमोचि** निर्मोचयति प्रकाशयतीत्यर्थः।

रिशादस इत्यनवगतम्। रिशतेर्हिंसार्थस्य शुद्धस्य ण्यन्तस्य वा स्यतेश्चैतद् द्विधातुजं रूपम्। रिशतां हिंसतां रेशयतां वा घ्नतां घातयतां वा शत्रूणामसितारः क्षेप्तारो नाशयितार इत्यर्थः। तेन रिशदसितारो रेशयदसितार इति वावगमः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

अस्ति॒ हि वः॑ सजा॒त्यं॑ रिशादसो॒ देवा॑सो॒ अस्त्याप्यं॑म्॥ (ऋ०८.२७.१०) अस्ति हि वः समानजातिता रेशयदारिणो देवाः। अस्त्याप्यम्। आप्यमाप्नोतेः। सुदत्रः कल्याणदानः। **'त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायः॑।'** (ऋ०७.३४.२२) इत्यपि निगमो भवति। सुविदत्रः कल्याणविद्यः। **'आग्ने॑ याहि सुवि॒दत्रे॑भिर॒र्वाङ्'** (ऋ०१०.१५.९) इत्यपि निगमो भवति। आनुषक् इति नामानुपूर्वस्य। अनुषक्तं भवति। **'स्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरा॑नु॒षक्।'** (ऋ०८.४५.१) इत्यपि निगमो भवति। तुर्वणिः तूर्णवनिः। **'स तु॒र्वणि॑र्म॒हाँ अ॑रे॒णु पौंस्ये॑।'** (ऋ०१.५६.३) इत्यपि निगमो भवति। गिर्वणा

देवो भवति, गीर्भिरेनं वनयन्ति। 'जुष्टं गिर्वणसे बृहत्।' (ऋ०८.८९.७) इत्यपि निगमो भवति॥१४॥

भाष्यटीका

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्।

प्र णः पूर्वस्मै सुवितायं वोचत मक्षु सुम्नाय नव्यसे॥ (ऋ०८.२७.१०)

मनोर्वैवस्वतस्यार्षम्। हि शब्दो यस्मादर्थे यस्माद् **अस्ति वो** युष्माकं **सजात्यं** सजातिना अस्माभिः सह परस्परोपकारलक्षणा 'इत उपजीवन्त्यमुतो मनुष्यः' इति श्रुतेः। **रिशादसो** हे रिशतां रेशयतां वा घ्नतां घातयतां वा शत्रूणामसितारः क्षेप्तारो निरसितारो **देवासो** देवाः। **अस्ति** च **आप्यम्** अस्तित्वमाप्तिर्जातिरुच्यते। यष्टृयष्टव्यत्वलक्षणमित्यर्थः। **प्रवोचत** प्रब्रूत **मक्षु** क्षिप्रं **सुम्नाय** सुखाय। अथवा आप्यमाप्तव्यं यस्माद् युष्माभिर्युष्मत्तः। यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यध्याहारः। तस्माच्छब्दोऽवोचतेत्यनेन सम्बध्यते। **नो**ऽस्मान् **पूर्वस्मै सुविताय** सुगताय। किं पुनस्तत्? सामर्थ्यात् स्थानं स्वर्गाख्यं तस्मै प्रयाणोत्तरकालं तत् प्राप्तुमित्यर्थः। प्रब्रूत **मक्षु** क्षिप्रं **सुम्नाय** सुखाय च **नव्यसे** अतिशयेन नवाय।

सुदत्र इत्यनवगतम्। सुपूर्वस्य ददातेः ष्ट्रन् द्रष्टव्यः। **सुदान** इत्यवगमः। **कल्याणदान** इति पर्यायवचनम्। उदाहरणम्-

ता नों रासन् रातिषाचो वसून्या रोदसी वरुणानी शृंणोतु।

वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु त्वष्टा सुदत्रो वि दंधातु रायः॥ (ऋ०७.३४.२२)

वसिष्ठस्य। तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यानि वयमर्थितवन्तस्तानि। **नो**ऽस्मभ्यं पूर्वेषु कालेषु **रासन्** रासतेर्दानकर्मणो लङि अडभावश्छान्दसत्वात्, अरासन् दत्तवत्यः। **रातिषाचो** हविषो दानं रातिस्तां याः सचन्ते। अथवा रातिषाचो हविर्दानस्य सेवित्र्य इत्यर्थः। **वसूनि** धनानि। यत एवमतो ब्रवीमि इदानीमपि **आकारः** शृणोतु इत्यनेन सम्बध्यते, **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **वरुणानी** च **आशृणोतु**। आश्रवः प्रतिज्ञा अतिदास्याम इति प्रतिजानन्तु अभ्युपगच्छन्त्वित्यर्थः। किञ्च **वरूत्रीभि**र्वरयितव्याभिरेताभिर्देवीभिः सह। **सुशरणः** साश्रयः। **नो**ऽस्माक**मस्तु**। कः? **त्वष्टा** नाम दे[illegible]। कीदृशः? **सुदत्रः** सुदानः स्वाश्रयणश्च भूत्वा **विदधातु** विविधं दधातु **रायो** धनानि।

सुविदत्र इत्यनवगतम्। वेत्तेः सुविद्यत इत्यवगमः। प्रशस्तज्ञान इत्यर्थः। महाकल्याणविद्य इति। उदाहरणम्-

ये तांतृषुर्देवत्रा जेहंमाना होत्राविदः स्तोमंतष्टासो अर्कैः।

आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ (ऋ०१०.१५.९)

शङ्खो यामायनस्तस्यार्षम्। **ये तातृषु**स्तीर्णाः प्राप्ता इत्यर्थः। **देवत्रा** 'देवमनुष्यपुरुष' (अष्टा०५.४.५६) इति द्वितीयार्थे त्रा, देवान् **जेहमाना 'ओहङ् गतौ'** (धा०३.७) कर्मज्ञानसमुच्चयेन क्रमेण गच्छन्तो देवत्वं क्रमेण प्राप्ता इत्यर्थः। **होत्राविदो** होत्रे यज्ञानां वेदितारः **स्तोमतष्टासस्त**क्षतिः करोतिकर्मा स्तोमानां कर्तारः समुच्चयप्रदर्शनं वेदम्। **अर्कैर्मन्त्रैः** स्तुतिलक्षणैर्नित्यैर्वा हविलक्षणैर्हेतुभूतैः स्तोमानां हविषां च कर्तार इत्यर्थः।

पुरस्ताद् यच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तैराग्ने **याहि सुविदत्रेभिः** सुविद्यैः सर्वत्र सहयोगलक्षणा तृतीया, सह। **अर्वाङ्** अस्मदभिमुखः **सत्यैर**वितथप्रसादैः **कव्यैः** पितृदेवत्यं हविः कव्यं तत्सम्बन्धात् कव्यभुजः कव्यात् स्वार्थिको वा यः कवयः कव्यास्तैः कव्यभुग्भिर्मेधाविभिर्वा **पितृभिर्धर्मसद्भिर्ध**र्म इति यज्ञनाम यज्ञसादिभिरित्यर्थः।

आनुषगित्यनवगतम्। नाम चैतन्निपातः। **आनुपूर्वस्यानुषक्तव्यमित्यवगमः।** उपर्युपरि लग्नमित्यर्थः। उदाहरणम्–

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।

येषामिन्द्रो युवा सखा॥ (ऋ०८.४५.१)

त्रिशोकस्यार्षम्। **आङ्** मर्यादायाम्। **घ** इति पदपूरणः। मर्यादया यथाशास्त्रं **ये अग्निमिन्धते** दीपयन्ति **स्तृणन्ति** च **बर्हिर्वे**दिस्तरणान् दर्भान्। **आनुषग्** आनुपूर्व्येण यागं ये यजन्त इत्यर्थः। **येषां** च **इन्द्रो युवा** सर्वदा तरुणः स्तुत्यस्तोतृलक्षणेन सख्येन **सखा**। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः, ते पुण्यवन्त इति शेषः।

तुर्वणिरित्यनवगतम्। तूर्णशब्द उपपदे वनोतेः सम्भजनार्थस्य इकारो नामकरणः। तूर्णं वनोतीति **तूर्णवनिरि**ति प्राप्ते तुर्वणिः। उदाहरणम्–

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः।

येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि॥ (ऋ०१.५६.३)

इन्द्रस्य सव्यतामापन्नस्येदमार्षम्। इन्द्रस्तुर्वणिस्तूर्णं सम्भक्ता यष्टृणाम्। **महान्** प्रभावतः। **अरेणु** सप्तम्या अत्र लुग् द्रष्टव्यः, अरेणुनि पांसुवर्जिते **पौंस्ये** सेनालक्षणे स्वबले सप्तमीश्रुतेः **स्थित** इति शेषः। स्वसेनामध्यगतः सन्नित्यर्थः। **गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते** समुच्छ्रितः पर्वतप्रदेशो भृष्टिरुच्यते तद्वत् भ्राजते गिरिशृङ्गमिव सर्वतः समुच्छ्रितो लक्ष्यत इत्यर्थः। **तुजा** तुजतेर्हिंसार्थस्य। तुग्वज्र इहोच्यते **'इत्थंभूतलक्षणे'** (अष्टा०२.३.२१) तृतीया। अपि भवान् करन्धुना छात्रमद्राक्षीदिति यथा। हिंसित्रा वज्रेण सम्बन्धः, गृहीतवज्रः सन्नित्यर्थः। **शवो** बलनामेदम्। अन्तर्नीतमत्वर्थः। इन्द्रस्य वज्रस्य वा विशेषणम्। बलवानिन्द्रो बलवता वज्रेण वा। किं कृतवान्? उच्यते। **येन** तृतीयानिर्देशात् हतेति शेषः। **शुष्णं** शुष्णनामानमसुरं शोषयितारं वा सस्यानां मेघं **मायिनं** मायावन्तम्। **आयसः** इन्द्रस्येदं विशेषणम्। अयोमयो लोहमयो दृढशरीर इत्यर्थः। **मदे 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'** (अष्टा०२.३.३७) इत्येतेषां सप्तमी, तच्छ्तेश्च योग्यक्रियापदाध्याहारः कार्यः, सोमपदे प्राप्ते **दुध्रो** दुर्धरः शत्रूणाम्। **आभूषु** आकार अभीत्यस्य स्थाने, भूष्विति सन्नन्तम्। द्वयोरपि चानयोर्योऽत्रार्थस्तस्मिन्नप्रसिद्धरूपत्वाद् अवग्रहस्य सिद्धार्थावयवप्रदर्शनार्थत्वात् पदकारेणात्राऽवग्रहो न कृतः। व्यत्ययेन च नपुंसकता। शुष्णस्येदं विशेषणम्। अभिभूषुं शुष्णमिन्द्रं प्रत्यभिभवितुमिच्छन्तमित्यर्थः। **रामयन्नि**रमयन् नियमेन रमितवान्। एकस्मिन्नेव प्रदेशे बद्धवानित्यर्थः। क्व? **दामनि**। मेघपक्षे दामनीति लुप्तोपमं द्रष्टव्यम्। दामनीव वत्सकं करभं वा।

गिर्वणा इत्यनवगतम्। देवोऽभिधेयवचनः। चतुर्थ्यन्तत्वेन सारूप्यात्। गिर्वणां देवं इत्येतेनार्थमुक्त्वाह– **गीर्भिरेनं वनयन्तीत्य**र्थनिर्वचनम्। भाजयति सेवयति स्थापयतीत्यर्थः। गीर्वाण इत्यवगमः। तथा अभिधानकोशकारः पठति: **'गीर्वाणाः स्युर्दिवौकसः'** इति।

आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि।

घर्मं न सामन् तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत्।। (ऋ०८.८९.७)

नृमेधः प्रियमेधसोरार्षम्। **आमासु पक्वमि**त्यामत्वेन पक्वत्वेन चात्र भोजनस्यायोग्यासु गोषु पक्वं भोजनयोग्यं पय **ऐरय**स्त्वमीरितवान् ईरयसि वा गमयसि वृष्टिद्वारेण ओषधिनिर्वात्या जनयसि जनितवांश्चेत्यर्थः। यागनिर्वृत्त्या च **सूर्यमा**रोहयसि आरोहितवान् वा। **दिवि** द्युलोके योऽयमीदृशगुण इन्द्रस्तस्मै। **घर्मं न** घर्मशब्देनात्र महावीर उच्यते, महावीरमिव **तपता** तपतिरन्तर्नीतण्यर्थः, ऋत्विजस्तापयति। किम्? **सामन्** साम धूपयतेत्यर्थः। तद्धि सामतापनं **सुवृक्तिभिः** सुष्ठु वर्जिताभिर्दोषैः प्रवृत्तिभिः स्थानकरणादिना सम्यगुच्चारयत। तदेवोपन्यस्यति विचारणार्थम्।

असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते एतानि चत्वारि पदानि सप्तम्यन्ततया सन्दिह्यन्ते। तत्र रजसीति पदान्तरसम्बन्ध-सामर्थ्याद् रजः शब्दो लोकवचनः। तत एतत्तावदसन्दिग्धमन्तरिक्षलोकस्याधारत्वेन सम्बन्धोपपत्तेः सप्तम्यन्तम्। सूर्त इत्यपि तत्सामानाधिकरण्येन सम्बन्धभावात् सप्तम्यन्तमेव। यतः **'ईर गतौ'** (धा०२.८) इत्यस्य सुपूर्वस्य निष्ठायाः छान्दसत्वादिडभावे ईकारस्य पूर्वसवर्णे सप्तम्यामेतद् रूपम्। रजसो **विशेषणम्**। अधिकरणस्य चाधेयसव्यपेक्षत्वादसूर्त इत्याधेयप्रतिनिर्देशः। आधेयस्य प्रतिनिर्देशसामर्थ्याच्च **अव्यतिरिक्तप्रातिपदिकार्थे** प्रथमान्ततैव। ततश्चासुशब्दपूर्वस्य तस्यैव धातोस्तद्वदेव छान्दसत्वात् प्रथमा। एकार **आदेशो द्रष्टव्यः**। निषत्ते इत्यप्याधेयविशेषणम्। **'नसत्तनिषत्तानुत्त'** (अष्टा०८.२.६१) इति निपातनाद् नत्वाभाव **एकारादेशश्च** पूर्ववत्। ततश्च अस्वीरिता स्वीरितेत्यवगमौ। असुः प्राणः प्राणश्च वायुः। तत्स्पष्टतरं भाष्यकार आह-सुसमीरितस्वसमीरिते। **असुसमीरिता** इत्यस्य व्याख्यानं **वातसमीरिता** इति। मरुदादयोऽभिधेयाः। **सुसमीरिते** सुष्ठु प्रेरिते विस्तीर्णे अन्तरिक्षलोक इत्यर्थः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।। (ऋ०१०.८२.४) असुसमीरिताः। सुसमीरिते। वातसमीरिताः। माध्यमिका देवगणाः। ये रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति। त आयजन्त (ऋ०१०.८२.४) इत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम्। **अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः।।** (ऋ०१.१६९.३) अमात्क्तेति वा। अभ्यक्तेति वा। **यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्।।** (ऋ०५.४४.८) यादृशेऽधायि तमपस्ययाविदत्। **उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः।।** (ऋ०६.१२.४) उस्र इव गोपिता अजायि यज्ञैः।।१५।।

भाष्यटीका

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।

असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।। (ऋ०१०.८२.४)

भौवनस्य विश्वकर्मणः। **ते आङ्** मर्यादायाम्। यजिर्दानार्थः। **आयजन्त** मर्यादया यत्र यावच्च दातव्यं तदा तत्र तावदेवेत्यर्थः, ददति। किम्? **द्रविणं** वृष्ट्युदकाख्यं धनम्। **समस्मै** सम्यगस्मै लोकायेति शेषः। **ऋषय** औपरिष्टो नकार इहापक्रष्टव्यः, **ऋषयो न** ऋषय इव यथा ऋषयः **पूर्वे** भृग्वादयः। **जरितारः** स्तोतारो **भूना** भूम्ना स्वमाहात्म्येन देवेभ्यो हवींषीति शेषः। यथा ते हवींषि दत्तवन्तस्तद्वदित्यर्थः। अथवा ऋषयः पूर्वे जरितार इति विश्वसृज उच्यन्ते। भूतानि समकृण्वन् इत्येतस्य वेदमुपमानम्। यथा विश्वसृजः सृष्टिकाले स्वमाहात्म्येन भूतानि **समकृण्वन्** सम्यक् कृतवन्तस्तद्वत्। **असूर्ते** असुः प्राणः स च वायुः। कुत एतत्? **'अयं वै वायुः पवते प्राणः'** (तु०शत०ब्रा०१०.३.३.७) इति श्रुतेः। तेन प्रेरिता मरुदादयः **सूर्ते** सुष्ठु प्रेरिते विस्तीर्ण इत्यर्थः। **रजसि** लोके अन्तरिक्षाख्ये **निषत्ते** निषण्णा ये वृष्टिप्रदानद्वारेण **भूतानि** सम्यक् कृतवन्तः **इमानि** सर्वाणि स्थावरजङ्गमानि। भाष्ये च **'ये रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति'** इति पाठः। ये भूतानि कुर्वन्ति त आयजन्तेत्याद्येन पादेन प्रतिवचनमित्यर्थः। प्रदर्शनं चेदम्। अन्यत्राप्येवंभूतस्यासम्बन्धस्य पाठक्रमो न तन्त्रमिति।

अम्यक् इत्यनवगतम्। **अमाक्तेत्यवगमः**। अञ्चेरकारो शब्दस्यामवचनस्यादौ द्रष्टव्यः। अमाक्ता सती अम्यक् **अभ्यक्तेति वा** अभिपूर्वस्याञ्चतेरभ्यक्ता भकारस्य मकारापत्त्या अम्यक्। नित्यं शत्रून् प्रत्यभिगन्ता शत्रुशरीरलग्नेव दृश्यत इत्यर्थः। आयुधाख्या शक्तिरभिधेया। उदाहरणम्-

अम्यक्सा तं इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।

अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥ (ऋ०१.१६९.३)

अगस्त्यस्यार्षम्। तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽम्यगित्येतत्सम्बन्धी अध्याहार्यः। यां क्षिप्तां सतीम् **अम्यक्** यां प्रतीयं गता यां प्रतीत्येवं सर्वत्र शत्रवो मन्यन्ते। या वा नित्यं शत्रून् प्रत्यभिगता सहभूता वा **ते** तव स्वभूता हे **इन्द्र ऋष्टिः** शक्तिका आयुधविशेषः। **अस्मे** अस्मान् प्रति **सनेमि** पुराणनामैतत् पुराणं वर्षो पीतम्। **अभ्वमित्युदकनाम**, वृष्ट्युदकं **मरुतो** मरुतश्च **जुनन्ति** **'जुन गतौ'** (धा०६.४५) सामर्थ्याच्चान्तर्नीतण्यर्थो द्रष्टव्यः, गमयन्ति। किञ्च **अग्निश्चित्** चिदुपमायां **हिस्मौ** पादपूरणौ, अग्निरिव यथा अग्नि**रतसे** शुष्के काष्ठे दीप्यते तद्वत् त्वं **शुशुक्वान्** वैद्युतात्मना दीप्यत इत्यर्थः। किञ्च **आपो न** आप इव यथा च नापेया आपो **द्वीपं** मध्यस्थस्थलम्, एवं सर्वतस्त्वं परिवार्य **दधति** धारयति। **प्रयांसि** उदकनामैतत् उदकानि मेघहननकाले।

यादृश्मिन् इत्यनवगतम्। **यादश** इत्यवगमः। उदाहरणम्-

ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् य उ स्वयं वहते सो अरं करत्॥ (ऋ०५.४४.८)

अवत्सारस्यार्षम्। आदित्यस्वरूपेण अग्निरूपेण चोच्यते। अत्र चैकवाक्यप्रसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यं सर्वतो **ज्यायांसमतिशयेन** प्रशस्यं वृद्धं वा महान्तमादित्यमग्निं वा **अस्य यतुनस्य** यततिर्गत्यर्थः, गमनशीलस्य तव स्वभूतमण्डलस्य यदा त्वमग्निस्तदास्य यतुनस्यादित्यस्यैव **केतुना** कर्मणोदयलक्षणेन आदित्यमण्डलस्यैवोदय-वेलायामुदितमात्रे मण्डले **ऋषिस्वरं** स्वरतीत्यर्चतिकर्मा ऋषिस्तुत्यम्। **चरतिरत्र** शुद्धोऽपि सोपसर्गार्थो द्रष्टव्यः। आहुतिप्रदानकर्मणोपस्थानं परिचरति **यास्व**ग्निहोत्रहोमोपस्थानयागादिक्रियासु देवताभूतस्य स्तूयमानस्य **नाम** अभिधानं **ते** तव। नमनं वा प्रह्वीभावमागत्यं तव तासु त्वमिज्यसे चेत्यर्थः।

यादृश्मिन् यादृश एव कामे **धायि** व्यत्ययेनायं कर्तरि चिण् द्रष्टव्यः, धत्ते। किम्? सामर्थ्यान् मनः। यादृश्मिन् इत्युद्देशाद् उद्दिष्टस्य च प्रतिनिर्देष्टव्यत्वात् तादृक्शब्दस्यार्थे तादृशमेव। **अपस्यया** अपः कर्म अप एव अपस्या स्वार्थिकस्तद्धितः, तया अपस्यया तेन परिचारेण कर्मणेत्यर्थः। **विदद्** विदेर्लाभार्थस्येदम्। विन्दति लभते **यः**। उकारोऽत्र चार्थे, यश्च **स्वयमेव** श्रद्धया न परेण प्रेरितः सन् **वहते** त्वां प्रति प्रापयति। किम्? सामर्थ्यादाहुतीः स्तुतीश्च **सोऽलं** पर्याप्तं बह्वात्मनः **करत्** करोति नेतरः।

जारयायीत्यनवगतम्। उस्रविशेषणम्। तेन व्यत्ययेन नपुंसकतात्रानवगमः। ततश्चेदं नाम्नाख्यातम्। जनेरन्यस्य वा धातोरेवंभूतस्य सम्भवाद् निर्घातप्रसङ्गतश्च। अन्ये तु जनेरत्यन्तानवगतमाख्यातमेतदिति मन्यन्ते। ततश्च जारयायि **अजायतेत्यवगमः**। उदाहरणम्-

सास्माकेभिरेतरी न शूषैरग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः।
द्रुवन्नो वन्वन् क्रत्वा नार्वोस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः॥ (ऋ० ६.१२.४)

भरद्वाजस्य। **स** **आस्माकेभिरस्मदीयैः** पुत्रपौत्रादिभिर्ऋग्भिर्वा। **एतरी** **न** एताऽत्र सततगामित्वादतिथिरुच्यते। प्रथमार्थे चेयं सप्तमी, गन्तेव सततगामीव अतिथिर्गृहस्थैः **शूषैः** शूषमिति सुखनाम सुखैः सुखहेतुभिः। कैः? सामर्थ्यात् स्तोत्रैः। **अग्निः स्तवे** व्यत्ययेनेदं कर्मणि प्रथमैकवचनस्य स्थाने उत्तमैकवचनं द्रष्टव्यम्, स्तूयते। **दमे** यज्ञे तद्गृहे **आकारः** स्तव इत्येतेन सम्बध्यते, आभिमुख्येन मर्यादया वा यथाशास्त्रं स्तूयते। **जातवेदाः** जातविद्यो जातधनो वा। **द्रुवन्नः** काष्ठान्नः काष्ठभक्ष इत्यर्थः। **वन्वन् क्रत्वा नार्वा** वन्वन्निति **'वन षण संभक्तौ'** (धा०१.४६४, ४६५) इत्यस्य रूपम्। क्रत्वेति कर्मनाम, अर्वेत्यश्वनाम। कर्मणेव शीघ्रगमनलक्षणेन संभज्यमानोऽश्वः शीघ्रं गच्छन् स्तूयते तद्वदित्यर्थः। **उस्रः पितेव** उपमानान्तरं चेदम्। उस्र इति गोनाम यथा च गौर्बलीवर्दः पिता गोपयिता स्वापत्यानां पालयिता वा स्वकर्मणा स्तूयते तद्वत्। समानप्रकरणेन च निर्गातादय इष्यन्ते तद्भिन्नवाक्यत्वं कथमिति चेत्? उच्यते। आस्माकेभिरिति स्तूयते अश्ववदतिथिवद् बलीवर्दवेच्चति एतावत्येव परिसमाप्तं वाक्यम्। इदन्तु वाक्यान्तरं **जारयायि यज्ञैरिति**। अजायत जायते अग्निराहवनीयात्मना यज्ञेषु यज्ञैर्वा सहेति।

अग्रियेत्यनवगतम्। **अग्रगमनेनेत्यवगमः**। अर्हार्थो वा अग्रार्हा अग्रिया इत्यवगमः। अथवा **अग्रमित्येतच्छब्दरूपमनर्थकमुपबध्य** प्रत्ययान्त**माददीत** अग्रमेवाग्रिया आहूता इत्यर्थः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः॥ (ऋ०४.३४.३) प्रास्थुर्वो जोषयमाणाः भवत सर्वे। अग्रिय अग्रगमनेनेति वा। अग्रगरणेनेति वा। अग्रसंपादिन इति वा। अपि वाग्रमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत। **अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्॥** (ऋ०१०.११६.८) अद्धीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि। चनो दधिष्व। चनः इत्यन्ननाम। पचतिर्नामीभूतः। '**तं मेदुस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्।**' (यजु०२१.६०) इत्यपि निगमो भवति। अपि वा मेदसश्च पशोश्च सात्त्वं द्विवचनं स्यात्। यत्र ह्येकवचनार्थः प्रसिद्धं तद्भवति। '**पुरोळा अग्ने पचतः**' (ऋ०३.२८.२) इति यथा। शुरुध आपो भवन्ति। शुचं संरुधन्ति। '**ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः।**' (ऋ०४.२३.८) इत्यपि निगमो भवति। अमिनोऽमितपात्रो महान् भवति। अभ्यमितो वा। '**अमिनः सहोभिः।**' (ऋ०६.१९.१) इत्यपि निगमो भवति। जज्झतीरिव आपो भवन्ति। शब्दकारिण्यः। '**मरुतो जज्झतीरिव।**' (ऋ०५.५२.६) इत्यपि निगमो भवति। अप्रतिष्कुतः। अप्रतिस्कृतः। अप्रतिस्खलितो वा। '**अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः।**' (ऋ०१.७.६) इत्यपि निगमो भवति। शाशदानः शाशाद्यमानः। '**प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः।**' (ऋ०१.३३.१३) इत्यपि निगमो भवति॥ १६॥

अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत् प्रदिवो दधिध्वे।
प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः॥ (ऋ०४.३४.३)

वामदेवस्य। **अयं वो** युष्माकं **यज्ञः** हे **ऋभवः**, ऋभुप्रभृतयः, **अकारि** कृतोऽस्माभिः। **यम्** आकारो दधिध्व इत्येतेन सम्बध्यते, मर्यादया **मनुष्वत्** मनुष्यवत् **प्रदिवः** पुराणनामैतत्, पुराणम् अस्मत्पूर्वैरपि कृतपूर्वम् **आदधिध्वे** मर्यादया आत्मनि धारयथ अनुभवथेत्यर्थः। किञ्च **वो** युष्मदर्थमित्यर्थः। **अच्छा** भरार्थे। अस्थुरित्येतेन च **अभिप्र**शब्दयोः सम्बन्धः। **अभिप्रास्थुः** अभिप्रस्थितानि। कानि? सामर्थ्यात् हवींषि तानि **जुजुषाणासः** सेवमानाः। **अभूत** लोडर्थे लुङ् भवतेत्यर्थः। **विश्वे** सर्वे **अग्रिया** अग्रयानेनाग्रार्हा अग्रभूता वा यूयम् **उत** हे **वाजा** ऋभुर्विभ्वावाज इत्येते त्रयोऽन्येन चान्त्येन चोपलक्षिता उच्यन्ते। जोषयमाणा भवत। अर्हात्रितां सम्पादितां ति ये ह्यग्रमर्हन्ति ते सम्पद्यन्तेऽग्रियाः।

चन इत्यनवगतम्। **अन्नमभिधेयम्।** पचता इत्युभयं चेदं पचेर्धातोः। अत आह–**पचतिर्नामीभूत** इति। तत्र चन इति पचेरेव दूरं विकृतं पच्यमानत्वात् पचनमिति प्रासे चनः। पचतेत्याख्यातसरूपनामविभक्तेश्चकारः। **पक्व पक्वौ पक्वा** इति वेत्यवगमः। पदान्तरसम्बधसामर्थ्याद् विशेषनिश्चयः। उभयोरेकमुदाहरणम्–

अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्।
प्रयस्वन्तः प्रति हर्यामसि त्वा सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥ (ऋ०१०.११६.८)

अग्नियुतस्याग्नियूपस्य वा स्थूरपुत्रस्यार्षम्। **अद्धि** भक्षय इत्पदपूरण:, हे **इन्द्र प्रस्थित** त्वां प्रति प्रस्थितानि प्रस्थितसंज्ञकानि वा **इमा** इमानि **हवींषि। चनो**ऽन्नं तच्च **दधिष्व** त्वमवधारय उदरे प्रक्षिपेत्यर्थ:। **पचता** पक्वानि सवनीयपुरोडाशादीनि। **उत सोमम्** अपि च सोमं ग्रहादिसंस्थम्। किञ्च **प्रयस्वन्त:** प्रय इत्यन्ननाम अन्नेन हविराख्येन तद्वन्त: सन्तो वयं **प्रतिहर्यामसि** हर्यति: प्रेप्साकर्मा, प्रतिकामयामहे **त्वा** त्वाम्। **सत्या: सन्तु यजमानस्या**भिलषिता: **कामा** इति।

अन्यत्रापि पचने पचत्ताशब्दप्रवृतौ प्रसिद्धिं दर्शयन्नाह–**तं मेदस्त** इत्यादि। अग्निं मन्यवशो: सूक्तवाके ते वृषाऽ**यमग्निमद्य होतारमवृणीत** वृतवानयं **यजमान: पचन् पक्ती:** कर्मणि क्तिन्, पक्तव्यानि हृदयादीनि **पचंश्च पुरोडाशं** गृह्णंश्चा**ग्नये** आज्यभागार्थमाज्यं गृह्णन् सोमायाज्यभागार्थमेवाज्यं **बध्नन्** बध्नंश्चा**ग्नीषोमान्या**मग्नीषोमयोरर्थाय **छाग: सूपस्था** सूपस्थानश्चास्य यजमानस्य **देवो वनस्पतिरभवद् अभूदग्नये** अग्न्यर्थेनाज्येन **सोमाय** सोमार्थेन चाज्येनैवाग्नीषोमाभ्यां तु छागौ। हेतौ सर्वत्र तृतीया, अनेन कारणेन सूपस्थान: सूपस्थानो वनस्पतिरित्यर्थ:। **मेदस्तन: प्रति**शब्दोऽ**ग्रहीष्टा**मित्यनेन सम्बध्यते, **पचनं** पक्वमन्न**मग्रहीष्टां** प्रतिगृहीतवन्तौ **अवीवृधेतां** वर्धितवन्तौ वृद्धिं च शरीरेण वीर्येण वा प्राप्तवन्त इत्यर्थ:। **पुरोडाशेन** पशुपुरोडाशेन। किञ्च परस्तात्मा इति तस्मादर्थस्य श्रुतत्वादित्यध्याहार्यम्। यस्माद्वा हे अग्ने **ऋषे** दृष्ट: सर्वार्थानामार्षेय ऋषे: पुत्र **ऋषीणां** नवान्। अत्र वृणीतवान् अयं यजमान:। किमर्थम्? उच्यते। **बहुभ्यो** बहूनाम् **आङ्** मर्यादायाम्, सङ्गतानाम्। केषाम्? सामर्थ्यात् कर्माङ्गदेवतानामर्थाय एष मम **देवेषु** द्वितीयार्थ एषा सप्तमी, देवान् **सुवार्य**, उभयत्र तृतीया द्रष्टव्या। **वसुभिर्धनैर्हविराख्यैर्वीर्यैर्वरणीयै:**....... **या** यानि **देवता** देवदानानि **अदुर्दत्तवन्त:**? यजमानाय तेनान्यस्मै **आशास्व** आभिमुख्येन शास्व शाधि कथयेत्यर्थ:। **आ च गुरस्व 'गुरी उद्यमने'** आभिमुख्येन उद्यम्य चार्पयितुमर्पयेत्यर्थ:। इषितश्चासि होत:, अर्थिभ्य: किमर्थम्? **भुवाच्याय** भद्रस्याशीश्रुते: कल्याणस्य सूक्तवाकवचनस्यार्थाय त्वमपि **मानुषो होता** मया प्रेषित: सूक्तवाकाय एतज्ज्ञात्वा **सूक्ता** सूक्तं सुवचनं ब्रूहि। **सात्त्वं** सत्त्वं लिङ्गसंख्यायोगि द्रष्टव्यम्। तत्सम्बन्धिना त्वं त्वत्सबन्धं च दर्शयति। मेदसश्च पशोश्चेति वचनात्। इत्येतत्प्रसङ्गाद्यत्र ह्येकवचनार्थ इति आकारस्य संमोहहेतोरभावात् प्रसिद्ध तदसन्दिग्धमेकवचनमिति।

पुरोळा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा परिष्कृत:।
तं जुषस्व यविष्ठ्य॥ (ऋ० ३.२८.२)

विश्वामित्रस्य। **पुरोळा अग्ने पचत:** पक्व:। **तुभ्यं** तवार्थाय **वा**। घेति पदपूरण:। **परिष्कृत:** संस्कृतश्च। अतस्त**ज्जुषस्व** सेवस्व। हे **यविष्ठ्य** स्वार्थिकस्तद्धित:, अतिशयेन युवन्।

शुरुध इत्यनवगतम्। **आपो**ऽभिधेया:। **शुचं संरुन्धन्तीति** निर्वचनम्। शुक्शब्दस्यान्तलोपेन इति दर्शयति। **शुग्रुध** इत्यवगम:। दीप्तिं तापं वा रुन्धत्यग्नेर्मत्तस्य वा घर्मार्तस्य। उदाहरणम् **'ऋतस्य हि'** (ऋ०४.२३.८) इति। प्रसङ्गेन चैतद् व्याख्यास्यते (निरु०१०.४१)।

अमिन इत्यनवगतम्। **अमितमात्र** इत्यवगम:। अपरिमाण इत्यर्थ:। अपरिगणितकालो वा महानित्यर्थ:। **प्राप्तवचनमभ्यमितो वा** मिनोतिर्वधकर्मा, अहिंसित: केनचिद् अभ्यामित: सन् अमित:। उदाहरणम्–

म॒हाँ इन्द्रो॑ नृ॒वदा च॑र्षणि॒प्रा उ॒त द्वि॒बर्हा॑ अमि॒नः सहो॑भिः।

अ॒स्म॒द्र्यग्वावृधे वी॒र्या॑यो॒रुः पृ॒थुः सुकृ॑तः क॒र्तृभि॑र्भूत्॥ (ऋ०६.१९.१)

भरद्वाजस्य। **महानिन्द्रो नृवत्** मनुष्यवद् यथा राजा अन्योऽपि कश्चिदीश्वरो मनुष्यस्तद्वत्। **आचर्षणिप्राश्चर्षणयो** मनुष्याः **'प्रा पूरणे'** (धा०२.५१) आकार उपसर्गश्छान्दसत्वाद् असमस्तोऽपि प्रातिपदिकेनैव संबध्यते। तत **'आतो मनिन्'** (अष्टा०३.२.७४) इत्येवं विच् द्रष्टव्यः। स्तोतृणां यष्टॄणां मनुष्याणां च पूरयिता कामैः। उत **द्विबर्हा** बृहेर्वृद्ध्यर्थस्येदं रूपम्। द्वयोः स्थानयोर्वीर्येण परिवृद्धोऽपि बर्हा क्रतुमयोर्धयोरुच्यते। मध्यमे च स्थानेऽन्तरिक्षे उत्तमे च दिवि। तस्याः सर्वदेवानां साधारणत्वात्। देवराजत्वेन च प्रसिद्धेः। इतिहासपक्षे तु नान्योऽन्तरिक्षे वीर्येण परिवृद्धः शक्नोति वर्षितुं नापि दिवि आदित्याद् रसान् परिग्रहीतुम्। उत द्विबर्हा **अमिनो**ऽपरिमिताः **सहोभिः** शारीरैः सांयोगिकैर्वा बलैर्महाबलं इत्यर्थः। अथवा अभ्यमितोऽहिंसितपूर्वः सहोभिर्बलैः परकीयैः। **अस्मद्र्यक् 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये'** (अष्टा०६.३.९२) इत्येवमयमस्मदोऽञ्चतावद्र्यादेशः। तत्र कर्माधिकारानस्मान् प्रत्यञ्चित आगतोऽस्मदभिमुख इत्यर्थः। **वावृधे** वर्धते **वीर्याय** वीर्यकर्मणे वृष्ट्यादिकाय। **उरु**र्वीर्येण विस्तीर्णः **पृथुः** शरीरेण महाकायः। **सुकृतः कर्तृभिः** अत्रैकवाक्यताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। करोतिश्च क्रियासामान्यवचनः। क्रियाविशेषः स्तुतो द्रष्टव्यः। य ईश्वरः स सुष्ठु स्तुतः कर्तृभि**र्भूत्** लोडर्थे लुङ् भवतु इत्याशास्महे।

जज्झतीरित्यनवगतम्। **आपो**ऽभिधेयाः शब्दकारिण्य इति मेघात् पतन्त्यो जज्झतीरित्येवंरूपं शब्दं कुर्वन्तीत्येवंरूपशीलधर्माः। ततश्चानवगतं शब्दानुकरणनिमित्तकम्। अतस्तदपां नामधेयमित्यर्थः। उदाहरणम्-

आ रु॒क्मैरा यु॒धा नर॑ ऋ॒ष्वा ऋ॒ष्टीर॑सृक्षत।

अन्वे॑नाँ॒ अह॑ वि॒द्युतो॑ म॒रुतो॒ जज्झ॑तीरिव भा॒नुर॑र्त॒ त्मना॑ दि॒वः॥ (ऋ०५.५२.६)

श्यावाश्वस्य। **आ रुक्मैः आ युधा** एकोऽत्राकारोऽसृक्षतेत्येतेन सम्बध्यते, अपरः अर्त इत्येतेन। आरुक्मैरिति अंसेषु वा ऋषय उत्सुखादयो वक्षस्सु रुक्मा इति दर्शनाद् मरुतामुरस्स्थः। **आसृक्षत 'सृज विसर्गे'** (अष्टा०६.१३३) आभिमुख्येन मेघस्योपरि विसृजन्ति विक्षिपन्ति। **अन्वेनाँ अह** अन्विति पश्चाद्भावे अहेति विनिग्रहार्थीयत्वादेवशब्देन समानार्थः। अन्वेव एनान् **मरुत** एतत् शक्तिविक्षेपलक्षणव्यापारादनन्तरमेवेत्यर्थः। **जज्झतीरिवापो** यथैव मेघस्था आप आयन्ति ततस्तयैव विद्युतः स्वभूता **भानुर्दीप्तिरार्त** छान्दसत्वाद् वर्तमाने लडात्मनेपदम्। आगच्छति **त्मना 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः'** (अष्टा०६.४.१४१) इत्याकारलोप आत्मनैव। कुत आगच्छति। **दिवो** दीप्तादन्तरिक्षात्।

अप्रतिष्कुत इत्यनवगतम्। स्तवतेरेषोपदेशत्वात् सत्वाभावः। **अप्रतिस्खलित** इति। उदाहरणम्-

स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं सत्रा॑दाव॒न्नपा॑ वृधि।

अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः॥ (ऋ०१.७.६)

मधुच्छन्दसः। **स नो वृषन्** इति तादर्थ्ये चतुर्थीये वृषन्नित्येतेन सम्बध्यते, अस्मदर्थं वर्षितः, यो हि सर्वार्थं वर्षति वर्षत्यसौ मधुच्छन्दोऽर्थम्। अत एष इन्द्र आमन्त्र्यते स नो वृषन्निति। **अमुं चरुमिति** मेघनाम मेघं **सत्रादावन्** सत्रेति सत्यनाम सततपर्यायो वा तदुपपदस्य ददातेर्विनि रूपम्। हे सत्य सततं वा दातरित्यर्थः।

अपावृधि अपावृणु उद्घाटय **अस्मभ्यमस्मदर्थम्**। **अप्रतिष्कुतः**। **'स्कुञ् आप्रवणे'** (धा०९.६) आप्रवणमागमनं प्रवतेर्गत्यर्थत्वाद् अन्येनाप्रतिगतोऽप्रतिष्कुतो युद्धे अन्येनाप्रतिनियुक्तपूर्व इत्यर्थः, अप्रतिस्खलितपूर्वो वा। अत्र च स नो वृषन्निति तच्छब्दश्रुतेः प्रत्यक्षकृतत्वाच्चास्य मन्त्रस्य अप्रतिष्कुत इति चानामन्त्रितत्वादेकवाक्यतायै यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यस्त्वमप्रतिष्कुतः सोपावृधीति।

शाशदान इत्यनवगतम्। **'शद्लृ शातने'** (धा०६.१४७) इत्यस्य यङि छान्दसत्वाच्च तस्य लुकि रूपम्। **शाशाद्यमान** इत्यवगमः। उदाहरणम्–

अ॒भि सि॒ध्मो अ॑जिगादस्य॒ शत्रू॒न् वि ति॒ग्मेन॑ वृष॒भेणा॒ पुरो॑ऽभेत्।

सं वज्रे॑णासृजद् वृ॒त्रमिन्द्रः॒ प्र स्वां म॒तिम॑तिर॒च्छाश॑दानः॥ (ऋ०१.३३.१३)

हिरण्यस्तूपस्य। **सिध्मः** साधयिता इन्द्रः **अभ्यजिगाद्** अभिगतवान्। किम्? **अस्यैवेन्द्रस्य शत्रून्**। अथवा सिध्म इति वज्र उच्यते। साधयिता च वज्रोऽभ्यजिगाद् अस्येन्द्रस्य शत्रून् अभिगम्य अभिगतेन च तेन वज्रेण **तिग्मेन** तीक्ष्णेन **वृषभेण** वर्षित्रा तेषां शत्रूणां स्वभूताः **पुरो** नगराणि **अभेत्** पौरस्त्यो विरिहोपादीयते व्यभेद् व्यभिनद् विविधं भिन्नवान्। किञ्च **संवज्रेणासृजत्** संसर्जितवान्, सम्बन्धितवानित्यर्थः। कम्? **वृत्रमसुरम्**। किञ्च **प्रस्वां मतिमतिरत्** मतिरिति मन्यतेः स्तुतिकर्मणो रूपम्। अतिरदित्यपि तिरतिर्वृद्ध्यर्थः, आत्मीयां मतिं प्रातिरत् प्रकर्षेणावर्धयत्। **शाशदानः** पुनः पुनरसुरांस्तत्पुरश्च शातयन् यो हीदृशं कर्म पुनः पुनः करोति स तत्कर्मसम्बन्धादात्मनः स्तुतिं वर्धयति। अथवा मतिः शातनविषया प्रज्ञा वोच्यते स्वां प्रज्ञामवर्धयदिति। यो हि यन्नित्यं करोति तस्य तदभ्यासनिमित्ता प्रज्ञा वर्धते।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये एकादशस्य (षष्ठस्याध्यायस्य) तृतीयः पादः।

षोडशश्च खण्डः समाप्तः।

॥अथ चतुर्थः पादः॥

अथ सप्तदशः खण्डः।

सृप्रः सर्पणात्। इदमपीतरत् सृप्रमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा। **'सृप्रकरस्नमूतये।'** (ऋ०८.३२.१०) इत्यपि निगमो भवति। करस्नौ बाहू। कर्मणां प्रस्नातारौ। सुशिप्रम् एतेन व्याख्यातम्। **'वाजे सुशिप्र गोमति।'** (ऋ०८.२१.८) इत्यपि निगमो भवति। शिप्रे हनू नासिके वा। हनुर्हन्तेर्नासिका नसतेः। **'वि ष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने।'** (ऋ०१.१०१.१०) इत्यपि निगमो भवति। धेना दधातेः। रंसु रमणात्। **'स चित्रेण चिकिते रंसु भासा।'** (ऋ०२.४.५) इत्यपि निगमो भवति। द्विबर्हाः द्वयोः स्थानयोः परिवृढः। मध्यमे च स्थाने उत्तमे च। **'उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः।'** (ऋ०६.१९.१) इत्यपि निगमो भवति। अक्रः आक्रमणात्। **'अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्।'** (ऋ०३.१.१२) इत्यपि निगमो भवति। उराणः उरु कुर्वाणः। **'दूत ईयसे प्रदिव उराणः'** (ऋ०४.७.८) इत्यपि निगमो भवति। स्तिपाः स्तियानाम्। उपस्थितान् पालयतीति वा। **'स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः।'** (ऋ०१०.६९.४) इत्यपि निगमो भवति। जबारु जवमानरोहि। जरमाणरोहि। गरमाणरोहीति वा। **'अग्रे रूप आरुपितं जबारु।'** (ऋ०४.५.७) इत्यपि निगमो भवति। जरूथं गरूथं गृणातेः। **'जरूथं हन्यक्षि राये पुरंधिम्।'** (ऋ०७.९.६) इत्यपि निगमो भवति। कुलिश इति वज्रनाम। कूलशातनो भवति। **स्कन्धाँसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः॥** (ऋ०१.३२.५) स्कन्धः वृक्षस्य। समास्कन्नः भवति। अयमपीतरः स्कन्धः एतस्मादेव। आस्कन्नं काये। अहिः शयते उपपचनः पृथिव्याः। तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः॥१७॥

भाष्यटीका

सृप्र इत्यनवगतम्। **सर्पणादिति** निर्वचनम्। सर्पतीति सर्पण इत्येवं प्राप्ते सृप्रः। **इदमपीतरदिति** सृप्रशब्दस्य क्रियानिमित्तत्वात् सर्पिरादावपि वृत्तिं दर्शयति। एवं चानेकार्थत्वमपि। विशेषावगतिस्तु पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्याद् द्रष्टव्या। तुल्येऽपि च क्रियायोगे रूढिर्व्यवच्छेदिकेत्याह **सर्पिर्वेति**। उदाहरणम्-

> **बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये।**
> **साधुं कृण्वन्तमवसे॥ (ऋ०८.३२.१०)**

व्याख्यातः शेषो बृबदुक्थ (निरु०६.४) प्रसङ्गेन। **करस्नाविति** बाहुनामसु पठ्यमानस्यैव निर्वचनार्थमुपदेशः। **कर्मणां प्रस्नातारौ 'वेष्ट वेष्टने'** (धा०१.२५६) वेष्टयितारौ कर्तारावित्यर्थः।

सुशिप्र इत्यनवगतम्। तत्पुनरेतेन सृप्रेण **व्याख्यातम्**। सृपेरेवादिव्यापत्त्यादिना सुशिप्रशब्दो द्रष्टव्य इत्यर्थः। **हनू नासिके** वेत्यभिधेयमाचष्टे ते ह्यन्नं गन्धं च प्रति सृतौ भवतः। ते शोभने यस्य सः सुशिप्रः। उदाहरणम्-

विद्मा संखित्वमुत शूर भोज्य१मा ते ता वंज्रिन्नीमहे।

उतो संमस्मिन्ना शिंशीहि नो वसो वाजें सुशिप्र गोमंति।। (ऋ०८.२१.८)

अयमप्युक्तशेषः समस्मिन्नित्यत्र (निरु०५.२३) प्रसङ्गेन। यदुक्तं शिप्रे (निरु०४.१०) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्याम इति तदिदं व्याख्यातं हनू नासिके वेति। अभिधेयप्रसङ्गात् हनुनासिकाशब्दौ निराह। न्यते जितया संगृह्यमिति हनुः। **नासिका नसते**र्गतिकर्मणः। यद्वा नसतिर्नमतिकर्मा वा। गच्छति प्राप्नोति वा गन्धं प्रति नमतीति वा नासिका। शिप्रशब्देन क्वचित् हनुः क्वचिन्नासिका सामर्थ्यात् क्वचिदुभयमभिधीयत इति। एतद्विषयप्रदर्शनायोदाहरणमप्याह-

मादयंस्व हरिंभिर्ये तं इन्द्र वि ष्यंस्व शिप्रे वि सृंजस्व धेनें।

आ त्वां सुशिप्र हरंयो वहन्तूशन्हव्यानि प्रतिं नो जुषस्व।। (ऋ०१.१०१.१०)

कुत्सस्यार्षम्। **मादयस्व** मादय तर्पयेत्यात्मानम्। स्वार्थे वा णिच् तृप्य वा। **हरिभि**रश्वैः सह **ये ते** तव स्वभूताः हे **इन्द्र**। केन प्रकारेण? उच्यते। **विष्यस्व शिप्रे** स्यतिरुपसृष्टो विमोचने शिप्रे अपि हनू इहोच्यते हविर्भक्षणाय हनू विमुञ्च प्रेरयेत्यर्थः। **विसृजस्व धेने** धाने इत्यस्यार्थो यथा भाष्यकारेणोक्तो दधातेर्धेनेति जिह्वोपजिह्विके इहापि ते ताभ्यां हि पीयते निधीयते चरतस्तयोरिति जिह्वोपजिह्विके अपि रसास्वादनाय विसृज प्रेरयेत्यर्थः। **आ**कारो वहन्तु इत्येतेन सम्बध्यते। तदर्थं च **त्वा** त्वां हे **सुशिप्र**! अत्र विकल्पेन समुच्चयेन चाभिधानम्। सुहनुः सुनसो वा शोभनोभये वा **हरय आवहन्तु** आनयन्तु। आनीतश्च सन् **उशन्** कामयमानोऽस्मदीयानि **हव्यानि** हवींषि भक्षय **प्रति नो जुषस्व** प्रतिसेवस्व नोऽस्मानभिलषितफलप्रदानेन। क्वचित्तु पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यात् शिप्रशब्देन शिरस्त्राणमुच्यते। **'शिप्रः शीर्षस्सुवितता हिरणमयी'** इति। सुशिप्रः सुशिरस्त्राण इत्यर्थः संभवति।

रंसु इत्यनवगतम्। **रमणा**दिति निर्वचनम्। वर्णलोपादिना। रमणीयेष्वित्यर्थः। उदाहरणम्-

आ यन्मे अभ्वं वनदः पर्नन्तोशिग्भ्यो नामिमीत वर्णम्।

स चित्रेर्ण चिकिते रंसु भासा जुंजुर्वाँ यो मुहुरा युवा भूत्।। (ऋ०२.४.५)

सोमाहुतेरार्षम्। **आ** इत्ययं पनन्तेत्येतेन सम्बध्यते। **यदि**ति व्यत्ययेन पुंस्थाने नपुंसकता। **मे** मम स्वभूताः सामर्थ्याद् ऋत्विजः। **अभ्वं** महान्तो **वनदः** ऋत्विग्विशेषणमेतत्, वननीयस्य हविषो दातारः। **आपनन्त** इति मध्यमः प्रथमार्थे। वनतिः स्तुतिकर्मा। आभिमुख्येन स्तुवन्ति। यश्च **उशिग्भ्यः** मेधाविनाम, एषा विभक्तिः षष्ठ्याः स्थाने। वशेर्वा उशिजः कामिन उच्यन्ते। तेषां मेधाविनां कामिनां वा। **नामिमीत** मिनातिर्वधकर्मा न हिनस्ति **वर्णं** वरणं प्रार्थनां यथाप्रार्थितमर्थं ददातीत्यर्थः। **स चित्रेण** व्यत्ययेनेदं नपुंसकं स्त्रीलिङ्गस्य स्थाने। विचित्रया विचित्रया **चिकिते** ज्ञायते रंसु रमणीयेषु सर्वत्र कन्दरादिषु दावात्मना। सप्तमीश्रुतेः स्थित इति शेषः। **भासा** दीप्त्या **यश्च** इन्धनक्षयात् **जुजुर्वान** जीर्णः। **मुहुर्मु**हू रक्षणेनैव **आ**कारः पदपूरणः, इन्धनमासाद्य **युवा** वरुणो **भूद्** भवति।

द्विबर्हा इत्यनवगतम्। द्वयोरित्याद्यर्थवचनम्। **विपरिवृढ** इत्यवगमः एकमेवेदं ज्योतिरिति कृत्वा **मध्यमे** वैद्युतात्मना **उत्तमे** आदित्यात्मना। अयमपि पुरस्तादुक्तः। उदाहरणम्-

म॒हाँ इन्द्रो॒ नृव॒दा च॑र्षणि॒प्रा उ॒त द्वि॒बर्हा॑ अमि॒नः सहो॑भिः।

अ॒स्म॒द्र्य॑ग् वावृधे वी॒र्या॑यो॒रुः पृ॒थुः सुकृ॑तः क॒र्तृभि॑र्भूत्॥ (ऋ०६.१९.१)

अमिन इत्येतत्प्रसङ्गेन व्याख्यातम्।

अक्र इत्यनवगतम्। आक्रामत्याक्रम्यते वेति आक्रमण इत्यवगमः। **आक्रमणादिति** निर्वचनम्। प्राकारोऽभिधेयः। उदारहरणम्-

अ॒क्रो न ब॒भ्रिः स॑मि॒थे म॒हीनां॑ दि॒दृ॒क्षेयः॑ सू॒नवे॒ भार्ऋ॑जीकः।

उदु॒स्त्रिया॒ जनि॑ता॒ यो ज॒जाना॒पां गर्भो॒ नृत॑मो य॒ह्वो अ॒ग्निः॥ (ऋ०३.१.१२)

विश्वामित्रस्यार्षम्। **अक्रो न** प्राकारः परचक्रं धारयति तद्वत्। **बभ्रिर्भृ**ञस्ताच्छीलिके किप्रत्यय एतद्रूपं धारयितेत्यर्थः। **समिथे** संग्रामनामेदं संग्रामे **महीनां** महतीनां शत्रुसेनानां **दिदृक्षे यो** दिद्रक्षितव्यं च। केन? **सूनवे** तृतीयायाः स्थान एषा चतुर्थी च सूनुना पुत्रभूतेन यजमानेन **भाऋजीको** निरुक्तमेतत् प्रसिद्धः। **उस्त्रिया** गोनामेदं लुप्तोपमं चेह द्रष्टव्यम्। गाव इव गोसदृशीरुत्स्राविणीर्भोगानामत्यन्तोपजीव्याः। काः? सामर्थ्यादाहुतीः। **जनिता** जनयिता चित्रादिना कर्मणा वा एवं जनयितार **उज्जजान** आहुतीः स्वात्मनि प्रक्षिप्ता देवान् प्रति प्रेरणेनोर्ध्वं जनयति गमयतीत्यर्थः। गवामूर्ध्वजननं पोषवृद्धिरुच्यते। **अपां** च वैद्युतात्मना **गर्भो** गर्भभूतः। **नृतमः** एतदपि लुप्तोपमं प्रकृष्टमनुष्यवत् तत्सदृश इव चेत्यर्थः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। स **यह्वो** महन्नामेदम्, महानैश्वर्यात् प्रभावादग्निः।

उराण इत्यनवगम्। **उरु कुर्वाण** इति प्राप्ते नैकवर्णलोपादिना वाक्यार्थ उराण इति पदवचनम्। उदाहरणम्-

वेर॑ध्व॒रस्य॑ दू॒त्या॑नि वि॒द्वानु॒भे अ॒न्ता रोद॑सी संचिकि॒त्वान्।

दू॒त ई॑यसे प्र॒दिव॑ उरा॒णो वि॒दुष्ट॑रो दि॒व आ॒रोध॑नानि॥ (ऋ०४.०७.८)

वामदेवस्य। **वेः** '**विद ज्ञाने**' (धा०२.५४) इत्यस्य वर्तमाने लटि अड्भाव एतद्रूपम् वेत्सि **त्वमध्वरस्य** यज्ञस्य यावत् किञ्चिज्ज्ञातव्यं सर्वम्। **दूत्यानि** दूतस्य च कर्माणि **विद्वान्** जानन् **उभे अन्ता रोदसी** अन्तरुभयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्य इत्यर्थः। अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यत्। किञ्च पुनस्तत्? सामर्थ्यादन्तरिक्षम्। तेनान्तरिक्ष इत्यर्थः। **सञ्चिकित्वान्** सम्यक् स्वमधिकारम्। **दूत ईयसे** गच्छसि। **प्रदिवः** पुराणनामेदं पुराणश्चिरन्तनः। एवकारोऽवधारणः। अल्पमपि हविरुरु बहु कुर्वाणः। तथा च श्रुतिः '**यद्वै देवो जोषत हविस्तदतिमात्रं वर्धत आधीयोऽपरिमितम्**' इति। **विदुष्टरः** सर्वस्माद् विद्वत्तरः। किमीयसे? उच्यते। **दिवो** द्युलोकस्य सम्बन्धीनि **आरोधनानि** आरोहणानि येषु यज्ञाङ्ग............देवा इत्यभिप्रायः। यानि स्थानानि देवानाह्वयितुं हवींष्यर्पयितुमित्यर्थः।

स्तियानामित्यनवगतम्। आपोऽभिधेयाः। **स्त्यायनादिति** निर्वचनम्। '**स्त्यै ष्ट्यै संघातशब्दयोः**' (धा०१.९३५, ९३६) इति। स्त्यायतिः संहननार्थः। हिमभावेन संहताः। उदाहरणम्।

वृषा॑सि दि॒वो वृ॑ष॒भः पृ॑थि॒व्या वृ॒षा सिन्धू॑नां वृ॒ष॒भः स्तिया॑नाम्।

वृष्णे॑ त॒ इन्दु॑र्वृषभ पीपाय स्वा॒दू रसो॑ मधुपेयो॒ वरा॑य॥ (ऋ०६.४४.२१)

शंयोरार्षम्। इन्द्र उच्यते। **वृषा** वर्षिता **त्वमसि। दिवः** षष्ठीश्रुतेरर्थायेति शेषः। **वृषभो** वर्षिता **पृथिव्या** अर्थाय। **वृषा सिन्धूनां** सिन्धवो नद्यो नदीनामप्यर्थाय। द्यावापृथिव्योर्हि नदीनां च स्थितिर्वृष्टिः प्रसिद्धा। अत एवमुच्यते द्युलोकादीनामर्थाय वर्षितेति। कस्य पुनर्वर्षिता? उच्यते। **वृषभः स्तियानाम्**। एवं चोक्तेन रूपेण **वृष्णे** वर्षित्रे **ते** तुभ्यमर्थाय **इन्दुः** सोमो हे **वृषभ** वर्षितः **पीपाय 'स्फायी ओप्यायी वृद्धौ'** (धा०१.४८८,४८९) आप्यायिता आप्यायते वा सम्यक् संसारवृद्ध्या वर्धत इत्यर्थः। कीदृशः? **स्वादुर्मृष्टः। रसो** रसरूपो द्रवः। न मनाक् स्वादुः। किं तर्हि? **मधुपेयो** मध्विव यः पीयते सममुपेयोऽत्यन्तमृष्ट इत्यर्थः। कीदृशाय तुभ्यम्? **वराय** वरस्य श्रेष्ठस्य वरणीयस्य वा तवार्थायेत्यर्थः।

स्तिपा इत्यनवगतम्। तासां **स्तियानां पालयितेत्यर्थवचनम्, उपस्थितानित्यादेर्निर्वचनान्तरत्वाद्** वाशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। उपस्थितान् ज्योतिष्टोमादीन् यागान् **पालयति**। ततश्चोपस्थितः सन्ननेकार्थलोपे वर्णेन स्तिपाः। अग्निरभिधेयः। स ह्याहुतिद्वारेणापां पालयिता। अङ्गभावोपगमनेन चोपस्थितानां कर्तव्यतया ज्योतिष्टोमादीनाम्। उदाहरणम्-

यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे॥ (ऋ०१०.६९.४)

वाध्र्यश्वस्यार्षम्। **यं त्वा** पूर्वस्मिन्नपि काले **ईडितो** व्यत्ययेनायं कर्तरि, ईडितास्ते तव **वध्र्यश्वो** नामाहमृषिः **समीधे** समिन्धितवान् सन्दीपितवान्। हे **अग्ने! स इदमुपकल्पितं** हविः स्तोत्रं वा **जुषस्व** सेवस्व। **स नः** स एव चास्माकं **स्तिपाः 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः'** (मनु०३.७६) इत्यनेन प्रकारेणापां यज्ञानां पालयिता। **उत** अपि च **भवा** भव **तनूपा** शरीराणां पालयिता। **दात्रं** दानं च **रक्षस्व** रक्ष। कतमद्दानम्? **यदिदं ते** तव स्वभूतम्। **अस्मे** चतुर्थ्याः शे आदेशः, अस्मदर्थं सर्वदा देह्यस्मभ्यं मा कदाचिदपि न दा इत्यर्थः।

जबारु इत्यनवगतम्। **जवमानरोहीत्यादयोऽवगमाः**। उदाहरणम्-

तमिन्वे३व समना समानमभि क्रत्वा पुनती धीतिरश्याः।
ससस्य चर्मन्नधि चारु पृश्नेरग्रे रुप आरुपितं जबारु॥ (ऋ०४.५.७)

वामदेवस्य। **तम् इनू** पादपूरणौ। तमेव प्रकृतं वैश्वानरमुत्तमस्थानम्। **समना** समानयोश्चातदनुरूपेत्यर्थः, समानयोग्यमेव। **अभ्युपसर्गोऽश्या** इत्येतेन सम्बध्यते। **क्रत्वा** कर्मणा तत्परिचर्याख्येन **पुनती**। कम्? सामर्थ्यादस्मानेव। कासौ? **धीतिर्मतिरस्मदीया** प्रज्ञा। **अभ्यश्या** व्यत्ययेनायं प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, अभ्यश्याद् व्याप्नुयात् तत्त्वतो जानीयादित्यर्थः। पुरस्तात् तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यस्य स्वभूतं जबारु इति सम्बन्धः। **ससस्य** लुप्तोपममेतत्। योऽयं निश्चलत्वात् सस इव **'सस स्वप्ने'** (धा०२.६८) सुप्त इव। कः? प्रशास्पष्टो ज्योतिरादित्यलोकः। तस्य **पृश्नेरधि** उपरि **चर्मन्** चरेरौणादिको मनिन्। तदन्तात् **'सुपां सुलुक्'** (अष्टा०७.१.३९) इत्येवं तादर्थ्यचतुर्थ्या लुग्द्रष्टव्यः। चर्मणे चरणाय उदयास्तमयलक्षणाय **चारु** दीप्तम् **अग्रे** प्रथमं सृष्टिकालं तव रूपं रिप इत्यस्य पृथिवीनाम्नश्छान्दस इकारस्य उकारः पर्यायान्तरं वा पृथिवीत आरोपितं **देवैर्जबारु** जवरूपया गत्या जरयद्वा प्राणिनो वयो गिरन् वा रसान् रश्मिभिर्यदारोहति नभस्तदादित्यमण्डलम्।

जरूथमित्यनवगतम्। जरूथमिति **गृणातेर्धातोर्गतिकर्मण:**। **जरतेर्वा** एवमर्थस्यैवार्चतिकर्मसु पाठात् (निरु०३.१४)। **'जॄवृञ्भ्यामूथन्'** (उणा०३.१४) इत्यौणादिक ऊथन् भावसाधन: करणसाधनो वा बाहुलकाद् द्रष्टव्य:। जरूथमिति नेदमवगतप्रदर्शनार्थम्। अस्यैवौणादिकत्वेन छान्दसत्वाविशेषात्। स्तुत्यप्रदर्शनार्थं तु गृणातेरुपक्षेप:। अवगमस्तु जरणं गरणमिति वा द्रष्टव्यम्। स्तोत्राभिधेयम्। उदाहरणम्-

त्वामग्ने समिधानो वसिष्ठो जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम्।

पुरुणीथा जातवेदो जरस्व यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:॥ (ऋ०७.९.६)

वसिष्ठस्यार्षम्। **त्वां** हे **अग्ने समिधान:** सन्दीपयन् **वसिष्ठो** नाम ऋषिरात्मन एवायं परोक्षरूपेण **जरूथं** स्तोत्रं **हन्** हन्तेरन्तर्नीतण्यर्थस्य लङ्यडभावश्छान्दसत्वात्, अहन् गमितवान् गमयति वा स्तुतवान् स्तौति वेत्यर्थ:। एतज्ज्ञात्वा **राये** धनाय **यक्षि** यज **पुरन्धिं** बहुकर्माणं बहुप्रज्ञं वा। कम्? सामर्थ्यादात्मानं देवगणं वा **पुरुणीथा** स्तुतिस्ततस्तृतीयाया अलुक्, बह्व्या च स्तुत्या हे **जातवेदो** जातधन जातप्रज्ञ वा **जरस्व** स्तूयस्व स्तुहि देवान्। किञ्च **यूयं पात** एकस्यैव पूजनार्थे बहुवचनम् पाहि। **स्वस्तिभिरविनाशै: सदा** सर्वकालं **नो**ऽस्मान्।

कुलिश इत्यनवगतम्। **वज्रनामेत्यभिधेयवचनम्**। **कूलशातन** इति शब्दसमाधि: कूलशातन: कुलिश:। मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिता: प्रदेशा: कूलानीव शातन तेषाम्। उदाहरणम्-

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहि: शयत उपपृक् पृथिव्या:॥ (ऋ०१.३२.५)

हिरण्यस्तूपस्यार्षम्। **अहन्** हतवान् **वृत्रं** मेघं वृत्रनामानं वासुरम्। **वृत्रतरं** वर्ततेर्गत्यर्थस्य रूपम्, अतिशयेन नष्टारम्। **व्यंसं** विगतांसं विच्छिन्नसर्वाङ्गसन्धिबन्धनमित्यर्थ:। व्यंसनामानं वापरमसुरम्। क:? **इन्द्रो वज्रेण।** कीदृशेन? **महता वधेन** वधकेन नित्यं हन्त्रा। अथवा हननमेव वध: प्रहारो वज्रस्तस्य करणं वज्रेण महता प्रहारेण हतवान् हतश्च सन् **स्कन्धांसीव** वृक्षाणां स्थूला अधोभागायता: शाखा जायन्ते ते स्कन्धा उच्यन्ते, तानि यथा स्कन्धांसि **विवृक्णा** विविधं च्छिन्नानि सन्ति तद्वत्। **अहि**र्मेघोऽयते:। अभिगन्ता वृत्राख्यो व्यंसाख्यश्चासुर: **शयते** शेतिरिह स्थानार्थ:। आमाशयो जलाशय इति यथा। कथम्? **उपपृक् पृथिव्या** उपेत्येष समित्येतस्य स्थाने समर्चिता पृथिव्यां भूमौ पतितस्तिष्ठतीत्यर्थ:। हतो हि सन् मेघ उदकरूपेण भूमौ पतितस्तिष्ठति। स्कन्धो वृक्षस्य समास्कन्नं खमुपश्लिष्टं वृक्षे। इदमपीतरत् प्रास्यावयवरूपं काये आस्कन्नत्वात् इति। असुन्प्रत्ययान्त: स्कन्धशब्दोऽस्ति स्कन्धशब्दश्चाकारान्त: प्रसिद्ध:। उभयं प्रदर्शितम्।

तुञ्ज इत्यनवगतम्। तुजेर्हिंसार्थस्य चलनार्थस्य वा। वज्रोऽपि तुञ्ज उच्यत इत्याह **तुञ्जतेर्दानार्थस्येति** सधात्वर्थस्यावगमं दर्शयति। तुजिर्हिंसायां तुजिश्चलने चेति पठ्यते। तेनास्य दानार्थत्वमगमयति। त्रितभावे रूपमुपपन्नमेव। उदाहरणम्।

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य सप्तदश: खण्ड:।

अथ अष्टादशः खण्डः।

तुञ्जेतुंञ्जे य उत्तंरे स्तोमा इन्द्रंस्य वुज्रिणंः। न विंन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥ (ऋ०१.७.७) दानेदाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः। बर्हणा परिबर्हणा। **'बृहच्छ्रंवा असुंरो बर्हणा कृतः।'** (ऋ०१.५४.३) इत्यपि निगमो भवति॥१८॥

तुञ्जेतुंञ्जे य उत्तंरे स्तोमा इन्द्रंस्य वुज्रिणंः। न विंन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥ (ऋ०१.७.७)

मधुच्छन्दसः। **तुञ्जे तुञ्जे** दाने दाने। कस्य? सामर्थ्याद् वृष्टेर्धनानां वा **ये उत्तरे** पूर्वेभ्यः प्रकृष्टतराः **स्तोमा** मदीया **इन्द्रस्य वज्रिणः**। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तैरपि **न विन्धे** विदेर्लाभार्थस्येदं रूपम्, न लभे। **अस्येन्द्रस्य सुष्टुतिं** तैरपि नाशेषानिन्द्रगुणान् प्रकाशयितुं शक्नोमीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति येऽपि दानपरितुष्टस्य ममात्यन्तमहान्तः स्तोमास्तेऽपीन्द्रस्य गुणैकदेशवर्तिनः समस्तगुणप्रकाशनमप्राप्ताः किं पुनरन्य इति।

बर्हणा इत्यनवगतम्। **परिबर्हणे**ति धात्वर्थकथनम्। धात्वर्थश्च वृद्धिर्हिंसा वा। निबर्हतेर्वधकर्मसु पाठात्। वृद्ध्यर्थस्य बृहेर्भूते कर्तरि ल्युट्, परिवृद्धः प्राप्तो महत्वोर्बर्हणा। ततस्तृतीयैकवचने बर्हणेति प्राप्ते तृतीयायाः **'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा'** (अष्टा०७.१.३९) इत्याकारः। हिंसार्थे वा भावे ल्युट्, बर्हणं ततः पूर्ववद् विभक्तेराकारः। अतो बर्हणमित्यवगमः। सर्वथा बर्हणा इत्यनवगतम्। उदाहरणम्–

अर्चा दिवे बृंहते शूष्यं१ वचः स्वक्षंत्रं यस्यं धृषतो धृषन्मनंः।
बृहच्छ्रंवा असुंरो बर्हणा कृतः पुरो हरिंभ्यां वृषभो रथो हि षः॥ (ऋ०१.५४.३)

सव्यनामापत्रस्येन्द्रस्यार्षम्। अर्चतिः सामर्थ्यादुच्चारणार्थः। आत्मन एवायमन्तरात्मना प्रैषः। **अर्च** उच्चारय हे अन्तरात्मन्। **दिवे बृहते** तादर्थ्य एते, दीप्तस्य महतश्चेन्द्रस्या**शूष्यं** शूषं बलं ततो निमित्तार्थे यद् बलस्य निमित्तं बलवृद्धिकरमित्यर्थः। किं तत्? **वचः** स्तुतिलक्षणम्। स्तूयमाना हि देवता वीर्येण वर्धत इति। उच्चारय प्रापय शूष्यं वच इति यस्येन्द्रस्य। किम्? उच्यते। स्वक्षत्रम् इत्यपठितमपीह बलनाम द्रष्टव्यम्। **स्वक्षत्रं** बलं न पराश्रितं यस्य तदन्यपदार्थः। **यस्येन्द्रस्य धृषतः** परानभिभवतो **धृषद्** धृष्टं प्रगल्भं **मनो** यः स्वबलेन शत्रून् घ्नन् न कुतश्चिन्मनसा बिभेतीत्यर्थः। येन च **बृहच्छ्रवा** रथो हि षः इति तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। बृहच्छ्रवाः श्रव इति धननाम महाधनो**ऽसुरो** वृत्रोऽन्यो वा शम्बरः। **बर्हणा** बृहिर्वृद्ध्यर्थः, इन्द्रस्यैवेदं विशेषणं प्राप्तमहिम्ना परिवृद्धेनेन्द्रेण। अथवा निबर्हयतेर्बर्हणा हिंसोच्यते। तेन **कृतः**। कदा कृतः? उच्यते। **पुरो हरिभ्यां** प्राग् हरिभ्यां प्राप्ते दूरस्थेनैव सतेत्यर्थः। कीदृशः कृतः? उच्यते। **वृषभो** वर्षिता रुधिरौघस्य सर्वतः क्षारयन् क्षतजं व्रणजमित्यर्थः। न चैतत् सुकरम्। यतो **रथो हि**शब्दो यस्मादर्थे यस्माद्रथ ईहिता प्रतिमुखमभिगन्ता **स** अत्यन्तशूर इत्यर्थः।

ततनुष्टिरित्यनवगतम्। **ततो नुन्न**मित्यवगमः। ततो धर्मसन्तानादग्निहोत्रादेः कर्मणो नुन्नोऽपेतः। ततो नुन्नः सन् ततनुष्टिः। अथवा ततन् इत्येतत् शब्दरूपं तनोतेर्भोगसन्तानं वा। उष्टिशब्दो वशेः कान्तिकर्मणः। भोगसन्तानं वष्टीति ततनुष्टिः। विषयभोगसन्तानकाम इत्यर्थः। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथ एकोनविंशः खण्डः।

घ्रंस (निघ०१.९.६) इत्यहर्नाम। ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। गोरूध उद्धततरं भवति। उपोनद्धमिति वा। स्नेहानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यते। स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति भवत्यह द्योतनवान्। अपोहत्यपोहति शक्रस्तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानं तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम्। मघवा यः कवासखः। यस्य कपूयाः सखायः। **न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळहा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः॥** (ऋ०१.३३.१२) निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि। व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्णमिन्द्रः॥१९॥

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।

अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः॥ (ऋ०५.३४.३)

संवरणस्य प्रजापतेः पुत्रस्यार्षम्। **यो** यजमानः। **अस्मै** इन्द्राय। **घ्रंसे उत वा य ऊधनि** ऊधनीति रात्रिनाम रात्रौ **सोमं सुनोति** सर्वदा यजत इत्यभिप्रायः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। स **भवति द्युमान्** दीप्तिमान् ऐश्वर्ययुक्त इत्यर्थः। **अहे**ति पदपूरणो विनिग्रहार्थीयो वा एवार्थे, भवत्येव दीप्तिमान्। अन्यस्तु **शक्रः** शक्त इन्द्रः। **ततनुष्टिं** ततोनुन्नधर्मान् इन्द्रियविषयभोगसन्तानकामं वा **अपाप ऊहति 'प्रसमुपोदः'** (अष्टा०८.१.६) इत्येवमेतच्छान्दसत्वाद् अपशब्दस्यापि पादपूरणे द्विर्वचनम्। अपोहति सर्वतोऽपनयति विनाशयतीत्यर्थः। **तनुशुभ्रं** स्वस्यास्तन्वाः स्रगनुलेपनादिभिः शोभयितारम्। **मघवा यः कवासखः** कुशब्दस्यायं **'कवञ्चोष्णे'** (अष्टा०६.३.१०७) इति सखिशब्दे कवादेशश्छान्दसत्वाद् द्रष्टव्यः। कुसखा स्वयं भोगप्रवृत्तो दुष्टप्रसाधनसखायोऽपि तस्य भोगप्रधाना एव न यागशीला इत्यर्थः।

घ्रंस इति पठ्यमानस्य निर्वचनार्थ उपक्षेपः। रसा अवश्याया आदित्येन। रात्रिशब्दनिर्वचनार्थं प्रसिद्धं तावदाह **गोरूधः** प्रसवकाले अङ्गान्तरेभ्य **उच्छ्रिततरं** भवति। यद्वा उपश्लिष्टमुद्धृतमुद्धृतमिव केनचित्। ततस्त्रस्नो **रसानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यत** इति निर्वचनार्थ उपक्षेपः पठ्यमानस्यैव। ततनुष्टिशब्दार्थप्रदर्शनमलंकरिष्णुमित्यादि। तनुं शोभयितारमिति पाठः। कपूयाः पापाः।

इलीबिश इत्यनवगतम्। **इलाबिलाशय** इत्यवगमः। इलो बलमन्नं तन्निष्पत्तिहेतुभूतमुदकमत्रेलाशब्दवमायेण इलाशब्देनोच्यते। बिले उदके शेते इति बिलेशयः सन् वर्णव्यापत्तिलोपादिना इलीबिशः। मेघोऽभिधेयः उदाहरणम्-

न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळहा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः।

यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्॥ (ऋ०१.३३.१२)

हिरण्यस्तूपस्य कस्यचित्। **न्याविध्यद** निकृत्य विद्धवान् कस्य? **इलीबिशस्य** मेघस्य **दृळहा** दृढानि दुर्वधानि। कानि? सामर्थ्यादुदकनिर्गमबिलानि। तं **शृङ्गिणं** शृङ्गिणीति ज्वलतो नामधेयं दीप्तिमन्तमित्यर्थः। **व्यभिनद** विविधं भिन्नवान्। **शुष्णं** बलनामेदं सामर्थ्याच्चान्तर्नीतमत्वर्थं द्रष्टव्यम्। बलवान्। कः? **इन्द्रः** कस्यचिद् बलान्युदघट्टितवान्। कंचित्तु शतशर्करं भग्नवानित्यर्थः।

परोऽर्धर्चादिः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्। **यावद्** यत्परिमाणं **तरः** इलनामेदं स्वसेनालक्षणं बलं हे **मघवन्** यत्परिमाणं च **ओजः** शरीरलक्षणं बलम्। यावदितिश्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् तावच्छब्दोऽध्याहार्यः। तावता सर्वेण **वज्रेण** च **स्वशत्रुमवधीः** छान्दसत्वाद् वर्तमाने लुङ् जहि। अस्मदीयं वा **पृतन्युं** संग्रामम्।

कियेधा इत्यनवगतम्। **कियद्धा क्रममाणधा इति** वावगमः। कियदप्यपरिमितं स्वर्बलं धारयति। क्रममाणं वाभिमुखं परबलं धारयति निरुणद्धीति दधातेर्विचि रूपम्। इन्द्रो विशेष्यः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः।

अथ विंशः खण्डः।

अ॒स्मा इदु॑ प्र भ॑रा॒ तूतु॑जानो वृ॒त्राय॒ वज्र॒मीशा॑नः किये॒धाः। गोर्न पर्व॒ वि र॑दा तिर॒श्चेष्य॒न्नर्णां॑स्य॒पां च॒रध्यै॥ (ऋ०१.६१.१२) अस्मै प्रहर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रमीशानः। कियेधाः कियद्धा इति वा। क्रममाणधा इति वा। गौरिव पर्वाणि विरद मेघस्य। इष्यन्नर्णांस्यपां चरणाय। भूमिः भ्राम्यतेः। **'भृमि॑रसि ऋषि॒कृन्मर्त्या॑नाम्।'** (ऋ०१.३१.१६) इत्यपि निगमो भवति। विष्पितः विप्राप्तः। **'पा॒रं नो॑ अ॒स्य वि॑ष्पि॒तस्य॑ पर्षन्।'** (ऋ०७.६०.७) इत्यपि निगमो भवति॥२०॥

अ॒स्मा इदु॑ प्र भ॑रा॒ तूतु॑जानो वृ॒त्राय॒ वज्र॒मीशा॑नः किये॒धाः।
गोर्न पर्व॒ वि र॑दा तिर॒श्चेष्य॒न्नर्णां॑स्य॒पां च॒रध्यै॥ (ऋ०१.६१.१२)

नोधस आर्षम्। **अस्मै इदू** पदपूरणौ, **प्रभरा** प्रहर **तूतुजानः** क्षिप्रनामेदं त्वरमाणः। हिंसार्थो वा तुजिः हिंसन्। **वृत्राय वज्रम्** एनं वृत्रं हन्तुं क्षिप्रं वज्रं क्षिपेत्यर्थः। **ईशानः कियेधाः** प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः। अव्यतिरिक्त-प्रातिपदिकार्थप्रथमान्ते चैते। अतो यत्तच्छब्दावध्याहृत्य एकवाक्यतां नेये। यस्त्वमी**शान** ईश्वरः कृत्स्नस्य जगतः **कियेधाश्च** कियतोऽप्यविज्ञायमानं धरिमाणस्य बलस्य धारयिता महाबल इत्यर्थः। स प्रहर वज्रमिति। प्रहृत्य च **गोर्न पर्व विरदा** यथा नो गोर्विकर्ता गोः पर्व अवयवं विरदेत् तद्वत् विरद विकृन्त मेघमित्यर्थः। **तिरश्चा** तिरश्चीरम्। **इष्यन्नर्णांसि 'इष गतौ'** (धा०४.२१) सामर्थ्याच्चेहान्तर्नीतण्यर्थो द्रष्टव्यः, गमयन्नुदकानि। अथवा इच्छतेरेवायं व्यत्ययेन श्यन् विकरणम् इच्छन्नुदकानि। **अपां चरध्यै** भुवं प्रति चरणाय न ह्यनिकृत्ते मेघे तदन्तर्गता आपो भुवं गन्तुं प्रतिसमर्था इति।

भृमिरित्यनवगतम्। भ्राम्यतेरिति धातुनिर्देशः। भ्रमणमित्यवगमः। भ्रमिता स्वयं भ्रमितान्येषामित्यर्थः। उदाहरणम्-

इ॒माम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो न इ॒मम॒ध्वान॒ं यमगा॑म दू॒रात्।
आ॒पिः पि॒ता प्रम॑तिः सो॒म्याना॒ं भृमि॑रसि ऋषि॒कृन्मर्त्या॑नाम्॥ (ऋ०१.३१.१६)

हिरण्यस्तूपस्य। अत्रेतिहासः हिरण्यस्तूपो यागाग्निं विहृत्य रक्षोभयाद् दूरं प्रणश्य गतेषु रक्षस्सु प्रत्यागतः कृतापराधाभिप्रायेण अग्निमाह। **इमां हे अग्ने शरणिं 'शृ हिंसायाम्'** (धा०९.१६) **मीमृषः**

'मृषतिस्तितिक्षायाम्' (धा०४.५८) इत्यस्य स्वार्थिको णिच्, लोडर्थे लुङ् मृषस्य क्षमस्व **नोऽ**स्माकम्। कतमः? उच्यते। **इममध्वानं** त्वा **यमगाम** विहृत्य अनिष्टा रक्षोभयाद् गतस्य **दूराद्**दूरम्। किं कारणमेवमुच्यते? यस्माद् **आपिः** प्राप्तो ज्ञातिः स्वम्। कीदृशः? **पिता** पितृस्थानीयः। **प्रमतिः** प्रकृष्टे मतिः प्रमतिरनुग्रहपरः। केषाम्? **सोम्यानां** सोमार्हाणां सोमसम्पादिनाम्। किञ्च **भृमिरसि** लोकत्रये विभ्रमितासि त्रिष्वपि लोकेष्वप्रतिहतगतिरित्यर्थः। **ऋषिकृत्** तमोपघातद्वारेण च दर्शनकृद् **मर्त्यानामेव**। इतीयमितिहासपक्षेण योजना।

नित्यदर्शने त्वन्यथा योज्यते। **इमां** हे **अग्ने शरणिं** संसारप्राप्तिलक्षणां हिंसां **मीमृषः** मृजेरियं जकारस्य षकारापत्त्या छान्दसं रूपं न मृषेः, मार्जयापनय। अस्माकमिमं संसारा**ध्वानं यमगाम** प्राप्ताः स्मः। **दूरा**न्मरणप्रबन्धरूपायाः सृष्टेः प्रभृति आसंसारमित्यर्थः। किं कारणम्? यस्मात्त्वामा**पिः पिता प्रमतिः सोम्यानां** यस्माच्च **भृमिरसि** भ्राम्यतेर्ण्यन्तस्येदं रूपम्, भ्रमयितासि भ्रान्तेः कर्ता। **ऋषिकृद्** दर्शनकृच्चासि सम्यग्ज्ञानकारणश्चासि मनुष्याणाम्। एतदुक्तं भवति भ्रान्तेः सम्यग्ज्ञानस्य च त्वं कर्तासि। मर्त्यानां त्वदायत्तौ च संसारमोक्षौ। त्वं च पितृवत् सर्वयजमानानामनुग्रहपरः। **नोऽ**स्मान् सम्यग्ज्ञानोपादानेन मोचयास्मात् संसारादिति। तथा च स्मरणम्—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ इति॥ (मनु०६.७४)

विष्पित इत्यनवगतम्। **विप्राप्त** इत्यवगमः। विकारोपजनवर्णलोपादिर्द्रष्टव्यः। विस्तीर्ण इत्यर्थः। उदाहरणम्—

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्॥ (ऋ०७.६०.७)

वसिष्ठस्य। **इमे** प्रकृता मित्रो वरुणो अर्यमा च **अनिमिषा** अनिमिषेण महता यत्नेनेत्यर्थः। **दिवो** द्युलोकात् **पृथिव्याः** पृथिवीलोकाच्च **चिकित्वांस** इदमप्यस्य कर्म अत्रानेन गन्तव्यमित्येज्जानन्तः। **अचेतसम्** अज्ञं कं देशं केन वा यास्यामीत्येतदजानन्तमित्यर्थः। प्राणिनं **नयन्ति** यत्रानेन परिपक्वस्वकर्मवशाद् गन्तव्यम्। यत एनान् मित्रादीन् ब्रवीमि **प्रव्राजे चित्** प्रकर्षेण व्रज्यते यस्मिन् स प्रव्राजो मरणकालस्तस्मिन्। चिच्छब्दो यद्यर्थे, यदि **नद्यो**ऽस्याः संसारनद्या **गाधं** प्रतिष्ठास्थानं येनास्मिन् संसारनदीश्वभ्रे निमज्जन्तो धारयामहे तज्ज्ञानं कर्म वा किञ्चि**दस्ति** ततः **पारं** कूले **नो**ऽस्मान् **विष्पितस्य** विप्राप्तस्य विस्तीर्णस्य संसारनदीश्वभ्रस्य **पर्षन्** पारयन्तु गमयन्तु प्रापयन्त्वित्यर्थः। अनादिश्च संसारः शिलष्यते अन्तवांश्चापवर्गेण। अतः पारमपवर्ग इहाभिप्रेतः।

तुरीपमित्यनवगतम्। **तूर्णापी**त्यवगमः। उदकमभिधेयम्। तद्धि तूर्णमाप्नोत्येवंशीलं तूर्णापि सत्तुरीपम्। उदाहरणम्—

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथ एकविंशः खण्डः।

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना। त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥ (ऋ०१.१४२.१०) तन्नस्तूर्णापि महत्सम्भृतमात्मना त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यतु इति। अस्मयुरस्मान् कामयमानः। रास्पिनो रास्पी रपतेर्वा। रसतेर्वा। **'रास्पिनस्यायोः।'** (ऋ०१.१२२.४) इत्यपि निगमो भवति। ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। **'आ वं ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु।'** (ऋ०१०.७६.१) इत्यपि निगमो भवति। ऋजुः इत्यप्यस्य भवति। **'ऋजुनीती नो वरुणः।'** (ऋ०१.९०.१) इत्यपि निगमो भवति। प्रतद्वसु प्राप्तवसू। **'हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर।'** (ऋ०८.१३.२७) इत्यपि निगमो भवति॥ २१॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥ (ऋ०१.१४२.१०)

दीर्घतमसः। **तत्** नोऽस्मदर्थं **तुरीपं** तूर्णापि तूर्णव्यापि **अद्भुतं** महन्नामेदम्, सारतश्च महद् महत्त्वं तदिहाभिप्रेतं माभूत् पौनरुक्त्यं परेणेति तेन सारतो महदित्यर्थः। **पुरु वा**शब्दश्चार्थे बहु च वृष्ट्युदकं परिमाणतः। **अरं** पर्याप्तश्च सर्वकामेभ्यः **पुरु** विश्वमेतत्, क्रियाविशेषणम्। कथम्? विश्वं पुरु सुष्ठु भृशमित्यर्थः। **त्मना** आत्मनैव **त्वष्टा** मध्यमस्थानः **पोषाय** पुष्ट्यर्थं **विष्यतु** स्यतिरुपसृष्टो विमोचने विमुञ्चति। **राये** षष्ठ्यर्थ एषा चतुर्थी। कस्य पुष्ट्यर्थम्? रायो धनस्य गवादेः क्वचित् मुञ्चतु **नाभा** नाभौ जगतोऽभिभूतायां वेद्यां वा **नो**ऽस्माकं स्वभूतायाम् **अस्मयुः** त्वष्टृविशेषणमेतत्, अस्मान् कामयमानस्त्वष्टा। महत् सम्भृतमिति अद्भुतशब्दनिर्वचनं द्रष्टव्यमिति।

रास्पिन इत्यनवगतम्। कथम्? **रपतेः रसतेर्वा** कर्तरि चेति कर्मसाधनो घञ् भावे वा रासो वा रापो वा शब्द उच्यते तद्वद् रापिं वा रासि वा सत् सकारपकारोपजनेन **रास्पिन्** शब्दः। बहूदकं स्तोतृ वोच्यते। ततस्तादर्थ्यादस्तीत्यर्शआदित्वादकारः प्रकृतिभावश्च द्रष्टव्यः, रास्पिनो दण्डिमती शालेति यथा। अतश्च शब्दश्च तोदकेन तद्वा। मेघोऽभिधेयः। उच्चार्यमाणेन स्तोत्रेण स्तोता वा। उदाहरणम्–

उत त्या मे यशसा श्वेतनायै व्यन्ता पान्तौशिजो हुवध्यै।
प्र वो नपातमपां कृणुध्वं प्र मातरा रास्पिनस्यायोः॥ (ऋ०१.१२२.४)

कक्षीवत आर्षम्। उतशब्दोऽप्यर्थे। त्यच्छब्दः समानार्थः। त्यच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यौ पूर्वमहं स्तुतवान् वैश्वदेवत्वात् सूक्तस्य **त्यौ** तावप्यश्विनौ **मे** तादर्थ्यचतुर्थ्येषा, ममार्थाय मदनुग्रहायेत्यर्थः। **यशसा** यशःशब्दोऽत्र धननामा अन्ननामा वा कीर्तेश्च पर्यायो वा अन्तर्नीतमत्वर्थश्च द्रष्टव्यः। तेन धनवन्तौ वा कीर्तिमन्तौ वा। **श्वेतनायै** श्वेतनेत्येतदपठितमपि उषोनाम द्रष्टव्यम्। षष्ठ्यर्थे चात्र चतुर्थी, तच्छ्तेश्च उदयकाल इति शेषः। उषस उदयकाले **व्यन्ता** व्यन्तौ खादन्तौ पुरोडाशादीनि **पान्ता** पिबन्तौ सोमम्। **औशिज** इत्यहं कक्षीवान् **हुवध्यै** ह्वयतेरर्चतिकर्मणः। एतद्रूपं कध्यैप्रत्यये। ओषधिवनस्पतयः प्रसोरणे च

स्तोतुमिच्छामीति शेषः। **प्र**शब्दः कृणुध्वमित्येतेन सम्बध्यते। **व** इत्यपि प्रथमायाः स्थाने वसादेशश्छान्दसत्वात्। यूयमपि हे पुत्रादय ऋत्विजो वा **नपातमपां** अपान्नपात् सविता। कथम्? **'अद्भ्यो हि वैद्युतात्मना अग्निर्जायते अग्नेः सविता अग्नेर्वा आदित्योऽजायत'** इति श्रुतेः। अथवा पन्नवा अग्निद अद्भ्य ओषधिवनस्पतयोऽग्निं नपातम्। **प्रकृणुध्वं** करोतिरत्र क्रियासामान्यवचनत्वात् स्तुतौ वर्तते प्रकर्षेण स्तुत। **प्रमातरा** प्रकर्षेण मातृभूते द्यावापृथिव्यौ स्तुत। कस्य मातृभूते? उच्यते। **रास्पिनस्य** स्तुतीनां रापितू रासितुर्वा। **आयोर्मनुष्यनामेदं** मनुष्यस्तोतुरित्यर्थः। मेघस्य वा स्वेनानुग्रहेण निर्मात्रोरनयोर्गमनस्वभावकस्य।

ऋञ्जतिरित्यनवगतं धात्वर्थमिति यत आह **ऋञ्जतिः प्रसोधनकर्मा**। विषमस्य समीकरणं वा वर्गीकरणादेवमुच्यते। प्रसाधनमात्मसात्करणं तदर्थ इत्यर्थः। अस्य च भात्रृजीक इत्येतेन गतार्थतां मन्यमानो भाष्यकारो निगमं नाध्यगीष्ट। तथोदाहरणं प्रदर्श्यते–

दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्। यजिष्ठमृञ्जसे गिरा॥ (ऋ०४.८.१)

वामदेवस्यार्षम्। अग्निरुच्यते। **दूतं वः** द्वितीयैकवचनस्यायं वसादेशश्छान्दसत्वात्, त्वाम्। कीदृशम्? **विश्ववेदसं** सर्वस्य वेदितारं सर्वज्ञमित्यर्थः। सर्वधनया **हव्यवाहं** हविषां वोढारम्। **अमर्त्यं** मरणवर्जितम्। **यजिष्ठम्** अतिशयेन यष्टारम्। **ऋञ्जसे** व्यत्ययेन मध्यम उत्तमस्य स्थाने ऋञ्जे **गिरा** स्तुत्या। प्रदर्शनमिदं हविषो दानेन स्तुत्या च प्रसाधयामि।

ऋजुरित्यप्यस्यैव ऋञ्जतेः प्रसिद्धः, अकुटिल इत्यर्थः। उदाहरणम्–

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः॥ (ऋ०१.९०.१)

गौतमस्य। अस्मान् **मित्रो वरुण**श्च यत्र स्वर्गे ब्रह्मलोके वास्माभिः कृते कर्मणि गन्तव्यं तत्र **नयतु विद्वान्**। किम्? सामर्थ्यात् कर्मफलविपाकं भक्ततां वास्माकम्। न च केवलौ मित्रावरुणौ। किं तर्हि? **अर्यमा** च **देवैः** सह सम्प्रीयमाणः।

प्रतद्वसू इत्यनवगतम्। **प्राप्तवसू** इत्यवगमः। पकारलोपोपजनह्रस्वत्वादीनि द्रष्टव्यानि। अश्वाबभिधेयौ। उदाहरणम्–

इह त्या सधमाद्या युजानः सोमपीतये। हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर॥ (ऋ०८.१३.२७)

नारदस्यार्षम्। **इह** अस्मद्यज्ञे **त्या** तौ **सधमाद्या** सह मादयितव्यौ **युजाना** रथे आत्मीये। किमर्थम्? **सोमपीतये** आत्मनः सोमपानार्थम्। **हरी** यावात्मीयावश्वौ हे **इन्द्र प्रतद्वसू** प्राप्तऋजीषाख्यधनौ। **अभिस्वर** स्वरतिर्गतिकर्मा अभिगच्छ।

हिनोत इत्यनवगतम्। **प्रहिणुत** इत्यवगमः। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य एकविंशः खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्। ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ (ऋ०१०.३०.११) प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै। प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सननाय। ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे। याज्ञे शकटे इति वा। शकटं शकृदितं भवति। शनकैस्तकतीति वा। शब्देन तकतीति वा। श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः। सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः। **चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्॥** (ऋ०१.३३.३) दधदिन्द्र बहु वननीयम्। **एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्॥** (ऋ०६.४७.१६) व्युदस्यत्येधमानानहर्द्वेष्टि असुन्वतः। सुन्वतोऽभ्यादधाति। उभयस्य राजा दिव्यस्य च पार्थिवस्य च। चोष्कूयमाणः इति चोष्कूयतेः चर्करीतवृत्तम्। सुमत् स्वयमित्यर्थः। **उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म॥** (ऋ०१.१६२.७) उपप्रैतु मां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेनेत्याश्वमेधिको मन्त्रः। दिविष्टिषु दिव एषणेषु। **स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु॥** (ऋ०८.४.१९) स्थूरः समाश्रितमात्रो महान् भवति। अणुरनु स्थवीयाँसम्। उपसर्गो लुप्तनामकरणः। यथा सम्प्रति। कुरुङ्गो राजा बभूव। कुरुगमनाद्वा। कुलगमनाद्वा। कुरु कृन्ततेः। क्रूरमित्यप्यस्य भवति। कुलं कुष्णातेः, विकुषितं भवति। दूतो व्याख्यातः (निरु०५.१) जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। **'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।'** (ऋ०१.१६४.५१) इत्यपि निगमो भवति॥ २२॥

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ (ऋ०१०.३०.११)

कवषस्य। आप एकधनलक्षणा उच्यन्ते। **'हि गतौ'** (धा०५.११) सामर्थ्याच्चात्रान्तर्नीतण्यर्थः। **हिनोत** गमयत समापयत वा। **नो**ऽस्माकम्। **अध्वरं** यज्ञम्। किमर्थम्? **देवयज्या** चतुर्थ्या लुग् द्रष्टव्यः, देवयज्यायै देवयागार्थम्। **हिनोत** च गमयत **ब्रह्म** स्तुत्याख्यं वर्धयत स्तुतिं प्रति निमित्तभावादेवमुच्यते। किमर्थम्? **सनये** सनिलाय यज्ञफललक्षणानां **धनानाम्**। किञ्च यदिद**मृतस्य** यज्ञस्य **योगे** सम्बन्धिनि सप्तमीश्रुतेर्वर्तत इति शेषः। यज्ञसम्बन्धितामापन्न इत्यर्थः। किं पुनस्तत्? अश्वाभ्यां युज्यमानत्वात् योगशब्देन शकटमुच्यते। योग इति सामीपिकमधिकरणम्। गङ्गायां गाव इति यथा। यज्ञसम्बन्धिनो हविर्धानस्य शकटस्य समीपे **ऊधः**स्थानीयमधिषवणचर्म एतत् प्रति सोमरसेन मिश्रीभूय **विष्यध्वं** विमुञ्चतात्मान पूरयत तद्रसेनेत्यर्थः। तच्च कुर्वत्यः **श्रुष्टीवरीः** सुखवतीर्द्वितीया प्रथमार्थे, सुखवत्यः सुखकर्य इत्यर्थः। **भूतन** भवत **अस्मभ्यं** हे **आप** एकधनाः।

योगशब्दार्थकथनप्रसङ्गेन शकटं निराह शकृता युक्तं तद्विशिष्टेन शकृता गोमयेनाटति मार्गे शकृन्मुञ्चतीत्यर्थः। शनैर्वा तकति गच्छति गन्तृवशात्तु शब्देन वेत्थंभूतेन तकति।

चोष्कूयमाणः, चोष्कूयत इति पदद्वयमनवगतधात्वर्थम्। कुत एतत् यतः '**स्कुञ् आप्रवणे** (धा०९.६) पठ्यते। इह च दानार्थः। अषोपदेशत्वाच्च षत्वानवगमः। क्वचिद् व्युदसनार्थत्वादनेकार्थत्वमपि। उदाहरणम्-

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि।

चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध॥ (ऋ०१.३३.३)

हिरण्यस्तूपस्य। निशब्द असक्त इत्येतेन सम्बध्यते। **सर्वसेनः** समग्रया सेनयोपेत इन्द्रः। **इषुधीन्** तूणानि **असक्त** 'षञ्ज सङ्गे (धा०१.१०२२) सजति आत्मनः पृष्ठे रथे वा बध्नातीत्यर्थः। निषज्याय ईश्वर इन्द्रः शत्रूणां स्वभूता **गाः समजति** 'अज गतिक्षेपणयोः (धा०१.२३०) सम्यक् क्षिपति स्वराष्ट्रं प्रति प्रेरयति अपहरतीत्यर्थः। **यस्य** शत्रोर्गा अपहर्तुं **वष्टि** कामयते तस्य सर्वस्यापहरति न केनचित् प्रतियोद्धुं शक्यत इत्यर्थः। अथवा दानकाले यदर्पणं तदत्र क्षेपणमभिप्रेतम्। आश्रितेभ्यो दानकाले सम्यक् क्षेपयति अर्पयति यस्यार्पयितुं कामयते यस्मै दातुमिच्छति तस्मै ददातीत्यर्थः। अथवा गावोऽत्र आपोऽभिप्रेताः। निषज्येषुधीन् मेघं घ्नन् अपः सम्यक् क्षिपति। यस्य वष्टि यजमानस्य वा।

परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतत्वाद् भिन्नं वाक्यम्। **चोष्कूयमाणः** ष्कुनातेर्दानार्थस्य यङि रूपम्। अत्यर्थं पुनः पुनर्ददत् हे **इन्द्र भूरि** बहु **वामं** वननीयमत्यन्तोत्कृष्टम्। किम्? सामर्थ्याद्धनं **मा पणिर्भूः** पणिर्वणिगुच्यते, मा वणिक्सदृशोऽल्पदो भूरित्यर्थः। **अस्मदधि** अस्माकमुपरि अस्मभ्यं माल्पं कदाचिददा इत्यर्थः। हे **प्रवृद्ध** शरीरेण महान्।

स्कुनातेर्दानार्थतां दर्शयन्नाह-**ददिन्द्रेति**। अनेकार्थत्वप्रदर्शनायाह-**एधमानद्विळित्यादि**।

शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन् अन्यमन्यमतिनेनीयमानः।

एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्॥ (ऋ०६.४७.१६)

गर्गस्यार्षम्। शृणोतेर्व्यत्ययेनात्र आत्मनेपदोत्तमैकवचनं शप् विकरणः कर्मणि लट् प्रथमैकवचनस्य स्थाने। श्रूयते प्रख्यायत इत्यर्थः। **वीरः** शूरः इलामि। किं कुर्वन्? उच्यते। **उग्रमुग्रं दमायन्** यावान् कश्चिदुग्रोऽप्रसह्यः शत्रुस्तं सर्वं दमायन्। **अन्यमन्यं** चात्मनः स्तोतारम्। **अतिनेनीयमानो**ऽतिशब्दः पूजायाम्, अतिपूजितं शोभनमर्थं नयन्। किम्? सामर्थ्यात् समृद्धिम्। सर्वं च स्तोतारमात्मनः समृद्धं कुर्वन्नित्यर्थः। किञ्च **एधमानद्विट्** ऋध्यतां द्वेष्टा। किं सर्वेषाम्? न। किं तर्हि? अयष्टॄन्। कुत एतत्? सामर्थ्या**दुभयस्य** दिव्यस्य पार्थिवस्य च धनस्य **राजा** ईश्वरः। **चोष्कूयते** स्कुनातिरत्र व्युदसनार्थे। अत्यन्तं व्युदस्यति निराकरोति। कीदृशान्? **विश** 'विश प्रवेशने (धा०६.१४३) अनुप्रविष्टानात्मीयभूतानाश्रितानपित इत्यर्थः। **इन्द्रो मनुष्यान्**। किं सर्वान्? न। किं तर्हि? ऋद्धानयष्टॄन्। कुत एतत्? एधमानद्विडिति वचनात् द्विष्यमाणस्य च व्युदस्यमानत्वात्।

एधमानानहेति अहशब्दो व्युदस्यतीत्यस्यानन्तरो द्रष्टव्यः। व्युदस्यत्येव। अतिनेनीयमान इत्यस्यार्थवचनम् **अन्वतोऽभ्यादधातीति**। उच्छ्रितान् करोतीत्यर्थः। उभयोर्नामाख्यातयोर्निर्वचनं चोष्कूयमाण इत्यादि।

सुमदित्यनवगतम्। **स्वयमि**त्यवगमः। उदाहरणम्-

उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपृष्ठः।

अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्।। (ऋ०१.१६२.७)

प्रकर्षेणोपागात्। लोडर्थे लुङ् उपागच्छतु। **सुमत्** स्वयमेव। अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दौ योग्यतार्थसम्बन्धा- वध्याहार्यौ। **यन्मे** मम मदीयमिति शेषः। **अधायि** शुद्धो न्ययं दधातिर्निपूर्वार्थो द्रष्टव्यः। **न्यधायि** निहितम्। यन्मम मदीयम्। किं पुनस्तत्? उच्यते। यज्ञेनेदं यत्स्यादिति। सामर्थ्याद् यज्ञसाध्यं विशिष्टं फलम्। तदर्थं **देवानां** यागाङ्गभूतानां या **आशा** प्रार्थना हविर्भूतमिममश्वं भक्षयेत्येवंरूपा। **उपेत्युपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः,** उपागच्छतु। कः? **वीतपृष्ठः** वीतेः कान्तिकर्मणः वीतं कान्तं पृष्ठं यस्य सः। अश्वमेधसंभूतोऽयमश्व इत्यर्थः। उपागच्छन्तं च अनुशब्दो मदन्तीत्येतेन सम्बध्यते। **एनमश्वमनुमदन्ति।** मदिरत्र सामर्थ्यान्मतेरर्थे। लोडर्थे च लट्, अनुमन्यन्ताम्। के? **विप्रा** मेधाविन **ऋषयश्च। देवानां पुष्टे** पोषणं पुष्टं भावे निष्ठा निमित्तार्थे च सप्तमी, पोषणनिमित्ते पुष्ट्यर्थमित्यर्थः। **चकृत** कृतवन्तः। **सुबन्धुं** सुबन्धनं यूपे रशनया सम्यग् बद्धमित्यर्थः।

आश्वमेधिक इति प्रकरणमनुसारयति। प्रकरणमप्यर्थाभिव्यक्तावलमित्यभिप्रायः। तथा च शास्त्रान्तरे वक्ष्यति **'प्रकरणश एव मन्त्रा निर्वक्तव्याः'** इति।

दिविष्टिषु इत्यनवगतम्। **दिव एषणीषु** इत्यवगमः। **'इषु इच्छायाम्** (धा०६.७०) इत्यस्य वा करणसाधनः क्तिन्। द्यौर्गम्यते प्रार्थ्यते वा याभिस्ता यागक्रिया इष्टयश्च सत्यो दिविष्टयः। उदाहरणम्-

स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु।

राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि।। (ऋ०८.४.१९)

देवातिथेरार्षम्। **स्थूरं** स्थूलं परिमाणतः विपुलं सदित्यर्थः। किं तत्? **राधो** धनम्। **शताश्वं** शतेनाश्वानां युक्तम्। **कुरुङ्गस्य** कुरुङ्गनाम्नो **राज्ञः।** त्वेषस्य **'त्विष दीप्तौ** (धा०१.१०२६) अस्य पचाद्यचि **त्वेषस्य। सुभगस्य** सुधनस्य स्वभूतासु **दिविष्टिषु** स्वर्गसाधनभूतासु यागक्रियासु या रातयस्तासु। यागाङ्गभूतेषु दक्षिणालक्षणेषु दानेष्वित्यर्थः। **तुर्वशेषु** तुर्वश इति मनुष्यनाम ततः सप्तमी निर्धारणे, मनुष्याणां मध्ये वयम् **अमन्महि** मन्महीति याच्ञायामत्र। सामर्थ्यात्तत्पूर्वको लाभो लक्ष्यते। अलभामहि लब्धवन्तो वयम्।

स्थूलं निगमप्रसक्तं निराह एकत्र सहिता आभिमुख्येन स्थिता मात्रा अवयवा यस्य स **महानित्यर्थवचनम्।** स्थूलप्रतियोगिप्रसङ्गेन अणुपरिमाणं निराह **अणुः अनु स्थवीयांसमिति** अणु स्थवीयसोऽनु पश्चात् ततोऽल्पपरिमाण इत्यर्थः। अनुपूर्वस्याञ्चेः क्विनि स्थवीयांसमन्वञ्चतीति अन्वगिति प्राप्ते उपसर्ग एवायं **कृतणत्वलुप्तनामकरणः।** लुप्तः क्वचित् प्रत्यय उत्तरपद इत्यर्थः। अस्य दृष्टान्तो **यथा सम्प्रति** भवं साम्प्रतं काल एवोच्यते। लुप्तोऽपि मध्यमे प्रतीतिर्वर्तमान एवोच्यते। भेदाभेदविवक्षाकृतो विशेषः। यथा वानस्पत्यं चतय इति। कुरुं निराह कुरूनसौ पुत्रत्वे गतवान्। राजत्वेन **कुलगमनाद्वा** कुलीन इत्यर्थः। कुलव्यवस्थागमनाद्वा। शत्रुकुलानि वा जेतुम्। प्रसङ्गादाह **कुरुः कृन्ततेः** शत्रूनसौ छिनत्ति वा पापाचारानसाधून् वा। **क्रूरमित्यप्यस्यैव** कृन्ततेः कर्म वा व्याघ्रादि वा तदप्युच्छिनत्ति उच्छेद्यं वा। अनुप्रसक्तं **कुलं कुष्णातेर्वृद्ध्यर्थस्य विकुषितं** हि तद् महदित्यर्थः। बहवो हि सनाभयः कुलमुच्यते।

दूत इत्यनवगतम्। तत्पुनः '**वाहिष्ठो वां हवानाम्** (ऋ०८.२६.१६) इत्यत्र '**दूतो जवतेर्वा** (निरु०५.१०) इत्येवं व्याख्यातम्।

जिन्वतीत्यनवगतम्। अत्र किल धात्वर्थोऽनवगतः। प्रीणनलक्षणे हि इचिदिविधि इत्यत्र जिन्वतेरपोऽभिप्रायः। उदाहरणम्-

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ (ऋ०१.१६४.५१)

इति प्रसङ्गादुत्तरत्र व्याख्यास्यते।

इति निरुक्तविवणसमुच्चये एकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः पादः।

द्वाविंशश्च खण्डः समाप्तः।

अथ पञ्चमः पादः।

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

अमत्रोऽमात्रो महान् भवति। अभ्यमितो वा। '**मुहाँ अमत्रो वृजने विरप्शि।**' (ऋ०३.३६.४) इत्यपि निगमो भवति। **स्तवै वुज्र्यृचीषमः॥** (ऋ०१०.२२.२) स्तूयते वज्री ऋचा समः। अनर्शरातिम् अनश्लीलदानम्। अश्लीलं पापकम्। अश्रिमद्विषमम्। '**अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि।**' (ऋ०८.९९.४) इत्यपि निगमो भवति। अनर्वा अप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्। **अनुर्वाणं वृषभं मुन्द्रजिह्वं बृहुस्पतिं वर्धया नव्यमुर्कैः॥** (ऋ०१.१९०.१) अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्। वृषभम्। मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वम्। मोदनजिह्वमिति वा। बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैरर्चनीयैः स्तोमैः। असामि सामिप्रतिषिद्धम्। सामि स्यतेः। **असाुम्योजो बिभृथा सुदानुवः॥** (ऋ०१.३९.१०) असुसमाप्तं बलं बिभृथ कल्याणदानाः॥२३॥

अमत्र इत्यनवगतम्। **अमात्र** इत्यवगमः। मात्रा परिमाणम्। अपरिमाणो **महा**नित्यर्थप्राप्तवचनम्। **अभ्यमितो वा** मिनातेर्मिनोतेर्वा वधकर्मणः। अभ्यमितः सन् अमत्रः। उदाहरणम्–

मुहाँ अमत्रो वृजने विरुप्श्यु१ग्रं शवः पत्यते धृष्ण्वोजः।

नाह विव्याच पृथिवी चुनैनं यत् सोमासो हर्यश्वममन्दन्॥ (ऋ० ३.३६.४)

विश्वामित्रस्य। इन्द्र उच्यते। **महान्** शरीरेण। **अमत्रो**ऽमात्रोऽपरिणामश्च बलेन अहिंसितपूर्वो वा केनचित्। **वृजने** वृजनशब्दः क्रियानिमित्तको बलनिमित्तो वान्तर्नीतमत्वर्थः संग्रामे द्रष्टव्यः। वर्ज्यन्ते यत्र बाणैर्योद्धारस्तस्मिन् व्रजनवति बलवति वा संग्रामे। **विरप्शि**र्विरपणशील आह्वानकृत् शत्रूणामभिभवितृ **ओजो** बलम्। किं बहु? **नाह विव्याच** अहशब्दो विनिग्रहार्थीयत्वादेवार्थे व्यचिर्व्याप्त्यर्थः, नैव व्याप्नोति **पृथिवी चन** चनेति निपातः स्वार्थे तच्छ्रुतेर्द्यौश्चेत्युपसंग्रहः, पृथिवी च द्यौश्च माहात्म्येन द्यावापृथिव्यावप्यनेनैव व्याप्नुत इत्यर्थः। **यच्छब्दो** यदेत्येतस्यार्थे व्यत्ययेन वा नपुंसकम्। यदा यं वा इन्द्रं **सोमासः** सोमा **हर्यश्वं** हरी अश्वौ यस्य तम् **अमन्दन्** मोदयन्ति तर्पयन्ति चेत्यर्थः।

ऋचीषम इत्यनवगतम्। अर्चनमृक् स्तुतिः तया तुल्यः। **ऋचा सम** इत्यवगमः। ऋचा सम इति वाक्येनार्थप्रदर्शनम्। याप्यतिशयाभिप्रायेण क्रियते साप्यस्यान्नाहावत् समैव भवति नातिरिच्यत इत्यर्थः। उदाहरणम्–

इुह श्रुुत इन्द्रो अुस्मे अुद्य स्तवे वुज्र्यृचीषमः।

मित्रो न यो जनेुष्वा यशश्चुक्रे असाुम्या॥ (ऋ० १०.२२.२)

विमदस्यार्षम्। **इहा**स्मिन् यज्ञे **श्रुतः** प्रख्यात **इन्द्रः**। **अस्मे** अस्माभिः। **अद्य स्तवे** व्यत्ययेनोत्तमैकवचनं कर्मणि प्रथमपुरुषस्यैकवचनस्य स्थाने, स्तूयते **वज्री** आवृतवज्रः। **ऋचीषमः** तुल्ययाभ्यधिकगुणाध्याहाररूपेण अधिकता–स्तुतिरनुवादिनी भवति सा यस्येत्यर्थः। किञ्च **मित्रो न** मित्र इव यथा स्निग्धः कश्चित् कस्यचित्

जनेष्वा आकारः स्वार्थे **यश** इत्येतस्माच्च परो द्रष्टव्यः। गुणाभिधानं कुर्यात् तद्वत् सर्वजनेषु स्तोतृभ्यो यष्टृभ्यश्च यशश्चकाराऽत्र। **असामि** अनाशा अप्रसायि च तत्करोति। अनवरतमित्यर्थः। सुसमाप्तं वा पर्याप्तमित्यर्थः।

अनर्शरातिरित्यनवगतम्। **अनश्लीलदानमि**त्यवगमः। अर्शसशब्दोऽश्लीलवाची। **अश्लीलं** किम्? **पापकम्**। कस्मादिति चेत्? यस्मात् पापवचनं प्रतिपत्तये रातिः पापिष्ठस्य दाता। तद्विपरीतोऽनर्शरातिः। उदाहरणम्–

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।

सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥ (ऋ०८.९९.४)

नृमेधस्यार्षम्। **अनर्शरातिम्** अपापकदानम् उत्कृष्टस्य दातारमित्यर्थः। **वसुदां** विभजन्तमेतत्। अश्लीलमक्षर- वर्णसामान्यान्निराह अश्रिमदिति। अश्रयः कोटयस्ताभिस्तद्वदश्रीमान्। तच्चात्र वैषम्योपलक्षणम्। ततश्च विषमहेतुत्वाद् **अश्रिमत्** विषममित्याह। अश्रिमत् सदश्लीलम् अश्लीलं सदर्शरातिं रातिर्दानम् अश्लीलविषया रातिर्दानं यस्य सोऽर्शरातिः पापिष्ठस्य दाता तद्विपरीतोऽनर्शरातिः। वसुनो धनस्य दातारमिन्द्रं होतः **उपस्तुहि** अन्तरात्मन् वा। किं कारणम्? यतः **भद्रा इन्द्रस्य रातयः** कल्याणानि स्तोतृभ्यो यष्टृभ्यश्च इन्द्रस्य स्वभूतानि दानानि महदैश्वर्यकारीणीत्यर्थः। यतश्च **स** इन्द्रः **अस्य** स्तोतुः **काममि**च्छामभिलषितार्थविषया प्रार्थनां **विधतो** विदधतः परिचरतो **न रोषति** न कोपयति न हिनस्तीत्यर्थः। **मन** आत्मीयं पुन**र्दानाय चोदयन्** सातत्येन ददद‍ित्यर्थः।

अनर्वेत्यनवगतम्। अर्तेः **'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (अष्टा०३.२.७५) इत्येवं वनिपि रूपम्। **'अर्वणस्त्रसावनञः** (अष्टा०६.४.१२७) इति वचनादत्र भावाभावः सिद्धः छान्दसत्वादनवगतः। प्रतिज्ञास्वातन्त्र्यं चात्र विवक्षितं नागमनप्रतिषेधमात्रं गन्तुः। तथाचाह **अप्रत्यृतोऽ**प्रतिगतो**ऽन्यस्मिन्** अन्यमनाश्रितः स्वतन्त्र इत्यर्थः। उदाहरणम्–

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।

गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः॥ (ऋ०१.१९०.१)

अगस्त्यस्यार्षम्। **अनर्वाणम**गतमन्यं प्रत्याश्रिततया अपराश्रयमित्यर्थः। **वृषभं** वर्षितारम्। **मन्द्रजिह्वं** मन्द्रयतिरर्चतिकर्मा जिह्वेति वाङ्नाम। मन्द्रा जिह्वा वाग्यस्य स मन्द्रजिह्वस्तं स्तुत्यवाचमित्यर्थः। मोदनवाचं वा सर्वे हि बृहस्पतेः स्तनयित्नुलक्षणां वाचमुपश्रुत्य मोदयन्ते। अत एवंगुणं **बृहस्पतिं वर्धय** स्तुहि अन्तरात्मन्। कीदृशं बृहस्पतिम्? **नव्यं** नवनीयं स्तुत्यम् **अर्कैः** स्तुतिरूपैः। यस्य बृहस्पतेः किम्? उच्यते। **गाथान्यः** गाथा गाथेति वाङ्नाम सा चार्थसामर्थ्यात् स्तनयित्नुलक्षणा तां दर्शयति प्रेरयति गाथान्यस्तनत इत्यर्थः। **सुरुचो** विद्युद्रूपतया सुदीप्तः। **यस्य देवा आशृण्वन्ति** आभिमुख्येनाकर्णयन्ति। **नवमानस्य** तनतेः शब्दकर्मणश्छान्दसमेतद्रूपम्। स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वतः। न च केवलं मनुष्या देवा मनुष्याश्च।

अथवा गाथाः स्तुतयस्तासां नेता बृहस्पतिर्गाथानीः। कुत एतत्? पुरोहितत्वात्। **'बृहस्पतिर्हि देवानां पुरोहित आसीत्** (ऐत०ब्रा०८.२६) इति श्रुतेः। तस्य गाथान्यः सुदीप्तेरित्यादि समानम्। नवमानस्य स्तुवत इत्येवमितिहासदर्शनेन व्याख्येयम्। अनर्वाणमप्रत्यृतमिति पाठः। अनर्वमित्यपपाठः।

असामीत्यनवगतम्। अत्र च सामिशब्द एवानवगतो यत आह **सामिप्रतिषिद्धमसामी**ति। सामीति कस्मात्? **स्यतेः** समाप्त्यर्थस्येति केचित्। तेन सामि समाप्तम् असमाप्तं चोच्यते तस्या नञ् प्रतिषेधः ततश्चासामि असमाप्तमित्यर्थः। अथवा न सामीति। किं तर्हि? सुसमाप्तमिति पाठान्तरेणार्थमाह। उदाहरणम्–

असा॒म्योजो॑ बिभृथा सुदान॒वोऽसा॑मि धूतय॒: शवः॑।

ऋ॒षि॒द्विषे॑ मरुतः परिम॒न्यव॒ इषुं॒ न सृ॑जत॒ द्विष॑म्॥ (ऋ०१.३९.१०)

कण्वस्य। **असामि** असमाप्तमनन्तमित्यर्थः। सुष्ठु वा समाप्तं महदित्यर्थः। **ओजः** शारीरं बलं **बिभृथ** यूयं धारयथ हे **सुदानवो** दानुशब्दो दातृवचनः **'ताभ्यामन्यत्रोणादयः** (अष्टा०३.४.७५) इति वा साधनवचनो वा तेन साधनदातारः शोभनदानव इत्यर्थः। न च केवलं शारीरमेव बलम्। किं तर्हि? **असामि** असमाप्तमेव। हे **धूतयः** छान्दसत्वात् कर्तरि द्रष्टव्यः कम्पयितारः शत्रूणाम्। **शवः** सेनालक्षणं बलम् अपि च बलं तादृशमेव द्विधेनापि बलेनापेता यूयमित्यर्थः। यतश्चैवमतो ब्रवीमि **ऋषिद्विषे** शेषमेतत्प्रभृतीनामृषीणां द्वेष्ट्रे हे **मरुतः परिमन्यवे** मन्युरिति क्रोधनाम परिगतः प्राप्तो मन्युर्येन स परिमन्युस्तस्मै परिमन्यवे नित्यक्रुद्धायेत्यर्थः। अथवा मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मण इति मन्युशब्देन दीप्तिरुच्यते। परिगतदीप्त्या।

गल्दया इत्यनवगतम्। **गालनेन** इत्यवगमः। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

मा त्वा॒ सोम॑स्य॒ गल्द॑या॒ सदा॒ याच॑न्न॒हं गि॒रा। भूर्णिं॑ मृ॒गं न सव॑नेषु चुक्रु॒धं॒ क ईशा॑न॒ं न या॑चिषत्॥ (ऋ०८.१.२०) मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहं गिरा गीत्या स्तुत्या। भूर्णिमिव मृगं न सवनेषु चुक्रुधम्। क ईशानं न याचिष्यत इति। गल्दया, गालनेन। गल्दा धमनयो भवन्ति। गलनमासु धीयते। **आ त्वा॑ विश॒न्त्विन्द॑व॒ आग॒ल्दा ध॒मनी॑नाम्॥** (आप०श्रौ०सू० ८.७.१०; मा०श्रौ०सू०१.७.२.१८) नानाविभक्तीत्येते भवतः। आगलना धमनीनामित्यत्रार्थः॥ २४॥

मा त्वा॒ सोम॑स्य॒ गल्द॑या॒ सदा॒ याच॑न्न॒हं गि॒रा।

भूर्णिं॑ मृ॒गं न सव॑नेषु चुक्रु॒धं॒ क ईशा॑न॒ं न या॑चिषत्॥ (ऋ०८.१.२०)

मेधातिथेः। **मा** इति प्रतिषेधश्चुक्रुधमित्याख्यातेन सम्बध्यते। सततयाच्ञा हि लोके क्रोधहेतुत्वेन प्रसिद्धा। यतो ब्रवीमि **सदा याचन्** अपि शब्दलोपो द्रष्टव्यः, **त्वा** त्वां सर्वदा याचन्नपि **अहं मा चुक्रुधं भूर्णिमिव** भूर्णिं **मृगं न** भूर्णिं भ्रमणशीलं मृगं सिंहादिकं यथात्मविनाशाय कश्चित् क्रोधयते तद्वत्। न चाहमात्मवधायैव याचे। किं तर्हि? **सोमस्य गल्दया** गालनेन क्षारणेन प्रदानेन पूरणेन तृप्तेत्यर्थः। न च गल्दयैव केवलया। किन्तर्हि। **गिरा** गीत्या च स्तुत्या च कारणेन। यतोऽहं **सवनेषु** यज्ञेष्वभिषवेषु सोमं प्रयच्छामि स्तौमि अतो नित्ययाचकोऽपि सन् मा चुक्रुधमित्यर्थः। **ईशानमित्यादिरर्थान्तरोपन्यासः। को** नामाऽसावीश्वरं न याचयिष्यत इति। एवमस्य सोमसम्बन्धात् गल्दाशब्दस्य गालनार्थत्वमुपपन्नम्।

अस्यैव च पूरणार्थत्वं पूर्यमाणधमनीयसम्बन्धात् स्पष्टयिष्यन्नुदाहरणान्तरमुपन्यस्यति स्म वामदेवस्य-

आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम्।

आविशन्तु त्वामिन्दवः सोमाः। किं स्तोकाः? नेत्युच्यते। **आगल्दा धमनीनाम्।** धमन्यो हि ग्रावानाड्य उच्यन्ते। आगलनात् पूरणात्। कण्ठनाडीनां यावत्तावदापूर्णत्वात्। गालितुमारभ्य इत्यर्थोऽस्य शेषः॥

रसेन मे रसं पृण वाजिनो मे यज्ञं वहानि॥ (आप०श्रौ०८.७.१०; मा०श्रौ०१.७.२.१८)

अस्यार्थः। **रसेनो**दकेन वृष्ट्याख्येन **मे** यदर्थं पार्थिवमुदकं **पृण** आपूरयेत्यर्थः। किञ्च **वाजिनो**ऽन्नवन्तो देवा **मे** मम स्वभूतं **यज्ञं** प्रतीति शेषः, **वहान्** वहन्तु प्रापयन्तु। कम्? सामर्थ्यादात्मानम्। वाजिनश्च यज्ञमागच्छन्त्वित्यर्थः। यज्ञं वान्तं प्रापयन्तु अविघ्नेन समापयन्त्वित्यर्थः।

नानाविभक्ती तुशब्दो विशेषणार्थः। उदाहरणद्वयेऽपि गल्दाशब्दस्य पूरणार्थत्वमविशिष्टम्। इयांस्तु विशेषः। पूर्वं तु तृतीयान्तं स्त्रीलिङ्गम्। उत्तरत्र पञ्चम्यन्तो नपुंसकलिङ्ग इति। तत्र विभक्तिप्रदर्शनपुरस्सरम् आगल्दादिति पूरणार्थतामेव भाष्यकारो दर्शयति।

जल्हव इत्यनवगतम्। ज्वलनवर्णहीना इत्यक्षरवर्णसामान्यादवगमः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंशः खण्डः।

न पा॒पासो॑ मनाम॒हे नारा॑यासो॒ न जल्ह॑वः॥ (ऋ०८.६१.११) न पापा मन्यामहे नाधना न ज्वलनेन हीनाः। अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत्। बकुरो भास्करः। भयंकरः। भासमानो द्रवतीति वा॥ २५॥

न पा॒पासो॑ मनाम॒हे नारा॑यासो॒ न जल्ह॑वः।
यदिन्न्विन्द्रं॒ वृष॑णं॒ सचा॑ सु॒ते सखा॑यं कृ॒णवा॑महै॥ (ऋ०८.६१.११)

हस्तो नाम तस्यार्षम्। **न पापासो** वेदग्रहणाद् यस्योत्तरकालं च यथाशास्त्रं ब्रह्मचर्यस्य कृत्स्नस्य वेदाध्ययनस्य चात्मरूपस्य च तपसो भावान्न वयं पापा इति **मनामहे** मन्यामहे। स्यादेतत् सत्यप्येतस्मिन् निर्धनत्वान्नित्यकर्मविलोपात् पापा एवेति। एतच्च न। यतो **नारायासो** दानं मनसि भावान्नाधनाः। यो हि स्वभावान्न राति स निर्धनो न वयम्। स्यादेतत्, सत्यप्यधिकारेऽनाहिताग्नित्वात् पापा इत्येतदपि न। यतो **न जल्हवो** नापि ज्वलनेन हीनाः। **यद्** व्यत्ययेन नपुंसकैकवचनं पुंसो बहुवचनस्य स्थाने यस्मादर्थे, पाप एव वयं यस्माद्वा **इन्नू** पदपरणौ, **इन्द्रं वृषणं** वर्षितारं **सचा** सह सर्वैः ऋत्विग्भिः **सुते**ऽभिषुते सोमे यष्टृयष्टव्यत्वलक्षणेन स्तोतृस्तुत्यत्वलक्षणेन च सख्येन **सखायं कृणवामहै** कुर्मो यजामः स्तुमश्चेत्यर्थः। एवं विहितानुष्ठानेन प्रतिषिद्धवर्जनेन च परितुष्टात्मा भार्गव ऋषिरित्थमवोचत्।

बकुर इत्यनवगतम्। **भास्करो भयंकारो भासमानो द्रवतीति** चेत्यवगमः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय।। (ऋ०१.११७.२१) यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ। वृको लाङ्गलं भवति विकर्तनात्। लाङ्गलं लङ्गतेः। लाङ्गूलवद्वा। लाङ्गूलं लगतेः। लङ्गतेः। लम्बतेर्वा। अन्नं दुहन्तो मनुष्याय दर्शनीयौ। अभिधमन्तौ दस्युम्। बकुरेण ज्योतिषा वा। उदकेन वा। आर्यः ईश्वरपुत्रः। बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति। द्विगुणकारिणो वा। द्विगुणदायिनो वा। द्विगुणं कामयन्त इति वा। **इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृशं उत क्रत्वा पणीँरभि।।** (ऋ०८.६६.१०) इन्द्रो यः सर्वान् बेकनाटानहर्दृशः। ये इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा। अभिभवति कर्मणा पणींश्च वणिजः।। २६।।

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।

अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय।। (ऋ०१.११७.२१)

कक्षीवत आर्षम्। **यवग्रहणमत्र** प्रदर्शनार्थम्। यवादि धान्यम्। **वृकेण** वृको लाङ्गलमुच्यते लाङ्गलेन। हे **अश्विना** अश्विनौ **वपन्ता** वपन्तौ **इषमित्यन्ननाम** तद्धेतुत्वादत्र वृष्ट्युदके वर्तते। अन्नहेतुभूतं च वृष्ट्युदकम्। **दुहन्ता** दुहन्तौ क्षारयन्तौ सर्वस्य मनुष्यस्यार्थाय। **दस्युमु**पक्षपयिता रक्षः पिशाचादिकम्। **बकुरेण** भास्करेण दीप्तेन भयंकरेण वा भासमानगमनेन वा। केन? सामर्थ्यात् स्वेनायुधेन ज्योतिषा वा **धमन्ता** धमतीति वधकर्मा अभिघ्नन्तौ। **उरु** विस्तीर्णमात्मनो **ज्योतिस्तेजः** प्रभावलक्षणं **चक्रथुः** कृतवन्तौ युवाम्। **आर्याय** आर्यजनार्थाय यववपनवृष्टिदोहनदस्यु- हननैस्त्रिभिः कर्मभिर्महाप्रभावौ युवां जातौ साधूनामनुग्रहार्थमित्यर्थः।

अथैकपदनिरुक्तम्। **वृको विकर्तनाद्** भूमेः। 'भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्' (मनु०१०.८४)इति अभिधेयप्रसङ्गात् लाङ्गलमाह **लगतेर्लगिः** सङ्गे, सज्जति हि तद्भूमौ। **लाङ्गूलवद्वा** पुच्छसादृश्यात्। लाङ्गलमत्र हलमभिप्रेतम्। मात्रया तद्वत्। प्रसङ्गात् प्राण्यङ्गं निराह **लगतेः**, लग्नं हि तत् पृष्ठस्यान्ते गोगवयाश्वादेर्भवति। **लिङ्गतेर्वा** खलत्वात्। **लम्बतेर्वा** दीर्घत्वात्। ज्योतिषा वोदकेन वेति। केचिद् वाशब्द चार्थे वर्णयन्ति ज्योतिषा चोदकेनेति च। अरिशब्दादीश्वरवचनादपत्ये तद्धित इत्याह **ईश्वरपुत्र** इति।

बेकनाटानित्यनवगतम्। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। **कुसीदिनो** वृद्धिजीविनो वार्धुषिका वा अभिधेयाः। **द्विगुणकारिण** इत्यादयोऽवगमः। बे इति द्विशब्दस्यार्थेऽपभ्रंशो दृष्टः। एकं कार्षापणमृणिकाय प्रयच्छन् तौ द्वौ मह्यं प्रतिदातव्यावित्येवमभिधेयेन दर्शयति। ततो द्विशब्दादेकशब्दान्नाटयतेश्च बेकनाटा एतत्। एतेनाह **द्विगुणकारिणो वा दायिनो वा द्विगुणं कामयन्त इति वेति।** उदाहरणम्-

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।

इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि।। (ऋ०८.६६.१०)

प्रागाथस्य कलेरार्षम्। **कत्** छान्दसत्वात् किमः कादेशः कत् क्वच। उकारः पदपूरणः। **महीः अधृष्टा** इति तविषीविशेषणे एते। **तविषी**ति बलनाम। तेनायमर्थः। महान्त्यधर्षितानि अनभिभूतपूर्वाणि **अस्येन्द्रस्य** स्वभूतानि बलानि सेनालक्षणानि। **कदु** उकारो वाकारार्थे। क्त वा **वृत्रघ्नः** वृत्रस्य हन्तुः। **अस्तृतं** स्तृणातिर्वधकर्मा अहिंसितपूर्वं केनचित् शारीरं बलम्। अत्रैकवाक्यतायै उक्तानां बलानामप्रतिनिर्देशार्थो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यैः शारीरसेनालक्षणैर्वा बलैरिन्द्रो **विश्वान्** सर्वान् **बेकनाटान्** वार्धुषिकान्। तेषामेव विशेषणम्, **अहर्दृशः** अहःशब्देनात्र अह्नां हेतुत्वात् सूर्य उच्यते। तं ये पश्यन्ति ते सूर्यदृशः। ननु सर्व एव सूर्यं पश्यन्ति? उच्यते। विशेषणार्थमेतत्। इहैव जन्मनि पश्यति जन्मान्तरेऽपि न द्रक्ष्यन्ति पापकारित्वात् क्रिमिस्थावरादिप्राप्ताः। अथवा इमान्येवाहानि ऐहलौकिकान्येव पश्यन्ति न पारलौकिकानि। दृष्टप्रधाना नास्तिकास्ते अहर्दृशः। **उत** उतशब्द एवार्थे। **क्रत्वा**शब्दात् कर्मवचनात् परो द्रष्टव्यः। कर्मणैवानुष्ठानेन **पणीन्** वणिजश्च वणिक्सदृशान् शूद्रकल्पानित्यर्थः। तथा च स्मरणम्-

गोरक्षकान् वाणिजिकास्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत्॥ (मनु०८.१०२)

अभ्युपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियापदमध्याजहार भाष्यकारोऽभिभवतीति विनाशयतीत्यर्थः।

अभिधेतनेत्यनवगतम्। **अभिधावते**त्यवगमः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्ध स्थ हवनश्रुतः॥ (ऋ०८.६७.५) जीवतो नोऽभिधावतादित्याः पुरा हननात्। क्व नु स्थ ह्वानश्रुतः इति मर्त्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। मत्स्या मधा उदके स्यन्दते। माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा। जालं जलचरं भवति। जले भवं वा। जलेशयं वा। अंहुरः अंहस्वान्। अंहूरणमित्यप्यस्य भवति। **'कृण्वन्नंहूरणादुरु।'** (ऋ०१.१०५.१७) इत्यपि निगमो भवति। **सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्॥** (ऋ०१०.५.६) सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। बत इति निपातः खेदानुकम्पयोः२७॥

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः॥ (ऋ०८.६७.५)

ऋषेः समन्दपुत्रस्य मत्स्यरूपस्यार्षम्। मत्स्यनामैव वा। यतो धीवरेण जालेन गृहीता आदित्यानित्थमाहुः। **जीवान्नो** जीवन्तोऽस्मान् **अभिधेतन** अभिधावत रक्षत मोचयतेत्यभिप्रायः। **आदित्यासो** हे आदित्याः **पुरा हथात्**

प्राग्हननाद्यावत्याऽनेन धीवरेण मर्यामह इत्यर्थः। **कद्ध** हशब्दोऽनुशब्दस्यार्थे स चात्र खेदे द्रष्टव्यः। यतो व्याचष्टे **क्व नु स्थ** येन शृणुत विलम्बमाना वा। **हवनश्रुतो** हे आर्तानामाह्वानस्य श्रोतारः।

मत्स्यानामित्याद्यर्थकथनमर्थाभिव्यक्तये प्रदर्शनं चेदमन्यत्राप्यर्थाभिव्यक्तये। आर्षं दर्शनीयमिति आर्षसम्बन्धेन प्रसक्तं मत्स्यं निराह **मधुनि स्यन्दत** इति। मधुशब्दात् स्यतेश्च मत्स्या इति। **माद्यन्ते हृष्यन्त्यन्योऽन्यं भक्षणायेति वा** मदेर्भक्षयतेश्च मत्स्या इत्यर्थः। जाला कस्मात् जले चरति भवतीति तद्धितार्थः।

अंहुर इत्यनवगतम्। तत्रांहुर्व्याख्यातः। **'अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेः'** (निरु०४.२५) इति। ततोंऽहुशब्दात् पापवचनाद् रो मत्वर्थे। **अंहस्वानित्यवगमः**। अस्योदाहरणे प्रदर्शयितव्ये। एतत्समानार्थस्य सारूप्यप्रसङ्गाद् अंहूरणशब्दस्य तावन्निगमं दर्शयति कृण्वन्नंहूरणादिति। उदाहरणम्-

त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।

तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी॥ (ऋ०१.१०५.१७)

कुत्सस्य त्रितस्य वार्षम्। त्रितो नामर्षिः **कूपेऽवहितो**ऽधोनिहितः पतित इत्यर्थः। **देवान् हवत ऊतये** अत्र लुङ् द्रष्टव्यः, आहूतवान्। यदि वा कुत्सस्येदमार्षं ततो विरुद्ध एव परोक्षरूपेण प्रथमपुरुषनिर्देश इति व्याख्यातम्। अहं त्रितो नाम देवानाहूतवानित्यर्थः। किमर्थम्? ऊतये सूक्ताद्युक्तेतिहासप्रदर्शिते मानसे यज्ञे सोमेन प्रदर्शिते तर्पणाय पालनाय वा आत्मनस्तदा आह्वानं **शुश्राव** श्रुतवान् **बृहस्पतिः कृण्वन्** होता वयं शतृप्रत्ययो द्रष्टव्यः। प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा। किम्? सामर्थ्याद् रक्षणं वा उत्तारं वा। किम्? सामर्थ्यात् क्रियासामान्यवचनत्वात् करोतिरत्र रक्षणार्थ उत्तारणार्थो वा रक्षितुमुत्तारयितुं वेत्यर्थः।

अंहूरणाद् अहूरणोंऽहुरान्निरुक्तः। अंहुर एवांहूरणः स्वार्थिको नशब्दस्तद्धितो दीर्घत्वं च छान्दसत्वात्। इतिहासप्रदर्शितपापकर्मणो वृत्रकात् तृणकण्टकादिभिरुद्वेगकरैरावृतादन्धकूपाद्वा। **उरु** क्रियाविशेषणमेतत्, विस्तीर्णं रक्षितुमत्तारयितुं वा चिरकालमित्यर्थः। **वित्तं मे अस्य** 'विद ज्ञाने' (धा०२.५४) श्रवणेन यज्ज्ञानं तदिह नाभिप्रेतम्। अस्येत्यतिसन्निहितत्वात् स्तोत्रस्य प्रतिनिर्देशः। द्वितीयार्थे षष्ठी। शृणुतं ममेदं स्तोत्रमित्यर्थः। अथवा अस्येति दुःखम्। विज्ञानेन चात्र तत्पूर्वकमुत्तारणं लक्ष्यते। तेनार्थानुग्रहस्वभावकतया मामितः कूपादुत्तारयतमित्यर्थः। हे **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ।

इदानीमंहुरस्योदाहरणमाह-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।

आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ (ऋ०१०.५.६)

त्रितस्य। **सप्त** प्राधान्येन सप्तसंख्याका **मर्यादा** अनतिक्रमणीया व्यवस्थारूपास्ते मर्यादाः। **कवयो** धर्मविदो मेधाविन ऋषयो वेदा एव वा। **ततक्षुः** कृतवन्तः। ऋषिपक्षे नित्यत्वात्तासामनुष्ठितवन्त इत्यर्थः। व्याकृतवन्तः। **तासामेकाम् इद**प्यर्थे तासां मध्ये एकामपि। **अभी**त्ययं गादित्येतेन सम्बध्यते। एकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यो**ऽभिगाद्** अभ्यगाद् अभिगच्छति अभिक्रामतीत्यर्थः। सों**ऽहुरो**ऽहंस्वान् पापवानित्यर्थः।

परस्यार्धर्चस्य सम्बन्धार्थं शेषोऽध्याहार्यः। यः स्तुता एता अभिगच्छति स इह लोके तावदायोर्मनुष्यस्य सर्वस्य **स्कम्भः** स्कम्भभूत आश्रयो भवति, प्रायेणोत्तरकालमपि परलोके **उपमस्य** कृत्स्नस्य जगत

उपनिर्मातुरादित्याख्यस्य आन्तरपुरुषस्य **नीडे** नीडस्थानीयमण्डल इत्यर्थः। **पथाम्** उदकमपि पाथः, उदकानां वा वृष्ट्याख्यानां **विसर्गे** विसर्जनेऽन्तरिक्षे **धरुणेषु** उदकनामेदम्, उदकेषु चन्द्रमण्डलरूपेषु चन्द्रमण्डल इत्यर्थः। अनेकाधिकरणश्रुतेः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च विकल्पः, इह वेह वा स्थाने **तस्थौ** तिष्ठति आस्ते।

यद्यपि विहितानुष्ठानस्यैवैतत् फलं तथाप्यतिक्रमहेतोरधर्मस्य प्रतिबन्धुरभावेन सामान्येनोक्ता न विशेषेणेत्यत आह **स्तेयं** सुवर्णस्य **तल्पारोहणं** गुरुस्त्रीगमनं **भ्रूणहत्यां** ब्राह्मणगर्भस्य व्यापातनं **दुष्कृतस्येत्यादिना** एषामेव संपादनमभिप्रेतम्। **पातके** महापातकविषये **अनृतोद्यम्** अनृतवचनं मिथ्याभिशंसनमित्यर्थः।

बत इत्यनवगतम्। सत्त्ववाचि प्रथमान्तं **बलादतीत** इति वाक्यस्यार्थे पदम्। बलशब्दादततेश्च बतो दुर्बल इत्यर्थः। अन्यस्तु बतेति निपातोऽसत्त्ववचनोऽव्ययम्। यत आह **निपातः खेदानुकम्पयोरिति**। तत्र निपात इति पदजात्यवधारणम्। निपातत्वादनवगतमनेकार्थं च। खेदो दुःखं मानसमनुकम्पा दया तयोर्वर्तते। **'चादयोऽनुदात्ताः'** (फि०सू०४.१६) इत्यपवादवचनादनुदात्तत्वम्। उभयोरेकमुदाहरणम्।

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथ अष्टाविंशः खण्डः।

ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम। अ॒न्या किल॒ त्वां क॒क्ष्ये॑व यु॒क्तं परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम्॥ (ऋ०१०.१०.१३) बतो बलादतीतो भवति। दुर्बलो बतासि यम! नैव ते मनो हृदयं च विजानीमः। अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम्। लिबुजा व्रततिर्भवति, लीयन्ते विभजन्तीति। व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च ततनाच्च। वाताप्यमुदकं भवति। वात एतदाप्यायति। **'पुना॒नो वा॒ताप्यं॑ वि॒श्वश्च॑न्द्रम्।'** (ऋ०९.९३.५) इत्यपि निगमो भवति। **वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कन्॥** (ऋ०१०.२९.१) वन इव वायो वेः पुत्रः। चायन्निति कामयमान इति वा। वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्। असुसमाप्तश्चार्थः। रथर्यति इति सिद्धः। तत्प्रेप्सुः रथं कामयत इति वा। **'ए॒ष दे॒वो र॑थर्यति॒।'** (ऋ०९.३.५) इत्यपि निगमो भवति॥ २८॥

ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम।

अ॒न्या किल॒ त्वां क॒क्ष्ये॑व यु॒क्तं परि॑ष्वजा॒ते लिबु॑जेव वृ॒क्षम्॥ (ऋ०१०.१०.१३)

यमीयमसंवादे यमी यमं कामयमाना **'त॒न्वा॑ मे त॒न्वं१॒ सं पि॑पृग्धि'**(ऋ०१०.१०.११) इति **'न वा उ॑ ते त॒न्वा॑ त॒न्वं१॒ सं प॑पृच्याम्'** (ऋ०१०.१०.१२) इत्येवमन्तेन प्रत्याख्याता सती सेर्ष्यमाणा यममुपालभते स्म। **बतो** बलादतीतः परिष्वजते **बत** हि कष्टं **दुर्बलोऽसि यम**। **नैव** एवशब्दश्चार्थे न च **ते** तव **मनो हृदयं च** परमार्थम् **अविदाम** मनसो हृदयस्य निश्चयस्य वाविज्ञानात्। केन कारणेन दुर्बल इति न विजानीम इत्यर्थः। अथवा सशिरःकम्पभूमेरङ्गुलीतर्जनमाह **आः** ज्ञातम्। **अन्या किल** कापि **स्त्री त्वां कक्ष्येव** यथा कक्ष्याश्वस्य

हस्तिनो रज्जुमात्मना संबद्धमश्वं हस्तिनं वा परिष्वजते तद्वत् **परिष्वजाते** लडर्थे पञ्चमः परिष्वजते। **लिबुजेव** द्वितीयोपमा। लिबुजा व्रततिर्वल्लीत्यर्थः। सा यथा **वृक्षं** सर्वात्मना वेष्टयेत् परिष्वजेत तद्वत्। अन्यस्यामपि सौभाग्यगुणेन गर्वितायामङ्गनायामासक्तहृदयत्वाद् दुर्बलोऽसीत्यर्थः।

लिबुजाशब्दं निगमप्रसक्तमभिधेयतोऽभिधानतश्च निराह **व्रततिरि**त्यभिधेयं वा तत्पुरोवात एतल्**लीयते विभजतीति** शब्दनिर्वचनम्। श्लिष्यन्तीति क्रन्दिलं वेष्टयन्तीत्यर्थः। पर्यायप्रसक्तमाह **व्रततिर्वरणाच्चे**त्यादि। वरणादाच्छादनात् ततनाच्चयनात्। वृणोतेस्तनोतेश्चिनोतेश्च त्रयाणामप्यर्थस्य समवायसम्भवात् त्रिधातुजमित्यर्थः।

वाताप्यमित्यनवगतम्। **उदकं** वृष्टिलक्षणमभिधेयम्। **वातः** पुरोवात **एतद्** वृष्ट्युदकमा**प्याययति**। तत वात आप्यायनोऽस्येति **वाताप्यायन** इत्यवगमः। अथवा वातो यदाप्याययति तेन वातेन तदाप्यायत इति कर्मोपपदस्थप्यायतेराङ्पूर्वस्य कर्तरि प्रत्ययो द्रष्टव्यः। उदाहरणम्–

नू नो॑ र॒यिमुप॑ मास्व नृ॒वन्तं॑ पुना॒नो वा॒ताप्यं॑ वि॒श्वश्च॑न्द्रम्।

प्र व॑न्दि॒तुरि॑न्दो ता॒र्यायुः॑ प्रा॒तर्म॒क्षू धि॒याव॑सुर्जगम्यात्॥ (ऋ०९.९३.५)

नोधस आर्षम्। सर्वाः सौम्याः पावमान्य इति सोम उच्यते। **नू नः** नु इति क्षिप्रनाम क्षिप्रमस्माकम्। **रयिं** धनम्। **उपमास्व** उपनिमिमिक्ष्व कुरुष्व अस्मभ्यं देहीत्यर्थः। कीदृशम्? **नृवन्तं** नृभिः परिचारकमनुष्यैस्तद्वन्तं **पुनानः** पूयमानस्त्वम्। न च केवलं रयिमेव। किं तर्हि? **वाताप्यम्** उदकं वृष्टिलक्षणम्। **विश्वचन्द्रं** चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः। अथवा **'चदि आह्लादने'** (धा०१.६८) इत्यस्य। ततश्च विश्वचन्द्रमिति प्राप्ते **'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे'** (अष्टा०६.१.१५१) इति सुट् सर्वकान्तं ह्लादकं वा। प्रशब्दस्तारीत्याख्यातेन सम्बध्यते। किञ्च **वन्दितुः** स्तोतुर्मम **इन्दो** हे सोम **प्रतारि** कर्तरि चिण् लोडर्थे च लुङ् छान्दसत्वाद् द्रष्टव्यः। प्रतरतु प्रवर्धतामा**युः**। **प्रातः** अन्तर्नीतवीप्सार्थमेतत्। किम्? प्रातः प्रातश्च। **मक्षु** क्षिप्रम्। **धियावसुः** कर्मधनो वा। कः पुनरसौ? सामर्थ्यादिन्दुः। **जगम्यात्** जहतेर्गतिकर्मण एतद् रूपम्। अस्मद्यज्ञं गच्छेत्याशास्महे। द्वादशाहानि स्तुत्यं कर्मास्माकमुपागमत्वित्यर्थः।

चाकन्नित्यनवगतम्। **चायन्निति वा कामयमान इति वा**वगमः। उदाहरणम्–

वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कञ्छुचि॑र्वां॒ स्तोमो॑ भुरणावजीगः।

यस्येदिन्द्रः॑ पुरु॒दिने॑षु होता॑ नृ॒णां नर्यो॒ नृत॑मः क्ष॒पावा॑न्॥ (ऋ०१०.२९.१)

वसुकस्यार्षम्। **वनशब्दे**नात्र वनावयवो वृक्षो लक्ष्यते। उत्पश्यन्निव वीक्ष्यमाण इव कामयमान इव वा। **शुचिः** अपगताशेषवक्त्रदोषः सौष्ठवादिगुणयुक्त इत्यर्थः। **वां** युवयोः स्वभूतः। कः पुनरसौ? **स्तोमः**। **भुरणौ** हे भर्तारौ देवानां पत्नीयजमानौ। गतिकर्मणो भुरण्यतेरेतद्रूपम्। क्षिप्रनाम्नो वा कर्मार्थमितश्चेतश्च गन्तारौ क्षिप्रेण **वा अजीगः** जिगर्ति गृह्णाति वशे स्थापयतीत्यर्थः। कम्? सामर्थ्यादिन्द्रमागच्छन्तमेव। कीदृशः स्तोमः? **यस्य** च स्तोमस्**येन्द्रः पुरुदिनेषु** बहुष्वहस्सु **होता** हूयतेरर्चतिकर्मण एतद्रूपम्। नास्तीदृशो नास्तीत्येवं स्तोता धं वा मां प्रत्ययमागच्छतु नान्यमित्येवमाह वाता। कीदृश इन्द्रः? उच्यते। **नर्यो** नृभ्यो हितः। **नृणां नृतमो** मनुष्याणां मध्ये

प्रकृष्टमनुष्यः सर्वैः पुरुषगुणैरुपेत इत्यर्थः। **क्षपावान्** क्षपा रात्रिः, रात्रिशब्देन रात्रिपर्यायाणां स्तोतृणां चाङ्गभूता यातिः सोच्यते, तया रात्र्या तद्वानित्यर्थः।

वेः पुत्रो वाय इत्येकमेकपदत्वेन वायशब्दं व्याख्याय भाष्यकारः शाकल्यमुपालभते स्म वा इति य इति च पदद्वयं चकार। तत्तु न युक्तम्। यत एवं पदद्वये सति **'यद्वृत्तान्नित्यम्'** (अष्टा०८.१.६६) इत्येवमुदात्तमेवाख्यातं न्यधायीत्येवमेवाभविष्यत्। अनुदात्तं चेदम्। तन्नेदं पदद्वयम्। किं तर्हि? एकं यथैव वयमवोचामेति। किञ्च **असुसमाप्तश्चार्थः** सुष्ठ्वसमाप्तोऽपरिपुष्टः। आनर्थक्यमेवानेन दर्शयति। वाशब्दो विकल्पादिसम्भवाद् य इत्यप्युद्देशार्थस्तोमं प्रत्युपक्रमार्थत्वेन कस्यचिदप्युद्दिश्यमानस्याभावादनर्थकः। तस्मान्न द्वे पदमेतत्। स्वरूपानुपपत्ते- रानर्थक्यप्रसङ्गाच्चेति भाष्यकारस्य निश्चयः।

य इति सोमस्योद्देशः, चाकन्निति चाख्यातं न नामशब्दः, अपि सम्प्रत्यर्थे। तेनायमित्यर्थः। ततश्चायं यः सोम आत्मनः पानं कामयते। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। स वने वनविकारभूते ग्रहचमसादौ सूतहृत्कलशादौ वा न्यधायि ऋत्विग्भिर्निहितो यतश्चायते। शुचिर्वामित्यादि समानव्याख्यानमिति। चाकन्निति चाख्यातं कथं गम्यत इति चेत् **'अ॒ग्निर्वरू॑थं॒ मम॒ तस्य॑ चाकन्'** (ऋ०१.१४८.२) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। अतश्चैतदेवंरूपमाख्यातम् **'आ नो॑ भर सुवि॒तं यस्य॑ चा॒कन्'** (ऋ०१०.१४८.१) इति यद्वृत्तात्सम्बन्धान्निघातप्रतिषेधे सत्युदात्तश्रुतिर्न भवति।

रथर्यतीत्यनवगतम्। रथीयतीति प्राप्ते रेफ उपजनः, स पुनरस्याभिधेयः सिद्धः प्रसिद्ध एव वेदे बहुशः प्रयोगात्। तत्प्रेप्सुरिच्छाकर्मसामान्येन क्यच् प्रकृतिं प्रति निर्दिश्यते तं य ईप्सति स उच्यत इति स्पष्टतायै प्रकृतिविशेषं दर्शयति **रथं कामयत** इति। उदाहरणम्-

ए॒ष दे॒वो र॑थर्यति॒ पव॑मानो दशस्यति। आ॒विष्कृ॑णोति वग्व॒नुम्॥ (ऋ०९.३.५)

शुनश्शेपस्यार्षम्। **एष** सोमो **देवो** दानादिगुणो **रथर्यति** रथीयति हविर्धानशकटाख्यानम्। इन्द्रस्य वा स्वभूतमापतन्तम्। ईहतेर्वा रथो नरं हरणं वा गमनमात्मनो देवान् प्रतीच्छतीत्यर्थः। **पवमानः** पूयमानः क्षरणार्थो वा पुनातिः क्षरन्। **दशस्यति** दाशतेर्वा दानकर्मण एतद्रूपम्। दशतिर्वा सामर्थ्यादपठितोऽपि दानकर्मा द्रष्टव्यः। ददाति स्तोतृभ्यो यष्टृभ्यश्च। किम्? सामर्थ्यात् यथाभिलषितमर्थम्। अथवा दशापवित्रमत्रैकदेशदशाशब्देन भीमभामादिवदुच्यते। दशापवित्रं दशा तदिच्छति दशस्यति। छान्दसत्वात् ह्रस्वत्वं सर्वप्रातिपदिकेभ्य इष्यते दधिष्यन्ति मधुष्यन्तीति यथा। अथवा दशस्यति दशसंख्यातां मुष्टिमात्मनः परिमाणमिच्छति सुक् पूर्ववत्। **आविष्कृणोति** आविष्करोति च प्रकाशयति च। किम्? **वग्वनुं** वग्नुरित्यस्य वाङ्नाम्नश्छान्दसो वशब्द उपजनः। अभिषवग्रावाभिघातजं स्वसम्बन्धि कूट्टानुशब्दं स्तोत्रशस्त्रलक्षणं वा वाचम्। वचेर्वा कर्मण्यौणादिको वनुप्रत्ययो वक्तव्यः। स्वगुणमनेकाकारमाविष्करोतीत्यर्थः।

इति (आचार्यमहेश्वरकृते) निरुक्तविवरणसमुच्चये एकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य

पञ्चमः पादः समाप्तः। अष्टाविंशश्च खण्डः समाप्तः।

अथ षष्ठः पादः।

अथैकोनत्रिंशः खण्डः।

धेनुं न इषं पिन्वतमसंक्राम्।। (ऋ०६.६३.८) असङ्क्रमणीयम्। आधवः आधवनात्। **'मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्।'** (ऋ०१०.२६.४) इत्यपि निगमो भवति। अनब्रवः अनवक्षिप्तवचनः। **'विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः।'** (ऋ०१०.८४.५) इत्यपि निगमो भवति।। २९।।

असक्रामित्यनवगतम्। असंक्रामणीमिति वा ल्युटि णिति प्रत्यये वावगमः। अथवा समानशब्द उपपदे क्रमेः **'जनसन'** (अष्टा०३.२.६७) इत्येवं विटि **'विड्वनोरनुनासिकस्य'** (अष्टा०६.४.४१) इत्यात्वे **'समानस्य छन्दसि'** (अष्टा०६.३.८४) इति च सभाव एतदूरूपम्। सभावेषु क्रामतीति सक्रा न सक्रा असक्रा तामसक्राम्। छान्दसत्वादनवगतम्। उदाहरणम्-

पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णं धेनुं न इषं पिन्वतमसंक्राम्।

स्तुतश्च वां माध्वी सुष्टुतिश्च रसाश्च ये वामनु रातिमग्मन्।। (ऋ०६.६३.८)

भरद्वाजस्य। **हि**शब्दो यस्मादर्थे। **पुरु** बहु **वां** युवयोः **पुरुभुजा** हे पुरुभुजौ बहूनां हविषामभ्यवहन्तारौ पालयितारौ वा यजमानानाम्। **देष्णं** दानं यस्मात् प्रभूतदायिनौ युवां तस्माद् **धेनुं** दोग्ध्रीं गां **नो**ऽस्मभ्यम्। **इषम्** अन्नं च **पिन्वतं** क्षारयतं दत्तमित्यर्थः। **असक्राम्** असंक्रामणीं यावज्जीवमनपायिनीम्। यद्वा समेष्वक्रान्तामगतामस्मत् सजातैरप्राप्तपूर्वामित्यर्थः। किञ्च **स्तुतश्च** स्तुतः क्षविरूपं स्तोतारश्च ये केचित् पृथिव्यां ते सर्वे **वां** युवयोः हे **माध्वी** मधुसम्बन्धि मधुनः पूर्णो माधवः **'तस्येदम्'** (अष्टा०४.३.१२०) इत्यणि गुणाभावश्छान्दसत्वात्। कोऽसौ? दृतिः। कुत एतत्। **'यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे। ततः पिबतमश्विना'** (ऋ०८.५.१९) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। तेन तद्वतीं माध्वीम् **'ईवनिपौ छन्दसि'** (अष्टा०५.२.१०९) इति मत्वर्थे ईकारः। **सुष्टुतिश्च** शोभना च या काचित् स्तुतिः सर्वा युवयोरेव। **रसाश्च** सोमलक्षणा **ये वां** युवयो रातिर्दानम् **अग्मन्** अनुगच्छन्ति। युवाभ्यां ये प्रदीयन्त इत्यर्थः।

आधव इत्यनवगतम्। **आधवनादि**ति निर्वचनम्। आकम्पनादित्यर्थः। कर्तरि ल्युट् आधवन इति प्राप्ते। ननु पचाद्यचि सिद्धम्। एवं तर्हि आधावयति आकम्पयतीति ण्यर्थे पचाद्यजनवगतम्। भाष्ये त्वाधावनादित्यन्तर्नीतण्यर्थो द्रष्टव्यः। उदाहरणम्-

मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन्। मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्।। (ऋ०१०.२६.४)

विमदस्यार्षम्। **मंसीमही**ति मनेः स्तुतिकर्मणो रूपम्। स्तुयाम **त्वा** त्वाम्। **वयमि**त्याशस्महे। कीदृशं त्वाम्? **अस्माकं** हे **देव पूषन् मतीनां** बुद्धीनां **साधनं** साधयितारम् उदयेन सर्वकर्मविषयाणां प्रज्ञानां प्रवर्तयितारमित्यर्थः। **विप्राणां च** मेधाविनां चान्येषामपि द्विजानामा**धवं** श्रद्धापरिचर्याद्यादरे धावयितारमाकम्पयितारम्।

अनवब्रव इत्यनवगतम्। ब्रुवो वचनम्। तेन **अनवक्षिप्तवचन** इत्यवगतः। अप्रतिहतशासन इत्यर्थः। अनवक्षिप्तपूर्वं पार्थिवानां वचो येन सः। उदाहरणम्–

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।

प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ (ऋ०१०.८४.५)

विजेषकृद् विजयस्य कर्ता **इन्द्र इव** यथा इन्द्रस्तथाऽ**नवब्रवो**ऽप्रतिहतवचनोऽ**स्माकं** हे **मन्यो अधिपाः** अधिकृताय पाता रक्षिता **भव इह** प्रकृते यज्ञे लोके वा। कस्मादेवमुच्यते अधिपा भवेति? उच्यते। यस्मात् **प्रियमिष्टं ते** तव **नाम। सहुरे** अभिभवनशील **गृणीमसि** गृणीमः स्तुमो वयं नाम स्तुतिद्वारेणेयं नामवत एव स्तुतिरुच्यते। किञ्च **विद्म** जानीम **तम्। उत्सम्** उत्स्यन्दन्ते उद्गच्छन्ति उत्पद्यन्ते **यतो** विकाराः स उत्सं कारणं ब्रह्माख्यं यतस्त्वम**ाबभूथ** आभिमुख्येन भूत उत्पन्न इत्यर्थः।

सदान्वे इत्यनवगतम्। **सदानोनुव** इत्यवगमः। सदाकणलक्षणशब्दकारिणीत्यर्थः। नोनूयतेर्नोनुवा तस्याः सम्बोधनं सदेत्येतेन पुनः पुनर्दर्शनम्। दुर्भिक्षादिदेवता अलक्ष्मीर्वाऽभिधेया। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य एकोनत्रिंशः खण्डः।

अथ त्रिंशः खण्डः।

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥ (ऋ०१०.१५५.१) अदायिनि काणे विकटे। काणोऽविक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः। काणः कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः, दर्शनाऽणूभावात् काणः। विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः। कुटतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। विकुटितो भवति। गिरिं गच्छ। सदानोनुवे शब्दकारिके। शिरिम्बठस्य सत्त्वभिः। शिरिम्बिष्ठो मेघः। शीर्यते बिष्ठे। बिठं बीरिटेन व्याख्यातम्। (निरु०५.२८) तस्य सत्त्वैरुदकैरिति स्यात्। तैस्त्वा चातयामः। अपि वा शिरिम्बिष्ठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतः। अलक्ष्मीर्निर्णाशयाञ्चकार। तस्य सत्त्वैः कर्मभिरिति स्यात्। तैष्ट्वा चातयामः। चातयतिर्नाशने। पराशरः पराशीर्णस्य। वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे। '**पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।**' (ऋ०७.१८.२१) इत्यपि निगमो भवति। इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। पराशातयिता यातूनाम्। '**इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः।**' (ऋ०७.१०४.२१) इत्यपि निगमो भवति। क्रिविर्दती विकर्त्तनदन्ती। '**यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती।**' (ऋ०१.१६६.६) इत्यपि निगमो भवति। करूळती कृत्तदती। अपि वा देवं कंचित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्॥ ३०॥

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।

शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥ (ऋ०१०.१५५.१)

शिरिम्बिठस्यार्षम्। दुष्षमाया दुर्भिक्षस्याधिदेवता काचिदुच्यते। अरायि रातेर्दानकर्मण औणादिके इति युकि

च अरायिशब्दोऽदातृवचनः, हे **अरायि काणे विकटे** विकृतदर्शने विकृतगते च **गिरिं** पर्वतं **गच्छ** मात्रासिष्ठाः सैवोच्यते तदा कणलक्षणशब्दकारिणि। इह यान्यदातृत्वादीनि दुर्भिक्षे मनुष्याः कुर्वन्ति तेषामत्र निमित्तभूतत्वाद् दुर्भिक्षाधिदेवतैवेति सैवोच्यते। मनुष्याणामदातृत्वकाणत्वविकटत्वसदाकणनशब्दकत्वानां निमित्तभूतेत्यर्थः। **शिरिम्बिठस्य** मेघस्य यानि स्वभूतानि तदुदरकोटरगतानि तेभिस्तैः **सत्त्वभिः** उदकैस्त्वा त्वां **चातयामसि** चातयतिर्नाशने चातयामो नाशयामः। अथवाऽनयर्चा कालकर्णी उच्यते। सा हि न किञ्चिद् ददाति काणा च विकटा च। सा कुटकुटायते सा अरायीत्येवमादीनामत्रोच्यते गिरिं गच्छ। अनिच्छन्तीमपि च बलात् शिरिम्बिठस्य ऋषेः स्वभूतानि यान्यलक्ष्मीकानि कर्माणि तैस्तां नाशयामः।

निगमप्रसक्तानुप्रसक्तं निराह **काणोऽविक्रान्तम**वगतं **दर्शनम**स्येति क्रमेः। काणो विगतचक्षुरित्यौपमन्यवो मन्यते। **कणतेर्वा** धातोः। अणुभावात् कारणात्। आचार्यमतान्तरदर्शनमेतत्। कथं पुनः कणतेः काणः ? उच्यते। शब्दसारूप्यभूयस्त्वात्। कणतिशब्दोऽणुभावे भाव्यते लोके। तथा च प्रयोगं दर्शयति अणु कणतीति। अल्पं शब्दं कुर्वन् कणतीत्युच्यते। ततश्च मात्राभावाद् अल्पपरिमाणत्वसामान्यदर्शनाद् अणुभावात् कारणात्। अणूभावादिति पाठः। औत्तरपदिकदीर्घत्वं द्रष्टव्यम्।

विकटो विक्रमेरेव। विक्रान्ता विकृता वा गतिस्येति। **कुटतेर्वा**न्येषा न क्रमेः। उकारस्याकारो वैपरीत्यम्। विकुटितो ह्यसौ कुब्जीभूतो भवति। शिरिम्बिठशब्दः क्रियायोगेन मेघे द्रष्टव्यः। तथा च प्रयोगं दर्शयिष्यति। **शीर्यते बिठे** अन्तरिक्ष इत्यर्थः। कुत एतत् ? यत आह बीरिटमन्तरिक्षमित्यत्रोक्तं तेन बीरिटेन पीतं व्याख्यातम्। कालकर्णि अलक्ष्म्यभिधानमेतत्। क्रियाशब्दो वा काला चासौ कर्णी वेति तया उपेतस्तामनेन सूक्तेन नाशितवान्। अद्यत्वेऽपि कृतकृच्छ्रादिपुरश्चरण आस्यदघ्ने उदके सूक्तमेतज्जपन् अलक्ष्मीं नाशयेत्। तथा च गौरकार्यः पाठः '**शिरिम्बिठस्त्वलक्ष्मीघ्नः**' (बृ०दे०८.५९) इति। सत्त्वशब्दः कर्मवचनः।

पराशर इत्यनवगतमनेकार्थं च। ऋषौ **पराशीर्ण** इत्यवगमः, इन्द्रे पराशातनः। इतिहासपक्षे निर्वचनमेतत्। एवमवस्थस्य वसिष्ठस्य नप्ता। शमीचिरमते शक्तौ जात इत्यर्थः। उदाहरणम्-

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।

न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्॥ (ऋ०७.१८.२१)

वसिष्ठस्यार्षम्। प्रेत्ययमममदुरित्येतेन सम्बध्यते। **ये गृहादिति** सप्तम्याः स्थान एषा पञ्चमी। गृहे तस्य यज्ञगृहे त्वामिन्द्रं **प्रामम‌दुः** मदेस्तृप्तिकर्मणः स्तुतिकर्मणो वा रूपम्। प्रकर्षेण तर्पितवन्तः स्तुतवन्तो वा। **त्वाया** युष्मद् इच्छाक्यचि त्वामिच्छति तद्यत्र तत्वा प्रत्ययादिति चाकारे तृतीयैकवचनं लुकि छान्दसमेतद्रूपम्। त्वन्यया त्वत्काम्यया त्वदिच्छयेत्यर्थः। **पराशरः** पराशरश्च **शतयातु**र्बहूनां शातयिता तेन रक्षोघ्नं शस्त्रमाहृतमासीदिति स्मर्यत इतिहासे। **वसिष्ठश्**च एवमादयः, नेत्ययं प्रतिषेधो मृषन्तेत्येतेन सम्बध्यते। **ते** तव **भोजस्य** भोजनस्य दातुः। य इति श्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् त इत्यध्याहार्यम्। स्तुत्यस्तोतृलक्षणं यष्टृयष्टव्यत्वलक्षणं च **सख्यं** न **मृषन्ति** मृष आमर्षे आमृषं विस्मरणं न विस्मरन्ति, विच्छेदे वा न विच्छिन्दन्ति न विनाशयन्तीत्यर्थः। एतदधशब्दश्रुतेर्यस्मादित्यध्याहार्यम्। यस्मान्न मृषन्ति अथ एतस्मात् कारणाद् व्यत्ययेन सूरिणां स्तोतृणामेषा **सुदिना** शोभना **व्युच्छान्** व्युच्छन्ति विवसन्ति अवगच्छन्तीत्यर्थः।

अनेकार्थतां दर्शयन्नाह–इन्द्रोऽपीत्यादि। यातूनां रक्षसाम्।

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३ विवासताम्।

अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः॥ (ऋ०७.१०४.२१)

इत्युदाहरणं व्याख्यातं सत इत्येतत्प्रसङ्गेन।

क्रिविर्दतीत्यनवगतम्। **विकृदतीत्यवगतम्।** आयुधविशेषोऽभिधेयः। उदाहरणे दिद्युदित्येतत् सामानाधिकरण्यात् उदाहरणम्–

यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुनारिष्टग्रामाः सुमतिं पिपर्तन।

यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती रिणाति पश्वः सुधितेव बर्हणा॥ (ऋ०१.१६६.६)

यूयं नः अस्माकम्। हे **उग्राः** अप्रसह्याः क्रूरा वा शत्रुषु **मरुतः**। **सुचेतुना** शोभनेन चित्तेनानुग्रहपरेण। **अरिष्टग्रामाः** ग्रामाः संघाता उच्यन्ते, वणिग्ग्रामादिदर्शनात् हे अहिंसितसंघाताः। **सुमतिं** शोभनां बुद्धिम्। मन्यतेर्वार्चतिकर्मणो मतिः स्तुतिस्तां **पिपर्तन** पालयत पूरयत वा। केन? उच्यते। **यत्र** निमित्तार्थ एषा सप्तमी प्रयोजनस्य च निमित्तत्वेन विवक्षा यस्मिन्निमित्ते यदर्थमित्यर्थः। **वो** युष्माकं स्वभूता **दिद्युद्** वज्रनामेदम्, वज्रनाम्नामायुधमात्रवचनत्वाद् इह शतघ्न्यां वर्तते, शतघ्नी **रदति** लिखति। कम्? सामर्थ्यान्मेघम्। **क्रिविर्दती** विकर्तनदन्ती। **रिणाति** रिणातिर्गतिकर्मायं गच्छति च तमनुप्रविशतीत्यर्थः। कथमिव? **पश्वः सुधितेव** पशून् सुधितिरिव क्षुधिते क्षुरिके वा अनायासेनेत्यर्थः। **बर्हणा** महता वधेनेति शेषः। केन निमित्तेन रदति? तेनोदकेन।

करूळतीत्यवगतम्। **कृत्तदतीत्यवगमः।** एवं देवतेत्यध्याहार्यम्। **कृत्तदन्त** इति तु न्याय्यम्। उदाहरणे देवतापदसामानाधिकरण्यात्। सर्वथा मन्त्रे स्त्रीलिङ्गप्रतिरूपकमेतत्। यतः पुल्लिङ्गमेव दर्शयति। कः तरळ इति पाठः। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य त्रिंशः खण्डः।

अथ एकत्रिंशः खण्डः।

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती॥ (ऋ०४.३०.२४) वामं वननीयं भवति। आदुरिरादरणात्। तत्कः करूळती। भगः। पुरस्तात् तस्यान्वादेश इत्येकम्। पूषेत्यपरम्। सोऽदन्तकः। '**अदन्तकः पूषा।**' (गो०ब्रा०१.२; शत०ब्रा०१.७.४.७) इति च ब्राह्मणम्। **दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः॥** (ऋ०१.१७४.२) दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृदुवाचः कुरु। **अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते॥** (ऋ०१०.८६.९) अबलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिषुः। इदंयुः इदं कामयमानः। अथापि तद्वदर्थे भाष्यते। वसूयुरिन्द्रः। वसुमान् इति अत्र अर्थः। '**अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्रः।**' (ऋ०१.५१.१४) इत्यपि निगमो भवति॥३१॥

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।

वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती॥ (ऋ०४.३०.२४)

वामदेवस्य। **वामं** वननीयं यावत् किञ्चित् प्रशस्यम्। किं पुनस्तत्? सामर्थ्याद् धनम्। **ते** तुभ्यम् **आदुरे** हे देवानामादरि यजमान। **देवो ददातु**। कतमः? **अर्यमा। वामं** प्रशस्यमेव। **देवः करूळती** ददात्विति सर्वत्रानुषङ्गः।

करूळतीति देवतान्तरम्। एवंविधस्य साविज्ञानपदत्वाभावात्। परगुणस्य च निर्वचने गुणिनोऽप्रत्यक्षत्वाद् अश्रुतसम्बन्धस्य चान्याय्यत्वात् प्रकृतस्यैव गुणाभिधानमेतदिति विनिश्चयः। तत् कस्येति विचारवाक्योपन्यास-प्रयोजनस्तच्छब्दः। **कः करूळती** नाम? उच्यते। आनन्तर्याद् **भगः** तस्यायं गुणयोगान्वादेश इत्येकं दर्शनम्। कृत्ता दन्ता अनेन शत्रूणामिति च योगात् सुकृत्तदन्तो देवः। वामं वाममिति वीप्साप्रयोगः सर्वशेषतया पुरः पठितः।

पूषेत्यपरदर्शनम्। नास्मात् परमस्ति, एतदेव प्रकृष्टं दर्शनमित्यर्थः। कुत एतत्? प्राशित्रब्राह्मणे पूष्णोऽदन्तकत्वश्रवणात्। **'तत् पूष्णे पर्याजह्रुः** (शत०ब्रा०१.७.४.)।' तस्य दन्तात् परोवाप अत्र च पविश्चोदने द्रष्टव्यः। **'तस्मादाहुरदन्तकः पूषा** (श०ब्रा०१.७.४.) करं भाग इति। व्यवहितस्यापि श्रुतिलिङ्गदर्शनादेष पूष्ण एव प्रयोगत्वादन्वादेशे क्लृप्ते कल्पयितव्यो न भागस्य। तस्मादानन्तर्यं न कारणमित्याह **सोऽदन्तक** इत्यादि।

दन इत्यनवगतम्। ददातेर्मनसश्च **दानमनस** इत्यवगमः। उदाहरणम्–

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्।

ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः॥ (ऋ०१.१७४.२)

अगस्त्यस्यार्षम्। **दनो** दानमनसः सामर्थ्यादस्य भाष्यकारो? जहार। अस्माकं **विशो** मनुष्यान् हे **इन्द्र मृध्रवाचो** मृध्रशब्दो मृदुवचनः, मृदुवचश्च मृदुवाग्वचनात् क्विबिति शेषः। **सप्त** व्यत्ययेन नपुंसकं पुंलिङ्गस्थाने यस्मादर्थे वा **यत्**। यस्माद्वा सप्तसंख्याकामेवं **पुरः शर्म** सुखं क्लेशेन नेत्यर्थः। **शारदीर्दर्त्** शरदि भवाः, दृणातेश्छान्दसमेतद्रूपम्। दारितवानसि दारयसि। वा। विदार्य च **ऋणो** ऋणातेर्गतिकर्मणोऽर्तेर्वा रूपं गमयसि प्रापयसि **अपः** वृष्टिलक्षणा **अनवद्याः** प्रशस्याः **अर्णा** नदीनामैतत्, नदीं प्रति। **यूने 'यु मिश्रणे'** (धा०२.२३) मिश्रयित्रे च हविर्भिः स्तुतिभश्च देवानाम्। **वृत्रं** धननामेदम्। **पुरुकुत्साय** कर्ता स्तोमानां कुत्संबन्धो बह्वीनां स्तुतिनां कर्त्रे यजमानाय। **रन्धीः 'राध साध संसिद्धौ'** (धा०५.१६, १७) संराधयसि ददासीत्यर्थः। यस्माद्वा इदमिन्द्रं च जातवेदसि कस्माद्वा नो मृध्रवाचं कुर्विति सम्बन्धः।

शरारुरित्यनवगतम्। संश्रृणोतेरिच्छायां छान्दस आरुः प्रत्ययो द्रष्टव्यः। संशेतेर्हिंसार्थस्येति केचित्। संशरणदीर्घनिद्रया दीर्घदिदृक्षया संशयानं वा हिंसात्मनस्तामिच्छतीति शरारुः **संशिशयिषु**रिति वा पाठान्तरे प्राप्ते उदाहरणम्–

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।

उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.९)

मामयमिन्द्राणी इन्द्रेण। किम्? शूरपत्नी नस्त्वमभ्यमिषि अरोगे अभिरुजसि बाधसे दित्रं वृषाकपिमित्येवमुक्ता तं प्रत्याह **अवीरा**मिति वेति, वीरेण पालयित्रा रहिता**मिव मामयं शरारुः** संशिशयिषुर्वा दीर्घनिद्रया**भिमन्यते**

दुष्टेनाशयेनाभिभवति। **उत** पदं चार्थे **अहं**शब्दाच्च परो द्रष्टव्यः, अहं **चास्मि** भवामि भर्त्रात्यर्थं त्वया **वीरिणी** सावलेपमाह **इन्द्रपत्नी** तवेन्द्रस्य पत्नी तत्रैतस्यास्त्वमसहाय इति तच्च न यतयो **मरुत्सखा** मरुतः सखायो यस्य तव। किं वा सखिभिस्तव। यस्त्वं **विश्वस्मात्** सर्वस्मात् जगत **ईश्वरः** उद्गततरो बालो मूर्खः।

इदंयुरित्यनवगतम्। क्वचिन्मान्ताव्ययप्रतिषेधादनेकार्थं च। प्रत्ययस्यार्थभेदादिदं कामयमान उच्यते कर्मेदं सामान्येन प्रदर्शिते यथाभिलषितं धनादि द्रव्यमिच्छति स इदंयुः। तेन चेदं वसुयुः, वागंयुः, किंयुः, विप्रयुरित्याद्यवगतानवगतक्यजन्तमात्रोपसंग्रहार्थं निगमेषु पठिता विशेषार्थमिति निरुक्तकाराभिप्रायः। अत एव च सामान्यस्य विशेषोऽनुदाहरणमिति। तेषां च वसूयवो वसुकामा इत्यादिषु बहुधागत्वाद् विशेषेणेह किञ्चिद् भाष्यकार उदाजहार। अनेकार्थत्वं दर्शयन्नाह **अथापि तद्वदर्थे** भाष्यते युज्यत इत्यर्थः। तदिति मतुप्प्रकृतिः सामान्येन निर्दिश्यते। तेन तद्वदर्थे मत्वर्थ इत्यर्थः। उदाहरणम्-

इन्द्रो॑ अश्रायि सु॒ध्यो॑ निरे॒के प॒ज्रेषु॑ स्तोमो॒ दुर्यो॒ न यूपः॑।

अ॒श्व॒युर्ग॒व्यू रथ॒युर्व॑सू॒युरिन्द्र॒ इद्रा॒यः क्ष॑यति प्रय॒न्ता॥ (ऋ० १.५९.१४)

सव्यतामापन्नस्येन्द्रस्यार्षम्। **अश्रायी**ति चिण्प्रत्यये कर्तरि द्रष्टव्यः। **इन्द्र** आश्रितवान् सहायत्वे **सुध्यः** सुधीः सुप्रज्ञः सुकर्मा वा। **निरेके** नियमेन रिच्यन्ते प्राणैर्योद्धारो यत्र स निरेको निर्गत एकोऽप्यन्यः सहायो यस्मात् स निरेकः। कः पुनरसौ? ऐकान्तिकमरणसहायवर्जितात्यन्तभीषणसंग्रामः। तत्र कान्? उच्यते। **पज्रेषु** पाजः स्तुतिविषयं बलं तेन तद्वन्तः पज्रा अङ्गिरस इत्यभिप्रेताः। द्वितीयार्थे चात्र सप्तमी पज्रान् स्तुतिबलेन बलवतोऽङ्गिरस ऋषीनित्यर्थः। कथमाश्रितवान्? उच्यते। **अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः** अश्ववान् गोमान् रथवान् वसुमानिन्द्रः, इदि ऐश्वर्येऽर्थे। **इद्रायो** यावत् किञ्चित् त्रैलोक्यं धनं सर्वस्य **क्षयति** क्षयतिरैश्वर्यकर्मा अयं राय ईष्टे। **प्रयन्ता** च यमिर्दानार्थः, प्रदाता च स्तोतृभ्यः। न हीन्द्रोऽस्मदादिवदश्वादि कामयते। अतस्तद्वदर्थे।

कीकटा इत्यनवगतम्। **किंकृताः** क्रिया इत्यवगमः। मन्त्रे सप्तम्यन्त इति तथैवायं निगमेषु पठितः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य एकत्रिंशः खण्डः।

अथ द्वात्रिंशः खण्डः।

किं ते॑ कृ॒ण्वन्ति॒ कीक॑टेषु॒ गावो॒ नाशिरं॑ दु॒ह्रे न त॑पन्ति घ॒र्मम्। आ नो॑ भ॒र प्रम॑गन्दस्य॒ वेदो॑ नैचाशा॒खं म॑घवन् रन्धया नः॥ (ऋ०३.५३.१४) किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः। कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः। कीकटाः किंकृताः। किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। नैव चाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मं हर्म्यम्। आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि। मगन्दः कुसीदी, माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति, तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदकुलीनः। प्रमदको वा। योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः। पण्डको वा। पण्डकः पण्डगः। प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डौ। आण्डावाणी इव व्रीडयति। तस्तम्भे। नैचाशाखम्। नीचाशाखो नीचैः शाखः। शाखाः शक्नोतेः। आणिररणात्। तं नो मघवन् रन्धयेति। रध्यतिः वशगमने। बुन्द इषुर्भवति भिन्दो वा। भयदो वा। भासमानो द्रवतीति वा॥३२॥

किं ते॑ कृ॒ण्वन्ति॒ कीक॑टेषु॒ गावो॒ नाशिरं॑ दु॒ह्रे न त॑पन्ति घ॒र्मम्।

आ नो॑ भर॒ प्रम॑गन्दस्य॒ वेदो॑ नैचाशा॒खं म॑घवन् रन्धया नः॥ (ऋ०३.५३.१४)

विश्वामित्रस्य। **किं ते** तव **कृण्वन्ति** कुर्वन्ति न क्वचिदुपयुज्यन्त इत्यर्थः। **कीकटेषु** कीकटनाम्नि अनार्यनिवासे देशे कृपणा वा कीकटाः कृपणेषु वा **गावस्ता नाशिरं दुह्रे** आशिरशब्देन सोमस्य श्रपणार्थं दध्युच्यते। तेन चात्र तत्प्रकृतिभूतमाशिरार्थं पयो लक्ष्यते। तेनाशिरार्थं पयो न दुह्यत इत्यर्थः। **न तपन्ति घर्मं** नापि स्वपयःप्रदानद्वारेण तपन्ति न दीपयन्ति घर्मं महावीरपात्रं प्रवर्ग्येऽपि नोपयोगं गच्छन्तीत्यर्थः। एतेन सान्नाय्यादीन्यपि प्रदर्शितं द्रष्टव्यम्। एतज्ज्ञात्वा तास्तावद् **आ**कारो भरेत्येतेन सम्बध्यते। अस्मभ्यमा**भर** आहर देहीत्यर्थः। न च केवलास्ता एव। किन्तर्हि? **प्रमगन्दस्य** अत्यन्तकुसीदकुब्जस्य प्रमादकस्य नित्यप्रमुदितस्य वा अयष्टुरित्यभिप्रायः। पण्डकस्य वा षण्ढस्येत्यर्थः। असावप्यनधिकृत इत्यर्थः। तस्य वा स्वभूतं **वेदो** धनम्। तथा **नैचाशाखं** हीनजातीयापत्याह शूद्रापत्यैश्च केवलैः शूद्रावानिपत्यत्रेत्यादि पातकहेतुत्वात्। तस्य च यत्स्वं नैचाशाखं त्वयि हे **मघवन् रन्धय** साधय देह्यस्मभ्यमित्यर्थः। एतेषां हि यत्स्वं तत्तव नोपयुज्यं यत्त्वस्मदीयं तत् सततप्रवृत्तयोगत्वात् तदुपयोगाय। अतोऽस्मभ्यं तद्देहीत्यर्थः। आहर च धनं यदज्ञशीलानामिति।

एकपदनिरुक्तम्। **किंकृताः** किमर्थमुत्पादिता अदो वारः किमा करोतेश्चेत्यर्थः। अथवा यागदानादिभिः किंकृताभिः किं पिबतखादतेत्येवंप्राया एव प्रेप्सा प्रेक्षा येषां ते अश्रद्दधाना नास्तिकाः किंक्रियाः सन्तः कीकटाः। देवान् प्रति हरणात् हर्म्यः सन् घर्मः। महावीरोऽयमर्थः। **मगन्दः** द्वैगुण्यं प्रासो मामागमिष्यतीत्युपचयं प्रत्याकर्ण्य ददाति प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः। अस्मदो गमेर्ददातेश्च मगन्दः, अपत्यार्थे प्रस्कण्वन् प्रमगन्दः पितृक्रमागतं कौपीन्यं पश्येत्यर्थः। यत्स्वयं तस्य प्रमदको वा प्रमगन्दः ऐहलौकिक एव। **पण्डको वा** पापिन्नगमनः तृतीयाप्रकृतिः स्त्रीरूपत्वात् लज्जया वा स्त्रीवन्निभृतं यो गच्छति सः। **प्रार्दको वा** पुंस अण्डौ प्रकर्षेणार्दयति मृद्नातीत्यर्थः। अण्डौ कस्मात्? **आणी इव** यथा आणी रथस्य चक्रे संस्तम्भयेतां तद्वत् मृद्यमानौ व्रीडयतः। आणी अरणाद् गमनाद् अरणीरित्यर्थः। तत्स्वयं तस्य प्रमगन्दशब्दवाच्यस्य स्वमाहरेति सम्बन्धः। नीचैः पुत्रपौत्रादिरूपाः शाखाः सन्तानरूपा वा यस्य स नीचैःशाखः शूद्रायामेवोत्पादिता इत्यर्थः। स नीचैःशाखः, तस्य स्वं नैचाशाखम्। **शाखाश्च शक्नोतेः** खशयनिवृत्त्यर्थम्। रध्यतिर्वशगमने **'मा र॑धाम द्वि॒षते'** (ऋ०१०.१२८.५) **'द्वि॒षन्तं॒ मह्यं॑ र॒न्धय॑न्'** (ऋ०१.५०.१३) इत्यादिप्रयोगदर्शनात् सिद्धम्। भाष्येप्युपन्यस्तत्वान्न व्याख्यायते मन्त्रः।

बुन्द इत्यनवगतम्। **इषुरभिधेयः**। **भिन्दो वा** नेदमवगमप्रदर्शनम्। किन्तर्हि? धातुप्रत्ययार्थप्रदर्शनम्। प्रत्ययस्तु यदि भिदेः पचादिकोऽच् ततो भेद इति स्यात्। अथ इगुपधलक्षणः कः, भिद इति भवितव्यम्। एवं तर्हि भिदेरपि पाघ्रादिविहितः शः शिष्टप्रयोगात् तत्र साधनशब्दो द्रष्टव्यः। अथवा औणादिकव्युत्पत्त्या भिन्द इति वा **भयद** इति **वा भासमानो द्रवतीति वा** वाक्यार्थे पदवचनम्। विदारणभयदानभासमानद्रवलक्षणानामर्थे सम्भवात्। अक्षरवर्णसामान्याच्चेदमाह। उदाहरणम्–

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः।

अथ त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः। उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा॥ (ऋ०८.७७.११) तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा। ते सुकृतं सूमयं सुसुखं धनुः। साधयिता ते बुन्दो हिरण्ययः। उभौ ते बाहू रण्यौ रमणीयौ साङ्ग्राम्यौ वा। ऋदूपे अर्दनपातिनौ, शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वा। मर्मण्यर्दनवेधिनौ गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा॥ ३३॥

तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः।

उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिद् ऋदूवृधा॥ (ऋ०८.७७.११)

कुरुस्तुतेरार्षम्। इन्द्र उच्यते। **तुविक्षं** बहुविक्षेपं बहुशरविक्षेपसहं विस्तीर्णमण्डलमत्यायतमित्यर्थः। **ते** तव स्वभूतं **सुकृतं** वा सुसंस्कृतम्। **सूमयं** सूमय इति सुखनाम सुसुखं साधूनां वा सुखकरत्वात् सुष्ठु सुखमित्यर्थः। मण्डितो वा **ऋदूपे** बाहुविशेषणमेतत्, ऋतुशब्दोऽर्दतेर्हिंसार्थस्य शत्रूणामर्दनेन पातयितारौ। **चित्** पदपूरणः। **ऋदूवृधौ** मर्मविधिनावित्यर्थः।

ऋदूपे इत्यस्य निर्वचनम्- **अर्दनपातिनावित्यादि**। अर्दनेन हिंसया वेधनेन ताडनेन आत्मनो गमनेन तन्वत इषोर्यच्छरीरं शरीरिणं पातयितारौ अर्दनपातिनौ मर्मणि रूपादेर्मर्मण्यर्दनवेधिनाविति। नेदं **'व्यध ताडने'** (धा०४.७५) इत्यस्य रूपम्। किं तर्हि? तौदादिकस्य **'विध विधाने'** (धा०६.४४) इत्यस्य। अर्दनेन विधतः कुरुतस्ताडयत इति। विधानं चानुष्ठानकरणम्। तेन च क्रियासामान्येन क्रियाविशेषो लक्ष्यते। अतोऽर्थः स एव ताच्छीलिकेन णिनिप्रत्ययेन दर्शितः। इह धनुःसम्बन्धाद् इषुरिति गम्यते बुन्दः। अस्यैवार्थस्य दार्ढ्यार्थमुदाहरणं दर्शयति स्म।

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

अथ चतुस्त्रिंशः खण्डः।

निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत् पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्॥ (ऋ०८.७७.६) निराविध्यद् गिरिभ्यः। आधारयत् पक्वमोदनम्। उदकदानं मेघम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्। वृन्दं बुन्देन व्याख्यातम् (निरु०६.३२) वृन्दारकश्च॥ ३४॥

निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत् पक्वमोदनम्।

इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्॥ (ऋ०७.७७.६)

कुरुसुतेरार्षम्। निर्विध्यति **गिरिभ्यो** गिरिशब्दान्मेघनाम्नो निर्धारणषष्ठ्याः स्थान एषा पञ्चमी। गिरिणां मेघानां मध्ये य **आधारयद्** आभिमुख्येन धारयति। **पक्वं** परिपक्वयोग्यमुदकानाम्। **ओदनं** मेघनामेदम्, मेघम्।

कोऽसौ ? **इन्द्रः**। कथं निरविध्यत् ? **बुन्दमिषुं स्वाततमाकृष्टं** कृत्वेति शेषः। तृतीयायाः स्थाने वा द्वितीया। बुन्देन स्वाकृष्टेनेत्यर्थः। ओदनशब्दं निराह **उदकदानं** ददातीति दानमुदकदानम्। व्याख्यातो बुन्दः।

वृन्दमित्यनवगतम्। समुदायोऽभिधेयः। तत्पुनरेतेन बुन्देन व्याख्यातः, क्रियायोगसमवायसम्भवात्। वीणासमवायाच्च प्रसिद्धत्वान्निगमो न प्रदर्शितः।

वृन्दारकोऽप्येवमेव व्याख्यातः **पूजावचनः**। तत्र प्रयोगो वृन्दारक इति वैदिके। उपनिषत्सु प्रयोगः।

किरित्यनवगतम्। **कर्तेत्यवगमः**। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः।

अथ पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्संमञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ (ऋ०१०.५२.३) अयं यो होता कर्ता स यमस्य। कमप्यूहे। अन्नमभिवहति यत्समश्नुवन्ति देवाः। अहरहर्जायते। मासे मासे। अर्धमासे अर्धमासे वा। अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम्। उल्बमूर्णोतेः। वृणोतेर्वा। **'महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्।'** (ऋ०१०.५१.१) इत्यपि निगमो भवति। ऋबीसमपगतभासम्। अपहृतभासम्। अन्तर्हितभासं गतभासं वा॥ ३५॥

भाष्यटीका

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्संमञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ (ऋ०१०.५२.३)

सौन्धीकस्याग्नेर्विश्वेषां च देवानां संवादे देवानामिदमार्षम्। **अयं यो होता** ह्वाताऽग्निः। कः ? कि कर्ता उकारः पदपूरणः। सायं मध्यरश्मिसंयमनाद् यम आदित्योऽभिप्रेतः आदित्यस्य। कथं पुनरग्निरादित्यस्य कर्ता ? उच्यते। **'अग्नेर्वादित्यो जायत'** इति श्रुतेः। कमपि **कमि**त्यन्ननाम अन्न**मपि** काल्य**मूहे** वहति। **यत् समञ्जन्ति** सम्यग्गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति भक्षयन्तीत्यर्थः। के? **देवाः**। किञ्च **अहरहः** अहन्यहनि अग्निहोत्रहोमार्थमाहवनीयात्मन **जायते मासि मासि** पिण्डपितृयज्ञार्थम्। प्रदर्शनं चैतत्। अर्धमासदर्शपूर्णमासार्थम्। संवत्सरे च सोमयागार्थम्। **अथ** शब्दस्य एतस्मादर्थस्य श्रवणाद् यस्मादित्यध्याहार्यम्। यस्मादेव जायसे अथैतस्मात् कारणाद् **देवा** एवं **दधिरे**। शुद्धोऽप्ययं ददातिर्निपूर्वार्थे द्रष्टव्यः, निदधिरे निहितवन्तः। **हव्यवाहं** हविषो वोढारम्। अस्मिन्नधिकारे स्थापितवन्त इत्यर्थः।

उल्बमित्यनवगतम्। **ऊर्णोतेरिति** धातुनिर्देशार्थम्। ऊर्णोतेर्ह्रस्वत्वरेफलोपत्वादिर्बश्च प्रत्ययः। **वृणोतेर्वा** वकारस्योकारो बश्च प्रत्ययः। गर्भस्याच्छादनमभिधेयम्। उदाहरणम्-

महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद् येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद् बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥ (ऋ०१०.५१.१)

सौचीकस्याग्नेर्विश्वेदेवानाम्। **महत् तदुल्बं** जरायोरन्तर्गर्भवेष्टनं **स्थविरं** स्थूलं चिरन्तनं वा **आसीत्। येन उल्बेनावेष्टितः प्रविवेशिथ** प्रविष्टवान् वा। उत्तरार्धर्चव्याख्यानमद्यदियं प्रकृतव्याख्यानस्याभावात्। किञ्च **विश्वाः** सर्वा ऋतुषु अप्सुभिष्वभिषु च प्रविष्टा **अपश्यद्** दृष्टवान्। **बहुधा**नेकप्रकारं **ते** तव स्वभूताः हे **अग्ने जातवेदः** स्त्रियत्वमूकः ...र्ति **देव एकः**।

ऋबीसमित्यनवगतम्। पृथिव्यभिधेया। **अवगतभासमि**त्येवमाद्याः शब्दसमाधय उपपद्यन्ते। धात्वन्यत्वकृतो विशेषः। उदाहरणम्-

इत्येकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथ षट्त्रिंशः खण्डः।

हि॒मेना॒ग्निं घ्रं॒सम॑वारयेथां पितु॒मती॒मूर्ज॑मस्मा अधत्तम्। ऋ॒बीसे॒ अत्रि॑मश्वि॒नाव॑नीत॒मुन्नि॑न्यथुः सर्व॑गणं स्व॒स्ति॥ (ऋ०१.११६.८) हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथाम्। अन्नवतीं चास्मै ऊर्जमधत्तमग्नये। योऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः। सर्वगणं सर्वनामानम्। गणः गणनात्। गुणश्च। यद् वृष्ट ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपम्। तेनैनौ स्तौति स्तौति॥ ३६॥

भाष्यटीका

हि॒मेना॒ग्निं घ्रं॒सम॑वारयेथां पितु॒मती॒मूर्ज॑मस्मा अधत्तम्।

ऋ॒बीसे॒ अत्रि॑मश्वि॒नाव॑नीत॒मुन्नि॑न्यथुः सर्व॑गणं स्व॒स्ति॥ (ऋ०१.११६.८)

हिममुदकमत्राभिप्रेतम्। उदकेन वृष्ट्याख्येनाग्निम्। लुप्तोपममेतत् सामर्थ्याद् द्रष्टव्यम्। **अग्निमिव** अग्निसदृशमित्यर्थः। किं पुनस्तत्? **घ्रंसम्** अहर्नामेदम्। अहःसामर्थ्याद् ग्रीष्मान्तर्वर्ती। **तदवारयेथां** युवां शीतीकुरुथ इत्यर्थः। **पितुमतीं** पितुरित्यन्ननाम। **ऊर्जमि**त्यूर्कशब्देनापि उदकलक्षणो रस उच्यते। पितुमतीमूर्जमन्नमन्नं च रसम्। अन्नसहितं पेयमुदकमित्यर्थः। पुरोडाशादिसहितमाज्याहुतिलक्षणं **वास्मै** अग्नये**ऽधत्तम्।** वृष्टिद्वारेण दत्तम् किञ्च **ऋबीसे** पृथ्वीद्रव्ये प्रथितमधोनिहितम्। **अत्रिम्** अत्तारं हविषामोषधिवनस्पत्यादीनां वा। **अश्विना** हे अश्विनौ ओषधिफलभूतानां धान्यानां रूपेण **उन्निन्यथुः** ऊर्ध्वं नयथः। **सर्वगणं** सर्वेण नामगणेन युक्तमग्निं यः कश्चिदोषध्यादीनां गणस्तेन सर्वेणाग्निरेव युक्तः। कथम्? ओषध्यादीनां पृथिवीविकारत्वात् पार्थिवादग्नेरनन्यत्वाद् अग्नेरेतद्रूपमापन्नस्य रूपं **स्वस्ति** अविनाशोऽयं न भवति तथा।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये एकादशस्या-(षष्ठस्या)-ध्यायस्य षष्ठः पादः समाप्तिमगमत्।

समाप्तश्चाध्यायः।

॥अथ सप्तमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

अथातो दैवतम्। यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषश्चाख्यातस्य॥ १॥

अथातो दैवतम्।

यत्समाम्नायक्रमेण यथाप्रतिज्ञातं नैघण्टुकैकपदिकप्रकरणद्वयं निरुक्तम्। इदानीं यत् पुरस्तादुत्कृष्टं **'तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः'** इति तृतीयं प्रकरणं तस्य प्राप्तोऽवसर इत्याह। **अथातो दैवतमिति। अथ**शब्द आनन्तर्येऽधिकारे वा। ऐकपदिकानन्तरं यद्वा दैवतमधिकृतं प्रस्तुतं वेदितव्यमित्यर्थः।

केचित् संविद्रवतेऽथ कालादावपि वर्तते।
येन तेन भवेत् सो विकल्पवन्मङ्गले तथा॥

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलौ स्मृतौ॥

अतः शब्दो हेत्वर्थे। अग्न्यादिगणसमूहात्मकस्य प्रकरणस्य शेषतया गुणपदसमवायात्मकं प्रकरणद्वयं व्याख्याय तच्छेषितयावस्थितं दैवतं व्याख्यायत इति वाक्यशेषः।

अथ किमिदं दैवतम्। उच्यते-

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते।

तद्यानीत्यादि। **तदि**ति वाक्योपन्यासार्थम्। **प्राधान्यस्तुतीनां** प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां तासां यानि नामान्यग्न्यादीनि देवपत्न्यन्तानि। **तदि**ति प्रकरणाभिप्रायो नपुंसकनिर्देशः। **दैवतं** प्रकरण**माचक्षते** पूर्वाचार्याः। नेयमन्वर्थसंज्ञा। किन्तर्हि। रूढिरिति पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या दर्शयति।

ननु षष्ठान्ते **'तद्यानि नामानि'** इत्युक्तमेव प्रकरणस्वरूपं किं पुनरुच्यते तत्। इहानुवादक उत्तरविवक्षया। इह वा प्रदर्शितस्वरूपस्य दैवतस्य तत्रोत्कर्षप्रतिज्ञानार्थोऽनुवादः।

सैषा देवतोपपरीक्षा।

सैषेत्यादि। **सा एषा** नामवत्या देवतायाः प्राधान्यस्तुतिभाजः सामान्यलक्षणेन संख्यास्थानाकारभक्तिसाहचर्यनिर्वचनोदाहरणप्रदर्शनादिना चोपगम्योपगम्य सर्वप्रकार**मीक्षा** ईक्षणं निश्चयाधानं प्रकरेणैव करिष्यत इति शेषः। तत्र सामान्येन देवतालक्षणं सद्वारेण नामादिनाचष्टे।

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।।

यत्कामो यस्मिन् यस्मिन् स्वर्गायुरैश्वर्यादौ काम इच्छा यस्य स यत्काम ऋषिर्द्रष्टा मन्त्रस्य। **यस्यां देवतायां** विषयभूतानां स्तुतिं प्रयुङ्क्ते **आर्थपत्यमर्थ**पतित्वमिच्छन् अर्थस्यैश्वर्यादेः पतिः स्यामिति **तद्दैवतः स मन्त्रो भवति**। सा तस्य मन्त्रस्य देवता। तथा च शौनकोऽप्याह **'अर्थमिच्छन् ऋषिर्दैवतम्'** इत्यादि।

तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च।

तास्त्रिविधा ऋचो वक्ष्यमाणं त्रैविध्यं तद्दैवतः स मन्त्र इतिमात्रं प्रस्तुत्य यदृच्छां त्रैविध्यप्रदर्शनं बाहुल्यात् तिरोहितार्थतरत्वाच्च।

तासां परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते। प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य।

तासां परोक्षकृता इत्यादि। उक्तं त्रिप्रकारत्वमाचष्टे। **परोक्षं** स्तुत्यमर्थं प्रति **कृताः**, करोतिः क्रियासामान्यवचनात्वाद् विशेषं लक्षयन् प्रयुञ्जेरर्थे द्रष्टव्यः, कृताः प्रयुक्ताः। एवमेव प्रत्यक्षं प्रति प्रयुक्ताः प्रत्यक्षकृताः। आध्यात्मिक्य इति **'अध्यात्मादिभ्य उपसंख्यानम्'** (अष्टा०वा०४.३.६०) इत्यौपसंख्यानिकष्ठञ् तद्धिताख्यः प्रत्ययः। तद्धितवृत्तिप्रयोगेण तद्धितार्थं दर्शयाञ्चकार। याऽऽसां मन्त्रकृदात्मानमेव ब्रवीति। आत्मविषया इत्यर्थः।

तत्र तस्मिन् त्रैविध्ये परोक्षकृता नाम याः सर्वनामविभक्तयः स्वादयस्ताभिर्युज्यन्ते। न केवलं स्वादिभिरेव। किन्तर्हि। **प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य**। आख्यातं तिङ्समुदायस्तस्य प्रथमैस्त्रिकैः। कुत एतत्? व्याकरणे **'तिङस्त्रीणि त्रीणि'** (अष्टा०१.४.१००) इति संज्ञानात्। बहुवचनं तु धातुभेदाभिप्रायम्। विभक्तियोगस्य क्रमेणोदाहरणानि दर्शयति स्म।

(इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या-)-ध्यायस्य प्रथम खण्डः।)

अथ द्वितीयः खण्डः।

इन्द्रो॑ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्याः। (ऋ०१०.८९.१०) **इन्द्र॒मिद् गा॒थिनो॑ बृ॒हत्।।** (ऋ०१.७.१) **इन्द्रै॑णै॒ते तृ॒त्स॑वो॒ वेवि॑षाणाः।।** (ऋ०७.१८.१५) **इन्द्रा॑य॒ साम॑ गायत॒।।** (ऋ०८.९८.१) **नेन्द्रा॑दृ॒ते प॑वते॒ धाम॒ किं च॒न।।** (ऋ०९.६९.६) **इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑च॒म्।।** (ऋ०१.३२.१) अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। **त्वमि॑न्द्र॒ बला॒दधि॒।।** (ऋ०१०.१५३.२) **वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि।।** (ऋ०१०.१५२.४) अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। **मा चि॑द॒न्यद्वि शं॑सत।।** (ऋ०८.१.१) **कण्वा॑ अ॒भि प्र गा॑यत।।** (ऋ०१.१३७.१) **उप॒ प्रेत॑ कुशिकाश्चे॒तय॑ध्वम्।।** (ऋ०३.५३.११) अथाध्यात्मिक्यश्च उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठः (ऋ०१०.४७-४८)। लवसूक्तम् (ऋ०१०.११९। वागाम्भृणीयम् (ऋ०१०.१२५) इति।।२।।

भाष्यटीका

इन्द्रो॑ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्या इन्द्रो॑ अ॒पामिन्द्र॒ इत्पर्व॑तानाम्।

इन्द्रो॑ वृ॒धामिन्द्र॒ इन्मेधि॑राणा॒मिन्द्र॑ः क्षेमे॒ योगे॒ हव्य॒ इन्द्र॑ः॥ (ऋ१०.८९.१०)

रेणुर्नाम वैश्वामित्रस्तस्यार्षम्। **इन्द्रो दिव इन्द्र** एव **पृथिव्या ईशे**। व्यत्ययेनोत्तमः प्रथमस्य स्थाने ईष्टे। **इन्द्र एवापाम्**। आप इत्यन्तरिक्षनाम अन्तरिक्षस्य। **इन्द्र** एव **पर्वतानाम्**। **इत्** पदपूरणः। **इन्द्र** एव **वृधां** वृद्धानां महतां यज्ञानामन्येषां वा केषाञ्चित्। **इन्द्र** एव **मेधिराणां** मेधो यज्ञः। रो मत्वर्थे। अकारस्येकारेण व्यापत्तिः। यज्ञवतां यज्ञमानानामित्यर्थः। **इन्द्र** एव **क्षेमे योगे** च। निमित्ते सप्तमी। अलब्धलाभो योगः। लब्धपरिरक्षा क्षेमः। **'निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी'** (महाभाष्ये-२.३.३६ वा०) इत्येवान्ये वर्णयाञ्चक्रुः। वयं तु खलु ब्रूमः निमित्तसप्तमीति कर्मसंयोगस्य मृग्यत्वात्। क्षेमार्थं योगं चेत्यर्थः। हव्य आह्वातव्यः। इरां दृणातीत्यादि क्रियायोगादिनिमित्तः पर इन्द्रशब्दः। अनन्तोऽत्यन्तेश्वर इत्यर्थः।

इन्द्र॒मिद्गा॒थिनो॑ बृ॒हदिन्द्र॑म॒र्केभि॑र॒र्किण॑ः।

इन्द्रं॒ वाणी॑रनूषत॥ (ऋ१.७.१)

मधुच्छन्दसः। **इच्छब्द** एवार्थे। **इन्द्र**मेव **गाथिनो** गेयत्वात् गायानि सामानि तद्वन्त उद्गातारः। **बृहत्** अत्र तृतीयाया अलुक् बृहता बृहन्नाम्ना साम्ना महता वा। **इन्द्र**मेव**अर्केभिः** अर्कैर्मन्त्रैः ऋगाख्यैः। **अर्किणो** मन्त्रवन्तो होतार इत्यभिप्रायः। **इन्द्र**मेव **वाणीः** द्वितीया व्यत्ययेन तृतीयार्थे वाणीभिर्वाग्भिर्युजराख्याभिरध्वर्यवः। **अनूषत** **'णु स्तुतौ'** (धा०२.२५) इत्यस्य रूपम्। एताभिः स्तुवन्तीत्यर्थः।

इन्द्रे॑णै॒ते तृत्स॑वो॒ वेवि॑षाणा॒ आपो॒ न सृ॒ष्टा अ॑धवन्त॒ नीची॑ः।

दु॒र्मि॒त्रास॑ः प्रकल॒विन्मिमा॑ना ज॒हुर्विश्वा॑नि॒ भोज॑ना सु॒दासे॑॥ (ऋ०७.१८.१५)

पुरस्ताद् व्याख्यातम्।

इन्द्रा॑य॒ साम॑ गायत॒ विप्रा॑य बृ॒हते॑ बृ॒हत्।

ध॒र्म॒कृते॑ विप॒श्चिते॑ पन॒स्यवे॑॥ (ऋ०८.९८.१)

नृमेधस्यार्षम्। **इन्द्राय साम गायत** हे उद्गातारः। कीदृशाय **विप्राय** **'प्रा पूरणे'** (धा०२.५१) इत्यस्यैतद्रूपम्। वृष्ट्या विविधमापूरयित्रे। **बृहते** महते। **बृहत्**संज्ञकं महद्वा। **धर्मकृते** धर्मशब्देन कर्मोच्यते इज्यादिक्रियाविशेष इति यावत्। कर्मणो वृत्रवधादेर्वृष्टिद्वारेण वा यागादेर्धर्मस्य सर्वस्य कर्त्रे। **विपश्चिते** मेधाविने। **पनस्यवे** पनतेः स्तुतिकर्मणः पनःस्तुतिस्तामिच्छतीति क्यच्। **'क्याच्छन्दसि'** (अष्टा०३.२.१७०) इत्युप्रत्ययः। तस्मै स्तुतिकामायेत्यर्थः।

सूर्य॑स्येव र॒श्मयो॑ द्रावयि॒त्नवो॑ मत्स॒रास॑ः प्र॒सुप॑ः सा॒कमी॑रते।

तन्तुं॑ त॒तं परि॒ सर्गा॑स आ॒शवो॒ नेन्द्रा॑दृ॒ते प॑वते॒ धाम॒ किं च॒न॥ (ऋ०९.६९.६)

हिरण्यस्तूपस्य। यथा सूर्यरश्मयस्तमसां **द्रावयित्नवो** विद्रावयितारः सह गच्छन्ति। एवं **मत्सरासः** मत्सरास्सोमाः **प्रसुपः** सपतेरर्चतिकर्मणः क्विप् उपधाया उकारः प्रकर्षेण स्तुत्या। अथवा स्वपेरन्तर्णीतण्यर्थस्य

क्विप् सम्प्रसारणम्। अतिसुखकरत्वात् पीयमाना: प्रकर्षेण स्वापयन्तीवेति प्रसुप:। **साकमीरते** सह गच्छतीन्द्रं प्रतीति शेष:। **तन्तुं** तन्यतेऽसाविति तन्तुर्यज्ञ: तन्तुं **परी**ति परिस्सर्वतोभावे तस्य ततस्य परित **आशव:** सर्वतो व्यासार इत्यर्थ:। **सर्गास:** सर्गो वेग:। **अर्शआदित्वादच्** (अष्टा०५.२.१२७)। वेगवन्त:। **नेन्द्रात्** न चेन्द्रात् **ऋते** इन्द्रमुक्त्वा **पवते**र्बहुवचनस्य स्थान एकवचनम्। पवन्ते क्षरन्ति **धाम** स्थानं **किञ्चन** किञ्चित् प्रति पीयमानानां सोमानां स्थानं पात्री देवता नान्यं प्रति देवतान्तरमित्यर्थ:। इन्द्रमेव गच्छन्तीत्यर्थ:।

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।

अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभि॒न॒त् पर्व॑तानाम्॥ (ऋ०१.३२.१)

हिरण्यस्तूपस्य। **इन्द्रस्य नु** इति क्षिप्रनाम क्षिप्रं **वीर्याणि** वीरकर्माणि **प्रवोचं** प्रब्रवीमि। **यानि चकार** कृतवान् करोति वा **प्रथमानि** अन्येनाकृतपूर्वाणि उत्कृष्टानि वा। **वज्री** गृहीतवज्र: सन्नित्यर्थ:। **अहन्नहिं** हतवान् मेघम्। **अन्वपस्ततर्द** अन्वित्यपरभावे पश्चाद्भावे वा तर्दतिर्हिंसार्थ:। मेघवधोत्तरकालं तदीया अपो हिंसितवान्। भूमौ पातितवानित्यर्थ:। सा हि तासां हिंसा। केचित्तु तर्दतिं विस्तारार्थं व्याचक्षते पृथिव्यामपो विस्तारितवानित्यर्थ:। ताभिश्च पातिताभिर्विस्तारिताभिर्वा **प्रो**पसर्गोऽभिनदित्येतेन सम्बध्यते। **वक्षणा** इति नदीनाम नदीश्च कुलिशपातेन **प्राभिनत्**। पर्वतानां सम्बन्धिनीस्तेभ्यो हि ता: प्रभवन्तीति सम्बन्ध:।

अथवा **वक्षणा:** पर्शवस्तान् **प्राभिनत्**। पर्वतानां मेघानामेकं मेघं हतवान्। अन्येषां चापि पर्शून् भग्नवानित्यर्थ:। अथवा पर्शुवचनेन वक्षणाशब्देन तत्सामीप्यात् पक्षोऽत्र प्रतिनिर्दिश्यते। पर्वतशब्दस्तु महीधरवचन एव। महीधराणां पक्षान् प्राभिनत् भिन्नवानित्यर्थ:। एवं चरकाध्वर्यूणां ब्राह्मणे इतिहास: श्रूयते- **'प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वतास्ते पक्षिण आसन् ते परापातमासन् यत्र यत्राकामयन्त'। अथवा इयं तर्हि शिलासीत्। तेषामिन्द्र: पक्षानच्छिनत् तैरिमामदृहदिति।** (मै०सं०१.१०.१३)

इन्द्रे कामा अयंसत दिव्यास: पार्थिवा उत।

त्यमू षु गृणता नर:॥ (मूलमनुपलब्धम्)

ये दिव्या दिवि भवा ये च पार्थिवा:। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्य:। ते सर्वे **इन्द्रे कामा अयंसत** यमिर्बन्धनार्थ:। इन्द्रे निबद्धा इन्द्र आयत्ता इत्यर्थ:। एतज्ज्ञात्वा **त्यमू षु** त्यं कं उ इति पादपूरण:। **गृणत** स्तुतेत्यर्थ:। **नर:** सर्वे मनुष्या:।

परोक्षकृतानन्तरं प्रत्यक्षकृतानां लक्षणमाह-**मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना** (इदं प्रतीक वाक्यं नास्ति)।

मध्यमपुरुषयोगा:-मध्यमेन त्रिकेण योगो यासाम्। क्वचिच्चामन्त्रितेनेति शेष:। ता: प्रत्यक्षकृता**स्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना** योगो यासां ताश्च। इह प्रत्यक्षकृतादिलक्षण एव क्वचिदामन्त्रितयोग: क्वचित् सर्वनामयोग: क्वचित् समुच्चय:। अन्यतरस्य योगेऽन्यतरदध्याहार्यमाकांक्षितत्वादेकवाक्यतायै। उदाहरणम्-

त्वमि॑न्द्र ब॒लादधि॒ सह॑सो जा॒त ओज॑स:।

त्वं वृ॑ष॒न् वृषेद॑सि॥ (ऋ०१०.१५३.२)

इन्द्रमातरो देवजामयश्च तासामार्षम्। **त्वं** हे **इन्द्र बलात्**। किं विशिष्टात्। **सहसो**ऽभिभवितुं **जात** उत्पन्नः। **'अधिशीङ्'** (अष्टा०१.४.४६) इति कर्मप्रवचनीयः सः पादपूरणः। **ओजसः** बलस्यैवैतद् विशेषणम्। ओजतेर्वा उब्जतेर्वा (निरु०६.८)। ओजतिश्च वृद्धयर्थः वृद्धया महत् इत्यर्थः। यदोब्जतेस्तदा न्यग्भावयितुः शत्रूणामित्यर्थः। किं च **त्वं हे वृषन्** वर्षयितः **वृषा वर्षिता**। **इत्** पदपूरणः। **असि** भवसि। एवशब्दस्यार्थे वा, येनोक्तलक्षणात् बलाज्जातो वर्षितैव त्वमसि।

वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः।

यो अ॒स्माँ अ॑भि॒ दास॒त्यध॑रं गमया॒ तम॑ः॥ (ऋ०१०.१५२.४)

शासस्य भारद्वाजस्य। विविधं नोऽस्माकं हे **इन्द्र मृधो** मृधं करोतीत्याद्युक्तनिर्वचनम्। संग्रामकारिण इत्यर्थः॥ मृधं कुर्वन्तीति विगृह्य तत्करोतीत्यादिना णिच् प्रत्ययभावासंख्याणिकरणाविष्के वदति दशाष्टीलोपः। ततो धातोः **'अन्येभ्यः'** (अष्टा०३.२.७५-७६) इत्यादिना क्विप् ततश्च द्वितीयाबहुवचनम्। शत्रून् जहि भिन्धि मारयेत्यर्थः। **नीचा** नीचैः। यच्छ नियच्छ बधान प्रणमय्येत्यर्थः। **पृतन्यतः** पृतनेति संग्रामनाम तस्मादिच्छायां क्यच्। संग्रामं य इच्छन्त्येव केवलं न त्वध्यवस्यन्ति कर्म। किञ्च **यस्त्वस्मानभिदासति** आभिमुख्येनोपक्षयति। यच्छुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। **तमधरं** कुलोत्सादलक्षणं **गमया तमः** सांहितिकं दीर्घत्वं गमयः तमः।

अथापि अपि वाऽयमपरो मन्त्रप्रकारो यत्र-**प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि॥**

प्रत्यक्षकृतेत्यादि। पुरस्तादेव व्याख्यातः। **स्तोतव्यानी**न्द्रादीनि दैवतानि। अत्र हि मध्यमत्रिकामन्त्रितयोगश्च प्रेष्याणां नामविभक्तिप्रथमत्रिकयोगश्च स्तुत्यानाम्। अतोऽयमन्य एव प्रैषमन्त्रप्रकार इति उदाहरणैर्दर्शयति। ससमुच्चयप्रकारान्तरं वा।

मा चि॑दु॒न्यद्वि शं॑सत॒ सखा॑यो॒ मा रि॑षण्यत।

इन्द्र॒मित्स्तो॑ता॒ वृष॑णं॒ सचा॑ सु॒ते मुहु॑रु॒क्था च॑ शंसत॥ (ऋ०८.१.१)

प्रगाथस्यार्षम्। **मा** चित्पादपूरणः। त इन्द्रादन्यद्देवतारूपं विशंसत विविधं स्तोष्टेत्यर्थः:। हे **सखायः** समानख्याना ऋत्विजो **मा रिषण्यत** रिषण्यतिर्हिंसार्थः। विफलेनान्यदेवतास्तुतिपरिश्रमेणात्मानं हिंसिषः। स्तुत्यर्थो वा रिषण्यतिः। अन्यद्दैवतं मनसापि मा शंसिष्ट। **इन्द्रं इद**ेवार्थे इन्द्रमेव **स्तोता**। छान्दसत्वाद् गुणः सांहितिकं दीर्घत्वम्। तं स्तुतेत्यर्थः। कीदृशम्। **वृषणं** वर्षितारम्। **सचा** सह। **सुते** अभिषुते सोमे **मुहुर्मुहुः** पौनःपुन्ये पुनः प्राप्ते काले **उक्था च** उक्थानि चारय **शंसत**।

क्री॒ळं व॒ः शर्धो॑ मारु॑तमन॒र्वाणं॑ रथे॒शुभ॑म्।

कण्वा॑ अ॒भि प्र गा॑यत॥ (ऋ०१.३७.१)

कण्वाख्य ऋषिः पुत्रान् पौत्रांश्च प्रत्याह। क्रीडनस्वभावतो **वः** छान्दसत्वात् प्रथमा बहुवचनस्यायं वसादेशः। **शर्धो** बलं सेनाख्यं **मारुतं** मरुतां स्वभूतम्। **अनर्वाण**मप्रत्यृतगमनपूर्वमन्यं प्रत्याश्रिततया अपराश्रितमित्यर्थः। **रथेशुभं** रथेनैकस्मिन् स्थितं शोभितृ। **कण्वाः** कण्वस्य पुत्राः पौत्राश्च। **अभिप्रगायत** प्रकर्षेणाभिष्टुतेत्यर्थः। अथवा कण्व इति मेधाविनाम। कण्वा मेधाविन ऋत्विज उच्यन्ते। प्रकर्षेणाभिष्टुत इति।

उप प्रेतं कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः।

राजा वृत्रं जङ्घनत् प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः॥ (ऋ०३.५३.११)

विश्वामित्रस्य। पुत्रान् पौत्रांश्चाह। **उप प्र इत** उपस्थाय प्रकर्षेण इत गच्छत। कौशिका मम पितामहस्य कुशिकस्यापत्यभूता यदीयाः पुत्राः पौत्राश्च। अथवा क्रोशतेः शब्दकर्मणः कुशिका ऋत्विजः। **चेतयध्वं** मा विक्षिप्तचेतसो भवत। उप प्रगम्य चाश्वं **राये** अश्वमेधफललक्षणाय धनाय **प्रमुञ्चत** उत्सृजतेत्यर्थः। **'संवत्सरायोत्सृजन्ति** (अनुपलब्धमूलमिदं वचनम्)' इति श्रुतेः। **सुदासः** सुदा इत्येवं नामकस्य कल्याणदानकस्य वा राज्ञः स्वभूतं **राजा** ह्ययं यस्माद् **वृत्रं** शत्रून् **जङ्घनत्** अत्यर्थं हतवान्। **प्राक्** प्राच्यां दिशि **अपाक्** प्रतीच्यां दिशि **उदक्** उदीच्यां च सर्वासु दिक्षु शत्रुनिकायं हतवानित्यर्थः। **अथेति** हेतौ। एतस्मात् कारणात् **यजाते** अश्वमेधेन यजते। **वरे** श्रेष्ठे स्थाने। **आ** यजिना सम्बध्यते। पदपूरणो वा। **पृथिव्याः**।

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।

अथानन्तरमध्यात्मविषया ऋचो वक्ष्यन्त इति शेषः। **उत्तमे**त्यादि, उत्तमत्रिकेण योगो यासाम्। **अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना** इत्युक्तार्थम्। **यथैतद्** वक्ष्यमाणं सूक्तद्वयमप्युदाहरणम्। तस्य त्वेकैकामृचमाद्यां व्याचक्ष्महे। यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो लबसूक्तं वागाम्भृणीयमिति **इन्द्रो वैकुण्ठ** इत्येतेन-अहं भुवमिति सूक्तं लक्ष्यते। कथम्। द्रष्टृदृश्ययोरभेदात्। द्रष्टा दृष्टश्च निर्दिश्यते। विकुण्ठनामा काचिदिन्द्रादधिकबलं सुतमन्वेषमाणा उग्रेण तपसा ब्रह्माणमाराध्य तस्माल्लब्धवरा कृतमङ्गलस्वस्त्ययना भर्त्रा संबभूव। विदित्वैतद्वृत्तान्तं चेन्द्रस्तस्याः स्वयमेवापत्यतां जगाम। तस्येदं वैकुण्ठस्य ब्रह्म प्रादुरासीत्। स एतेन महिमानमासीत्।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।

मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥ (ऋ०१०.४८.१)

छान्दसत्वादडभावो ह्रस्वत्वं च। अभूवमित्यर्थः। **वसुनो** धनस्य पूर्व्यः पूर्वः पुराण एव **पतिः** स्वामी। **अहं धनानि संजयामि** सम्यग्जयामि। **शश्वतः** शश्वदिति बहुनाम ततः षष्ठी बह्वोः शत्रोः स्वभूतानि। मामेवार्ताः सन्तः प्राणिनो **हवन्ते** आह्वयन्ति। **पितरं** न पितरमिव **जन्तवो** मनुष्याः। **अहं दाशुषे** अहमेव हवींषि दत्तवते यजमानाय सर्वस्मै **विभजामि** भागशो ददामि **भोजनं** धनम्।

लबसूक्तम्। लबरूप इन्द्रस्तस्मात् त्वयाल्पेन सत्ता बहुसोमः पीत इत्यृषिभिरुक्तः सन् तान्प्रत्याह-

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।

कुवित् सोमस्यापामिति॥ (ऋ०१०.११९.१)

एवमर्थे चैवार्थे। परस्य च इतेः परो द्रष्टव्यः। एवमेव च **मे** मम **मनः**। गामश्वं च **सनुयां** दद्यामस्मै यजमानाय। **कुवित्** बहु **सोमस्या**ह**मपां** पीतवानिति। इतिशब्दो हेतौ। अस्माद्धेतोः प्रत्युपकारकरणादित्यभिप्रायः।

वागाम्भृणीयं सूक्तम्। वाक् वैदिकीयम्। आम्भृणस्य महतः फलस्य हेतुभूतेति तत्सम्बन्धिन्याम्भृणी च सा वागाम्भृणी चेति विशेषणसमासः। वागाम्भृणीसम्बन्धि वागाम्भृणीयम्।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।। (ऋ०१०.१२५.१)

वागाम्भृणी आत्मनो महिमानमाचष्टे। असत्यां सम्बन्धिभूतायामपि रुद्रादयश्चरन्तः कथं भवेरन् मूकास्तिष्ठेयुरित्येवमर्थः स्तुतिभूता वा तेषाम्। **अहं रुद्रेभी** रुद्रैर्वसुभिश्च सह **चरामि। अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः** अपि सर्वैर्देवैः। **अहमेव** मित्रावरुणौ हविस्सम्प्रदानं कुर्वन्तौ **उभा** उभावपि **बिभर्मि** पुष्णामि। **अहमेव इन्द्राग्नी। अहमेवाश्विनौ उभा** उभौ। सर्वत्राकारो द्विवचनस्य स्थाने।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिक्याः। अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। **इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्।।**(ऋ०१.३२.१) इति यथैतस्मिन् सूक्ते। अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। **'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्।'** (मानव०गृ०१.९.२५) इति। तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ। **अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूयाः।।** (ऋ०७.१०४.१५) अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा। **न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि।।** (ऋ०१०.१२९.२) **तम आसीत्तमसा गूढमग्रे।।** (ऋ०१०.१२९.३) अथापि परिदेवना कस्माचिद् भावात्। **सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्।।** (ऋ०१०.९५.१४) **न विजानामि यदि वेदमस्मि।।** (ऋ०१.१६७.३७) इति। अथापि निन्दाप्रशंसे। **केवलाघो भवति केवलादी।।** (ऋ०१०.११७.६) **भोजस्येदं पुष्करणीव वेश्म।।** (ऋ०१०.१०७.१०) इति। एवमक्षसूक्ते (ऋ०१०.३४) द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च। एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।।३।।

भाष्यटीका

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।

परोक्षकृता इत्यादि। मन्त्रस्वभावप्रदर्शनपरं भाष्यम्। ऋषि प्रकृतायां मन्त्रा इति मन्त्रवचनं यजुराद्युपसंग्रहार्थम्। **भूयिष्ठा** अतिशयेन बहवः। **अल्पशः** क्वचित् क्वचिदाध्यात्मिकाः प्रत्युक्तविषयत्वेन ये के अभिप्रेताः।

स्तुत्याशिषोरन्यतरदर्शनेनान्यथापि मन्त्रप्रवृत्तिं दर्शयितुमाह–

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्।। (ऋ०१.३२.१)

इन्द्रस्य नु वीर्याणीति व्याख्यातो (निरु०७.२) मन्त्रः।

अथाप्याशीरेव न स्तुतिः।

आशीरेव न स्तुतिः। आशीरेवेत्यस्यैवावधारणार्थं कथनं न स्तुतिरिति। उदाहरणम्-

सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति। (मान०गृ०१.९.२५)

सुचक्षा अहं शोभनस्य तपसा द्रष्टा अहमक्षीभ्यां भूयासमित्याशिषि लुङ्। **सुवर्चा मुखेन** वर्चस्वीत्यर्थः। **सुश्रुत्** शोभनस्यैव शब्दस्य श्रोता कर्णाभ्यां भूयासमित्यनुषङ्गः।

तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

तदेतदाशीः प्रायस्त्वं बाहुल्येनाध्वर्युवेदे **याज्ञेषु** च करणमन्त्रेषु। अन्यस्मिन्नविच्छेदे। **'तच्चक्षुरिदमाप'** (तुल०का०सं०३९.४) इत्याद्यनेकमुदाहरणम्। अन्यतरसद्भावेऽपि च स्तुत्याशिषोरन्यतरदध्याहर्तव्यम्। साकाङ्क्षत्वादेकवाक्यतायै।

अथापि शपथाभिशापौ।

अथापि अपि च शपथाभिशापौ। एकमेवोदाहरणम्-

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य।

अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑।। (ऋ०७.१०४.१५)

विश्वामित्रप्रयुक्तैः कैश्चिद् राक्षसस्त्वमित्यभिप्रयुक्तो वसिष्ठ आह। **अद्या मुरीय** सांहितिकं दीर्घत्वम्। अद्याहं मुरीय म्रियेे **यदि यातुधानो** राक्षसोऽस्मि भवामि। **यदि वा आयु**र्जीवितलक्षणं **ततप** तपिरत्र विनाशोपलक्षणार्थः। विनाशितवान् अपहृतवानित्यर्थः। पूरुषस्य पुरुषस्य कस्यचित्। **अधा** अथ एतदलीकम्। ततः **स वीरैः** पुत्रैर्दशभिर्वियूया मध्यमः प्रथमस्य स्थाने यौतिर्मिश्रणार्थः। विदगमेऽपि.......... मि....... पृथग्भवेद् वियुज्येतेत्यर्थः। **यो मा** मां **मोघं** वृथैव **यातुधानेति** राक्षसेत्येव**माह**। पूर्वार्धेन शपथः। उत्तरार्धेनाभिशापः।

अथापि कस्यचिद् भावस्य वस्तुतः पदार्थस्यात्यन्तपरोक्षस्याख्यातुमिच्छा।

न मृत्युरा॑सीद॒मृतं॒ न तर्हि॒ न रात्र्या॒ अह्न॑ आसीत् प्रके॒तः।

आनी॑दवा॒तं स्व॒धया॒ तदेकं॒ तस्मा॑द्धा॒न्यन्न प॒रः किंच॒नास॑।। (ऋ०१०.१२९.२)

प्रजापतेः परमेष्ठिनः परमर्षेः। अवान्तरप्रलयादूर्ध्वं प्राग् जगत्सृष्टेर्वावस्था। तामियमृक् पराचष्टे। **न मृत्युरा**दितः मर्तॄणामभावान्मृत्योश्चाभावात्। प्रतिद्वन्द्विरूपत्वाच्चामृतस्य **अमृतं न** अमृतमपि नैवासीत्। **तर्हि** तस्मिन् काले **न रात्र्या** नापि रात्रे **अह्नः** अह्नो **वासीत् प्रकेतः** प्रज्ञानमियं रात्रिरिदमहरिति। अथवा प्रकेतः प्रज्ञापयिता आदित्यः स ह्युदयास्तमयाभ्यां रात्र्यहनी विभजते। स नासीत्। **आनीत्** **'अन प्राणने'** (धा०२.६०; ४.६९) इत्यस्यैव लुङि रूपम्। अजीवीत् केवलमित्यर्थः। **अवातं** शरीरस्याभावात् मुखनासिकाभावे ताभ्यां यो नाभिप्रदेशात् प्रयत्नः प्रेरितो नुगच्छन्ति तद्रहितम्। एतदुक्तं भवति। अलौकिकमेतत् प्राणनं यतः **स्वधयान्नेन** तत्रैव शक्त्यात्मना लीनेन प्राणयन् स्थितवदित्यर्थः। **तदेकं** कारणमात्माख्यम्। **हः** पादपूरणः। **अन्यन्न परं** पदं **किञ्चन** किञ्चित् **आस** बभूवेत्यर्थः।

तम॑ आसी॒त् तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।

तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त् तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म्॥ (ऋ०१०.१२९.३)

तमः सादृश्याज्जगत्कारणमाह। किं सादृश्यम्। यथा तमसि मन्दा घटादयः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते एवमस्मिन् विकाराः। अतस्तम इव तमः। अनभिव्यक्तविशेषणं जगतः कारणं **तदासीत्**। तेन **तमसा गूढं** संवृतमग्रे प्राक् पुरस्सृष्टेः। **अप्रकेतं** अप्रज्ञातम्। **सलिलं** सति सत्तालक्षणे कारणात्मनि शक्त्यात्मना लीनम्। सर्तेवतद्रूपं सरिरं सलिलं सरणशीलमित्यर्थः। **सर्वं** विकारूपम्। **आः** अस्तेरेतद्रूपं **'बहुलं छन्दसि'** (अष्टा०७.३.९७) इतीडभावः। आसीदित्यर्थः। इदं यदिदानीमुपलभ्यते **तुच्छ्येन** स्वल्पेन सूक्ष्मेण। **अभुरित्येतदपठितम्** पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यान्महन्नाम। महत् स्थूलं सर्वमेव विकारजातम्। **अपिहितं** आपिहितं स्थगितं **यत्तदानीमासीत्। तपसः** तपो व्रतोपवासादिसाधनो धर्मविशेषः। तेनात्र धर्मसामान्यं लक्ष्यते। तेन यथा सर्वोपभोगहेतुत्वाविशेषादधर्मोऽपि। तेनैतदुक्तं भवति। अतीतसृष्टिकृतधर्माधर्मयो**स्तन्महिम्ना** माहात्म्येन कालान्तरावस्थायिना फलप्रसवसामर्थ्येनेत्यर्थः। **अजायत** जातं स्वेन विश्वरूपेण विकारात्मना कार्यरूपेण परिणतमित्यर्थः। **एकं** सत् प्राक्परिणामात् कारणात्मना एकतामापन्नं सदित्यर्थः।

अथवा आभ्विति महन्नाम्ना महदाख्यं प्रथमं बुद्धितत्त्वमुच्यते। यत् सांख्यैरहङ्काराणां तन्मात्राणां च कारणत्वेन प्रतिज्ञायते तदेकमजायत नान्यत् किञ्चित्। तमश्चास्मिन् पक्षे प्रकृत्यव्यक्तादिपर्यायं प्रधानमुच्यते।

अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्।

अथापीत्यादि। परिदेवना अनुकूलशब्दादिविषयोपभोगभ्रंशहेतुकमात्मनिन्दादि च विलपितं यत्र। आह **कस्माच्चिद् भावात्**। अर्थवादार्थात् कारणमित्यर्थः। उदाहरणम्-

सु॒दे॒वो अ॒द्य प्र॒पते॒दना॑वृत् परा॒वतं॑ पर॒मां गन्त॒वा उ॑।

अधा॒ शयी॑त॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थेऽधै॑नं॒ वृका॑ रभ॒सासो॑ अ॒द्युः॥ (ऋ०१०.९५.१४)

उर्वश्या वियुक्तस्य पुरूरवसः परिदेवनैषा। शोभना अनुग्राहका देवा यस्य **सुदेवः**। कः पुनरसौ। योऽन्यभृगुशृङ्गात् कर्मारितगाद्वा **प्रपतेत्। अनावृत्** अनावर्तिना अचेतसाऽनिश्चितमना इत्यर्थः। **परावतं** परावच्छब्दो दूरवचनः स्त्रीलिङ्गः। **परमां** प्रकृष्टामत्यन्तदूर इत्यर्थः। **गन्तवै** गन्तुम्। अत्तुमित्यभिप्रायः। **अधा**नन्तरं च मृतः सन् **शयीत** दीर्घनिद्रालुठित आसीतेत्यभिप्रायः। क्व? **निर्ऋतेः** पृथिव्या **उपस्थे** अवयवभूते स्थाने। **अधा**नन्तरं च **एनं वृका रभसासो** महन्नामैतत् महान्तो वेगवन्तो वा **अद्युः** भक्षयेयुः।

न वि जा॑नामि॒ यदि॑ वे॒दमस्मि॑ नि॒ण्यः संन॑द्धो॒ मन॑सा चरामि।

य॒दा माग॑न्प्रथम॒जा ऋ॒तस्यादिद्वा॒चो अ॑श्नुवे भा॒गम॒स्याः॥ (ऋ०१.१६४.३७)

संसारे परिवर्तमानस्य गर्भवासजन्मजराव्याधिमरणदुःखाभिभवनिमित्तस्यानुज्ञानाभावमोक्षं प्रासवतो दीर्घतमसः परिदेवना। **नाहं वि जानामि यदि वा इदं** शरीरमात्रकमेवास्मि नातो व्यतिरिक्तः। **यदि वेति** विकल्पश्रुतेः। यदि वा अतो व्यतिरिक्त इति शेषः। अथवा इदमिति करणनिर्देशः। यदि वा विकाररूपम्। **निण्यः** अन्तर्हितः। **सन्नद्धो**ऽज्ञानेन सम्यग्बद्धः। अविद्यायोगिना **मनसा चरामीव** चरामि संसारे। **यदा** यस्मिन्

काले **मा** माम्। **आगन्** आगमिष्यति ममोत्पद्यत इत्यर्थः। **प्रथमजा** तत्त्वोत्पत्तौ प्रथमजातत्वात् प्रथमजा बुद्धिः सा **ऋतस्य** सत्यस्य सर्वत्र वा गतस्यागतस्यात्मनः। षष्ठीश्रुतेः सम्बन्धिनी ग्रहीतृ इत्यर्थः। **आत् इत्** पदपूरणः। यदेति श्रुतेस्तदेत्यध्याहार्यम्। तदा **वाचो** ऋग्यजुस्सामलक्षणाया **अस्या** उपनिषल्लक्षणं **भागं** भजतीयं परमात्मनः। **अश्नुवे** प्राप्स्यामि मोक्षं वा यास्यामीत्यभिप्रायः।

एवमुपाध्यायेन यदिवेति तुल्यायां संहितायां यदीति इकारान्तं वेति च इत्येवं रूपद्वयमपोद्धृत्य व्याख्यातम्। तत्रेदं युक्तमासीत् वक्तुः। यच्चेति एवं चेति चकार शाकल्य इति। तत्रायमभिप्रायः शाकल्यस्य इति। इवशब्दो वाशब्दार्थे यच्छब्दो यद्यर्थे। अर्थस्तु स एव।

अथापि निन्दाप्रशंसे।

उदाहरणम्–

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋ०१०.११७.६)

भिक्षुर्नामाङ्गिरसस्तस्यार्षम्। **मोघं** व्यर्थम्। **अन्नं विन्दते** लभते। **अप्रचेता** अभू इत्यर्थः। **सत्य**मविपरीतं **ब्रवीमि**। **वध इत्** एवार्थे वध एव **सो**ऽन्नलाभः। **तस्य** तस्येति श्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यो **नार्यमणं** अर्यमा तत्प्रकाराणां वैश्वदेवे चोदितानामुपलक्षणार्थम्। अर्यमप्रकारं देवं **पुष्यति नो** नापि **सखायं** समानाख्यानं मनुष्यं यो देवताभ्यो नाप्यतिथिभ्यो ददातीत्यर्थः। **केवलाघः** केवलपापो **भवति केवलादी** केवलभोजी।

प्रशंसायामुदाहरणम्–

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३ शुम्भमाना।

भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥ (ऋ०१०.१०७.१०)

प्रजापतेर्दुहिता दक्षिणा नाम तस्या आर्षम्। दानप्रशंसैषा। **भोजाय** भोजो दाता तस्मै। **अश्वं** परिचारकाः **संमृजन्ति** उद्वर्तयन्ति। **आशुं** शीघ्रम्। **भोजायास्ते कन्या** कन्यात्वेनात्र सन्निकर्षादभिनवं यौवनं लक्ष्यते। अभिनवयौवना स्त्री शरीरावयवसन्निवेशावशेषशोभया वस्त्रालङ्कारशोभया च **शुम्भमाना** शोभमानेत्यर्थः। **भोजस्यैवेदं पुष्करिणीव** विचित्रहंससारसानुयातं हृदयाह्लादजननं **वेश्म** गृहं **परिष्कृत**मधोऽवलम्बितवितानांशुककुसुमस्तबकादिना विभूषितम्। **देवमानेव** प्रथमैकवचनस्य स्थाने **'सुपां सुलुक्'** (अष्टा०७.१.३९) इत्याकारः। देवमानमीव **चित्रं** मनोहरं कुट्टिमचित्रकर्मादिना विचित्रम्।

एवमेवाक्षसूक्ते (ऋग्०१०.३४) **'प्रावेपाम्'** इत्येतस्मिन् द्यूतनिन्दा कृषेश्च प्रशंसा यस्मिन् मन्त्रे तमुदाहरिष्यामः।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ (ऋ०१०.३४.१३)

कवलस्यार्षम्। मौजवतोऽक्षस्य। **अक्षैर्मा दीव्यः** दैवीः मा स्था इत्यर्थः। **कृषिमित्** इदेवार्थे कृषिमेव **कृषस्व** कर्षणं कुर्वित्यर्थः। **वित्ते** स्व एव धने **रमस्व तदेव बहु मन्यमानः**। न किञ्चित् परवित्तेन द्यूतोपार्जितेन।

यस्मात् तत्र तस्यां कृषौ **गावः**। **हे कितव तत्रैव जाया** कृषिं कुर्वतो गावो भार्या च भवतीत्यर्थः। तथा च वसिष्ठः **'लाङ्गलमसीः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति मन्त्रं व्याकरोत्। **'तदुद्वपति गां'** (वा०सं०१२.७१) चापि वेत्यादिना। **तन्मे मह्यं वि चष्टे** विविधमाचष्टे **सवितायमर्यः** ईश्वरः।

मन्त्रवैचित्र्यप्रसङ्गमुपसंहरन्नाह-एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

एवमुच्चावचैर्बहुप्रकारैः कामक्रोधभयहर्षादिभिर्निमित्तै**र्ऋषीणां** द्रष्टॄणां **मन्त्रदृष्टयो** मन्त्रविषयाणि दर्शनानि **भवन्ति**। तदेतत् **'साक्षात्कृतधर्माणः'** (निरु०१.२०) इत्यत्र सप्रपञ्चं मन्त्रदर्शनं नित्यत्वाविरोधेन प्रदर्शितम्।

(इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः)

अथ चतुर्थः खण्डः।

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्। प्रायो देवता वा। अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके। देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्। याज्ञदैवतो मन्त्र इति। अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते। यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। (निघ०५.३.१-२२) अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि। (निघ०५.३.२९-३६) स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्। प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति। महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चेतरेतरजन्मानो भवन्ति। इतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानः। आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवति। आत्माश्वा। आत्मायुधमात्मेषवः। आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥४॥

भाष्यटीका

श्रूयमाणदेवतासंविज्ञानपदेषु मन्त्रेषु देवतालक्षणमुक्तम्। येषु कृतं नास्ति तदर्थमाह-

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा।

तद्य इत्यादि। तदित्युपन्यासार्थम्। अनादिष्टा अप्रदिष्टस्तुत्यदेवतालिङ्गा मन्त्रा यस्मिन् अग्निष्टोमादौ यज्ञे श्रुत्यादिविनियुक्ता अग्न्यादिदेवता एव विज्ञेयाः। तथा च वक्ष्यति **'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'** इति प्राकारणिकी देवता कल्प्यत इति युक्तम्। प्रधानदेवताश्चोररीकृत्यैतदुच्यते।

यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति।

यद्देवत इति। **'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्'** (मूलमनुपलब्धम्) इति श्रूयते **'माहेन्द्रं वा'** इति तच्छेषभूताः शाखाच्छेदनादिषु सान्नाय्यसंस्कारत्वेन विनियुक्ता इषेत्वादयस्तद्देवत्याः। तथा चैन्द्रवायवग्रहणादिसंस्कारा मन्त्रा इन्द्रवायुदेवत्या एव यज्ञाङ्गं **'पतीयमेमे'** इत्याद्याधारमन्त्राभिप्रायम्।

येषां यज्ञे विनियोगो नास्ति तेषु कथमित्याह-

अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः।

ननु अविनियुक्तो मन्त्रो नैवास्ति। वाचः स्तोमे हि सर्वा ऋचः प्रयुज्यन्ते इति ऋगादीनां सर्वेषां प्रयोगः श्रूयते। उच्यते। प्रसिद्धप्रयोगज्योतिष्टोमादियज्ञाभिप्रायमेतत्। अथान्यत्र प्रसिद्धात् ज्योतिष्टोमादेर्यज्ञादित्यर्थः। वाचःस्तोमा यज्ञात् सत्रप्रयोगानादीयते। अपि च वाचस्स्तोमाश्विनविकृत्यादिषु विज्ञातदेवतालिङ्गानामपि प्रयोज्यदेवता इत्यनेन विरोधः स्यात्। तस्माद् वाचस्स्तोमादीनामविवक्षा युक्तेति। अथवा उपाकरणब्रह्मजपप्रायश्चित्तादिस्मृतिविनियोगाभिप्रायम्। अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिका मन्यन्ते। अतिरिक्तो वै प्रजापतिः। अज्ञातलिङ्गश्च मन्त्रोऽप्यनुक्त इति। अतो निरुक्तसामान्यात् प्राजापत्या भवितुमर्हन्ति।

नाराशंसा इति नैरुक्ताः।

नाराशंसं च यज्ञ इति कोऽर्थः। यज्ञश्च विष्णुः **'यज्ञो वै विष्णुः'** (श०ब्रा०१.१.८.८; १.१.२.१३; ३.२.१.३८; कौ०ब्रा०४.२; १६.८; १८.८; १४, गो०ब्रा०२.४.६, ता०ब्रा०९.६.१०; ७.१०) इति संस्तवात्। **अग्निरिति शाकपूणिः** (निरु०८.६)। अग्निरिति भूयिष्ठभाग् देवतानाम्। **'अग्निः सर्वा देवताः'** (ऐ०ब्रा०२.३ तै०ब्रा०१.४.४.१०) संस्तुतेः। तेनाश्रयत्वम्। उभयथापि नैरुक्तपक्षः।

अपि वा सा कामदेवता स्यात्।

अपि वा एतस्य मन्त्रस्य कामत इच्छातो या इष्टा देवता सा स्यात्। ऋगभिप्रायो वा स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। सा ऋग् यथेष्टदेवता स्यात्। एतदुक्तं भवति। गुणपदात्मकत्वादेवंविधस्य मन्त्रस्य ऐश्वर्याच्च देवतायां सर्वेषां गुणानां सर्वदेवतासाधारणत्वादविरोधे सति सम्भवाद् युक्तं यथेष्टदेवताकल्पनम्।

प्रायोदेवता वा।

प्राय इति प्रकरणमभिप्रेतम्। प्रायिकी प्राकरणिकी तस्य मन्त्रस्य देवता सा ऋक्। उक्तस्यार्थस्य लोकेऽपि प्रसिद्धतां दर्शयति-

अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्।

अस्ति हि हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मादस्त्ययमाचारो **बहुलं** बाहुल्येन **लोके** यथा, इदं देवेभ्य इदमतिथिभ्य इति निर्दिष्टे यदन्यदनिर्दिष्टं प्रकृतत्वात्तेषां न साधारणम्। एवमनिरुक्तो मन्त्रो यद्देवतप्राये मन्त्रगणे पठितस्तद्देवत इति युक्तं प़ाकरणिकत्वेन लोके दृष्टान्तः। अथा विशेषणानुद्दिश्य यदन्नं सिद्धं भवति तद्देवत्यमग्न्यादिहोमाद् भवति, तत्कालोपस्थितातिथिदेवत्यं तस्यां प्राणोद्यत्वाद् भवति, पितृदेवत्यं तत एव स्वधानिनयनाद्, बलिहरणाच्च भौतिकमपि। एवं विशेषेणानुद्दिष्टदेवताको मन्त्रोऽपि वैश्वदेवो भवितुमर्हतीति द्वितीये व्याख्या दृष्टान्तयोजना।

अथैकस्मिन्ननेकविकल्पे देवताकल्पे कः स्थितः पक्ष इत्याह-

याज्ञदैवतो मन्त्र इति।

इतिरेवार्थे। याज्ञदैवत एवेत्यर्थः। यज्ञो विष्णुः स चादित्यः। वक्ष्यति **'अथ यद्विषितः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति। तेनानादिष्टदेवता तर्हि तद्देवतो मन्त्रः। अन्तर्हितस्य चादित्यः प्रकाशयितेति अत आदित्यदेवतः। यतो

वक्ष्यति **'यच्च किञ्चित् प्रवहितमादित्यकर्मैव तत्'** (निरु०७.११) इति। देवता देवता यस्य स देवदैवतः। देवताशब्देनाग्निरुच्यते। तस्य सर्वदेवतासंस्तुतेः। आग्नेयो वेत्यर्थः। एवं सति नाराशंसा इति यः पुरस्तान्नैरुक्तपक्ष उक्तस्तस्मिन् देवावस्थापितमिति याज्ञदैवतो मन्त्र इति स्थितिरिति शेषः।

प्रसिद्धदेवतासंविज्ञानपदेषु गुणपदात्मकेषु च मन्त्रेषु देवतालक्षणमुक्तम्। अथेदानीं येषु गुणगुणि-सम्बन्धावगमश्चास्ति। न च गुणिनो देवतारूपत्वेन प्रसिद्धिः। तेष्वपि देवतानिश्चिचयिषयाह-

अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते। यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि।

अपि हीत्यादि। **अपि**शब्दोऽथशब्दस्यार्थे। **हि**शब्दो यस्मादर्थे। अथ यस्माददेवता देवतारूपत्वेन लोके वेदे वा प्रकरणे च हविषां न प्रसिद्धाः। अथ **देवतावत्** यथा प्रसिद्धा अग्न्यादिका देवता नामाङ्गद्रव्यसंयोगात् कर्मादिभिस्तद्वत् स्तूयते यथाश्वप्रभृतीनि चेतनावन्ति। अचेतनानि चाक्षादीन्योषधिपर्यन्तानि देवताधिकारे च समाम्नातानि।

अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि।

अथशब्दास्तथाशब्दास्यार्थे। **अपि**शब्दश्चार्थे। तथा **चाष्टौ द्वन्द्वानि** उलूखलमुसले इत्यादीनि स्तूयन्त इत्यनुषङ्गः।

स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्। प्रत्यक्षदृश्यमेतद् भवति।

देवता चाणिमादिगुणा स्तोतुर्यथाभिलषितार्थसम्पादनसमर्थेष्यते। अश्वादयश्चात्मनो विसंवादनेन समर्थाः। किं पुनः परस्यापि वाश्वादयः ससंज्ञाः। अक्षादिष्वेतदपि नास्ति। तस्मात् श्रूयमाणानामपि मन्त्रेषु अश्वग्रासादीनां गुणत्वेन **स** याज्ञिको नैरुक्तो वा मन्त्रस्य देवतायाश्चिन्तक **आगन्तूनिव**। आगन्तुत्वेऽनित्यतामप्राधान्यं च दर्शयति। यथा पुरुषस्य गवाश्वरासभादय उपकरणभूता अपायिन उपायिनश्च। एवमेव **अर्थान**श्वादीन् **देवताना**मनित्यानुपकरणभूतांश्च प्रतीत्य स्वतन्त्रा एतास्स्तुत्या देवता इति **न मन्येत** नावबुध्येत न श्रद्दधीतेति यावत्। अदेवता देवतावदित्यादि आगन्तूनिवेत्यादि च सर्व**प्रत्यक्षदृश्यमेतद् भवति**। अस्मिंल्लोके न शक्यं निह्नोतुम्। यथा चास्मिन्नेवं देवेष्वित्यतश्च अश्वान्यनित्यसंयोगादिष्वप्यनाश्वासः।

एतदुक्तं भवति। अश्वाक्षादीनां वा प्रत्यक्षविरुद्धमभिलषितकामप्रदायित्वं कल्पयितव्यम्। अश्वादिवदेव अग्नीन्द्रादिदेवतानामदेवतात्वम्। उभयेषां मन्त्रेषु गुणगुणिसम्बन्धाविशेषात्।

केचित्त्वनादिष्टदेवता। मन्त्रा इत्यादिशेषतया अपि ह्यदेवता इत्यादिकं ग्रन्थं वर्णयन्ति। अपिः संभावनायाम्। अतश्चरेष्वश्वादिषु तावता कल्पनम्। किं पुनर्गुण्यात्मकेषु मन्त्रेषु यत्र विरोधोऽपि नास्तीति। अतो युक्तं तेषूक्तेन प्रकारेण देवताकल्पनं स न मन्येतेत्ययुक्तम्। असति विरोधे देवताकल्पनम्। अश्वादीनां तु देवतारूपत्वेन विरोधात् स न मन्येतेत्यादि समानं पूर्वेण।

अस्य समाधिः-

माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

भज्यतेऽसाविति भागः पुण्यानुभावः कश्चित्। महान् भागो यस्यासौ महाभागः। तद्भावो महाभाग्यं तस्माद्धेतोः पञ्चमी। निरतिशयपुण्यानुभावादणिमादिलक्षणादैश्वर्यात् करणादित्यर्थः। अथवा भाग्यशब्दः पुण्यवचनः प्रसिद्धः। महान्ति भाग्यानि यस्येत्यादि समानम्। कस्याः। **देवताया एक आत्मा बहुधा** वैश्वरूप्येण परिणतोऽग्न्यादिभावेनावस्थितः सन्नित्यर्थः। **स्तूयते** मन्त्रैः। एकस्मादेव च कारणाद् महाभागलक्षणा**देकस्य देवतात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति**। अङ्गान्येव प्रत्यङ्गानि अथवा अङ्गान्यपेक्ष्य प्रत्यङ्गम्। हस्तादीन्यङ्गम्, अङ्गुल्यादीनि प्रत्यङ्गम्। अनेन चाङ्गप्रत्यङ्गभावात्मना चाङ्गप्रत्यङ्गान्यव्यतिरिक्तानि। एवमेकस्मादेवतात्मनोऽन्ये देवा अव्यतिरिक्ता इत्यभिप्रायः। तथा च **'इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम्'** (ऋ०१.१६४.४६) इत्यत्रैकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीत्यनन्यत्वं वक्ष्यति।

न च केवल देवतात्मन एव माहाभाग्यादन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। किन्तर्हि-

अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।

अपि च सत्त्वानामन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। यत्प्रकृतेर्देवतात्मभूताया ये भूमानस्तैर्भूमभिर्महत्त्वैरित्यर्थः। ऋषयो मन्त्राः **'द्यौस्ते पृष्ठम्'** (मै०सं०२.७.२) इत्यादयः। मन्त्रदृशो वा स्तुवन्तीत्येवमाहुरन्येऽपि ब्रह्मवादिनः। अश्वः स्तूयते। द्यौरिति द्युस्थाना देवताः। ते तव पृष्ठं पृथिवी पृथिवीस्थाना सभास्थानमित्यादि।

किं पुनः कारणं प्रकृतिभूमभिरश्वभिरश्वादीनि सत्त्वान्यृषयः स्तुवन्ति। उच्यते।

प्रकृतिसार्वनाम्याच्च।

प्रकृतिर्देवतात्मानमन्नं नाम परिणाम इत्यर्थः। सर्वत्वेन कार्त्स्न्येन जगद्वैचित्र्यरूपेण नाम सर्वनाम तद्भावः सार्वनाम्यं प्रकृतेः सार्वनाम्यं तस्मात्। एतदुक्तं भवति। माहाभाग्यं सार्वनाम्ये हेतुः। सार्वनाम्यं बहुधा स्तुतः। तच्चैतत् सार्वनाम्यं **'आत्मैवैषा रथः'** इत्यादिना स्पष्टं दर्शयिष्यति। सार्वनाम्याच्चेति **च** शब्दो हेतुसमुच्चये उक्तेन प्रकारेण न सम्भवति। अतः समुच्चये द्रष्टव्यः प्रकृतिसार्वनाम्याद् बहुधा स्तुतिश्च।

देवताधर्मश्च वक्ष्यमाणः। कोऽसौ।

इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानः। आत्मजन्मानः।

किमुक्तम्-इतरेतरजन्मान इति। एतस्यैव व्याख्यानम्-इतरेतरप्रकृतयः परस्परप्रकृतयः। आदित्यादग्निः सायं जायते। अग्नेरप्यादित्यः प्रातरिति। तथा आदितेर्दक्षो दक्षाच्चादितिः। **'अदितिर्द्यौः'** (ऋ०१.८९.१०; निरु०४.२३) इत्यादि च। सोऽयं देवधर्मः। तथा च वक्ष्यति **'अपि वा देवधर्मेण'** (निरु०११.२३) इति। **कर्मजन्मानो** विशिष्टकर्मनिमित्तजन्मानः। एतदुक्तं भवति। यत् पुरस्तान्माहाभाग्यमुक्तं देवताया न तदनैमित्तिकं नाप्यन्यनिमित्तम्। किं तर्हि। विशिष्टकर्मनिमित्तमेवेति। ननु मनुष्या अपि कर्मजन्मान एव। अतो विशिनष्टि। **आत्मजन्मानः** आत्मेच्छाया जन्म येषां त आत्मजन्मानः। एतदुक्तं भवति। ईदृशं तेषामत्यन्तविशिष्टं कर्म येन यस्मिन् काले यथादर्शनं य कार्यकरणमिच्छन्ति तस्मिंस्तथा तादृशमेवोत्पद्यते योनावयोनौ च।

यतश्चैतदेवमतः-

आत्मैवैषां रथो भवति। आत्माश्वाः। आत्मायुधम्। आत्मेषवः। आत्मा सर्वं देवस्य।

आत्मैवैषा रथादि भवति। किं बहुना। योगैश्वर्यबलात् सर्वनामैव भवति देवस्य। यावान् कश्चित् देवस्य सर्वस्येत्यभिप्राय:। ततोऽश्वग्रावादयो नादेवा:। नाप्यागन्तव इति सिद्धम्।

अन्ये वर्णयन्ति। यथा एकस्मान्मृत्पिण्डाद् घटशरावादय: क्रियाभेदानुविधायिनो नानारूपा जायन्ते। एवमेकस्माद्देवतात्मनोऽधिकरणधर्मणो मृत्पिण्डस्थानीयादग्न्यादयोऽश्वादयश्च संकल्पलक्षण-क्रियाभेदानुविधायिन: प्रसूयन्ते।

यद्येक: कुम्भकारस्थानीय: क्रियाभेदहेतु: कश्चित् कारणात्मनोऽपि पर: कल्पनीय: प्राप्नोतीत्याह–

आत्मजन्मान:।

स्वात्मेच्छया प्रतिलब्धजन्मान इत्यर्थ:। एतदुक्तं भवति। उंक्तविशेषणो देवतात्मा माहाभाग्यात् प्रतिलब्धसर्वनाम्नो विश्वरूपं विन्दत: कल्पानुविधानात् तिरोधीयद्रानैकत्वं प्रादुर्भवद्भेदावस्थं भेदेतरेतरजन्मान: कर्मजन्मान आत्मजन्मानो देवा अश्वा इत्यादिभिरभेदेनाग्निरश्व इत्यादिभि: सर्वाभिधानैर्गीयन्त इति पूर्वकर्मनिमित्तत्वमुक्तम्। अस्मिन् पुनर्व्याख्याने क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष: कश्चिदीश्वरोऽभ्युपगत इति भेद:। सोऽयं माहाभाग्यादित्यादिग्रन्थ आपादपरिसमाप्तेरध्यात्मविन्निरुक्तयाज्ञिकपरिकल्पितेषु देवतैकत्वनित्यवृत्त्यभिधानदेवताभेदपक्षेषु त्रिष्वपि देवताया माहाभाग्याभ्युपगमाद्योजयितुं शक्य:। प्रायेण तु व्याख्यातृभिरध्यात्मवित्पक्षेणैव योजयितव्य इति।

इति महेश्वरविरचिते निरुक्तविवरणसमुच्चये द्वादशस्य(सप्तमस्याध्यायस्य)
प्रथम: पाद: समाप्त:।

॥अथ सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अथ पञ्चमः खण्डः।

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः। अपि वा पृथगेव स्युः, पृथग्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति। बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्। सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्याञ्च सम्भोगः। अग्निना चेतरस्य लोकस्य। तत्रैतन्नर राष्ट्रमिव॥५॥

भाष्यटीका

इह देवताविकल्पं प्रति त्रयो वादिनोऽध्यात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकाः। तत्राध्यात्मविदामेकैव देवता। तच्च दर्शनमुक्तं माहाभाग्यादेकस्यात्मन इति। याज्ञिकदर्शनमपि परस्ताद् वक्ष्यते। अपि वा पृथगेव स्युरित्यादिना। सम्प्रति स्वमतमुपन्यस्यति।

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।

तिस्र एव देवता इत्यादि। एवशब्दोऽवधारणे। नैकधाप्यभिधानसम्मताः। किं तर्हिः। तिस्रः। कुत एतत्। तिसृणां प्राधान्येन **'सूर्यो नो दिवस्पातु'** (ऋ०१०.१५८.१) **'अग्निमेवास्माल्लोकादसृजत'** इत्याद्यनेकत्र लिङ्गप्रतिपादितस्थानत्रयाभिसम्बन्धात्।

कास्ताः। केन स्थानेन सम्बद्धा इत्याह।

अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। इति।

वायुर्वेन्द्रो वेति नायमिन्द्रवाय्वोः स्थानाधिकारो विकल्पेन नापि समुच्चयेन त्रित्वविरोधात्। अन्तरिक्षस्थान इति चैकत्वनिर्देशात्। द्वे अन्तरिक्षस्थानावित्यवक्ष्यत्। तस्मादेकस्यैव देवतात्मनो मध्यमस्थानस्य पर्यायावेताविति निश्चयः। तथा च **'आसस्राणासः'** (ऋ०६.३७.३, निरु०१०.३) इत्यत्रैकविषयतामभिधानद्वयस्य दर्शयिष्यति। सत्यपि तु पर्यायत्वे क्वचित्तु काचित् प्रसृततरा भवति। इन्द्रशब्देनैवाभिधानं मध्यस्थानस्य प्रसिद्धतरत्वात्। सुप्रसिद्धिमुररीकृत्य वक्ष्यति **'वायवा याहि दर्शत'** (ऋ०१.२.१ निरु०१०.२) इत्यत्र **'कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्'** (निरु०१.२) इति। तुल्यायां हि प्रसिद्धौ कमन्यमित्याशङ्का नोपपद्यते। यथा चेन्द्रशब्देन मध्यमस्थानस्य सम्बन्धो मुख्यः। एवमग्निसूर्यशब्दाभ्यां पृथिवीद्युस्थानयोः।

यद्येवमग्निशब्दवदिन्द्रसूर्यशब्दयोरपि प्रथमसमाम्नानं युक्तं मुख्यत्वात्। सत्यमेवम्। तथापि तु इन्द्रस्य रसानुप्रदानलक्षणं कर्म प्रधानम्। तच्चासौ वायुरूपेण कर्मात्मना साधयतीति वायुशब्दस्यैव प्रथमः पाठः। वायुनैवावृता आन्तरिक्ष्य आपः। वरुणः स एव। स्तनयित्नुलक्षणात् शब्दनाद् रुद्रः। तस्मात्तेनैव कर्मक्रमेण वृष्टिं

साधयति। तेनैव तदवस्थाभिधायिनामभिधानमात्मानं युक्तम्। तथा सूर्यस्य प्रधानकर्म प्रविहितं प्रकाशनम्। तच्चोर्ध्वमर्धरात्रात् क्रियात्मना भवतीति। सूर्य एव प्रकाशनकर्मा अश्विशब्दवाच्य:। तथा स्फुटतरप्रकाशावस्थ: स एवोषा सूर्या वृषाकपायीत्यादिशब्दवाच्यो भवति। अतस्तेनैव क्रमेणाभिधीयत इति युक्तम्।

यदि तिस्र एव देवता: किमग्न्यादिसाहचर्येण जातवेदोवरुणाश्विप्रभृतीनां समाम्नानम्। उच्यते। **तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति**। तासां **माहाभाग्यात्** कारणादे**कैकस्या** जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विना उषा इत्यादीनि **बहूनि नामधेयानि भवन्ति**। एतदुक्तं भवति स्थानभेदेन तासामेव पर्याया एते। सत्यपि च पर्यायत्वे पर: पर: पूर्वस्माद् विप्रकृष्टतरसम्बन्ध:। प्रतीति विप्रकर्षात्। एवं च सत्यग्निरेव तेन क्रियायोगेन विशिष्टो जातवेदा वैश्वानर इत्यादिभिरभिधीयते। तथाश्विनाउषा इत्यादिभिरुत्तरोत्तरावस्थ: सूर्योऽभिधीयते।

ऐश्वर्ययोगादिविकरणधर्मत्वे सति।

अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सत:।

अपि वेत्यादि। अपिशब्दोऽथशब्दस्यार्थे। अथवा कर्मपृथक्त्वात्। यत: कर्माणि पृथग्भूतानि। एकत्वेऽपि सति कर्मनिमित्तानि बहूनि नामधेयानि। यथा कौण्डपायिनामयने गृहपतिसप्तदशा दीक्षन्ते। तेषां होतृप्रभृतय: पञ्च त्रीणि त्रीणि कर्माणि कुर्वते। तन्निमित्ताश्च तेषामाख्याभेदा भवन्ति। यो होता सोऽध्वर्यु: स वोद्गातेत्यादय:। यथा च लोके एको देवदत्त: पचन् पाचको, लुनन् लावक:, स्तुवन् स्तावक उच्यते। एवमिहापि योऽग्नि: स जातवेदा: स वैश्वानरस्तथा य इन्द्र: स वायु: स वरुण:। एवं य: सूर्य: सोऽश्विनौ स उषा इति।

एवं स्वपक्षे त्रित्वमभिधाय याज्ञिकपक्षे प्रदर्शनायाह।

अथवा पृथगेव स्यु:।

अग्नेर्जातवेद आदयोऽन्ये वेद्या:। तथैवेन्द्राद् वाय्वादय:। सूर्यादप्यश्व्युष आदय:।

पृथक्त्वे हेतुमाह।

पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति

हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मात् **पृथक्स्तुतयो** (भवन्त्यग्न्यादय:। अतस्तेषां भिन्न-) रूपता एव भवति। तथा हि।

अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ० १.१.१)

इत्याग्नेयमेवोपदिश्यते।

प्र नू॒नं जा॒तवे॑दस॒म्। (ऋ० १०.१८८.१)

इति जातवेदसीयम्।

वै॒श्वा॒न॒राय॑ पृथु॒पाज॑से॒ विप॑:। (ऋ० ३.३.१)

इति वैश्वानरीयमिति। तथा ऐन्द्रं वायव्यं वारुणमिति। तथाऽऽश्विनमुषस्यं सौर्यमिति प्रतिनियता स्तुतिचोदना। स्तुतिभेदाच्च स्तुत्यभेदेन भवितव्यम्। किञ्च-

तथाभिधानानि।

तथाऽनेनैव प्रकारेण पृथगेवेत्यर्थः। अभिधानादिचोदना हविर्भाजो देवताया **'आग्नेयोऽष्टाकपालः' 'वैश्वानरीयो द्वादशकपालः'** इति व्यवस्थितैव। चोदनाव्यतिरेके हि प्रायश्चित्तश्रवणात्। अन्याभ्यो गृहीते अन्यासु चाहितासु चोदिताभ्यः प्रयच्छेत् **'आज्येन वा हविषा वा यजेत्'** इति च कर्मणि विशेषात्।

तथा गुणद्रव्यकर्मसंयोगनियमो दृश्यते। यथा हिरण्यपाणित्वात् सवितुः। अदन्तकत्वं पूष्णः। कपर्दित्वं रुद्रस्य शितिकण्ठनीललोहितत्वादिगुणयोगश्च। तथा ऋष्टयो मरुताम्। पाशो वरुणस्य। हरी इन्द्रस्य इत्यादिद्रव्ययोगः। तथा कर्मयोगोऽग्नेर्वहनानि। वैश्वानरस्य सर्वस्य प्राप्तिः। इन्द्रस्य वृत्रवधादि। वरुणस्य पाशविमोचनादि। सूर्यस्य रसादानादि। पूष्णः पथि रक्षणमिति। अतो यथोक्तस्तुत्यभिधानाभिनियमलक्षणाल्लिङ्गात् स्तुत्यभिधेयभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति।

यथो एतत् कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।

अथ यदेतदुक्तम्। कर्मपृथक्त्वादेकस्य बहुनामधेयत्वमित्यर्थः। नैकान्तिकत्वमित्याह। **बहवोऽपीत्यादि।** एकदन्तेनाचष्टे। यथैकस्य कर्मपृथक्त्वान्नामपृथक्त्वं दृष्टम्। एवं बहूनि कर्माणि विभज्य कुर्वतां बहूनामपि नामपृथक्त्वं दृष्टमेव। तत्र कुत एतत्-एकस्य बहूनीति न पुनर्बहूनामेवेदमस्येदमस्येति विभज्य कुर्वतां बहूनि नामधेयानीति। तस्मादयमसाधको हेतुः। अपि च प्रत्यक्षे पृथिव्यादावर्थेऽभिधेये प्रयोगप्रतीतिवशात् पर्यायत्वं पद प्रतीयेत। यथा नैघण्टुके प्रकरणे गवादीनाम्। इह शब्दव्यतिरेकेण न देवतार्थस्य। अतीन्द्रियत्वात्। किं जातवेद आदयोऽग्नेरेव पर्याया उत पृथगर्थपदानीति।

नायमनेकान्तः। नहि देवतायाः संख्यादिविशिष्टस्तुतिसत्त्वावधारणे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। ऋते मन्त्रार्थवादलिङ्गात्। दर्शनभेदः परस्परविरोध्यध्यात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकानाम्। अनेकजन्मान्तराभ्यासवासनापरिपाकवशात् प्रतिभानव्यवस्था द्रष्टव्या।

तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रमस्थानवैराग्या-भ्यासवशात्। समासादितस्थिरसमाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरणवृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमननाः प्रकृतिविरक्तं विरजसं प्रध्यायन्तः किं केन पश्यति किं केन शृणोतीत्यात्मैकत्वेनास्तद्वितेनान्यं न पश्यन्ति न शृण्वन्तीति। इममेवागममुररीकृत्याह।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न स बध्यते।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ (मनु० ६.७४)

इति। तथा-

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥ (मूलमनुपलब्धम्)

इत्यादि। नैरात्म्यवादिनान्तु विशेषः।

तेनेदं हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।

तदैव तैर्विनिर्मुक्तं न वदन्त इति कथ्यते।।

इत्यादि सौगताः प्रतिजानते इति।

नैरुक्ता अपि मन्त्रदेवतानिर्वचनेन तावद्द्रव्यमनुबुभूषन्तोऽग्न्यादिभ्यस्त्रिभ्यो नान्यं पश्यन्ति न शृण्वन्ति।

याज्ञिका अपि तेन तेन फलेन नाधिनः सन्तस्तस्मिंस्तस्मिन् कर्मणि देवतायाः संप्रदानत्वेन चोदनालक्षणात् तदुद्देशेन व्यवदानानि। द्रव्यत्यागो यागस्तस्य फलसाधानत्वेनाभ्युपगमात्। दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यादिवाक्यस्य दर्शपूर्णमाससंज्ञकेन यागेन स्वर्गं भावयेदित्यर्थस्य प्रपञ्चनप्रतिपादनाद्यागस्य फलं, न देवताया इति निश्चितम्। अतस्तस्याश्च गुणभूतत्वाद् यागनिर्वृत्तौ स्रुगादिवदङ्गभावोपगमात्। सा च यागनिर्वृत्तिश्चोदनालक्षणेऽग्न्यादौ शब्दमात्रे देवतायां सिद्धेति वस्तुसदसद्भावाकारविचारः कर्मणि मन्दोपयोग इति कृत्वा शब्दव्यतिरिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति। शुद्धयाज्ञिकास्तु शब्दव्यतिरिक्तामितिहासपुराणप्रसिद्धां **'तुविग्रीवः'** (ऋ०५.२.१२; ८.१७.८; ८.६४.७) इत्यादिमन्त्रप्रत्यायितरूपां प्रतिजानते स्तुवते ध्यायति वेति सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय **'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह'** (निरु०१.२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। अधिदेवादिविषयेणैव श्रुतेः न श्रुतप्रवृद्धतायाः स्मरणात्।

तत्रात्मविदामेकत्वं पारमार्थिकमौपचारिको भेदः। स च पुरस्तादुपप्रदर्शितः। स्थानमस्य आब्रह्मभुवनात् चतुर्दश भुवनानि। प्राजापत्यं कृत्स्नं कार्यम्। तथा च लिङ्गम् **'तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्'** (तैत्ति०आ०१०.१०.३ मु०१०.४) इति पृष्ठे मन्त्रो व्याख्यातः। पारमार्थिकादन्यदौपचारिकम्। याज्ञिकानां प्रत्यभिधानं भेदः पारमार्थिकः। भाक्तमन्यत्।

इदानीं यथौपचारिकमेकत्वं तथा दर्शयति-

तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्।

तत्रेत्यादि। तस्मिन् भेदपक्षे स्थानैकत्वं पृथिव्यादिस्थानगतमेकत्वं स्थानिषूपचारेणोपेक्षितम्। न च केवलं स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च। भुजिः पालने। सहभोगे पालने कर्त्तव्ये स्थित्यर्थं विश्वस्यानुग्राहकत्वेनैकत्वं सम्भोगैकत्वं च।

उदाहरणम्-

यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्।

यथा पृथिव्यां मनुष्यादयः तात्स्थ्यादभेदेन पृथिवीशब्देनाभिधीयन्ते। पृथिवी च यथा **'भूर्भुवः स्वः'** (वा०सं०३.५) इति लोकशब्दैर्लौकिका एकत्वेन। एवमग्निरित्यभेदाभिधानम्। जातवेद आदीनां स्थानैकत्वात्। एवमेवोत्तरयोरपि स्थानयोर्योजनीयम्। यदेकत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः।

अपि-

सम्भोगैकत्वं च दृश्यते।

उदाहरणम्-

यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः। अग्निना चेतरस्य लोकस्य।

यथेत्यादि। यथा पृथिव्या धृत्यादिस्वव्यापारं कुर्वन्त्याः पर्जन्यादिभिः स्वव्यापारेण द्वारेण। यथोक्तं **'दे॒वानां॒ माने प्रथ॒मा'** (ऋ०१०.२७.२३) इत्यस्मिन्मन्त्रेऽनुग्राहकत्वाविशेषात् संभूय पालने एकत्वं दृश्यते। एवमग्न्यादीनामप्यौपचारिकमेकत्वं द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः। **अग्निना चेतरस्यान्तरिक्षस्य लोकस्य च सम्भोगः।** यथा वक्ष्यति **'अग्निर्वा इतो वृष्टिम्'** (तै०सं०२.४.१० निरु०७.२४) इति। **'भूमिं॑ प॒र्जन्या॒ जिन्व॑न्ति॒ दिवं॑ जिन्वन्त्य॒ग्नय॑ः'** (ऋ०१.१६४.५१ निरु०६.२२; ७.२३) इति च।

इदानीं यथोक्तस्य भेदाभेददर्शनस्य दृष्टान्तमाह।

तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव।

तत्रैतद् भेदाभेददर्शनं नरराष्ट्रमिव। नरशब्दोऽमात्यजनपदादिप्रकृत्युपलक्षणार्थः। पृथा देवा इति। तदेवार्थवस्तु भेदेनाभिधीयते राष्ट्रमित्यभेदेन। एवमुक्तेषु भेदेनैकस्याभेदेन चानेकस्य। तत्रैतद् भेदाभेददर्शनं यथायोगमभिधानं द्रष्टव्यमिति।

(इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।)

अथ षष्ठः खण्डः।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधा स्युरित्येकम्। चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधकैरङ्गैः संस्तूयन्ते। **ऋ॒ष्वा त॑ इन्द्र स्थविर॑स्य बा॒हू॥** (ऋ०६.४७.८) **यत्सं॑गृ॒भ्णा म॑घवन् का॒शिरित्ते॑॥** (ऋ०३.३०.५) अथापि पौरुषविधकैर्द्रव्यसंयोगैः। **आ द्वाभ्यां॒ हरि॑भ्यामिन्द्र या॒हि॥** (ऋ०२.१८.४) **कल्या॒णीर्जा॒या सु॒रणं॑ गृ॒हे ते॑॥** (ऋ०३.५३.६) अथापि पौरुषविधकैः कर्मभिः। **अ॒द्धीन्द्र॒ पिब॑ च॒ प्रस्थि॑तस्य॥** (ऋ०१०.११६.७) **आश्रु॑त्कर्ण श्रु॒धी हव॑म्॥** (ऋ०१.१०.९)॥६॥

भाष्यटीका

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्।

संख्याविचारानन्तरमाकारः संस्थानं तद्विषयचिन्तनं विचारो देवतानां वर्तिष्यत इति शेषः। आनन्तर्याद् याज्ञिकपक्ष एष विचार इति केचिन्मन्यन्ते। इतरयोरपि विकारधर्मत्वाद् भाक्तस्य भेदस्याभ्युपगमात् प्रकृतिभूतस्य च विकारभूतस्य च देवतात्मनोऽत्यन्तपारार्थ्याद् (इदमाकारचिन्तनं युक्तम्। तत्र-

पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।

पुरुषविधा अस्मदादि-) रूपाः स्युरित्येकं दर्शनम्। कुतः-

चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति।

चेतनावदित्यादि। भूमादिस्मरणात् प्रशंसायां मतुप्। तदन्तात् **'तेन तुल्यम् क्रिया चेद वतिः'** (अष्टा०५.१.११४) इति वतिः। **हि** शब्दो हेत्वपदेशे। प्रशस्तेन दृष्टानुश्रविकफलकर्मविवेकविशिष्टेन गवादिभ्यो

व्यावृत्तेन चैतन्येन चेतनावद्भिस्तुल्यं यस्मात् **स्तुतयो** गुणगुण्यभिधानरूपा मन्त्राः चाटुश्लोका इव राजादीनां भवन्ति। तस्माद् विशिष्टपुरुषविधा इति। न च केवलं स्तुतयः। किं तर्हि।

तथाभिधानानि।

यथा प्रकृष्टचैतन्यविशिष्टानां पुरुषाणां परस्परस्याभिधानानि तथेन्द्रमरुदादीनामपि कयाशुभीयादिषु संवादेषु भवन्ति। अतोऽपि पुरुषविधाः। पौरुषविध्ये साध्ये चेतनावदिति य उक्तो हेतुस्तस्यैव–

अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते।

इत्यादिः परः प्रपञ्चः। अङ्गादिभिः स्तुतिविशेषस्य प्रदर्शनात्। **अथ** शब्दस्तथार्थे। **अपि** शब्दो ह्यर्थे। तथाहि **पौरुषविधिकैः** पुरुषविधेयंस्तुतिभावानि बाहुमुष्ट्यादीन्यङ्गानि तैः स्तूयन्ते। उदाहरणम्।

उरुं नो लोकमनुं नेषि विद्वान्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।

ऋष्वा तं इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपं स्थेयाम शरणा बृहन्ता।। (ऋ०६.४७.८)

गर्गस्यार्षम्। उरु विस्तीर्णमसंबाधम्। नोऽस्मल्लोकं स्वर्गाख्यमिन्द्रलोकाख्यं वा। **अनुनेषि** अनुपूर्वस्य नयतेर्लटि रूपम्। आनुपूर्व्येण नयेत्यर्थः। पश्चाद्वा मरणस्य मरणोत्तरं कालमित्यर्थः। **विद्वान्** जानन् भक्ततामस्माकम्। यतः **स्वर्वत्** स्वकादित्यादिवदित्यर्थः। तेन कर्तृभूतेन तद्वदादित्यकर्तृकमित्यर्थः। **ज्योतिः।** लोकविशेषणं वा लिङ्गव्यत्ययेन स्वर्वन्तं सर्वेणाभिलषितेनार्थेन तद्वन्तं लोकम्। **अभयं** च **स्वस्ति** चाविनाशश्चेत्यर्थः। किञ्च **ऋष्वा** ऋष्वो महन्नामैतत् महान्तौ प्रभावतः रेषणौ वा। ते तव हे **इन्द्र स्थविरस्य** भूतः **बाहू** यौ तयोः **उप** समीपे **स्थेयाम** तिष्ठेमँ तव समीपे निवसेमेत्याशास्महे। स्तुतिर्वोपस्थानम्। तव बाहू स्तूयामेत्यर्थः। बाहूपस्थानेन च तद्वत उपस्थानं लक्ष्यते। कीदृशौ। **शरणा 'शॄ हिंसायाम्'** (धा०९.१६) शरितारौ शत्रूणाम्। शरण्यौ वा। **बृहन्ता** सर्वत्राकारो द्विवचनस्य स्थाने। महन्तौ प्रमाणतः।

उताभंये पुरुहूत श्रवोंभिरेको दृळ्हमंवदो वृत्रहा सन्।

इमे चिंदिन्द्र रोदंसी अपारे यत्संगृभ्णा मंघवन् काशिरित्ते।। (ऋ०३.३०.५)

इति द्वितीयमुदाहरणं पुरस्ताद् (निरु०६.१) व्याख्यातम्।

अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः।

अथापीत्यादि। तथा चेत्यर्थः। पुरुषप्रकारेषु ये (द्रव्यसंयोगास्तैः) सांयोगिकैरश्वजायादिभिर्भोग्यैर्द्रव्यैः सम्बन्धाः स्तूयन्त इत्यनुषङ्गः। उदाहरणम्।

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।

आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः।। (ऋ०२.१८.४)

गृत्समदस्य। आ इत्युपसर्गो याहीत्यनेन सम्बध्यते। **द्वाभ्यां हरिभ्यां** हे **इन्द्र** आयाहि। **आ चतुर्भिरायाहि। आषड्भिरायाहि। हूयमानोऽ**स्माभिरायाहि। **अष्टाभिर्दशभिर्वा** प्रभूतत्वादश्वानाम्। यावद्भी रोचते तावद्भिरायाहीत्यर्थः। **सोमपेयं** सोमपानमस्मदीयं प्रतीत्यध्याहारः। किमर्थमुच्यते आयाहीति। यस्मादयं **सुतः**

सोमः हे **सुमख**! सुयज्ञ आगच्छ। अन्तरा कैश्चित् सह **मा मृधः** संग्रामान् **कः** मा कार्षीरित्यर्थः। अविलम्बितमित्यभिप्रायः।

अपा॒: सोम॒मस्त॑मिन्द्र॒ प्र या॑हि कल्या॒णीर्जा॒या सु॒रणं॑ गृ॒हे ते॑।

यत्रा॒ रथ॑स्य बृह॒तो नि॒धानं॑ वि॒मोच॑नं वा॒जिनो॒ दक्षि॑णावत्॥ (ऋ०३.५३.६)

विश्वामित्रस्य। **अपाः** पीतवानसि **सोम**मभि। **अस्तं** गृहं हे **इन्द्र प्रयाहि**। कस्मादेवमुच्यते। यस्मात् **कल्याणीः** छान्दसत्वाद् हल्ङ्यादिलोपाभावः। कल्याणीः प्रशस्तरूपा **जाया सुरणं** सुष्ठु रमणीयं यत् परिभोगयोग्यं पर्यंकास्तरणादि **गृहे ते** तव। **यत्रा** यत्र च **रथस्य बृहतो** महतो **निधानं** स्थानं यजनशालाख्यम्। **विमोचनं** विमोचनस्थानं च मन्दराख्यम्। **वाजिनो**ऽश्वस्य दक्षिणा दानं वासयोग्यमशनादि तेन तद्वत्।

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः।

अथापीत्यादि। अथवोक्तविशेषणैरेव कर्मभिः। उदाहरणम्-

इ॒दं ह॒विर्म॑घव॒न् तुभ्यं॑ रा॒तं प्रति॑ सम्राळहृ॑णानो गृभाय।

तुभ्यं॑ सु॒तो म॑घव॒न् तुभ्यं॑ प॒क्वो॒ ३॑द्धीन्द्र॒ पिब॑ च॒ प्रस्थि॑तस्य॥ (ऋ०१०.११६.७)

अग्नियुतस्य स्थौरस्य अग्नियूपस्य वार्षम्। प्रत्यक्षं व्यपदिशति। इदं हविरिति सामान्येन हविर्मात्रमनूद्य उपरिष्टाद् विशेषं वक्ष्यति। हे **मघवन्** धनवन्! **तुभ्यं रातं** 'रा दाने' (धा०२.४७) दत्तमस्माभिः। **प्रत्यु**पसर्गो गृभायेत्याख्यातेन सम्बध्यते। तत् हे **सम्राट्** सम्यग्दीप्त! **अहृणानः** कण्ड्वादिरयम्। अहृणीयमानोऽक्रुध्यन् **प्रति गृभाय** प्रतिगृहाणेत्यर्थः। **तुभ्यं** सुतस्त्वदर्थमेव **सुतः** सोमः हे **मघवन् तुभ्यं पक्वः** सवनीयपुरोडाशः। एतज्ज्ञात्वा **अद्धि** भक्षय हे **इन्द्र**! पुरोडाशादि। **पिब च** सोमस्य **प्रस्थितस्य** त्वां प्रति स्थितस्य प्रस्थितसंज्ञकस्य वा। षष्ठीश्रुतेरेकदेशमिति शेषः। द्वितीयार्थे वा षष्ठी प्रस्थितम्।

आश्रु॑त्कर्ण श्रु॒धी हवं॒ नू चि॑द्दधिष्व मे॒ गिरः॑।

इन्द्र॒ स्तोम॑मि॒मं मम॑ कृ॒ष्वा यु॒जश्चि॒दन्त॑रम्॥ (ऋ०१.१०.९)

मधुच्छन्दसः। आभिमुख्येन श्रोतारौ कर्णौ यस्य तस्य सम्बोधनं हे **आश्रुत्कर्ण श्रुधी** शृणु **हव**माह्वानम्। **नु** इति क्षिप्रनाम। **चिदि**ति चार्थे क्षिप्रं च **दधिष्व** धारय। **मे गिरः** स्तुतीर्याज्यानुवाक्यादिलक्षणाः हे **इन्द्र स्तोमं** च शस्त्राख्यम्। **इमं मम** स्वभूतम्। **कृष्वा** कुरुष्व **युजः** युज्यत इति युक् सहायः। **चिद**प्यर्थे। सहायादपि कुत्साद्वा विष्णोर्वा मतिशायिकोऽयमासन्नतरमित्यर्थः।

एवमुक्ताभिर्युक्तिभिः पौरुषविध्यं प्रसाध्यार्थान्तरमुपन्यस्यति स्म।

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यते।

पुरुषाकारेभ्योऽन्याः स्युर्देवताः। न पुरुषसद्भावं देवता इत्यभिप्रायः। तथा चोक्तम् **'तत्रोपमार्थेन वा'** इत्युपप्रतिज्ञाय प्रत्यक्षेण प्रसिद्धदेवत्वेनापुरुषाकारेण अग्न्यादिदेवतानां पूर्वोक्तं पौरुषविध्यत्वं व्यभिचरितुमाह। **अपि तु यद् दृश्यते** उपलभ्यते।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपितु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति। यथो एतत् चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति, इत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। (निघ०५.३-४.२२) यथो एतत् पौरुषविधकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतद्भवति। **अभि क्रन्द॑न्ति हरि॑तेभिरा॒सभिः॑॥** (ऋ०१०.९४.२) इति ग्रावस्तुतिः। यथो एतत् पौरुषविधकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव। **सु॒खं रथं॑ युयुजे सिन्धु॑र॒श्विन॑म्॥** (ऋ०१०.७५.९) इति नदीस्तुतिः। यथो एतत् पौरुषविधकैः कर्मभिरिति, एतदपि तादृशमेव। **होतु॑श्चि॒त् पूर्वे॑ ह॒विर॒द्यमा॑शत॥** (ऋ०१०.९४.२) इति ग्रावस्तुतिरेव। अपि वोभयविधा स्युः। अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य। एष चाख्यानसमयः॥७॥

भाष्यटीका

(अपुरुषविधं तद्यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति)

अपुरुषविधं तद्यथाग्निरित्यादि। तत्र वायुः स्पर्शनः। अन्ये दर्शनाः। एतदुक्तं भवति। यथैव च धनधान्यपशुहिरण्यादि पुरुषस्योपकरणम्। एवं कर्माङ्गानि देवता अप्यग्न्यादयः। तत्सामान्यार्थमिन्द्रादिशब्दवाच्या अप्येवंविधा भवितुमर्हन्तीति। एवं प्रत्यक्षेण सामान्यतोदृष्टेन चापौरुषविध्य उक्ते पूर्वोक्तसमीकरणायाह।

(यथो एतच्चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्तीति। अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते। (निघ०५.३.४-२२) यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि।)

यथो एतच्चेतनावद्वदिति। अस्य समीकरणमचेतनात्मन्यपि द्रव्याण्यक्षादीन्योषधिपर्यन्तानि '**मि॒त्रं कृ॑णुध्व॒म्**' (ऋ०१०.३४.१४) इति चेतनावद्भिस्तुल्यं स्तूयन्ते। एवं सामान्येन समीकृत्य विशेषेण समीकरिष्यन्नाह।

(यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति, अचेतनेष्वप्येतद् भवति। अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिरिति ग्रावस्तुतिः)

एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैरिति। अस्य समीकरणमचेतनेष्वप्येतद् भवति। अभिक्रन्दन्तीत्युदाहरणम्।

ए॒ते व॑दन्ति श॒तव॑त् स॒हस्र॑वद॒भि क्र॑न्दन्ति॒ हरि॑तेभिरा॒सभिः॑।

वि॒ष्ट्वी ग्रावा॑णः सु॒कृतः॑ सुकृ॒त्यया॒ होतु॑श्चि॒त् पूर्वे॑ ह॒विर॒द्यमा॑शत॥ (ऋ०१०.९४.२)

अर्बुदस्य। **एते वदन्ति** महान्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः। **शतवत् सहस्रवत्** शतमिव सहस्रमिव वा **क्रन्दन्ति** अभ्याह्वयन्ति चेन्द्रम्। **हरितेभिर्हरितवर्णैः**। **आसभिरास्यैः**। छान्दस आस्यशब्दस्यासन्नादेशः। **विष्ट्वी 'विष्लृ व्याप्तौ'** (धा०३.१३) इत्यस्यैतद्रूपम्। ईत्वमपि सा.........दित्वा व्याप्येत्यर्थः। **ग्रावाणः सुकृतः** शोभनकर्मकारिणः। **सुकृत्यया** शोभनक्रिययाभिष्वाख्यया। **होतुश्चित्** होतुरपि सकाशात् **पूर्वे हविरद्यमदनीयं**

सोमाख्य**माशत** आशितवन्तः। ग्राव्णः स्तुतिरिति सुप्रसिद्धम्। पौरुषविधिकै द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि पूर्ववत् कल्पितोपमारूपमित्याह।

(यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि) तादृशमेव।

उदाहरणम्

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं संनिषदुस्मिन्नाजौ।

महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥ (ऋ०१०.७५.९)

सिन्धुक्षिन्नाम प्रैय्यमेधस्तस्यार्षम्। **सुखं** सुखयानं **रथं युयुजे** युक्तवान्। **सिन्धुर्नाम** नदीविशेषः। **अश्विनं** अश्ववन्तम्। **तेन वाजमन्नम्। संनिषत्** संभक्तवान्। **अस्मिन्नाजौ** संग्रामे। **महान् ह्यस्य महिमा पनस्यते** स्तूयते स्तोतृभिः। **अदब्धस्या**नुपहिंसितस्य केनचित् **स्वयशसः** स्वाश्रययशसः। **विरप्शिनः** विरमणशीलस्य महन्नाम वा महत इत्यर्थः। नदीस्तुतिरित्याद्युक्ताभिप्रायम्। कर्मसंयोगैरित्येतदपीति कृतव्याख्यानम्। अङ्गकर्मसंयोगयोरेकमेवोदाहरणम्।

(अपि वोभयविधाः स्युः)

अपि वेत्यादि। अपिरथार्थे। अथवा उभयविधा द्विप्रकारा अपि स्युः। उभयथापि मन्त्रदर्शनात्।

(अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः)

अपि वेति च दर्शनान्तरम्। सर्वदेवतानामेव। द्व्यात्मकत्वमिष्यते। तत्रैते कर्मात्मानः पृथिव्यादयो धृतिसंग्रहपक्त्यादि शीतोष्णवर्षादि च विदधानाः कृत्स्नं जगत् त्रायन्ते। अन्ये त्वधिष्ठातारः पुरुषविधास्तेषामेव पृथिव्यादीनां स्युः। एवमेव च सति अग्निस्तुतिरित्यादि स्थानविभागेन च बलिहरणस्मरणं समञ्जसतरं जायते। ऐश्वर्यातिशयवशाच्च कदाचिदमूर्त्या सद्रूपतयावस्थिता देवता मन्त्रेषु स्तूयते। कदाचिद् ग्रावादिद्रव्यरूपापन्ना। कदाचित् पुरुषविधा। सर्वाभिधानव्यतिरेकेण देवतायाः सद्भावे रूपविशेषे च मन्त्रशब्द एव प्रमाणमिति सर्वथाप्यविरोधः सिद्धः। अस्य च द्व्यात्मकत्वस्य दृष्टान्तं दर्शयितुमाह।

(यथा यज्ञो यजमानस्य)

यथा यज्ञः कर्मरूप आत्मा यजमानस्य कर्मणामनुष्ठातुः। यज्ञशब्दश्चात्र कार्यकारणयोरभेदोपचारात् श्रौतस्मार्ताग्निहोत्राष्टकादिकर्मानुष्ठानहेतोः संस्कारराशेरपूर्वाख्यस्य फलदानावस्थायिनः समुपलक्षणार्थम्। तद्वशेन हि पुनः शरीरात्मनोर्ग्रहणम्। एतदेव च दर्शनं द्रढयन्नाह-

(एष चाख्यानसमयः।)

एष चेत्यादि। इतिहासपुराणादिष्वाख्यानेषु समयः सिद्धान्तः प्रसिद्ध इति।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये द्वादशस्य (सप्तमस्याध्यायस्य) द्वितीयः पादः।

सप्तमश्च खण्डः समाप्तः॥

अथ तृतीयः पादः।

अथ अष्टमः खण्डः।

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्। (निरु०७.५) तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः। अथैतान्यग्निभक्तीनि। अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थानेऽग्नायी, पृथिवीळेति स्त्रियः। अथास्य कर्म वहनं च हविषामावहनं च देवतानाम्, यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैव तत्। अथास्य संस्ताविका देवाः। इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतव आग्नावैष्णवं हविः। न त्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथाप्याग्नापौष्णं हविः। न तु संस्तवः। तत्रैतां विभक्तिस्तुतिं ऋचमुदाहरन्ति॥८॥

किञ्चिद् वक्तव्यमवशिष्यते। तद्विवक्षया स्वपक्षेणोपक्षेपः।

तिस्र एव (देवता इत्युक्तं पुरस्तात्)

इत्यादि। एवमुपक्षिप्याह।

(तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः)

तासां तिसृणां देवतानाम्। **भक्तिसाहचर्यं** भज्यतेऽसाविति भजेः कर्मसाधनः क्तिन् भजनीयो भक्तिः। सहचरभावः साहचर्यं भक्तिश्च साहचर्यं चेत्यर्थः। यो यस्य भजनीयस्तं भक्तिम्। येन च यस्य स्तुतौ हविषि वा सहभावोपगमनलक्षणं साहचर्यम्। तच्च विविधमाख्यास्यामः। किमर्थम्। यानि यद्भक्तीनि तेषामन्यतमस्याप्याश्रयणे (मन्त्रस्याग्नेयादित्वं यथा विज्ञायेत। नन्वन्यतमस्याश्रयणे)ऽप्याग्नेयादित्वं कथमुन्नीयेतेति। यथा **'अयं लोकः प्रथमच्छन्दोमयः'** इतीदंल्लोकसंस्तवात् प्रथमस्य च्छन्दोमयस्याग्नेयत्वम्। तथाह- **'अग्नये वासन्तिकाय गायत्राय'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादि। **'प्रथममहरयमेव लोक आयतनेनाग्निर्गायति'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादि च ब्राह्मणान्युपपन्नरूपाणि कथं स्युरित्येवमर्थं भक्तिव्याख्यानम्। साहचर्यं तु मन्त्रस्वभावोपप्रदर्शनमात्रफलम्। अथवा भावसाधनो भजनं भक्तिस्तया कृतं साहचर्यम्। समानमन्यत्। अस्मिन् व्याख्याने **'अथास्य संस्तविका'** इत्याद्यप्रस्तुतोपव्याख्यानं प्रासङ्गिकं द्रष्टव्यम्।

अथैतानीत्यादि व्याख्यानं प्रतिज्ञायानन्तरं व्याचष्टे।

(एतान्यग्निभक्तीनि। अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने। अग्नायी पृथिवीळेति स्त्रियः)

एतानीति वक्ष्यमाण प्रतिनिर्देशः। अग्निर्भक्तिर्येषामित्यग्निभक्तीनि। अग्निविषयं वा भजनमेषामिति। नपुंसकनिर्देशश्च लिङ्गसर्वनामत्वे सत्यविरोधात्। तस्य वक्ष्यमाणैः स्त्रीलिङ्गैः.....। लोकानां मध्ये **अयमिति** प्रत्यक्षं पृथिवीलोकमपि दर्शयति। एवं प्रातःसवनादिष्वपि योज्यम्। **ये च देवगणाः** देवा जातवेद आदयो

देवगणाश्चाक्षादयः पठिताः **प्रथमे** पृथिव्याख्येऽग्नेः स्थाने। **अग्नायी पृथिवी इळेति** च याः **स्त्रियः**। **ये च समाम्नाताः प्रथमे स्थान** इत्येव वा सिद्धे देवगणादिरनुवादः। प्रपञ्चमात्रमन्यत्।

ननु नद्य आप इत्यादीनामग्निभक्तित्वे सत्यग्नेः प्रतीतिः। इळायाः पुनः प्रत्यक्षमपठितायाः अपि आप्रीषु **'तिस्रो देवीः'** (ऋ०१०.११०.८) इत्यनेन सामान्यशब्देनोपात्तायाः पृथिवीस्थानत्वविशेषणं लिङ्गतो दर्शयितुम्। तथा चोदाहरिष्यति- **'आ नो यज्ञं भारती'** (ऋ०१०.११०.८ निरु०८.१३) इत्यत्र **'इळा मनुष्वदिह'** (ऋ०१०.११०.८ निरु०८.१३) इति प्रत्यक्षस्थाननिर्देशात्। तथा **'द्यां भारत्यादित्यैरस्पृक्षत् सरस्वतीमं रुद्रैर्यज्ञमावीदिहैवेळया वसुमत्या'** (मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३.७) इति। इहेति पूर्वस्थाननिर्देशाद् वसुमत्या इति चाग्निः। **'प्रथमो वसुभिर्नोऽव्यात्'** (ऐ०ब्रा०१.२४) इत्यादिलिङ्गादग्निः। वसुभिर्वा वसव इति समाख्या। तस्मात् पृथिवीस्थाना इति च भाष्यकारेण प्रतिज्ञातम्। प्रथमस्थानसम्बन्धैर्वसुभिस्तद्वच्छ्रवणात्। तत्र यथादित्यैः सम्बन्धाद् भारत्याद्युस्थानत्वम्। सरस्वत्याश्च रुद्रैर्मध्यस्थानत्वम्। एवमिळायाः पृथिवीस्थानत्वं सिद्धम्।

(अथाऽस्य कर्म। वहनं च हविषामावाहनं च देवतानाम्। यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैव तत्)

अथास्येत्यादि। अपठितानां लोकादीनां पठितानां च देवगणानां भक्तिसाहचर्यमुक्तम्। अनन्तरं साहचर्यमाह। **अस्याग्नेः कर्म वहनं** देवान् प्रति सरसभूतानां हविषां प्रापणम्। **'अग्निर्देवानां होता'** (ऐत०ब्रा०१.२८; ३.१४ अग्निर्वै देवानां होता) इति होतृत्वा**दावाहनं च देवतानाम्**। एतत् तावददृष्टविषयत्वादागमाच्छ्रद्धीयते। यत्तु दृष्टविषयभवं वा। दृष्टविषयप्रयोजनं वा वक्ति सन्तमसापनोदनादि तद्दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैव तत् तदपि। ननु दृष्टत्वादवाच्यम्। उच्यते। दृष्टार्थं भविष्यति।

अन्ये वर्णयन्ति। भावे निष्ठा। दृष्टं दर्शनं समवेक्षणमालोचनं तस्य विषयो दृश्यः सूक्ष्मः कश्चिदात्मादिपदार्थः। तत्र भवस्तत्प्रयोजनं वा। ज्ञानप्रकाशरूपत्वाविशेषादग्निकर्मैव तदित्युच्यते।

पुरस्तात् स्तुतौ हविषि च साहचर्यं प्रतिज्ञातम्। तत्केनेत्याह-

(अथास्य संस्तविका देवा इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः)

अथास्येत्यादि। अनन्तरमस्याग्नेः संस्तविकाः सह स्तवनं संस्तवस्तत्प्रयुक्ता देवा वक्ष्यन्त इति शेषः। इन्द्रः सोम इत्यादयः। क्रमशः संस्तवोदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते।

अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोप यातम्।

अमर्धन्ता सोमपेयाय देवाः॥ (ऋ०३.२५.४)

विश्वामित्रस्य। हे **अग्ने इन्द्रश्च** कर्मोपसंग्रहार्थाय च श्रुतेस्त्वं चेति शेषः। **दाशुषो** दत्तवतो हवींषि यजमानस्य स्वभूते **दुरोणे** हविर्धानलक्षणे यज्ञगृहे। **सुतावतः** छान्दसं दीर्घत्वं सुतवतः सोमात्। **यज्ञमिहा**स्मिन् काले। **उपयात**मुपगच्छतम्। **अमर्धन्ता** मृधेर्हिंसार्थस्येदं रूपम्। आकारो द्विवचनस्य स्थाने। अनुपहिंसन्तौ परस्परम्। संग्रामनाम वा मृध इति ततो णिच्। अमृधयन्तौ अन्तरा संग्राममकुर्वन्तौ केनचिदित्यर्थः। **सोमपेयाय** सोमपानार्थं **देवा** देवौ।

अग्नी॑षोमावि॒मं सु मे॑ शृणु॒तं वृ॑षणा॒ हव॑म्।

प्रति॑ सू॒क्तानि॑ हर्यतं॒ भव॑तं दा॒शुषे॒ मयः॑।। (ऋ० १.९३.१)

गौतमस्य। हे **अग्नीषोमौ इमं सु मे** सुष्ठु मे मम शृणुतम्। **वृषणौ** हे वर्षितारौ। **हवमाह्वानम्।** **प्रति**र्धात्वर्थानुवादी। **सूक्तानि** च स्तुतिरूपाणि **हर्यतं** हर्यतिः प्रेप्साकर्मा प्रेप्सतं कामयेथाः। किञ्च **भवतं दाशुषे** हवींषि दत्तवते यजमानाय **मयः** सुखौ।

त्वं नो॑ अग्ने॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान् दे॒वस्य॒ हेळोऽव॑ यासिसीष्ठाः।

यजि॑ष्ठो॒ वह्नि॑तमः॒ शोशु॑चानो॒ विश्वा॒ द्वेषां॑सि॒ प्र मु॑मुग्ध्य॒स्मत्।। (ऋ० ४.१.४)

वामदेवस्य। **त्वं** नोऽस्माकम्। हे **अग्ने विद्वान्** जानन्। किम्। सामर्थ्यात् भक्तताम्। **वरुणस्य** व्यवहितसम्बन्धः। **देवस्य** देवनशीलस्य **हेळः** क्रोधनामैतत्। योऽस्माकमुपरि क्रोधः। **अव यासिसीष्ठाः** अवशब्दोऽपेत्येतस्यार्थे यातेर्लिङि अन्तर्नीतण्यर्थस्य, प्रत्यक्षेण मोचयापनय। **अस्मत्** पञ्चम्येषा अस्मत्त इत्यर्थः। किञ्च यश्च त्वं **यजिष्ठो** होतृत्वादतिशेयन यष्टा। **वह्नितमः** वोढृतमश्च सः। **शोशुचानः** शुचेर्यङीदम्। अत्यर्थं दीप्यमानः। **विश्वा** विश्वानि सर्वाणि **द्वेषांसि** द्वेष्याणि द्वेष्टॄणि वा रक्षआदीनि **प्रमुमुग्धि** मुचेरन्तर्णीतण्यर्थस्य प्रत्यक्षेण मोचयापनय। **अस्मत्** पञ्चम्येषा अस्मत्त इत्यर्थः।

अग्नी॑पर्जन्या॒वव॑तं॒ धियं॑ मे॒ऽस्मिन् ह॑वे सुहवा सुष्टु॒तिं नः॑।

इळा॑म॒न्यो ज॒नय॒द् गर्भ॑म॒न्यः प्र॒जाव॑ती॒रिष॒ आ ध॑त्तम॒स्मे।। (ऋ० ६.५२.१६)

भरद्वाजस्य। हे **अग्नीपर्जन्यौ। अवतं** गच्छतम्। **धियं** कर्मनामैतत् कर्म **मे** मम श्रुतम्। **अस्मिन् हवे** आह्वाने **सुहवा** स्वाह्वानौ। **सुष्टुतिं** शोभनां च स्तुतिं चास्माकं स्वभूतां गत्वाच्चेळामन्नम्। **अन्यो** युवयोरेकः। **जनयत्** जनयत **गर्भमन्यः**। एवं **प्रजावतीरिषः**। प्रजासन्निहितान्यन्नानि। **आधत्तमस्मे** आभिमुख्येन स्थापयतमस्मासु। चतुर्थ्यर्थे वा श आदेशः। आभिमुख्येन दत्तमस्मभ्यमित्यर्थः।

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह सा॒दया॒ योनि॑षु त्रि॒षु।

परि॑ भूष॒ पिब॑ ऋ॒तुना॑।। (ऋ० १.१५.४)

अग्ने देवान् इहास्मदीये यज्ञे। **आवह** आह्वय। आहूय च **सादय** उपवेशय। **योनिषु** सवनाख्येषु। उपविष्टांश्च सतः **परिभूष** यो यथा परिग्रहितव्यस्तं तथा परिगृहाण यागाय स्वयमपि च **पिब** सोमं **ऋतुना** सह।

(आग्नावैष्णवं च हविर्न त्वृक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते।)

आग्नावैष्णवं चेत्यादि। मन्त्रस्वभावकथनमात्रमेव। विष्णुना सह भाक्ता हविष्कृतैवाग्नेः केवलम्। **न त्वृक्** संस्तवप्रयोजना शास्त्रानुवचनगता दशतयीषु दश मण्डलाख्या अवयवो यासां ता दाशतय्यः ऋग्वेदस्य शाखास्तासु विद्यन्ते। तु शब्दोऽवधारणे तास्वेव। अन्यत्र वेदे स्यादपि। अभियुक्तोपदेशाच्च श्रद्धायामेवमेवेति। उदाहरणम्-

अग्ना॑विष्णू स॒जोष॑स॒मा व॑र्धन्तु वां॒ गिरः॑।

द्यु॒म्नैर्वाजे॑भि॒रा ग॑तम्।। (मै०सं०४.१०.१; ११.२; तै०सं०४.७.१)

वामदेवस्य। हे **अग्नाविष्णू सजोषसा** सम्प्रीयमाणौ। **इमा वर्धन्तु** वर्धयन्तु **वां गिरः** स्तुतयोऽस्मदीयाः। युवामपि च **द्युम्नै**र्धनैः। **वाजेभि**र्वाजैश्चान्नैः सहयोगलक्षणे तृतीया (अष्टा०२.३.१९)। यान्यस्मभ्यं देयानि तैः सहागतमागच्छतम्।

(अथाप्याग्नापौष्णं हविर्न तु संस्तवः)

अथापीत्यादि। अग्नेः पूष्णा सह हविरेव केवलं न तु संस्तवः। अन्यस्मिन्नपि वेदे। कुत एतत्। पूर्ववत् प्रतिषेधविषयस्यानवधारणात्। अतश्च संस्तवः। येन

(तत्रैतां विभक्तस्तुतिमृचमुदाहरन्ति)

तत्र तस्मिन्नपि पूष्णा सह हविस्सापर्ये प्रदर्शनायोदाहरन्तो **विभक्तस्तुतिमेतां** वक्ष्यमाणामृचमुदाहरन्त्यभियुक्ताः।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य अष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ (ऋ०१०.१७.३) पूषा त्वा इतः प्र च्यावयतु विद्वान् अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः इति। एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्यः। स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्य इति संशयिकस्तृतीयपादः। पूषा पुरस्तात्। तस्यान्वादेशः इत्येकम्। अग्निरुपरिष्टात्। तस्य प्रकीर्तना इत्यपरम्। अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेर्वैकोपसर्गात्। ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्॥९॥

भाष्यटीका

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ (ऋ०१०.१७.३)

देवश्रवसो यामायनस्य। शुनः कर्णस्तोमे प्रमीयमानोऽनयाऽभिमन्त्रयते। प्रमितस्य शोचीः। **'देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् लोकाननृणाः सञ्चरेम'** (मान०श्रौ०२.५.५.२२) इति। **पूषा त्वा** त्वामितोऽस्माल्लोकात्। **च्यावयतु 'छन्दसि परेऽपि'** (अष्टा०१.४.८०) प्रच्यावयतु। **विद्वान्** जानन् सर्वत्रायमन्तर्हितज्ञानमित्यर्थः। **अनष्टपशुः**। कुतः ? यतो **भुवनस्य** भूतजातस्य **गोपाः** गोप्ता। प्रच्याव्य च **स** एव **त्वा** त्वाम्। **एतेभ्य**श्चन्द्रमण्डलोपान्तवर्तिभ्यः **परि ददत्** परिददातु **पितृभ्यः**। तथा चोक्तम् **'दक्षिणायनात् पितृलोकम्'** (निरु०१४.८) इति। एवमत्र त्रयः पादाः पौष्णाः पर आग्नेयः। **अग्नि**रपि पितृलोकादुत्कृत्य **देवेभ्यः**। चतुर्थीश्रुतेः ददात्वित्यनुषङ्गः। चन्द्रादित्यर्थः। तदप्युक्तम् **'पितृलोकाच्चन्द्रमसम्'** (निरु०१४.८) इत्यादि। किं विशिष्टेभ्यो देवेभ्यः। **सुविदत्रियेभ्यः** सुविदतृशब्दाद् धनवचनान्मत्वर्थीयो घः शोभनेन शोभनविचित्रेण वा धनेन धनवद्भ्यः।

अथवा स त्वैतेभ्य इत्यनेन तच्छब्देन उपरिष्टान्निर्देक्ष्यमाणोऽग्निरेवोच्यते। पूष्णा प्रच्यावितं त्वामग्निः स त्वामेतेभ्यः परिददातु पितृभ्यः। अग्निर्देवेभ्यश्च सुधनेभ्यः सुविचित्रधनेभ्यो वेति। अस्मिन् व्याख्याने पूर्वार्धं पौष्णम्। उत्तरार्धमाग्नेयमिति विभक्तस्तुतित्वम्। व्याख्यातृणां संशयमापन्नस्तृतीयः पादः। पौष्णस्तदन्वादेशादित्येकं दर्शनम्। अग्नेः प्रकीर्तनमित्यपरम्। विन्दतेर्वा सु इत्येकोपसर्गपूर्वात्। ददातेर्वा सुवीति द्व्युपसर्गयुक्तात्। शेषं भाष्यमृग्व्याख्याने गतम्।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

अथैतानीन्द्रभक्तीनि। अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप् पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम ये च देवगणाः समाम्नाताः मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रियः (निघ०५.४–५)। अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलाकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। अथास्य संस्तविकाः देवाः। अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः। अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते। पूष्णा रुद्रेण च सोमः। अग्निना च पूषा। वातेन च पर्जन्यः॥१०॥

भाष्यटीका

(अथैतानीन्द्रभक्तीनि। अन्तरिक्षलोको माध्यंदिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप् पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने। याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म। रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्)

अथैतानीत्यादि पूर्वेण कृतव्याख्यानम्। **ये च देवगणाः**। देवा वरुणादयो देवगणाः पुनर्मरुदादयश्च। **याश्च स्त्रियो**ऽदित्यादयः। **रसानुप्रदानं** वृष्टिः। **वृत्रवधो** मेघवधः। **या च का च बलकृतिः** यावत् किञ्चिद् बलेन क्रियते कीटपतङ्गादिभिरपि कर्म इन्द्रकर्मैव तत्। कुतः ? बलं हि प्राणः प्राणश्च वायुर्वायुश्चेन्द्रः।

(अथास्य संस्तविका देवाः। अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः।)

अथास्येत्याद्यपि कृतव्याख्यानम्। उदाहरणानि क्रमशः प्रदर्श्यन्ते।

इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः।

तद्वां चेति प्र वीर्यम् ॥ (ऋ०३.१२.९)

विश्वामित्रस्यार्षम्। **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** सम्बन्धीति। पर्युपसर्गो भूषथ इत्यनेन सम्बध्यते। **वाजेषु** बलनामैतत्। तृतीयार्थे चात्र सप्तमी। बलैः **परिभूषथः** परिगृहीतविष्कम्भेण तेजसा चानुगृह्णीथ इत्यर्थः। ग्रहनक्षत्रादीनि। **तच्च वां** युवयोः स्वभूतं **चेति** चेत्यते छन्दसि वर्तमाने कर्मणि लुङ्यडभावः। प्रापेति प्रकर्षेण चेत्यते जिज्ञासितवीर्यं सामर्थ्यं सर्वेण लोकेन।

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१ घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ (ऋ०७.१०४.२)

इति।

इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्।

दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः॥ (ऋ०७.८२.१)

इति च पुरस्ताद् व्याख्यातम्। (निरु०५.२; ६.११)

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।

हुवेम वाजसातये॥ (ऋ०६.५७.१)

भरद्वाजस्य। नु इति क्षिप्रनाम। इन्द्रशब्देन पूषाशब्देन चेन्द्रः। कुतः ? द्विवचनस्थानादिकारश्रुतेश्छान्दसत्वाद् विरूपैकशेषो द्रष्टव्यः। इन्द्रापूषणौ नु क्षिप्रं युवां **वयं सख्याय** स्तुत्यस्तोतृत्वलक्षणाय **स्वस्तये** अविनाशाय **हुवेम** नित्यमाह्वयेमेत्याशास्महे। **वाजसातये** वाजमन्नं सातिः संभजनम्। अन्नसंभजनाय चात्मनः युवयोर्वा।

इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती।

उक्थं मदश्च शस्यते॥ (ऋ०४.४९.१)

वामदेवस्य। **इदं वा** युवयोः। **आस्ये** अग्न्याख्ये मुखे प्रक्षिप्तं सत् **हविः प्रियमस्त्विति** शेषः। हे **इन्द्राबृहस्पती उक्थं** मदकरत्वान्मदः होत्रादिभिर्यच्छस्यते तदुक्थम्। त्वदर्थं तदपि प्रियमस्त्वित्यनुषङ्गः।

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम्।

अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्॥ (ऋ०२.२४.१२)

गृत्समदस्य। **विश्वं** बहु **सत्यं मघवाना** मघवन्तौ। **युवोः** युवयोः। **इदिति** पदपूरणः। अथवा सत्यमेतत् सर्वं जगद् युवयोः स्वभूतम्। **आपश्चनेति** निपातोऽन्यत्राप्यर्थे। इह तु प्रतिषेधे। द्वेधा पदे पदकारेण नाश्रितेऽप्याश्रयितव्ये। आपश्चन **प्र मिनन्ति व्रतं** मेघहननादिकस्य। **वां** युवयोः फलाभावो हिंसाकर्मणः। अत एतदुक्तं भवति। हतमात्र एव मेघे आपश्चन प्रमिनन्ति न हिंसन्ति। अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दाध्याहारः। यावीदृशौ स्थस्तौ। **अच्छ अभेरर्थे** जिगातमित्येतेन सम्बध्यते। हे **इन्द्राबृहस्पती हविर्नो**ऽस्माकं स्वभूतमन्नं योग्याशनादि **युजेव** यथा युजौ सहयोगिनौ **वाजिना** वाजिनावश्वौ। एवमभिजिगातमभिगच्छतम्।

इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।

वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता॥ (ऋ०३.५३.१)

विश्वामित्रस्य। **इन्द्रापर्वता** हे इन्द्रापर्वतौ **बृहता** महता रथेन। **वामीः** वननीयाः प्रशस्याः। **इषो**ऽन्नानि। **आवहतमस्मान्** प्रत्यानयतम्। किं-विशिष्टाः। उच्यते। **सुवीराः** शोभनैर्वीरैः पुत्रैः पोत्रैश्च सहिताः किञ्च **वीतं** भक्षयतम्। **हव्यानि** हवींषि पुरोडाशादीनि। **अध्वरेषु** यज्ञेषु। **देवा** हे देवौ। **वर्धेथां** च **गीर्भिः** स्तुतिभिः। **इळया**ऽन्नेन च हविराख्येन **मदन्ता** माद्यन्तौ तृप्यन्तावित्यर्थः।

इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि कर्णे वहन्तु।

निः षीमुद्भ्यो धमथो निः षधस्थान् मघोनो हृदो वरथस्तमांसि॥ (ऋ०५.३१.९)

अवस्योः। हे इन्द्राकुत्सौ **वहमाना** वहमानौ प्रापयन्तौ **रथेनात्मानम्। आ** इत्युपसर्गो वहन्त्वित्यतेन सम्बध्यते। **वामत्या** अश्वा **अपि** कर्णे अपठितमपि कर्मनामैतत्। करणमित्यस्य वा कर्मनाम्नश्छान्दसोऽकारलोपः कर्मण्यस्मदीये **आवहन्तु**। किञ्च **निः सीमद्भ्यो निर्धमथः**। निरुपसर्गाभ्यासादत्राख्यातस्याप्यभ्यासो द्रष्टव्यः। अभ्यासाच्चार्थभूयस्त्वम्। सीमिति परिग्रहार्थीयः सर्वपर्यायः। अद्भ्य इति द्वितीयार्थे चतुर्थी पञ्चमी वा अपः। एतदुक्तं भवति। सुष्ठु सर्वान् निर्धमथो निर्गमयथः। अपो वृष्टिलक्षणाः। कुतः? **सधस्थात्** सहस्थानान्मेघात्। एतच्च कुर्वन्तौ **मघोनो** हविराद्येन धनेन धनवन्तौ यजमानस्य **हृदो** हृदयात्। **वरथो** वरयथोऽपनयथः। **तमांसि** तमोरूपाणि असत्यां वृष्टौ कथं जीविष्यामः कथं पुत्राः कथं पौत्रा इत्येवमादीनि मानवानि दुःखानि।

अथवा **मघोन** इत्याद्यन्यथा योज्यते। उदकलक्षणेन धनेन धनवतो मेघस्य। **हृदः** हृच्छब्देन सामीप्यादुदकं लक्ष्यते। उदकाद् **वरथो**ऽपनयथस्त**मांसि** तमोरूपाणि तमस्स्थानि यान्यावरणानि।

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।

शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥ (ऋ०७.९९.५)

वसिष्ठस्य। हे **इन्द्राविष्णू दृंहिता** दृढीकृताः **शम्बरस्य** स्वभूताः। **नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टं** श्नथतिर्वधकर्मा हतवन्तौ स्थः। तांश्च श्नथन्तौ तत्रस्थान् **शतं वर्चिनो** दीप्तिमतोऽन्नवतो वा। **सहस्रं च साकं** सह **हथो** हतवन्तौ स्थः। **अप्रति** प्रतीत्युपसर्गः। उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः। तेनात्र प्रतिशब्दः ससाधनक्रियावचनत्वात् प्रत्यवतिष्ठमानशब्दस्यार्थे। अप्रत्यवतिष्ठमानान्। **असुरस्य** शम्बरस्य **वीरान्** पुत्रान् पौत्रांश्च।

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्।

इन्दवो वामुशन्ति हि॥ (ऋ०१.२.४)

इति षष्ठे व्याख्याता। (निरु०१.५)

ननु नैरुक्तपक्षे इन्द्रस्य वायुना संस्तवानुपपत्तिरभिधेयस्याभेदात्। उच्यते। द्वावात्मानौ। अन्तरात्मा शरीरात्मा (महा०भा०१.३.२ पृ०२९२) चेति। अनेन प्रकारेणाधिष्ठात्रधिष्ठेयभेदादविरोधः।

प्रकृत्यव्यतिरेकेणापि प्रसङ्गादाह।

(अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते) (इदं मूलवाक्यं नस्ति)

अथापि मित्रो वरुणेन सह स्तूयते। उदाहरणम्-

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।

मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ (ऋ०३.६२.१६)

जमदग्नेः विश्वामित्रस्य वा। **आ** इत्युपसर्ग उक्षतमित्यनेन सम्बध्यते। **नो**ऽस्माकं स्वभूतम्। **मित्रावरुणा** हे मित्रावरुणौ। **घृतैरुदकैः। गव्यूतिं** गावो येन मार्गेण चरन्ति **तमुक्षतम्**। आसिञ्चतमित्यर्थः। न च केवलं गव्यूतिमेव। किं तर्हि। **मध्वा** उदकेन वृष्टिलक्षणेन। **रजांसि** सर्वानिव लोकान्। हे **सुक्रतू** सुकर्माणौ।

पूष्णा रुद्रेण च सोमः।

उदाहरणम्-

सोमा॑पूषणा॒ जन॑ना रयी॒णां जन॑ना दि॒वो जन॑ना पृथि॒व्याः।

जा॒तौ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पौ दे॒वा अ॑कृण्वन्न॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्॥ (ऋ०२.४०.१)

हे सोमापूषणौ **जनना** जननौ जनयितारावित्यर्थः। कस्य। **रयीणां** धनानाम्। कस्य? सामर्थ्यात् स्तोतुर्यष्टुश्च यजमानस्य च दातारावित्यर्थः। वृष्टिद्वारेण **जनना** जनयितारौ **दिवो** द्युलोकस्य। **'इतः प्रदानस्य उपजीवन्ति'** (मूलमनुपलब्धम्) इति श्रुतेः। एवमेव **जनना** जनयितारौ **पृथिव्याः** पृथिवीलोकस्य। **जातौ** जातमात्रावेव च सन्तौ युवां **विश्वस्य** सर्वस्य **भुवनस्य** भूतजातस्य **गोपौ** गोप्तारौ। **देवा अकृण्वन्** कृतवन्तः। **अमृतस्योदकस्य नाभिमाश्रयम्।**

सोमा॑रुद्रा यु॒वमे॒तान्य॒स्मे विश्वा॑ त॒नूषु॑ भेष॒जानि॑ धत्तम्।

अव॑ स्यतं मुञ्च॒तं॒ यन्नो॒ अस्ति॑ त॒नूषु॑ ब॒द्धं कृ॒तमेनो॑ अ॒स्मत्॥ (ऋ०६.७४.३)

हे सोमारुद्रौ **युवं** युवाम्। **एतान्यस्मे** अस्माकम्। **विश्वा** विश्वानि सर्वाणि। **तनूषु** शरीरेषु रोगोपशमकराणि **भेषजानि** औषधानि **धत्तम्**। अरोगशरीरानस्मान् कुरुतमित्यर्थः। किञ्च **अवस्यतं** स्यतिरुपसृष्टो विमोचने विमुञ्चतमपनयतं वास्मत्त इत्यर्थः। अपनीय चान्यत्र नीत्वा **मुञ्चतम्। यत् नो**ऽस्माक**मस्ति तनूषु बद्धं** निबद्धम्। अस्यैव विवरणं **कृतम्**। किं तत्। एनः पापमस्माभिरिति शेषः। **अस्मत्** पञ्चम्यन्तं पुरस्तात् कृतसम्बन्धम्।

अग्निना च पूषा

इत्यपपाठः। **'न तु संस्तवः'** (निरु०७.८) इति प्रतिषेधविरोधात्।

वायुना च पूषा।

इत्यस्ति पाठः। उदाहरणम्-

प्र तव्य॑सो॒ नम॑उक्तिं तु॒रस्या॒हं पू॒ष्ण उ॒त वा॒योर॑दिक्षि।

या राध॑सा चोदि॒तारा॑ मती॒नां या वाज॑स्य द्रविणो॒दा उ॒त त्मन्॥ (ऋ०५.४३.९)

आङ्गिरसोऽत्रिरपश्यत्। प्रेत्ययमदिक्षीत्यनेन सम्बध्यते। **तव्यस** इति तवतेर्वृद्ध्यर्थस्य तृचि **'तुश्छन्दसि'** (अष्टा०५.३.५९) इतीयसुनि **'तुरिष्ठेमेयस्सु'** (अष्टा०६.४.१५४) इति लोपः। छान्दसत्वादीयसुन् आदिलोपेन रूपम्। तवीयसोऽतिशयेन वर्धितुः। तवशब्दस्य बलनाम्नो मत्वन्तस्यापकर्षणेन बलवत इत्यर्थः। **नमउक्तिं** स्तुत्युक्तिम्। **तुरस्य** त्वरणस्य। तुपूर्वस्य रिषतेर्वा हिंसार्थस्य हिंसितुस्तमसाम्। **अहं पूष्णः उत वायोः प्रादिक्षि** **'दिश अतिसर्जने'** (धा०६.३) प्रकर्षेण दिशाम्यतिसृजाम्युच्चारयामीत्यर्थः। **या यौ राधसा** धनेन **(चोदितारा)** चोदितारौ **मतीनां** स्तुतीनाम्। धनं ददतौ तरतिक्रियायां स्तोत्रं चोदयत इत्यर्थः। **या यौ वाजस्या**न्नस्य साकाङ्क्षात्वाद् दाताराविति शेषः। **द्रविणोदा** द्रविणसो **धनस्य दातारौ। उतशब्द** एवार्थे। त्मन् **'मन्त्रेष्वाङि'** (अष्टा०६.४.१४१) इत्यादिलोपः। तृतीयायाश्च लुक्। आत्मना आत्मनैवेत्यर्थः।

वातेन च पर्जन्यः।

उदाहरणम्-

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः।

आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम्॥ (ऋ०१०.६६.१०)

वसुकर्णस्य। उदकदानप्रकाशकरणादिना केनापि स्वेनोपकारेण **धर्तारो** धारयितारो **दिवः**। **ऋभवो** देवविशेषाः। **सुहस्ताः** शोभनहस्ताः। **वातापर्जन्या** वातापर्जन्यौ च। **महिषस्य** महतः। **तन्यतोः** स्तनयित्नुलक्षणस्य शब्दस्य। नित्यं धनं धर्तारावित्यनुषङ्गः। **आप ओषधीः** प्रथमार्थे द्वितीया। ओषधयश्चाभिलषितफलप्रदानेन **प्र तिरन्तु** तरतिर्वृद्ध्यर्थः प्रवर्धयन्तु। **नो**ऽस्माकम्। **गिरः** स्तुतीः। **भग**श्च **रातिः** दातिः। **वाजिन**श्च देवाः। **यन्तु** गच्छन्तु **मे** मम **हव**माह्वानम्।

(इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।)

अथैकादशः खण्डः।

अथैतान्यादित्यभक्तीनि। असौ लोकः तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः (निघ०५.६)। अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तत्। चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः। एतेष्वेवस्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयन्ति। शरदनुष्टुबेकविंशस्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि। हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि। शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि॥११॥

भाष्यटीका

(अथैतान्यादित्यभक्तीनि। असौ लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमा वैरूपं साम ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः।)

अथैतानीत्यादि। सूर्यभक्तीति वक्तव्ये आदित्यभक्तीति वचनं स्वे पक्षे सूर्यपर्यायतामादित्यस्य दर्शयितुम्। शेषं पूर्ववद् योज्यम्। **देवगणा** आदित्यादयः। **याश्च स्त्रियः**-उषाः सूर्या वृषाकपायीत्यादयः।

(अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तत्।)

कर्म तस्योदकस्यादानं ग्रहणम्। **रश्मिभिश्च रसधारणम्**। अस्थाने यः पतितः। गृहीतरसधारणं च मण्डले। **प्रवह्लितं** चान्तर्धानकर्म। रात्रिग्रहनक्षत्रादिप्रच्छादनम्। तच्चासौ प्रकाशेनान्तर्धत्त इति। प्रवह्लितं प्रकाशनमादित्यकर्मेत्यर्थः। अविद्यापनयेनात्मादिप्रकाशनम्।

(चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः।)

चन्द्रमसेत्यादिसंस्तवः। अल्पत्वादथास्येत्यादिना प्रपञ्चो न कृतः। उदाहरणम्-

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।

विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ (ऋ०१०.८५.१८)

सूर्यायाः। एकः पूर्वोऽपर इत्येवं **चरतो** गच्छतः। मायया स्वया प्रज्ञया। **एतौ** सूर्याचन्द्रमसौ **शिशू** एव तौ **क्रीळन्तौ परि यातः** परिगच्छतश्च। **अध्वरं** यज्ञम्। **विश्वानि** सर्वाणि। **अन्य** एको **भुवनानि** भूतजातानि। **अभिचष्टे** अभिदर्शयति प्रकाशकरणेन सूर्यः। **ऋतूनन्यश्चन्द्रमा** आत्मनो वृद्धिक्षयाभ्यां **विदधत्** कुर्वन् **जायते। पुनः** भूयो भूयो मासि मासीत्यभिप्रायः।

वायुना संस्तुतिं वक्ष्यति-

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ (यजु० ३४.५५)

इत्यत्र। तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्याविति।

संवत्सरेण संस्तुतिरुक्ता-

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः॥ (ऋ०१.१६४.२; निरु०४.२७)

इत्यत्र। संवत्सरे प्रधान उत्तरोऽर्धर्च इति।

इदानीमनिर्दिष्टभक्तीनां शरदादीनां भक्तिप्रदर्शनायाह-

(एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत)

एतेष्वेवोक्तेषु 'अयं लोक' आदिस्थानसम्बन्धेन व्यूहेषु प्रातस्सवनवसन्तादि रचनाविशेषेषु ऋतुशब्द द्वन्द्वैकवद्भावः। **भक्तिशेषं** यदत्रानुक्तभक्ति तदानुपूर्व्येण कल्पयेत्।

(शरदनुष्टुबेकविंशः स्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि। हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवः स्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि। शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्रयस्त्रिंशः स्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि)

शरदनुष्टुबित्यादि। पृथिव्यायतनानि आयतनं स्थानम्। स्थानसम्बन्धेन च लक्षणयाग्न्यादिस्थानभक्तित्वमुच्यते। तथा च **द्युभक्तीनीत्याह** भक्त्यन्वाख्यानं वार्षिकेष्वहस्सु **'अह्नश्चतुर्थेनाह्नाप्नुवन्ति अनुष्टुभं छन्द एकविंशति स्तोमं वैराजं साम उदीचीं दिशं शरदमृतूनाम्'** (कौ०ब्रा०२२.९) इत्यादीनां ब्राह्मणवचनानामुपपन्नरूपत्वाच्च। असंविज्ञानपदेषु च मन्त्रेषु उक्तान्यतमसाहचर्येण देवतासंविज्ञानायेत्युक्तं पुरस्तात्।

इदानीं देवतातद्भक्तिसाहचर्यव्याख्यानप्रसङ्गेन मन्त्रादिशब्दानां निर्वचननानि दर्शयति। कथं नामान्यत्र मन्त्राणां मन्त्रत्वम् **'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि'** (ऋग्०१०.९०.६) इत्यादावुक्तनिर्वचना एते स्युरिति।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

मन्त्रा मननाच्छदांसि छादनात्। स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम सम्मितमृचा। स्यतेर्वा। ऋचां समं मेने इति नैदानाः। गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः। गायत्री त्रिगमना विपरीता। गायतो मुखादपतद् इति च ब्राह्मणम्। उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणो वेत्यौपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः। ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वा। उब्जतेर्वा। अनुष्टुबनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति इति च ब्राह्मणम्। बृहती परिबर्हणात्। पङ्क्तिः पञ्चपदा। त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा, का त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद् वज्रः। तस्य स्तोभनीति वा। यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते॥ १२॥

भाष्यटीका

मन्त्रा मननात्।

मन्त्राः कस्मात्? मननात्। मन्तव्या हि ते, मन्यन्ते तैरधिदैवादिविषया इति मन्त्राः।

छन्दांसि च्छादनात्।

छदिर्व्याप्त्यर्थः। न ह्यव्याप्तछन्दसा मिताक्षरः कश्चिन्मन्त्रोऽस्ति। आवरणार्थस्यैव वा ब्राह्मणोक्तनिर्वचनम् **'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'** (तु०श०ब्रा०८.५.२.१; छा०उप०१.४.२) इति विज्ञायते।

यजुर्यजतेः।

प्रायेण हि याजुष्या होममन्त्राः। ऋगुक्तनिर्वचनाच्चेति।

साम सम्मितमृचा।

यावदृक् तावदेव साम। समः सकारः। ऋचेति तृतीयान्तादाकारः। मिमीतेर्मकारः। **अस्यतेर्वा** (धा०४.१०३) क्षेपणार्थस्य क्षिप्तं हि तदृगक्षरेषु। **'ऋच्यध्यूढं साम गायति'** (छा०उप०१.६.७) इति श्रुतेः। **स्यतेर्वा**ऽवसानार्थस्य। ऋच्येव हि तदवसितं तिष्ठितं भवति। उभयत्र मो नामकरणः।

आद्यमेव निर्वचनमागमेन द्रढयन्नाह।

(ऋचा समं मेन इति नैदानाः)

ऋचा समं मेने ज्ञातवान् प्रजापतिः सोमैवमात्मानं तत्साम्नः सामत्वमिति। एवमादीनां नामग्रन्थः तद्विदो मन्यन्त इति शेषः।

(गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणस्त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्)

गायत्री गायतेः स्तुत्यर्थस्य। स्तूयते हि तया देवता। **त्रिगमना वा** त्रिभिः पादैर्गमनं वर्तनं सा त्रिगायेति विपरीताक्षरा गायत्री। ब्राह्मणोक्तं वा निर्वचनम्। गायतः प्रजापतेर्वा मुखादुत्पत्तिस्तस्मात्त्रिःसृता।

(उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः)

उष्णिगुत्स्नाता **'ष्णै वेष्टने'** (धा०१.९४८) गायत्रीतश्चतुर्भिरक्षरैः पूर्वं वेष्टितेव। आह च **'उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च'** (पिङ्ग०४.१८) इति। चतुरुत्तराणि चोत्तरच्छन्दांसि। **स्निह्यतेर्वा स्यात्**। कान्तमेतद्देवानां च्छन्दः। **अथवा** चत्वार्यक्षराण्यतिरिच्यमानान्यस्या उष्णीषस्थानीयानि। अत उपमाप्रयुक्तमेतदभिधानम्। उष्णीषिणी वोष्णिगिति। प्रसङ्गादाह **उष्णीषं** शिरोवेष्टनं **स्नायतेः** शौचार्थस्य वेष्टनार्थस्य वा। उभयार्थस्यापि तत्र सम्भवात्।

ककुप् (ककुदिनी भवति। ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वा। उब्जतेर्वा)

एतदप्यौपमिकम्। मध्यमस्य जागतत्वात्। चतुरक्षरं ककुदस्थानीयमस्याम्। तेन तद्वती ककुदिनी भवति। तद्दकारस्य पकारापत्त्या परलोपेन च ककुप्। ककुद् खुरविषाणार्थस्य रूपम्। **'ककुदस्यावस्थायां लोपः'** (अष्टा०५.४.१४६)। **'मुमोद॒ गर्भो॑ वृष॒भः क॒कुद्मा॑न्'** (ऋ०१०.८.२) इति लोके वेदे च गौरवविशेषविषयत्वेन ककुदशब्दस्य प्रसिद्धेः। ककुभिनीत्यपाठः। ककुभशब्दस्यार्थान्तरे क्वचिद् ग्रन्थे स्मरणात्। **'काकुभं दन्तधावनम्'** (अनुपलब्धमूलमिदं वचनम्) इति। मुमोद गर्भ इत्यादौ निरुक्तस्यातिप्रसङ्गादाह। **ककुप् च कुब्जश्च कुजतेः** कौटिल्यार्थस्य। **उब्जतेर्वा** न्यग्भावार्थस्य। ईषद्भग्नभावात्। उभयथार्थोपपत्तेः।

अनुष्टुबनुष्टोभनात्। (गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्)

स्तोभतिर्वृद्ध्यर्थः। पादवृद्धेः। तथा च ब्राह्मणम्। **गायत्रीमेवेत्यादि। अनुष्टोभति** अनुसंवर्धयति।

बृहती परिबर्हणात्।

बृहिर्वृद्ध्यर्थः। सर्वपादेष्वेकाक्षरवर्धनादित्यर्थः।

पङ्क्तिः पञ्चपदा।

अस्या इत्यर्थः।

त्रिष्टुप् (स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्। तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद् वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा। यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम्। इति विज्ञायते)

। प्रविभज्य दर्शयति। स्तोभतिः स्तुतिकर्मा उत्तरपदमस्या बहुव्रीहिः। पूर्वपदस्य त्रिशब्दस्य किं प्रवृत्तिनिमित्तमिति पृच्छति। का पुनस्त्रितेति। **तीर्णतमं** पूर्वेभ्यो महत्त्वात् तीर्णतमम्। तरतेस्तृणातेर्वा पूर्वपदम्। उभयथार्थोपपत्तेः। तरणात् स्तोभनाच्चेति द्विधातुजत्वम्। त्रिवृत् शब्दाद्वा पूर्वपदमित्याह। **त्रिवृद् वज्र** इति। उभयतस्त्रिकोटित्वात् त्रिवृत्त्वम्। तस्य स्तोभनी स्तोभति स्तौति। तथा च ब्राह्मणं दर्शयति। **अस्तोभदित्यादि।** यस्मात् त्रिस्कृत्य तया वज्रमस्तोषत।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः॥

अथ त्रयोदशः खण्डः।

जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा। जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्। विराड् विराजनाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा। विराधनाद्वा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणाद्वा। विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपीलिका मध्येत्यौपमिकम्। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः। इतीमा देवता अनुक्रान्ताः। सूक्तभाजो हविर्भाजः। ऋग्भाजाश्च भूयिष्ठाः। काश्चिन्निपातभाजः। अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति। **इन्द्राय वृत्रघ्ने॥** (ऋ०९.९८.१०) **इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायाँहोमुचे** (मै०सं०३.१५.११) इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने। अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवता स्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति। यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि। स्नातायानुलेपनम्। पिपासते पानीयम् इति॥ १३॥

जगती (गततमं छन्दो जलचरगतिर्वा। जल्गल्यमानोऽसृजत्। इति च ब्राह्मणम्)

पूर्वेभ्यो महत्त्वादतिशयेन गतम्। अनवस्थितत्वाद्वा जलतरङ्गचला गतिः प्रस्तारो यस्याः। बहुप्रकारप्रस्तारेत्यभिप्रायः। जल्गल्यमानः। आविशलोदा धर्म्यादिषु पठ्यते। अत्यर्थं ग्लायन् प्रजापतिर्निर्विण्णः सन् सृष्टवानिति ब्राह्मणमाह।

(विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम्। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः)

विराडित्यादि निगदव्याख्यातम्। अन्ते च विराजो निर्वचनं श्रेष्ठ्यात्। अन्तं वै श्रेष्ठी भवत इति श्रैष्ठ्यां च ब्राह्मणवेदाभ्यः श्रीर्वै विराज्यं नाद्यं चेति। **पिपीलिकामध्येत्युपमाप्रयुक्तं** नाम। अल्पाक्षरमध्यमपादत्वात्। **पिपीलिकामध्यमिव** मध्यं यस्या इत्युत्तरपदलोपी समासः। प्रदर्शनं चेदं **यवमध्यादीनां** छन्दोनाम्नां निर्वचनस्य। **पिपीलिका** न ह्यसौ क्षणमप्युदास्ते।

(इतीमा देवता अनुक्रान्ताः। सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः)

इतीमा इत्यादि। एवमनेन प्रकारेण **इमा** अग्न्याद्या **देवता** देवपत्न्यन्ताः सामान्येन लक्षणेनानुक्रान्ताः। ताः पुनः काश्चित् सूक्तं भजन्ते काश्चित् हविः। काश्चिदुभयम्। काश्चिदृचम्। यथा सूर्यः। सर्वातिशयेन बह्वयः। अन्ये भूयिष्ठवचनमसमाम्नातपरमेष्ठिग्रहनक्षत्रसर्पलाङ्गलप्रभृत्युपसंग्रहं मन्यन्ते। चशब्दादर्धर्चभाजः पादभाजश्च। तथा तस्याह एकान्तराया अर्धर्चोऽन्त्यो द्विदेवत्यः। ह्वयामीत्याग्नेयः पाद इत्यादि शौनकाचार्यदर्शनम्। अयमपि च वक्ष्यति **'आदित्यदैवतो द्वितीयः पादः'** (निरु०११.६) इति।

(काश्चिन्निपातभाजः)

काश्चिदेवाल्पा इत्यर्थः। **निपातभाजः** समाम्नाताः। निपातशब्दश्च शुद्धोऽपि संपूर्वार्थे द्रष्टव्यः। साधारणस्तुतित्वात्। अत एतदुक्तं भवति। देवतान्तरेण सह स्तुतिसन्निपातभाजः। तथा च वक्ष्यति। **'विधाता धात्रा'** व्याख्यातः। तस्यैष **निपातो भवति बहुदेवतायामृचि** (निरु०११.११)। **'सोमस्य राज्ञः'**

(ऋ०१०.१६७.३; निरु०११.१२) इति। न तु पुनर्नैघण्टुकत्वेन निपातभाक्त्वं दैवते काण्डे समाम्नातानामवकल्पते। **'तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानाम्'** (निरु०७.१) इत्यनेन विरोधात्।

(अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति। इन्द्राय वृत्रघ्न इन्द्राय वृत्रतुर इन्द्रायांहोमुच इति। तान्यप्येके समामनन्ति)

अथोत उतशब्दश्चार्थे। अनन्तरं च परेषामतिप्रसङ्गमात्मनश्च व्युदासं दर्शयितुमिदमुच्यते। **अभिधानैर्**गुणानामिति शेषः। वृत्रहादिभिर्गुणपदैरित्यर्थः। संयोगैर्गुणिनं हविश्चोदयति श्रुतिः। **इन्द्राये**त्यादि प्रदर्शनं चेदम्। अग्नये पवमानाय मरुद्भ्यः क्रीळिभ्य इत्यादीनाम्। तान्यपि गुणाभिधानानि एके नैरुक्ताः पठन्ति। इन्द्रो वृत्रहा इन्द्रोऽंहोमुगिति। श्रूयमाणगुणविशिष्टाया एव देवतायाः सम्प्रदानत्वमभिमन्यमानो भाष्यकार आह। तदयुक्तम्–

(भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने)

भूयांसि तु। तु शब्दो हेतौ। भूयस्त्वं प्रभूतोपलक्षणार्थम्। यस्मात् **भूयांसि** प्रभूतान्यपर्यन्तानि तेषां **समाम्नानात्** स्युः। ऐश्वर्यात् गुणिनि गुणविशिष्टानां संख्यानासम्भवात्। ततश्चानवस्थाप्रसङ्गादध्येतारः शास्त्रात् पराभज्येरन्। तस्माद् यदेव **संविज्ञानभूतं** रूढितामापन्नं स्यात् **प्राधान्यस्तुति** च। एतदुक्तं भवति। यद् गुणित्वेनैव दृष्टं न कदाचिच्छेषभूतं **तत्समामनेत्** पठेदित्यर्थः। एवमेव च कृत्वा दैवतस्य मया स्वरूपं दर्शितं तद्यानि नामानि।

(अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति)

अथोत एवमेवेत्यर्थः। **कर्मभिः** कर्मशब्दैः क्रियानिमित्तैरित्यर्थः। **ऋषि**र्वेदो देवतामिन्द्रं स्तौति। वृत्रं हतवान् वृत्रहा। पुरो दारितवान् पुरन्दर इति न पठेत्। प्रदर्शनं चेदं **'अग्निं होतारं' 'अग्निं पुरोहितम्'** इत्यादेः। एवमत्रापि क्रियापदनिमित्तपदमसमाम्नानात् भूयस्त्वमेव केवलं स्यात्। कुतः? यतोऽर्थविशेषस्याभिव्यञ्जनमात्रं गुणकर्मोपनिधानमात्रेण हि **तत्तस्य** संविज्ञानभूतस्येन्द्रादेर**भिधानस्य भवति**। अस्य दृष्टान्तः–

(यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि। स्नातायानुलेपनं, पिपासते पानीयमिति)

यथा ब्राह्मणायेति। अस्य सामान्यविशेषवचनस्य संविज्ञानभूतस्य सम्प्रदानत्वेन श्रुतस्य च बुभुक्षितायेत्यादि समानाधिकरणं विशेषणं गुणक्रियोपनिधानेनार्थस्य व्यञ्जनमिति।

इति महेश्वरविरचिते निरुक्तभाष्यविवरणसमुच्चये द्वादशस्य
(सप्तमस्याध्यायस्य) तृतीयः खण्डः। (त्रयोदशश्च खण्डः समाप्तः)

अथ चतुर्थः पादः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

अथातोऽनुक्रमिष्यामः।

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इतादक्तात् दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः। तस्यैषा भवति॥१४॥

भाष्यटीका

ससमद्वितीयपादादावथातः शब्दावुक्तार्थौ। एवं तावत् सामान्येन सर्वदेवतानां लक्षणं सप्रपञ्चमभिधायानन्तरं प्रतिपदं विशेषेण वक्तव्याङ्कास्तीति। अतस्तद्विवक्षयानुपूर्व्येण यथासमाम्नायम**नुक्रमिष्यामो** व्याख्यानेनेति शेषः। कथम्। भूयो निर्वाच्यस्योद्देशः। तन्निर्वचनम्। प्राधान्यस्तुतिप्रदर्शनार्थमुदाहरणम्। **'स न मन्येत'** (निरु०७.१६) इत्यादिविचारः। **'यस्तु सूक्तं भजते'** (निरु०७.१८) इत्यादि। **'अयमेव'** (निरु०७.१८) इत्यवधारणम्। एवं प्रकारेण।

(अग्निः पृथिवीस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः)

अग्निः पृथिवीस्थान इत्यादि स्वपक्षमनूद्य तं मुख्यत्वात् **प्रथमं व्याख्यास्याम** इति प्रतिज्ञापुरस्सरमग्नेः प्रवृत्तिनिमित्तमाह। **अग्निरग्रणीः** प्रधानो देवतानाम्। मुख्यसंस्तुतः। सेनानीत्वाद्वा। **'अग्निर्देवतानां सेनानी'** (ऋ०१०.११०.११; ४.१.२०; ऐ०ब्रा०६.१४) इति ह विज्ञायते। अग्रोपपदात् **'सत्सूद्विष०'** (अष्टा०३.२.६१) इत्यादिना क्विप्। यद्वा **अग्रं** प्रथमं **यज्ञेषु** कर्तव्येषु तादर्थ्येन **प्रणीयते**। अग्रशब्दादेव नयतेश्च पूर्ववत् प्रत्ययः स एव। अपरभागे केवलं साधनभेदः पूर्वं कर्त्तरि अधुना कर्मणि। विषयभेदश्च (सेनायज्ञलक्षणः।) यद्वा **अङ्गं** शरीरं यज्ञस्य तन्नयति। **सन्नममानः** कर्मकर्तरि शानच्। सम्यक् स्वयमेव प्रह्वीभवन्। हविषां वा करणत्वेन साधनभावं प्रतिपद्यमान इत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे अङ्गशब्दात् पूर्वभागः। सन्नमतेः परभागः। इकारोऽन्तकरणः। सर्वत्र वाक्यार्थपदवचनं श्रोत्रियवत्। यत्र पादादौ सन्नमत्रेव गच्छति तदङ्गं नयति आत्मसात्करोति अधिकरोतीति यावत्। एवमर्थस्यान्यत्वं व्युत्पत्तिः सैव।

अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति।

नञोऽकारः क्नोपयतेः स्नेहार्थस्य ककारनकारौ। ककारस्य गकारापत्तिः। इकारोऽन्तकरणः। स्थूलाष्ठीवः कश्चित्। स च बाह्वादिषु (अष्टा०४.१.९६) द्रष्टव्यः। तदपत्यं स्थौलाष्ठीविराचार्यो मन्यते। किमिदमक्नोपन इति। **न क्नोपयति।** एवमपि न गृह्यते। क्नोपयतेरर्थान्तरे प्रसिद्धत्वात्। **अनेकार्था** धातव इत्याह। **न स्नेहयति।** नञ्विशिष्टस्नेहयतेः स्नेहनविपरीतं विरूक्षणं लक्ष्यते। विरूक्षयतीत्यर्थः। दग्धव्यस्यैधादेः शोषणादक्नोपनो विरूक्षण इत्यर्थः।

(त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद्दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः)

त्रिभ्य आख्यातेभ्यो धातुभ्यः। तत्र वाच्यक्रियाक्षरानुगमादित्यभिप्रायः। कतमेभ्यस्त्रिभ्य इत्याह। **इतादि**त्यादि। एतेरञ्जेर्दहेर्वेति वक्तव्ये क्तान्तानामुपादानं रूपप्रत्यासत्तिप्रदर्शनार्थम्। अञ्जेर्जकारस्य दहेश्च हकारस्य निष्ठायां गकारापत्तिर्दृष्टेति। इतान्नीतादिति तु तत्साहचर्यात्। **किं** कुत इत्याह। **स खलु** शाकपूणिरग्निशब्दो **वा एतेः** अयनमित्यादिरूपत्वेन परिणतस्या**कारमादत्ते। गकारं** विकल्पेन। **नीः** नयतिः परो डिप्रत्ययान्तः। इतश्चात्रायमभिव्यक्तश्च सुप्रकाशत्वाद्दाहात्मकत्वेन वा नयति हविर्देवान् प्रतीत्यग्निः।

(तस्यैषा भवति)

तस्य प्राधान्यस्तुतिप्रदर्शनायै**षा** प्रथमातिक्रमे कारणाभावात् समर्था **भवति**।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः॥

अथ पञ्चदशः खण्डः।

अग्नेर्गतिकर्मणाम्। **अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥** (ऋ०१.१.१) अग्निमीडेऽग्निं याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातः (निरु०२.१२) यज्ञश्च (निरु०३.१९) देवो दानाद्वा। दीपनाद्वा। द्योतनाद्वा। द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारं। जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। तस्यैषापरा भवति॥ १५॥

भाष्यटीका

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ (ऋ० १.१.१)

मधुच्छन्दसः परा च। **अग्निमीळे 'ईड स्तुतौ'** (धा०२.९) याच्ञायां वा। यद्वा अध्येषणायाम्। स्तौमि याचे। अध्येषणायामिति। पूजाकर्मा वा। कीदृशम्। **पुरोहितं** शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकैः कर्मभी राजानं सर्वापद्भ्यस्त्रायते यः स पुरोहित उच्यते तत्स्थानीयम्। कस्य। **यज्ञस्य** आपदामपहर्तारमित्यर्थः। कुत एतत्? यद्धि होतारो यज्ञस्येत्यादि सर्वं तदग्निर्देवो होतानुर्लक्षणं करोतिश्रुतेः। **देवं** देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति तदायत्तत्वात्तस्य। दीपयति च। न च यज्ञस्य देवमेव केवलम्। किन्तर्हि। **ऋत्विजञ्च** कतमम्। **होतारं 'अग्निर्वै देवानां होता'** (ऐ०ब्रा०१.२८; ३.१४) इति श्रुतेः। अथवा ऋत्विग्होतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ काले काले यो यागकालस्तस्मिन् यष्टारमृत्विजम्। होतारमाह्वातारम्। कस्य। सामर्थ्याद्देवानाम्। यद्वा **जुहोतेर्होता** होमकारिणं तदधिकरणत्वप्रतिपत्त्या। **रत्नधातमं** रत्नानामतिशयेन दातारम्।

पुरोहितो व्याख्यातः सप्तमे (निरु०२.१२) **'पुर एनं दधति'** (निरु०३.१९) इति। यज्ञश्चाष्टमे व्याख्यातः **'यजतिकर्मेति'। दीपनात् द्योतनाद्वेति** धात्वन्यत्वमात्रम्। द्युस्थानसामान्येन वा देवशब्दस्य निर्वचनादविरोधः।

हविर्वहनकर्मणा वा पृथिवीस्थानत्वम्। अधिष्ठात्रात्मना द्युस्थानत्वमित्यभिप्राय:। **यो देव: सा देवता** देवात्तलोऽनर्थकवृत्तित्वस्मरणात्। इत्येवाह आचार्य:।

(तस्यैषा परा भवति)

तस्याग्नेरेषा वक्ष्यमाणा पूर्वस्या: **परा** अनन्तरा सर्वाग्नेयीत्वादुदाहारणं **भवति**।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य पञ्चदश: खण्ड:।।

अथ षोडश: खण्ड:।

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति।। (ऋ०१.१.२) अग्निर्य: पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरै: स देवानिहावहत्विति। स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। ततो नु मध्यम:।।१६।।

भाष्यटीका

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति।। (ऋ०१.१.२)

सर्वत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धसूचनाय स देवताग्नि: परस्तात् प्रतिनिर्देशार्थतच्छब्दश्रुतेर्भाष्यकार उद्देशार्थं यच्छब्दमध्याजहार। **अग्निर्य: पूर्वेभि:** पूर्वैर्भृग्वङ्गिर: प्रभृतिभि**र्ऋषिभिरीड्य:** ईडितव्य:। **नूतनै:** नवनामैतत्। उतशब्दोऽप्यर्थे। अपिशब्द: समुच्चये। नवैरस्मत्प्रभृतिभि:। **स देवान्**। आ इत्युपसर्गो व्यवहितेनापि वक्षतीत्यनेन सम्बध्यते। **इह** प्रकृते कर्मणि **आ वक्षति** लोडर्थे पञ्चम: आवहतु। वन्दितव्य इत्यनिरुक्तपाठ:। अथवा पर्यायप्रदर्शनमस्तु। नवतरैरिति स्वार्थिकस्तरप्। यावदुच्चैस्तरामिति यथा।

इदानीं चोदकमुखेनाशङ्कां व्युदसितुमाह।

स न मन्येत। (अयमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्यते। ततो नु मध्यम:)

स चोदका न मन्येत न प्रतिजानीयात्। किम्। उच्यते। पृथिवीस्थानो ज्योतिर्विशेषोऽग्निरिति। किन्तर्हि। नु पश्चान्मध्यमो ज्योतिर्विशेषोऽग्निशब्दवाच्यत्वेनोदाह। **उत्तरे ज्योतिषी** विद्युदादित्याख्ये **अग्नी**। एषा शेषप्रवृत्तिरुच्यते क्वचिन्मन्त्रे। ततस्तस्य पृथिवीस्थानस्य ज्योतिषोऽग्निशब्दवाच्यत्वेन प्रदर्शितोदाहरणस्याग्नित्वं न प्रदर्श्यत इति शेष:।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य षोडश: खण्ड:।।

अथ सप्तदशः खण्डः।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्। घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥ (ऋ०४.५८.८) अभिनमन्त समनस इव योषाः। समनं समननाद्वा। संमाननाद्वा। कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकम्। घृतस्य धारा उदकस्य धाराः। समिधो नसन्त। नसतिराप्नोतिकर्मा वा। नमतिकर्मा वा। ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः। हर्यतिः प्रेप्साकर्मा। विहर्यतीति। **समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्।** (ऋ०४.५८.१) इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते **समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति** (कौ०ब्रा०२५.१) इति च ब्राह्मणम्। अथापि ब्राह्मणं भवति। **अग्निर्वै सर्वा देवताः।** (ऐ०ब्रा०२.३) इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥१७॥

भाष्यटीका

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥ (ऋ०४.५८.८)

वामदेवस्य। प्रवतेगतिकर्मणश्छान्दसत्वाद् वर्तमाने लङि प्रवन्त इति। **अभि प्रवन्ते** अभिगच्छन्ति। **समनेव** समाने पुंसि अननं प्राणनं मनो वा यासां ताः समाननाः समनसो वा। तत्र समननशब्दस्य समननश्शब्दस्य वा इवे छान्दसो नकारस्य सकारस्य वा लोपः। समना इव समनस इव वा। यथा ता एकभर्तृका बह्व्यो **योषाः** स्त्रियः **कल्याणी** दर्शनीयाः। **स्मयमानास** ईषद्धसन्त्यः। स्मयनेन चात्र संभोगकारकत्वं लक्ष्यते। भर्तृदर्शितसम्भोगाभिलाषा इत्यर्थः। ता युगपदभिगच्छन्ति। तद्वदग्निं वैद्युतं **घृतस्योदकस्य** मेघस्य धाराः। **समिध** उदकेन्धनत्वात् तस्य समिन्धनकारिण्योऽभिगच्छन्ति। अभिगम्य च **नसन्त**............नसतिराप्नोतेर्नमतेर्वार्थे। आप्नुवन्ति नमन्ति वा तं प्रति। असावपि **ता जुषाणो** जुषमाणः प्रीयमाणो भावानुवृत्त्या सेवमानः। **हर्यति** पुमानिव कामयते। **जातवेदाः** जातविद्यः।

कस्मात् पुनरत्र पार्थिव एवाग्निर्न गृह्यते। घृतं वाहुतिलक्षणम्। आज्यमाहवनीयम्। आहुतिलक्षणस्याज्यस्य धारा अभिगच्छन्ति। उच्यते। बहूनां धाराणां युगपदभिगमनवचनात्। क्रमत्वाच्चाहुतीनां घृतधाराणां युगपदग्निं प्रत्यभिगमनस्यासम्भवात्। वैद्युते तु सम्भवति।

कृतान्तलोपमेव समनःशब्दं निर्ब्रवीति। संपूर्वादनतेर्मनोतेर्वा। तथा चोक्तम् **'मनो मनोतेः'** (निरु०४.४) इति। **औपमिक**मुपमाप्रयुक्तम्। हर्यतिर्गतिकान्त्योः। कान्तिश्च प्रेप्सा। **अभिहर्यतीति** प्रसिद्धप्रयोगप्रदर्शनम्। **'समुद्रादूर्मिः'** (ऋ०४.५८.१) इत्यत्र मन्त्रे उदेष्यस्त्वमेषि पर्येषीत्युदयकर्मणा लिङ्गेनादित्येन प्रसिद्धेनादित्यमुक्तं मन्यन्तेऽभियुक्ताः। तथा चास्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि दर्शयति **'समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदैर्त'** (तु०कौ०ब्रा०२५.१) इति। उदैर्त उदेतीत्यर्थः। यथेवमकः किमुच्यते। सूक्तादित्वादस्य ऋचो य एवस्यामुक्तः स्वधीर्यः स एव परास्वपि ऋक्षु वक्तव्यः। तेन **'अभि प्रवन्त'** इत्यत्राप्यादित्य एवाग्निरुच्यते। न पार्थिवो वैद्युतो वेत्यभिप्रायः। आदित्यमपि हि रश्मिभिराह्रियमाणस्योदकस्य धारा अभिगच्छन्ति। अग्निरुत्तरं ज्योतिरादित्यमौपमिकं च समानम्। ताश्च सम्प्रीयमाणः कामयते। अत आदित्योऽग्निरुच्यते।

अत्रापि चेदमेवोदाहरणमित्यनेनाभिप्रायेण

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।

घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ (ऋ०४.५८.१)

इत्युपन्यासः। वामदेवस्य। **समुद्रादूर्मि**स्तेजःसंघात आदित्याख्यः। **मधुमान्** मध्वित्युदकनामैतत्। उदकवानित्यर्थः। **उदारत्** उद्गच्छति। एकवाक्यतायै यत्तच्छब्दाध्याहारः। उपेत्युपसर्ग आनडित्याख्यातेन सम्बध्यते। **अंशुना** चन्द्रमसाहारभूतेना**मृतत्वमानट्** **'अशू व्याप्तौ'** (धा०५.१८) अश्नुते उपसंव्याप्नोतीत्यर्थः। कुत एतत्। **'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति'** (यजु०५.७; निरु०५.११) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। न च केवलमंशुना। किन्तर्हि। **घृतस्या**हुतिलक्षणस्याज्यस्योदकस्य वा रश्मिभिराहृतस्य। **गुह्यं नाम** गुह्यत्वेन सारवत्तां दर्शयति। नामशब्दोऽपि निपातोऽप्रकाशनायामन्यत्र। सारभूतमप्रकाशकं **यदस्ति** तेन चामृतत्वमानडिति सम्बन्धः। **जिह्वा** जिह्वाभूतः। **देवानां** दीप्तानां रश्मीनां तदायत्तप्रवृत्तिर्वा तेषाम्। **अमृतस्यो**दकस्य च **नाभि**राश्रय इत्यर्थः। य एवं विशिष्टोऽमृतत्वमानशे स समुद्रादुदारदिति सम्बन्धः।

न केवलमुत्तरे ज्योतिषी अग्निः। किन्तर्हि। **सर्वा** देवता अग्निशब्देनोच्यन्ते। तथा च ब्राह्मणम् **'अग्निः सर्वा देवताः'** (ऐत०ब्रा०६.३; मै०सं०१.४.१३) इत्यादि।

(तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय)

तस्य ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य **उत्तरा** ऋक् **भूयसे** अभिव्यक्तावत्र भूयस्त्वम्। विशेषेणाभिव्यक्ततरायेत्यर्थः।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः॥

अथ अष्टादशः खण्डः।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ०१.१६४.४६) इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्। दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा। यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते। अयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥१८॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ०१.१६४.४६)

दीर्घतमसः। इन्द्रं मित्रं वरुणं चाग्निमाहुः। अग्निशब्देन ब्रुवन्तीत्यर्थः। परस्तात्तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। **अथ**शब्दाश्चार्थे। यश्चायं **दिव्यो** दिवि भवः। **सुपर्णः** रश्मिनामैतत्। अन्तर्णीतमत्वर्थः। सुपर्णवानित्यर्थः। शोभनं वा पतनं गमनं यस्य स सुपतनः **सुपर्ण** आदित्यः। **गरुत्मान्** गरुत् गरणं भौमानां रसानां रश्मिभिर्गरणेन तद्वान्। छान्दसत्वादभावः। गरितेत्यर्थः। अथवा गुर्वात्मा सन् गरुत्मान्। सः द्वितीयार्थे तु प्रथमा। तं चाग्निमाहुरिति सम्बन्धः।

परेऽर्धर्चे भिन्नं वाक्यम्। किञ्च **एकं सत्**कारणमात्माख्यं वस्तु। **विप्रा** मेधाविनः। **बहुधा** बहुभिः प्रकारै**र्वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानं** चाहुरिति प्रदर्शनमात्रं चेदम्। सर्वैर्हि शब्दैस्तेन तेन विकारात्मनावस्थितः कारणात्मैवोच्यते। एवमस्या ऋचः पूर्वार्धर्चे इन्द्रादयोऽग्निशब्देनोच्यन्ते इत्येतदाह। परः सर्वशब्दकारणात्मेति।

कस्मात् पुनः पूर्वार्धर्च एवं न व्याख्यायते? इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमेवाहुरिति। उच्यते। एवं व्याख्यायमाने इन्द्रादिशब्दानामग्नौ प्रवृत्तिः प्रदर्शिता स्यान्नाग्निशब्दस्येन्द्रादिषु। अग्निशब्दस्य (च) देवतान्तरेष्वपि प्रवृत्तिप्रदर्शनार्थमस्या ऋच इहोपादानम्। पार्थिवज्योतिर्व्यभिचारदर्शनपरत्वादुपन्यासस्य ब्राह्मणवादाच्च। तेनात्र पूर्वोर्धर्चो नैरुक्तपक्षपरिचोदनाप्रसङ्गादध्यात्मविद् दर्शनेन व्याख्यातो भाष्यकारेण।

ततश्च इममेवाग्निमित्यादिना (न) समुदायनिर्वचनम्। किन्तर्हि? परस्यैवार्धर्चस्य **'बहुधा वदन्ति'** (इत्येतस्य) विवरणम्। कथम्? एवशब्दोऽवधारणे। महान्तमित्येतस्माच्च परो द्रष्टव्यः। योऽप्यग्निशब्दात्। एकमात्मानमित्यात्मशब्दो वस्तुवचनः। **'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति निश्चितमतय एकं सर्वं वस्तु यस्मान्नापरमस्तीत्यादि प्रतिपादितमहिमानं महान्तमेव अन्यस्या ह्यापादात्मानं करणाख्यमशिवं पार्थिवमिन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं वैद्युतं दिव्यं च सूर्याख्यमग्निं यमं मातरिश्वानमित्यनेन प्रकारेण सर्वशब्दैर्बहुधा वदन्तीति योज्यम्।

एवं तु परार्धशेषतया सर्वस्मिन् भाष्ये योज्यमाने **'अग्निः सर्वा देवताः'** इति प्रकृतोदाहरणविषयत्वं भाष्ये न प्रदर्शितं स्यात्। तस्मादिममेवाग्निमित्यादि वदन्तीत्यन्तं भाष्यं परस्यार्धर्चस्योदाहरणप्रकारेण विवरणम्। अग्निं चेमं यमं च मातरिश्वानं चेत्येवमादिभिर्वदन्तीति। इन्द्रं मित्रमित्यादि तु पूर्वार्धर्चविवरणमेव द्रष्टव्यम्। यथा मन्त्रे नैरुक्तपक्षपरिचोदनापरिहारायोच्यते। सत्यम्। उत्तरेणापि ज्योतिषि अग्निशब्दप्रयोग उच्यते।

'समुद्राद्रूर्मिः' इत्यनेकदेवताविकल्पमेतत् सूक्तम्। यथाह शौनकः **'यथाल्पलिङ्गं वामदेवस्य'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादिना। तद्यथा मध्यमोऽग्निरादित्यो देवतेति पक्षः। तदाग्निशब्दस्य गौणी वृत्तिः। अथ त्वाज्यसूक्तत्वात् पार्थिवोऽग्निर्देवता तदा जातवेदः शब्दस्येत्याह।

(यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते। अयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते)

निपातमेव न स्तुतिर्न हविरित्यर्थः। **एतेन** अग्निनामधेयेन भजेते। एतदुक्तं भवति। मध्यमे उत्तमे च ज्योतिष्यग्रणीत्वाङ्गनयनादिक्रियायोगाद् गौणी वृत्तिः शब्दस्य। ततश्च तद्विषयं सूक्तं हविर्वाग्नेयमिति (न) व्यपदिश्यते। किन्तर्हि? यैव तत्र मुख्या तयैवेति। एवं च सति पार्थिवज्योतिर्विषयमेव सूक्तं हविर्वाग्नेयमिति व्यपदिश्यते। चोदनासु लोकप्रसिद्धस्य मुख्यस्य पदार्थस्य ग्रहणादग्निशब्दस्य व्यभिचार इति सिद्धम्।

इति निरुक्तभाष्यविवरणे द्वादशस्य (सप्तमस्याध्यायस्य) चतुर्थः पादः।

अष्टादशश्च खण्डः समाप्तः॥

अथ पञ्चमः पादः।

अथ एकोनविंशः खण्डः।

जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यत इति वा। जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। **'यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्'** इति ब्राह्मणम्। (तु॰मै॰सं॰१.८.२) **'तस्मात् सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति'** (मै॰सं॰१.८.२) इति च तस्यैषा भवति॥१९॥

भाष्यटीका

अग्निशब्दं विशेषतो व्याख्याय क्रमप्राप्तं जातवेदसमाह।

(जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यत इति वा। जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः।)

अर्थप्रधानत्वाच्च नैरुक्तस्य सर्वत्रार्थप्रधानस्यैव पर्यनुयोगो निर्वचनं च। अग्निः कस्मात्? **जातवेदाः कस्मादिति? जातानि** सर्वाणि भूतानि **वेद** लोकपालत्वात्। **जातानि वा** तिर्यगादीन्यप्येनं **विदुः।** कारकभेदः केवलम्। सर्वस्मिन् वा भूतजाते विद्यते। **'विद सत्तायाम्'** (धा॰४.६५) सर्वत्रास्तीत्यर्थः। **जातवित्तो वा** (**'वित्तो भोगप्रत्यययोः'** (अष्टा॰८.२.५८) इति स्मरणात्) विदेर्लाभार्थस्य (वेद) वित्तं धनं हविर्लक्षणमैश्वर्यादि इतरद्वा। **'धनमिच्छेद्धुताशनात्'** (मूलमनुपलब्धम्) इति च प्रवादः। **जातविद्यो वा 'विद विचारणे'** (धा॰७.१३) इत्यस्य, वेदो विचारणं (विद्या) जाता विद्या यस्य वैश्वानरविद्यायामिह च कृतविचार इत्यर्थः।

(प्रज्ञानं वा) ब्राह्मणोक्तमपि जनेर्विन्दतेश्च निर्वचनमिति दर्शयति।

'यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' इति ब्राह्मणम्। (तु॰मै॰सं॰१.८.२)

अविन्दत अलभत? (कुतः? देवेभ्यः) कुत एतत्? **'पुरुषं चौषधीनाम्'** (ऋ॰१०.५१.८) इति मन्त्रलिङ्गात्। **'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः'** (मनु॰५.३९) इति च स्मरणात्। यस्माच्चैवम्–

'तस्मात् सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति' (मै॰सं॰१.८.२) इति च। **सर्वानृतून्** सर्वकालमित्यर्थः। **'स्वामित्वादग्निमाभिमुख्येन सर्पन्ति'** च ब्राह्मणम्।

(तस्यैषा भवति।)

तस्य जातवेदसः प्राधान्यस्तुत्युदाहरणमेषा **भवति।**

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः॥

अथ विंशः खण्डः।

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे॥ (ऋ०१०.१८८.१) प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम्। अपि वा। उपमार्थे स्यात्। अश्वमिव जातवेदसमिति। इदं नो बर्हिरासीदतु इति। तदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किंचिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते। स न मन्येत अयमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते। ततो नु मध्यमः। **अभि प्रवन्त समनेव योषाः।** (ऋ०४.५८.८) तदुपरिस्ताद् (निरु०१२.१५) व्याख्यातम्। अथासावादित्यः। **उदु त्यं जातवेदसम्।** (यजु०३३.३१) इति उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते। अयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥२०॥

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे॥ (ऋ०१०.१८८.१)

श्येनस्याग्निपुत्रस्य। **प्रो**पसर्गो व्यवहितेनापि हिनोतेत्याख्यातेन सम्बध्यते। नूनमिति पादपूरणः। **जातवेदस**मुक्तनिर्वचनम्। **अश्वं 'अशू व्याप्तौ'** (धा०५.१८) व्यासारमन्नपक्त्यादिना स्वकर्मणा कृत्स्नस्य जगतः। लुप्तोपमो वाश्वशब्दः। अश्वमिव शीघ्रकारित्वात्। **हिनोत 'हि गतौ वृद्धौ च'** (धा०५.११) ऋत्विजामयं प्रैषः प्रहिणुत उपगच्छतेत्यर्थः। प्रवर्धयत वा स्तुतिभिः। **वाजिनं** वाजेनान्नेन हविर्लक्षणेन तद्वन्तम्। वेजनवन्तं वाचालत्वादर्चिषाम्। किमर्थमेवमुच्यते। **इदं नो**ऽस्माकं स्वभूतम्। **बर्हिरासदे 'तुमर्थे सेसेन्'** (अष्टा०३.४.९) इत्यादि विधानात्। आसत्तुमासादनायेत्यर्थः। कथं नामायं जातवेदाः। **'वेदिस्तरं बर्हिरासीदेत्'** (मूलमनुपलब्धम्) इति प्रसङ्गात्। सुहृद्भूत्वाऽऽह स्वपक्षे वा पर्यायत्वं दर्शयितुम्।

तदेतदेकमेव जातवेदं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते।

इत्यादि। एतदेकैकं जातवेदःशब्दं गायत्रच्छन्दोयुक्तं तृचं सूक्तं दशतयीषु न सर्वशाखास्वित्यर्थः। अन्यच्छन्दोयुक्तमन्यदपि स्यात्। यद्येवमतः किम्। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं गायत्रं तज्जातवेदस्य शासतीति चोदनासम्पादनार्थं जातवेदःशब्दसम्बन्धिनां सूक्तानां प्रसङ्गे प्रयुज्यते। नान्यच्छन्दोयुक्तं जातवेदोलिङ्गमपि। एवं च ब्रुवता पर्यायत्वं दर्शितं भवति।

स न मन्येतेत्यादि कृतव्याख्यानम्। केवलं तूदाहरणगताग्निजातवेदःशब्दावुक्तविपरीतगुणप्रधानभावौ द्रष्टव्यौ। पूर्वत्राग्नेः सम्प्रति जातवेदसो विचार्यत्वेन प्राधान्यात्।

अथासावादित्योऽग्निशब्देनेव जातवेदःशब्देनोच्यते। पूर्वोक्तयैवोदाहरणकल्पनयेति द्रष्टव्यः। तथेदमपरमुदाहरणं **'उदु त्यं जातवेदसम्'** (ऋ०१.५०.१) इति। तदुपरिष्टात् सप्तदशे (निरु०१२.१५) व्याख्यास्यामः।

यस्तु सूक्तमित्यादि समानम्।

इति निरुक्तविवरणभाष्ये द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः पादः।

विंशश्च खण्डः समाप्तः॥

अथ षष्ठः पादः।

अथ एकविंशः खण्डः।

वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान्नरान्नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः। तस्यैषा भवति॥ २१॥

भाष्यटीका

वैश्वानरो वक्तव्यः।

स कस्मात्? समासवृत्तिः कृद्वृत्तिस्तद्धितवृत्तिश्चेति तिस्रो हि वृत्तयो वैयाकरणनिकायप्रसिद्ध्या शब्दशास्त्रे प्रसिद्धास्तत्र तद्धितवृत्तिं दर्शयति। सर्वान् नरानितो लोकान्तरं नयति। कुत एतत्? **'परिददत् पितृभ्योऽग्निः'** (ऋ०१०.१७.३) (**'अयं वै त्वत्'** (शाङ्खा०श्रौ०४.१४.३६) **'त्वमस्मादयं ते योनिस्त्वमस्य योनिः** (शाङ्खा०श्रौ०४.१४.३६)) **'जातवेदो वहस्वैनं सुकृतां यत्र लोकः'** (शाङ्खा०श्रौ०४.१४.३६) **'मैनमग्ने'** (ऋ०१०.१६.१) इत्यादिमन्त्रलिङ्गात्। तेन विश्वानराणां नेतृत्वेन सम्बन्धी वैश्वानरः। इदमर्थेऽण्। **विश्व एनमित्यादि** कर्मार्थे प्रणयति कारकविपर्यासमात्रेणान्यत्वम्। **अपि वा विश्वान्** जन्तून् अरः **'ऋ गतौ'** (धा०१.९६१; ३.१६) इत्यस्य छान्दसत्वाद् भूते पचादित्वादच् (अष्टा०३.१.१३४)। उपपदविभक्तेश्चालुक्। एवशब्दोऽवधारणे। सर्वाणि भूतानि अरः प्रत्यृतः प्रविष्ट इति वैश्वानरः। इयमेव व्युत्पत्तिः। स च सामर्थ्यात् प्राणाख्यो वायुः। तेन जन्यमानत्वात् तस्यापत्यं वैश्वानरः।

(तस्यैषा भवति।)

तस्य प्राधान्यस्तुत्युदाहरणमेषा

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य एकविंशः खण्डः)

अथ द्वाविंशः खण्डः।

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ (ऋ०१.५८.१) इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति। वैश्वानरः संयतते सूर्येण। राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयः तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति। तत्को वैश्वानरः? मध्यम इत्याचार्याः वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति॥ २२॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।

इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ (ऋ०१.९८.१)

कुत्सस्य। उक्तनिर्वचनस्य **वैश्वानरस्य सुमतौ** शोभनायामनुग्रहबुद्धौ **स्याम** भवेम वयमित्याशास्महे? कीदृशस्य? **राजा** अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दाध्याहारो भाष्यकारेण लोकवच्च स्तुतिपूर्वकत्वाद् याच्ञाया प्रथमः पादः पश्चाद् योजितः स्वामी यः। अभिकौ पादपूरणौ। **भुवनानां** सर्वेषां भूतजातानाम्। **अभिश्रीः**

श्रयतेरेतद्रूपम्। अभ्याश्रयणीयश्चोपकारकत्वात्। **इतो जात** इतश्च पार्थिवाल्लोकादोषधिवनस्पतिभ्योऽरणिभ्यो वा जातः सन्। **विश्वं सर्वमिदं** भूतजातं **वि चष्टे** प्रत्यवेक्षणाद् विविधं पश्यति। अन्तर्णीतण्यर्थो वा विविधं दर्शयति प्रकाशयतीत्यर्थः। **वैश्वानरो यतते 'यती प्रयत्ने'** (धा०१.३०) प्रयत्नेन चात्र तत्पूर्वकं गमनं लक्ष्यते सङ्गच्छते च **सूर्येण** सह। कथम्। सूर्यस्य रश्मयः पृथिवीमागच्छन्ति। अग्नेरप्यर्चिष ऊर्ध्वं गच्छन्ति। तयोर्भासोर्यः संसर्गस्तदभिप्रायमिदं सङ्गतवचनम्।

तत् को वैश्वानरः।

तदिति वाक्योपन्यासे। क इति प्रश्नः कः सन्देहः ? आचार्यविप्रतिपत्तेरात्मेति वैश्वानरविद्यायामात्मविदः।

मध्यम इत्याचार्याः।

पूर्वे नैरुक्ता मन्यन्त इति शेषः। (कुतः ?)

(वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति।)

वर्षकर्मणा यस्मादेनं वैश्वानरं स्तौति।

(इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।)

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

प्र नू म॑हि॒त्वं वृ॑ष॒भस्य॑ वोचं॒ यं पू॒रवो॑ वृत्र॒हणं॒ सच॑न्ते। वै॒श्वा॒न॒रो दस्यु॑म॒ग्निर्ज॑घ॒न्वाँ अधू॑नो॒त् काष्ठा॒ अव॒ शम्ब॑रं भेत्॥ (ऋ०१.५९.६) प्रब्रवीमि तन्महित्वं महाभाग्यं वृषभस्य वर्षितुरपां यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्या वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः। दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात्। उपदस्यस्यन्त्यस्मिन् रसाः। उपदासयति कर्माणि। तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्नवाधूनोदपः काष्ठा अभिनच्छम्बरं मेघम्। अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः। एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते (ऐ०ब्रा०१२.३)। सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत। आग्नेयो हि भवति। तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च। ततोऽग्निमिहस्थानमत्रैव स्तोत्रियं शंसति। अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म। अथापि ब्राह्मणं भवति। **'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः'** (मै०सं०२.१.२) इति। अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति। **आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्** (शा०श्रौ०८.२२.१)। एष हि द्यावापृथिव्यावाभासयति। अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति। **दि॒वि पृ॒ष्टोऽअ॑रोचत** (यजु०३३.९२)। एष हि दिवि पृष्टो अरोचतेति। अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं (ऋ०१०.८८) सौर्यवैश्वानरं भवति । अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। कथं न्वयमेताभ्यां जायत इति। यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवति उदकेन्धनः

शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः। अथादित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत् प्रदीप्यते। सोऽयमेव सम्पद्यते। अथाप्याह- **वैश्वानरो यतते सूर्येण**। (ऋ०१.९८.१) इति। न च पुनरात्मनात्मा संयतते। अन्येनैवान्यः संयतते। इत इममादधात्यमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतोऽस्यार्चिषः। तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्। अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्। आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्निति। उदेषीत्यस्तमेषीति विपर्येषीति। आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति। अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति। वहसीति। पचसीति। दहसीति। यथो एतद् वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीति। अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते-**समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः**॥ (ऋ०१.१६४.५१) इति सा निगदव्याख्याता॥२३॥

भाष्यटीका

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।

वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥ (ऋ०१.५९.६)

नोधसः। **प्रो**पसर्गो वोचमित्यनेन सम्बध्यते। **नु** क्षिप्रम्। **महित्वं** महत्त्वम्। **वृषभस्य** वर्षितुः **प्र वोचं** प्रब्रवीम्यहम्। यं **पूरवो** मनुष्यनामैतत् मनुष्या **वृत्रहणं** मेघस्य हन्तारं **सचन्ते** (सेवन्ते) वर्षकामा इति शेषः। किं रूपं पुनस्तन्महित्वम्? उच्यते। **वैश्वानरोऽग्निर्दस्यु**मुपक्षयितारं रसानां कर्मणां वा वृष्ट्यायत्तानां **जघन्वान्**। **अधूनोत्** कम्पितवान् कम्पयति वा **काष्ठा** अपो घ्नन् मेघस्थाः। **अवे**त्युपसर्गोऽधोभावे। अध (तत) एव च **शम्बरं** मेघम् **भेत्** (अभिनत्)।

पूरयितव्याः कामानाम्। **दस्यतेः** **'तसु उपक्षये दसु च'** (धा०४.१०६-१०७) इत्यस्य क्षयार्थे वर्तमानस्येति शेषः। अर्थानुगमं दर्शयति। उपदस्यन्त्यस्मिन् स्थिता वाग्यमना वा रसा उदकानि। अन्तर्णीतण्यर्थो वा।

(अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः)

असावादित्य इति नेदीयसो विदेशकेनादसा साभिनयं दर्शयति। याज्ञिका इति। यज्ञसहचरितं यज्ञस्थमधीयते विदुर्वा ये ते याज्ञिका भण्यन्ते। कुत एतदिति चेत्? वैयाकरणस्मरणात्। तथाहि **'तदधीते तद्वेद'** (अष्टा०४.२.५९) इत्यधिकृत्य **'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्'** (अष्टा०४.२.६०) इत्यध्येतृविदुषोस्तद्धितं स्मरन्ति। पूर्ववचनात् षाष्ठिकानां साक्षात्कृतधर्माणामुपलक्षणार्थं वा। ते हि चोदनालक्षणेन सवनक्रमं शास्त्रक्रमं च दृष्ट्वा वैश्वानरशब्दस्यादित्यविषयामूहां चक्रिरे। कथम्?

(एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः)

एषामग्न्यादिभक्तीनां पृथिव्यादीनां **लोकानां रोहेण**। रोह उपर्युपरिभावः पृथिवीलोकस्तस्योपर्यन्तरिक्षलोकस्तस्योपरि द्युलोकः। एतेन रोहेण तुल्य एवमेवोक्तभक्तीनां **सवनानां रोह** उपर्युपरिभाव **आम्नातो** ब्राह्मणपठितः। किम्? उच्यते। प्रातः सवनादिक्रमेण द्युलोकसंस्तुतिस्तृतीयसवनसमारोहात्। अनन्तरं क्रमेणैव प्रत्यवरोहः प्रत्यवरोहणमवतारः कर्तुमिष्टः। कल्पनामात्रं चैतदित्याह।

तामनुकृतिं (होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते। सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत। आग्नेयो हि भवति)

तस्य प्रत्यवरोहस्यानुकरणमनुकृतिर्या तां होता आग्निमारुतसंज्ञके शस्त्रे चिकीर्षन्निति शेषः। वैश्वानरदेवत्येन सूक्तेन प्रथमें प्रतिपद्यते प्रवर्तत इत्यर्थः। 'वैश्वानरायं पृथुपाजंसे विपः' (ऋ०३.३.१) इत्येतेन। तस्मान्मन्यामहे वैश्वानर आदित्यः। **सोऽपि** अपिशब्दोऽपि चेत्यस्य निपातसमुदायस्यार्थे पुरस्ताच्च द्रष्टव्यः। अपि च स होता विधिसामर्थ्यादेव शस्त्रान्तरेष्विव प्रतिपन्नौ **न स्तोत्रियं** प्रतिपद**माद्रियेत**। नाद्रियत इत्यर्थः। किं कारणम्? **आग्नेयो हि** हिशब्दो हेतौ यस्मादाग्नेयः स्तोत्रियः। तेन तमनादृत्य वैश्वानरीय एव प्रतिपद्यते।

(तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च। ततोऽग्निमिहस्थानमत्रैव स्तोत्रियं शंसति)

अहं वैश्वानरमादित्यं स्तुत्वा **ततो** द्युलोकादा**गच्छति** अन्तरिक्षलोकं **मध्यस्थाना देवताः** स्तोतुं **रुद्रम्**। **'आ ते पितः'** (ऋ०२.३३.१) **मरुतश्च** **'प्रत्यक्षसत्तवसः'** इति। **ततो**ऽन्तरिक्षलोकाद**ग्निं** स्तोतु**मिहस्थान**मागच्छतीत्यनुषङ्गः। **अत्रैव** पृथिव्यां न दिवीत्यभिप्रायः। **'यज्ञायज्ञा वो अग्नये'** (ऐ०ब्रा०१३.११) इति **स्तोत्रिय**मा**ग्नेयं शंसति**। अतो यथायतनं स्तुतिदर्शनादसावादित्य इति याज्ञिकदर्शनम्। याज्ञिकानामपि च स्थानकल्पना गौणी प्रदर्शितैवेत्यविरोधः।

अथापि (वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म।)

अपि च **'वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति'** (शत०ब्रा०५.२.५.१३; तै०ब्रा०१.७.२.५) इति श्रूयते। अतः किम्? उच्यते। अत एतद्वैश्वानर आदित्यः। कस्य हेतोः? द्वादशत्वसम्बन्धात्। **एतस्यादित्यस्य** यस्मात् **द्वादशविध**मुदयास्तमयाभ्यामहोरात्रादिक्रमेण द्वादशमासप्रविभागप्रकारं **कर्म**। द्वादश मासाः संवत्सरः। तथा द्वादशत्वसम्बन्धात् द्वादशाक्षरा जगती जागतोऽसावादित्य इति।

अथापि (ब्राह्मणं भवति)

अपि च ब्राह्मणं वक्तव्यमेवास्यार्थस्य प्रतिपादकं भवति। **'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः'** (मै०सं०२.१.२) इत्यादि।

अथापि (निवित् सौर्यवैश्वानरीभवति)

अपि च **निवित्** निविदिति केषाञ्चिन्मन्त्राणां समाख्या। अथ निविदं शंसतीति येषां विनियोगः। सूर्यवैश्वानरसम्बन्धात् सौर्यवैश्वानरी। कीदृशो यो वैश्वानर उच्यते? प्रकृतार्थप्रतिपादने समर्थो भवति। तं दर्शयति।

आ यो द्यां भात्या पृथिवीम् (शा०श्रौ०८.२२.१)

इति। अस्य व्याख्यानम्-

एष हि (द्यावापृथिव्यावाभासयति)

यस्मादेष एवाभिमुख्येन प्रकाशयति स्वेन तेजसो महिम्ना। नाग्निः पार्थिवोऽल्पदेशप्रकाशनात्। य इति श्रुतेः स इत्यध्याहारः। सोऽग्निर्वैश्वानरः। इह श्रु......मत्सदिति च सम्बन्धसामञ्जस्याद् वैश्वानर आदित्यः।

अथापि (छन्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति)

अपि च छन्दोमसंज्ञके हमिहवं सूक्तं सूर्यवैश्वानरसम्बन्धि वैश्वानरशब्दस्यादित्यविषयत्वप्रख्यापने समर्थं भवति। कतमत्।

दिवि पृष्टोऽअरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन्।

क्ष्मयां वृधानऽओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः।। (यजु०३३.९२)

दिवि द्युलोके **पृष्टः** स्पर्शनेन स्थानं लक्ष्यते। तत्र स्थित इत्यर्थः। **अरोचत** अद्योतिष्ट रोचते वा दीप्यते। कोऽसौ? **अग्निर्वैश्वानर** आदित्यः। **बृहन्** महान्। रोचमानश्च **ज्योतिषा बाधते तमः**। **एष** **ही**त्यादिनोक्तार्थविषयं सामर्थ्यमुपदर्शयति।

(अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति)

अथापीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्। तत्र हविष्पान्त इति शब्दवति सूक्ते प्रकृतार्थप्रतिपत्तये मन्त्रः।

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।

आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्।। (ऋ०१०.८८.१२)

मूर्धन्वत आङ्गिरसस्य। **विश्वस्मै भुवनाये**ति तादर्थ्ये चतुर्थ्यौ। स सर्वस्य भुवनस्य भूतजातस्यार्थाय। **अग्निमग्रण्यं देवा वैश्वानर**मादित्यम्। **केतुं** कर्तारम्। कस्य? **अह्नां** स ह्युदयास्तमयाभ्यामहानि करोति। तेन तस्मिन्नधिकारे **अकृण्वन्** कृतवन्तः। कीदृशो वैश्वानरः? उच्यते। आ इत्युपसर्गस्ततानेत्येतेन सम्बध्यते। **यो वैश्वानर आततान** विस्तारितवान्। उदयगिरिशिखरोपकण्ठं वर्तमानः। किम्? **उषसो विभातीः** विविधं दीप्यमानः। एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनम्। किञ्च **अप ऊर्णोति** अपच्छादयतीत्यर्थः। किम्? शार्वरं **तमः** स्वेनार्चिषा। **यत्** उत्पूर्वार्थे द्रष्टव्यः। उद्यत्। एवमह्नां कर्तृत्वमादित्य एवोपशेते नाग्नाविति। अतोऽसावादित्यो वैश्वानरो नाग्निरिति याज्ञिकः पक्षः।

अयमेवाग्नि (वैश्वानर इति शाकपूणिः)

नेदीयसोपदेशकेनो समासाभिनयं दर्शयति। **एवो**ऽवधारणे। **अयमेव** पार्थिवो नेतरावित्यर्थः। शाकपूणिग्रहणं स्वमनीषिकानिवृत्त्यर्थं दाढर्चार्थं वा। प्रतिज्ञैषा। हेतुस्तु विश्वानरशब्दयोर्विषयभेदः। स कथमिति चेत्। आह।

(विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। कथं न्वयमेताभ्यां जायत इति)

विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी मध्यस्थानेव समाम्नानात्। विश्वात् प्रकाश्यात् प्रत्यृते गते प्राप्ते तेन वैश्वानरोऽयं यद् यस्मात् ताभ्यां पञ्चम्येषा तयोः सकाशादित्यर्थः। **जायत** इत्यलक्षणतद्धितार्थनिर्देशः। **कथं** न्वित्यनुपृष्टे प्रतिवचनम्।

(यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवति उदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः)

यत्र यस्मिन् काले **वैद्युतो** विद्युत्सम्बन्धितेजोऽजः **शरण**माश्रयमात्मनः काष्ठादि हिंसितव्यं वा हन्तिर्गतिकर्मा अभिगच्छति यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः। तत्र तदा यावदसावनुपात्तोऽपरिगृहीतः केनचिद्भ्राण्डेन भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवति। का पुनस्तस्य मध्यमधर्मतेत्याह। उदकमिन्धनमस्योदकेन दीप्यते। **शरीरं** काष्ठादि **उपशमनं** निर्वापणम्। अग्नौ काष्ठादिना शाम्यतीत्यर्थः। स खलूपादीयमान एवायं पार्थिवः सम्बध्यते पार्थिवधर्मा भवतीत्यर्थः। पार्थिवधर्मता च प्रसिद्धा कथ्यते उदकोपशमन इत्यादिना। एवं तावद् वैद्युतात्।

(अथादित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत् प्रदीप्यते। सोऽयमेव सम्पद्यते)

अथादित्यात् कथं जन्मेत्याह। **उदीचीति** सप्तम्येकवचनम्। आदित्याधिकरण उत्तरस्यां दिशि समावृत्तमात्र एवादित्ये उदगयनमुखमात्र एवेत्यभिप्रायः। **कंसः** प्रसिद्धो **मणिः** सूर्यकान्तः। **प्रतिस्वरो**ऽपि रश्म्युपतापादयः। **यत्र** यदा। **असंस्पर्शयन्निति** स्पर्शप्रतिषेधेन परं सन्निकर्षं दर्शयति। तच्च प्रदीप्यते तदानेकाकारेण। स आदित्यादयमेव पार्थिवः सम्पद्यते।

(अथाप्याह। वै॒श्वा॒न॒रो य॑तते॒ सूर्ये॑ण (ऋग्०१.९८.१)। इति। न च पुनरात्मनात्मा संयतते। अन्येनैवान्यः संयतते। इत इममादधात्यमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतोऽस्यार्चिषः। तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्।)

एवं तावद् विषयभेदादादित्यादस्यात्वे हेतुमभिधाय हेत्वन्तरमप्याह। **अथापि** अपि चाह मन्त्रः। **वैश्वानरः** इत्यादि। एतदनेनाह। यद्यादित्यादन्यो वैश्वानरः स्यात्, अस्मिन् मन्त्रे स्वात्मनि क्रियाविरोध आपद्येत, न चैतदिष्टम्। तस्मादन्यः **संयतते** सङ्गच्छत इत्यर्थः। पुरस्तान्मन्त्रो व्याख्यातः। तत्र सङ्गतिर्न प्रदर्शितेति भाष्यकारो दर्शयति। इतः काष्ठदेरिमं पार्थिवं पृथिव्यामादधाति। **अमुतो** द्युलोकादादित्यरश्मयः। **इतो** (पृथिवी) लोकादस्याग्नेरर्चिषः प्रादुर्भवन्तीत्यनुषज्यते। **अवक्ष्यन्मन्त्रो मन्त्रदृग्वा**। किञ्च-

(अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्। आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्निति। उदेषीत्यस्तमेषीति विपर्येषीति)

अथ यानीत्यादि। औत्तमिकानि। धूमादि द्रष्टव्यम्। उत्तमस्थानदेवतास्तुतिविषयाणि। **भागानि** भग्नदेवत्यानि सवित्रादिदेवत्यानि वा। तेषु **वैश्वानरीया** वैश्वानरशब्दसम्बन्धिनः। **अभविष्यन्नित्यादि** क्रियातिपत्तौ लृङ्। **एवमस्तोष्यन्** मन्त्राः। **इतिरेवमर्थे**। एवमुदेष्येवमस्तमेषि **विपर्येषीति** पर्यन्तम्। यद्यादित्यादन्यो वैश्वानरः स्यात् तत एवं स्याद् यथोक्तं यतस्तु खलूक्तविपर्ययः।

(आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति। अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति। वहसीति। पचसीति। दहसीति।

आग्नेयेष्वेव हीत्यादि निगदव्याख्यातम्। अत उक्तविपर्ययादन्यो वैश्वानर आदित्यादिति सिद्धम्।

एवं युक्तिभिः स्वपक्षमवस्थाप्य परपक्षोक्तयुक्तिसमीकरणायाह।

(यथो एतद् वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीति। अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते)

यत्तावदेतद् वर्षकर्मणेति अस्मिन्नपि पार्थिवेऽग्नावेतदुपपद्यते यथा तथेदमुदाहरणम्।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।। (ऋ० १.१६४.५१)

दीर्घतमसः। समानमेवैतदुदकं **उच्चैति** ऊर्ध्वं गच्छति च। **अव** शब्दोऽधोभावे। अथ एति पततीत्यर्थः। **अहभिश्छा**न्दसत्वाद् वर्णलोपः। तृतीया च सप्तम्यर्थे। अहस्सु उदगयने यान्यहानि तेषूर्ध्वं गच्छति। दक्षिणायने यानि तेष्वधः। अत्रोत्तरेणार्धर्चेन सहैकवाक्यतायै योग्यविभक्तियुक्तौ यत्तदावध्याहार्यौ। येनोदकेन वृष्टिरूपतामापन्नेन **भूमिं** भूलोकं **पर्जन्याः** पार्जयितारो रसानां माध्यमिका देवगणा **जिन्वन्ति** प्रीणयन्तीत्यर्थः। तत्परिणमत्वात्तद्रूपतामापन्नेन तेनैवोदकेन **दिवं** द्युलोकं **जिन्वन्ति** प्रीणयन्त्यग्नयः। **'इतः प्रदानं देवा उपजिन्वन्ति अमुतो मनुष्याः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति श्रुतेः। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः'** (मनु०३.७६) इति च स्मृतेः। इत्येवमग्नेर्वर्षकर्मस्तुत्यर्था या ऋक् सेयं स्वनिगदव्याख्याता।

यथा चाग्नेरेवमादित्यस्यापि वर्षकर्मस्तुतिं दर्शयति पूर्वपक्षस्य सुतरामनैकान्तिकत्वप्रसिद्धये।

इति निरुक्तविवरणभाष्ये द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य षष्ठः पादः।

त्रयोविंशश्च खण्डः समाप्तः।।

अथ सप्तमः पादः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥ (ऋ०१.१६४.४७) कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य। हरयः सुपर्णाः। हरणा आदित्यरश्मयः। ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्त्तन्ते सहस्थानादुदकस्यादित्यादथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते। घृतम् (निघं०१.१२.१०) इत्युदकनाम। जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः। अथापि ब्राह्मणं भवति। **अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति।** (का०सं०११.१०) **धामच्छद्दिवि खलु वै भूत्वा वर्षति। मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति। यदा वा असावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति** (काठ०सं०११.१०) इति। यथा एतद् रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इत्याम्नायवचनादेतद् भवति। यथो एतद् वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीति। अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च। यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति। बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। **पृथिवी वैश्वानरः। संवत्सरो वैश्वानरः। ब्राह्मणो वैश्वानर** इति। यथो एतत् निवित्सौर्यवैश्वानरी भवतीति। अस्यैव सा भवति। **यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्** इति। एष हि मानुषीभ्यो दीप्यते। यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद् भवति। **जमदग्निभिराहुतः॥** (आश्व०श्रौ०८.९) जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा। प्रज्वलिताग्नयो वा। तैरभिहुता भवति। यथो एतत् हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद् भवति॥ २४॥

भाष्यटीका

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥ (ऋ०१.१६४.४७)

दीर्घतमसः। **कृष्णं** कृष्णवर्णं देवतानां रात्रित्वेन स्मरणाद् मेघनीलत्वाच्च। **नियानं** नियमेन यानं प्रायणमस्मिन् सर्वप्राणिनामिति यानशब्दो नियमनवचनः। **स** दक्षिणायने द्रष्टव्यः। विशेषणसम्बन्धेन कृष्णत्वेन सम्बन्धात्। प्रथमा द्वितीया वा सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या। कृष्णेऽयने दाक्षिणायन इत्यर्थः। त आ ववृत्रन् इत्येतेन वास्य सम्बन्धः। **हरयो** हर्तारो रसानाम्। **सुपर्णा** रश्मयः। **अपो** वस्त्रस्थानीयाः। **वसाना** आत्मन्यासजन्तः। **दिवमुत्पतन्ति**। परस्तात् तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। ये ते कृष्णनियाने **आववृत्रन्** आववर्तन्ते। **सदनात्** स्थानात्। **ऋतस्योदकस्य** आदित्यमण्डलादित्यर्थः। **आदित्** आच्छब्दोऽथेत्यस्यार्थे। इच्चेति। अनन्तरं च **घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते 'उन्दी क्लेदने'** (धा०७.२०) स्विद्यत इत्यर्थः।

क्षणं नियमनमित्यस्यार्थकथनम्। रात्रिः। कस्य? सामर्थ्यात् आदित्यस्येति। हरय इति वा सम्बन्धः। अमुत आदित्यमण्डलात्। अर्वाञ्चोऽधोमुखाः पर्यावर्तन्ते। सहभूतस्योदकस्य स्थानादित्यर्थः। एवमादित्याद् वृष्टिः।

अथापि ब्राह्मणमुक्तमन्त्रद्वयार्थानुवादी भवति।

अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति। (का०सं०११.१०)

अग्निर्वा इतो वृष्टिमपः सम्यगीरयति आहुतिद्वारेण। यद्वा दग्धद्रव्यान्तर्गता आपो दह्यमाना धूमरूपतामापन्ना ऊर्ध्वं गच्छन्ति। तदुक्तम् **'अग्नेर्वै धूमोऽभ्रम्'** (श०ब्रा०५.३.५.१७) इति विज्ञायते।

अथापरं ब्राह्मणम्।

धामच्छद्दिवि खलु वै भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति।

सम्प्रत्यर्थे धामशब्दस्तेजोरूपत्वाद् रश्मिवचनः। धामभी रश्मिभिर्भौमरसलक्षणस्योदकस्याच्छादनात्। अष्टौ मासानात्मन्यासञ्जनाद् ग्रीष्मान्तर्वर्ती सन्नादित्यो धामच्छदुच्यते। तदा धामच्छद् भूत्वा चतुरो मासान् वर्षति। मरुतो मध्यमस्थाना वायवः। तेन धामच्छता सृष्टां वृष्टिमुदकं भूमिं नयन्ति।

तथेदमपरं ब्राह्मणम्

यदा वा असावादित्यो (ऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति)

न्यङ् वाचिनः रश्मिभिरधोमुख इत्यर्थः। सर्वत आभिमुख्येन वर्तते। अनन्तरं वर्षति। एवमुक्तस्यार्थस्य द्रढिम्नोऽनुवादो यथासम्भवं योजनीयः।

यथा एतद् (रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इत्याम्नायवचनादेतद् भवति)

यदप्येतद् अस्यादित्यस्य वैश्वानरत्वे कारणमुक्तं रोहादिति। तत्राप्युच्यते। आम्नायवचनादिति। एतदुक्तं भवति। चोदनालक्षणोऽर्थे सति कल्पनामात्रमौपचारिकमेतद् वैश्वानरत्वं निपातभाक्त्वेन तच्चाग्नेर्वक्ष्यति।

यथो एतद् (वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीति अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च)

अनिर्वचनमनुदाहरणं कपालानि। कथम्? उच्यते। यदि सूर्यो वैश्वानरः स्याद् वैश्वानरीयवत् सौर्योऽपि द्वादशकपालः स्याद् द्वादशविधकर्मत्वात्। यतस्तत् सव्यभिचारमेककपालत्वादिना तस्मादयमप्यहेतुः।

(यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति। बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। पृथिवी वैश्वानरः (श०ब्रा०१३.३.८.३)। संवत्सरो वैश्वानरः (श०ब्रा०५.२.५.१५; ६.६.१.५)। ब्राह्मणो वैश्वानरः (तै०ब्रा०३.७.३.२)। इति)

बहुभक्त्या उपचारेण वदन्ति एवं स्वभावानि। तच्च बहुभक्तिवादित्वं दर्शयन्ति। पृथिवी विश्वान्नरान्नयतीति वैश्वानरः। एवं संवत्सरब्राह्मणवादीति।

(यथो एतत् निवित्सौर्यवैश्वानरी भवतीति। अस्यैव सा भवति)

यदप्येतत् निविदिति। अस्यैव पार्थिवस्य वैश्वानरत्वे यथा सा भवति तथाप्याचक्ष्महे।

अग्निर्वैश्वानरः सोमस्य मत्सत्। विश्वेषां देवानां समित्। अजस्रं दैव्यं ज्योतिः। यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्। द्युषु पूर्वासु दिद्युतानः। अजर उषसामनीके। आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्। उर्वन्तरिक्षम्। ज्योतिषा यज्ञाय शर्म

यंसत्। अग्निर्वैश्वानर इह श्रवदिह सोमस्य मत्सत्। प्रेमां देवो देवहूतिमवतु देव्या धिया। प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम्। प्रेमं सुन्वन्तं यजमानमवतु चित्रश्चित्राभिरूतिभिः श्रवद्ब्रह्माण्यावसागमत्। (शां०श्रौ० ८.२२.१; कौ०ब्रा०५.८)

विश्वामित्रस्यार्षम्। सोमस्य मत्सद् मदेः पाञ्चमिकं रूपं तृप्यतु। विश्वेषां देवानां मध्ये समित् सन्दीपिता। अजस्रं नित्यं दैव्यं। दिव्यानां सम्बन्धि ज्योतिः। यो विड्भ्यो मनुष्यजातिभ्यस्तासामर्थायेत्यर्थः। किम्? अदोदेत् दीप्यते। एतच्च निवित्पदं विशेषतो हेतुत्वेन भाष्य उपन्यस्तम्। द्युषु पूर्वासु पूर्वेष्वप्यहस्स्वित्यर्थः। अग्निहोत्रार्थं दिद्युतानः कानजयं द्योतितवानित्यर्थः। अजरो जरावर्जितः। उषसामनीके मुखे उष-उदयवेलायामित्यर्थः। आकारो भाति नान्तर्णीतण्यर्थेन सम्बध्यते। तस्य चार्थं भासयतिनाचष्टे यश्चाभासयति द्यां दिविष्ठां देवा हविर्वहनादिना। आ पृथिवीं भातिरुक्तार्थोऽनुषज्यते आभासयति पृथिवीम्। आ उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमदर्शितसम्बन्धम्। ज्योतिषा च स्वेन रक्ष आदि निघ्नन् यज्ञाय शर्म सुखं यंसत् छान्दसत्वाद् वर्तमाने लेट् अवभावश्च प्रयच्छति। नित्यमेव चाग्निर्वैश्वानरः इहास्मिन् यज्ञे श्रवत् पञ्चमलकारे विकरणव्यत्ययेन शप्। न च लोडर्थे शृणोतु। किम्। सामर्थ्यात् स्तुतीः। इहैव सोमस्य मत्सत् **'मद तृप्तौ'** (धा०१०.१७२) इत्यस्य पाञ्चमिकरूपं तृप्यतु। प्रशब्दो व्यवहितेन अवत्वित्येतेन सम्बध्यते। इमां च देवो देवहूतिं देवा हूयन्ते यस्यां सा देवहूतिर्यागक्रिया तां प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु। देव्या देवानां स्वभूतया धिया प्रज्ञया। प्रेदं ब्रह्म ब्राह्मणास इत्यर्थः। अवत्वित्यनुषङ्गः सर्वत्र। प्रेदं क्षत्रं क्षत्रियांश्चेत्यर्थः। प्रेमं सुन्वन्तं यजमानं चावतु। चित्रश्चायनीयश्चित्राभिरूतीभिः पालनैः श्रवत् शृणोतु च नित्यमेव ब्रह्माणि स्तुतिलक्षणानि। आवसेत्याकारो गमदित्येतेन सम्बध्यते। अवसा अवसित्यन्ननाम। अतो हेतौ तृतीया। प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा। अनेन च सोमाख्येन हेतुभूतेन सोमं पातुमित्यर्थः, आगमत् पाञ्चमिकं रूपम्। आगच्छत्वित्याशास्महे।

(यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद् भवति)

यदप्येतच्छान्दोमिकमिति। **अस्यैव** पार्थिवस्य तद्वैश्वानरत्वे यथालिङ्गं भाष्यकारेण प्रदर्शितं तथा व्याचक्ष्महे।

वृषा पावक दीदिहि अग्ने वैश्वानर द्युमत्।

जमदग्निभिराहुतः॥ (आश्व०श्रौ०८.९)

वामदेवस्य। प्रत्यक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य वृषादेशचानामन्त्रितत्वाद् यच्छब्दाध्याहारकल्पना। यस्त्वं हविर्वहन-द्वारेण **वृषा** वर्षिता सः। हे **पावक** शोधक **दीदिहि** दीप्यस्व। हे **अग्ने वैश्वानर द्युमत्** क्रियाविशेषणमेतत्। दीप्तिमत्। प्रभूतया दीप्त्या भृशं दीप्यस्वेत्यर्थः। यश्च त्वं **जमदग्निभि**र्ऋषिभि**राहुतो** मर्यादया यथाशास्त्रं हुतः।

लिङ्गदर्शनप्रसङ्गेन जमदग्निशब्दं निराह। **जमदग्नयः 'चमु छमु जमु झमु अदने'** (धा०१.४७०-४७३) प्रजमिताः प्रयोजिता अग्नयो यैः। बहुव्रीहिः। ज्वलतेर्वा नित्यमेव प्रज्वलिता अग्नयो येषामिति।

(यथो एतत् हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद् भवति)

यदप्येतद् हविष्पान्तीयमिति। तदप्य**स्यैव** वैश्वानरस्य पार्थिवत्वे लिङ्गं भवति। कुत एतत्? सूक्ताद्यस्य मन्त्रस्याग्नेयत्वात् पराचीनानामप्याग्नेयत्वमेव। वैश्वानरश्रुतिश्चाग्नेरेव विशेषणं प्रकरणान्न सूर्यस्येति दर्शयति।

(इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।)

अथ पञ्चविंशः खण्डः।

हुविष्पान्तमुजरं स्वुर्विदिं दिविस्पृश्याहुतं जुष्टंमुग्नौ। तस्यु भर्मणे भुवनाय देुवा धर्मणे कं स्वुधयां पप्रथन्त॥ (ऋ०१०.८८.१) हविर्यत्पानीयमजरं सूर्यविदि दिविस्पृश्यभिहुतं जुष्टमग्नौ तस्य भरणाय वा भावनाय च धारणाय च- एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो देवा इममग्निमन्नेनापप्रथन्त। अथाप्याह॥ २५॥

हुविष्पान्तमुजरं स्वुर्विदिं दिविस्पृश्याहुतं जुष्टंमुग्नौ।

तस्यु भर्मणे भुवनाय देुवा धर्मणे कं स्वुधयां पप्रथन्त॥ (ऋ० १०.८८.१)

मूर्धन्वत आङ्गिरसस्यार्षम्। परस्तात्तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। **हविर्यत्** सोमाख्यम्। **पान्तं** पिबेतरर्हार्थेऽन्तोनामकरणः पानार्हम्। **अजरं** जरावर्जितम्। **स्वर्विदि** स्वरादित्यस्तस्य वेत्तरि। **दिविस्पृशि** दिवं च स्प्रष्टरि। हविर्नयनद्वारेण द्वेऽप्येतेऽग्निविशेषणे। **आहुतं** मर्यादया यथाशास्त्रं हुतम्। **जुष्टं** प्रियं देवानाम्। **अग्नौ** आहवनीयाख्ये। **तस्य भर्मणे** भर्म भरणं सम्भूतत्वात् करणं तदर्थम्। **भुवनाय** भावनाय भावनं देवतायोग्यत्वापादनं तदर्थं च **देवाः**। **धर्मणे** धारणाय चाविच्छेदेन। **कमिति** पादपूरणः। **स्वधया**ऽन्नेन प्रयाजानुयाजहविराख्येन इममेव पार्थिवमग्निं **पप्रथन्त** क्षीणं सन्तं वीर्येण प्रथितवन्तः। तदेतत्-अथ प्रयाजानुयाजा इत्यन्तरिक्ष आसत इति।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः

अुपामुपस्थे महिुषा अंगृभ्णतु विशो राजानुमुपं तस्थुर्ऋुग्मियम्। आ दूुतो अुग्निमंभरद् विुवस्वंतो वैश्वानुरं मांतुरिश्वां परावतः॥ (ऋ०६.८.४) अपामुपस्थे उपस्थाने। महत्यन्तरिक्षलोके आसीनाः। महान्त इति वा। अगृह्णत माध्यमिका देवगणाः। विश इव राजानं उपतस्थुः। ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा। अर्चनीयमिति वा। पूजनीयमिति वा। आहरद्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात्। विवस्वान् विवासनात्। प्रेरितवतः परागताद्वा। अस्याग्नेः वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह। मातरिश्वा वायुः। मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति। मातर्याश्वनिति इति वा। अथैनं एताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति॥ २६॥

भाष्यटीका

अुपामुपस्थे महिुषा अंगृभ्णतु विशो राजानुमुपं तस्थुर्ऋुग्मियम्।

आ दूुतो अुग्निमंभरद् विुवस्वंतो वैश्वानुरं मांतुरिश्वां परावतः॥ (ऋ०६.८.४)

महिषा महन्नाम (वा) महान्तो माध्यमिका देवगणाः। **अगृभ्णत** परिगृह्णन्ति परिचारयन्तीत्यर्थः। परिचार्य च **विशो** मनुष्यनामैतत् लुप्तोपमं च मनुष्या इव। **राजानमुपतस्थुः** उपपूर्वस्तिष्ठतेः स्तुतौ स्तुतवन्तः स्तुवन्ति वा।

ऋग्मियं अर्चतेः स्तुतिकर्मणो ऋक् ततो मत्वर्थीयो नामकरणः। तया ऋचा तद्वन्तं स्तुतिमन्तमित्यर्थः। अर्चार्हं वा स्तुत्यमित्यर्थः। अत्रैकवाक्यतायै भाष्यकारेण तच्छब्दोऽध्याहृतः। तच्छ्रुतेश्च यच्छब्दो अध्याह्रियते। यमुपतस्थुः। आकारोऽभरदित्येतेन सम्बध्यते। तं **दूतः**। कस्य? सामर्थ्याद् देवानाम्। **अग्निमभरत्** हरतेर्हकारस्य भकारः। (आहरत्) आहृतवान्। कुतः? **विवस्वत** आदित्यस्य सकाशात्। **वैश्वानर**मग्निविशेषणमेतत्। कतमो दूतः? उच्यते, **मातरिश्वा** वायुः। **परावतः** दूरनामैतत् दूरादर्चनीयमित्यर्हार्थं दर्शयितुं कृत्यः।

विवासनमपनयनं तमसाम्। तेन तद्वान्। प्रपूर्वस्येरयतेः परापूर्वस्य वा वेतेर्गतिकर्मणः परावच्छब्द इति दर्शयति **प्रेरितवत** इत्यादिना। **'पञ्चम्यास्तसिल्'** (अष्टा०५.३.७) प्रकर्षेणेरितादादित्यात् **परागतादस्याग्ने**रित्यादिना।

आह्रियमाणस्य चाग्नेर्वैश्वानरत्वविशिष्टस्य यतश्चाह्रियते विवस्वतस्तेषामन्यत्वमाह मन्त्रः। अतश्च मध्यमोत्तमाभ्यामन्यत्वं सिद्धं वायुरित्यभिधेयवचनम्। मातर्यन्तरिक्षे श्वसितिः शब्दकर्मा, मातर्युपपदे श्वसेर्धातोः **'श्वन्नुक्षन्पूषन्'** (उणा०१.१५९) इत्यादिनिपातनात् (वैयाकरणाः) यद्वा मातरिशु शब्दे चोपपदे अनितेर्गतिकर्मणो विच्। अयं शु शब्दस्य वा शु शब्देनार्थवचनम्।

इदानीं द्युस्थानस्य वैश्वानरत्वे यदुक्तं लिङ्गम् **'वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्'** इति। तदप्यव्यभिचारप्रदर्शनायाह।

अथैनं (एताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति)

पार्थिवमग्निं **एताभ्यां** वक्ष्यमाणाभ्यामृग्भ्याम्। **सर्वाणि** पृथिव्यादीनि **स्थानानि**। **अभ्यापादं** **'विशिपतिपदिस्कन्दां'** (अष्टा०३.४.५६) इति णमुल्। क्रियाविशेषणं चैतत्। सर्वस्थानाभ्यापादनेन सर्वस्थानासेवनेन वा। सर्वस्थानाभ्यापादनविशिष्टं स्तवनमित्यर्थः।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

मू॒र्धा भु॒वो भ॑वति॒ नक्त॑म॒ग्निस्तत॑ः सूर्यो॑ जायते प्रा॒तरु॒द्यन्। मा॒याम॒ू तु य॒ज्ञिया॑नामे॒तामपो॒ यत्तूर्णि॒श्चर॑ति प्रजा॒नन्॥ (ऋ०१०.८८.६) मूर्धा मूर्तमस्मिन् धीयते। मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः। ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव। प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्। अतो यत्कर्म चरति प्रजानन्। सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरन्ति त्वरमाणः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥२७॥

भाष्यटीका

मू॒र्धा भु॒वो भ॑वति॒ नक्त॑म॒ग्निस्तत॑ः सूर्यो॑ जायते प्रा॒तरु॒द्यन्।
मा॒याम॒ू तु य॒ज्ञिया॑नामे॒तामपो॒ यत्तूर्णि॒श्चर॑ति प्रजा॒नन्॥ (ऋ०१०.८८.६)

मूर्धन्वत एवार्षम्। परश्च। यथा सर्वावयवेभ्यो मूर्धा शिरः प्रधानम्। एवं सर्वतः प्रधानभूतत्वात् **मूर्धा**। कस्य? **भुवो** भूलोकस्य भूतजातानामित्यभिप्रायः। **भवति** आलोकस्यावशितपाकैश्चाधीनत्वात्। कदा? **नक्तं**

विशेषेण रात्रावग्निः। ततो रात्रावतीतायां **सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्** स एवाग्निः। **मायां** प्रज्ञानामैतत्। ऊ तु पादपूरणौ। छद्मवचनो वा मायाशब्दो (विज्ञानातिशय) कोऽप्ययमिन्द्रजालः। **यज्ञियानां** यज्ञार्हाणाम्। केषाम्? सामर्थ्यादेवानाम्। **एतामिति** मायाप्रतिनिर्देशः। द्वितीया निर्देशाच्च वेदविदो मन्यन्त इति शेषः। कुत एतत् स एवं सूर्य इति? उच्यते। **अपो यत्** अप इति कर्मनाम। यदिति यस्मादर्थे। यस्मादसौ अस्मिन् काले इदं कर्तव्यमस्मिन्निदमिति कर्म, आत्मीयं लोकस्य वा **प्रजानन्**निति व्यवहितेन सम्बन्धः। **तूर्णिः** क्षिप्रनामैतत्। क्षिप्रं **चरति** पृथिवीतो दिवं दिवश्च पृथिवीम्। अन्यानि च सर्वाणि स्थानानि मूर्धायं मस्तकवचनः।

तत्र मूर्तं पिण्डं शरीरं तदस्मिन् धीयते ध्रियत इत्यर्थः। तद्भावभावित्वेन मूर्तशब्दाद् दधातेश्च मूर्धेत्येतद्दर्शयति। अग्नौ तु प्राधान्यमङ्गीकृत्य प्रवृत्तिः सम्भवति। तत्राप्ययमर्थः। सर्वप्राणिनां शरीरमस्मिन् सति ध्रियत इति। तथा **'अग्निरायुर्मनुष्याणाम्'** (तु०श०ब्रा०६.७.३.७) इत्यायुर्वेदस्मरणात्।

(तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय)

भूयस्त्वं स्थानत्रयसम्बन्धात्

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथाष्टाविंशः खण्डः।

स्तोमे॑न॒ हि दि॒वि दे॒वासो॑ अ॒ग्निमजी॑जन॒ञ्छक्ति॑भी रोदसि॒प्राम्। तमू॑ अकृण्वन् त्रे॒धा भु॒वे कं स॒ ओष॑धीः पचति वि॒श्वरू॑पाः॥ (ऋ०१०.८८.१०) स्तोमेन यं हि दिवि देवासो अग्निमजनयन्। शक्तिभिः कर्मभिः। द्यावापृथिव्योरापूरणम्। तमकुर्वंस्त्रेभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। **'यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः'** इति हि ब्राह्मणम्। तदग्नीकृत्य स्तौति। अथैनमेतयादित्यीकृत्य स्तौति॥ २८॥

भाष्यटीका

स्तोमे॑न॒ हि दि॒वि दे॒वासो॑ अ॒ग्निमजी॑जन॒ञ्छक्ति॑भी रोदसि॒प्राम्।
तमू॑ अकृण्वन् त्रे॒धा भु॒वे कं स ओष॑धीः पचति वि॒श्वरू॑पाः॥ (ऋ०१०.८८.१०)

स्तोमेन स्तुत्या। परस्तात्तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दस्याध्याहारः। यम्। हीति पदपूरणः। आदित्यात्मना **दिवि देवासो** देवा इन्द्रादयो हविषो दातारो ऋत्विग्यजमाना वा। **अग्निमजीजनन्** जनितवन्तः। **शक्तिभिः** कर्मनामैतत्। न केवलं स्तुतिभिः। किन्तर्हि। कर्मभिश्च विष्टपस्थानसम्बन्धहेतुभिः। तथा च ब्राह्मणम्, **'एष नोदियात् यद्येतामग्नावाहुतिं न जुहुयात्'** इति। **'आहुतिभ्य एवैनं जनयन्ति'** (मूलमनुपलब्धम्) इति च। **रोदसिप्रां 'प्रा पूरणे'** (धा०२.५१) इत्येतस्मिन् **'आतो मनिन्'** (अष्टा०३.२.७४) इत्येवं विच् अयम्। रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरापूरयितारं स्वेन तेजसा। **तम्** ऊकारः पादपूरणः **अकृण्वन्** अकुर्वन् कृतवन्तः। **त्रैधा भुवे** त्रैधाभावायेत्यर्थः। पृथिव्यामन्तरिक्षभावाय अन्तरिक्षे द्युभावाय दिवि आहुतिभ्योऽप्यादित्यभावाय। कमिति

पादपूरणः। **स** एव त्रिधाभूतस्तेन तेन स्थानाधिकारसंनियुक्तेनोपकारेण व्रीह्यादिका **ओषधीः पचति विश्वरूपाः**। तेन तेन तस्य तण्डुलाशितपीतादिना रूपेणावस्थिता इत्यभिप्रायः।

शाकपूणिग्रहणमस्यैव पक्षस्य दृढीकरणम्। अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि दर्शयति।

'यदस्य (दिवि तृतीयं तदसावादित्यः' इति हि ब्राह्मणम्। तदग्नीकृत्य स्तौति।) (मूलमनुपलब्धम्)

यदस्याग्नेः पार्थिवस्य **दिवि तृतीयं** कृतवन्तः। **तदसौ** तदेवासावादित्यः। न ततो व्यतिरिक्तः। एवं ब्राह्मणमाह। तच्चादित्यरूपं तृतीयमग्नीकृत्येत्यभूततद्भावं दर्शयति। अग्निरूपतामापाद्य स्तौति।

अयमेव **'तमू अकृण्वन्'** इति मन्त्रो मन्त्रदृग्वा।

(अथैनमेतयादित्यीकृत्य स्तौति)

अथैनमग्निमेतया वक्ष्यमाणया ऋचा आदित्यीकृत्य स्तौति।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य अष्टाविंशः खण्डः।

अथैकोनत्रिंशः खण्डः।

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्। यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन् भुवनानि विश्वा॥ (ऋ०१०.८८.११) यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम्। आदितेयमदितेः पुत्रम्। यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूताम्। सर्वदा सहचारिणौ उषाश्चादित्यश्च। मिथुनौ कस्मात्? मिनोतिः श्रयतिकर्मा। यु इति नामकरणः। थकारो वा। नयति परः। वनिः वा। समाश्रितावन्योऽन्यं नयतः। वनुतो वा। मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा। अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति॥ २९॥

भाष्यटीका

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन् भुवनानि विश्वा॥ (ऋ०१०.८८.११)

यदा इत्पादपूरणः। एनमिति पूर्वस्यामृच्यादिष्टस्याग्नेरन्वादेशः। एनमग्निमदधुर्निहितवन्तः। **यज्ञियासो** यज्ञार्हाः। क्व? **दिवि देवाः** इन्द्रादयो ऋत्विग्यजमाना वा। **सूर्यं** सन्तं (सूर्यत्वेन) सूर्यत्वमापन्नमित्यर्थः। **आदितेयमदितेः** पुत्रम्। **यदा** यदा निहितः स एकः स एव वा द्वौ तत्कृतावेतौ द्वावपि **मिथुनौ** समाश्रयन्तौ स्त्रीपुंसौ **चरिष्णू** चरणशीलौ। **अभूतां** प्रादुर्भूतौ। नभसा गन्तुं प्रवृत्तावित्यर्थः। आदित्यवधौ ततः प्रभृति तत्कृतेन प्रकाशेन **प्रापश्यन्** प्रपश्यन्ति **भुवनानि** भूतानि **विश्वा** सर्वाणि।

लोकोऽयं मिथुनशब्दो नपुंसकैकवचनान्तः। सारङ्गमिथुनम्। चक्रवाकमिथुनम्। **'यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः'** (वा०रामा०बा०२.१५) इति स्त्रीपुंसयुगले प्रसिद्धम्। इह तु भाष्यकारो यथा पठितद्विवचनान्तमेव। **'डुमिञ् प्रक्षेपणे'** (धा०५.४) इत्येतस्मात् श्रयत्यर्थात् थु इति प्रत्ययः।

शब्दसारूप्यप्रसक्तमिथशब्दंनिर्विवक्षयाह। **थकारो वा**। मिथः शब्देनानिर्विवक्षितेन तत एव धातोः थकार प्रत्यय इत्यभिप्रायः। मिथुनार्थमाह। **नयतिः परो वनिर्वेति**। नयतेर्वनेर्वा नकार इत्यर्थः। अथ मिथुनशब्दविषय एव प्रत्ययविकल्पः। तत्र यदा थुः तदा नयतिः परः। यदा थः तदा वनिः कृतसम्प्रसारणः। छान्दसत्वं चापरपूर्ववत् पूर्वत्वमपरत्वमपि द्रष्टव्यम्।

अर्थमाह **समाश्रितौ** संसेवमानावन्योऽन्यं **नयतः** कालम्। **वनुतो वा** सम्भजतः प्राचीम्। तथा च **'पूर्वे अर्धे रजसः'** (ऋ०१.९२.१; निरु०१२.७) इति मन्त्रवर्णात्। **मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव** धातुप्रत्ययसमुदायात्। केवलं तु मिनोतिर्मेथतिकर्मा। तथा च दर्शयति। **मेथन्तावाक्रोशन्तावन्योन्यं नयत** इत्यादि समानं पूर्वेण।

अस्यैव तद् भवतीति हविष्पान्ती यस्य सर्वस्याग्निप्रधानत्वप्रतिज्ञां निर्वोढुमाह।

अथैनं (एतयाग्नीकृत्य स्तौति)

अनन्तरमेनमिति मध्यमस्य आचार्यस्य मतेन वैश्वानरत्वेन प्रदिष्टस्यायमन्वादेशः। एनं मध्यममुत्तमपदे ताभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यामृग्भ्यामनग्निं सन्तमग्नीकृत्य स्तौति।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः।

अथ त्रिंशः खण्डः।

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद। आ शेकुरित् सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥ (ऋ०१०.८८.१७) यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ॥ अयं चाग्निरसौ च मध्यमः। कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेति। आशक्नुवन्ति तत्सहमदनं समानख्याना ऋत्विजः। तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यतीति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥३०॥

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।

आ शेकुरित् सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥ (ऋ०१०.८८.१७)

भाष्यटीका

यत्र वदेते। आत्मनेपददर्शनाद् विप्रलापो गम्यते। विवदेते। **अवरो**ऽयं पार्थिवोऽग्निः, **परश्च** (मध्यमः)। एतौ द्वौ दैव्यौ होतारौ (यज्ञस्य नेतारौ यज्ञन्यौ) तयोर्यज्ञन्योः यज्ञस्य नेत्रोः। **कतरो नौ** आवयोर्**विवेद** विशेषेण वेद जानाति। सम्यग्यज्ञं नेतुमिति शेषः। यत्रेति श्रुतेस्तत्रेत्यध्याहारः। तत्र **आशेकुः**। आकारोऽत्र प्रतिषेधे। न शेकुर्न शक्नुवन्ति। **इत्** एतयोः **सधमादं** सहमादं सहस्पर्धां संघर्षमपनेतुमिति शेषः। के? **सखाय** ऋत्विजः। कुत एतत्? यदाह। **नक्षन्त** नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा व्याप्नुवन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। **यज्ञं** ये तेषामित्यनेकाध्याहारकल्पनयैकवाक्यता योज्या।

(तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।)

अस्यामृचि मध्यमसाधारण्येन स्तुतिः। उत्तरस्यां केवलस्यैवेति भूयस्त्वम्।

इति द्वादशस्या-(सप्तमस्या)-ध्यायस्य त्रिंशः खण्डः।

अथ एकत्रिंश: खण्ड:।

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३ वसते मातरिश्वः। तावद्दधात्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो नि षीदन्॥ (ऋ०१०.८८.१९) यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति। प्रतिदर्शनमिति वा। अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः। इहेव निधेहीति यथा। सुपर्ण्यः सुपतनाः। एता रात्रयः। वसते मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य। तावत् उपदधाति यज्ञमागच्छन् ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्। होतृजपः तु अग्निर्वैश्वानरीयो भवति। **देव सवितरेतं त्वा वृणुतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण।** (ऐ०ब्रा०२.५.५; आश्व०श्रौ०१.३.२३) इति। इममेव अग्निं सवितारमाह। सर्वस्य प्रसवितारम्। मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्। यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते॥३१॥

भाष्यटीका

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३ वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो नि षीदन्॥ (ऋ०१०.८८.१९)

यमृजभुजमिति मातरिश्वना पृष्टे प्रतिवचनमेतत्। **यावन्मात्रं** यावत् प्रमाणम्। **उषसः** षष्ठीश्रुतेर्भागमिति शेषः। भागमवयवम्। **न**शब्दः सम्प्रत्यर्थे। **प्रतीकं** अञ्चेर्गत्यर्थस्य रूपम्। प्रत्यक्तं प्रतिगतमित्यर्थः। क्व? आत्मनि। अथवा उषसः स्वभूतं प्रतीकं दर्शनं कतिराख्यम्। **सुपर्ण्यः** सुपतना रात्रयः। **वसते** आच्छादयन्ति स्वेन तमसा। हे **मातरिश्वन्** वायो। तावत्परिमाणं हेतुज्ञानमत्यन्ताल्पमित्यर्थः। तस्मिन् प्रयोगो लोकेऽस्ति उपमानस्येवादेः **इहैव निधेहि** इति। यावत्तावदेवेहेति तत्प्रतिपाद्यस्य सादृश्यस्य वाक्यार्थे समवायासम्भवादुपजनमात्रं तज्ज्योतिष उषसो वर्णस्य प्रकाशस्य। एवमुपक्रमोपसंहारयोरसन्दिग्धाग्निसंस्तुतेर्वैश्वानरशब्दोऽप्यग्निविषय एवेत्याग्निवैश्वानरीय-मेतत्। न सौर्यवैश्वानरीयमिति स्थितम्।

हविष्पान्तीयस्याग्निवैश्वानरीयत्वमुपपाद्य अग्नेर्वैश्वानरत्वमुपदर्शयितुं मन्त्रान्तरमुपन्यस्यति। **होतृजप** इत्यादि। तुरवधारणे। होतृजप एव नाग्निर्वैश्वानरो यस्मिन्। किन्तर्हि? मध्यम उत्तमो वा। **देवसवितरित्यादि** जपस्तं व्याचष्टे। **इममेव** पार्थिवमग्निं **सर्वस्या**ग्निहोत्रादेः कर्मणोऽग्निप्रणयनपुरस्सरत्वात् **प्रसवितारं** प्रेरयितारम्। **सह पित्रे**तिभेदोपदेशाद् मध्यमं वा वैश्वानरं पितरमाह मन्त्रः। एवमाचार्यमतेन पूर्वयाज्ञिकमतेन चानेकान्तं पुनः परिचोद्य शाकपूणिमतेन प्रतिसमाधत्ते। **यस्त्वित्यादि** समानं पूर्वेण।

एवं परपक्षोक्तसमीकरणात् स्वपक्षोक्ताभिरुपपत्तिभिरयमेवाग्निर्वैश्वानर उच्यत इति सिद्धम्।

सर्वत्राध्यायान्ते द्विरुक्तिः पदस्य वाक्यस्य वा शब्दशास्त्रे **'तस्य परमाम्रेडितम्'** (अष्टा०८.१.२) इति आम्रेडितमिति महासंज्ञाप्रणयनस्य प्रयोजनं वर्णितमन्वर्थसंज्ञाविज्ञानम्। आम्रेड्यतेऽधिकमुच्चार्यते। नैवं जातीयकं द्विर्वचनं जाघट्यत इति शब्दविदो विदाञ्चक्रुः। यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति।

इति महेश्वरविरचिते निरुक्तविवरणसमुच्चये द्वादशो-(सप्तमो-)ऽध्यायः॥

॥अथ अष्टमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

द्रविणोदाः कस्मात्? धनं द्रविणमुच्यते। । यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणम्। यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः। तस्यैषा भवति॥१॥

भाष्यटीका

एवमग्न्यादिशब्दानभिधायाधुना क्रमप्राप्तद्रविणोदश्शब्दनिर्विवक्षयाह। **द्रविणोदाः कस्मात्?** प्रविभज्य निर्ब्रूयादित्याह। **धनं द्रविणमुच्यते।** यदेनत्। (कुतः?) कर्मभूतस्यान्वादेशः। **अभिद्रवन्ति** तदर्थिनः। अभिद्रूयत इति द्रविणं पठ्यमानस्यैवाभिधेयनिर्विवक्षया। निर्विवक्षा पुनरर्थान्तरेऽपि प्रयोगोपपत्तेः। तच्चार्थान्तरं दर्शयत्येव। **बलं वेति।** करणकारके इति विशेषः। यस्माद् धनयुक्ता अभिगच्छन्ति अभियोज्यस्य जिगीषवः। **तस्य** धनस्य बलस्य वा **दाता।** तस्य प्राधान्यस्तुत्यर्थैषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते॥ (ऋ०१.१५.७) द्रविणोदा यस्त्वम्। द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा। द्रविणसानिन इति वा। द्रविणसस्तस्मात् पिबत्विति वा। यज्ञेषु देवमीळते। याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा। तत्को द्रविणोदाः? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः। स बलधनयोर्दातृतमः। तस्य च सर्वा बलकृतिः। **'ओजसो जातमुत मन्य एनम्।'** (ऋ०१०.७३.१०) इति चाह। अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह। एष पुनरेतस्मात् जायते। **'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान।'** (ऋ०२.१२.३) इत्यपि निगमो भवति। अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति। तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति। अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति। अथाप्याह– **'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः।'** (ऋ०२.३७.४) अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः। आग्नयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति। **'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।'** (ऋ०१.९६.१) इत्यपि निगमो भवति। यथो एतत् स बलधनयोर्दातृतमः–इति सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते। यथो एतत्–**'ओजसो जातमुत मन्य एनम्।'** (ऋ०१०.७३.१०) इति चाहेति। अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते। तस्मादेनमाह **सहसस्पुत्रम्।** (ऋ०२.७.६)। **सहसः सूनुम्।** (ऋ०८.७५.३) **सहसो यहुम्।** (ऋ०१.७९.४)। यथो एतदग्निं द्राविणोदसमाहेति। ऋत्विजोऽत्र द्राविणोदस उच्यन्ते। हविषो दातारस्ते चैनं जनयन्ति। **ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः।** (मै०सं०१.२.७) इत्यपि निगमो भवति। यथो एतत्तेषां पुनः

पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति भक्तिमात्रं तद्भवति। यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्। यथो एतत्–सोमपानेनैनं स्तौतीत्यस्मिन्नप्येतदुपपद्यते। **सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः।** (ऋ०५.६०.८) इत्यपि निगमो भवति। यथो एतद् द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदस इत्यस्यैव तद्भवति॥ २॥

भाष्यटीका

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते॥ (ऋ०१.१५.७)

मेधातिथेः। अत्र यथाश्रुतसम्बन्धानुपपत्तेरेकवाक्यतायै यच्छब्दाध्याहारः प्रदर्शितो भाष्यकारेण। **द्रविणोदा यस्त्वमिति। द्रविणसो** द्रविणं धनं दक्षिणालक्षणं हविराख्यं वा तस्मिन्निमित्तभूते कर्तृत्वेन वा तस्य सर्तारः। तस्य वा संभक्तारो ऋत्विजः। अथवा सकारान्त एव धनवचनः। ततश्च द्रविणस इति पञ्चमी। तच्छ्रुतेश्च पिबत्विति शेषः। तेनायमर्थो भवति। द्रविणोदा नाम देवः। द्रविणसो धनात् सोमाख्यादेकदेशं स्वांशलक्षणं पिबतु। यमृत्विजो **ग्रावहस्तासो अध्वरे।** व्यत्ययेनैकवचनं बहुवचनस्य स्थाने। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। अवैगुण्याद् रक्षआदिभिरहिंसितेष्वित्यर्थः। **यज्ञेषु** ज्योतिष्टोमादिषु। अथवाध्वरे ज्योतिष्टोमादौ ये प्रतीतिसवचनं यागाभ्यासास्तेषु **देवं** दानादिगुणं ईळते याचन्ते स्तुवन्ति वर्धयन्ति वा सः।

तत्को द्रविणोदाः? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः। स बलधनयोर्दातृतमः। तस्य च सर्वा बलकृतिः।

तदिति वाक्योपन्यासे। **क** इति प्रश्ने। द्रविणोदशशब्दस्याभिधेयं विचार्यते। किं प्रकृतोऽग्निरेव आहोस्विद्देवतान्तरमिति। **इन्द्र इति कौष्टुकि**राचार्यो मन्यते। हेतुमाह। स बलस्य धनस्य चातिशयेन दाता विशिष्टैश्वर्ययोगाद् बलसम्बन्धाच्च या च का च बलकृतिरित्युक्तम्। बलसम्बन्धं दर्शयति। **तस्य च सर्वा बलकृतिरिति।**

एतदुक्तं भवति। इन्द्रविषयत्वेनैव द्रविणोदशशब्दस्योक्तनिर्वचनसामञ्जस्यादिन्द्रो द्रविणोदा इत्युक्तफलसम्बन्धेनापि दर्शयति। **'ओजसो जातम्'** इति चेन्द्रमाह मन्त्रः।

अश्वादियायेति यद् वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद॥ (ऋ०१०.७३.१०)

गौरवीतिराह। यतो यो जातस्तद्धर्माणां तत्र दर्शनाद् वेगवत्तायाश्चेन्द्रे मन्त्रलिङ्गेभ्यो वाय्वात्मनि वा दर्शनात् वेगवतोऽश्वादयं जात इत्येवमवधार्य **अश्वादयमियाय** एतिरत्र शुद्धोऽपि उत्पूर्वार्थे उदियाय उद्गतो जात इत्यर्थः। **इतिश्चैवमर्थे। यदिति** व्यत्ययेन नपुंसकं पुल्लिङ्गस्य स्थाने। एवं यमित्यर्थः। यं **वदन्ति।** यच्छ्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः। तमहमो**जसो जातम्। उत**शब्दोऽप्यर्थे ओजसश्च परो द्रष्टव्यः। बलादपि जातं **मन्ये।** एवं बलमपि ह्यस्मिन् दृश्यत एव। **मन्योः** मन्यू रोषो दीप्तिर्वा। रोषाद्दीप्तेर्वा **अयमियाय** उत्पन्नो जातः। तस्याप्यस्मिन् दर्शनात्। यश्च **हर्म्येषु** गृहेषु सामर्थ्याच्छत्रूणां स्वभूतेषु यज्ञगृहेषु **तस्थौ** तिष्ठति। किं बहुना। **यतो** यतो वा **प्रजज्ञे** जातोऽयम्। तदिन्द्र एवात्मजन्मनस्तत्त्वं **वेद** नान्यो वेदितुमर्हति। **'विदो लटो वा'** (अष्टा०३.४.८३) णल्।

अथापि चायमपरो हेतुरिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे-

अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह।

मन्त्रो मन्त्रदृग्वा। उदाहरणं मृग्यम्। अथवा '**द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः**' (ऋ०२.३७.४) इत्येतदुदाहरणमुक्तं कल्प्यम्।

ननु च पूर्वपक्षवादिन इन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वाद् द्रविणोदःशब्दसामानाधिकरण्याच्च द्राविणोदसशब्दस्यास्मिन् मन्त्रे इन्द्र एव द्राविणोदस उच्यते नाग्निः। सत्यम्। गौण्या वृत्त्या न मुख्या। मुख्यया त्वग्निरेव द्राविणोदस इन्द्राज्जायमानत्वात् सादृश्यान्मन्त्रे यथाकथाञ्चिद् गौण्या वृत्त्या इन्द्रो द्राविणोदस उच्यते। मुख्याभिधानादन्या च का च गौणी वृत्तिः। अतो यदस्या गौण्या वृत्त्या द्वारभूतमुख्याभिधानं तमभिप्रेत्यैतदुच्यते। तथाप्यग्निं द्राविणोदसमाहेति न दोषः।

अथवा नैव सामानाधिकरण्येन सम्बन्धः। किन्तर्हि? वैयाधिकरण्येनाध्याहारेण। यस्यापत्यं द्राविणोदसोऽग्निः स द्रविणोदा इत्यर्थः। एतस्य चायमपत्यम्। यत आह एष पुनरग्निरेतस्मादिन्द्राज्जायते। कुत एतदिति चेत्? '**यो अश्मनोरन्तः**' इति मन्त्रवर्णनात्।

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य।

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥ (ऋ०२.१२.३)

गृत्समद आह ऐन्द्रं रूपमास्थितः। इन्द्रोऽयमिति मन्यमानैरसुरैर्हन्यमानस्तानाह स्मेत्याख्यानम्। **यो हत्वा अहिं** मेघं **अरिणात्** रिणातेर्गतिकर्मणोऽन्तर्णीतण्यर्थस्येदं रूपं अगमयत्। **सप्त सिन्धून्** व्यत्ययेन पुल्लिङ्गम्। सिन्धूर्नदीः। नदीनां मध्ये याः प्रधानभूता गङ्गाद्याः सप्त नद्यस्ताः प्राधान्यान्निर्दशिता मन्त्रदृशा। अन्तरिक्षनदीर्वा सप्त अम्बा चाम्बाला चेत्येवमाद्याः। यश्च **गा उदाजत्** उद्गमयतीत्यर्थः। **अपधा** अपेत्येतेषां अपेत्येतस्य स्थाने। आत्मनो धा निधानेन स्थापनेन। मेघमात्मनोऽधो निधाय तावत्पादाभ्यां मृद्नाति यावदुदकमस्मिन् जातमित्यर्थः। अवघातेनैव बिलोद्घाटनेनैव **बलस्य** मेघस्य। **यश्चाश्मनोः**। अश्मेति मेघनाम पर्वतनाम वा। द्यावापृथिवौ वा तद्व्यापनयोगात्। अन्तरित्यव्ययमधिकरणभूतं मध्यमाचष्टे द्यावापृथिव्यौ वा। अत्राधेयवंशयोस्तरुशाखयोर्वा वायुना संघर्षाज्जायते। तं दावरूपमग्निं वैद्युतं वा **जजान** जनयति। **संवृक्** सम्यक् च्छेत्ता हन्ता शत्रूणां समत्सु संग्रामेषु **सः**। **जनासः** हे असुरजनाः। **इन्द्रो** नाहमिति।

(अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति। तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति।)

अपि चान्यो हेतुः। ऋतुयाजेषु द्रविणोदः शब्दसम्बन्धो द्राविणोदसः पात्र्या देवतायाः प्रवादाः सन्ति। अतः किम्? उच्यते। तेषां पुना ऋतुयाजानां पात्रस्य ऋतुपात्रमिति समाख्या भवति। ततः श्रुतार्थापत्या उपपन्नमिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वम्। ते च प्रवादा यस्मिन्मन्त्रे स व्याख्यायते।

होता यक्षद्देवं द्रविणोदामपाद्धोत्रादपात्पोत्रादपान्नेष्ट्रात् तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यमिन्द्रपानं देवो विणोदा द्राविणोदसः स्वयमायूयात् स्वयमभिगूर्यात् स्वयमभिगूर्तया होत्रय ऋतुभिः सोमस्य पिबत्वच्छावाक यजा॥

(प्रैषः ५१)

विश्वामित्रस्य। **'ऋतुभिः प्रेष्य'** इति अध्वर्युणा प्रेषितो मैत्रावरुण अच्छावाकं प्रति प्रैषमाह। **होता यक्षत्।** होतेति तत्कार्यापत्तेरच्छावाक उच्यते। होतृकार्यापन्नोऽच्छावाको यजतु। **यक्षदित्यस्याभियजत्वित्यर्थः** सर्वमन्त्रेषु विज्ञेयः। कुतस्त्योऽयमर्थ इति चेत्? इहत्य एवेति ब्रूमः। छान्दसत्वादमुष्य प्रयोगस्य। छन्दसीत्यधिकृत्य हि **'लिडर्थे लेट्'** (पा०३.४.७) इति पञ्चमलकारस्मृतेः। **देवं** दानादिगुणमिन्द्रम्। **द्रविणोदामपाद्धोत्रात्।** अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। यः पीतवान् **होत्रात्**, होतुः स्वभूतात् पात्रात्। **अपात्** पीतवान्। **नेष्ट्रात्** नेष्टृस्वभूतात्। स च भवता इज्यमान**स्तुरीयं** **'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च'** (पा०५.२.५१ इति सूत्रे वार्तिकम्) इति पूरणप्रत्ययस्मरणाच्चतुर्थमुच्यते। चतुर्थमिदं **पात्रममृक्तम्।** अमृतशब्दस्यायं छान्दसः ककार उपजनः। अमृतसदृशं दृष्टं हिततमं चेत्यभिप्रायः। **अमर्त्यं** मरणवर्जितम्। **इन्द्रपानं** इन्द्रः पिबति येन चषकस्थानीयेन तत्। **देवो द्रविणोदाः** उक्त निर्वचनाद् द्रविणोदसः। **द्राविणोदसो** द्रविणोदस इन्द्रस्य पुत्रोऽग्निः। दीप्त्या तैक्ष्ण्येन वा तत्सदृश इत्यर्थः। गौण्या वृत्त्या इन्द्रे द्राविणोदसशब्द इत्युक्तं पुरस्तात्। **स्वयमायूयात्** मिश्रयित्वा आलोड्येत्यर्थः। **स्वयमभिगूर्य** अभ्युद्यम्य स्वयमुत्क्षिप्येत्यर्थः। **स्वयमभिगूर्तया** स्वयमेवाभ्युद्यतया स्वयमुच्चारितयेत्यर्थः। **होत्रया** वाङ्नामैतत्। वाचा अहो मृष्ट इति वर्णयित्वेति शेषः। **ऋतुभिः** सह **सोमस्य पिबतु** स्वांशम्। द्वितीयार्थे वा षष्ठी सोमम्। त्वमपि हे **अच्छावाक यज** मा विलम्बिष्ठाः।

अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति।

अपि चायमन्यो हेतुः। यस्मादेनमभिगूर्यापकृतं द्राविणोदसं सोमपानेन स्तौति। **'मन्दस्व होत्रात्'** (ऋ०२.३७.१) इत्यादिमन्त्रोऽत्रैव सूक्ते। उदाहरणं प्रदर्शयिष्यते। सोमपानं चेन्द्रस्योचितम्। सोमाप्यायनमन्त्रेषु **'अशुरंशुस्ते'** (मै०सं०१.२.७; ३.८.२) इत्यादिषु इन्द्रार्थतयैव सोमस्य प्रतीतौ सामान्येन चेन्द्रः सोमो मीयते गृह्यते चेति सोमसम्बन्धश्रवणात्। यादर्थ्येन च संस्कारस्तस्यैव सम्प्रदानत्वं युक्तमिति सेयमर्थापत्तिः। वेदे च प्रायेण श्रुतार्थापत्तिर्भवति। तथा चोक्तं भट्टारकेणापि।

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्यादि........वचः श्रुतौ।

रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते।। (मूलमनुपलब्धम्)

इतिवद्वेदेऽपि लोकवद् भवितुमर्हतीति चूर्णिकारो ब्रूते **'य एव लौकिकाः शब्दाः'** इत्यादि पूर्ववदुपन्यस्तादस्मादिन्द्रो द्रविणोदा इति।

अथाप्याह मन्त्रः। द्रविणोदाः पिबतु उज्वलेनोदिना द्राविणोदसोऽग्निसदृशः। यस्य वा द्राविणोदसोऽग्निपत्यम्।

ननु पुरस्तादप्येतदुपन्यस्तम्। सत्यम्। न तु भाष्यकारेण। किन्तर्हि? व्याख्यातृभिः। तदपि द्राविणोदस-शब्दस्याग्निविषयत्वप्रदर्शनायोदाहरणत्वेन। तत्र तु भाष्यकारस्य **'एष पुनरेतस्मात्'** इति तद्धितार्थोपपत्तिमात्रमिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे हेतुत्वेन विवक्षितम्। इह तु द्रविणोदःशब्देनेन्द्रस्य साक्षाद् व्यपदेशहेत्वन्तरत्वेन स्वयं मन्त्रमुदाजहार।

अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्तोत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम्।

तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः।। (ऋ०२.३७.४)

गृत्समदस्य। **अपात्** पीतवान् **होत्रात्** होतृस्वभूतात् पात्रात्। **उत पोत्रात्** अपि च हेतुस्वभूतात्। **अमत्त** 'मद तृप्तौ' (धा०१०.१७२) इत्यस्यैतद्रूपम्। छान्दस्त्वाद्विकरणाभावः। तृप्त इत्यर्थः। **उत नेष्ट्रात्** नेष्टृस्वभूतात्। **अजुषत** सेवितवान्। **प्रयोऽन्नं** सोमाख्यम्। **हितमुपकारकमात्मनः**। ददातेर्वा दानार्थस्य निष्ठायामिदं रूपम्। हितं दत्तं सदस्माभिः। **तुरीयं** चतुर्थमिदं पात्रम्। **अमृक्तममृतसदृशम्**। ककार उपजनः। **अमर्त्यममरणधर्मम्**। **द्रविणोदा** इन्द्रः **पिबतु द्राविणोदसः**। द्राविणोदसोऽग्निः। लुप्तोपमं चैतत्। तैक्ष्ण्यादिना (अग्नि-)सदृश इत्यर्थः। यस्यासावपत्यम्। तस्मादिन्द्रो द्रविणोदा इति पूर्वः क्रौष्टुकिपक्षः।

अतः परं सिद्धान्तमाह।

अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः। आग्नयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति ॥

एवशब्दोऽवधारणे। नेन्द्रो नापीन्द्रो वाग्निर्वा द्रविणोदाः। किन्तर्हि? अयमेव पार्थिवोऽग्निः। शाकपूणिग्रहणं नैरुक्तसिद्धान्तसम्प्रदायाविच्छेदप्रदर्शनाय। प्रतिज्ञामात्रमिदम् हेतुस्तु **'अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि'** इति पूर्वोक्त एवैवमनुसन्धातव्यः। माध्यमिकानीति तथा ऐन्द्राणि वा वायव्यानि वा वारुणानि वा बार्हस्पत्यानि वेति। तेषु द्राविणोदसा इत्यादि समानम्। इन्द्रकर्मणा रसानुप्रदानादिना यत् तान् स्तुवन्ति, आग्नेयेष्वैवेन्द्रा द्राविणोदसाः प्रवादाः सन्ति। उदाहरणम्।

स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा।

आपश्च मित्रं धिषणा च साधन् देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्॥ (ऋ०१.९६.१)

कुत्सस्य। **स** इति तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यः पूर्वेषामप्यङ्गिरःप्रभृतीनामधत्त अधारयत् **सः प्रत्नथा** प्रत्नमिति पुराणनाम। (था इति **बडिति** वोपमायाम्। पुराणनाम वा) उपमानश्रुतेरुपमेयाध्याहारः। इदानीन्तनानामपि यजमानानाम्। **सहसा** बलेन मथ्यमानाभ्यामरणिभ्यां **जायमानः** **सद्यस्तस्यामेव** वेलायाम्। **काव्यानि** मेधाविकर्माणि हविर्नयनादीनि। **बळधत्त** इत्यादीनि धारयति करोतीत्यर्थः। **(विश्वा)** विश्वानि सर्वाणि। किञ्च **आपश्च** फलस्यापनात् (आप) आहुतयोऽत्राभिप्रेता नोदकानि। आपश्चाहुतयः। **धिषणा च** वाङ्नामैतत्। वाक् च स्तुतिलक्षणा व्यवहितसम्बन्धः। **मित्रमुपकारमग्निम्**। कस्य? सामर्थ्याद् यजमानानाम्। **साधन्** सधेरन्तर्णीतण्यर्थस्येदं रूपं साधयन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। (किञ्च) **देवा अग्निं धारयन्। छान्दसत्वादडभावः। अधारयन् धारितवन्तो निहितवन्तः। द्रविणोदाम्** हविराख्यस्य धनस्य दातारम्। ऊर्ध्वमर्पयितारमित्यर्थः। तदेव वक्ष्यति। **'अथा देवा दधिरे हव्यवाहम्'** (ऋ०१०.५२.३; निरु०६.३५) इति।

एवं स्वपक्षहेतुमभिधायाधुना परपक्षोक्तहेतुसमीकरणयाह-

यथो एतत् स बलधनयोर्दातृतमः-इति सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते।

उक्तार्थम्। दातृतम् इत्यनेकान्तम्। यतः सर्वा ईश्वरा दातारश्च देवताः। अग्नेरप्येतदविशिष्टम्।

(यथो एतत्-ओजसो जातमुत मन्य एनमिति चाहेति। अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते। तस्मादेनमाह सहसस्पुत्रं सहसः सूनुं सहसो यहुम्॥

तथा ओजसो जातत्वं चाविशिष्टमित्याह। अयमपीत्यादिना। तस्मादेवमाह मन्त्रो मन्त्रदृग्वा। **सहसस्पुत्रमि**त्यादि। क्रमेणोदाहरणानि।

द्रुंवन्नः सुर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रो अद्भुतः॥ (ऋ० २.७.६)

सोमाहुतेः। **'दार्वन्नः सवाशनः'** (अनुपलब्धमूलमिदं वचनम्) इति शतपथे विवरणात्। **आसुति**शब्दोऽशनवचनः। दारणं चान्नस्य भेदेनोपादानात् सलक्षणमशनमाह न त्वशनमात्रम्। **द्रु**शब्दो दारुपर्यायः। दार्वन्नः **सर्पिरासुतिः** सर्पिर्वा यो रसो यस्य सः। **प्रत्नः** पुराणः। **होता वरेण्यः** सहसो बलस्य पुत्रः। **अद्भुतो** महान्। **'अथापि स्तुतिरेव भवति'** (निरु०७.३) इति स्तुतिमात्रं मन्त्रार्थः।

त्वं ह यद्यविष्ठ्य सहसः सूनवाहुत। ऋतावा यज्ञियो भुवः॥ (ऋ०८.७५.३)

विरूपस्य। **त्वम्। हः** पादपूरणः। **यत्** व्यत्ययेन नपुंसकं पुल्लिङ्गस्य स्थाने। **'स्थूलदूरं'** (अष्टा०६.४.१५६) इत्यादिना इष्ठनि तद्धितेऽतिशायिके यविष्ठशब्दस्य व्युत्पादितत्वाद् यः **यविष्ठ्य**। यविष्ठ अतिशयेन युवन्। शब्दविदोऽप्यूचुश्छन्दसीत्यधिकृत्य **'व्यत्ययो बहुलम्'** (अष्टा०३.१.८५) इत्यत्र।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥ (महा०अष्टा०३.१.८५)

इति। **सहसो** बलस्य........।

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥ (ऋ०१.७९.४)

.........। **यहो** यहुरित्यपत्यनाम तस्य सम्बोधनं यहो पुत्र। **अस्मे** अस्मासु **धेहि** निधेहि स्थाप्य। अस्मभ्यं वा देहि। हे **जातवेदः** जातप्रज्ञान। **महि** महत्। **श्रवो**ऽन्नम्।

(यथो एतत्-अग्निं द्राविणोदसमाह-इति। ऋत्विजोऽत्र द्राविणोदस उच्यन्ते। हविषो दातारस्ते चैनं जनयन्ति)

यथो वा यत् पुनः-अग्निं द्राविणोदसमाह-इत्युक्तम्। ऋत्विजोऽत्राधिकारके लोके समन्त्रदृशो वा हविर्लक्षणस्य धनस्य दातृत्वादुच्यन्ते। ते चैनं विधिसामर्थ्याज्जनयन्ति यथा तथैष निगमः।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः॥ (यजु०५.४)

तस्मै जुहोमि हविषा घृतेन। मा देवानां मोमुहत् भागधेयं स्वाहा॥ (आ०श्रौ०८.१४.४)

कल्पजोऽयं मन्त्रः।

कल्पनाद्धि प्रयोगाणां कल्पोऽनुष्ठानसाधनः।

सत्रन्तु सूचनात् तेषां स्वयं कल्प्यं प्रयोगकम्॥ (मूलमनुपलब्धम्)

इति भट्टभट्टारकैरभ्यधायि।

वामदेवस्य। अस्य विवरणम्। **अग्नौ** आहवनीयाख्ये। **अग्नि**र्मर्थ्यश्**चरति** सङ्गच्छते। **प्रविष्टः** सन् **ऋषीणां** द्रष्टृणामृत्विजां **पुत्रः**। **अधिराजो**ऽधिकं दीप्तः स्वामी वा सर्वस्य **एषः**। परस्तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। **यस्तस्मै**

तदर्थं **जुहोमि** होमं करोमि **हविषा**। केन? **घृतेन**। **मा** च **देवानां** बहूनामप्यस्मिन् हुतं **मोमुहत्** मोहमागमत्। **भागधेयं** स्वार्थिकोऽयं धेयः। माऽस्माकं देवैर्दत्तमानीयमानं यजमानान्तरभागधेयैः सह मोमुहद् भागधेयम्। **स्वाहा** इति प्रदानार्थो निपातः।

यदि तर्हि ऋत्विजो द्रविणोदसः। कथं द्रविणोदा अग्निरिति? सोमं पूर्वपक्षोदाहरणम्। तद्व्यभिचारः प्रदर्शितः।

(यथो एतत्-तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति इति भक्तिमात्रं तद् भवति। यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्।)

यत् पुनस्तेषां पुनः पात्रस्येति। **भक्तिमात्रं तत्** गुणवादन्यायेन समाख्यामात्रम्। दुर्बला च समाख्या। **'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'** (मी०मां०३.३.१४) इति न्यायविद्वचनात्। यतः कुतश्चिद् गुणात् प्रवर्तते। यथा वायव्यानीति **'वायव्यान्युपतिष्ठते'** इति सर्वसोमपात्राणां समाख्या भवत्या।

(यथो एतत्-सोमपानेनैनं स्तौति-इति। अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते)

सोमपानस्तुतिश्चास्मिन्नग्नावप्युपपद्यते यथा तथा दर्शयति।

अग्ने॑ म॒रुद्भिः॑ शु॒भय॑द्भि॒र्ऋक्व॑भिः॒ सोमं॑ पिब मन्दसा॒नो ग॑ण॒श्रिभिः॑।

पा॒व॒केभि॑र्विश्वमि॒न्वेभि॑रा॒युभि॒र्वैश्वा॑नर प्र॒दिवा॑ के॒तुना॑ स॒जूः॥ (ऋ०५.६०.८)

श्रावास्यस्य। **अग्ने मरुद्भिः** शोभयद्भिरात्मानं रुक्माभिराभरणविशेषैर्मण्डयद्भिः। **ऋक्वभिः**, अर्चनमृक् स्तुतिस्तया तद्वद्भिः सह **सोमं पिब मन्दसानो** मोदमानो **गणश्रिभिर्**गणत्वमाश्रितैः। **पावकेभिः** पावनैः। **विश्वमिन्वेभिः** इन्वतेर्व्याप्तिकर्मण एतद्रूपम्। सर्वव्याप्तिभिः। **आयुभिर्**गन्तृभिश्चेत्यर्थः। **वैश्वानर प्रदिवा** पुराणेन **केतुना** प्रज्ञानेन चरितया प्रज्ञयेत्यर्थः। **सजूः** संसेवमानः। आत अस्माद्वा संप्रीयमाणो वा।

अन्ये तु अग्ने मरुद्भिरित्यत्र, अग्नेरर्चिष ऋत्विजो वा मरुत इति मन्यन्ते। इतरथा पार्थिवस्य मध्यमैः सह सोमपानेऽनुदाहरणमेष मन्त्रोऽग्नेः स्यादिति। तदसत्। मरुतां गुणभावात् सहस्तुतेश्चाविरोधात्।

शौनकस्तु मारुतत्वान्मन्त्रस्य मरुतः संसेव्यमानो न स्वतन्त्र इत्येवमग्नेरप्राधान्यं मन्यते। सर्वथा त्वग्नेः सोमपानसम्बन्धोऽस्तीत्येतावान् प्रकृत उपयुज्यत इति भाष्यकाराभिप्रायः।

(यथो एतद् द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदस इति। अस्यैव तद् भवति)

यदपि द्रविणोदाः पिबत्विति। तदपि ऋत्विग्दर्शने प्रतिविहितम्। ततश्चास्यैवाग्नेर्द्रविणोदस्त्वे लिङ्गं तद् भवति। न च तदेव केवलम्। किन्तर्हि? वनस्पतेरग्नित्वादिदं च।

(इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः)

अथ तृतीयः खण्डः।

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन् वीळयस्वा वनस्पते। आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ (ऋ०२.३७.३) मेद्यन्तु ते वह्नयो वोढारः। यैर्यास्यरिष्यन्। दृढीभव। आयूय धृष्णो। अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद् धिष्ण्यात्। धिष्ण्यो धिषण्यो धिषणाभवो धिषणा वाक्। धिषेर्दधात्यर्थे। धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा। वनस्पत इत्येनमाह। एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा। वनं वनोतेः। पिबर्तुभिः कालैः॥३॥

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन् वीळयस्वा वनस्पते।

आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ (ऋ०२.३७.३)

गृत्समदस्य। **मेद्यन्तु** स्निह्यन्तु। ते प्रथमाबहुवचनमेतत्, न षष्ठ्येकवचनम्। येभिरिति यच्छब्दसम्बन्धात् छान्दसत्वात्तु निघातः। षष्ठीपक्षेऽपि वा यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः। **ते** तव स्वभूतास्तेऽश्वाः। **येभिर्यैः**। किम्? **ईयसे** गच्छसि। **अरिषण्यन्** अहिंसंश्च कश्चित् **वीळयस्व** संस्तम्भस्व दृढो भव। हे **वनस्पते** वनानां पात अग्ने। दृढीभूय च **आयूया** आलोड्य। **धृष्णो** हे धर्षितः। तमसाम**भिगूर्या** अभ्युद्यम्य च **त्वं नेष्ट्रात्** नेष्टृस्वभूतात् पात्रात् सोमं हे **द्रविणोदः** धनस्य बलस्य वा दातः **पिब ऋतुभिः** सह।

मानग्रहणसंस्कारादिश्च विशेषो भवतीत्यैन्द्रत्वेऽहेतुः। ऐन्द्रः सोम इति च सामान्यस्य लतारूपस्याविरोधात्। नेष्ट्रीयाद् धोत्रादिधिष्ण्याग्निशाला विशिष्टस्थानविशेषः। **'धिष्ण्यानुपस्थाय' 'स्वस्य धिष्ण्यस्य'** इति च प्रयोगात् स्थानेन सम्बन्धादर्थप्रसक्तस्य निर्वचनम्। धिष्ण्यः सन् आकारलोपेन धिषणमुक्तं भवति। धिषणकस्तोत्रं शस्त्रादि लक्षणम्। सा देवान् प्रति नीयमाना भवति यस्मिन् प्रदेशे। स धिषणशब्द **'धिषेः'** इत्यस्य दधात्यर्थे वर्तमानस्य। सा ह्यर्थान् धारयति। सम्बन्धस्य नित्यत्वात्।

यद्वा धीरिति प्रज्ञा कर्म वा तया संभजति। वनस्पत इत्येनमाहुः प्रकृतं द्राविणोदस्याः। तस्मादग्निरित्यभिप्रायः। अन्तरनुप्रविष्टोऽपि यतो निर्भवति। अतः पातेति व्यपदिश्यते। पिबतेर्वैतद्रूपमिति। ततश्चार्थभेदोऽपि। अतः सूक्तहविर्भाक्त्वेनाग्निर्द्रविणोदाः। निपातभाक्त्वेन क्वचिन्मध्यम (इति) सिद्धम्।

अग्न्यादिषु प्रतीत्यविप्रकर्षाभिप्रायः क्रम इत्युक्तम्। इध्मादिषु व्यवधानात् क्रीता विप्रकर्षः। अश्वादि वार्तिककारः पठति। **'क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूणिरुपलक्षितम्। प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत्॥'** इति शौनकस्याप्ययमेवाशय इत्यध्यगीष्महि।

अयमाप्रियशब्दः **'आप्रीणामुत्तमा याज्या'** इत्यृक्षु प्रसिद्धसम्बन्धात् तदेव तास्वपि प्रवर्तते। तदेतदृचां देवतानां च साधारणं गुणाभिधानमिति। अत एतेनाध्वादिदेवता निर्विवक्षयोपक्रमत इति।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ द्वितीयः पादः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

अथात आप्रियः। आप्रियः कस्मात्? आप्नोतेः। प्रीणातेर्वा। **'आप्रीभिराप्रीणाति'** इति च ब्राह्मणम्। तासामिध्मः प्रथमागामी भवति। इध्मः समिन्धनात्। तस्यैषा भवति॥४॥

भाष्यटीका

अथशब्द आप्रीणां विशेषाधिकारार्थः। अतः शब्द आनन्तर्ये। आप्रियोऽधीता अनन्तरं वक्ष्यन्त इति शेषः। **आप्नोते**रित्यादि ऋक्पक्षे करणसाधनः। तथा च ब्राह्मणम् **'आप्रीभिः'** इति ऋक्पक्ष एव। देवतापक्षे तु आसव्या तर्पितव्या भवति क्रमसाधनः। आप्रीसूक्तेषु च क्रमनियमो दृष्टः। सर्वस्य प्रथममिध्मस्येत्यादि। स एवानुविधीयत इत्याह।

तासाम् (इध्मः प्रथमागामी भवति। इध्मः समिन्धनात् तस्यैषा भवति।)

प्रथमं श्रुतिपथमागच्छत्येवंशीलः। सर्वाप्रीसूक्तेषु तथा दर्शनात्। इध्मः समिन्धनात्। कात्थक्यपक्षे करणसाधनः। शाकपूणेर्भावसाधनः कर्मसाधनो वा। तस्य प्राधान्यस्तुत्युदाहरणमेषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः। आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ (ऋ०१०.११०.१) समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान् यजसि जातवेदः। आ च वह मित्रमहः। चिकित्वाँश्चेतनावान्। त्वं दूतः कविरसि। प्रचेताः प्रवृद्धचेताः। यज्ञेध्म इति कात्थक्यः। अग्निरिति शाकपूणिः। तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यननन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्। निर्णततमा भवति। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः। तस्याः पयो जायते। पयस आज्यं जायते। अग्निरिति शाकपूणिः। आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते। तता अन्तरिक्षे। ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते। ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते। तस्यैषा भवति॥५॥

भाष्यटीका

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ (ऋ०१०.११०.१)

जमदग्नेः सूक्तम्। **समिद्धो अद्य मनुषो** मनुषशब्दो मनुष्यपर्यायः। यत आह **'मनोरपत्यं मनुषो वा'** (निरु०३.७) इति। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतवीप्सार्थः। तेनायमर्थः। मनुष्यस्य मनुष्यस्य यष्टुर्दुरोणे यज्ञगृहे देवः। प्रत्यक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य समिद्धो देव इति वाऽनामन्त्रितत्वादेकवाक्यतायै यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। यस्त्वं समिद्धो

देवो होतृत्वाद्देवान् **यजसि**। हे **जातवेदः** स ममापि **आ च वह** आस्थाने चः पठितः। आवह च। किम्? सामर्थ्याद्देवान्। च श्रुतेर्यज चेति शेषः। **मित्रमहः** मित्राणां पूजयिता। **चिकित्वान्** जानन् स्वमधिकारं भक्ततां वास्माकम्। कस्मादेवमुच्यते? यस्मात् **त्वं दूतः** सर्वयजमानानाम्। **कविरसि** मेधावी चासि। **प्रचेताः** प्रवृद्धप्रज्ञानः। सर्वैर्दूतगुणैर्युक्त इत्यर्थः।

(यज्ञेध्म इति कात्थक्यः। अग्निरिति शाकपूणिः)

यज्ञेध्म उच्यते। योऽयमधीयते प्रतिप्रवणमिध्मो यज्ञे स एवायमिति। समिधामिध्मत्वमुपगतानामग्नीनां सन्दीप्तानाम्। अतो यज्ञेध्मे आधेयधर्माणामाधाराधेयस्य व्यपदेशः। समिद्ध इति मञ्चाः क्रोशन्तीति यथा। यदाग्निः। तैः समञ्जसमेव। समिच्छब्दस्य समिद्भिः प्रेष्यसमित्वसमित्सुमना इत्यादिष्विध्मपर्यायत्वात्। विशिष्टकाष्ठकलापवचनो वा। तत्सम्बन्धादग्निवचनो द्रष्टव्यः। भाष्यं निगदव्याख्यानम्।

तनूनपात् (आज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यननन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्। निर्णततमा भवति। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः। तस्याः पयो जायते। पयस आज्यं जायते। अग्निरिति शाकपूणिः। आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते। तता अन्तरिक्षे। ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते। ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते। तस्यैषा भवति)

प्रविभज्य दर्शयति। **अनन्तरायाः**। एकेन व्यवहितायाः पौत्रलक्षणायाः। सा हि पुत्रापेक्षया निवैस्तरान्नता कात्थक्यपक्षेऽभिप्रेता। परस्तात् पक्षान्तरस्योपन्यासात्। तनोतेस्तनूरुभयत्र। केवलं कारकभेदः। **भोगाः** क्षीरादयः। आज्यं पौत्रस्थानीयम्। एष इत्यग्निं व्यपदिशति।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व। मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ (ऋ०१०.११०.२) तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्। यज्ञस्य यानान्। मधुना समञ्जन्त्स्वदय कल्याणजिह्व। मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धय। देवान्नो यज्ञं गमय। नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः। नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्तिः। अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति। तस्यैषा भवति॥६॥

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ (ऋ०१०.११०.२)

यदा तावदाज्यं तनूनपात् तदैवं व्याख्येयम्। हे **तनूनपात्** गवां पात्रस्थानीयान् **पथः** द्वितीयाबहुवचनमेतत्। ये पन्थानः **ऋतस्य** यज्ञस्य **यानान्**। कतमे? हवींषि। तैर्हि यज्ञो याज्ञन् सर्पति तान् यानान् हविराख्यान्। **मध्वा** मधु स्वादेनात्मनः **समञ्जन्** सन्धुक्षयन् **स्वदय** आस्वादय। स्वाशब्दात् तत्करोतीति णिच् छान्दसं ह्रस्वत्वम्। स्वादय स्वादून् कुर्वित्यर्थः। **सुजिह्व** शोभनजिह्व मृष्टेत्यर्थः। **मन्मानि** मननानि यानि चास्माकं परिधिप्रस्तरप्रभृतीनि। **धीभिः** कर्मभिरञ्जनादिभिः। **उत यज्ञं** उपस्तरणाभि धारणादिभिः **ऋन्धन्** समर्धयन्। **देवत्रा**

च देवेषु **कृणुहि** कुरु ज्ञापयेत्यर्थः। देवान् प्रति गमयेत्यर्थः। देवत्रेति द्वितीयासप्तम्योरर्थे त्राप्रत्ययः। **अध्वरं** यज्ञम्। **नो**ऽस्माकं स्वभूतम्। चशब्दस्तु हवींषि स्वादय देवत्रा च यज्ञं कुर्वित्येवं समुच्चयार्थः।

यदा त्वग्निस्तनूनपात् तदैवं योजना। हे तनूनपादग्ने पथ ऋतस्य यानान् तान् हविराख्यान् मधुना वाग्जनितेन रसेन समञ्जन् सम्यग्गमयन् सम्यग्वाचयन्नित्यर्थः। स्वादू कुरु। सुजिह्व वाङ्नामैतत्। हे सुवाक्। मन्यतेरर्चतिकर्मणो मन्म स्तोत्रमत्राभिप्रेतम्। मन्मानि च स्तोत्राणि। धीभिः स्वाभिः प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा समन् ह्वयन्। देवत्रा चेत्यादि समानम्।

नराशंसो (यज्ञ इति कात्थक्यः। नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्तिः। अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति। तस्यैषा भवति)

नरो होतृप्रभृतयोऽस्मिन् प्रकृते आसीनाः शंसन्तीति यज्ञोऽन्यपदार्थः। अग्निर्वा ऋत्विग्यजमानैर्नरैः प्रशस्यत्वान्नाराशंसानि। अस्य च सूक्तस्य तनूनपातं चात् वासिष्ठीं नाराशंसीमुदाजहार।

इति त्रयोदशस्या- (अष्टमस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

नरा॒शंस॑स्य महि॒मान॑मेषा॒मुप॑ स्तोषाम यज॒तस्य॑ य॒ज्ञैः। ये सु॒क्रत॑वः॒ शुच॑यो धिय॒न्धाः स्वद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि ह॒व्या।। (ऋ०७.२.३) नराशंस्य महिमानमेषामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैः। ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः। स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि। सोमं चेतराणि चेति वा। तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा। ईळ ईट्टेः स्तुतिकर्मणः। इन्धतेर्वा। तस्यैषा भवति।।७।।

भाष्यटीका

नरा॒शंस॑स्य महि॒मान॑मेषा॒मुप॑ स्तोषाम यज॒तस्य॑ य॒ज्ञैः।

ये सु॒क्रत॑वः॒ शुच॑यो धिय॒न्धाः स्वद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि ह॒व्या।। (ऋ०७.२.३)

नराशंसो यज्ञो अग्निर्वा तस्य **महिमानं** माहात्म्यम्। **एषा**मृत्विजां देवानां वा वक्ष्यमाणानां वा। षष्ठीश्रुतेः सम्बन्धिन इति शेषः। **उपस्तोषाम** उपस्तुमः। **यजतस्य** यजेरयमहर्थे अतप्रत्ययो यजनार्हस्य। **यज्ञैः** सप्तम्यर्थे तृतीया ज्योतिष्टोमादिषु यज्ञेषु। यज्ञपक्षे यज्ञार्हस्य महाफलस्य जगतः स्थितिहेतोर्ज्योतिष्टोमादेः। यज्ञैरिति इत्थंभूतलक्षणे (अष्टा०२.३.२१) तृतीया। अभ्यासापेक्षं बहुवचनम्। यागाभ्यासैरित्थंभूतस्य। उपस्तुते चास्मिन् वा **ये सुक्रतवः** क्रतुरिति कर्मनाम, सुकर्माणः। **शुचयो** दीप्ताः। **धियन्धाः** कर्मणः प्रज्ञाया वा धारयितारः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः। ते **स्वदन्ति** लोडर्थे पञ्चमः। आस्वादयन्त्वित्यर्थः। **देवाः** कर्माङ्गभूताः। **उभयानि हव्या** हवींषि सौमिकानि पाशवानि च। अथवा तान्त्राण्यङ्गहवींषि आवापिकानि च प्रधानहवींषीत्यर्थः।

ईळ ईट्टेः स्तुतिकर्मणः। इन्धतेर्वा। तस्यैषा भवति।

ईळ ईट्टेः स्तुत्यर्थस्य (धा०२.९)। इन्धतेर्वा दीपनार्थस्य (धा०७.११)। इळोऽग्निः। तस्यैषा।

इति त्रयोदशस्या- (अष्टमस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथाष्टमः खण्डः।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः। त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥ (ऋ०१०.११०.३) आहूयमान ईळितव्यो वन्दितव्यश्च। आयाह्यग्ने वसुभिः सहजोषणः। त्वं देवानामसि यह्व होता। यह्व (निघं०३.३.१३) इति महतो नामधेयम्। यातश्च हूतश्च भवति। स एनान्यक्षीषितो यजीयान्। इषितः प्रेषित इति वा। अधीष्ट इति वा। यजीयान् यष्टृतरः। बर्हिः परिबर्हणात्। तस्यैषा भवति॥८॥

भाष्यटीका

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥ (ऋ०१०.११०.३)

प्रत्यक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य जुह्वान इत्यादिनामन्त्रितत्वात्। एकवाक्यतायै यत्तच्छब्दाध्याहारः। **यस्त्वं देवानां यह्व** महन् होतासि व्यवहितसम्बन्धः। **स एनान् यक्षि** यच्छ। **इषितः** प्रेषितोऽसि। इष्टो वास्माभिः। **यजीयान्** अतिशयेन यष्टा। यह्व इति पठ्यमानस्यैव निर्वचनायोपन्यासः। यातश्चासावाश्रयार्थिभिः। द्विधातुजत्वं दर्शितम्।

बर्हिः परिबर्हणात्। तस्यैषा भवति।

बर्हिः परिबर्हणात्। उद्यच्छमाना।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्याष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्। व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ (ऋ०१०.११०.४) प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वसनाय। अस्याः प्रवृज्यतेऽग्रेऽह्नां बर्हिः पूर्वाह्णे। तद्विप्रथते। वितरं वितीर्णतरमिति वा। विस्तीर्णतरमिति वा। वरीयो वरतरम्। उरुतरं वा। देवेभ्यश्चादितये च स्योनम्। स्योनमिति (निघं०३.६.१५) इति सुखनाम स्यतेः। अवस्यन्त्येतत्। सेवितव्यम् भवतीति वा। द्वारो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा। तासामेषा भवति॥९॥

भाष्यटीका

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्र अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ (ऋ०१०.११०.४)

प्राचीनं प्रागञ्चितं प्राङ्मुखमित्यर्थः। किं तत्? **बर्हिः**। स्वस्यार्थस्य प्रदेशकत्वात् प्रदिशति वाक्यम् **'प्रागुदग्वा बर्हिरास्तीर्यते'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादि। मन्त्रो वा **'ऊर्णम्रदा वि'** (ऋग्०५.५.४) इत्यादि। तेन

प्रदिशा पृथिव्याः। **वस्तोर्वसनाय** आच्छादनायेत्यर्थः। **अस्या** वेदिलक्षणायाः। **वृज्यते** प्रवृज्यते लूयते प्रस्तीर्यते वा। **(अग्रे अह्नां)** अग्रः प्रथमो भागोऽह्नां तस्मिन् पूर्वाह्न इत्यर्थः। स्तीर्यमाणां च तत् **व्युप्रथते**। उकारः पादपूरणः। विप्रथते। **वितरं** विकीर्णतरं वा। **वरीयो** वरतमङ्गान्तरेभ्य उरुतरं वा। **देवेभ्यश्चादितये** पृथिव्यै वेदिलक्षणायै **स्योनं** सुखकारत्वात् सुखमित्यर्थः। विस्तीर्णे बर्हिषि देवाः सुखतरं निषीदन्ति। वेदिरपि तैर्निषीदद्भिर्न दुःख्यते। अत एव च परत्वम्।

स्योनं स्यतेः। अवस्यन्ति अन्तादनुभवन्तः। तत्र सामि भुक्तवन्तमन्तरा मुञ्चति अभिमुखीभूतं वा। तथा चाह।

पर्यवस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम्।

अनागतसुखेच्छा च नैष बुद्धिमतां नयः॥ (मूलमनुपलब्धम्)

एतद् व्याख्यातव्यं गच्छन्ति तत्र सक्ता विनश्यन्ति। सेवनार्हं वा प्रयाजानाम्।

आग्नेयस्तुतिपक्षे (अग्निपक्षे) बर्हिरग्निः परिवृद्धत्वात् प्राच्यां दिशि प्रणयनात् प्राञ्चिः प्रणयनार्थः। वस्तोः **'वस निवासे'** (धा०१.१०३०) देवानां वसनाय। प्रणीतं च सदग्न्याख्यं बर्हिर्विप्रथते आघारादिभिः। विस्तीर्णतनु ज्वालादिभिः। वरीयो यज्ञसाधनत्वात्। स्योनं देवेभ्यो हविर्वहनेन। अदितये च पृथिव्यै आहुतिद्वारेण वृष्टिहेतुत्वात्।

द्वारो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा। तासामेषा भवति।

द्वारः कस्मात्? जवतेर्गतिकर्मणः। जकारस्य दकारापत्त्या। द्रवतेर्वा रेफलोपे। तदुभयतश्चारो नामकरणः। वारयतेर्वा दकार उपजनः। अनभिमतो हि तास्वेव निवार्यते। तेषामेषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः। देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ (ऋ०१०.११०.५) व्यञ्जनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्ताम्। पतिभ्य इव जायाः। ऊरू मैथुने धर्मे शुशोभिषमाणाः। वरतममङ्गमूरू। दैव्यो द्वारो बृहत्यो महत्यो विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति यज्ञे। गृहद्वार इति कात्थक्योऽग्निरिति शाकपूणिः। उषासानक्ता उषाश्च नक्ता च। उषा व्याख्याता (निरु०२.१८) नक्ता (निघं०१.७.१०) इति रात्रिनाम। अनक्ति भूतान्यवश्यायेन। अपि वा नक्ताव्यक्तवर्णा। तयोरेषा भवति॥१०॥

भाष्यटीका

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।

देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ (ऋ०१०.११०.५)

व्यचस्वतीः। वि अञ्चनं विगमनं परस्परतः प्रविशतां निर्गच्छतां च तेन तद्वत्यो द्वितीया प्रथमार्थे व्यञ्चनवत्यः। **उर्विया** उरुशब्दोऽत्रान्तर्णीतप्रकर्षार्थः। प्रथमाय च **'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्'**

(अष्टा०७.१.३९ इति सूत्रे वार्तिकम्) इति इयादेशः। क्रियाविशेणं चैतद् विस्तीर्णतरम्। भाष्ये उरुत्वेनेत्यर्थः। विवरणम्, उरुत्वेन युक्ता विवृततरमित्यर्थः। **विश्रयन्तां** प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः। प्रथमपुरुषश्चायम्। अत एकवाक्यतायै भवच्छब्दोऽध्याहार्यः। भवत्यो विश्रयन्तां विपुलं विवृतमात्मानं कुर्वन्त्वित्येतदाशास्महे। पतिभ्यो न पतीनामिव वार्था याति सम्भोगकाले **जनयो** जायाः **शुम्भमाना** इति शेषः। एतज्ज्ञात्वा **देवीः**। हे देव्यो **द्वारो** यज्ञगृहस्य ज्वाला वह्नेः। **बृहतीः** बृहत्यः। **विश्वमिन्वा** इन्वतेर्गतिकर्मण एतद्रूपम्। सर्वगमना इत्यर्थः। व्याप्तिकर्माणो वा सर्वव्यापिन्यः। **देवेभ्यो** देवानामर्थाय **भवत सुप्रायणाः** सुप्रगमनाः सुविवृता इत्यर्थः। शुम्भमाना शुशोभिषमाणा इत्यर्थः। अग्निपक्षे ज्वाला द्वारो हविषां सुप्रायणा इति।

उषासानक्ता देवता द्वयमिति दर्शयति। **उषांश्च नक्ता चेति**। तत्र चोषस उषासा आदेश औत्तरपदिके स्मर्यते।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथैकादशः खण्डः।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ। दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ (ऋ०१०.११०.६) सेष्मीयमाणे इति वा। सुष्वापयन्त्याविति वा। सीदतामिति वा। न्यासीदतामिति वा। यज्ञिये उपाक्रान्ते दिव्ये योषणे। बृहत्यौ महत्यौ। सुरुक्मे सुरोचने। अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम्। शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। पेशः (निघं०३.७.१०) इति रूपनाम। पिंशतेः विपिशितं भवति। दैव्या होतारा दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्निरसौ च मध्यमः। तयोरेषा भवति॥ ११॥

भाष्यटीका

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ (ऋ०१०.११०.६)

आसदतां योनौ स्थाने वेद्याख्ये। **दिव्ये** दिवि भवे। **योषणे** स्त्रियै। **सुरुक्मे** सुष्ठु दीप्ते। अधिर्दधान इत्येतेन सम्बध्यते। **श्रियम्**। कीदृशम्? **शुक्रपिषं** शुक् दीप्तिः रो मत्वर्थे। पेश इति रूपनाम दीप्तिमद्रूपाम्। **अधिदधाने** अस्माकमुपरि निदधाने अस्मभ्यं ददत्वित्यर्थः। **यजते** शब्दव्याख्यानं यज्ञिये इति। **उपाके** इत्यस्य उपक्रान्ते। **दिव्ये** द्योतने **योषणे** योषे सम्मिते परस्परतो विविक्ते इत्यर्थः। विपिशितं अवयवशो विभक्तमित्यर्थः।

अग्निपक्षे दीप्तिरुषास्तमसो विवासनात्। आहुतिर्नक्ता अनक्त्यग्निमिति स्मयतेः। अयं मन्त्रार्थ उपपन्नतरः। आहुतिसंपाते प्रकाशप्रकर्षात् यज्ञार्हत्वमुपक्रमणं चाविशिष्टम्। योनिराहवनीयः। योषणे आत्मना मिश्रयन्तौ परस्परतो यज्ञफलभूताः।

दैव्या होतारा आकारो द्विवचनस्य स्थाने। पार्थिवमध्यमावभिधेयौ। तयोरेषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्यैकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै। प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥ (ऋ०१०.११०.७) दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय। प्रचोदयमानौ यज्ञेषु कर्तारौ पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ। तिस्रो देवीः तिस्रो देव्यः। तासामेषा भवति॥१२॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥ (ऋ०१०.११०.७)

दैव्या देवानां स्वभूतौ होतारौ। **प्रथमा** प्रथमौ मनुष्यहोतृसकाशात्। **सुवाचा** शोभनवाचौ। **मिमाना** मिमानौ **यज्ञं मनुषः** पितृशब्देन पुत्रस्याभिधानं मनुषस्य यष्टुः सर्वस्य। **यजध्यै** यागनिवृत्तये। **प्रचोदयन्ता** प्रचोदयन्तौ। **विदथेषु** यज्ञेषु। किम्? सामर्थ्याद् ऋत्विजो यजमानांश्च। **कारू** कर्तारौ स्तुतीनाम्। **प्राचीनं ज्योतिराहवनीयाख्यम्। प्रदिशा** प्रदेशकेन वचनेन **दिशन्ता** अत्र यष्टव्यमित्येवं प्रदिशन्ताविव। साकांक्षत्वाद्यज इति शेषः।

तिस्रो देवीः प्रथमार्थे द्वितीयेति दर्शयति तिस्रो देव्यः। तासामेषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥ (ऋ०१०.११०.८) ऐतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम्। भरत आदित्यस्तस्य भाः, इळा च। मनुष्यवदिह चेतयमाना। तिस्रो देव्यो बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु। त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः। त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः। त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः। तस्यैषा भवति॥१३॥

भाष्यटीका

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥ (ऋ०१०.११०.८)

आकार एत्वित्येतेन सम्बध्यते। **नो**ऽस्माकं स्वभूतं **यज्ञम्। भारती** भरत आदित्यस्तस्य स्वभूता भा दीप्तिस्**तूयं** प्रकर्षम**ेतु** आ गच्छतु। **इळा** इळा च **मनुष्वत्** पृथिव्यां स्थात्रीति शेषः। पृथिवीस्थानेत्यर्थः। **चेतयन्ती** जानन्ती आगमनकालं भक्ततां वास्माकम्। आगत्य च **तिस्रो देवीः** तिस्रोऽप्येता देव्यः। **आ** इत्युपसर्गः सदन्त्वित्येतेन सम्बध्यते। **इदम**स्मदीयं **बर्हिः** सुखं **सरस्वती** सरस्वत्या सह तिस्रो देव्य इत्यर्थः। **स्वपसः** सुकर्माणः **सदन्तु** आसीदन्त्वित्यर्थः।

त्वष्टा मध्यमस्थानं आप्रीत्वादिह समाम्नातः। तूर्णशब्दादश्नोतेश्च त्विषेर्वा स्याद्दीप्त्यर्थस्य। त्वक्षतेर्वा करोत्यर्थस्य **'तक्षू त्वक्षू तनूकरणे'** (धा०१.६५६-६५७) इति। यद्व्यापारस्त्वष्टा तस्यैषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ (ऋ०१०.११०.९) य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोद् भूतानि च सर्वाणि। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान्। माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः। मध्यमे च स्थाने समाम्नातः (निघं०५.४.१२)। अग्निरिति शाकपूणिः। तस्यैषापरा भवति॥१४॥

भाष्यटीका

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा।

तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ (ऋ०१०.११०.९)

देवताद्वन्द्वे दिवो द्यावादेशो द्विवचनस्य पूर्वसवर्णादेशो द्यावापृथिव्यौ। **जनित्री** जनयित्र्यौ सर्वस्य (कस्य) रूपैर्नानाप्रकारैर्युक्तः। **अपिंशत्** पिंशतिरत्र करोत्यर्थे अकरोत् करोति वृष्टिप्रदानेन **भुवनानि** भूतजातानि च **विश्वा** सर्वाणि। **तमद्य होतः** अग्नेरन्तरात्मा वा अस्मदीय **इषितो**ऽन्विष्टः प्रेषितो वा मया। **यजीयान्** अतिशयेन यष्टा। **देवं त्वष्टारमिह** यज्ञे **यक्षि** यज। **विद्वान्** यज्ञं स्वाधिकारं वा।

माध्यमकस्त्वष्टेत्याहुर्नैरुक्ताः। तथा मन्त्रे वाक्यार्थोपपत्तेः। मध्यमस्थाने चाम्नानात्। पार्थिवोऽग्निरिति शाकपूणिः। तस्याग्नेः पार्थिवस्य त्वष्टृशब्दत्वप्रदर्शनार्थैषापरा।

इति त्रयोदशस्य- (अष्टमस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥ (ऋ०१.९५.५) आविरावेदानात्। तत्त्यो वर्धते चारुरासु। चारु चरतेः। जिह्मं जहीतेः। ऊर्ध्व उच्छ्रितो भवति। स्वयशा आत्मयशा। उपस्थ उपस्थाने। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्। प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते। द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्रे इति वा। अरणीति वा। प्रत्यक्ते सिंहं सहनं प्रत्यासेवेते॥१५॥

भाष्यटीका

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।

उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥ (ऋ०१.९५.५)

कुत्सस्य। **आविष्ट्य** इति **स्वार्थे** त्यप् **'अव्ययात्त्यप्'** (अष्टा०४.२.१०४) **'आविष्टस्योपसंख्यानं छन्दसि'** (मूलमनुपलब्धम्) इति।) आविरेव आविष्ट्यः प्रकाश इत्यर्थः। सर्वलोकप्रकाशो **वर्धते**। **चारुः** शोभना। **आसु**। कासु? उच्यते। जिह्मानां गर्भ इति पूर्वस्यामृच्यादिष्टानामोषधीनामयमन्वादेशः। तेन सामर्थ्याद्यस्यां गर्भभूतस्तास्वोषधीष्वित्यर्थः। **जिह्मानां** जिह्माः कुटिलाः सप्तम्यर्थे चात्र षष्ठी कुटिलासु तिरश्चीष्वपि सतीष्वित्यर्थः। **ऊर्ध्व** ऊर्ध्वज्वालः। अग्नेरूर्ध्वगतित्वात्। **'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमित्यदृष्टकारितम्'** (वैशे०५.२.१३) इति वैशेषिकाः। **स्वयशाः** स्वनिमित्तकीर्त्तिः। **उपस्थे** यत्रायमुपगम्य तिष्ठति तस्यामुपस्थे तत्र। किञ्च **उभे** द्यावापृथिव्यौ वाहोरात्रे वारणी वा। अतिप्रवृद्धः सन्नयं कदाचिदावां दहेदित्येवं **त्वष्टुरग्नेर्बिभ्यतुर्जायमानादुद्गच्छत** एव भीतेव। **प्रतीची** तमेव प्रति परिचारकत्वेन गते तत्परिचर्यापरे इत्यर्थः। **सिंहं** तमेव सहनमभिभवितारं भयानकं **प्रति जोषयेते** तैस्तैरुपकारैः प्रति सेवेत इत्यर्थः। तस्य प्रकाशस्येत्येवं दर्शयता भाष्यकारेण तेऽप्यादृता व्याकरणस्मृतिकाराः।

चारुं सामान्येन निर्वक्ति। चारुतयैवान्यत्रान्यत्र गच्छति। जिह्मं **'ओहाङ् गतौ'** (धा०३.७) इत्यस्य इतश्चेतश्च गतमित्यर्थः। स्वाशयेते स्पशिर्बाधने। तेन च सेवालक्षणं बन्धनं लक्ष्यते। तथा च जोषत्यर्थः। प्रदर्शित इति सिद्धम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये त्रयोदशस्या- (अष्टमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः पादः।

॥अथ तृतीयः पादः॥

अथ षोडशः खण्डः।

वनस्पतिः व्याख्यातः (निरु०८.३)। तस्यैषा भवति॥१६॥

भाष्यटीका

वनस्पतिरवसरप्राप्तः। स पुनरयमभिधेयतोऽभिधानतश्च **व्याख्यातः 'एष हि वनानाम्'** (निरु०८.३) इति। **तस्यैषा।**

इति त्रयोदशस्या- (अष्टमस्या)-ध्यायस्य षोडशः खण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि। वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ (ऋ०१०.११०.१०) उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन् देवानामन्नमृतावृती हवींषि काले काले। वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरित्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च। तत्को वनस्पतिः? यूप इति कात्थक्योऽग्निरिति शाकपूणिः। तस्यैषापरा भवति॥१७॥

भाष्यटीका

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ (ऋ०१०.११०.१०)

उपावसृजेति प्रैषे लोट्। वनस्पतेश्चायं प्रैषः। कुत एतत्? अन्येष्वाप्रीसूक्तेषु **'अवसृजा वनस्पते'** (ऋ०१.१३.११) **'वनस्पतेऽवसृजोप देवान्'** (ऋ०३.४.१०) इत्यादिषु दर्शनात्। हे वनस्पते **उपो**पसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः। उपगम्यावसृज देहीत्यर्थः। **त्मन्या** आत्मनैव **समञ्जन्** सङ्गच्छमानः। केन सह? यदि यूपो वनस्पतिस्ततः पशुना। अथाग्निस्तत आहुतिभिः कर्माङ्गदेवैर्वा। **देवानां** चतुर्थ्यर्थे षष्ठी देवेभ्यः। **पाथो**ऽन्नम्। **ऋतुथा** ऋतावृतौ काले काले यो यो यागकालस्तस्मिंस्तस्मिन्नित्यर्थः। किं **हवींषि** पाशवानि दीयमानश्च तद्वद्वतैव। **वनस्पतिः शमिता** शमिता च शामित्रोऽग्निः। **देवो** देवश्चाग्निराहवनीयाख्यः। त्रयोऽप्येते स्वेन स्वेनानुग्राहकेण **स्वदन्तु** स्वादुकुर्वन्तु। **हव्यं** हविर्**मधुनो**दकेन च प्रोक्षणादिगतेन **घृतेन** चोपस्तरणादिगतेन (उपावसृज। त्मन्या समजसीति पाठः) तस्य यूपस्याग्नेर्वापरा।

इति त्रयोदशस्या- (अष्टमस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः।

अथाष्टादशः खण्डः।

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन। यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ (ऋ०३.८.१) अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान् कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च। यदूर्ध्वः स्थास्यसि द्रविणानि च नो दास्यसि। यद्वा ते कृतः क्षयो मातुरस्या उपस्थ उपस्थाने। अग्निरिति शाकपूणिः। तस्यैषापरा भवति॥१८॥

भाष्यटीका

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।

यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ (ऋ०३.८.१)

विश्वामित्रस्य। **अञ्जन्ति** म्रक्षयन्ति **त्वाम्**। **अध्वरे** यज्ञे। **देवयन्तो** देवान् यष्टुमिच्छन्तः। छान्दसत्वाद्यचि ईत्वाभावः। **वनस्पते** हे वनस्पतिविकार यूप। **मधुना दैव्येन 'एतद्वै दैव्यं मधु (दैव्यं) यदाज्यम्'** इति श्रुतेः। आज्यमत्र मधु दैव्यमुच्यते। तेन यूपपक्षे स्वक्तम्। **'स्वयमेव यजमानः कुर्विता'** इति श्रुतेः। अग्निपक्षे आहुतिलक्षणेन। **यत्** लिङ्गव्यत्ययेन यः। **ऊर्ध्वस्तिष्ठा** लृडर्थे पञ्चमः स्थास्यति। **द्रविणा** द्रविणानि धनानि यज्ञफलभूतानि यज्ञाङ्गमापद्यमानोऽस्माकं **धत्तात्** दास्यसि। **यत्** प्रथमा षष्ठ्यर्थे **वा**शब्दश्चार्थे। यस्य च ते **क्षयो** निवासोऽवटाख्यः कृत इति शेषः। **मातुः** मातृभूताया **अस्या** वेदिसम्बन्धिन्या **उपस्थे** उपस्थाने उत्तरवेद्यामित्यर्थः। एवमयं यूपः स्तुतः। अग्निरिति शाकपूणिः। पूर्ववत्तस्यैषापरा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्याष्टादशः खण्डः।

अथैकोनविंशः खण्डः।

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्। प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभीरजिष्ठैः॥ (मै०सं०४.१३.७) देवेभ्यो वनस्पते हवींषि। हिरण्यपर्ण ऋतपर्ण। अपि वोपमार्थे स्यात्। हिरण्यवर्णपर्णेति। प्रदिवस्ते अर्थं पुराणस्ते सोऽर्थो यं ते ब्रूमः। यज्ञस्य वह पथिभी रजिष्ठैर्ऋजुतमैः। रजस्वलतमैः। तपिष्ठतमैः। प्रपिष्टतमैरिति वा। तस्यैषापरा भवति॥१९॥

भाष्यटीका

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्।

प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभीरजिष्ठैः॥ (मै०सं०४.१३.७)

वामदेवस्यार्षम्। **देवेभ्यो** देवानामर्थाय। हे **वनस्पते** यूप अग्ने वा। एतानि **हवींषि**। **हिरण्यपर्ण** तक्षणेनापहृतानि वलिशभूतानि (दहनानि दहतां) वनस्पतीनां पर्णानि येनासौ हिरण्यपर्णः। अथ वा हिरण्यपर्णानीव ज्वालालक्षणानि पर्णानि यस्य स हिरण्यपर्णः। तस्य सम्बोधनं हे हिरण्यपर्ण। **प्रदिवः** पुराणनामैतत्। अर्थमित्येतेन सम्बध्यते। ते छान्दसत्वाद् द्वितीयैकवचनस्य स्थाने स्वादेशः।

पुराणमनादिकालप्रसिद्धमिममर्थं त्वां ब्रूम इति शेषः। एतच्च ज्ञात्वा **प्रदक्षिणिद्रशनया** रज्ज्वा **नियूय** निबध्य। यूपपक्षे आत्मानं परिव्याणार्हभावं गत्वेत्यभिप्रायः। इतरत्र (निध्यैतमिह) हवींषि। **ऋतस्य यज्ञस्य ये पन्थानस्तैः पथिभिः**। कीदृशैः ? **रजिष्ठैः** अतिशयेन ऋजुभिः। उदकं वा रजस्तेन तद्वद्भिर्यैः। सच्छतश्रान्तस्य पातव्यमुदकमस्तीत्यभिप्रायः। रञ्जकैर्वा प्रीतिकरस्वरूपैः (इत्यर्थः) प्रपिष्टतमैः, पिष्टमिति रूपनाम, प्रकृष्टतमरूपैरित्यर्थः। एवंविशिष्टैर्वक्षि वह। यज्ञाङ्गभावोपगमनेन यूपस्य हविर्वहनप्रयोजनम्। एषापरा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः।

अथ विंशः खण्डः।

वन॑स्पते रश॒नया॑ नि॒यूय॑ पि॒ष्टत॑मया व॒युना॑नि वि॒द्वान्। वह॑ दे॒वत्रा दि॑धिषो ह॒वींषि॒ प्र च॑ दा॒तार॑म॒मृते॑षु वोचः॥ (मै०सं०४.१३.७) वनस्पते रशनया नियूय सुरूपतमया। वयुनानि विद्वान् प्रज्ञानानि प्रजानन्। वह देवान् यज्ञे दातुर्हवींषि। प्रब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु। स्वाहाकृतयः। स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा। स्वा वागाहेति वा। स्वं प्राहेति वा। स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति॥२०॥

भाष्यटीका

वन॑स्पते रश॒नया॑ नि॒यूय॑ पि॒ष्टत॑मया व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
वह॑ दे॒वत्रा दि॑धिषो ह॒वींषि॒ प्र च॑ दा॒तार॑म॒मृते॑षु वोचः॥ (मै०सं०४.१३.७)

हे **वनस्पते रशनया** रज्ज्वा **नियूय** निबध्य। **पिष्टतमया** पिष्टमिति रूपनाम। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतमत्वर्थः। रूपवत्तमयाऽतिशयेन रूपवत्तयेत्यर्थः। **वयुनानि** स्वानि प्रज्ञानानि अस्मदीयानि वा भक्तीरयवाणि **विद्वान्** जानन्। **वह देवत्रा** देवान् प्रति। **दिधिषः** हे स्वकर्मणः कृत्स्नस्य वा जगतो धारयितः। **हवींषि** प्रोपसर्गो वोच इत्येतेन सम्बध्यते। **प्रवोचः** प्रब्रूहि च। **दातारं** यजमानम्। **अमृतेषु** मरणवर्जितेषु देवेषु। अमुना यजमानेनैतानि हवींषि दत्तानीत्येवं देवेभ्यः कथयेत्यर्थः।

मन्त्रवाक्यसङ्गतिर्न तथा यूपे यथाग्नाविति शाकपूणिः। वृद्धकात्थक्यार्थप्रतिपादनार्थमत्रोदाहरणम्।

स्वाहाकृतय इत्यभिधानतोऽभिधेयतश्च वक्तव्या इति शेषः। **'प्रविभज्य निर्ब्रूयात्'** (निरु०२.२) इत्यभिधानम्। अत आह।

(स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा। स्वा वागाहेति वा। स्वं प्राहेति वा। स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति।)

स्वाहेत्येतत्पूर्वपदं सु आहेति वा। स्वाहाकारान्तो होममन्त्राणां कर्तव्यः। **'न ह वै ता आहुतयो देवान् गच्छन्ति ये अवषट्कृता वा अस्वाहाकृता वा भवन्ति'** (श०ब्रा०९.३.३.६, १४) इति श्रुतेः। स्वाहाकारस्य सम्प्रदानत्वेन मन्त्रान्तेऽवश्यंभावित्वादयमर्थो यस्यान्ते श्रूयते स होममन्त्रः शोभनमर्थमाह। अथवा प्रजापतेः **स्वा** आत्मीया **वागाहेति** स्वाहा। एवं हि श्रूयते **'स्वा ह्येनं वागभ्यवदत् तत् स्वाहाकारस्य जन्म'** (मै०सं०१.८.१) इति। एवमिति स्वाहाकाररूपा वाक् प्रजापतेर्निसृष्टेत्यर्थः।

अथवा **स्वं प्राहेति** यजमानस्य स्वयं हविर्देवतायै दत्तं तदुद्देशेन त्यागात् तस्य यजमानस्येत्येवं प्राहेति स्वाहा। सम्प्रदानत्वं स्वाहाकारस्य स्पष्टमनेन प्रकारेण प्रदर्शितं भवति। **स्वाहुतमित्यादि**। अथवा यदनेन स्वाहाकारेण जुहोति तदेव सुष्ठु मर्यादाय जुहोतीति। एवं च सति पूर्वकाणि निर्वचनानि ब्रूते:। इदं जुहोतेरिति। अत्र स्मरणार्थमुत्तमस्य प्रयाजस्य वक्ष्यमाणदेवतासंकीर्तनकृतत्वात् स्वाहेति। एवं पूर्वाकृतिकरणमुच्चारणं वा समीक्ष्य वक्ष्यमाणदेवतानां ता: स्वाहाकृतय उच्यन्ते। भाष्यकारेण तु प्रसिद्धमभिधेयमिति कृत्वा नोक्तम्। **तासां** स्वाहाकृतीनामेषा।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्य विंश: खण्ड:।

अथैकविंश: खण्ड:।

स॒द्यो जा॒तो व्य॑मिमीत य॒ज्ञम॒ग्निर्दे॒वाना॑मभवत् पु॒रो॒गा:। अ॒स्य होतु॑: प्र॒दिश्यृ॒तस्य॑ वा॒चि स्वाहा॑कृतं ह॒विर॑दन्तु दे॒वा:॥ (ऋ०१०.११०.११) सद्यो जायमान: निरमिमीत यज्ञम्। अग्नि: देवानामाभवत् पुरोगामी। अस्य होतु: प्रदिश्यृतस्य वाच्यास्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा इति यजन्ति। इतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ता:। अथ किंदेवता: प्रयाजानुयाजा:। आग्नेया इत्येके॥२१॥

भाष्यटीका

स॒द्यो जा॒तो व्य॑मिमीत य॒ज्ञम॒ग्निर्दे॒वाना॑मभवत् पु॒रो॒गा:।

अ॒स्य होतु॑: प्र॒दिश्यृ॒तस्य॑ वा॒चि स्वाहा॑कृतं ह॒विर॑दन्तु दे॒वा:॥ (ऋ०१०.११०.११)

सद्य एव जायमान: सन् **व्यमिमीत** निर्मिमीते **यज्ञम्**। **अग्निर्देवानामभवत्** भवति **पुरोगा** अग्रतो गामी। **अस्य होतु: प्रदिशि** प्रकृष्टायां दिशि प्राच्यामित्यर्थ:। **ऋतस्य** गतस्यात्मना। वाचि वाचात्राधारभूतमास्यं लक्ष्यते। आस्ये **स्वाहाकृतं** वषट्कारप्रदानत्वात् प्रयाजादीना स्वाहाकारशब्दोऽत्र न स्वाहाकारवचन:। (किन्तर्हि) शोभनस्य वा करोतिरपि क्रियासामान्यवचनत्वाद् जुहोत्यर्थे। शोभनेन हुतं **हविरदन्तु** भक्षयन्तु उत्तमप्रयाजदेवता:।

इतीमा (आप्रीदेवता अनुक्रान्ता:। अथ किंदेवता: प्रयाजानुयाजा:। आग्नेया इत्येके।

एवमिमा आप्रीणामृचां देवतानिर्वचनोदाहरणविचारयुक्तमानुपूर्व्येण यथासमाम्नायं व्याख्याता इत्युक्तोपसंहारवचनम्। उत्तरविवक्षयानन्तरं विचार: सन्देहप्रश्नपुरस्सर:। (का सा एषाम्) **किं देवता: प्रयाजानुयाजा** इति। इदमयुक्तं वर्तते। किमत्रायुक्तम्? प्रयाजदेवता इति विचार्य ता एव सन्निहिता अनुपृच्छति किंदेवता इति। सोऽयं घोटारूढस्य विस्मृतो घोटस्तत्रैतत् स्यात्।

इह (हि) क्वचित् समुदायावयवविसम्बन्धित्वेनाश्रयता द्रष्टव्या। यथैन्द्रवायवादियागानां प्रत्येकं देवताभेदे सति तत्समुदायस्य प्रात: सवनसंज्ञकस्याग्नेयत्वं प्राप्तम्। आग्नेयं प्रात:सवनमिति। तद्वदिहापि स्यात्। उक्तास्वपि प्रतिप्रयाजं देवतासु समुदायदेवताभिप्राय: प्रश्न इति।

तन्न। चोदनालक्षणत्वाद्देवताया:। न च कल्पितप्रयाजसमुदायस्य काचिद्देवता श्रयते। दृष्टान्तानुपपत्तिश्च। यत: प्रात:सवनस्याग्नेयत्वं भक्तिमात्रम्। यथा वायव्यानीति सोमपात्राणि।

एवं तर्हि यज्ञ इति कार्त्थक्य इत्यादिप्रदर्शिताचार्यविप्रतिपत्तेः। **'छन्दोदेवता इत्यपरम्। छन्दांसि वै प्रयाजाः'** (निरु०८.२२) इत्यादिवक्ष्यमाणवादेभ्यश्च देवतासन्देहे सति निश्चयमाधास्यामीति प्रश्न इति किंदेवताः। (तत्प्रति) वचनम्-

आग्नेया इत्येके मन्यन्त इति शेषः। कुतः? मन्त्रलिङ्गात्। सिद्धान्तोपक्रमश्च विचारः। अन्ते वक्ष्यति **'आग्नेया इति तु स्थितिः'** (निरु०८.२२) इति।

इति त्रयोदशस्या-(अष्टमस्या)-ध्यायस्यैकविंशः खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्। घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥ (ऋ०१०.५१.८) तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः। तवाग्ने यज्ञो३ऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥ (ऋ०१०.५१.९) आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम्। छन्दोदेवता इत्यपरम्। **छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजा** इति च ब्राह्मणम्। ऋतुदेवता इत्यपरम्। **ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजा** इति च ब्राह्मणम्। पशुदेवता इत्यपरम्। **पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजा** इति च ब्राह्मणम्। प्राणदेवता इत्यपरम्। **प्राणा वै प्रयाजाः अपाना वा अनुयाजाः** (शत०ब्रा०११.२.६.२७, कौ०ब्रा०७.१) इति च ब्राह्मणम्। आत्मदेवता इत्यपरम्। **आत्मा वै प्रयाजाः प्रजा अनुयाजाः** (तै०सं०६.१.५) इति च ब्राह्मणम्। आग्नेया इति तु स्थितिः। भक्तिमात्रमितरत्। किंमर्थं पुनरिदमुच्यते। **यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेत, वषट्करिष्यन् इति ह विज्ञायते।** (ऐ०ब्रा०११.८) तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि। तेषां वासिष्ठमात्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदमिति नाराशंसवन्ति। मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकमित्युभयवन्ति। अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति॥२२॥

भाष्यटीका

प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥ (ऋ०१०.५१.८)

संवादसूक्तमेतत्। सौचकमग्निं देवा ऊचुः। हव्यं नो वहेति। स ताननयर्चा भागं ययाचे। **प्रयाजान्मे** मह्यम्। **अनुयाजांश्च केवलान**साधारणान्। **ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागं** स्विष्टं कृदाख्यं **घृतं च** प्रयाजाज्यं भागादि **अपां** सम्बन्धीति शेषः। अद्भ्य उत्पन्नानां विकारभूतमित्यर्थः। **पुरुषं चौषधीनां** पुरुषशब्देनात्र पुल्लिङ्गत्वादाग्नेयः सवनीयः पशुरुच्यते। तं चौषधीनां सम्बन्धिनं भक्षयितारमित्यर्थः। अथवा पुरु बहु कर्म सनोतीति पुरुषं पुरोडाशस्तं च दर्शपूर्णमासादिषु कर्मसु ओषधीनां विकारतया सम्बन्धिनमग्नेश्च तद्धवींषि वहतो **दीर्घमायुरस्तु देवाः।**

एवं याचिते भागे तं देवाः परयर्चा प्रत्यूचुः।

तव॑ प्रया॒जा अ॑नुया॒जाश्च॒ केव॑ल॒ ऊर्ज॑स्वन्तो ह॒विषः॑ सन्तु भा॒गाः।

तवा॑ग्ने य॒ज्ञो३॒॑ऽयम॑स्तु सर्व॒स्तुभ्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः॥ (ऋ०१०.५१.९)

केवला असाधारणाः। **ऊर्जस्वन्तो** बलवन्तः। **हविषो** मध्ये **सन्तु भागाः**। अनुज्ञाता अस्माभिरित्यर्थः। **तवैव** च हे **अग्ने यज्ञोऽयमस्तु** भवतु **सर्व** एव। किं बहुना तुभ्यमेव **नमन्तां प्रदिशः** प्रकृष्टा दिशश्चतस्रोऽपि। अथवा प्रागन्तादिभिः प्रदिशोऽवान्तरदिश उच्यन्ते ताश्चतस्रश्च दिशः। तादर्थ्याच्च विश्वं भुवनमुच्यते दिक्शब्देन।

एव मन्त्रलिङ्गादाग्नेयत्वमुपपाद्य ब्राह्मणमपि दर्शयति।

आग्नेया (वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्। छन्दोदेवता इत्यपरम्। छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्। ऋतुदेवता इत्यपरम्। ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्। पशुदेवता इत्यपरम्। पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्। प्राणदेवता इत्यपरम्। प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्। आत्मदेवता इत्यपरम्। आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्।

अनुयाजादीनां प्रसङ्गाद्देवताभिधानं निगदव्याख्यानम्। तत्र सिद्धान्तम्।

(आग्नेया इति तु स्थितिः। भक्तिमात्रमितरत्।)

आग्नेया इत्येषा स्थितिः पक्ष इत्यर्थः। भक्तिमात्रमितरत् छन्दांसि वा इत्येवमादिब्राह्मणम्। विचारप्रयोजनाभिधित्सयाह।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

इत्यादि।

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेत, वषट्करिष्यन्। इति ह विज्ञायते।

ऋज्वर्थं ब्राह्मणम्। निश्चिते च देवतासतत्त्वेऽध्यवसानस्य संभवात् (सगुणं कर्म भवति) निवृत्ते च विचारे सुहृद्भूत्वा कथयति।

(इतीमान्येकादशाप्रीसूक्तानि।)

यानि वेदे पठ्यन्ते तान्येतान्येकादश। संख्यावधारणमृग्वेदाभिप्रायम्। यजुर्वेदे **'समि॑द्धोऽअ॒ञ्जन्'** (यजु०२९.१) इत्यादीन्यन्यानि पठ्यन्ते। पश्वश्वमेधे विनियोगः। बह्वृचानां त्वेकादशैव। तथा च शौनकः पठति **'एकादश संप्रैषैर्यानि जानीमश्छन्दांसि'** (मूलमनुपलब्धम्) इति।

(तेषां वासिष्ठमात्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदमिति नाराशंसवन्ति।)

तेषामेकादशानां मध्ये वासिठम् **'जु॒षस्व॑ नः स॒मिध॑मग्ने अ॒द्य'** (ऋ०७.२.१) इति। **आत्रेयम्** **'सु॒स॑मिद्धाय शो॒चिषे॑'** (ऋ०५.५.१) इति। **वाध्र्यश्वम् 'इ॒मां मे॑ अग्ने स॒मिधं॑ जुषस्व॒'** (ऋ०१०.७०.१) इति। **गार्त्समदम् 'समि॑द्धो अ॒ग्निर्निहि॑तः (पृथि॒व्याम्)'** (ऋ०२.३.१) इति। एतानि चत्वारि **नाराशंसवन्ति**। वसिष्ठशुनकादीनां नाराशंसयाजिनामाप्यः प्रयोज्याः। **'(यदा) यो यजमानः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति वचनाद्याज्यत्वेन द्रष्टव्यानि।

(मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकमित्युभयवन्ति।)

मैधातिथं 'सुसमिद्धो न आ वह' (ऋ०१.१३.१) इति। दैर्घतमसं 'समिद्धो अग्न आ वह' (ऋ०१.१४२.१) इति। प्रैषिकं प्रैषेषु भवं 'होता यक्षदग्निं समिधा सुषमिधा समिद्धम्' (मै०सं०४.१३.३; कां०सं०१५.१३) इत्यादीनि। एतानि त्रीणि तनूनपाता नाराशंसेन चोभयवन्ति।

(अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति।)

अतोऽन्यानि चत्वारि 'समिद्धो अद्य राजसि' (ऋ०१.१८८.१) 'समित्समित् सुमना (बोध्यस्मे)' (ऋ०३.४.१) 'समिद्धो विश्वतस्पतिः' (ऋ०९.५.१) 'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे' (ऋ०१०.११०.१) इत्येतानि तनूनपाद्वन्ति। वसिष्ठादिव्यतिरिक्तानां तनूनपाद्याजिनाम्। सर्वेषु प्रत्यृचमेता देवताः। तथा चाह 'सर्वत्र प्रथिताभ्यः स्वस्य' इत्यादि सिद्धम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये त्रयोदशा-(अष्टमा)-ध्यायः समाप्तः।

इति द्वाविंशः खण्डः समाप्तः।

॥अथ नवमोऽध्यायः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। तेषामश्वः प्रथमागामी भवति। अश्वो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥१॥

भाष्यटीका

आप्रीदेवतापदं समाम्नायानन्तरं यानि तानि। उद्देशपतिनिर्देशार्थौऽथत्तच्छब्दौ। पृथिवी आयतनं स्थानं येषाम्। सत्त्वानि सत्त्वशब्दोऽयं यद्यपि प्राणिवचनोऽप्यस्ति सर्वे सत्त्वाः सुखिनो भवन्तीति। तथाप्यत्र वस्तुमात्रवचनो गृह्यते। अतो लिङ्गसंख्यायोगिवस्तु द्रव्यं सत्त्वमुच्यते। कुत एतत्? अक्षादीनामचेतनानामपि परस्तादुपन्यसिष्यमाणत्वात्। इतरथा ह्यश्वादिप्राणिप्रकरणादक्षादीनामप्रकृतोपन्यासः। तदर्थो वा विशेषाधिकारः पुनः कर्तव्यः स्यात्। स्तुतिं लभन्त इति हेतुवचनमेतत्। मन्त्रेषु गुणित्वेन श्रूयन्त इति कृत्वा देवतावत्समाम्नाये पठितानि। अतो हेतोरनुक्रमिष्यामो व्याख्यास्यामः।

(तेषामश्वः प्रथमागामी भवति। अश्वो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति।)

तेषां चैतन्यान्मनुष्येभ्यश्चानन्तरमश्वानामुत्पत्तिः श्रूयते। **'प्रजापतिः प्रथमामाहुतिमजुहोत्। तत एतस्या आहुतेः पुरुषोऽजायत। स द्वितीयामजुहोत् ततोऽश्वा अजायन्त'** (मै०सं०१.८.१) इत्येवमश्वस्येतरेभ्यः प्राधान्यात् प्रथमगामित्वम्। माहाभाग्याद्देवताया इत्यत्र चोत्कर्षक्रमनियमाः स्तुतिलाभहेतवः प्रपञ्चेनोक्ताः। अग्न्यादीनामिवाश्वादीनामपि। अश्वो व्याख्यातः। अश्नुतेऽध्वानमिति। तस्यैषा प्राधान्यस्तुतिः।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

अश्वो वोळहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः। शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ (ऋ०९.११२.४) अश्वो वोळहा सुखं वोळहा रथं वोळहा। सुखमिति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यम्। सुहितं भवति। सुहितं गम्यतीति वा। हसैता वा पाता वा पालायिता वा। शेपमृच्छतीति। वारि वारयति। मा नो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥२॥

भाष्यटीका

अश्वो वोळहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।

शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ (ऋ०९.११२.४)

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अर्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋभु॒क्षा म॒रुत॒: परि॑ ख्यन्। यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॒ वी॒र्या॑णि॥ (ऋ०१.१६२.१) यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तेः सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि। मा नस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुः। अयनः। इन्द्रश्चोरुक्षयणः। ऋभूणां राजेति वा। मरुतश्च परिख्यन्। शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम्। शक्नोति नदितुमिति वा। शक्नोति तकितुमिति वा। सर्वतः शङ्करोऽस्त्विवति वा! शक्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति॥३॥

भाष्यटीका

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अर्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋभु॒क्षा म॒रुत॒: परि॑ ख्यन्।

यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॒ वी॒र्या॑णि॥ (ऋ०१.१६२.१)

न त्वत्राश्वशब्दोऽस्ति। माभूत्। तस्य पर्यायो वाजिन्शब्दोऽस्ति। परासु च बहुशोऽश्वशब्दोऽपि। अश्वसूक्तमिति च समाख्यायते। तस्यैषा प्रथमा भूता। अंशाभितष्टीयादिष्वेकलिङ्गेष्वपि तद्देवत्वमिष्यते। किमङ्ग पुनरनेकलिङ्गत्व इत्यदोषः।

दीर्घतमस आर्षम्। **मा** इति प्रतिषेधार्थीयः परिख्यन्नित्येतेन सम्बध्यते। **नो**ऽस्माकम्। परस्ताद्यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः। तन्**मित्रो वरुणोऽर्यमा। आयुः** अयनस्वभावकत्वाद्वायुः। छान्दसो वकारलोपः। **इन्द्र ऋभुक्षा** महन्नामैतत् महान्। अथवा उरु भातीति ऋभुर्विस्तीर्णमन्तरिक्षम्। तस्मिन्यः क्षयति वसति स ऋभुक्षाः। अथवा ऋभवः सौधन्वनास्तेषां यः क्षयति राजति ईष्ट इत्यर्थः स ऋभुक्षाः **मरुतश्च मा परिख्यन्** परिख्यानं परिवर्जनम्। अनुमदन्तमाकाङ्क्षुः। यद्वाऽनुमन्यन्तामित्यर्थः। **यद्वयं वाजिनो**ऽश्वस्य **देवजातस्य '(स) प्रथमामाहुतिमजुहोत् ततो मनुष्या अजायन्त। स द्वितायामजुहोत् ततोऽश्वः'** (मै०सं०१.८.१) इति श्रुतेर्देवादग्नेराहुत्या जातस्य। अथवा **'सू॒राद॒श्वं॑ वसवो॒ निर॑तष्ट'** (ऋ०१.१६३.२) इति दर्शनात्। देवैर्वसुभिरादित्याज्जातस्य। **सप्तेः** सरणस्य **प्रवक्ष्यामो विदथे** यज्ञेऽश्वमेधादौ **वीर्याणि**। भाष्यकारेण परोऽर्धर्चः प्रथमं व्याख्यातः। तथाहि प्रतिषेध्येन प्रतिषेधस्य सुखः सम्बन्ध इति कृत्वा।

शकुनिः कस्मात्? शकेः शकारः ककारश्च उकारश्च। नयतेर्निः। एतदाह **शक्नोत्युन्नतुम्।** कम्? सामर्थ्यादात्मानम्। **नदितुमिति** नदतेर्निः। **तकितुं** वान्तरिक्षेण गन्तुम्। तकतेर्वर्णव्यापत्येत्यर्थः। **सर्वत** इत्यादिना वाशीर्नामकत्वं दर्शयति। शङ्करोऽस्त्विवति वेति पाठान्तरम्। शक्नोतेर्वेति वैयाकरणः। शक्नोत्युन्नेतुमिति। **तस्यैषा।**

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत्।। (ऋ०२.४२.१) न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणः। यथास्य शब्दस्तथा नामेरयति वाचम्। ईरयितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भव। कल्याणमङ्गलः। मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे। गिरत्यनर्थानिति वा। अङ्गलमङ्गवत्। मज्जयति पापमकमिति नैरुक्ताः। मां गच्छत्विति वा। मा च त्वा काचिदभिभूतिः सर्वतो विदत्। गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति।।४।।

भाष्यटीका

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।

सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत्।। (ऋ०२.४२.१)

गृत्समदस्य। अर्धर्चयोरेकवाक्यतायै यत्तच्छब्दाध्याहारः। प्रत्यक्षकृतत्वाच्च मन्त्रस्य। कनिक्रददिति प्रथमपुरुषस्यैकवाक्तायै भवच्छब्दो योज्यः। भवान् **कनिक्रदत्** अत्यर्थं शब्दं कृतवान् करोति वा। **जनुषं** जन्म जातिस्ताम्। **प्रब्रुवाणः** प्रायेण शकुनिनाम्नां शब्दानुकृतिनिमित्तत्वात् तस्य शब्दस्य तन्नाम्नश्च सादृश्यात् ते जातिमात्मीयां प्रब्रुवाणा इव। न च सकृदेव। किन्तर्हि? सततमेव **इयर्ति** प्रेरयति **वाचम्। अरितेव** गमयितेव नाविको **नावम्।** स त्वं सुमङ्गलश्चास्माकं प्रशस्तः। हे **शकुने भवासि** भवसि। **मा** च **त्वा** त्वां **काचिदभिभा** कश्चित्पराभिभवः। अभिभूति**र्विश्वा** सर्वप्रकारा **विदत्** विदिर्लाभार्थः, लभेत प्रापदित्यर्थः।

मङ्गलं निराह। **गिरतेः**। गृणातिः स्तुतिकर्मा तदर्थे वर्तमानस्य। भाविनो हि कल्याणस्य प्रसूचकं निमित्तं मङ्गलमुच्यते। अतः स्तुत्यं तद्भवति। अथवा गृणाति भक्षयति नाशयत्यनर्थानिति। अथवा स्तुतस्य वा भक्षयति नाशयति गोरोचनादधिमध्वक्षतादिभिर्वावयवैस्तद्वदङ्गं रेफस्य च लत्वेनाङ्गलं सन्मकारोपजनेन मङ्गलम्। अथवा मज्जयति तिरोभवति। मज्जेर्लकारप्रत्ययो वर्णव्यापत्तिश्च। मामेव गच्छत्वित्येवमाशास्यते।

गृत्समदमृषिमर्थं प्रातुमभ्युत्थितमभिप्रस्थितं कपिञ्जलः शकुनिविशेषोऽभिशब्दितवान्। शब्देनोत्साहितवानित्यर्थः। तस्यार्थस्याभिवादिनी।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

भ॒द्रं व॑द दक्षिण॒तो भ॒द्रमु॑त्तर॒तो व॑द। भ॒द्रं पु॒रस्ता॑न्नो वद भ॒द्रं प॒श्चात्क॑पिञ्जल॥ (खिल सू० ३.१) इति सा निगदव्याख्याता। गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्सः (निघं० ३.१५.३) इति मेधाविनाम। गृणातेः स्तुतिकर्मणः। मण्डूका मज्जूका मज्जनात्। मदतेर्वा मोदतिकर्मणः। मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डयतेरिति वैयाकरणाः। मण्ड एषामोक इति वा। मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा। तेषामेषा भवति॥५॥

भाष्यटीका

भ॒द्रं व॑द दक्षिण॒तो भ॒द्रमु॑त्तर॒तो व॑द।
भ॒द्रं पु॒रस्ता॑न्नो वद भ॒द्रं प॒श्चात्क॑पिञ्जल॥ (खिल सू० ३.१)

गृत्समदस्यार्षम्। **भद्रं** कल्याणं **वद दक्षिणतः** स्थित इति शेषः। **भद्रमेवोत्तरतः**। भद्रमेव **पुरस्तात्**। **नो**ऽस्माकं **वद**। **भद्रमेव पश्चाद्** वद। हे **कपिञ्जल** पठितत्वान्निगदव्याख्यातेति।

इतिहासप्रसक्तमृषिनाम निराह। **गृत्सो** मेधावी **गृणातेः**। स्तुत्यो ह्यसौ लोकस्य। स्तोता वा देवानां मदनः कर्तरि ल्युट्। सोमेन स्तुतिभिश्च मदयन् कर्तेति समानाधिकरण इत्यर्थः।

मण्डूका मज्जूका इति प्राप्तिवचनम्। **मज्जनादिति** धात्वर्थस्यानुगमप्रदर्शनम्। मस्जेरुकप्रत्यये जत्वोत्वाभ्यां मज्जूका इति प्राप्ते छान्दसत्वाज्जकारस्य (डकारः)। झल्यपि चान्त्यात्पूर्वो नुम् (अष्टा० ७.१.६०)। **मदतेर्वा** भौवादिकस्य मोदतिकर्मणः। वेत्यवधारणार्थः। **मन्दतेर्वा** चौरादिकस्य **'मद तृप्तिधने'** (धा० १०.१७२) इत्यर्थस्य तृप्तिकर्मणः। वेत्यवधारणार्थमेव। नित्यमदत्वान्नित्यतृप्तत्वान्नित्यहृष्टत्वाद्वा मण्डूकाः। **'शलिमण्डिभ्यामूकण्'** (उणा० ४.४२) इति मण्डयतेरुत्पत्तिलाघवादिति वैयाकरणाः। रेखाभक्तिविचित्रकत्वान्मण्डिता इव। मण्ड उदकम्। तस्मिन्नोको निवास एषामिति वा। प्रसङ्गादाह मदेर्हर्षार्थस्य। हृष्यन्ति हि ततस्नानपानावगाहार्थिनः। **मुदेर्वा**। धात्वन्यत्वमात्रम्। **तेषामेषा**।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

सं॒व॒त्स॒रं श॑शया॒ना ब्रा॑ह्म॒णा व्र॑तचा॒रिणः॑। वाच॑ं प॒र्जन्य॑जिन्विता॒ं प्र म॒ण्डूका॑ अवादिषुः॥ (ऋ० ७.१०३.१) संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपि वोपमार्थे स्यात्। ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति। वाचं पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुर्मण्डूकाः। वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषगर्भवति॥६॥

भाष्यटीका

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ (ऋ०७.१०३.१)

वसिष्ठस्य। अत्रैवाक्तायै यत्तच्छब्दाध्याहारः। ये **संवत्सरं शशयानाः** शयितवन्तः। लुप्तोपममेतत्। सुप्ता इव वाष्टौ मासान्। निःशब्दा बभूवुरित्यर्थः। **ब्राह्मणा** ब्रुवतेरेतद्रूपम्। वचनसमर्था अपि सन्तो **व्रतचारिणः**। अथवा व्रतमिति कर्मनाम। स्वस्य कर्मणश्चरितारो गन्तार इत्यर्थः। ते वर्षासु **वाचं पर्जन्यजिन्वितां** जिन्वतिः प्रीतिकर्मा, पर्जन्येन प्रीताम्। प्रशब्दोऽवादिषुरित्येतेन सम्बध्यते। **मण्डूकाः प्रावादिषुः**। वर्तमाने लुङ्। प्रवदन्ति। ब्राह्मणा इति लुप्तोपम्। ये संवत्सरं शयितवन्तस्ते यथा ब्राह्मणाः कृतस्वाध्यायोपकरणा व्रतचारिणः स्वाध्यायमेवं वाचं पर्जन्येन प्रीता मण्डूकाः प्रवदन्तीति।

शिश्याना इति अवाचः। **ब्राह्मणा** इत्यस्य व्याख्यानं ब्रुवाणा इति। अनावृष्ट्युपहते किल जीवलोके वसिष्ठो वर्षार्थी पर्जन्यमस्तौषीत्। तन्**मण्डूका अन्वमोदन्त** अन्वहृष्यन्त वर्षहेतुकं शब्दमकृण्वतेत्यर्थः। तत्प्रमोदश्च भाविनो वर्षस्य सूचक इति कृत्वा। **दृष्ट्वा** उपलभ्य श्रुत्वेत्यर्थः। स एष मण्डूकस्तुतेर्निदानामितिहासः।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ (अथर्व०४.१५.१४) इति सा निगदव्याख्याता। अक्षा अश्नुवत एनानिति वा। अभ्यश्नुवत एभिरिति वा। तेषामेषा भवति॥७॥

भाष्यटीका

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ (अथर्व०४.१५.१४)

उपोपसर्गश्रुतेः क्रियापदाध्याहारः। **इह** उपगम्य **प्रवद**। हे **मण्डूकि**। किम्? **वर्षं 'नपुंसके भावे क्तः'** (अष्टा०३.३.११४) इति कृदर्थोण्युपसंख्यायते। **वर्षमावद** अभिमुख्येन वृष्टिनिमित्तं यत्तद्वद। मा मैवावारयतीत्यर्थः। **तादुरि** तरणशीले यावच्छरीरं तावदुदके वावदित्वा च देववृष्टे। **मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व** तर। **विगृह्य** प्रसार्य **चतुरश्चतुरो**ऽपि पादान्।

अक्षः। अश्नोतेः कर्मभूता व्याप्नुवन्ति गृह्णन्त्येनां देवितारः। करणभूता वा अभिव्याप्नुवन्त्येभिः परस्परमित्यर्थः। तेषामेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथाष्टमः खण्डः।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ (ऋ० १०.३४.१) प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवणेजाः। इरिणे वर्तमानाः। इरिणं निर्ऋणम् ऋणातेः। अपार्णं भवति। अपरता अस्मादोषधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। मौजवतो मूजवति जातः। मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान्। मुञ्जो विमुच्यत इषीकया। इषीकेषतेर्गतिकर्मणः। इयमपीतरेषीकैतस्मादेव। विभीदको विभेदनात्। जागृविर्जागरणात्। मह्यमचच्छदत्। प्रशंसन्त्येनान् प्रथमया। निन्दत्युत्तराभिः। ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते। ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा। तेषामेषा भवति॥८॥

भाष्यटीका

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ (ऋ० १०.३४.१)

कवषस्य मौजवतो वा। **प्रावेपाः** प्रवेपनस्वभावा अक्षाः। **मा** माम्। **बृहतो** महतः। सामर्थ्याद् विभीदकस्य। षष्ठीश्रुतेः फलत्वेन सम्बन्धिन इति शेषः। महतो विभीदकस्य फलानीत्यभिप्रायः। **मादयन्ति** हर्षयन्ति। **प्रवातेजाः** प्रचुरवाते काले वर्षासु प्रवणे वा प्रदेशे जाताः। **इरिणे** निरुदके असारप्रदेशे पर्वतानाम्। न च मनाक्। किन्तर्हि? **सोमस्येव** यथा सोमस्य **मौजवतस्य** मूजवति पर्वते जातस्य **भक्षः**। एवं **विभीदको** विभीदकविकारोऽक्षाख्यो जये पराजये च हर्षेण शोकेन। **जागृविः** जागरणकर्मा। **मह्यं** षष्ठ्यर्थे चतुर्थी मम। **अच्छान्** छादयति। किम्? सामर्थ्यान्मनः। अत्यन्तं प्रीतिं करोतीत्यर्थः।

प्रवणेजा इति पाठे उभयत्र '**सप्तम्यां जनेर्डः**' (अष्टा०३.२.९७) बहुलवचनाच्चालुक्। इरिणातिर्गतिकर्मा। इरिणं निरिणं सन्नकारलोपेन। निशब्दादिकारः। रिणातेरिकारः। अण्शब्दाणकारः। अपगतोदकमिरिणमित्याह। तत अपेत्य जीविता। अन्यत्र सा हि शरस्कन्धशो निर्गता भवति। अमुञ्जः कथम्? स हि मुच्यते। इषीकया कथम्? ईषतेर्गतिकर्मणः। सा हि निर्गता भवति मुञ्जात्। इयमपीषीका अपरेषीका तस्मादेव। विभीदको भेदनात्। जागृविरच्छान् अवच्छन्दन्। प्रथमया सूक्तस्याद्यया। परिद्यूनस्याक्षविजिगीषोः। वध्वस्ताक्षविजातृषोऽग्नि-वर्णस्येत्यर्थः।

ग्रावाणोऽभिषवपाषाणाः। **हन्ते**र्वर्णव्यापत्त्या। हन्यते हि तैः सोमः। गृणातिः स्तुतिकर्मा। ग्रावस्तुद् ग्रावस्तोत्रमिति च समाख्या।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्याष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥ (ऋ०१०.९४.१) प्रवदन्त्वेते प्रवदाम वयम्। ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वता अदरणीयाः। सह सोमम्। आशवः क्षिप्रकारिणः। श्लोकः शृणातेः। घोषो घुष्यतेः। सोमिनो यूयं स्थेति वा। सोमिनो गृहेष्विति वा। येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः। तस्यैषा भवति॥९॥

भाष्यटीका

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥ (ऋ०१०.९४.१)

अर्बुदस्य। एते उद्गातारः **प्रवदन्तु**। वयमपि होतारः **प्रवदाम**। **ग्रावभ्यो वाचं** स्तुतिलक्षणाम्। यूयमप्यध्वर्यवो **वदत वदद्भ्यो**ऽभिषवशब्दं कुर्वद्भ्य इत्यर्थः। परोऽर्धर्चं प्रत्यक्षकृतत्वाद्भिन्नं वाक्यम्। **यत्** व्यत्ययेन नपुंसकैकवचनं पुल्लिङ्गबहुवचनस्य स्थाने। हे यूयं हे **अद्रयः पर्वताः** पर्वतावयवाः **साकं** सह। **आशवो** होमस्याभिषवकाले व्यापारः। यच्छ्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारस्ते। अथवा आशुरिति क्षिप्रनाम क्षिप्रास्ते सह **श्लोकं** श्रवणीयं **घोषम**भिषवशब्दं **भरथ** हरथ प्रापयथ। **इन्द्राय** इन्द्रं प्रापयितुं तत्समीपं नयथेत्यर्थः। **सोमिनः** सोमवन्तो वा सोमवतो वा यजमानस्य गृहेष्विति शेषः।

अद्रय इत्यस्य निर्वचनं आदरणीयाः। सोमा इत्यतिरिक्तपाठः। आस्यलग्नेन सोमेन सोमिनः। ऊर्ध्वं षष्ठ्येकवचनं वा।

नाराशंसः नरान् शंसतीति कर्मोपपदे **'अन्येषामपि दृश्यते'**(अष्टा०६.३.१३७) इति औत्तरपदिकं दीर्घत्वं जलाट् श्वादन्तः श्वादंष्ट्रेत्येवमादिवत्। नरशंसः सन् नराशंसः। ततः स्वार्थिकः प्रज्ञादित्वादण्। नराशंस एव नाराशंसः। मन्त्रोऽभिधेयः। **येन नराः प्रशस्यन्त** इति तु भाष्यकारः। **तस्यैषा** इति प्राप्तार्थवचनं द्रष्टव्यम्।

अत्र चोदयति। यदि मन्त्रोऽभिधेयो नराशंसशब्दस्य देवतापदसमाम्नाये पाठोऽनुपपन्नः। यतो नासौ स्तुत्यः। करणं ह्यसौ स्तुतौ। यदपि चोदाहरणं **'अमन्दान् स्तोमान्'** (ऋ०१.१२६.१) इति नाराशंसलिङ्गं न चासौ स्तुत्यः। कस्तर्हि? भावयव्यः। अतोऽयं नाराशंसोपन्यासः।

उच्यते। नैष दोषः। इह हि भावयव्यस्य पौरुकुत्स्यायो बाहुल्येन राजानः स्तुतिविषयत्वेन दृश्यन्ते। तत्र यदि तावत्ते स्वशब्देन पठ्येरन् भूयस्तावल्लक्षणे दोषः स्यात्।

अथ राजानः। नरा इति वा सामान्येन स्तुत्यसम्भवादुदाहरणाभावः।

एवं तर्हि सामान्यस्यैव पाठः कर्तव्यः। स सामान्ये विशेषार्थमपि विज्ञास्यते। यथा शकुनिः समाम्नातो विशेषस्यापि कपिञ्जलादेर्लक्षणम्। तथा चोभयमुदाहृतम् **'कनिक्रदत्' 'भद्रं वद'** इति च। एवमिहापि क्वचित् सामान्येन राजत्वेन स्तुतिः सा च सङ्गृहीता भविष्यति या विशेषेण भावयव्यादीनाम्।

यच्चोक्तं सामान्येन स्तुत्यसम्भव इति। साहसमात्रं तत्। बहुशाखत्वाद्वेदानाम्। सामान्येन योऽभिषिक्तो राजा **'आ त्वा॑हार्षम॒भिव॑र्त्तेन ह॒विषा॑'** (तु०ऋ०१०.१७३.१ **'आ त्वा॑हार्षम॒न्तरे॑धि'**) इति सूक्ताभ्यामनुस्तूयते। तथा च **'देवताधिकारे द्वे परे राज्ञाम्'** (मूलमनुपलब्धम्) इति शौनकः पपाठ। तथा **'ध्रु॒वो राजा॑ वि॒शाम॒यम्'** (ऋ०१०.१७३.४) इति सामान्येन लिङ्गम्।

तस्मादुभयार्थत्वेन राजशब्द एव पठितव्यः।

सत्यम्। सिध्यत्येवं किन्त्वयं नाराशंसशब्दो मन्त्रे सोमे च रूढः। **'नाराशंसी नरेभिः कारव्या इतीदं जना उपश्रुतेति नाराशंस्यं तथा विपर्यस्ये'** (मूलमनुपलब्धम्) इति। नाभानेदिष्ठीये सूक्त उच्यते **'इ॒दमि॒त्था'** (ऋ०१०.६१.१)। **'ये य॒ज्ञेन॑'** (ऋ०१०.६१.१) इति। होमोऽप्याज्यप्रयोगैर्नाराशंसः। तेषां च भक्षमन्त्रः **'देवोऽसि नराशंसः'** (शां०श्रौ०७.५.२२; १८.२१.१२) इति। स्वयमेव वक्ष्यति। **'नाराशंसानभिप्रेत्य'** (निरु०११.५) इति। तस्मादयज्ञश्च निरुक्तो भविष्यति। शक्ष्यामि वैनं व्युत्पत्तिद्वारेण राजमात्रस्य तद्विशेषस्य च भावयव्यादेरुपलक्षणार्थत्वेन सोमविषयत्वेन च वर्णयितुमिति नाराशंसशब्द एव मन्त्रवचनः समाम्नातः। तस्य च सामान्येन च विशेषेण च राजोपस्तुतिविषयाः सर्वमन्त्रा एवोदाहरणम्। अतो विस्रब्धमाह।

येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः। तस्यैषा भवति।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

अम॑न्दा॒न्त्स्तोमा॒न् प्र भ॑रे मनी॒षा सिन्धा॒वधि॑ क्षिय॒तो भा॒व्यस्य॑। यो मे॑ स॒हस्र॒ममि॑मीत स॒वान॒तूर्तो॒ राजा॒ श्रव॑ इ॒च्छमा॑नः॥ (ऋ०१.१२६.१) अमन्दान्त्स्तोमान्। अबालिशाननल्पान् वा। बालो बलवर्ती भर्तव्यो भवति। अम्बाऽस्मा अलं भवतीति वा। अम्बास्मै बलं भवतीति वा। बलो वा प्रतिषेधव्यंवहितः। प्रभरे। मनीषया मनस ईषया। स्तुत्या प्रज्ञया वा। सिन्धावधि निवसतो भावयव्यस्य राज्ञः। यो मे सहस्रं निरमिमीत सवान्। अतूर्त्तो राजा। अतूर्ण इति वा। अत्वरमाण इति वा। प्रशंसामिच्छमानः॥१०॥

भाष्यटीका

अम॑न्दा॒न्त्स्तोमा॒न् प्र भ॑रे मनी॒षा सिन्धा॒वधि॑ क्षिय॒तो भा॒व्यस्य॑।
यो मे॑ स॒हस्र॒ममि॑मीत स॒वान॒तूर्तो॒ राजा॒ श्रव॑ इ॒च्छमा॑नः॥ (ऋ०१.१२६.१)

अमन्दानिति स्तोमविशेषणम्। तत्कथमुपपद्यते। विषयविषयिणोरभेदात्। मन्दो बालिशो मूर्खः। तद्विपरीतोऽमन्दोऽबालिशोऽमूर्खः। तद्विषयाः पण्डिता वेदनीयास्तद्योग्यानेतान्। अल्पो वा मन्दः। अनल्पान् वा **स्तोमान्। प्रभरे** प्रभरामि प्रापयामि। **मनीषा** तृतीयायाः सह योगलक्षणाया अत्र लुक् मनीषया स्तुत्यर्थप्रज्ञया वा यावत्प्रज्ञमित्यर्थः। **सिन्धावधि** सिन्धुर्नदी तत्सम्बन्धो वा देशः। अधिरुपरिभावे। सिन्धोर्नद्यास्तत्सम्बन्धस्य वा देशस्योपरि। **क्षियतो** निवसतः। **भाव्यस्य** भावयव्यस्य। भावयव्यशब्दस्यायं छान्दसोऽक्षरद्वयलोपः। पर्यायान्तरं

वा भावयव्यस्य राज्ञः। **यो मे** मम प्रभूतस्वनदानेन **सहस्रममिमीत** निर्मितवान् **सवान्** स्तुत्यानित्यर्थः। **अतूर्तः** तुर्वतिर्हिंसाकर्मा। अत्यन्तशूरत्वादहिंसितपूर्वः केनचित्। त्वरतेर्वा, अत्वरमाणो **राजा**। **श्रवः** श्रूयत इति श्रवः कीर्तिः प्रशंसा तामात्मन इच्छन्।

सारूप्यप्रसक्तं बालं निराह। **बालो बलवर्ती** बलेन वर्तत एवं शीलः। बलशब्दात् तृतीयासमर्थाद् वर्तत इत्येतस्मिन्नर्थे तद्धित इत्यभिप्रायः। स ह्यमनस्कतया महतोऽपि सकाशादीप्सितमर्थं क्रीडनकादिकं शक्तियुक्तिनिरपेक्षं जिघृक्षति। पित्रोर्ज्येष्ठस्य वा **भर्तव्यः**। भ्रियत इति भारः सन् भकाररेफयोर्बकारलकारापत्या बालः। **अम्बा** माता सा **अस्मै अलम्**। अभ्यञ्जनमर्दनस्तनपानादिषु तदर्थेषु पर्याप्तं **भवतीति वा**। अम्बा बलमस्यावयवद्वितादेर्बालः। अम्बैवास्य बलं निमियन्त्र पित्रादिकबलात्! उत्तरोऽर्धो नालमिति शेषः। बलो वा प्रतिषेधेन प्रतिषेधार्थेन आदितोऽपनीतेनानुप्रविष्टेनाकारेण **व्यवधानादबलो** बालः। अविद्यमानबल इत्यर्थः। अत्र मरणसर्वार्थेषु अबलाः।

इति निरुक्तविवरणे चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य प्रथमः पादः।

॥अथ द्वितीयः पादः॥

अथैकादशः खण्डः।

यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत। राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य। रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। रपतेर्वा। रसतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ ११॥

भाष्यटीका

नाराशंसशब्देनोपक्षिप्तस्य सतः सामान्येन स्तुत्यतया राज्ञः संप्रति स्तुतिलाभहेतुमाचष्टे।

यज्ञसंयोगाद् (राजा स्तुतिं लभेत। राजसंयोगाद्युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति।)

यज्ञेन संयोगात्। यज्ञोऽश्वमेधः। तत्संयोगाद्राजा सर्वयुद्धोपकरणोपेत रथमधिरूढः। स इद्धो राजा जीमूतस्येति स्तूयते। तत्संयोगाद् रथादीन्युपकरणानि। स्तुतिलाभाच्च रथादीनां देवतात्वम्। एष यज्ञाभिसम्बन्धात् स्तुतिसंक्रमः पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितः।

अन्ये तु उपकरणानि राजसम्बन्धात्। राजा यज्ञसंम्बन्धात्। यज्ञो देवतासम्बन्धात्। देवतात्मसम्बन्धात्। सोऽयमात्मैव सर्वावस्थः स्तूयत इति मन्यन्ते। तथा चोक्तम्।

'स्थाने स्थाने स्तुतिः सर्वा स्थानाधिपतिभागिनी।

आत्मप्रतिष्ठा बोद्धव्या तथोपकरणस्तुतिः॥

इति स्तुतिसंक्रमन्यायमिमं मन्यन्तेऽध्यात्मचिन्तकाः। तदेतदात्माविदां दर्शनं **'माहाभाग्याद्देवतायाः'** (निरु०७.४) इत्यादिना **'आत्मैवैषां रथः'** (निरु०७.४) इत्येवमन्तेन प्रदर्शितम्। तेषामाधारभूतत्वाद् रथः प्रथममाम्नातः।

रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य। रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। रपतेर्वा रसतेर्वा। तस्यैषा भवति।)

स कस्मात्? **रंहतेः** रथः। **स्थिरतेर्वा** विपरीताक्षरस्य। **रममाणो** विस्रब्ध इत्यर्थः। द्विधातुजत्वमत्र। रमतेरेवेति वैयाकरणाः। **'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्'** (उणा०२.२) इति क्थन् स्मरणात्। **रसतेर्वा** शब्दार्थस्य। भवति हि तस्यागच्छत उपलब्धिः। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्यैकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ (ऋ०६.४७.२६) वनस्पते! दृळहाङ्गो हि भव। अस्मत्सखा प्रतरणः। सुवीरः कल्याणवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि। वीळयस्वेति संस्तम्भस्व। आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि। दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणम्। द्रुमो भिन्न इति वा दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। तस्यैषा भवति॥१२॥

भाष्यटीका

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।

गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ (ऋ०६.४७.२६)

गर्गस्य। हे **वनस्पते** वनस्पतिविकार रथ। **वीड्वङ्गः** वीडु दृढमङ्गमवयवो यस्य स दृढावयवः। **हि**शब्दो यस्मादर्थे गोभिः सन्नद्ध इत्येतेन सम्बध्यते। **भूया** भव। एव**मस्मत्सख** अस्माकं सखिभूतो मित्रमिव व्यसनपात इत्यर्थः। **प्रतरणः** संग्रामाणां निर्वोढेत्यर्थः। **सुवीरः** शोभनवीरयुक्तः। कस्मादेवमुच्यते दृढाङ्गो भवेति? यस्माद् **गोभिर्गोविकारैश्चर्मभिः** श्लेष्मणा च **सन्नद्धः** सम्यग्बद्धोऽ**सि** तस्माद् **वीळयस्व** दृढीकुर्वात्मानम्। तया वीड्वङ्गतया **आस्थाता** आरोढा च **ते** तव **जयतु जेत्वानि** कृत्यार्थे त्वप्रत्ययः। जेतव्यानि शत्रूणां वृन्दानि धनानि वा तेषाम्।

दुन्दुभिः शब्दानुकरणनिमित्तमेतन्नाम। द्रुमशब्दस्य वा रेफलोपः। भिदेश्चाद्यन्तविपर्ययः। उकारश्चोपजन इत्याह। **द्रुमो भिन्न इति वेति।** भिन्नो निष्कुषितः। **दुन्दुभ्यतेर्वा** स्यान्नैरुक्तधातोः। ताडयते ह्यसौ युद्धसमये। **तस्यैषा।**

इति चतुदर्शस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्। स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥ (ऋ०६.४७.२९) उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च। बहुधा ते घोषं मन्यताम्। विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत्। स दुन्दुभे सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च। दूराद् दूरतरमपसेध शत्रून्। इषुधिरिषूणां निधानम्। तस्यैषा भवति॥१३॥

भाष्यटीका

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।

स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥ (ऋ०६.४७.२९)

गर्गस्यैव। **उप** आ इत्येतस्य स्थाने। श्वसिः सामर्थ्यात्पूरणे। आपूरय स्वेन ध्वनिना। किम्? **पृथिवीमुत द्यां** दिवञ्च। **पुरुत्रा** बहुधा **ते** तव शब्दं **मनुतां** शृणोत्वित्यर्थः। **विष्ठितं** विविधं स्थितं स्थावरमित्यर्थः। अतिशयप्रदर्शनं च विष्ठितशब्देन स्थावरस्येहोपादानम्। इतरथा श्रोत्राभावाद् घोषमननमनुपपन्नं स्यादित्यभिप्रायः। **जगत्** जङ्गमं च। परस्तात्तच्छ्रुतेर्यदध्याहारः। य एवमुक्तोऽसि **सः**। हे **दुन्दुभे सजूः** सम्प्रीयमाण इति। **इन्द्रेण देवैश्च** सह। **दूराद्दवीयो** दूरतरम्। **अपसेध** अपगमय **शत्रून्**। तथा नदत एव शब्दं श्रुत्वा तव शत्रवो नश्यन्तीत्यभिप्रायः।

इषुधिः कस्मात्? इषवो निधीयन्ते यस्मिन्। '**कर्मण्यधिकरणे च**' (अष्टा०३.३.९३) इति किः। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

ब॒ह्वीनां॑ पि॒ता ब॒हुर॑स्य पु॒त्रश्चि॒श्चाकृ॑णोति॒ सम॑नाव॒गत्य॑। इ॒षु॒धिः सङ्का॒ पृत॑नाश्च॒ सर्वाः॑ पृ॒ष्ठे निन॑द्धो जयति॒ प्रसू॑तः॥ (ऋ०६.७५.५) बह्वीनां पिता। बहुरस्य पुत्र इतीषूनभिप्रेत्य। प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः। शब्दानुकरणं वा। सङ्काः सचतेः। संपूर्वाद्वा किरतेः। पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः। इति व्याख्यातम्। हस्तघ्नो हस्ते हन्यते। तस्यैषा भवति॥१४॥

भाष्यटीका

ब॒ह्वीनां॑ पि॒ता ब॒हुर॑स्य पु॒त्रश्चि॒श्चाकृ॑णोति॒ सम॑नाव॒गत्य॑।
इ॒षु॒धिः सङ्का॒ पृत॑नाश्च॒ सर्वाः॑ पृ॒ष्ठे निन॑द्धो जयति॒ प्रसू॑तः॥ (ऋ०६.७५.५)

वायोर्भरद्वाजस्य। परतश्च युद्धोपकरणस्तुतयः। अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। **बह्वीनामिषूणां पिता** पितृस्थानीयः पालयिता वा। यस्य चास्य **बहुरिषुगणाः पुत्रः** पुत्रस्थानीयः पुत्रवद्रक्ष्यत इत्यर्थः। यश्च **चिश्चाकृणोति** चिश्चेति निपातो हासवचनः। हासमतिकरोत्युत्साह्यमानः। उज्वलपुङ्खत्वात्। शब्दानुकरणश्चिश्चेति। एवं रूपं शब्दं करोति। **समना** समनानि समराणि। **अवगत्य** अवेति उपेत्येतस्य स्थाने। उपगम्य स **इषुधिः सङ्का पृतनाश्च सर्वाः**। द्वे अप्येते संग्रामनामनी। स्पर्धामात्रेण लक्ष्यव्यवधानार्थं यत्रेषवः क्षिप्यन्ते तद्विषयमेकम्। वधार्थञ्च यत्र तद्विषयमन्यत्। ये स्पर्धया लक्ष्यवेधमात्रार्थाः संग्रामाः। ये च वधार्थास्तान् सर्वान् योद्धुं **पृष्ठे निनद्धो** नितान्तं बद्धो **जयति** जयतु **प्रसूतः** प्रेरितः।

यत्तु तत्स्थानमिषूणा प्रेरणमिषुधयः। सङ्का सचतेर्गतिकर्मणः सङ्गच्छन्ते वा तत्र योद्धारः संकीर्त्यन्ते वा।

हस्तघ्नः कलापी गोधेति प्रसिद्धः। हस्ते हस्तसमीपे स्थितो हन्यते ज्यया शरपुङ्खेन। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः। हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥ (ऋ०६.७५.१४) अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुम्। ज्याया वधात् परित्रायमाणः। हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन्। पुमान् पुरुमना भवति। पुंसतेर्वा। अभीशवो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥१५॥

भाष्यटीका

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।

हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥ (ऋ०६.७५.१४)

यथा सर्पो मुखे गृहीतो **भोगैः**। भोगास्तस्यैव कुटिलाः शरीरावयवास्तैः। अर्धर्चयोरेकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः कार्यः। यः **पर्येति** परिगच्छति परिवेष्टयतीत्यर्थः। **बाहुं ज्यायाः** स्वभूतां **हेतिं** वधं ताडनं ज्याकृतं प्रहारमित्यर्थः। **परिबाधमानः** सर्वतो निरुन्धन् स **हस्तघ्नो** यथा **विश्वा** विश्वानि सर्वाणि **वयुनानि** प्रज्ञानानि **विद्वान्** प्रजानन् **पुमान्** कश्चिदिवेमं योद्धारं **पुमांसं परिपातु** रक्षतु **विश्वतः** सर्वतः। हस्तघ्नस्यैव वा विशेषणम्। वयुनानि स्वानि कर्माणि जानन्।

पुमान् **'पातेर्डुमसुन्'** (उणा०४.१७८) इति वैयाकरणाः। (स्त्री न) पुरुमना इति नैरुक्ताः। पुंसतेर्वा पौरुषार्थस्य। तथा च पुंसतेः। पौंस्यं बलम्।

'अभीवशोऽभ्यश्नुवतेः' (निरु०३.९) इति व्याख्याता अङ्गुलिनामत्वेन। इह रश्मयोऽभिधेयाः। तेषामेषा भवति।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ (ऋ०६.७५.६) रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात् सतो यत्र यत्र कामयते। सुषारथिः कल्याणसारथिः। अभीशूनां महिमानं पूजयामि। मनः पश्चात् सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः। धनुः धन्वतेर्गतिकर्मणः। वधकर्मणो वा। धन्वन्त्यस्मात् इषवः। तस्यैषा भवति॥१६॥

भाष्यटीका

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।

अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ (ऋ०६.७५.६)

अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। यो **रथे तिष्ठन्** तिष्ठतिरत्र सत्तायां नोर्ध्वतायाम्। संग्रामे तिष्ठतीति यथा। रथ एव **सन्नयति वाजिनोऽश्वान्** पुरोऽग्रतः। **यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूनां महिमानं पनायत**। पनतेः स्तुतिकर्मणः। पनायत स्तुत हे स्तोतारः। यच्च **मनो**ऽश्वानाम्। **पश्चात्सन्तो**ऽ**नुयच्छन्ति** अनुबध्नन्ति सारथिमनसम्। सारथीच्छावशेन गमनचित्तमश्वानां कुर्वन्तीत्यर्थः। **रश्मयो**ऽश्वानाम्। पूजयामीत्यपपाठः।

धनुः। धन्वतेर्गत्यर्थस्य वधार्थस्य वा। उभयार्थोपपत्तेः। तथा च दर्शयति। **धन्वन्त्यस्माद्** पयन्ति अस्मात्। अपयन्तश्च घ्नन्तीषवः। अपादानत्वाच्चास्योभयोपपत्तित्वम्। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य षोडशः खण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

धन्वं॑ना॒ गा धन्व॑ना॒जिं ज॑येम॒ धन्व॑ना ती॒व्राः सम॒दो॑ जयेम। धनुः॒ शत्रो॑रपका॒मं कृ॑णोति॒ धन्व॑ना॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॑ जयेम॥ (ऋ०६.७५.२) इति सा निगदव्याख्याता। समदः समदो वात्तेः। सम्मदो वा मदतेः। ज्या जयतेर्वा। जिनातेर्वा। प्रजावयतीषूनिति वा। तस्यैषा भवति॥१७॥

धन्व॑ना॒ गा धन्व॑ना॒जिं ज॑येम॒ धन्व॑ना ती॒व्राः सम॒दो॑ जयेम।
धनुः॒ शत्रो॑रपका॒मं कृ॑णोति॒ धन्व॑ना॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॑ जयेम॥ (ऋ०६.७५.२)

केवलस्यापि धनुषश्छान्दसत्वादङ्। **धन्वना** धनुषा **गाः** शत्रूणां स्वभूताः। **धन्वना** धनुषैव। **आजिं** यः स्पर्धयैव लक्ष्यवेधफलमात्रं क्रियते तं संग्रामं **जयेम**। **धन्वना** धनुषैव। **तीव्राः** परस्परवधरूपाः। **समदः** संग्रामनामैतत्। लिङ्ग शत्रुवधफलसंग्रामं **जयेम**। **धनुः** धनुरेव च **शत्रोरपकामं** मध्यमपदलोपी समासः। अपगतं काममस्मज्जयविषयं **कृणोति** लोडर्थे लट् करोतु **धन्वना**। किं बहुना धनुषैव वयं **सर्वाः प्रदिशः** प्रगतादिभिरवान्तरदिशो **जयेम**।

पठिता सा स्वनिगदेनैव व्याख्याता। समद इति बहुवचनान्तं संग्रामनाम। प्रथमं व्याख्येयत्वेनोपात्तम्। तस्य निर्वचनं द्वितीयम्। संपूर्वादत्तेः सम्पदादि क्विपि। संभक्षणात् परस्परस्यायुषाम्। समदन्तीति समदः संग्रामा उच्यन्ते। मदतेर्वा क्विपि हर्षकर्मणः पूर्ववत् संहृष्यन्ति हि तत्र योद्धारः।

ज्या वक्तव्या। **जयतेर्**जयसाधनत्वात्। **जिनातेर्वा 'ज्या वयोहानौ'** (धा०९.२७) इत्यस्य। साभिप्रायेण हेतुभावं प्रतिपद्यमाना वयो भावयति। जयतेर्वा गत्यर्थस्यान्तर्णीतण्यर्थस्य। **प्रजावयति** प्रगमयति इषूनिति वेति पाठान्तरम्। तस्या एषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः।

अथाष्टादशः खण्डः।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते विततााधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥ (ऋ०६.७५.३) वक्ष्यन्तीवागच्छति। कर्णं प्रियमिव सखायमिषुं परिष्वजमाना योषेव शिङ्क्ते। शब्दं करोति। विततााधि धनुषि ज्येयं समने सङ्ग्रामे पारयन्ती। पारं नयन्ती। इषुरीषतेर्गतिकर्मणः। वधकर्मणो वा। तस्यैषा भवति॥१८॥

भाष्यटीका

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।

योषेव शिङ्क्ते विततााधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥ (ऋ०६.७५.३)

अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। या **वक्ष्यन्तीव** यथा वदिष्यन्ती। **इत्** पादपूरणः। कश्चित् काचित् स्त्री आगच्छेत् तद्वत्। **आगनीगन्ति** पुनः पुनरागच्छति आकृष्यमाणा **कर्णं** प्रति। **प्रियं** लुप्तोपममेतत्। प्रियमिव **सखायं** कश्चित् काचित् स्त्री **परिषस्वजाना** परिष्वजन्ती। किम्? सामर्थ्यादिषुं श्लिष्यन्तीत्यर्थः। सा **योषेव** सुरतसमये **शिङ्क्ते** अव्यक्तं शब्दं करोति। **विततााधि धन्वन्** धनुष उपरि **ज्या इयं समने** संग्रामे **पारयन्ती**। किम्? सामर्थ्यादिषून्। इषुगमनेन वा पालयन्ती योद्धारम्।

इषुरिषतेः। इषति हन्तीति गतिकर्मणो वधार्थस्य वा। उभयार्थोपपत्तेः। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्याष्टादशः खण्डः।

अथैकोनविंशः खण्डः।

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता। यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥ (ऋ०६.७५.११) 'सुपर्णं वस्त' इति वाजानभिप्रेत्य। मृगमयोऽस्या दन्तः। मृगयतेर्वा। गोभिः सन्नद्धा पतति। प्रसूतेति व्याख्यातम् (निरु०२.५)। यत्र नराः संद्रवन्ति च विद्रवन्ति च। तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु। शरणं सङ्ग्रामेषु। अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय। कृष्यतेर्वाणूभावात्। वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्। खशया। क्रोशतेर्वा। अश्वकशाया एषा भवति॥१९॥

भाष्यटीका

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।

यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥ (ऋ०६.७५.११)

गृध्रावयवभूतान् वाजानिषुराच्छादयति। इषोर्हि विमया पक्षा भवन्ति। तानभिप्रेत्यैतत् **सुपर्णं वस्त** इत्युच्यते। **मृगो** रुरुः शबरादिः। तदवयवे शृङ्गास्थिनी वा। प्रकृतिशब्देन च विकारस्याभिधानम्। मृगस्य रुरोः

शबरस्य वा यच्छृङ्गमस्थि वा तन्मय इत्यर्थः। **'मृग अन्वेषणे'** (धा०१०.३६७) इत्यस्य वा। शत्रुमार्गणशीलो मृगोऽ**स्या** इषो**र्दन्तः** फलम्। **गोभिर्**गोविकारैश्च स्नावभिः श्लेष्मणा च **सन्नद्धा** सम्यग्बद्धा **पतति** गच्छति **प्रसूता** प्रेरिता क्षिप्ता सतीत्यर्थः। एवमिषुं स्तुत्वा परेणाशिषमाशास्ते। **यत्रा** यत्र संग्रामे **नरो** मनुष्याः **सं च वि च द्रवन्ति** सङ्गच्छन्ते विगच्छन्ति च। शूराः सङ्गच्छन्ते कातरा विगच्छन्ति। **तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म** शरणं यच्छन्तु रक्षन्त्वस्मानित्यर्थः। गोभिः सन्नद्धा इति व्याख्यातं सप्तमे।

अश्वाजनी वक्तव्या। सुबोधत्वादनिर्वचनम्। **कशेत्या**भिधेयवचनम्। आहुरिति प्रसिद्धिं दर्शयति। अर्थकथनप्रसक्तमाह। **कशा प्रकाशयित**। भयमिति विशेषप्रदर्शनं वाच्यव्यवच्छेदाय। **कृश्यतेर्वा** तनूकरणार्थस्य। अणूभावादित्यर्थः। समन्वयं दर्शयति। सा हि श्लेषावयवारम्भणतन्वी भवति। वागपि कशोच्यते। सा कस्मादित्याह? **वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्** अर्थविशेषान् व्यवच्छेदनाय। खशया मुखाकाशे शेते तत उपलब्धेः। **क्रोशतेर्वा** शब्दार्थस्य। उभयाः कशायाश्चर्मयष्टिरूपायाः प्रकृतत्वाच्च वाचोऽपि हुङ्काररूपाया अश्वाजनीत्यविशेषात् सन्देहे सति वाग्व्यावृत्तये श्वेनं व्यवच्छिन्दन्नाह। **अश्वकशाया एषा** इति।

ननु च हुङ्काररूपायामपि वाचि कशा प्रकाशयति भयमिति प्रवृत्तिनिमित्तस्य तुल्यत्वात् कशाशब्दस्योपपत्तेरश्वाजनीशब्दवत् अश्वकशाशब्दोऽपि नालं व्यवच्छेदाय। सत्यम्। तथापि तस्य गुणसम्बन्धस्य रूढ्या प्रच्छादनात्। क्वचित्तु काचित् प्रसृततरा गतिरिति अश्वाजनी दर्शनीयपानीयशब्दवन्न व्यवतिष्ठते। निर्ब्रवीति। अश्वकशेति तूक्तौ चर्मयष्टिः प्रतीयते न हुङ्काररूपां वाचम्। तस्माद्युक्तो व्यवच्छेदोऽश्वकशाया एषा इति। **'अथैतदश्ववत्'** (निरु०२.२७) इति यथा।

अथ संविज्ञानपदसंभूतोऽश्वकशाशब्द एव कस्मान्न पठितः? उदाहरणाभावात्। यद्युदाहरणाभावो हेतुः कथमिध्मः प्रथमागामितया तत्र क्वचिदाप्रीसूक्तेष्विध्मः पठ्यते? उच्यते। एकादशत्वसंख्यानुरोधात्। यदि हि योऽस्ति स पठ्यते ततः समित्समिद्धशब्दौ पठ्येयाताम्। यथा पाठेन पशावेकादशत्वचोदनालक्षणत्वं बाध्येत। शक्नोति सोऽयं रूढिसंयोगानां दर्शनभेदेन समित्कलापाग्न्यर्चिविषयेण समित्समिद्धशब्दौ बोधयितुमबाधेन प्रतिज्ञायाः प्रयाजसंख्याया इत्युक्तमिध्मस्य प्रथमगामित्वं देवतापदसमाम्नाय इति। उक्तश्चेध्मः समिन्धनादिति।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः।

अथ विंशः खण्डः।

आ जं॑घन्ति॒ सान्वे॑षां ज॒घनाँ॒ उप॑ जिघ्नते। अश्वा॑जनि॒ प्रचे॑त॒सोऽश्वा॒न्त्स॒मत्सु॑ चोदय॥

(ऋ०६.७५.१३) आघ्नन्ति सानून्येषाम्। सरणानि सक्थीनि। सक्थि सचतेः। आसक्तोऽस्मिन् कायः। जघनानि चोपघ्नन्ति जघनं जङ्घन्यतेः। अश्वाजनि प्रचेतसः। प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्त्समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु चोदय। उलूखलमुरुकरं वोर्ध्वखं वोर्क्करं वा। **उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्** (श०ब्रा०७.५. १.२२) तदुलूखलमभवत्। **उरुकरं वै तदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षेण** (तु०श०ब्रा०७.५. १.२२) इति च ब्राह्मणम्। तस्यैषा भवति॥ २०॥

भाष्यटीका

आ जंङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।

अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय।। (ऋ०६.७५.१३)

एषामिति श्रुतेर्येषामित्यध्याहारः। येषामेषां रथे नियुक्तानां तोत्रेण **जङ्घन्ति** अत्यर्थं पुनः पुनर्वा हन्ति। कः? सामर्थ्यात् सारथिः। **सानु** समुच्छ्रितमंसप्रदेशं **जघनान्** जघनप्रदेशांश्च। **उपजिघ्नते** उपारूढा अत्यर्थं पुनः पुनर्वा घ्नन्ति। अत्रापि सामर्थ्यात् पृष्ठसादिनोऽश्ववाहाः। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। तानेतान् हे **अश्वाजनि प्रचेतसः** प्रकृष्टप्रज्ञानान् गृहीतशालिहोत्रोपदिष्टनयानित्यर्थः। **अश्वान् समत्सु** संग्रामेषु **चोदय** प्रेरय।

आजङ्घन्ति सानून्येषामिति वा पाठः। सान्वित्यस्य व्याख्यानं सरणस्वभावानि सक्थीनीति। **सचतेरिति** धातुनिर्देशः। **आसक्तोऽस्मिन् काय** इत्यर्थोपपत्तिवचनम्। जघनानि चोपघ्नन्तीति पाठः। जघनं हन्तेर्यङन्तस्य। प्रायेण ह्यश्वान् शिष्यान् वा पुत्रादीन् पृष्ठप्रदेशे ताडयन्ति। येषां घ्नन्त्युपघ्नन्तीति पाठः। केषाम्? अश्वादीनि। समानाधिकरणे स्त्र्यामामन्त्रितान्त एते पदे द्रष्टव्ये। इकारस्य च व्यत्ययेन एकारः।

उलूखलं कस्मात्? उरु विस्तीर्णं खं सुषिरमस्य। ऊर्ध्वं वा उपरि भागे खं मुखमस्य। ऊल् अन्नं तत्करोतीत्युक्तमुलूखलम्। सर्वनिर्वचनेषु वर्णव्यापत्त्यादि वाच्यम्। ततः शब्दानुकरणनिमित्तत्वाद् वर्णव्यापत्त्यादिना उलूखलमभवदिति। तस्मादनुकरणनिमित्तकमेवाङ्गीकृत्य ब्राह्मणमपि दर्शयति। **'उरु मे कुरु'** (श०ब्रा०७.५.१.२२) इति। एवमुरुकरमेतत्। ततश्च ब्राह्मणोक्तनिर्वचनं ज्ञात्वा वर्णव्यापत्त्यादिकृतेन परोक्षेण वृत्तेन तदुलूखलमित्याचक्षते लौकिकाः। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथैकविंशः खण्डः।

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे। इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः।। (ऋ०१.२८.५) इति सा निगदव्याख्याता।। २१।।

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।

इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः।। (ऋ०१.२८.५)

शुनःशेपस्य। **चिदप्यर्थे।** हीति पादपूरणः। यद्यपि **त्वं गृहे गृहे** सर्वस्मिन् यज्ञगृह इत्यर्थः। हे **उलूखलक** व्रीह्याद्यवघाताय **युज्यसे।** शुद्धोऽपि सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। विनियुज्यसे। तथापीह यज्ञे मया शुनःशेपेन विनियुज्यमानः सन् **द्युमत्तमं** क्रियाविशेषणमेतत्, दीप्तिमत्तमं **वद** गम्भीरं शब्दं कुर्वित्यर्थः। **जयतामिव** योधानां दुन्दुभिव्याजेन च। सा निगदव्याख्यातायुषः प्रकरणादिति।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयः पादः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

वृषभः प्रजां वर्षतीति वा अतिबृहति रेत इति वा। तद्वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः। तस्यैषा भवति॥२२॥

भाष्यटीका

वृषभः पाठक्रमप्राप्तो वक्तव्यः। स कस्मात्? सर्वत्र व्याख्येयपदोपन्यासः। एतद् व्याख्यानम्। प्रजां प्रजाहेतुभूतं बीजं वर्षति सिञ्चति। बृहेर्वातिशयेन (रेतः) सेक्तुं बृहति उद्यच्छत्यात्मानम्। प्रसङ्गात् पर्यायं निराह। पयसि प्रकृते **'क्षीरं क्षरतेः'** (निरु०२.५) इति यथा। तदेव रेतः सेकलक्षणं वृषणकर्मेव कर्म यस्य। आर्षणात् स्त्रीगव्याभिगमनाद् वृषभः। तस्य वृषभस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

न्यंक्रन्दयन्नुपयन्तं एनममेहयन् वृषभं मध्यं आजेः। तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय॥ (ऋ०१०.१०२.५) न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्यातम्। अमेहयन् वृषभं मध्य आजेः आजयनस्य। आजवनस्येति वा। तेन तं सूभर्वं राजानम्। भर्वतिः (निघं०२.८.२) अत्तिकर्मा। तद्वा सूभर्वं सहस्रं गवाम्। मुद्गलः प्रधने जिगाय। प्रधन (निघं०२.१७) इति सङ्ग्रामनाम। प्रकीर्णान्यस्मिन् धनानि भवन्ति। दुघणो दुममयो घनः। तत्रेतिहासमाचक्षते। मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च दुघणं च युक्त्वा सङ्ग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥२३॥

भाष्यटीका

न्यंक्रन्दयन्नुपयन्तं एनममेहयन् वृषभं मध्यं आजेः।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय॥ (ऋ०१०.१०२.५)

अस्मिन् सूक्ते दुघणस्य वृषभस्य च स्तुतिलाभहेतुमितिहासं वक्ष्यति। मुद्गल आह न्यक्रन्दयत् तेनेति। तच्छब्दश्रुतेर्यदध्याहारः। यं हुङ्कारसूत्कारादीनां प्रासाह। केन? शब्देन शब्दितवन्तः। **उपयन्त** उपागच्छन्तः। के? सामर्थ्यात् सारथयो व्राजकाः। **एनं** वक्ष्यमाणम्। **अमेहयन्** मूत्रपुरीषोत्सर्गं च विश्रमार्थं कारिवन्तो **वृषभम्**। क्व? **मध्य आजेः** रथवाहनभूमेः। **तेन सूभर्वं** भर्वतिरत्तिकर्मा शोभनमोदकादिभक्षमेनं सुखोपजीव्यं वा। वक्ष्यमाणगोसहस्रविशेषणं वा। सूभर्वं सुयवसम्। **शतवत्** शतेन सहितं **सहस्रं गवां मुद्गलो**ऽहं **प्रधने** संग्रामे **जिगाय** जितवानस्मि।

न्यक्रन्दयन्नित्येतेन व्याख्यातं क्रन्दतिः शब्दकर्मा परं निगदनेन। आजवनं यत्र परिणते घटादौ क्षिप्ता मनोक्षावा गृह्यन्ते आजवनो यत्र स्पर्धया। प्रधन इत्यपठितमपि सामर्थ्यात् संग्रामनाम। प्रकीर्णान्यस्मिन्निति ग्रहणकरूपेणोपक्षिप्तानीत्यभिप्रायः। यत्र तु परस्परं जिघांसतां प्रवृत्तिस्तत्रोपपन्नतरं निर्वचनम्। चूडामणिमुकुटकटकादिविक्षेपात्।

दुघणो द्रुमविकारकाष्ठखण्डः। यत्र चायं संज्ञाभूतकः **'करणोऽयोविद्रुषु'** (अष्टा०३.३.८२) वैयाकरणस्मृतेः। तत्र द्रुघणः। स्तुतिप्रकरणे द्रुघणश्च योगबन्धेन प्रविश्योक्तलक्षणे संग्रामे व्यवहृत्य पणं कृत्वा जिगाय जितवान्। तदर्थाभिधायिन्येषा ऋक्।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

इ॒मं तं प॑श्य वृ॒ष॒भस्य॒ यु॒ञ्जं काष्ठा॑या॒ मध्ये॑ द्रु॒घ॒णं शया॑नम्। येन॑ जि॒गाय॑ श॒तव॑त्स॒हस्रं॒ गवां॒ मुद्ग॑लः पृ॒त॒नाज्ये॑षु॥ (ऋ०१०.१०२.९) इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्। येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु। पृतनाज्यम् (निघं०२.१७.९) इति सङ्ग्रामनाम। पृतनानामजनाद्वा। जयनाद्वा। मुद्गलो मुद्गवान्। मुद्गिलो वा। मदनं गिलतीति वा। मदङ्गिलो वा। मुदङ्गिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः। भृम्यश्वः। भृमयोऽस्याश्वाः। अश्वभरणाद्वा। पितुरिति अन्ननाम (निघं०२.७.६) पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ २४॥

भाष्यटीका

इ॒मं तं प॑श्य वृ॒ष॒भस्य॒ यु॒ञ्जं काष्ठा॑या॒ मध्ये॑ द्रु॒घ॒णं शया॑नम्।
येन॑ जि॒गाय॑ श॒तव॑त्स॒हस्रं॒ गवां॒ मुद्ग॑लः पृ॒त॒नाज्ये॑षु॥ (ऋ०१०.१०२.९)

एकस्तव वृषभस्तस्य कः सहायो येन त्वमजैषीरिति पृष्टः सन्नाह। **इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं** युज्यत इति युक् सहायस्तम्। **काष्ठाया** दिशः अथवा भूमेरितो **मध्ये द्रुघणं शयानम**पविद्धमवतिष्ठमानम्। **येन** द्रुघणेन **जिगाय** जितवान् **शतसहितं गवां सहस्रं मुद्गलो**ऽहं **पृतनाज्येषु** उक्त लक्षणे संग्राम इत्यर्थः।

पठ्यमानस्य निर्वचनार्थ उपक्षेपः। पृतनाः सेनास्तासां गमनार्थम्। यत्र योद्धुं सङ्गच्छन्ते। जयार्थं वा। मुद्गान् लातीति मुद्गलः। ततस्तैस्तद्वान् लो मत्वर्थो वा। मुद्गं च गलो वा मुद्गलान्। मुद्गा वा गले अस्य। यस्य च मुद्गा गले मुद्गेषु तस्य गलो भवति। ततो मुद्गेषु गलोऽस्येति मुद्गलो मुद्गकषायभोजन इत्यर्थः। मदनः कामस्तं गिलति नियच्छति। हंसं ख्यानमदं पदार्धमुत्सेकं मुदं वा हर्षम्। इष्टानिष्टविषयोपपत्तौ न हृष्यति ग्लायति वा गभीरधीरित्यर्थः।

भृम्यश्वो नामर्षिः। भ्रमणा अश्वा यस्य। नित्यमुद्धतदण्डः। अथवा भूमिरग्निः। तथा वा तेजस्विन इत्यर्थः। बिभर्ति वा अश्वान्। ततः ऋष्यण्।

पितुरित्यत्रेऽप्रसिद्धत्वादभिधेयवचनम्। निर्वचनार्थं पठ्यमानस्यैव **पातेर्वा** रक्षणार्थस्य। रक्षितव्यं हि तद्। **प्यायतेर्वा**। तस्य शरीरवृद्धिहेतुत्वात्। तस्यैषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंशः खण्डः।

पि॒तुं नु स्तो॑षं म॒हो ध॒र्माण॒ं तवि॑षीम्। यस्य॑ त्रि॒तो व्योज॑सा वृ॒त्रं विप॑र्वम॒र्दय॑त्॥ (ऋ०१.१८७.१) तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य। तविषी (निघं०२.९.१०) इति बलनाम। तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः। यस्य त्रित ओजसा बलेन। त्रितस्त्रिस्थानो इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति। नद्यो व्याख्याताः (निरु०२.२४)। तासामेषा भवति॥ २५॥

भाष्यटीका

पि॒तुं नु स्तो॑षं म॒हो ध॒र्माण॒ं तवि॑षीम्।
यस्य॑ त्रि॒तो व्योज॑सा वृ॒त्रं विप॑र्वम॒र्दय॑त्॥ (ऋ०१.१८७.१)

अगस्त्यस्य। परस्ताद्यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दाध्याहारः। तं **पितु**मत्र **नु** क्षिप्रं **स्तौमि**। **महो** महान्तं **धर्माणं** धारयितारम्। **तविषीं** बलनामैतत् षष्ठ्यर्थे द्वितीया तविष्या बलस्य। यस्येत्यन्नस्य अपदेशसम्बन्धलक्षणा च षष्ठी यस्यान्नस्य सम्बन्धिना **ओजसा** बलेन यत्कृतेनेत्यर्थः। **त्रित**स्त्रिस्थान इन्द्रः। त्रिस्थानत्वं च वाय्वात्मना बलकृतिरूपेण वा सवनसम्बन्धेन वा। **वृत्रं** शत्रुं मेघं वा। **विपर्वं** विगतपर्वाणं विश्लिष्टावयवसम्बन्धिनं कृत्वेति शेषः। पूर्वो विशब्दोऽर्दयतिना वधकर्मणा सम्बध्यते **व्यर्दयत्** विविधं हतवान् हन्ति वा। **तवतेर्वृद्ध्यर्थस्य** तवस्तविष इति महन्नामनी।

नद्यो व्याख्याताः। 'नदना भवन्ति शब्दवत्यः' इत्यत्र। तासां प्राधान्यस्तुत्युदाहरणमेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

इ॒मं मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति॒ शुतु॑द्रि॒ स्तोम॑ं सचता॒ परु॒ष्ण्या। अ॒सि॒क्न्या म॑रुद्वृधे वि॒तस्त॒यार्जी॑कीये शृणु॒ह्या सु॒षोम॑या॥ (ऋ०१०.७५.५) इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि! स्तोममासेवध्वम्। असिक्न्या च सह मरुद्वृधे। वितस्तया चार्जीकीये। आशृणुहि सुषोमया चेति समस्तार्थः। अथैकपदनिरुक्तम्-गङ्गा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा। प्रवियुतं गच्छतीति वा। सरस्वती सर (निघं०१.१२.३८) इत्युदकनाम। सर्तेस्तद्वती। शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी। आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। इरावतीं परुष्णीत्याहुः। पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी। असिक्नी अशुक्ला असिता। सितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम्। मरुद्वृधाः

सर्वाः नद्यः। मरुत एना वर्धयन्ति। वितस्ता विदग्धा। विवृद्धा महाकूला। आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। ऋजीकप्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद्वा। विपाशनाद्वा। विप्रापणाद्वा। **पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमुर्षतः। तस्माद् विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा॥** सुषोमा सिन्धुः। यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्। आप आप्नोतेः। तासामेषा भवति॥ २६॥

भाष्यटीका

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ (ऋ०१०.७५.५)

वेधसः पुत्रः सिन्धुक्षिदाह। **इमं मे** मम स्वभूतं **स्तोमम्**। हे **गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि** च। आकारः सचतेत्यनेन व्यवहितेनापि सम्बध्यते। **आसचत** आसेवध्वं यूयम्। **असिक्न्या** सहार्थे तृतीया असिक्न्या च सह **वितस्तया** च सह **मरुद्वृधे** हे मरुद्भिर्वर्धनीये **आर्जीकीये** त्वमपि। पर आकारः **शृणुही**त्येतेन सम्बध्यते। आभिमुख्येन शृणु **सुषोमया** च सह।

एवं समस्तार्थबचनानन्तरमेकैकस्य पदस्य निर्वचनं विशिष्टं गमनमङ्गीकृत्याह। **गङ्गा गमना**दिति। गमयति वा प्राणिनो विशिष्टं स्थानमिति। **यमुना प्रयुवती** प्रकर्षेण मिश्रयन्ती आप्लावयन्ती नद्यन्तराणि। **प्रवियुतं** क्रियाविशेषणमेतत्। विस्तीर्णमित्यर्थः। **सरस्वती सर इत्युदकं सर्तेस्तद्वती। शुतुद्री शुद्राविणी**ति निर्वचनम्। शु इति क्षिप्रनाम। क्षिप्रद्राविणीत्यर्थवचनम्। आशुशब्दात् तुदेः(च) शुतुद्री। **तुन्नेव** प्रतोदेन। अप्रसिद्धां परुष्णीं प्रसिद्धेनाह। तां च इरावतीमृजुत्वादतिक्रम्य **परुष्णीं** निराह। परूंषि पर्वाणि तैस्तद्वती। उक्तार्थोपपत्तिवचनं **कुटिलगमिनी**ति। परूंषि चास्याः कुटिलानीत्यभिप्रायः। **असिक्नी 'वर्णादनुदात्तात्'** (अष्टा०४.१.३९) इतीकारप्राप्तौ **'असितपलितयोः प्रतिषेधः'** (अष्टा०वा०४.१.३९) असिता पलिता। **'छन्दसि क्नमेके'** (अष्टा०वा०४.१.३९) इत्यसिक्नीरित्युपहतय इत्यपि भवति। असिक्नीत्यस्य निर्वचनमसितेति। तत्पर्यायेणाचष्टे **अशुक्ले**ति। उक्तोपपत्तिवचनं **सितमिति शुक्लवर्णनामे**त्यादि।

मरुद्वृध इति सर्वासां विशेषणम्। तुल्यकारणत्वात्। **अवितस्ता** सती अकारलोपेन वितस्ता। **'तसूपक्षये'** (धा०४.१०६) अनुपक्षीणा महाप्रवाहेत्यर्थः। महाकूलेत्युक्तार्थोपपत्तिवचनम्। यां विपाडित्याहुः सा **आर्जीकीया**। ऋजीकाः पर्वतस्तत्प्रभवा। ऋजु अकुटिलं गच्छति एवं शीलाया। प्रसक्तं पर्यायमाह। विविधं कूलपाटनात्। विपाशनाद्वा यथा तथा वक्ष्यति। विविधदेशप्रापणाद्वा। उदकस्योत्तानत्वात्। सारप्रियो भवतेत्यभिप्रायः। विपाशनादित्युक्तस्योपपत्तिवचनं व्यपाश्यन्त व्यपास्ता विक्षिप्ता हतपुत्रस्योद्धृततमोवृत्तेर्वसिष्ठस्येतिहासः। पूर्वमुरुञ्जिरा नामासीत्। सुषोमा नाप्रसिद्धा अत आह **सिन्धुरि**ति। यस्मादेनामभिप्रसुवन्ति आत्मानं प्रेरयन्ति गच्छन्ति पतन्तीत्यर्थः। अन्या नद्यः पर्वतस्यन्दनात्।

आपः कस्मात्? आप्नोतेः कृत्स्नं ताभिर्व्यासम्। **आप्नोतेः** संग्रहकर्मत्वात्। अथ चाथर्वणश्रुतिः **'सर्वं वा इदमम्मयम्'** (तु०गो०ब्रा०१.१.२; श०ब्रा०६.१.१.९) इति। तासामेषा।

इति चतुदर्शस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ (ऋ०१०.९.१) आपो हि स्थ सुखभुवस्ता नोऽन्नाय धत्त। महते च नो रणाय रमणीयाय च दर्शनाय। ओषधय ओषद्धयन्तीति वा। ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा। तासामेषा भवति॥ २७॥

भाष्यटीका

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे॥ (ऋ०१०.९.१)

शिरस्य सिन्धुद्वीपस्य वा। हे **आपः**। **हिः** पादपूरणः। परस्तात्तच्छब्दश्रुतेर्यदध्याहारः। या यूयं **मयोभुवः** भवतिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः सुखस्य भावयित्र्यः **स्थ** भवथ **तानोऽस्मान् ऊर्जे** अन्नाय **दधातन** स्थापयत। अन्नप्राप्तियोग्यानस्मान् कुरुतेत्यर्थः। **महे** महते च **रणाय** रमणीयाय **चक्षसे** दर्शनाय। महान्तं कालं पुत्रपौत्रसुहृद्विषयस्य दर्शनं धत्तेत्यर्थ।

ओषधयो व्रीह्याद्याः। ओषद् दाह क्षुधं धयन्ति पिबन्ति नाशयन्तीत्यर्थः। ओषतेः पूर्वपदं धयतेरुत्तरपदं कर्तरि कारके। ओषति धयन्ति ज्वरादिवेदनाः पिबन्तीति वा वैद्योपदेशेनातुराः। निदिग्धिकाद्यभिप्रायं चैतत्। दोषं वातपित्तादिकं वा। तासामेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथाष्टाविंशः खण्डः।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ (ऋ०१०.९७.१) या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानि पुरा। मन्ये नु तद् बभ्रूणामहम्। बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा। शतं धामानि सप्त चेति। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति। जन्मान्यत्राभिप्रेतानि। सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम्। तेष्वेना दधतीति वा। रात्रिर्व्याख्याता (निरु०२.१८)। तस्यैषा भवति॥ २८॥

भाष्यटीका

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ (ऋ०१०.९७.१)

आर्थवणो भिषक्। **या ओषधीः** प्रथमार्थे द्वितीया ओषधयः। **पूर्वाः** प्रथमजाताः। कुतः ? **देवेभ्यः**। न चाल्पेन कालेन पूर्वाः। किन्तर्हि ? **त्रियुगं** युगत्रयेण **पुरा**। युगत्रयस्य च प्रथमं कृतयुगं तेन कृतयुग इत्यर्थः। पुरस्ताद्यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। तासां **मनै** मन्वे जानामि। **नु** इति पादपूरणः। किं विशिष्टानाम्? **बभ्रूणां** पिशङ्गवर्णानां भर्तृणां वा कृत्स्नस्य जगतः। भर्तृणां वाप्याधीनाम्। **अहं शतं धामानि** जन्मानि

जातिविशेषाणीत्यर्थः। **सप्त च** सप्ताधिकजातिशतमित्यर्थः। स्थानानि वा धामानि यानि पुरुषस्य शरीरे वर्माणि तेषु सुखार्थं दुःखोपशनार्थं वैनाः संदधत्योषधिरूपत्वेन। धामशब्दोऽर्थत्रयवाची।

रात्रिर्व्याख्याता। 'प्ररमयति भूतानि' इत्यादिना तस्या एषा।

इति चतुदर्शस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः।

अथैकोनत्रिंशः खण्डः।

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः। दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः॥ (अथर्व० १९.४७.१) आपूपुरस्त्वं रात्रि पार्थिवं रजः। स्थानैर्मध्यमस्य। दिवः सदांसि। बृहती महती। वितिष्ठस आवर्तते त्वेषं तमो रजः। अरण्यान्यरण्यस्य पत्नी। अरण्यमपार्णम्। ग्रामादरमणं भवतीति वा। तस्यैषा भवति॥ २९॥

भाष्यटीका

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः॥ (अथर्व० १९.४७.१)

कुशिकस्य रात्रेर्वा। आकारः अप्रायीत्येतेन सम्बध्यते। हे **रात्रि। पार्थिवं रजो** लोकवचनोऽयं पार्थिवं लोकमित्यर्थः। **पितुः** पिताऽत्र मध्यमस्तस्य **धामभिः** स्थानैरन्तरिक्षप्रदेशैः सहेति शेषः। **आप्रायि 'प्रा पूरणे'** (धा०२.५१) इत्यस्यैतच्छान्दसत्वात् कर्तरि णिचि रूपं पूरयसि त्वम्। केन? सामर्थ्यात्तमसा। **दिवो** द्युलोकस्यावयवभूतानि **सदांसि** स्थानानि। **बृहती** महती त्वं तमसा **वितिष्ठसे** विविधं गच्छसि विष्टभ्य वा तिष्ठसि स्थापयसीत्यर्थः। आकारो वर्तत इत्येतेन सम्बध्यते। पूरयित्वा च तत्रासम्भवात् ततो द्युलोकात् **त्वेषं 'त्विष दीप्तौ'** (धा०१.१०२६) सन्दीप्त्या महत्त्वलक्षणाया दीप्त**मावर्तते** पुनरिमं लोकं प्रति **तमस्तव** स्वभूतम्। **आप्रायीत्यस्य व्याख्यानमापूपुरः।** प्रातेरर्थं पूरयतिनाह।

अरण्यानी अरण्यस्य पालयित्री अधिदेवता काचिदिति नैरुक्ताः। **'महदरण्यम्'** (अष्टा०४.१.४९) इति वैयाकरणाः। **अपार्णमपगतम्।** कुतः? ग्रामादिति पूर्वस्यैव निराकांक्षतायै। **अरमणं** वा नहि तद्रमणमिति भयहेतुत्वात्। तस्या एषा।

इति चतुदर्शस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्यैकोनत्रिंशः खण्डः।

अथ त्रिंशः खण्डः।

अरंण्यान्यरंण्यान्यसौ या प्रेव नश्यंसि। कथा ग्रामं न पृंच्छसि न त्वा भीरिंव विन्दती३ँ॥ (ऋ०१०.१४६.१) अरण्यानीत्येनामामन्त्रयते। यासावरण्यानि वनानि पराचीव नश्यसि। कथं ग्रामं न पृच्छसि। न त्वा भीर्विन्दतीवेति। इवः परिभयार्थे वा। श्रद्धा श्रद्धानात्। तस्यैषा भवति॥ ३०॥

भाष्यटीका

अरंण्यान्यरंण्यान्यसौ या प्रेव नश्यंसि।
कथा ग्रामं न पृंच्छसि न त्वा भीरिंव विन्दती३ँ॥ (ऋ०१०.१४६.१)

देवमुनेरार्षम्। हे **अरण्यानि** अरण्याधिदेवते। **अरण्यानि** कान्ताराणि वनानि अटवीरित्यर्थः। द्वितीयाश्रुतेः प्रतीति शेषः। **असौ या त्वं प्रेव नश्यसि** अस्थानेऽयमिवः पठितः प्रणश्यसीव। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। सा **कथा** कथं **ग्रामं न पृच्छसि**। नूनं **न त्वा** भीर्भयं **विन्दति**। इवस्तु संप्रत्यर्थे परिभयार्थे वा। सर्वतो भयं परिभयम्। पराची पराङ्मुखी।

श्रद्धा कस्मात्? **श्रद्धानात्** श्रत् सत्यं तस्मिन् धीयते। तथा च मन्त्रे **'अश्रंद्धामनृतेऽदंधात् श्रद्धा सत्ये प्रजापंतिः'** (यजु०१९.७७) इति। सा च धर्मार्थसुखादिवर्गे यथाशास्त्रमधिकृतपुरुषस्य कर्मानुष्ठानहेतुभावप्रदा बुद्ध्याधिदेवता श्रद्धा। तस्या एषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य त्रिंशः खण्डः।

अथैकत्रिंशः खण्डः।

श्रद्धयाग्निः समिंध्यते श्रद्धयां हूयते हविः। श्रद्धां भगंस्य मूर्धनि वचसा वेंदयामसि॥ (ऋ०१०.१५१.१) श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते। श्रद्धया हविः साधु हूयते। श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयामः। पृथिवी व्याख्याता (निरु०१.१४)। तस्यैषा भवति॥ ३१॥

भाष्यटीका

श्रद्धयाग्निः समिंध्यते श्रद्धयां हूयते हविः।
श्रद्धां भगंस्य मूर्धनि वचसा वेंदयामसि॥ (ऋ०१०.१५१.१)

श्रद्धाया आर्षम्। अत्रैकवाक्यतायै सुखप्रतिपत्तये यत्तच्छब्दाध्याहारः। **श्रद्धया** यः स एवार्थः सत्यम्। समिध्यते नेतरः फलाभावात्। **श्रद्धयैव** च यदेव सत्यं **हूयते हविर्नेतरत्**। अथ च **'यः श्रद्दधानो जायते तस्येष्टं न क्षीयते'** (कौ०ब्रा०७.४) **'श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च'** (मनु०४.२२६) इति श्रुतिस्मृतिदर्शनम्। अतः **श्रद्धां भगस्य** भागधेयस्य। भागधेयशब्देन पुण्यमुच्यते तस्य **मूर्धनि** सप्तमी द्वितीयार्थे मूर्धस्थानीयं प्रधानमङ्गं श्रद्धाख्यम्। **वचसा** वचनेनानेन मन्त्रवादाख्येन तथा च ब्राह्मणवादाख्येन स्वार्थेन च **वयमावेदयामसि** आभिमुख्येन वेदयामः प्रतिपादयाम इत्यर्थः।

पृथिवी व्याख्याता प्रसङ्गेन। **'प्रथनात्'** (निरु०१.१३-१४) इति। तस्या एषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यास्यैकत्रिंशः खण्डः।

अथ द्वात्रिंशः खण्डः।

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ (ऋ०१.२२.१५) सुखा नः पृथिवि भव। अनृक्षरा निवेशनी। ऋक्षरः कण्टक ऋच्छतेः। कण्टकः कंतपो वा। कृन्ततेर्वा। कण्टतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः। उद्गततमो भवति। यच्छ नः शर्म। यच्छन्तु शरणं सर्वतः पृथु। अप्वा व्याख्याता (निरु०६.१२) तस्यैषा भवति॥३२॥

भाष्यटीका

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ (ऋ०१.२२.१५)

मेधातिथेः। **स्योना** सुखनामैतत्। सुख हे **पृथिवि भव अनृक्षरा** अकण्टका। **निवेशनी** निवेशयोग्या। **यच्छ नः** प्रयच्छ (वा) अस्मभ्यं **शर्म** सुखम्। **सप्रथः** सर्वतः पृथु विस्तीर्णम्।

कण्टक इत्यभिधेयवचनम्। **ऋच्छतेरि**ति प्रलयार्थस्य। कण्टतेर्वा **'कण्टति बिस्यति'** (निघ०२.१४) इति पाठात् गतिकर्मसु। स ह्यन्यावयवेभ्य उद्गततरः। **शरण**माश्रयः। सुखं सुखाश्रयत्वात् सर्वभूतानाम्।

अप्वा व्याख्याता। **'व्याधिर्वा भयं वा यदेनया विद्धोऽपवीयते'** (निरु०६.१२) इति। तस्या एषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः।

अथ त्रयस्त्रिशः खण्डः।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि। अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ (ऋ०१०.१०३.१२) अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि। प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गान्यप्वे। परेहि अभिप्रेहि। निर्दहैषां हृदयानि शोकैः। अन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम्। अग्नाय्यग्नेः पत्नी। तस्यैषा भवति॥३३॥

भाष्यटीका

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयंन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ (ऋ०१०.१०३.१२)

अप्रतिरथस्य। **अमीषामेतेषामस्मच्छत्रूणां चित्तं प्रतिलोभयन्ती** विमोहयन्ती। **गृहाणाङ्गानि अप्वे** भो व्याध्यधिदेवते भयदेवते वा। तच्च चिकीर्षन्ती **परेहि** परागच्छ। एतान् प्रत्यतियाहीत्यर्थः। परागत्य चा**भिप्रेहि**

अभिप्रगच्छोपसर्पेत्यर्थः। उपसृत्य च शरीरं **निर्दह**। **हृत्सु** द्वितीयाबहुवचनस्य स्थाने सप्तमी, हृदयानि। **शोकैर्दु:खै:**। **अन्धेन** च **तमसा** मरणलक्षणेन चास्मदमित्राः **सचन्तां** सेवन्तां संसेवन्तामित्यर्थः।

अग्नायी सा पुनरग्नेः पत्नी। तथा च पूतक्रत्वादीनां पुंयोगलक्षणेन प्रत्ययस्मरणम्। तस्या एषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

अथ चतुस्त्रिंशः खण्डः।

इ॒हेन्द्रा॒णीमुप॑ ह्वये वरुणा॒नीं स्व॒स्तये॑। अ॒ग्नायी॒ं सोम॑पीतये॥ (ऋ०१.२२.१२) इति सा निगदव्याख्याता॥३४॥

भाष्यटीका

इ॒हेन्द्रा॒णीमुप॑ ह्वये वरुणा॒नीं स्व॒स्तये॑। अ॒ग्नायी॒ं सोम॑पीतये॥ (ऋ०१.२२.१२)

मेधातिथेः। **इह** यज्ञे **इन्द्राणीमुपह्वये**। वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं च **सोमपीतये सोमपानार्थम्**। यथैव चाग्नेः सोमपानसम्बन्धः। एवं तत्पत्न्या अपि। मन्त्रलिङ्गा देवताऽग्नायी। तत्स्तुत्यर्था या सा निगदेन पाठेनैव व्याख्याता।

इति निरुक्तविवरण समुच्चये चतुर्दशस्य (नवमस्याध्यायस्य) तृतीयः पादः।

।।अथ चतुर्थः पादः।।

अथ पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि। उलूखलमुसले। उलूखलं व्याख्यातम् (निरु०९.२०)। मुसलं मुहुः सरम्। तयोरेषा भवति।। ३५।।

भाष्यटीका

अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि।

अथशब्दो द्वन्द्वविशेषाधिकारार्थः। आनन्तर्ये वा। अतः पृथिवीस्थानतया द्वन्द्वपदान्येवावशिष्यन्ते। अष्टौ पाठादेव निर्ज्ञातायां संख्यायामष्टावित्यवधारणार्थं संख्यापदम्। अन्यान्यपि द्वन्द्वपदानि सन्ति। यानि त्विह पठ्यन्ते तान्यष्टौ द्वन्द्वानीति निर्वचनानीत्यभिप्रायः। उषासानक्तादीनामाप्रीत्वेन समाम्नानादिह पाठः। मित्रावरुणादीनां पृथगपि स्तुत्युपपत्तेर्द्वन्द्ववृत्तित्वस्य व्यभिचारित्वादिहापरः पृथिवी। उलूखलमुसलयोः क्षोदनकारणत्वेन सन्निपत्योपकारकत्वे सति मुख्यत्वात् प्रथमकारित्वं भाष्यकारेणानुक्तमपि दृष्टव्यम्।

उलूखलमुसले। उलूखलं व्याख्यातम्। मुसलं मुहुः सरम्। तयोरेषा भवति।

तयोरुलूखलं व्याख्यातम्। उपेत्यनेकनिर्वचनप्रदर्शनेन। मुसलं मुहुर्मुहुः सरणात्। उत्क्षिप्योत्क्षिप्य निपातनान्मुहुः सरणम्। तयोरेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या) ध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथ षट्त्रिंशः खण्डः।

आ॒य॒जी वा॑ज॒सात॑मा॒ ता ह्यु१॒॑च्चा वि॑जर्भृ॒तः। हरी॑ इ॒वान्धां॑सि॒ बप्स॑ता।। (ऋ०१.२८.७)

आयष्टव्ये अन्नानां सम्भक्ततमे ते ह्युच्चैर्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने। हविर्धाने हविषां निधाने। तयोरेषा भवति।। ३६।।

भाष्यटीका

आ॒य॒जी वा॑ज॒सात॑मा॒ ता ह्यु१॒॑च्चा वि॑जर्भृ॒तः।
हरी॑ इ॒वान्धां॑सि॒ बप्स॑ता।। (ऋ०१.२८.७)

शुनःशेपस्य। ता इति परस्तात्तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। हे उलूखलमुसले **आयजी** मर्यादाय यष्टव्ये। **वाजसातमा** वाजानां चान्नानामवहननेन संभक्ततमे। **ता** द्विवचनस्य स्थाने आकारः। ते। **हीति** पादपूरणः। **उच्चा** उच्चैर्मुसल उत्क्षिप्यमाणे। **विजर्भृतः** हरतेर्यङ्लुगन्तस्य कर्मणीदं व्यत्ययेन परस्मैपदम्। पुनः पुनर्विह्रियेते। इन्द्रस्य स्वभूतौ **हरी इव** यथा ऋजीषं धानाश्च संभागमिन्द्राश्वौ भक्षयतः। एव**मन्धासि** अवहन्यमानान्यन्नानि। **बप्सता 'बभस्तिरत्तिकर्मा'** (निरु०५.१२) भक्षयन्त्यश्नन्तीत्यर्थः।

अत्रेध्मवत् स्तुतिरसत्यपि लिङ्गयोगे। आयष्टव्ये मर्यादाय पूजयितव्ये। पूजा चात्र **'आदिरसि वानस्पत्'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादिमन्त्रवद् अत्र द्रष्टव्या। ये विजर्भृतस्तं आयजी इति च सम्बन्धः। संभक्तृतमे अन्नेभ्योऽन्नाकारेभ्योऽतिशययोगा।

हविर्धाने। शकटे सोमलक्षणानि हवींषि निधीयन्ते ययोः। सामीपिकं चाधिकरणम्। कूपे गर्गकुलमितिवत्। तयोरेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः।

अथ सप्तत्रिंशः खण्डः।

आ वा॑मु॒पस्थ॑मद्रुहा दे॒वाः सी॑दन्तु य॒ज्ञियाः॑। इ॒हाद्य सोम॑पीतये॥ (ऋ० २.४१.२१)

आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानम्। अद्रोग्धव्ये इति वा। यज्ञिया देवाः। यज्ञसम्पादिनः। इहाद्य सोमपानाय। द्यावापृथिव्यौ व्याख्याते (निरु० १.१३)। तयोरेषा भवति॥३७॥

भाष्यटीका

आ वा॑मु॒पस्थ॑मद्रुहा दे॒वाः सी॑दन्तु य॒ज्ञियाः॑।
इ॒हाद्य सोम॑पीतये॥ (ऋ० २.४१.२१)

गृत्समदस्य। आकारः सीदन्त्वित्येतेन सम्बध्यते। वनोपस्थं पर्वतोपस्थमित्यादौ दर्शनादुपस्थशब्देन समीपमुच्यते। **वां** युवयो**रुपस्थं** समीपम्। **अद्रुहा** हे अद्रोग्धव्ये हविर्धाने। **देवा आसीदन्तु। यज्ञिया** यज्ञार्हा यज्ञसंपादिन इन्द्रादयो यज्ञाङ्गदेवता इत्यभिप्रायः। **इह** प्रकृते। **अद्य** अस्मिन्नहनि। **सोमपीतये** सोमपानाय। उपस्थमुपस्थानमुपेत्य स्थीयते यस्मिन्।

द्यावापृथिव्यौ। द्यावाशब्दः प्रसङ्गेन **'द्यावौ द्योतनात्'** (निरु० २.२०) इति पृथिवी **'प्रथनात्'** (निरु० १.१४) इति व्याख्याते। तयोरेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः।

अथाष्टात्रिंशः खण्डः।

द्यावा॑ नः पृथि॒वी इ॒मं सि॒ध्रम॒द्य दि॑वि॒स्पृश॑म्। य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ यच्छताम्॥ (ऋ० २.४१.२०)

द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छताम्। विपाट्छुतुद्र्यौ व्याख्याते (निरु० ९.२६)। तयोरेषा भवति॥३८॥

भाष्यटीका

द्यावा॑ नः पृथि॒वी इ॒मं सि॒ध्रम॒द्य दि॑वि॒स्पृश॑म्।
य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ यच्छताम्॥ (ऋ० २.४१.२०)

गृत्समदस्यैव। **द्यावा पृथिवी**शब्दयोः सत्यपि व्यवधाने परस्परसव्यपेक्षत्वात् प्रत्येकं द्विवचनम्। अतो यः समुदितयोः प्रत्येकमप्यसावेवार्थः। द्यावापृथिव्यौ नोऽस्माकं स्वभूतम्। **सिध्रं** साधनं फलानाम्। **अद्य** अस्मिन्नहनि सादगुण्या **दिविस्पृशं** दिवः स्प्रष्टारं गन्तारमित्यर्थः। **यज्ञं देवेषु यच्छतां** प्रापयतामित्यर्थः।

विपाट्छुतुद्र्यौ 'इमं मे गङ्गे' (निरु०९.२६) इत्यत्र व्याख्याते। उभयोरेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्याष्टात्रिंशः खण्डः।

अथैकोनचत्वारिंशः खण्डः।

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥ (ऋ०३.३३.१) पर्वतानामुपस्थादुपस्थानात्। उशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा। विषण्णे इति वा। हासमाने हासतिः स्पर्धायाम्। हर्षमाणे वा। गावाविव शुभ्रे शोभने। मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते। आर्त्नी अर्तन्यौ वा। अरण्यौ वा। आरिषण्यौ वा। तयोरेषा भवति॥३९॥

भाष्यटीका

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥ (ऋ०३.३३.१)

'तद्यद् द्विवत्' (निरु०२.२४) इति यदवोचं तस्यायं प्राप्तोऽवसरः। विश्वामित्रस्तुष्टाव। **प्र**शब्दो जवेत इत्येतेन सम्बध्यते। **पर्वतानामुपस्थात्** समीपात्। **उशती** कामयमाने। किम्? सामर्थ्यात् समुद्रगमनम्। **अश्वे इव** यथाश्वे वडवे। **विषिते** विमुक्ते मन्दुरातः। अथवा विविधवहनकर्मणि षेण्या रथे नियुक्त इत्यर्थः। तद्वद् **हासमाने** स्पर्धमाने परं हृष्यन्तौ वा। **गावेव** गाविव च **शुभ्रे** शोभने। **मातरा** मातरौ। एकस्य वत्सस्य पुत्रस्य स्नेहात् तं **रिहाणे**। अन्तर्णीतसनर्थे लिहिः। जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ। **विपाट्छुतुद्री** द्विवचनस्य पूर्वसवर्णो विपाट्छुतुद्र्यौ **पयसा** उदकेन **प्रजवेते** प्रकृष्टेन जवेन गच्छतः।

आर्त्नी धनुषः कोटी। आर्तन्यौ **'ऋ गतौ'** (धा०१.९६१; ३.१६) इत्यस्य। ते हि ज्ययाकृष्यमाणे सङ्गच्छतः। **'कृती छेदने'** (धा०६.१५४) इत्यस्य वा। तेष्वेवासंयोगाद् विविधमात्मानं कृतवन्तः। **'ऋष गतौ'** (धा०६.७) इत्यस्य वा **'रिष हिंसायाम्'** (धा०१.६९५; ४.१२५) इत्यस्य वा। हिंसायां हि ते साधने भवत। तयोरेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्यैकोनचत्वारिंशः खण्डः।

अथ चत्वारिंशः खण्डः।

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे। अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्॥ (ऋ०६.७५.४) ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे। मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थ उपस्थाने। अपविध्यतां शत्रून्त्संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्रान्। शुनासीरौ शुनो वायुः। शु एत्यन्तरिक्षे। सीर आदित्यः सरणात्। तयोरेषा भवति॥४०॥

भाष्यटीका

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।

अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्॥ (ऋ०६.७५.४)

वायुर्भरद्वाजस्तस्यार्षम्। ते ज्ययाकृष्यमाणयाकृष्यमाणे **आचरन्ती** आगच्छन्त्यौ ये द्वारं प्रति। **समनेव** समाने भर्तरि मनो ययोस्ते इव **योषा** योषितौ स्त्रियौ भर्तारं प्रति। **मातेव पुत्रं** यथा माता पुत्र**मुपस्थे** अङ्के धारयेदेवं **बिभृता** धारयताम्। ये द्वारम**प विध्यताम्**। अपनयतां च **शत्रून्**। **संविदाने** सम्यक् जानन्त्यौ स्वकर्म। **आर्त्नी** धनुष्कोटी **इमे विष्फुरन्ती**। स्फुरतिर्वधकर्मा। निघ्नन्त्यौ **अमित्रान्**। अपपूर्वो व्यधिरपनयने द्रष्टव्यः। अपविद्धो निरस्त उच्यते।

शुनासीरौ। अप्रसिद्धत्वादभिधेयस्याह शुनो वायुः। क्षिप्रं वातीति निर्वचनम्। अन्तरिक्ष इत्यर्थप्रासार्थवचनम्। सीरः सरणात्। तयोरेषा।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः।

अथैकचत्वारिंशः खण्डः।

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ (ऋ०४.५७.५) इति सा निगदव्याख्याता। देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ। द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्रे इति वा। सस्यं च समा चेति कात्थक्यः। तयोरेषः सम्प्रैषो भवति॥४१॥

भाष्यटीका

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः।

तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ (ऋ०४.५७.५)

वामदेवस्य। हे **शुनासीरौ इमां** स्तुतिलक्षणां **वाचम्**। **जुषेथां** सेवेथाम्। **यद्** यच्च **दिवि चक्रथुः** कृतवन्तौ स्थः। **पय** उदकम्। **तेनेमां** पृथिवीमुपगम्य **सिञ्चतम्**। एतद्धि कर्म युवयोः। तथा चोक्तम् **'द्वा बृबूकं वहतः पुरीषं वाय्वादित्यौ'** (निरु०२.२२) इति निगदव्याख्याता।

देवीजोष्ट्री वक्तव्ये। देव्यौ जोषयित्र्याविति निर्वचनेन प्रथमाद्विवचनस्य स्थाने पूर्वसवर्ण इति।

अभिधेयमाचष्टे। **द्यावापृथिव्याविति वाहोरात्रे वा** अन्ये नैरुक्ताः। **सस्यं** व्रीह्यादि। **समा** संवत्सरः। एतद्देवीजोष्ट्रीशब्दवाच्यमिति कात्थक्यो नैरुक्तविशेषो मन्यत इति शेषः। तयोर्देव्योरेष संप्रैषः प्राधान्यस्तुत्युदाहरणं न ऋक् न यजुर्न सामास्ति।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यास्यैकचत्वारिंशः खण्डः।

अथ द्विचत्वारिंशः खण्डः।

देवी जोष्ट्री वसुधीती ययोरन्याघा द्वेषांसि यूयवदान्यावक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥ (काठ०सं०१९.१३; मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३) देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ। वसुधिती वसुधान्यौ। ययोरन्याघानि द्वेषांस्यवयावयत्यावहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय। वसुवननाय च वसुधानाय च। वीतां पिबेताम्। कामयेताम् वा। यजेति सम्प्रैषः। देवी ऊर्जाहुती देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ। द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्र इति वा। सस्यं च समा च इति कात्थक्यः। तयोरेषः सम्प्रैषो भवति॥४२॥

भाष्यटीका

देवी जोष्ट्री वसुधीती ययोरन्याघा द्वेषांसि यूयवदान्या-
वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥

(काठ०सं०१९.१३; मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३)

वसुधीती वसुनो धनस्य निधानभूते दात्र्यौ वा। **ययोरन्या** एका **अघा** अघानि पापानि। **द्वेषांसि** द्वेष्याणि खादीनि। **यूयवत्** यौतिर्मिश्रणेऽन्यत्र। इह तु सामर्थ्यात् पृथग्भावे। पृथक्करोत्यपनयतीत्यर्थः। **आकारो** वक्षदित्येतेन सम्बध्यते। **अन्या** एका **आवक्षत्** आवहति ददातीत्यर्थः। **वसु** वसूनि। **वार्याणि** वरणीयानि। **कस्मै? यजमानायेति** अन्तर्णीतवीप्सार्थो यावान् कश्चिद्यजमानः सर्वस्मै। किमर्थम्? **वसुवने 'वन षण संभक्तौ'** (धा०१.४६४-४६५) वसूनां तेषां वननाय संभजनाय भोगायेत्यर्थः। **वसुधेयस्य** भोगातिरिक्तानां वसूनां निधानाय। पुरस्ताद्यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। ते **वीतां** पिबेतां कामयेतां वा। इदं हविः। त्वमपि हे होतर्यज मा विलम्बिष्ठाः।

इति चतुर्दशस्या-(नवमस्या)-ध्यायस्य द्विचत्वारिंशः खण्डः।

अथ त्रिचत्वारिंशः खण्डः।

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्यावक्षत्सग्धिं सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम। पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥ (काठ०सं०१९.१३; मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३) देवी ऊर्जाहुती। देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ। अन्नं च रसं चावहत्यावहत्यन्या। सहजग्धिं च सहपीतिं चान्या। नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम। पुराणेन नवम्।

तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताम्। वसुवननाय च। वसुधानाय च। वीतां पिबेताम्। कामयेतां वा। यजेति सम्प्रैषः। यजेति सम्प्रैषः॥४३॥

भाष्यटीका

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्यावक्षत्सग्धिं सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम।

पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥

(काठ०सं०१९.१३; मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३)

अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। ये उक्ताभिधेये व्याख्याते ते देव्यौ! **ऊर्जाहुती** ऊर्जनं हविर्लक्षणं प्रत्याह्वातव्ये तयोः। **इषमूर्जं** उभयोरन्ननामत्वे पौनरुक्त्यप्रसङ्गादूर्जशब्दो रसवचनः। अन्नरसं चान्या एका **आवक्षत्** आवहतु। **सग्धिं सपीतिमन्या** सहभोजनं सग्धिः। घसेरिदं रूपम्। समानाग्धिः सग्धिः। सहपानं सपीतिः। सग्धिश्च ज्ञातिभिः सह। अन्या एका आवक्षदित्यनुषङ्गः। तयोश्च प्रसादेन नवेन यथा व्रीह्यादिना **पूर्वं पुराणं दयमाना** रक्षन्तो वयं **स्याम** भवेमेत्याशास्महे। **पुराणेन** च **नवं** अक्षीणेषु पुराणेषु नवं स्यादित्यर्थः। आशासानेभ्यश्च **तामूर्जं** तदेव रूपमन्नमित्यर्थः। **ऊर्जाहुती** ऊर्जं प्रत्याह्वातव्ये। **ऊर्जयमाने** बलं कुर्वन्त्यौ। **अधातां** दत्तामस्मभ्यम्। **वसुवने** ......त्यस्यान्नलक्षणस्य धनस्य वनाय संभजनाय। **वसुधेयस्य** तस्यैव च भोगातिरक्तस्य च निधानाय। **वीतां** पिबतां कामयेतां वा। **इदं** हविः। त्वमपि होतर्यज मा विलम्बिष्ठाः। द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः। तथा श्रुतौ दर्शनादिति सिद्धम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये चतुर्दशो (नवमो)ऽध्यायः समाप्तः।

॥अथ दशमा(पञ्चदशा-)ध्याये प्रथमः पादः॥

प्रथमः खण्डः।

अथातो मध्यस्थाना देवताः तासां वायुः प्रथमगामी भवति। वायुर्वातेः। वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः। तस्यैषा भवति॥१॥

भाष्यटीका

समाम्नायक्रमेणैवानन्तरं मध्यस्थाना देवताः। तासां वायोः प्रथमगामित्वे कारणमुक्तं द्वादशे (निरु०७.२२-२३) वर्षकर्मप्राधान्यादिति। वायुः पुनर्वातेः। **'कृवापाजि'** (उणा०१.१) इत्युणप्रत्ययान्तस्य। वेतेर्वाऽनेकार्थत्वाद् गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविराचार्यो मन्यते। **'छन्दसीणः'** (उणा०१.२) इत्येवमायुः सन् वकारोपजनेन वायुः। ऋषभो वषभ इतिवत्। सहाभिधानात्। अत्र हि एकोऽनर्थको वकारः। तस्य वायोरेषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)ध्यायस्य प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः।

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवंम्॥ (ऋ०१.२.१)

वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः। तेषां पिब। शृणु नो ह्वानमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥२॥

भाष्यटीका

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवंम्॥ (ऋ०१.२.१)

मधुच्छन्दस आर्षम्। हे **वायो आयाहि** आगच्छ। **दर्शत** दर्शनीय। **इमे सोमाः** श्रयणैरलङ्करणैरलंकृता भूषिता इत्यर्थः। पर्याप्ता वा कृताः। **तेषां** षष्ठी श्रुतेरेकदेशस्यांशलक्षणमिति शेषः। द्वितीयार्थे वा षष्ठी तां **पाहि** पिबतेरेतद्रूपं न पातेः। छान्दसत्वात् शपो लुक् पिब। **श्रुधि** शृणु। अस्माकं **हव**माह्वानम्। मानादरं कृथाः। **'दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्'** (ऋ०१०.१६८.१) इत्यादि लिङ्गदर्शनात् स्थानान्तरसम्बन्धेऽपि।

कमन्यं मध्यमादिन्द्रादेवं सोमपानसम्बन्धस्तुतिविषयत्वेन वायुमवक्ष्यत्। यत इन्द्रस्योचितं सोमपानम्। तस्मादिन्द्र एव वायुः स्थानान्तरसम्बन्धेऽपि नान्य इति। न चेन्द्रवन्मध्यमे प्रसिद्धं वाय्वभिधानम्। अतः सन्देहव्युदासोपन्यासः। तथा च **'वायुर्वेन्द्रो वा'** (निरु०७.५) इति पर्यायत्वमुक्तम्। तस्य वा एषा। ऐन्द्र एव सूक्ते इन्द्रपर्यायत्वप्रतिपादनार्था परा

इति पञ्चदशया- (दशस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः। अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्॥ (ऋ०६.३७.३) आससृवांसोऽभिबलायमानमिन्द्रं कल्याणचक्रे रथे योगाय। रथ्या अश्वा रथस्य वोढारः। ऋज्यन्त ऋजुगामिनोऽन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च। श्रव (निघं०२.७.४) इत्यन्ननाम। श्रूयत इति सतः। वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येदिति। इन्द्रप्रधानेत्येके। नैघण्टुकं वायुकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्। वरुणो वृणोतीति सतः। तस्यैषा भवति॥३॥

भाष्यटीका

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।

अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्॥ (ऋ०६.३७.३)

भरद्वाजस्य अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। **आसस्राणासः** सर्तेः कानजयम्। आगतवन्तः। **शवसानं** शवः शब्दात् बलवचनादन्तर्णीतमत्वर्थात् **'उपमानादाचारे'**। **'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'** (अष्टा०३.१.१०-११) इति क्यङ् प्रत्ययः। तदन्तात्ताच्छील्ये शानच्। छान्दसत्वादार्धधातुकत्वम्। अतो लोपयलोपौ। शवसानं बलाचरणशीलम्। तद् **अच्छ** अभेरर्थे। अभिप्रतीन्द्रं **सुचक्रे** रथे योगादात्मन इति। **रथ्यासो** रथस्य वोळ्हारस्ते। **अभिः** कर्मप्रवचनीयः प्रतिना समानार्थः। **श्रवः** सोमाख्यमन्नं प्रति **ऋज्यन्तः** ऋजु गच्छन्तो **वहेयुरिन्द्रम्**। किञ्च शुचिं **नूचिदिति** नु शब्दो नववचनः। चिच्छब्दश्चार्थे। अद्याचिन्नूचिदिति यथा। चार्थश्रुतिसामर्थ्याच्च द्वितीयो **नुशब्दः** पुराणवचनः। यच्चेदानीं गृह्यते तन्नवम्। यत्पूर्वं गृहीतं तत्पुराणम्। तदुभयमपि नवं च पुराणं चास्य **वायो**र्गन्तुरिन्द्रस्य स्वभूत**ममृत**ममृतसदृशं दृष्टं मरणवर्जितं वा सोमाख्यमन्नं **विदस्येत्**। विशब्दो विगमे दस्यतिः क्षयार्थः। विगतक्षयं भवेत्। प्राक् प्रदानात् क्षयं मा गमदित्यर्थः।

वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येत् तथा वहेयुरित्यस्य विवरणम्। शीघ्रमित्यभिप्रायः एवमिन्द्रप्रधानेयमृगित्येके मन्यन्ते। निहतमात्रत्वेन वायुकर्म वायुरित्यर्थः। न पृथक्कर्मात्मना वायुः स्तुत्य इत्यभिप्रायः। उभयप्राधान्येन परमन्यद्दर्शनम्। अधिष्ठानाधिष्ठेयभेदेन। **'अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मानः'** (निरु०७.७) इत्येवं भेदमुररीकृत्याह। वायोश्चास्य द्विरूपोऽपि सोमभक्षः क्षयं मागादिति। श्रूयत इति कर्मणि कारके। अन्नं वर्ण्यमानं श्रूयते। **वरुणः**। अन्तरिक्षे उदकस्यावरणाद्वायुरेव। तस्य वरुणस्य ह्येषा।

इति पञ्चदशस्य-(दशमस्या)-ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥ (ऋ०५.८५.३) नीचीनद्वारं वरुणः कवन्धं मेघम्। कवनमुदकं भवति। तदस्मिन्धीयते।। उदकमपि कवन्धम् (निघं०१.१२.६) उच्यते। बन्धिरनिभृतत्वे। कमनिभृतं च। प्रसृजति। द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्वेन। तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम्। तस्यैषापरा भवति॥४॥

भाष्यटीका

नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।

तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥ (ऋ०५.८५.३)

नीचीनमधोमुखं बारं द्वारं सदादिलोपेन वर्णव्यापत्त्या च बारमुदकनिर्गमम्। नीचं बारं यस्य स **नीचीनबारोऽ**धोमुखबिलस्तम्। **वरुणः कबन्धं** कबन्धो मेघः कवतेर्गतिकर्मणः। कवनमुदकं तस्मिन् धीयत इति। द्वितीयाश्रुतेः कृत्वेति शेषः। अधोमुखबिलं कृत्वा वरुणः **प्रससर्ज** प्र इत्येष वीत्येतस्य स्थाने विसृजति विक्षिपति। किम्। सामर्थ्यादुदकम्। अथवा कबन्ध इत्येतेनोदकमेवोच्यते। **उदकनामसु पाठात्** (निरु०१.१२)। नीचीनबारमित्येषा द्वितीया पञ्चम्यर्थे नीचीनबारमेघाद् वरुणः कबन्धमुदकं मुञ्चति। **रोदसी** द्वितीयाश्रुतेरत्र कर्मप्रवचनीयप्रतिशब्दाध्याहारः। द्यावापृथिव्यौ प्रति। **अन्तरिक्षं** च। यत्तेन चोदितेन **विश्वस्य** सर्वस्य **भुवनस्य** भूतजातस्य **राजा** ईश्वरो वरुणः। **यवं न** यवग्रहणमत्र यवादेर्धान्यबीजस्योपलक्षणार्थम्। यथा यवादिधान्यबीजं **वृष्टिरेवं व्युनत्ति** विविधं क्लेदयति। **भूम** भूमिशब्दपर्यायोऽयमत्र द्रष्टव्यः। बहुशब्दपर्यायो वा। भूमिं समस्तां बहुधा यावत् किञ्चित्।

प्रसङ्गात् पठ्यमानस्यैव निर्वचनार्थ उपक्षेपः। **उदकमपीति**। निभृतो निश्चलः। अतोऽन्यदनिभृतश्चलः। कं च तदनिभृतं चलं चेत्यर्थः। **महत्वेने**त्यर्थप्राप्तार्थवचनम्। तस्य महानेतत् शक्नुयात्कर्तुम्। **परेति**। पराभिधानं किमर्थं यदि वर्षकर्म वरुणाभिधानं चोत्तमेऽपि दृष्टम्। परस्यां तु व्यक्तं शब्दत एव तमूष्विति मध्यमाभिधानम्।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या -)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः। नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥ (ऋ०८.४१.२) तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा। गीत्या स्तुत्या। पितृणां च मननीयैः स्तोमैः। नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव। यः स्यन्दमानानामासामपामुपोदये। सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः। स मध्यम इति निरुच्यते। अथैष एव भवति। नभन्तामन्यके समे। मा भूवन्नन्यके सर्वे। ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः। पापसङ्कल्पाः।

रुद्रो रौतीति सतः। रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा। यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्। (काठ० २५.१) यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्। तस्यैषा भवति॥५॥

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः।

नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥ (ऋ० ८.४१.२)

नाभाकस्य। तं प्रकृतं वरुणम्। उ इति पदपूरणः। सुष्ठु अभिष्टौमीति शेषः स्तुतिकर्मा भाष्यकारेण सम्बन्धसौकर्यायाध्याहृतः। सुष्ठु स्तौमीत्यर्थः। **समना** समानशब्दात् तृतीया लुक् ह्रस्वत्वं च। समानया योग्यया **गिरा** स्तुत्या। **पितॄणां च** मदीयानां योग्यै**र्मन्मभि**र्महनीयैः पूजनीयैः स्तोमैः। तथैव च **नाभाकस्य** नाभाकनाम्न ऋषेर्योग्याभिः (प्रशस्तिभिः) प्रकृष्टाभिः स्तुतिभिः। **यः सिन्धूनामुपोदये** सिन्धव आपस्ता उपागम्योद्यन्ति उद्गच्छन्त्युत्पद्यन्ते यस्मिन् (स) सिन्धूनामुपोदयोऽन्तरिक्षं तत्र। **सप्तस्वसा** स्वसृशब्दो भगिनीपर्यायः। गर्जितलक्षणाभिर्वाग्भिर्भगिनीस्थानीयाभिः सप्तभगिनीकः। कतमः पुनः सः। उच्यते। **स मध्यमः**। स्तुतस्य चास्य प्रसादेन **नभन्तां** न भवन्तु माभूवन्नित्यर्थः। नभतीति वधकर्मसु पाठात्। नभन्तां हन्यन्ताम्। **अन्यके** (कुत्सिताः) अन्ये (अन्यके) अस्मद् द्विषः। समशब्दः सर्वपर्यायः सर्वे।

एनमाह मन्त्रो मन्त्रदृग्वा। निरुच्यते मन्त्रपदेन। असत्यपि लिङ्गे वारुणत्वात्सूर्यस्य वरुण एव मध्यमो भवति। ये नो द्विषन्तीत्यर्थप्राप्तं वचनम्। दुर्धिय इत्यस्य व्याख्यानं पापसंकल्पा इति।

रुद्रः। रौति स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोतीति। अत्यर्थं वा शब्दं कुर्वन्मेघोदरस्थो द्रवति। **रोदयतेर्वा** इतीतिहासाश्रयं निर्वचनम्। स हि शत्रुकलत्राणि रोदयति। ब्राह्मणोक्तमपि निर्वचनं दर्शयति। **यदरुददिति** काठकं प्रवचनम्। **यदरोदीदिति** हारिद्रविकं मैत्रायणीयानाम्। रुद्रः किल पितरं प्रजापतिमिषुणा चिच्छेद। तमनुशोचन्नरुदत्। लुङि आङि च (अरुदत्)। **'रुदश्च पञ्चभ्यः'** (अष्टा० ७.३.९८) इति (चेटि) रूपमरोदीदिति। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)- ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने। अषाळहाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ (ऋ० ७.४६.१) इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे। देवायान्नवतेऽषाळहायान्यैः। सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु नः। तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः। आयुधमायोधनात्। तस्यैषापरा भवति॥६॥

भाष्यटीका

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।

अषाळहाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ (ऋ० ७.४६.१)

वसिष्ठस्य। परा च। **इमा** वक्ष्यमाणा **गिरः** स्तुतीः। रुद्रायेत्याद्याः सर्वास्तादर्थ्यचतुर्थ्यः। **रुद्राय** रुद्रस्य **स्थिरधन्वने** दृढधनुषः। **क्षिप्रेषवे** क्षिप्रेषोर्देवाय देवस्य **स्वधाव्ने** स्वधा अन्नं (तेन) तद्वान् स्वधावान् ततश्चतुर्थी अन्नवत इत्यर्थः। **अषाळ्हाय** असोढाय सहिरभिभवे। अनभिभूतस्यान्यैः। **सहमानाया**भिभवतोऽन्यान्। **वेधसे** विधातुः। **तिग्मायुधाय** तीक्ष्णायुधस्य (च) अर्थाय। **भरत** प्रहरत प्रापयत कुरुतेत्यर्थः। स **शृणोतु** नोऽस्माकं स्वभूताः।

तीक्ष्णं ह्यायुधं योद्धारमुत्साहयति। आभिमुख्येन युध्यतेऽनेनेत्यायुधम्। तस्यैषापरा किमर्था। पूर्वस्यामृचि विधातुरित्युक्तम्। तत्र कस्य विधातुरित्यपेक्षायां परया रोगाणां भेषजानां चेति प्रतिपाद्यते।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)-ध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

या ते॑ दि॒द्युदव॑सृष्टा दि॒वस्परि॑ क्ष्म॒या चर॑ति॒ परि॒ सा वृ॑णक्तु नः। स॒हस्रं॑ ते स्वपिवात भेष॒जा मा न॑स्तो॒केषु॒ तन॑येषु रीरिषः॥ (ऋ०७.४६.३) या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि दिवोऽधि। दिद्युद् द्यतेर्वा। द्युतेर्वा। द्योततेर्वा। क्ष्मया चरति। क्ष्मा पृथिवी तस्यां चरति। तया चरति। विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा। परिवृणक्तु नः सा। सहस्रं ते स्वाप्तवचन। भैषज्यानि। मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः। तोकं (निघं०२.२.२) तुद्यतेः। तनयं (निघं०२.२.३) तनोतेः। अग्निरपि रुद्र उच्यते। तस्यैषा भवति॥७॥

भाष्यटीका

या ते॑ दि॒द्युदव॑सृष्टा दि॒वस्परि॑ क्ष्म॒या चर॑ति॒ परि॒ सा वृ॑णक्तु नः।

स॒हस्रं॑ ते स्वपिवात भेष॒जा मा न॑स्तो॒केषु॒ तन॑येषु रीरिषः॥ (ऋ०७.४६.३)

या ते तव स्वभूता **दिद्युत्** वज्रनामैतत् लुप्तोपमं चात्र द्रष्टव्यं दिद्युदिव वज्रमिव प्राणिहननी। कासौ? पुरस्ताद् भेषजश्रुतेः सामर्थ्याद् रोगजातिः। **दिवस्परि** दिव उपरि सती **अवसृष्टा** त्वयैवाधः क्षिप्ता। **क्ष्मया** सप्तम्यर्थे तृतीया सहार्थे वा पृथिव्यां पृथिव्या वा सह। अथवा **'क्ष्मायी विधूनने'** (धा०१.४८७) इत्यस्य। क्ष्मा हिंसा तया सह क्ष्मापयती घ्नती प्राणिन इत्यर्थः **चरति परि सा वृणक्तु नः** परिवर्जने परिवर्जयतु सास्मान्। किञ्च **सहस्रं** सहस्रसंख्याकानि ते तव स्वभूतानि। **स्वपिवात** हे स्वाप्तवचन। **भेषजा** भेषजानि औषधानि तान्यस्मभ्यं देहीति शेषः। **मा नः** मा चास्माकं **तोकेषु** पुत्रेषु **तनयेषु** पौत्रेषु च रीरिषो हिंसीः।

द्यतेः खण्डनार्थस्य **द्युतेर्वा** उज्ज्वलत्वात्। अपौनरुक्त्याय विषयभेदप्रदर्शनं **पुत्रेषु पौत्रेषु चेति**। तुद्यते हि तत् तनयमात्मन एव विकाररूपम्। **अग्निरपी**त्यादि स न मन्येतेत्यादिविचारानुस्मृतये संकरव्युदासाय सिद्धस्तु यस्तु सूक्तमित्येव द्रष्टव्यम्। तस्याग्ने रुद्रशब्दवाच्यत्वे एषा उदाहरम्।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथ अष्टमः खण्डः

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ (ऋ०१.२७.१०) जरा स्तुतिः। जरतेः स्तुतिकर्मणः। तां बोध। तया बोधयितरिति वा। तद्विविड्ढि तत्कुरु। मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय। स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम्। इन्द्रः इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा। इरां दारयत इति वा। इरां धारयत इति वा । इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दौ रमत इति वा। इन्धे भूतानीति वा। **तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्** (तु०शत०ब्रा०६.१.१.२) इति विज्ञायते। इदं करणादित्याग्रायणः। इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः। इदञ्छत्रूणां दारयिता वा। द्रावयिता वा। आदरयिता च यज्वनाम्। तस्यैषा भवति॥८॥

भाष्यटीका

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ (ऋ०१.२७.१०)

शुनःशेपस्य। जरा स्तुतिः। जरतेरर्चतिकर्मसु पाठात् (निघ०३.१४)। तां योऽग्निर्बुध्यते बोधयति वा देवान् होतृत्वात् स जराबोधः। तस्य सम्बोधनम्। **विशेविशे** मनुष्यस्यार्थाय। **यज्ञियाय** यज्ञसम्पादिने तत् प्रार्थ्यमानं विविड्ढि कुरु, देहीत्यर्थः। तुभ्यं **स्तोमं रुद्राय** दावरूपाय धग्धकशब्दकारिणे। **दृशीकं** दर्शनीयं श्रवणीयमित्यर्थः।

तद्बोधकतया बोधयितरिति वेति पाठः। तां बोधतयेत्यपपाठः। तथा बोधयिता देवान्। **यजनायेति** होतृत्वे वर्तमानोऽग्निरेव यजनो यज्ञसम्पादि तस्मै। बहुलवचनात् कर्तरि ल्युट्।

इन्द्रः कस्मात्। इरा अन्नं तेन सम्बन्धात् तद्धेतुभूतमुदकं लक्ष्यते। लक्षितलक्षणया तेनापि तदाधारभूतो मेघः। इराहेतुभूतोदकाधारमपर्यन्तधारात्मना **दृणाति** विदारयति मेघम्। बीजं वाङ्कुरात्मना व्रीह्यादि। तदसौ वृष्टिप्रदानेन विदारयति। अङ्कुरोद्भेदाभिप्रायं च विदारणम्। तेन इरादारः सन्निन्द्रः। एवमुत्तरेष्वपि निर्वचनेषु। **इरां ददातीति वा**। तदेव पूर्वपदम्। ददातेरुत्तरपदम्। वर्षद्वारेणापीरामन्नं ददाति। सोऽयमिरादः सन्निरादानादिन्द्रः। **इरां दधातीति वा**। तदेव पूर्वपदम्। दधातेर्दानार्थस्य धारणार्थस्य वोत्तरपदम्। सोऽयमिराधः सन्निरादानादिन्द्रः। **इरां दारयत इति वा**। तदेव पूर्वपदम्। दारयतेरुत्तरपदम्। सोऽयमिरादारः सन्निरां दारयितेन्द्रः। **इन्दवे द्रवति**। द्रवतिर्गतिकर्मा। गच्छति सोमं पातुमित्यर्थः। तस्मिन्नेव वा **रमते** प्रियत्वान्नवन इति। **इन्धे** दीपयति **भूतानि** शरीरमध्यवर्ती पञ्चवृत्तिः प्राणो वायुः। शरीरभूतानि तेन विनाशादात्मनो वेपयन्ति। अत इन्धनादिन्द्रः।

अधुनास्यैव धातोर्ब्राह्मणोक्तनिर्वचनं दर्शयति। **तद्यदित्यादि**। तदित्युपन्यासे। यदित्युद्देशः। इन्धेन **एनं** मध्यतो वा स्थितं शरीरे मध्यमप्राणभावेन क्षेत्रज्ञसञ्ज्ञकं **प्राणैरितरैर्वागादिभिः**। वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः श्रवणात् श्रोत्रमित्यनेकत्वोपासनाभिः माहाभाग्यसम्पादनेन **'यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि'** (छा०उप०५.१.१३) इत्यादिना समैन्धन् समदीपयन्। आत्मोपासका योगबलेन। सम्यगाभिमुख्येन दीपितवन्तो दीपयन्ति वा सर्वत्रैकत्वेन जात इत्यर्थः। तच्छब्दप्रतिनिर्देशार्थो यच्छब्दः। यत्समैन्धंस्तदिन्द्रस्येति। एवं विचार्यमाणे विज्ञायते।

इदमः करोतेश्चेत्याग्रायण आचार्यो मन्यते। इदं कृत्स्नं जगत्। वृष्टिप्रदानद्वारेण करोतीति। अशितपीतरसपानद्वारान्धनोदिना वा विजृतम्। दृशेर्वोत्तरपदं लोकपालत्वादस्य। सर्वस्य शुभाशुभकर्मणो दर्शनादेवौपमन्यवो मन्यते। इन्वतेर्वा पूर्वपदम्। ईश्वर इनः। **'दृ भये'** (धा०१.८१०) इत्यस्य ऋदोरपि (अष्टा०३.३.५७) दरोभयं तत्करोतीति णिच। इनश्चासौ दारयिता चेति। द्रावयतेर्वोत्तरपदम्। आदरयिता वा यज्वनाम्। तस्येन्द्रस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य अष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

अदर्दुरुत्सुमसृंजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः। मुहान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानुवं हन्॥ (ऋ०५.३२.१) अदृणाः उत्सम्। उत्स उत्सरणाद्वा। उत्सदनाद्वा। उत्स्यन्दनाद्वा। उनत्तेर्वा। व्यसृजोऽस्य खानि। त्वमर्णवानर्णस्वतः। एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान्। बाबध्यमानानरम्णाः। रम्णातिः संयमनकर्मा। विसर्जनकर्मा वा। महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद्व्यवृणोः। व्यसृजोऽस्य धारा अवहन्नेनं दानवं दानकर्माणम्। तस्यैषापरा भवति॥९॥

भाष्यटीका

अदर्दुरुत्सुमसृंजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।

मुहान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानुवं हन्॥ (ऋ०५.३२.१)

गातोरार्षम्। **अदर्दो** दारयसि। **उत्सं** **'उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तम्'** (ऋ०१.६४.६) इत्यादौ दर्शनादुत्सशब्दोऽपठितमपि मेघनाम। मेघं दारयित्वा चासृजो विसृजसि विवृणोषि छान्दसत्वात् परो विः पुरस्ताद् द्रष्टव्यः। **खानि** आकाशान् मेघस्य यैरुदकं निर्गच्छति। उदकनिर्गमनबिलानीत्यर्थः। विवृत्य च **त्वमर्णवान्** भूम्नि त्वयं मत्वर्थीयो द्रष्टव्यः। **'अर्णसो लोपश्च'** (अष्टा०वा०५.२.१०९) इति। अर्ण उदकमवयवभूतं बहूदको येष्वस्ति ते अर्णवाः। के पुनस्ते? मेघाः। ते महार्णा उदकसंघातास्तान्। **बद्बधानान्** निर्गमननिरोधं कुर्वता मेघेनात्यर्थं बाध्यमानान्। **अरम्णा** रम्णातिः संयमनकर्माऽन्यत्र **'सविता यन्त्रैः'** (ऋ०१०.१४९.१) इत्यादौ। इह तु विसर्जनकर्मा विसर्जयसि क्षारयसीत्यर्थः। **महान्तं** हे **इन्द्र पर्वतं** मेघम्। वीत्याख्यातेन सम्बध्यते। **यदिति** लिङ्गव्यत्ययः। यस्त्वं **विवः** **'मन्त्रे घसह्वर०'** (अष्टा०२.४.८०) इत्येवं लेर्लुकि रलोपरूपम्। पूर्वेष्वपि कालेषु विवृतवानसि। विवृत्य च सृजो विपूर्ववदुपसर्गः। मेघाद् विसर्जितवानसि **धारा उदकस्य। अवेत्ययं** हनित्येतेन सम्बध्यते। **दानवं** दनोः पुत्रो दानवोऽसुरो वृत्रोऽन्यो वा कश्चिन्मेघस्य **रक्षिता। तं चावहन्** हतवानसि। अथवा दानवं दातारं च। उदकस्य महान्तमपि मेघं सर्वमधो हतवान्।

उत्पूर्वात् सदेः। स्यन्दतेर्वा सर्वासां क्रियाणां तत्रोपपत्तेः। किं परा? बलप्रदर्शनार्था।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य नवमःखण्डः

अथ दशमः खण्डः

यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान् दे॒वो दे॒वान् क्रतु॑ना प॒र्यभू॑षत्। यस्य॒ शुष्मा॒द्रोद॑सी॒ अभ्य॑सेतां नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥ (ऋ०२.१२.१) यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान्। क्रतुना कर्मणा। पर्यभवत् पर्य्यगृह्णात् पर्य्यरक्षत्। अत्यक्रामदिति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम्। नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन। स जनास इन्द्र इति। ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः। परो जेता वा। परो जनयिता वा। प्रार्जयिता वा रसानाम्। तस्यैषा भवति॥१०॥

भाष्यटीका

यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान् दे॒वो दे॒वान् क्रतु॑ना प॒र्यभू॑षत्।

यस्य॒ शुष्मा॒द्रोद॑सी॒ अभ्य॑सेतां नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥ (ऋ०२.१२.१)

गृत्समदस्य। गृत्समद ऐन्द्रं रूपमास्थित इन्द्रोऽयमिति मन्यमानैरसुरैर्हन्यमानस्तानाह। **यो जात एव** जातमात्र एवेत्यर्थः। **प्रथमः** उत्कृष्टः। **मनस्वान्** प्रशंसायां मतुप् मनस्वी मनस्विनां मध्ये कश्चित् प्रत्यनुपनतेन शौर्योत्कर्षविशेषयोगिना मनसा तद्वान्। **देवो** देवनादिगुणयुक्तः। **देवानन्यान्** **क्रतुना** **कर्मणा** वृत्रवधवृष्टिप्रदानादिना। **पर्यभूषत्** परिपूर्वो भवतिः परिग्रहे परिरक्षायामतिक्रमे वा। केन परिगृहीतवान् परिरक्षितवान् वातिक्रान्तवान् वा माहात्म्येन। **यस्य** च **शुष्माद्** बलाद् **रोदसी** द्यावापृथिव्यावपि। **अभ्यसेतां** **'भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः'** (निरु०३.२१)। (तथात्र भये धातुः।) अबिभीताम्। **नृम्णस्य** नृमनस्य तस्य बलस्य। **मह्ना** महत्वेन हेतुना। **स जनासो** जना हे असुरजना **इन्द्रः**। नाहमिन्द्रः।

दृष्टार्थस्य न्यग्भूतैतन्मन्त्रार्थस्य वृद्ध्या देवतासतत्वस्य भावितान्तःकरणस्य प्रीतिरुत्पद्यते। तद्गुह्य-तृणाख्यानसमन्वयात्। यतोऽस्मिन् सूक्ते पुनः पुनराह स जनास इन्द्र इति।

पर्जन्यस्तृपेः। कथम्। अन्तर्नीतण्यर्थस्य क्विपि अन्ताद्यक्षरविपर्ययेण। तर्पयति तृप्। ततः परो जनशब्दो हितार्थे यो नामकरणः। छान्दसत्वाद् गुणरपरत्वे तकारस्य जकारापत्तिः। तृपेर्जनशब्दस्येत्याह तर्पयिता चासौ जन्यश्चेति जनाय हितो जन्यः। पर शब्दस्याकारलोपे जयतेश्च न्यप्रत्ययः। इकारस्याकारापत्त्या प्रकृष्टो जनः। जनयिता वेत्युत्तरपदधातुविकल्पः। यश्च नामकरणः। अथवा प्रेत्यस्य रेफलोपेनार्जयतेश्चाकारयोः पररूपत्वेन न्यप्रत्ययः। एवं तदाह प्रकर्षेणार्जयिता वा सङ्गृहीता वा रसानामिति। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य दशमःखण्डः।

अथ एकादशः खण्डः

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्। उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥ (ऋ०५.८३.२) विहन्ति वृक्षान् विहन्ति च रक्षांसि। सर्वाणि चास्माद्भूतानि बिभ्यति महावधात्। महान् ह्यस्य वधः। अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः पापकृतः। बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा। पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥११॥

भाष्यटीका

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥ (ऋ०५.८३.२)

वि **वृक्षान्** विविधं **हन्ति**। **उत** अपि च **हन्ति रक्षसो** रक्षांसि। **विश्वं** सर्वमस्माद् **बिभाय**। **भुवनं** त्रिभुवनं भूतजातं न केवलं हन्यमानानि रक्षांसि। स **महावधात्** महान् दृढो वधः प्रहारो यस्य तस्माद् दृढप्रहारादित्यर्थः। **उत**शब्दोऽपि चेत्यस्यार्थे। **अनागा** अनपराधोऽपि चास्माद् **ईषते** ईषति हन्तीति गतिकर्माणौ। **इह** भीतिपूर्विकायां गतौ पलायने वर्तते भीतः सन् पलायते गच्छतीति। **वृष्ण्यावतः** वृष्ण्यं वर्षकर्म बलं वा तेन तद्वतः। कदैतत् सर्वं भवति? उच्यते। **यत्** यदा **पर्जन्यः स्तनयन्** गर्जितलक्षणं शब्दं कुर्वन् अशनिपातै**र्हन्ति दुष्कृतः** पापकृतः पापकारिणः।

बृहस्पतिः। बृहतः पाता वाय्वात्मना शोषयिता भौमस्य रक्षिता वान्तरिक्षे रसस्य महतो जगतो वा। पिबतेर्वा ण्यन्तस्य। णिचि युगागमस्मरणादित्यभिप्रायः। अन्यथा धात्वन्यत्वमात्रं स्यात्। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या ध्यायस्य एकादशःखण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन् मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्। निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ (ऋ०१०.६८.८) अशनवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यत्। मत्स्यमिव दीन उदके निवसन्तम्। निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षात्। चमसः कस्मात्? चमन्त्यस्मिन्निति। बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य। ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः पाता वा। पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥१२॥

भाष्यटीका

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन् मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ (ऋ०१०.६८.८)

अयास्यस्य। **अश्ना 'अशू व्याप्तौ'** (धा०५.१८)। केन? सामर्थ्यान्मेघेन। **अपिनद्धम्। मधु** उदकम्। **परि** सर्वतोऽ**पश्यत्** दृष्टवान्। **मत्स्यं न** मत्स्यमिव यथा मत्स्यं **दीने** क्षीणे **उदनि** उदके। उदकस्यायमुदन्नादेशः सप्तम्येकवचने। उदके **क्षियन्तं** निवसन्तमपश्यत् तच्च दृष्ट्वा **निष्टज्जभार** निर्जहार निहृतवान् ततो मेघात्। **चमसं न** चमसमिव यथा तक्षा वृक्षं स्थं चमसं तद्वत्। कोऽसौ? **बृहस्पतिः**। **विरवेण** रवः शब्दो विविधशब्देन शब्दयित्रा। केन? सामर्थ्याद् वज्रेण **विकृत्य** मेघम्। भाष्ये त्वित्थंभूतलक्षणा तृतीया। विविधेन रवेण शब्देनेत्थं भूतं मेघं चमन्ति भक्षयन्त्यस्मिन्निति चमसः सोमपात्रम्।

ब्रह्मणस्पतिः। ब्रह्मणोऽन्नस्य वृष्टिप्रदानादिना पाता रक्षिता। धात्वन्यत्वमात्रम्। हविषो वा पाता रक्षिता। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

अश्मा॑स्यमव॒तं ब्रह्म॑ण॒स्पति॒र्मधु॑धारम॒भि यमोज॒सातृ॑णत्। तमे॒व विश्वे॑ पपिरे स्व॒र्दृशो॑ ब॒हु सा॒कं सि॑सिचु॒रुत्स॑मु॒द्रिणम्॥ (ऋ०२.२४.४) अशनवन्तमास्यन्दनवन्तम्। अवाततिं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारम्। अभि यमोजसा बलेनाभ्यतृणत्। तमेव सर्वे पिबन्ति रश्मयः सूर्यदृशः। बह्वेनं सह सिञ्चन्त्युत्सम्। उद्रिणमुदकवन्तम्॥१३॥

भाष्यटीका

अश्मा॑स्यमव॒तं ब्रह्म॑ण॒स्पति॒र्मधु॑धारम॒भि यमोज॒सातृ॑णत्।
तमे॒व विश्वे॑ पपिरे स्व॒र्दृशो॑ ब॒हु सा॒कं सि॑सिचु॒रुत्स॑मु॒द्रिणम्॥ (ऋ०२.२४.४)

गृत्समदस्य। अश्नोतेराङ्पूर्वस्य वा स्यन्देर्मनिन्डौ भावे औणदिकौ द्रष्टव्यौ ततश्चाकारो मत्वर्थे। तदाह भाष्यकारः। अशनवन्तमास्यन्दनवन्तमिति। व्याप्तारं स्थापितारं चेत्यर्थः। कम्? वक्ष्यमाणमुत्सम्। **अवतं** अवाततिमधोगतमात्मनोऽध: स्थितमित्यर्थः। **ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारं 'कर्मण्यण्'** (अष्टा०३.२.१) उदकस्य धारयितारम्। **अभी**त्ययमतृणदित्येतेन सम्बध्यते। **यमोजसा** बलेनाभ्य**तृणत्**। **'तृदि हिंसायाम्'** (धा०७.९)। अभिहिंसतवान्। अभिहिनस्ति। तमेव **विश्वे**। के? सामर्थ्याद्रश्मयः। **पपिरे** पीतवन्तः पिबन्ति वा। **स्वर्दृशः** स्वरादित्यस्तस्य द्रष्टारः। यच्च तत्प्रवापस्योदकस्य स्वीकरणं तदेव तस्य पानमुच्यते। पीत्वा च वर्षासु **बहु** उदकं **साकं** सह **सिसिचुः** सिञ्चन्ति। **उत्सं** मेघम्। द्वितीयाश्रुतेः प्रतीति शेषः। **उद्रिणमुदकवन्तम्**। तेनैवोदकेन भावितवन्तः।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य प्रथमः पादः।

॥अथ द्वितीय: पाद:॥

चतुर्दश: खण्ड:।

क्षेत्रस्य पति:। क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मण:। तस्य पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥१४॥

भाष्यटीका

क्षेत्रस्य पति:। 'प्रविभज्य निर्ब्रूयात्' (निरु०२.२) इत्याह **क्षेत्रम्**। क्षेत्रं कस्मात्? क्षियते:। निवसन्ति हि तेन हेतुभूतेन तत् क्षेत्रम्। **तस्य पाता वा पालयिता वेति** पति:। धात्वन्यत्वमात्रम्। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य चतुर्दश: खण्ड:।

अथ पञ्चदश: खण्ड:।

क्षेत्र॑स्य॒ पति॑ना व॒यं हि॒तेने॑व जयामसि। गामश्वं॑ पोषयि॒त्वा स नो॑ मृळाती॒दृशे॑॥ (ऋ०४.५७.१) क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयाम:। गामश्वं पुष्टं पोषयितृ चाहरेति। स नो मृळातीदृशे। बलेन वा धनेन वा। मृळातिर्दानकर्मा। तस्यैषापरा भवति॥१५॥

भाष्यटीका

क्षेत्र॑स्य॒ पति॑ना व॒यं हि॒तेने॑व जयामसि।
गामश्वं॑ पोषयि॒त्वा स नो॑ मृळाती॒दृशे॑॥ (ऋ०४.५७.१)

वामदेवस्य। परा च। आ इत्युपसर्गश्रुतेहरेति मध्यमपुरुषैकवचनान्तं क्रियापदमध्याहरता भाष्यकृता युक्तमत्राध्याहरणमिति प्रदर्शितम्। अतो वाक्यैकवाक्यत्वाय या क्षेत्रस्य पतिना सहानुगृह्यमाणा वेति वाक्यशेषाध्याहार:। **वयं हितेनेव** यथा हितेन केनचिन्मित्रेण कश्चित् तद्वज्जयेम शत्रूनिति। किञ्च **गामश्वं** गोजातमश्वजातं च **पोषयिलु** पोषयते: कर्मतद्धर्मत्वे इ अ च पोषणधर्मसामर्थ्यात् स्वयञ्च पुष्टमस्माकं च पोषयितृ इत्यर्थ:। आ हरेति शेष:। **स** च नोऽस्मान्। **मृळाति** मृडातिरुपदयाकर्मा। उपदया रक्षा। पूजाकर्मा वा। आशिषि लोडर्थे च पञ्चम: रक्षतु। केन? सामर्थ्याद् बलेन स्वेन। पूजयतु वा धनप्रदानेन। **ईदृशे** ईदृशाय कामाय ईदृशं कामं प्रापयितुमित्यर्थ:।

परा च वर्षकर्मश्रवणेन मध्यमत्वे हेतुर्भवतीत्याह। तस्यैषापरा भवति।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य पञ्चदश: खण्ड:।

अथ षोडशः खण्डः।

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ (ऋ०४.५७.२) क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयोऽस्मासु धुक्ष्वेति। मधुश्चुतं घृतमिवोदकं सुपूतम्। ऋतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृळयन्तु। मृळयतिरुपदयाकर्मा। पूजाकर्मा वा। तद्यत्समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्येकम्। मधुमन्तं मधुश्चुतमिति यथा। यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति। तज्जामि भवतीत्यपरम्। **हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्।** (ऋ०१०.१६६.५) इति यथा। यथाकथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्। **मण्डूका इवोदुकान्मण्डूका उदुकादिव।** (ऋ०१०.१६६.५) इति यथा। वास्तोष्पतिः। वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः। तस्य पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥१६॥

भाष्यटीका

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ (ऋ०४.५७.२)

हे **क्षेत्रस्य पते मधुमन्तं** मधूदकं भूम्नि मतुप् बहुनोदकेन तद्वन्तम्। रसवचनो वा मधु स्वादुतमम्। **ऊर्मिमुदकसंघातम्। धेनुरिव** यथा धेनुः **पयः** क्षीरं धार्यते तद्वदस्मासु निमित्तभूतेषु **धुक्ष्व** क्षारय। कम्? सामर्थ्यान्मेघम्। द्विकर्मको हि दुहिः। कीदृशम्? **मधुश्चुतं** मधु स्वादु स्यात् स्वादूदकस्य क्षरितारम्। कीदृशम्? **घृतमिव** याज्ञे कर्मणि। **सुपूतं** पवित्रं निर्मलं चेति भावः। किञ्च य एते त्वदनुचरा माध्यमिका देवगणा मरुदादय **ऋतस्योदकस्य पतयः** पातारस्ते च नोऽस्मान्नित्यमेव **मृडयन्तु** सुखं ददतु सुखयन्त्वित्यर्थः।

अतः परं मधुश्चुतं मधुमन्तमिति प्रसक्तं पुनरुक्तविचारमाचार्यमतभेदेनारभते। जामित्वं च त्रिविधं दृश्यते। एकं तावत् शब्दतोऽर्थतश्च **'मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति'** (ऋ०१.१२९.६) इति। प्रतिविधानासम्भवाद् यत्रेदमुच्यते **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** (निरु०१०.४२) इति। अन्यत्तु शब्दपुनरुक्तम्। तस्य तद्यमकस्थानीयम्। अर्थभेदादपुनरुक्तमेव। **'अजाश्च श्रवस्यतामजाश्च'** (ऋ०१.१३८.४) इति यथा। आह च

तुल्यश्रुतीनां......................अभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निरुच्यते॥ (मूलमनुपलब्धम्)

इति। यत्र त्वर्थपुनरुक्तं किञ्चित्समानश्रुतिवर्णं तत्रायं विचारः। तद्यत्सामान्यानामिति प्राप्ते छन्दोवत् कल्प्यते भाष्यकारः। एकस्यामृचि समानाभिव्याहारः समानमभिव्याहरत्यर्धर्चभेदेन। यथास्यामृचि। मधुश्चुद्यो मधुमानप्यसौ भवति। न ह्यमधुश्च्योतनमवकल्पते। तज्जामीत्येकं मतम्। तत्समानपादगतं च जामीत्यपरं मतम्। इतरत्रार्धर्चावसाने पदान्तरव्यवहितपूर्वपदस्मृत्यनुसन्धानार्थतया सप्रयोजनमेवेत्यपुनरुक्तम्। यत्रैकस्मिन् पादे

यत्रैतदपि नास्ति स्मृतिविच्छेद इति तदेव जामीति मतान्तरम्। उदाहरणम् '**हिरण्यरूपः**' (ऋ०२.३५.१०) इति यथा। यो हिरण्यरूपः सोऽवश्यं हिरण्यमिव सन्दृश्यते।

यथा कथा च शब्दो निपातः '**यथा कथा च हस्ताभ्याम्**' (अष्टा०५.१.९८) इति भिन्नप्रकृतित्वेन स्मरणात्। यथा कथञ्चिदित्यल्पो विशेषः। **अजाम्यपुनरुक्तं** भवतीत्यपरं दर्शनम्। एतदुक्तं भवति। प्रकृतवाक्यार्थपरिसमासौ पुनः श्रुतिर्गत्यन्तराभावात् पदपूरणार्था हि कल्प्यते। तत्र सत्यं गतौ च यथा कथा चेति। नास्मात्परं दर्शनमस्तीत्यपरं भाष्यकार उदाहरणेन स्वमतं दर्शयति।

मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव। (ऋ०१०.१६६.५)

इति। यथाशक्ति सर्वत्र विशेषो वक्तव्य इति भावः।

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।

अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥ (ऋ०१०.१६६.५)

ऋषभस्य। शत्रव उच्यन्ते। अलब्धलाभो योगः। लब्धस्य रक्षणं क्षेमः। **योगक्षेमं** च **वो** युष्माकं स्वभूत**मादाय**ात्मानं यत्नीकृत्येत्यर्थः। **अहं भूयासमुत्तमः**। आकार क्रमिन सम्बध्यः। पादयोश्च पतेतां **वो** युष्माकं **मूर्धानमक्रमीम्** आक्रमिष्यामीत्यर्थः। **अधस्पदात्** अधश्च पादयोर्मे पयः प्रदेशस्तस्मात् प्रसादाकाङ्क्षया मन्मुखं निरीक्षमाणा यूयमुद्वदत ऊर्ध्वं वदत **मण्डूका इवोदकात्। मण्डूका उदकादिवेति** पुनरुपमानश्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् ततो जीवतेति शेषः। यथा मण्डूका उदकाज्जीवन्ति .... वन्यार्थं कुतश्चित्स्वातन्त्र्येणेति। एवमजामित्वं पूर्वयोरपि भवति। कश्चिन्मधुमात्र मधु अण्वपि श्च्योतति। तत्र मधुना बहुना तद्वान्। तथा हिरण्यरूपश्च न प्रियदर्शनः। प्रियदर्शनश्च कश्चन न हिरण्यरूप इति।

वास्तोष्पतिः। निर्ब्रवीति वास्तुर्वसतेः '**वसेरगारे णिच्च**' (उणा०१.७०) इति। सामर्थ्यात्तच्च वास्त्वन्तरिक्षम्। तस्य पाता अधिष्ठातृत्वेन।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य षोडशः खण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः॥ (ऋ०७.५५.१)

अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन्। सखा नः सुसुखो भव। शेव (निघं०३.६.१७) इति सुखनाम। शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः। शिवम् (निघं०३.६.१८) इत्यप्यस्य भवति। यद्यद् रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति। **रूपंरूपं मघवा बोभवीति (ऋ०३.५३.८)** इत्यपि निगमो भवति। वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥१७॥

भाष्यटीका

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।

सखा॑ सु॒शेव॑ एधि नः॥ (ऋ०७.५५.१)

वसिष्ठस्य। अमीवा हिंसिता सर्पादी रोगो वा तस्य हन्ता **'बहुलं छन्दसि'** (पा०३.२.८८) इति क्विप्। हे **वास्तोष्पते विश्वा** सर्वाणि **रूपाणि** यैः सो हन्यते नकुलबिडालादिरूपैः। ओषध्यादिरूपैर्वा तानि। **आविशन्** आविशमानो जहि तमित्यर्थः। **सखा** च **सुशेवः** सुसुखः। **एधि** भव **नो**ऽस्माकम्।

अमीवाभ्यमनमिति पर्यायवचनम्। शेवः शिष्यतेर्वकारो नामकरणः। शिष इत्यस्य पुनरन्तस्थान्तरोपलिङ्गी। अस्य धातोरन्ते स्थितः षकारस्तस्यान्तरं स्थानं लिङ्गी एवं शीलः। षकारस्थाने वकारः प्रविशतीत्यर्थः। विभाषितगुणत्वाच्च शिवोऽपि सिद्धः। **'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा'** (उणा०१.१५३) इति निपातनाद्वैयाकरणाः। अन्तस्थशब्दः क्रियावाची न यरलववाची।

विश्वरूपावेशप्रतिपादनायाह। यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता ऐश्वर्यवशाद् भवति। तथा च मन्त्रान्तरम्।

रू॒पंरू॑पं म॒घवा॑ बोभवीति मा॒याः कृ॑ण्वा॒नस्त॒न्वं१॒॑ परि॒ स्वाम्।

त्रिर्यद्दि॒वः परि॑ मुहू॒र्तमागा॒त् स्वैर्मन्त्रै॒रनृ॑तुपा ऋ॒तावा॑॥ (ऋ०३.५३.८)

विश्वामित्रस्य। यत्किञ्चित् प्राणिनो वा सर्वमिन्द्रो **बोभवीति** पुनः पुनर्भवति प्रतिपद्यत इत्यर्थः। **माया** प्रजास्तास्ताः **कृण्वानः** कुर्वन्। यद्वा कृण्वति कृन्ततीति कृतेर्हिंसार्थस्य रूपम्। माया अप्यसत्वान्नामसुराणां हिंसन्। **तन्वं** शरीरलक्षणम्। **परिः** प्रतिना समानार्थः प्रतिस्वामात्मीयां स्वां स्वां तनुमित्यर्थः। **त्रिर्यत्** व्यत्ययेन नपुंसकं यः। **दिवो** द्युलोकात्। **परि मुहूर्तं** प्रत्येकेन मुहूर्तेनेत्यर्थः। स्वभूतां यजमानानां यागसिद्ध्यर्थ**मागात्** आगच्छति। **स्वैर्मन्त्रै**राहूयमानः स्तूयमानो वेति शेषः। ऋतुकालो वसन्तादिः। अनृतावकालेऽपि **'यदहरेनं श्रद्धोपनमति'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्येवं यदैव दीयते तदैव पाता सोमस्य। **ऋतावा** ऋतं सत्यमुदकं यज्ञो वा तैस्तद्वानिति।

वाचस्पतिः प्रणात्मनेन्द्रः। **'स हि तया द्वैपुरुषो वा मनागन्तुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति'** इत्येवं प्राणः। यज्ञेन वाचः सम्भवात् प्राणस्य वाग्रूपतया व्यवस्थानात् प्राणो वाचः पातेति व्यपदिश्यते। तथा च **'वाग्वा इन्द्रः'** (कौ०ब्रा०२.७.१३.५) इति श्रूयते। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः।

अथ अष्टादशः खण्डः।

पु॒नरेहि॑ वाचस्पते दे॒वेन॒ मन॑सा स॒ह। वसो॑ष्पते॒ नि रा॑मय॒ मय्ये॒व त॒न्वं१॒॑ मम॑॥ (तु०अथर्व०१.१.२; मै०सं०४.१२.१) इति सा निगदव्याख्याता। अपांनपात् तनूनप्त्रा व्याख्यातः (निरु०८.५)। तस्यैषा भवति॥१८॥

भाष्यटीका

पु॒नरेहि॑ वाचस्पते दे॒वेन॒ मन॑सा स॒ह।

वसो॑ष्पते॒ नि रा॑मय॒ मय्ये॒व त॒न्वं१॒॑ मम॑॥ (तु०अथर्व०१.१.२; मै०सं०४.१२.१)

कृतपाप्मा अतः सम्बन्धादपगतप्राणमिवात्मानं मन्यमानः कृतनिर्णेजनः सन्नाह। पुनरेवागच्छ हे **वाचस्पते प्राण**। **देवेन** द्योतनात् सर्वविशेषाणां द्योतयित्रा **मनसा सह**। हे **वास्तोष्पते** धनस्यान्नाख्यस्य स्वामिन्। आह च **'प्राणस्यान्नमिदं सर्वम्'** (महा०शान्ति०१५.२२) इत्यादि। **निरामय** नियमेन रमय त्वम्। **मय्येव** ममान्तरेव निषीद। तन्वं तनुं शरीरं मम स्वभूतं चिरं मा जीवय मा शीघ्रं मिमर इत्यर्थः। इति निगदव्याख्याता।

अपां नपात् मध्यमः। अद्भ्य आदित्य आदित्यादयम्। अपि च **'यदा वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः'** (तै०सं०२.४.१०) इत्येवमस्यादित्याज्जातत्वम्। तत्र मध्यमो जात इति। एवमयं तनूनप्त्रा व्याख्यातः, तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथ एकोनविंशः खण्डः।

यो अ॑नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्व१॒॑न्तर्यं विप्रा॑स॒ ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑। अपां॑ नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑य॥ (ऋ०१०.३०.४) योऽनिध्मो दीदयद् दीप्यतेऽभ्यन्तरमप्सु। यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु। सोऽपांनपान्मधुमतीरपो देह्यभिषवाय। याभिरिन्द्रो वर्धते। वीर्याय वीरकर्मणे। यमो यच्छतीति सतः। तस्यैषा भवति॥१९॥

भाष्यटीका

यो अ॑नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्व१॒॑न्तर्यं विप्रा॑स॒ ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑।

अपां॑ नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑य॥ (ऋ०१०.३०.४)

कवषस्य। इन्धनवर्जितो **दीदयत्** दीप्यते। **अप्स्वन्तो**ऽपां मेघस्थानां मध्ये। यञ्च भवन्तं **विप्रासो** मेधाविन **ईळते** स्तुवन्ति **अध्वरेषु**। यच्छ्रुतेः स त्वं पुनर्हे **अपां नपात्** अपां पौत्र **मधुमतीर्**मधुस्वादुयुक्ता वृष्टिलक्षणा **अपो दा** देहि। **याभि**र्वसतीवर्येकधाना लक्षणाभिर्मिश्रिताभिः सोमेन **इन्द्रो वावृधे** वर्धते **वीर्याय** वीरकर्मणे वृत्रवधादिकाय। अभिषवायेत्यर्थप्राप्तवचनम्।

यमो मध्यस्थानो वायुरित्युक्तम्। स च शरीरिणां वाय्वादिमहाभूतात्मकत्वात् सर्वजातिं प्रति प्राप्तः। सर्वजातिशरीरेषु विद्यत इत्यर्थः। अत उच्यते।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः।

अथ विंशः खण्डः।

प॒रे॒यि॒वांसं॑ प्र॒वतो॑ म॒हीरनु॑ ब॒हुभ्यः॒ पन्था॑मनुपस्पशा॒नम्। वै॒व॒स्व॒तं सं॒गम॑नं॒ जना॑नां य॒मं राजा॑नं ह॒विषा॑ दुवस्य॥ (ऋ०१०.१४.१) परेयिवांसं पर्यागतवन्तम्। प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा। बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पाशयमानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्। यमं राजानं हविषा दुवस्येति। दुवस्यती राध्नोतिकर्मा। अग्निरपि यम उच्यते। तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति॥२०॥

भाष्यटीका

परेयिवाँसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ (ऋ०१०.१४.१)

परोयिवांसं पर्यागतवन्तं प्राप्तवन्तमित्यर्थः। **प्रवतः।** कान् **प्रवतः 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे'** (अष्टा०५.१.११८) इत्येवं वतिस्ततो बहुवचनम्। प्रकृष्टेन गमनेन तद्वतीः प्रकृष्टगतीरित्यर्थः। पुनस्ता मनुष्यजातीः। प्रदर्शनार्थं ग्रहणम्। उद्वतश्च देवजातीः। निवतश्च तिर्यग्जातीः। **मही** महतीः। **'अनुर्लक्षणे'** (अष्टा०१.४.८३) कर्मप्रवचनीयः प्रतिना समानार्थः। ताः प्रति। **बहुभ्यस्तादर्थ्ये (चतुर्थी)।** निवृत्त्या च तादर्थ्यम्। मशकार्थो धूम इतिवत्। अतोऽयमर्थः। बहूनां प्राणिनां निवृत्त्यर्थं मरणार्थमित्यर्थः। वृथा जीवितलक्षणानामेषां पन्थानम**नुपस्पशानं** अनुर्निशब्दार्थो निबध्नन्तं निरुध्यन्तमित्यर्थः। वायुर्हि प्राणरूपः शरीरात् स्वयमुत्क्रामन्निरुणद्धि जीवितम्। **वैवस्वतं** विवस्वत आदित्यस्यापत्यभूतं मध्यमम्। **सङ्गमनं** सम्यग्गतिं गमयितारं **जनानां यमं राजान**मीश्वरं **हविषा दुवस्य** परिचर। आप्नुहि यज्ञान् हे वायो अन्तरात्मन् यजमान वा।

अग्निरपीत्यादिविचारोपन्यासो मन्ये मनस्यग्न्यादिरूपोऽयमस्य मध्यमस्थानस्य व्यभिचारनिवृत्त्यर्थः। तमग्निमेता वक्ष्यमाणा ऋचः। तासु यजमानत्वाद् यमशब्देनाग्निरुच्यते प्रयच्छति स्तोतृभ्यः कामानिति।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथ एकविंशः खण्डः।

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका। यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥ तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्॥ (ऋ०१.६६.४-५) इति द्विपदाः। सेनेव सृष्टा भयं वा बलं वा। दधाति। अस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका भयप्रतीका बलप्रतीका यशःप्रतीका महाप्रतीका दीप्तप्रतीका वा। **यमो ह जात इन्द्रेण सह संगतः। (मूलमनुपलब्धम्) यमाविहेह मातरा॥ (ऋ०६.५९.२)** इत्यपि निगमो भवति। यम इव जातः। यमो जनिष्यमाणः। जारः कनीनां जरयिता कन्यानाम्। पतिर्जनीनाम्। पालयिता जायानाम्। तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति। **तृतीयो अग्निष्टे पतिः॥ (ऋ०१०.८५.४०)** इत्यपि निगमो भवति। तं वः। चराथा चरन्त्या। पश्वाहुत्या। वसत्या च। निवसन्त्या। औषधाहुत्या। अस्तं यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयाम। इद्धं समृद्धं भोगैः। मित्रः प्रमीतेस्त्रायते। संमिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा। तस्यैषा भवति॥२१॥

भाष्यटीका

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका।

यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥

तं वंश्चराथा वयं वंसत्यास्तं न गावो नक्षंन्त इद्धम्।। (ऋ०१.६६.४-५)

पराशरस्य। **सेनेव** यथा सेना सेनापतिना सृष्टाऽवसृष्टाऽभ्यनुज्ञाता सतो यान् प्रति गच्छति तेषां भयं दधाति। एवमभिप्रज्वलितोऽग्निरपि अयं अमशब्दोऽत्र भयवाची। **'न्यावा जज्ञानः पृथिवी अमेधा'** (मूलमनुपलब्धम्) इति यथा। भयं दधाति जनयतीत्यर्थः। ....स्य निर्देशात् कृत्स्नस्य जगतो रक्षसां वा। बलवाची वामशब्दः बलमादधाति। **अस्तुर्न दिद्युत्** इदमपि भयाधानस्यैव द्वितीयमुपमानम्। दिद्युदिति वज्रनाम। वज्रनामानि त्वायुधमात्रवचनान्येव। तेनात्र दिद्युत् शक्तिरभिमता। यथा चास्तुः क्षेपणशीलस्य स्वभूता शक्तिः शत्रुं प्रतिक्षिप्यते तथास्य भयं दधाति तद्वत्। कीदृशी शक्तिः? **त्वेषप्रतीका** प्रतीकं दर्शनमुच्यते **'त्विष दीप्तौ'** (धा०१.१०२६) दीप्तदर्शनोज्ज्वलेत्यर्थः। भयवाची वा त्वेषशब्दः। भयदर्शना भयानकेत्यर्थः। महत्वचनो वा त्वेषशब्दो महादर्शना। **यमो ह जातः** युगपज्जातत्वाद् यमोऽत्राग्निरुच्यते। केन पुनः सहाग्निर्युगपज्जातः? इन्द्रेण। कुत एतत्? ब्राह्मणमन्त्रनिगमात्। ब्राह्मणं तावत् **'यमो ह जातः'** (ऋ०१.६६.४) इन्द्रेण सह सङ्गतः। युगपदित्यर्थः। मन्त्रञ्च **'यमाविहेह'** (ऋ०६.५९.२) इत्यस्य शेषः।

बळित्था मंहिमा वामिन्द्राग्नी पनिंष्ठ आ।

समानो वां जनिता भ्रांतरा युवं यमाविहेहं मातरा।। (ऋ०६.५९.२)

भरद्वाजस्य। **बळित्थेति** द्वे अपि सत्यनामनी **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** (निरु०१०.४२) इति। अथ भूयस्त्वेनापौनरुक्त्यम्। सत्यम्। **महिमा** माहात्म्यम्। **वां** युवां युवयोः। **इन्द्राग्नी पनिष्ठ 'पण व्यवहारे स्तुतौ च'** (धा०१.४४०) अतिशयेन स्तुत्य इत्यर्थः। **आकारः** समुच्चये वा **'देवेभ्यंश्च पितृभ्य आ'** (ऋग्०१०.१६.११; निरु०१.४) इति वत्। अहरपेक्षया च समुच्चयः। महत्त्वं चातिशयेन स्तुत्यं च। **समानश्च वां** युवयो**र्जनिता** जनयिता आदित्यः प्रजापतिर्वा। ततश्च समानपितृकत्वाद् भ्रातरौ युवाम्। न च क्रमजन्मानौ। किन्तर्हि? **यमौ** युगपज्जन्मानौ। **इहेह मातरौ** इहप्रदेशे मातरौ ययोस्ताविहेह मातराविति। इहेह इति च वीप्सा सन्निहिताशेषजगत्प्रदेशप्रतिनिर्देशार्था। सर्वजगत्प्रदेशमातरावित्यर्थः। माता चेन्द्राग्न्योर्धाना सर्वजगत्प्रकृतित्वात्। अदितिर्वा देवमातृत्वात्। तौ चोभावपि सर्वत आत्मनः सर्वगतत्वात् , अदितिर्देवमाता अग्नेरिन्द्रेण सह जायमानत्वाद् दर्शनाद् यमोऽग्निः।

अथवा प्रयच्छति स्तोतृभ्यः कामानिति **यमः**। हेति विनिग्रहार्थे। यम एव **जातो** यम एव **जनित्वं** कृत्यार्थे व्यत्ययेन कर्तरि **'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः'** (अष्टा०३.४.१४) इति भविष्यति त्वन्प्रत्ययः। जातं जनिष्यमाणं यत्किञ्चित् तत्सर्वमग्न्यायत्तत्वादग्निरेवेत्यर्थः। किञ्च **जारः कनीनां** जरयिता कन्यानाम्। अग्निसन्निधौ व्यूढानां कन्यात्वं व्यावर्तते। एतदत उच्यते जारः कनीनामिति। **पतिर्जनीनां** जनयो भार्यास्तासां पतिः। सर्वस्याः स्त्री प्रथममग्निः। पश्चान्मनुष्यः। पालयितृवाची वा पालयिता च युद्धयज्ञसंयोगेनावाम्। .... तत्परत्वादग्नेः पतित्वे निगमं दर्शयति।

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विंविद उत्तरः।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।। (ऋ०१०.८५.४०)

सूर्यायाः। वधूरुह्यमानोच्यते। **प्रथमो**ऽनुपजातपुरुषसम्भोगेच्छावस्थां त्वां **विविदे** विन्नवान् लब्धवान् परिगृहीतवानित्यर्थः। ततो **गन्धर्वो** विश्वावसुर्नाम **विविदे** ईषदुपजातपुरुषसम्भोगेच्छावस्थां त्वामु**त्तरः** सोमात्। **तृतीय** उद्वाहकाले **अग्निः**। तत ऊर्ध्वमूढाया सत्यास्**तुरीयश्**चतुर्थस्**ते** पति**र्मनुष्यजाः**। यस्मात् पितृमनुष्याज्जात इति।

146374 ... डी विश्वविद्यालय

'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' इति च पठन्ति। तेषामिदमुदाहरणम्।

सोमो॑ दद॒द् गन्ध॒र्वाय॑ गन्ध॒र्वो द॑द॒दुग्नये॑।

र॒यिं च॑ पु॒त्राँश्चा॑दादु॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम्॥ (ऋ०१०.८५.४१)

सोमः प्रथमं भुक्त्वा **ददत्** अडभावह्रस्वत्वे लङि अददात् दत्तवान् **गन्धर्वाय** विश्वावसवे। स चाग्नये दत्तवान्। **रयिञ्च पुत्रांश्चादात्** दत्तवान्। **अग्निरपि मह्यमथो इमाम**ग्निर्वधूम्। एवं मन्त्रदर्शनाज्जायानां भवत्येषाग्निः पतिः स परयोच्यते।

तं वश्चराथा य एवमुक्तगुणस्तं व इति व्यत्ययेन त्वामिति त्वां चराथाः। चरतीति चरथः पशुस्तत्प्रभवा हृदयाद्यवदानाहुतिरपि करणधर्मैः कार्याणामपदेशनाच्चरथेत्युच्यते। तृतीयाया आकारः। चराथा चराथया **वयं वसत्या** वसतीति वसतिः स्थावररूपा व्रीहियवाद्योषधिः। तत्प्रभवा पुरोडाशाद्याहुतिरपि वसतिस्तया च। तदाह भाष्यकृत्। चरन्त्या पश्वाहुत्या वसत्या निवसन्त्यौषध्याहुत्येति। पश्वाहुत्या पुरोडाशाहुत्या चेत्यर्थः। **अस्तं न गावो**ऽस्तमिति गृहनाम। यथा गृहं गावो व्याप्नुवन्ति उपगच्छन्ति वा तद्वत्। नक्षन्ते **'इन्वति नक्षति'** (निघ०२.१८) इति व्याप्तिकर्मा उत्तमस्थाने प्रथमः। नक्षेमहि व्याप्नुयाम इत्येतदाशास्महे। अथवा **'तृक्षस्तृक्षणक्ष गतौ'** (धा०१.६६१-६३) शुद्धोऽपीह सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। **इद्धं** आहवनीयात्मना दीप्तं सन्तम्। भाष्ये तु इद्धमिति गृहविशेषणं भोगसमृद्धं गृहं गोभक्तादिलिङ्गम्। गावो नक्षन्ते। द्विपदा इति वाक्यभेदाभिप्रायम्।

मित्रः कस्मात्। **प्रमीतेः** प्रमीतिः प्रमरणं ततः प्रमरणाद् वृष्टिद्वारेण **त्रायते। संमिन्वानो द्रवतीति वा 'डुमिञ् प्रक्षेपणे'** (धा०५.४) सम्यक् प्रक्षिपन् वृष्टिम्। विधिमिव सेचेते वा सम्यक् सिञ्चन् द्रवत्यन्तरिक्षे। **मेदयतेर्वा** स्नेहनार्थस्य सर्वमसावुदकेन स्नेहयति। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)-ध्यायस्य एकविंशः खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

मित्रः प्रमीतेस्त्रायते। संमिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा। तस्यैषा भवति॥२१॥ **मि॒त्रो जना॑न्यातयति ब्रुवा॒णो मि॒त्रो दा॑धार पृथि॒वीमु॒त द्याम्। मि॒त्रः कृ॒ष्टीरनि॑मिषा॒भि च॑ष्टे मि॒त्राय॑ ह॒व्यं घृ॒तव॑ज्जुहोत॥ (ऋ०३.५९.१)** मित्रो जनानायातयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्। मित्र एव धारयति पृथिवीं च दिवं च। मित्रः कृष्टीरनिमिषन्नभिविपश्यतीति। कृष्टय (निघं०२.३.७) इति मनुष्यनाम। कर्मवन्तो भवन्ति। विकृष्टदेहा वा। मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत इति व्याख्यातम्। जुहोतिः दानकर्मा। कः कमनो वा। क्रमणो वा। सुखो वा। तस्यैषा भवति॥२२॥

भाष्यटीका

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥ (ऋ०३.५९.१)

मित्रो **जनान्** कर्षकजनान् **यातयति** **'यती प्रयत्ने'** (धा०१.३०) कृष्यादिकर्मसु प्रयत्नं कारयति। **ब्रुवाणः** शब्दं स्तनयित्नुलक्षणं कुर्वन्। **मित्र** एव **दाधार** वृष्टिप्रदानद्वारेणान्नं यागंश्च जनयन् धारयति पृथिवीं द्युलोकमपि। कृष्टयो मनुष्याः। **मित्र** एव मनुष्याननिनिमिषा अनिमेषेण सततमित्यर्थः। यत्नानुग्राह्यतयाऽ**भिचष्टे** पश्यति। अत एतज्ज्ञात्वा हे ऋत्विजः पुत्रपौत्रा वा मित्राय **हव्यं** चर्वादि हविः। **घृतवत्** घृतसंयुक्तं जुहुत।

कृष्टय इति मनुष्यनाम। कर्म यतो भवतीति। **'नैव कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता-३.५) इत्याह। **कर्मवन्तो भवन्तीति विकृष्टदेहा** वा विविधं कृष्टो विक्षिप्तः परिकण्डूयनाद्यभिलषितक्रियानुष्ठानसमर्थो देहो येषाम्। तेन पश्वादयस्तु न कामतः कण्डूयनादिसमर्थाः। तदपेक्षया विकृष्टदेहत्वम्। मित्रायेति व्याख्यातमिति स्वनिगदव्याख्यातमित्यर्थः।

कः कस्मात्? कमनात्। कमनो वेनामितकुतमिति श्रुतेः। **'प्रजापतिरकामयत'** (ता०ब्रा०६.१.१) इति बहुकामत्वात् कः। क्रमणो वा क्रामत्यन्तरिक्षे। यद्वा कमिति सुखनाम। अत एवाह **सुखो वेति**। सुखो वा वृष्टिप्रदानादिना। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (ऋ०१०.१२१.१) हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा। यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति। समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव। स धारयति पृथिवीं च दिवं च। कस्मै देवाय हविषा विधेम इति व्याख्यातम्। विधतिर्दानकर्मा। सरस्वान् व्याख्यातः (निरु०९.२६)। तस्यैषा भवति॥ २३॥

भाष्यटीका

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (ऋ०१०.१२१.१)

हिरण्यगर्भस्य। हिरण्यश्चासौ गर्भश्चेति प्रजापतिस्तत्पुरुषः। अथवा हिरण्यं गर्भोऽस्येति बहुव्रीहिः। हिरण्यगर्भः **समवर्तत** संवृत्त उत्पन्न इत्यर्थः। **अग्रे** सर्वस्मादन्यस्मात् प्रथमम्। किं कारणम्? वृष्टेर्हिरण्यगर्भाधीनत्वात्। वृष्ट्यधीनत्वाच्चान्यस्य सर्वस्य स एव प्रथममजायत। स च भूतजातस्य सर्वस्य **जात** उत्पन्नः सन् वृष्टिप्रदानद्वारेण **पतिः** पालयिता। **एकः** एक एवासीत्। केवलमासीदेव। किन्तर्हि? **स** एवेदानीमपि

दाधार वृष्टिद्वारेणान्नं यागांश्च जनयन् धारयति। **पृथिवीमि**त्यन्तरिक्षनाम। **द्यां** द्युलोकम्। **उतेमामिमां** च **पृथिवीं** प्रत्यक्षं साभिनयमपदिशति। अत एतज्ज्ञात्वा कस्मै प्रजापतये **देवाय हविषा** हविरिति। विदधातिर्दानार्थः। हविः दद्याम। चतुर्थी वा द्वितीयार्थे। विदधातिः परिचर्यायाम्। कं देवं हविषा परिचराम।

विग्रहप्रसक्तं गर्भशब्दं निराह सामान्येन ग्रहेः। **'ग्रह उपादाने'** (धा०९.६१) इति वा कृतसम्प्रसारणस्य। ग्रहणं गर्भः। **गृभेरिति गृणात्यर्थे** वर्तमानस्येति वर्णव्यापत्त्या गर्भः प्रधानम्। प्राधान्यादेव च स्तुत्यो गर्भः। अनर्थानामलाभहेतुः सन्। इदनीं स्त्रीगर्भं प्रति विशेषमाह। **'यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते'** नोच्यन्ते। ग्रहणं मिश्रीकरणम्। आत्मना मिश्रीकरोति। गुणश्चास्यास्त्वगादिभाविविकारप्रकृतित्वेनावस्थितो अवयवभेदोपहितभेदाः शोणितरूपाः पुरुषबीजेन गृह्यन्ते आत्मना मिश्रीक्रियन्ते। एतदुक्तं भवति। स्त्रीपुंसावयवभूतयो रक्तरेतसोः परस्परसंमूर्च्छनानन्तरं गर्भो भवति। गृहेरेव गर्भ इति भावः। अथवा गुणा इति प्रथमप्रमोदानुरागवशाद् गुणवत्तया परस्परानुध्यानं गुणग्रहणमत्राभिप्रेतम्। तथा प्रीतिपूर्वात् तत्प्रमोदाभिगमः। आह च-

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।

अप्रमोदात्पुनः पुंस प्रजनं न प्रवर्तते॥ (मनु०३.६१; महा०अनु०४६.४) इति।

सरस्वान् व्याख्यातः सरस्वत्या। सर इत्युदकनामेति। लिङ्गभेदः केवलम्। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

ये ते॑ सरस्व ऊ॒र्मयो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुत॑ः। तेभि॑र्नो॑ऽवि॒ता भ॑व॥ (ऋ०७.९६.५) इति सा निगदव्याख्याता॥ २४॥

भाष्यटीका

ये ते॑ सरस्व ऊ॒र्मयो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुत॑ः।
तेभि॑र्नो॑ऽवि॒ता भ॑व॥ (ऋ०७.९६.५)

वसिष्ठस्य। छान्दसं रूपं हे **सरस्वन् ये ते** तव **ऊर्मयः** कल्लोलाः। उदकस्य सामर्थ्यात्। **मधुमन्तः** स्वादुयुक्ताः। **घृतश्चुतः** घृतमिव क्षरितारः। अथवा ऊर्णोतेरूर्मयो मेघाः। ये ते तव हे सरस्वन् ऊर्मय आच्छादयितारोऽनर्थानामभावहेतवः कृत्स्नस्य नभसो मेघाः। मधुमन्तो मधूदकवन्तः। घृतमित्युदकनाम। उदकस्य। क्षरितारः। **तेभिस्तैर्नोऽ**स्माकम**विता** वर्षिता रक्षिता वा **भवे**ति। एवं सरस्वान् निगदव्याख्याता।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये पञ्चदशस्य (दशमस्याध्यायस्य) द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयः पादः।

पञ्चविंशः खण्डः।

विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता। तस्यैषा भवति॥ २५॥

विश्वकर्मा मध्यस्थानो वायुवृष्टिद्वारेणावस्थितः शम्बरः। सर्वचेष्टानां तल्लीनत्वात् सर्वस्य कर्ता। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः॥ (ऋ० १०.८२.२) विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम्। तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा। अद्भिः सह सम्मोदन्ते। यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि। तेभ्यः पर आदित्यः। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम्। एषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा। अन्नेन सह सम्मोदन्ते। यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाणि। एभ्यः पर आत्मा। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे। तत्रेतिहासममाचक्षते। विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्भवति। **य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्॥ (ऋ० १०.८१.१)** इति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ २६॥

भाष्यटीका

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः॥ (ऋ० १०.८२.२)

भौवनस्य विश्वकर्मण आर्षमिदम्। परे च। स हि **विश्वकर्मा** वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्ता मध्यमः। **विमना** विविधं भूतजातमुत्पन्नं मनो यस्य सः। **आत्** अप्यर्थे। **विहाय** महन्नामेदम्। अपि च महान् **धाता विधाता** दधातेर्दानार्थस्य रूपद्वयं दाता वृष्ट्युदकस्य विभागेन च दाता अदृष्टकारितेन च। अथवा वृष्टिद्वारेणोत्पादयिता सर्वस्य। उत्पाद्य च स्थितेरप्यस्य विधाता। प्रथमैकवचनस्याकारः। **परम उतापि** परमश्च **सन्दृक्** सम्यक् प्रविभागेन द्रष्टा। परस्तात् तेषामिति तच्छ्रुतेर्येषामध्याहारः। कस्यायमपदेशः? सामर्थ्याज्जनानाम्। येषां भूतानां द्रष्टा **तेषामिष्टानि** प्रियाणि। कानि पुनस्तानि। भौमलक्षणान्युदकानि। अथवा इषिर्गत्यर्थोऽनुमानार्थो वा नमेर्वार्थे। तेषां सम्बन्धीनि गतान्यादित्यमण्डलम्। अनुमानानि वादित्येन। प्रह्वीभूतानि वादित्यमण्डलेऽनुप्रविष्टानीत्यर्थः। तानि **समिषा मदन्ति** सह मोदन्ते एकीभवन्ति। एकेन सुषमिषा अन्नभूतेनादित्यस्य पूर्वस्थितोदकेन सह। क्व? **यत्र** यस्मिन्नादित्यमण्डले **सप्तर्षीन्** ऋषिशब्देनात्र दर्शनाद् रश्मय उच्यन्ते। प्रथमार्थे द्वितीया सप्तसंख्याका ऋषयो

रश्मयः। **परः** परश्चाधिष्ठाता आदित्यः। तच्चैतत् सर्वमुदकमण्डलं रश्मीन् परञ्चादित्य**मेकमविभक्तमाहुः**। के ते? ब्राह्मणास्तत्त्वविदः। आदित्यस्य वोदकादित्वेनावस्थानात्। तदुक्तम्। **'आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वमात्मायुधमात्मैर्वात्मा सर्वदेवस्य महिमा'** (निरु०७.५) इति निरुक्तपक्षः।

अथाध्यात्मं तु- विश्वकर्मा क्षेत्रं चात्मा स विमनाः। अपि च महान् व्याप्ता सर्वस्य। विधाता विभागेन दाता शुभानामशुभानां च। इन्द्रियशक्तिक्षेपस्य वा। परश्च सम्यग्द्रष्टा शब्दादीनां सुखादीनां च प्रकाशयिता येषामिन्द्रियाणां तेषाम्। कानि पुनस्तानि? प्रकाश्यः शब्दादयः सुखादीनि च सामर्थ्यात् तानीन्द्रियाणामिष्टानीत्यादि पूर्ववद्योज्यम्। तानि इषा अन्नभूतेन शरीरेण योग्येनेत्यभिप्रायः। अनेनैव वा सह मोदन्ते। यत्र क्षेत्रज्ञे मतिश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणमनांसि विद्यासप्तमानि। ऋषयो दर्शनात् सप्त। इन्द्रियाणि पञ्च (मनोबुद्धिश्च) जगतः कारणभूतः परमात्मा त्वविकारः। सर्वकारणस्य भावात्। क्षेत्रज्ञस्य तद्विकारत्वात् तदेकमाहुः। तच्चैतत्सर्वमविभक्तमाहुर्ब्रह्मविदः। जगतः कारणत्वात् परमात्मनः शब्दादिशरीररूपेणावस्थानादित्यध्यात्मपक्षः।

ऐतिहासिकास्तु एवमितिहासमाचक्षते। विश्वकर्मा नाम राजा..................देकर्षिः भुवनस्य पुत्रः। सर्वमेधे सर्वमेधो नाम दशरात्रः। अग्निस्तुदिन्द्रस्तुद्वैश्वदेवस्तुदित्येवमादिरूपः। तस्याप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति। तस्मिन् सप्तमेऽहनि **'सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुध्यै'** (मूलमनुपलब्धम्) इति वचनात् सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। सर्वशब्देन चात्मनोऽपि ग्रहणात् तस्यापि होतव्यत्वात् शरीरान्तरमन्तरेण होतुमशक्तेर्योगैश्वर्यबलाच्च योगिनां युगपच्छरीरग्रहणस्य सम्भवात् योगित्वाच्च तुल्यरूपौ द्वावात्मानौ कृत्वा एकेन परमात्मानमन्ततो जुहवाञ्चकारेति। तत्रैवमृग्व्याख्येया।

विश्वकर्मा राजर्षिर्विभूतमना इत्यादिगुणकः। येषां भूतानां स द्रष्टा। इष्टानि यजेरयं करणे क्तप्रत्ययश्च्छान्दसत्वात्। इज्यते एभिरितीष्टानि यागसाधनानि सर्वमेधे यान्याम्नातानीत्यर्थः। तान्यनेनामृताख्येन संमोदन्ते। यत्र सप्त ऋषयः परश्चोत्कृष्टः सर्वस्मादादित्यः। तत्र हि सप्तर्षय आदित्यश्च। कथं पुनस्तानि तत्र संमोदन्ते द्यौ स्वर्गः पशुश्च यो यज्ञे मार्यते स स्वर्गं गच्छति एवं हि श्रूयते **'पशुर्वै नीयमानः सन्मृत्युं प्रापश्यत् तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्यामः'** (ऐ०ब्रा०२.६) इति। तथा च मन्त्रवर्णः। **'न वा उ एतन्म्रियते'** इत्यादि। तच्चैतत्सर्वमविभक्तमाहुः। जगत्कारणभूतस्य परमात्मनः सर्वेणानेन रूपेणावस्थानादिति।

तदभिवादिनी तस्य चेतिहासस्याभिवादिनीयमृग् भवति।

य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒दृषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत् पि॒ता नः॑।

स आ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छदव॑राँ॒ आ वि॑वेश॥ (ऋ०१०.८१.१)

सर्वमेधे इमानि सर्वाणि भूतजनानि **जह्वत्** यथाशास्त्रमग्नौ प्रक्षिपन्। **ऋषी** राजर्षिर्विश्वकर्मा नाम मदीयोऽन्तरात्मा **होता** प्रयोजकत्वादाह्वानाच्च देवानाम्। **न्यसीदत्** निषण्णो वेद्याम्। **पिता नो** धर्माधर्मोत्पादनद्वारेण शरीरस्य जनकत्वात् पिता पालयिता वास्माकम्। **स आशिषा** मनसाऽभिलषितार्थप्रार्थना आशीस्तया आशिषा **द्रविणं** धनं सर्वमेधस्य यत्फलं तदिच्छन् **'यथैवैतद्यजमानः सर्वान्मेधान् हुत्वा सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं साम्राज्यमाधिपत्यं पर्येति'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्येवमादि तत्फलमत्र धनमभिप्रेतम्। **तदिच्छमानो**

व्यत्येनात्मनेपदम्। इच्छन्। **प्रथमच्छत्** प्रथममुत्कृष्टं छादयिता स्तुतिभिर्हविर्भिश्च देवानां व्याप्तेत्यर्थः। **अवरान्** योऽर्वाग्वर्तिनो माहात्म्येन विश्वकर्माणमप्राप्ता विश्वकर्मणः सकाशान्माहात्म्येन न्यूना इत्यर्थः। के ते? अन्ये सर्वे प्राणिनः। **तानाविवेश**। आवेशो व्याप्तिः। आधिपत्येन व्याप्तवानित्यर्थः।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय। सुतरां निश्चयाभिधानाय।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंश खण्डः।

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ (ऋ०१०.८१.६) विश्वकर्मन् हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्नाः। इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु प्रज्ञाता। ताक्ष्यर्स्त्वष्ट्रा व्याख्यातः। तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति। तूर्णमर्थं रक्षति। अश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ २७॥

भाष्यटीका

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ (ऋ०१०.८१.६)

हे **विश्वकर्मन्** मदीयन्तरात्मन् **हविषा**नेन सर्वमेधिकेन **वावृधाने** वर्धमानो हविर्वृद्ध्या वर्धमान इत्यर्थः। **स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्यां** च तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं पृथिवीस्थां द्युस्थां च देवताम्। यावती काचिद्देवता क्वचित्तां सर्वामित्यर्थः। **मुह्यन्त्वन्ये** मुह्यन्तु चान्ये। **अभित** उभयतः। यागतः स्तुतितश्च। यागं कर्तुं ज्ञासिषुः। मा च स्तोतुमित्यर्थः। के? **जनासो** जनाः परिपन्थिमनुष्याः। **इहास्माक**मस्मिन् कर्मणि अस्माकं स्वभूतोऽन्तरात्मा **मघवा** हविर्लक्षणेन धनेन धनवान्। **सूरिः** स्तोतृनाम। स्तोता देवानाम्।

अथवाऽनया ऋचोरधिदैवतमध्यात्मं चोच्यतेऽर्थः। अधिदैवतं तावत्पूर्वस्या ऋचोऽर्थः।

य इमा विश्वा यो विश्वकर्मा मध्यम इमानि सर्वाणि **भुवनानि**। भुवनमित्युदकनाम उदकानि वृष्टिलक्षणानि **जुह्वत्** प्रक्षिपन्। **ऋषिर्द्रष्टा** लोकपालत्वात् कृताकृतस्य लक्षणः। **होता** आह्वाता मेघानाम्। आह्वातव्यो वा। **न्यसीदत्** निषण्णोऽन्तरिक्षे। **पिता** पितृस्थानीयः पालयिता वा नोऽस्माकम्। **स आशिषा** जनस्य प्रार्थनया **द्रविण** सस्यलक्षणं धनमिच्छन्। **प्रथमच्छत्** उत्कृष्टं छादयित्वा मेघैरन्तरिक्षस्योदकैर्वा भूमेः। **अवरान्** वृष्टिस्थानादर्वाग्वर्तिनः प्रदेशानन्तरिक्षदेशांश्च। **आविवेश** वृष्ट्या व्याप्तवानित्यर्थः।

उत्तरस्या अप्यधिदैवतम्।

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः। हे **विश्वकर्मन् हविषा**ऽनेनास्मत्प्रत्तेन उदकनामा हविःशब्दो वृष्टिलक्षणेनोदकेन। **वावृधानो** वर्धमानस्त्वम्। **स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्**। द्वितीया चतुर्थ्यर्थे। यजिर्दानार्थः। दिवे च पृथिव्यै च वृष्टिलक्षणमुदकं देहि। अन्तर्नीतण्यर्थो वा यजिः। द्यावापृथिवीभ्याञ्च तत्सुखलक्षणवृष्टिप्रदानद्वारेण स्वयं याजय पृथिवीस्थान् द्युस्थांश्च यष्टॄन्। यावान् कश्चिद्यष्टा तं सर्वमित्यर्थः। मुह्यन्तु चान्ये। **अभित** उभयतः। यागतः

स्तुतितश्च मा यष्टुं मा च स्तोतुं ज्ञासिषुरित्यर्थः। **जनासो** जनाः मनुष्याः सपत्नभूताः। **इह** कर्मण्यस्माकं स्वभूतोऽन्तरात्मा यजमानो **मघवा** हविर्लक्षणेन धनवान् नित्यं **सूरि**स्तव स्तोता **अस्तु**।

अध्यात्ममपि पूर्वस्या अर्थः।

प्रलयकाले विश्वकर्मणि जगतः प्रलये सृष्टिकाले च तत एव पुनः सृष्टिरित्येतदुच्यते। यो विश्वकर्मा क्षेत्रज्ञः प्रलयकाले इमानि सर्वाणि भूतजातानि प्रक्षिपन्। क्व? आत्मनि। कुत एतत्? **'ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनि'** (श०ब्रा०१३.७.१.१) इति श्रुतेः सर्वभूतान्यात्मनि प्रलयं नयन्नित्यर्थः। **ऋषिर्द्रष्टा** विश्वस्य। **होता** चात्मनि सर्वभूतानि। **न्यसीदत्** निषण्णः प्रलीन आत्मनापि प्राणिनः कारणात्मनावस्थित इत्यर्थः। **पिता** उत्पादयिता नोऽस्माकम्। **स आशिषा** आशीःशब्देनात्राशीःफलत्वादतीतायां सृष्टौ यत्कृतं कर्मानुपभुक्तफलं तदुच्यते। हेतौ तृतीया। तेन हेतुना। फलभोगार्थमित्यर्थः। **द्रविणं** धनं पुनः सृष्टिरूपमिच्छन्। उत्कृष्टं छादयिता सर्वस्य! विकारैर**वरान्** अर्वाग्वर्तिनः। वर्तमानयां सृष्टौ येऽपिहितास्तानित्यर्थः। **आविवेश** स्वत उत्पादनेन व्याप्तवानित्यर्थः।

यद्यपि प्रलयकाले परमात्मा सर्वभूतान्यात्मनि प्रलयं नयति। क्षेत्रज्ञं च सृष्टिकाल एव स्वत उत्पादयति। स क्षेत्रज्ञः। तथापि परमात्मविकारत्वात् क्षेत्रज्ञस्य तत्प्रकृतिभूतः परमात्मा यत्करोति तदत्र स एव करोतीत्युच्यते। उक्तं च **'अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः'** (निरु०७.४) इति। एवमनया तावत् प्रलयकाले विश्वकर्मणि जगतः प्रलयः सृष्टिकाले चैव पुनः सृष्टिरित्येवमुच्यते।

हे **विश्वकर्मन्** क्षेत्रज्ञ **हविषा वावृधानः**। हविःसम्बन्धाद्यागः कर्मोच्यते। तच्च प्रदर्शनार्थं वृद्धिरपि सामर्थ्यवृद्धिरभिप्रेता न रूपवृद्धिः। अयमर्थः। हविःसम्बन्धयागदानप्रभृतिनाऽतीतसृष्टौ कृतेनानुपभुक्तफलेन स्वफलोपभोगार्थमाविर्भूतसृष्टिसामर्थ्यम्। **स्वं यजस्वेति** यजिः करणार्थः। **'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'** (धा०१.१०२७) इति। तदयमर्थः। स्वयं कुरूत्पादयेत्यर्थः। यद्यपि परमात्मोत्पादयति न क्षेत्रज्ञः। तथापि प्रकृतिभूम्नेदं विकारस्य पूर्ववद्वचनम्। किं तदुत्पादयामीति चेत्। उच्यते। **पृथिवीमुत द्यां** द्वयञ्च। **मुह्यन्त्वन्ये अभित** उभयतः स्वतः परतश्च। मा त्वां स्वयं ज्ञासिषुः। मा चैनान् पर आचार्यादिः कश्चिदजिज्ञपदित्यर्थः। **जनासो** जनाः मनुष्याः सपत्नभूता अस्माकम्। क्व मुह्यन्त्वित्याह। **इह** त्वन्माहात्म्ये। **अस्माकं** तु स्वभूतोऽयमन्तरात्मा **मघवा** योऽन्नेन धनेन धनवान्। अस्य त्वन्माहात्म्यस्य सूरिरिति स्तोतृनाम स्तुत्या चात्र सम्बन्धात् प्रज्ञा लक्ष्यते प्रज्ञाता **अस्तु**।

अत्रोपन्यस्तयोः को विशेष? उच्यते। परमात्मा विज्ञानसतत्वमात्रं विज्ञानवतः सविशेषविज्ञानप्रसवबीजमिष्यते। क्षेत्रज्ञास्तु तदंशाः प्रच्युता वसन्तोऽविद्याव्यवधानादन्यत्वं प्रतीयन्तः प्रतिशरीरं शास्त्रेण ताद्भाव्यायानुशिष्यन्ते। एवं च परमात्मनः क्षेत्रज्ञस्य च कारणाभावः सर्वोपनिषत्सु गीतासु च गीयते।

तार्क्ष्यो वक्तव्यः। स पुनस्त्वष्ट्रा समनिर्वचनत्वात् **तूर्णमश्नुत** (निरु०८.१३) इत्यादिना **(त्वष्टा) व्याख्यातः**। अथवा **तीर्णेन्तरिक्षे क्षियति** निवसति। **तूर्णमर्थं क्षरतीति** वा। तूर्णं वार्थमुदकाख्यं क्षरति। अश्नोतेर्वा तूर्णमर्थमित्यनुषङ्गः। तूर्णपदम्। रक्षतेरश्नोतेर्वोत्तरपदमित्यर्थः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथ अष्टाविंशः खण्डः।

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्। अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ (ऋ०१०.१७८.१) तं भृशमन्नवन्तम्। जूतिर्गतिः। प्रीतिर्वा। देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा। सहस्वन्तम्। तारयितारं रथानाम्। अरिष्टनेमिम्। पृतनाजितम्। आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषा भवति॥ २८॥

भाष्यटीका

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ (ऋ०१०.१७८.१)

अरिष्टनेमेरार्षम्। तच्छुतेर्यदध्याहारः। यमन्येऽपि सर्वे ह्वयन्ति त्यं तम्। उ इत्यनर्थकं वचनम्। **सु वाजिनं** हविर्लक्षणेन वाजेनान्नेन वोदकजन्येन वा सुष्ठु तद्वन्तम्। **देवजूतं** जवतिर्गतौ प्रीतौ वा देवैर्मरुदादिभिर्गतं प्रीतं वा। **सहावानं** सहो बलं सहस्वन्तमित्यर्थः। **तरुतारं** तारयितारं गमयितारमित्यर्थः। कान्? मेघान् प्रति शत्रून् वा। **रथानामा**त्मीयानाम्। **अरिष्टनेमिं** नेमिरिति वज्रनाम। अरिष्टोऽहिंसितो नेमिर्वज्रो यस्य तमहिंसितवज्रमित्यर्थः। **पृतनाजं 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'** (अष्टा०३.२.१७८; ३.३.१३०) इत्येवं जयतेर्डप्रत्ययो न जनेः। पृतनानां संग्रामाणां जेतारम्। **आशुं** शीघ्रम्। **स्वस्तये**ऽविनाशायात्मनः। **तार्क्ष्यं** मध्यमस्थानम्। **इह हुवेम** नित्यमेव हुवेमेत्याशास्महे।

पृतनाजमित्यस्य पृतना वर्तमानाक्किबन्तप्रदर्शनम्। जयतेः केवलं क्विपि पृतनाजितम्। सोऽयं तार्क्ष्यसाधारणशब्दत्वाद् गरुत्मता सन्दिह्यते। तदवृत्त्यर्थमाह। **कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यदिति।** बलकृतिः प्रकाशिता। वर्षकर्म प्रदर्शनीयमिति। तस्यैषापरा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य अष्टाविंशः खण्डः।

अथ एकोनत्रिंशः खण्डः।

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥ (ऋ०१०.१७८.३) सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि। सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिः। न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम्। मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा। मन्यन्त्यस्मादिषवः। तस्यैषा भवति॥ २९॥

भाष्यटीका

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥ (ऋ०१०.१७८.३)

अरिष्टनेमेरार्षम्। **सद्यः** समानेऽहनि समानेनाह्ना वर्तमानकालो लक्ष्यते चिदप्यर्थे। सद्योऽपि वर्तमानकाले न पुरैव केवलमित्यर्थः। **यः शवसा** बलेन **पञ्च कृष्टीः** जात्यपेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः पञ्च मनुष्यजातीः प्रतीति शेषः। निषादपञ्चमान् वर्णान् प्रतीत्यर्थः। **सूर्य इव ज्योतिषा** द्वितीयार्थे तृतीया। यथा सूर्यस्य यज्ज्योतिः सर्वत्र तनुयात् तद्वत्। **अपो** वृष्टिलक्षणा अपस्ततान तनोति। यच्छुतेस्तदध्याहारः। तस्यास्य **सहस्रसाः शतसाः** सहस्रशतयोरुपपदयोः **'जनसनखनक्रमगमो विट्'** (अष्टा०३.२.६७) **'विड्वनोरनुनासिकस्यात्'** (अष्टा०६.४.४१) इत्यात्वम्। सहस्रसंख्यानां शतसंख्यानां च मेघानां संभक्त्री। काऽसौ? **रंहिः** रंहतेर्गतिकर्मणो रंहतिः। **न स्मा वरन्ते** सांहितिकं दीर्घत्वं न वैनं वारयन्ति स्म। न च केचिद्वारयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः। **युवति न 'यु मिश्रणे'** (धा०२.२३) मिश्रयन्तीमिवात्मानम्। केन? सामर्थ्याच्छत्रुशरीरैः। काम्? **शर्या** धनुक्षता क्षिप्तां शत्रुशरीरेषु प्रविशन्तीं शरविकारभूतामिषुम्। निर्वचनं निगमव्याख्यानम्। सूर्य इव ज्योतिषा त्रैलोक्यमिति भाष्यकाराभिप्रायः।

मन्युः कस्मात्? मन्यतेर्धातोर्दीप्त्यर्थस्य। क्रोधार्थस्य वा तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)- ध्यायस्य एकोनत्रिंशः खण्डः।

अथ त्रिंशः खण्डः।

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणासो धृषि॒ता म॑रुत्वः। ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना अ॒भि प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः॥ (ऋ०१०.८४.१) त्वया मन्यो सरथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वस्तिग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नरा अग्निरूपा अग्निकर्माणः। सन्नद्धाः कवचिन इति वा। दधिक्राः व्याख्याताः (निरु०२.२७)। तस्यैषा भवति॥३०॥

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणासो धृषि॒ता म॑रुत्वः।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना अ॒भि प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः॥ (ऋ०१०.८४.१)

तपसः पुत्रो मन्युस्तस्यार्षम्। **त्वया** हे **मन्यो सरथं** समानं रथमेकं द्वितीयाश्रुतेरारुह्येति शेषः। त्वदनुग्रहाद**रुजन्त**........यन्तः। कान्? शत्रून्। तद्दर्शनाच्च **हर्षमाणासो** हृष्यन्तः। **धृषिताः** कर्तरि क्तप्रत्ययः। धर्षितारोऽभिभवितार इत्यर्थः। शत्रूणां बलम्। हे **मरुत्वः** मरुत्वानिन्द्रस्तस्य सम्बोधनम्। **तिग्मेषवस्तिग्मा**स्तीक्ष्णा इषवो येषां ते। **आयुधा** आयुधानि खड्गदीनि। **संशिशानाः** सम्यक् क्लिश्यन्तः **अभिप्रयन्तु** प्रकर्षेण गच्छन्तु शत्रून्। **नरो** मनुष्या अस्मदीया योद्धारः। **अग्निरूपा** अग्निसदृशाः सादृश्यं च कर्मणां निर्मूलविनाशनेन दीप्तरूपत्वेन वा। यथाग्निर्भस्मसात्करणान्निर्मूलं विनाशयति तद्वत्। यथा चाग्निर्दीप्तरूपस्तद्वत्। उज्ज्वलैः सन्नहनैः कवचैश्च सन्नद्धा इव दीप्तरूपा इत्यर्थः।

दधिक्रा व्याख्यातः **'दधत् क्रामति'** (निरु०२.२७) इत्यादिना। तन्मध्यगतमपि योज्यम्। **'तद्यत् देवतावत्'** (निरु०२.२७) इति यदुक्तं तस्यावसरः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)- ध्यायस्य त्रिंशः खण्डः।

अथ एकत्रिंशः खण्डः।

आ द॒धि॒क्राः शव॑सा॒ पञ्च॑ कृ॒ष्टीः सूर्य॑ इ॒व ज्योति॑षा॒पस्त॑तान॥ स॒ह॒स्र॒साः श॑त॒सा वा॒ज्यर्वा॑ पृ॒णक्तु॒ मध्वा॒ समि॒मा वचां॑सि॥ (ऋ०४.३८.१०) आतनोति दधिक्राः शवसा बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि। सहस्रसाः शतसा वाजी वेजनवान्। अर्वेरणवान्। सम्पृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति। मधु धमतेर्विपरीतस्य। सविता सर्वस्य प्रसविता। तस्यैषा भवति॥३१॥

आ द॑धि॒क्राः शव॑सा॒ पञ्च॑ कृ॒ष्टीः सूर्य॑ इ॒व ज्योति॑षा॒पस्त॑तान॥

स॒ह॒स्र॒साः श॑त॒सा वा॒ज्यर्वा॑ पृ॒णक्तु॒ मध्वा॒ समि॒मा वचां॑सि॥ (ऋ०४.३८.१०)

वामदेवस्य। आकारस्य ततानेत्येतेन सम्बन्धः। **दधिक्रा** मध्यमस्थानः। **शवसा** बलेन स्वसामर्थ्यातिशयलक्षणेन। **आततान** तनोति। किम्? वृष्टिलक्षण अपः। **पञ्च कृष्टीः** निषादपञ्चमा मनुष्यजातीः प्रतीति शेषः। **सूर्य इव ज्योतिषा** द्वितीयार्थे तृतीया। यथा सूर्यः स्वज्योतिः सर्वत्रातनुयात् तद्वत्। किञ्च **सहस्रसाः शतसाः** सनो विट् आत्वे च रूपम्। सहस्रादिसख्यानां मेघानां संभक्ता। **वाजी** हविर्लक्षणेनोदकजन्येन वाजेन तद्वान्। वेजनवान् वा। वाय्वात्मना चलनस्वभावकत्वात्। **अर्वा** ईरणवान् वृष्टिलक्षणस्योदकस्येरणेन तद्वान् गमयिता प्रेरयितेत्यर्थः। उपरिष्ठस्य समः पृणक्तु इत्येतेन सम्बन्धः। **संपृणक्तु** मिश्रयतु। **मध्वा** मधुनोदकेन **इमा** इमानि स्तुतिलक्षणानि **वचांसि** स्तुवद्भ्योऽस्मभ्यमुदकं ददात्वित्यर्थः।

मधु कस्मात्? उच्यते। मेघोदरवर्ति सलिलं मध्वभिप्रेतम्। तच्च पुनर्वैद्युदात्मना दह्यमानसरसवर्णेन तद्गतेनैव वायुना ध्मायमानं धमनि। अतो धात्वर्थसम्बन्धासम्भवाद् धमतेराद्यन्तविपरीतस्येत्याह। नैरुक्तधातुर्वा धमतिर्गतिकर्मान्तर्नीतण्यर्थो निष्कालने द्रष्टव्यः। निद्धाभ्यते हि तन्मेघान् निष्काल्यत इत्यर्थः। अर्वेत्यर्त्तेरन्तर्नीतण्यर्थस्य **'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते'** (अष्टा०३.२.७५) इति वनिपि रूपं न मन्ये। ईरणवानिति भाष्ये त्वर्थप्रासवचनं द्रष्टव्यमिति।

सविता वक्तव्यः। स पुनः **'इममेवाग्निं सवितारमाह'** (निरु०७.३१) इत्यत्राभिधानतो व्याख्यातः। इह त्वर्थात् प्रकरणाच्च मध्यमोऽभिधेयः। केचित् **'सर्वस्य प्रसविता'** इत्यत्रापि पठन्ति। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य एकत्रिंशः खण्डः।

अथ द्वात्रिंशः खण्डः।

सवि॒ता य॒न्त्रैः पृ॑थि॒वीम॑रम्णादस्कम्भ॒ने स॑वि॒ता द्याम॑दृंहत्। अश्व॑मिवाधुक्ष॒द् धुनि॑म॒न्तरि॑क्षम॒तूर्ते॑ ब॒द्धं स॑वि॒ता स॑मु॒द्रम्॥ (ऋ०१०.१४९.१) सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयत्। अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत्। अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघम्। बद्धमतूर्ते। बद्धमतूर्ण इति वा। अत्वरमाणे इति वा। सविता समुदितारमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्? आदित्योऽपि सवितोच्यते। तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः। अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥३२॥

भाष्यटीका

सवि॒ता य॒न्त्रैः पृ॑थि॒वीम॑रम्णादस्कम्भ॒ने स॑वि॒ता द्याम॑दृंहत्।

अश्व॑मिवाधुक्ष॒द् धुनि॑म॒न्तरि॑क्षम॒तूर्ते॑ ब॒द्धं स॑वि॒ता स॑मु॒द्रम्॥ (ऋ०१०.१४९.१)

अर्चन्नामाङ्गिरसस्तस्यार्षम्। **सविता** मध्यमस्थानः। **यन्त्रै**र्यन्त्रस्थानीयैर्वृष्टिप्रदानादिभिरुपकारैः कर्मभिः **पृथिवीमरम्णात्** रम्णातिः संयमनकर्मा संयतवान् बद्धवान् वशे कृतवानित्यर्थः। अथवा यन्त्रैरेव वायुमयैः संयतवान् निबद्धं कृतवानित्यर्थः। **अस्कम्भने** स्कम्भनं पदप्रतिबन्धकरमालम्बनं तद्रहिते चान्तरिक्षे। **सविता** सवितैव च **द्याम**पि। **अदृंहत्** दृढीकृतवान्। **अश्वमिव** यथाश्वं पालयन्नश्ववान्नरः क्लेशयेदायासयेत् तद्वदधुक्षत् **'धुक्ष धिक्ष सन्दीपनक्लेशनजीवनेषु'** (धा०१.६०३-६०४)। क्लेशयति वृष्टिवेलायामायासयतीत्यर्थः। **धुनिं** **'धूञ् कम्पने'** (धा०९.९५; १०.३०२) कम्पयितव्यं कम्पयितारं वा। अर्थान्मेघम्। **अन्तरिक्षमिति** प्रथमा सप्तम्यर्थे अन्तरिक्षे। कीदृशे? **अतूर्ते** तुर्वतेस्त्वरतेर्वैतद्रूपम्। अहिंसिते अत्वरिते वा सर्वगतत्वात् प्राप्तव्याभावात्। **बद्धं** बद्धं वायुपाशैः सन्ततम्। **सविता** सवितैव **समुद्रं** समुदितारं क्लेदयितारमिति।

कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् मेघबद्धादिति। कुतो वा संशयः? अन्योऽपि मध्यमादुच्यते यतः। आशंकाहेतुं स्वयमेवाह। आदित्योऽपि सवितोच्यत इति। यथा चैतदेवं तथास्मिन्नेव हैरण्यस्तूपसूक्ते इह यथा स्तुतिस्तत एवोत्प्रेक्षा। कथमेतत् हैरण्यस्तूपमिति चेत्? अत आह अर्चन्नाम हिरण्यस्तूपपुत्रो हैरण्यस्तूप इदं सूक्तं प्रोवाच। अतश्च हिरण्यस्तूप इत्यपपाठः। तस्यैतस्याभिवादिनी एषा ऋक्।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)- ध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः।

अथ त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

हिर॑ण्यस्तूपः सवित॒र्यथा॑ त्वाङ्गि॒रसो जु॒ह्वे वाजे॑ अ॒स्मिन्। ए॒वा त्वार्च॒न्नव॑से॒ वन्द॑मान॒ः सोम॑स्येवां॒शुं प्रति॑ जागरा॒हम्॥ (ऋ०१०.१४९.५) हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपः। हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा। स्तूपः स्त्यायतेः संघातः। सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽस्मिन्नेवं त्वार्चन्। अवनाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्म्यहम्। त्वष्टा व्याख्यातः (निरु०८.१३)। तस्यैषा भवति॥३३॥

भाष्यटीका

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।

एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥ (ऋ०१०.१४९.५)

मत्पिता **हिरण्यस्तूपः**। हे **सवितर्यथा त्वा** त्वामाङ्गिरसोऽङ्गिरसः पुत्रो **जुह्वे** आहुतवान्। **वाजेऽस्मिन्नन्ने** हविर्लक्षणेऽस्मिन्नुपकल्पित इति शेषः। एवं **त्वा** त्वामेवार्चन्नामाहमवसे तर्पणाय। **वन्दमानः** स्तुवन्नाह्वयामीति शेषः। आहूय च **सोमस्येवांशुं** यथाभूतस्य सोमस्येव। **अंशुशब्दो**ऽन्तर्नीतवीप्सार्थः। अंशुमंशुं प्रति जाग्रति यष्टारः। एवं त्वां **प्रति जागराहं** जागर्मि। अहं त्वपरिचर्यायां प्रमादं न करोमीत्यर्थः।

हिरण्यस्तूपः कस्मात्? हिरण्यस्तूपो वर्चस्वितया हिरण्य इव स्तूपः संघातः। तप्तकाञ्चनगौरः प्रियदर्शनो वेत्यर्थः। हिरण्यः स्तूपोऽस्य विद्यत इति वा। हिरण्यविचित्रित इत्यर्थः। स्त्यायतिः संघाते।

त्वष्टा व्याख्यात आप्रीसूक्ते। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

अथ चतुस्त्रिंशः खण्डः।

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ (ऋ०३.५५.१९) देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन। बहुधा चेमा जनयति। इमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य। महच्चास्मै देवानामसुरत्वमेकम्। प्रज्ञावत्त्वं वा। अनवत्वं वा। अपि वा असुरिति प्रज्ञानाम। अस्यत्यनर्थान्। अस्ताश्चास्यामर्थाः। असुरत्वमादिलुप्तम्। वातो वातीति सतः। तस्यैषा भवति॥ ३४॥

भाष्यटीका

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।

इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ (ऋ०३.५५.१९)

वैश्वामित्रस्य प्रजापतेरार्षम्। **देवो** दानादिगुणस्त्वष्टा मध्यमस्थानः। **सविता** वृष्टिप्रदानद्वारेण सर्वस्य प्रसविता **विश्वरूपः**। तथा च **'रूपंरूपं मघवा बोभवीति'** (ऋ०३.५३.८) मन्त्रः। **पुपोष** वृष्टिप्रदानद्वारेण पुष्णाति **प्रजाः**। **पुरुधा जजान** बहुधा च जनयति। **इमा च विश्वा भुवनानि** इमानि च सर्वाणि भुवनानि। उदकनामैतत्। उदका**न्यस्य** स्वभूतानि नान्यस्य कस्यचित्। **महद्देवानामसुरत्वमेकं** महच्चास्य देवानां मध्येऽसुरत्वम्।

असुरिति प्रज्ञानाम रो मत्वर्थीयः प्रज्ञावत्त्वम्। **अनवत्वं वा**ऽनः पुनः प्राणस्तेन तद्वन्तं बलवन्तमित्यर्थः। अन्नवत्वमित्यपपाठः। असुशब्देनान्नस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अथवा वसुरत्वमादिलुप्तं वसुवत्वं धनवत्वमित्यर्थः। नान्यस्य कस्यचिदीदृशमित्यर्थः। अपि वेत्यपपाठः। असुरिति पठ्यमानस्यैव प्रदर्शनार्थ उपन्यासः। **अस्यति क्षिपत्यनर्थं अस्ताः क्षिप्ता अस्यामर्था** इत्यर्थप्राप्त्यनर्थपरिहारात्मकमुभयमप............................... तिज्ञातिबन्धनं तदभावेऽप्युभयं न स्यात्। आदिलुप्तं वा।

वातो मध्यमस्थानः। कर्तरि कारके क्तप्रत्यय इति दर्शयति। **वातो वातीति सत** इति। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य चतुस्त्रिंशः खण्डः।

अथ पञ्चत्रिंशः खण्डः।

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ (ऋ०१०.१८६.१) वात आवातु भैषज्यानि। शंभु मयोभु च नो हृदयाय। प्रवर्धयतु च न आयुः। अग्निर्व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥३५॥

भाष्यटीका

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।

प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ (ऋ०१०.१८६.१)

उलस्य वातायनस्यार्षम्। **वात** आभिमुख्येन **वात**। किम्? **भेषजम्**। कीदृशम्? शंभु। शमिति सुखनाम परेणापौनरुक्त्याय तदात्व इति शेषः। **मयोभु** सुखस्य भावयितृ आयतित्व इति शेषः। **नो**ऽस्माकं **हृदे** हृदयाय। किञ्च **प्र तारिषत्** तरतेर्वृद्ध्यर्थस्य पञ्चमः। यश्चैवं स **नो**ऽस्माकम**आयूंषि** प्रवर्धयतु चायुरिति।

अग्निर्व्याख्यातो द्वादशाध्याये। **इह** मध्यमोऽभिधेयः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या -(दशमस्या)- ध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथ षट्त्रिंशः खण्डः।

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ (ऋ०१.१९.१) तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे। सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥३६॥

भाष्यटीका

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।

मरुद्भिरग्न आ गहि॥ (ऋ०१.१९.१)

मेधातिथेः। त्यच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। **त्यं** तं **चारुं** शोभनम**ध्वरं** यज्ञं **प्रति गोपीथाय** गोशब्देनात्र सोम उच्यते। पीथं पानं सोमपानाय प्रकर्षेण **हूयसे**। एतज्ज्ञात्वा **मरुद्भिः** सह हे **अग्ने आगहि** आगच्छेति।

सोमपानं मरुद्भिः साहचर्यं चोक्तं मध्यमस्येत्याह। **कमन्यमिति**। उदाहरणभूयस्त्वेनाग्नेर्मध्यमस्थानत्वं द्रढयन्नाह। **तस्यैषापरेति**।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः।

अथ सप्तत्रिंशः खण्डः।

अभि त्वां पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आ गहि।। (ऋ० १.१९.९)

अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयम्। सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति।। ३७।।

भाष्यटीका

अभि त्वां पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु।
मरुद्भिरग्न आ गहि।। (ऋ० १.१९.९)

मेधातिथेरेव। **अभिः** कर्मप्रवचनीयः प्रतिना तुल्यार्थः। **अभि त्वा** त्वां प्रतीत्यर्थः। **पूर्वपीतये** अनादिकालप्रवृत्ताय पानाय। **सृजामि** सृजिरन्यार्थोऽत्र उत्सृजामि। **सोम्यं** सोममयं **मधु**। एतज्ज्ञात्वा **मरुद्भिः** सह हे **अग्ने** अभ्यागच्छेति।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये पञ्चदशस्य (दशमस्याध्यायस्य) तृतीयः पादः।

॥अथ चतुर्थः पादः॥

अष्टात्रिंशः खण्डः।

वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः। तस्यैषा भवति॥३८॥

वेनो वेनतीति कान्तिकर्मसु पाठात् (निघ०२.६)। वेनतेः कान्त्यर्थस्य। कान्तो दीप्तो मध्यमस्थानः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य अष्टात्रिंशः खण्डः।

अथ एकोनचत्वारिंशः खण्डः।

अ॒यं वे॒नश्चो॑दय॒त् पृश्नि॑गर्भा॒ ज्योति॑र्जरायू॒ रज॑सो वि॒माने॑। इ॒मम॒पां सं॑ग॒मे सूर्य॑स्य॒ शिशुं॒ न विप्रा॑ म॒तिभी॑ रिहन्ति॥ (ऋ०१०.१२३.१) अयं वेनश्चोदयत्। पृश्निगर्भाः प्राष्टवर्णगर्भाः। आप इति वा। ज्योतिर्जरायुः। ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति। जरायु जरया गर्भस्य। जरया यूयत इति वा। इममपां च संगमने सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति। लिहन्ति। स्तुवन्ति। वर्धयन्ति। पूजयन्तीति वा। शिशुः शंसनीयो भवति। शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः। चिरलब्धो गर्भो भवति। असुनीतिरसून्नयति। तस्यैषा भवति॥३९॥

भाष्यटीका

अ॒यं वे॒नश्चो॑दय॒त् पृश्नि॑गर्भा॒ ज्योति॑र्जरायू॒ रज॑सो वि॒माने॑।
इ॒मम॒पां सं॑ग॒मे सूर्य॑स्य॒ शिशुं॒ न विप्रा॑ म॒तिभी॑ रिहन्ति॥ (ऋ०१०.१२३.१)

वेनस्य भार्गवस्यार्षम्। **अयं वेनो** मध्यमस्थानः। **चोदयत्** चोदयति प्रेरयति। काः? **पृश्निगर्भा** पृश्निरादित्यस्तस्य गर्भत्वमापन्नः। अथवा प्राप्तोज्ज्वलवर्णा रश्मयः पृश्नीनामन्तः स्थितत्वाद् गर्भभूता आपो वृष्टिलक्षणास्ताः। प्रेरयतीति। कीदृशो वेन? **ज्योतिर्जरायुः** ज्योतिर्वैद्युतं तस्य मेघमनुप्रविष्टस्य वेष्टकत्वाज्जरायुस्थानीयं यस्य ज्योतिर्जरायुः। **रजसो विमाने** रज उदकं तस्मिन्मीयते उत्पद्यते यस्मिन् तद्रजसो विमानमन्तरिक्षम्। तस्मिन्नायतने स्थितमिति शेषः। **इमं वेनमपां सङ्गमे सूर्यस्य** वृष्टिलक्षणा आप सूर्यरश्मिद्वारेण सङ्गच्छन्ते यत्र स सङ्गमस्तस्मिन्। अपां सूर्यस्य सङ्गमनेऽन्तरिक्ष इत्यर्थः। सप्तमीश्रुतेः स्थितमिति शेषः। **शिशुं न** शिशुमिव यथा **शिशुं** बालकमतिप्रियं बान्धवा देवोरक इत्यादिना प्रियवचनेन स्तुयुस्तद्वत्। **विप्रा** मेधाविनः। **मतिभिर्मतयः** स्तुतयो मन्यतेरर्चतिकर्मत्वात्। मतिभिः स्तोत्रशस्त्रलक्षणादिभिः। **रिहन्ति** पयन्ति। रहतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्। स्तुवन्तीत्यर्थः।

भाष्ये तु रलयोः समानवृत्तित्वप्रदर्शनपरं लिहन्तीति पर्यायवचनम्। स्तुत्यर्थाल्लिहेर्धातोः। स्तुवन्ति वर्धयन्तीत्यर्थः। अर्चनमात्रस्य विवक्षित्वात् पूजयन्तीत्यर्थः **प्राष्टवर्णगर्भा आप** इति पाठः। प्रकर्षेणानेनाष्टौ वर्णाः। अश्नोतेरष्टशब्दः। जरायुः कस्मात्? **जरया गर्भस्य जरया यूयत इति वा**। जरया हेतौ तृतीया। यथा जीर्यति

परिणमते उपचयरूपेण गर्भस्तथा तथा जरतीति जरायुर्गर्भस्य वेष्टकः। अथवाङ्गपरिणत्या। यूयते मिश्रीयते परिणममानं गर्भं वेष्टयतीत्यर्थो जराशब्दो द्यौतेश्च जरायुः। **शिशुः शंसनीयः** सर्वेणैवोपलाल्यते। **शिशीतेर्वा**नवगतधातोर्दानार्थस्य। दीयते ह्यसौ पुरुषेणा स्त्रियै। तथा च प्रवादः स्त्रीणां प्रत्यग्रगृहीतगर्भाणां चिरलब्धो मे गर्भ इति।

असुनीतिर्वाच्यः। असून्नयतीति निर्वचनम्। स च मध्यमः प्राणः। प्राणश्च वायुः। स हि शरीरादुत्क्रामन्नन्यानसून्नयतीति। विज्ञायते हि **'प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'** (बृह०उप०४.४.२) इति। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य एकोनचत्वारिंशः खण्डः।

अथ चत्वारिंशः खण्डः।

असुंनीते मनों अस्मासुं धारय जीवातंवे सु प्र तिंरा न आयुंः। रारन्धि नः सूर्यंस्य संदृशिं घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ (ऋ०१०.५९.५) असुनीते मनोऽस्मासु धारय चिरं जीवनाय प्रवर्धय च न आयू रन्धय च नः सूर्यस्य संदर्शनाय। रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते। **मा रंधाम द्विषते सोंम राजन्॥ (ऋ०१०.१२८.५)** इत्यपि निगमो भवति। घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व। ऋतो व्याख्यातः (निरु०२.२५)। तस्यैषा भवति॥४०॥

भाष्यटीका

असुंनीते मनों अस्मासुं धारय जीवातंवे सु प्र तिंरा न आयुंः।

रारन्धि नः सूर्यंस्य संदृशिं घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ (ऋ०१०.५९.५)

श्रुतबन्धोरार्षम्। हे **असुनीते** प्राण। अस्मदीयं **मनोऽस्मासु धारय**। किमर्थम्? **जीवातवे** चिरजीवनाय। **सु प्र तिर** तिरतिरन्यत्र वधकर्मापि सामर्थ्यादिह वृद्धिकर्मा। तरतेर्वा प्रसिद्धवृद्धिकत्वस्य च छान्दसमित्वं सुष्ठु प्रवर्धय च नोऽस्माकमायुः। **रारन्धि 'राध साध संसिद्धौ'** (धा०५.१६-१७) संसाधय च **नो**ऽस्मान् योग्यानविकलेन्द्रियान् कुर्वित्यर्थः। **सूर्यस्य सन्दृशि** सप्तमी चतुर्थ्यर्थे। सूर्यस्य सन्दर्शनाय। सर्वेन्द्रियविषयप्रदर्शनार्थं चेदम्। स्वविषये सर्वेन्द्रियवृत्यविच्छेदायेत्यर्थः। **घृते**नोदकेन। न हविर्लक्षणस्य वाचकम्। असुनीतेऽहविर्भाक् **त्वं** वृष्टिलक्षणेन चोदकेन **तन्वं** शरीरं **वर्धयस्वा**त्मनोऽस्माकं च।

प्रसङ्गाद् राध्यतेरर्थान्तरम्। रध्यतिर्वशगमनेऽपीति।

देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।

मा हांस्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रंधाम द्विषते सोंम राजन्॥ (ऋ०१०.१२८.५)

देवीः षडुर्वीरित्युभयत्र द्वितीया प्रथमार्थे। देव्यः षट्संख्याकाः। उर्व्यो विस्तीर्णाः। द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्चेत्येताः। कुत एतत्? सामिधेनीनां पुरस्ताज्जपे **'षणमोर्वीरहसस्पान्तु'** (श०ब्रा०१.५.१.२२; आ०श्रौ०६.२२.१; शां०श्रौ०१.६.४) इत्यादौ दर्शनात्। उच्यते। हे देव्यः षट्संख्याका

विस्तीर्णा **उरु** बहु प्रार्थितम्। **नो**ऽस्माकम्। **कृणोत** कुरुत। हे विश्वेदेवा यूय**मिह** कर्मणि लोके वा **वीरयध्वं** तत्करोतीति णिच् वीरान् शूरान् वीरवतो वा पुत्रवतोऽस्मान् कुरुतेत्यर्थः। किञ्च **मा हास्महि** हानिः क्षयस्तमाप्नुयाम **प्रजया**। कष्टं हि पुत्रमरणम्। **मा** च **तनूभिः** शरीरैः। **मा रधाम** मा च वशं गच्छाम **द्विषते**। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। द्विषतः शत्रोः। हे **सोम राजन्निति**।

ऋतो वाच्यः। स पुनः पुरस्ताद् व्याख्यातः। **'ऋतमिदत्युदकनाम प्रत्यृतं भवति'** (निरु०२.२५) इति। मध्यमोऽभिप्रेतो गन्ताऽन्तरिक्षे। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य चत्वारिंश खण्डः।

अथ एकचत्वारिंशः खण्डः।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥ (ऋ०४.२३.८) ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः। ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णावातृणत्ति। बधिरो बद्धश्रोत्रः। कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य मनुष्यस्य। ज्योतिषो वोदकस्य वा। इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा। तस्यैषा भवति॥४१॥

भाष्यटीका

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।

ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥ (ऋ०४.२३.८)

वामदेवस्य। **ऋतस्य** मध्यमस्थानस्य। हीति पदपूरणः। **शुरुधो** वृष्टिलक्षणा आपः **सन्ति पूर्वीः** पूर्वाश्चिरन्तन्यः। **ऋतस्यैव** चैव **धीतिः** वृष्टिप्रदानविषया प्रज्ञा। **वृजिनानि** पापानि दुर्भिक्षादीनि **हन्ति**। **ऋतस्यैव श्लोकः** स्तनयित्नुलक्षणो **बधिरा**। षष्ठ्या आकारः। बधिरस्यापि। **ततर्द** तृदिर्हिंसार्थः। तृणत्ति **हिनस्ति** स्फोटयतीत्यर्थः। किम्? **कर्णा** कर्णौ। **बुधानो** बोधयन्नात्मानम् **शुचमानो** दीप्यमानः। ऋतविशेषणमेतत्। प्रथमा षष्ठ्यर्थे। शुचमानस्य विद्युद्दीप्त्या दीप्यमानस्य। **आयो**र्मनुष्यनामैतत्। बधिरस्येत्येतेन सामानाधिकरणम्।

अथवा अयनमायुर्ज्योतिरुदकं वा। यदा ज्योतिस्तदा ऋतस्य विशेषणम्। कीदृशस्य ऋतस्य? आयोरयनस्वभावकस्य ज्योतिरात्मकस्येत्यर्थः। यदोदकं तदा ऋतस्येत्युदकवचनोपचीयमानव्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी। आयोरिति श्लोकसम्बन्धना। ऋतस्य सम्बन्धि यदायुरुदकं तस्योदकस्यायोर्यः श्लोकः सम्बोधयन्नात्मानं बधिरस्यापि कर्णावातृणत्तीति सम्बन्धः। निर्वचने तिरोहितमिव किञ्चिन्नास्ति।

इन्दुः कस्मात्? इन्धतेर्दीप्तिकर्मणः। उनत्तेर्वा क्लेदनार्थस्य। मध्यमस्थानः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य एकचत्वारिंशः खण्डः।

अथ द्विचत्वारिंशः खण्डः।

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति। स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम्। अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत्।। (ऋ०१.१२९.६) प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे। हवनार्ह इव। य इषवानन्नवान्। कामवान् वा। मननानि च नो रेजयति। रक्षोहा च बलेन रेजयति। स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारम्। वधैरजेत दुर्मतिम्। अवस्रवेदघशंसः। ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत्। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते। यथाऽहो दर्शनीय। अहो दर्शनीयेति। तत्परुच्छेपस्य शीलम्। परुच्छेप ऋषिः। पर्ववच्छेपः। परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा। इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि। सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि। तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः। प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति।।४२।।

भाष्यटीका

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति।
स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम्।
अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत्।। (ऋ०१.१२९.६)

परुच्छेपस्य। प्रवोचेयमिति सम्बन्धः। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। यदिष्टं स्तुतिरूपं तत् **प्र वोचेयं** प्रब्रवीमि। **भव्याय** एकैकस्याः कलाया वृद्ध्या हान्या वा युक्तेन तेन रूपेण भवितव्यम्। **इन्दवे** चन्द्रमसे। हवनमर्हतीति **हव्य** इन्दुः। नशब्द उपमार्थः। हव्य इव **यः**। अहर्विभक्त्वादेवमुच्यते। **इषवान्** छान्दसत्वादिषः इळ स्तुतिं प्रतीच्छन् वा। अन्नं वा इट् अकार आगमश्छान्दस्तद्वान् स्तोतृभ्यो देयेनान्नेन स्तुतीच्छया तद्वानित्यर्थः। **मन्म** मन्यतेरर्चतिकर्मण एतद्रूपम्। मननं स्तवनमस्मदीयं **प्रेरजति** कम्पते चलति गच्छतीत्यर्थः। यश्च **रक्षोहा** रक्षसां हन्ता। **मन्म** मननं रक्षसा चेतस्तद्रेजति। अन्तर्नीतण्यर्थोऽत्र रेजतिः। रेजयति कम्पयति। कथं पुनश्चन्द्रमा रक्षसां हन्ता चेतो वा कम्पयति? उच्यते। रक्षांसि हि तमश्चराणि। चन्द्रमाश्च तमोऽपनयनेन तेषां सञ्चारं निरुद्धन् हन्ता। चेतश्च बलेनोद्यन् कम्पयति। अत उच्यते। रक्षोहा मन्मेति रेजतीति।

किञ्च **स्वयमात्मनैव सः**। **अस्मदिति**। षष्ठ्यर्थे पञ्चमी। अस्माकमिति। **आनिदः** निन्देः क्विप्। आकारोऽभिशब्दार्थः। अभिनिन्दोऽभिनिन्दितृन् अभिमुख्येन निन्दितृन्। **वधैः** प्रहारैः। **अजेत** जयेत। **दुर्मतिं** पापबुद्धिम्। किञ्च त्वत्प्रसादाच्चा**वस्रवेत्** अधोगच्छेत् क्षीयेतेत्यर्थः। **अघशंसो**ऽघं पापं तद्योऽस्माकं जनेभ्यः शंसति कथयति स्फीतं करोति सोऽघशंसः। स चापसृतोऽप्य**वतरं स्रवेद**वतरां स्रवेत् पुनरपि सुतरामवस्रवेत् किमिव? **क्षुद्रमिव** द्रव्यमुदकादि तद्वदवस्रवेत्।

अवस्रवेदवस्रवेदित्यभ्यासः। परुच्छेप ऋषिरित्यभिधेयवचनः। स कस्मात् परुच्छेपः? पर्ववन्महच्छेपोऽस्येति। परुषि परुषि वा सर्वाङ्गसन्धिषु शेपस्थानीयानि गडून्यस्येति। शेफांस्येव वा। तथा च

कौषीतकिब्राह्मणम् **'असुरीन्द्रं प्रत्यक्रमत पर्वन्पर्वन् मुष्कान् कृत्वा तामिन्द्रः प्रतिजिगीषन् पर्वन् पर्वञ्छेपांस्यकुरुत। इन्द्र उ वै परुच्छेपः'** (कौ०ब्रा०२३.४)। अत्र ब्राह्मणे मुष्कशब्देन स्त्रीन्द्रियमुच्यते।

इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि।

इति। वाय्वादीनि इन्दुपर्यन्तानि सप्तविंशतिर्यया समाम्नायमनुक्रान्तानि। नियमार्थमिदम्। तद्विशेषप्रदर्शनायाह। **तेषामेतानि** चत्वारि वेनादीनि **अहविर्भाञ्जि** स्तुतिमेव भजन्ते न हविः। मन्त्रस्वभावप्रदर्शनार्थम्।

प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वेति धात्वन्यत्वमात्रम्। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य द्विचत्वारिंशः खण्डः।

अथ त्रिचत्वारिंशः खण्डः।

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव। यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम्॥ (ऋ०१०.१२१.१०) प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि परिबभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु। वयं स्याम पतयो रयीणाम्। इत्याशीः। अहिर्व्याख्यातः (निरु०२.१७)। तस्यैषा भवति॥४३॥

भाष्यटीका

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम्॥ (ऋ०१०.१२१.१०)

प्राजापत्यस्य हिरण्यगर्भस्यार्षम्। हे **प्रजापते**। नशब्दः परिभवतिना सम्बध्यते। **त्वत्** त्वत्त इत्यर्थः। **अन्यः** कश्चित्। **एतानि** भूतानि **विश्वा** विश्वानि जातान्युत्पन्नानि यानि तानि। **परि बभूव** परिपूर्वो भवतिः परिग्रहे परिक्षायां वा। परिगृह्णाति परिगृहीतुं शक्नोति रक्षितुं वेत्यर्थः। त्वमेव परिगृह्णासि रक्षसि वा। यत ईदृशोऽसि अतो ब्रूमः। **यत्कामा** वयं ते तुभ्यं त्वदर्थमित्यर्थः। **जुहुमो** होमं कुर्मः। **तन्नो**ऽस्माकम**स्तु** सर्वदैव। **वयं स्याम पतयः** स्वामिनो **रयीणां** धनानामित्याशीर्मन्त्रगतैव। यत्रापि नास्ति तत्राप्येकवाक्यतायै कल्प्येति भाष्यकाराभिप्रायः। अन्यथा किमाशिष आध्यानेन।

अहिर्व्याख्यातः। **'अहिरयनात्। एत्यन्तरिक्षे'** (निरु०२.१७) इति। इह त्विन्द्रो मध्यमोऽभिधेयः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)-ध्यायस्य त्रिचत्वारिंशः खण्डः।

अथ चतुश्चत्वारिंशः खण्डः।

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे। बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्।। (ऋ०७.३४.१६) अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजस्सूदकेषु सीदन्। बुध्नमन्तरिक्षम्। बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा। इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव। बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति। योऽहिः स बुध्न्यः। बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। तस्यैषा भवति।।४४।।

भाष्यटीका

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे। बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्।। (ऋ०७.३४.१६)

वसिष्ठस्य। अप्शब्द उपपदे जनेः **'जनसनखनक्रमगमः'** (अष्टा०३.२.६७) इति विटि **'विड्वनोरनुनासिकस्य'** (अष्टा०६.४.४१) इत्यात्वे द्वितीयैकवचन**मब्जा**मिति। यः कर्मात्मना वृष्टिलक्षणास्वप्सु जायते तमब्जाम्। **उक्थैः** स्तोत्रैः। **अहिं** मध्यमस्थानमहिं **गृणीषे** गृणातेः स्तुतिकर्मण आत्मनेपदं मध्यमो व्यत्ययेन परस्मैपदोत्तमयोः स्थाने। गृणीषे गृणामि स्तौमीत्यर्थः। **बुध्ने** बन्धने नदीनां नदीशब्देन शब्दकारिणीनामपां स्थानेऽन्तरिक्षे **रजःसूदकेषु सीदन्** मनसोदकानि ध्यायन् कामयमान इत्यर्थः। बद्धा अस्मिन् धृता आपः। इदमपीतरद् बुध्नं शरीरमुच्यते। बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति।

(अहिर्बुध्न्यः) योऽहिः स एव बुध्न्यः। इयांस्तु विशेषः। बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यः। अहिश्चासौ बुध्न्यश्चेति समानाधिकरणावहिबुध्न्यशब्दावसमस्तौ। तथापि अहिं बुध्नियं शंसतीति श्रुतौ लिङ्गं भवति। बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासादिति भावार्थप्रदर्शनं भाष्ये। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः।

अथ पञ्चचत्वारिंशः खण्डः।

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा। यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः।। (ऋ०७.३४.१७) मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धात्। मास्य यज्ञोखा च स्त्रिधद् यज्ञकामस्य। सुपर्णो व्याख्यातः (निरु०३.१२)। तस्यैषा भवति।।४५।।

भाष्यटीका

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा। यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः।। (ऋ०७.३४.१७)

वसिष्ठस्यैव। भिन्नस्तुतित्वादर्धर्चयोरुदाहरणम्। **मा नो**ऽस्मान्। **अहिर्बुध्न्य** उक्तनिर्वचनः। **रिषे** रेषणाय हिंसनाय। **धात्** दात् कस्मैचिदपि मा दादिति सम्बन्धः। **मा** चास्माभिः क्रियमाणो **यज्ञोऽस्य** सम्बन्धी **स्त्रिधत्** स्रवत् मा विनशदित्यर्थः। कीदृशस्याहेर्बुध्न्यस्य **ऋतायोर्**यज्ञकामस्य। उखापीको यज्ञ एवोखा रूपकमेतत्कल्पितं भाष्ये स्रवतेरौचित्यादिति।

सुपर्णो व्याख्यातः **'वयः सुपर्णाः'** (ऋ०१०.७३.११) इत्यत्र **'सुपतना आदित्यरश्मयः'** (निरु०४.३) इति। इह मध्यमोऽभिधेयः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः।

अथ षट्चत्वारिंशः खण्डः।

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे। तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥ (ऋ०१०.११४.४) एकः सुपर्णः स समुद्रमाविशति। स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति। तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितः। इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। तं माता रेळिह। वागेषा माध्यमिका। स उ मातरं रेळिह। पुरूरवा बहुधा रोरूयते। तस्यैषा भवति॥४६॥

भाष्यटीका

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥ (ऋ०१०.११४.४)

सध्रेरार्षं धर्मस्य वा। स समुद्रमिति परस्तात्तच्छ्रुतेर्यदध्याहारः। यो वक्षयमाणगुणः। **एको** सहायवान्। असहायो यः सर्वकार्येषु सहायान्तरं नापेक्षत इत्यर्थः। कोऽसौ? **सुपर्णो** मध्यमस्थानः। **समुद्र**मन्तरिक्षनामैतत्। तदा**विवेश** आविशति। आविश्य च सः स एव **इदं विश्वं** सर्वम्। किं पुनस्तत्? **भुवनं** भूतजातं **वि चष्टे** पश्यतिकर्मायम्। अभिपश्यत्यनुग्राह्यतया। तमेनमेवं रूपं **पाकेन मनसा** परिपक्वेन मनसाऽह**मपश्यं** दूरस्थमपि सन्त**मन्तितो**ऽन्तिकं सन्निधौ। **तं** च **माता** निर्मात्री उदकानां माध्यमिका वाक्। **रेळिह 'लिह आस्वादने'** (धा०२.६) इत्यस्य रूपम्। आस्वादनेन च अत्रोपजीवनमात्रं लक्ष्यते। वृष्टिप्रदानकर्मणि साहाय्येनोपजीवतीत्यर्थः। **स उ रेळिह मातरम्।** स मातरं तामेव माध्यमिकां वाचमुपजीवति नान्यत् किञ्चित्। सुपतनं वायुमपश्यमिति ऋषिर्दृष्टदेवतासतत्वः कस्मैचिदाचष्टे। तदाख्यानाच्चास्य प्रीतिर्भवतीति।

पुरूरवा मध्यमस्थानः। विज्ञायते हि **'वायुः प्राण एव पुरूरवाः'** (मै०सं०३.९.५) इति। स **कस्मात्?** बहुधा रोरूयते। अनेकविधमत्यर्थं स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोतीति पुरूरवाः। तस्यैषा।

इति पञ्चदशस्या-(दशमस्या)- ध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः।

अथ सप्तचत्वारिंशः खण्डः।

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः। महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन् दस्युहत्याय देवाः॥ (ऋ०१०.९५.७) समासतास्मिञ्जायमाने। ग्ना गमनादापः। देवपत्न्यो वा। अपि चैनमवर्द्धयन्। नद्यः स्वगूर्ताः स्वयं गामिन्यः। महते च यत्त्वा पुरूरवो रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्। दस्युहत्याय च देवा देवाः॥४७॥

भाष्यटीका

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन् दस्युहत्याय देवाः॥ (ऋ०१०.९५.७)

उर्वश्या आर्षम्। सम्भूयपतने **सम्। जायमान आसत** आसतेऽस्मिंस्त्वयि वृष्टिप्रदानाय कर्मात्मना जायमाने। काः? **ग्नाः** स्त्रिय आपो मेघस्था वा। **उता**पि चैनं त्वामन्नरसप्रतर्पणेनावर्धयन् वर्धितवत्यः। **नद्य** इत्युदकसञ्चारणत्वसामर्थ्याद् रश्मय उच्यन्ते ताः। **स्वगूर्ताः 'गुरी उद्यमने'** (धा०६.११५) ताः प्रतिगन्तुं स्वयमेवोद्यताः स्वयंगामिन्य इत्यर्थः। कदा? **महे** महते **यत्** यदा **त्वा** त्वां **पुरूरवो रणाय** मेघेन सह संग्रामाय **अवर्धयन्** वर्धयन्ति मध्यमस्थानं देवगणाः। **दस्युहत्याय** दस्युभूतस्य च दुर्भिक्षादेर्हननाय। **देवा** मध्यमस्थाना मरुदादयः।

ऐतिहासिकानां तु-पुरूरवा नाम ऐलो राजा। तं प्रत्युर्वश्याह। संभूयासत आसितवत्यस्तस्मिंस्त्वयि इलातो जायमाने। ग्नाः स्त्रियो देवानां पत्न्यः। ता एव देवानां पत्न्यो गङ्गाद्या वा नद्यः। स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्य इत्यर्थः कदा? महते यस्मात् त्वां हे पुरूरवः असुरैः सह संग्रामाय सर्ववीर्यैरवर्धयन् वर्धितवन्तः। दस्यूनां हननाय च देवा इन्द्रादयः। **'गच्छन्त्येनाः'** (निरु०३.२१) इति यदुक्तं तदेवात्रानुसारयति **गमना** इति। देवा देवा इत्यध्यायपरिसमाप्तिप्रज्ञापनफलोऽभ्यासः सिद्धः।

इति निरुक्तविवरणभाष्ये पञ्चदशो (दशमो)ऽध्यायः।

॥अथ एकादशो(षोडशो-)ऽध्यायः॥

प्रथमः पादः। प्रथमः खण्डः।

श्येनो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥१॥

'श्येनः शंसनीयं गच्छति' (निरु०४.२४) इति व्याख्यातः। इह तु मध्यमोऽभिधेयः। तस्यैषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य प्रथमःखण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्। अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥ (ऋ०४.२६.७) आदाय श्येनोऽहरत् सोमम्। सहस्रं सवान्। अयुतं च सह। सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य। तत्रायुतं सोमभक्षाः। तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा। तत्र पुरन्धिरजहादमित्रानदानानिति वा। मदे सोमस्य मूरा अमूर इत्यैन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः। तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते। ओषधिः सोमः सुनोतेः। यदेनमभिषुण्वन्ति। बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः॥२॥

भाष्यटीका

आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।

अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥ (ऋ०४.२६.७)

वामदेवस्य। **आदाय** गृहीत्वा **श्येनो** मध्यमस्थानः। **अभरत्** अहरत् स्वमास्यं प्रापितवान् पीतवानित्यर्थः। कम्? **सोमम्। सहस्रं सवान्** सवशब्दः सुत्यानामह्नामुपलक्षणार्थः। यत्र सहस्रं सुत्याः कुर्वन्तीति शेषः। सहस्रसाव्यसंज्ञके सत्र इत्यर्थः। तत्र हि सहस्रं सुत्याः कुर्वन्ति। **अयुतं च साकं** सह। कस्य? अयुतमिति सामर्थ्याद् भक्षाणाम्। कथम्? प्रतिसुत्यं हि दशानां चमसानां भक्षः। दशके सहस्रे सुत्यानामयुतं भवति। दशसहस्राणीत्यर्थः। अथवा अयुतं च साकमित्ययुतं दक्षिणानाम्। कथम्? सहस्रसाव्ये हि यद्यपि सत्रत्वाद् ऋत्विजां दक्षिणा नास्ति तथापि सदस्यदक्षिणास्ति **'यां सदस्येभ्यो ददाति सोमपीथं तया निष्क्रीणीते'** (मै०सं०४.८.३) इति सोमपीथार्थवादाद् यावन्तः सोमपीथास्तावत्या भवितव्यम्। ते चायुतम्। अतस्तत्सम्बन्धेन दक्षिणा अप्ययुतम्। बहुत्वमात्रप्रतिपादनार्थो वायुतशब्दः. सहस्रशब्दोऽपि।

(अत्रा) अत्रशब्दस्तत्रार्थे तत्र तत्रैव च **(पुरन्धिः)** बहुप्रज्ञो बहुकर्मा वा। कोऽसौ? प्रकृतः श्येनः। **अजहात्** हन्तेर्जहातेर्वा ण्यर्थस्य रूपम्। हतवान् त्याजितवान् वा। **अरातीः** स्त्रीलिङ्गश्रुतेः शत्रुसेना इति भावः। अथवा रातिर्दानम्। अरातयोऽदानबुद्धयोऽनधिकृतपुरुषजातीः। अजहात् स्वयमेव त्यक्तवान्। **मदे सोमस्य** सोमसम्बधिमदे **'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'** (अष्टा०२.३.३७) इति सप्तमी। तच्छुतेश्च लक्षणयोग्यक्रियापदाध्याहारः। मदे सति प्राप्ते मदे। **मूरा** अरातिविशेषणं मूढा अज्ञाः। **अमूरो**ऽमूढोऽतिरोहितज्ञानः

श्येनः। अतिरात्रसहस्रं सहस्रसाव्यं नाम सत्रम्। (श्येनः पक्षी अत) **ऐन्द्रे च सूक्ते** इत्यादि। श्येनस्य मध्यमस्थानत्वं युक्तवचनम्।

सोमो वक्तव्यः। उच्यते। **ओषधिरित्यभिधेयवचनम्। सुनोतेरिति** धातुनिर्देशः। **यदेनमिति** तत् साधनत्वप्रदर्शनम्। सूयत इति सोमः। मध्यमस्थानभाक्त्या समाम्नातस्य सतः सोमस्य प्रसङ्गादोषधिविषय-विशेषविषयत्वं प्रदर्श्यते। अथ तस्यापि मध्यमतया प्र योजनं तत्रार्थवादयोजना कार्या। **'यत्ते सोम दिवि ज्योतिः'** (मै०सं०१.३.३) तथा **'सोमो वै वाजस्तस्य चन्द्रमास्तृतीयमयं यः पवते स तृतीयमिति स तनूकरणे तं सर्वं स्वतनूभूतमाप्याययति'** (मै०सं०४.५.४) इति तस्यैवैषा स्वतनूश्चन्द्रमा यद्वायुरिति रसात्मकत्वादशोषणाच्च। सोऽयमध्यात्मापद्यते। तस्य नैघण्टुकेन प्राधान्येन निदर्शनार्थमुदाहरामः। निपातभाक्त्वेन तावत्।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या। इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः॥ (ऋ०९.१.१) इति सा निगदव्याख्याता। अथैषापरा भवति। चन्द्रमसो वा। एतस्य वा॥३॥

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या।

इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः॥ (ऋ०९.१.१)

मधुच्छन्दस आर्षम्। अतिशयेन स्वाद्व्या **मदिष्ठया** अतिशयेनैव मदयित्र्या। **पवस्व** क्षर **सोम धारया** सन्ततया। किमर्थम्? **इन्द्राय पातवे** इन्द्रार्थं यत्पानं तदर्थम्। कर्तरि वा छान्दसस्तवेत् प्रत्ययः। इन्द्रस्य पातुमर्थयेत्यर्थः। **सुतो**ऽभिषुतः संस्कृतः सन्नित्यर्थः। सोमस्य नैघण्टुकत्वेन योदाहृता सा निगदेनैव व्याख्याता।

अथैषापरेत्यत्राथशब्दः स्तुत्यतिरेकार्थः। प्राधान्यस्तुतिप्रतिपादनार्था भवति। कस्य? चन्द्रमसो वा एतस्य वा प्रकृतस्यौषधिसोमस्य।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

सोमं॑ मन्यते पपि॒वान् यते सं॑पि॒षन्त्योष॑धिम्। सोमं॒ यं ब्र॒ह्माणो॑ वि॒दुर्न तस्या॑श्नाति॒ कश्च॒न॥ (ऋ०१०.८५.३) सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिमिति वृथासुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति। न तस्याश्नाति कश्चनायज्वेत्यधियज्ञम्। अथाधिदैवतम्। सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसम्। न तस्याश्नाति कश्चनादेव इति। अथैषापरा भवति। चन्द्रमसो। एतस्य वा॥४॥

भाष्यटीका

सोमं मन्यते पपिवान् यते संपिषन्त्योषधिम्।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ (ऋ०१०.८५.३)

सूर्याया आर्षम्। परे च। परस्ताद्यच्छब्दश्रुतेस्तदध्याहारः। तं सोमत्वेन **मन्यते** जानाति **पपिवान्** पाता। **यत्** व्यत्ययेन यम्। **संपिषन्त्योषधिमोषधिरूपम्**। के? सामर्थ्याद् रासायनिकाः। न च स सोमः। कस्तर्हि सोमः? **सोमं** हितं मन्यन्ते **यं ब्रह्माणो ब्राह्मणाः**। ब्रह्मञ्छब्दो ब्राह्मणशब्दपर्यायोऽस्ति। कुतः? अनुचरसि ब्रह्मन्निति प्रयोगाद् ब्राह्मणा इत्यर्थः। ते च ऋत्विग्यजमानाः। यागसाधनभूतं संस्कर्तुं **विदुर्जानन्ति**। न तस्य षष्ठ्या एकदेशं स्वांशलक्षणम्। द्वितीयार्थे वा तम**श्नाति कश्चन** न कश्चिदयज्वेति शेषः। यज्वैतद्भक्षितुमर्हति नान्य इत्यर्थः। एवमौषधे सोमेऽर्थयोजना।

चन्द्रसि त्वधिदैवतं योज्यते। तं **सोमं मन्यते पपिवान्** पीतवान् पाता यजमानः। यत् **संपिषन्त्य**भिषवग्रावभिः क्षुन्दन्त्यो**षधिं** लतारूपं याज्ञे कर्मणि ऋत्विजो यजमानाश्च। न च स सोमः। कस्तर्हि सोमः? **सोमं** हि तं सत्त्वं मन्यन्ते **यत् ब्रह्माणो** ब्राह्मणा अधि दैवज्ञा **विदुर्जानन्ति** चन्द्रमसम्। न च **तस्याश्नाति कश्चन**देवो देवेभ्योऽन्यः। देवा ह्यत्र रश्मयस्त एव रश्मयस्तं क्रमेणाश्नन्ति। यजुःषु न निन्दया इतरस्य स्तुतिः।

अथानन्तरं चैषापरा पूर्ववद्विकल्पेन प्राधान्यस्तुतिप्रतिपादनार्था भवति चन्द्रमस इतरस्य वा। केचित् तां च ....र्यप्रतिपादनार्था भवतीति मन्यन्ते।

इति षोडशस्या-एकादशमस्या ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ (ऋ०१०.८५.५) यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत् आप्यायसे पुनरिति नाराशंसानभिप्रेत्य। पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा। वायुः सोमस्य रक्षिता। वायुमस्य रक्षितारमाह। साहचर्याद् रसहरणाद्वा। समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमः। रूपविशेषैरोषधिः। चन्द्रमा वा। चन्द्रमाश्चायन् द्रमति। चन्द्रो माता। चान्द्रं मानमस्येति वा। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः। चन्दनमित्यप्यस्य भवति। चारु द्रमति। चिरं द्रमति। चमेर्वा पूर्वम्। चारु रुचेर्विपरीतस्य। तस्यैषा भवति॥५॥

भाष्यटीका

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ (ऋ०१०.८५.५)

यत् यदा **त्वा** त्वां हे देव सोम ओषधिरूपं **प्रपिबन्ति** सवने सवने प्रकर्षेण पिबन्ति सामर्थ्याद् ऋत्विग्यजमानाः। ततोऽनन्तरमेव त्वमा**प्यायसे** आप्यायस्व। **'सं ते पयांसि'** (ऋ०१.९१.१८) इति प्रातःसवने। **'सं ते पयांसि'** (ऋ०१.९१.१८) इत्युत्तरयोः सवनयोराप्यायसे। किञ्च **वायुस्तव सोमस्य** रक्षिता साहचर्यात्

सखिभावादित्यर्थः। रसाहरणाद्वा सति शोषणसामर्थ्ये त्वदीयस्य रसस्याशोषणात्। किञ्च **समानां** समशब्दः संवत्सरपर्यायः संवत्सराणाम्। **मासो** मास्शब्दात् सकारान्तात् षष्ठी मासस्य च त्वमा**कृतिः** आभिमुख्येन कर्ता एकैकस्य वर्गस्योपजनेनापगमेन च युक्तै रूपविशेषैः। ओषधिसोमस्य हि प्रत्यहं शुक्लपक्षे एकैकं पर्णमुपजायते द्रक्ष्यत इत्यभिप्रायः। अथवा वायुः सोमस्य यानि पात्राणि ग्रहचमसादीनि तेषां रक्षिता। तेषां वानस्पत्यत्वात्। **'वायुगोपा वै वनस्पतयः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति श्रुतेः। अतोऽस्मिन् व्याख्याने सोमस्येति सम्बन्धे षष्ठी न कर्मणि। कृष्णपक्षे त्वपैति। तदपेक्षया च विशेषैरिति वचनम्। एवमौषधे सोमयोजना।

चन्द्रमसि तु-यदा **त्वा** त्वां हे **देव** सोम **प्र पिबन्ति** रश्मयोऽपरपक्षे। **ततो**ऽनन्तरमेव पूर्वपक्ष **आप्यायसे पुनः**। तत् **'या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति'** (निरु०५.११) इत्यत्र दर्शितम्। वायुश्च तव **सोमस्य रक्षिता** साहचर्याद्रसाहरणाद्वेत्युक्तम्। किञ्च **समानां** संवत्सराणाम्। मासस्य चाकृतिराभिमुख्येन कर्तुं प्रत्यहमेकैकस्याः कलाया उपजनेनापगमेन। च युक्तै रूपविशेषैः।

नाराशंसानभिप्रत्येति। आप्यायिताः सोमा आज्यादिषु शस्त्रेषु नाराशंसा उच्यन्ते। तदभिप्रायमाप्यायनवचन-मोषधिपक्षे। चन्द्रमसः पक्षे तु पूर्वपक्षापरपक्षावभिप्रेत्य। तथा च मन्त्रवर्णः **'यथा देवा अंशुम्'** इत्यादि। (रसहरणायेत्यपपाठः) **रूपविशेषैरिति**। चन्द्रमाः शुक्लकृष्णयोरुपचयापचयाभ्यामुदकस्य कर्ता पौर्णमास्य-मावास्ययोः पञ्चदशपर्णत्वाभ्याम्। एवं च रसायनाधिकारे रूपविशेषणमायुर्वेदस्मरणादिति।

चन्द्रमा वक्तव्यः। स कस्मात्? **चायन् द्रवति** चायन् पश्यन् लोकपालत्वात्। द्रवति गच्छति। यद्वा **चन्द्रो माता** च निर्माता वा। यद्वा **चन्द्रं मानमस्येति वा**। चन्द्रो ह्लादकं मानं निर्माणमात्मनः कर्मणां वास्येति चन्द्रमाः। यद्वा पाठान्तरं चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि मानं मासस्य युगस्य वा यस्यास्य चन्द्रमाः। स ह्रस्वत्वेन चन्द्रमाः। तथा च श्लोकः- **'सोऽप्यसाधनचन्द्राणाम्'** इत्यादि। मासयुगपरिमाणप्रसङ्गादाह चन्द्रम्। यदि हिरण्यमथापि ह्लादकरं ज्योतिष्मत्वात् सर्वथा चन्दतेर्धातोः कान्त्यर्थस्य। कान्तं हि तद्द्रवति। चन्दशब्दोऽप्यत एव धातोः प्रसङ्गादुक्त्वा प्रकृतस्यैव च निर्वचनान्तरमाह। **चारु द्रवति** शोभनं गच्छति। मन्दगतित्वाद्वा **चिरं द्रवति** चिरं गच्छति च। चमेर्वा पूर्वं चम्यमानो रश्मिभिरद्यमानो द्रवति। चारुशब्दं प्रसङ्गान्निराह। चारु रुचेर्विपर्ययेण। आकारश्च नामकरणो मध्यानुप्रवेशेन। तस्यैषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

नवो॑नवो भवति॒ जाय॑मा॒नोऽह्नां॑ के॒तुरु॒षसा॑मे॒त्यग्र॑म्। भा॒गं दे॒वेभ्यो॒ वि द॑धात्या॒यन् प्र च॒न्द्रमा॑स्तिरते दी॒र्घमायुः॑॥ (ऋ०१०.८५.१९) नवो नवो भवति जायमान इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य। अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। इत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य। आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके। भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्। इत्यर्धमासेज्यामभिप्रेत्य। प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः। मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः। तस्यैषा भवति॥६॥

भाष्यटीका

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।

भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ (ऋ०१०.८५.१९)

सूर्याया आर्षम्। **नवो नवो भवति जायमान**श्चन्द्रमा मासस्य पूर्वपक्षादौ। अपरपक्षान्ते त्व**ह्नां केतुः** केतुरिति चिह्नभूत इत्यर्थः। कर्ता वा। **उषसामेति** गच्छत्य**ग्रम्**। उषसामिति पूजार्थे बहुवचनम्। उषसः प्रकाशात् प्रथममुदेतीत्यर्थः। एवं पौर्णमासीममावास्यां च निष्पादयन् दर्शपौर्णमासयो**र्भागं देवेभ्यो**ऽग्न्यादिभ्यो **वि दधाति** निष्पादयत्**यायन्**। प्रशब्दस्तिरतिना वृद्ध्यर्थेन सम्बध्यते। **चन्द्रमाः प्रतिरते** प्रवर्धयति **दीर्घमायुः**। कस्य? सामर्थ्याद् यष्टॄणाम् यदा त्वादित्यदेवतो द्वितीयः पादः। तदाह्नां केतुरादित्यः। स उषसां गच्छत्यग्रम्। अग्रशब्दोऽन्तवचनः। अन्तं प्रत्युषसामन्त उदेतीत्यर्थः। **'पूर्वापरं चरतो'** इति पूर्वस्यामपि ऋच्युभयोः स्तुतिदर्शनादत्राप्यादित्यदेवत इति। यद्यपि चादित्यस्य पुरस्तात् पुराणे चन्द्रमसः स्थानं कथ्यते तथापि रसानुप्रदानसामान्याच्च स्थानवत्वं तावदुपपन्नम्। सर्वस्थानत्वे सति वायोरिव बलकृतिदर्शनात्। अतश्च कर्मप्राधान्यात् पौराणिकस्थानोपलब्धिस्मरणमतन्त्रम्।

मृत्युर्वक्तव्यः। स कस्मात्? **मारयतीति सत** इति म्रियतेरन्तर्नीतण्यर्थस्य **'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ'** (उणा०३.२१) इत्येवमौणादिकस्त्युक्प्रत्ययः। **मृतं च्यावयतीति** वा मृतमिति वर्तमानसामीप्ये। आसन्नमृत्युञ्च चरमोच्छ्वासकाले शरीराच्च्यावयतीति। शतशब्दो बहुनाम बहुबलान्यक्षाणि यस्य षडिन्द्रिय इत्यर्थः। मुद्गल्यस्य पुत्रो मौद्गल्यः स मन्यत इति शेषः। च्यावयतेर्वर्णव्यापत्त्या चकारस्य तकार इत्यभिप्रायः। अथवा मृतः क्षीणायुः संस्कार उच्यते। तं मृतं मध्यमः प्राणः शरीराच्च्यावयति। तथा च श्रुतिः **'प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति'** (बृह०उप०४.४.२) इति। तस्यैषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य षष्ठःखण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ (ऋ०१०.१८.१) परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो कथितं तेन मृत्यो। मृतं च्यावयते भवति मृत्यो। मदेर्वा। मुदेर्वा। तेषामेषा भवति॥७॥

भाष्यटीका

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।

चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ (ऋ०१०.१८.१)

संकुसुकस्यार्षम्। परशब्दोऽन्यवचनः। **परम**न्यं हे **मृत्यो अनु परेहि** अनुपरागच्छ। **पन्थां** पन्थानम्। कतमम्? **यस्ते** तव **स्व** आत्मीयः। **इतरो**ऽन्यो **देवयानात्** पितृयाण इत्यभिप्रायः। पितृयाणे पथि स्थितास्ता जहसि। देवयाने पथि स्थिता अतो माऽस्मान् जिघांसीरित्यभिप्रायः। न चास्मानेव केवलान्। किन्तर्हि? **चक्षुष्मते**

शृण्वते ते तुभ्यमित्यर्थः। **ब्रवीमि** कथयामि **मा नो**ऽस्माकं **प्रजां** दुहितृप्रभृतिं मा **रीरिषो** मा हिंसीः। मोत उत चार्थे मा च **वीरान्** पुत्रपौत्रांश्च।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य सप्तमःखण्डः।

अथ अष्टमः खण्डः।

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति। या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुं रसनामुरुष्यथः॥ (ऋ० १.१५५.२) इति सा निगदव्याख्याता। विश्वानरो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥८॥

भाष्यटीका

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति।
या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुं रसनामुरुष्यथः॥ (ऋ० १.१५५.२)

निगदव्याख्याता।

विश्वानरो व्याख्यातः। विश्वानरः प्रत्यृतः। वाय्वात्मकत्वेन सर्वभूतानीत्यभिप्रायः। एवमिह मध्यमोऽभिप्रेतः। तस्यैषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य अष्टमःखण्डः।

अथ नवमःखण्डः।

प्र वो मुहे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे। इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥ (ऋ० १०.५०.१) प्रार्चत यूयं स्तुतिं महतेऽन्धसोऽन्नस्य दात्रे। मन्दमानाय मोदमानाय स्तूयमानाय शब्दायमानायेति वा। विश्वानराय सर्वं विभूताय। इन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलम्। महच्च श्रवणीयं यशः। नृम्णं च बलं नृन्नतं। द्यावापृथिव्यौ वः परिचरत इति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥९॥

भाष्यटीका

प्र वो मुहे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।

इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥ (ऋ० १०.५०.१)

वैकुण्ठस्यार्षम्। प्रार्चेति सम्बन्धः। **व** इति प्रथमास्थाने यूयमित्यर्थः। **महे** महते। **मन्दमानाय** मोदमानाय। शब्दक्रियो वा महिः। शब्दाय्यमानाय। **अन्धसो**ऽन्नस्य दात्रे इति शेषः। अत्र च्छान्दसत्वात्तल्लोपः। अर्च बहुवचनस्य वा स्थाने एकवचनम्। सामर्थ्याच्चात्रार्चतिरुच्चाणार्थः प्रोच्चारयत ऋत्विजां प्रैषः। किम्? सामर्थ्यात् स्तुतिम्। **विश्वानराय** मध्यमस्थानाय। **विश्वाभुवे** सर्वत्र विविधं भूताय। प्राप्त्यर्थो भवति। विश्वं प्राप्ताय।

इन्द्रस्येश्वरस्य **यस्य सुमखं** सुमहत् **सहो** बलं शरीरम्। **महि** महत्। **श्रवः** श्रवणीयं यशः। **नृम्णं च** सेनालक्षणं बलम्। **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ ते अपि **सपर्यतः** परिचरतः किमुतान्यः।

शब्दाय्यमानाय स्तोतृभिः। प्रीतावित्यतिरिक्तःपाठः। नृम्णं नॄन् शत्रुभूतान् (प्रतिनमति। अन्तर्णीतण्यर्थो वा नमिः) नमयति प्रह्वीकरोति। य इत्यतिरिक्तः पाठः। इन्द्रस्य यस्येति प्रत्यवमर्शनान्मध्यमस्थानं निश्चित्य कमन्यमित्याह। एवं पृथिवीस्थानादन्यत्व उक्ते विष्णुर्विश्वानरो वरुणः केशीति द्युस्थानादपि च विश्वानरादवच्छेत्तुम्। परापि भवति।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य नवमःखण्डः।

अथ दशमःखण्डः।

उदु ज्योति॑र॒मृतं॑ वि॒श्वज॑न्यं वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒वो अ॑श्रेत्। (ऋ०७.७६.१) उदशिश्रियज्ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति। धाता सर्वस्य विधाता। तस्यैषा भवति॥१०॥

भाष्यटीका

उदु ज्योति॑र॒मृतं॑ वि॒श्वज॑न्यं वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒वो अ॑श्रेत्। (ऋ०७.७६.१)

वसिष्ठस्य आर्षम्। उच्छब्दोऽश्रेदित्यनेन सम्बध्यते। उकारः पदपूरणः। **ज्योति**रादित्याख्यम्। **अमृतं** मरणवर्जितम् **विश्वजन्यं** विश्वस्मै जनाय हितम्। **विश्वानरो** मध्यमस्थानः **सविता** स एव सर्वस्याभ्यनुज्ञानात्। **देवो** दानादियुक्तः। **उदश्रेत्** उदश्रयदुच्छ्रितं कृतवान् करोति वा। उद्गमयतीत्यर्थः। कुत एतत्? निष्क्रियत्वात् सर्वज्योतिषां वायुना प्रेर्यमाणानामुद्गमनात्। वायोश्च विश्वानरत्वात्। कथं ज्ञायते? क्रत्वादिकर्मणा देवानां रश्मीनामजनिष्ट जातम्। किं तत्? उष आख्यं चक्षुर्जनिता आविरक आविष्करोति। भुवनं भूतजातं विश्वं सर्वमुषाः।

धाता मध्यमस्थानो वर्षकर्मणा सर्वस्य विधाता। तस्यैषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथ एकादशः खण्डः।

धा॒ता द॑दातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॑ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम्। व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सुम॒तिं स॒त्यधर्म॑णः॥ (तु०अथर्व०७.१७.२, मै०सं०४.१२.६) धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविकामनुपक्षीणाम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः। विधाता धात्रा व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि॥११॥

धा॒ता द॑दातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॑ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम्।

व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सुम॒तिं स॒त्यधर्म॑णः॥ (तु०अथर्व०७.१७.२, मै०सं०४.१२.६)

वामदेवस्यार्षम्‌ **धाता** मध्यमो **ददातु दाशुषे** दत्तवते हवींषि यजमानाय। **प्राचीं** आगायामिनि प्रवृद्धामित्यर्थः। कां पुनस्ताम्? **जीवातुं** जीवनं जीविकामित्यर्थः। कीदृशीम्? **अक्षितां** क्षयवर्जिताम्। कस्मादेवं ब्रूमः? यदेते **वयं** तस्य **देवस्य धीमहि** ध्यायामः कर्तुमिति शेषः। दधातेर्वैतद्रूपं न ध्यायतेः। धारयामस्तदीयं कर्मेत्यर्थः। किम्? **सुमतिं** शोभनां मतिम्। मन्यतेरर्चतिकर्मणो मतिः। स्तुतिरिह (मतिर्) अभिप्रेता। स्तुतिं सत्यकर्मणः।

विधाता धात्रा व्याख्यातः। तस्यैषा। देवान्तरैः सह स्तुतिसन्निपातो बहुदेवतायामृचि।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णि॒ बृह॒स्पते॒रनु॑मत्या उ॒ शर्म॑णि। तवा॒हम॒द्य म॑घव॒न्नुप॑स्तुतौ॒ धात॒र्विधा॑तः क॒लशाँ॑ अभक्षयम्॥ (ऋ०१०.१६७.३) इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति। कलशः कस्मात्? कला अस्मिञ्छेरते मात्राः। कलिश्च कलाश्च किरतेः। विकीर्णमात्राः॥१२॥

भाष्यटीका

सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णि॒ बृह॒स्पते॒रनु॑मत्या उ॒ शर्म॑णि।

तवा॒हम॒द्य म॑घव॒न्नुप॑स्तुतौ॒ धात॒र्विधा॑तः क॒लशाँ॑ अभक्षयम्॥ (ऋ०१०.१६७.३)

विश्वामित्रजमदग्न्योरार्षम्। **सोमस्य राज्ञो** दीप्तत्वेन राजत्वेनासंस्तुतस्य **वरुणस्य** च सम्बन्धिनि **धर्मणि** यज्ञाख्ये वर्तमान इति शेषः। यागं कुर्वन्नित्यर्थः। **बृहस्पतेरनुमत्याश्च**। उकारः पादपूरणः। **शर्मणि** शरण आश्रये वर्तमान आश्रित इत्यर्थः। तव चाहमद्य **हे मघवन्** धनवन्। **उपस्तुतौ** वर्तमानः। त्वां च स्तुवन्नित्यर्थः। युवयोश्च हे **धातर्विधातश्च। अभक्षयं** भक्षितवान्।

इत्येताभिरिति समस्तार्थवचनम्। चमसाः सोमकलशा इहाभिप्रेताः। कला अवयवाः शेरतेऽवतिष्ठन्ते समुदाये हि अवयवाः समुदायवृत्या वर्तन्ते। शब्दसारूप्यात् प्रसक्तस्य कलेर्निर्वचनम्। कलिश्च कलाश्च किरतेः। सर्वशास्त्रव्यवस्थाविक्षेपात् कलिः कलाविशेषः। समुदायाद् विक्षिप्ता मात्राः कला इति।

इति निरुक्तविवरणभाष्ये षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ द्वितीयः पादः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

अथातो मध्यस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति। मरुतो मितराविणो वा। मितरोचिनो वा। महद् द्रवन्तीति वा। तेषामेषा भवति॥१३॥

भाष्यटीका

अथेति गणाधिकारः। मरुतां प्रथमगामित्वं वायुवत्। इयांस्तु विशेषः। आश्रितभेदो वायुर्बहुवचनान्तेन मरुच्छब्देनाभिधीयते। सर्व एव च मध्यमस्थाना देवगणा मरुतः।

सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान्वायुश्च सर्वगः।

गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम्॥ (बृहद्दे०५.४८)

पौराणिकास्तु मारीचात्काश्यपाद्दित्यां जज्ञिरे मरुतां सप्त सप्तका गणा इत्याहुः। **मरुतो मितराविणो वा** (मरु) मितं प्राप्य च रुवन्ति स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन्ति। अमितं वा बहु च। बहु प्रकारं शब्दं कुर्वन्ति। रवणशीलाः। रुचेर्वोत्तरार्थः। विद्युदात्मना पूर्ववन्मितममितं वा महद् रुवन्तीति वा। महदुच्चैर्द्रवन्तीति वा। महदन्तरिक्षं द्रवन्तीति वा। तेषामेषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

आ वि॒द्युन्म॑द्भिर्मरुतः स्व॒र्कै रथे॑भिर्यात ऋ॒ष्टिम॑द्भि॒रश्व॑पर्णैः। आ वर्षि॑ष्ठया न इ॒षा वयो॒ न प॑प्तता सुमायाः॥ (ऋ०१.८८.१) विद्युन्मद्भिर्मरुतः। स्वर्कैः स्वञ्चनैरिति वा। स्वर्चनैरिति वा। स्वर्चिभिरिति वा। रथैरायात। ऋष्टिमद्भिः। अश्वपर्णैरश्वपतनैः। वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वयं इवापतत। सुमायाः कल्याणकर्माणो वा। कल्याणप्रज्ञा वा। रुद्रा व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥१४॥

भाष्यटीका

आ वि॒द्युन्म॑द्भिर्मरुतः स्व॒र्कै रथे॑भिर्यात ऋ॒ष्टिम॑द्भि॒रश्व॑पर्णैः।

आ वर्षि॑ष्ठया न इ॒षा वयो॒ न प॑प्तता सुमायाः॥ (ऋ०१.८८.१)

गौतमस्य। **आ** यात इति सम्बन्धः। विद्योतनं विद्युत्तया तद्वद्भिर्विद्योतनवद्भिः। हे **मरुतः स्वर्कै**रञ्चनमर्कः स्वञ्चनैः शोभनगमनैरित्यर्थः। अर्चनं वार्कः स्वर्चनैः सुस्तुतिभिरित्यर्थः। अर्चिर्वार्कः स्वर्चिभिः सुदीप्तिभिरित्यर्थः। कैः? **रथेभी** रथैः। **आयात** अस्मान् प्रति। **ऋष्टिमद्भिः**। अत्र सर्वाणि तृतीयान्तानि रथविशेषणनि। ऋष्टयः स्थूणा वा तद्वद्भिः। **अश्वपर्णैः** अश्वाः पतन्ति गच्छन्ति यैस्तैः। अथवा रंहतेर्गतिकर्मणः। रंहितृत्वाद् रथा मेघा उच्यन्ते। विद्युता संयुक्तैर्मेघैः सहायात। स्वर्कैरिति पूर्ववद्योजना। ऋष्टी रेषणं हिंसा। दुर्भिक्षादीनां हन्तृभिरित्यर्थः। अश्वपर्णैरित्यपि **'अशू व्याप्तौ'** (धा०५.१८) नभसो व्याप्तृभिः पतनैः। आकारः

पसतेत्याख्यातेनान्वीयते। आयातृत्वं **वर्षिष्ठया** अतिशयेन प्रवृद्धया बृहत्या **इषा** अन्नेन। **न** एषा चतुर्थी तादर्थ्ये हेतुभूतेन वृद्धतममन्नमस्मभ्यं दातुमित्यर्थः। **वयो न** वयांसीव पक्षिण इव शीघ्रं **पप्तता** आपतत। **सुमायाः** मायेति कर्मवचनं प्रज्ञानाम वा सुकर्माणः सुप्रज्ञा वा। विद्युन्मद्भिरितिसत्त्वम्।

रुद्रा व्याख्याताः। '**रुद्रो रौति**' (निरु०१०.५) इत्यादिना। वचनकृतो विशेषः। तेषामेषा।

इति षोडशस्या-एकादशस्या-ध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन। इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे॥ (ऋ०५.५७.१) आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण। सहजोषणाः। सुविताय कर्मणे। इयं वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिः। तृष्णज इव दिव उत्सा उदन्यवे। तृष्णक् तृष्यतेः। उदन्युरुदन्यतेः। ऋभव उरु भान्तीति वा। ऋतेन भान्तीति वा। ऋतेन भवन्तीति वा। तेषामेषा भवति॥१५॥

भाष्यटीका

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे॥ (ऋ०५.५७.१)

श्यावाश्वस्य। **आ** गन्तनेति सम्बन्धः। **रुद्रसो** हे रुद्राः। **इन्द्रवन्त** इन्द्रेण संयुक्ता इन्द्रेण सहिता इत्यर्थः। **सजोषसः** सन्प्रीयमाणाः। तेनैव परस्परतो वा। **हिरण्यरथास्ते** हिरण्यवर्णरथाः। हितरमणं रंहणा वा सुविताय '**इण् गतौ**' (धा०२.३५) अधिकरणेऽत्र क्तप्रत्ययः। **सुविताय** सुविगमनाय यज्ञकर्मणे यज्ञसमाप्त्यर्थमित्यर्थः। **आगन्तन** आगच्छत। कस्मादेवमुच्यते आगच्छतेति? यस्मादियं **वो अस्मत्** षष्ठ्यर्थे पञ्चमी। अस्माकं स्वभूता मतिः। प्रतिशब्दो धात्वर्थानुवादी। हर्यतिः प्रेप्साकर्मा। प्रतिहर्यते कामयते। **तृष्णजे न** नशब्द उपमार्थीयः। तृष्णा पिपासा यस्मिन् काले जायते तया वा यो जयति स तृष्णजो ग्रीष्मान्तः। तस्मिन्निव काले। **दिवः** सम्बन्धिन इति शेषः। **उत्सा** द्वितीयार्थे प्रथमा मेघनामैतद् द्रष्टव्यम्। उत्सान् मेघान्। **उदन्यवे** प्रथमार्थे चतुर्थी। उदुन्युरुदकेन्धुः। यथा मेघान् कामयन्ते तद्वत्।

अथवा उत्सा इति प्रथमा उदन्यव इति चतुर्थीश्रुतेर्व्यवहितस्यागमनस्येदमुपमानं (न कामयमानानाम्)। यथा ग्रीष्मान्ते दिवो द्युलोकात्। उत्सा मेघा उदन्यवे उदककामस्य जनस्यार्थायागच्छन्ति तद्वदागच्छत (इति) तृष्णक्शब्दनिर्वचनात् तृष्णजेशब्दश्च तुल्यः। उदन्यवे इत्यनेन समानाधिकरणम्। पिपासाशीलस्योदककामस्य जनस्यार्थाय यथा च उत्सा आगच्छेयुस्तद्वदागच्छतेति भाष्यकाराभिप्रायः। एवं तु व्याख्यायमाने तृष्ण................ हमेतत् तदभिप्रायाद् भाष्यम्। शाकल्यस्य तृष्णोपपदस्य जनेरधिकरणसाधनः कर्तृसाधनो वा डप्रत्यय इत्यभिप्रायः। कुत एतत्? अवग्रहात्। तथा च मन्त्रो व्याख्यातः। उदन्युः '**अशनायोदन्य**' (अष्टा०७.४.३४) इति क्वचिदुदकस्य।

ऋभवो वक्तव्याः। विद्युतप्रकाशनमुरु विस्तीर्णं भान्ति। उरुशब्दात् ऋकारो रेफोऽज्भक्तिश्च। भातेराकारलोपः। ऋतेन वोदकेन दीप्यन्ते सञ्चितेन तैः सहाविर्भवन्तीति वा। तेषामेषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

वि॒ष्ट्वी शमी॑ तरणि॒त्वेन॑ वा॒घतो॒ मर्ता॑सः॒ सन्तो॑ अमृत॒त्वमा॑नशुः। सौ॒ध॒न्व॒ना ऋ॒भवः॒ सूर॑चक्षसः संवत्सरे॒ सम॑पृच्यन्त धी॒तिभिः॑॥ (ऋ०१.११०.४) कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन। वोळ्हारो मेधाविनो वा। मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानशिरे। सौधन्वना ऋभवः सूरख्याना वा। सूरप्रज्ञा वा। संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः। ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः। तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन। तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति। आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते। **अगो॑ह्यस्य॒ यदस॑स्तना गृ॒हे तद॒द्येमृ॑भवो॒ नानु॑ गच्छथ॥ (ऋ०१.१६१.११)** अगोह्य आदित्योऽगूहनीयः। तस्य यदस्वपथ गृहे। तावत्तत्र भवथ न तावदिह भवथेति। अङ्गिरसो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥१६॥

भाष्यटीका

वि॒ष्ट्वी शमी॑ तरणि॒त्वेन॑ वा॒घतो॒ मर्ता॑सः॒ सन्तो॑ अमृत॒त्वमा॑नशुः।

सौ॒ध॒न्व॒ना ऋ॒भवः॒ सूर॑चक्षसः संवत्सरे॒ सम॑पृच्यन्त धी॒तिभिः॑॥ (ऋ०१.११०.४)

कुत्सस्य। **विष्ट्वीति** नेदं कर्मनामात्र गृह्यते। किन्तु विषेर्व्याप्त्यर्थस्य क्रियाशब्दोऽयम्। स्नात्व्यादित्वादीकारः (अष्टा०७.१.४९)। विष्ट्वी विष्ट्वा व्याप्य कृत्वेत्यर्थः। **शमीति** कर्मनाम कर्माणि प्रख्यातानि। तरणिरिति क्षिप्रनाम क्षिप्रत्वेन शीघ्रमित्यर्थः। **वाघतो** यद्यप्येतद् ऋत्विङ्नाम तथाप्यत्र सामर्थ्याद्वहे रूपं यज्ञस्य वोढारः। मेधाविनो वा **मर्तासो** मरणधर्माणः क्षणविनाशिनः। **सन्तोऽमृतत्वम**विनाशित्व**मानशु**रासवन्तः। **सौधन्वना** धन्वान्तरिक्षं शोभनं च धन्व सुधन्व तस्मिन् धन्वनि भवास्ते **ऋभवो** वैद्युता ज्योतिर्विशेषाः। कीदृशाः? **सूरचक्षसः** सूर्यसमानदर्शनाः कृत्स्नस्य प्रकाशकाः। कथं ज्ञायतेऽमृतत्वमानशुरिति। **संवत्सरे** गते इति शेषः। पुनरपि **समपृच्यन्त** सम्बध्यन्ते ते **धीतिभिः** स्वभिरुदकवर्षणैः कर्मभिः। पुनरपि वृष्टि कुर्वन्त्येवेत्यर्थः। इयं नैरुक्तपक्षयोजना।

ऐतिहास्यानि वा देवैरुक्तानि **'एकं॑ चम॒सं च॒तुर॑स्कृणोतन॒'** (ऋ०१.१६१.२) इत्यादीनि कर्माणि। **तरणित्वेन** शीघ्रम्। **वाघतः** ऋत्विङ्नामैतंत् सामर्थ्याच्चात्रान्तर्नीतमत्वर्थः। यष्टार इत्यर्थः। मर्तासो मनुष्याः। **सन्तोऽमृतत्वं** देवत्वमानशुः। **सौधन्वनाः** सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। **ऋभवः** ऋभुप्रभृतयः। साहचर्यादृभव उच्यन्ते। **'अर्धर्चाः पुंसि च'** (अष्टा०२.४.३१) इति यथा। ऋभुर्विभ्वा वाज इति। सूर्यसमानदर्शना अत्यन्तं तेजस्विनस्तादृशप्रज्ञा वा। प्राप्य च देवत्वं संवत्सरे या धीतयः कर्मणि तेष्विज्यमानत्वाद्भागार्हं प्राप्ता इत्यर्थः।

तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां ऋभुवाजाभ्यां **बहुवत्** बहुत्वयुक्ता **निगमा** उदाहरणानि विद्यन्ते न तथा विभ्वना **मध्यमेन**। तदेतदार्भवानि **'किमु श्रेष्ठ'** इत्यस्य सत्कृतस्य संस्तवेन युक्तानि सर्वग्वेदशाखासु बहूनि सूक्तानि विद्यन्ते। तद्यथा **'इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त'** (तै०सं०३.१९) इति।

मन्त्रस्वाभाव्यमुपलक्षणीयं मन्त्रव्यभिचारप्रदर्शनायाह **'आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते'** इति उदाहरणम्।

उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।

अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदुद्येमृभवो नानु गच्छथ॥ (ऋ०१.१६१.११)

दीर्घतमसः। **उद्वत्सु 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे'** (अष्टा०५.१.११८) इति वतिः। उद्गतेषु उन्नतेषु। केषु? सामर्थ्याद्द्रुमप्रदेशेषु। अस्मै जनाय। **अकृणोतन** छन्दसि सर्वोपाधिव्यभिचारदर्शनात् सेलाटदातादिकं। **निवत्सु** निर्गतेषु पानावगाहनक्षमा **अपो** उदकानि। **स्वपस्यया** अप इति कर्मनाम शोभनमपः स्वपस्तत इच्छाक्यजन्तादकारप्रत्ययो भावे ततष्टाप् तृतीया हेतौ। रणेच्छाहेतुना रश्मीनां च भूतलगतास्याहीन्या व्यभिचरति इत्याथर्वणे व्यापारदर्शनादुपपन्नं तृणादिकरणम्। किञ्च **अगोह्यस्य** गूहितुमशक्यं स्यादित्यस्य **यत्** यदा रात्रावित्यभिप्रायः। **असस्तन** सस्वप्ते। **गृहे** मण्डलाख्ये। **तत्** तदा। **अद्य** रात्रिलक्षणे वर्तमानकाले। **इदं** जगत्। हे **ऋभवो** रश्मयः। **नानुगच्छथ** यावत्तत्र भवथ न तावदत्र। ततश्च युष्मद्विना निरालोकोऽयं लोकः। एतद्वो माहात्म्यमिति स्तुतिः। इतीत्यतिरिक्तपाठः।

अङ्गिरसः 'अङ्गिरेष्वङ्गिराः' (निरु०३.१७) इति व्याख्यातः। वचनकृतो विशेषः.

इति षोडशस्या-एकादशस्या-ध्यायस्य षोडशःखण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः। ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे॥ (ऋ०१०.६२.५) बहुरूपा ऋषयः। ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा। तेऽङ्गिरसः पुत्राः। तेऽग्नेरधिजज्ञिर इत्यग्निजन्म। पितरो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥१७॥

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे॥ (ऋ०१०.६२.५)

नाभानेदिष्ठस्य। परस्तात्तच्छ्रुतेर्योगार्थसम्बन्धाय यच्छ्रुतेरध्याहारः। ये पूर्वास्वृक्षु प्रकृता **विरूपासो** विविधरूपाः। **इतौ** पादपूरणौ **ऋषयो** द्रष्टारो मन्त्राणामतिमेधसः। **ते गम्भीरवेपसः** वेपस् इति कर्मणः प्रज्ञाया नाम वा भाष्ये वचनात्। गम्भीरं दुरवगाहमन्येन (अशक्यमध्यवसातुं) वेपः कर्म प्रज्ञानं वा येषां दुरवगाहकर्माणो दुरवगाहप्रज्ञा वा त **अङ्गिरसोऽङ्गिरा** नाम ऋषिस्तस्य **सूनवः** पुत्रास्ते **अग्नेरग्नितः** सकाशात् **परिजज्ञिरे** पारम्पर्येण जाताः। अग्नेः सकाशादङ्गिराः। तस्मादपि ते अङ्गिरसो जाता इत्यग्निजन्म पुरस्तादष्टमे व्याख्यातम्।

पितरो व्याख्याताः। **'पाता वा पालयिता वेति'** (निरु०४.११)। वचनकृतो विशेषः।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य सप्तदशःखण्डः।

अथ अष्टादशः खण्डः।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ (ऋ०१०.१५.१) उदीरतामवरे। उदीरतां परे। उदीरतां मध्यमाः पितरः। सोम्याः सोमसम्पादिनस्तेऽसुं ये प्राणमन्वीयुः। अवृका अनमित्राः। सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा। ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु। माध्यमिको यम इत्याहुः। तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते। अङ्गिरसो व्याख्याताः। पितरो व्याख्याताः। भृगवो व्याख्याताः। अथर्वाणोऽथनवन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। तेषामेषा साधारणा भवति॥१८॥

भाष्यटीका

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।

असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ (ऋ०१०.१५.१)

शङ्खस्यार्षम्। **उच्छब्द** ऊर्ध्वतायाम्। **ईरतां** ईरतेर्गच्छतिकर्मणो लोण्मध्यमपुरुषस्य **'आत्मनेपदेष्वनतः'** (अष्टा०७.१.५) इति। ऊर्ध्वं पितृलोकमीरतां गच्छन्तु। **अवरे**ऽवस्थाः पृथिवीस्थाः। **उत्परास** ऊर्ध्वमेव परे द्युस्था इत्यर्थः। **उन्मध्यमा** ऊर्ध्वमेव मध्यमा अन्तरिक्षस्थाः। **पितरः सोम्यासः 'पैत्रीश्च यामीश्च शंसती'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादि स्तुतिकर्मत्वेन सर्वेऽपि सोमसम्पादिनः। **किञ्च** असुं प्राणं **य ईयुर्गताः**। स्थूलं विग्रहं त्यक्त्वा सूक्ष्माः प्राणरूपतामापन्ना इत्यर्थः। **अवृका** वृकस्य सादृश्याद् वृको हिंसकः (शत्रुरिति तद्वर्जिताः)। अनुग्राहका इत्यभिप्रायः। तथा च **'अक्रोधनाः शौचपरा'** (मनु०३.१९२) इत्यादि स्मरणम्। **ऋतज्ञाः** सत्यस्य यज्ञस्य वा ज्ञातारः। **ते नो**ऽस्मान् द्वितीयाश्रुतेः प्रतीति शेषः। अस्मान् प्रति। **अवन्तु** अवतिर्गतिकर्मा गच्छन्तु। **पितरो हवेषु** आह्वानेषु सत्सु। आहूताः सन्त इत्यभिप्रायः।

सोमसम्पादिनः कर्मण्यनभावं गच्छन्तः सोमं सम्पादयन्ति। **अनमित्राः** परं सत्यमुपगताः। अपरेषां परेषां च मध्यस्थानत्वप्रतिपादनायाह **माध्यमिको यमः**। स च तेषां राजा पितृपतिरुच्यते। तत्सम्बन्धात्सर्वानेव मध्यमान्मन्यन्ते नैरुक्ताः।

अतः परावथर्वाणो भृगव इति द्वौ देवगणौ समाम्नातौ। न च तयोर्व्यस्तयोः समस्तयोर्वा स्तुतिरस्ति। अस्ति त्वङ्गिरसः पितृसाधारण्येन तत्प्रदर्शनायाथर्वाण इत्यस्यापौनरुक्त्याम् (अङ्गिरः प्रभृतीन्) कृत्व्याख्यानाननूद्याथर्वणं निराह। **अथनवन्त इति।** नैरुक्तधातुश्चरत्यर्थः। तस्याथर्व इत्येवं रूपस्यार्थणं छान्दसो वकारलोपः। गमनवन्त इत्यर्थः। तत्प्रतिषेधोऽथर्वणमगमनम्। तेनाथर्वणेनागमनेन तद्वन्तोऽथर्ववन्तः सन्तोऽथर्वाणः। अथवा अथर्वतेरनिप्रत्ययः। अथर्वाणो गन्तारः। यस्तु भाष्येऽथनशब्दः। असावथर्वशब्दस्यैवार्थविवरणम्। भृगुर्भर्ज्यमानो न देहेन वचनकृतो विशेषः। तेषामेषा समानस्तुतिः।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य अष्टादशः खण्डः।

अथ एकोनविंशः खण्डः।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ (ऋ०१०.१४.६) अङ्गिरसो नः पितरः। नवगतयो नवनीतगतयो वा। अथर्वाणो भृगवः। सोम्याः सोमसम्पादिनः। तेषां वयम्। सुमतौ कल्याण्यां मतौ। यज्ञियानामपि चैषाम्। भद्रे भन्दनीये। भाजनवति वा। कल्याणे मनसि। स्यामेति। माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। पितर इत्याख्यानम्। अथाप्यृषयः स्तूयन्ते॥१९॥

भाष्यटीका

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ (ऋ०१०.१४.६)

यमस्यार्षम्। **अङ्गिरसो** नोऽस्माकं **पितरः**। कीदृशाः? **नवग्वा** मासे मासे पिण्डपितृयज्ञे गतिर्येषाम्। नवनीते वा मनसो गतिरभिलाषो येषां ते। **अथर्वाण**श्च **भृगव**श्च **सोम्यासो** ये सोमसम्पादिनस्ते**षां वयं सुमतौ** शोभनायामनुग्राहकबुद्धौ **यज्ञियानां** यज्ञार्हाणाम्। **अपि**श्चार्थो भद्रशब्दाच्च परो द्रष्टव्यः। **भद्रे** च **सौमनसे** कल्याणे सौमनस्ये प्रीतावित्यर्थः। **स्याम** भवेमेत्याशास्महे।

नवनीतगतय इति। विज्ञायते हि **'स्वयं विलीनमाज्यं पितृणाम्'** (मै०सं०३.६.२) इति। **भन्दनीये** स्तुत्ये। **भाजनवति वा** येन मनसा भाजयन्ति अभिमतैः कामैः सम्बन्धयन्तीत्यर्थः।

अङ्गिरा इत्यादि मध्यमस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। तदधिकारे समाम्नानात्। पितर इत्याख्यानविदः पौराणिकाः स्मरन्ति। ते सनत्कुमारादयो देवविशेषा एव। तथा चाह **'मेने हैरण्यगर्भस्य'** (मूलमनुपलब्धम्) इति। पितृगणा इवोपसंहरन्नाह य एते गुणमुख्याः पितृणामिति। **'ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवाः'** (मूलमनुपलब्धम्) इति च। प्रसङ्गादाह। **अथाप्यृषयः स्तूयन्त** इति।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः।

अथ विंशः खण्डः।

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः। वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः॥ (ऋ०७.३३.८) इति यथा। आप्त्या आप्नोतेः। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि॥२०॥

भाष्यटीका

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः॥ (ऋ०७.३३.८)

इन्द्रस्यार्षम्। **सूर्यस्येव वक्षथो** वचनस्य **ज्योतिः** प्रकाशः। **एषां** युष्माकं वसिष्ठानाम्। **समुद्रस्येव महिमा** माहात्म्यम्। महिम्नो विशेषणं **गभीर** इति। गम्भीरमोजस्विनो दुरवगाहार्थं च युष्माकं वचनमित्यर्थः। **वातस्येव** च **प्रजवः** प्रकृष्टो जवो वेगो यस्य **नान्येन** केनचित् स्तोमः हे **वसिष्ठा अन्वेतवे** आनुपूर्व्येन। तुमर्थे तवेन्प्रत्ययः। अनुगन्तुं शक्यत इति शेषः। किम्? अयं **स्तोमः**। **वो** युष्माकं स्वभूतः।

आप्त्या इन्द्रसहचारिमध्यमस्थानो देवगणः। सर्वव्यापित्वादाप्नोतेः। एकतादय इत्याख्यानम्। ऋषीणामेव सताम् एषां मन्त्रेषु स्तुतिदर्शनादिन्द्रसाहचर्यान्मध्यमे च स्थाने समाम्नातमेतदङ्गिरः प्रभृतीनां द्रष्टव्यम्। तेषामेष स्तुतिसन्निपातो भवति ऐन्द्र्यामृचि।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथ एकविंशः खण्डः।

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्। आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि॥ (ऋ०१०.१२०.६) स्तोतव्यम्। बहुरूपम्। उरुभूतम्। ईश्वरतमम्। आप्तव्यम्। आप्तव्यानाम्। आदृणाति यः। शवसा बलेन। सप्तदातृनिति वा। प्रसाक्षते। प्रतिमानानि बहूनि। साक्षतिराप्नोतिकर्मा॥ २१॥

भाष्यटीका

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि॥ (ऋ०१०.१२०.६)

बृहद्दिवस्यार्षम्। स्तौतेः कृत्यार्थे सेर्यक्। **स्तुषेय्यं** स्तोतव्यमित्यर्थः। अत्र चैकवाक्यत्वाय भाष्यकारेण परस्ताद्यच्छब्दोऽध्याहृतः। यच्छ्रुतेस्तच्छ्रुतिरध्याहार्या। तमिन्द्रमहं स्तौमीति वाक्यशेषः। कीदृशम्? **पुरुवर्पसं** वर्प इति रूपनाम बहुरूपम्। **ऋभ्वं** उरुभूतं महान्तमित्यर्थः। **इनतमं** इन ईश्वरोऽतिशयेनेश्वरम्। **आप्त्यमाप्त्यं** च स्तुतिभिः। केषाम्? **आप्त्यानामाप्तव्यानामृषीणाम्। 'कृत्यानां कर्तरि वा'** (अष्टा०२.३.७१) इति षष्ठी। **आ दर्षते** आदारयति। यः **शवसा** बलेन। किमादारयति? **सप्त दानून्** दातृनुदकस्य मेघान्। दानवचनो दानुशब्दः। नमुचिप्रभृतीन् दानवानित्यर्थः। किञ्च **प्र साक्षते** साक्षतिरप्नोतेरर्थे प्रकर्षेण च व्याप्नोति। **प्रतिमानानि** उपमानानि। भूरि प्रथमाबहुवचनस्य लुक् **'सुपां सुलुक्'** (अष्टा०७.१.३९) इति। भूरीणि हि बहूनि।

एतदुक्तं भवति। यान्यस्योपमानान्युपादीयन्ते तेभ्योऽधिकतर इन्द्र उरुः। सप्त दानून् **'दाभाभ्यां नुः'** (उणा०३.३२) इत्यौणादिको ददातेर्नुः। दानुर्दाता। भाष्ये तु दानानीत्ययमेवार्थो बहुवचनात् कर्तरि ल्युट् प्रदर्शितः। ददातीति दानम्। तद्दातृनित्यर्थः।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य द्वितीयःपादः।

अथ तृतीय: पाद:।

अथ द्वाविंश: खण्ड:।

अथातो मध्यस्थाना: स्त्रिय:। तासामदिति: प्रथमगामिनी भवति। अदितिर्व्याख्याता। तस्या एषा भवति॥२२॥

अथात: शब्दावुक्तार्थौ। प्रथमागामित्वं चादितेरदीनत्वाद् देवमातृत्वाच्च। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य द्वाविंश: खण्ड:।

अथ त्रयोविंश: खण्ड:।

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवासिसि। अतूर्तपन्था: पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु॥ (ऋ०१०.६४.५) दक्षस्य वादिते जन्मनि। व्रते कर्मणि। राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि। विवासति: परिचर्यायाम्। **हविष्माँ आविवासति॥ (ऋ०१.१२.९)** इत्याशास्तेर्वा। अतूर्तपन्था अत्वरमाणपन्था:। बहुरथ:। अर्यमादित्योऽरीन्नियच्छति। सप्तहोता। सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति। सप्तैनमृषय: स्तुवन्तीति वा। विषमरूपेषु जन्मसु। कर्मसूदयेषु। **आदित्यो दक्ष** इत्याहु:। आदित्यमध्ये च स्तुत:। अदितिर्दाक्षायणी। **अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदिति: परि॥ (ऋ०१०.७२.४)** इति च। तत्कथमुपपद्यते। समानजन्मानौ स्यातामिति। अपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्याताम्। इतरेतरप्रकृती। अग्निरप्यदितिरुच्यते। तस्यैषा भवति॥२३॥

भाष्यटीका

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवासिसि।

अतूर्तपन्था: पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु॥ (ऋ०१०.६४.५)

गयस्यार्षम्। अदिति: प्रातस्तनी सन्ध्या। सा चावश्यायलक्षणरसानुप्रदानसम्बन्धान्मध्यमस्थाना वोच्यते। हे **अदिते दक्षस्य 'दक्ष वृद्धौ'** (धा०१.६०९) दक्ष: प्रवृद्धप्रज्ञ इहादित्योऽभिप्रेतस्तस्य। वाशब्दो **जन्मनि व्रते** वेत्यर्थ:। उदयोऽत्र जन्माऽभिप्रेत:। व्रतमिति कर्मनाम। उदयाख्ये जन्मनि कर्मणि **'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'** (अष्टा०२.३.३७) इति द्वे अपि सप्तम्यौ। उदयाख्ये कर्मणि सति उद्यदादित्य इत्यर्थ:। वा शब्दश्रुतिसामर्थ्याद्वा दक्षस्य वा जन्मनि त्वत्तस्तव वा जन्मनि दक्षादित्येवमध्याहार्यम्। त्वत्तो जायमान आदित्ये आदित्याद्वा त्वयि जायमान इत्यर्थ:। **राजाना मित्रावरुणा 'अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण:'** (ऐ०ब्रा०४.१०) इति श्रुतेरहोरात्रावत्र मित्रावरुणावुच्यते। तौ **विवासिसि** विवसति: परिचर्यायां परिचरसि। कथम्? तदनुप्रवेशेनार्धं हि सन्ध्याया रात्रिमनुप्रविशति अर्धमह:। लोकेऽपि हि योऽयं परिचरति स तद्भावानुप्रवेशेनैव।

ऐतिहासिकानां त्वदितिर्देवमाता सोच्यते। उद्यत्यादित्ये तं प्रजानामुपकुर्वन्तं दृष्ट्वा दीप्यमानौ मित्रावरुणौ विवाससि। अत्र व्याख्याने विवासतिराशासतेरर्थे। ततश्चायमर्थः। आशास्से अप्येतावपि प्रजानामेवोपकुर्वतामिति।

परोऽर्धर्चो दक्षस्य विशेषणार्थः। **अतूर्तपन्था**स्त्वरतेस्तूर्तोऽतूर्तस्त्वरावर्जितः पन्था यस्य स नियतगतित्वाच्चेदमुच्यते। त्वरमरणो ह्यनियतगतिर्भवति। **पुरुरथो** रथो रंहतेः। प्रत्यहं भुक्तिभेदात् बहुरंहणः। **अर्यमा** अरीणां तमसां यन्ता नियन्ता। **सप्तहोता** जुहोतेः। सप्तरश्मयो यस्मिन् रसान् जुह्वति प्रक्षिपन्ति सः। अथवा सप्तहोतेति न जुहोतेः। ह्वयतेरर्चतिकर्मण इदं रूपम्। सप्तर्षयो भरद्वाजादयो होतारो यस्य। **विषुरूपेषु** विषमरूपेषु जन्मसु उदयाख्येषु कर्मसु। सप्तमीश्रुतेर्वर्तत इति शेषः। विषमरूपत्वं चोदयानां दक्षिणायणे उत्तरायणे चानियतगतित्वेन प्रत्ययादन्यस्मिंश्च प्रदेशे नभस उन्मानात्। योऽतूर्तपन्था इत्यादिगुणस्तस्य दक्षस्य जन्मनीत्येवं यत्तदावध्याह्वत्यैकवाक्यता योज्या। **'हविष्मान् आविवासति'** इति परिचर्यायामित्यस्य सिद्धये दृष्टान्तः

यो अ॒ग्निं दे॒ववी॑तये ह॒विष्माँ॑ आ॒विवा॑सति। तस्मै॑ पावक मृळय॥ (ऋ० १.१२.९)

मेधातिथेः। **यो** भवन्त**मग्निं देववीतये** वीतिर्गतिर्देवान् प्रति वीतये गमनाय। अशनार्थो वा वीतिः। देवैर्भक्षणाय। **हविष्मान् आविवासति** परिचरति। **तस्मै** द्वितीयार्थे चतुर्थी तम्। हे **पावक** पावयितः **मृळय सुखय**।

अथ कोऽयं दक्षः? अदितेः पुत्र आदित्यो दक्ष इत्याहुर्ब्रह्मविदः। आदित्यमध्ये च स्तुत इति। च शब्दो हेतौ। यस्मादादित्यमध्ये स्तुतो दक्षः। **'इ॒मा गिर॑ आदि॒त्येभ्यः॑'** (ऋ०२.२७.१) इत्यत्र इदं तर्हि **कथं** यदैतिहासिका आहुः। अदितिर्दाक्षायणीति। उभयमपि चेदं निगमे श्रूयते। आदित्यो दक्षोऽदितिर्दाक्षायणीति। तद्यथा **'अदि॑ते॒र्दक्षो॑ अजायत॒'** (ऋ०१०.७२.४) इत्युदाहरणम्। .....

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

यस्मै॒ त्वं सु॑द्रविणो॒ ददा॑शोऽनागा॒स्त्वम॑दिते स॒र्वता॑ता। यं भ॒द्रेण॒ शव॑सा चो॒दया॑सि प्र॒जाव॑ता॒ राध॑सा॒ ते स्या॑म॥ (ऋ०१.९४.१५) यस्मै त्वं सुद्रविणो ददासि। अनागास्त्वम्। अनपराधत्वम्। अदिते सर्वासु कर्मततिषु। आग आङ्पूर्वाद् गमेः। एन एतेः। किल्विषं किल्भिदम्। सुकृतकर्मणो भयम्। कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा। यं भद्रेण। शवसा बलेन। चोदयसि। प्रजावता च राधसा धनेन ते वयमिह स्यामेति। सरमा सरणात्। तस्या एषा भवति॥ २४॥

भाष्यटीका

यस्मै॒ त्वं सु॑द्रविणो॒ ददा॑शोऽनागा॒स्त्वम॑दिते स॒र्वता॑ता।

यं भ॒द्रेण॒ शव॑सा चो॒दया॑सि प्र॒जाव॑ता॒ राध॑सा॒ ते स्या॑म॥ (ऋ०१.९४.१५)

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंशः खण्डः।

कि॒मि॒च्छन्ती स॒रमा॒ प्रेदमा॑नड् दू॒रे ह्यध्वा॒ जगु॑रिः परा॒चैः। कास्मेहि॑ति॒ः का परि॑तक्म्यासीत् कु॒थं र॒साया॑ अतर॒ः पया॑सि॥ (ऋ०१०.१०८.१) किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट्। दूरे ह्यध्वा। जगुरिर्जङ्गम्यतेः। पराञ्चैरचितः। का तेऽस्मास्वर्थहितिरासीत्। किं परितकनम्। परितक्म्या रात्रिः। परित एनां तक्म। तक्मेत्युष्णनाम। तकत इति सतः। कथं रसाया अतरः पयांसीति। रसा नदी रसतेः शब्दकर्मणः। कथं रसानि तान्युदकानीति वा। देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समद इत्याख्यानम्। सरस्वती व्याख्याता। तस्या एषा भवति॥२५॥

भाष्यटीका

किमि॒च्छन्ती स॒रमा॒ प्रेदमा॑नड् दू॒रे ह्यध्वा॒ जगु॑रिः परा॒चैः।

कास्मेहि॑ति॒ः का परि॑तक्म्यासीत् कु॒थं र॒साया॑ अतर॒ः पया॑सि॥ (ऋ०१०.१०८.१)

........। तीर्णवत्यसि। **पयांसि** उदकानि। अथवा कथं रसा इत्येतावदेकं पदं प्रथमाबहुवचनान्तम्। या इत्येतदपि पदान्तरं द्वितीयाबहुचनान्तम्। कथं रसानि किं प्रकाराणि रसानि यानि त्वमतर उदकानीति शाखान्तरापेक्षमेतद् भाष्यकारस्य व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। अपीत इति पाठः। आचित इति तु प्रमादपाठः। परितक्म्या रात्रिः। कस्मात्? तकति ईषतीति तरतेर्गतिकर्मणः। सर्वतो गच्छतीति। अथवा तक्मोष्णं तत्परित उभयत एनां परिगृह्य वर्तत इति। तदुक्तं **तक्मेत्युष्णनाम तकतीति सत** इति। तेन परिमितकर्मा स............. परितक्म्येति। अथवा परितक्म्या परितकनं परिभ्रमणम्। कीदृशमासीत् भ्रमणकरणेति? रसा नदी भवति योजनशतविस्तीर्णा। सव...........लक्षणेन रसेन शब्देन शब्दवती। समूदे समुदितवती संवादं कृतवतीत्यर्थः। एवमियमाख्यानपक्षे योजना।

यदा तु माध्यमिकवाक् सरमा तदैवम्। अनावृष्ट्या पीडितो नदन्तं स्तनयित्नुमुपश्रुत्य सासूयं मन्त्रदृगाह। **किमिच्छन्ती सरमा** मध्यमस्थाना वाक्। **इदमस्मच्छ्रोत्रं प्रानट्**। समानमन्यत्। परितक्म्या परितकनं अतीते कालेऽस्मान् मुक्त्वा क्वान्यत्र परिभ्रमणम्। तत् किमासीत्? केन वा कारणेनेत्यर्थः।

सरस्वती नदीवत् **'इमं मे गङ्गे'** (निरु०२.२३) इत्यत्र व्याख्याता। देवतावद् व्याख्यायते। तथा च **'तत्र सरस्वतीत्येतस्य'** इत्यादिनोत्कृष्टस्य देवतापदस्यायमवसरः।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

पा॒व॒का न॒: सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती। य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः।। (ऋ०१.३.१०) पावका नः सरस्वती। अन्नैरन्नवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः। तस्या एषापरा भवति।। २६।।

भाष्यटीका

पा॒व॒का न॒: सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती।
य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः।। (ऋ०१.३.१०)

मधुच्छन्दसः। परा च। **पावका** पवतिरत्र सामर्थ्यात् क्षरणार्थो द्रष्टव्यः **'सोम॑: पवते ज॒नि॒ता म॑ती॒नाम्'** (ऋ०९.९६.५) इति यथा। क्षरित्री उदकानाम्। **नो**ऽस्माकं स्वभूतं यज्ञमिति सम्बन्धः। **सरस्वती** मध्यमस्थाना वाक्। कीदृशी? **वाजेभिर्वाजिनीवती** वाजो बलं वेगो वा तद्वती वाजिनी। कासौ? सरस्वत्याः स्वभूता सेना तद्वती वाजिनीवती सरस्वती। अथवा वाजं हविर्लक्षणमन्नं तद्यस्या अस्ति सा वाजिनी यागसन्ततिस्तद्वती वाजिनीवती। सा **यज्ञं वष्टु 'वश कान्तौ'** (धा०२.७०) कामयताम्। कामनेन चात्रागमनं सम्भजनं च लक्ष्यते। यो यत्कामयते स तदागच्छति सम्भजते च। आगच्छतु सम्भजतां चेत्यर्थः। **धियावसुः** धीरिति कर्मनाम। वस्विति धननाम। कर्म यागलक्षणं (वसु) धनं यस्याः सा कर्मधना प्रज्ञाधना वा।

अथवा वसेराच्छादनार्थस्य वसुशब्दः। ***'शृस्वृस्निहि'*** (उणा०१.१०) इत्यादिना उप्रत्ययान्तः। धिया कर्मणा वृष्टिलक्षणेन प्रज्ञया वा छादयित्री वार्थानाम्। तस्या एषापरा व्यक्ततरा मध्यमलिङ्गप्रदर्शनार्था। पूर्वस्यां तु पावका पावयित्रीत्यपि स्यात्।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

म॒हो अर्ण॒: सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑। धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति।। (ऋ०१.३.१२) महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा। इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति। वागर्थेषु विधीयते। तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते। वाग्व्याख्याता। तस्या एषा भवति।। २७।।

भाष्यटीका

म॒हो अर्ण॒: सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑।
धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति।। (ऋ०१.३.१२)

महद् बहु **अर्णो** मेघस्थमुदकम्। **सरस्वती** मध्यमस्थाना वाक्। **प्र चेतयति** प्रज्ञापयति। **केतुना** कर्मणा गर्जिताख्येन। गम्भीरं हि गर्जितं श्रुत्वा महदत्र मेघ उदकमिति प्रज्ञायते। केतुशब्दोऽपठितोऽपि कर्मनाम प्रज्ञानामैव वा। कुत एतत्? **'वै॒श्वा॒न॒रस्य॒ विमि॑ताति॒ चक्ष॑सा'** (ऋ०६.७.६) इत्यत्र मन्त्रे प्रयोगदर्शनात्। अत्र हि

चक्षसेत्यनेन प्रज्ञाया उपात्तत्वादसन्दिग्धं केतुशब्दस्य कर्मवचनत्वम्। प्रज्ञया वा यया गर्जन्ति वर्षन्ति च। **धियः** कर्माणि प्रज्ञा वा। **विश्वा** सर्वा। **वि राजति** राजतिर्दीप्त्यर्थः। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः। विविधं दीपयति वृष्टिद्वारेण यागकर्माणि। प्रज्ञां वा दीपयति तृप्तस्योन्मीलयति प्रज्ञाम्। बुभुक्षितस्य न प्रतिभाति किञ्चित्। अत उच्यते। तस्य निष्पत्तिद्वारेण धियो विराजतीति। अथवा धिय इति तद्वदुपलक्षणम्। धीमन्ति सर्वाणि भूतानि प्रतीत्यर्थः। विराजति विविधं दीप्यते ईष्टे।

कथं पुनरवगम्यते मध्यमस्थाना सरस्वतीति। उच्यते। **वागर्थेषु विधीयत** इति। वागर्थेषु वाचो मध्यमस्थानाया अर्थेषु साध्येषु वर्षक्षरणस्तनयित्नुलक्षणेषु स्तुतिहेभूतेषु सरस्वती साधकत्वेन विधीयते विविधं स्थाप्यते उदाह्रियते। यस्मात् माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते नैरुक्ताः।

वाग् व्याख्याता। **'वाक् कस्मात्? वचेः'** इत्यत्र। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथ अष्टाविंशः खण्डः।

यद्वाग्वद॑न्त्यविचेत॒नानि॒ राष्ट्री॑ दे॒वानां॑ नि॒षसाद॑ म॒न्द्रा। चत॑स्र॒ ऊर्जं॑ दु॒दु॒हे॒ पया॑ंसि॒ क्व॑ स्विदस्याः पर॒मं ज॑गाम॥ (ऋ०८.१००.१०) यद्वाग्वदन्ति। अविचेतनान्यविज्ञातानि। राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा मदना। चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि। क्व स्विदस्याः परमं जगामेति। यत्पृथिवीं गच्छतीति वा। यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा। तस्या एषापरा भवति॥ २८॥

भाष्यटीका

यद्वाग्वद॑न्त्यविचेत॒नानि॒ राष्ट्री॑ दे॒वानां॑ नि॒षसाद॑ म॒न्द्रा।

चत॑स्र॒ ऊर्जं॑ दु॒दु॒हे॒ पया॑ंसि॒ क्व॑ स्विदस्याः पर॒मं ज॑गाम॥ (ऋ०८.१००.१०)

नेमस्य। परा च। **यद्** यदा **वाक्** माध्यमिका **वदन्ति अविचेतनानि** अप्रज्ञातार्थानि स्तनयित्नुलक्षणानि शब्दरूपाणि। **राष्ट्री** ईश्वरनामैतत् ईश्वराः (प्राहुः) कस्येश्वराः? **देवानां** माध्यमिकानाम्। **निषसाद** निषीदति वर्षितुमन्तरिक्षे। **मन्द्रा** स्तोतव्या हर्षयित्री वा। यच्छुतेस्तदध्याहारः। तदा **चतस्रो** दिशः प्रतीति शेषः। **ऊर्जं दुदुहे** क्षरन्ति। **पयांसि** उदकानि उदकलक्षणं रसमित्यर्थः। अथवा ऊर्जमित्यन्ननाम। कारणे च कार्यशब्दः। ऊर्जोऽन्नस्य कारणभूतानि पयांसि। क्षरितस्य चेतरस्या **अस्याः** स्वभूतस्य यत् **परमं** श्रेष्ठं तत् **क्व जगाम** क्वापि जगति न दृश्यत इत्यर्थः। तदाह भाष्यकारः। **यत्पृथिवी गच्छति यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा। मन्द्रा** मदना। अनुः प्रतिना समानार्थः।

तस्यैषापरा। किमर्था? इयमेव माध्यमिका वाक् सर्वप्राण्यन्तर्गता धर्माधर्माभिवादिनी भवतीति विभूत्युपदर्शनार्था भवतीति।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य अष्टाविंशः खण्डः।

अथ एकोनत्रिंशः खण्डः।

दे॒वीं वाच॑मजनयन्त दे॒वास्तां वि॒श्वरू॑पाः प॒शवो॑ वदन्ति। सा नो॑ म॒न्द्रेष॒मूर्जं॒ दुहा॑ना धे॒नुर्वाग॒स्मानुप॒ सुष्टु॒तैतु॑॥ (ऋ०८.१००.११) देवीं वाचमजनयन्त देवाः। तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति। व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च। सा नो मदनान्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मानुपैतु सुष्टुता। अनुमति राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः। पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः। **या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः। योत्तरा सा राका** (मै०सं०४.३.५, ऐ०ब्रा०३२.९) इति विज्ञायते। अनुमतिरनुमननात्। तस्या एषा भवति॥२९॥

भाष्यटीका

दे॒वीं वाच॑मजनयन्त दे॒वास्तां वि॒श्वरू॑पाः प॒शवो॑ वदन्ति।

सा नो॑ म॒न्द्रेष॒मूर्जं॒ दुहा॑ना धे॒नुर्वाग॒स्मानुप॒ सुष्टु॒तैतु॑॥ (ऋ०८.१००.११)

तच्छ्रुतेर्यदध्याहारः। यां देवीं मध्यमस्थानां **वाचमजनयन्त** जनयन्ति। के? **देवा** माध्यमिकाः। **विश्वरूपाः। पशवो वदन्ति** ये च व्यक्तवाचो ये चेतरे। तत्पूर्वकत्वाद् वाक् प्रवृत्तेः। **सा नो मन्द्रा** मदना स्तुत्या हर्षयित्री वा वृष्टिप्रदानद्वारेण **इषमन्नमूर्जं** च पयो घृतादिकं च रसं **दुहाना** क्षरती। **धेनु**स्थानीया **वागस्मानुपैतु** उपगच्छतु वर्षितुं प्रवर्ततामित्यर्थः। **सुष्टुता** सुष्ठु स्तुतास्माभिः।

अनुमतिर्देवता काचिद् द्रष्टव्या। अनुमतिः कस्मात्? **अनुमननात्**। अनुमता किलासौ देवैर्ऋषिभिश्च चतुर्दशके पक्षे। चतुर्दश्यपि सत्यस्त्वियं पौर्णमासीति तिथ्यादानविच्छेदकृतं पूर्वोत्तरत्वम्। केचिन्मन्यन्ते। यदा चतुर्दश्या मानं पञ्चदश्यां विच्छेदः। तदा तयोः पूर्वोत्तरत्वम्। परमपि पञ्चदश्या मानं प्रतिपदि विच्छेदः। तदा तयोः। यदोभयं पञ्चदश्यां न पूर्वा नोत्तरा। तदा च **'यां पर्यस्तमयं प्राण उदियात्'** इत्यादि लक्षणं पौर्णमास्यमावास्ययोः पूर्वोत्तरत्वे। तदेतत्पूर्वोत्तरं पूर्वोक्तं ऋतुविकारपक्षे पौर्णमास्यमावास्ययोश्चतुर्दशीपञ्चदशीप्रतिपद्विषयत्वेन विहितं च प्रसिद्धं च। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकदशस्या)-ध्यायस्य एकोनत्रिंशः खण्डः।

अथ त्रिंशः खण्डः।

अन्विद॑नुमते॒ त्वं मन्या॑सै॒ शं च॑ नस्कृधि। क्रत्वे॒ दक्षा॑य नो हिनु॒ प्र ण॒ आयूँ॑षि तारिषः॥ (तै०सं०३.३.११) अनुमन्यस्वानुमते। त्वं सुखं च नः कुरु। अन्नं च नोऽपत्याय धेहि। प्रवर्धय च न आयुः। राका रातेर्दानकर्मणः। तस्या एषा भवति॥३०॥

भाष्यटीका

अन्विद॑नुमते॒ त्वं मन्या॑सै॒ शं च॑ नस्कृधि।

क्रत्वे॒ दक्षा॑य नो हिनु॒ प्र ण॒ आयूँ॑षि तारिषः॥ (तै०सं०३.३.११)

वामदेवस्य। **इत्** पदपूरणः। **अनुमन्यासै** अनुमन्यस्व यदनुमन्तव्यम्। हे **अनुमते त्वं शं** च सुखं च **नो**ऽस्माकं **कृधि**। **इषमन्नं** च **तोकायापत्याय** **नो**ऽस्माकं स्वभूताय **दधो** देहि। **प्रतारिष** इति सम्बन्धः। तरतिश्च वृद्ध्यर्थः। प्रवर्धय च नोऽस्माकमायूंषि।

पञ्चदशके पक्षे राकेत्युच्यते पञ्चदशी प्रतिपदा। राका कस्मात्? रातेर्दानार्थस्य। दीयते हि तस्यां देवेभ्यो हविः। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य त्रिंशः खण्डः।

अथ एकत्रिंशः खण्डः।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना। सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ (ऋ०२.३२.४) राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्या ह्वये। शृणोतु नः सुभगा। बोधत्वात्मना। सीव्यत्वपः प्रजननकर्म। सूच्याच्छिद्यमानया। सूची सीव्यतेः। ददातु वीरम्। शतप्रदम्। उक्थ्यं वक्तव्यप्रशंसम्। सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः। अमावास्ये इति याज्ञिकाः। **या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली। योत्तरा सा कुहूः।** (मै०सं०४.३.५, ऐ०ब्रा०३२.९) इति विज्ञायते। सिनीवाली सिनमन्नं भवति। सिनाति भूतानि। वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा। वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा। तस्या एषा भवति॥३१॥

भाष्यटीका

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ (ऋ०२.३२.४)

गृत्समदस्य। **राकां** मध्यमस्थानां कालविशेषाधिदेवतां वा। **अहं सुहवां** सुह्वानाम्। **सुष्टुती** तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णः शोभनया स्तुत्या। **हुवे** ह्वयतेर्लटि आत्मनेपदोत्तमैकवचने **'बहुलं छन्दसि'** (अष्टा०६.१.३४) इति सम्प्रसारणे शपश्च लुकि कृत एतत्। हुवे ह्वयामि। सा च हूयमाना **शृणोतु** नोऽस्माकम्। **सुभगा**। श्रुत्वा च **बोधतु** बुध्यतु **त्मना** आत्मनैव यदस्माकं कर्तव्यम्। किं पुनस्तत्? उच्यते। **सीव्यतु** सन्तनोतु। **अपः** कर्मनामैतत्। कर्म प्रजोत्पत्तिलक्षणम्। **सूच्या** पुत्रपौत्रादिसन्ततिलक्षणया। **अच्छिद्यमानया**। **ददातु वीरं** पुत्रं **शतदायं** शतानां दातारमर्थिभ्यः। **उक्थ्यम्** वक्तव्या प्रशंसा यस्य तं वक्तव्यप्रशंमनुपक्षीणकीर्तिमित्यर्थः।

सिनीवालीत्यादि पूर्वेण कृतव्याख्यानम्। प्रविभज्य निराह। **सिनमन्नम्**। **सिनाति** बध्नाति। विनश्यन्तं धारयतीत्यर्थः। **वालं पर्व** अमावास्याख्यम्। पर्व कस्मात्? वृणोतेः। वृण्वन्ति हि तत्र देवता हवींषि तस्मिन् पर्वणि। अन्नेन हविर्लक्षणेनान्नवती वालिनी वा। तस्यां केशश्मश्रुवपनश्रुतेः। वालैस्तद्वती वालिनी। सिनी चासौ वालिनी चेति सिनीवाली देवपत्नी। पक्षे चैतन्निर्वचनम्। पृथुकेशस्तुकत्वादुपमानाद्वा। कथमुपमानम्?

वालेनेवेत्यादि। सेवितव्यः सम्बद्धव्यः। दृष्टचन्द्रा चेयम्। तथा चोत्तरस्यां **'गृहपतेः'** (आ०श्रौ०१२.२७.६) इत्यादि निगमोपपत्तिः। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य एकत्रिंशः खण्डः।

अथ द्वात्रिंशः खण्डः।

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ (ऋ०२.३२.६) सिनीवालि पृथुजघने। स्तुकः स्त्यायतेः सङ्घातः। पृथुकेशस्तुके। पृथुष्टुते वा। या त्वं देवानामसि स्वसा। स्वसा सु असा। स्वेषु सीदतीति वा। जुषस्व हव्यमदनं प्रजां च देवि दिश नः। कुहूर्गूहतेः। क्वाभूदिति वा। क्व सती हूयत इति वा। क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तस्या एषा भवति॥३२॥

भाष्यटीका

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ (ऋ०२.३२.६)

गृत्समदस्य। हे **सिनीवालि** मध्यमस्थाने देवपत्नि पूर्वामावास्याधिदेवते वा। **पृथुष्टुके** स्तुकः स्त्यायतेः संघातो नितम्बः केशपाशरूपो वा। यद्वा स्तुकशब्देन स्तुतिरुच्यते। तेनायमर्थः। पृथुनितम्बे पृथुकेशपाशे पृथुस्तुके। **या** त्वं **देवानामसि स्वसा** साहचर्याद् भगिनीस्थानीया। सा त्वं **जुषस्व** सेवस्व। इदं **हव्यं** हविः। **आहुतं** मर्यादया हुतम्। **प्रजां** प्रजा च हे **देवि दिदिड्ढि** प्रदिश देहि। **नो**ऽस्मभ्यम्।

स्वसा कस्मात्? (सु असा) सुष्ठु पतिकुले क्षेप्तव्या। (इति पाठस्तु) सुखावबोधनार्थः। स्वेषु सीदतीति वा। सुशब्द स्वशब्दो वा पूर्वपदम्। अस्यतेः सदेर्वोत्तरपदम्।

कुहूः कस्मात्। **गूहतेर्धातोः**। गूढो ह्यदृश्यश्चन्द्रमास्तत्र तत्र भवति। अतश्चन्द्रमसो गूहनाद्वर्णव्यापत्या **कुहूः। क्वाभूदिति वा**। तस्यामप्रत्यक्षत्वाद्वितर्क्यश्चन्द्रमा भवति। क्व पुनरसावभूदित्येवम्। अतः कुहूः। सैव वा **देवतारूपत्वादप्रत्यक्षत्वात् क्व सती** वर्तमाना **हूयत इति** कुहूः। उभयत्र वाक्यार्थे पदवचनम्। **नैरुक्तपक्षेऽपि यथासम्भवमनुमत्यादीनां** निर्वचनानि योज्यानि। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।

अथ त्रयस्त्रिंश: खण्ड:।

कुहूमहं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि। सा नो ददातु श्रवणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम॥ (मै०सं०४.१२.६) कुहूमहं सुकृतं विदितकर्माणमस्मिन् यज्ञे सुह्वानामाह्वये। सा नो ददातु श्रवणं पितृणाम्। पित्र्यं धनमिति वा। पित्र्यं यश इति वा। तस्यै ते देवि। हविषा विधेमेति व्याख्यातम्। यमी व्याख्याता (निरु०१०.१९)। तस्या एषा भवति॥३३॥

भाष्यटीका

कुहूमहं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि।

सा नो ददातु श्रवणं पितृणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम॥ (मै०सं०४.१२.६)

वामदेवस्य। **कुहूं** भवतीम्। **अहं सुवृतं** वर्तनं वृत् शोभनं वर्तनं यस्या:। शोभनं वर्तते गच्छतीत्यर्थ:। शोभनं या वृणोति ताम्। **विद्मनापसं** अप: कर्म विद्मनाशब्दो विदितशब्दस्यार्थे विदितकर्माणम्। **अस्मिन्** प्रकृते **यज्ञे। सुहवां** सुह्वानाम्। **जोहवीमि** पुन: पुनर्हूयामि। **सा** च भवती **नो**ऽस्मभ्यं **ददातु। श्रवणं** श्रवणीयम्। **पितृणां** सम्बन्धि पितृभ्य आगतं पित्र्यमित्यर्थ:। किं तत्? सामर्थ्याद्धनं यशो वा। **तस्यै ते** तुभ्यं हे **देवि हविषा** द्वितीयार्थे तृतीया हविर्**विधेम** विदधतिर्दानार्थ:। दद्म:।

अथवा तस्यै ते इति द्वे अपि चतुर्थ्यौ द्वितीयार्थे। हविषेति तु तृतीया स्वार्थ एव। तां त्वां हविषा विधेम परिचरेम। भाष्ये सुष्टुत्या शोभनया स्तुत्या अर्थप्रासार्थवचनम्। विदधतिदानकर्मेति व्याख्यातम्।

यमी (निरु०१०.१९) व्याख्याता यमेन। तस्या एषा।

इति षोडशस्या- एकादशस्या- ध्यायस्य त्रयस्त्रिंश: खण्ड:।

अथ चतुस्त्रिंश: खण्ड:।

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥ (ऋ०१०.१०.१४) अन्यमेव हि त्वं यमी। अन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते। लिबुजेव वृक्षम्। तस्या वा त्वं मन इच्छ। स वा तव। अधानेन कुरुष्व संविदम्। सुभद्रां कल्याणभद्राम्। यमी यमं चकमे। तां प्रत्याचचक्ष इत्याख्यानम्॥३४॥

भाष्यटीका

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।

तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥ (ऋ०१०.१०.१४)

यमी यमं चकमे। तामसावनया प्रत्याचचक्षे। एवं संवादसूक्तशेषः। ऊ सू पदपूरणौ। एवशब्दस्यार्थे वा। **अन्यमेव त्वं** हे **यमि** परिष्वंक्ष्यसे न मामित्यर्थः। **अन्य उ त्वामन्यश्च** त्वां **परिष्वजाते** लृट्स्थाने पञ्चमः परिष्वंक्ष्यते नाहम्। **लिबुजेव** वृक्षं व्रततिरिव **वृक्षम्। तस्य वा** वाशब्दश्चार्थे तस्य च। **त्वं मन इच्छा** वशवर्तिनी भवेत्यर्थः। **स वा तव** स च तव। **अधा** अथानन्तरं च तेन सह **कृणुष्व संविदं** परस्पराावियोगलक्षणपरिभाषां **सुभद्रां** कल्याणीम्।

यदा नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थाना यमी। तदा मध्यमस्थानो यमो वायुर्वैद्युतो वा। वर्षकाले व्यतीते तामाह। प्रागस्माद् वर्षकालादष्टौ मासान्। अन्यमूषु त्वमित्यादि। एवमुभयथा योज्यम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य तृतीयः पादः।

अथ चतुर्थः पादः।

अथ पञ्चत्रिंशः खण्डः।

उर्वशी व्याख्याता (निरु०५.१३)। तस्या एषा भवति॥३५॥

उर्वशी व्याख्याता 'उरु अभ्यश्नुते' (निरु०५.१३) इत्यादिना। तदिहापि यथासम्भवं योज्यं निर्वचनम्। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथ षट्त्रिंशः खण्डः।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि। जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥ (ऋ०१०.९५.१०) विद्युदिव या। पतन्त्यद्योतत हरन्ती मे अप्या काम्यानि। उदकान्यन्तरिक्षलोकस्य। यदा नूनमयं जायेताद्भ्योऽध्यप इति। नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितः। नरापत्यमिति वा। सुजातः सुजाततरः। अथोर्वशी प्रवर्धयते दीर्घमायुः। पृथिवी व्याख्याता (निरु०१.१३)। तस्या एषा भवति॥३६॥

भाष्यटीका

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।

जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥ (ऋ०१०.९५.१०)

उर्वशीपुरूरवसोः संवादे पुरूरवा मध्यस्थान ऐळो वा। नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थानः स्तनयित्नुलक्षणाया वाचोऽधिष्ठात्री या देवता तामाह। **विद्युन्न या** नशब्द उपमार्थत्वात् सम्प्रत्यर्थे। अथवा स्वार्थ एव। विद्युदिव या स्तनयित्नुलक्षणाया वाचोऽधिदेवता। **पतन्ती** गच्छन्ती **दविद्योत्** द्योतते **भरन्ती** हरन्ती प्रापयन्ती मां प्रति। **मे** मम। **अप्या** आसव्यानि। **काम्यानि** कामयितव्यान्युदकानीति शेषः। अपशब्दः समूहवचनो वा अप्या अप्संघात-रूपाणीत्यर्थः। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। तस्याः सकाशात्तत इत्यर्थः। **जनिष्ट उ** जनिष्ट उकारः पदपूरणः। छान्दसत्वाद्वर्तमाने लुङ् अडभावश्च जायते। कः? सामर्थ्यादुदकसंघातः। **अपः** अप इत्यन्तरिक्षनाम। बहुवचनस्य स्थाने इदमेकवचनं पञ्चम्याः षष्ठ्या वा। यदा पञ्चम्यास्तदाऽद्भ्योऽन्तरिक्षादित्यर्थः। यदा षष्ठ्यास्तदा अधीति शेषः। अपोऽधि अन्तरिक्षस्योपरीत्यर्थः। तद्भाष्यकार आह। यदा नूनमयं जायेताद्भ्योऽध्यप इति। कीदृशः संघातः? **नर्यो** नृभ्यो हितः। **सुजातः** संजातः सुसम्भृत इत्यर्थः। यदेति भाष्ये श्रुतत्वात् तदेत्यध्याहारः। अथ तदा तेन संघातेन सस्यनिष्पादनद्वारेण प्रतिरतेत्यन्वयः सोर्वशी **प्रतिरत** प्रवर्धयति दीर्घ**मायुः** सर्वमनुष्याणाम्। यस्मात् **'अन्नमयाः प्राणाः। सर्वमन्ने प्रतीतम्'**।

यदा त्वैतिहासिकपक्षस्तदा उर्वश्यप्सरा पुरूरवाश्चैळः। विद्युदिव योर्वशी पतन्ती गच्छन्ती दविद्योत् विद्योतते। भरन्ती प्रापयन्ती रतिकाले मे मम। आसव्यानि कामानि च मधुरशिञ्जितानीति। अत्रापि

यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। तस्याः सकाशादाहितगर्भाया यदा जनिष्टो जनिष्यते आयुर्नाम। अप आप्नोतेः। छान्दसं ह्रस्वत्वम्। आप्नोतीत्यापः पचाद्यचि रूपम्। आप्ता सर्वकर्मणामित्यर्थः। नर्यो नरस्यापत्यं मम। सुजातः सम्पूर्णावयवः। अथ तदास्य सोर्वशी पुत्रस्नेहेन प्रवर्धयिष्यति दीर्घमायुरित्येव योज्यम्।

नर्यो नृभ्यो हितः। मनुष्य इत्यतिरिक्तपाठः। अन्तरिक्षलोकस्येत्यपि। नरापत्यमिति चेत्यैतिहासिकरक्षाभिप्रायः।

पृथिवी व्याख्याता **'प्रथनात् पृथिवी'** (निरु०१.१४) इति। इह तु मध्यमस्थानाभिधेया। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य षट्त्रिंश खण्डः।

अथ सप्तत्रिंशः खण्डः।

बळि॒त्था पर्व॑तानां खि॒द्रं बि॑भर्षि पृथिवि। प्र या भूमिं॑ प्रवत्वति म॒ह्ना जि॒नोषि॑ महिनि॥ (ऋ०५.८४.१) सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनम्-छेदनं-भेदनं बलममुत्र धारयसि पृथिवि। प्रजिन्वसि या भूमिम्। प्रवणवति। महत्त्वेन महतीति उदकवतीति वा। इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी। तस्या एषा भवति॥ ३७॥

भाष्यटीका

बळि॒त्था पर्व॑तानां खि॒द्रं बि॑भर्षि पृथिवि।

प्र या भूमिं॑ प्रवत्वति म॒ह्ना जि॒नोषि॑ महिनि॥ (ऋ०५.८४.१)

अत्रेरार्षम्। **बळिति** सत्यनाम। **इत्था**शब्दोऽमुत्रेत्यस्मिन्नर्थे। सत्यममुत्रान्तरिक्षे वर्तमानानां **पर्वतानां** मेघनामतैत् मेघानाम्। **खिद्रं** खेदनकरम्। किं तत्? सामर्थ्याद् बलम्। **बिभर्षि** धारयसि हे **पृथिवि** विद्युत्स्तनयित्नुलक्षणाया वाचोऽधिदेवते। प्रजिनोषीति सम्बन्धः। **या त्वं भूमि** हे **प्रवत्वति** प्रवर्थस्य **प्रवत** इति। प्रवद्वात्रोदकम्। प्रवणं चागमनम्। तेन तद्वति हे उदकवति गमनवति वेत्यर्थः। **मह्ना** महता उदकेन। **जिनोषि** जिन्वतेः प्रीतिकर्मण इदं रूपं प्रजिन्वसि प्रकर्षेण प्रीणयसीत्यर्थः। हे **महिनि** महो महत्वमुदकं वा प्रभूतं तेन तद्वति। तदाह भाष्यकारः। महतीत्युदकवती वेति।

बलमित्यध्याहृतम्। इत्थेत्यस्यामुत्रेत्यर्थवचनम्। प्रवत्वतीत्यस्य व्याख्यानं प्रवणवतीति।

इन्द्राणी माध्यमिका। इन्द्रस्य वा पत्नी। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः।

अथ अष्टात्रिंशः खण्डः।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.११) इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगाहमशृण्वम्। न ह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमः। तस्या एषा भवति॥३८॥

भाष्यटीका

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।

न ह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.११)

वृषाकपेरार्षम्। **इन्द्राणी** माध्यमिकामिन्द्रस्य वा भार्याम्। **आसु नारिषु** निर्धारणे सप्तमी। आसां नारीणां मध्ये। **सुभगां** भगशब्दो धनवचनः। उदकलक्षणेन धनेन सुधनाम्। इन्द्रभार्यापक्षे सौभाग्ययुक्ताम्। **अहमश्रवं** श्रुतवानस्मि। **हि** शब्दोऽप्यर्थे। **अपरं चन** अपरमपि संवत्सरं प्राप्येति शेषः। यो यः संवत्सरो वर्तते ततस्ततः संवत्सरान्तेऽपीत्यर्थः। **जरसा** वयः परिणामेन। **मरते** म्रियत इति प्राप्ते व्यत्ययेन शप् म्रियत इत्यर्थः। **पतिर्विश्वस्मात्** सर्वस्मादुत्तर **इन्द्रः**। तमेतमिन्द्रमधिकृत्यैतद् ब्रूम इत्याह भाष्यकारः।

तस्याः प्रकृताया एषापरा। किमर्थमिति चेत्। उच्यते। नेह प्रसिद्धो वृषाकपिः ऋषिः। किन्तर्हि? द्युस्थानोऽभिप्रेतः। नैरुक्तानां तदुपप्रदर्शनायेन्द्रो ब्रवीति।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य अष्टात्रिंशः खण्डः।

अथ एकोनचत्वारिंशः खण्डः।

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.१२) नाहमिन्द्राणि रमे सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। यस्येदमप्यं हविः। अप्सु शृतम्। अद्भिः संस्कृतमिति वा। प्रियं देवेषु निगच्छति। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमः। गौरीः रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव। प्रशस्यो भवति। तस्या एषा भवति॥३९॥

भाष्यटीका

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।

यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.१२)

नेति प्रतिषेधार्थीयो रारणेति सम्बध्यते। **अहं** हे **इन्द्राणि** न **रारण** रणते रमतेरर्थे वर्तमानाद् वर्तमानकाले लुट्युत्तमैकवचनमेतत्। न रम इत्यर्थः। **सख्युर्वृषाकपेर्ऋते** सख्या वृषाकपिना आदित्येन ऋषिणा विनेत्यर्थः। **यस्यादित्यस्य** षष्ठीश्रुतेरर्थायेति शेषः। ऋषिपक्षे तु स्वभूतमिच्छति। **इदमप्यं** अप्सु कृतं च व्याख्यातम्। अद्भिर्वा

संस्कृतं सोमाख्यं हवि **प्रियं देवेष्विति** षष्ठ्यर्थे देवानां प्रियं **गच्छति** आहवनीयप्रदेशम् **विश्वस्मात्सर्वस्मादिन्द्र उत्तरः**। इन्द्रोऽहं न रम इति सम्बन्धः।

अत्र नैरुक्तपक्षप्रदर्शनायोच्यते। किं योऽयमिति वृषकपिरिति प्रसिद्धो मनुष्येषु। नेत्युच्यते। **यस्येदमप्यं हविरिति**। देवतायाश्च हविषा सम्बन्ध (इति) नैरुक्ताः। ऐतिहासिकपक्षे तु यस्य स्वभूतमिति स्वस्वामिसम्बन्धः प्रदर्शितः। तदेतद् ब्रूम इत्याह भाष्यकारः पूर्ववत्।

गौरी मध्यमस्थाना स्तयित्नुलक्षणा वाग् विद्युद्वा। या दीप्त्या दीप्तत्वाद् रोचतेर्ज्वलतिकर्मण इत्याह। प्रसङ्गादाह वर्णोऽपि गौर एतस्मादेव धातोः। स हि प्रशस्यो भवति कृष्णादिभ्यः। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य एकोनचत्वारिंशः खण्डः।

अथ चत्वारिंशः खण्डः।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥ (ऋ० १.१६४.४१) गौरीर्निर्मिमाय। सलिलानि। तक्षती कुर्वती। एकपदी मध्यमेन। द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च। चतुष्पदी दिग्भिः। अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च। नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च। सहस्राक्षरा बहूदका। परमे व्यवने। तस्या एषाऽपरा भवति॥४०॥

भाष्यटीका

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥ (ऋ० १.१६४.४१)

दीर्घतमसः। परा च। **गौरीः** छान्दसत्वात् हल्ङ्यादिलोपाभावः। गौरी मध्यमस्थाना। **मिमाय 'माङ् माने'** (धा०३.६; ४.३६) इत्यस्य छान्दस लिटि रूपम्। निर्मिमीत इत्यर्थः। किम्? सामर्थ्यात् कृत्स्नं जगत्। किं कुर्वती? उच्यते। वृष्टिलक्षणनि **सलिलानि तक्षती** करोतिकर्मायं कुर्वती ददतीत्यर्थः। **एकपदी** पदमाश्रयो वृष्टिकर्मणि सहकारिकारणम्। एकं पदमाश्रयः सहकारि कारणमस्याः सा। केनैकेन? मध्यमेन एकपदीत्युच्यते। **द्विपदी** द्वाभ्यां सहकारिकारणभ्यां मध्यमेन चादित्येन द्विपदी। **सा चतुष्पदी** चतसृभिर्दिग्भिः। दिशोऽपि ह्यवकाशदानेन सहकारिकारणत्वं प्रपद्यन्ते। **अष्टापदी** दिग्भिश्च। **नवपदी** आदित्यमध्यमयोरन्यतरेण। **बभूवुषी** एकपद्यात्मना भवन्ती। यद्यद्वृष्टिकर्मणि सहकारिकारणं यदधीनं वृष्टिकर्म यत्र वा तत्सर्वमाश्रयन्तीत्यर्थः। **सहस्राक्षरा** सहस्रमिति बहुनाम अक्षरमित्युदकनाम बहुदकेत्यर्थः। **परमे** प्रकृष्टे **व्योमन्** अन्तरिक्षनाम लुक् सप्तम्याः व्योमन्यन्तरिक्षे सप्तमीश्रुतेः स्थितेति शेषः।

व्योमन्नित्यस्य निर्वचनं व्यवने **'अव गत्यादिषु' (अम गत्यादिषु (धा०१.६०१))** विविधमवनं यस्मिन्। तस्या एषापरा अनन्तरा एव। मध्यमैव गौरी न गुणयोगादन्या काचिदित्यर्थः।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः।

अथ एकचत्वारिंशः खण्डः।

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति॥ (ऋ० १.१६४.४२) तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति। वर्षन्ति मेघाः। तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि। ततः क्षरत्यक्षरमुदकम्। तत्सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति। गौर्व्याख्याता (निरु० २.५) तस्या एषा भवति॥४१॥

भाष्यटीका

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति॥ (ऋ० १.१६४.४२)

तस्या गौर्या **अधि** उपरि। **समुद्रः** समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम। तात्स्थ्याच्च ताच्छब्द्यम्। समुद्रस्थः समुन्दनकारिणो वा मेघाः। **वि क्षरन्ति** विविधं क्षरन्त्युदकम्। **तेन** च क्षरितेन **जीवन्ति**। **प्रदिशः** प्रकृष्टा **दिशश्चतस्रः**। दिङ्निवासिषु च भूतेषु जीवत्सु दिशो जीवन्तीत्युच्यते। तेन चैतत् सकृदेव भवति। किं तर्हि? **ततः क्षरति** प्रतिवर्षम्। **अक्षरमुदकम्**। **तद्विश्वं** सर्वं जगदु**पजीवति**। अञ्जन् क्षरतीति भाष्यम्। अञ्जसा वाभिव्यञ्जयन् सर्वम्।

गौर्व्याख्याता। 'गौरिति पृथिव्या नामधेयम्' (निरु० २.५) इत्यादिना। इह तु मध्यमोच्यते। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य एकचत्वारिंशः खण्डः।

अथ द्विचत्वारिंशः खण्डः।

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ। सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ (ऋ० १.१६४.२८) गौरन्वमीमेद्वत्सम्। मिषन्तमनिमिषन्तमादित्यमिति वा। मूर्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय। सृक्वाणं सरणम्। घर्मं हरणम्। अभिवावशाना मिमाति मायुम्। प्रप्यायते पयोभिः। मायुमिवादित्यमिति वा। वागेषा माध्यमिका। घर्मधुगिति याज्ञिकाः। धेनुर्धयतेर्वा। धिनोतेर्वा। तस्या एषा भवति॥४२॥

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ (ऋ० १.१६४.२८)

गौर्मध्यस्थाना वाक्। अमीमेदनु मीयतिः शब्दकर्मा अन्वमीमेत्। स्तनयित्नुलक्षणेन शब्देनानुशब्दयति। **वत्सं** रसहरणसामान्यादात्मनो वत्सं वत्सभूतमादित्यम्। **मिषन्तं** पश्यन्तं जगत्सर्वम्। **मूर्धानं** चास्य रश्म्याख्यं मध्यमस्थानमागतं प्राप्येति शेषः। **हिङ्ङकृणोत्** हिङ्करोति। **मातवा उ** उकारः पदपूरणः। मातवै मातुं मन्तुं वा ज्ञातुम्। ज्ञानायोदकस्येत्यर्थः। न च सकृदनुशब्दयति। किन्तर्हि? **सृक्वाणं** सर्तेरेतद्रूपम् **घर्मं** हरतेरेतद्रूपम्। हर्तारं

च रसानामादित्यम्। **अभि वावशाना** अत्यर्थमभिशब्दयन्ती। **मिमाति** पुनः पुनर्मीयते। **मायुं** स्तनयित्नुलक्षणं शब्दम्। **पयते** प्यायतेर्वृद्ध्यर्थस्येदं रूपं प्रप्यायते प्रवर्धयते च। केन? **पयोभि**। स्वेन दत्तैरुदकैः।

गौरन्वमीमेद् वत्सं मिषन्तमादित्यमिति पाठः। अनिमिषन्तमित्यपपाठः। प्रप्यायते पयोभिः। वागेषा माध्यमिकेति नैरुक्ताः। घर्मधुगिति याज्ञिकाः। अतस्तदभिप्रायेणान्यथा मन्त्रस्य योजना। **गौर्** घर्मधुक् सानुशब्दयति वत्सं मिषन्तं तामेव मातरं निरीक्षमाणम्। मूर्धानं चास्य जिघ्रतीति शेषः। हिङ्करोति मातवै ज्ञानायात्मनः। स एवायं मदीय उतान्य इति। सृक्वाणमित्यादि समानयोजनम्। पयते प्यायते वर्धयते च। पयोभिः प्रस्नुतपीवरस्तनी बहुक्षीरा भवन्तीत्यर्थः।

धेनुर्मध्यमस्थाना धयतेर्वा पानार्थस्य। पीयते हि सा तत्प्रवृत्तवृष्ट्युदकद्वारेण। धिनोतेर्वा प्रीणनार्थस्य। प्रीणयति हि सा कृत्स्नं जगत्। याज्ञिकपक्षे स्वक्षीरक्षरणद्वारेण। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य द्विचत्वारिंशः खण्डः।

अथ त्रिचत्वारिंशः खण्डः।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्। श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम्।। (ऋ०१.१६४.२६) उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम्। कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम्। श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु न इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम्। यद्वा पयो यजुष्मत्। अभिद्धो घर्मः। तं सु प्रब्रवीमि। वागेषा माध्यमिका। घर्मधुगिति याज्ञिकाः। अघ्न्याऽहन्तव्या भवति। अघघ्नीति वा। तस्या एषा भवति।।४३।।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम्।। (ऋ०१.१६४.२६)

अहं ताव**दुपह्वये**। **सुदुघां** सुदोहनाम्। **धेनु**मुक्तनिर्वचना**मेतां** माध्यमिकां वाचं घर्मदुहं वा। **सुहस्तः** शोभनहस्तः कुशल इत्यर्थः। **गोधुक्** गोर्माध्यमिकाया दोग्धा इन्द्रः। घर्मदुहो वाध्वर्युः। **उत**शब्दोऽप्यर्थे। गोधुगपि **दोहत्** दोग्धु क्षारयत्वे**नाम्** किं दोग्धु? **श्रेष्ठम**तिशयेन प्रशस्यम्। **सवं** सूयतेऽभ्यनुज्ञात इति सव उदकलक्षणः पयोलक्षणो वा तम्। अभ्यनुज्ञात इत्यर्थः। **सविता** आदित्यो यजमानो वा। **असाविषत्** सुवतु अभ्यनुजानातु। **नो**ऽस्माकम्। कस्मात्? यस्माद् **अभीद्धो**ऽतिदीप्तो **घर्मो** ग्रीष्मसन्तापो महावीरो वा। ततस्तस्मादहम्। उकारः पादपूरणः। **सुप्रवोचं** सुष्ठु ब्रवीमि। अभ्यनुजानात्विति स्व उदकम्।

घर्मधुक्पक्षे पयो यजुर्भिः साविषत् (अभि) सुवतु अभ्यनुजानातु संश्रयमाणं पयो यजुष्मदिति संस्कारेण यजुषा तद्वत्। सुप्रब्रवीमीति पाठः।

अघ्न्या मध्यमस्थाना। कस्मात्? अघघ्नी अघस्य दुर्भिक्षादेर्हन्त्री। अहन्तव्या वा। घर्मधुक्पक्षे स्पर्शनेनाघस्य पापस्य हन्त्री। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य त्रिचत्वारिंश खण्डः।

अथ चतुश्चत्वारिंशः खण्डः।

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।। (ऋ०१.१६४.४०) सुयवसादिनी भगवती हि भव। अथेदानीं वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा। पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती। तस्या एषाऽपरा भवति।।४४।।

भाष्यटीका

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।। (ऋ०१.१६४.४०)

शोभनं यवसं सुयवसम्। सांहितिको दीर्घः। किं तत्? रश्म्युपहृतमुदकम्। तस्यात्री सुयवसादिनी **सुयवसात्। भगवती** भगं धनं तेनैव रश्म्युपहृतेनोदकाख्येन धनेन धनवती। **हि**शब्दः पदपूरणः। **भूया** भव। **अथो**ऽनन्तरं तेनैव त्वत्प्रवृत्तेन धनेन वयमपि **भगवन्तो** धनवन्तः। **स्याम** भवेम। **अद्धि** भक्षय च। (संचूर्णय खादेत्यर्थः) किम्? **तृणं** तर्दनीयं मेघम्। **अघ्न्ये** माध्यमिके वाक्। **विश्वदानीं** छान्दसत्वाद्विश्वशब्दादपि दानीं सर्वदा। **पिब** रश्म्युपहृतम्। शुद्धकलुषम्। हे अघ्न्ये घर्मधुग् विश्वदानीं सर्वदा पिब च शुद्धमकलुषित**मुदकम्। आचरन्ती** आभिमुख्येन मर्यादया वा चरन्ती गव्यूतौ।

तस्या एषापरा वसुसम्बन्धत्वान्माध्यमिकत्वप्रदर्शनार्था।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः।

अथ पञ्चचत्वारिंशःखण्डः।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्। दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।। (ऋ०१.१६४.२७) इति सा निगदव्याख्याता। पथ्या स्वस्तिः। पन्था अन्तरिक्षम्। तन्निवासात्। तस्या एषा भवति।।४५।।

भाष्यटीका

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।। (ऋ०१.१६४.२७)

हिङ् इत्येवं रूपं स्तनयित्नुलक्षणं कुर्वती। **वसुपत्नी** वसु धनं वृष्ट्युदकाख्यं तस्याधिपतिभूता। **वसूनां** वसव आदित्यरश्मयो मरुतो वा तेषाम्। रसहरणाद् **वत्सं** वत्सभूतमादित्यमि**च्छन्ती मनसा। अभ्यागात्** अभ्यागच्छति। **दुहां** दुग्धां दोग्धि वेत्यर्थः। **अश्विभ्यां** तादर्थ्ये चतुर्थी। अश्विनावत्र द्यावापृथिव्यौ वा उच्येते। कुत एतत्? **'कावाश्विनौ'** (निरु०१२.१) इति प्रकृत्य एवमाद्यर्थप्रदर्शनात्। तयोरश्विनोरर्थायेत्यर्थः। किं दोग्धि? **पयः** उदकं वृष्टिलक्षणम्। **अघ्न्या** माध्यमिका वाक्। **इयं** पश्चात्सा वर्धतामिति तच्छ्रुतेर्यदध्याहारः। या **सा** रूपेण विद्योतनालक्षणेन वृष्ट्युदकेन **वर्धताम्**। तत्प्रवृत्योदकजन्याय **महते सौभगाय** सुभगत्वाय अस्माकमित्यर्थः।

इतरपक्षे अघ्न्या घर्मधुक् सा हीत्येवं रूपं शब्दं कुर्वती। वसुपत्नी पय आदेर्धनस्याधिपतिभूता। वसूनां वसवो हविर्भिः स्तुतिभिर्वा देवानामाच्छादयितार ऋत्विग्यजमाना इहाभिमतास्तेषाम्। षष्ठीश्रुतेः स्वभूतं वत्समात्मीयमिच्छन्ती मनसाभिगच्छन्ती दोग्धि च प्रवर्ग्ये अश्विनामश्विभ्यो वार्थाय। किं दोग्धि? पयः। अघ्न्या घर्मधुक्। इयं गौः सर्वकर्मणि अध्वर्युणा दोहार्थयाहूयमाना पयसा वर्धताम्। महते सौभगाय सुभगत्वायास्माकमिति। पठित्वाह इति सा निगदव्याख्याता।

पथ्या स्वस्तिः प्रकरणान्मध्यमस्थाना। तन्निवासात्। पथ्यन्तरिक्षे भवा पथ्या स्वस्तिशब्दोऽप्युक्तनिर्वचनः। प्रायणीयायां **'पथ्यां स्वस्तिं प्रथमां प्रायणीये यजति'** (कौ०ब्रा०७.८) इति यथा दृष्टे द्वे पदे एवं समाम्नाते। स्वस्तिशब्देन अन्तरिक्षविषयपथिशब्दसम्बन्धेन मध्यमस्थानोच्यत इत्युदाहरणम्।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः।

अथ षट्चत्वारिंशः खण्डः।

स्व॒स्तिरिद्धि प्रप॑थे॒ श्रेष्ठा॒ रेक्ण॑स्वत्य॒भि या वा॒ममेति॑। सा नो॑ अ॒मा सो अर॑णे॒ नि पा॑तु स्वावे॒शा भ॑वतु दे॒वगो॑पा॥ (ऋ०१०.६३.१६) स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा। रेक्णवती धनवती। अभ्येति या वसूनि वननीयानि। सा नोऽमा गृहे। सा निरमणे। सा निर्गमने पातु। स्वावेशा भवतु। देवी गोप्त्री। देवान् गोपायत्विति। देवा एनां गोपायत्विति वा। उषा व्याख्याता (निरु०२.१८)। तस्या एषा भवति॥४६॥

स्व॒स्तिरिद्धि प्रप॑थे॒ श्रेष्ठा॒ रेक्ण॑स्वत्य॒भि या वा॒ममेति॑।
सा नो॑ अ॒मा सो अर॑णे॒ नि पा॑तु स्वावे॒शा भ॑वतु दे॒वगो॑पा॥ (ऋ०१०.६३.१६)

गयस्यार्षम्। **स्वस्तिः**। **इद**वधारणे। स्वस्तिरेव नान्या काचिद्देवता। **हि**शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। **प्रपथे** प्रकृष्टः पन्था अन्तरिक्षं तस्मिन् प्रपथे। **श्रेष्ठा** अतिशयेन प्रशस्या। **रेक्णस्वती** रेक्ण इति धननाम। वृष्ट्युदकाख्येन धनेन धनवती। **अभ्येतीति** सम्बन्धः। अभ्येत्यभिगच्छति च। **या वामं** या वननीयं सम्भजनीयम्। प्रशस्यनाम वा प्रशस्यम्। किं तत्? सामर्थ्यात् प्रायणीयं हविः। द्वितीयाश्रुतेः प्रतीति शेषः। स्वकर्म प्रायणीयं हविः प्रति। **सा नो**ऽस्मान्। **अमा** गृहनामेदं गृहे। सप्तमीश्रुतेर्वर्तमानामिति शेषः। सा उ **सो** उकारः पदपूरणः। सैव **अरणे** अर्तेर्गतिकर्मणः शुद्धस्याप्युपसृष्टार्थे वर्तमानस्येदं रूपम्। निररणे निर्गमने गृहाद् बहिश्च गृहादिभ्य इत्यर्थः। **निपातु** नियमेन रक्षतु। **स्वावेशा** स्वावेशना सुखोपसर्पणा **भवतु**। **देवगोपा** देवी चासौ गोप्त्री च देवानां सा गोप्त्री च। देवा वा गोप्तारो यस्या इत्येवमाशास्यते या सा देवगोपा।

निरमण इति **'अम गत्यादिषु'** (धा०१.४६६) इत्यस्येदं रूपम्। निरमण इति पाठान्तरम्।

उषाः 'उच्छतीति' (निरु०२.१८) व्याख्याता। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य षट्चत्वारिंशः खण्डः।

अथ सप्तचत्वारिंश: खण्ड:।

अपो॒षा अन॑स: सर॒त्संपि॑ष्टा॒दह॑ बि॒भ्युषी॑। नि यत्सीं॑ शि॒श्नथ॒द् वृषा॑॥ (ऋ०४.३०.१०)

अपासरदुषा अनस: सम्पिष्टान् मेघाद् बिभ्युषी। अनो वायुरनितेः। अपि वोपमार्थे स्यात्। अनस इव शकटादिव। अन: शकटम्। आनद्धमस्मिंश्चीवरम्। अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मण:। उपजीवन्त्येनत्। मेघोऽप्यन एतस्मादेव। यन्निरशिश्नथद् वृषा। वर्षिता मध्यम:। तस्या एषाऽपरा भवति॥४७॥

भाष्यटीका

अपो॒षा अन॑स: सर॒त्संपि॑ष्टा॒दह॑ बि॒भ्युषी॑।

नि यत्सीं॑ शि॒श्नथ॒द् वृषा॑॥ (ऋ०४.३०.१०)

वामदेवस्य। परा च। **अपासर**दिति सम्बन्ध:। अपसर्पति। कुत:? **अनस:** अनितेरनो वायुस्तस्मात्। **संपिष्टात्** पिंषेर्वर्तमानार्थे कर्तरि निष्ठा छान्दसत्वात्। **अह**ेति विनिग्रहार्थीय: संपिषत एवेत्यर्थ:। कम्? सामर्थ्यान्मेघम्। अथवा अन: शकटम्। लुप्तोपमं चात्र द्रष्टव्यम्। संपिष्टादित्यधिकरणे वर्तमाने निष्ठा। अनस इव यथा कश्चिदनस शकटात् स्तेनादिना संपिष्टात् संपिष्यमाणादित्यर्थ:। शाकटिकोऽपसर्पेत् तद्वत्। मेघो वा एतस्मादेवानितेरन:। तस्मात् संपिष्यमाणादेव **बिभ्युषी** वर्तमाने लिटि क्वसावेतद्रूपं बिभ्यति। कदा? उच्यते। **निशिश्नथदिति** सम्बन्ध:। **यत्** यदा **सीं** सर्वत:। निशिश्नथत् श्नथतिर्वधकर्मा निहन्ति मेघम्। **वृषा** वर्षिता मध्यमो वा। उषा मेघोदरकोटरगोचरा संपिष्यत: संपिष्यमाणाद्वा बिभ्यति नश्यतीति।

शकटमन: कस्मात्? **आनद्धमस्मिंश्चीवरम्**। चीवरशब्दो लोहवचन:। आभिमुख्येन नद्धं बद्धं सुदृढत्वाय। नाभिकण्ठवत् न मण्डलाख्यं चीवरं लोहमस्मिन् स नह्यत इत्यर्थ:। अथवा **'संप्रधानेष्वग्निषु अस्मिन् दक्षिणे युक्त उपोह्य चीवरम्'** (मूलमनुपलब्धम्) इति वस्त्रं किं परिच्छेदसूत्रचीवरशब्दवाच्यम्। तस्मिन्नानक्तमासिक्तं भवतीति। **अनितेर्वा 'अन प्राणने'** (धा०२.६०) प्राणनं जीवनम्। उपजीवन्त्येनदित्यनेर्जीवनकर्मण इति। अन आह मेघमप्युपजीवन्ति सर्वप्रणिन:। तस्या एषापरा। किमर्था? आदित्यसंश्रया। इयं तु मध्यमा मेघसंश्रया इति प्रदर्शनायाह।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)- ध्यायस्य सप्तचत्वारिंश: खण्ड:।

अथ अष्टचत्वारिंशः खण्डः।

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या। ससार सीं परावतः॥ (ऋ०४.३०.११)

एतदस्या अन आशेते सुसम्पिष्टम्। इतरदिव। विपाशि विमुक्तपाशि। ससारोषाः। परावतः प्रेरितवतः। परागतद्वा। इळा व्याख्याता (निरु०८.७) तस्या एषा भवति॥४८॥

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या।

ससार सीं परावतः॥ (ऋ०४.३०.११)

एतदिति वृष्ट्युदकं भूमिगतं प्रदर्शयन्नाह। **अस्या** उषस आधाराधेयसम्बन्धेन सम्बन्धि। **अनः** शकटं मेघाख्यम्। अर्धर्चान्तर आकारः शय इत्यत्र सम्बध्यते **आशये 'शीङ् स्वप्ने'** (धा०२.२२) आशेते आभिमुख्येन भूम्यां तिष्ठतीत्यर्थः। **सुसंपिष्टमु**दकभूतम्। **विपाशि** पाशि बन्धनं विगतं पाशि यस्मात् तद्विमुक्तपाशं विच्छिन्नसर्वसम्बन्धनमित्यर्थः। **ससार** यत इति शेषः। यतो वायुना संपिष्यमाणादपसृतवती **सीं** सर्वत उषाः। **परावतः** दूरनामेदं दूरात् प्रेरित इति। परावत इत्यस्य निर्वचनं प्रकर्षेणेरितात् परागतात् प्रदेशाद्वा।

इळा 'ईट्टेः स्तुतिकर्मणः' (निरु०८.७) इत्यत्र व्याख्याता। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य अष्टचत्वारिंशः खण्डः।

अथ एकोनपञ्चाशत्तमः खण्डः।

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥ सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥ (ऋ०५.४१.१९-२०)

अभिगृणातु नः इळा। यूथस्य माता सर्वस्य माता। स्मदभि नदीभिः। उर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा। बृहद्दिवा महद्दिवा। गृणाना। अभ्यूर्ण्वाना। प्रभृथस्य प्रभृतस्य। आयोरयनस्य। मनुष्यस्य। ज्योतिषो वोदकस्य वा। सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः। रोदसी रुद्रस्य पत्नी। तस्या एषा भवति॥४९॥

भाष्यटीका

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।

उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥

सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥ (ऋ०५.४१.१९-२०)

अभि गृणीत्विति सम्बन्धः। नान्ये ईदृशः स्तोतार इत्येवम्। अभिगृणातिः स्तुतिकर्मा। अभिष्टौतु **नोऽस्मान्** का गृणातु? **इळा** माध्यमिका वाक्। **यूथस्य माता** गजादेः पशुजातस्य यत्किंचिद् यूयं तस्य सर्वस्य मातृभूता। मेघयूथस्य वा निर्मात्री। स्मच्छब्दः सहार्थे सह **नदीभिर्ग**ङ्गाद्याभिः। **उर्वशी वा** उर्वशीशब्दश्चाश्नोतेः। क्रियाशब्द इळाया विशेषणार्थः। वाशब्दः समुच्चये। यूथस्य मातेत्येतदपेक्षश्च समुच्चयः। यूथस्य माता उर्वशीति या

बह्वाकाशव्यापिनी चेत्यर्थः। अभिष्टौत्विति दर्शितः सम्बन्धः। न च केवला इळा। किन्तर्हि ? **उर्वशी वा** अयमपि वाशब्दः समुच्चय एव। उर्वशी मध्यमस्थाना विद्युत्। **बृहद्दिवा** दिवाशब्दो दीप्तिवचनः। बृहदिति दीप्तिर्यस्याः सा महादीप्तिरित्यर्थः। **गृणना** कर्मणि कर्तृप्रत्ययः। गीर्यमाणा स्तूयमानाऽस्माभिः। **अभ्यूर्ण्वाना 'ऊर्णुञ् आच्छादने'** (धा०२.२९) आभिमुख्येन छादयन्ती अस्मान् कृत्स्नां वा पृथिवीम्। **प्रभृथस्य पुष्टेः** षष्ठी चतुर्थ्यर्थे पुष्टयेऽस्माकमन्नस्य वृद्धय इत्यर्थः।

रोदसी मध्यमस्थाना। मध्यमस्थानस्यैव रुद्रस्य पत्नी। तस्या एषा।

इति षोडशस्या-(एकादशस्या)-ध्यायस्य एकोनपञ्चाशत्तमः खण्डः।

अथ पञ्चाशत्तमः खण्डः।

रथं॒ नु मारु॑तं व॒यं श्र॑व॒स्युमा हु॑वामहे। आ यस्मि॑न् त॒स्थौ सु॒रणा॑नि॒ बिभ्र॑ती॒ सचा॑ म॒रुत्सु॑ रोद॒सी॥ (ऋ०५.५६.८) रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमाह्वयामहे। आ यस्मिन् तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी रोदसी॥५०॥

भाष्यटीका

रथं॒ नु मारु॑तं व॒यं श्र॑व॒स्युमा हु॑वामहे।
आ यस्मि॑न् त॒स्थौ सु॒रणा॑नि॒ बिभ्र॑ती॒ सचा॑ म॒रुत्सु॑ रोद॒सी॥ (ऋ०५.५६.८)

श्यावाश्वस्य। रंहतेर्गतिकर्मणो रथस्तं मेघम्। नु क्षिप्रम्। **मारुतं** मरुतां सम्बन्धिनम्। तेन सम्बन्धेन घनकलकलक्षणेन **वयं श्रवस्युं** श्रवणीयम्। **आहुवामहे 'ह्वः सम्प्रसारणम्'** (अष्टा०६.१.३२) बाहुलकेन गुणाभावेन तत उवङ् आह्वयामहे। **आ तस्थाविति** सम्बन्धः। **यस्मिन्** रथे आभिमुख्येन तिष्ठति। **सुरणानि** सुष्ठु रमणीयानि। कानि ? सामर्थ्यादुदकानि। **बिभ्रती** धारयन्ती। **सचा** सह। **मरुत्सु** सप्तमी तृतीयार्थे मरुद्भिः सह। का ? **रोदसी** रुद्रस्य पत्नी माध्यमिका वाक्। अध्यायपरिसमाप्तिसूचनार्था द्विरुक्तिरिति सिद्धम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये षोडशो (एकादशो)ऽध्यायः समाप्तः।

॥अथ द्वादशा(सप्तदशा-)ध्याये प्रथमः पादः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमगामिनौ भवतः। अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेनान्यः ज्योतिषान्यः। अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके। सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्। प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम्। अनु तमो भागो हि मध्यमः। ज्योतिर्भाग आदित्यः। तयोरेषा भवति॥१॥

भाष्यटीका

अथातो द्युस्थानदेवताः।

अथातो द्युस्थाना देवता मध्यमस्थानानन्तरं समाम्नायक्रमेण लिङ्गवचनविभागेन व्याख्यायन्त इति शेषः।

तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः।

कुतः? तयोर्हि द्युस्थानानां विभागो विवक्षितः। तथा च वक्ष्यति। **'तयोः कालः'** (निरु०१२.१) इति। तयोश्चैतयोर्द्वन्द्वभावादश्विनौ दस्रौ नासत्यात्वियेकैकशः स्तुत्यभावात्। ननु यद्यविभक्तस्तुतित्वमश्विनोस्ततः संविभागे प्राथम्यात् प्रथमस्य स्थाने समाम्नानं प्राप्तम्। उच्यते। तत्काले मध्यमस्थानस्य हीनमानरूपत्वाद् द्युस्थानस्य च प्रतिक्षणमुपचीयमानरूपत्वात्। तदनन्तरं क्रमेणोपचीयमानप्रकाशद्युस्थानदेवतारूपा तु सन्तानादन्यत्रासंभव- सन्निवेशयोरुपचीयमानतमोरूपमध्यमाश्व्यनुरोधेनोपचीयमानज्योतीरूपोत्तमाश्व्यनुरोधेन च द्युस्थान एव वा अश्विनोर्युक्ततरः पाठ इति कृत्वा निश्चित्याह। **प्रथमागामिनाविति।**

(अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वम्। रसेनान्यः। ज्योतिषान्यः। अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः।)

अश्विनौ कस्मात्? यस्मादश्नुवाते व्याप्नुतः कृत्स्नं जगत्। (केन) रसेनावश्यायरसेनैको मध्यमः तेजसाऽन्य उत्तमः। अश्वैस्तद्वन्तावित्यौर्णवाभो मन्यत इति शेषः। अश्विशब्दे निरूप्याभिधेयं निरूपयिष्यन्नाह।

(तत्कावश्विनौ। द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।)

तत्कावश्विनाविति। तदिति वाक्योपन्यासे। किं प्रश्ने। द्यावापृथिव्यावश्विनावित्येके आचार्या मन्यन्ते। विज्ञायते हि **'तौ यौ प्रत्यक्षावश्विनाविमे एव ते द्यावापृथिव्यौ'** (श०ब्रा०४.१.५.१६)। द्यौर्ज्योतिषा व्यश्नुते पृथिवी रसेनान्नलक्षणेन। **अहोरात्राविति।** अहर्ज्योतिषा रात्रिरवश्यायेन। **सूर्याचन्द्रमसाविति।** सूर्यो ज्योतिषा चन्द्रमा रसेन ह्लादिना। राजानावित्यौर्णवाभमतेन।

तयो:काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानविष्टम्भम्।

इति कालविभागप्रदर्शनं देवताविभाग-(प्रदर्शन)-प्रतिपत्तये। **विष्टम्भो** व्याप्तिभेदः परस्परतो ज्योतिस्तमसोः।

(अनुतमो भागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्य:।)

अनुर्लक्षणे कर्मप्रवचनीय:। परस्परव्यासिमनुविष्टम्भमनु तं प्रतीत्यर्थ:। ततश्च कालविभागाद् देवताविभाग इति प्रदर्शितं भवति। तच्चेद्विति सामर्थ्याद् दुर्नीयते। यत्तत् प्रभृत्याश्विनं स्तोत्रशस्त्रकर्म। आश्विनस्य प्रातरनुवाककलातिदेशात्। प्रातरनुवाकस्य च महारात्रकालश्रुतेश्च। **'महारात्रे प्रातरनुवाकायामन्त्रित:'** (मूलमनुपलब्ध्म्) इति। तत्र च कालेऽनुतमो भागो हि ज्योतिषा मध्यम:। ज्योतिर्भागमेवानुगतस्तमसा उत्तम आदित्योऽश्विशब्दवाच्य:। एवं च ब्रुवता एकत्र तमोभागस्य प्राधान्यमनुगममन्यत्र ज्योतिष:। अन्यत्रैतदेव विपरीतम्। ततश्चाश्विशब्दवाच्याविशेषे सत्यभिधेयगतो विशेष: प्रदर्शितो भवति।

ततश्चाश्विशब्दयोस्तमोज्योतिर्भागयोरश्विशब्दवाच्ययोरेषा समर्थनाय ऋग्भवति।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)- ध्यायस्य प्रथम: खण्ड:।

अथ द्वितीय: खण्ड:।

वसा॑तिषु स्म च॒रथोऽसि॑तौ॒ पेत्वा॑विव। कु॒देदम॑श्विना युवम॒भि दे॒वाँ अ॑गच्छतम्॥ इति सा निगदव्याख्याता। तयो: समानकालयो: समानकर्मणो: संस्तुतप्राययोरसंस्तवेनैषोऽर्धर्चो भवति। 'वासात्यो अन्य उच्यत उष: पुत्रस्तवान्य' इति तयोरेषापरा भवति।॥ २॥

भाष्यटीका

वसा॑तिषु स्म च॒रथोऽसि॑तौ॒ पेत्वा॑विव।

कु॒देदम॑श्विना यु॒वम॒भि दे॒वाँ अ॑गच्छतम्॥

वामदेवस्य। आगच्छन्तावश्विनावदृष्ट्वा आगतौ च सहसैव दृष्ट्वा वामदेव एवमाह। **वसातिषु** वसन्ति प्राणिनो यासु ता वसातयो रात्रयस्तासु। स्मशब्द: पूरण:। यौ **चरथ:**। **असितौ पेत्वाविव** कृष्णौ पेत्वशब्दो मेषवचन:। **मेषाविव** वर्णसारूप्येण केनचिददृश्यमानाविति भाव:। तौ **कदा** इदमस्मत्कर्म हे अश्विनौ वां **युवं अभि देवान्** ये चात्रागतास्तानभ्यगच्छतं आगतवन्तौ स्थ:। एवं यत्तदध्याहारेण योजना। निगदव्याख्यातैषा।

तयोरेतस्यामृच्युपवर्णितयोरूर्ध्वमर्धरात्रादित्येवं **समानकालयोस्तथा 'अश्वि॑ना वा॒युना॑ यु॒वं सु॑दक्षा'** (ऋ०३.५८.७) **'अ॒यं सोम॑: सुदानव॒:'** (ऋ०१.४५.१०) इत्यादिष्वाश्विनेषु सोमविशेषणत्वेन तिरो अह्न्यदर्शनात्। तार्तीयसवनिकत्वाद्वा। तथा तिरो अह्न्या: सोमे आश्विन: पुरोडाश आश्विनेय इत्येवमादि हवि:साधनं यद्यागकर्म तदपि समानं ययो: **संस्तुतप्राययोस्तथा** संस्तुत: सहस्तवतत्प्राययो:। प्रायोवचनं क्वचिद् व्यभिचारात्। तच्च व्यभिचारं दर्शयति। **असंस्तवेनेति**। पृथक्स्तवेनेत्यर्थ:। एष वक्ष्यमाणोऽर्धर्च:। तस्य च पूर्वस्मिन्मन्त्रे वसातयो रात्रयो न जनपदा:। अश्विनौ च मध्यमोत्तमौ न राजानौ पुण्यकृताविति। अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमस्यार्धर्चस्योपादानम्।

वासात्यो अन्य उच्यते। उष: पुत्रस्तवन्य इति।

वसाते रात्रेः पुत्रोऽन्य एक उच्यते जनैर्मध्यमः। उषसः पुत्रोऽन्य उत्तमः। तदनन्तरं जन्मत्वात्। पृथक्स्तुतित्वं च। एकैकस्याभिजनसम्बन्धप्रदर्शनात्। उषसः पुत्रत्वेन सूर्येण सह समानख्यानाद् (वासात्यस्य।) असंशयं मध्यमो वासात्यो रात्रेः पुत्रः (निश्चितः)

तयोरेषापरा भवति।

मध्यमोत्तमावश्विनावित्यस्यैव द्रढिम्नः कारणं संस्तवप्रदर्शनाय च।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः। जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे।। (ऋ० १.१८१.४) इह चेह च जातौ संस्तूयेते। पापेनालिप्यमानया तन्वा नामभिश्च स्वैः। जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्येरयिता मध्यमः। दिवोऽन्यः सुभगः पुत्र ऊह्यत आदित्यः। तयोरेषाऽपरा भवति।। ३।।

भाष्यटीका

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः।

जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे।। (ऋ० १.१८१.४)

अगस्त्यस्यार्षम्। इहेहेति वीप्साद्विर्वचनेनान्तरिक्षं द्यौश्च निर्दिश्यते **इह** चान्तरिक्षे **इह** च दिवि। **जाता** जातौ भवन्तौ। **समवावशीतां** सम्यगत्यर्थं पुनः पुनर्वावशेते (शस्येते) स्तूयेत इत्यर्थः। **अरेपसा** रेपः पापं अपापया **तन्वा** अपापेन स्वेन शरीरेण **नामभिः** अश्विनौ नासत्यौ दस्रौ इत्येवमादिभिश्च **स्वैर्जिष्णुः** जयशीलः **वां** युवयोरन्यः एको मध्यमः। **सुमखस्य** सुमहतोऽपि शत्रुबलस्य **सूरिः** सुष्ठु ईरयिता। **दिवो अन्यः** अन्यस्तु **सुभगः** सुधनः उत्तमः **पुत्रः**। **ऊहेः** कर्मणि प्रथमपुरुषैकवचनस्य स्थाने व्यत्ययेन कर्तरि उत्तमैकवचनमेतत्। ऊह्यते वितते: साहचर्यात्। अथवा वहेरेतद्रूपम्। ऊह्यते रथेन स्वैरश्वैर्वायुना वा उदयास्तमयाय। तयोरेषापरा संस्तुतप्रायं दर्शयितुम्।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य तृतीयःखण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम्। अस्य सोमस्य पीतये।। (ऋ० १.२२.१) प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विनाविहागच्छतामस्य सोमस्य पानाय। तयोरेषाऽपरा भवति।। ४।।

भाष्यटीका

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम्।

अस्य सोमस्य पीतये।। (ऋ० १.२२.१)

मेधातिथेः। **प्रातर्युजौ** प्रातर्यावश्विनावाश्विनयागेन युज्येते तौ प्रातर्युजौ प्रातर्योजनावित्यर्थः। तौ **वि बोधय** अमुष्य यजमानस्य यज्ञे गन्तव्यमिति। आत्मन एवान्तरात्मनः प्रैषः। हे अन्तरात्मन्। होतृत्वाच्चैतयोः। हे होतरग्ने विबोधितौ च सन्तावश्विना **विहास्मदीये** यज्ञे गृहे वा आ **गच्छताम्**। किमर्थम्? **अस्याश्विनस्य** ग्रहाख्यस्य **सोमस्य पीतये** पानाय। तयोरेवैषापरा। प्रातरेवानयोर्यागोऽपीति प्रायमेव दर्शयितुम्।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

अथ पञ्चमः खण्डः।

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्। उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्॥ (ऋ०५.७७.२) प्रातर्यजध्वमश्विनौ प्रहिणुत न सायमस्ति देवेज्या अजुष्टमेतत्। अप्यन्योऽस्मद्यजते वि चावः। पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् वनयितृतमः। तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः। तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते। उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः। उच्छतेरितरा माध्यमिका। तस्या एषा भवति॥५॥

भाष्यटीका

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्।
उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्॥ (ऋ०५.७७.२)

अत्रेः। **प्रातरेव यजध्वं** हे ऋत्विजः। कौ? **अश्विनौ**। तदर्थं च **हिनोत 'हि गतौ'** (धा०५.११) हिनुत गच्छताहवनीयं प्रति मा विलम्बध्वम्। कस्मादेवमुच्यते प्रातर्यजध्वमिति? यतो **न सायं** प्रातरस्ति। किम्? **देवया** देवावश्विनौ तयोर्या यानं गतिर्देवयाः। यजेर्वा न यातेः। देवयोरश्विनोर्यागो देवयाः। यतः प्रातरश्विनोर्यज्ञं प्रति गतिरिज्या वा नास्तीत्यर्थः। कुत? यद् **अजुष्टं** लिङ्गव्यत्ययः। अजुष्टा अप्रियाऽसावश्विनोः। अन्यकालत्वात्। अन्याद्यसेवितपूर्वा वा ताभ्यामित्यर्थः। **उतान्यो**ऽन्योऽपि। **अस्मद**स्मत्तः। **यजते** यजत एवाश्विनौ। **वि चावः** वि च आवः। विविधं चाधितर्पयति सोमेन। बहूनां च यजतां मध्ये **पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्** अश्विनोः संभक्तृतरो बहूनां यजमानानां मध्ये यश्च यश्च पूर्वो यजते स चाश्विनौ यजते। सादरत्वाच्च तस्यैव यज्ञमश्विनौ गच्छतो नेतरस्येत्यर्थः। एतदुभयं ज्ञात्वा प्रातरेव यजध्वम्। तयोः काल प्रागुक्तः। ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमिति। सम्प्रति तु परावधिप्रदर्शनाय तयोः स्तुतिकाल ऊर्ध्वमर्धरात्राद्यः सूर्योदयपर्यन्तो द्रष्टव्यः। उदितो यागकालः। तत्र वोषसां प्रकाशप्रभृति यावत्सूर्योदयस्तावदन्या देवता आश्विने शस्त्रे स्तुतिं लभन्ते। ता अप्यन्ते। स तासामावापकालः। काः पुनस्ताः? उषः प्रभृतयः। तत्रोषाः प्रथममुच्यते।

उषाः कस्मात्? **वष्टेः** कान्त्यर्थस्य। कान्ता ह्यसौ। **उच्छतेर्वा**। यथोक्तं **'उषाः कस्मात् उच्छतीति सत्याः'** (निरु०२.१८) इति द्युस्थानाया विकल्पः। मध्यमस्थाना उच्छतेरेव। तदाह **उच्छतेरितरेति**। सा ह्युदकानि विवासयति विवास्यते वा मेघान्मध्यमेन। तस्या एषा प्रकृतत्वात्तस्या उत्तमस्या उत्तमाया एषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

अथ षष्ठः खण्डः।

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे॥ (ऋ०१.९२.१३) उषस्तचित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यमन्नवति येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि। तस्या एषाऽपरा भवति॥६॥

भाष्यटीका

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।

येन तोकं च तनयं च धामहे॥ (ऋ०१.९२.१३)

गौतमस्य। हे **उषः**। **तच्चित्रं** विचित्रं पूजनीयं वा। किं तत्? सामर्थ्याद्धनमन्नं वा। **आभर** आहर देहीत्यर्थः। **अस्मभ्यं** हे **वाजिनीवति** वाजमन्नं तद्वती वाजिनीवती। कासौ? अवयवभूतेनान्नेन संहतिर्वाजिनी तया वाजीन्यान्न-संहत्या तद्वती वाजिनीवती उषास्तस्याः सम्बोधनं हे अन्नसंघातवतीत्यर्थः। द्वौ वा एतौ मत्वर्थीयौ। तयोरेकः स्वार्थिकोऽन्यो मत्वर्थीयः। अन्नवतीत्यर्थः। **येन** धनेनान्नेन वा। **तोकं च तनयं** चेति द्वे अप्येते अपत्यनामनी। पुत्रविषयमेकं पौत्रविषयमपरम्। पुत्रान् पौत्रांश्च **धामहे** धारयामः सम्यक् पुष्याम इत्यर्थः तस्या एषापरा उत्तमसम्बन्धलिङ्गप्रदर्शनार्था।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य षष्ठःखण्डः।

अथ सप्तमः खण्डः।

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥ (ऋ०१.९२.१) एतास्ता उषसः केतुमकृषत प्रज्ञानम्। एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्। पूर्वेऽर्धेऽन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने। **'एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।** (ऋ०१०३४.४) इत्यपि निगमो भवति। प्रति यन्ति। गावो गमनात्। अरुषीरारोचनात्। मातरो भासो निर्मात्र्यः। सूर्या सूर्यस्य पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा। तस्या एषा भवति॥७॥

भाष्यटीका

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।

निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥ (ऋ०१.९२.१)

गौतमस्यैव। उः पादपूरणः। एतच्छ्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धार्थं यदध्याहारः। याः पूर्वेष्वप्यहःस्वकार्षुः **एतास्ता उषसः**। एकस्या एवोषसः पूजार्थं बहुवचनम्। भवन्तो मे गुरव इति यथा। अवयवभेदापेक्षया भिन्नेष्वप्यहस्सूषोभेदाद् बह्वय एवोषस **केतुं** क्रतुं प्रज्ञानं प्राणिनाम **अक्रत** अकृषत कुर्वन्ति। केन प्रकारेण? **पूर्वे अर्धे**ऽस्मिन् भागे **रजसः**। रजःशब्दो लोकवचनः। द्युलोकस्य वा अन्तरिक्षस्य वा। सप्तमीश्रुतेः स्थिता इति शेषः।

भानुमञ्जते भानुमिति द्वितीया तृतीयार्थे। अञ्जिर्व्यक्त्यर्थः। भानुना व्यञ्जयन्ति स्वया भासा सर्वं व्यक्तीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्? **निष्कृण्वाना आयुधनीव**। कृणोतिरत्र सामर्थ्यात् कर्षणार्थः। निष्कर्षत आयुधानीव **धृष्णवो** धर्षयितारो योद्धारः कोशेभ्यः खड्गादीनि कर्षन्तो व्यक्तीकुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः।

-अथवा पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जत इत्यञ्जतिर्गत्यर्थः सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः। पूर्वे अर्धे द्युलोकस्य वान्तरिक्षस्य वा भानुं दीप्तिं गमयन्ति प्राणिनां प्रकाशद्वारेण ज्ञापनं कुर्वन्ति। पूर्वार्धे द्युलोकस्थान्तरिक्षस्य दीप्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः। कथम्? निष्कृण्वाना आयुधानीव। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने। संस्कुर्वाणा आयुधानीव धृष्णवो यथा भस्मगोमयपरिमार्जनादिभिः संस्कारैः संस्कुर्वन्ति आयुधानि योद्धारो दीप्तिमन्ति कुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। कृत्वा चैतत् **प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति** प्रतियन्ति यत आगतास्तत्रैव प्रतिगच्छन्ति। यत आदित्यादुत्पन्नास्तत्रैव प्रलीयन्त इत्यर्थः। गाव उषसोऽत्र गावः कृष्णा **'यद् गोर्ष्व॑रु॒णीषु सीद॑त्'** (ऋ०१०.६१.४) इति यथा। उषसः कीदृश्यः? अरुषीः। अरुषतिर्गतिकर्मा गमनस्वाभाविकाः। **मातरो** मातृस्थानीयाः स्वस्या भासो निर्मात्र्योऽथवा कृत्स्नस्य जगतः।

उपसर्गव्यत्ययस्य मन्त्रान्तरेऽप्यर्थं दर्शयितुमाह **'एमीदे॑षां निष्कृ॒तं जा॒रिणी॑व'** (ऋ०१०.३४.५) इति।

यदा॒दीध्ये॒ न द॑विषाण्येभिः परा॒यद्भ्योऽव॑ हीये॒ सखि॑भ्यः।

न्यु॑प्ताश्च ब॒भ्रवो॒ वाच॒मक्र॑तँ॒ एमीदेषां निष्कृ॒तं जा॒रि॑णीव॥ (ऋ०१०.३४.५)

कवषस्य वाक्षस्य वार्षम्। **यदक्षैर्जितो** हारितसर्वस्वः कुत्स्यमानश्च स्वैरहमा**दीध्ये** ध्यायामि संकल्पयामीत्यर्थः। कथम्? **न दविषाणि** न पुनर्देविष्याम्येभिरिति। संकल्प्य च **परायद्भ्य** आस्फारदेशं प्रतिगच्छद्भ्योऽ**वहीये**ऽधोहीयेऽपसर्पामीत्यर्थः। **सखिभ्यः** सखिभूतेभ्यः। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। तदा **न्युप्ताश्च** चशब्दो यदेत्यस्यार्थे यदा न्युप्ताः सन्तो बभ्रुवर्णा अक्षा **वाचमक्रतँ** शब्दं कुर्वन्तीति तदा तां श्रुत्वाक्षव्यसनेन परिभूयमानः परित्यज्य संकल्पमेमि इदेवार्थे **एम्येव** गच्छाम्येव। **एषामक्षाणां** सम्बन्धिनं **निष्कृतं** संस्कृतं प्रदेशमास्फाराख्यं **जारिणीव** यथा जारिणी स्त्री चारित्ररक्षासंकल्पं परित्यज्य स्त्री संकेतस्थानं प्रतियन्तीति क्रियायोगं दर्शयति। गमनादरुषीरिति च दर्शितसम्बन्धः। आरोचनाद्वा।

सूर्या। एषैवोषा सूर्या सम्पद्यते आदित्योदयकालं प्रत्यभिसृतकालतमा। तस्या एषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अथाष्टमः खण्डः।

सु॒किं॒शु॒कं श॑ल्म॒लिं वि॒श्वरू॑पं॒ हिर॑ण्यवर्णं सु॒वृतं॑ सु॒च॒क्रम्। आ रो॑ह सूर्ये अ॒मृत॑स्य लो॒कं॑ स्यो॒नं पत्ये॑ वह॒तुं कृ॑णुष्व॥ (ऋ०१०.८५.२०) सुकाशनं शन्नमलं सर्वरूपम्। अपि वोपमार्थे स्यात्। सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति। किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः। शल्मलिः सुशरो भवति। शरवान् वा। आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकमुदकस्य। सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व। **'सविता सूर्यां**

प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा' (तु०ऐ०ब्रा०४.२.१) इति च ब्राह्मणम्। वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा। तस्या एषा भवति॥८॥

भाष्यटीका

सु॒कि॒शु॒कं श॑ल्म॒लिं वि॒श्वरू॑पं॒ हिर॑ण्यवर्णं सु॒वृतं॑ सुच॒क्रम्।

आ रो॑ह सूर्ये अ॒मृत॑स्य लो॒कं स्यो॒नं पत्ये॑ वह॒तुं कृ॑णुष्व॥ (ऋ०१०.८५.२०)

सूर्याया आर्षम्। **सुकिंशुकम्** सुष्ठु किंशुकं प्रकाशनं दीपनम्। **शल्मलिं** शलिति शलेर्गत्यर्थस्य रूपम्। छन्नो नष्टो मलो यस्मात् तच्छन्नमलं निर्मलमित्यर्थः। अथवा शल्मलिमिति प्रसिद्धो वृक्षविशेष एवोच्यते। तद्विशेषणं सुकिंशुकमिति। लुप्तोपमं चैतत्। किंशुकमिति यद्यपि पलाशकुसुमं प्रसिद्धं तथापीह लोहितत्वसामान्यात् पुष्पत्वसामान्याच्च किंशुकशब्देन शाल्मलिपुष्पमुच्यते। सुपुष्पितमिव शाल्मलिं लोहितायमानमित्यर्थः। **विश्वरूपं** विश्वानि सर्वाणि रूपाणि प्रकाश्यतया सम्बन्धीनि यस्य तम्। **हिरण्यवर्णं** सप्त सुवर्णवर्णमित्यर्थः। **सुवृतं** सुवर्तनं वृद्गमनं सुगमनं शोभनगमनमित्यर्थः। **सुचक्रं** चक्रं चकनं दीप्तिः सुदीप्तिं च। **आ रोह** अनुप्रविशेत्यर्थः। हे **सूर्ये** उषसः प्रभैव। इयमप्युदयादूर्ध्वमेषैवाविष्टकालतमा उपचीयमानतरप्रकाशा प्रागरुणोदयात् सूर्योच्यते तस्याः सम्बोधनम्। **अमृतस्य** उदकनामैतत्। उदकस्य भौमरसाख्यस्य। **लोकं** (स्थानवचनः) स्थानमादित्यम्। आरुह्य च **स्योनं** सुखनामेदं सुखमस्मै पत्ये पतिभूतायादित्याय **वहतुं** प्रवेशमित्यर्थः। **कृणुष्व** कुरुष्व। एवं नैरुक्तपक्षे योजना।

अनैरुक्तपक्षे-सविता स्वदुहितरं सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा। सोह्यमानोच्यते। **सुकिंशुकं** शोभनकिंशुकमिव पलाशम्। **शल्मलिं 'अथापि ताद्धितेन'** (निरु०२.५) इत्येवं शल्मलिशब्दः, शल्मलिविकारभूते रथे वर्तते। विचित्रवर्णारुणं शल्मलिविकारभूतं **रथम्**। बहुभक्तविचित्रपुत्रिकासनाटकरचनाविशेषयोगाद् **विश्वरूपम्**। सुवर्णेन खचितत्वाद् **हिरण्यवर्णम्**। **सुवृतं** सुगमनम्। **सुचक्रं रथमारोह**। हे **सूर्य अमृतस्या**मृतात्मकस्य मरणवर्जितस्य सोमस्य राज्ञः प्रजापतेर्वा **लोकं** रथाख्यं स्थानं समारूढः प्रथमवरः सोमः प्रजापतिर्वा। तत्र च **स्योनं** सुखं **पत्ये** भर्त्रे सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा **वहतुं** समुद्वाहं कुरुष्वेति।

किंशुकं क्रंशतेरिति। क्रंशतिर्नैरुक्तधातुः प्रकाशनार्थः। शल्मलिः सुशरः सुहिंस्रो मृदुत्वात्। शरवान् वा कण्टकप्रायत्वात्। नैरुक्तपक्षे च सविता सुषुम्नाख्यः सूर्यरश्मिस्तत्कृतां ज्योत्स्नां दुहितृभूतां सोमाय राज्ञे प्रायच्छत्। यदा प्रजापतये तदा मध्यमा योषा उदकप्रत्यन्नो न दीयत इति योजयन्ति केचित्।

वृषाकपायी वृषाकपेरादित्यस्य पत्नी। एषैव सूर्या। अभिसृष्टकालतमा अरुणोदयावस्था उषःप्रभैव सूर्यावस्थाना अभिसृष्टकालतमा पूर्ववद्वृषाकपाय्युच्यते। तस्या एषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्याष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.१३) वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे मध्यमेन सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा। स्नुषा साधु सादिनीति वा। साधु सानिनीति वा। स्वपत्यं तत्सनोतीति वा। प्राश्नातु तु इन्द्र उक्षण एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान्। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः। उक्षन्त्युदकेनेति वा। प्रियं कुरुष्व सुखाचयकरं हविः। सुखकरं हविः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। सरण्यूः सरणात्। तस्या एषा भवति॥९॥

भाष्यटीका

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.१३)

संवादसूक्ते इन्द्र आह। हे **वृषाकपायि रेवति** रयिशब्दाद्धनवचनान्मतौ **'रयेर्मतौ बहुलम्'** (अष्टा०वा०६.१.३४) इति प्रसारणे मतोर्वत्वे चैतद्रूपं सम्बुद्धौ हे धनवति। **सुपुत्रे** मध्यममस्याः पुत्रमाह साहचर्याद् रसहरणाद्वा माध्यमिकां च स्नुषां ताभ्यां सुपुत्रे सुस्नुषे च। **आदिति** पादपूरणः। आङर्थे वा घसदित्यनेन सम्बध्यते। अदेश्चयं घस्लादेशः पञ्चमलकारे छान्दसत्वात्। **आघसत्** आभिमुख्येन भक्षयतु आपिबतु उद्गम्य शोषयतीत्यर्थः। ते तव स्वभूतान्। कोऽसौ? **इन्द्रो**ऽत्यन्तमीश्वरभूत आदित्यः। कदा पिबतु? **उक्षणः** छान्दसत्वादल्लोपाभावः। उक्षणः **'उक्ष सेचने'** (धा०१.६५८) सेक्तॄन् भूमेरेतान् माध्यमिकानुदकसंघातानवश्यायाख्यान्। ये तु तत्कालेऽवश्यायकणाः पतन्ति तानित्यर्थः। त्वमपि **काचित्करं** कं सुखं तस्याचयनं काचित् तस्य कर्तृभूतं सुखाचयकरं काचित्करं प्रभूतसुखमित्यर्थः। किं पुनस्तत्? **हविः** उदकनामेदम्। उदकमवश्यायाख्यम्। द्वितीयाश्रुतेः कुरुष्वेति शेषः। **विश्वस्मादिन्द्रो**ऽत्यन्तमीश्वर उत्कृष्टतरश्चान्यैरपि गुणैः।

घसदित्यनेन चास्य व्यवहितेनापि सम्बन्धः। तदेतद् भाष्यकार आह। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यमिति। एतच्छब्देनात्र घसदित्येतत् प्रतिनिर्देशयति घसदित्येतदिति ब्रूम इति व्यवहितेनास्य घसदित्येतेन सम्बन्धः। यदि तु प्रियं काचित्करं हविरिति घसदित्यनेन व्यवहितेन सम्बध्यते। अवश्यायं घसत्। उक्तविशेषलक्षणं हविरुदकं नदीतटाकादिस्थं सोमरसाख्यमिति तद् घसत् (ततः) तत्कुरुष्वेति वाक्यशेषोऽध्याहर्तव्यो जायते। न च विश्वस्मादिन्द्र उत्तर इति व्यवहितकल्पनया।

स्नुषा कस्मात्। साधुसादिनी (इति) वा साधौ शोभनेऽर्थे श्वशुरस्य सन्तानलक्षणे परिचर्यालक्षणे वा सीदत्येवंशीला। साधुसानिनीति वा (तां वा) संभजत एवंशीला। (स्वपत्यं सन्तनोति वा) अथवा स्नुशब्दो (अपि) अपत्यनाम तत्सनोति। यं प्रति स्नुषाव्यपदेशस्तस्यापत्यं संभजत इति।

उक्षा उक्षतेर्वृद्ध्यर्थस्य। वर्धयन्ति हि त ओषधीरवश्यायाः। अत एव वा बहुत्वाद् वृद्धा भवन्ति। स्वार्थ एव वा उक्षन्ति सिञ्चन्ति सर्वमधोभागवत्युदकेनेति।

सरण्यूः। सैव यदा सूर्ये प्रत्यात्मानं सरणेन नयति तदोषःप्रभारुणोदयावस्थाभिसृतकालतमा सरण्यूरुच्यते। तस्या एषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

अपा॑गूहन्न॒मृतां॒ मर्त्ये॑भ्यः कृ॒त्वी सव॑र्णामदद॒ुर्विव॑स्वते। उ॒ताश्विना॑वभर॒द्यत्तदासी॒दज॑हादु॒ द्वा मि॑थु॒ना स॑र॒ण्यूः॥ (ऋ० १०.१७.२) अप्यगूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः। कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते। अप्यश्विनावभरत्। यत्तदासीत्। अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूः। मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः। तत्रेतिहासमाचक्षते। त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य संबभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ १०॥

भाष्यटीका

अपा॑गूहन्न॒मृतां॒ मर्त्ये॑भ्यः कृ॒त्वी सव॑र्णामदद॒ुर्विव॑स्वते।
उ॒ताश्विना॑वभर॒द्यत्तदासी॒दज॑हादु॒ द्वा मि॑थु॒ना स॑र॒ण्यूः॥ (ऋ० १०.१७.२)

देवश्रवस आर्षम्। अपगूहन्ते रश्मयोऽपनयन्तीत्यर्थः। काम्? **अमृताममरणधर्मिणीं** वृषाकपायीशब्दवाच्यामरुणोदयावस्थामुषःप्रभाम्। कुतोऽ**पागूहन्**? **मर्त्येभ्यो** मनुष्याणां दृष्टिपथादित्यर्थः। **कृत्वी** कृत्वा वान्यां तत्**सवर्णां** सरण्यूनाम्नीमुदितेऽरुणे यस्याः प्रभा ताम**ददुर्**ददति। **विवस्वत** उद्यत आदित्यस्य सन्निकृष्टतरां कुर्वन्तीत्यर्थः। सा च दत्ता सती **उत** अपि च। **अश्विनावभरत्** बिभर्त्तेरिदं रूपं न भरतेः। अश्विनावात्मनि धारयति तमोभागं ज्योतिर्भागं चेत्यर्थः। **यत्तदासीद्** वृषाकपाय्या रक्तं रूपं तच्च क्रमेणोपजायमानप्रकाशप्रकर्षा **अजहाज्**जहाति। **उकारः** पादपूरणः। **द्वा मिथुना** द्वौ मिथुनौ स्त्रीपुंसौ मध्यमञ्च तमोभागं तदन्तर्गतां च माध्यमिकां वाचं तच्च तदासीद् वृषाकपाय्या रक्तं रूपं तेन रूपेण सह त्रितयमपीत्यर्थः।

ऐतिहासिकपक्षे (तु) सरण्यूर्नाम त्वष्टुर्दुहिता। तां देवतारूपत्वाद**मृताममरणधर्माणं मर्त्येभ्यः** सर्वमनुष्येभ्यो (देवा) **अपागूहन्** नाशितवन्त इत्यर्थः। कृत्वा चान्यां तद्व**र्णामददुर्विवस्वते**। सा च तदाश्वं रूपं कृतवत्युत्तरेषु कुरुषु विवस्वतोऽश्वरूपाद**श्विना**वात्मनि गर्भभूताव**भरत्** धारितवती जनितवतीत्यर्थः। **यत्तदासीदा**श्वं रूपमस्यास्तत् स्वेन रूपेण**जहात्** (**'ओहाक् त्यागे'** (धा०३.८)) त्यक्तवती च विवस्वत एव सकाशाद् **द्वौ मिथुनौ** स्वपुत्रौ यमं च यमीं च सरण्यू इति। इतिहासदर्शनाभिवादिन्येषा ऋग्भवति।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथैकादशः खण्डः।

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒ती॒ती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति। य॒मस्य॑ मा॒ता पर्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश।। (ऋ० १०.१७.१) त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोति। इतीदं विश्वं भुवनं समेति। इमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रिरादित्यस्य। आदित्योदयेऽन्तर्धीयते।। ११।।

भाष्यटीका

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒ती॒ती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति।

य॒मस्य॑ मा॒ता पर्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश।। (ऋ० १०.१७.१)

त्वष्टा देवः। **दुहित्रे** षष्ठ्यर्थे चतुर्थी स्वया दुहितुः सरण्यूनाम्याः। **वहतुं** वहनं विवाहं **कृणोति** करोतीति। एतेन कारणेन संपरिहाणारार्थम्। **इदं विश्वं भुवनं** सर्वं भूतजातं **समेति** समित्येष आ इत्यस्य स्थाने। भूते च लट् समागच्छति स्म। सा च **पर्युह्यमाना** ऊढा च सती यमस्य यम्याश्च **माता महो** महतो **विवस्वतो जाया** भार्या तस्माद् यमं च जनयित्वा त्यक्त्वा **ननाश** नष्टा।

नैरुक्तपक्षे त्वस्यामृचि त्वष्टा मध्यमस्तमोभागस्तस्य दुहिता उषाः। तेन रात्रिरूपेण स्वैरुदये जन्यमानत्वात् तस्या वहनं प्रापणमनुप्रवेश आदित्ये तं स मध्यमस्त्वष्टा रात्रिरूप आत्मापगमनेन करोति। एतेन कारणेनेदं सर्वं भूतजातं समेति सङ्गच्छते स्वैः कर्मभिः सम्बध्यते। उदितायां ह्युषसि अपैतीदानीं तम उदेत्यादित्य इत्येवं मन्यमाना सर्वप्राणिनः स्वकर्माणि कर्तुं प्रारभन्त इत्यर्थः। सापि यम आदित्यस्तस्य माता साहचर्याद्रसहरणाद्वा मातृभूता। तं प्रति, पर्युह्यमाना च न केवलं मातृभूता। किं तर्हि? महो महतो विवस्वतोऽभिगमनसामान्याज्जायाभूता विश्वरूपेण ननाश नश्यति। उद्यत्यादित्ये लीयते तदात्मकैवेत्यर्थः। अभिसमागच्छतीति स्वैः कर्मभिरिति वाक्यशेषः। रात्रिरादित्यस्येति च रात्रिशब्देन रात्रेरेकदेशत्वादुषा एवोच्यते सम्बन्धत्वात्। सा च देवधर्मेणादित्यस्य माता। जा........ न दानयेन्तर्धीयत इति सिद्धम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये सप्तदशस्य (द्वादशस्य) प्रथमः पादः।

॥अथ द्वितीय पादः॥

अथ द्वादशः खण्डः।

सविता व्याख्यातः (निरु०७.३१, १०.३१)। तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काऽऽकीर्णरश्मिर्भवति। तस्यैषा भवति॥१२॥

सविता व्याख्यातः (निरु०७.३१)। सर्वस्य प्रसवितेति। इह द्युस्थानोऽभिधेयः। किमवस्थः उच्यते

तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति। तस्यैषा भवति।

द्यौरेव न भूमिः। आविर्भूतप्रकाशा उदेष्यतादित्येन कीर्णा रश्मयो यस्या एवमस्थः। तस्य सवितुरेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद्भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे। वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॒ण्योऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति॥ (ऋ०५.८१.२) सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी। कविः क्रान्तदर्शनो भवति। कवतेर्वा। प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च। चतुष्पाद्भ्यश्च। व्यचिख्यपन्नाकं सविता वरणीयः। प्रयाणमनूषसो विराजति। **अधोरा॑मः सावि॒त्रः।** (यजु०२९.५८) इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति। अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात्सामान्यात्। **'अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः।'** कस्मात् सामान्यादिति। **'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्'। 'रामा रमणायोपेयते न धर्माय'** कृष्णजातीयैतस्मात्सामान्यात्। **कृक॒वाकुः सावि॒त्रः।** (यजु०२४.३५) इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति। कालानुवादं परीत्य। कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम्। वचेरुत्तरम्। भगो व्याख्यातः (निरु०३.१६)। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्। तस्यैषा भवति॥१३॥

भाष्यटीका

वि॒श्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद्भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे।
वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॒ण्योऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति॥ (ऋ०५.८१.२)

श्यावाश्वस्य। यान्यनेन सङ्गच्छता तमसा पिहितान्यनुपलभ्यमानत्वादगृहीतानि **विश्वा** तानि विश्वानि सर्वाणि **रूपाणि** घटपटस्तम्भादीनि **प्रतिमुञ्चते** मनाक् क्रमापनयेनोपलभन् प्रतिमुञ्चतीव। **कविर्मेधावी। प्रासावीत्** प्रसवोऽभ्यनुज्ञा अभ्यनुजानाति च। **भद्रं** स्वं स्वं कर्म। **द्विपदे** मनुष्याय। **चतुष्पदे** गवादये। च सर्वेभ्यो द्विपाद्भ्यश्चतुष्पाद्भ्यश्च। सर्वं हि भद्रं कर्मोदिते सवितरि क्रियते नानुदिते तदुदयेनानुजानातीव। किञ्च **वि नाकमख्यत्** व्यख्यत् ख्यातिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः। विख्यापयति प्रकाशयतीत्यर्थः। **नाकं** दिवम्। कः? **सविता**

वरेण्यो वरणीयः। किञ्च **अनु प्रयाणमनु** पश्चात् प्रयाणस्योषसः उषसि व्यतीतायामित्यर्थः। **विराजति** विशेषेण दीप्यते।

भाष्ये सर्वाणि प्रज्ञानानीति घटपटादिरूपाविष्कृतेस्तद्विषयाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चतीत्याह। कविः कस्मात्? क्रान्तदर्शन इत्यादि क्रमतेः। कवतेर्वा गतिकर्मण इदं रूपम्। क्रान्तं दूरं गतं दर्शनं प्रकाशरूपं विज्ञानमस्य। यदा कवतेस्तदा कविर्गन्ता गच्छत्यसौ नित्यम्। अवगन्ता वा सर्वस्य ज्ञाता। क्वचित्तु कवतेः शब्दकर्मणः। अस्मिन्नेव नामकरणे शब्दकारी कविरुच्यते।

विनाकमख्यदिति सवितुः कालोपलक्षणार्थं मन्त्रलिङ्गम्। तत्पशुगुणसामान्येन समर्थयन्नाह। **'अधोरामः'** (तु०का०सं०५.८.२; तै०सं०५.५.२; वा०सं०२९.५८) इत्यादि ब्राह्मणम्। पशुविधानार्थः समाम्नायः पशुसमाम्नायः। तत्र **'अधोरामः सावित्रमालभेत। कृकवाकुं सावित्रमालभेत'** (तु०वा०सं०२९.५९; २४.३५) इति श्रूयते। तत् तस्माद् गुणसामान्यादिति चेत्। **अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवतीति**। तद्वेलायां तस्यां वेलायामधस्तम उपरिष्टाज्ज्योतिर्विकीर्णरश्मित्वात्। **एतस्मात्सामान्यात्** एतस्माद्देवतागुणसामान्यात्पशुरपि सावित्रस्तद्रूप एवाधोराम इति। **अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्ण** इति स्याद्रामः कृष्णो वर्णः। **कस्मात्सामान्याद्रामः** कृष्णवर्ण इति चेत्? शृणु विज्ञायते हि **'अग्निं चित्वा'** (का०सं०२२.७) इत्यादि। का तत्र रामा? शूद्रोच्यते कृष्णजातीया। कृष्णो ह्यप्रशस्तो वर्णः। कस्मात् सामान्यात्? पशावपि रामशब्दः प्रवृत्तः।

एवमेव कृकवाकुरित्यादि। **कालानुवादं परीय** सावित्रं कालं ह्यसौ वदति। परीत्य ज्ञात्वा। तत्सम्बन्धेन सावित्रमित्यर्थः। कृकवाकुशब्दस्य पूर्वं कृक इत्येतत् तच्छब्दानुकरणनिमित्तम्। वचेरुत्तरम्। कृक इत्येवं ब्रवीतीति कृकवाकुः। एतदर्थानुवादिन्येव व्याकरणस्मृतिः **'कृके वचः कश्च'** (उणा०१.६) इति।

भगो वक्तव्यः स पुनर्निरुक्तः (निरु०३.१६)। भजनीयो भूतानां स्वकार्यप्रयुक्तानां सावित्रात्कालादनन्तरवर्तिज्योतिर्विशेषो भगाख्योऽत्यन्तभास्वरः प्रकाशः प्रागुपसर्पणादनाविर्भूतमण्डल इत्यर्थः। तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः।

अथ चतुर्दशः खण्डः।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ (ऋ०७.४१.२) प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधारयिता सर्वस्य। आध्रश्चिद्यं मन्यमानः। आढ्यालुर्दरिद्रः। तुरश्चित्। तुर इति यमनाम। तरतेर्वा। त्वरतेर्वा। त्वरया तूर्णगतिर्यमः। राजा चित्। यं भगं भक्षीत्याह। **अन्धो भगः** (कौ०ब्रा०६.१३, शत०ब्रा०१.७.४.६) इत्याहुः। अनुत्सृप्तो न दृश्यते। **प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान।** (कौ०ब्रा०६.१३) इति च ब्राह्मणम्। **'जनं भगो गच्छति।'** (मै०सं०१.६.१२) इति वा। जनं गच्छत्यादित्य उदयेन। सूर्यः सर्तेर्वा। सुवतेर्वा। स्वीर्यतेर्वा। तस्यैषा भवति॥१४॥

भाष्यटीका

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ (ऋ०७.४१.२)

प्रातर्जितं संपदादित्वात् क्विप्। प्रातस्तमांसि जयति यस्तं प्रातरेव तमसां जेतारमित्यर्थः। भगमुक्तावस्थं ज्योतिः **उग्रम**प्रसह्यं उद्गर्णायोत्सर्पणाय **हुवेम** ह्वयेम **वयम्। पुत्रमदितेर्**देवमातुः प्रातस्तन्या वा सन्ध्यायाः। कीदृशं भगम्? **यो विधर्ता** धारयिता सर्वस्य स्वेनानुग्रहेण। **आध्र** आढ्यालुराढ्यत्वकामो दरिद्रः। **चिच्चार्थे** दरिद्रश्च। **यं मन्यमानो** मन्यतिः कान्तिकर्मा यं कामयमानम्। किम्? सामर्थ्याद्धनार्थं पर्यागमनम्। **तुरश्चित्** तूर्णगतिश्च। कोऽसौ? सामर्थ्याद्यम इत्याह प्राणिनामायुषः क्षयार्थम्। **राजा चित्** राजा च प्रजानां व्यवहारादिदर्शनाद्यर्थम्। **यं भगं भक्षीत्याह**। भक्षीति भजतेश्छान्दसत्वात् परस्मैपदमध्यमैकवचने भजस्वोदयमित्यलम्। यमो राजा च स्वकार्यप्रसिद्धये समुद्यतमिच्छतीत्यर्थः।

आढ्यालुर्दरिद्र इति वाक्यार्थे पदवचनमाध्र आढ्यालुरिति 'आढ्याच्चालुच उपसंख्यानम्' (मूलमनुपलब्धम्) अस्मादेव विशिष्टप्रयोगात्। तुरस्त्वरण इत्यस्य **तरतेर्वा** प्लवनार्थस्य **त्वरतेर्वा** शीघ्रार्थे वर्तमानस्य तुरः। तुरोऽपि यं भगमाहेति सम्बन्धः। ज्योतिर्भग (उच्यते) इत्यस्यैवार्थस्य द्रढिम्नः कारणमाह। **अन्धो भग इत्याहुर्ब्रह्मवादिनः**। तत्कथम्? नास्मिन् द्रष्टॄणां ध्यानदर्शनमस्तीत्यर्थः। **अनुत्सृप्तः** सूर्याभावमनागतो मण्डलाकारतया न दृश्यत इत्यर्थः।

अथवा प्राशित्रस्येक्षणभक्षणादीनि मन्त्रवन्ति कर्तव्यानीति। अस्य विधेः स्तुतिपरेऽर्थवादे तद्भगाय परिजह्रुः। तस्य **'अस्याक्षिणी निर्जघान'** (तु०कौ०ब्रा०६.१३) इत्यादौ भगस्य सिद्धमन्धत्वमैतिहासिकपक्षे तत्तु मन्दप्रयोजनम्। **'जनं भगो गच्छति'** (मै०सं०१.६.१२) इत्यादि ब्राह्मणम्। तच्चादित्य एव एवमवस्थो भगशब्दवाच्य इति प्रतिपत्त्यर्थम्। तस्य विवरणं **जनं गच्छत्यादित्य उदयेनेति**।

सूर्यो वाच्यः। स पुनः सर्तेः प्रागवस्थातः सरणात्। सुवतेर्वा सुकर्मसु जगतः प्रेरणात्। स्वीर्यतेर्वा वायुना ह्ययं सुष्ठु सर्वदैवोदयास्तमयौ प्रतीर्यतेऽतः सूर्यः। तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य चतुर्दशःखण्डः।

अथ पञ्चदशः खण्डः।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ (ऋ०१.५०.१) उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति। कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत्? तस्यैषापरा भवति॥१५॥

भाष्यटीका

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।

दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ (ऋ०१.५०.१)

प्रस्कण्वस्य (आर्षम्)। तच्छब्दसमानार्थत्वाच्छुतेर्यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यं जना नमस्यन्ति तं **जातवेदसं** जातप्रज्ञानं **देवं** दानादिगुणम्। **वहन्ति** आद्य उच्छब्द इह द्रष्टव्यः। उद्वहन्ति ऊर्ध्वं वहन्ति। के? सामर्थ्यादश्वाः। कीदृशाः? **केतवः** केतुरिति प्रज्ञानम्। प्रज्ञानसतत्वाः। सूर्यस्य स्वयं प्रज्ञानस्वभावत्वात्। अश्वैरपि प्रज्ञानसतत्त्वैर् (एव) भवितव्यम्। अथवा केतवो रश्मयः प्रज्ञानसतत्वास्त उद्वहन्ति। किमर्थम्? **दृशे** द्रष्टुं दर्शनार्थमित्यर्थः। कस्य? **विश्वाय** षष्ठ्यर्थेऽत्र चतुर्थी। सर्वस्य भूतजातस्य। उदिते हि सूर्ये सर्वं भूतजातं द्रष्टुं समर्थं भवति नानुदिते। कं वहन्ति? **सूर्यं** रश्मयो वाय्वाविष्टाः।

सौर्ये सूक्ते जातवेदस्पदसन्निधानशङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह कमन्यमिति। परा च यत्र जातवेदशब्दो (अपि) नास्ति।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या) ध्यायस्य पञ्चदशःखण्डः।

अथ षोडशः खण्डः।

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः। आ प्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च॥ (ऋ०१.११५.१) चायनीयं देवानामुदगमदनीकम्। ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च। आपूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन। तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च। अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति। तस्यैषा भवति॥१६॥

भाष्यटीका

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः।
आ प्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च॥ (ऋ०१.११५.१)

कुत्सस्यार्षम्। **चित्रं** प्रातर्मध्यन्दिनापराह्णेषु नानारूपत्वाच्चित्रं चायनीयं वा पूज्यं ज्योतिः। **उदगात्** उदितम्। किं रूपम्? **देवानां** रश्मीनामनीकं समूहः (कदम्बम्) रश्मिसमूह इत्यर्थः। **चक्षु**श्चक्षुस्थानीयं च प्रकाशकत्वात्। कस्य चक्षुः? **मित्रस्य वरुणास्याग्नेः**। मित्रादिग्रहणं च प्रदर्शनार्थं देवानां मनुष्याणामन्येषु च प्राणिनामित्यर्थः। उद्गम्य च **आ प्राः** **'प्रा पूरणे'** (धा०२.५१) इत्यस्यान्तर्णीतण्यर्थस्य पुरुषव्यत्यय आपूरयति द्यावापृथिव्यावन्तरिक्षं च। केन? सामर्थ्यान्महत्त्वेन रश्मीनाम्। महद्धी रश्मिभिरीत्यर्थः। कतमदीदृशं ज्योति? उच्यते। **सूर्यो** योऽयं सूर्यो नामात्मा **जगतस्तस्थुषश्च** जङ्गमस्य स्थावरस्य चात्मभूतः सर्वानुप्रवेशित्वात्। तथा च विज्ञायते रहस्यब्राह्मणे सर्वानुप्रवेशित्वम् **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्येतदुहैवोपेक्षेत'** (ऐ०ब्रा०२.२.४) इति। उपासीतेत्यर्थः। चक्षुर्मित्रादीनामित्यत्रापि विज्ञायते **'असावादित्यो देवानां चक्षुः'** (तु०श०ब्रा०३.२.२.१३; १०.३.३.७; जै०उप०३.२.७) इति।

अनन्तरं पूषा वक्तव्यः। स कस्मात्? यद्रश्मिपोषं पुष्यति। यद्यदा रश्मिभिः परिविष्टो भवति तदा पूषा भवति। तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य षोडशः खण्डः।

अथ सप्तदशः खण्डः।

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि। विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ (ऋ०६.५८.१) शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यत्। यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यत्। विषमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि। अन्नवन्! भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु। तस्यैषापरा भवति॥१७॥

भाष्यटीका

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।

विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ (ऋ०६.५८.१)

भारद्वाजस्य। शुक्रशब्दोऽत्र शुक्लपर्यायः। शुक्लं **ते** तव। **अन्यत्** एकम्। किं पुनस्तत्? सामर्थ्याद्रूपम्। **यजतं ते अन्यत्**। यजतशब्दोऽत्र शुक्लप्रतियोगित्वाल्लोहितपर्यायः। लोहितं ते अन्यदपरं रूपम्। पूषाप्यादित्यः। तस्य मध्यन्दिने शुक्लं रूपं, लोहितमुदयास्तमययोः। अथवा शुचेर्दीप्त्यर्थस्य शुक् रो मत्वर्थीयः। **शुक्रं** दीप्तिमदुच्यते। दीप्तिमत् ते तवैकं रूपं मण्डलाख्यम्। यजतं यष्टव्यमन्यन्मण्डलस्याधिष्ठायकम्। ते चैते **विषुरूपे** परस्परं भिन्नरूपे शुक्लरोहितत्वरूपेण। ते वा **अहनी** अहोरात्रे एते त्वमसि। तव चैते कर्मणी यतस्त्वत्कर्तृके एते अतस्त्वमसि। **द्यौरिवासि** द्यौरिव च त्वमसि यथा द्यौर्व्यापिनी तथा त्वमसीत्यर्थः। **विश्वा हि** हिरत्र चार्थे सर्वाश्च **मायाः**। **अवसि** प्रज्ञाहेतुभूतप्रकाशदानेन त्वं पालयसि। हे **स्वधावन्** स्वधेत्युदकनाम वा रश्म्याहृतेनोदकेन हविर्लक्षणेनान्नेन वा तद्वत्। किञ्च **भद्रा** कल्याणी **ते** तुभ्यं हे **पूषन इहा**स्मदीये यज्ञे **राति**र्हविषो दान**मस्तु** कृणु।

अथवा भद्रा ते इति तेशब्दः **'कर्तृकर्मणोः कृति'** (अष्टा०२.३.६५) इति कर्तृलक्षणषष्ठ्यन्तः। कल्याणी ते त्वत्कर्तृका रातिरिहास्तु। कल्याणं दानमिहास्मभ्यं देहीत्यर्थः। द्वितीये व्याख्याने यजतमिह भाष्ये भाजनं स्वपानपात्रं तेन तद्वती।

'इयं वै पूषा' (मै०सं०२.५.५) इति पृथिवीतो व्यवच्छेदाय पथि रक्षितृत्वाधिकारप्रदर्शनाय वा पूष्णः परा च।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य सप्तदशः खण्डः।

अथाष्टादशः खण्डः।

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम्। स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा।। (ऋ०६.४९.८) पथस्पथोऽधिपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानळर्कमभ्यापन्नोऽर्कमिति वा। स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि। कर्म कर्म च न प्रसाधयतु पूषेति। अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा। व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति।।१८।।

भाष्यटीका

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम्।

स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा।। (ऋ०६.४९.८)

ऋजिश्वन आर्षम्। स नो रासदिति तच्छुतेर्यदध्याहारः। यं **पथस्पथः परिपतिं** यावान् कश्चित् पन्थास्तस्य सर्वस्य। परिपतिं परीत्येषोऽधीत्येतस्य स्थाने अधिपतिं स्वामिनम्। पूषा हि महति पथि संप्रतीत्यतः पथोऽधिपतिरुच्यते। **वचस्या** तृतीयैकवचनस्य याजादेशः। स्वार्थिको वा यकारो वच एव वचस्या ततस्तृतीयाया अलुक् तथा वचस्यय स्तुतिलक्षणेन वचसेत्यर्थः। **कामेन कृतः** करोतिः क्रियासामान्यवचनः सामर्थ्यादिह प्रेरणे वर्तते। अभिलाषेच्छया प्रेरितः। **अभ्यानट्** अभिव्याप्नोति स्तौतीत्यर्थः। **अर्क** देवं पूषणम्। **स नो**ऽस्मभ्यम्। **रासत्** रासतिर्दानकर्मा ददातु। **शुरुधो**ऽन्यत्र शुरुध आपो भवन्ति शुचं रुन्धन्तीति। इह तु सामर्थ्याद् धनानि शुरुध उच्यन्ते। तान्यपि हि शुचं मनोदुःखमुपभोगसाधनाभावात्कृतं सुतरां संरुन्धन्तीति। कीदृशीः शुरुधः? **चन्द्राग्राः** चन्द्रं चन्दतेः कातिन्कर्मणः। कान्तं प्रियमग्रं यासां ताश्चन्द्राग्राः। आयत्यामपि हि तानि धनानीत्यर्थः। किञ्च **धियंधियं** कर्मकर्म ज्योतिष्टोमादिकं तदपि **सीषधाति** लोडर्थे पञ्चमो लकारो व्यत्ययेन विकरणं प्रसाधयतु **पूषा**।

अभ्यानडित्यस्य व्याख्यानमभ्यापन्न इति। वातिरिक्तः पाठः। चन्द्राग्रा इति बहुव्रीहिः। भाष्ये तु समानाधिकरणः प्रदर्शितः। चायनीयान्यग्राणि चायनीयानि च तान्यग्राणि चेति।

अनन्तरं विष्णुर्वक्तव्यः। स किमवस्थः? **यद्विषितो भवति** यदा विविधं सितो रश्मिभिर्व्याप्त इत्यर्थः। सर्वत्र चात्र कालविभागो नाम निर्वचनं तदेव द्रष्टव्यम्। विष्णुः कस्मात्? **विशतेस्तीव्ररश्मिद्वारेण** सर्वत्र व्यावेशात्। **व्यश्नोतेर्वा** विश्वं रश्मिभिर्व्यश्नुत इति। तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्याष्टादशः खण्डः।

अथैकोनविंशः खण्डः।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे॥ (ऋ०१.२२.१७) यदिदं किंच तद्विक्रमते विष्णुः। त्रिधा निधत्ते पदम्। त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूळ्हमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते। अपि वोपमार्थे स्यात्। समूळ्हमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पाँसवः पादैः सूयन्त इति वा। पन्नाः शेरत इति वा। पंसनीया भवन्तीति वा॥१९॥

भाष्यटीका

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे॥ (ऋ०१.२२.१७)

मेधातिथेरार्षम्। **विष्णुरा**दित्यः स **इदं** सर्वं **वि चक्रमे** अहन्यहनि विक्रमते। कथम्? **त्रेधा नि दधे पदं** स्थानभेदप्रकारेण त्रिप्रकारं निधत्ते पदम्। पृथिव्यामग्न्यात्मना। अन्तरिक्षे विद्युदात्मना। दिव्यादित्यात्मना। एतच्च शाकपूणिमतम्। तथा चैकमेवेदं ज्योतिस्त्रेधा विभक्तमित्येनमूर्धस्थानमवोचत् **'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्'** (ऋ०१०.८८.१०) इति।

अथवा त्रेधा निदधे पदमिति प्रातरुदयगिरौ। मध्यन्दिने मध्ये द्युलोकस्य। सायाह्नेऽस्तगिरौ। नैरुक्तपक्षे देवादय एव समारोहणादिभिः शब्दैरुच्यन्ते।

अथवा बलिबन्धनकाले विष्णोर्भगवतो नारायणस्य यद्विक्रमणं तदत्रोच्यत इत्यैतिहासिकाः। समारोहणादीन्यपि तु तत्र यानि पदनिधानस्थानान्यासन् तान्युच्यन्ते। **समूळ्हं 'वह प्रापणे'** (धा०१.१०२९) इत्यस्य रूपम्। तच्च त्रिविधमपि सम्यगूढं प्रापितं सम्यक् प्रतिष्ठापितमित्यर्थः। **अस्य** भगवतः स्वभूतं पदम्। कथम्? **पांसुरे** पांसवो यस्मिन् स सन्ति पांसुरो रो मत्वर्थीयः। लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम्। पांसुर इव यथा पांसुरप्रदेशे सुप्रतिष्ठितं पदं भवेत्तद्वदित्यर्थः। अथवा पांसुरशब्दः पृथिवीवचनः। पांसुरे पृथिव्यां यत्समारोहणं नाम तत्र यत्पदमस्य विष्णोस्तत्मूढं सुप्रतिष्ठापितम्। अथवा मुहेरेतद्रूपं न वहेः। समूढं विवेकेनाग्राह्यं न दृश्यत इत्यर्थः।

अस्येति प्रथमे व्याख्याने विद्युदात्मकस्यायमन्वादेशः। त्रेधा निदधे पदं यद्विद्युदात्मकस्य पदं तत्समूढं छन्नं नित्यं न दृश्यत इत्यर्थः। क्व? पांसुरे प्यायने वर्धने वान्तरिक्ष (इत्यभिप्रायः। लुप्तोपमो वा पांसुरशब्दः। यथा पांसु.............. ति प्रदेश पांसुभिरा .... त पदं न दृश्यते एवमस्य विद्युदात्मकस्यान्तरिक्षे वा।

द्वितीये व्याख्याने आदित्यस्यातिभास्वरत्वाद् मध्ये वा दिवः। ऐतिहासिकपक्षे विष्णुपदे यत्पदं तन्न दृश्यत) इत्यर्थः। पादैः सूयन्ते जन्यन्ते। यन्नाः शेरतेऽवतिष्ठन्ति। पिंशनीया ध्वंसनीयाः शिरसो वाससो वा।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये सप्तदशस्य (द्वादशस्या) द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयः पादः।

अथ विंशः खण्डः।

विश्वानरो व्याख्यातः (निरु०७.२१)। तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि॥ २०॥

विश्वानरो निरुक्तः **'प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि'** (निरु०७.२१) इति। इह तूत्तमोऽभिधेयः। तस्यैष निपात ऐन्द्र्यामृचि।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य विंशः खण्डः।

अथैकविंशः खण्डः।

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः। एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥ (ऋ०८.६८.४) विश्वानरस्यादित्यस्य। अनानतस्य शवसो महतो बलस्य। एवैश्च कामैरयनैर्वा। चर्षणीनां मनुष्याणाम्। ऊत्या च पथा रथानाम्। इन्द्रमस्मिन् यज्ञे ह्वयामि। वरुणो व्याख्यातः (निरु०१०.३)। तस्यैषा भवति॥ २१॥

भाष्यटीका

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥ (ऋ०८.६८.४)

'आ त्वा रथम्' (ऋ०८.६८.१) इति ऐन्द्रं सूक्तं प्रैयमेधसं तत्रेयमृक्। **विश्वानर** आदित्यस्तस्य। वो व्यत्ययेन द्वितीयैकवचनस्य स्थाने षष्ठीबहुवचनं **व**स्त्वामिन्द्रमिति भावः। **पति**मधिपतिं राजानमित्यर्थः। वृष्टिद्वारेण यागनिर्वृत्या सर्वस्य स्थितिहेतुत्वात् **पतिं** पातारमित्यर्थः। न चादित्यस्यैव केवलम्। किं तर्हि? **अनानतस्य** कस्यचित्प्रत्यप्रणतपूर्वस्य। **शवसः** स्वस्य सेनालक्षणस्य बलस्येत्यर्थः। द्वे अप्यनानतस्य शवस इति विश्वानरविशेषणे एते पदे मन्यन्ते। तेन नैघण्टुकत्वं विश्वानरस्य परिहृतम्। शवस इति वान्तर्णीतमत्वर्थो बलवत इत्यर्थः। **एवैः** अवतेः कान्तिकर्मणो रक्षणकर्मणो वा गतिकर्मणो वा। एवा काम्यानि पालनानि गमनानि वा तैरेतैर्निमित्तभूतैः। केषाम्? **चर्षणीनां** यजमानभूतानां स्वभूतैः। एवैश्चेति चकारादूत्या चेति वाक्यशेषाध्याहारः। अध्याहृतेनोतिशब्देन तपर्णमत्रोच्यते। श्रूयमाणेनोतिशब्देनास्य प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा। तेन काम्याद्यन्यतमार्थं तर्पणार्थं चेत्यर्थः। **ऊती** ऊतिशब्दात् पथिवचनात् तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णादेशः। ऊत्या (यथा) **हुवे** हूयतेर्लडात्मनेपदोत्तमपुरुषैकवचने **'बहुलं छन्दसि'** (अष्टा०२.४.७३; ६.१.३४) इति शब्लुक्प्रसारणोवडादेशेषु रूपम्। अस्मिन् यज्ञे हूयामीत्यर्थः। कस्य पथा? **रथानां** युष्मदीयानां रंहितृणां देवानां यः पन्थास्तेन। अनानतस्येत्यर्थवचनं महत इति। यद्धि महत्तदनानतमिति।

वरुणो निरुक्तो **'वृणोति'** (निरु०१०.३) इति मध्यमस्थानः। इह तु द्युस्थानोऽभिधेयः। तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य एकविंश खण्डः।

अथ द्वाविंशः खण्डः।

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भु॒रण्य॑न्तं॒ जना॒ँ अनु॑। त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि॥ (ऋ०१.५०.६) भुरण्युरिति क्षिप्रनाम। भुरण्युः शकुनिः। भूरिमध्वानं नयति। स्वर्गस्य लोकस्यापि वोळ्हा। तत्सम्पाती भुरण्युः। अनेन पावकख्यानेन। भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः। अपि वोत्तरस्याम्॥ २२॥

भाष्यटीका

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भु॒रण्य॑न्तं॒ जना॒ँ अनु॑।
त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि॥ (ऋ०१.५०.६)

प्रस्कण्वस्यार्षम्। भुरण्यतीति गतिकर्मा पठितश्चासौ न केवलं गत्यर्थः। किं तर्हि? शीघ्रकरणार्थोऽपीति। एतत्प्रतिपादनार्थं **'भुरण्युरिति क्षिप्रनाम'** इत्यादि भाष्यम्। तस्यार्थः भुरण्युरिति क्षिप्रनामसु पठ्यते। दृश्यते च प्रयोगः। भुरण्युरिति शीघ्रशकुनिरुच्यते। स कस्मात्? भूरिमध्वानं नयति। अतो भूरेरध्वन आत्मनो नयनात् कतमः शकुनिरित्याह। स्वर्गस्य लोकस्याभिवोढेति। अभिवोढा प्राप्ता गन्तेत्यर्थः। कतमः पुनरसौ? योऽयं लोके सुपर्ण इति प्रसिद्धः। स हि **'सोमो वै राजामुष्मिन् लोके'** (ऐ०ब्रा०१.१३) इत्यादावैतरेयब्राह्मणे। **'अमुतो लोकाद् गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाहरत्'** (तु०श०ब्रा०१.८.२.१०; ३.४.१.१२) इति श्रुतेः स्वर्गस्य लोकस्य गन्ता।

अथवा योऽयं स्वर्गकामस्य सुपर्णनामाग्निश्चीयते सोऽत्र शकुनिशब्देनोच्यते। स हि स्वर्गकामस्य विधानात् क्षिप्रं यजमानं स्वर्गलोकमभिवहति। अतः स्वर्गलोकस्याभिवोढेत्युच्यते। भुरण्युशब्दस्य क्षिप्रनामसु पाठात् शकुनौ च सुपर्णे क्षिप्रे प्रयोगदर्शनादाह। भुरण्युरिति क्षिप्रनामेति। नामानि च सर्वाण्याख्यातजत्वात् क्रियायोगमनुविधीयन्ते। क्षिप्रे च शीघ्रकरणं नाम क्रियास्ति। अतो भुरण्यतिः शीघ्रकरणार्थोऽपि गत्यर्थ एव गम्यते। अतः किम्? इदं भवति। तत्सम्बन्धादितरोऽपि सुपर्ण इव यः शीघ्रकारी पुरुषः सोऽपि भुरण्युरिव भुरण्युः। अतोऽयमर्थः।

येन हे पावक पावयितः पापनाशन। **चक्षसा** अनुग्राहकात्मनेन दर्शनेन। **भुरण्यन्तं 'भुरण'** (अष्टा०३.१.२७ गणे) इति कण्ड्वादिरयमुक्तेन प्रकारेण क्षिप्रकारिवचनः। क्षिप्रं यानं स्तुतीश्च कुर्वन्तमित्यर्थः। कम्? सामर्थ्याद् यजमानम्। **जनाननु** मनुष्यान् प्रति वर्तमानमिति वाक्यशेषः। मनुष्याणां मध्ये स्थितमित्यर्थः। **त्वं हे वरुण** ज्योतिषा कृत्स्नस्य जगतः। आ **पश्यसि** अनुगृह्णासि। येनेति यच्छ्रुतेः साकांक्षत्वात् तत्ते (ऽत्र) वयं स्तुम शति वाक्यशेषः।

अथवा येनेत्येतत्समानाधिकरणं तच्छब्दमध्याहृत्य परयर्चैकवाक्यता योज्यते।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः।

अथ त्रयोविंशः खण्डः।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि।। (ऋ०१.५०.६) वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य।। (ऋ०१.५०.७) व्येषि द्यां रजश्च पृथु। महान्तं लोकम्। अहानि च मिमानोऽक्तुभी रात्रिभिः सह। पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य। अपि वा पूर्वस्याम्।। २३।।

भाष्यटीका

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि।। (ऋ०१.५०.६)

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य।। (ऋ०१.५०.७)

तेन वि द्यामेषि येन चक्षसा भुरण्यन्तं पश्यसि तेन पश्यन्निति सम्बन्धः। **व्येषि** विविधं गच्छसि **द्यां** द्युलोकम्। **रजस्पृथु** लोका रजांस्युच्यन्ते लोकं चान्तरिक्षम्। पृथुशब्दाद् द्वितीयैकवचनस्य लुक्। पृथुं महान्तम्। **अहा** अहानि। **मिमानो** निर्माणं कुर्वन्। **अक्तुभी** रात्रिनामैतत्। सहार्थे तृतीया। रात्रिभिः सह। केन निर्मिमानः।? सामर्थ्यादुदयास्तमयाभ्याम्। उदयेन ह्यादित्योऽहानि करोति। अस्तमयेन रात्रिम्। **पश्यन्** अनुग्राह्यतमानानुगृह्णन्नित्यर्थः। **जन्मानि** जननधर्मणि। हे **सूर्य** तेनैव मां व्येषि। अथवा तच्छब्दमात्राध्याहारेण पूर्वचैकवाक्यता योज्यते।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः।

अथ चतुर्विंशः खण्डः।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि।। (ऋ०१.५०.६) प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे।। (ऋ०१.५०.५) प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि। प्रत्यङ्ङिदं ज्योतिरुच्यते। प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसीति। अपि वैतस्यामेव।। २४।।

भाष्यटीका

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि।। (ऋ०१.५०.६)

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे।। (ऋ०१.५०.५)

तेन प्रत्यङ्देवानामुत्तरग्रहणम्। तत्प्रत्यङ्ङित्येतस्य उदेषीत्यनेन सम्बन्धः। उदेतुश्चेदं सूर्यस्य विशेषणं नोदयक्रियायाः। कुत एतत्? पुल्लिङ्गत्वात्। क्रियाविशेषणं हि नपुंसकं स्यात्। प्रतीच्यां दिशि सूर्योदयस्यासम्भवात् तेन **प्रत्यङ्ङुदेषि** प्राच्यां दिशि प्रत्यङ्मुखः स्थित्वा त्वमुदेषीत्यर्थः। किमर्थम्? **देवानां विशः** साकाङ्क्षत्वात् **दृशे** इत्येतत् परस्ताच्छ्रुतं सर्वत्रानुषक्तव्यम्। दृशेशब्दश्च द्रष्टुमित्यस्यार्थे वर्तते। **'दृशे विख्ये च'** (अष्टा०३.४.११) इति तुमर्थे निपातनश्रवणात्। देवानां स्वभूता या विशस्ता दृशे द्रष्टुम्। पुरस्तादुदितस्य भगवतः पश्चादवस्थितान् सर्वदेवान् द्रष्टुमित्यर्थः। न देवविश एव केवलाः। किं तर्हि?

प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् मनुष्यानपि द्रष्टुम्। **प्रत्यङ् विश्वं** सर्वं जगत् द्रष्टुम्। **स्वश्शब्दश्चात्र** द्युर्नाम द्युलोकं च द्रष्टुम्। अथवा दिवञ्च यावत् किञ्चित् पश्चादवस्थितमेतद् द्रष्टव्यं द्रष्टुम्। पूर्वपश्चान्मुखस्त्वमुदेषि। उद्गत्य च पश्यसीति समस्तार्थः। अथवाऽत्रैव।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः।

अथ पञ्चविंश खण्डः।

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॒ जना॒ँ अनु॑। त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि॥ (ऋ०१.५०.६) तेन नो जनानभिविपश्यसि। केशी। केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा। प्रकाशनाद्वा। तस्यैषा भवति॥ २५॥

भाष्यटीका

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॒ जना॒ँ अनु॑। त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि॥ (ऋ०१.५०.६)

येन भुरण्यन्तं पश्यसि तेनास्मानपि मनुष्यान् पश्यसीत्येतस्यामेवैकस्यामेवैकवाक्यता। तेन नो जनानभिविपश्येताशीरर्थो वाक्य .... इत्यादिनैकवाक्यताप्रकारप्रपञ्चनम्। अन्येषामपि मन्त्राणां साकांक्षत्वे सति प्रदर्शनं द्रष्टव्यम्।

केशी वाच्यः। स पुनरिहादित्य एव नभसो मध्यमासीन एवमवस्थ उच्यते। कथम्? केशा रश्मय इत्यादिनिरुक्तेस्तैः प्रकृष्टैस्तद्वान्। प्रकाशनाद्वा तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः।

अथ षड्विंशः खण्डः।

के॒श्य१॑ग्निं के॒शी वि॒षं के॒शी बि॑भर्ति॒ रोद॑सी। के॒शी विश्वं॒ स्व॑र्दृ॒शे के॒शीदं ज्योति॑रुच्यते॥ (ऋ०१०.१३६.१) केश्यग्निं च विषं च। विषमित्युदकनाम। विष्णातेः विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य। विपूर्वस्य वा सचतेः। द्यावापृथिव्यौ च धारयति। केशीदं सर्वमिदमभिविपश्यति। केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह। अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते। धूमेनाग्नी रजसा च मध्यमः। तेषामेषा साधारणा भवति॥ २६॥

भाष्यटीका

के॒श्य१॑ग्निं के॒शी वि॒षं के॒शी बि॑भर्ति॒ रोद॑सी।
के॒शी विश्वं॒ स्व॑र्दृ॒शे के॒शीदं ज्योति॑रुच्यते॥ (ऋ०१०.१३६.१)

जूतेरार्षम्। केश्यग्निं बिभर्ति धारयति। दीपकमेतत्। कथं बिभर्ति? अग्नेः स्थितिहेतुभूताश्चरुपुरोडाशसोमाद्या आहुती रसादानादिपारम्पर्येण येनानुग्रहविशेषेण निष्पादयन्। **केशी विषं**

केश्येव विषमुदकं रश्मिभिराहृतं सत्। **केश्येव रोदसी** द्यावापृथिव्यौ उक्तेनैव प्रकारेण। **केशी विश्वं** विश्वमिति बहुनाम बहु प्राणिजातम्। स्वः स्वशब्दः सर्वपर्यायः केश्येव सर्वं जगत्। **दृशे** द्रष्टुं अभ्यधाद्रष्टव्यम्। अन्तर्णीतण्यर्थो वा दृशिः। भोग्यतया भोक्तॄणां दर्शयितुमित्यर्थः। कः पुनरसौ? **केशीदं ज्योतिरुच्यते** इति। इदमादित्याख्यं ज्योतिरुच्यते।

विष्णातेः शौचार्थस्य। तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्। विपूर्वस्य सचतेर्वा। तद्धि स्नानपानावगाहार्थिभिः सेव्यते। सर्वमभिद्रष्टुमिति पाठः। सर्वमभिपश्यतीत्यपपाठः।

अथापीति विचारः। **एते इतरे** आदित्यादन्ये। **धूमेन** केशस्थानीयेन पार्थिवोऽग्निः। काशनाद्वा। तेनैव ह्यसौ प्रकाश्यते। अव्यभिचारात्। **रजसा मध्यमः**। रजसा वृष्टिलक्षणेनोदकेन वैद्युतो गूढो वायुरित्यपरे। तत्स्थं तु ज्योतिरुत्तमं स्थानसामान्यात्। तेषां त्रयाणामेषा

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य षड्विंशः खण्डः।

अथ सप्तविंशः खण्डः।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। पविश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्।। (ऋ०१.१६४.४४) त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते। कालेकालेऽभिविपश्यन्ति। संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति। सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः। गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य। अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद्वृषाकपिर्भवति। वृषाकम्पनः। तस्यैषा भवति।। २७।।

भाष्यटीका

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।

विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्।। (ऋ०१.१६४.४४)

ऋतुथा ऋतुशब्दः कालवचनः। थाशब्दो वीप्सायाम्। ऋतावृतौ स्वस्मिन् स्वस्मिन् काले स्वेन स्वेनोपकारेण जगत् **विचक्षते**ऽभिपश्यन्त्यनुगृह्णन्तीत्यर्थः। तेषामेषामेको दावरूपोऽग्निः **संवत्सरे** संवत्सरे ग्रीष्मकाले पृथिव्या रोमस्थानीयानि तृणाणि दाहेन **वपते** दहतीत्यर्थः। अग्नेश्च वपनं मन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धम्। **'वप्तेव श्मश्रु वपसि'** (ऋ०१०.१४२.४) इति। **विश्वं** सर्वम्। **एक** आदित्यः। **अभि चष्टे** अभिविपश्यत्यनुगृह्णाति। केन? **शचीभिः** कर्मनामेदं प्रकाशनरसादानादिभिः कर्मभिरित्यर्थः। **ध्राजि**र्गतिः। **एकस्य** वायोस्तृणपर्णधूल्यादिचालनेनानुमानेनार्था- पत्त्या वा **ददृशे** दृश्यत उपलभ्यते **न रूपम्**।

वृषाकपपिर्वाच्यः। तदर्थमाह। अथ यद्रश्मिभिरुपसंहृतप्रायभूताभिः प्रकम्पयन्नेति गच्छति तत् तस्माद् वृषाकपिः। वर्षिता चासावदवश्यायानाम्। कम्पमानश्च स्वयमेवास्तं गच्छन् कम्पयते। दिवाचारीणि भूतानि भयात् कम्पयति। तस्यैषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य सप्तविंशः खण्डः।

अथाष्टाविंशः खण्डः।

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.२१) पुनरेहि वृषाकपे। सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनः। स्वप्नान्नाशयति। आदित्य उदयेन। सोऽस्तमेषि पथा पुनः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। यमो व्याख्यातः (निरु०१०.१९)। तस्यैषा भवति॥२८॥

भाष्यटीका

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।

य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ (ऋ०१०.८६.२१)

वृषाकपेरार्षम्। सामि समाप्ते यज्ञे अस्तं यियासुमादित्यं दृष्ट्वा वृषाकपिराह। **पुनरेहि** आगच्छ उदेषीत्यर्थः। हे **वृषाकपे सुविता** सुवितानि सुप्रसूतान्यभ्यनुज्ञातानि विहितानीत्यर्थः। कानि? अस्मद् यागादीनि कर्माणि। त्वं चाहं च **कल्पयावहै** उदिते त्वय्यनुष्ठानेन। किञ्च **य एष स्वप्ननंशनः** स्वप्नानामुदयेन नाशयिता। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। **सोऽस्तमेषि** गच्छसि। **पथा** नियतमार्गेण। **पुनर्विश्वस्मात्** सर्वस्माच्च। **उत्तर** उत्कृष्टतर **इन्द्र** इन्द्र इव इन्द्रसदृश इत्यर्थः। अत्यन्तेश्वरो वा।

अथेन्द्रशब्दादपह्नोतुमाख्यानके च वृषाकपिर्ऋषिस्तन्निवृत्यर्थं तमेतद् ब्रूम आदित्यमिति। यमो निरुक्तः **'यच्छतीति सतः'** (निरु०१०.१९) इति। इह त्वादित्योऽस्तमयावस्थः सन्नुच्यते। तस्यैषा

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्याष्टाविंशः खण्डः।

अथैकोनत्रिंशः खण्डः।

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः। अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ (ऋ०१०.१३५.१) यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे स्थाने। वृतक्षये वा। अपि वोपमार्थे स्यात्। वृक्ष इव सुपलाश इति। वृक्षो व्रश्चनात्। पलाशं पलाशनात्। दैवैः संगच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः। तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत। अजः एकपात्। अजनः एकः पादः। एकेन पादेन पातीति वा। एकेन पादेन पिबतीति वा। एकोऽस्य पाद इति वा। **एकं पादं नोत्खिदति। (अथर्व०११.४.२१)** इत्यपि निगमो भवति। तस्यैष निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि॥२९॥

भाष्यटीका

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।

अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ (ऋ०१०.१३५.१)

कुमारो नाम यामायनस्तस्यार्षम्। अहोरात्रादिजीवितकालातिगमनेन प्राणिनामायुषो व्रश्चनात् पुण्यकृद्भिर्वा वृतः क्षयो निवासो यस्मिंस्तद्व्रश्चनाद् व्रतनिवासत्वाद्वा वृक्षशब्देनात्रादित्यमण्डलमुच्यते। **यस्मिन् वृक्षे**

उदयास्तमयाभ्यामायुषोव्रश्चने व्रतनिवासे वादित्यमण्डले। किं विशिष्टे? **सुपलाशे** सुष्ठु पराशीर्णमले। अथवा लुप्तोपममेतत्। वृक्ष इव यथा वृक्षे सुपलाशे शोभनपर्णे कश्चित् पथिकः श्रान्तः पथिकान्तरेण शकुनिर्वा शकुन्यन्तरेण सङ्गच्छते तद्वद् यस्मिन् मण्डले। **देवै** रश्मिभिः **संपिबते** पिबतिरत्र सामर्थ्याद् गत्यर्थः। सहार्थे तृतीया सह सङ्गच्छतेऽस्तं गच्छन्। कोऽसौ? **यमः** आदित्योऽस्तं गच्छन्नेकीभवति। त्रैलोक्यप्रसृतान् रश्मीन् यच्छतीत्यर्थः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यस्मिन्निति यच्छुतेरत्रशब्दस्तत्र शब्दार्थे द्रष्टव्यः। तत्र तस्मिन् मण्डले। **नो**ऽस्मान्। स कः? **विष्पतिः** सर्वस्याधिपतिः। **पिता** स्वेनानुग्रहेण पालयिता च। **पुराणान्** लुप्तोपममेतत् पुराणानिव तन्निवासिनः। अथवा पुराणान् जीर्णान् कृतकृत्यान् प्राप्तप्रापणीयान् दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णात्मन इत्यर्थः। **अनुवनेति** वेनतिः कान्तिकर्मा। लोडर्थे च लट्। अनुमन्यन्तामित्यर्थः।

अज एकपाद्वक्तव्यः। स च किलास्तमितावस्थ आदित्यः। द्वैपदं चैतत्। अजनो गमन एकश्च पादः। कस्य? ब्रह्मणः। कुत एतत्? विज्ञायते हि **'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः'** (छा०उप०३.१८.२) इति। तेनाजश्चासावेकपाच्चेति। उत्तरपदमनेन विकल्पं दर्शयितुमाह। **एकेन पादेन पातीति वा** एकेन पादेनांशेन सर्वमिदं जगज्ज्योतिरात्मनानुप्रविश्याश्नन् पाति। **एकेन पादेन पिबतीति वा** एकेनांशेनोदकं सर्वस्य जगतः पिबति। **एकोऽस्य पाद इति** वा एकोऽस्य पादो जीवभूतः कृत्स्नं जगदनुप्रविष्ट आस्त इति वा। अस्मिंश्च पक्षे निगमं दर्शयति

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।

स चेदुदखिदत्पादं न मृत्युर्नामृतं भवेत्॥ (मूलमनुपलब्धम्)

इति अस्यार्थः। **एकमेकः** किलादित्यस्य पादो जीवभूतः कृत्स्ने जगत्यनुप्रविष्टस्तमयं **नोत्खिदति** खिदिरत्र हरत्यर्थो नोद्धरति। कुतः? **सलिलात्** सामुद्रादुदकात्। कोऽसौ? **हंस** आदित्यः। हंससदृशो वा हन्ता वा तमसाम्। **उच्चरन्नुद्गच्छन् स चेदुदखिदत् पादं** स चेज्जीवभूतमुद्धरेत्पादं **न मृत्युर्भवेत्** प्रतिबन्धीभूतानां मर्तॄणामभावात्। मृत्योश्चाभावात् तत्प्रतिबन्धिरूपत्वाच्चामृतत्वस्यामृतत्वमपि नैव भवेदिति। तस्यैष निपातो वैश्वदेव्यामृचि।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य एकोनत्रिंशः खण्डः।

अथ त्रिंशः खण्डः।

पावी॑रवी त॒न्य॒तुरेक॑पाद॒जो दि॒वो ध॒र्ता सिन्धु॒राप॑ः समु॒द्रिय॑ः। विश्वे॑ दे॒वास॑ः शृणव॒न्वचां॑सि मे॒ सर॑स्वती स॒ह धी॒भिः पुर॑न्ध्या॥ (ऋ०१०.६५.१३) पविः शल्यो भवति। यद्विपुनाति कायम्। तद्वत्पवीरमायुधम्। तद्वानिन्द्रः पवीरवान्। **'अ॒ति॒त॒स्थौ प॒वीर॑वान्।** (ऋ०१०.६०.३) इत्यपि निगमो भवति। तद्देवतावाक् पावीरवी। पावीरवी च दिव्या वाक्। तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः। अजश्चैकपाद् दिवो धारयिता। सिन्धुश्चापश्च समुद्रियाश्च। सर्वे च देवाः सरस्वती च सह पुरन्ध्या

स्तुत्या। प्रयुक्तानि धीभिः कर्मभिर्युक्तानि। शृण्वन्तु वचनानीमानीति। पृथिवी व्याख्याता (निरु०१.१३, ११.३७)। तस्या एष निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि॥३०॥

भाष्यटीका

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।

विश्वे देवासः शृणवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या॥ (ऋ०१०.६५.१३)

वसुकर्णस्यार्षम्। अत्र पावीरवीशब्दनिर्वचनप्रसङ्गेन पवीरवानिन्द्र उच्यते यस्मिन्निगमे स तावदग्रे व्याख्यायते।

यो जनान्महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्। उतापवीरवान्युधा॥ (ऋ०१०.६०.३)

विप्रबन्धोरार्षम्। **य** इन्द्रो **जनान्महिषानिव**। इव शब्दः संप्रत्यर्थेऽप्यर्थे वा। महिष इति महन्नाम। महतो महतोऽपि वा। **अति तस्थौ** अतीत्य तिष्ठति। कीदृश इन्द्रः? **पवीरवान्** पवीरमायुधं तेन तद्वानायुधवानित्यर्थः। **उतापवीरवान्** न चावाश्यं गृहीतायुध एव सन्। किं तर्हि? अनायुधोऽपि। **युधा** युच्छब्दात् सप्तम्या आकारः। युधि युद्धे। अनायुध इत्यभिप्रायः यच्छ्रुतेः साकाङ्क्षत्वात् तं स्तुम इति वाक्यशेषः।

एवमिन्द्रस्य पवीरवत्त्व उपपादिते पावीरवीति व्याख्यायते-**पावीरवी** पविः शल्यः कण्वादिबलः यद् यस्मात् विपुनाति विभजति विपाटयतीत्यर्थः। भूमिं कायं वा। तेन पविना तद्वत् काण्डभल्लकाद्यायुधं पवीरं रो मत्वर्थे। तद्वानिन्द्रः। पवीरवान् वा यस्याः सा (च) आयुधवत इन्द्रस्य स्वभूतेत्यर्थः। का पुनरसौ।? वाक्। भाष्यकार आह। दिव्या वाक् माध्यमिकायाः स्तनयित्नुलक्षणाया अधिष्ठात्री। **तन्यतु**स्तनित्री स्तनयित्नुलक्षणाया वाचोऽन्यस्याः। स्तनयित्नुलक्षणैव वा पावीरवी दिव्या वाक्। तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्या लौकिक्या वर्षद्वारेण। सा च **एकपादज** एकपाच्चाज आदित्यः। कीदृशः? **दिवो धर्ता** स्वेनानुग्रहेण दिवो धारयिता। **सिन्धु**र्गङ्गाद्या नद्यः। अम्बाद्या वा गगननद्यः। **आप** आपश्च **समुद्रियः** समुद्रे भवो वरुणः। **विश्वे देवासः** सर्वे च देवाः। **शृणवन्** लोडर्थे लेट् शृण्वन्तु। किम्? **वचांसि** स्तुतिलक्षणानि **मे** मम स्वभूतानि। किं केवलान्येव शुष्काणि वचांसि? नेत्युच्यते। **धीभिः** धियः कर्माणि यागाख्यैः कर्मभिः। तृतीयाश्रुतेर्युक्तानीति शेषः। **सरस्वती** सरस्वती च **सह** बुद्ध्या बहुप्रज्ञयोषसा।

अत्र सुकर्माण आसीदन्तिवत्यतिरिक्तपाठः। तत्र कर्म तन्यतुप्रयुक्तानि विहितानि न मुक्तानीत्यभिप्रायः। सह पुरन्ध्येति सम्बन्धः।

पृथिवी वक्तव्या। सा तु प्रथनादिति निरुक्ता। इह तु विशेषणसम्बन्धाद् द्यौरेवाभिधीयते। तस्या निपात ऐन्द्र्यामृचि अभिधेयत्वेन न स्तुत्यर्थेन।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य त्रिंशः खण्डः।

अथैकत्रिंशः खण्डः।

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः। अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ (ऋ०१.१०८.१०) इति सा निगदव्याख्याता। समुद्रो व्याख्यातः (निरु०२.१०)। तस्यैष निपातो भवति पावमान्यामृचि॥३१॥

भाष्यटीका

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ (ऋ०१.१०८.१०)

कुत्सस्य (आर्षम्) **यदिन्द्राग्नी परमस्यां** परमायामुत्तमायां **पृथिव्यां** दिवीत्यर्थः। **मध्यमस्यां** यदि मध्यमायामन्तरिक्षे पृथिव्याम्। यदि **वाऽवमस्यां** अवम इत्यन्तिकनाम सन्निकृष्टायामवमायामस्यामेव भूमौ पृथिव्यां स्थो भवथः। **अतोऽ**स्मात् स्थानाच्च **(परि)** सर्वतो **वृषणौ** कामानां वर्षितारौ। इहास्मद्यज्ञे **आयातमागच्छतम्। अथागमनानन्तरं सोमस्य पिबतं सुतस्य** द्वितीयार्थे षष्ठी सोमं पिबतं सुतम्। षष्ठीश्रुतेर्वैकदेशमिति शेषः। सोमस्य सुतस्याभिषुतस्यैकदेशं स्वांशलक्षणमित्यर्थः।

योदाहरणत्वेन पठिता सा निगदव्याख्याता।

समुद्रोऽपि प्रदर्शितोऽनेकनिर्वचनः। इह तु द्युस्थानोऽभिधेयः पावमान्यामृचि।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य एकत्रिंश खण्डः।

अथ द्वात्रिंशः खण्डः।

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्। महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्॥ (ऋ०९.७३.३) पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते माध्यमिकां वाचम्। मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म। महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधाति। अथ धीराः शक्नुवन्ति। धरुणेषूदकेषु कर्मण आरभमारब्धुम्। अज एकपाद् व्याख्यातः (निरु०१२.२९)। पृथिवी व्याख्याता (निरु०१.१३, ११.३७)। समुद्रो व्याख्यातः (निरु०२.१०)। तेषामेषा निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि॥३२॥

भाष्यटीका

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्॥ (ऋ०९.७३.३)

पवित्रस्यार्षम्। अत्रैकवाक्यतायै यदा तदेत्यध्याहार्यम्। पवित्रशब्देनात्र रश्मय उच्यन्ते। यदा उदकं मध्यमायामर्पयितुमन्तरिक्षप्राप्तैः पवित्रै रश्मिभिस्तद्वन्तः। के? सामर्थ्यान्मरुदादयो माध्यमिका देवगणाः। **परि**

वाचमासतेऽशनिं पर्युपासते। **पिता चैषां प्रत्नः** पुराणोऽ**भिरक्षति व्रतं** स्वकर्म वृष्टिलक्षणं वर्षतीत्यर्थः। **महः समुद्रं वरुण** आपरीता मध्यमस्थान इन्द्र**स्तिरोदधे**। तदा **धीरा इदे**वार्थे तदैव धीमन्तः। के? सामर्थ्याद्यजमानाः **शेकुः** शक्नुवन्ति। **धरुणेषु** धरुणमित्युदकनाम उदकेषु सत्सु। **आरभमा**रम्भं कर्मण इति शेषः। आरब्धुं वा सोमादि यागकर्म।

अज एकपादादित्यः। अजस्यैकपदः प्रदर्शितस्तुतेः पृथ्वीसमुद्रयोश्च निपातमात्रभाक्त्वेन प्रदर्शितोदाहरणयोः समाम्नायप्रयोजनं दर्शयितुमेषां त्रयाणां देवतान्तरैः सह स्तुतिसाधारण्येन निपातो भवत्यन्यस्यां बहुदेवतायामृचि।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य द्वात्रिंशः खण्डः।

अथ त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

उ॒त नो॑ऽहि॑र्बु॒ध्न्यः॑ शृणोत्व॒ज एक॑पात्पृथि॒वी स॑मु॒द्रः। विश्वे॑दे॒वा ऋ॑ता॒वृधो॑ हु॒वा॒नाः स्तु॒ता मन्त्राः॑ कविश॒स्ता अ॑वन्तु॥ (ऋ०६.५०.१४) अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु। अजश्चैकपात् पृथिवी च समुद्रश्च सर्वे च देवाः। सत्यवृधो वा। यज्ञवृधो वा। हूयमाना मन्त्रैः स्तुताः। मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु। मेधाविशस्ताः। दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा। प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। अथर्वा व्याख्यातः (निरु०११.१८)। मनुर्मननात्। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि॥३३॥

भाष्यटीका

उ॒त नो॑ऽहि॑र्बु॒ध्न्यः॑ शृणोत्व॒ज एक॑पात्पृथि॒वी स॑मु॒द्रः।

विश्वे॑दे॒वा ऋ॑ता॒वृधो॑ हु॒वा॒नाः स्तु॒ता मन्त्राः॑ कविश॒स्ता अ॑वन्तु॥ (ऋ०६.५०.१४)

ऋजिश्वन आर्षम्। **उत**शब्दोऽप्यर्थे समुच्चयलक्षणे। **नो**ऽस्माकम्। **अहिर्बुध्न्य**श्च बुध्न्यमन्तरिक्षं तस्मिन् भवः। **शृणोत्वा**ह्वानम्। कुत एतत्? हुवाना इति परस्ताच्छ्रवणात्। आह्वय माम्। ननु चाह्वानस्य श्रूयमाणत्वान्न च केवलोऽहिर्बुध्न्यः। किं तर्हि? **अज एकपात्** अजश्च एकः पादो यस्य स एकपात्। **पृथिवी समुद्रः** पृथिवी च समुद्रश्च द्यौश्चादित्यश्चेत्यर्थः। **विश्वे देवाः** सर्वे देवाः। कीदृशाः? **ऋतावृधः** सत्यस्योदकस्य यज्ञस्य वा वर्धयितारः। **हुवाना** हूयमानाः। श्रुत्वा चाह्वानमागताः सन्तः **स्तुता** अस्माभिः। **मन्त्रा**स्तृतीयार्थे प्रथमा मन्त्रैः। **कविशस्ता** अन्यैरपि मेधाविभिर्नित्यमेव स्तुता **अवन्तु** पालयन्तु। मन्त्रा इत्यतिरिक्तपाठः।

दध्यङ् कस्मात्? **प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा**। प्रत्यक्त इत्यञ्चेर्निष्ठानत्वे रूपम्। प्रतिगतो ध्यानं रसादानादिस्वकर्माधिकारानुष्ठानादिविषयचिन्ताम्। अथवा ध्यानं लोकस्य कृत्याकृत्यविषयं लोकपालत्वात्। तद् ध्यानं प्रत्यक्तः प्रतिगच्छतः। **प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा**। कारकविन्यासमात्रमेतत्।

अथर्वा '**थर्वतिश्चरतिकर्मा**' (निरु०११.१८) इत्यत्र निरुक्तः। इह तु द्युस्थानो वाच्यः। ह्ययं स्वाधिकारं व्यभिचरति रसादानादिकम्। नित्यमनुतिष्ठतीत्यर्थः।

मनुः। मननादिति मनुः। **'शस्वृस्निहि'** (उणा० १.१०) इत्यादिस्मरणादुप्रत्ययान्तः। **मननाद्** बोधनादर्चनाद्वा आदित्यः। तेषां दध्यङ्ङादीनामेष स्तुतिसाधारण्येन निपात ऐन्द्र्यामृचि।

इति सप्तदशस्या-(द्वादस्या)-ध्यायस्य त्रयस्त्रिंशः खण्डः।

अथ चतुस्त्रिंशः खण्डः।

यामथर्वा॒ मनु॑ष्पि॒ता द॒ध्यङ् धिय॒मत्न॑त। तस्मि॒न् ब्रह्मा॑णि पू॒र्वथेन्द्र॑ उ॒क्था सम॑ग्म॒तार्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ (ऋ० १.८०.१६) यामथर्वा च। मनुश्च पिता मानवानाम्। दध्यङ् च धियमतनिषत। तस्मिन् ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च संगच्छन्ताम्। अर्चन्योऽनूपास्ते स्वाराज्यम्॥ ३४॥

भाष्यटीका

यामथर्वा॒ मनु॑ष्पि॒ता द॒ध्यङ् धिय॒मत्न॑त।

तस्मि॒न् ब्रह्मा॑णि पू॒र्वथेन्द्र॑ उ॒क्था सम॑ग्म॒तार्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ (ऋ० १.८०.१६)

गौतमस्यार्षम् **यां धियं** यत्कर्मेत्यर्थः। **अथर्वा मनुश्च पिता** पालयिता वा स्वापत्यानां मानवानाम्। **दध्यङ्** च एते त्रय आदित्यतेजोऽवस्थाविशेषाः। अश्विनावुषस्सूर्येत्यादिवत्। अभिनिर्वृत्तिलक्षणं कर्मोदयास्तमयाभ्याम् **अत्नत** अतनिषत तन्वन्तो यदिदमहः कृतवन्त इत्यर्थः। **तस्मिन् ब्रह्माणि** हविराख्यान्यन्नानि। **पूर्वथा** पूर्वेष्विवाहस्सु। **इन्द्रे उक्था** उक्थानि चास्मदीयानि स्तोत्राणि। **समगमत** सङ्गच्छन्ते। अथवाऽथर्वादय आदित्यसहचारिण ऋषयस्ते यां धियं यत्कर्म यागाख्यमत्नत ततवन्तः। तस्मिन् हविर्लक्षणान्यन्नान्युक्थानि स्तोत्राणि चेन्द्रे समगमत सङ्गतान्यभूवन्। कीदृशो य इन्द्रः? उच्यते। **अर्चन्** पूजयन्। एकवाक्यता प्रसिद्धये य इति शेषः। **अनूपास्त** इति शेषः। किं पूजयन्? **स्वराज्यं** स्वमाधिपत्यम्।

का पुनराधिपत्यस्य पूजा? या आश्रितोपकारक्रिया। यो ह्याश्रितानामुपकरोति स आत्मन आधिपत्यं पूजयति। यस्तु नोपकरोति। किं तस्यात्मम्भरेराधिपत्यमिति।

भेदपक्षे चाथर्वादय ऋषय इति व्याख्यानम्। नैरुक्तानां तु पूर्वमिति सिद्धम्।

इति निरुक्तविवरणसमुच्चये सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य तृतीयः पादः।

॥अथ चतुर्थः पादः॥

पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथातो द्युस्थाना देवगणाः। तेषामादित्याः प्रथमगामिनो भवन्ति। आदित्याः व्याख्याताः (निरु०२.१३)। तेषामेषा भवति॥ ३५॥

भाष्यटीका

अथातो द्युस्थाना देवगणा इति भेदाभेदाभ्यां मन्त्रेषु स्तुतिदर्शनात् भेदेनोत्तमं स्तुत्वा सम्प्रत्यभेदेन सर्वावस्थं तुष्टूषमाण आह। अथात इत्यादि। कृतव्याख्यानम्। तेषामादित्याः प्रथमागामिन इति। प्रत्यक्षत्वेन मुख्यत्वात्। ससर्षय इत्यादयस्तु नोच्यन्ते। आदित्या व्याख्याता इति। **'आदत्ते रसान्'** (निरु०२.१३) इत्यादिना। इह वचनकृतस्तु विशेषः। तेषामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य पञ्चत्रिंशः खण्डः।

अथ षट्त्रिंशः खण्डः।

इ॒मा गिर॑ आ॒दि॒त्येभ्यो॑ घृ॒तस्नूः॑ स॒नाद्राज॑भ्यो जु॒ह्वा॑ जुहोमि। शृ॒णोतु॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा भगो॑ नस्तुविजा॒तो वरु॑णो॒ दक्षो॒ अंशः॑॥ (ऋ०२.२७.१) घृतस्नूर्घृतप्रस्नाविन्यः। घृतप्रसाविण्यः। घृतसानिन्यो घृतसारिण्य इति वा। आहुरतीरादित्येभ्यश्चिरं जुह्वा जुहोमि। चिरं राजभ्य इति वा। शृणोतु न इमा गिरो मित्रश्चार्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोंऽशश्च। अंशोंऽशुना व्याख्यातः। सप्तऋषयो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ ३६॥

भाष्यटीका

इ॒मा गिर॑ आ॒दि॒त्येभ्यो॑ घृ॒तस्नूः॑ स॒नाद्राज॑भ्यो जु॒ह्वा॑ जुहोमि।
शृ॒णोतु॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा भगो॑ नस्तुविजा॒तो वरु॑णो॒ दक्षो॒ अंशः॑॥ (ऋ०२.२७.१)

गृत्समदस्यार्षम्। तत्पुत्रस्य वा कूर्मस्य। **आदित्येभो घृतस्नूः 'स्नु प्रस्रवणे'** (धा०२.२८) घृतं स्नुवन्ति प्रस्रवन्ति सारयन्ति संभजन्ति वा यास्ता घृतप्रस्राविण्यः। काः पुनस्ताः? सामर्थ्यादाहुतयः। **सनात्** चिरपर्यायोऽयं चिरमित्यर्थः। **राजभ्य** आदित्यविशेषणमिदं दीप्तेभ्यः। **जुह्वा** स्रुग्विशेषेण **जुहोमि**। चिरमिति जुह्वा जुहोमीत्यनेन सम्बध्यते। राजभ्य इत्यनेन वा। चिरं जुहोमि चिरं वा दीप्तेभ्य इति। एतज्ज्ञात्वा **इमा गिरः** स्तुतीः **शृणोतु। मित्रो अर्यमा भगश्च नो**ऽस्माकं स्वभूताः। **तुविजात**स्तुविजातं प्रभूतं जातं यस्य सः। बहुजातो बहुप्रज इत्यर्थः। के ते? सामर्थ्याद् धाता **वरुणो दक्षोंऽशश्च**। अंशोंऽशुना निरुक्तः (निरु०२.५)। **'अननाय शं भवति'** इति।

प्रत्येकमप्येते मित्रादयो द्युस्थानत्वेनोपलक्षितव्याः। शास्त्रगौरवप्रसङ्गात्तु न समाम्नाताः।

सप्त ऋषयोऽप्यवयवनिर्वचनेन निरुक्ताः। **'सप्त सृप्ता संख्या'** (निरु०४.२६)। **'ऋषिर्दर्शनात्'** (निरु०२.११)। रश्मयोऽभिधेयाः। इन्द्रियाणि वा। तेषामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य षट्त्रिंशः खण्डः।

अथ सप्तत्रिंशः खण्डः।

सुप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सुप्त रक्षन्ति सदुमप्रमादम्। सुप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ (यजु०३४.५५) सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। रश्मय आदित्ये। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। संवत्सरमप्रमाद्यन्तः। सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति। तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यौ। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। शरीरमप्रमाद्यन्ति। सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति। तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च। इत्यात्मगतिमाचष्टे। तेषामपरा भवति॥३७॥

भाष्यटीका

सुप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सुप्त रक्षन्ति सदुमप्रमादम्।
सुप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ (यजु०३४.५५)

हिरण्यगर्भस्य। परा च। अत्रैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। ये **सप्त**संख्याका रश्मय **ऋषयो** द्रष्टृत्वाद् द्रष्टारस्त्रैलोक्यस्य। **प्रतिहिताः** प्रतिनिहिताः। **शरीरे** **'शॄ हिंसायाम्'** (धा०९.१६) रूपम्। हिंसितारं तमसामादित्यमण्डलमित्यर्थः। ते **सप्ता**मी आहारभूतभौमरसो विनयद्वारेण **रक्षन्ति**। **सदं** सदैव। **अप्रमादं** क्रियाविशेषणमिदम्। कथं रक्षन्ति? प्रमादवर्जितम्। तथा चोक्तम्। **'ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति। न श्राम्यन्ति न वि मुच्यन्त्येतेके'** (ऋ०२.२८.४) इति। किं रक्षन्ति? भाष्यकार आह। संवत्सरमिति संवत्सरकारिणमादित्य-मित्यभिप्रायः। योऽसौ मण्डलान्तरपुरुषो **'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश'** (छा०उप०१.६.६) इति विज्ञायते तं (सं) रक्षन्ति। **सप्त** सप्तापि चैते। **आप** आप्तारो व्याप्तस्त्रैलोक्यस्य। **स्वपतो**ऽस्तमयादूर्ध्वं शयानस्य अदृश्यमानव्यापारस्येत्यर्थः। कस्य? सामर्थ्यादादित्यस्य। **लोकं** लोकशब्दः स्थानवाची स्थानं मण्डलाख्यं प्रत्यस्तमयम्। **ईयुर्**वर्तमाने लिङ् गच्छन्तीत्यर्थः। मण्डलमनुप्रविशन्तीत्यर्थः। गतेषु च **तत्र** मण्डले **जागृतः** स्वव्यापारमनुतिष्ठत इत्यर्थः। कौ? **अस्वप्नजौ** अविद्यमानः स्वप्नो जन्म च ययोस्तौ स्वप्नजन्मवर्जितौ **सत्रसदौ** च सत्रशब्दः सदापर्यायः सदासादिनौ च। **देवौ** वायुश्च यन्मण्डलमुदयाय प्राङ्नयति। आदित्यश्च यः प्रातरुदेति। इयमधिदैवयोजना।

अध्यात्मं तु **सप्त ऋषयः** सप्तसंख्यानि। कानि? अर्षणानि स्वं स्वं विषयं प्रति गन्तृणि मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि विद्यासप्तमानि। विद्या विज्ञानं तत्सप्तमानि। प्रतिहितानि प्रतिनिहितानि **शरीरे** शरीरात्मनि। तानि **सप्तापि**

स्वविषयप्रकाशनेन तं शरीरात्मानं **रक्षन्ति**। सर्वदैवाप्रमाद्यन्ति प्रमादवर्जितानीत्यर्थः। **सप्तापि** चैतानि **आप** आपनानि स्वस्वविषयस्य व्यापनानि। **स्वपत** उपसंहृतेन्द्रियप्रवृत्तेः। **लोकं** स्थानमीयुर्गच्छन्ति। स्वविषयेभ्य उपरम्य शरीरमेवानुप्रविश्य तिष्ठन्तीत्यर्थः।

अन्ये वर्णयन्ति। अस्तमीयुः स्वप्नावस्थायामात्मनो भोक्तर्येव भावनारूपेण लीयन्ते। यद्भावनोपादानं भोक्तुः स्वप्नदर्शनं भवति। तत्र जागृतस्तत्रेति शरीरात्मना सम्बध्यते। तत्र शरीरात्मनि जागृतः स्वव्यापारमनुतिष्ठत इत्यर्थः। अस्वप्नजौ सत्रसदौ चेति कृतव्याख्यानमेतत्। देवौ प्राज्ञश्चात्मा चितिमात्रेण यः शरीरं व्याप्य वर्तते। यस्यावेशादेतच्छरीरं न दुष्यति। तस्य व्यापारो भोगस्तमसौ करोति (एव) तैजसश्च य आहारं पचति। तेषां (सप्तर्षीणाम्) परा। रश्मय एव सप्तर्षय इति स्फुटतायै।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य सप्तत्रिंशः खण्डः।

अथाष्टात्रिंशः खण्डः।

ति॒र्यग्बि॑लश्चम॒स ऊ॒र्ध्वबु॑ध्नो॒ यस्मि॒न्यशो॒ निहि॑तं वि॒श्वरू॑पम्। अत्रा॑सत॒ ऋष॑यः स॒प्त सा॒कं ये अ॒स्य गो॒पा म॑ह॒तो ब॑भू॒वुः॥ (अथर्व०१०.८.९) तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा। यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः। ये अस्य गोपा महतो बभूवुः। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यमम्। तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा। यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि। यान्यस्य गोप्तृणि महतो बभूवुः। इत्यात्मगतिमाचष्टे। देवा व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ ३८॥

ति॒र्यग्बि॑लश्चम॒स ऊ॒र्ध्वबु॑ध्नो॒ यस्मि॒न्यशो॒ निहि॑तं वि॒श्वरू॑पम्।

अत्रा॑सत॒ ऋष॑यः स॒प्त सा॒कं ये अ॒स्य गो॒पा म॑ह॒तो ब॑भू॒वुः॥ (अथर्व०१०.८.९)

तिर्यक् तिरश्चीनानि (**बिलः**) बिलानि रश्मिच्छिद्राणि मध्वापूर्णस्येव यस्य सः। **चमसः** अपां भौमरसलक्षणानां रश्मिभिराहृतानां चमनाच्चमसः। **ऊर्ध्वबुध्नः** ऊर्ध्वं दिवि बुध्नं बन्धनमधिकारलक्षणं कर्म यस्य। ऊर्ध्वं वोत्थितो बोधयति सुप्तानि ऊर्ध्वबुध्नः। तच्चात्रैवं विशिष्टं मण्डलमभिप्रेतं सामर्थ्यात्। **यस्मिन् यशः** यश इत्युदकनाम भौमरसलक्षणमुदकम्। **निहितं विश्वरूपं** सर्वप्रकारम्। **अत्रासत ऋषयः सप्त** अत्रादित्यमण्डले सप्तसंख्याका रश्मयः। **साकं** सह। **ये अस्य गोपा महतो बभूवुः** येऽस्य जगतो गोप्तारो महतो भवन्तीत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। **तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुघ्नः** शिर इहाभिप्रेतम्। तिरश्चीनानि बिलानि चक्षुरादीनि यस्मिन्। आहारस्य चमनात्। ऊर्ध्वं च कायस्य बन्धनस्थानात्। ऊर्ध्वं च बोधकं चक्षुरादि यस्मिन्। **यस्मिन् यशो निहित**मिन्द्रियजन्यं विज्ञानं निहितम्। **विश्वरूपं** बहुप्रकारम्। **अत्रासते ऋषयः सप्ता**र्षणानि सप्तेन्द्रियाणि। **साकं ये अस्य गोपा** सह यान्यस्य शरीरस्य शरीरिणो वा गोप्तृणि **महतो** भवन्तीति। आत्मगतिमात्मावगमनमाचष्टे मन्त्रो मन्त्रदृग्वा।

देवा व्याख्याताः 'देवो दानाद्वा' (निरु०७.१५) इत्यादिना। वचनकृतो विशेषः। रश्मयश्चाभिधेयाः।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य अष्टात्रिंशः खण्डः।

अथैकोनचत्वारिंशः खण्डः।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्। देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥ (ऋ०१.८९.२) देवानां वयं कल्याण्यां मतौ। ऋजुगामिनाम्। ऋतुगामिनामिति वा। देवानां दानमभि नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुपसीदेम वयम्। देवा न आयुः प्रवर्धयन्तु चिरं जीवनाय। विश्वेदेवाः सर्वे देवाः। तेषामेषा भवति॥ ३९॥

भाष्यटीका

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥ (ऋ०१.८९.२)

गौतमस्यार्षम्। **देवानां भद्रा** कल्याणी **सुमतिः** शोभनाऽनुग्राहिका बुद्धिः। कीदृशानां देवानाम्? **ऋजूयतां** ऋजुगामिनां वा। **अभि नो**ऽस्मान् प्रति **वर्तता**मिति सम्बन्धः। **देवानां राति**र्देवानामेव च दानम्। **अभि नो**ऽस्मान् प्रति **निवर्तताम्**। देवानामेव च **सख्यं** स्तुत्यस्तोतृलक्षणं यष्टृयष्टव्यत्वलक्षणं च। **उपसेदिम** उपसीदेम उपगच्छेम **वय**मित्याशास्महे। **देवा नो**ऽस्माकमायुः **प्रतिरन्तु जीवसे** तिरतिर्वृद्ध्यर्थः प्रवर्धयन्ततु चिरं जीवनाय। भाष्ये तु देवानां वयं कल्याण्यां मताविति विभक्तिव्यत्ययः। स्यामेति चाध्याहारः।

विश्वे देवास्तेषामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य एकोनचत्वारिंशः खण्डः।

अथ चत्वारिंशः खण्डः।

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत। दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ (ऋ०१.३.७) अवितारो वा। अवनीया वा। मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत। दत्तवन्तः। दत्तवतः सुतमिति। तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः। अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति। **'बभ्रुरेको।'** (ऋ०८.२९) इति दश द्विपदा अलिङ्गाः। भूतांशः काश्यप आश्विनमेकलिङ्गम्। अभितष्टीयं सूक्तमेकलिङ्गम्। साध्या देवाः साधनात्। तेषामेषा भवति॥४०॥

भाष्यटीका

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।

दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ (ऋ०१.३.७)

मधुच्छन्दसः। **ओमासो**ऽवतेः पालनार्थस्य तर्पणार्थस्य वा कर्तरि कर्मणि वा मन्प्रत्यये **'ज्वरत्वर'** (अष्टा०६.४.२०) इत्यादिना ऊठि सम्प्रसारणे जस्यसुगागमे च रूपम्। अवितारो रक्षितारस्तर्पयितारस्तर्पणीया वा। **चर्षणीधृत**श्चर्षणयो मनुष्यास्तेषां तैस्तैरुपायैर्वर्धयिताः। **विश्वे देवासः** सर्वे देवाः। **आगत** आगच्छत। **दाश्वांस** प्रत्यक्षकृतोऽयं न चेदमामन्त्रितम्। ततो यत्तदोरध्याहारेणैकवाक्यत्वं नेयम्। ये दाश्वांसो दत्तवन्तः सामर्थ्याद्यजमानाय धनादि। ते यूयं **दाशुषो** हवींषि दत्तवतो यजमानस्य स्वभूतं **सुतं** सोमं प्रत्यागच्छतेति। अवनीया वेति कर्मसाधनं दर्शयति।

विश्वान् देवानधिकृत्येदानीं गतमेवाधियज्ञं किञ्चिद् विचारयिष्यन्नुपोद्वलयति। **तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते** इत्यादि। तदिति समाम्नायस्यानुस्मृतये। एतदिति वक्ष्यमाणार्थसन्निधिकरणाय। एकं तृचं याज्ञिकसूक्तं वैश्वदेवं विश्वेदेवदेवत्यं गायत्रच्छन्दोयुक्तं दाशतयीषु सर्वासु शाखासु विद्यते नान्यदस्ति एतस्मिंश्छन्दसि। विश्वलिङ्गत्वेन चैकत्वमात्रमत्राभिप्रेतम्। तथा च देवताकार आह। **'नान्यः षष्ठाद् विश्वलिङ्गाद गायत्रोऽस्त्यपरस्तृचः'** (बृहद्दे०२.१२८) इति। तत् **'विश्वे देवास आगत'** इत्यादि च गायत्रं वैश्वदेवं च विद्यते। तत्र न विश्वलिङ्गं प्रत्यृचम्। अतोऽवधारयत्येकमेवेति। प्रयोजनं च गायत्रच्छन्दोयुक्तैरन्यैरपि बहुभिर्वैश्वदेवैरधियज्ञं गायत्रम्। **'तृतीयसवन एष त्र्यह'** (मूलमनुपलब्धम्) इत्यादिश्रुतेः।

तत्र किं कर्तव्यमित्यत आह। **यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यत** इति। यत् किञ्चिद् बहुदैवतं मन्त्रजातं गायत्रेण छन्दसा युक्तं तद्वैश्वदेवानां मन्त्राणां स्थाने युज्यते न्याय्यमित्यर्थः। **यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिरिति**। यदेव विश्वलिङ्गं विश्वशब्दोपेतं मन्त्रजातं सूक्तं वा, तदेव वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते, न बहुदेवतात्वमात्रेणेति शाकपूणिर्मन्यते।

तत् किमस्यापि यास्कस्य मतम्। नेति यत आह। **अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवतीति**। आक्षिप्तोपपत्तिश्चायमुपक्षेपः। अनत्यन्तगतोऽनैकान्तिकः। उद्देशः प्रतिज्ञा। अनैकान्तिक्येषा प्रतिज्ञा। यदेव विश्वलिङ्गोपेतं तदेव वैश्वदेवानां मन्त्राणां स्थाने युज्यत इति। कथमनैकान्तिकमिति चेत्। वैश्वदेवं हि मन्त्रजातं समाम्नाये क्रियार्थमुत्पद्यमानं आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् गायत्रे छन्दसि तावदेवोत्पत्तुमर्हति। अन्यच्छन्दोयुक्तमन्त्रजातवत्। सर्वकर्मभ्यो वैश्वदेवेभ्यश्छन्दः साध्येभ्योऽलमिति। न च तत्सर्वास्वपि दाशतयीषु गायत्रे छन्दस्यलं कर्मोत्पादने। प्रयोजनं च तच्छन्दोयुक्तैरधियज्ञे वैश्वदेवैर्मन्त्रैः। न च ते सन्ति। बहुदेवताश्च तस्मिंश्छन्दसि। तत् किमस्तु यस्य कर्मणः प्रहाणम्। उत वा तत्स्थाने बहुदेवता मन्त्रा ओप्यन्तामिति। युक्तं यत्तान्योप्येरन्निति यास्कः पश्यन्नाह। यत्तु किञ्चिदित्यादि तथा **'बहुदेवमन्त्रं तु वैश्वदेवं शस्यते'** (बृहद्दे०२.१२८) इति देवताकारः पपाठ। सेयमर्थापत्तिर्गायत्रे यदलं कर्मणां वैश्वदेवानां मन्त्राणां बहुविश्वयोरितरेतराभिधानप्रत्यासत्यानेकवैश्वदेवकर्मचोदनान्यथानुपपत्त्या इममर्थं गमयति। बहुदेवतान्यपि वैश्वदेवानां स्थाने युज्यन्त एवेति। एवं चानत्यन्तगत उद्देशः। येन **भूतांशः काश्यप आश्विनमेकलिङ्गं** सूक्तं ददर्श। भूतांशो नाम काश्यप एकेनाश्विलिङ्गेन युक्तमनेकं ददर्श। तत्र यास्वृक्षु अश्विलिङ्गं नास्ति तासामप्यश्विनीत्वं तेनैकाश्विलिङ्गेन। यथैकेनापि छत्रिणा सर्वे छत्रिणो भवन्ति। एवमेवाभितष्टीयेप्येकेनैन्द्रलिङ्गेन सर्वमैन्द्रम्। एवमेवानेनेह वैश्वदेवेन तृचेन यावन्ति सूक्तानि कर्मणि विनियुज्यन्ते बहुदेवतान्यलिङ्गान्यपि तानि तदर्थस्य साधकानीत्युपपद्यते।

इदानीं यस्यामश्विलिङ्गं यया चर्चा सूक्तमाश्विनं सेयमृग्व्याख्यायते।

ऋध्याम स्तोमं सनुयाम वाजमा नो मन्त्रं सरथेहोप यातम्।

यशो न पक्वं मधु गोष्वन्तरा भूतांशो अश्विनोः काममप्राः॥ (ऋ०१०.१०६.११)

ऋध्याम समृद्धं कुर्याम। कम्। **स्तोमं** स्तोत्रम्। उक्तगुणयोर्युवयोः प्रसादेन **सनुयाम वाजं** संभजेमहि च हविर्लक्षणमन्नं नित्यमेवेत्येतद्वयमाशास्महे। एतच्च ज्ञात्वा। आकार उपयातमित्येतेन सम्बध्यते। **नोऽस्माकं** स्वभूतं **मन्त्रं 'मत्रि गुप्तभाषणे'** (धा०१०.१४६) एकलिङ्गत्वात् सूक्तेनैव कृतं गुप्तभाषणम्। शृणुतमिति शेषः। श्रुत्वा च **सरथा** समानरथौ साधारणेन रथेन **इह** कर्मणि। **उपयात**मुपगच्छतम्। अथवास्माकमामन्त्रणमुपयातमिति सम्बन्धः। **भूतांशो** नाम महर्षिर्युवयोरश्विनोर्हविर्भूत् तस्मिन् यः काम इच्छा ताम्। **आअप्राः 'प्रा पूरणे'** लडर्थे लङ्। उत्तमपुरुषस्य स्थाने मध्यमः। आप्रा आपूरयिष्यामि तत्पयो युवाभ्यामागताभ्यां दास्यामीत्यर्थः।

अभितष्टीयं चैतल्लिङ्गं भवति।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।

शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ (ऋ०३.३८.१०)

विश्वामित्रस्य वैश्वामित्रस्य प्रजापतेर्वा वाच्यस्य वा विश्वामित्रस्य वा। **शुनं** शुनमिति सुखनाम सुखकरत्वात् कर्तॄणामृत्विग्यजमानानाम्। तं शुनं **हुवेम** आह्वयाम। **मघवानं** धनवन्तम्। कम्? **इन्द्रम् अस्मिन्**नुपस्थिते। **भरे** संग्रामे। **नृतमं** प्रकृष्टपुरुषमत्यन्तशूरमित्यर्थः। **वाजसातौ** अस्यापि संग्रामनामत्वात् क्रियाशब्दत्वं द्रष्टव्यम्। कीदृशे भरे? शत्रून् हत्वा तदीयं वाजमन्नं संभज्यते यत्र तस्मिन् नृतमम्। **शृण्वन्तम्**। किम्? सामर्थ्याद्यज्ञेष्वाह्वानम्। **उग्रम**प्रसह्यं शूरं वा। किमर्थं ह्वयाम। उच्यते। **ऊतये** पालनायात्मनः। किं कुर्वन्तम्? **समत्सु** संग्रामेषु **घ्नन्तं वृत्राणि** शत्रुवृन्दाणि। **संजितं** सम्यग्जेतारं शत्रुधनानामिति।

बभ्रुरेक इति दश द्विपदा अलिङ्गा इत्यतिरिक्तः पाठः। अभियुक्तैरनुपदेशात्।

साध्या इति वाच्याः। **देवा** रश्मयो वाभिधेयाः। साध्याः कस्मात्? **साधनात्** स्वव्यापारस्य। कर्तरि कृत्यप्रत्यय इत्यभिप्रायः। ऐतिहासिकानां तु कर्मभिरात्मनः साधनात् पूर्वो देवसमूहः। ते च किल विश्वसृजो नाम ऋषयः सहस्रसंवत्सरेणेदं विश्वमसृजन्त। तेषामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य चत्वारिंशः खण्डः।

अथैकचत्वारिंशः खण्डः।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ (ऋ०१.१६४.५०; १०.९०.१६) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। अग्निनाग्निमयजन्त देवाः। **अग्निः पशुरासीत्। तमालभन्त। तेनायजन्त।** (तु०तै०सं०५.७.२६.१) इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः संसेव्यन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्। वसवो यद्

विवसते सर्वम्। अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मात्पृथिवीस्थानाः। इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मान्मध्यस्थानाः। वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्। तस्माद् द्युस्थानाः। तेषामेषा भवति॥४१॥

भाष्यटीका

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्र॒थ॒मान्या॑सन्।

ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥ (ऋ०१.१६४.५०; १०.९०.१६)

अग्निमन्थनीयानामृचां परिधानीयैषा। **यज्ञेनेति** यज्ञसाधनत्वान्निर्मन्थ्योऽग्निरुच्यते यज्ञसाधनभूतेन निर्मन्थ्येन **यज्ञं** यज्ञसाधनभूतमेवाग्निमाहवनीय**मयजन्त**। निर्मन्थमग्निमाहवनीये हुतवन्त इत्यर्थः। अथवा यज्ञेनेति यज्ञसाधनत्वात् पशुभूतोऽग्निरुच्यते। तथा चाग्नेः पशुत्वे ब्राह्मणवादो दर्शितः **'अग्निः पशुरासीत्'** (तै०सं०५.७.२६) इत्यादि भाष्ये। तेन यज्ञेन यज्ञसाधनभूतपश्वग्निना यज्ञसाधनमेवाग्निं देवताभूतमयजन्त इष्टवन्तः। के? **देवा** दातारो हविषां यजमानाः। **तानि धर्माणि** कर्माणि **प्रथमानि** चिरन्तनान्ये**वासन्** न केनचिदिदानीमेव प्रवर्तितानि। **ते ह** हशब्दश्चार्थे ते च। **नाकं** नाकमिति साधारणनाम दिवश्चादित्यस्य च। तेन नाकं दिवमादित्यं वेत्यर्थः। **महिमानः** महिमा महत्त्वम्। लुप्तमत्वर्थश्चायम्। महत्त्ववन्तो महान्त इत्यर्थः। **सचन्त** सेवितवन्तः प्राप्तवन्त इत्यर्थः। **यत्र** यस्मिन्नाके **पूर्वे** सर्वतः प्रथमे। **साध्याः सन्ति देवाः** नैरुक्तानां साध्या रश्मय उच्यन्ते। तदाह द्युस्थानो रश्मिर्देवगण इति।

ऐतिहासिकाः पूर्वं देवयुगमिति। पूर्वोक्तदेवसमूह इत्यर्थः। तदा च ऋगेवं व्याख्येया। मानुषावस्थायां यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवत्वाय। साध्यास्ते ह नाकं प्रपेदिर इत्यर्थः। यत्र तेभ्यः पूर्वे प्राप्ता अन्ये साध्या देवा इति।

वसवो वाच्याः। **यद् विवसते सर्वम्** यद् यस्माद् विभागेनावस्थितमिदं सर्वमाच्छादयन्तीति स्थानत्वात्। अतस्त्रिस्थानेष्वाच्छादकत्वाद् वसवस्त्रिस्थानाः। यावत् किञ्चित् पृथिवीस्थानमग्निभक्ति तत्सर्वं वसुत्वेनाभि-प्रैत्येतदुच्यते। अग्निर्वसुभिः सम्बन्धाद्वासव इति तदाधिपत्येन समाख्यातत्वादग्निभक्तवसवः पृथिवीस्थानाः, एवमिन्द्रो वासवो महद्भिर्वसवः समाख्याताः। तस्मान्मरुतो वसवो मध्यमस्थानाः। तथा वसव आदित्यरश्मयो विवासनात् तमसाम्। तस्माद् द्युस्थानाः। तेषामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य एकचत्वारिंशः खण्डः।

अथ द्विचत्वारिंशः खण्डः।

सु॒गा वो॑ देवा॒ः सु॒पथा॑ अकर्म॒ य आ॑ज॒ग्मुः सव॑नमि॒दं जु॑षा॒णाः। ज॒क्षि॒वांस॑ः पपि॒वांस॑श्च॒ विश्वे॒ अस्मे धत्त वसवो॒ वसू॑नि॥ (तु०अथर्व०७.९७.४; यजु०८.१८; तै०सं०१.४.४४; मै०सं०१.३.४८; का०सं०४.१२; कपि०सं०३.१०) स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म य आगच्छत सवनानीमानि। जुषाणाः खादितवन्तः पीतवन्तश्च। सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि। तेषामेषापरा भवति॥४२॥

भाष्यटीका

सुगा वो देवाः सुपथा अकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः।

जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वे अस्मे धत्त वसवो वसूनि॥

(तु०अथर्व०७.९७.४; यजु०८.१८; तै०सं०१.४.४४; मै०सं०१.३.४८; का०सं०४.१२; कपि०सं०३.१०)

परमेष्ठिनः। **सुगाः** स्वागमनानि शोभनान्यागमनानि पुनः पुनरस्मद्यज्ञे। **वो** युष्माकं हे **देवाः**। **सुपथा** सुपथानि व्यत्ययेन नपुंसकं शोभनाः पन्थानो नित्यमेवास्मद्यज्ञेषु सन्तु भवन्तु। **य आजग्मुर्ये** यूयमागतवन्तः स्थ। **सवनमिदं** यज्ञनामेदं सवनमिदमस्मदीयं यज्ञम्। **जुषाणाः** सेवमानाः प्रीयमाणा वा। आगत्य **जक्षिवांसः** खादितवन्तो हवींषि। **पपिवांसश्च** पीतवन्तश्च सोमम्। यच्छ्रुतेस्तदध्याहारः। ते **विश्वे** सर्वे यूयम्। **अस्मे** अस्मासु **धत्त** अस्मभ्यं दत्तेत्यर्थः। हे **वसवो वसूनि** धनानि। भाष्ये तु सुगाव इति शोभनान्यागमनान्यभिप्रेतानि। तद्विशेषणं सुपथानीति शोभनमार्गाणीति।

इतरेषां वसूनां त्रिस्थानतां दर्शयतुमाह।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य द्विचत्वारिंशः खण्डः

अथ त्रिचत्वारिंशः खण्डः।

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः। अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥ (ऋ०७.३९.३) ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवाः। ज्मा पृथिवी। तस्यां भवा उरौ चान्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त। शुभ्राः शोभमानाः। अर्वाच एनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वम्। शृणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः। वाजिनो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥४३॥

भाष्यटीका

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः।

अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥ (ऋ०७.३९.३)

वसिष्ठस्य। ज्मेति पृथिवीनाम। ज्मयेति तृतीया सप्तम्याः स्थाने। **ज्मया** ज्मायाम्। **अत्र** अत्रैव पृथिव्याम्। त्रिस्थानानां वसूनां पार्थिवास्तु वसवो (ऽत्रैव पृथिव्याम्। मध्यमस्थाना) **उरावन्तरिक्षे** उरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे। **मर्जयन्त** मार्ष्टीति गतिकर्मा रमणार्थे वा। कस्य प्रकृतत्वाद् वृष्टिलक्षणा अपो गमयन्ति। वात्मानमित्यर्थः। **शुभ्राः** शोभनाः। प्रत्यक्षकृतत्वान्मत्रस्यामन्त्रितश्रवणाभावाच्चैकवाक्यतायै यत्तदध्याहारः। य ईदृग्गुणस्थितास्ते **अर्वाक्** लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः, अर्वाचोऽस्मदभिमुखान् **पथो** मार्गान्। **उरुज्रयो** हे उरुजवाः। **कृणुध्वं** कुरुत नित्यमस्मद्यज्ञेष्वागच्छत येनास्मान् प्रत्यागमनमार्गाः प्रहता भवन्तीत्यर्थः। **श्रोत** श्रृणुत च यदयं ब्रवीति। **दूतस्य जग्मुषो** गतवतो युष्मान् प्रति। कस्य दूतस्य? नोऽस्माकं स्वभूतस्यास्याग्नेः।

अर्वाक्पथ इत्यादिना त्रिस्थानानामध्येषणा। द्युस्थानो देवगण इत्यादिरपपाठः। केचित्तु श्रोता दूतस्येति चतुर्थेन पादेन द्युस्थानेषु वसुषु भाष्यं योजयन्ति। द्युस्थान इत्यादि तत्प्रकृतं व्याख्यातम्। रश्मयः पूर्वो वा देवसमूह इत्यादि।

वाजिनो निरुक्ताः। **'वाजी वेजनवान्'** (निरु०२.२८) इति। केवलं वचनकृतो विशेषः। रश्मयोऽभिधेयाः। देवाश्वा वा। तेषामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य त्रिचत्वारिंशः खण्डः।

अथ चतुश्चत्वारिंशः खण्डः।

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः। ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृकं॒ रक्षां॑सि॒ सने॑म्य॒स्मद् यु॑यव॒न्नमी॑वाः॥ (ऋ०७.३८.७) सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे। मितद्रवः सुमितद्रवः। स्वर्काः स्वञ्चना इति वा। स्वर्चन इति वा। स्वर्चिष इति वा। जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च। क्षिप्रमस्मद्यावयन्तु। अमीवा देवाश्वा इति वा। देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः। तासामेषा भवति॥४४॥

भाष्यटीका

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः।

ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृकं॒ रक्षां॑सि॒ सने॑म्य॒स्मद् यु॑यव॒न्नमी॑वाः॥ (ऋ०७.३८.७)

वसिष्ठस्य। **शं** सुखं **नो**ऽस्माकं **भवन्तु**। के। **वाजिनो** रश्मयो देवाश्वा वा। **हवेष्वा**ह्वानेषु। **देवताता** यज्ञनाम यज्ञे। **मितद्रवो** मितं त्रैलोक्यमात्रं शिक्षित्वात् पथ्यानुदेश एव पदं न्यस्यन्तो द्रवन्ति गच्छन्ति ये ते मितगामिन इत्यर्थः। **स्वर्का** अञ्चतेरर्चतेर्वा। अर्चशब्दाच्चोत्तरपदम्। स्वञ्चनाः सुगमना इत्यर्थः। स्वर्चना वा सुष्ठु स्तुतयः। स्वर्चिषो वा सुदीप्तयः। **जम्भयन्तः** (स्तम्भयन्तः) प्रतिबध्नन्तः। हिंसाकर्मा वा जम्भयन्तो हिंसन्तो विनाशयन्तः। कम्? **अहिं** सर्पम्। **वृकं** व्यालं **रक्षांसि** च। **सनेमीति** पुराणनामान्यत्र। इह तु पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यात् क्षिप्रार्थमित्याह क्षिप्रम्। **अस्मद्** यौतिरत्र पृथग्भावार्थेऽन्तर्णीतण्यर्थश्च पृथग्भावयन्तु अस्मत्सकाशादपनयन्त्वित्यर्थः। न च सर्पादीनेव केवलान्। किं तर्हि? **अमीवा** रोगान् हिंसितव्यान्। स्त्रीलिङ्गनिर्देशो जात्यभिप्रायः। रोगजातीश्च हिंसितृजातीश्चेत्यर्थः।

देवपत्न्यो वाच्याः। ताः पुनर्देवानां पालयित्र्यः पालनीया वा। पत्नीसंयाजदेवताः। पत्नीसंयाजाश्च तृतीयसवनस्य स्थाने। तच्च द्युभक्तीति द्युस्थानत्वम्। तासामेषा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य चतुश्चत्वारिंशः खण्डः।

अथ पञ्चचत्वारिंशः खण्डः।

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत॥ (ऋ०५.४६.७) देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः। प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय चान्नसंसनाय च। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम्। तासामेषापरा भवति॥४५॥

भाष्यटीका

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत॥ (ऋ०५.४६.७)

प्रतिक्षत्रस्यार्षम्। प्रथमार्थे द्वितीया **देवानां** पत्न्यो भवत्यः। उशत्यो हविस्तुतीश्च कामयमानाः। **अवन्तु** अवतिर्गतिकर्मा गच्छन्तु **नो**ऽस्मान् प्रति। गत्वा च **प्रावन्तु** प्रकर्षेण रक्षन्तु **नो**ऽस्मान्। किमर्थम्? **तुजये** तुजय इति तुक्शब्दस्यापत्यनाम्नो जनेश्च रूपमिदम्। तेनायमर्थः। अपत्यजननाय। **वाजसातये** सातिर्लाभार्थोऽन्नलाभाय। किञ्च **याः पार्थिवासः** पृथिव्यां भवाः। यूयं **या अपामपि** अपिशब्दश्चार्थे अपां वृष्टिलक्षणानाम्। **व्रते** कर्मणि जननाख्ये जन्मनीत्यर्थः। सप्तमीश्रुतेर्वर्तध्वं इति शेषः। वृष्टिं कुरुतेत्यर्थः। **ता नो**ऽस्मभ्यं हे **देवी**र्देव्यः **सुहवाः** सुह्वानाः **शर्म** गृहं सुखनाम वा **यच्छत** प्रयच्छत।

सामान्योक्तानां विशेषाभिधित्सया पराऽनन्तरा।

इति सप्तदशस्या-(द्वादशस्या)-ध्यायस्य पञ्चचत्वारिंशः खण्डः।

अथ षट्चत्वारिंशः खण्डः।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ (ऋ०५.४६.८) अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः। इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी। अग्नाय्यग्नेः पत्नी। अश्विन्यश्विनोः पत्नी। राड् राजते। रोदसी रुद्रस्य पत्नी। वरुणानी च वरुणस्य पत्नी। व्यन्तु देव्यः कामयन्तां य ऋतुकालो जायानां य ऋतुकालो जायानाम्॥४६॥

भाष्यटीका

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ (ऋ०५.४६.८)

उताप्यर्थे। **ग्ना**शब्दः स्त्रीवचनः। अपि स्त्रियो **व्यन्तु** कामयन्ताम्। किम्? सामर्थ्याद् हविः। कतमाः स्त्रियः? **देवपत्नीः** देवानां पत्न्यः कामयमानाश्च। **इन्द्राणी** इन्द्रस्य पत्नी। **अग्नायी** अग्नेः पत्नी। **अश्विनी** अश्विनोः पत्नी। सा च **राट्** दीप्तिः। राडित्यस्य प्रत्येकं वा सम्बन्धः। **आकारः** शृणोत्विति सम्बध्यते। **रोदसी**

रुद्रस्य पत्नी। रोदसीति रुद्रस्य पत्नीवचनो व्याख्यातः। तत् किल नोपपद्यते। यतोऽन्तोदात्तो रोदसीशब्दो रुद्रपत्नीवचनो दृष्टः। **'विषि॑तस्तुका रोद॒सी'** (ऋ०१.१६७.५)। **'मि॒म्यक्ष॒ येषु॑ रोद॒सी'** (ऋ०६.५०.५) इत्यादावन्तोदात्तस्य दर्शनात्। आद्युदात्तस्तु **'अत॑प्यमाने॒ अव॒साव॑न्ती॒ अनु॑ ष्याम॒ रोद॑सी दे॒वपु॑त्रे'** (ऋ०१.१८५.४) इत्यादौ सर्वत्र द्यावापृथिवीवचनः। अस्याद्युदात्तत्वाद् द्यावापृथिवीवचन एव न रुद्रपत्नीवचनः। तथा च पदकारेण द्विवचनत्वं प्रदर्शितमिति। कर्मणा वा दानेन प्रशस्यतास्य दर्शितेति। भाष्यकारस्तु देवपत्नीप्रकरणानुविधानेन पदकारमनवेक्ष्य रोदसीशब्दं रुद्रपत्नीवचनमुदाजहारेति।

इति निरुक्तटीकायां सप्तदशो (द्वादशो)ऽध्यायः समाप्तः।

॥अथ त्रयोदशो(अष्टादशो-)ऽध्यायः॥

अथ प्रथमः खण्डः।

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते। अपि वा सम्प्रत्यय एव स्यात्। माहाभाग्याद्देवतायाः (निरु०७.४)। सोऽग्निमेव प्रथममाह। त्वम॑ग्ने द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒ः। (ऋ०२.१.१) इति यथैतस्मिन् सूक्ते। न॒हि त्वदा॒रे नि॒मिष॑श्च॒न नेशे॑॥ (ऋ०२.२८.६) इति वरुणस्य। अथैषेन्द्रस्य॥१॥

भाष्यटीका

यथा प्रतिज्ञातं समाम्नायो व्याख्यातः। इदानीं पूर्वाचार्याणां मतानुवृत्तितत्परतया–

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते।

इति। इह **'यस्यां देवतायां'** (निरु०७.१) इत्यत्र स्तुतिलक्षणा देवतेति देवतालक्षणमुक्तम्। सा च स्तुतिर्नाम्ना बन्धुभिः कर्मणा च प्रदर्शिता। इहेदानीं कर्मातिक्रमेण गुणभूयस्त्वेन च प्रदर्शनीयेति। **अथे**त्यनन्तरम्। **इमा** वक्ष्यमाणा अतिशयवत्यः स्तुत्य इति। स्तुतय इत्येव किं स्तुतिशब्देन पूर्वाचार्या आचक्षते। प्रसिद्धा हीयं तेषां संज्ञेत्यभिप्रायः।

स्वमतमाह–

अपि वा सम्प्रत्यय एव स्यात्।

इति। सम्प्रत्येव समा अनतिरिक्तैव स्यात्। याप्यतिशयवत्यभिमता सापि प्राकृत इवानतिरिक्तैवेत्यर्थः। कुत एतदित्याह।

माहाभाग्याद्देवतायाः (निरु०७.४)।

इति। न गुणानां विभूतेरियत्तास्ति देवतायाः। तथा चोक्तम् **'ऋचीषमः'** (ऋ०१०.२२.२, निरु०६.२३)। **'नार्वागिन्द्रम्'** (ऋ०१०.८९.५, निरु०५.१२) इति।

नैरुक्तसमयानुवृत्तये त्वतिस्तुतयः प्रदर्श्यन्ते।

सोऽग्निमेव प्रथममाह।

सोऽतिस्तोता पूर्वाचार्यो वा। पूर्वक्रमानुवृत्यैवाग्निमेव वातिस्तुतिविषयत्वेन प्रथममाह।

त्वम॑ग्ने द्यु॒भि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचि॑ः॥ (ऋ० २.१.१)

अत्र स्वाधिकारातिरेकेण स्तुतिर्व्याख्याता।

'नहि त्वदारे' इति वरुणस्य स्तुतिः॥

अपो॒ सु म्य॑क्ष वरुण भि॒यसं॒ मत् सम्रा॒ळृता॒वोऽनु॑ मा गृभाय।

दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे॥ (ऋ०२.२८.६)

कूर्मस्य गार्त्समदस्यार्षम्। गृत्समदस्यैव वा। **अपो सु म्यक्ष** म्यक्षतिर्गतिकर्मा तेनास्य सम्बन्धः, सुम्यक्ष सुष्ठु अपगमय। हे **वरुण भियसं** भयमाधिदैविकमाधिभौतिकमाध्यात्मिकं च दुःखमित्यर्थः। **मत्** मत्तो मत्सकाशादित्यर्थः। **सम्राट्** सम्यक् दीप्तः। **ऋतावः** ऋतं सत्यमुदकं यज्ञो वा तेन तद्वत्। सत्यवदुदकवद् यज्ञवद्वा। **अनु मा गृभाय** अनुगृहाण मां तैस्तैरनुग्रहविशेषैः। किञ्च **दामेव** दाम बन्धनं यथा कश्चिद् **वत्साद्** विमुञ्चेत् तद्वद् **विमुमुग्धि** विमुञ्च। **अंहः** जन्मान्तरकृतमपि पापं वत्सस्थानीयादात्मनः। कस्मादेवमुच्यते? इयमत्रातिस्तुतिः। **न हि** हिर्यस्मादर्थे यस्मात्। **त्वत्** त्वत्तोऽन्य इति शेषः। **आरे** दूरनामैतत्। अपिशब्दलोपश्चात्र द्रष्टव्यः। दूरेऽपि सतो **निमिषश्चन** चनशब्दश्चार्थे निमिषतश्च शब्दादनिमिषतो मनुष्यलोकस्य चेत्यर्थः सर्वदेवमनुष्यजातस्य। **ईशे** पुरुषव्यत्यय ईष्टे स्वामी भवतीत्यर्थः।

इन्द्रस्यातिस्तुतिः।

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)- ध्यायस्य प्रथमः खण्डः।

अथ द्वितीयः खण्डः।

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः। न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ (ऋ०८.७०.५) यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युर्न त्वा वज्रिन्त्सहस्रमपि सूर्या न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्नुवीतामिति। अथैषादित्यस्य॥ २॥

भाष्यटीका

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।

न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ (ऋ०८.७०.५)

पुरुहन्मन आर्षम्। **यत्** यदि **द्यावो** द्युलोकाः **शतं** हे **इन्द्र ते** तव उपमा नास्तीति शेषः। **शतं भूमीरुत** अपि शतं च भूमयोऽपि **स्युर्भवेयुः। सहस्रं सूर्याः** सहस्रं च सूर्याः। तथापि **न त्वा** त्वां हे **वज्रिन्। अन्वष्ट** व्यत्ययेनैकवचनं विकरणलोपश्च, अन्वश्नुवीरन् गुणैर्व्याप्नुयुरित्यर्थः। तदेतदुक्तम् **'नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः'** (ऋ०१०.८९.५) इति। **न जातं** जातमात्रमेव त्वामन्वष्ट अश्नुवीयातां **रोदसी** सहिते अपि द्यावापृथिव्योः।

आदित्यस्यातिस्तुतिः।

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)- ध्यायस्य द्वितीयः खण्डः।

अथ तृतीयः खण्डः।

यदुदंञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजंगन्तन। क्व१ स्य पुंल्वघो मृगः कमंगञ्जनयोपंनो विश्वंस्मादिन्द्र उत्तंरः॥ (ऋ०१०.८६.२२) यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगमत। क्व स्य पुल्वघो मृगः। क्व स बह्वादी मृगः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। कमगमद्देशं जनयोपनः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। अथैषादित्यरश्मीनाम्॥३॥

यदुदंञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजंगन्तन।

क्व१ स्य पुंल्वघो मृगः कमंगञ्जनयोपंनो विश्वंस्मादिन्द्र उत्तंरः॥ (ऋ०१०.८६.२२)

इन्द्रस्यार्षम्। **यत्** यदाऽस्तमयकाले। **उदञ्च** उदञ्चितार ऊर्ध्वं गामिनः। के? सामर्थ्याद्रश्मयः। हे **वृषाकपे** आदित्य। **गृहं** स्वमण्डलाख्यम्। हे **इन्द्र** अत्यन्तेश्वर। **अजगन्तन** व्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः। अगमन् गतास्त्वदीयमण्डलमनुप्रविष्टा भवन्तीत्यर्थः। यदेति श्रुतेस्तदेत्यध्याहारः। तदा **क्व** तिष्ठतीति शेषः। **स्यः** स भगवान्। प्रत्यक्षकृतत्वादनामन्त्रितश्रवणाच्च भवच्छब्दाध्याहारेण योजना। कीदृशः? **पुल्वघः** घसे रूपमिदम्। बहूना भौमरसानामत्ता। **मृगः** मार्ष्टेर्गतिकर्मण इदं रूपम्। गन्ता गमनशीलः। **कमगन्** कं वा देशं गच्छतीति। **जनयोपनः 'युपु विमोहने'** (धा०४.१२९) तत्रापरिज्ञानादिन्द्रासञ्जननाद्वा सर्वस्य जनस्य मोहयिता। क्व स्य इति पुरस्तात् तस्य श्रुतेर्यदध्याहारः। यो **विश्वस्मात्**सर्वस्मात्। **इन्द्रो**ऽत्यन्तेश्वरः। **उत्तर** उत्कृष्टतरश्चान्यैरपि गुणैः।

अस्तमयसमये रश्मिषु मण्डलं प्रविष्टेषु स भवान् क्व तिष्ठति कं वा देशं गच्छतीत्येवमत्र वाक्ये परिसमाप्ते भाष्यम्। तमेतद् ब्रूम इति। तस्यार्थः। तमेतत् समर्थार्थप्रदर्शनम्। तत्पुनर्वाक्यशेषस्याध्याहारप्रदर्शनम्। सर्वस्माद्य इन्द्र इत्यध्याहृतस्य यच्छब्दस्य। क्व स्य इति पुरस्ताच्छ्रुतिबलादेव यच्छब्दस्याध्याह्रियमाणत्वात्।

आदित्यरश्मीनामतिस्तुतिः-

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)- ध्यायस्य तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः।

वि हि सोतोरसृंक्षत नेन्द्रं देवमंमंसत। यत्रामंदद् वृषाकंपिरर्यः पुष्टेषु मत्संखा विश्वंस्मादिन्द्र उत्तंरः॥ (ऋ०१०.८६.१) व्यसृक्षत हि प्रसवाय। न चेन्द्रं देवममंसत। यत्रामाद्यद् वृषाकपिः। अर्य ईश्वरः। पुष्टेषु पोषेषु। मत्सखा मम सखा। मदनसखा। ये नः सखायस्तैः सहेति वा। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद्ब्रूम आदित्यम्। अथैषाश्विनोः॥४॥

भाष्यटीका

वि हि सोतोरसृंक्षत नेन्द्रं देवमंमंसत।

यत्रामंदद् वृषाकंपिरर्यः पुष्टेषु मत्संखा विश्वंस्मादिन्द्र उत्तंरः॥ (ऋ०१०.८६.१)

इन्द्रस्येन्द्राण्या वृषाकपेश्च संवादसूक्तमेतत्। तत्रेयमिन्द्रस्य। वृषाकपिश्चेन्द्रस्य पुत्रः सखेत्यैतिहासिकाः। अत्रैकवाक्यतायै यत्तदोरध्याहारः। यदादित्येन रश्मयो **व्यसृक्षत** विपूर्वस्य सृजेः कर्मणि कारके आत्मनेपदप्रथमपुरुषस्य बहुवचन इदं रूपं विसृष्टा भवन्तीत्यर्थः। किमर्थम्? **सोतोः** प्रसवाय प्रकाशद्वारेणाभ्यनुज्ञानाय सर्वप्राणिकर्मणाम्। तदा **नेति** प्रतिषेधार्थीयममंसतेति सम्बध्यते। **इन्द्रमीश्वर**मात्मनः। **देव**मादित्यम्। **नामंसत** न मन्यन्ते। अनपेक्ष्य तं स्वातन्त्र्येण प्रकाशकरणप्रवृत्तेर्वयमेव प्रकाशयाम इत्याद्यभिमाना इत्यर्थः। कस्मिन् काले? **यत्रामदत्** यस्मिन् मध्यन्दिनसमये माद्येति अत्यन्तप्रकाशनिर्वृत्तेर्हृष्यतीवेत्यर्थः। **वृषाकपि**रादित्यः। **अर्य** ईश्वर। **पुष्टेषु** पुष्टिः प्रकर्षेण वृद्धिः सप्तमी चेयं तद्रश्मिषु तदेतद् भाष्यकार आह। रश्मिपोषं पुष्टेषु भूतेष्विति। सामान्यपुषेरत्रावयवपुषिः कर्मत्वेन निर्दिश्यते। गोपोषं पुष्यतीति यथा। भूतशब्दश्च जातपर्यायः। रश्मीनां ये योग्याः पुष्टितया तेषु पुष्टेषु जातेष्विति भाष्यार्थः। कीदृशो वृषाकपिः? **मत्सखा** अहं मन्त्रदृक् सखा स सखिभूतो यस्य सः। अथवा मदनं मद् हर्षः सखिभूतोऽत्यन्तसहचारी यस्य स हर्षसहायोऽत्यन्तपुष्ट इत्यर्थः। अथवा मदित्येतेनात्मवचनेन ऋषिरात्मनः सखीभूतान् रश्मीन् लक्षयति। सखिशब्देनापि सामर्थ्यात् सहत्वं लक्ष्यते। तेन य एते मम सखिभूता रश्मयो मच्छब्दवाच्यास्ते सहभूता यस्य सः। तैः सहभूत इत्यर्थः। तस्मात् सखिभूतरश्मिसहभूत इति। तदेतद् भाष्यकारानुरोधेन व्याख्यायते। यतो भाष्यकार आह। ये नः सखायस्तैः सहेति वा। **विश्वस्मात्** सर्वस्मात्। **इन्द्रो**ऽत्यन्तेश्वरः। **उत्तर** उत्कृष्टतरश्चान्यैरपि गुणैः।

यच्चात्र भाष्यम्। **सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यमिति**। तत्र च समस्तार्थप्रदर्शनपरम्। कुतः एतत्? यत्तच्छब्दयोर्ब्रूम इत्यस्य च विनैवाध्याहारेण ऋचः समर्थितत्वात्। मत्सखा मम सखेति नेदं विगृह्य प्रदर्शनम्। किं तर्हि? अर्थप्रदर्शनं यो हि मम सखा अहमपि तस्य सखेत्यभिप्रायः। तत्पुरुषत्वेऽपि छान्दसत्वात् समासान्ताभावः।

अथैषा वाचोऽतिस्तुतिः। अनभिव्यक्तविशिष्टवाक्यार्थप्रवल्हितत्वादेव दर्शनभेदः।

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)-ध्यायस्य चतुर्थः खण्डः।

पञ्चमः खण्डः।

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥ (ऋ०१०.१०६.६)

सृण्येवेति द्विविधा सृणिर्भवति। भर्ता च हन्ता च। तथाश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। नितोशस्यापत्यं नैतोशम्। नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ। उदन्यजेव जेमना मदेरू। उदन्यजेवेत्युदकजे इव। रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे वा। जेमने जयमने। जेमना मदेरू। ता मे जराय्वजरं मरायु। एतज्जरायुजं शरीरं शरदमजीर्णम्। अथैषा सोमस्य॥५॥

त्रयोदशस्याध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।

षष्ठः खण्डः।

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।

तरत्स मन्दी धावति॥ (ऋ०९.५८.१)

तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिम्। धारा सुतस्यान्धसः। धारयाभिषुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य। अथैषा यज्ञस्य॥६॥

त्रयोदशस्याध्यायस्य षष्ठः खण्डः।

सप्तमः खण्डः।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥ (ऋ०४.५८.३)

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति। रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्याँ आविवेशेति। एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय। तस्योत्तरभूयसे निर्वचनाय॥७॥

त्रयोदशस्याध्यायस्य सप्तमः खण्डः।

अष्टमः खण्डः।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वाँसो वितेनिरे॥ (यजु०१७.६८, अथर्व०४.१४.४)

स्वर्यच्छन्त ईजाना वा नेक्षन्ते। तेऽमुमेव लोकं गतवन्तमीक्षन्तमिति। आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिर इति। अथैषा वाचः प्रवल्हितेव॥८॥

त्रयोदशस्याध्यायस्य अष्टमः खण्डः।

अथ नवमः खण्डः।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋ०१.१६४.४५) चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः। गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः। तुरीयं त्वरतेः। कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो

यजूँषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति। **सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।** (मै०सं०१.११.५) इति। अथैषाक्षरस्य॥९॥

भाष्यटीका

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋ०१.१६४.४५)

दीर्घतमा वाचस्तत्वमाह। चत्वारि मितानि अव्यक्तपरिमाणानि पदानि। इयती **वाक्**। तदेतद् भेदेन हि **चत्वारि** वाचः **परिमितानि पदानि** न पञ्चमम्। कतमानि तानि? ओंकारमहाव्याहृतयश्चेत्यादीनि। **तानि सर्वाणि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणो** मेधाविनः। यस्मात्तेषां चतुर्णां पदानां **गुहा** लुप्तसप्तम्याः। सामर्थ्याल्लुप्तोपमं चेदम्। गुहायामिव **त्रीणि** निहितानि **नेङ्गयन्ति**। इगिर्गत्यर्थः। न गमयन्तीत्यर्थः। **तुरीयं** चतुर्थं **वाचो मनुष्या वदन्ति**।

कतमानि तानि? तत्र ऋषिमते तावद् भूरित्येतां महाव्याहृतिम्। कुत एतत्? भूरित्येतस्या महाव्याहृतेरर्थोऽयं लोकः। तेन तदर्थस्यास्य लोकस्य प्रत्यक्षत्वात् सर्वमनुष्यैर्ज्ञायमानत्वात्।

गवादीनि नामानि। कुतः? तेषां तत्वं सर्वमनुष्यैर्ज्ञायमानत्वात्। आख्यातोपसर्गनिपातास्तु (अ)प्रसिद्धार्थत्वान्नार्थं सर्वे वेदयन्ते।

नैरुक्तयाज्ञिकैतिहासिकमतेषु व्यावहारिकी लौकिकी (या) वाक् तां सर्वे मनुष्या वदन्ति। पशवो गवादयः। तूणवेषु वीणजातिषु वादित्रेष्वित्यर्थः। मृगेषु शबरादिषु। अव्यक्तत्वादेतेषु या वाक्सा गुहायाम्।

आत्मप्रवादा इति। आत्मानं ये प्रवदन्ति अध्यात्मवादिनस्तन्मते आत्मनि या वाक् सा व्यावहारिकीत्येकां वदन्ति।

तुरीयं त्वरतेरिति। तद्धि त्वरितमिव निर्गतं त्रिभ्यः। क्षुद्रं सरीसृपमव्यक्तरणनशीलम्।

अथापि ब्राह्मणम्। अपि ब्राह्मणप्रदर्शनेऽपि मनुष्यसप्तमेषु यत्तुरीयं व्यक्तं व्यक्तवर्णरूपञ्च व्यावहारिकं तद्वदन्ति। येषु लोकेषु यानि तुरीयाणि व्यक्तरूपाणि तानि दर्शयति। तत इति। अथ पशुगताव्यक्ताया या अन्या व्यक्ता तां ब्राह्मणेष्वदधुः। उभयीं वाचं देवानां वैदिकी या च मनुष्याणां लौकिकी इत्यर्थः।

अक्षरस्यातिस्तुतिः प्रवल्हितेव।

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)- ध्यायस्य नवमः खण्डः।

अथ दशमः खण्डः।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति यं इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ (ऋ०१.१६४.३९) ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन् देवा अधिनिषण्णाः सर्वे। यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति। कतमत्तदेतदक्षरम्। ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु। **एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति** (कौ०ब्रा०६.१२) इति च ब्राह्मणम् ॥१०॥

भाष्यटीका

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति यं इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ (ऋ०१.१६४.३९)

दीर्घतमसः। अस्यामृचि शाकपूणेस्तावन्मतेन ओङ्कारं कृत्वा ऋचामध्ययनप्रारम्भात् शास्त्रानुवचनादिषु ऋगन्ते प्रणवस्य योगाद् ऋचः सम्बन्ध्येतदक्षरम्। परमं चेदं व्योम स्थानम्। अग्न्यादिनानादेवतानां मन्त्राणां सर्वस्याश्च त्रय्या विद्यायास्तदध्ययनस्य च ओङ्कारपूर्वकत्वात्।

अथवा परमेदतः। कथम्? वि...... मोतत्वात्। इदं प्रणवाख्यं ब्रह्मजगतः कारणमित्युपनिषत्सु वर्णितम्। तस्य किल ओमित्येतस्य ब्रह्मणः प्रथमायां मात्रायां पृथिव्यग्निर्ऋग्वेदः पृथिवीनिवासिनो जना इत्येतत्। द्वितीयायां मात्रायामन्तरिक्षं वायुर्यजूंषि अन्तरिक्षनिवासिनो जना इत्येतत्। तृतीयायां द्यौरादित्यः सामानि द्युनिवासिनो जना इत्येतत्। तेनेदं जगतः परं व्योम।

अथवा परमं व्योम मृत्योर्बिभ्यतां देवानाम्। तदेतत् परस्मिन् पादे वक्ष्यते। तस्मिन्नेवं रूपे **परमे व्योमन्** लुक् सप्तम्याः। **यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः**। तत्र छन्दोगानामुपनिषदीतिहासः पठ्यते। देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दोभिराच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्। यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवास्वरत्येवं सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् इति। तदेतदिहोच्यते **यस्मिन् देवाः** सर्वे मृत्योर्बिभ्यतोऽधिनिषण्णाः प्रविष्टा इत्यर्थः।

अथवा ऋगादीनामप्यध्ययनमोङ्कारपूर्वकत्वादृगादयः सर्वे मन्त्रा अत्र निषण्णाः। तेन च तेषां या देवतास्ता अपि तद्द्वारेणात्र निषण्णा इत्येतदभिप्रेत्यैतदुच्यते **यस्मिन् देवाः सर्वे अधिनिषण्णा** इति। **यस्तन्न** देवरूपमक्षरं न वेद स ताद्भाव्याप्राप्तेः **किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदुः**। इच्छब्दस्तुशब्दस्यार्थे। ये तु तद्विदुस्त **इमे समासते**। य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौति। एतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृतास्तदमृतो भवतीति पूर्वस्येतिहासस्योपसंहारश्रुतेस्ताद्भाव्यापत्या प्रणवविग्रहात्मानमनुप्रविश्य ब्रह्मणः साम्यमापन्ना विद्वांस इमे समासते। समित्येकीभावे तेन सह एकीभूता आसते।

अत्र **ऋचश्च ह्यक्षर** इत्यादि यद्भाष्यं तस्यार्थः। यदेतदोमित्येतदक्षरं परमं व्यमनं गमनं स्थानम्। व्यवनमिति येषां पाठस्तेषां विशेषेण रक्षनं स्थानमित्यर्थः। एतस्मिन् सत्येतदक्षरं कृत्वा उच्चार्येत्यर्थः। ततः ऋचोऽधीयतेऽध्येतारः। नानादेवतेषु मन्त्रेष्वेतत् कुर्वन्तीति शेषः। **'एतद्ध वा एतदक्षरम्'** (कौ०ब्रा०६.१२) इत्यादेश्च ब्राह्मणात् सर्वस्यामेव त्रय्यां विद्यायामेतत् कुर्वन्ति न केवलेषु मन्त्रेषु। तेनेदं मन्त्राणां त्रय्याश्च विद्यायाः परमं व्योम। आत्मीयमन्त्रद्वारेण च देवाः सर्वे अधिनिषण्णा इत्येतदुपपन्नम्। अत एतत्तावच्छाकपूणिमतम्। तत्पुत्रस्य तु मतम्-

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)-ध्यायस्य दशमः खण्डः।

अथैकादशः खण्डः।

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। एषगर्भवति यदेनमर्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति। रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिषण्णा इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। शरीरमत्र ऋगुच्यते यदेनेनार्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवति। इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते यान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्तीत्यात्मप्रवादाः॥११॥

भाष्यटीका

'ऋचो अक्षरे' इति। ऋगित्यादित्यमण्डलमुच्यते। आदित्यमण्डलं कस्मात्? ऋग्भवति। **यद्** यस्मादेन**मर्चन्ति**। अर्चनादृगित्यर्थः। अथवा रश्मिद्वारेण सर्वाणि भूतानि प्रत्यागतत्वाद् ऋक्। तस्य सम्बन्धि यदन्यन्मात्राभ्यस्तदीयेभ्योऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तमधिष्ठातृभिरध्यात्मकदेवतारूपमादित्याख्यम्। अक्षरं व्योम स्थानं तेजसो भौमानां वा रसानाम्। तस्मिन्नेवं रूपे **यस्मिन् देवा** रश्मयो भौमानां रसानामाहरणधारणाभ्यामधिनिषण्णाः सन्ति। आदित्यमेवमादित्यप्रवादा मन्यन्ते। **यस्तन्न वेद किमृचा** मण्डलेन **करिष्यति**। किं करिष्यतीत्यादि पूर्ववद् योज्यम्?

आत्मवादिनां तु मतम्-

अथाध्यात्मम्। शरीरमत्र ऋगुच्यते यदेनेनार्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि तस्य यदविनाशि धर्म तदक्षरं भवति। इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते यान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्तीत्यात्मप्रवादाः।

अयं पिण्डशरीरमृग्भवति। स्नानोद्वर्तनपरिषेकानुलेपेनार्चनात्। प्रत्यृतो वा सर्वाणि सर्वेन्द्रिय-शक्त्यनुगमाद्वेत्यर्थः। तस्य सम्बन्धि यदविनाशधर्मि यदविनश्वरमक्षरं भोक्तृ आत्मरूपं तत्परं व्योम भोगस्य वा इन्द्रियाणां वा। कृत्स्नस्य जगतः प्रलयावस्थायां यस्मिन् देवा इन्द्रियाणि स्वस्य विषयस्य प्रकाशने निमित्ते निषेदुः। यस्तु विविक्तं न वेद किमृचा शरीरेण करिष्यति। वृथा जातत्वात्। य इत्तद्विदुरिति पूर्ववद् योज्यम्। समासते आत्मन्यक्षर इत्यात्मप्रवादाः।

इत्याष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)-ध्यायस्य एकादशः खण्डः।

अथ द्वादशः खण्डः।

अक्षरं न क्षरति। न क्षीयते वाक्क्षयो भवति। वाचोऽक्ष इति वा। अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादिति। अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूळ्होऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हम्। तस्माद्यदेवं किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति॥१२॥

भाष्यटीका

अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाक्क्षयो भवति। वाचोऽक्ष इति वा। अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादिति।

अक्षरं न क्षरति न स्रवति न क्षीयते न शुष्यति शरीरादित्यर्थः। वाक्क्षयो वाचः क्षयः। ककाराद्यक्षरमङ्गीकृत्योच्यते प्रसङ्गात्। (वाक्) क्षयो निवसो यस्येति वा। अक्षयमक्षरम्। स वाचोऽक्षः कुतः? वर्णरूपे पदरूपः शब्दो निवसति स्वरस्य रूपे व्यञ्जनरूपा वाङ् निवसति। स हि स्वरोऽनुप्रविश्याक्षवद् व्यञ्जनचक्रं धारयति। नादो हि वाचो निवासः। नादरूपा वाक् क्षयो निवासो यस्येति वा। एवं त्रय्या लौकिक्याश्च वाचः कृत्स्नाया अक्षरानुवृत्तित्वाद् वाचोऽक्ष इवाक्षरम्। तदेतद् यानाक्षनिर्वचनपुरस्सरं वक्ष्यति तत्प्रकृतीतरदिति। तादर्थ्येनानु च सक्तमना। अक्षो यानरथादेः सम्बन्धी। अभ्यञ्जनाद्वाञ्जेः। अक्षः पुनरश्नोतेरिति वैयाकरणानाम्। अभ्यञ्जनं भ्रमणं तत्प्रकृति अक्षस्वभावोऽयमित्यर्थः। इतरत् स्वराख्यमक्षरम्। वर्तनसामान्यात् स्वरमधिरूढानि व्यञ्जनानि वर्तन्ते। इतिशब्दः समाप्त्यर्थ एवकारार्थो वा।

(अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्)

अभ्यूहस्तर्कः। अभयूळ्होऽभ्यूढोऽन्तःप्रापित इत्यर्थः। **अपिश्चार्थे**। **श्रुतितश्च** मन्त्रब्राह्मणेभ्यो निगमविशेषेभ्यः। **अपि तर्कतस्तर्का**च्च पदान्तरसम्बन्धसामर्थ्यादिलक्षणादूहात्। सत्यपि चैतस्मिन् निरुक्ताख्ये तर्केणैव देवदेवताधिदैवधिपुष्पफलेतिहासप्रकरणादिनिरपेक्षेण सता मन्त्रा न निर्वक्तव्याः। किं तर्हि? प्रकरणमपेक्ष्य। कुत एतत्? यस्मान्न ह्येषु मन्त्रेषु विषयभूतां देवतां प्रति प्रत्यक्षज्ञानमस्ति **अनृषेरस्मदादेः**। ऋषीणां तु साक्षात्कृतधर्मणां वेदाभ्यासवत्वेन प्रत्यक्षज्ञानं धर्मानुग्रहवशेन स्यात्। पारोवर्यवित्सु त्वित्युक्तम्। अनभिनिर्वृत्तोऽल्पविद्यो वा नालमूहितुं मन्त्रार्थं सम्यक्। तस्माद् भूयोविद्यः प्रशस्यः शास्त्रागमविशुद्धये मनुष्यापेक्षयेत्याह षष्ठेन। प्रदर्शितागमस्य सतः शास्त्रमन्तरेणाप्यागममुपोद्बलयितुं पुनरुपन्यासः।

(मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेवं किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति।)

उत्क्रमः स्वर्गमनम्। ऋषिविका। अनूचानाः प्रवचनसमर्थाः। अनया दिशा शक्यमन्यदप्यूहितुमिति तेभ्यो बहुश्रुतेभ्यः प्रवचनसमर्थेभ्यस्तर्कमूहमात्रमुद्देशभूतग्रन्थास्मकं विद्यास्थानं प्रायच्छन्, अपदिष्टवन्तस्तमार्षम्। एवं च दर्शनादृषिः। ऋषिभ्य आगतमार्षं यज्ज्ञानं तस्मात् श्रद्धातव्यम्। तेऽनूचानाः सुखग्रहणायेमं मन्त्रार्थचिन्तालक्षणं तमुपायमभ्यूहन् ग्रन्थीकृतवन्तः। तस्मादित्युपसंहारवचनम्। अन्यत्वेऽपि चैतद् द्रष्टव्यम्। अतश्चैतदेवं येन मन्त्रोऽप्याह।

इत्यष्टादशस्या-(त्रयोदशस्या)-ध्यायस्य द्वादशः खण्डः।

अथ त्रयोदशः खण्डः।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥ (ऋ०१०.७१.८) हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते समानाख्याना ऋत्विजः। अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। ओहब्रह्माण ऊहब्रह्माणः। ऊह एषां ब्रह्मेति वा। सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिस्तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्। तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यं तस्माच्छन्दःसु शेषा उपेक्षितव्याः। अथागमो यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति॥१३॥

भाष्यटीका

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥ (ऋ०१०.७१.८)

बृहस्पतेरार्षम्। **हृदा** हृत् हृदयम्। तक्षतिः करोतिकर्मा। सः क्रियासामान्यवचनत्वादिह परिच्छेदे वर्तते। बुद्ध्या परिच्छिन्नेषु एवमित्यध्यवसितेषु सत्सु। केषु? उच्यते। **मनसो जवेषु** जवतो मनस ऊहापोहाभ्यां ये सम्यगूहन्ते न चाचार्योपदेशमात्रेण तेषु परिच्छिन्नेषु शब्देन मनसा वावगन्तव्ये तस्यमानार्थत्वाद् मनसावच्छिद्येत्यर्थः। **यत्** यत्र यदा वा **ब्राह्मणाः संयजन्ते**। संयजतिरत्र सङ्गते वर्तते सङ्गच्छन्ते। **सखायः** समानख्याना ऋत्विजोऽन्ये च शास्त्रज्ञाः। यत्रशब्दस्य दृष्टार्थप्रतिनिर्देशार्थत्वात्। अत्रशब्दस्तत्रशब्दस्यार्थे वर्तते। **अह**ेति च पादपूरणः। **अत्र** तत्र समाजे काले वा। त्वमेकमित्यर्थः। कम्? सामर्थ्यादनवगतार्थन्यायं मन्दप्रज्ञमूहापोहयोरसमर्थं तं **विजहु**स्तेन तेन व्याजेन विविधं त्यजन्ति। **वेद्याभिः** बाहुलकत्वात् स्नानीयपूरणीयादिवत् करणे कृत्यप्रत्ययः। सप्तम्यर्थे च तृतीया। वेद्यते ज्ञायते तदीयं याभिस्ता वेद्याः प्रश्नप्रतिवचनप्रवृत्तयस्तासु। ते नैनं किञ्चित् पृच्छन्ति नाप्यस्मै प्रतिब्रुवन्तीत्यर्थः। अविगीतत्वात्तं नाद्रियन्त इत्यर्थः। किञ्च **ओहब्रह्माण** उह एव ब्रह्म येषाम्। ऊहापोहसमर्था इत्यर्थः। त एवं नानाप्रकारं **विचरन्ति**। **उ** इति पादपूरणः। प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां विशेषेण यावद् गन्तव्यं तावद् गच्छन्ति। **त्वे** एकेऽन्येऽमन्दप्रज्ञा इत्यर्थः।

सेयं निरुक्तविद्या श्रुतिमति वर्तत इति शेषः। श्रुतित उत्कृष्टतरेत्यर्थः। कुतः ? यत इयं बुद्धिर्बुद्धेः कारणम्। कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। आयुर्घृतमिति यथा पदवाक्यार्थविज्ञानस्य हेतुरियं विद्या यस्मादित्यर्थगौरवप्रदर्शनं

चैतत्। तथा च केवलाध्ययननिन्दा ज्ञानप्रशंसा च दर्शिते। तस्या विद्याया नाकृतपुण्यः पारं प्राप्नोति। तदिदं विद्यास्थानाभिप्रायं न पुनरर्थः। आत्मनो दीर्घमायुरिच्छता यस्मै कस्मैचिदसूयकादिकाय न निर्वक्तव्यम्। आदरार्थः पुनरुपन्यासः। तस्माच्छन्दस्सु तस्या एतस्या निरुक्तविद्याया निराकांक्षायै ऋक्पादार्धर्चशेषा उपेक्षितव्यः। अस्माच्चोपदेशात् सर्वत्रोपक्षेपिता एव अथेत्यादिना। पारगमनेनाशेषमन्त्रफलं दर्शयति यां यां देवतामित्यादिना। मन्त्रविषयदेवताताद्भाव्यसम्पदनुभवफलमिति सिद्धम्।

निरुक्तमन्त्रभाष्यार्थपूर्ववृत्तिसमुच्चयः।
महेश्वरेण रचितः सूनुना पितृशर्मणः॥

इति महेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका समाप्ता।

स्कन्दस्वामि-दुर्गभाष्ययोः साम्यत्वम्

प्रथमोऽध्यायः।

खण्ड	स्कन्दस्वामी	दुर्गाचार्यः
१	पुरुषस्य प्रवृत्त्यर्थं निवृत्त्यर्थञ्च प्रत्यक्षादिभिः प्रतिपत्तुमशक्यस्य हितफलस्याग्निहोत्रादेरहित-फलस्य च ब्राह्मणवधादेः प्रतिपादनार्थो: वेदः।	सर्वकामप्राप्त्यादिर्मोक्षान्तः पुरुषार्थो वक्तव्य इति वेदः प्रवृत्तः।
१	**व्याकरणम्**-अर्थविशेषाश्रयेण प्रकृत्यादि-विभागेन साधुशब्दानन्वाचक्षाणं शब्दार्थ-प्रतिपादनेनोपयुज्यते। क्वचित्तु शब्दार्थ- प्रतिपादनेनैव।	व्याकरणाद्विभक्त्यादिपरिज्ञानम्।
१	**शिक्षा** तु-अध्ययनकाले कमणि च मन्त्राणां प्रयोगकाले द्रुतादिवर्णदोषैर्दुष्टस्य शब्दस्योच्चारणप्रति-पादनेनोपयुज्यते।	**शिक्षा** तावत्-आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् (पा० शि० ६) इत्येवमादिना क्रमेण स्वरव्यञ्जनाभिव्यक्तिलक्षणं पूर्वाह्णमध्यंदिना- पराह्णेषु यथाध्येयमधीतस्य च स्वरसौष्ठव- युक्तस्य यज्ञकर्मणि प्रयोग इत्येवमाद्यर्थजातं निरुवाच।
१	**कल्पसूत्राण्यपि**-प्रतिशाखं शाखान्तराधीतेन (अपि मन्त्रेण) न्यायप्राप्तरूपेण चाङ्गेनोपेतस्य प्रतिपन्नस्य कर्मणः प्रतिपादनेन।	सम्यगधीतस्य परिज्ञातच्छन्दसोऽमुष्मिन् कर्मणि विनियोग इति कल्प आद्रियते।
१	**छन्दोविचितिरपि**-स्तोत्रादेरङ्गत्वेन श्रुतस्य गायत्रादेश्छन्दसो रूपप्रतिपादनेन।	शिक्षाधिगताध्ययनविधेर्वेदस्याक्षरकोशपाद- व्यवस्था लक्षणपरिज्ञाने छन्दोविचितिराद्रियते। इयताक्षरकोशेनेयद्भिः पादैर्गायत्रीयद्भि- स्त्रिष्टुबिति।
१	**ज्योतिषमपि**-दर्शपौर्णमासाद्यङ्गभूतस्य पौर्णमास्यमावास्यादेः कालस्य स्वरूपप्रतिपादनेन।	श्रुतिचोदितकर्माङ्गभूतं कालपरिज्ञानाय ज्योतिषम्। अनुषङ्गतश्चातोऽपि प्राणिनां शुभाशुभकर्मफलविपाककालपरिज्ञानम्।
१	**निरुक्तं** तु-मन्त्रार्थप्रतिपादनेनेति। एतत्.......... सापेक्षसमाधानं वक्ष्यामः।	अतः............ एतैरङ्गैर्वेदस्यार्थपरिज्ञान- विषये निरुक्तं नामेदमङ्गमारभ्यते।
१	तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया पञ्चाध्याया **'गौर्ग्मा'** इत्यादयो निघण्टवः।	तस्यैषा गवाद्या देवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी सूत्रसङ्ग्रहः।
१	तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति **'समाम्नायः समाम्नातः'** इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्।	इयं च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः। तस्या इदमादिवाक्यं **'समाम्नायः समाम्नातः'** इति।
१	**समाम्नायः**- **'सम्'** इत्येकीभावे **'आङ्'** आभिमुख्ये **'म्ना'** अभ्यासे- एकत्र सम्भूयाध्येतृभिर्वेदवादिभि-राभिमुख्येनाभ्यस्य-मानत्वात्।	सम्-आङ्-पूर्वस्य म्नातेरभ्यासार्थस्य कर्मणि कारके समाम्नायः। समभ्यस्यते मर्यादयाऽयमिति समाम्नायः।

१	समाम्नायशब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमूह उच्यते न वेदः।	गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमुदायः समाम्नाय उच्यते।
१	**समाम्नातः**-सम्भूयाभिमुख्येनाम्नातः-अभ्यस्तः ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः।	चर्षिभिर्मन्त्रार्थपरिज्ञानायोदाहरणभूतः पञ्चा-ध्यायीशास्त्रसङ्ग्रहभावेनैकस्मिन्नाम्नाये ग्रन्थी- कृत इत्यर्थः।
१	**स व्याख्यातव्यः**- अर्हे कृत्यः। व्याख्यानार्ह इत्यर्थः।	व्याख्यातव्यो- विभज्येमान्यत्र नामानीमान्या-ख्यातान्युपसर्गा इमे निपाता इम इदं सामान्यलक्षणमिदं विशेषलक्षणमिमान्येकार्थानी-मान्यवगतसंस्काराणीदमभिधानमभिधेयमिदमभिधानस्य निर्वचनमित्येवंविधया मर्यादया परिपाट्या यथासमाम्नात आख्यातेभ्यो निर्वक्तव्य इति।
१	तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते- पूर्वाचार्याः।	तमिमं च निघण्टव इत्याचक्षते अन्येऽपि- आचार्या इति वाक्यशेषः।
१	**'निगमा इमे भवन्ति'** -नियमेन मन्त्रार्थस्य गमयितार इत्यर्थः।	**'निगमा इमे भवन्ति'**-निश्चयेनाधिकं वा निष्कृष्य निगूढार्था एते परिज्ञाताः सन्तो मन्त्रार्थान् गमयन्ति ज्ञापयन्ति ततो निगमसंज्ञा (निघण्टव) इमे भवन्ति।
१	ते निगमनान्निगन्तवो भवन्ति। ततश्चैवं निगमनान्निगन्तव एव सन्तो निघण्टव उच्यन्ते। वर्णव्यापत्त्या पृषोदरादित्वाद्धि गकार स्थाने घकारः तकारस्थाने टकारः।	अर्थनिगमयितृत्वान्निगन्तव एते सम्पन्नाः सन्तोऽतिपरोक्षवृत्तिना शब्देन गकारस्थाने घकारं कृत्वा तकारस्थाने टकारं कृत्वा त एते निगन्तवः सन्तो निघण्टव उच्यन्ते।
१	एवमौपमन्यव आचार्यो मन्यते।	एवमौपमन्यव आचार्यो मन्यत इति वाक्यशेषः।
१	स्तुत्यर्थं चाचार्यग्रहणम्।	कीर्तिप्रथनार्थमौपमन्यवग्रहणम्।
१	आङ्पूर्वो हन्तिः पाठार्थः।	प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः।
१	एतस्मान्निघण्टव एते स्युः न निगमनात्।	आहननादेव। न निगमनादित्यभिप्रायः।
१	निशब्दोऽत्र व्यत्ययेन (आ) इत्यस्य स्थाने।	समः स्थाने नीत्येष नियुक्तः।
१	दर्शयिष्यति भाष्यकार उपसर्गव्यत्ययम्- निर् इत्येष समित्येतस्य स्थान इति।	दर्शयिष्यति चायमुपसर्गव्यत्ययम्-निरित्येष समित्यस्य स्थाने।
१	घण्टुशब्दोऽपि घ्नन्ति, जघान, जिघांसति, इत्यादौ हन्तेर्हस्य घत्वापत्तिदर्शनाद् हन्तेः रूपम्।	वर्णव्यापत्त्यौघशब्दवद्धकारस्य स्थाने घकार-स्तकारस्य टकारः।
१	यस्मादर्थज्ञानार्थं छन्दोभ्यः समाहृता एते।	यस्माद्वैते समाहृता भवन्ति छन्दोभ्यस्तस्मात् समाहरणक्रियायोगात् समाहर्तव एते समाहृताः सन्तः पूर्ववदेवोपसर्गव्यत्ययादि- क्रमेण निघण्टव इत्युच्यन्ते।

१	अतः समाहरणान्निघण्टवः, नाहननात्।	एतस्मिन्नपि निगमनसमाहननक्रिये निघण्टुषु विद्यमाने अप्यविवक्षिते कृत्वा समाहरण-क्रियायोगहेतुको नामधेयप्रतिलम्भः उक्तः।
१	**अत्रेदं वक्तव्यम्**-सर्वत्रैकस्य शब्दस्य कथमनेकस्य निर्वचनस्य सम्भवः। किमर्थं वा तत्प्रदर्शनं निघण्टुशब्दस्य। **'तमिमं समाम्नायम्'** इति संज्ञात्वकथनं तन्निर्वचन- प्रदर्शनञ्च किमर्थमिति।	आह किमयं पुनरतिमहान्यत्न एकस्मिन्नभिधानेऽनेकधात्वर्थनिर्वचनकृत इति।
१	एवमेतानि निघण्टुशब्दस्य त्रीणि निर्वचनानि	एवमेव निघण्टुशब्दो गमेर्वैकोपसर्गाद्- हन्ति- हरतिभ्याम्वा द्व्युपसर्गाभ्यां निरुक्तः।
१	उच्यते- इह (केषुचिच्छब्देषु धातुरूपमविनष्टं तदभिधेया च क्रिया तदर्थेऽस्ति, यथा- पाचकादिषु। तेषु नैवानेकस्य निर्वचनस्य सम्भवः।.......) येषु तु धातोरक्षरमात्रं वर्णमात्रं वा (समानं विद्यते) यथा लक्ष्मीशब्दो लभते ....तेषु--- अक्षरवर्ण- सामान्यान्निर्वचनस्य कर्तव्यत्वात्तस्य चाक्षरस्य वर्णस्य सर्वेषु धातुषु सम्भवात् सर्वेषाञ्च तेषामभिधेयानां क्रियाणामर्थे सम्भवात्, अन्यतमावधारणे च कारणाभावात्, एकस्य शब्दस्य अनेकनिर्वचनस्य सम्भवः।	उच्यते इह तावत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानीति सिद्धान्तः। सत्याख्यातजत्वेऽभिधेयस्था या क्रिया लक्ष्यते तदभिधानसमर्थे परोक्षवृत्तौ तावदभिधायिनि रूढिशब्दे धातुरुत्प्रेक्ष्यते। स च पुनः स्वर-वर्ण- क्रियासामान्येन। तत्रैवं सति रूढिशब्दे यावन्तो धातवः स्वं स्वं लिङ्गं रूढिगतं दर्शयन्ति तावतः संगृह्य स रूढिशब्दो निर्वाच्यः। किं कारणम्? विशेष-व्यवस्थाभावात्। नहि तत्र विशेषलक्षण- व्यवस्था काचिदस्ति ययैकोऽवतिष्ठेतान्ये च व्यावर्तेरन्।
१	संज्ञा (निघण्टवः) च कथिता, तन्निर्वचनानि प्रदर्शितानि। इदानीं स्वरूपं कथ्यते तद्यान्येतानीति।	.......निघण्टुशब्दस्य व्युत्पत्तिरुक्ता न तु निघण्टुशब्दस्यार्थतत्त्वमवधारितम्। तदव- धार्यते- इति पर्युक्तस्तच्छब्दः।
१	यान्येतानि लोके चत्वारि पदजातानि पदजातयः पदसमूहा इत्यर्थः।	यान्येतानि चत्वारि पदजातानि या एताश्च-तस्रः पदजातयः। क्व। लोके वेदे च।
१	असमाम्नातानाञ्च नामाख्यातत्वप्रज्ञापनार्थमेतद्	तस्मादसमाम्नातार्थोऽयमादितो लक्षणोपदेशो युक्त इत्युपपन्नम्।
१	भावः क्रियाया तत्प्रधानमाख्यातम्। आख्याते हि क्रियाया प्रतीयते- कालः- पुरुषः-उपग्रहः-साधनं- संख्या। एषां क्रिया प्रधानभूता।	भावकालकारकसंख्याश्चत्वार एतेऽर्था आख्यातस्य। तेषां भावः प्रधानं भवति।
१	आख्याते हि पचतीत्यादावुच्चारिते क्रियाया प्रतीयते पाकादिः।	आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमानानेक- कारकप्रविभक्ता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भावः, स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम्।
१	नाम्नि हि क्रियाया प्रतीयते......... कारकशक्तिश्च..... च द्रव्यम्। तत्र द्रव्यं प्रधानभूतम्।	नाम्नोऽपि सत्ता द्रव्यं संख्या लिङ्गम् इत्येतेऽर्थाः। तेषां द्रव्यं प्रधानम्।

१	एषां क्रिया प्रधानभूता, गुणभूता इतरे तदर्थत्वात्।	भावः कर्म क्रिया धात्वर्थ इत्यनर्थान्तरम्। स यत्र प्रधानं गुणभूतानि साधनानि तदिदं भावप्रधानम्।
१	तत्र द्रव्यं प्रधानभूतं, गुणभूते इतरे क्रियाकारकशक्ती, तदुपलक्षणार्थत्वात्।	तद्येषु प्रधानं गुणभूता क्रिया नामान्येव तानि।
१	अथ यत्रोभे तत्र कथम्- वाक्यावस्थायां........ तत्र भावप्रधाने भवतः, भावस्य साध्यत्वात्। साध्यसाधनयोश्च साध्यस्य प्राधान्यात्।	अथ पुनर्यत्र ते उभे भवतः........ वाक्ये......... भावप्रधाने भवतः, तस्य चिकीर्षितत्वात्। वाक्ये हि आख्यातं प्रधानम्, तदर्थस्य भावनिष्पत्तावङ्गभूतत्वात्।
१	किं रूपं पुनर्भावं लोक आचष्टे।	अथ पुनः कथमभिनिर्वर्त्यमानो भाव आख्यातेनोच्यते। किम्वा तदाख्यातमिति।
१	उत्पाद्यते न व्यज्यत इति मन्यन्ते। फलोत्पत्त्या चासावनुमीयते उत्पन्नेति, न स्वयं प्रत्यक्षग्राह्या।	भावसिद्ध्यैव चानुमीयते क्रिया परोक्षापि सती
१	ये तु......... अधिश्रयणादयस्तेषां पौर्वापर्यात् स्वयमपूर्वं न परं च सन्तं पूर्वापरीभूतं साध्यसाधन- रूपं भावं लोक आख्यातेनाचष्टे व्रजति......... इति	अपूर्वमनपरञ्च सन्तमेकत्वात् पूर्वापरीभूतं पूर्वापरमिव पौर्वापर्येणावस्थितमेकमनेकासु क्रियास्वाश्रितं .... अभिनिर्वर्त्यमानमाचष्टे व्रजतीति।
१	सत्त्वभूतं सत्त्वं द्रव्यम्, भूतशब्दः पितृभूत इत्यादिवदुपमायां द्रष्टव्यः।	सत्त्वभूतं सत्त्वरूपिणम्।
१	**सत्त्वनामभिः**- सत्त्वं द्रव्यं लिङ्गसंख्यायुक्तं वस्तु... .....वैयाकरणैरप्येतदुक्तम्- कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवतीति।	लिङ्गसंख्यायुक्तैः सत्त्वनामभिः। तत्रोक्तो विशेषः। कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति।
१	गौरश्वः पुरुषो हस्तीति, गौरश्वः-इत्यादयश्च ये विशेषास्तेषां सर्वेषां सत्त्वानाम् (अदः) इत्ययमुपदेशः।	गौरश्वः पुरुषो हस्तीति सत्त्वानां विशेषोपदेश इति वाक्यशेषः।
१	सर्वेषां च सर्वनाम्नां प्रदर्शनार्थम् अदःशब्दस्योपादानम्। अन्यान्यपि हि.......... सर्वनामानि सर्वत्र वस्तुनि वर्तन्ते न क्वचिदेव।	सर्वेषामपि सत्त्वानामध्ययने प्राप्ते लिङ्ग- विशिष्टत्वादिदमेवैकमुदाहृतमुपप्रदर्शनार्थम्।
१	जायत उत्पद्यते निर्वर्त्तते- इत्यादीनां प्रदर्शनार्थं भवतीत्यस्योपादानं पूर्ववत्।	अत्र हि सर्वेषां सत्तावाचिनामध्ययने प्राप्ते भवतिरेवैक उदाहरणार्थः परिगृहीतः।
१	आस्ते शेत इत्यादयश्च विशेषाः पूर्ववदेव।	विशेषनिर्देशः कथमिति उच्यते **'आस्ते शते व्रजति तिष्ठतीति'**।
१	भवतीति सर्वस्य भावस्योपदेशः सर्वस्य भावस्य जायमानत्वात् जायमनानस्य च **'भवति'** इत्यनेनोपदेशात्।	विद्यमानतामेवानुभवन्तः सर्वे भवतिशब्दस्य वाच्या अन्याभिर्विशेषक्रियाभिरभिसम्बध्यन्ते। तस्माद्भवतीति सर्वक्रियाप्रसवबीजभूतमस्तित्वमात्रमेव निरुपपदेन भवतिशब्देनोच्यते-इत्युपपन्नं भवति सामान्य- वाचित्वम्।

१	तस्यार्थं केचिदेवं व्याचक्षते- इन्द्रियं वागिन्द्रियं, तत्र यन्नित्यं=नियतम्=अन्यत्र नास्ति, तदिन्द्रियनित्यम्। ..... यावद्वागिन्द्रियं तदुच्चारणे व्यापृतं तावदेवास्ति, न ततः प्रागूर्ध्वं (वा) इत्यर्थः .... वचनं शब्दः। एवमौदुम्बरायणो मन्यते इति वाक्यशेषः .... न कालान्तरमवतिष्ठते। अतः शब्दानां नास्ति यौगपद्यम्, युगपदवस्थितानेकार्थविषया चतुष्ट्वसंख्या परस्परापेक्षे नैकस्मिन्वस्तुनि द्वित्वादिसंख्यानां सर्वासां प्रवृत्तेः। अतश्चत्वारि पदजातानि इति यदुक्तं पदचतुष्टं तन्नोपपद्यते।	.... इन्द्रियम्। तस्मिन्नित्यम्+ इन्द्रियनित्यम्। ..... वचनं=वाक्यमित्यर्थः।......... औदुम्बरायण आचार्यो मन्यते-इति-वाक्यशेषः। .... वाक्यमपि समस्तमुद्भूतं तदिन्द्रिये नावतिष्ठते, यदवयभूतानि पदान्यवस्थितानि परिसंख्यातुम्। न च विनष्टाविनष्टयोः सह परिसंख्यानमस्ति। तस्माद्वचनानित्यत्वात्पदचतुष्ट्वानुपपत्तिरित्युपपन्नम्।
२	एतदुक्तं- वागिन्द्रियव्यापारादुच्चारणादनन्तरं शब्द उपलभ्यते भवति, न ततः प्रागूर्ध्वं च, तस्माज्जन्यः शब्द इति, अतस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्।	यावदेव वक्तुर्वागिन्द्रिये श्रोतुश्च श्रोत्रेन्द्रिये वचनं तावदेव तदस्तीति शक्यते वक्तुं प्रच्युतञ्च नास्ति।
२	अस्य प्रतिसमाधानार्थमुक्तं युगपदुत्पन्नाना- मित्यादि। वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ।	एवमाक्षिप्ते परिहारद्वारेणेदमवतार्यते युगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेश इति। अत्र समञ्जस एव वाशब्दः।
२	अतश्चतुष्ट्वसंख्योपपन्ना। ननु च प्रतिज्ञामात्रमिदं शब्दानां नित्यत्वे सत्येव कल्प्यते। तच्च नित्यत्वं साध्यम्। पूर्वपक्षे हीन्द्रियनित्यत्वेन तद्भावभावित्वमुक्तं कथं प्रतिज्ञामात्रेण व्यवोढुं शक्यम्।	तस्मादुपपद्यते पदचतुष्ट्वमिति। आह-आगमनमात्रमेतत्। हेतुरुच्यतां कथं विनष्टाविनष्टयोः सह परिसंख्यानमवस्थितयोर्वा गुणप्रधानभाव इति।
२	एवञ्च नित्यत्वे सति शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके........। व्यवहारार्थं व्यवहारप्रयोजनं लोके उपपन्नमिति वाक्यशेषः।	तस्मादणीयस्त्वादिति विशेषहेतूपपत्त्या शब्देनैव संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोक इत्युपपन्नम्।
२	तेषां शब्दानां यथा मनुष्येषु **'देवदत्त पयः पिब, वचः शृणु'** इत्यभिधानलक्षणो व्यवहारः, एवं वेदेऽपि **'इन्द्र आगच्छ, पिब सोमम्, शृणोत ग्रावाणः'** इति यज्ञाङ्गदेवग्रावादिविषयाणां नामादिशब्दानां व्यवहारोऽविशिष्टः।	यथैव हि मनुष्याः प्रयोजनेषु, नामाख्यातोपसर्गनिपातैर्यथार्थमभिदधत्येवमेव देवानपि। देवेष्वपि शब्दस्याभिधानशक्तिरपरिहीणेत्यभिप्रायः।
२	पुरुषाणां यजमानर्त्विजां विद्या ज्ञानम, तच्च प्रक्रान्त-कर्मविषयेतिकर्त्तव्यता स्मरणलक्षणम्। तस्याऽनित्यत्वात् प्रस्मरणस्यापि सम्भवादित्यर्थः।	पुरुषेषु मनुष्येषु विद्याया विज्ञानस्यानित्यत्वम्।
२	युगपदुत्पन्नानां वेति शब्दो विकल्पे। युगपदुत्पन्नानाम्वा, न युगपदुत्पन्नानां वा।	अत्र समञ्जस एव वाशब्दः। कथम्। अयुगपदुत्पन्नानां वा युगपदुत्पन्नानां वा नित्यानां वानित्यानां वेत्यर्थः।
२	'तु' शब्दः पक्षव्यावृत्तौ।	'तु' शब्दः पक्षव्यावृत्तौ।

२	**वचनम्**- उच्यतेऽनेनेति वचनं वाक्यम्।	**वचनम्**- उच्यतेऽनेनेति वचनं वाक्यमित्यर्थः
२	पाठादेव षट्त्वे सिद्धे षडिति संख्याऽवधारणार्था षडेवेति।	निर्देशत उपलब्धानां षडित्यवधारणं सुखार्थम्।
२	तथा चावधारणस्य फलं दर्शयिष्यति-अतोऽन्ये-	वक्ष्यामोऽतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति।
२	सर्वपूर्वो भावोऽस्तादिभ्यो व्यापारान्तरेभ्यो जन्माख्य आदिरुपक्रमो....... जायते शब्दः।	षण्णां भावविकाराणां यदि वान्यो यः पूर्वो भावविकारस्तस्य जायते-इत्यनेन शब्देनादिमाचष्टे।
२	पूर्वापरीभूतमाचष्टे जायते शब्दः।	जनिः पूर्वो भावः। किमादिमेव। नेत्युच्यते। उक्तम्- उपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तमिति।
२	जातावस्थां नाचष्टे....... स ह्यपरो भावोऽस्तेर्विषयः। जनेस्तदर्थत्वादपरिसमाप्तिप्रसङ्गादनन्तरभावि-त्वाद्यायुक्तः प्रतिषेध इति।	अपरभावः.....अस्तिशब्दवाच्यः। अस्तित्वात्मवानपि ह्यसौ जायते अस्तिशब्दवाच्यस्य भावविकारस्या- सम्पूर्णत्वात्। उपस्थित एव तस्यावधारण- कालः।
२	सतो विशेषसत्ताप्रतिलम्भो जन्म। तस्मात् सदेवोत्पद्यते।	तत्रैवं सति जनिशब्दवाच्ये भावविकारेऽस्ते-रप्यर्थोऽस्ति विद्यमानता। किं कारणम्? न ह्यविद्यमानो जायते।
२	उत्पन्नस्य जनिव्यापारेण प्रतिलब्धात्मलाभस्य जायमानावस्थां प्रत्यनन्तरभाविनः सत्त्वस्य द्रव्यस्य वस्तुनो घटाङ्कुरादेर्निर्लुठितस्य बुद्ध्यावग्रहोऽवधारणं **'अस्ति'** शब्द आचष्टे-इत्यनुषङ्गः सर्वत्र।	अस्तीति जातस्य सत्त्वस्यावधारणमात्रं ब्रवीति न विपरिणाममाचष्टेऽपूर्णत्वात्। न प्रतिषेधत्युपस्थितत्वात्।
२	विद्यमानमपि विनाशं स्वांशोपनिपातित्वाच्छब्दानां न प्रतिषेधति, स्वार्थोपरोध- प्रसङ्गादिति।	स च विनाशं ब्रुवन्न पूर्वभावमाचष्टेऽपक्षीयतेरर्थं विद्यमानमपि तस्मिन् विनाशे।
३	एभ्योऽन्ये भावभेदा एतेषामेव षण्णां भेदा इति ह स्माह वार्ष्यायणिरिति सम्बन्धः प्रकृतत्वात्।	अतो भावविकारषट्काद्येऽन्यत्वेन भावविकारा लक्ष्यन्ते न ते पृथगेवात्यन्तभिन्नाः सन्ति। किं तर्हि? एतेषामेव विकारा भवन्ति।
३	ये यस्य जन्यादेरर्थत्वेन योग्यास्त आभिमुख्येन तर्कयितव्याः।	त एते जन्यादिशब्दवाच्या विकारा यथावचनं यो यस्मिन् वचने यथावचनमवस्थिताः सन्तः प्रकरणोपपत्तिभ्यां मन्त्रार्थावधारणं प्रत्यभ्यूहितव्या वितर्क्याः प्रयुज्यमाना इति वाक्यशेषः।
३	वृद्धेरुपधीयते पुष्यत इत्यादयः।	तथा वर्धतिशब्दवाच्यो वर्धते पुष्यति उपचीयते आप्यायत इत्येवमादि।
३	एवं नामाख्यातलक्षणं सप्रपञ्चमभिधायावसर-प्राप्तानुपसर्गानर्थत स्वरूपतश्चोल्लक्षयितुमाह।	सानुषङ्गमुक्तं नामाख्यातयोर्लक्षणम्।....... प्रतिज्ञाप्रसक्तमेवाधुनोपसर्गलक्षणमुच्यते।

३	तुरवधारणे।	तुशब्दोऽवधारणार्थः।
३	नामाख्यातयोरेव कर्मणोऽर्थस्योपसंयुज्यत इत्युपसंयोगो विशेषः प्रकर्षादिस्तस्य शब्दगडुमात्रेण सन्निधानाद् द्योतका भवन्तीति।	नामाख्यातयोरेव योऽर्थः कर्म तत्रैव विशेषं कञ्चिदुपसंयुज्य द्योतयन्ति।
३	उपेत्य नामाख्यातयोरर्थस्य विशेषं सृजन्त्युत्पादयन्तीत्युपसर्गाः।	आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः।
३	उच्चावचा बहुप्रकाराः पदस्योपसर्गाख्यस्यार्था अभिधेयाः प्रकर्षादयः सन्ति।......... एवं गार्ग्यो नाम नैरुक्तविशेष आहेति वाक्यशेषः।	एषामुपसर्गपदानामर्थाः पदार्था भवन्ति वियुक्तानामपि नामाख्याताभ्यामिति गार्ग्य आचार्यो मन्यत इति वाक्यशेषः।
३	अपि च यत्र केवलादप्यर्थप्रतीतिर्दृश्यते, तत्र केवलस्यापि प्रयोगः।	एकैकोऽप्येषां प्रादीनां नामाख्यातवियोगेऽप्यनेकार्थ इत्यभिप्रायः। उच्चाश्चावचाश्च उच्चावचा बहुप्रकारा इत्यर्थः।
३	तस्माद्य एषु पदेषूपसर्गेषु नामाख्यातेषु वा प्रयुज्यमानेषु पदार्थः प्रकर्षादिरर्थः प्रतीयते, प्राहुरिमे-उपसर्गास्तमीदृशं नामाख्यातयोरर्थस्य विशेषणम्.......... विकारकमित्यर्थः।	य एषूपसर्गेषु स्वोऽनेकप्रकारोऽर्थ इति प्राहुरेव तमिमे उपसर्गाः पदविशेषाः पृथगपि सन्त कः पुनरसावित्युच्यते-नामाख्यातयोरर्थविकरणम-र्थविक्रियामित्यर्थः।
३	प्रदर्शनं चेदम् कर्मप्रवचनीयत्वे हि सति....... मर्यादादिष्वपि दर्शनात्। निपातत्वे च समुच्चयादिष्वपि।	अनेकार्थत्वेऽपि सत्युपसर्गाणामेकैकोऽर्थ उदाहरणत्वेनोच्यतेऽर्थवत्त्वप्रकाशनार्थम्।
३	प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। एतस्यैव सन्निकर्षलक्षणस्यार्वागर्थस्य प्रातिलोम्यं विप्रकर्षमाहतुः।	प्रपरा- इत्येतावुपसर्गौ एतस्यैवङेऽर्थस्य प्रातिलोम्यमाहतुः।
३	प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। एतस्याभिमुख्यस्य वैपरीत्यम्।	प्रतीत्येतस्य एवाभेः **'प्रातिलोम्यम्'** आह- प्रतिगत इति।
३	अपरभावः पश्चाद्भावस्तमाह। अनुरूपमस्येदमिति सादृश्यम्। अनुगच्छतीत्यपरभातः।	अनुरूपमस्येदमिति सादृश्यम्। अनुगच्छतीत्यपरभावः।
३	अधीत्युपरिभावम्। अधितिष्ठति। अध्यास्ते।	अधीत्युपरिभावमाह, ऐश्वर्यं वाधितिष्ठति, अधिपतिरिति।
४	त उच्चावचेष्वनेकप्रकारेषु प्रतिपाद्येष्वर्थेषु प्रतिपादकत्वेन निपतन्ति वर्तन्ते इत्यर्थः।	उच्चावचेष्वनेकप्रकारेष्वर्थेषु निपतन्ति- इति निपाताः।
४	तेषाम्-इव, न, चित्, नु, इत्येते चत्वार उपमार्थे भवन्ति।	तेषां सर्वेषां मध्य ऐत एव चत्वार इवनचिन्नवः प्रायोवृत्त्योपमार्थे भवन्ति।
४	उभयत्रोदाहरणे। लोके-अग्निरिव दीप्तः, इन्द्र इव विक्रान्त इति।	भाषायां प्रसिद्धमेवेति कृत्वा नोदाहरणं पठति अथवैते एव। अग्निरिव तीक्ष्णः, इन्द्र इव विक्रान्तः।

४	ध्रुवस्यार्षम्। राजाभिषिक्त उच्यते। इहैव राज्ये एधि भव।	अनया चानुष्टुभा ध्रुव आङ्गिरसो राजानमभिषिषेच। इहैव राष्ट्रे त्वमेधि भव।
४	कर्मशब्दोऽत्र निरुक्ते सर्वत्रार्थपर्याय:।	कर्मशब्दो हि प्रायेणार्थपर्यायवचनोऽस्मि- ञ्शास्त्रे।
४	जरन्ते स्तुवन्ति। कम्? सामर्थ्याद्दातारं यजमानं दातारमिन्द्रं वा।	तमेव यजमानं जरन्ते स्तुवन्ति।
४	योऽग्नि: कव्यवाहन:, कव्यं पितृदेवत्यं हविस्तस्य वोढा, पितॄन् यक्षत् यजतु।	योऽग्नि: कव्यस्य वोढा यस्यायमधिकार: कव्यानि वोढव्यानीति स इहास्माकं पितृयज्ञे होतृत्वेन व्यवस्थित: पितॄनाहूय यक्षत्पूजयत्वित्यर्थ:।
४	निदधानीह वेह वा। एकेनेहशब्देनान्तरिक्षं प्रतिनिर्दिश्यतेऽन्येन द्यौ:। हस्तौ वा सव्यो दक्षिणश्च स्कन्धौ वा।	अहमिमां पृथिवीमिह वान्तरिक्षे, इह वा द्युलोके, अथवेह दक्षिणे स्कन्धे इह वा सव्ये निदधानि।
५	अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ, विनिग्रहो नियम:, नियमार्थीयौ, एवं समानार्थीयौ पूर्वेण संप्रयुज्येते।	अह इति च ह द्वावप्येतौ विनिग्रहार्थीयौ, तयो: पुनरेतयोरेतत्प्रयोगस्वाभाव्यम्। द्वयोरर्थयोरेक- काले प्रकृतयो: पूर्ववाक्यगतेनार्थेन संयुक्तौ प्रयुज्येते।
५	अथाप्युकार एतस्मिन्नेव विनिग्रहार्थे उत्तरेण संप्रयुज्यते।	अथाप्युकार एतस्मिन्नेव विनिग्रहार्थे भवति। स पुनरुत्तरेण द्वितीयवाक्यगतेनार्थेन संयुक्त: प्रयुज्यते।
५	एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं व्यत्ययेन वा।	एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनम्।
५	कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्। असूया-अक्षमा अमर्ष:। देवदत्त: सभायां प्रश्नान् व्याकरिष्यतीत्युक्त अक्षममाण: कश्चिदाह-कथं हि व्याकरिष्यत्यकृतविद्य इति।	कथं व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्। **'कथमयं व्याकरिष्यति'** इति अकृतप्रयत्नोऽयमित्यभिप्राय:। अमर्षादसाक्षाच्छब्दपूर्वकोऽभिप्राय: परिवादोऽसूये- त्युच्यते परगुणानभ्यनुज्ञेत्यर्थ:।
५	किलेति विद्याप्रकर्षे। विद्या ज्ञानम्। तस्य प्रकर्षो नामातिशय:। किं तर्हि विद्याप्रकर्ष:? अन्यस्थत्वमन्यैरेतदुपलब्धं मया तेभ्य: श्रुतं न स्वयमुपलब्धमित्ययमर्थो विद्याप्रकर्ष:।	किलेति विद्याप्रकर्षे विज्ञानातिशये इत्यर्थ:। अन्यत उपश्रुत्यातिशयेनावधार्यान्यस्मा आचष्टे कश्चित्।
५	खल्वित्ययं च निपात: प्रतिषेधे।.........खलु कृत्वा खलु कृतम्- इत्युदाहरणे। अकृत्वा, अकृतमित्यर्थ:।	अयं प्रतिषेधार्थीय एव। **'खल्विति च'** तद्यथा एवं **'खलु कृत्वा'**। अकृत्वेत्यर्थ:।
५	वेदे तु शश्वदिति बहुनाम पठितम्। नित्यत्वे च प्रयुज्यमानं दृश्यते।	छन्दसि पुन: (शश्वद्) अन्येष्वर्थेषु भवति।
५	विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते, धर्मे न विचिकित्सा कार्या,........न सन्देहो विचिकित्सोच्यते। किं तर्हि? निश्चय:।	**विचिकित्सा नाम**- विवेकपूर्वकोऽवधारणाभि-प्राय:।
५	यस्यामृचि विचिकित्सार्थीयस्तामुदाहरिष्यन्न- र्थाभिव्यक्त्यर्थमस्या: पूर्वं तावदितिहासमाचष्टे	उदाहरणमत्र निर्विविक्षुर्निदानमेवाह। **'अगस्त्य इन्द्राय'** इत्यादि।

	'अगस्त्य इन्द्राय' इत्यादि।	
५	सम्प्रदित्सांचकार। सम्प्रदित्सा सम्यक्प्रदातुमिच्छा, तया तत्पूर्वकत्वात्सम्प्रदानं लक्ष्यते, मरुद्भ्यः संप्रददावित्यर्थः।	सम्प्रदित्सांचकार सम्प्रदातुमैच्छदित्यर्थः।
६	द्योतते इत्येवं सतः कर्तृकारकेण युक्तस्य सतः कर्तृकारके, न कारकान्तर इत्यर्थः।	द्योतते तदिति द्युरिति कर्तृकारकम्। सदिति यत्र ब्रूयात्तत्र तत्रोच्चारित एव कारकनियमो द्रष्टव्यः।
६	**मा चातिधक्**....... माऽस्मानतिहाय- अन्येभ्यो दाः, प्रथमस्मभ्यं देहि पश्चादन्येभ्य इत्यर्थः।	**मातिधक्**- माऽस्मानतिहायातीत्यान्येभ्यो देहीति मा दा इत्यर्थः। अस्मभ्यन्तावद्देहि ततोऽन्येभ्योऽपि दास्यसि चेत्यभिप्रायः।
७	सुवीराः सुपुत्राश्च स्यामेति वाक्यशेषः। यदि पुत्रा न सन्ति, ततः शोभनत्वविशिष्टानां तेषामपीयं प्रार्थना। अथ यदि सन्ति ततः शोभनमात्रस्य।	किञ्च युष्मदनुग्रहाद्य सुवीरा वीरवन्तो भवेम पुत्रवन्तो यद्यपुत्राः। एवमयं मत्वर्थीय सुः। अथ पुनः पुत्रवन्त एव ततः कल्याणवीरा इति समस्तार्थः।
७	का व्यृद्धिः ? कर्मणः परार्थत्वात् ऋत्विजां तत्रावृत्तिः, तां दक्षिणा व्यावर्तयति, तत्तृष्णया तेषां तत्र प्रवृत्तेः।	यज्ञे हि यत्किञ्चिद्विगतर्द्धिकं भवति तदियं समर्धयति विशिष्टं हि यज्ञस्य साधनमेतदिति।
७	अपि वा दानकाले दक्षिणस्यां वेदिश्रोण्यामग्रेण गार्हपत्यं जघनेन सदो दक्षिणा आनीयन्ते। ततः प्रदक्षिणागमनाद् दिशं दक्षिणामभिप्रेत्य तत्सम्बन्धाद्दक्षिणेति।	सा हि दक्षिणस्यां वेदिश्रोणावग्रेण गार्हपत्यं जघनेन सदो दक्षिणेनाग्नीध्रं गत्वान्तर्वेदि स्थित्वान्तरेण चात्वालमाग्नीध्रं चोत्सृज्यमाना गच्छति।
७	प्रजापतेर्हि प्रजाः सृष्ट्वा प्राङ्मुखस्य दक्षिणो हस्तो यतो बभूव सा दक्षिणहस्तसम्बधाद् दक्षिणा।	प्राङ्मुखस्य प्रजापतेर्यतो दक्षिणो हस्तो बभूव, सा दक्षिणा दिगभवत्।
७	स हि उत्साहवत्तरः सव्यात्।	स ह्युत्साहवान्भवति कर्मसु न तथा सव्यः।
७	स हि प्राशुः क्षिप्रो हननेऽन्यस्मादङ्गात्।	तेन हि हन्यते।....... अन्येनापि केनचिदङ्गेन हन्यत एव....... ।अयमेव तु प्राशुः शीघ्रः।
८	ऋचां पोषं पुपुष्वान्कुर्वन्, ऋचो यथाविधि कर्मणि प्रयुञ्जानः इत्यर्थः।	ऋचां पोषं पुष्टिं पुपुष्वान् पुनः पुनः भृशं वा देवता याथात्म्यानुचिन्तनसन्तानगर्भस्थान-करणानुप्रदानवतीर्यथाकालमृचोऽधीयान आस्ते।
८	**'अर्धनामेत्येके'** तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः **'त्वो नेम इत्यर्द्धस्य'** इत्यत्र मन्त्रे युक्तविनिग्रहार्थीयः।	**'अर्धनामेत्येके'**। अर्धस्यैतन्नामेत्येवमेक आचार्या मन्यन्ते। वक्ष्यति चायमपि **'त्वनेम इत्यर्धस्य'** इति।
८	तत्कथमनुदात्तप्रकृति, अनुदात्तस्वभावकं नाम स्यात्।	तदेतच्छब्दरूपमनुदात्तमनुदात्तस्वभावं सत्कथं नाम स्यात्।
८	तदयुक्तम् **'नेमत्वसमसिमेत्येतान्यनुदात्तानि'** इत्यपवादस्मृतेः।	स एषोऽपवादः **'त्वत्त्वनेमसमसिमेत्यनुदत्तानि'** इति।
८	तत्तु निपातत्वेऽपि तुल्यम्, निपातानां ह्याद्युदात्तत्व-मौत्सर्गिकं स्मरन्ति- **'निपाता आद्युदात्ताः'** इति।	निपातत्वेऽपि कल्प्यमानेऽस्य स्वरसामञ्जस्यं न भवत्येव निपाता अप्याद्युदात्ता भवन्ति।

९	तद्ध्युज्ज्वलत्वाद्-व्यक्ततरमन्येभ्योऽङ्गेभ्य इति।	एते अक्षिणी इतरेभ्योऽङ्गेभ्यः व्यक्ततरे स्पष्टतरे प्रकाशतरे भवतः।
९	आस्यमस्यतेः क्षेपणार्थस्य, क्षिप्यते हि तत्रान्नं क्षिपति वा वर्णान्।	**'आस्यमस्यतेः'** क्षेपार्थस्य। क्षिप्यते ह्येतदाभिमुख्येनान्नम्।
९	आस्यन्दते स्रवतिं द्रवीभवति शुष्कमपि एतदन्नं प्राप्येति वाक्यशेषः। अन्तर्हितण्यर्थो वा स्यन्दिः, आस्यन्दयति द्रावयत्येतदन्नमित्यर्थः। शुष्कमप्यन्नमास्यं द्रावयति।	स्यन्दतेर्वा स्यादाङ्पूर्वस्यैव स्रवणार्थस्य। शुष्केऽपि ह्येतदन्ने आगते स्रवत्येव श्लेष्माणं येन तदार्द्रीभूतं ग्रसितुं शक्यते।
९	एवमुक्ताः कर्मोपसंग्रहार्थीयाः, प्रसङ्गेन च निपातान्तराणि, यथाप्रतिज्ञातमिदानीं पदपूरणा उच्यन्ते।	व्याख्याताः कर्मोपसंग्रहार्थीयाः। तत्प्रसङ्गेन **'हि'** इत्येनमादयोऽन्यार्था अप्युक्ताः। प्रतिज्ञाप्रसक्तानेवाधुना पदपूरणान् वक्ष्यामः।
९	ननु **'च'** इत्येतस्य पुरस्तादेवोक्तं पदपूरणत्वम्-अथापि पदपूरणे इदमु, तदु, इत्यत्र? सत्यमुक्तं तत्र प्रासङ्गिकम्। इह तु पदपूरणे मध्येऽसति वचने निपातोदाहरणविषयं विज्ञायेत। तत्तर्ह्यनर्थकम्, विनिग्रहार्थीयत्वस्य च तुल्यकक्ष्यप्रतिपादनार्थत्वाद्-सति हि तस्मिन् वचने-इदं पदपूरणत्ववचनं विनिग्रर्थीयत्वस्यापवादो विज्ञायते।	उकारो न निर्देष्टव्यः। ....स हि पुरस्तान्निर्दिष्ट एव, अथापि पदपूरण-'इदमु-तदु'-इति। उच्यते, सत्यं निर्दिष्टः। प्रासङ्गिकस्तु स तस्य निर्देशः। अयमेवात्रोकारस्य पदपूरणत्वे मुख्यो निर्देशः स्वप्रकरणत्वात्। आह- तत्र तर्ह्यकिञ्चित्कर इति। उच्यते, नाकिञ्चित्करः .... यदि ह्ययमुकारस्तत्र पदपूरणत्वेन नोच्येतेहैवोच्येत ततः पूर्वोक्तस्य विनिग्रहार्थीयत्व स्यायमपवाद इति गम्येत।
१०	त्वक्त्राणकरणत्वात् त्वक्त्रं वासः, तद्रहिता निष्टक्त्रा दरिद्राः।	निष्टक्त्रा एव निष्टक्त्रासः। निर्वसना इत्यर्थः।
१०	हिंस्यते हि तत्र दिवोष्णेन हेमन्तजं यवादिसस्यं दावाग्निना तृणौषध्यादि।	हिनस्ति हि तस्मिन् कालेऽप्रतिबध्यमानोऽ-तिशयेन दावाग्निः शुष्कानोषधिवनस्पतीन्।
१०	शुनः शेपो यूपे बद्ध इन्द्रमाह।	शुनःशेपो यूपे नियुक्त आत्मानं मोचयितुमिच्छन्ननया गायत्र्येन्द्रं तुष्टाव।
१०	घादयोऽपि दृश्यन्ते-**'आ घा ता गच्छान्'**।	अन्येऽपि चानर्थकाः सन्ति, तद्यथा **'आ घा ता गच्छानुत्तरा'**।
११	नारदेन किल विप्रलभ्यमाना असुरस्त्रिय आहुः।	नारदेन किल विप्रलभ्यमाना असुरपत्न्यो भर्तॄन् प्रति तमनेन मन्त्रेण प्रत्यूचुः।
१२	एवं शकटायनो वैयाकरणविशेषो मन्यत इति वाक्यशेषः। अयमेव च नैरुक्तानां समयः सिद्धान्तः।	एवं शाकटायन आचार्यो ब्रवीति-इति वाक्यशेषः। नैरुक्तानां चैषः समयः सिद्धान्तः सर्वेषामविशेषेण।
१२	**संविज्ञातानि**-आख्यातजत्वेनैषां नास्ति विप्रतिपत्तिरित्यर्थः।	समं विज्ञातान्यैकमत्येन विज्ञातानीत्यर्थः। तेषु तावदविप्रतिपत्तिरेवास्माकमाख्यातजानि तानीति।
१२	तत्रैवं सति स्थूणा दरे शेते व्यवतिष्ठत- इति दरशया वा।	तत्रैवं सति स्थूणैकैव सती दरे शेते इति दरशया-इत्युच्यते।

१२	पुरुषमात्मानं पूः शरीरं तस्मिन् परिभोक्तृत्वेन शयानं पुरिशय इत्याचक्षीरन्।	पुरि ह्यसौ शेते इति पुरिशयः प्राप्नोति।
१३	पदेभ्य......... पदावयवभूतेभ्यो धातुभ्यः।	पदेभ्य आख्यातपदेभ्यः।
१३	तदप्ययुक्तं को ह्येनामप्रथयिष्यत्, प्रथयन् वा किमाधार आसीत, सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्यैतदाधारत्वात्।	अथापि कश्चिदस्या अपृथिव्याः सत्याः प्रथनकर्ताभ्युपगम्येत ततोऽपि च वयमिदमपरं पृच्छेम किमाधरश्चेति। चशब्दः समुच्चयार्थः। सर्वस्य प्राणिजातस्येयमेवाधारः प्रतिष्ठा।
१४	यथा तक्षा इति शिल्प्येवोच्यते, न तक्ष्णुवन्नप्यन्यः।	तक्षन् कश्चित् तक्षेत्युच्यते। अन्यस्तक्षन्नपि न तक्षेत्युच्यते।
१४	इहैकः प्रयोजकस्य प्रथयितुर्व्यापारः, अपरः प्रयोज्यस्य प्रथितुः प्रथनम्, न तयोः प्रथनात् पृथिवीत्युच्यते। किं तर्हि ? प्रत्यक्षेण चेयं पृथुः दृश्यते।	न वयमेवं ब्रूमः प्रथितेयं केनचिदतः पृथिवीयमिति। आह- कथमियमप्रथिता सती पृथिवीत्वमापेति ? ..... यद्यप्यप्रथिता कैश्चिदन्यैस्तथापीयं पृथुदर्शनक्रिया-योगात् पृथिव्येव।
१४	व्रततिः वरणाद्व्रततिः स तु वल्ल्यां प्रसिद्धः। दमनाद्दमूना इत्यग्निरतिथिर्वा।	व्रततिर्व्रीणातेः। वल्ली। दमूना दममना वेत्येवमादि अग्निरतिथिर्वा।
१४	सैषा पुरुषस्य शाकटायनस्य गर्हा न नाम्नामाख्यातजत्वस्य	एष पुरुषदोषो न शास्त्रदोषो यदनुगमयितुं धातुशब्दैरर्थो न शक्यते।............
I	एवमन्वित एवार्थे संचस्कार शाकटायनः।	अनुगत एवार्थे- संचस्कार शाकटायनः।
१४	प्रसक्तस्य बिल्वशब्दस्य निर्वचनम्। बिल्वं हि बिभर्ति दुर्भिक्षादौ भक्ष्यमाणम्, भिद्यते हि भक्षार्थिभिः।	बिभर्ति वा दुर्भिक्षादौ भक्ष्यमाणं जनम्। भेदनाद्वा। भिद्यते हि तदवश्यं भक्षणायेति।
१४	अथापीदमन्तरेणेत्यादिना शास्त्रारम्भस्य प्रयोजनानि पञ्चोच्यन्ते।	अथशब्दोऽधिकारार्थे द्वितीयं शास्त्रारम्भ-प्रयोजनमधिकरोतीति।
१५	अपि चेदमन्तमरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययोऽर्थावगमो न विद्यते-इति।	अपीदं शास्त्रमन्तरेण पदार्थे प्रत्ययो नास्ति।
१५	स्वरसंस्कारोपदेशस्यार्थाविशेषाधीनत्वात् ताभ्यामेव हि स्वरसंस्काराभ्यां युक्तः शब्दः क्वचिदर्थे साधुः क्वचिदसाधुः।	अर्थवशेन हि स्वरसंस्काराववतिष्ठेते।
१५	तदिदं निरुक्ताख्यं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं करोतीति वाक्यशेषः।	व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं कृत्स्नभावं करोतीति वाक्यशेषः।
१५	मन्त्राणां यदानर्थक्यं तदेतेनोपेक्षितव्यम्, एतेन नैरुक्तेनोपगम्येक्षितव्यम्. किं साध्वसाध्विति।	'तत्' एतदेवमुच्यमानं कौत्सेनानेन नैरुक्तेन उपेक्षितव्यम्। उपगम्य वेदं शास्त्रं चेक्षितव्यं किमसौ सत्यमाचष्टे वृथेति वा परीक्ष्यम्।
१५	यथा-**'ओषधे त्रायस्वैनम्'** इति न ह्योषधिस्त्रातुं समर्था।	तद्यथा-**'ओषधे त्रायस्वैनम्'** इत्याह। न चौषधिरात्मानमपि त्रातुं समर्था किमुत वृक्षम्।
१५	अपि च- अग्नये समिध्यमानायानुवक्तव्यमिति	**'अथापि अयमपरो'** हेतुर्मन्त्राणामानर्थक्ये। कतम

	जानन्तमेव होतारमध्वर्युः संप्रेष्यति।	इति उच्यते। **'जानन्तं संप्रेष्यति'** इति। अध्वर्युर्होतारम्।
१५	कथं ह्येकादितिर्द्यौश्चान्तरिक्षं च माता च पिता पुत्रश्च स्यात्।	कथं यैव द्यौः सान्तरिक्षं यैव माता स एव पुत्रः स एव च पितेत्येवमादि।
१६	य एव लोके शब्दास्त एव मन्त्रेषु। ते यथैव लोके पदार्थान् प्रत्याययन्ति तथैव मन्त्रेष्वपि।	समान एव हि शब्दो लोके मन्त्रेषु च।
१६	यदुक्तं- वाचोयुक्तेर्नियमान्नियतानुपूर्वीकत्वा-द्यानर्थका मन्त्राः इति। तन्न, लोकेऽपि तयोर्दर्शनात्।	यत्पुनरेतदुक्तं **'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति'** अत्र ब्रूमः। **'लौकिकेष्वपि'** नियतवाचोयुक्तित्वं नियतानुपूर्व्यत्वं च दृष्टमेव।
१६	न हि कस्यचित् सपत्ना मित्राणि वा न सन्ति।	न हि कश्चिदसपत्नोऽस्ति लोके। उक्तं च।
१६	'मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः।। इति।	'मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः।।' इति।
१६	यथा लोके- त्वमेव मन्माता त्वमेव पिता त्वमेव च भ्रातेति।......... इति व्यपदेशस्तद्वत्।	यथा कश्चिद् ब्रूयात्कंचिदनेकोपकारे प्रवृत्तं **'त्वमेव मे माता त्वं पिता'** एवमेतदपि द्रष्टव्यम्।
१६	एवन्नाम्यगादीनामर्थस्य ज्ञेयस्यायमपराधः, यदेनं भवान्न जानाति, ज्ञातुर्भवतोऽयमपराधः	एवमिहापि नैष मन्त्राणामपराधो यदशिक्षितेन भवता न विज्ञायन्ते। भवत एवापराधोऽस्ति।
१७	अथापि- इत्यादि प्रयोजनानन्तरं वचनम्।	अथेदमपरमारम्भप्रयोजनमित्येवं विशेषाधि-कारार्थोऽयमथशब्दः।
१७	अपि चेदमन्तरेण पदविभागः-पदविभागेनात्र ज्ञानं लक्ष्यते, इदं निरवग्रहमिदं सावग्रहमिति......तस्य ज्ञानं न विद्यते तस्यार्थज्ञानाधीनत्वात्।	किं पुनस्तद्वक्ष्यमाणमिति। उच्यते। पदविभागः। एवं पदानि वक्तव्यानीत्येतत्पद- विभागपरिज्ञानं नास्तीत्यर्थः किं कारणम्। अर्थवशेन पदान्यवतिष्ठन्ते।
१७	नैर्ऋतस्य कपोतस्यार्षम्। कपोतनिलयनो होमोऽनया क्रियते।	प्रचेता नामाङ्गिरसः। तेनेयं कपोतसूक्ते दृष्टा। कपोतनिलयनशान्त्यै कपोतपदनिर्हरण एतत्सूक्तम्।
१७	प्रचेतस आर्षम्। दुःस्वप्नदर्शने विनियुक्ता ऋक्। मन इति विज्ञानमुच्यते बुद्ध्यादि तस्य पतिर्मनसस्पतिरात्मा, इह पुनर्मृत्युर्व्याधिर्वा मनसस्पतिः, उभावपि स्वकृतकर्मापेक्षया प्राणिनां बुद्ध्यादिविज्ञानोपसंहारस्येशाते, तयोरन्यतरः संबोध्यते।	प्रचेता आङ्गिरस एतामनुष्टुभमपश्यत्। दुःस्वप्नदर्शने विनियुक्ता। मन इति हि विज्ञानमुच्यते बुद्ध्यादि। तस्य पतिर्मनसस्पतिरात्मा। इह पुनर्मृत्युर्व्याधिर्वा मनसस्पतिः। उभावपि स्वकृतकर्मापेक्षया प्राणिनां बुद्ध्यादिविज्ञानोपसंहारस्येशाते। तयोरन्यतरः संबोध्यते।
१७	**'परः सन्निकर्षः संहिता'**- परः प्रकृष्टो यः सन्निकर्षः संश्लेषः परस्परेण स्वराणां स्वरारूढानां व्यञ्जनानां सा संहितेत्युच्यते न वस्त्वन्तरम्। पदानि प्रकृतिरस्याः	**'परः संनिकर्षः संहिता'** इति। परः प्रकृष्टो यः सन्निकर्षः संश्लेषः परस्परेण स्वराणां स्वराधि रूढानां व्यञ्जनानां सा संहितेत्युच्यते। .... पदानि

	सेयं पदप्रकृतिः।	प्रकृतिरस्याः सेयं पदप्रकृतिरिति।
१७	अथापीति प्रयोजनान्तरकथनम्।	अथेदमपरमारम्भप्रयोजनमस्य शास्त्रस्येत्येवं विशेषाधिकारार्थोऽयमथशब्दः।
१७	'अथापि' इति प्रयोजनान्तरवचनम्।	'अथापि' इदमपरमारम्भप्रयोजनमस्य।
१७	पूर्वाचार्यस्मृतश्लोकयोः .... वेदार्थज्ञानस्य प्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च।	शिष्टानुगमस्मृतौ ज्ञानं प्रशस्यतेऽज्ञानं च निन्द्यते।
१८	'स्थाणुः' इति छिन्नशाखं वृक्षमूलमुच्यते। ...... यथा स्थाणुः केनचिदारोपितस्य धारयितैव केवलं भवति, न तज्जेनोपकारेण युज्यते।	स्थाणुर्वृक्षः। स यथा पत्रपुष्पफलाना- मात्मीयानां धारणमात्रेणैव सम्बध्यते, न तज्जैः- गन्धरसरूपस्पर्शोपभोगसुखैः।...... वेदस्याध्ययन- भारमात्रमेव ह्यसौ बिभर्ति। ..... अथवा स्थाणुर्गर्दभः स यथा चन्दनभारं वहत्येव न तदुपभोगेनाभि-सम्बध्यते।
१८	यस्तावच्छब्दस्यार्थः स तस्माद् गम्यते। यो हिरण्यादिः सोऽप्यनादिना व्यवहारेणान्यस्मात् पुरुषादन्यं गच्छति।	अर्यते ह्यसावर्थिभिः।
१८	अरणं गमनं, शब्दस्य तावदुच्चरितस्य तिरोधानं तस्मिन्नर्थस्तिष्ठति, न शब्देन सह तिरोधीयते। इतरत्रापि गमनम्-अरणं स्वामिनस्तस्मिन् हिरण्यादिरर्थस्तिष्ठति, न स्वामिना सह गच्छतीति।	यदा ह्यस्य स्वाम्यरति गच्छतीतो लोकादमुं लोकं तदायमिहैव तिष्ठति। नानेनैव सहामुं लोकं गच्छति दीनारादिरर्थः। तत्सामान्यादितरोऽपि शब्दार्थोऽर्थ उच्यते।
२०	वाजिनेषु वागिनेषु, वागिना ईश्वरी येषां वाचो ये आयत्तार्था वाचा ये ज्ञेया इत्यर्थः, ते वाजिनस्तेषु	वाजिनेषु वाग्ज्ञेयष्वर्थेषु बलवत्स्वपि दुर्ज्ञेयेषु......।
२०	धर्मस्यातीन्द्रियत्वात् साक्षात् करणस्यासम्भवाद् धर्मशब्देनात्र तदर्थे मन्त्रब्राह्मणमुच्यते।	........कर्मणः साक्षात् फलविपरिणामदर्शन- मौपचारिक्या वृत्त्योक्तं साक्षात्कृतधर्माण इति। नहि धर्मस्य दर्शनमस्ति। अत्यन्तापूर्वो हि धर्मः।
२०	अध्ययनमात्रादप्यवश्यकर्तव्यत्वादध्ययनस्य कियतोऽपि फलस्यावश्यंभावात्, नासौ परिश्रमो व्यर्थ एवेति भाष्यकाराभिप्रायः।	अस्ति हि- अध्ययनमात्रेऽपि किंचिदल्पं फलम्, नासौ परिश्रमो व्यर्थ एवेति भाष्यकाराभिप्रायः।
२०	साक्षात्कृतो धर्मो यैस्ते साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः। साक्षाद्धर्मवचनोपदेशनिरपेक्षं कृतः प्रतिपन्नो धर्मो यैस्ते साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः।	साक्षात्कृतो यैर्धर्मः साक्षाद् दृष्टः प्रतिविशिष्टेन तपसा त इमे साक्षात्कृतधर्माणः......... ऋषयः।
२०	इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः, वेदं धर्मप्रतिपत्त्यर्थम्, वेदाङ्गानि चान्यान्यपि वेदार्थप्रतिपत्त्यर्थम्।	इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः किमेतमेव। नेत्युच्यते। वेदं च वेदाङ्गानि चेतराणि- इति।
२०	निरुक्तस्य त्रीणि प्रकरणानि, तस्य परेण।	अनेन प्रकरणत्रयविभागप्रपञ्चेनेदमवस्थितं

		निरुक्तशास्त्रमिति।
२०	इहेहेति द्विर्वचनं ब्रह्मणाध्यायान्ते दृष्टत्वात् तदनुकरणेनाध्यायान्तप्रतिपत्त्यर्थम्।	अध्यायपरिसमाप्तिलक्षणार्थः परितोषार्थो वा द्विरभ्यास इति।
अ २ १	नैघण्टुकानां नैगमानाञ्च व्याख्या प्रतिज्ञाता। **'नैघण्टुकानि नैगमानीहेह'** इति।	नैघण्टुकनैगमे प्रकरणे पुरस्कृते **'नैघण्टुकानि नैगमानीह'** इति।
१	अविनष्टरूपस्य वा विनष्टरूपस्य वा तस्मात् पदान्निष्कृष्याविनष्टरूपेण धातुना प्रातिपदिकेन वा यदर्थस्य वचनं तन्निर्वचनम्।	अपि हि तस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृतौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्।
१	विकारशब्देन क्रियाभिधीयते षष्ठे गुणशब्देन याभिहिता। यत्र शब्दः क्रियामभिधातुं शक्नोति सा च क्रियाभिधेये विद्यत इति।	प्रदेशाभिधायिना धातुरूपेणान्वितौ सम्बद्धावनुगतावभिधेयस्थे धातुरूपे स्याताम्।
१	अर्थे नियतोऽर्थनित्यः यस्तस्य शब्दस्य निर्वचन-निमित्तमवयवार्थो यश्च समुदायार्थ- स्तमजहदित्यर्थः।	उच्यते- तत्रैवं सत्यर्थनित्यो भूत्वार्थप्रधानः।
१	केनचिद्वृत्तिसामान्येन वर्तते तत्र शब्द इति वृत्तिरर्थ उच्यते। एतदुक्तं भवति- शब्दस्य निर्वचननिमित्तार्थमवयवार्थभूता या क्रिया सा यत्र नास्ति शब्दार्थे, यत्र च शब्दार्थेऽस्ति, तयोरर्थयोर्यत्सामान्यं तेन तत्र प्रवृत्तिं प्रतीयात्।	ततस्तदभिधानं बुद्ध्वा केनचिदर्थवृत्ति-सामान्येन क्रियागुणसामान्येनेत्यर्थः। कतमस्य धातोरर्थसामान्यमिहास्तीति। ततस्तर्कयित्वा सामान्यं तेन निर्ब्रूयात्। अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात्।
१	सामान्यमत्र प्रकृतत्वादर्थसामान्यं गृह्यते, तस्मिन्नविद्यमाने। क्व पुनस्तन्नास्ति? यत्र स शब्दो नैव क्वचिदन्यत्रार्थे प्रसिद्धः। .... तत्र अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।	एवमविद्यमानेऽर्थसामान्ये स्वरवर्णसामान्य-मात्रेणापि निर्ब्रूयादेव।
१	वैयाकरणोक्तं संस्कारं नाद्रियेत, अक्षरवर्ण-सामान्यादेव निर्ब्रूयात्। अयञ्च संस्कारप्रतिषेधो यत्रैव व्याकरणोक्तः संस्कारो नार्थान्वितस्तत्रैव नान्यत्रेति।	नत्वेवं न निर्ब्रूयात्। इतरथा ह्यनर्थकमेव निरुक्तशास्त्रं स्यात्। तन्मा भूदित्यत उच्यते लक्षणपराङ्मुखेषु शब्देषु **'न संस्कारमाद्रियेत'**।
१	विशयः संशयः, स च किमयं स्थाणुः किं पुरुष इत्यनेकार्थविषयत्वात्, अनेकस्य चार्थस्यानेक-प्रकारत्वात्तद्गतेनानेकप्रकारत्वेन संबन्धः। अतः सम्बन्धात् विशयेनात्रानेकप्रकारत्वं लक्ष्यते। अनेकप्रकारा वृत्तयः शब्दानामर्थेषु भवन्ति।	यस्माद्विशेयवत्यो बहुसंशयवत्यः शब्दानामर्थेषु वृत्तयो भवन्ति। नानाभावेनार्थेष्ववस्थिता प्रवृत्तिरित्येवं स्यान्नैवं स्यादिति विचारयन्तः सन्तः प्रतिपक्षसम्मोहाच्छेरत इवास्मिन्निति विशयः संशय इति।
१	यथा च- **'अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैः'** इत्यत्र **'हृत्सु'** इति सप्तमी द्वितीयार्थे। तत्र यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् सन्नामो विपरिणामः। यथार्थं विभक्तिविपरिणामं कुर्यात्।	अतो विभक्तीरपि यथार्थमेव सन्नमयेद् विपरिणमयेत् पूर्वोत्तरपदप्रकरणाविरोधेन। .... दर्शयिष्यति चायमपि विभक्तिविपरिणामम्। तद्यथा। **'हृत्सु शोकैर्हृदयानि शोकैः'** इत्येवमादि।

१	प्रत्तमित्यत्र धातुः 'डुदाञ् दाने' इति। अवत्तमिति 'दो **अवखण्डने**' इति। एतयोरादिभूतो दकार एव शिष्यते, त आकारस्यान्त्यस्य लोपः, '**अच उपसर्गात्तः**' इत्यनेन निर्वर्त्तमानत्वात्।	'डुदाञ् दाने' तस्य प्रपूर्वस्य प्रत्तमिति। अत्र दकार आकारश्च धातुः। परो निष्ठाप्रत्ययस्तकारः। तत्रैवं सति '**दो दद्घोः**' इति वर्तमाने '**अच उपसर्गात्तः**' इत्याकारस्य तकारो भवति।
१	गुणवृद्ध्योर्निवृत्तिस्थानानि यानि, तानि निवृत्तिस्थानानीत्युच्यन्ते, ङित्स्वित्यर्थः। तेषु ङित्सु प्रत्ययेषु '**श्नसोरल्लोपः**' इति आदेरकारस्य लोपो भवति, स्तः, सन्तीति।	'**अस भुवि**'-इत्यस्य निवृत्तिस्थानेषु गुणवृद्धिनिवृत्तिस्थानेषु '**क्ङिति**' इति वर्तमाने '**श्नसोरल्लोपः**' इत्यादिलोपो भवति। योऽयं धात्वादावकार एष लुप्यते, तस्मिन् लुप्ते कथं प्रयोगः। स्तः सन्तीति।
१	गमेः '**अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिक-लोपो झलि क्ङिति**' इति गत्वा गतमिति।	अत्र गमेः क्त्वाप्रत्यये निष्ठाप्रत्यये च परतोऽनुनासिकलोपो भवति, '**अनुदात्तोपदेश**' इत्यधिकृत्य '**क्ङिति**' इति।
१	'**गमहनजनखनघसां लोपः**' इति। जग्मतुर्जग्मुरिति।	अत्र गमेरलोपः। '**अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा**' इत्यकारस्योपधासंज्ञा। तस्य '**गमहनजनखन- घसां लोपः**'-इत्युपधालोपः।
१	दीर्घत्वम्, राजा दण्डीति। राजेत्यत्र '**नोपधायाः**' '**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**'। दण्डीत्यत्र '**इन्हनपूषार्यम्णां शौ**' '**सौ च**' इति।	राजन् दण्डिन्- इति स्थिते '**नोपधायाः**'- '**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**'- इति दीर्घत्वम्। दण्डिन्नित्यत्रापि- '**इन्हन्पूषार्यम्णां शौ**' '**सौ च**' इति दीर्घत्वम्।
१	शुनःशेपो यूपे बद्धो वरुणमाह।	अनया त्रिष्टुभोपाकृतः शुनःशेपो वरुणं तुष्टाव।
१	अत्र केचिद्व्याचक्षते- यामीत्यत्र याचामीति चकारस्य वर्णस्य लोप इति।	अत्र चकारलोपः। याचामीत्येवमेतद् द्रष्टव्यम्।
१	हे उरुशंस! बहुस्तुत! मा नः '**अस्मदो द्वयोश्च**' इति द्वित्वे बहुवचनम्, आवयोर्जीवितं मा प्रमोषीः माऽपहार्षीरित्यर्थः।	हे उरुशंस बहुस्तुत्य! वरुण मा नोऽस्माकं याचमानानामायुः प्रमोषीः। कुरु नोऽभिप्रेतार्थ-सिद्धिमित्यभिप्रायः.
१	अत्र हि '**ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि**' इति त्रिशब्दस्य सम्प्रसारणमुत्तरपदादिलोपश्च। तत्रैकस्य सम्प्रसारणपरपूर्वत्वेनेकारस्य लोपः, अपर ऋक्शब्दस्य ऋकारस्य।	अत्र ऋवर्णरेफयोर्लोपः। रेफ एक ऋवर्णोदरं कृमिवदनुप्रविष्टो द्रष्टव्यः। स लुप्यते ऋवर्णेन साकम्।
१	स्तोका इति श्च्युतेर्यकारमपनीय श्चुच्छब्दस्याद्यन्तवर्णयोर्विपर्ययः। '**स्तोका-न्तिकदूरार्थे**' इत्यादिनिपातनाच्चकारस्य च कुत्वम्।	श्चुतिर् क्षरणे' तस्याद्यन्तविपर्ययेण स्तोकाः।
१	**सिकता इति, 'कसेः' आद्यन्तयोः ककारसकारयोर्विपर्ययः। अकारस्य चेत्वम्।**	**'कस विकसने' तस्य सिकताः।**

	कसन्तीति सिकता:।	
१	ज्योतिरिति, **'द्युते:'** दकारस्य व्यापत्तिर्जकारेण, **'द्युतेरिसिन्नादेश्च ज:'** इति।	**'द्युत दीप्तौ'** तस्यादिव्यापत्त्या ज्योति:।
१	बिन्दुरिति, भिदेर्भकारस्य व्यापत्तिर्बकारेण।	**'भिदिर्विदारणे'** तस्य बिन्दु:।
२	ओघ इति, **'वह प्रापणे'** वहेर्हकारस्य व्यापत्तिर्घकारेण, वकारस्य सम्प्रसारणमुपधायाश्च गुण:।	**'वह प्रापणे'** तस्यान्तव्यापत्त्या ओघ:।
२	**नाध इति, 'णह बन्धने' 'नहो ध:' इति नहेर्हकारस्य व्यापत्तिर्धकारेण।**	**'णह बन्धने' तस्य नाध:।**
२	**वधूरिति, 'वहे:' उकारप्रत्यये हकारस्य व्यापत्तिर्धकारेण।**	**'वह प्रापणे' तस्य वधू:।**
२	आस्थदिति, **'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्'** इत्यङि **'अस्यतेस्थुक्'** इति थकार उपजन:।	**'असु क्षेपणे'** तस्य आस्थत्।
२	आसां सम्भव आभिर्निर्वचनं कर्तव्यम्, नाक्षरवर्णसामान्येनेत्युक्तम्।	एवमयमादिमध्यान्तलोप....... छन्दसि भाषायां च द्रष्टव्य:। दृष्ट्वा च यथासम्भवमनुविधेय:।
२	तदिति वाक्योपन्यासे। यत्र धातौ स्वरस्याकारादे: परस्ताद्वा परस्ताद्वा। अनन्तरा अन्तस्था। यवरलानामन्यतमोऽन्तर्धातु धातुमध्ये भवति धातुस्थ इत्यर्थ:। तत् शब्दरूपं द्विप्रकृतीनां स्थानम्। ते द्विप्रकृतय:। एवमुपदिशन्ति पूर्वाचार्या:।	**'यत्र'** यस्मिन् धातौ **'स्वरात्'** अकारादे: **'अनन्तरा'** अनन्तर्हितान्येन व्यञ्जनेन, परा वा पूर्वा वा **'अन्तस्था'** यरलवानामन्यतमो वर्ण: **'अन्तर्धातु'** धातुमध्ये भवति। किं तत्र? एतदेवंलक्षणं धातुरूपं **'द्विप्रकृतीनां'** द्विस्वभावानां शब्दानां स्थानम्- आश्रय इति, एवमाचार्या: प्रविभागेनोपदिशन्ति।
२	एवमितरेतरप्रकृतित्वाद् द्विप्रकृतित्वम्। उदाहरणम्- इष्टम्, यष्टा, उप्तम्, वप्तेत्यादि लौकिकम्।	अत्र द्वे शब्दप्रकृती भवत:। सम्प्रसारणपक्षे तावत्- इष्टवान्, इष्टि:, इष्ट्वा, एता: शब्दप्रकृतयो भवन्ति। असम्प्रसारणपक्षे पुन:- यष्टा, यष्टुं, यष्टव्यमित्येता:।
२	तत्रेत्यादि, तेषु द्विप्रकृतिषु सिद्धायां व्याकरणे प्रत्ययलक्षणेनानुपपद्यमानायामसम्भवन्त्यां सम्प्रसारणवृत्ताविति शेष:। इतरया परोक्षया तदसम्भवेऽप्यतिपरोक्षया उपपिपादयिषेत्, उपपादयितुमिच्छेत्-उपपादयेदित्यर्थ:।	**'तत्र'** एवं सत्येकप्रकारेण **'सिद्धायाम्'** अर्थ-सिद्धावनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्, उपपादयितुमिच्छेदर्थम्। द्वयो: सम्प्रसारणा-सम्प्रसारणप्रकृत्योर्यथैवोपपद्यतेऽर्थस्तथैवोप-पादयेत्।
२	तेष्वपि सम्प्रसारणविषयेष्वेके धातवोऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। अल्पा प्रसारणनिष्पत्तिर्येषां त इमे। अल्पप्रसारणविषया इत्यर्थ:।	एतस्मिन्नपि सम्प्रसारणलक्षणे सति **'एके'** धातव: **'अल्पनिष्पत्तयो भवन्ति'**। अल्पेषु शब्दरूपेषु सम्प्रसारणप्रकृतिरभिनिष्पद्यते।
२	तद्यथैतदुदाहरणजातम्- ऊतिरित्यादि।.....अपि चैतद्वैचित्र्यम्। भाषिकेभ्यो भाषाविषयेभ्यो धातुभ्यो नैगमाश्च्छान्दसा: कृत: प्रत्यया भाष्यन्ते।	तद्यथा- एतदुदाहरणजातम्-ऊति: ....। अथापि इदमपरमुपेक्षितव्यमनेन शब्दान् निर्ब्रुवता। आह किमिति? उच्यते-भाषिकेभ्यो धातुभ्य:। भाषायां येषां प्रायेण प्रसिद्धप्रयोगस्ते भाषिकास्तेभ्य:। नैगमा:

		छन्दोविषयाः। कृतः कृतप्रत्ययान्ताः शब्दाः। भाष्यन्ते विव्रियन्ते निरुच्यन्त इत्यर्थः
२	**'क्षेत्रसाधाः'** इत्यस्योदाहरणम् .... **'मित्रं न क्षेत्रसाधसम्'**। .....मित्रं न- मित्रमिव। यथा मित्रं क्षेत्रस्य साधयितृ क्षेत्रस्य सम्पादयितृ इत्यर्थः।	एवमेव साध्यतेर्भाषाप्रायोवृत्तेः **'मित्रं न क्षेत्रसाधसम्'**-इत्येवमादयो मित्रमिव क्षेत्रसाधयितारमित्येवमादिना प्रकारेण निर्वक्तव्याः।
२	अथापि नैगमेभ्यो धातुभ्यो भाषिकाः कृतः, पूर्वेण कृतव्याख्यानमेतत्।	निगमे छन्दसि ये प्रायोवृत्त्या प्रसिद्धास्तेभ्यः सामान्यं गृहीत्वा भाषिकाः कृत्प्रत्ययान्ता भाष्यन्ते विव्रियन्ते।
२	उषिजिघर्त्ती छान्दसौ धातू....... **'प्रत्युष्टं रक्षः'**- **'जिघर्म्यग्निं हविषा'** इति छन्दसि प्रयोगदर्शनाच्छान्दसौ धातू।	**'उष दाहे'** एष प्रायेण छन्दसि प्रसिद्धः। **'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः'** इत्येवमादि।
२	अथापीत्यादि। प्रकृतय एवेति, प्रकृतिशब्द आख्यातवचन इहाभिप्रेतः। नाम्नामाख्यात- जत्वस्य प्रतिज्ञानात्, तेनाख्यातान्येवैकेषु देशेषु भाष्यन्ते विकृतयस्तज्जत्वान्नामानि, तान्येवैकेषु।	एकेषु देशेषु प्रकृतय एव धातुशब्दानां भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। धातोराख्यातपदभावेन यः प्रयोगः सा प्रकृति नामीभूतस्य तस्यैव यः प्रयोगः सा विकृतिः।
२	उदाहरणं दर्शयति- शवतिर्गत्यर्थ आख्यातप्रत्ययान्तः शवतीति प्रकृतिः। .... जीवतो विकार्य मृतमार्येषु भाषन्ते शवशब्दं मृते प्रयुञ्जत इत्यर्थः।	म्लेच्छेषु प्रकृत्या प्रयुज्यते, आख्यातपदभावेन शवति गच्छतीत्यर्थः। .... आर्येषु जनपदेष्वस्यैव शवतेर्विकारं भाषन्ते। मृतक- नामधेयभूतमेतं प्रयुञ्जते। कथम्? शव इति।
२	प्रसङ्गात् कम्बोजशब्दं निराह........अनुप्रसक्तं कम्बलशब्दं निराह कमनीयः शीतार्दितैः प्रार्थनीयो भवति।	उदाहरणविशेषप्रसक्तः कम्बोजशब्दो निरुच्यते..... ..कम्बलशब्दं निग्रहप्रसक्तं निर्ब्रवीति, **'कम्बलः कमनीयो भवति'**। प्रार्थनीयो हि स शीतार्त्तैर्भवति।
२	एवम् **'अथ निर्वचनम्'** इत्येतत्प्रभृति देश- भाषाव्यवस्थापर्यन्तेनानेनोक्तेन प्रकारेण वैचित्र्येण, एकपदान्यवृत्तिजानीत्यर्थः।	अनेनैकप्रकारेणैकपदानि निर्ब्रूयात्,- भाषा- निगमव्यवस्थया रूढिव्यवस्थया वा देशभाषाप्रसिद्धिविभागेन वा।
२	अनन्तरं तद्धितेषु समासेषु च विशेषं वक्ष्याम इति शेषः।	आह......... अथ पुनर्यानि तद्धितयुक्तानि समासयुक्तानि च पदानि, तानि कथं निर्वक्तव्यानि।
२	दण्ड्यः पुरुष इति, अभिधेयवचनम्। दण्डमर्हतीति समुदायार्थकथनम्। तद्विकल्पेन सम्पद्यते इति तद्धितार्थान्तरप्रदर्शनम्।	दण्ड्य इत्येष तद्धितः पुरुषशब्दविशेषणम्। पूर्वं तावत्तद्धितार्थं निर्वक्ष्यति ततः पदार्थं निर्वक्ष्यति।
२	अवयवार्थं निराह- दण्डो ददतेः, दा इत्यस्य धारयत्यर्थे वर्तमानस्य। धारयति ह्यसौ निरुणद्धि पश्चादिकमपि।	अधुना पदार्थनिर्वचनम्- **'दण्डो ददतेः'** धारयत्यर्थे वर्तमानस्य, धार्यते ह्येषोऽपराधेषु राजभिः।
२	अक्रूरो नाम वृष्ण्यन्धकाधिपतिः स ददते धारयते मणिं मस्तकेन स्यमन्तकं नाम। एवं भाष्यते लोके।	तथा लोके **'अक्रूरो ददते मणिम्'**। अक्रूरो नाम राजा वृष्ण्यन्धकाधिपतिः, स ददते मणिं स्यमन्तकनामानं

		शिरसा।
२	अपिशब्दाच्छन्दसि च- 'चतुरश्चिद्ददमानात्'- 'विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त' धारयन्तेत्युपरिष्टान्मन्त्रौ व्याख्यास्येते।	वेदे तावत् 'विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त' इति।
२	उपनमनहेतुत्वाद्दमनाद्दण्ड इत्यौपमन्यवो मन्यते।	एवं च दमनाद्दण्ड इत्यौपमन्यव आचार्यो मन्यते।
२	कक्षं सेवत इति समुदायार्थनिर्वचनम्। सेवत इति तद्धितार्थवचनम्।....... तेन कक्षे भवा कक्ष्या।	एवं कक्ष्याशब्दस्य तत्त्वमुक्त्वाधुना तद्धितार्थं ब्रवीति। **'कक्षं सेवते'**। सा हि कक्षं सेवते, कक्षसंयुक्ता भवति। कक्षे भवा वा कक्ष्या।
२	अथवा किमस्मिन् ख्यानमिति। किमः ख्यातेश्च। गहनत्वान्न किञ्चित्कस्यचित् ख्यानं दर्शनमस्मिन्निति वा कक्षः।	एवं किमस्मिन् ख्यापनीयमस्ति? न किञ्चिदपि, अदर्शनीयत्वात्। गूहनीयोऽय- मित्यर्थः।
२	तत्र हि कपिकच्छतृणादिभिश्च पाट्यमानस्य कण्डूरुत्पद्यते, अतः कषणात् कक्षः।	स एष एवं कृत्वा किंख्यः सन्कक्षः इत्युच्यते।.....नित्यकालं ह्यसौ स्वेदशीलत्वात् कण्डूं ददाति, ततो नखैः कष्यते यतस्तस्मात् कषणक्रियायोगात् कक्षः।
३	एकसन्धिसमासोदाहरणम्- राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति।	अधुना समासोदाहरणमुच्यते।
३	एतज्ज्ञापयति राजपुरुषशब्दे न राजशब्दो न पुरुषशब्दोऽस्ति। किं तर्हि? अन्यदेवेदं पृथक् ...... नित्यं विशिष्टार्थवृत्ति शब्दान्तरम्।	अथेदानीं राजपुरुष आनीयतामित्युक्ते न राजानमानयन्ति नापि पुरुषमात्रं नाप्युभयम्, किं तर्हि? राजस्वामिकं पुरुषमानयन्ति।
३	दीप्यते ह्यसावष्टानां लोकपालानां वपुषो धारणादिति तेजस्वितया।	'राजा राजतेः' दीप्त्यर्थस्य। दीप्यते ह्यसौ पञ्चानां लोकपालानां वपुषा।
३	पुरिशयः, अथवा पुरि पूरयितव्येऽन्नादिना शरीरे शेते तिष्ठति उपलभ्य इत्यर्थः। तथा च प्रयोगः- पुरि पुरुषः शेत इति।	'पुरिशयः'- अथवा तयोरसौ शेते विशेषेणास्ते इति पुरिशयः सन्पुरुष इत्युच्यते।
३	यस्मान्नाणीयो यस्मान्न सूक्ष्मतरं न ज्यायो वृद्धतरञ्च किञ्चिदस्ति।......दिव्यन्तरिक्षे भुवि च य एक एव। तेनेदं चतुर्दशसंस्थं भुवनं पूर्णं सर्वं कृत्स्नम्।	यस्माच्च न किञ्चिदप्यणीयो नापि ज्यायोऽन्य दस्ति स एव सर्वमित्यभिप्रायः। ....पूर्णमनेन पुरुषेण सर्वगतत्वाज्जगदिति पुरुषः।
३	श्वानो गतिर्यस्य शुनां वा गतिराश्रयः, मृगयाशीलः कश्चित् श्वागणिकः पुरुषः, तस्मिन् भाष्यते।	श्वभिः साकं यो गच्छति मनुष्यस्तस्मिन्भाष्यते।
३	एवंरूपस्य सतो भवतः शब्दरूपस्यानर्थको निर्निमित्तकोऽभ्यासः, शब्दोपजनमात्रमित्यर्थः।	अथेदानीं च इत्येष कद्रातीत्येवमेव सतः शब्दस्वरूपस्यानर्थक एवाभ्यासः।......
३	तं रज्ज्वा गले बद्धमाकर्षतीति विश्वकद्राकर्षः।	तमपराधे कस्मिंश्चिद्वर्तमानमन्यो य आकर्षति स विश्वकद्राकर्षः।

३	विशब्दो मत्वर्थे।	वीत्युभयोरर्थयोर्मत्वर्थः।
३	कल्याणो वर्णोऽस्येति कल्याणवर्णः। मण्यादिरन्यपदार्थः। कल्याणवर्णरूपमिति षष्ठीसमासः। कल्याणवर्णरूपमिव रूपमस्येति।	कल्याणवर्णं सुवर्णम्, तस्येव यस्य रूपं स कल्याणवर्णरूपः। अग्निरन्यो वा कश्चित्।
३	प्रार्थनीयं हि तत्।	प्रार्थ्यते हि तत्सर्वेणैव।
३	आच्छादयति ह्यसौ तदाश्रयम्।	आवृणोति हि स आश्रयम्।
३	केनचिच्छिद्रान्वेषिणा दुष्टाशयेनोपन्यस्तानि जहादीनि, जहातेर्हन्तेर्वेति सन्दिह्यमानानि।	केवलान्येव परेणाभिद्रोहबुद्ध्या पृच्छ्यमानानि न निर्ब्रूयान्न निर्वक्तव्यानीति।
३	**'मा न एकस्मिन्नागसि'** इति प्रकरणसव्यपेक्षार्थविशेषनिश्चयानि।	तत्पुनरेतत्- **'मा न एकस्मिन्'**...... इत्येतस्यां पूर्वस्यामृचि यदेतन्मा वधीरिति पदम्, एतस्माद्गम्यते हन्तेः स्यादिति।
३	एवं शेषपदलक्षणमभिधायेदानीमिदं विद्यास्थानं यस्मै कस्मैचिन्न वक्तव्यम्। तदर्थमाह।	उक्तं निर्वचनलक्षणम्। अधुना यस्मै निर्वक्तव्योऽयमुक्तनिर्वचनलक्षणः समाम्नायः तस्य लक्षणं व्यक्तमिति तदर्थमिदमारभ्यते।
३	ततश्चासावसकृदपि विविक्तमुच्यमानोऽपरिगच्छन्नसूयकत्वात् स्वाबोधमुपाध्याये न्यस्येत्। यदयमेव न बुध्यते तत्कथमन्यान् बोधयिष्यतीति। तथा च सत्यस्यायशः श्रमवैयर्थ्यञ्च स्यात्। यो वा मेधावी सकृच्छ्रुतग्रन्थग्रहणसामर्थ्यसमन्वितः। स ह्युच्यमानमवधारयेत्।....तस्मात् पूर्वोक्तगुणाभावेऽपि निर्ब्रूयात्।	स ह्यनवबुद्ध्यमान आत्मीयदोषमाचार्य एवासजति स्वयमेव तावदयं नावबुध्यते किमस्मान् बोधयिष्यतीति। एतस्मात् कारणादश्रुतपूर्वान्यशास्त्रायाखिन्नमनसे नेदं निर्ब्रूयात्। यो वान्यः कश्चिदलं पर्याप्तो विज्ञातुमेतच्छाखं भवेद् दृढग्राही स्थिरबुद्धिस्तस्मै निर्ब्रूयादेव सर्वथा।
४	चतुर्दशानां विद्यास्थानानामधिष्ठात्री देवता स्वयमेव वा विद्या विग्रहिणी यथादर्शनं शिष्यानध्यापयन्तं कञ्चिद् ब्राह्मणमुपाध्यायमाजगाम।	विद्या किल कामरूपिणी भूत्वा विद्याधिदेवता वा संयतात्मानं विदितवेदाङ्गवेदार्थं ब्राह्मणं प्रति कञ्चिदाजगाम। तमेत्य प्रह्वीभूतोवाच।
४	परतः श्रोतुरुपदेशः।	अधुना शिष्योपदेशमाह।
४	गुर्वनुवृत्तिमकुर्वतः परिनिन्दावचनम्।	अधुनेतरान् दुष्टशिष्यान् विद्याभिशपन्त्याह।
४	दृष्टे चादृष्टे च तत्कृतफलाभावान्नानुगृह्णाति श्रुतं तत्।	तच्छ्रुतमपि न भुनक्ति न पालयति। श्रुतफलेन न संयुनक्तीत्यर्थः।
४	सम्प्रति यस्मै वक्तव्या, तं दर्शयति।	अधुना यस्मै वक्तव्या, तस्य लक्षणं ब्रवीति।
५	अथ निर्वचनमित्यत्र गवादीनां सामान्येन निर्वचनलक्षणमुक्तम, इहेदानीं क्रमप्राप्तविशेषनिर्वचनविवक्षया आह।	अथेदानीं विशेषव्याख्यया प्रतिपदमयं समाम्नायो व्याख्यातव्यस्तदधिकारार्थोऽयम्- **'अथ'** शब्दः।

५	यतः सामान्यलक्षण उक्ते विशेषं प्रत्याकाङ्क्षास्तीत्यत आनुपूर्व्येण क्रमिष्यामः, विशेषलक्षणं व्याख्यास्याम इत्यर्थः।	यस्मात्सामान्यतः समाम्नायो व्याख्यातोऽत इदानीं विशेषतः 'अनुक्रमिष्यामः' आनुपूर्व्येण क्रमिष्यामो वर्णयिष्यामः। व्याख्ययेति शेषः।
५	का पुनरसौ विशेषव्याख्या? उच्यते। अभिधानाभिधेयतन्निर्वचनगौणनियमप्रसक्तानु-प्रसक्ततदुदाहरणसंदिग्धनिर्णयसंख्यादिप्रदर्शनम्।	आह- किंलक्षणा पुनरसौ व्याख्येति उच्यते तत्त्वपर्यायभेदसंख्यासंदिग्धोदाहरणतन्निर्वचन-विभागेन यदाख्यानं सा व्याख्या नैघण्टुके प्रकरणे।
५	'गातेः' वा स्तुत्यर्थस्य, औकारप्रत्ययः।	'गातेर्वा' 'गाङ्गतौ'- इत्यस्य धातोः। 'ओकारो नामकरणः' प्रत्ययः। 'अथापि' गौरित्येतत् 'पशुनाम भवतीह' एव कारकद्वये तस्मादेव धातुद्वयाद्- गमेर्गातेर्वा। 'अथाप्यस्याम्' एव पशुगवि ताद्धितेन प्रयोगेणाकृत्स्नायां सत्यां कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। तद्यथा-'गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति' गोरेकदेशस्य पयसः कृत्स्नवत् प्रयोगः।
५	अपि चायं गोशब्दः पशुनामेहलोके वेदे च भवति एतस्मादेव धातुद्वयात्।	
५	तद्धितार्थेन विकारावयवलक्षणेन संयुक्ताःसम्बधाः,कृस्त्रवत् कृत्स्नेनेव प्रतृत्यर्थेनेव गोशब्देनेवेत्यर्थः, निगमा भवन्ति। तेषां प्रदर्शनार्थमुदाहरणम्- 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति।।	
५	प्रकृत्या गोद्रव्येण पृथिव्यादिभिश्च मिश्रणस्यासम्भवात् पयसश्च श्रुतत्वात् निश्चित्याह-पयस इति।...... तृप्यति हि देवता मन्त्रेण।.......... धनमभिमत्तो-मूढ एतेन भवतीति।......विकारप्रसङ्गेनाह-पयः पिबतेर्वा पीयते हि तत्।	एवमत्र विधानादशक्यत्वाच्च गोभिः श्रयणस्य गव्येन पयसेति गम्यते। तृप्यन्ति ह्यनेन देवताः।...... तेन ह्याविष्टो धनाभिमुख्येन मत्तो भवति। पर्यायायाख्यानप्रसक्तं निरुच्यते। पयः पिबतेर्वा, पानार्थस्य। पीयते हि तत्।
५	वर्धन्ते तेन पीतेन प्राणिनः।	तेन हि वर्धन्ते प्राणिनः।
५	पर्यायप्रसक्तं निराह- क्षीरं क्षरतेः। क्षरति हि तदूधसः। वशेः ईरकि कृतसम्प्रसारणस्येदं रूपम्। काम्यते हि तत, सुगन्धितत्वात्।............ कृत्स्नवन्निगमा इति बहुवचननिर्देशादनेकोदाहरणप्रदर्शनम्।	प्रसक्तानुप्रसक्तं निरुच्यते। 'क्षीरं क्षरतेः' श्च्योतनार्थस्य, श्च्योतते हि तदूधसः।...... वश कान्तौ तस्य कृतसम्प्रसारणस्येरप्रत्यये- नोशीरमिति भवति। कृत्स्नवदभिधायकः।
५	एवमभिषवव्यापारद्वारेण अंशुं सोमं दुहन्तो अध्यासते	अंशुं सोमांशुमभिषुत्य दुहन्तः प्रपूरयन्तो गव्यधि

	गवि अधिषवणचर्मण उपरीत्यर्थः।	गोरुपरि गोरवयवेऽधिषवणचर्मणि एतत्कर्म कुर्वाणा इन्द्रं प्रतीक्षमाणा आसते।
५	शमष्टमात्रो व्याप्तमात्रः पीतमात्रः सुखो भवतीत्यर्थः।	व्याप्तमात्रो हि स यजमानेन तस्यैव शं भवति, सुखो भवति।
५	चरितं हि तच्छरीरे भवति। अत्रापि	चरितं हि तत्सर्वस्मिञ्छीरे गतमित्यर्थः:।
५	चर्मभिर्ग्रथितः श्लेषमणा च संश्लेषितो न वर्धत इत्यर्थः।	स हि चर्मणवनद्धो भवति, श्लेष्मणा च तस्यारादयः संश्लेषिता भवन्ति।
६	वय इव पक्षिण इव गन्तारो वा इषवः।	अथवा ततस्ततो धनुषो वयः पक्ष्यवयवपत्रसम्बन्धादिषवो वयः पक्षिणः। अथव 'वेतेर्गतिकर्मणः'। साक्षादेव इषवो 'वयो' न गुणवृत्त्या।
६	वृक्षो व्रश्चनात्। यदा कदाचिच्छिद्यतेऽसाविन्धनार्थम्।	निगमप्रसक्तं निराह-'वृक्षो व्रश्चनात्' इति। स हि वृश्च्यते छिद्यत इन्धनार्थम्।
६	अद इत्यपि द्वितीया सप्तम्यर्थे। अप्यमुष्मिन्स्वैरवयवैः पर्वभिः,कालपर्वभ्यां वा तच्छुताभ्यामहोरात्राभ्यां वा पर्ववति, भास्वरे वा, गवि गन्तरि आदित्यमण्डले स्थित इत्यर्थः। कोऽसौ ? सूरः।	अदः अमुष्मिन्नादित्यमण्डले परुषे पर्ववति। अहोरात्रादिपर्वभिस्द्वति। अथवा भास्वति। भासा तद्वतीत्यौपमन्यवः। गवि गमनशीले मुहूर्तमप्यनवस्थायिनि सूरः सूर्योऽवस्थितः।
६	अथाप्यस्यादित्यस्य एको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति विशेषेण दीप्यते। स्वयं चन्द्रमण्डलमनुप्रविश्य दीप्तिं करोति।......	'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रिमसं प्रति दीप्यते' एको रश्मिरादित्यस्य सुषुम्नो नाम चन्द्रमसि प्रत्यवस्थितो दीप्यते।
६	आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति न स्वत इति।	अम्मयं हि चन्द्रमसो मण्डलं तत्तेजः सम्बन्धाद्दीप्तिमद् भवति। ततः सर्वा दिशः प्रकाशयति।
६	सोऽपि सुषुम्नोऽपि यथा गौरुच्यते तथेदमुदाहरणम्- 'अत्राह' इति। तदुपरिष्टादैकपदिके व्याख्यास्यामः।	सोऽपि सुषुम्नो रश्मिरेक एव 'गौः' इति
		उच्यते। यथासौ गौस्तथेदमुदाहरणम् 'अत्राह गोरमन्वतेति' तत्पुनरेतत् 'उपरिष्ठाद्' ऐकपदिके व्याख्यास्यामः।......
६	अन्येषां सामान्येन गोशब्दाभिधानीयत्वम्।	सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। यथैतदेवं तथेयमृगुदाहियते।
७	वृष्णः वर्षितुः, विषेर्वा एतद्रूपम्, ऋकारोपजनेन। व्याप्तिरित्यर्थः। विष्णोः स्वभूतं परमं पदं प्रकृष्टं स्थानमादित्यमण्डलाख्यम्। अवभाति- अग्रे भाति, अग्रे दीप्यते। अर्वागिदं सर्वं कृत्वा भातीत्यर्थः। भूरि	विष्णोः प्ररमं पदमादित्यमण्डलस्थानम्। स्थाने हि पदसञ्ज्ञा। पदस्थ इति लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति। अवभाति अर्वागिदं सर्वं कृत्व भाति दीप्यते। भूरि बह्वित्यर्थः।

	प्रभूतम्।	
७	प्रभवति हि तत्सर्वस्यानुग्रहाय.........	प्रभवति हि तद् बहुधापि दीयमानम्।
७	पादः- पद्यतेर्गत्यर्थस्य। गम्यतेऽनेनेत्युक्तम्।	'पाद : पद्यतेः' गत्यर्थस्य, पद्यते हि तेन।...
७	ग्रन्थपदेषु कथम्? इत्याह, प्रभागपादसामान्यादित्यादि।..........	प्रभागपादसामान्यादितराणि ग्रन्थपदानि क्षेत्रपदानि वा।
७	अन्ये त्वाहुः- अनुक्रान्ते गोशब्दे ग्मादीनामवसर आह एवम्। यथा गौरित्यस्याभिधेयं प्रति सन्देहः, तद्वदन्येषामपि ग्मादीनां सत्त्वानां गमनसम्बन्धसामान्यादित्यर्थः।	अधुनोपसंहरति-एवमन्येषामपि सत्त्वानां यानि नामानि तेषु सन्देहा विद्यन्ते। न केवलं गोशब्दे पदशब्दे वा। तेषु त्वेतदौत्सर्गिकं निर्वचनलक्षणं द्रष्टव्यम्।
७	तानि चेद्वागादीनि समानकर्माणि समानक्रियाणि समाननिर्वचनानि यथैकं तथान्यान्यपि नानाक्रियाविषयाणि	'तानि' यदि सामान्यक्रियया युक्तानि ततः समाननिर्वचनान्येव कर्तव्यानि।
७	नानाकर्माणि नानाकियाणि चेन्नाना। नैवं निर्वक्तव्यानि, ग्मा ज्मा क्ष्मा इति । यथार्थम् अर्थानुरूपेण वाक्यप्रकरणसामर्थ्या- न्निर्वाच्यानि।........	अथ पुन र्नानाकर्माणि ततो नानानिर्वचनानि। एवं यथार्थं निर्वक्तव्यानीति।
७	सन्देहा विद्यन्ते-इत्युक्तस्य सन्देहस्य स्वयमेव प्रदर्शनार्थमाह-.........	अधुनैवमुक्तोदाहरणैरेव तत्र तत्र सन्देहपदा-न्यनुक्रम्य मन्त्रेष्वेव दर्शन्नाह ।.......
	तत्र तेषु पृथिवीनामसु निर्ऋतिः पठ्यते।	तत्रैतस्मिन्नेकविंशके नामगणे 'निर्ऋतिः' इत्येतदभिधानम्।
७	अस्याः पृथिव्या वा एषा निर्वाचिका ऋक्।	तस्याः कृच्छ्रापत्तेः पृथिव्या एषा निर्वाचिका ऋग् भवति।
७	परिवीतः जराय्वादिभिर्व्याप्त इत्यर्थः। यथा	ततःपरिवीतो जरायुणा परिवेष्टितो यथा-
७	कालं जायते। बहुप्रजा बहुप्रजननः आत्मज्ञानाभावान्मोक्षमप्राप्नुवन्संसारे पुनः पुनर्जायमान इत्यर्थः।	कालं जायते। अथैवं बहुशः प्रजायमानः स गर्भकर्ता गर्भतत्त्वमजानानो निर्ऋतिं दुःख-माविवेश, आविशतीत्यर्थः।
७	एष परिव्राजकानामात्मविदां दर्शनं चास्या ऋचोऽर्थः।	एवमस्यामृचि निर्ऋतिर्देवतेत्येष परिव्राजकार्थः।
७	नैरुक्तानां तु- य एनं वर्षलक्षणमुदकसंस्त्यायं पूर्ववत् करोति किरति वा।	एवं नैरुक्ता मन्यन्ते। यः करोति वर्षं यो वा किरति क्षिपति। कः पुनरसौ? मेघः।
७	बहुप्रजा बहुप्रजननोऽपर्यन्तधारात्मना व्यवस्थित इत्यर्थः। अथवा जनिरन्तर्नीतण्यर्थः। बहूनां धाराणां सस्यानां वा, सस्यनिष्पादनद्वारेण प्राणिनां प्रजनयिता। निर्ऋतिं भूमिमाविवेश आविशतीत्यर्थः।	प्रावृट्काले वर्षभावेनाभिव्यक्तो बहुप्रजा बहुशः प्रजायमानो निर्ऋतिं भूमिमाविशतीति समस्तार्थः।
८	इतरः स्त्रीयोनिरेतस्मादेव रूपसामान्यात्प्रसक्तो निरुच्यतेः..	'अयमपीतरः' स्त्रीयोनिः 'एतस्मादेव'।

८	इतरः प्रजननेन मिश्रीयते, मिश्रितो वा रक्तमांसादिभिः।	असावपि परियुत एव भवति स्नाव्ना मांसेन च।
८	शाकपूर्णिर्नैरुक्ताचार्यः। संकल्पयाञ्चक्रे संकल्पितवान्।	शाकानि यः पूणयति संहन्ति स शाकपूणः। तस्यापत्यं शाकपूणिराचार्यः। स सङ्कल्पयाञ्चक्रे सङ्कल्पं कृतवान्।
८	ततस्य ज्ञानोत्सेधमाक्षिपन्ती काचिदभिमानिनी देवता स्त्रीलिङ्गपुँल्लिङ्गयुक्ता, मन्त्रे स्त्रीपुँल्लिङ्गशब्ददर्शनादेवमुच्यते। अथवा मध्यमद्युस्थानलिङ्गयोगादुभयलिङ्गत्वमुच्यते। प्रादुर्भूता स्वप्ने प्रत्यक्षं वा तां न ज्ञातवान्।	देवतोभयलिङ्गा द्विलिङ्गा स्त्रीपुँल्लिङ्गा, अथवा मध्यस्थानलिङ्गा द्युस्थानलिङ्गा च प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवती।
८	सा देवतास्मै वक्ष्यमाणामृचमादिष्टवती- एषा मद्देवतेति। तव च देवताज्ञानाभिमानः, मां जानीहि अनयेति।	सा एवं पृष्टा सती 'अस्मै' शाकपूणये एतामृचमादिदेश-आदिष्टवती। किम्? इति। एषा मद्देवतेति। अस्यामृच्यहं देवतेति, त्वञ्च नैरुक्तो मामेतस्या ऋचः सकाशादर्थगत्याव- धारयेति।
९	अयं स मेघः शब्दं करोति। येन गौरभीवृता येन मेघेन माध्यमिका वागभीवृता अभिव्याप्ता, अभीत्येष परीत्येतस्य स्थाने परिवृता। मिमाति	स एव शब्दं करोतीति। येन मेघेन किङ्कृतम्? इति। येन गौभीवृता। येन माध्यमिका वागभिप्रच्छादिता सती मिमाति मायुं निर्मि-
९	निर्मिमीते करोति मायुं मायुरिति वाङ्नाम, वाचं स्तनयित्नुलक्षणाम्।	मीते निर्वर्तयति मायुम्। शब्दं करोति- इत्यर्थः
९	एकमेवेदं ज्योतिस्त्रेधा कृतमिति। एतत् 'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्' इत्यत्र वक्ष्यते। तेन मध्यमस्यैवादित्यात्मनावस्थानात् अविरुद्धोऽयं रसादानव्यपदेश इति।	किन्त्वेतावद्विवक्षितम्। मेघाश्रया शब्दवती भूत्वा माध्यमिका वाग्विद्युदात्मना स्थित्वा वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तद्वर्षमुदकरूपभूतं जलाशयेभ्य आदित्यात्मना स्थित्वा पुनरादत्ते विद्युदात्मना मध्यस्थाने स्थित्वा वर्षति, आदित्यात्मना द्युस्थाने स्थित्वा पुनरादत्त इत्यभिप्रायः।
१०	आनुपूर्व्येण क्रमशोऽस्य प्रतिज्ञातत्वात् पृथिवी- नामानन्तरं तत्प्रभवति, तत्प्रभवत्वात् हिरण्य- नामान्युच्यन्ते।	प्रकृतेभ्यः पृथिवीनामभ्यः। पृथिव्यामेव हिरण्यमुत्पद्यते। अतः पृथिव्याभिधानानन्तरं हिरण्यनामानि समाम्नातानि।
१०	अपठितन्यपि द्रष्टव्यानि, हाटकशातकुम्भचामी- करकलधौतादीनि।	असमाम्नातान्यपि सन्ति हाटकसुवर्णचामी- करशातकुम्भादीनि।
१०	शिल्पिभिर्वा पत्रकटकादिभावेनायम्यमानं विस्तीर्यमाणमित्यर्थः।	आयम्यमानं ह्रियत एव शिल्पिभिः कटकरुचकस्वस्तिकादिभावेन विस्तीर्यमाणम्।...... तेन हि व्यवहारः क्रियते ततस्तत्नैकत्रावतिष्ठते ह्रियत एव सर्वदा।
१०	हितञ्च तदापदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा	यस्य हि तद्भवति, तस्य हितञ्च दुर्भिक्षादिषु तद्भवति

	सर्वमित्यतो हिरण्यम्। तेन गृहीतेन मूषकोऽपि रमते, किमुत मनुष्यः।	रमणञ्चेति। तेन हि गृहीतेन मूषिकोऽपि रमते, किमुत मनुष्यः।
१०	अन्तरा इमे रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ क्षियतीति वा।..... शरीरेष्वित्यादि-अन्तराशब्दात् पूर्वपदम्, अक्षयशब्दादुत्तरपदमिति विशेषः। विनाशिष्वप्यविनाशीत्यर्थः। तुल्यश्रुतित्वादविशिष्टे सन्देहपदत्वे किञ्चित्प्रदर्शनीयमिति समुद्रशब्दः प्रदर्शितः।	अन्तरा द्यावापृथिव्यौ इमे क्षियति निवसति 'इति' अन्तरिक्षम्। अथ 'वा शरीरेषु' एतदेव 'अन्तर्' मध्येऽवस्थितम् 'अक्षयम्' इतराणि पृथिव्यादीनि भूतानि क्षीयन्ते तस्मादक्षयत्वादन्तरिक्षम्। 'समुद्रः' इत्येतदभिधानमुभयाभिधायित्वात् पार्थिवेन समुद्रेण एतेन जलाशयेन सन्दिह्यते। एतदत्र सन्देहपदम्।
१०	तयोर्विभागो यस्मिन्मन्त्रे तत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थमितिहासमाचक्षत आचार्याः। निदानभूतम्- इति ह एवमासीत्- यः कथ्यते स इतिहासः।	यस्मिन्नुदाहरणे लक्ष्यते, तत्रेतिहासमाचक्षत आचार्या निदानभूतम्। 'इति हैवमासीत्-' इति यः कथ्यते स इतिहासः।
१०	देवापिः शन्तनुश्च कौरव्यौ कुरुवंशप्रभवौ भीमसेनपुत्रौ भ्रातरौ बभूवतुः।	'देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च' आर्ष्टिषेण एव कौरव्यौ कुरुवंशप्रभवौ भ्रातरौ बभूवतुः।
१०	स च किल च्यवननामापरनाम्नि ऋष्टिषेणे ब्रह्मचर्यमुवास। स गुर्वनुग्रहात्तेनैव शरीरेण वीतहव्यवद् विश्वामित्रवच्च ब्राह्मणो बभूव।	स किल तीव्रेण तपसा ब्राह्मणत्वमापेदे, विश्वामित्रवत्।
११	आर्ष्टिषेणः, ऋष्टिसेनस्य पुत्र ऋषिः।........ ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य, इषिता वा सेना शत्रून्प्रति प्रेषिता नित्यं सेना यस्य, कान्ता वा इष्टा सेना यस्य।	आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्र इषितसेनस्येति वा।......... ऋष्टिरायुधविशेषः। तद्बहुला सेना यस्य सोऽयमृष्टिषेणः। इषितसेनो वा नित्यमेव प्रेषितसेनः शत्रून्प्रति।
११	निपरणाद्वा। निपरणं पिण्डपितृयज्ञश्राद्धादौ पिण्डदानम्, तेन त्रायते शास्त्रसामर्थ्यात् पितॄन्, अकरणप्रत्यवायपरिहारेण चात्मानम्। ब्राह्मणमप्यस्मिन्नर्थे सामान्येन दर्शयति- तद्यदेनान्।	निपरणाद्वा, निपृणाति ददाति ह्यसौ पिण्डान्पितृभ्य इति पुत्रः। ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे दर्शयति 'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म' इत्येवमादि।
११	तस्यैवैकस्यार्थस्य उत्तरा ऋक् भूयसे बहुतराय निर्वचनाय, निर्विविच्य वचनाय। भूयस्त्वञ्च पौरोहित्यार्त्विज्याभ्युपगमलिङ्गभूतवृष्ट्यर्थवाग्लाभादिना।	तस्यैवार्थस्य प्रकृतस्य यथोत्तरस्मात्समुद्राद्वृष्टिमयाचत देवेभ्यो देवापिर्यथा च पौरोहित्यमकरोत्, यथा वायाजयच्छन्तनुम्। वर्षार्थीयेन कर्मणा। भूयसे बहुतराय निर्वचनाय।
११	यत् यदा यस्माद्वा देवापिः शन्तनवे शन्तन्वर्थं पुरोहितः सन् होत्राय वृतः वार्षिके कर्मणि, कृपयन् कृपायमाणः। अनावृष्टिहतं लोकमनुकम्पमानः। अदीधेत् अन्वध्यायत् ध्यातवान्।	यद् यस्माद् देवापिः शन्तनवे राज्ञे पुरोहितः। पुरोहितो ह्येवाग्निकर्मणे व्याप्रियते। सः पुरोहितः सन् देवापिर्होत्राय होतृकर्मणे वर्षार्थीये कर्मणि वृतः सन् कृपायमाणो राज्ञोऽदिधेत् अन्वध्यायत, वृष्टिर्भवेदिति।

१२	शमस्मै तन्वै शरीराय वास्तु- इति वा, इति रोगिणं कश्चिद् दृष्ट्वा एवमाह, स च तदैवारोगः सम्पद्यते।	स हि कश्चिद्रोगार्त्तं दृष्ट्वा ब्रवीति 'तनो शं तवास्त्विति। ततोऽसावगदो भवति।
१२	शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु पुर एनं दधति राजानः पुरस्कुर्वन्तीत्यर्थः।	पुरोहितः शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु 'पुर एनं दधति' राजानः। पुरस्कुर्वन्तीत्यर्थः।
१२	नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थयोजना- आर्ष्टिषेणः- ऋष्टिषेणो मध्यमं तत्र भवत्वाद्यार्ष्टिषेणो वैद्युतः, तस्य पार्थिवात्मावस्थितस्य होतृत्वेन देवापित्वम्। शिष्टो मन्त्रः पूर्ववद्योज्यः।	नैरुक्तपक्षे- ऋष्टिषेणो मध्यमस्तदपत्यमयमग्निः पार्थिव आर्ष्टिषेणो देवापिः शन्तनवे सर्वस्मै यजमानायेति योज्यम्।
१२	मध्यमो बृहस्पतिः, ददद्वाचं गर्जितलक्षणामस्मै अयच्छत्।	बृहस्पतिर्वाचस्पतिरिति मध्यमः। स्तनयित्नुलक्षणां वाचमित्यर्थः।
१३	लोकक्रमादाह- साधारणानीत्यादि। यानि त्वस्य आदित्यस्य प्राधान्येन मन्त्रेषु सूक्तहविर्भाञ्जि सवितृसूर्यादीनि तान्युपरिष्टात् दैवते काण्डे व्याख्यास्यामः। स्वरादीनिं तु षडपि उभयोर्हविःसूक्तभाञ्जि भवन्ति, अतो नैघण्टुके प्रकरणे इह व्याख्यास्यन्ते।	लोकाभिधानाधिकारेणेदमुच्यते। 'साधारणा-न्युत्तराणि षड् दिवश्चादीत्यस्य च' इति।...... यान्यस्य आदित्यस्य प्राधान्येन वर्तन्ते प्रधानस्तुतिभाञ्जि नामानि,......तान्युपरिष्टाद्-व्याख्यास्यामः सप्तदशेऽध्याये। इमानि तु नैघण्टुकानि संसृष्टरूपाणि च द्युनामभिः साकमित्यत इह नैघण्टुकप्रकरणे निरुच्यन्ते।
१३	आदत्ते भासं, तदुदयेऽन्तर्धानादादानव्यपदेशः। ज्योतिषां चन्द्रनक्षत्रग्रहादीनाम्।	तदुदये हि आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। चन्द्रादीनां प्रभानाशो भवति। अन्यग्रहापेक्षमेतत्।
१३	आदितेयमिति वेदे प्रयुक्तं दृश्यते किन्त्वल्पप्रयोगविषयोऽस्य। तुशब्दो विशेषणार्थः।	अल्पप्रयोगविषयम्। तुशब्दो विशेषणार्थः।
१३	सूक्तभाग्भवति, सूक्तं स्तुतिः तामेव भजते। क्व? 'सूर्यमादितेयम्' इति। न हविर्भाक्, सूर्यपदसामानाधिकरण्यादेतद् गम्यते। गुणाभिधान-मेतत्, नानेन नाम्ना हविश्चोदना क्वचिदस्तीति।	'आदितेयः' इति सूक्तभागेव चैकदभिधानं न हविर्भाक्। न ह्यादितेय इत्यनेन नाम्ना हविराध्वर्यवे चोदितपूर्वमस्ति। यथा चैतत्सूक्तमेव नैघण्टुकवृत्त्या भजते, तथेदमुदाहरणम्-'सूर्यमादितेयम्' इति।
१३	अन्येऽल्पप्रयोगमित्यादित्यस्यैव वेद एकवच-नान्तस्यादित्यादिविषयस्याल्पप्रयोगतां सूक्तभाक्त्वं चाहुः।	अन्ये तु मन्यन्ते- आदित्य इत्येतदेवाल्पप्रयोगमिति। तत्र त्वेतद् विरुद्ध्यते- सूक्तभागिति। हविरपि ह्यनेनाभिधानेन चोद्यते।
१३	पृथगर्थमिदं दर्शयति- अथापि मित्रावरुणयोः, आदित्यशब्देन हि स्तुतिः। आदित्या दानुनस्पती दानपती।	अथापि मित्रावरुणयोरादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। आदित्या दानुनस्पति दानपती।
१३	अथापि मित्रस्यैकस्यादित्यप्रवादा स्तुतिः।	अथापि मित्रस्यैकस्य आदित्यप्रवादा स्तुति-र्भवतीति।
१३	अथापि वरुणस्यैकस्य। 'अथा वयम्' इति नियमः।	अथापि वरुणस्यैकस्यादित्यप्रवादा स्तुति- र्भवति। तद्यथा- 'अथा वायमादित्य व्रते तव'- इति।

१३	शुनःशेपो यूपे बद्धो वरुणमाह।	अनया त्रिष्टुभोपाकृतः शुनःशेपो वरुणं स्तुतवानात्मानं मोचयिष्यन्।
१३	निगमप्रङ्गादाह- व्रतमिति कर्मनाम, वृणोतीति। कर्तरि सत इति कृतव्याख्यानम्। तद्धि शुभमशुभं वा वृणोति बध्नाति कर्तारम्।	निगमप्रसक्तमुच्यते- व्रतमिति कर्मनाम, वृणोतीति। एव कर्तरि कारके सतो वृणोतेः। तद्धि कर्म शुभमशुभम्वा कृतं सदावृणोति कर्तारम्।
१३	इदमपीतरद्व्रतम्- गुडलवणस्त्र्यादिविषयनिवृत्तिरूपं कर्म। एतस्मादेव रूपसामान्यात्।	इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म, यमनियमाख्यं बाहिर्वेदिकमान्तर्वेदिकं वा, यदग्निसन्निधावुपेयते।
१४	उक्तं प्रासङ्गिकम्। प्रकृतमभिधीयते- स्वरादित्यः.......... सुष्ठु वा ऋतो रश्मिभि रसानादातुम्। .... एतेन द्यौर्व्याख्याता। तुल्यनिमित्तत्वात्। तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि इत्यस्याः परिभाषाया उदाहरणान्येतानि, अल्पत्वात् स्वयमेव प्रदर्शयति- साऽपि सुष्ठु गता।	अधुना प्रकृतमेवोच्यते- स्वरादित्यो भवतीति सुष्ठु रसानादातुमृतो गतो भौमानान्तरिक्षांश्च। एतेन द्यौर्व्याख्याता। उक्तं हि 'तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि'-इति। सापि हि सु अरणा शोभनगमना भवति। शोभनं वा अस्यामर्यत इत्येवमादि यथासम्भवं योज्यम्।
१४	अथ द्यौः संस्पृष्टा व्याप्ता ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि' इति श्रुतेः।	आह। 'अथ द्यौः' कस्मात् पृश्निरिति। उच्यते। सापि हि संस्पृष्टा ज्योतिर्भि पुण्यकृद्भिश्च।
१४	अथ द्यौः। कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धमकं दुःखं पुनः प्रतिषिध्यते, सुकमेवेत्यर्थः। सुखस्थानत्वाच्च सुखमित्युच्यते। प्रतिषेधद्वयोपनिपाते प्रकृत एव गम्यत इति। अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं पठित्वा व्याचष्टे।	'अथ द्यौः' कस्मान्नाकः इति उच्यते। कमिति सुखनाम। आह, ततः किम्? इति। श्रृणु तत्प्रतिषिद्धं सत्पुनरपि प्रतिषिध्यते। आह। किम्? इति। उच्यते, तत्प्रतिषिद्धयमानम् 'अकम्' भवति, असुखमित्यर्थः। पुनरपि च प्रतिषिद्धयमानं नाकं भवति। ततो द्विः प्रतिषेधः प्रकृतिमापादयति। नाकमित्युक्ते सुखमिति प्रतीयते। ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे भवति।
१४	विष्टबादित्यो भवति। आविष्टो रसान्। विष्टबादित्यः पृथिव्या रसानादातुमाविष्टोऽभिनिविष्ट इत्यर्थः।	'विष्टबादित्यो भवति'। आह कस्मात्? उच्यते, आभिमुख्येन ह्येष रसान्भौमानान्तरिक्षांश्च विष्टः प्रविष्टो रश्मिभिरादातुम्।
१४	भासनः सन्नाकारस्य ह्रस्वत्वेन सलोपेन च भनः, भनः सन् नभः। न न भातीति वा, नकारलोपेन नभः। न न भाति, भात्येवेत्यर्थः।	अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः। भनो भासनः सन् नभ इत्युक्तो विपर्ययेण। 'न न भातीति वा' न न भाति भात्येवेति नभः।
१५	बन्धनप्रतीतेर्यमनादित्यह- एकत्रोदकस्यापरत्राश्वानाम्। आदित्यसम्बन्धित्वेनैव दिङ्नियमादाह- दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ।	रश्मिर्यमनात्, उदकस्याश्वानां वा। आदित्योपलक्षणा एव हि दिश इत्यादित्यनामभ्य उत्तराणि दिङ्नामानि।
१५	आज्यन्तः शरपथपर्यन्तः काष्ठोच्यते।	आज्यन्तोऽपि शरपथान्तः काष्ठोच्यते। असावपि

	शरीरं सामान्येन निराह-शृणातेः हिंस्यते हि तत्।	स्वप्रदेशं क्रान्त्वा स्थितो भवति। 'शरीरं शृणातेः' हिंसार्थस्य, हिंस्यते हि तत्।
१६	वृत्रशब्दस्य निगमप्रसक्तस्याभिधेयं प्रति विप्रतिपत्तिः, तन्निर्णिनीषया प्रश्नयति तत् को वृत्र इति। कथं तर्हि मन्त्रेषु ब्रह्मणेषु च सलिलसंघातमात्रात्मकेन वृत्रेण सह युद्धप्रवादाः ? अपां रश्मिभिराहतानां धनीभूतानां वायुना-वष्टब्धानामभिहन्यमानानां परस्परसंघर्षे तरु-शाखयोरिवाग्निरुपजायते, ततस्तेनोपतप्तानां विलयनं भवति। तस्मादसति युद्धे कल्पनैषा। तथा च कल्पितरूपा मन्त्रवर्णा मन्त्रलिङ्गाः।	इह मन्त्रे वृत्र इत्येच्छुतम तदेतन्निगमानुप्रसक्तं विचार्यत इत्युपयुक्तस्तच्छब्दः। आह 'को वृत्रः'। यदि मेघो वृत्रो य एषु मन्त्रेषु संग्रामः श्रूयते तत्र तत्र कः समाधिरिति। तेन हि वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेनेन्द्राख्येनोपताप्यमाना आपः प्रस्यन्दन्ते वर्षभावाय प्रकल्पन्ते। नह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति। न हीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति। मन्त्रोऽपि चैतस्मिन्नर्थेऽस्ति नेन्द्रस्य शत्रवः।
१६	यानि युद्धान्यैतिहासिका आहुः, तान्यपि मायैव।	यानि च युद्धान्याहुरैतिहासिका नानारूपाण्युप-प्रदर्शयन्तः सापि च तव मायैव।
१७	अहिरयनात् गमनात्, एति गच्छत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिः सर्प एतस्मादेव एतेः। असावपि हि भूम्यामेति।	अहिः कस्मात्? उच्यते, अयनात्। एति ह्यसावन्तरिक्षे। शब्दसामान्यान्निरुच्यते-'अयमपीतरोऽहिः' सर्प एतस्मादेव। असावपि ह्येति।
१७	पण्यं नेनेक्ति शोधयति, कयविक्रयः स्यादिति।	तदसौ नेनेक्ति नित्यकालं शुचि करोति मूल्यार्हं स्यादिति।
१७	ब्राह्मणदृष्टास्त्रयोऽपि निर्वचनप्रकारा इति दर्शयति-'यदिमांल्लोकानावृणोत् तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।	इत्येषां धातूनामन्यतमस्य। ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे भवति। 'यदवृणोत्' अन्तरिक्षमुदकं वा महत्त्वात् 'तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति।' एवं........ ज्ञायते।
१८	रात्रिनामान्युत्तराणि दिङ्नामभ्यस्त्रयोविंशतिः। आदित्यनिमित्तत्वसम्बन्धात्। दिक्सम्बन्धाः श्यामवर्णाः। अवश्यमायन्तीत्यवश्यायास्तुषारा इत्यर्थः। ते हि रात्रौ निपतन्ति। रात्रेरपरः काल इत्यभिधेयकथनम्। नास्मात्परं रात्र्यवयवोऽस्ति पञ्चदशो मुहूर्तः।	रात्रेर्नामानि उत्तराणि-इति प्रकृतेभ्यो दिङ्नामभ्यः। समः सतत्त्वा हि रात्रिः। तस्य च तमसो दिक्ष्वेवात्मलाभो भवति। अतो दिङ्नामभ्य उत्तराणि रात्रिनामानि। अवश्यमायन्तीत्यवश्यायास्तुषारा इत्यर्थः। ते हि रात्रौ निपतन्ति। रात्रेरेव ह्यपरः काल उषआख्यो भवतीति रात्रिनामभ्य उत्तराणि उषोनामानि।
१९	आदित्यो हि तापकः प्रकाशकश्च, चन्द्रमास्तु शीतः प्रकाशकश्च। इदं पुनर्नात्युष्णं नातिशीतं प्रकाशकश्चेत्येवमादित्यादीनामिदमेव श्रेष्ठमा-	आदित्यो हि तापकः प्रकाशकः। चन्द्रमा अप्यतिशीतः प्रकाशकश्च। इदं पुनर्नात्युष्णं नातिशीतं प्रकाशकञ्च, इत्येवमादि-त्यादीनामिदमेव श्रेष्ठम्।

	गच्छतीत्यर्थः।	आगादागच्छतीत्यर्थः।
१९	यथा प्रसूता उत्पन्न उषाः सवितुः सवाय जन्मने, उषसो ह्युत्पत्त्यनन्तरं सविता जायते, तेनेयं तदर्थमेवोत्पन्ना इत्युच्यते। एवमेव रात्रिः प्रसूता उषसे, जन्मार्थमुत्पन्नेत्यर्थः।	यथोषा आदित्यस्य जन्मनो हेतुस्तदनन्तर-जन्मत्वादेवं रात्रिरुषसो जन्मनो हेतुः, इत्येवमस्यामृचि रात्रेरेवापरः काल उषःसंज्ञित इति गम्यते।
१९	तस्या एवोक्तविभागाया उषा एषापरा, अनन्तरा ऋग्भवति	तस्या उषस एषापरा ऋग् भवति अस्यैवार्थस्य दृढतायै रात्रेरपरः काल उषा उच्यत इति।
२०	सूर्य उषसो वत्स उच्यते। यथा हि वत्सो मात्रा सह चरत्येवं सूर्य उषसा सह। यथा वा वत्सो मातुरूधसः पय आख्यं रसं पिबन्नपहरति, एवं सूर्य उषसोऽवश्यायाख्यं रसमुदितो रश्मिभिः शोषयन्नपहरति। अतो ऽसावस्या वत्स उच्यते।	सूर्यो हि रोचिष्णुः। तम् 'अस्या वत्समाह' मन्त्रदृक्। मातृसहचरो हि वत्सो भवति। अयमपि चानयोषसा सह चरतीत्येतस्मात्सामान्याद् वत्स इत्युच्यते। यथा हि मातुरूधसः क्षीराख्यस्य रसस्याहर्ता भवति वत्स एवमेषोऽप्यौषसिकानामवश्या-याख्यानां रसानामाहर्ता भवति रश्मिभिरित्ये-तस्मात्सामान्याद्वत्सत्वम्।
२०	उपाहरन्त्यनुतिष्ठन्त्यस्मिन् कर्माणि, न तु रात्रावपि कुर्वन्त्येव कर्मकाराः।	उपाहरन्त्यस्मिन्कर्माणि, न हि तथा रात्रावनुतिष्ठन्ति कर्माणि कर्मकरा यथाहनि।
२०	तस्याहःशब्दस्यैष निपातो नैघण्टुकत्वेन वैश्वानरदेवतायामृचि।	तस्य अन्हः 'एष निपातो भवति' नैघण्टुकवृत्त्या वैश्वानरीयायां वैश्वानरदेवतायामृचि।
२१	आ उपरादीनीति वक्तव्ये उभयोरुपादानं रलयोरविशेषत्वप्रदर्शनार्थम्।	'आ उपर इत्येतस्मात्' इति वक्तव्ये 'आ उपर उपल इत्येताभ्यां' इत्युक्तम्। उभावपि ह्येतौ समाननिर्वचनौ शब्दावेकस्मिन्निरुक्ते निरुक्तौ भविष्यते इति, रलोश्चाविशेषख्यापनार्थम्।
२१	तेषां मेघानामुपरशब्दवाच्यत्वे एषा ऋक्। पर्वतमामत्वेऽन्वेष्या।	तेषां मेघानामुपरशब्दवाच्यत्वे विशेषलिङ्ग-वाचिका एषा ऋग् भवति।
२२	सामर्थ्याद् वृष्टिलक्षणान्युदकानि, तदधीना च सृष्टानां देवादीनां स्थितिरिति स्थित्यर्थं प्रथमं मेघाः सृष्टाः।	मेघाभावे हि सर्वमेवेदं जगद्वर्षाभावान्न स्यात्। तस्मादेत...... एवाग्रे सृष्टा इत्यभिप्रायः।
२२	सारूप्यप्रसक्तमनूपशब्दं निराह- अयमपीत्यादि। इतरो नदीकक्षः समुद्रकक्षो वा देशविशेषोऽनूप उच्यते वपेरेव, अनूप्यतेऽनुप्रकीर्यतेऽनुगृह्यते उदकेन।	'अयमपीतरः' नद्यनूपः समुद्रानूपो वा। एतस्मादेव वपतेर्धातोः,असावपि अनूप्यते प्रकीर्यते नित्यकालम् 'उदकेन'।
२३	प्रसिद्धनदीलिङ्गयोगाद नद्या इव, प्रसिद्धदेवतालिङ्गयोगाच्च क्वचिदेवताया इव निगमा दृश्यन्ते। तस्य यद्देवतावन्निगमजातं तदुपरिष्टाद् द्वादशे पावका	तत्र तस्मिन्सप्तपञ्चाशत्के वाङ्नामगणे सरस्व-तीत्येतस्य नाम्नो 'नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति'। नद्यर्थयुक्ताश्च देवतार्थयुक्ताश्चेत्यर्थः। तत्रैवं सति यदभिधानं देवतावत् तदधिकृत्य

	नः सरस्वती इत्यत्र व्याख्यास्यामः।	उपरिष्टाद-व्याख्यास्यामः षोडशेऽध्याये 'पावका नः सरस्वती' इत्येतस्मिन्मन्त्रे।
२४	माध्यमिकाभिधानपक्षे- गिरयो मेघाः, ऊर्मयः स्तनयित्नवः, पारावते द्यावापृथिव्यौ। हन्तिर्गतिकर्मा। गमनेन पूरणं लक्ष्यते। द्यावापृथिव्यौ शब्देन पूरयित्रीम्। शेषं समानम्। मेघेभ्यो वाक् तदनन्तरमुदकमिति वाङ्नामभ्य उत्तराण्युदकनामानि एकशतम्।	देवतापक्षे विनियोगानुविधानाभिप्रायेण सरस्वती माध्यमिका वाक्। सा गिरीणां मेघानां सानूनि भञ्जत्यूर्मिभीः स्तनयित्नुभिः पारावारे द्यावापृथिव्यौ हन्तीति योज्यम्। मेघाश्रया हि वाक्, मेघोत्थं चोदकं स्तनयित्नुशब्दपूर्वकञ्चेति वाङ्नामभ्य उत्तराण्युदकनामानि।
२४	तत्सम्बन्धार्थमाख्यानं तावत् प्रस्तौति।	यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नद्य एव, तत्रेमं निदानभूतमितिहासमाचक्षते वदन्त्याचार्याः।
२४	इतरे धनस्य वोढारो विश्वामित्रस्यानुचराः, तस्करा वा। पिजवनपक्षे सैनिकाः।	इतरे तदनुयायिनस्तस्करा वा।
२५	उपोपसर्गो रमिणा सम्बध्यते, तत्पूर्वकश्च रमिरुपसंहारे वर्तते। उपरमध्वं महतो वेगाद-गाधोदकत्वाद्य। सामान्येन नदीषूच्यमानासु समीहितं प्रयोजन-मकुर्वतीषु प्राधान्याद् विशेषेण सिन्धुमाह।	'उपरमध्वं मे' उपेत्ययमुपसर्गो मन्त्रस्य मध्यादाकृष्य भाष्यकारेण रमध्वमित्यनेन क्रियापदेन योजितः। यदैवमविशेषेणोच्यमाना न शुश्रुवुस्तदैकामुद्दिश्य प्रवर्तते वक्तुम्। प्रसिन्धुमच्छः।........
२५	कुशिको राजा इत्यभिधेयवचनम्। क्रोशतेः शब्दार्थस्येति निर्वचनम्। विहितं कुरुत प्रतिषिद्धं मा कार्ष्ट-इत्येवं सर्वदा शब्दं करोत्यनुशास्तीत्यर्थः।	'कुशिको राजा' इति तत्त्ववचनम्। 'क्रोशतेः' वा शब्दार्थस्य, स हि साध्वेव क्रियतामित्येवं नित्यकालमेव क्रोशयति।
२६	तस्मिन् हते आपः पतिताः, ताभिर्गच्छ-न्तीभिर्वयं खाताः। एवं मेघहननद्वारेणास्मान- खनत्।	स हि निपतन्तीरपो निरुणद्धि। तमिन्द्रो वज्रेण हन्ति, तस्मिन्हते पृथिवीं प्राप्यापो यथा निम्नानुसारिण्यः खातानि कुर्वत्यो वहन्ति। तैः खातैर्वयं गच्छामः।
२७	यथा वा मर्यायेव मनुष्यस्य पितुर्वाऽर्थाय कन्या कुमारी कन्यला, शश्वचै ते, स्वजेरेतद् रूपम्, परिष्वजनार्थं प्रह्वीभवेत् तथा वयमपीति। तवार्थायेत्युक्तार्थम्।	मर्याय मनुष्याय कन्या नवोढा शश्वचै ते' परिष्वजनाय। कथं नाम परिष्वजेत मामयमित्यभिप्रायेण यथा सा निनमेदेवं वयं तव निनमाम।
२७	अश्वं निराह-अश्नोतेः, व्याप्नोति ह्यध्वान मन्येभ्यः शीघ्रम्। दधदाकारी भवति- अधिष्ठित ईषदवनतमध्य- भागः, उद्धृतकन्धरः कुञ्चितघोणः, स्तिमितचक्षुः, कर्णशुक्तिस्वकारो भवति।	आह 'अश्वः कस्मात्'? उच्यते, स हि 'अश्नुतेऽध्वानं' व्याप्नोतीत्यर्थः। स ह्यधिरूढेऽश्वारोहे आकुञ्चितग्रीवो विपुष्पितसर्वगात्र आकृतिमान् भवति।
२७	आपनीफणत् 'फण गतौ' इत्यस्य चर्करीतवृत्तं यङ्लुगन्तमिति, कियाभ्यासविषयमित्यर्थः।	आपनीफणादिति फणतेः, गत्यर्थस्य चर्करी तान्तत्वेन वृत्तम्।

	अश्वसम्बन्धेनोच्यते- 'दशैतेभ्य उत्तराण्यादिष्टोप- योजनानि- 'आदिष्टा निर्दिष्टा उपयुज्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेत्युपयोजनम्, इन्द्रादिर्देवता विशेषोऽनिर्दिष्ट- सम्बन्धीत्यर्थः।	दश यानि उत्तराणि नामानि, तान्यश्वनामसम्बन्धेनै- वोच्यन्ते तान्यपि ह्यश्वानामेव। तानि पुनः 'आदिष्टोपयोजनानि' इति एवमाचक्षत आचार्याः। इदमिन्द्रस्याश्वानां नामेदमग्नेरिदमादित्यस्य,- इत्येवमादिष्टोपयो- जनानि।
२७	अध्यायपरिसमाप्तिसूचनाय सर्वत्राभ्यासः श्रुतौ तथा दर्शनात्।	अध्यायपरिसमाप्त्यर्थो द्विरभ्यासः।
अ ३ १	ज्वलनकर्मसम्बन्धादाह- कर्मनामान्युत्त-राण्येभ्यः षड्विंशतिः। कर्मणो हि प्रधानं दृष्टादृष्टार्थत्वादपत्यलक्षणं फलम्, अतस्तदनन्तरमपत्यनामान्याह।	ज्वलत्येव ह्यग्नौ कर्माणि क्रियन्त इति ज्वलन्नामभ्य उत्तराणि कर्मनामानि। सर्वकर्मणां ह्यपत्योत्पादनकर्मैव प्रधानमृणापा- करणद्वारेणेति कर्मनामभ्य उत्तराण्यपत्य-नामानि।
२	पुरा वसिष्ठो हतपुत्रः पुत्रं याचमानः कृत- कादीनामन्यतमं पुत्रं कुर्वित्यग्निनोक्तस्तं प्रत्याह।	वसिष्ठाग्निसंवादे वसिष्ठेन हतपुत्रेणाग्निरभ्य-र्थितः, पुत्रं मे देहीति। तेन किलासौ प्रत्युक्तः, क्रीतक- कृत्रिमदत्तकादीनां पुत्राणामन्यतमं कुरुष्व पुत्रमिति। स एवमुक्त एताभ्यामृग्भ्यामन्यजान्पुत्रान्निन्दन्नौरसं पुत्रं ययाचे।
३	अभीषाट्- अभिभविता च सपत्नानाम्, त्वत्प्रसादात्, एतु- आगच्छतु नव्यः- नवजातः, औरसः पुत्र इत्येतद् वयमाशास्महे।	अभीषाट्-अभिषहमाणः अभिभवन् सपत्नान् नव्यो नवजातः। शिशुरित्यर्थः स एव पुत्रः आगच्छतु। किं नः परकीयैः पुत्रैः सङ्कल्पितैरित्यर्थः।
३	एतां वक्ष्यमाणामृचं दुहितुर्दायादत्व उदाहरन्ति केचिदाचार्याः। एतस्मिन्नर्थे पुत्रजायाद्य इत्येके।	एतामृचं शासद्वह्निरित्यादि या वक्ष्यमाणा ताम्, दुहितृदायाद्येऽर्थे उदाहरन्ति धर्मविदः।......... पुत्रदायाद्य इत्येके। एके पुनर्धर्मविदो मन्यन्ते यत्पैतृकं वित्तं तत्पुत्रस्यैव दायाद्यं न दुहितुरिति।
४	दोग्धेर्वा, सुखितापि सती सर्वदा दोग्धि वस्त्रालङ्कारादि पितृकुलम्। उक्तस्यैवार्थस्य द्रढिम्नः कारणमाह- तदेतदृचा श्लोकेन चाप्युक्तमिति। दुहितरो दायं नार्हन्ति। कस्मात्? अपत्यकार्याभावात्। अनपत्या एव स्त्रिय इति।....... तस्मात्पुमान् दायादो दायार्हः, अदायार्हा स्त्रीत्येतस्मिन् ब्राह्मणे विचार्यमाणे ज्ञायते।	'दोग्धेर्वा' सा हि नित्यमेव पितुः सकाशाद् द्रव्यं दोग्धि प्रार्थनापरत्वात्। तदेतदनेनापि स्पष्टार्थतरेण मन्त्रेणोच्यत इति पूर्वस्यास्पष्टार्थतायां स्पष्टार्थीकरणार्थोऽयं मन्त्रः।.............. न दुहितरो दायाद्यमर्हन्तीत्येवमेके धर्मविदो मन्यन्ते। एतस्मिन् ब्राह्मणे विचार्यमाणे ज्ञायते, न दुहितरो दायाद्यमर्हन्ति, पुमानेवार्हतीति।
४	विक्रयो वैवाहिकेन शुल्केन। 'नाल्पो वा बहुर्वा पुत्रे विक्रयः। तावदेव सः' इति स्मरणात्।	स्त्री विक्रीयते च वैवाहिकेन शुल्केन। 'विक्रयं चाप्यपत्यस्य मतिमान्कोऽनुमंस्यते स्वल्पो वाथ

		बहुर्वापि विक्रयस्तावदेव सः।'' इति भगवता वासुदेवेनोक्तं सुभद्राहरणे।
४	अतिसर्गोऽपि विश्वामित्रेण कृतः श्रूयते ज्यायसो मधुच्छन्दसः। अतः शासनवचनात् अभ्रातृकाविषये पुत्राभावे तत्स्थाने स्त्र्यपि पुत्रः स्यादित्याशास्यम्।	तथा च परित्यागोऽपि दृष्टो यथा विश्वामित्रेण मधुच्छन्दआदीनाम्। यैवाभ्रातृका भवति कन्या, सैव पित्र्यं धनमर्हति, नेतरा सभ्रातृका।
४	अस्मिंश्च पक्षे निगममपि दर्शयति।...... 'अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः।।' अयमाथर्वणे वेदे मन्त्रः। स्त्रीणां लोहितवाहकव्याधिव्यावृत्त्यर्थे कर्मणि विनियुक्तः।	निगममप्येतस्मिन्नर्थे उदाहरन्ति, 'अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः' इति। प्रसवमार्गवहनरोगिणी या स्त्री भवति तस्यास्तत्प्रतीकारकर्मणि विनियुज्यते।
५	गर्तारुगिव- यथा दक्षिणापथे क्वापि प्रदेशे अपुत्रा अपतिका वा अपस्मारा रोहिणी स्त्री, सनये लाभाय धनानाम्. भर्तुः स्वभूतानां सर्वलोकप्रकाशमास्फारं गच्छति तद्वत्।	गर्तारोहिणीव काचिद्दाक्षिणात्या स्त्री, सा यथा गर्तः सभास्थाणुस्तमारोहति........... सनये लब्धये धनानाम्।
५	सत्यं हि तत्र संगीर्यते। कथम्? पुनर्देविष्या-मीति कृतमातृहस्तग्रहणादिना कृतशपथेऽपि व्यसनेनैवाकृष्यमाणो गीत्य शपथं खादयित्वा दीव्यत्येव कितवः, सङ्कर इत्यन्ये पठन्ति, संकीर्यते हि तत्र सत्यमनृतेनानेकविधेन।	स हि 'सत्यसङ्गरो भवति'। सङ्गीर्यते हि तत्र सत्यमिदमत्र पतितमिदमत्र न पतितमित्येवम्। प्रायेण कितवास्तत्रानृतं ब्रुवते।
५	श्मशानस्य गर्तवाच्यत्वे निगमः।	निगममपि चात्रोदाहरन्ति 'श्मशानसञ्चयोपि गर्त उच्यत' इति।
५	अथवा नाभ्रात्रीमुपयच्छेत, अपत्यलिप्सया। उक्तकारणत्वाद् दृष्टार्थत्वेन प्रतिषिध्यते।	अयमस्मिन्वाक्ये 'नाभ्रातृकामुपयच्छेत' इति प्रत्यक्ष एवोपयमनप्रतिषेधो विवाहार्थे पाणिग्रहणप्रतिषेध इत्यर्थः।
५	ततश्च 'शासद् वन्हिः' इत्ययमर्धर्चोऽभ्रातृमतीविषय एव व्याख्येयो न दुहितृमात्रविषय इति निश्चयः।	अधुना योऽसौ शासद्वन्हिरित्यस्या ऋच उत्तरोऽर्धर्च उत्कृष्टः, स एवाभ्रातृकावादपक्षेणैव निरुच्यते।
५	प्रथमकृतायां तु पुत्रिकायां यदौरस उत्पद्येत, तदा तत्रापि ज्येष्ठांशभागित्वं पुत्रिकाया इत्येके स्मरन्ति।	यदोत्सृष्टायां पुत्रिकायां पुत्रिकापितुरन्ये पुत्रा जायेरंस्तदा विभागकाले ज्येष्ठं भागं पुत्रिकायै च दद्यात्।
६	न, जामये भगिन्यै, तान्वः तनुभवः औरसः पुत्र इत्यर्थः। रिक्थं पित्र्यं धनम्, आरैक् प्रारिचत् प्रादात् ददातीत्यर्थः।	न जामये भगिन्यै तान्व आत्मजः। आत्मनो धियो जातः स आत्मजः। स किं करोति? इति। 'रिक्थमारैक्' रिक्थं पैतृकं धनं न प्रादान्न प्रददाविति
७	अपत्यसम्बन्धादाह-'मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः' मनुष्या नर इत्यादीनि।	मनुष्याणां नामानि मनुष्यनामानि। उत्तराणि प्रकृतेभ्योऽपत्यनामभ्यः, अपत्यान्येव हि विवृद्धानि

		सन्ति मनुष्या इत्युच्यन्ते।
७	तत्र पञ्चजना इत्येतस्य सन्दिग्धस्य विवेकार्थं निगमाः।	तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति सन्दिग्धाः। तत्रेयमृगुदाहरणम्।
८	सौचीकस्याग्नेर्विश्वेषां देवानां संवादः। होतृजपश्चायम्।	सौचीकस्याग्नेरार्षम्। तस्य विश्वैर्देवैः संवादः। तत्रेयं होतृजपे विनियुक्ता।
८	अस्ता वा क्षिप्ताः स्थानेभ्यो लोकेभ्यः। 'ते देवा असुरान प्राणुदन्त'-इति श्रुतेः।	अथ 'वा अस्ताः स्थानेभ्यः' प्रच्याविता देवैरित्यर्थः।
८	एवम्, असो: अप्रशस्तादेशादसुरान्। 'जघनादसृजत' इति विज्ञायते। ऊर्ध्वञ्च नाभेः पुरुषस्य मेध्यत्वस्मरणात्। निषादः कस्मात्? निषद्य हन्तीति निषादः, प्राणिवधजीवकः, प्रतिलोमजन्मा कश्चित्। सौधन्वना रथकारा निषादशब्दवाच्या इत्यन्ये। 'वर्षासु रथकारस्य' 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्येवमादिदर्शनात्। 'सौधन्वना ऋभवः' इति मन्त्रवर्णात्।	एवमेव प्रातिलोम्येन। 'असोरसुरानसृजत' असुरिति प्रशस्तप्रतिषेधः। अप्रशस्तादात्मनः प्रदेशात् प्रजापतिरसुरानसृजत। निषद्य हन्तीति प्राणिवधजीवनः। निषादः सौधन्वना इत्येके मन्यन्ते। स च रथकारः। तस्य हि भिन्नकालमाधानं श्रूयते। 'वर्षासु रथकारः'। 'ऋभूणां त्वा' इति रथकारस्येति च मन्त्रभेदः। 'सौधन्वना ऋभवः' इति च मन्त्रलिङ्गात्।
८	सम्प्रत्यसाधारणं मनुष्यमात्रनामत्व एव निगमं दर्शयति। पञ्च-इति निर्वाच्यम्, पृक्ता इति निर्वचनम्, संख्या इति विषयकथनम्, सम्बन्धात्सर्वलिङ्गै-रित्याह- लिङ्गत्रययोगेऽप्यविशिष्टेति।	यथा तु पञ्चजनशब्देन मनुष्या एव निषादपञ्चमा वर्णा उच्यन्ते, तथैष निगमः। तद्यथा-पञ्च स्त्रियः, पञ्च पुरुषाः, पञ्च कुलानीति। एवं पञ्चशब्दे स्त्रीपुन्नपुंसकेषु विशेषो नास्ति।
८	मनुष्यसम्बन्धादुच्यते- अथ बाहुनामान्यु-त्तराणि द्वादश आयती, च्यावाना, इत्येवमादीनि।	मनुष्याणामेव हि बाहवो भवन्तीति मनुष्यनामभ्य उत्तराणि बाहुनामानि।
९	इयमपीतरेति सारूप्यप्रङ्गादाह युग दि-सम्बन्धीनि। विहन्ति वहं स्कन्धमनडुहोऽश्वस्य वा।	'इयमपीतरा धूः' अनुडुदादिसम्बन्धिनी। एतस्मादेव धातोर्वधकर्मणः। सापि हि 'विहन्ति वहम्' अनडुहोऽश्वस्य वा।
९	कान्तमप्यङ्गुलीभिरेव क्रियत इत्याह- कान्तिकर्माण इच्छार्था धातव आख्यातान्यष्टादश।	यदपि ह्यकान्तं भवति तदप्यङ्गुलीभिरेव कान्तं क्रियत इत्यतोऽङ्गुलीनामभ्य उत्तरे कान्तिकर्माणः समाम्नाताः।
९	बलवतां धनसम्बन्धादाह धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव।	एव हि बलवन्तो भवन्ति त एव धनं प्राप्नुवन्ति- इति बलनामभ्य उत्तराणि धननामानि।
९	गोमिनां धनवतां च क्रोधः सम्भवतीत्याह- क्रुध्यतिकर्माणो धातवो दश। क्षिप्रसम्बन्धादन्तिकत्वस्याह- अन्तिकनामान्यु-	अनार्थमेव हि गवार्थं च क्रोधो भवतीति गोनामभ्य उत्तरे क्रुध्यर्थाः समाम्नाताः। य एव हि क्षिप्रं गच्छति स एवाभिप्रेतस्यार्थस्यान्तिके

	त्तराण्येकादश। सन्निकृष्टानामेव संग्रामो भवतीत्याह- संग्रामनामानि षट्चत्वारिंशत्।	समीपे भवतीति क्षिप्रनामभ्य उत्तराणि अन्तिकनामानि। अन्तिकीभूतानामेव हि संग्रामो भवतीत्यन्तिक नामभ्य उत्तराणि सङ्ग्रामनामानि।
१०	खले न पर्षान्-यथा खले पर्षान्, 'पृ पालन-पूरणयोः' इत्यस्येदं रूपम्। कर्षस्य पूरयितॄन् गोधूमादीन् बलीवर्दः पादैः, एवं प्रतिहन्मि भूरि बहूनपि।	'खले न पर्षान्' गाह्यमाने हन्यमाने। गम्यमानोऽत्र एकः खलशब्द उपमानमुपमा सम्बन्धात्। यथा खले खलस्थाने कर्षकेण पर्षान्बहूनपि सञ्चितान्पूलानप्रतिबन्धेन क्षुद्येरन्, एवमहमपि भूरीनपि शत्रून........ हन्मि।
१०	सम्प्रति प्रसङ्गादाह- चत्वारश्चलितततमा, पूर्वापेक्षया।	प्रसक्तानुप्रसक्तमुच्यते 'चत्वारश्चलितततमा संख्या' त्रिभ्यः सकाशात्।
१०	नव न वननीया, असंभजनीया, अमङ्गल्या हि सा, यतो लोकस्तां परिहरति। सम्प्रत्यर्बुदशब्दनिर्विवक्षया सारूप्यादम्बुदशब्दं निराह।	'नव' इति या संख्या, सा न वननीया न सम्भजनीया भवति। नवसंख्यायुक्तायां हि तिथौ न कश्चिदप्यारम्भः क्रियते। अथार्बुदशब्दनिर्विवक्षया अम्बुशब्दं निर्वक्ति।
१०	तत्रापि हि संमथ्यन्ते क्षुद्यन्ते सस्यानि। स्खलन्तीति वा स्खलन्ति त्वरमाणास्तत्र कर्षकाः।	अयमपीतरः खलो धान्यखल एतस्मादेव। तत्रापि हि भ्रश्यन्ति चूर्ण्यमानानि धान्यानि। हिंस्यन्ते वा, चूर्ण्यन्त इत्यर्थः।
१०	संग्रामे परस्परं व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश।	संग्रामे हीतरेतरं व्याप्नुवन्ति योधा इति संग्रामनामभ्य उत्तरे व्याप्तिकर्माणः।.........
१०	तत्राखण्डलशब्दस्यात्र वक्तव्यस्य तडिच्छब्दात् पूर्वं निगमेन नामत्वं दर्शयति यतश्चैतदेवमतोऽन्तिकवधलक्षणे कर्मणि अस्य तत्संसृष्टकर्म।	'आखण्डलः' इत्येतदपि नामैव। निगममपि चात्र दर्शयति। तडिदित्येतच्छब्दरूपमन्तिकाभिधायि वधाभि-धायि चेत्येकमेव ह्येतदुभाभ्यामर्थाभ्यां सम्प्रयुज्यते।
११	वधसाधनत्वाद् वज्रस्य तन्नामान्यष्टादशेत्याह। वर्जयतीति सतः। वर्जयति प्राणैरिति केचिद् वाक्यशेषमध्याहरन्ति	यो हि हन्यते स वज्रेणैवेति वधकर्मभ्य उत्तराणि वज्रनामानि। वर्जयति वियोजयति प्राणैः प्राणिनः।
११	तदृषिसहित इन्द्रः शुष्णं शोषयितारमसुरं मेघं वोदकाप्रदानेन सस्यं, हतवान्। स च स्तुत्या वीर्यविवृद्धिं कुर्वन् मेघवधे साहाय्यकर्म प्रतिपद्यते।	तेन स्तूयमानो विवृद्धबलः शुष्णं शोषयितारं रसानामसुरं मेघं वा जघान। हि शुष्णः, तदुदये हि धान्यान्युदकग्राहनिमित्तेन शुष्यन्ति
१२	तत्र स्थित इन ईश्वरो विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य, गोपायिता च।	इन ईश्वरः, इनो ह्यसावादित्य ऐश्वर्येण भवति। विश्वस्य भुवनस्य भूतस्य भवति। किञ्च गोपा गोपायिता।

	अथवोपनिषद्वर्णता।	यद्विज्ञानमुपगतस्य सतो गर्भजन्मजरामृत्यवो विनिश्चयेन सीदन्ति सा रहस्या विद्योपनिषदित्युच्यते। उपनिषद्भावेन वर्ण्यत इति उपनिषद्वर्णः।
१३	ईश्वराणामेव बह्वित्याह- 'बहुनामान्युत्तराणि द्वादश'। ह्रस्वविपर्ययप्रसङ्गदाह- महन्नामानि पञ्चविंशतिः।	ईश्वराणामेव बहु भवतीति- ईश्वरनामभ्य उत्तराणि बहुनामानि ह्रस्वसम्बन्धेनैव-'महन्नामान्युत्तराणि पञ्च-विंशतिः'।
१३	यावद्वा प्रक्षिप्यते तत्सर्वं गृह्णन्ति दुष्पूरत्वात्।	ते हि यावदेव किञ्चिदाह्रियते, तत्सर्वमेव गृह्णन्ति दुःपूरत्वात्।
१३	सुखिनामेव प्रायेण रूपवत्त्वाद् रूपनामान्याह।	य एव हि सुखिनस्त एव रूपवन्तो भवन्तीति सुखनामभ्य उत्तराणि रूपनामानि।
१३	प्रज्ञावतां प्रायेण सत्यमित्याह-सत्यनामानि षट्-बट्-श्रत्-इत्यादीनि।	य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि सत्यवादिनो भवन्तीति प्रज्ञानामभ्य उत्तराणि सत्यनामानि
१३	लोके वेदे च गवादिरर्थः प्रसिद्धः, अप्रसिद्धस्य गवयमन्युप्रभृतेरवयवक्रियागुणसामान्येन परिच्छेदाय पारार्थ्येनोपादीयमान उपमीयते।	'तदासां कर्म' स आसामुपमानामर्थो यदप्रसिद्धतरगुणस्य कस्यचित्प्रसिद्धतरगुणे- नान्येन गुणप्रकाशनम्।
१३	अतिशयप्रशस्तेनोत्कृष्टगुणेन प्रदर्शनमेतत् क्रियादौ कनीयांसमतिशयेनाल्पं निकृष्टमित्यर्थः।	ज्यायसा उत्कृष्टेन गुणेन यो यस्मिन्द्रव्य उत्कष्टो गुणस्तेन कनीयांसमनुत्कृष्टगुणमुपमि- मीते।
१४	सन्ततं कर्म स्तेयमस्येति, तनोतेः कर्मशब्दाच्च तस्करः। तच्च सन्ततकमत्वं दर्शयति 'अहोरात्रकर्मेति। अहनि पथि मोषणेन, रात्रौ सन्धिच्छेदनेन।	स हि 'सन्ततकर्मा भवति'। रात्रौ ग्रामे मुष्णाति, दिवाऽरण्य, एवम्- 'अहोरात्रकर्मा' एतदेव च तत्सन्ततकर्मत्वम्।
१५	अत्रापि निकृष्टनियोगकर्मणा देवरेण प्रशस्तावाश्विनौ, विधवया चाप्रशस्तया प्रशस्तकर्माणं यजमानम्, कनीयसा ज्यायांसमुपमिमीत इति।	एवमस्यामृचि देवरेण कनीयसा ज्यायांसावश्विनावुपमीयेते, विधवया च यजमानः।
१५	विधवनाद्वा- 'धूञ् कम्पने' पतिमरणदुःखा-र्दितत्वादसौ वेपते।	'विधवनाद्वा' सा हि भर्तृमरणेन विधूता कम्पितेव भवति।
१५	दीक्षितस्योपतापे शीतोष्णा अपः समानीय एकविंशतिमासु यवान् प्रक्षिप्य कुशपिञ्जूलांश्चावधाया ताभिराप्लावनेऽस्या विनियोगः।	एतेन पुनरुपतप्तो दीक्षित एकविंशतिभिर्यव-दर्भपिञ्जूलमिश्रामिरद्भिरभिषिच्यत उपता-पशान्त्यर्थम्। अनेनैव सूक्तेनाग्निचयनक्षेत्रं ग्राम्यारण्याभिरोषधिभिर्व्युप्यते।
१५	आत्मशब्दं निगमप्रसक्तं निराह-'आत्मा अततेर्वा,' अतनं गतिः, तननात् सर्वं हि तेन ततम्, विभुत्वात् सर्वग इत्यर्थः।	निगमप्रसक्तमुच्यते- 'आत्माततेर्वा', सर्वमेव हि तेनातितं भवति सर्वगतत्वात्।
१५	'अग्निर्न ये' समाम्नायक्रमात्र शब्दस्योपमार्थ-त्वमिह प्रकरणे। पूर्वत्र'दुर्मदासो न सुरायाम्' इति	अत्र 'अग्निर्न य'- इत्यस्य निघण्टुसूत्रस्य 'दुर्मदासो न सुरायाम इत्यनेनैव गतार्थतेति मन्यमानाः केचिदत्र

	प्रसङ्गादुक्तम्।	निगमं नाधीयते।
१५	'चतुरश्चिद्ददमानात्' अत्र चिच्छब्द उपमायाम्। पौनरुक्त्यं चोदितं परिहृतञ्च।	चिदित्ययमपरो निपात उपमार्थीयो भवति। पुरस्तादप्ययमुक्तः-'दधिचिदित्युपमार्थे'।
१६	यथा चतुरोऽक्षान् ददमानाद्धारयतः कितवादितरः कितवः किमयं तत् पातयिष्यति येन मामयं जेष्यतीति एवं बिभेति।	चतुरोऽन्नान धारयमाणात् कितवात् कितवो बिभीयात् किमपि पतिष्यते तदन्यद्वा किञ्चिद्येन मामयं जेष्यतीति। निहितेषु न तथा भयम्भवति यथा कितवस्य प्राङ् निधानात्।
१६	हविर्धानस्यार्षम्। अग्निरुच्यते।	अङ्गपुत्रो हविर्धान एतया जगत्या अग्निमस्तौत्।
१६	स एव भासाम्-नक्षत्रग्रहोषःप्रभृतीनां जरयितृत्वाज्जार आदीत्यः। तथाप्येष निगमः।	यथादित्यो जारशब्देनोच्यते, 'तथापि' अयं निगमो भवति।
१६	यद्यपि पौष्णे सूक्ते पठ्यमानत्वात् पौष्णीयमृक्, तथाप्यादित्य एवोत्तरावस्थः पूषा न वस्त्वन्तरमित्यविरोधः।	आदित्यो हि पूषा। 'अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति, तत्पूषा भवति' इति हि वक्ष्यति।
१६	मेष इत्यादि। भूतशब्देनोपमोच्यत इति भूतोपमा	'मेष इति भूतोपमा'-मेषा इत्येषा भूतशब्देनोपमा।
II	प्रसङ्गात् सामान्येन पशुं निराह तेनैवोक्तेन प्रकारेण पशुः पश्यतेः, पश्यत्येव निर्बुद्धिरित्यभिप्रायः।	पर्यायप्रसक्तमुच्यते। 'तथा पशुः पश्यतेः' इति, पश्यति ह्यसौ।
१६	था इत्यस्योपमायामुदाहरणम्।	था- इत्ययं चोपमाशब्दः।
१६	इमथेति निगमप्रसक्तस्य प्रकृतिं निराह- अयमेततरः- आगततरः, आगततर इव भवति।	इमथेत्येतस्मात्प्रसक्तमुच्यते। अयम, इत्यस्य शब्दस्य का व्युत्पत्तिरिति। 'एततरः' ह्यागततरः- आसन्नतरः।
१६	असावित्यप्रसङ्गेनाह- अमुथेत्यादि। वदिति सिद्धोपमा। सिद्धा प्रसिद्धा उपमा-ब्राह्मणवदधीयते तेजस्विनः, अक्रोधना वा। वृषलवत् परिचरन्तीति लौकिकमुदाहरणम्।	असावित्येतस्मात्प्रसक्तमुच्यते- 'अमुथा......''वदिति' एषा सिद्धोपमा। सिद्धैवैषोपमा लोके। आह- कथं कृत्वा। उच्यते- ब्राह्मणवद् वृषलवत्। ब्राह्मणवदधीते, वृषलवद्याक्रोशतीति।
१७	प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्र इत्यर्थकथनम्। प्रोऽपत्यार्थेऽत्र प्रयुक्तः।	'प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। प्रशब्दस्य तद्धितार्थत्वं निराह, 'कण्वप्रभवः'। कण्वस्यापत्यमित्यर्थः।
१७	'ब्रह्मणोऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित्॥ तत्परीक्ष्य सवर्णो न स जुहाव विभावसौ। ततोऽर्चिषोऽभूद् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः।'' उत्पत्तिप्रसङ्गादाह- विखननादग्निस्थानस्य वैखानसः।	प्रजापतिना किल शुक्रमात्मीयमादायाग्नौ हुतम्। ततः 'अर्चिषि' ज्वालायां भृगुर्नाम महर्षिः सम्बभूव। व्युदुह्याग्निं तस्मिन्नग्निस्थाने खाते य उत्पन्नः सः 'विखननाद्वैखानसः' एव नाम्ना अभूत् बभूव।
१८	लुप्तोपमानि- लुप्ता उपमा येषु तानि पदानि वाक्यानि व्याख्यायन्त इति शेषः। तानि चार्थोपमानीत्याचक्षते आचार्या लौकिका वा।......	अथेदानीं येषु पदेषु लुप्यन्त उपमाशब्दा इवादयस्तान्यवसरप्राप्तानि व्याख्यास्यामः। तानि पुनरेतान्यर्थोपमानीत्येवमाचक्षत आचार्याः।

	थवा- श्वा काको वा आहारार्थमातुर इतश्चे तश्च धावति, तद्वदिति प्रतीयते।	अर्थतो लिङ्ग्यन्त इत्यर्थोपमा इत्युच्यन्ते।....... यो हि लैल्यादिदोषसमन्वयेन कुत्सनीयो भवति स एवमुच्यते- 'श्वायमिति'।
१८	काक इति शब्दानुकृतिः, तदीयशब्दानुकरण निमित्तमेवास्यैतन्नामधेयमिति दर्शयति- एव-मपीति।	अनुकरणमनुकृतिः। शब्दस्यानुकृतिः शब्दा- नुकृतिः। यादृशमेवासौ शब्दं करोति तयैवानुकृत्या तस्य नामापि भवति।
१८	श्वा शुयायी, शु इति क्षिप्रनाम, शुपूर्वस्यायतेर्णिनिः, शीघ्रगामीत्यर्थः। व्यादाय वा- विवृत्यास्यं विविधं वादायाकृष्य हन्तीति।	'श्वा शुयायी। शु इति क्षिप्रनाम। क्षिप्रमसौ शीघ्रत्वादेतीति श्वा। 'व्यादाय हन्तीति वा' स किल व्यादाय वक्रं विवृतं कृत्वा ततो हन्ति।
१९	प्रायेणार्चित उपमीयत इत्युपमानानन्तर-मर्चतिकर्माणः। मेधाविन एव स्तोतुं समर्था इत्याह- स्तोतृनामानि।	पूजायामवश्यंभाविन्युपमेत्युपमाशब्देभ्योऽनन्तरमर्चति कर्माणः समाम्नाताः। य एव मेधाविनस्त एव स्तोतुं शक्नुवन्तीति भेधाविनामभ्य उत्तराणि स्तोतृनामानि
१९	ऋत्विग्भिर्यजतीति वा याज्याभिप्रायः। स्तेनः संस्त्यानमस्मिन् आश्यानं संघातं पिण्डीभूतं बह्वित्यर्थः। पापकं हननहरणादिनिमित्तमिति नैरुक्तः।	ऋग्भिर्ह्यसौ यजतीति ऋत्विक्। 'संस्त्यानम्' संहतम् 'अस्मिन्पापकं कर्म भवतीति' एवं नैरुक्ता मन्यन्ते। वैयाकरणानामन्यथापि स्यादित्यभिप्रायः।
२०	दभ्रम्, दभ्नोतेर्वधार्थस्य, तद्धि सुदम्भं सुच्छेदं भवति, अल्पत्वात्।	'दभ्रं दभ्नोतेः' वधार्थस्य तद्धि 'सुदम्भं भवति' सुच्छेदं भवत्यल्पत्वात्।
२०	शुनः शेपो यूपे बद्धो विश्वान् देवानाह- नमो महद्भ्यः-वृद्धेभ्यो युष्मभ्यं नमः, अर्भकेभ्यः- बालेभ्यो नमः, युवभ्यः- तरुणेभ्यो नमः।	शुनः शेपस्यार्षम्। होतृजपे विनियोगः। नमो महद्भ्यः नमो महत्परिमाणेभ्यो देवेभ्यः। 'नमोऽर्भकेभ्यः' अल्पपरिमाणेभ्यः। नमो युवभ्यो यौवनवद्भ्यः।
२१	स्वेनात्मना भूतग्रामं धारयत इति स्वधे।	सर्वस्यास्य भूतग्रामस्य धारयित्र्यौ स्वधे।
२२	स हि पूर्वमेव संसारूपे दृष्ट्वैवमवोचम्, कतरा अपरकाला, अयोः अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये।	स्वयमेव तावद्वितर्कन्नुत्पन्नसंशयो मन्त्रदृग्ब्र-वीति। कतरानयोर्द्यावापृथिव्योः पूर्वा कतरा तु अपरा। न हि पौर्वापर्यमनयोः स्फुटं लक्षयितुं शक्यते।
अ ४ १	एकः पृथिव्यादिरर्थो यस्मिन् तदेकार्थम्। अनेको वाचकः शब्दो गवादिर्यस्मिन् तदनेकशब्दम्।	एकोऽर्थः पृथिव्यादिरनेकषां गवादिशब्द नां यत्र तत्त्वभूतः कथ्यतेऽनेके च गवादिशब्दाः पृथिव्यादेरेकस्यार्थस्य यत्राभिधायिनः कथ्यन्ते तदिदमेकार्थमनेकशब्दं प्रकरणम्।
१	उक्तोपसंहारत्वाच्च, एकोर्थोऽनेकशब्दस्य, अनेकश्च शब्द एकार्थस्य, इत्येतदुक्तं गम्यते।	समासतो यदुक्तं यच्च वक्तव्यम्। एकार्थमनेकशब्दमिति-एतत्पुरस्तातसूचितम्- एता-

१	कथम्? पुरस्तात्- 'एतावन्तः समानकर्माणो धातवः, एतावन्त्यस्य सत्वस्य नामधेयानि'- इत्यस्यार्थस्य नैघण्टुकस्य प्रतिज्ञाततत्वात्। यथा प्रतिज्ञातं चोक्तत्वात्।	वन्तः समानकर्माणो धातव एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि' इत्यनेन वाक्येन।........ स एष नैघण्टुकस्य प्रकरणस्य निगमव्याजेन सर्वथाप्यर्थः सङ्क्षेपत उक्तः।
१	सा चेयं पूर्वाचार्यैः प्रदर्शिता। ''तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि। निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं निगमे पदे।।''	किंलक्षणा पुनरिह व्याख्येति। तदुच्यते-''तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि। निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे।।''
१	अत्र हि एकैकमेव जहादि पदं व्याख्यायते। तदनवगतम, तत् किं हन्तेर्जिहातेर्जिहीतेरिति। धातुस्तावद् विशेषेणानवगतः।	अत्र ह्येकैकमेव पदं समाम्नातम्। तद्यथा- 'जहा,निधा'- इत्येवमादीनि। अत्र हन्तेर्जहातेश्च सन्देह इति भाष्यकारेणा वधृतं 'जघानेत्यर्थः' इति।
२	माशब्दो वधीरित्येतेन सम्बध्यते।	मा न एकस्मिन्नागसि वधीः।
२	यद् यस्मिन्निधीयते स्थाप्यते मृगपक्षिग्रहणाय इति निर्वचनम्। पाश्या जालम्, पाश्यानुप्रसङ्गात् पाशं निराह-पाशः पाशयतेर्बन्धनार्थाद् विपाशनात्। तेन विविधं मृगः पक्षी वा बध्यते।	यो वालमयः स्नायुमयो वा पाशसमूहः पक्षिग्रहणार्थः स पश्येत्युच्यते। अधुना पदार्थं निर्वक्ति। 'पाशः पाशयते- र्विपाशनात्' तेन हि विविधमतिशयेन पाश्यते, बध्यत इत्यर्थः।
३	शिताम- इत्यनवगतसंस्कारमनेतार्थञ्च। आचार्यविप्रतिपत्तेः पूर्वपूर्वपदोत्तरपदाद्विप्रति- पत्तिनिमित्ता च विप्रतिपत्तिरुपन्यस्ता निगमे सुप्रतिपादिता भवतीति भाष्यकारो निगमे नैवोपक्रमते-'पार्श्वतः श्रोणित' इत्यादिना।	शिताम- इत्येतदनवगतम्। अनुपन्यस्यैव पदमभिधेयं चानुक्त्वैव निगमेव प्रथमं पठत्याचार्यो विप्रतिपत्त्यानेकार्थत्वमस्येति। 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' इति निगमः।
३	पशोर्हविः प्रदानस्य प्रैषोऽयम्।	पशुहविषः प्रैषोऽयं मन्त्रशेषः।
३	अथवा योनिः शिताम.......... अनवदानीयत्वाद्य सामीप्याद् गुदः प्रतिपद्यत। तेन शितामतो गुदादित्यर्थः।	तत्र योनिरनवदानीयैव। योनिसमानदेशस्तु गुदो नामावदानमस्ति स योनिशब्देनोच्यते। स च गुदो विषितो भवति।
३	गुदो हि पुरीषोत्सर्गवेलायां विकसति। संकुचत्यन्यदा। मांसे हि मनः प्रायेण सर्वस्य सीदति भक्षयेयमेतदिति।	व्यात्तः स पुरीषेण भवति। सर्वस्यैव हि मांसे मनः सीदति।
३	तत्राथीनवगतत्वे उदाहरणम्-त्व-इति। इदं हि नामत्वेन चोपन्यासात् पदजात्यनवगतं	पदजात्यनवगतम्-''त्व'' इति यथा, नाम, निपातो वेति।
३	तथा स्वरानवगतम्। 'वने न वायो' इति।	स्वरानवगतम्,-'वने न वायो' इति यथा।
४	दमे मनो यस्य स दमूना अक्रूर इत्यर्थः।	'दममनाः' दमूनाः स्यात्। दमे हि नित्यमस्य मनः' अक्रूरमना इत्यर्थः।

५	मूष इत्यनवगतम्। मुषेः क्विपि दीर्घत्वं द्रष्टव्यम्। मुष्णन्तीति मुषः मूषिका इत्यर्थाव-गमश्च।	मूषः– इत्यनवगतम्। बहुवचनं चैतत्, मूट्, मूषौ, मूषः– इत्येवम्।
६	त्रितं कूपेऽवहितं पतितमित्यर्थः। एतत्सूक्तं यत्रेयमृक प्रतिबभौ प्रतिभतम्। त्रितस्य कूपे पतितस्येदं सूक्तमार्षमित्यर्थः।	अत एव सूक्तगताद्विशेषलिङ्गादुपलभ्य 'त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ' यत्रेयमृक् तस्मात्कूपपर्शव एता इति।
	अपि वा सख्यनिमित्तमेवेदं नामाभिप्रेतं स्यात्। एते हि भ्रातर एतेन क्रमेण एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः।	एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो हि ते भ्रातरो बभूवुः। तस्मात्संख्यानिमित्तमप्युपपद्यत एव।
६	उदाहरणे मनसा समानाधिकरण्यदर्शनात् मनोविशेषणमेतत् इत्यभिधेयप्रतीतेर्निगमेनै-वोपक्रमते	'इषिरेण ते मनसा' इति समानविभक्त्यन्तत्वादिषिरशब्दस्य प्रतीयत एव मनोविशेषणत्वमित्यभिधेयमनुवत्वा निगममेव पठति।
७	सुपिप्पलाः पिप्पलं फलं सुखफला ओषधीः कर्तन द्विवचनस्य स्थाने व्यत्ययेनेदं बहुवचनम्। कुरुतमस्मै अस्मदर्थम्।	सुपिप्पलाः सुफलाः एता ओषधीः कर्तन कुरुतम् अस्मे। अस्मभयमित्यर्थः।
७	बद्धञ्च सन्तं तपिष्ठेन अतिशयेन तापयित्रा दुःखयित्रेत्यर्थः। हन्मना अनेन आयुधेन हन्तन हत आ यूयम्।	पाशैरेनं बद्धा तपिष्ठेन तापयितृतमेन हन्मना हननेन वधेन हन्तना हन्तेत्यर्थः।
	अगस्त्येन्द्रमरुतां संवादे कयाशुभीये अगस्त्यस्यार्षम्।	इन्द्रागस्त्यमरुतां संवादः। कयाशुभीयं सूक्तम्। तत्रेयमगस्त्यस्यार्षम्।
७	जग्धं भक्षितमन्नमस्मिन् ध्रियते तिष्ठति धीयते वा प्रक्षिप्यत इत्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्वचनम्।	'जग्धम्' भुक्तमन्नम् 'अस्मिन्' अवस्थितं ध्रियत इति जठरम्। अन्नं वा जग्धमस्मिन् 'धीयते' इति जग्धधानं वा स्यात् एते शब्दसमाधी।
९	तितउ इत्यनवगतम्। परिपवनमभिधेयम्। परिपूयते अनेनेति।	'तितउ' इत्यनवगतम्। परिपवनं भवति-इत्यभिधेयवचनम्। सक्तवः परिपूयन्ते येन द्रव्येण, तत्परिपवनमुच्यते।
१०	बृहस्पतेर्विद्यासूक्ते ज्ञानप्रशंसैषा।	विद्यासूक्ते बृहस्पतेरार्षम्।
१०	लक्ष्मीवान् य उत्तमः स लज्जित इव तया न श्लाघते। मध्या इत्यनवगतम्। मध्यशब्दात्-'सुपां सुलुक्' इत्येवमयमकारः। सप्तम्याः स्थाने छान्दसत्वात, मध्ये इत्यवगमः।	ये हि लक्ष्मीवन्तो भवन्ति, ते स्वयमात्मानं न श्लाघन्ते। 'मध्या' इत्येतदनवगतम्। मध्य इत्यवगमः।
	यथोपमार्थे तथा निगमो भवति।	यथा चोपमार्थोऽपि युज्यते, तथा च निगमोऽप्ययं भवति।
११	मन्दू इत्यनवगतम्।......... मदिष्णू मदिष्णूना वेत्यवगमः।	'मन्दू'-इत्यनवगततम् मदिष्णू मन्दुनेति वा शब्दसमाधी।

१२	मन्दुना मदिष्णुना मरुद्गणेनेति। समानवर्चसा इत्येतेन व्याख्यातम्। द्विवचनान्तं वा तृतीयैकवचनान्तं वा।	'समानवर्चसा' इत्येतत्पदं मन्दुनेत् 'एतेन' पदेन व्याख्यातम्। यथैव हि मन्दू इत्येतद् द्विवचनमेकवचनं वैवमेतदपि।
१३	अस्त्यादित्यप्रभवत्वेन स्तुतिरश्वस्येत्यर्थः। यत 'आदित्यादश्वो निस्तष्ट' आवृत्येत्यर्थः।	आदित्यादश्वो निस्तष्ट इति' अनयोपपत्त्या सूर्यात्मनाश्वः स्तूयते।
१३	आदित्यप्रभवत्वेन स्तुतेरुदाहरणम्।	एवमेतस्मिन् मन्त्रे सूर्यप्रभवोऽश्व इति स्तूयते।
१४	लोधमित्यनवगतम्। लुब्धमित्यवगमः।	'लोधम्' इत्यनवगतम्। लुब्धमित्यवगमः।
१४	शीरमित्यनवगतम्। अनुशायिनं वाशिनं वेत्यवगमः। अग्निरभिधेयः।	'शीरम्'-इत्यनवगतम् अग्निरभिधेयः। 'अनुशायिनमिति वा' इति। अनुप्रविश्य सर्वभूतानि शेत इत्यनुशायी, तमनुशायिनम्'।...... अश्नोति व्याप्नोति वा सर्वभूतानीति आशिनम्।..........
१४	विद्रधे द्रुपदे इत्यनवगते। तयोर्मतभेदेना-नेकार्थत्वमवगमं च लाघव न्निगमेनैव दर्शयिष्यामीत्युपन्यासाद् द्वयोरप्येकमुदाहरणम्।	'विद्रधे, द्रुपदे' इत्येते पदे एकनिगमे। द्वे अप्यनवगते, पक्षेण चानेकार्थे।
१५	कन्या कमनीया प्रार्थनीया भवति सर्वस्य। प्राक् प्रदानकालात् कन्यायाः पितुरेवं चिन्ता भवति। उद्वाहलक्षणेन नयनेन क्वेयं मया नेतव्या केनोद्वाहयितव्येत्यर्थः।	'कन्या कमनीया भवति' सर्व एव हि तां प्रार्थयन्त एव।..... दानायेत्येवं तां प्रति पिता चिन्तयतीति कन्या।
१५	'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' अत्र सुवास्तुर्नदी तस्यास्तुग्व तीर्थं तस्य तीर्णमेनत् इत्यादि निर्वचनम्। तीर्थं पानायावगाहनाय वा क्षिप्रमागच्छन्ति।	'तूर्णमेतदायन्ति'-इति शब्दसमाधिः। तीर्थमभिधेयम्। 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि'-इति निगमः।
१५	अत्र सौभराख्याने।....इतिहासः। सौभरिर्नाम ऋषिः।	सोभरेः काण्वस्येयमार्षम्, परा च। दानप्रशंसा।
१५	नंसन्ते इत्यनवगतम् नसन्ते इति प्राप्ते नमतेर्मकारात्परं सकारागमः।	'नंसन्ते-इत्यनवगतम् 'नमन्ते' इत्यवगमः। 'कुविन्नंसन्ते' इति निगमः।
१५	नसन्ते-इत्यनवगतम्। तदुपरिष्टाद् द्वादशे 'घृतस्य धाराः समिधो नसन्ते' इत्यत्र व्याख्यास्यामः। आहनस इत्यनवगतम्। आहननवन्त इत्यवगमः।	नसन्त इत्येतदुपरिष्टाद् द्वादशाध्याये व्याख्यास्यामः। 'अभि प्रवन्त समनेव योषाः' इति व्यख्याने। 'आहनसः' इत्यनवगतम्। आहननवन्तः-हत्यवगमः।
१६	'शुन्ध्युरादित्यो भवति शोधनात्' स हि तमसा व्याप्तं कृत्स्नं रश्मिभिः शोधयति। तमोऽस्मादपनयतीत्यर्थः। अथवा अशुद्धमशुचितः शुचीकरोति।	'शुन्ध्युवः' शोधयितुरादित्यस्य। आदित्यो हि यदप्यशुचिर्भवति, तदपि रश्मिभिः स्पृष्ट्वा शुचीकरोति। 'सूर्यः पवित्रमुच्यते' इति वक्ष्यति। तमांसि वा शोधयतीति शुन्ध्युः, तस्य शुन्ध्युवः।

१६	गौतमस्य राहूगणपुत्रस्यार्षम्।	राहूगणस्य गौतमस्येयमार्षम्।
१६	वाह इत्यनवगतार्थम्। कल्पाभेदाद्यानेकार्थम्। विश्वामित्रस्य। होताध्वर्युमाह।	'वाहः' इत्यनवगतम्। पक्षेण चानेकार्थम्। विश्वामित्रस्येयमार्षम्। त्रिष्टुप्। होता ब्रवीति हे अध्वर्यः।
१६	परितक्म्या इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।' परितक्म्या रात्रिः परित एनां तक्म' इत्यत्र प्रसङ्गाद् व्याख्यास्यामो लाघवार्थम्।	'परितक्म्या' इति एतत् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः षोडशाध्याये तत्र ह्येतत् 'किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट्' इत्येतस्मिन्मन्त्रे प्रसक्तमायास्यतीति लाघवार्थमुत्कृष्टमिति।
१७	सुविते इत्यनवगतम्। अनेकार्थविकल्पं च। सु इति इते सूते इत्यवगमौ। तानूनप्त्रं करिष्यन्नाज्यमभिमृशन्नाह।	'सुविते' इत्यनवगतमनेकार्थञ्च। 'सु इते सूते' इति वा शब्दसमाधी। अनेन तानूनप्त्रं संस्पृश्यते।
१७	दयते। दयतिरनैककर्मैव नत्वनवगतोऽपि सुवितादिवत्।	'दयति'- इत्येष शब्दः 'अनेककर्मा' कनेकार्थः। न त्वनेकविकल्पप्रकृतिः। यथा सुवितेशब्दस्यान्येनान्येन धातुना विगृह्याने-कार्थत्वमुक्तम्।
१७	'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि' इति दहतिकर्मा।	'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि'- इति दहनकर्मा। एतस्मिन्मन्त्रे दहतिकर्मा।
१७	मां विहायस इत्यत्र विहायोगतिकर्मणा दयतिनार्थमाह-डयमान इति। 'मा वायस' इत्यस्य शेषः।	'दयमान इति'। अत्र दयतिगत्यर्थः। दयमानो डीयमानः काकोऽन्तरिक्षेणाधस्तान्मां सुप्तं 'दोषा' दोषायामबोधयत्। मृग्योऽत्र शेषः।
१७	अनेकार्थत्वाद्य इहैकपदिके प्रकरणे समाम्नाताः। नानवगतत्वात्। नहि निपातानां व्याकरणे प्रकृत्यादिविभागोऽस्ति।	'नूचित्' इति एष निपातः अनेकार्थत्वेनेह समाम्नातः। न हि निपातानां प्रकृतिप्रत्ययादिः संस्कारोऽस्ति यस्यानवगमः स्यात्।
१७	दावने इत्यनवगतम्। ददातेः।........ दानस्य दानं वेत्यवगमः। तथा अकूपारस्य इत्यनवगतमनेकार्थं च। तस्याप्यकुपरणस्य इत्यवगमः। यथा मन्त्रव्याख्याने तथा दर्शयिष्यते। तयोश्चैकमेवोदाहरणम्।	'दावने' इत्यनवगतम्, 'दानस्य' इत्यवगमः। 'अकूपारस्य' इत्यनवगतमनेकार्थं च। 'अकुत्सितपरणस्य' इत्यवगमः। द्वयोरप्ये-तयोरेक एव निगमः।
१८	समुद्रोऽपीत्यादि सोऽपि ह्यकूपारो भवति यतो महापारः। अत्रापि पारशब्देन पालनमुच्यते पूरणं वा।	'समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते'। असावपि ह्यकुत्सितपार आत्मनैव भवति।
१८	कच्छपः कस्मात् कच्छं पातीत्यादि। कच्छपस्य पृष्ठे यत् कच्छ उच्यते तमसौ कलया तटाकादिप्रक्षिप्तलोष्टवधादेरधोनिमज्जत्वाद् रक्षति।	आख्यानप्रसक्तमुच्यते। 'कच्छपः, कच्छम्' आत्मनो मुखसम्पुटं 'पाति' रक्षति। स हि किञ्चिद् दृष्ट्वा शरीर एव मुखसम्पुटं प्रवेशयति। सम्पुटे हि कच्छशब्दः प्रसिद्धः। 'प्राणिवाच्यः कच्छशब्दः' इति च।

१९	च्यवन इत्यनवगतम्। च्यावन इत्येव न्याय्यम्। ऋषिरभिधेयः। प्रसिद्धत्वात् च्यवनस्य ऋषित्वे न निगमो दर्शितः। कक्षीवतो दुहिता कक्षीवत इत्यश्विनावाह।	'च्यवनः' इत्यनवगतम्। 'च्यावनः'- इत्येवमर्थप्रतीतिः। 'ऋषिर्भवति' इत्यभिधेयवचनम्।...... च्यवन इति प्रसिद्धमेवेति कृत्वा निगमं न पठति। काक्षीवत्या घोषाया इयमार्षम्। प्रातरनुवाका-श्विनयोः शस्यते। आश्विनावुच्येते।
१९	युवा तारुण्यात् शीघ्रं कुर्वन् प्रयौति प्रकर्षेण मिश्रयतीव कर्माणि। रज इति। रजः शब्दस्यानेकार्थत्वेनोपन्यासः। रजतेरिति धातुनिर्देशो न तु रजेः।........ तां चानेकार्थतां दर्शयति ज्योती रज उच्यते। तद्धि स्वभासा सर्वमनुरञ्जयति प्रकाश्यम्।........ प्रसिद्धत्वाद् भाष्ये न पठिता निगमाः।	निगमप्रसक्तमुच्यते। युवा प्रयौति कर्माणि मिश्रयति। 'रजः' इत्यनेकार्थम्। 'रजतेः' इति व्युत्पत्तिः। 'ज्योती रज उच्यते।' तद्धि- अनुरञ्जयति-द्रव्याणि स्वेन प्रकाशेन। भाष्यकारस्तु प्रचुरत्वादेतेषु निगमान्न पठति।
१९	हर इत्यनेकार्थम्। हरतेरिति धातुनिर्देशः। ज्योतिर्हरः। तद्धि हरति तमः।	'हरः' इत्येतदप्यनेकार्थम्। 'हरतेः'- इति व्युत्पत्तिः। 'ज्योतिर्हर उच्यते। तद्धि ह्रियते हरति वा स्नेहं विरूक्षीकरोति हरति वा तम इति हरः।
१९	व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा। व्यन्त इत्यत्र य एष धातुः स दयतिवदनेकार्थः।	'व्यन्तः' इत्येषोऽनेककर्मा। यस्माद्धातोरयं शब्दोऽभिनिष्पद्यते स धातुरनेककर्मानेकार्थः।
१९	'वीतं पातं पयसः' इत्यत्राश्नातिकर्मा।...... क्राणा इत्यनवगतम्। कुर्वाणा इत्यवगमः।	'वीतं पातं पयसः' इत्यत्राशनार्थः। क्राणाः' इत्यनवगमत्। कुर्वाणाः- इत्यर्थ प्रतीतिः।
१९	विषुण इत्यनवगतम् विषम इत्यवगमः।	विषुणस्य- इत्येतदनवगतम्। विषमस्य इत्यवगमः।
१९	जामिरित्यनवगतम्। अनेकार्थं च। अतीरे बालिशसमानजातीयविषयत्वात्।	'जामिः'- इत्येतदनेकार्थम्। 'भगिनी, बालिशः, पुनरुक्तं' चास्याभिधेयानि।
२०	यमीयमसंवादे यमी यमं चकमे। तां सोऽनया प्रत्याचष्टे।	यमी किल यमं प्रार्थयाञ्चकार-'एहि मैथुनाय सङ्गच्छावहा' इति। तामकामयमानोऽसावनयर्चा प्रत्युवाच।
२०	बालिशस्य वा अञ्चतिकार्येषु मुग्धः शेत इति बालिशो मूर्खस्तस्य वा नाम। स हि जात एव केवलं न कस्मैचित् पुरुषार्थायालम्। तत्र निगमः पर्येष्यः।	'बालिशस्य वा। बालिशस्यैतदेव नाम। बालिशो मूर्खः। स हि बाल इव शेते प्रमादित्वाद्धर्मकार्येषु। एतस्यापि पर्येष्यो निगमः।
२०	सा स्त्रीत्वादेव भगिनी भ्रातुरसमानजातीया इत्युच्यत इति व्याचक्षते।	सा हि स्त्रीत्वादेवातुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति।
२१	शंयोरिति द्वैपदमेतदनवगतम्। द्वे नात्मनस्ततः शमित्येकमनवगतम्। शमनमित्यवगमः। योरिति द्वितीयम्। अन्यस्यापि यावनमिति।	एवं पञ्चम्यर्थासम्भवं षष्ठ्यर्थासम्भवं च पश्यन् भाष्यकारः 'शंयोरित्येकं पदं द्वितीयान्ते द्वे पदे चकार, 'शम्'इति,'योः' इति च। शमित्यस्य 'शमनम्' इत्यर्थं निराह योरित्यस्य यावनमिति।

२१	शंयुर्नाम बृहस्पतेः पुत्र इति सोऽपि शंयोरित्यनेनोच्यते 'तच्छंयोरावृणीमहे' इत्यत्र।	अपि यथावस्थितेनैवाविभक्तेन बार्हस्पत्यो बृहस्पतेः पुत्र उच्यते। तस्याप्येतदेव नामेत्यपिशब्दः।
२१	बार्हस्पत्यः शंयुराह।	इयं शक्वरी। शंयोरेव बृहस्पतिपुत्रस्यार्षम्। शंयोर्वाकि विनियुक्ता।
२२	अदितिरित्यनवगतम्। अनेकार्थत्वञ्च दर्शन- भेदेन। कथम्? ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणः। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः।	'अदितिः' इत्यनवगतम्। 'अदीना' इत्यवगमः। 'देवमाता' अभिधेयैतिहासिक-पक्षेण। नैरुक्तपक्षेण पुनर्यान्येतस्यामृचि वक्ष्यमाणायां द्यौरित्येवमादीनि पदानि श्रूयन्त एतान्येवादितिशब्देनोच्यन्ते।
२३	अदीनपर्यायो वा नैरुक्तपक्षेऽदितिशब्दो न देवमातृवचनः। अत आह। एनान्यदीनानीति वा इति। अक्षीणा द्यौः। तथान्तरिक्षादीनि। अध्यात्ममपि अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च तत्प्रभवत्वे सति सर्वमदितिरिति व्यारव्येयम्।	एवमनेन मन्त्रेण मन्त्रदृग् 'अदितेर्विभूतिमाचेष्टे' देवमातुस्तदेतत्सर्वमप्युपपद्यत एव माहाभाग्याद्देवतायाः। तदुत्तरत्र वक्ष्यामः। एवमैतिहासिकपक्षेण। नैरुक्तपक्षेण पुनः एतानि द्युलोकादीनि सर्वाणि 'अदीनानि' अनुपक्षीणानीति योज्यम् न ह्येषां क्षयोऽस्तीति।
२४	वस्त्रं वस्तेराच्छादनार्थस्य। आच्छाद्यते हि तत्।	'वस्त्रं वस्तेः' आच्छादनार्थस्य, तद्ध्याच्छाद्यते।
२४	उपक्षीणो ह्यसाविह लोके आयुषा यदा राज्ञा मारयिष्यमाणत्वात्। परलोकेऽपि धर्मेण अधर्म कारित्वात्।	उपक्षीणो ह्यसौ भवत्यधार्मिकत्वात्। परलो-कमनपेक्ष्य कल्पयति कर्माणि।
२४	यूथं यौयेः। समायुतं भवति। समायुतं 'समिश्रं' स्त्रिभिः पुंभिर्बालैर्वृद्धैः पशुभिः। मन्दिने इत्यनवगतम्। मन्दतेः स्तुतिकर्मणो घञि मदनं मन्दः स्तुतिस्तिद्वान् मन्दी।	'यूथं यौतेः' तद्धि समायुतं भवति। एकत्र मिश्रीभूत स्त्रीपुरुषबालवृद्धैः पशुभिः। मन्दिने-इत्यनवगतम्। मन्दतेः स्तुत्यर्थस्य मन्दनीयः स्तुतिमान् वेत्यर्थप्रतीतिः। 'मन्दति शंसति' इति स्तुतिकर्मसु पठितम्।
२४	गौरित्यनेकार्थः। स निर्वचनतोऽभिधेय तश्च पुरस्तात् सप्तमे व्याख्यातः।	'गौः' इत्येतदनेकार्थत्वादिह समाम्नातम्। यथा चैतदनेकार्थं तथा पुरस्ताद् व्याख्यातम्।
२५	दंसय इत्यनवगतम्। कर्माणीत्यभिधे-यवचनम्।...... दर्शयन्ति हि तानि तत्कारिणो दृश्यन्त इति वा दंसयः। अथवा 'तसूपक्षये दसु च' इत्यस्य। उपक्षेतव्यानि हि तानि अन्तन्नेतव्यानीति।	'दंसयः'- इत्येतदनेकेषां कर्मणामभिधानम्। तानि हि दंसयन्त्युपक्षयन्ति कर्मकराः।
२५	यस्मै त्वं यस्यार्थाय त्वमायजसे। आङ् मर्यादायाम्। यथाशास्त्रं यजसि देवान् दैव्ये होतृत्वे वर्तमानः। स साधति साधयत्यात्मनोऽभिप्रेतानि। अनर्वा अप्रत्यृतोऽपराश्रितश्च। क्षेति क्षियति निवसति स्वस्मिन् स्थाने।	हे भगवन्नग्ने! यस्मै यजमानाय त्वमाहूय यजसे देवान् होतृत्वेऽवस्थितः स एव साधति साधयत्यात्मनोऽभिप्रेतार्थम्। किञ्च। स एव अनर्वा अप्रत्यृतः अनाश्रितः किञ्चदन्यम, महिम्ना युक्तः। क्षेति निवसति युष्मदनुग्रहात्।

२५	वियुते।..........द्यावापृथिव्यावभिधेये। वियव-नादिति निर्वचनम्। विमिश्रणं सह सत्योः पृथक्पृथग्भवनम्।	'वियुते'-इत्येतदेकमेव समस्तयोर्द्वयोरपि द्यावापृथिव्योरभिधानम्। वियवनादिति निर्वचनम्। यौतिर्मिश्रणार्थः। तस्योपसर्ग-सामर्थ्याद्विपर्ययेणार्थो भवति। विमिश्रीभूते इत्यर्थः।
२५	ऋधगित्यनवगतम्। अनेकार्थं चावगतम्। अनेकार्थं दर्शयति पृथग्भावस्येत्यादिना। पृथग्भावोऽनुप्रोच्यते येन तत् पृथग्भावस्यानु-प्रवचनम्। वाचकमित्यर्थः।	'ऋथक्' इत्यनेकार्थम्। 'ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति' पृथक्त्वमेव पृथग्भावः। तस्येदं प्रवचनं भवति, सोऽनेन प्रोच्यत इत्यर्थः।
२५	अपरे वर्णयन्ति। प्रथमं प्रधानं तस्यादेशः प्रथमादेशस्तद्विषयमुदात्तम्। गुणोपदेशविषयमनुदात्तम्। अगुणभूतस्य पश्चादादेशाद् इति।	'उदात्तं प्रथमादेशे'। प्रथम इति मुख्यनाम, मुख्यश्च प्रधानमित्युच्यते। कश्चिदर्थम-भिदधदेतत्पदद्वयमुदात्तं भवति। 'अनुदात्त-मन्वादेशे'। प्रधानमर्थमनु यो वर्तते गुणभावेन तस्यैतत्पदद्वयमन्वादेशे वर्तमानमनुदात्तं भवति।
२५	यथा 'अस्या ऊ षु ण' इत्यर्थसातेः प्रथमादेशत्वादस्या इति तद्विषयत्वादुदात्तम्।	एवमत्र सातिः प्रधानेति कृत्वा 'अस्याः' इत्येतत्पदमन्तोदात्तम्। अन्तोदात्तमपि च सदुदात्तमित्युक्तं भाष्यकारेणैकदेशस्योदात्त-त्वात्।
२५	तीव्रः स्फुटोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तीव्रार्थमतिशयेन तीव्रार्थतरं यदुदात्तं तदतिशयेन स्फुटप्रयोजनम्।	उच्यते-लोकेऽपि हि यत् 'तीव्रार्थतरम्' उत्कृष्टार्थं प्रधानतरं तत् 'उदात्तम इति प्रसिद्धम्।
२५	अथानुदात्तमुदाह्रियते-''पुनः पत्नीमग्निः.... शरदः शतम्।''	अथ पुनर्यस्मिन् 'अनुदात्तम्' एतत्पदं गुणभूतार्थाभिधायि भवति तस्यैष निगमः- 'पुनः-पत्नीमग्नि.......शरदः शतम्।''.......
२५	अस्येति अस्या इत्येतेन व्याख्यातम्। उदाहरणमत्र व्याख्यातं तदुच्यते। एवमत्र अस्यत्येतद्-अस्य वामस्य इत्युदात्तत्वं प्रथमादेशे वर्ण्यते। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य इत्येतदनुदात्तमन्वादेशे तेनै तयोरप्युदात्तानुदा-त्तयोरेकमेवोदाहरणम्।	अस्येति एतत्पदं पुंविषयं षष्ठयन्तम् अस्याः इत्यनेनैव स्त्रीविषयेण पदेन व्याख्यातम्। तस्मात् 'अस्य वामस्य'-इत्येषः 'अस्य' शब्दोऽन्तोदात्तः। वायुरत्राप्रधानम्। तस्मात् 'तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो 'अस्य' इत्येषः 'अस्य'-शब्दोऽनुात्तः। एवमेकस्मिन्मन्त्र उदात्तानुदात्तावेतौ 'अस्य' शब्दौ प्रधानाप्रधानविषयावित्येकमेवोदाहरणम्।
२६	सप्त सृप्ता संख्या गता षड्भ्यः सकाशात्। सप्तपुत्रमित्यस्य सप्तसंख्याका रश्मयः पुत्रा यस्येति यदुक्तं निर्वचनं तस्यापवादेनार्थमाह सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति।	'सप्त सृप्ता संख्या' षड्भ्यः सकाशात्। एवं सप्तसंख्योपेताः, सर्पणक्रियायोगिनो वैत एव 'आदित्यरश्मयः' अस्यादित्यस्य पुत्रा इति मन्त्रविदो मन्यन्ते।
२७	त्रिनाभि नाभित्रयं ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इत्येते ऋतवो नाभिस्थानं यस्य तत् त्रिनाभि।	'त्रिनाभिचक्रम्' 'त्र्यृतुः' हि 'संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति'-अनेन ऋतुप्रविभागेन। एतदेवास्य त्रिनाभित्वम-भिप्रेतम्।

२७	संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि संवासो मैथुनं तद् भूतानि संवत्सरे कुर्वन्ति तान्यत्र संवत्सरादन्यस्य कालस्याभावात्। कथं पुनर्ज्ञायते संवत्सरप्रधान-उत्तरोऽर्धर्च इति, यावता त्रिनाभीत्यादिरुपकल्पनयाऽन्यस्यापि कस्यचित् सम्भवत्येवेयं स्तुतिः ?	'संवत्सरः संवसन्त्यस्मिन्'-इति प्रसक्तानु-प्रसक्तम्। समस्तानि हि भूतानि एतस्मिन् संवसन्ति। मैथुनाभिप्रायो वा स्यात् संवासः।........ आह-कथं गम्यते संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्द्धर्च इति, न हि संवत्सरग्रहणमत्रास्ति।
२७	इत्यत्र तावत् पञ्चर्तुतया।	इति पञ्चर्तुतया संवत्सरस्य स्तुतिः।
२७	'षडर आहुरर्पितम्' इति षड्तुतया। पञ्चर्तवः पादा यस्य स पञ्चपादस्तं पितरं पातारं वा सर्वस्य। द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतिराकारो यस्य स द्वादशाकृतिस्तम्।	'षडर आहुरर्पितमिति षड्तुतयाश्संवत्सरस्य स्तुतिः पञ्चपादं संवत्सरम्। ऋतवो हि संवत्सरस्य पादाः। तैरसौ पतति गच्छति। पितरं पालकं सर्वभूतानामुत्पादयितारं वा। द्वादशाकृतिं द्वादशमासप्रविभक्तविग्रहम्।
अ ५ १	अत्र यदन्ननाम तस्याध्यानीयं भवतीत्यवगमः। आभिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नं प्रीतेः शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात्।	'आध्यानीयम्' इत्यर्थप्रतीतिः। प्रार्थनीयमन्नं भवति सर्वस्यैव।
१	अमा पुनरमत्रं भवत्यपरिमाणम्, न हि यत्पात्रे दत्तं तस्य परिमाणमस्ति।	'अमा'-शब्देन पुनर्यद् 'अनिर्मितिम्' अपरिमाणं किञ्चिद् भवति, तदुच्यते, न हि तेषां परिमाणमस्ति, यावन्तस्तस्मिन्नदन्ति।
१	स्त्रियः सतीस्तमोपनयनान्नापक्त्यादिना कृत्स्नस्य जगत् इत्यर्थः।	एत एवान्नपक्त्यादिनोपकारेणोपकुर्वन्ति जगत्त्रायन्ते। एत एव बुद्धेः सर्वार्थप्रकाशित्वे नोपकुर्वन्तीत्यभिप्रायः।
१	आदित्यान्तरपुरुषो हि बुद्ध्याधिदैवतं तदवयवभूताश्च रश्मयः।	आदित्यान्तरपुरुषो हि बुद्ध्यधिदेवता। तदवयवभूताश्च रश्मयः।
१	असश्चन्तीत्यनवगतम्। उदाहरणे रोदस्यादि-समानाधिकरण्याद् द्यावापृथिवीविशेषणम्।	'असश्चन्ती'-इति द्यावापृथिवीविशेषण-मित्येतदुपपद्यते। असज्यमाने इति। न हि ते सज्येते परस्परतः।
२	वनुष्यतीत्यनवगतम्। हन्तिकर्मेत्यर्थावगमं दर्शयति। यतो नायं हन्त्यर्थत्वे तु प्रसिद्धः। अनवगतसंस्कार इत्यनेन शब्दावगमः।	'वनुष्यतिः'-हन्तिकर्मा हन्त्यर्थे वर्तमानः, अनवगतसंस्कारो भवति।
२	संग्रामे ह्यभिभवनव्यतिरेकेण वध एव संभवतीति सामर्थ्याद् हन्तिकर्मेत्युक्तम्।	एवमेतस्मिन्मन्त्रे-'सासह्याम पृतन्यतः'-इत्येतस्मिन्संग्रामाधिकारे वनुष्यतेर्हन्त्यर्थत्वमुपपद्यते। न हि संग्राममेत्य हननादन्यत्कर्तव्यमस्ति,यत् क्रियते।

२	पापत्यमानः, अथवा विषयासक्त्याऽत्यर्थं पात्यमानः। अवाङेव अधो नरकमेव पतति प्रायश्चित्ताकरणाद् नोर्ध्वमिति पापः। अधोभावविष्ठाक पततेः पाप इत्यर्थः।	'पापत्यमानः' पुनः पुनः पात्यमानः, तेनैव पापेन कर्मणा 'अवाङेव नरकमेव प्रति पतति-असौ तस्माद् वा पापः।
२	भन्दना........भन्दतेः स्तुत्यर्थत्वमप्रसिद्धमिति अर्चतिकर्मसु पाठं दर्शयन्नाह-भन्दतेः स्तुति- कर्मणः स्तुत्यर्थे वर्तमानस्येति।	'भन्दना'-भन्दतेः स्तुतिकर्मणः स्तुत्यर्थे वर्तमानस्य।
२	आहन इत्यनवगतार्थरूपस्य-'अन्येन मदाहन' इत्युदाहरणोपक्षेपः। आहंसीवेत्यादि समाधिप्रदर्शनम्। आहन्तीति समाधिः। संवादसूक्ते-'को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः' 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां' इत्येवं यम्या यः	'आहनः' इत्येतदसतः सम्बोधनमनवगत-मप्रतीयमानार्थत्वात् 'आहंसि' इत्यर्थप्रतीतिः। यमस्य यम्याश्च संवादसूक्तं तत्र यमस्येयमार्षम्। स यमीं मैथुनाय प्रार्थयमानां ब्रवीति।
२	समायोगं प्रत्यभियोगस्तां प्रत्याह।	रेणुर्नाम विश्वामित्रस्य पुत्रस्तस्येयमार्षम्।
३	विश्वामित्रेरेणोरिन्द्रस्तुतिः।	ऐन्द्रे सूक्ते सूर्यस्तुन्नामैकाहस्तत्रेयं निष्केवल्य-शस्त्रे निविद्धानीये शस्यते।
३	एवम श्नोतेरक्षा इत्येके आचार्या इति शेषः।	एवमेतस्मिन्मन्त्रे व्याप्त्यर्थस्य 'अश्नोतेः, अक्षा इत्येष शब्दो निरुच्यत इत्येवमेके मन्त्रार्थविदो मन्यन्ते।
३	एवं चायं क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम इति द्वितीयः पक्षः। यदा तु शाकपूणिपक्षः समे क्षियतिनिगमा इति तृतीयः।	एवमेतस्मिन्मन्त्रे-'क्षियतिनिगमः पूर्वः'...... 'क्षरति-निगम उत्तरः'..एवमेके मन्त्रार्थविदो मन्यन्ते। तच्चैतत्तथैवोपव्याख्यातम्। सर्वे एवैते त्रयोऽपि 'क्षियतिनिगमाः' निवासार्था इति शाकपूणिराचार्यो मन्यते।
३	श्वात्रमित्यनवगतम्। क्षिप्रनामेत्यभिधेयवचनम्। आश्वतनमिति प्राप्तिवचनम्। आश्वतनमेततरा-कारस्य मध्यमानुप्रवेशेन वर्णलोपव्यापत्यादिना आश्वतनः क्षिप्रगमनश्च।	'श्वात्रम्'-इत्यनवगतम् 'आशु अतनं भवति'-इति शब्दसमाधिः। क्षिप्रनाम इत्यभि-धेयवचनम्।
३	हासमाने इत्यनवगतम्। तदुपरिष्टात् 'प्र पर्वतानाम्' इति चतुर्दशे प्रसङ्गाद् व्याख्यास्यामः।	हासमाने-इत्येतत्पदमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः 'प्र पर्वतानामुशती उपस्थात्' इत्यत्र।
३	किञ्च तत्रोपसर्पन्तं ससं न स्वप्नं यथा एतदष्टौ मासान् स्वपनशीलं निर्व्यापारमनभिव्यक्तं क्वापि निलीनं वर्षासु पक्वं सदभिव्यक्तमित्यर्थः। किं पुनस्तत्। भाष्यकार आह। माध्यमिकं ज्योतिर्विद्युदाख्यम्। सर्वदा अदर्शनादनित्यं दृष्टनष्टस्वभावकं वा।	'ससं न पक्वमविदत्, यथैव स्वपनशीलं 'माध्यमिकं ज्योतिर्वैद्युताख्यं पक्वमभिव्यक्तं वर्षासूपर्यवस्थानादयत्नेनैव दृश्यते,...तस्माद-नित्यदर्शनात् 'स्वपनम्'-इत्युच्यते। पक्ति-र्नामाभिव्यक्तिरित्युच्यते।

३	मृगमिव यथा मृगं महता यत्नेन व्रा वरणा वरितारो नेष्टारो ऽह्वतिकृतत्वसामान्यं वा। व्रा व्रात्यस्थानीया लुब्धकादय इहाभिप्रेताः। तद्वदिन्द्रं मृगयन्ते।	व्रात्याः प्रैषाः युष्मत्संस्तवयुक्तास्त्वां प्रति प्रहिता, मृगमिव इतरे लुब्धक व्रा व्रात्याः। मृगयन्ते मार्गयन्ते त्वाम्।
३	वरमुदकलक्षणमाहारो यस्येति वा वरमुदकमाहरतीति वा कर्मोपपदे वराहारः सन् वराहः।	'मेघः' तावद् वराह उच्यते, स हि वराहारो भवति। तस्य हि वरमुदकमाहारः।
४	अयमपीतरोऽसुरवराहः पशुवराहो वा एत-स्मादेव वराहारत्वाद् वराहरणत्वाद् वा। तत्रासुरवराहस्य श्रुत्या निर्वचनं प्रदर्शयति- 'वरमाहारमाहार्षीदिति'।	'अयमपीतरो वराह एतस्मादेव' असावपि हि वरं मूलाख्यमाहारमाहरत्येव। 'वरं वरं मूलं बृहति' उद्यच्छतीत्यर्थः। यथायमपीतरो वराहशब्दश्छन्दसि वराह इत्युच्यते, तथैव निगमः।
४	अत्रोच्यते। कथं पुनरसत्यङ्गिरः शब्देनाङ्गिरसोऽत्र वराहा उच्यन्त इति गम्यते? उच्यते। सखिभिरित्यनेन तेषामुपादानात्। अङ्गिरसो हि बृहस्पतेः सखायः। तथाहि अत्रैव सूक्ते जागते बृहस्पतेः सखिव्यपदेशोऽङ्गिरसां दृश्यते।	एतस्यामृचि-अङ्गिरसां विशेषलिङ्गं नास्ति वराहशब्दवाच्यत्वे। सूक्ते त्वेतस्मिन्नङ्गिरसो लिङ्गमस्ति।
४	अङ्गिरसां च मध्यमदेवगणत्वेऽपि ऋषित्वात्पृथग् ग्रहणम्।	अङ्गिरसो ह्यृषिसमाख्यामपि लभन्ते। तस्मान्माध्यमकत्वेऽपि सति पृथगुद्धृत्योक्ताः।
४	स्वसराणीत्यनवगतम्। अहानीत्यभिधेयवचनम्। स्वयं सारीणीत्यर्थावगमः। स्वयमेव तानि गच्छन्ति नहि कश्चित् सारयन् दृश्यते। अपि वा स्वरादित्य एनानि सारयति। तदुदयास्तमयाभ्यां तानि गमयति।	'स्वसराणि' इत्यनवगतम्। 'स्वयं-सारीणि'-इत्यवगमः। 'अहानि'-इत्यभि-धेयवचनम् तानि हि स्वयमेव सरन्ति गच्छन्ति। 'अपि वा स्वरादित्यः' अत्रोच्यते- 'स एनानि सारयति' गमयति। तेनैतानि स्वसराणीत्युच्यन्ते।
४	शर्या इत्यनवगतम्। इषव इत्यभिधेयवचनम्। शरमय्य इत्यवगमः। शरविकारश्चात्र संस्कारविशेषोऽभिप्रेतः।	'शर्या-इत्यनवगतमत्। 'शरमय्यः'-इत्य -वगमः। 'इषवः'-अभिधेयाः।
४	अर्क इत्यनेकार्थम्। अर्चतेरौणादिकः कर्मसाधनः। यस्माद्देवमर्चन्ति। मन्त्रैः करणसाधनः।	'अर्कः' इत्यनेकार्थम् 'देवः' तावत्सर्व एवार्क इत्युच्यते। आह-किं कारणम्? इति उच्यते-यस्मात् 'एनम्' देवम् 'अर्चन्ति' स्तोतारः।
५	पविरित्यनवगतमनेकार्थं च। रथनेमिरित्य-भिधेयवचनम्। रथश्चक्रधारेत्यर्थः।......	'पविः'-इत्यनवगतम्। 'रथनेमिर्भवति' इत्यभिधेयवचनम्।
५	यद् यस्माद् विपुनाति विपाटयति भूमिम्।	सा हि विपुनाति भमिमिति पविः।
५	ब्राह्मणमप्यस्मिन्नर्थे उदाहरन्ति। सान्तपनीयं हविः प्रकृत्य श्रूयते-'देवा वै वृत्रस्य मर्म नाविन्दन्......'।	ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नेवार्थे चातुर्मास्येषु सान्तपनं हविरधिकृत्य-'देवा वै वृत्रस्य मर्म नाविन्दन्....... इति।

५	धन्वेत्यनवगतम्। अन्तरिक्षमित्यभिधेयवचनम्। धन्वन्ति गच्छन्ति धवं सन्ति अस्मादाप इति निर्वचनम्। धन्वना इत्यवगमः। सिनमित्यनवगतम्। अन्नमित्यभिधेयवचनम्। सिनाति भूतानीति धातुदर्शनम्।	'धन्व' इत्यनवगतम्। 'धन्वनम्'-इत्यवगमः। 'अन्तरिक्षम' इत्यभिधेयवचनम्। 'धन्वन्त्यस्मादापः'-इत्यनवगतम्। 'सिनाति'- इति शब्दयुक्तिः। 'अन्नं भवति' इत्यभिधेयवचनम्। 'सिनाति भूतानि'-बध्नातीत्यर्थः। अन्नेन हि सर्वाणि भूतानि बध्यन्ते।
५	सचा-इत्यनवगतो निपातः। सहेत्यर्थः।	'सचा' इत्यप्रतीतार्थो निपातः। 'सह'-इत्यर्थप्रतीतिः।
५	आ इत्याकार उपसर्गो यः पुरस्तादेव 'इत्यर्वागित्यर्थे'-इत्यत्र व्याख्यातः। पुनश्च अथाप्युपमार्थे दृश्यत इति निपात इत्युक्तः।	'आ-इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः, 'आ इत्यर्वागर्थे' इति। 'अथापि चोपमार्थे दृश्यते' निपातत्वेन 'जार आ भगम्' इति।
५	द्युम्नमित्यनवगतम्। द्योततेरिति धातुनिर्देशः द्योतनमित्यवगमः। यशो वा अन्नं वेत्यभिधेयवचनम्।	'द्युम्नम्'-इत्यनेकार्थम्। 'यशो वान्नं वा' इत्यभिधेयवचनम्।
६	एवं तर्ह्यनेकार्थत्वादुपन्यासः। स च मन्त्रादिषु करणसाधनः। अग्न्यादिषु कर्मसाधनः। तदेतत् 'पवित्रं पुनातेः, मन्त्र पवित्रम्'-इत्यादिना भाष्यकारेण दर्शितम्।	'पवित्रम्'-इत्यनेकार्थम्। 'पुनाते-इति धातुनिर्देशो निर्वचनाभिप्रायः। 'मन्त्रः पवित्रमुच्यते'-इत्यभिधेयवचनम्।
६	ननु मन्त्रद्वये रश्मीनां पवमानसम्बन्धमात्रं गम्यते नाभिधानं पवित्रशब्देन। एवञ्च'पवित्रवन्तः परि वाचमासते' इत्युदाहरणम्। तच्चोपरिष्टाद् व्यारव्यास्यते। अग्न्यादयोऽपि पवित्रमुच्यन्ते तेऽपि हि पावयन्ति जगत् स्वेन स्वेन स्पर्शनादिद्वारेण।	एवमत्र 'गभस्तिपूतः' इत्येतस्मात्पावन-सम्बन्धाद्रश्मीनां पवित्रत्वमुपपद्यते। कश्चित् 'पवित्रवन्तः परि वाचमासते' इत्येष निगमो विधीयते। अग्न्यादयोऽपि ह्येतेनोच्यन्ते। एतेऽपि हि सर्व एव पावयन्ति।
७	यद् यस्माद् अन्यदेवत्या अप्यग्नावाहुतयो हूयन्ते सवनीयादिदेवेभ्यो विभजन्ते भृत्यजनेभ्य इत्येवमेतद् दृष्ट्वा उपलभ्य पतित्वं सर्वहविषामित्येवमवक्ष्यद् मन्त्रदृक्।	यस्मादन्यदेवत्याश्चान्यदेवत्याश्चापरिसंख्येया अग्नावाहुतयो हूयन्ते, न चाग्नेस्तासां ग्रहणशक्तिपरिहाणमस्ति, न च ज्ञायते श्वभ्रबिल इव निषिक्ता आपः क्वापि गच्छन्ति ता आहुतय इत्येतत्सामान्यं दृष्ट्वैमवोचन्मन्त्रदृक्।
७	स्वञ्चा इत्यनवगतम्। सुगमन इत्यर्थः। तयोः पूर्वं कुत्सितार्थीयमौपमन्यवो मन्यते।	'स्वञ्चाः'-इत्यनवगतम्। 'सु-अञ्चनः'-इत्यवगमः। अनयोर्द्वयोरपि नाम्नोर्यत् 'पूर्वं' तत् 'कुत्सितार्थीयं भवतीत्यौपमन्यवः' आचार्यो मन्यते।
८	आचार्यमतेन यदा तु शिपयो बालरश्मय उच्यन्ते तैराविष्ट इति, एवमेतत् प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्।	अपि वा प्रशंसागुणयुक्तमेवैतन्नाम स्यात्। 'शिपिविष्टः' इति। आह कथम्? इति। उच्यते-शिपयोऽत्र-अस्मिन् प्रशंसानामपक्षे रश्मय उच्यन्ते।

९	आघृणिरित्यनवगमः। आहृतदीप्तिरागतक्रोधो वेत्यर्थः। अतश्चानेकार्थमपि।	'आघृणिः' इत्यनवगतम्। 'आगतहृणिः' इत्यवगमः। आगतदीप्तिरागतक्रोधोवाभिधेयः।
९	अथर्युमित्यनवगतम्। अतनवन्ततित्यवगमः। अततेरथरादेशः। युर्नामकरणः।	'अथर्युम्'-इत्यनवगतम् 'अतनवान्'-इत्यवगमः।
१०	काणुकेत्यनवगतमनेकार्थं च। कान्तकानी-त्यादयोऽवगमाः।	'काणुका'-इत्यनवगतम्, अनेकार्थं च। 'कान्तकानीति वा, क्रान्तकानीति वा' इत्येवमाद्याः शब्दसमाधयः।
११	तत्रैतस्मिन् सन्देहे एतद् याज्ञिकाः स्वमतं वेदयन्ते ज्ञापयन्ति। याज्ञिकानां तावदेतन्मत-मित्यर्थः। माध्यन्दिने सवने त्रय उक्थषिशेषः।	तत्रैतस्मिन्-त्रिंशच्छब्द एतदभिधेयमर्थवस्तु याज्ञिया वेदयन्ते कथयन्ति। 'त्रिंशदुक्थ-पात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि' इति। तत्र हि माध्यन्दिने सवन उक्थपर्यायास्त्रयो-ऽथैन्द्रा एव भवन्ति।
११	तच्छब्देन चोभयस्यापि प्रतिनिर्देशाद् यस्मिन् प्रैष उपदेश उभयमस्ति अध्रिगुशब्दः प्रैष च तयोरेवोपन्यस्यति 'अध्रिगो शमीध्वम्' इत्यादिना।	अध्रिगुर्नाम कश्चिदस्ति दैव्यः शमिता। तस्यैतत्प्रशासनं स्यात्। सम्प्रेषणमित्यर्थः। किं कारणम्। 'तच्छब्दवत्त्वात्'। तथा ह्यस्य मन्त्रस्याध्रिगुशब्दवत्त्वम्। तदेतदुपपद्यते। तद्गतेनैव निगमेन-'अध्रिगो शमीध्वम्' इति।
११	प्रैषस्तु सर्वेषां देवानां शमितृणां चेति तच्छब्दपरत्वादेवास्य मन्त्रस्य अध्रिगुशब्देना-भिधानमित्युक्तम्।	एवमेतस्मिन् दैव्यस्य् शमितुरध्रिगोः प्रशासनमित्येतदुपपद्यते, तस्य सम्बोध्य-त्वादस्मिन् प्रैषे बहूनि। अस्मिंश्च प्रैषे यथासम्भवं प्रशासनानि द्रष्टव्यानि 'प्रास्मा अग्निं भरत' इत्येवमादीनि।
११	एवमत्र अध्रिगो, शचीवः, अग्ने इति सामानाधिकरण्यादधृतगमन इत्युपपन्नमग्ने-र्विशेषणमिति। इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यत एव। न तस्यापि कश्चिद् गमंन प्रतिबन्धुमुत्सहते।	एवमत्र 'अध्रिगो' इत्यग्निरुक्तः, तस्मादग्ने-रध्रिगुत्वमुपपद्यते। 'इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते'। तस्यापि न कश्चिद् गमनधारयितास्ति।
११	आपान्तमन्युरित्यनवगतमनेकार्थं च आपा-तितमन्युरित्यवगमः। सोमो वेन्द्रो वाभिधेयः।	'आपान्तमन्युः'-इत्यनवगतम्, पक्षेण चानेकार्थम्। आपातितमन्युः' इत्यवगमः।
१२	अथेन्द्रस्य कथमृजीषित्वमित्याह-अथाप्ययमैन्द्रो निगम इन्द्रस्यापि ऋजीषित्वे लिङ्गं भरति।	अथ यस्मिन्पक्षे ऐन्द्रः एषोऽर्धर्चो भवति, तस्मिन्पक्षे इन्द्रस्य ऋजीषित्वाभिधायक एव मन्त्रो भवति। इन्द्रस्य ऋजीषित्वमनुपपन्नं मन्यमानो निगमं पठति।
१२	हर्योरश्वयोरस्येन्द्रस्य स्वभूतयोः स भाग ऋजीषं धानाश्च। अस्ति तृतीयसवने हारियोजनो नाम ग्रहः। तस्यैष प्रैषः।	हर्योरवाश्वयोरस्येन्द्रस्य स भागो यदृजीषम्। धानाश्च। प्रसङ्गादत्र धाना उक्ताः। हारियोजनास्यायं प्रैषः।

१२	श्मशेत्यनवगतमनेकार्थं च। श्म शरीरं तस्य व्यापिनी श्माशिनीत्यवगमः। कुल्या नदी वाभिधेया।	'श्मशा'-इत्यनवगतम्। 'श्वाशिनी' इत्यव-गमः। 'श्माशिनीति वा'। श्वाशिनी-शीघ्राशिनी शीघ्रव्यापिनी कुल्या नदी वा। श्माशिनी पुनर्नाडी। सा हि श्म शरीरं व्याप्नोति। एवमेतदिह विगृह्यमाणमनेकार्थमपि भवत्येव।
१३	उर्वश्यश्नुत इत्यादि व्युत्पत्तिकथनम्। उरु महत् स्थानं यशो वा व्याप्नोतीति उर्वशीत्यवगमः। अप्सारिणीत्यप्सराः,अन्तरिक्षे वा विचरन्ती उदके वा तत्प्रभवत्वस्मरणात्। स्त्रीजलक्रीडाभिप्रायेणाप्सरः।	'उर्वभ्यश्नुते'-इति व्युत्पत्तिः। उरु महद् यशोऽभिव्याप्नोतीति। सा हि 'अप्सारिणी' भवति। अपः प्रति नित्यमेव सरति तत्प्रभवत्वात्। तदेव तस्याः प्रियमुदकम्, तस्मादप्सराः।
१३	करम्भपात्रहोमे दम्पत्योर्यजमानयोग्यं मन्त्रः। अस्मिन्निगमेऽप्सशब्दोऽभक्ष्ये दृष्ट इत्येतद-वष्टम्भादप्सातेरप्सो नाम इति।	वरुणप्रघासेषु करम्भपात्रहवने पत्नीयजमानयोर्मन्त्रः। 'अप्सः' इत्येष शब्दोऽभक्षस्याभिधायको दृष्टस्तस्मात्साधूक्तत्-'अपि वाप्स इति रूपनामाप्सातेः' इति।
१४	भक्षणेन चात्र सम्भोगहेकुत्वं लक्ष्यते सम्भोगहेतुमित्यर्थः। भक्षणीय एव वस्त्रीयोन्याः।	स हि रेतः संज्ञको रसः पुरुषस्याङ्गादङ्गात् सम्भृतः स्त्रीयोनेः 'प्सानीयो भवति' भक्षणीयो भरणीयश्च।
१५	वाजगन्ध्यमित्यनवगतम्। गध्यत्युत्तपदं वाच्यमत्रापि गन्ध्यमित्येवात्रानवगतमित्यर्थः। अत्र च मन्त्रक्रममनादृत्य निगमसामाम्नाय-क्रमेणैवोपन्यासः।	'वाजगन्ध्यम्'-इत्येतदपि पदमेकस्मिन्नेव निगमे निरुक्तम्। केवलं समाम्नायानुक्रम-विपर्यासः,। 'वाजपस्त्यम्, वाजगन्ध्यम्' इत्येष समाम्नायानुक्रमः।
१५	स तौरयाण उपयाहि उपगच्छ अस्मद् यज्ञम्। न च केवल एव किं तर्हि? मरुद्भिः सह। इन्द्र। सखिभिः सह। सजोषाः संप्रीयमाणः।	स त्वं हे पुरुहूत! इन्द्र! तौरयाणस्त्वरितयानो भूत्वा उपयाहि उपगच्छैनं यज्ञं मरुद्भिः सखिभिः सह सम्प्रीयमाणः।
१५	हरयाण इत्यनवगतम्। हरमाणयान इत्यवगमः। शत्रूणां जीवनस्य हरणमेवं शीलं यानं यस्य स हरमाणयानः। शत्रूजीवितानां हन्तेत्यर्थः।	'हरयाणः'-इत्यनवगतम्, 'हरमाणयानः' इत्यवगमः।
१५	व्रन्दीत्यनवगतम्। रूपतश्चार्थतोऽपि। तदुभयं दर्शयति-व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदूभावार्थस्येति।	'व्रन्दी'-इत्यनवगतम्। 'व्रन्दतेर्मृदुभावा-र्थस्य धातुरेवायमप्रतीतः।
१६	इदानीं व्रन्दीत्यस्य मृदुभावार्थतां प्रतियोगिपदान्तरसमवधानेन स्पष्टयिष्यन्नुदाहर-णान्तरं दर्शयति।	ततो निगमाद् व्रन्दतेर्हि मृदुभावार्थता स्पष्ट-तरेति दर्शयति।
१६	निष्षपीत्यनवगतम्। स्त्रीकाम इत्यभिधेय-वचनम्। पुंश्चल्य इत्यर्थः। विनिर्गतपसा इत्यवगमः। विनिर्गतं नित्योत्थितं पसः शेपो यस्येति बहुब्रीहिः।	'निष्षपी' इत्यनवगतम्। 'विनिर्गतपसाः' इति शब्दसमाधिः। स्त्रीकामः पुंश्चलोऽभि-धेयः। स हि नित्यं निर्गतशेप एव भवति।

१६	क्षुम्पमित्यनवगतम्। अहिच्छत्रकमभिधेयम्। यत् क्षुभ्यत इति हेतुवचनम्। यद्यस्मादयत्नेनैव शक्यं क्षोभयितुम्। क्षोभ्यमिति न्याय्यम्।	'क्षुम्पम्'-इत्यनवगतम्। 'अहिच्छत्रकं भवति'-इत्यभिधेयवचनम्। यस्मात्तत्स्पृष्टमात्रं क्षुभ्यते चलति, तस्मात्क्षुपं क्षोभणमिति न्याय्यम्।
१७	निचान्तो भक्षितः प्रीणातीति निचमनेन प्रीणातीति निचुम्पुणशब्दस्यार्थवचनम्। भक्षणेन तर्पयतीति।	स हि निचान्तो भक्षितः प्रीणाति।
१८	अनेकार्थतां दर्शयितुमाह-समुद्रोऽपीत्यादि। निचमनेन नियमेनाचम्यत इति निचमनमुदकं तेन पूर्यते। पर्येष्यो निगमः।......... सोमपात्राण्यनेन मन्त्रेणाप्सु प्रह्रियन्ते ।	'समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते'। स हि निचमनेन उदकेन पूर्यते। उदकं हि निचम्यत इति निचमनम्। मृग्योऽत्र निगमः।............ अनेनाभिसाद्याप्सु प्रह्रियन्ते सोमपात्राणि।.......
१८	यस्मादसौ नित्यमाकाशे पद्यते गच्छति। तदिह गमिधासीत्येवं तत् प्रत्ययान्तोयं गन्त्यं गन्तेत्यर्थः। पदान्तरसम्बन्धाच्चात्र पक्ष्य-भिधेयः।	'यत्पद्यते'यस्मादसौ पद्यते, गच्छतीत्यर्थः। अभिधेयः पक्षी। स हि नित्यकालमेव पतितो भवति।
२०	वृक इत्यनवगतमनेकार्थं च। चन्द्रमा इत्यभिधेयः। विवृतज्योतिष्क इत्यादयो-ऽवगमाः। विवृतं स्पष्टं व्यक्तं ज्योत्स्नारूपं ज्योतिरस्य न नक्षत्राणामिवाव्यक्तम्।	'वृकः' इत्यनवगतमनेकार्थञ्च। वृकस्तावत् 'चन्द्रमा भवति'। स हि विवृतज्योतिष्कः प्रकाशितज्योतिष्को भवति, तस्माद् वृकः।
२१	त्रितस्य कूपे पतितस्यैतदार्षम्।	त्रितस्येयमाप्त्यस्य कूपे पतितस्य कुत्सस्य वार्षम्।
२१	अनेकार्थतां दर्शयन्नाह-आदित्योऽपीत्यादि। यद्यस्मादावृङ्क्ते आवृणोति जगत् प्रकाशनेन। अथवा वृणक्तीति वधकर्मसु पाठाद् यस्माद् विनाशयति तमांसीत्यर्थः।	आदित्योऽपि वृक उच्यते। यदावृङ्क्ते..... तस्माद्वृकः।
२१	विविधमसौ कृन्ततीति वृङ्क्ते तस्माद् वृकः।	विविधमसौ कृन्तति तस्माद् वृकः।
२१	ऊर्णा पुनर्वृणोतेर्व्रीयन्ते हि ता शीतार्थैश्छादितो वा ताभिर्मेषः।	'ऊर्णा पुनर्वृणोतेः' इति विग्रहप्रसक्तम्। ता अपि शीतत्राणार्थं विव्रियन्ते। 'ऊर्णोतेर्वा' आच्छादनार्थस्य। ताभिराच्छन्न उरणो भवति।
२१	जोषवाकमित्यनवगतम्। प्रविभज्य निराह-जोषमित्यविज्ञातस्य अस्पष्टस्य नामधेयम्। तद्धि जोषयितव्यं संस्कर्तव्यं सेवितव्यं वा ज्ञानाय स्पष्टतायै।	'जोषवाकम्' इत्यनवगतम्-अविज्ञातनामधे-यवचनम्।'जोषयितव्यं भवति' इति शब्द-समाधिः। जोषयिव्यं विज्ञापयितव्यं परस्मै तद्भवत्यस्पष्टत्वात्।
२२	यशो हि द्विषतः कृन्तति। दुर्भृक्तं वान्नं माषादि। कर्तनमित्यर्थः।	यशो हि द्विषतां मर्माणि कृन्तति। अन्नमप्य-सम्यगुपयुक्तमायुरेव कृन्तति।
२२	यदा सूत्रमयी तदोपमार्थे कृत्तजरद्वस्त्रखण्ड-ग्रथितत्वात् कर्तनसामान्यात् कृत्तिरिव कृत्तिः कन्थोच्यते।	'उपमार्थे वा' चर्मापि कृत्तिरित्युच्यते। तयेतरा सूत्रमयी-उपमीयते, विकर्तनसामा-न्यात्। कृत्तिरिव कृत्तिः कन्था।

२२	पर्यायप्रसक्तं कितवमाह, किं तवास्तीति पृच्छ्यते किमतश्च तदनुकरणनिमित्तकमेवास्यैतन्नामधेयमित्यर्थः।	स हि नित्यकालमेव दिदेविषुः प्रतिदेवितृभिः कितवैः पृच्छ्यते किं तवास्तीति। तस्माच्छब्दानुकरणात्कितव एव स बभूव।
२३	विरूपो नामाङ्गिरसस्तस्यार्षम्। ऊर्मिरूर्णोतेराच्छादनार्थस्य। सा हि च्छादयति नावम्।	विरूप आङ्गिरस एतामाग्नेये सूक्ते ददर्श। 'ऊर्मिः, ऊर्णोतेः' आच्छादनार्थस्य, सा ह्याच्छादयति तीरमुदकमध्ये वा यदन्यद् भवति।
२३	कुटस्य चर्षणिरिति चानवगते। कृतस्य चायितेति चावगमः। द्वयोरप्येकमुदाहरणम्।	'कुटस्य' 'चर्षणिः'-इत्येते अनवगते। कृतस्य, चायिता-इत्येतौ शब्दसमाधी। एक एव निगमः।
२४	कपूयं कमिति च पूयमिति च कर्मोच्यते। तेन च पुनातिकर्मणोः कर्मविशेषेण कर्मसामान्यं लक्ष्यते।	आह-'कपूयम्'-इति किमुक्तं भवति? उच्यते-यदेतत्पापकारी प्रायश्चित्तेन 'पुनाति कर्म कुत्सितम्' यच्च तत् 'दुःपूयं' दुष्पावं भवति पूयमानमपि एतत्कपूयमित्युच्युते।
२५	शब्दसारूप्यप्रसङ्गादाह-ईर्म इति बाहुरुच्यते। स ह्यङ्गान्तरेभ्यो विक्षिप्ततमो भवति।	शब्दसारूप्यप्रसङ्गादुच्यत, 'ईर्म इति बाहुनाम' इति। स हि 'समीरिततरो भवति' अन्येभ्योऽङ्गेभ्यः।
२५	तद्धि स्वभावकुटिलमिति। कवचं कारुत्सेति चेत्कौटिल्यमेव। ईषदर्थे वा कुः। ततश्च काञ्चितं सत् कवचम्।	आख्यानप्रसक्तमुच्यते,-'कवचं, कु-अञ्चितं भवति' कुटिलमञ्चितम्। स हि तस्य स्वभावः। अथवा 'काञ्चितम्'-ईषदञ्चितं कुटिलीकृतं भवति।
२६	आहूयन्ते तत्रस्थैर्योद्धारः, ऊह्यन्ते वा जित्वानेन परधनानीति।	ततः 'आहाव आह्वानात्'-इत्येतद्यथा-वस्थितस्यैव मन्त्रपदस्य निर्वचनम्। आहूयते-ऽस्मिन्नित्याहावः।
२६	तालुपर्यायप्रसक्तमाह-तरतेः कुणिप्रत्यये रेफलकारापत्त्या। विस्तीर्णतमं हि तदास्यान्त-र्गतेभ्योऽङ्गान्तरेभ्यः।	अथ: 'तालुः' कस्मात्? उच्यते। तद्धि 'तीर्णतरम्' इतरेभ्योऽङ्गेभ्यो विस्तीर्णत्वेन भवति।
२७	समस्तमन्त्रपाठे प्रयोजनं मृग्यम्। .... अनालम्बनान्तरिन्रे भीतिः कस्य न जायते।	दुर्वचनत्वं सर्वस्य मन्त्रस्य कृत्स्नाध्ययने प्रयो-जनम्..........भीरस्मिंस्तन्यत इति भीतननम्, अन्तक्षिम्। निरालम्बनत्वात्सर्व एव बिभेति।
२७	सरणाद् गमनात् सरणः सन् सृणिः। पर्यायप्रसक्तमङ्कुशं निराह-अञ्चतेरञ्चति ह्यसौ हस्तिपकहस्तात् हस्तिमस्तकं नित्यम्।	'सरणात्' इति व्युत्पत्तिः। 'सरणः' इति न्याय्यम्। सरति गच्छति ह्यसौ हस्तिशिरसि।
२७	द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिज्ञापनार्थ इति सिद्धम्।	अध्यायसमाप्त्युपप्रदर्शनार्थाय द्विरभ्यास इति
अ ६ खण्ड १	किं पुनः कारणं प्रथमैषा सती पञ्चमीत्वेन विपरिणम्यत इति? उच्यते। तथाहि वाक्यसंयोगः। तेन हि प्रकारेण पञ्चमीत्वेन विपरिणतस्यास्य शब्दस्यानेन वाक्येनार्थ-संगतिर्भवति नेतरथा यथावस्थितस्य।	आह-किं पुनः कारणं प्रथमैषा सती पञ्चमीत्वेन विपरिणम्यत इति। उच्यते-तथाहि वाक्यसंयोगः। तेन प्रकारेण पञ्चमीत्वेन विपरिणतस्यास्य शब्दस्यानेन वाक्येन संयोगोऽर्थसङ्गतिर्भवति न यथावस्थितस्य।

१	निष्षिचेर्नैरुक्ता इत्याह। निःक्षारितं कात्स्न्र्ये-नापनीतमस्मात् पापकम्। सिचेः शुचिरित्याह।	नैरुक्ताः पुनर्निः पूर्वात् सिञ्चतेरितरः शुचिरि-त्येवं मन्यन्ते। निष्कृष्य हि तस्मात् 'पापकम्' अशुचित्वमन्यस्मिन् सिक्तं भवतीत्येवम्।
१	मोषणाद्वा मुष्टिर्मुषितमिव तदन्तर्गतादर्शन-सामान्यात्! मोहनाद्वा किमत्रेत्यज्ञान् मोहयतीति मुष्टिः।	'मोषणाद्वा' तेन हि मुष्यते 'मोहनाद्वा' तत्र हि मुह्यति परः किमस्येतस्मिन्मुष्टाविति।
२	वाणीशब्दस्यार्थनिर्वचनम। आपो वा वहना-दित्यादि। आपो वाणीशब्देनोक्तास्ता हि वहनाद्वाणिरित्युच्यन्ते।	एवमापो वाणीशब्देनोक्ताः। ता हि 'वहनात्' वाणीरित्युच्यन्ते। वाचो वा वदनात् वाणीशब्देनोच्यन्ते।
३	सललूकं संलुभितमत्यन्तमूढं मूर्च्छायु-क्तमित्यर्थः। सरणशीलं वा अत्यन्तं दूरं नष्टमित्यर्थः। चकर्थ कुर्विति।	तथा चैतदुद्धृत्य संललूकं संलुब्धं संमूढमप्रतिपक्षं कुरु।
३	कत्पयमित्यनवगतम्। कमिति सुखनाम तस्येयं मकारस्य तकारेण व्यापत्तिः। छान्दसत्वात् पयसश्च सलोपः। कंपयसमित्यवगमः। सुखमस्य पय इति निर्वचनम्। मेघोऽभिधेयः।	'कत्पयम्'-इत्यनवगतम्। कपयमित्यव-गमः। 'सुखपयसम्'-इति पर्यायेणाभिधेय-वचनम्। मधुरोदको यो मेघः सोऽभिधेयः। किं कारणम्? 'सुखं' हि सुखोत्पादनम 'अस्य पयः' मधुरत्वात्।
३	कथं पुनरपां सप्तसंख्याकत्वम्? उच्यते-आधारभेदात् प्रधानभूता गङ्गाद्याः सप्त नद्यः, तासां समुद्राणां सप्तसंख्याकत्वं प्राधान्याच्च।	'सप्त' शब्देनापि समुद्रानेव केचिद्वर्णयन्ति। ते हि पृथिव्या शाखा इव लक्ष्यन्ते विस्रवन्ति च।
३	किञ्च योऽस्कृधोयुर्दीर्घायुर्जरावर्जितः सर्वान् सर्वैश्च गुणैस्तद्वान् तद्वतः पुत्रमाहरेति समानम्।	एवमत्र 'अस्कृधोयुः' इत्यनेन दीर्घायुरुच्यते तस्याभीष्टत्वाच्छब्दसारूप्याच्च।
४	ऋदूपे इत्येतत्पदमनेनैव सादृश्यादिह समाम्नातम्। तत् पुनः प्रसङ्गेनोपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। अगस्त्यलोपामुद्राब्रह्मचारिसंवादे ब्रह्मचारिणः।	'ऋदूपे' इति, उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः, 'ऋदूपे चिद्दूवृधा' इत्यत्र। अगस्त्यलोपामुद्रासंवादे।
४	वैश्वानरस्याग्नेः सौचीकस्य वा ऋषेर्वाजम्भर-स्यार्षम्। कृमयोऽभिधेयाः। ते हि वृक्षं निस्सारीकुर्वन्तः कम्पयन्ति। स्वयं वावलम्बनस्वभावत्वादेव मुच्यन्ते।	वैश्वानरस्याग्नेः सौचीकस्य वा वाजम्भरस्य वा सप्तेरार्षम्। एवमत्र वृक्षसम्बन्धात् 'कृमयः कम्पनाः' ते हि वृक्षं मुष्णन्ति मोषयन्ति कम्पयन्ति च यं खादन्ति, स्वयमेव वा कम्पन्ते चलन-स्वाभाव्यात्।
४	तद्य दर्शयति रुजन्ति कूलानीति रुजाना नद्यः। रुजन्त एवेत्यवगमः।	'रुजत्यः' इत्यवगमः। 'नद्यो भवन्ति' इत्यभिधेयवचनम्। 'रुजन्ति कूलानि'-इति हेतुनिर्देशः।
५	उपलप्रक्षिणीत्यनवगतम्। उपलेषु श्लेक्ष्णेषु वालुकासु यवान् प्रक्षिणाति। क्षि हिंसायां हिनस्ति रुजतीत्यर्थः।	'उपलप्रक्षिणी'-इत्यनवगतम्। 'सक्तुका-रिका' अभिधेया, सा हि उपलेषु यवान् प्रक्षिणोति हिनस्ति
५	शिशुराङ्गिरसस्तस्यार्षम्। स हि दुर्भिक्षानन्तरं प्रवृत्तसोमयागः सन् दशापवित्रान्	शिशुराङ्गिरसस्तस्यार्षम् पंक्तिः। ऐन्द्री। स्वदुष्कृताशङ्कया किलापरिस्रवति सोमे पाप

५	क्षरति सोमे निरुक्तं ह्येनः कनीयो भवति श्रुतं प्रतिबन्धकनीयो भवति पापानुत्तये दुश्चरिता-नुकीर्तपुरस्सरमनेन किलाध्येषणा चक्रे।	कीर्तनादात्मशुद्धिर्भविष्यतीति मन्यमान आत्मानमेव निर्दिशन्नाह।
५	स हि कला मानोन्मानप्रतिमानादिविषयाः प्रकलाश्च गणितरत्नपरीक्षादिका वेद विजानाति।	स हि 'कलाश्च वेद प्रकलाश्च' कलासम्बन्धेनैवेह प्रकला उच्यन्ते, कला एव ह्यपेक्ष्य प्रकला भवन्तीति।
५	अभ्यर्धयज्वा इत्यनवगतम्। ऋधु वृद्धौ यजिर्दानार्थः। अभ्यर्धयन् यजतीत्यस्य वाक्यस्यार्थः।	'अभ्यर्धयज्वा' इत्यनवगतम्। अभ्यर्द्धयन् अभिवर्धयन् यो यजति। यजतिरत्र दानार्थः।
६	'अस्मे' इत्येतत् प्रकृत्यर्थाभेदेऽपि प्रत्ययार्थ-भेदादनेकार्थम्। सर्वविक्त्यर्थेषु वृत्तेः।	'अस्मे' इत्येतत्पदं सर्वविभक्त्यन्तम्। तस्मादनेकार्थम्।
७	'अस्मे ते बन्धुरिति। प्रथमान्तेन बन्धुशब्देन सामानाधिकरण्यात् प्रथमां निश्चित्य आह्वया-मीत्यर्थः।	प्रथमायास्तावत्-'अस्मे ते बन्धुः'-वयमित्यर्थः।
७	पाथ इत्यनवगतमनेकार्थं च। तत् पुनरेतद् यथा व्याख्यातम्, पन्थाः पथतेर्वा' इत्यादौ। अन्तरिक्षं तावदुच्यते।	पाथ इत्यनवगतमनेकार्थं च। 'अन्तरिक्षम्' तावत् पाथ उच्यते। तत्पुनरेतत् 'पथा व्याख्यातम्' पन्थाः पततेर्वा' इत्यत्र।
७	हे अग्ने सप्रथाः सर्वतः पृथुरसि प्रियश्च होता वरेण्यो वरणीयः।	हे अग्ने! त्वमेव सप्रथाः सर्वतः पृथुः विस्तीर्णो जुष्टश्च आसेवितो यजमानैः। होता आह्वाता देवानां भवसि। वरेण्यो वरणीयः सर्वथापि।
७	अग्नीषोमीयप्रणयनेऽग्निरुच्यते।	अग्नीषोमप्रणयने विनियुक्ता।
८	ओजश्शब्दं निगमप्रसक्तं निराह। ओजतेर्वा नैरुक्तस्य धातोः सामर्थ्यकर्मणो वा उब्जतेर्वा न्यग्भावार्थस्य ओजो हि सामर्थ्यं वृद्धिर्वा तेजसा न्यग्भावयति विश्वम्।	'ओजः' ओजतेर्वा वृद्ध्यर्थस्य। उब्जतेर्वा न्यग्भावार्थस्य।
८	देवो देवाच्या कृपा इत्येते अनवगते। देव-शब्दस्योपादानमनयोरेव सम्प्रतिपत्त्यर्थम्।	देवो देवाच्या कृपा'-इत्येते अनवगते। देवशब्दोऽनयोरेवोपलक्षणार्थोऽत्र समाम्नातः।
९	तदसौ अन्नपानभोगादिना निर्मिमीते एवं शीलः संभोगेन हि सम्पूर्णो भवति। अतोऽसौ पितुः कन्यापितुर्जामाता भवति।	स्त्रीत्वं हि मैथुनेन व्यवहारेणासौ निर्मिणोति। तेनासौ दुहितुः पतिर्जामाता भवति।
१०	परस्य किमिदानीं कस्य किं छिद्रमिति चरति किमिदं वर्तत इति वा चरति यः स उच्यते। साधुजनवेरी सदा विद्धबुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः।	किमीदी च पिशुनः। स हि 'किमिदानीम्' वर्तत इति, एवमन्वेषमाणः 'चरति'। अथवा किमिदं वर्तत इति एवमन्वेषमाणश्चरति। स हि तस्य स्वभावः।
१०	अमीवेत्यनवगतम्। हिंसितारो गौर्वाभिधेयाः। ततश्च पूर्वमन्त्रोक्तेन अभ्यमनेन एतत् पदं व्याख्यातम्। अतोऽभ्यमनवान् इत्यवगमः।	'अमीवा' इत्यनवगतम्। अभ्यमनवान्'-इति यदुक्तमाधस्त्ये मन्त्रेऽनेनैव तत् व्याख्यातम्।

१२	रक्षोहा नाम ब्रह्मणः पुत्रस्तस्यार्षम्। गर्भरक्षणार्थे कर्मणि विनियोगः। स्त्री उच्यते।	रक्षोहा नाम ब्राह्मणस्तस्येयमार्षम्। पुत्रकामस्य षडाहुतो नाम स्थालीपाकस्तत्रेयं विनियुक्ता।
१२	श्रुष्टी पुरन्धिः इत्येते अनवगते अनेकार्थे। श्रुष्टीवरीरित्यर्थः। सुखमभिधेयम्। सुखवत्यो भवति' इति वचनात्। रोचश्रुषिरिति च। इह तु क्षिप्रनाम निगमपदान्तरसम्बन्धसामर्थ्याद् गम्यते तेनानेकार्थत्वमपि।	पुरन्धिं च यज। एवमत्र यागस्य विघ्नभयात्क्षिप्रस्येष्टत्वात 'श्रुष्टीति क्षिप्रनाम' इत्युपपद्यते। अन्यत्र हि वक्ष्यति 'श्रुष्टीवरीः सुखवरीः' इति, तस्मादेतदनेकार्थमपि भवति।
१३	वरुण इत्यपरं दर्शनम्। धीशब्दोऽत्र प्रज्ञावचनं दर्शयति। यस्मात् प्रज्ञया गुणेन स्तौमि मन्त्रो वा मन्त्रदृग्वा अत्रिः।	'वरुणः' पुरन्धिशब्देनोच्यते, इत्यपरं मतम्। किं कारणम्? ह्यन्यत्रापि मन्त्रदृक् प्रज्ञया बुद्ध्या स्तौति।
१३	सुविदत्र इत्यनवगतम्। वेत्तेः सुविद्यत इत्यवगमः। प्रशस्तज्ञान इत्यर्थः। महाकल्या-णविद्य इति।	'सुविदक्षः' इत्यनवगतम्। 'सुविद्यः' इत्यवगमः। कल्याणविद्य इत्यभिधेयवचनम्।
१३	इन्द्रस्य सव्यतामापन्नस्येदमार्षम्।	इन्द्रस्य सव्यत्वमापन्नस्येयमार्षम्।................
१४	गिर्वणा देव इत्येतेनार्थमुक्त्वाह गीर्भिरिनं वनयन्तीत्यर्थनिर्वचनम्। भाजयति सेवयति स्थापयतीत्यर्थः।	'गीर्भिः'-स्तुतिभिः 'एनं वनयन्ति' इत्य-र्थवचनम्।
१४	असुः प्राणः प्राणश्च वायुः। तत्स्पष्टतरं भाष्यकार आह सुसमीरितस्वसमीरिते। असुसमीरिता इत्यस्य व्याख्यानं वातसमीरिता इति।	'असूर्ताः' असुः प्राणः, प्राणश्च वायुः। 'योऽयं वायुः पवन एष प्राणः' इति ह्युक्तम् तेन समस्ता ईरिता असुसमीरिताः। वातसमीरिता इत्यर्थः।
१५	नित्यं शत्रून् प्रत्यभिगन्ता शत्रुशरीरलग्नेव दृश्यत इत्यर्थः। आयुधाख्या शक्तिरभिधेया।	'ऋष्टिः' अभिधेया। तां हि संग्रामे शत्रवो मन्यन्ते मामेवा प्रत्यञ्चिता क्षिप्ता मामेवा प्रत्यञ्चितेति।
१५	ततश्च जारयायि अजायतेत्यवगमः।	एवमत्र 'जारजायि'-इत्यस्य 'अजायि'-इत्यर्थप्रतीतिः।
१६	चन इत्यनवगतम्। अन्नमभिधेयम्। पचता इत्युभयं चेदं पचेर्धातोः। अत आह-'पचति-र्नामीभूत' इति।	'चनः' इत्यन्ननाम। 'पचता' इत्यनवगतम्। एतद्ध्येकवचनं द्विवचनं बहुवचनं वा भवति प्रकरणविशेषात्। आख्यातस्वरूपं चैतन्नाम। पचतिर्नामीभूतः'-इति भाष्यकारो ब्रवीति।....
१६	अग्नियुतस्याग्नियूपस्य वा स्थूरपुत्रस्यार्षम्।	इयमग्नियूपस्य वाग्नियूपस्य वार्षम्।
१६	अमिन इत्यनवगतम्। अमितमात्र इत्यवगमः। अपरिमाण इत्यर्थः। अपरिगणितकालो वा महानित्यर्थः।	'अमिनः' इत्यनवगतम्। 'अमितमात्रः' इत्यवगमः। न यस्य मात्राणां मानमस्ति, सोऽमिन इत्युच्यते।
१६	जज्झतीरित्यनवगतम्। आपोऽभिधेयाः। शब्दकारिण्य इति मेघात् पतन्त्यो जज्झतीरित्येवंरूपं शब्दं कुर्वन्ती-त्येवंरूपशीलधर्माः।	'जज्झतीः' इत्यनवगतम्। शब्दानुकरणात् 'आपः' इति प्रतीयन्ते।

१७	सुशिप्र इत्यनवगतम्। तत्पुनरेतेन सृप्रेण व्याख्याताम्। सृपेरेवादिव्यापत्त्यादिना सुशि-प्रशब्दो द्रष्टव्य इत्यर्थः।	'सुशिप्रः' इत्यनवगतम्। तत्पुनरेतत् एतेन' एव सृप्रशब्देन व्याख्यातम्। सर्पतेरेवैतदपि।
१७	विपरिवृढ इत्यवगमः, एकमेवेदं ज्योतिरिति कृत्वा मध्यमे वैद्युतात्मना उत्तमे आदित्यात्मना।	'द्विपरिवृढः' इति न्याय्यम्। मध्यमे च स्थाने वैद्युतात्मना, उत्तमे च सूर्यात्मना।
१७	अवगमस्तु जरणं गरणमिति वा द्रष्टव्यम्। स्तोत्राभिधेयम्।	एवमत्र जरतेः स्तुत्यर्थस्य शब्दसारूप्यादर्था-विरोधाच्च 'जरूथम्-स्तोत्रम्' उपपद्यते।
१८	तेनास्य दानार्थत्वं गमयति।	एवमत्र स्तोमसम्बन्धात् 'तुञ्जे'-शब्दो दानपर्यायवचनस्तुञ्जतेश्च दानार्थस्य दर्शनात्।
१८	उष्टिशब्दो वशेः कान्तिकर्मणः। भोगसन्तानं वष्टीति ततनुष्टिः। विषयभोगसन्तानकाम इत्यर्थः।	एवमत्र 'ततनुष्टि शब्देन विषयोपभोगप्रधान उच्यते शब्दार्थाविरोधादित्युपपत्तिः।
१९	इलो बलमन्नं तन्निष्पत्तिहेतुभूतमुदकमत्रे-लाशब्दवमायेण इलाशब्देनोच्यते। बिले उदके शेते इति बिलेशयः सन् वर्णव्यापत्तिलोपादिना इलीबिशः। मेघोऽभिधेयः।.......... कियदप्य-परिमितं स्वर्बलं धारयति।	'इलाबिलशयः' इत्यवगमः। मेघोऽभिधेयः। स हि इलाहेतोरुदकस्यात्मीयानि निर्गमनबिलानि संरुध्य शेते। तस्यैव वा बिलेषु-इलाहेतुरुदकं शेत इति इलीबिशः। कियदप्युदकमपरिमाणं धाः धारयतीति कियद्धा मेघः।
१९	मर्त्यानां त्वदायत्तौ च संसारमोक्षौ। त्वं च पितृवत् सर्वयजमानानामनुग्रहपरः। नोऽस्मान् सम्यग्ज्ञानोपादानेन मोचयास्मात् संसारादिति।	सर्वविज्ञानप्रकाशेनानुगृह्यास्मान्मोचयस्वास्मा-त्संसारादित्यभिप्रायः।
१९	मेघोऽभिधेयः। उच्चार्यमाणेन स्तोत्रेण स्तोता वा।	एवमत्र 'रास्पि'-शब्देनोदकं स्तोता वाभि-धीयते, शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च।............
२०	अस्यच भाऋजीक इत्येतेन गतार्थत मन्यमानो भाष्यकारो निगमं नाध्यगीष्ट।	'भाऋजीकः'-इत्यनेन गतार्थतामस्य मन्यमानो भाष्यकारो निगमं नाधीते।
२१	हिनोत इत्यनवगतम्। प्रहिणुत इत्यवगमः।	'हिनोत' इत्यनवगतम्। 'प्रहिणुत'-इत्यवगमः।
२२	शनैर्वा तकति गच्छति गन्तृवशात्तु शब्देन वेत्थंभूतेन तकति।	'शनकैस्तकतीति वा'। तद्धि भाराक्रान्तं शनकैर्गच्छति, 'शब्देन तकतीति वा। तद्धि शब्देन गच्छति।
२२	सुमदित्यनवगतम्। स्वयमित्यवगम।	'सुमत्'-इत्यनवगतम्। 'स्वयम्' इत्य-वगमः।
२२	आश्वमेधिक इति प्रकरणमनुसारयति। प्रकरणमप्यर्थाभिव्यक्तावलमित्यभिप्रायः। स्थूलप्रतियोगिप्रसङ्गेन अणुपरिमाणं निराह। कुरुं निराह-कुरूनसौ पुत्रत्वे गतवान्।	'आश्वमेधिको मन्त्रः' इति प्रकरणोप-प्रदर्शनार्थमाह-मन्त्रार्थं निर्ब्रुवता प्रकरणमप्यु-पेक्षितव्यमिति, एतदेतेन प्रदर्शितं भवति।....... स्थूलप्रसङ्गेनैव अणुशब्दो निरुच्यते।........... कुरुङ्गः, स हि कुरून् प्रति पुत्रत्वेन गतो जेतुं वा।.........'कुरूः कृन्तते।'

२२	प्रसङ्गादाह कुरुः कृन्ततेः शत्रूनसौ छिनत्ति वा पापाचारानसाधून्वा।	स हि शत्रून् कृन्तति।
२३	अमत्र इत्यनवगतम्। अमात्र इत्यवगमः। मात्रा परिमाणम्। अपरिमाणो महानित्यर्थप्राप्तवचनम्।	'अमत्रः' इत्यनवगतम्। 'अमात्रः' इति शब्दसमाधिः। 'महान् भवति' इत्यर्थव-चनम्। यो हि महान्भवति न तस्य मात्राः प्रमातुं शक्यन्ते, अतोऽसावमत्र इत्युच्यते।
२३	अनर्शरातित्यनवगतम्। अनश्लीलदानमित्य-वगमः। अर्शसशब्दोऽश्लीलवाची। अश्लीलं किम्? पापकम्।	'अनर्शरातिम्.'-इत्यनवगतम्। 'अनश्ली-लदानम्' इत्यवगमः। विग्रहप्रसक्तस्या-श्लीलशब्दस्यार्थमाह, 'अश्लीलं पापकम्' इति।........
२३	तथा चाह-अप्रत्यृतोऽप्रतिगतोऽन्यस्मिन् अन्य-मनाश्रितः स्वतन्त्र इत्यर्थः।	'अप्रत्यृतः' इत्यवगमः। यः 'अन्यस्मिन्' नाश्रितो भवति स्वप्रधान एव सोऽनर्वा इत्युच्यते।
२३	तेन सामि समाप्तम् असमाप्तं चोच्यते तस्या नञ् प्रतिषेधस्ततश्चासामि असमाप्तमित्यर्थः।	सामीति समाप्तमुच्यते, तस्य प्रतिषेधोऽसामि।
२४	अस्यैव च पूरणार्थत्वं पूर्यमाणधमनीयसम्बन्धात् स्पष्टयिष्यन्नुदाहरणान्तरमुपन्यस्यति स्म वामदेवस्य।	'गल्दा धमनिर्भवति' इत्यस्य भाष्यकारवा-क्यस्य मन्त्रे नात्र धमनिलिङ्गं विशिष्टमस्ती त्यतो धमनिलिङ्गमन्यदुदाहरणं ब्रवीति।
२६	ज्योतिषा वोदकेन वेति। केचिद् वा शब्दं चार्थे वर्णयन्ति ज्योतिषा चोदकेनेति च।	'बकुरेण' जलसमूहेन ज्योति समूहेन, वा।
२७	ऋषेः समन्दपुत्रस्य मत्स्यरूपस्यार्षम्। मत्स्यनामैव वा। यतो धीवरेण जालेन गृहीता आदित्यानित्थमाहुः। एतत्समानार्थस्य सारूप्यप्रसङ्गाद् अंहूरणशब्द-स्य तावन्निगमं दर्शयति कृण्वन्नंहूरणादिति।	ऋषेर्वा मत्स्यवधकारुण्याभिभूतस्यैतदार्षम्। मत्स्यानां केचिन्मन्यन्ते। 'अंहूरणम्-इत्यप्यस्य भवतीति प्रासङ्गिकम्। एवमपि हि प्रयोगो भवतीति।
२७	अन्यस्तु बतेति निपातोऽसत्त्ववचनोऽव्ययम्। यत आह-निपातः खेदानुकम्पयोरिति।	एवमत्र प्रकरणाविरोधात् बत'-इत्येष निपातः खेदानुकम्पयोः।
२८	वातः पुरोवात एतद् वृष्ट्युदकमाप्याययति।	'वातो' ह्युदकम् आप्याययति शीतीकरोति।
२८	वेः पुत्रो वाय इत्येवमेकपदत्वेन वायशब्दं व्याख्याय भाष्यकारः शाकल्यमुपालभते स्म वा इति य इति च पदद्वयं चकार। तत्तु न युक्तम्।	एतस्मिन्निगमे पदविभागतः कश्चिद् विचारो-ऽस्ति, तमाह भाष्यकारः,-वेति च, य इति च चकार शाकल्यः-इति। वा इति य इति च पदे चकार शाकल्यः पदकारः। तदेतद् विचार्यमाणं न साधु भवति।
२८	तस्मान्न द्वे पदमेतत्। स्वरूपानुपपत्तेरानर्थक्य-प्रसङ्गाच्चेति भाष्यकारस्य निश्चयः।	तस्मादाख्यातस्यानुदात्तत्वादर्थासम्भवाच्च द्वि-पदत्वे 'वायः' इत्येतदेकपदमेव। 'शकुनिपुत्रः एव चास्याभिधेय उपपद्यते।

२९	भरद्वाजस्य। हिशब्दो यस्मादर्थे। पुरु बहु वां युवयोः पुरुभुजा हे पुरुभुजौ बहूनां हविषामभ्यवहर्तारौ पालयितारौ वा यजमाना-नाम्। देष्णं दानं यस्मात् प्रभूतदायिनौ युवां तस्माद् धेनुं दोग्ध्रीं गां नोऽस्मभ्यम्। इषम् अन्नं च पिन्वत क्षारयतं दत्तमित्यर्थः।	भरद्वाजस्यार्षम्। प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते। पुरु हि वां बहु देष्णं दानं युवाभ्यां यज्ञे यस्मात् हे पुरुभुजा बहुभोजिनौ! अश्विनौ! तस्माद्युवां ब्रूमः। धेनुं नः तर्पयन्तीमस्मभ्यम् इषम् अन्नलक्षणम् पिन्वतम् प्रक्षारयतम्।
२९	अद्यत्वेपि कृतकृच्छ्रादिपुरश्चरण आस्यदघ्ने उदके सूक्तमेतज्जपन् अलक्ष्मीं नाशयेत्।	अद्यापि योऽलक्ष्म्याभिभूतो भवति स आस्यदघ्न उदकेऽवतीर्य सूक्तमेतज्जपति। तस्य लक्ष्मीर्निर्नश्यति।
३०	पराशरः पराशरश्च शतयातुर्बहूनां शातयिती तेन रक्षोघ्नं शस्त्रमाहतमासीदिति स्मर्यत इतिहासे। वसिष्ठश्च एवमादयः।	पराशरश्च शतयातुर्बहूनां रक्षसां यातयिता। तेन हि रक्षोघ्नं सत्रमाहतमासीदिति भारते श्रूयते। वसिष्ठश्चेत्येमादयः।
३०	प्राशित्रब्राह्मणे पूष्णोऽदन्तकत्वश्रवणात्। 'तत् पूष्णे पर्याजह्रुः'।	प्राशित्रभागब्राह्मणे हि श्रूयते 'तत्पूष्णे पर्याजह्रु ....' इति।
३१	मामयमिन्द्राणी इन्द्रेण।	इन्द्रपत्न्येवं ब्रवीति।....................
३१	प्रत्ययस्यार्थभेदादिदं कामयमान उच्यते कर्मेदं सामान्येन प्रदर्शिते यथाभिलषितं धानादि द्रव्यमिच्छति स इदंयुः।	'इदंयुः' इत्यनवगतमनेकार्थं च । इदमिति यत्किञ्चिदभिप्रेतं निर्दिश्यते। तद्यः कामयते स इदंयुरित्युच्यते।
३२	अथवा यागदानादिभिः किंकृताभिः किं पिबतखादतेत्येवंप्राया एव प्रेप्सा प्रेक्षा येषां तेऽश्रद्दधाना नास्तिकाः किंक्रियाः सन्तः कीकटाः।	अथ वा किं क्रियाभिरिति एवं प्रेप्साम्ते नास्तिका एवमभिप्राया इत्यर्थः। एतस्माच्छब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च कीकटा अनार्यदेशनिवासिन इत्युपपद्यते।
३४	वृन्दमित्यनवगतम्। समुदायोऽभिधेयः। तत्पुनरेतेन बुन्देन व्याख्यातः, क्रियायोग-समवायसम्भवात्।	वृन्दम्'-इति, एतत्पदम् 'बुन्देन' एव व्याख्यातम्। अस्यापि हि ता एव व्युत्पत्तयो या बुन्दशब्दस्य।
३५	सौन्धीकस्याग्नेर्विश्वेषां च देवानां संवादे देवानामिदमार्षम्। वृणोतेर्वा वकारस्योकारो बश्च प्रत्ययः। गर्भस्याच्छादनमभिधेयम्।	सौचीकस्याग्नेर्विश्वेषां देवानां संवादसूक्तम्, तत्रेयं विश्वेदेवानामार्षम्। 'वृणोतेर्वा' स्यात्, तेन हि गर्भ आवृतो भवति।
३५	ऋबीसमित्यनवगतम्। पृथिव्यभिधेया। अपगतभासमित्येवमाद्याः शब्दसमाधय उपपद्यन्ते।	'ऋबीसम'-इत्यनवगतम्। अपगतभास-मित्येवमाद्याः शब्दसमाधयः। पृथिवी अभिधेया। सा हि कृष्णच्छाया तस्मादपगतभासमित्येवमाद्याः शब्दसमाधय उपपद्यन्ते।
अ.७ १	यत्समाम्नायक्रमेण यथा प्रतिज्ञातं नैघण्टुकैकपदिकप्रकरणद्वयं निरुक्तम्। यत् पुरस्तादुत्कृष्टं 'तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः' इति तृतीयं प्रकरणं तस्य प्राप्तोऽवसर	समाप्तं चैकपदिकं प्रकरणम्। अस्यानु दैवतं तद्भवति यस्यायमादिः 'अथातो दैवतम्' इति।...... ....गुणपदानि........व्याख्यातानि द्वयोः प्रकरणयोर्नैघण्टुकैकपदिकयोः।

	इत्याह।............अग्न्यादिगणसमूहात्मकस्य प्रकरणस्य शेषतया गुणपदसमवायात्मकं प्रकरणद्वयं व्याख्याय तच्छेषितयावस्थितं दैवतं व्याख्यायत इति वाक्यशेषः।	प्रकरणद्वयादनन्तरमिदमवश्यं समाम्नायानु-क्रमप्रासं व्याख्यातव्यमित्येवं क्रमे।.......... देवतापरि-ज्ञानानुबद्धस्त्वखिलः पुरुषार्थ इत्यतो दैवतं
१	प्राधान्यस्तुतीनां प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां तासां यानि नामान्यग्न्यादीनि देवपत्न्य-न्तानि।...दैवतं प्रकरणमाचक्षते पूर्वाचार्याः।.... रूढिरिति पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या दर्शयति।......... उपगम्योपगम्य सर्वप्रकारमीक्षा ईक्षणं निश्चयाधानं प्रकरेणैव करिष्यत इति शेष।....... यस्यां देवतायां विषयभूतायां स्तुतिं प्रयुङ्क्ते आर्थपत्यमर्थपतित्वमिच्छन् अर्थस्यै-श्वर्यादेः पतिः स्यामिति तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। सा तस्य मन्त्रस्य देवता।	प्रकरणं व्याख्यास्याम इति वाक्यशेषः। तद्यानि नामानि प्राधान्यंस्तुतीनामग्न्यादीनां देवपत्न्यन्तानां तद्दैवतं प्रकरणमित्येवमाचार्या व्याचक्षते। निरूढा हीयमेतस्मिन् प्रकरणे संज्ञेत्यभिप्रायः। उपगम्योपगम्य परीक्षा वर्तिष्यत इति वाक्यशेषः। यस्यां देवतायामभिष्टुतायाम् आर्थपत्यम् अर्थ-पतिभावमात्मन इच्छन् अनुष्या देवतायाः प्रसादेनाहममुष्यार्थस्य पतिर्भविष्यामीत्येतां बुद्धिं पुरोधाय स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवत एव स मन्त्रोऽर्थाद् भवति। एतन्मन्त्रे देवतालक्षणम्
1	तास्त्रिविधा ऋचो वक्ष्यमाणं त्रैविध्यं तद्दैवतः स मन्त्र इतिमात्रं प्रस्तुत्य यदृच्छां त्रैविध्यप्रदर्शनं बाहुल्यात्तिरोहितार्थतरत्वाच्च। उक्तं त्रिप्रकारत्वमाचष्टे।	ऋच एव हि प्रायेणातितरामपिहितार्थाः।........ याः काश्चन सर्ववेदेष्वृचस्ता एताः सर्वा अपि त्रिविधा एव भवन्ति। तत्रैविध्यं सामान्यत उद्दिश्याधुना प्रत्येकं लक्षणतो ब्रवीत्युदाहरणैश्च दर्शयति।
१	विभक्तियोगस्य क्रमेणोदाहरणानि दर्शयति स्म।	तद्यथैतान्युदाहरणान्यानुपूर्व्येणैव सप्तस्वपि विभक्तिषु इन्द्रो दिव इत्येवमादीनि..............
२	इन्द्रो दिव इन्द्र एव पृथिव्या ईशे........ ईष्टे। इन्द्र एवापाम्-आप इत्यन्तरिक्षनाम अन्त-रिक्षस्य। इन्द्र एव पर्वतानाम्, इत् पदपूरणः। इन्द्र एव वृधां वृद्धानां महतां यज्ञानामन्येषां वा केषांचित्।	इन्द्रो दिवः ईशे ईष्टे। इन्द्र एव पृथिव्या ईष्टे। इन्द्र एव अपाम् ईष्टे वर्षकर्मादिना। इन्द्र एव पर्वतानां मेघानाम् ईष्टे। इन्द्र एव वृधाम् अतिप्रवृद्धानामपि भूतानामीष्टे।
२	इन्द्रमेवार्केभिः, अर्कैर्मन्त्रैः, ऋगाख्यैः। अर्किणो मन्त्रवन्तो होतार इत्यभिप्रायः।........ 'इन्द्रेणैते'...... पुरस्ताद्व्याख्यातम्। 'इन्द्राय साम गायत' हे उद्गातारः। कीदृशाय विप्राय.......वृष्ट्या विविधमापूरयित्रे, बृहते महते।	यूयमपि हे होतारः, अर्किणः अर्केभिः अर्कैः ऋङ्मयैर्मन्त्रैः इन्द्रमेवाभिष्टुत।................ 'इन्द्रेणैते' इति तृतीयस्या उदाहरणम्। व्याख्यातः शेषस्तृतीयायाः।.............. हे उद्गातारः, इन्द्राय बृहत्साम गायत, विप्राय मेधाविने, बृहते महते।
२	नेन्द्रात् न चेन्द्रात् ऋते इन्द्रमुक्त्वा पवतेर्बहुवचनस्य स्थान एकवचनम्। पवन्ते क्षरन्ति धाम स्थानं किञ्चन	इतो यस्मान्नेन्द्रादृते सोमः प्रातः सवनादीनां सोमसवनस्थानानां किंचिदपि प्रतिपवते पूयते।

	किञ्चित्प्रति पीयमानानां सोमानां स्थानं पात्री देवता नान्यं प्रति देवतान्तरमित्यर्थः। इन्द्रमेव मच्छन्तीत्यर्थः।	तस्मादेवं ब्रूमह इन्द्रमेवैते व्याप्नुवन्तीति। पञ्चम्या एतदुदाहरणम्।
२	इन्द्रस्य नु इति क्षिप्रनाम क्षिप्रं वीर्याणि वीरकर्माणि प्रब्रवीमि। यानि चकार कृतवान् करोति वा प्रथमानि अन्येनाकृतपूर्वाणि उत्कृष्टानि वा। अथवा वक्षणाः पर्शवस्तान् प्राभिनत्। पर्वतानां मेघानाम्।	इन्द्रस्य अहं वीर्याणि वीरकर्माणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि अकृतपूर्वाण्यन्यैः। प्राभिनत् वक्षणा उदकवहनशिरः पर्वतानां मेघानाम्।
२	ये दिव्या भवा ये च पार्थिवाः।........... ते सर्वे इन्द्रे कामा अयंसत यमिर्बन्धनार्थः। इन्द्र निबद्धा इन्द्र आयत्ता इत्यर्थः। परोक्षकृतानन्तरं प्रत्यक्षकृतानां लक्षणमाह।	हे स्तोतारः ये दिव्याः कामाः ये च पार्थिवाः त इन्द्र एव उपनिबद्धाः। उक्तं सोदाहरणं परोक्षकृतलक्षणम्। अधुना प्रत्यक्षकृतलक्षणमुच्यते।
२	इन्द्रमातरो देवजामयश्च तासामार्षम्। त्वं हे इन्द्र बलात्। किं विशिष्टात्? सहसोऽभिभवितुं जात उत्पन्नः।............... ओजसः बलस्यैवैतद् विशेषणम्। विविधं नोऽस्माकं हे इन्द्र मृधो मृधं करोतीत्याद्युक्तनिर्ववचनम्। संग्रामकारिण इत्यर्थः।	देवजामयः सूक्तं ददृशुः। हे इन्द्र त्वं बलादधि जायसे सहसोऽभिभवनसमर्थात् ओजसश्च तेजसः। हे इन्द्र विजहि न एतान् मृधः मृधकर्तॄन् शत्रून।
२	तमधरं कुलोत्सादलक्षणिं गमया तमः सांहितिकं दीर्घत्वं गमय तमः।	तमधरं गमय तमः। नाशयेत्यर्थः।
२	अन्यद्दैवतं मनसापि मा शंसिष्ट। इन्द्रं इदेवार्थे इन्द्रमेव स्तोता.......... कं स्तुतेत्यर्थः। कीदृशम्? वृषणं वर्षितारम्। सचा सह सुते अभिष्टुते सोमे मुहुर्मुहुः पौनः पुन्ये प्राप्ते काले उक्था च उक्थानि चास्य शंसत। रथेशुभं रथेनैकस्मिन् स्थितं शोभितृ। कण्वाः कण्वस्य पुत्राः पौत्राश्च। अभिप्रगायत प्रकर्षेणाभिष्टुतेत्यर्थः। अथवा कण्व इति मेधाविनाम। कण्वा मेधाविन ऋत्विज उच्यन्ते। प्रकर्षेणाभिष्टुत इति।	मा च रिषण्यत चेतसा मा गच्छता-न्यद्देवतान्तरम्। किं तर्हि? इन्द्रमेव वृषणं वर्षितारं स्तुत सचा सहभूताः एतस्मिन् सुते सोमे। मुहुर्मुहुश्च हे होताः उक्थानि च शंसत। रथेशुभं रथस्थितं शोभिष्ठं हे कण्वा मेधाविन ऋत्विज एतदभिप्रगायत। एतद्वो ब्रवीमि।
२	उप प्र इत उपस्थाय प्रकर्षेण इत गच्छत। कौशिका मम पितामहस्य कुशिकस्यापत्यभूता यदीयाः पुत्राः पौत्राश्च। अथवा क्रोशतेः शब्दकर्मणः कुशिका ऋत्विजः। चेतयध्वं मा विक्षिप्तचेतसो भवत।	हे कुशिकाः स्तुतिक्रोष्टार ऋत्विजः उपप्रागच्छत। चेतयध्वं विजानीध्वम्।

	सुदासः सुदा इत्येवं नामकस्य कल्याणदानस्य वां राज्ञः। उत्तमेत्यादि, उत्तमत्रिकेण योगो यासाम्। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना इत्युक्तार्थम्।	सुदासे कल्याणदाने यजमाने वर्तते। उत्तमेन पुरुषेण या ऋचो युक्तास्ता आध्यात्मिक्यः। 'अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना' या युक्तास्ताश्चाध्यात्मिक्यः।
२	यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो लबसूक्तं वागाम्भृ-णीयमिति। विकुण्ठनामा काचिदिन्द्रादधिकबलं सुतमन्वेष-माणा उग्रेण तपसा ब्रह्माणमाराध्य तस्माल्लब्धवरा कृतमङ्गलस्वस्त्ययना भर्त्रा संबभूव। विदित्वैतद्वृत्तान्तां चेन्द्रस्तस्याः स्वयमेवापत्यतां जगाम। तस्येदं वैकुण्ठस्य ब्रह्म प्रादुरासीत्।......... अहं दाशुषे अहमेव हवींषि दत्तवत्ते यजमानाय सर्वस्मै विभजामि भागशो ददामि भोजनं धनम्। लबसूक्तम् लबरूप इन्द्रस्तस्मात् त्वयाल्पेन सता बहुसोमः पीत इत्यृषिभिरुक्तः सन् तान प्रत्याह-	'यथैतत्' उदाहरणत्रयमाध्यात्मिकम् इन्द्रो वैकुण्ठमिति एवमादि एवमप्यन्ये-ऽप्याध्यात्मिका मन्त्रा उपेक्षितव्याः। विकुण्ठा नामासुरी बभूव। तस्याः किल तपसः प्रभावेणापत्यमिन्द्र आजगाम। वैकुण्ठो नाम बभूव। तस्यात्मस्तुतिप्रयुक्तमेवमादि ब्रह्म प्रादुरभूत्। अहमेव दाशुषे दत्तवते हवींषि यजमानाय विभजामि यथार्हं भोजनम्। धनमित्यर्थः।.............. लबसूक्ते स एव लबो ब्रवीति। एवं चैवं च मे मनो वर्तते।
२	वागाम्भृणी आत्मनो महिमानमाचष्टे।	वागाम्भृणीये वागेव ब्रवीति।
२	अल्पशः क्वचित् क्वचिदाध्यात्मिकाः प्रत्युक्तविषयत्वेन ये के अभिप्रेताः। अशीरिव न स्तुतिः। आशीरिवेत्यस्यैवावधारणार्थं कथनं न स्तुतिरिति। उदाहरणम्।	'अल्पश' क्वचित् क्वचित्-'आध्यात्मिकाः' लक्ष्यन्ते। आत्मानमेव स्तोतव्यमधिकृत्य येऽभिव्यक्तास्त इह शास्त्रे आध्यात्मिका उच्यन्ते। 'अथापि' क्वचित् 'आशीरिव न स्तुतिः'। तद्यथा।
२	तदेतदाशीः प्रायस्त्वं बाहुल्येनाध्वर्युवेदे याज्ञेषु च करणमन्त्रेषु। अथापि अपि च शपथाभिशापौ। एकमेवोदाहरणम्। विश्वामित्रप्रयुक्तैः कैश्चिद् राक्षसस्त्वमित्यभि-प्रयुक्तो वसिष्ठ आह।	'तदेतत्' एवंलक्षणं मन्त्रजातं 'आध्वर्यवे' वेदे 'बहुलं' प्रायेण पठ्यते। 'याज्ञेषु च मन्त्रेषु' कर्मकरणेषु। 'अथापि शपथाभिशापौ' भवतः। 'अद्यामुरीय' इत्येकमुदाहरणं द्वयोरपि। वसिष्ठः किल राक्षसस्त्वमित्यभियुक्तः। सोऽनयर्चा शपथं प्रतिपेदे परं चाभिशशाप।
३	अथापि कस्यचिद् भावस्य वस्तुतः पदार्थस्यात्यन्तपरोक्षस्याख्यातुमिच्छा। अवान्तरप्रलयादूर्ध्वं प्राग् जगत् सृष्टेर्वावस्था। तामियमृक् पराचष्टे। न मृत्युरादितः मर्तॄणामभावान्मृत्योश्चाभावात्।	अथापि कस्यचिदर्थस्याचिख्यासा मन्त्रेषु भवति। प्रागुत्पत्तेरस्य जगतो नापि मृत्युरित्ययं व्यपदेश आसीन्मर्त्यस्याभावात्।

३	तन्महिम्ना माहात्म्येन कालान्तरावस्थायिना फलप्रसवसामर्थ्येनेत्यर्थः। अजायत जातं स्वेन विश्वरूपेण विकारात्मना कार्यरूपेण परिणतमित्यर्थः। एकं सत् प्राक्परिणामात् कारणात्मना एकतामापन्नं सदित्यर्थः। अथवा आभ्विति महन्नाम्ना महदाख्यं प्रथमं बुद्धितत्वमुच्यते। यत् सांख्यैरहङ्काराणां तन्मात्राणां च कारणत्वेन प्रतिज्ञायते तदेकमजायत नान्यत् किञ्चित्। तमश्चास्मिन् पक्षे प्रकृत्यव्यक्तादिपर्यायं प्रधानमुच्यते।	महिना महिम्ना माहाभाग्येन कारणावस्थायाम् एकम् अपि सद् अनेकधा उपस्थिते सर्गकाले प्रतिनियतकर्मोपभोगार्थम् अजायत इति। सांख्यास्तु प्रधानं तमः-शब्देनोपादानमुच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते। 'तम एव खल्विदमग्र आसीत्तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तत' इति।
३	उर्वश्या वियुक्तस्य पुरूरवसः परिदेवनैषा।........ निर्ऋतेः पृथिव्या उपस्थे अवयवभूते स्थाने। अथानन्तरं च एवं वृका रभसासो महन्नामैतत् महान्तो वेगवन्तो वा अद्युः भक्षयेयुः।	पुरूरवसः........... प्रियया वियुक्त उर्वश्या निर्ऋतेः भूमेः उपस्थे उपरि। अथैनं तामवस्थामापन्नं वृकाः विकर्तितारश्च सृगालादयः रभसाः रभस्वन्तो वेगवन्तः अद्युः भक्षयेयुः।
३	संसारे परिवर्तमानस्य गर्भवासजन्मजराव्याधिमरणदुःखाभिभवनिमित्तस्यानुज्ञानाभावमोक्षं प्राप्तवतो दीर्घतमसः परिदेवना।	दीर्घतमस इयमार्षम्।
३	भिक्षुर्नामाङ्गिरसस्तस्यार्षम्।.............	भिक्षोराङ्गिरसस्येयमार्षम्।
३	नापि सखायं समानाख्यानं मनुष्यं यो देवताभ्यो नाप्यतिथिभ्यो ददातीत्यर्थः। केवलाघः केवलपापो भवति केवलादी केवलभोजी।............. प्रजापतेर्दुहिता दक्षिणा नाम तस्या आर्षम्।	आत्मनैव केवलं योऽन्नमत्ति न देवपितृमनुष्येभ्यो ददाति स केवलमघमेव प्राप्नोति। दक्षिणा नाम प्रजापतेर्दुहिता। तया सूक्तमात्मनः स्तुतिसंबद्धं दृष्टम्।
३	एवमेवाक्षसूक्ते 'प्रावेपाम्' इत्येतस्मिन् द्यूतनिन्दा कृषेश्च प्रशंसा यस्मिन् मन्त्रे तमुदाह- रिष्यामः। तन्मे मह्यं वि चष्टे विविधमाचष्टे सवितायमर्यः ईश्वरः।	यथैवमिह मन्त्रद्वये निन्दा च प्रशंसा च 'एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च' भवतीति विषयोपप्रदर्शनार्थमाह। तत्पुनर्ममैतत्सविता देवः अर्यः ईश्वरः श्रुतिस्मृत्यनुशासनद्वारेण विविधमनेकप्रकार-माचष्टे।
३	एवमुच्चावचैर्बहुप्रकारैः कामक्रोधभयहर्षादि-भिर्निमित्तैर्ऋषीणां दृष्टॄणां मन्त्रदृष्टयो मन्त्र-विषयाणि दर्शनानि भवन्ति। तदेतत् 'साक्षात्कृतधर्माणः' इत्यत्र सप्रपञ्चं मन्त्रदर्शनं नित्यत्वाविरोधेन प्रदर्शितम्।	विद्यमानानामेव मन्त्राणमृषयो येन केनचि-न्निमित्तेन निदानभूतेन हर्षशोकनिन्दाप्रशंसादिना मन्त्राणां द्रष्टारो भवन्ति न तु कर्त्तार इत्यभिप्रायः।
४	श्रूयमाणदेवतासंविज्ञानपदेषु मन्त्रेषु देवतालक्षणमुक्तम। येषु कृतं नास्ति तदर्थमाह।	तदेतत्प्रकटदेवतालक्षणेषु मन्त्रेषु मन्त्रदेवता-लक्षणमुपपद्यते। ये त्वनादिष्टदेवतालिङ्गा मन्त्रास्तेषु देवता कथमन्वेष्येति तदेतद्विचार्यते............... 'आग्नेयोऽग्निष्टोमः' इति श्रूयते। तत्र

	अनादिष्टा अप्रदिष्टस्तुत्यदेवतालिङ्गा मन्त्रा यस्मिन् अग्निष्टोमादौ यज्ञे श्रुत्यादिविनियुक्ता अग्न्यादिदेवता एव विज्ञेयाः। तथा च वक्ष्यति 'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः' इति प्राकारणिकी देवता कल्प्यत इति युक्तम्।................ ननु अविनियुक्तो मन्त्रो नैवास्ति। वाचः-स्तोमे हि सर्वा ऋचः प्रयुज्यन्त इति ऋगादीनां सर्वेषां प्रयोगः श्रूयते।	योऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्रः स्यात्स आग्नेय एव स्यात्। प्रकरणाद्धि संदिग्धदेवतेषु देवतानियम इति न्यायः। तेषूत्सन्नप्रकरमप्रयोगेषु वाचस्तोमप्रयोगविनियोगकल्पेषु 'किं ब्राह्मणस्य पितरं पृच्छसि किं नु मातरम्। 'श्रुतविदस्मिन् वेद्यं स पितामहः' इत्यादिषु कथमन्वेष्या देवतेति।
४	अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिका मन्यन्ते। अतिरिक्तो वै प्रजापतिः। अज्ञातलिङ्गश्च मन्त्रोऽप्यनुक्त इति। अतो निरुक्तसामान्यात् प्राजापत्या भवितुमर्हन्ति। नाराशंसं च यज्ञ इति कोऽर्थः। यज्ञश्च विष्णुः यज्ञो वै विष्णुः इति संस्तवात्। अग्निरिति शाकपूणिः। अग्निरिति भूयिष्ठभाग् देवतानाम्। 'अग्नि सर्वा देवताः' संस्तुतेः। तेनास्य श्रेयस्त्वम्। उभयथापि नैरुक्तपक्षः। अपि वा एतस्य मन्त्रस्य कामत इच्छातो या इष्टा देवता सा स्यात्। प्राय इति प्रकरणमभिप्रेतम्। प्रायिकी प्राकरणिकी तस्य मन्त्रस्य देवता सा ऋक्।	शृणु 'प्राजापत्याः' ते मन्त्राः इति याज्ञिकाः' मन्यन्ते। किं कारणम्। 'अनिरुक्तो हि प्रजापतिः, अनिरुक्तदेवतालिङ्गाश्च मन्त्रा इत्येतस्मात्सामान्यात्। नराशंसोऽग्निर्यज्ञो वा............... यज्ञशब्देन च विष्णुरुच्यते। विष्णुर्वै यज्ञः' इति हि विज्ञायते। अग्निर्हि भूयिष्ठभाग्देवतानाम्' इति। अतोऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्र आग्नेयः स्यात्। सर्वदेवताश्रयणाच्च 'अग्निर्वै सर्वा देवाः'...... इति विज्ञायते। अपि वैवमन्यथा स्यात्। सा ऋक् स मन्त्रो योऽनाविष्कृतलिङ्गः स कामदेवतः स्यात्। यद्देवताधिकारे ह्यध्ययनपाठानुक्रमे योऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्रो भवति स तद्देवत एवेति बोद्धव्यम्।
४	एवं विशेषेणानुद्दिष्टदेवताको मन्त्रोऽपि वैश्वदेवो भवितुमर्हतीति द्वितीये व्याख्या दृष्टान्तयोजना। अथैकस्मिन्ननेकविकल्पे देवताकल्पे कः स्थितः पक्ष इत्याह। याज्ञदैवत एवेत्यर्थः। यज्ञो विष्णुः स चादित्यः।	एवमिहाप्यादिष्टदेवतालिङ्गान्मन्त्रराशेर्योऽन्यो-ऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्रराशिः स्यात्साधा-रण्याद्बहुदेवतो विश्वदेव एव स्यादिति। कः पुनरेतस्मिन्विचारे निश्चयः उच्यते। योऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्रः स याज्ञो वा स्वाद्दैवतो वा। विष्णुर्वै यज्ञः इति हि विज्ञायते। विष्णुश्च पुनरादित्य एव नैरुक्तानां द्युस्थाने समाम्नानात्।
४	देवता देवता यस्य स देवदैवत्तः। देवता-शब्देनाग्निरुच्यते। यस्य सर्वदेवतासंस्तुतेः। आग्नेयो वेत्यर्थः।	अथवा दैवताः स मन्त्रः। देवतास्मिन् देवतेति दैवतः। अविशिष्टं हि देवतात्वमग्नावेव सर्व- देवाभिवादात्।

४	यथाश्वप्रभृतीनि चेतनावन्ति। अचेतनानि चाक्षादीन्योषधिपर्यन्तानि देवताधिकारे च समाम्नातानि।	एतस्मिन्वर्गे कानिचित्सत्त्वानि कानिचिद् द्रव्याणि। अश्वादीनि सत्त्वान्यक्षादीनि द्रव्याणि।
४	देवता चाणिमादिगुणा स्तोतुर्यथाभिलषितार्थ-सम्पादनसमर्थेष्यते। अश्वादयश्चात्मनो विसं-वादनेन समर्थाः। किं पुनः परस्यापि वाश्वादयः ससंज्ञाः। अक्षादिष्वेतदपि नास्ति।......... यथा पुरुषस्य गवाश्वरासभादय उपकरणभूता अपायिन उपायिनश्च। एवमेव अर्थानश्वादीन् देवतानामनित्यानुपकरणभूतांश्च प्रतीत्य स्वतन्त्रा एतास्स्तुत्या देवता इति न मन्येत नावबुध्येत न श्रद्दधीतेति यावत्।	तानि कथमभिष्टुतानि स्तोतुरभिमतस्यार्थस्य पतित्वं करिष्यन्ति। न हि तानि स्तुतिनिन्दे विशेषतो विदुः। अपि चाश्वादिषु चित्तिरपि काचिदस्ति। न त्वक्षादिष्वसावस्ति। लोके तावदेते मनुष्याणामनित्यानामश्वादयोऽर्था आगन्तवोऽपायिनश्चानित्याः। तद्यदि देवतानामप्येवमेव ततस्तासां तेषां चानित्यत्वात्स्तुतिरनर्थिका।
४	भज्यतेऽसाविति भागः पुण्यानुभाव कश्चित्। देवताया एक आत्मा बहुधा वैश्वरूप्येण परिणतोऽग्न्यादिभावेनावस्थितः सन्नित्यर्थः। स्तूयते मन्त्रैः।	भज्यत इति भागः। सेव्यत इत्यर्थः तच्च पुनरैश्वर्यं महत्। एकोऽपि सन्देवतात्मा बहुधा स्तूयते प्रकृति-भेदेनाप्रकृतिभेदेन वा वर्धमानः।
४	एवमेकस्माद्देवतात्मनोऽन्ये देवा अव्यतिरिक्ता इत्यभिप्रायः। तथा च 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' इत्यत्रैकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीत्यनन्यत्वं वक्ष्यति। न च केवलदेवतात्मन एव माहाभाग्यादन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। किं तर्हि ?	तथा चैकात्म्यम् 'इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुः' इत्येवमादयो गमयन्ति निगमाः। न ह्यङ्गिनमङ्गानि व्यतिरिच्यन्ते भेदेनाग्रहणात्। न वाङ्गान्यनपेक्ष्य प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
४	अपि च सत्त्वानामन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।....... ऋषयो मन्त्राः। 'द्यौस्ते पृष्ठम्' इत्यादयः। मन्त्रदृशो वा स्तुवन्तीत्येवमाहु-रन्येऽपि ब्रह्मवादिनः। एतदुक्तं भवति। माहाभाग्यं सार्वनाम्न्ये हेतुः। सार्वनाम्न्यं बहुधा स्तुतः। तच्चैतत् सार्वनाम्न्यं 'आत्मैवैषां रथः' इत्यादिना स्पष्टं दर्शयिष्यति।	कार्यकारणयोगन्यत्वात्कारणमहिमभिस्तान्य-श्वादीन्यभिष्टुवन्तीत्याहुरात्मविदः। तद्यथा-'द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षम्' इत्येवमादीनि। यस्मान्माहाभाग्ययुक्ता देवता प्रकृतिर्यस्माच्च सर्वत्वेन नता तस्माद्धेतोर्नैता अदेवता देवतावत्स्तूयन्ते।
४	इतरेतरप्रकृतयः परस्परप्रकृतयः। आदित्याद-ग्निः सायं जायते। अग्नेरप्यादित्यः प्रातरिति। तथा अदितेर्दक्षो दक्षाच्चादितिः। 'अदितिर्द्यौः' इत्यादि च। सोऽयं देवधर्मः। कर्मजन्मानो विशिष्टकर्मनिमित्तजन्मानः।	इतरेतरप्रकृतयो देवा ऐश्वर्यात्। न मनुष्या-णामियं शक्तिरस्त्यनैश्वर्यात्।............. तस्मात्सूर्यस्याग्निः प्रकृतिः। सूर्याच्चाग्निः सायं जायते। तस्मादग्नेः सूर्यः प्रकृतिः। अदितेर्दक्षो दक्षाच्चादितिरिति। कर्मफलसिद्धये लोकस्याग्निवायुसूर्या जायन्ते।

४	एतदुक्तं भवति। ईदृशं तेषामत्यन्तविशिष्टं कर्म येन यस्मिन् काले यथादशं च कार्यकरणमिच्छन्ति तस्मिंस्तथा तादृशमेवो-त्पद्यते यो नावयोनौ च।	यदेषामिच्छतां संकल्पानुविधायिकर्मानुरूपं यथाकालमात्मनः कार्यकारणमुत्पद्यते तदेषां जन्म। तदनीश्वराणां नास्ति।
५	तत्राध्यात्मविदामेकैव देवता। तच्च दर्शनमुक्तं माहाभाग्यदेकस्यात्मन इति।	माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' इत्येवमादिना........ सामर्थ्यमुन्नीयात्मवित्पक्षे-णात्मेवेदं सर्वमित्यैकात्म्यमुक्तम्।
५	तिस्त्र एव देवता इत्यादि। एवशब्दोऽवधारणे। तिस्त्रः। कुत एतत्? तिसृणां प्राधान्येन 'सूर्यो नो दिवस्पातु'......... इत्याद्यनेकत्र लिङ्गप्र-तिपादितस्थानत्रयाभिसम्बन्धात्। तस्मादेकस्यैव देवतात्मनो मध्यमस्थानस्य पर्यायावेताविति निश्चयः। सत्यपि तु पर्यायत्वे क्वचित्तु काचित् प्रसृततरा भवति। इन्द्रशब्देनैवाभिधानं मध्यमस्थानस्य प्रसिद्धतरत्वात्।	तिस्त्र इति संख्या। एवेत्यवधारणमितरौ पक्षावपेक्ष्य। कयोपपत्त्या त्रित्वं परिजगृहुः। स्थानभेदा-त्प्रत्यक्षलिङ्गादन्यार्थदर्शनाच्च। तस्मादाचार्यस्य मध्यमपर्यायवचनावेतौ शब्दाविति। सत्यपि पर्यायवचनत्वे मुख्यतरः सम्बन्धो मध्यमस्येन्द्रशब्देन न तथा वायुवरुणरुद्रादिभिः।
५	यथा चेन्द्रशब्देन मध्यमस्थानस्य सम्बन्धो मुख्यः। एवमग्निसूर्यशब्दाभ्यां पृथिवीद्युस्थानयोः। यदि तिस्त्र एव देवताः किमग्न्यादिसाहचर्येण जातवेदोवरुणाश्विप्रभृतीनां समाम्नानम्।......... तासां माहाभाग्यात् कारणादेकैकस्या जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विना उषा इत्यादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। ऐश्वर्ययोगादिविकरणधर्मत्वे सति।	यथास्य मध्यमस्य ज्योतिषो मुख्यः सम्बन्ध इन्द्रशब्देन तथेतरयोरपि पार्थिवोत्तमयोरग्नि सूर्यशब्दाभ्याम्। यदिदमभिधानबहुत्वं जातवेदो वैश्वनानर इत्येवमादि त्रित्वे सत्येतत् किं कृतमिति।...... तासामेव तिसृणामग्न्यादीनां माहाभाग्यादैश्वर्य-योगेनैकात्मानमनेकधा विकुर्वतीनामेकैकस्यां प्रतिविकारं जातवेदो वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विनावुषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वैवं विकरणधर्मित्वादभिन्नप्रकृतीनां बहुनामता।
५	एकत्वेऽपि सति कर्मनिमित्तानि बहूनि नामधेयानि। यथा कौण्डपायिनामयने गृहपतिसप्तदशा दीक्षन्ते।	अपि वा स्वं स्वमात्मानमविकुर्वतीनामेवानेक-कर्मयोगात्पृथक्कर्महेतुको नामधेयलाभः स्यात्। को दृष्टान्तः। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्ये-कस्य सतः' कुण्डपायिनामयने। तत्र हि सप्त दीक्षन्ते।
५	यथा लोके एको देवदत्तः पचन् पाचको, लुनन् लावकः, स्तुवन् स्तावक उच्यते।....... एवं स्वपक्षे त्रित्वमभिधाय याज्ञिकपक्षे प्रदर्शनायाह- 'अथवा पृथगेव स्युः'-अग्नेर्जातवेद आदयोऽन्ये वेद्याः।	यथा लोके लावकाः पावकादयः। अपि वा पृथक्पृथगत्यन्तभिन्ना एवौत्पत्तिकेन भेदेन स्युरिति याज्ञिका आहुः।

५	अतस्तेषां भिन्नरूपता एव भवति। तथा हि-'अग्निमीळे' इत्याग्नेयमेवोपदिश्यते। 'प्र नूनं जातवेदसम्' इति जातवेदसीयम्।	यस्मात्पृथक्पृथगग्न्यादीनां स्तुतयो भवन्ति। पृथगग्नेः-'अग्निमीळे' इत्येवमाद्याः। पृथग्जातवेदसोऽनग्निलिङ्गं सूक्तं 'प्रनूनं जातवेदसम्' इति।
५	तथाश्विनमुषस्यं सौर्यमिति प्रतिनियता स्तुतिचोदना। स्तुतिभेदाच्च स्तुत्यभेदेन भवितव्यम्। अभिधानादिचोदना हविर्भाजो देवताया 'आग्नेयोऽष्टाकपालः'......इति व्यवस्थितैव। चोदनाव्यतिरेके हि प्रायश्चित्तश्रवणात्।	स्तुतिव्यभिचारे च प्रायश्चित्तम्। तदनुपपन्नं च पर्यायवचनत्वे। ते वयं स्तुतिनियमात् पश्यामः पृथक्पृथगग्निवैश्वानरप्रभृतय इति।............ स्तुतिष्वेव ह्यभिधानभेद इति समानार्थता हेत्वोरिति चेन्न विधावप्यभिधाननियमदर्शनात्। 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्' इति येनैवाभिधानेन चोद्यते तेनैव निर्वपणादारभ्य समाप्यते तस्मादसमानार्थतेति।
५	तस्मिन् भेदपक्षे स्थानैकत्वं पृथिव्यादिस्थान-गतमेकत्वं स्थानिषूपचारेणोपेक्षितम्। न च केवलं स्थानैकत्मेव सम्भोगैकत्वं च।.......... एनमेवोत्तरयोरपि स्थानयोर्योजनीयम्।	तत्र तस्मिन्पृथक्त्वे सति स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपपत्तित ईक्षितव्यम्। एवमितरयोरपि स्थानयोरेकत्वम्।
५	यथा पृथिव्या धृत्यादिस्वव्यापारं कुर्वन्त्याः पर्जन्यादिभिः स्वव्यापारेण द्वारेण। अग्निना चेतरस्यान्तरिक्षस्य लोकस्य च सम्भोगः। यथा वक्ष्यति 'अग्निर्वा इतो वृष्टिम्' इति। 'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः' इति च। इदानीं यथोक्तस्य भेदाभेददर्शनस्य दृष्टान्तमाह। नरशब्दोऽमात्यजनपदादिप्रकृत्युपलक्षणार्थः। पृथा देवा इति। तदेवार्थवस्तु भेदेनाभिधीयते राष्ट्रमित्यभेदेन। एवमुक्तेषु भेदैनैकस्याभेदेन चानेकस्य। तत्रैतद् भेदाभेददर्शनं यथायोगमभिधानं द्रष्टव्यमिति। आनन्तर्याद् याज्ञिकपक्ष एष विचार इति केचिन् मन्यन्ते।	पृथिव्योषध्युत्पत्तौ स्वकार्यारम्भे पर्जन्यवाय्वा-दित्यकृतमुपकारमपेक्षते। अग्निना चेतरस्य लोकस्य'। तदप्युक्तम् 'अग्निर्वा इतो वृष्टि समीरयति' 'दिवं जिन्वन्त्यग्नयः' इति च। कः पुनरत्राविरोधी भेदाभेदे दृष्टान्त इति। यथा राष्ट्रमित्यभेदो नरा इति भेदः। एवं पृथिव्यग्निरित्यभेदो जातवेदा वैश्वानर इति भेदः।............ सर्वत्रैव सामान्यविशेषधर्मो द्रष्टव्यः। एवमयमस्याश्चिन्ताया याज्ञिकपक्षो विषयः। 'अपि वा पृथगेव स्युः' इत्यत एव याज्ञिकपक्षादनन्तरमिदमारब्धम् 'अथाका-रचिन्तनम्' इति।
६	विकारधर्मत्वाद् भाक्तस्य भेदस्याभ्युपगमात् प्रकृतिभूतस्य च विकारभूतस्य च देवतात्मनोऽत्यन्तपारार्थ्याद् इदमाकारचिन्तनं युक्तम्।	माहाभाग्यादेवताया विकरणधर्मित्वादनियम आकारे।....... अथवा निराकारत्वमिति सतत्त्वपरिज्ञानाय चिन्त्यते।

६	पुरुषविधा अस्मदादिरूपाः स्युरित्येकं दर्शनम्। चैतन्येन चेतनावद्भिस्तुल्यं यस्मात् स्तुतयो गुणगुण्यभिधानरूपा मन्त्राः चाटुश्लोका इव राजादीनां भवन्ति। तस्माद् विशिष्टपुरुषविधा इति।	'पुरुषविधाः स्युरित्येकम्' मन्त्रेषु दर्शनमिति वाक्यशेषः। पुरुषविधाः पुरुषाकाराः। पुरुष विग्रहा इत्यर्थः। यस्माच्चेतनावतामिव स्ततयो मन्त्रा अभिधायका भवन्ति। तस्मात्पुरुषाकारविग्रहा इति।
६	यथा प्रकृष्टचैतन्यविशिष्टानां पुरुषाणां परस्पर-स्याभिधानानि तथेन्द्रमरुदादीनामपि कयाशु-भीयादिषु संवादेषु भवन्ति। अतोऽपि पुरुषविधाः।	यथैव पौरुषविध्ये स्तुतिः कारणं भवति तथैव संवादसूक्तेषु परस्परमभिधानान्युक्तप्रत्युक्तानि संबद्धार्थानि परस्परतः कयाशुभीयादिषु 'कुतस्त्वमिन्द्र' इत्येवमादीनि। तस्मात् पौरुषविध्यं देवतानाम्।
६	तथाहि पौरुषविधिकैः पुरुषविधेयस्तुतिभावानि बाहुमुष्ट्यादीन्यङ्गानि तैः स्तूयन्ते।	पौरुषविधित्वे यान्यङ्गानि तैः संस्तूयन्ते। तद्यथा- 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू'।
६	तथा चेत्यर्थः। पुरुषप्रकारेषु ये द्रव्यसंयोगास्तैः सांयोगिकैरश्वजयादिभिर्भोग्यैर्द्रव्यैः सम्बन्धाः स्तूयन्त इत्यनुषङ्गः। किमर्थमुच्यते आयाहीति। यस्मादयं सुतः सोमः हे सुमख सुयज्ञ आगच्छ। अन्तरा कैश्चित् सह मा मृधः संग्रामान् कः मा कार्षीरित्यर्थः। अविलम्बितमित्यभिप्रायः।	'अथापि'अयमप्यपरो हेतुः पौरुषविध्ये देवतानाम्। 'पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः। किमित्येवं ब्रूमहे। अयं सुतः सोमः अभिषुतस्त्वदर्थम्। स त्वं हे सुमख सुध न मा अन्तरा केनचिन्मृधः संग्रामं कार्षीः। अविलम्बितमागच्छेत्यभिप्रायः।
६	अपाः पीतवानसि सोममभि। अस्तं गृहं हे इन्द्र प्रयाहि। कस्मादेवमुच्यते। यस्मात् ....कल्याणीः प्रशस्तरूपा जाया सुरणं सुष्ठु रमणीयं यत् परिभोगयोग्यं पर्यंकास्तरणादि गृहे ते तव। अथापीत्यादि। अथवोक्तविशेषणैरेव कर्मभिः।	हे भगवन् इन्द्र पीतवानसि सोमम् एतस्मिन् कर्मणि। स त्वं पुनः अस्तं गृहं प्रयाहि। यस्मात्तव कल्याणीर्जाया तत्र।... अन्यदपि यद्यद्रमणीयं तत्तत्सर्वं त्व गृहे वर्तते। तस्मात्पुनरस्तं प्रयाहि। 'अथापि' अयमपरो हेतुः पौरुषविध्ये। कतमः। पौरुषविधिकैः कर्मभिः' संस्तूयन्ते देवताः।
६	आभिमुख्येन श्रोतारौ कर्णौ यस्य तस्य सम्बोधनं हे आश्रुत्कर्ण श्रुधी श्रृणु हवमाह्वानम्। एवमुक्ताभिर्युक्तिभिः पौरुषविध्यं प्रसाध्या-र्थान्तरमुपन्यस्यति स्म। पुरुषाकारेभ्योऽन्याः स्युर्देवताः। न पुरुषसद्भावं	श्रोतारौ यस्य कर्णौ अप्रतिहतश्रवणौ सर्वत्र स भवति श्रुत्कर्णः। तस्य सम्बोधनम्। हे श्रुत्कर्ण आभिमुख्येन श्रुधि शृणु त्वमाह्वानमस्माकम्। तदेवमेतेभ्यो मन्त्रदर्शनेभ्यः स्थितं पौरुषविध्यं मन्त्रे देवतानामिति।

	देवता इत्याभिप्रायः। तथा चोक्तम् 'तत्रोपमार्थेन वा' इत्युपप्रतिज्ञाय प्रत्यक्षेण प्रसिद्धदेवत्वेनापुरुषाकारेण अग्न्यादिदेवतानां पूर्वोक्तं पौरुषविध्यत्वं व्यभिचरितुमाह।	'अपुरुषविधा स्युरित्यपरम्। दर्शनमिति वाक्यशेषः। तदुक्तम्। 'अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायँते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' इति।
७।	यथो एतच्चेतनावद्वदिति। अस्य समीकरण-मचेतनात्मन्यपि द्रव्याण्यक्षादीन्योषधिपर्यन्तानि 'मित्रं कृणुध्वम्' इति चेतनावद्भिस्तुल्यं स्तूयन्ते।........ एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैरिति। अस्य समीकरणमचेतनेष्वप्येतद् भवति।	तस्माच्चेतनावत्स्तुतिमत्त्वमहेतुः पौरुषविध्ये देवतानामचेतनेष्वप्यक्षादिषु चेतनावत्स्तुते-र्दृष्टत्वादिति। 'यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति'। अयमप्यहेतुर्व्यभिचारितत्वात्। अचेतनेष्वप्येतद्भवति।
७	ग्रावणः सुकृतः शोभनकर्मकारिणः। सुकृत्यया शोभनक्रिययाभिष्वाख्यया। होतुश्चित् होतुरपि सकाशात् पूर्वे हविरद्यमदनीयं सोमाख्यमाशत आशितवन्तः। ग्राव्णः स्तुतिरिति सुप्रसिद्धम्। पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि पूर्ववत कल्पितोपमारूपमित्याह।	सुकृत्या शोभनया क्रियया एते सुकृतः शोभनस्यकर्मणः कर्तारो होतुश्चित्पूर्वे होतुरप्यग्नेः मनुष्यहोतुर्वा पूर्वं प्रथमतरं हविः एतत्सोमाख्यम् अद्यम् अदनीयम् आशत अश्नन्ति। अभिषवे सोमसंयोगमात्रमशन-मुपर्चयते ग्राव्णाम्। तस्मादपौरुषविध्यमिति। 'यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरिति। एतदपि तादृशमेव'....... रूपकमात्रं स्तर्त्यथम्संकल्पतो बाह्वादिकार्यसिद्धिः।
७	अथवा उभयविधा द्विप्रकारा अपि स्युः। उभयथापि मन्त्रदर्शनात्। तत्रैते कर्मात्मानः पृथिव्यादयो धृतिसंग्रह-पक्त्यादि शीतोष्णवर्षादि च विदधानाः कृत्स्नं जगत् त्रायन्ते। अन्ये त्वधिष्ठातारः पुरुष-विधास्तेषामेव पृथिव्यादीनां स्युः।......... अस्य च द्वयात्मकत्वस्य दृष्टान्तं दर्शयितुमाह 'यथा यज्ञो यजमानस्य' यथा यज्ञः कर्मरूप आत्मा यजमानस्य कर्मणामनुष्ठातुः।	'अपि वोभयविधाः स्युः' उभयहेतुप्रामाण्या। पृथिव्यादीनां कर्मात्मन एते स्युः'। अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः। परे त्वधिष्ठातारः पुरुषविग्रहाः। एवमुभयोः प्रत्यक्षागमयोरप्यनुग्रहः कृतो भविष्यति। 'यथा यज्ञो यजमानस्य' कर्मात्मा।
७	एष चेत्यादि। इतिहासपुराणादिष्वाख्यानेषु समयः सिद्धान्तः प्रसिद्ध इति।	भारते चाख्यानसमयः। एष एव सिद्धान्त इत्यर्थः। पृथिवी स्त्रीरूपेण भारावतरणाय ब्रह्माणं ययाचे।
८	किञ्चिद् वक्तव्यमवशिष्यते। तद्विवक्षया स्वपक्षेणोपक्षेपः। तासां तिसृणां देवतानाम्। भक्तिसाहचर्यं भज्यतेऽसाविति...... भक्तिः। सहचरभावः	यः पुनस्तत्र विशेषो विवक्षितः स उच्यते। तासामेव तिसृणाम्। भक्तिश्च साहचर्यं च भक्तिकृतं वा साहचर्यमिति।

	साहचर्यं भक्तिश्च साहचर्यं चेत्यर्थः। येन च यस्य स्तुतौ हविषि वा सहभावोपगमनलक्षणं साहचर्यम्।	सहचरभावः साहचर्यम्।
८	ये च देवगणा देवा जातवेद आदयो देवगणाश्चाक्षादयः पठिताः प्रथमे पृथिव्याख्येऽग्नेः स्थाने। इळायाः पुनः प्रत्यक्षमपठिताया अपि आप्रीषु तिस्रो देवीः' इत्यनेन सामान्यशब्देनोपात्तायाः पृथिवीस्थानत्वविशेषणं लिंगतो दर्शयितुम्। तथा चोदाहरिष्यति-'आ नो यज्ञं भारती' इत्यत्र 'इळा मनुष्वदिह' इति प्रत्यक्षस्थाननिर्देशात्। तथा 'द्यां भारत्यादित्यैरस्पृक्षत् सरस्वतीमं रुद्रैर्यज्ञमावीदिहैवेळया वसुमत्या' इति। इहेति पूर्वस्थाननिर्देशाद् वसुमत्या इति चाग्निः। 'प्रथमो वसुभिर्नोऽव्यात्' इत्यादिलिङ्गादग्निः। वसुभिर्वा वसव इति समाख्या।	'ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने' तद्यथा 'आप्रियः अक्षाः ग्रावाणोऽभीशवः' इत्येवमादीनि। आप्रीमध्ये 'तिस्रो देवीः' इत्यत्र इळा भारत्या द्युस्थानाया अनन्तरं श्रूयमाणा 'आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वत्' इति। 'द्यां भारत्यादित्यैरस्पृक्षत् सरस्वतीमं रुद्रैर्यज्ञमावीदिहैवेळया वसुमत्या' इत्यतः सामर्थ्यमुन्नीय वसुसाहचर्यात् 'इहैवेळया' इति चाग्निभक्तिरिळेत्याह।
८	तत्र यथादित्यैः सम्बन्धाद् भारत्या द्युस्थानत्वम्। सरस्वत्याश्च रुद्रैर्मध्यस्थानत्वम्। एवमिळायाः पृथिवीस्थानत्वं सिद्धम्। यत्तु दृष्टविषयभवं वा दृष्टविषयप्रयोजनं वा वक्ति सन्तमसापनोदनादि तद्दार्ष्टिषविषयिक-मग्निकर्मैव तत् तदपि। अनन्तरमस्याग्नेः संस्तविकाः सह स्तवनं संस्तवस्तत्प्रयुक्ता देवा यक्ष्यन्त इति शेषः।	रुद्रैः साहचर्यात्सरस्वती मध्यस्थाना। आदित्यैः साहचर्याद्भारती द्युस्थानेति। 'दार्ष्टिविषयिकम्'-दृष्ट्यनुग्रहो यस्य विषयस्तद् दार्ष्टिविषयिकम्। प्रकाशादि कर्मेत्यर्थः। अथास्य संस्तविका देवा यैः सहाग्निः स्तूयते।
८	दाशुषो दत्तवतो हवींषि यजमानस्य स्वभूते दुरोणे हविर्धानलक्षणे यज्ञगृहे। हे अग्नीषोमौ इमं सु मे सुष्ठु मे मम शृणुतम्। वृषणौ हे वर्षितारौ हवमाह्वानम्। प्रतिर्धात्वर्थानुवादी। सूक्तानि च स्तुतिरूपाणि हर्यतं........ प्रेप्सतं कामयेथाः। किञ्च भवतं दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय मयः सुखौ।	अस्य दाशुषो दत्तवते हवींषि यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे। हे अग्नीषोमौ युवामुच्येथे। इमं हवं आह्वानं मे मम सुष्ठु शृणुतं वृषणौ वर्षितारौ। श्रुत्वा चागच्छतमागत्य च प्रतिहर्यतं प्रतिप्रेप्सतम्। मया पूर्वं प्रेप्सितौ प्रतिकामयेथामिमानि सूक्तानि श्रोतुम्। श्रुत्वा चेमानि भवतं दाशुषे युवां हविर्दात्रे मयः। सुखावित्यर्थः।
८	हे अग्नीपर्जन्यौ। अवतं गच्छतम्। धियं कर्मनामैतत् कर्म मे मम श्रुतम्। अस्मिन् हवे आह्वाने सुहवा स्वाह्वानौ।	हे अग्नीपर्जन्यौ युवामुच्येथे अवतम् आगच्छतम् इमां धियम् इदं कर्म प्रति मे मम अस्मिन् हवे अस्मिन्नाह्वाने सुहवौ स्वाह्वानौ।

८	न त्वृक् संस्तवप्रयोजना शास्त्रानुवचनगता दशतयीषु दश मण्डलाख्या अवयवो यासां ता दशतय्यः, ऋग्वेदस्य शाखास्तासु विद्यते। अग्नेः पूष्णा सह हविरेव केवलं न तु संस्तवः। तत्र तस्मिन्नपि पूष्णा सह हविस्सापर्ये प्रदर्शनायोदाहरन्तो विभक्तस्तुतिमेतां वक्ष्यमाणामृचमुदाहरन्त्यभियुक्ताः। शुनः कर्णस्तोमे प्रमीयमानोऽनयाऽभिमन्त्रयते प्रमितस्य शाचीः।	दशतयीषु। दशमण्डलावयवप्रविभागेन तायत इति दशतयः ऋग्वेदः तस्य शाखाः दशतय्यः तासु तासु सर्वास्वपि शाखासु एकापि हविषि अविनियुक्ता शस्त्रमध्यपातिनी ऋगग्नाविष्ण्वोः सस्ताविकी नास्ति। अथाप्ययमपर उत्सर्गः। 'अथाप्याग्नापौष्णं हविः' एव न तु संस्तवः। तस्मिंस्तु हविषि किंतु पृथक्पृथगेवाग्निः स्तूयते पूषा च। 'तत्र' तस्मिन् संस्तवे अग्नापूष्णोः 'एतां विभक्तस्तुतिमृचमुदाहरन्ति' नैरुक्तः। शवस्य कर्णे प्रमीतानुमन्त्रणे विनियोगः। प्रमीत उच्यते।
९	अथवा स त्वैतेभ्य इत्यनेन तच्छब्देन उपरिष्टान्निर्देक्ष्यमाणोऽग्निरेवोच्यते पूष्णा प्रच्यावितं त्वामग्निः स त्वामेतेभ्यः परिददातु पितृभ्यः। अस्मिन् व्याख्याने पूर्वार्धं पौष्णम्। उत्तरार्धमाग्नेयमिति विभक्तस्तुतित्वम्। व्याख्यातृणां संशयमापन्नस्तृतीयः पादः। पौष्णस्तदन्वादेशादित्येकं दर्शनम्। अग्नेः प्रकीर्तनमित्यपरम्।........ वृत्रवधोः। या च का च बलकृतिः यावत् किञ्चिद् बलेन क्रियते कीटपतङ्गादिभिरपि कर्म इन्द्रकर्मैव तत्। कुतः। बलं हि प्राणः प्राणश्च वायुर्वायुश्चेन्द्रः।	अथवा द्वावुत्तरावाग्नेयौ। तत्रार्थयोजना। पूष्णा प्रच्यावितं सन्तं सोऽग्निर्वक्ष्यमाणस्त्वामेतेभ्यः पितृभ्यो देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः परिददातु। संशयोऽस्मिन्नस्तीति सांशयिकः तृतीयः पादोऽस्या ऋचः। कथं कृत्वा। यथा 'पूषा पुरस्तात्' पूषा त्वेतश्च्यावयतु इति। तस्यान्वादेश इत्येकं सामर्थ्याद्दर्शनम्। तथा व्याख्यातमेव। वृत्रधो मेघवधः। 'या च का च बलकृतिः' अन्यापि 'इन्द्रकर्मैव तत्' इत्यादरार्थं पुनर्वचनम्। अपि कीटपिपीलिकादिषु यद्बलेन क्रियते सर्वमिन्द्रकर्मैव तदिति।
१०	इन्द्रापूषणौ नु क्षिप्रं युवां वयं सख्याय स्तुत्यस्तोतृत्वलक्षणाय स्वस्तये अविनाशाय हुवेम नित्यमाह्वयेमेत्याशास्महे। वाजसातये वाजमन्नं सातिः संभजनम्। अन्नसंभजनाय चात्मनः युवयोर्वा।	हे इन्द्रापूषणौ सख्याय समानख्यानाय स्वस्तये स्वस्त्ययनाय च वाजसातये च वाजस्यान्नस्य सननाय हुवेम आह्वयामहे युवां वयम्। नित्यं यज्ञेष्विदमाशास्महे इति।
१०	हे इन्द्राबृहस्पती हविर्नोऽस्माकं स्वभूतमन्नं योग्याशनादि युजेव यथा युजौ सहयोगिनौ वाजिनावश्वौ। एवमभिजिगातमभिगच्छतम्।	यौ युवामेवमतिमहानुभावौ तौ अस्माकम् आभिमुख्येन इदं हविः जिगातम् आगच्छतं भोक्तुं युजाविव सहचारिणौ वाजिनौ रथाद्विमुक्तौ बुभुक्षू स्वम् अन्नम्। इत्येतदाशास्महे।
१०	हे इन्द्राकुत्सौ वहमाना वहमानौ प्रापयन्तौ रथेनात्मानम्। आ इत्युपसर्गो वहन्त्वित्येतेन सम्बध्यते। वामत्या अश्वा अपि कर्णे अपठितमपि	हे इन्द्राकुत्सौ वहमानौ उह्यमानौ रथेन युवां ब्रुवे। आवहन्तु वाम् अत्याः अश्वाः अपि कर्णे नित्यं कर्मणे।

	कर्मनामैतत्। करणमित्यस्य वा कर्मनाम्नश्छान्दसोऽकारलोपः कर्मण्यस्मदीये आवहन्तु।	
१०	ननु नैरुक्तपक्षे इन्द्रस्य वायुना संस्तवानुपपत्तिरभिधेयस्याभेदात्। उच्यते। द्वावात्मानौ। अन्तरात्मा शरीरात्मा चेति। अनेन प्रकारेणाधिष्ठात्रधिष्ठेयभेदादविरोधः।.......... आ इत्युपसर्ग उक्षतमित्यनेन सम्बध्यते। नोऽस्माकं स्वभूतम्। मित्रावरुणा हे मित्रावरुणौ। घृतैरुदकैः। गव्यूतिं गावो येन मार्गेण चरन्ति तनुक्षतम्। आसिञ्चतमित्यर्थः। न च केवलं गव्यूतिमेव। किं तर्हि? मध्वा उदकेन वृष्टिलक्षणेन। रजांसि सर्वानेव लोकान्। हे सुक्रतू सुकर्माणौ।	उपात्तद्विकर्मात्मनो हि मध्यमस्य एकस्यापि वाग्विन्द्रभावेन विकरणधर्मित्वाद् द्वित्वं बिभ्रतो नैरुक्तपक्षेऽपि द्विवचनसंस्तुतिरविरुद्धा यथैकस्योदकस्य द्विपात्रस्थस्य द्विवचनेनोक्तिः। हे मित्रावरुणौ सुक्रतू शोभनकर्माणौ युवामुच्येथे। गव्यूतिं गोयूतिं यवसोदकोत्पत्तये रजांसि च गोयूतेर्यान्यन्यानि ब्रीह्यादिधान्योत्पत्तिक्षेत्राणि तानि च ब्रीह्याद्युत्पत्तये मध्वा मधुरेण सस्यसंपत्करेण उदकेन अस्माकं उक्षतम् आसिंचतमित्येतदाशास्महे।
१०	हे सोमारुद्रौ युवं युवाम्। एतान्यस्मे अस्माकम्। विश्वा विश्वानि सर्वाणि। तनूषु शरीरेषु रोगोपशमकराणि भेषजानि औषधानि धत्तम्। अरोगशरीरानस्मान् कुरुतमित्यर्थः।	हे सोमारुद्रौ युवामुच्येथे। एतानि सर्वाणि भेषजानि अस्मे अस्माकं तनूषु शरीरेषु धत्तम्।
१०	'अग्निना च पूषा' इत्यपपाठः। 'न तु संस्तवः' इति प्रतिषेधविरोधात्।	'अग्निना च पूषा'। मध्यमेन च द्युस्थानेन च संस्तव इति पार्थिवेन प्रतिषेधात्। ऋचं नोदाहरन्ति। मृग्यमुदाहरणम्।
१०	उदकदानप्रकाशकरणादिना केनापि स्वेनोप-कारेण धर्तारो धारयितारो दिवः। ऋभवो देवविशेषाः। सुहस्ताः शोभनहस्ताः। वातापर्जन्या वातापर्जन्यौ च। महिषस्य महतः। तन्यतोः स्तनयित्नुलक्षणस्य शब्दस्य। नित्यं धनं धर्तारावित्यनुषङ्गः।....... यन्तु गच्छन्तु मे मम हवमाह्वानम्।	धर्तारो दिव इति ऋभव शोभनहस्ताः वातापर्जन्यौ च आपश्च ओषधयश्च भगश्च रातिः दाता वाजिनश्च धारयितारो द्योतनवन्तो ये उक्ताः अस्य उदकस्य महिषस्य महतः तन्यतोः सर्वार्थतनितुः हवं आह्वानम् अस्माकम् आयन्तु आगच्छन्तु।
११	सूर्यभक्तीति वक्तव्ये आदित्यभक्तीति वचनं स्वे पक्षे सूर्यपर्यायतामादित्यस्य दर्शयितुम्। याश्च स्त्रियः-उषाः सूर्या वृषाकपायीत्यादयः। अल्पत्वादथास्येत्यादिना प्रपञ्चो न कृतः।	'सूर्यो द्युस्थानः' इति पूर्वमधिकृत्य 'आदित्यभक्तीनि' इहाब्रवीद्विशेषतः स्वपक्षो द्योतनानुस्मृतये। 'याश्च स्त्रियः' उषाः सूर्या वृषाकपायी सरण्यूः। अल्पत्वात्स्वशब्दैरेव ब्रवीति नाधिकारवचन करोति 'अथास्य' इति।
११	विश्वानि सर्वाणि। अन्य एको भुवनानि भूतजातानि। अभिचष्टे अभिदर्शयति प्रकाशकरणेन सूर्यः। ऋतूनन्यश्चन्द्रमा आत्मानो वृद्धिक्षयाभ्यां विदधत् कुर्वन् जायते। पुनः भूयो भूयो मासि	विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे। विश्वानि भुवनानि भूतानि अन्यः अभिचष्टे अभिपश्यति आदित्यः। यथैतान्यभिद्रष्टव्यानि उपकारकत्वेन तथा स एव तानि पश्यति। ऋतूँरन्यः चन्द्रमाः विदधत् अभिनिष्पादयन्

	मासीत्यभिप्रायः।	स्वगत्या पुनः पुनः प्रतिमासं जायमान उदेत्यस्तमेति च।
	वायुना संस्तुतिं वक्ष्यति-'सप्तऋषयः...... इत्यत्र। तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्याविति।	वायुना संस्तवः। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः इत्यत्र। तत्र जागृतो अस्वप्नजौ' इत्यस्मिन्पादे वाय्वादित्यौ इति वक्ष्यति।
	एतेष्वेवोक्तेषु 'अयं लोक' आदिस्थान-सम्बन्धेन व्यूहेषु प्रातस्सवनवसन्तादि रचनाविशेषेषु ऋतुशब्द इत्यादि द्वन्द्वैकवद्भावः। भक्तिशेषं यदत्रानुक्तभक्ति तदानुपूर्व्येण कल्पयेत्।	ऋतवश्च छन्दांसि च स्तोमाश्च पृष्ठानि च ऋतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठम्। तस्य ऋतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य। ऋतुभक्तिशेषं छन्दोभक्तिशेषं स्तोमभक्तिशेषं पृष्ठभक्तिशेषं च।
११	असंविज्ञानपदेषु च मन्त्रेषु उक्तान्यतमसाह-चर्येण देवतासंविज्ञानायेत्युक्तं पुरस्तात्।	अनग्निलिङ्गेऽपि चेन्मन्त्र एतेषामन्यतमं स्यात्स आग्नेय इति प्रतिपत्तव्यः। एवमेवोत्तरयोरपि स्थानव्यूहयोः।
	कथं नामान्यत्र मन्त्राणां मन्त्रत्वम्-'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि' इत्यादावुक्त निर्वचना एते स्युरिति।	सर्वमेतन्मन्त्राश्रयमुक्तम्। त एव तावन्मन्त्राः कस्मान्मन्त्रा इति उच्यन्ते। एभ्यो ह्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञादि मन्तारो मन्यन्ते।
	मन्तव्या हि ते, मन्यन्ते तैरधिदैवादिविषया इति मन्त्राः।	तदेषां मन्त्रत्वम्। अथ 'छन्दांसि' कस्मात्। छादनात्।
	आवरणार्थस्यैव वा ब्राह्मणोक्तनिर्वचनम्-'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' इति विज्ञायते।	'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' इति विज्ञायते।
	प्रायेण हि याजुष्या होममन्त्राः।	तेन हि विशेषत इज्यते सर्वत्र याज्यान्ते वषट्कारविधानात्। प्रक्षिप्तमिव हि तदृचि भवति।। विज्ञायते च
	क्षिप्तं हि तदृगक्षरेषु। 'ऋच्यध्यूढं साम गायति' इति श्रुतेः।	'तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते'। ऋचा एतत् समम् इत्येवं प्रजापतिर्मेने ज्ञातवान्।
	ऋचा समं मेने ज्ञातवान् प्रजापतिः सोमैव-मात्मानं तत्साम्नः सामत्वमिति। एवमादीनां नामग्रन्थस्तद्विदो मन्यन्त इति शेषः।	अथवा। आत्मानमेव ऋचा समं मेने ज्ञातवान्। तस्मात्साम्नः सामत्वमित्येवं नैदाना मन्यन्ते। निदानमिति ग्रन्थः। तद्विदो नैदानाः।...
	गायत्रीगायतेः स्तुत्यर्थस्य। स्तूयते हि तया देवता।	'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः'। तया हि गीयन्ते स्तूयन्ते देवताः।
१२	उष्णिगुत्स्नाता 'ष्णै वेष्टने' गायत्रीतश्चतुर्भिरक्षरैः पूर्वं वेष्टितेव। आह च 'उष्णिगायत्रौ जागतश्च' इति।	तत्र तावत् 'उष्णिगुत्स्नाता' गायत्रीतश्चतुर्भिरन्नरैर-धिकैरुद्वेष्टितेव भवति। 'उष्णिग्यायत्रौ जागतश्च' इति।
	कान्तमेतद्देवानां च्छन्दः।	स्निग्धम् इष्टं देवतानां कान्तमेतच्छन्दः।
	एतदप्यौपमिकम्। मध्यमस्य जागतत्वात्। चतुरक्षरं	सैवोष्णिरजागतेन पादेनोपहितेन मध्यतः

	ककुदस्थानीयमस्याम्। तेन तद्वती ककुदिनी भवति।	ककुबित्युच्यते। स तस्याः ककुबिव मध्यतो भवति तेन ककुभिनीव ककुप्।
१२	बृहिर्वृद्ध्यर्थः। सर्वपादेष्वेकाक्षरवर्धनादिर्थः।	बृहती परिबर्हणात्'। परिवृद्धासौ भवत्यनुष्टुभश्चतुर्भिरक्षरैः।
	पूर्वपदस्य त्रिशब्दस्य किं प्रवृत्तिनिमितमिति पृच्छति। का पुनस्त्रितेति।	अथ पुनः पूर्वपदे येयं त्रिता त्रित्वं श्रूयते 'त्रि' इति एतत्किमर्थमिति।
	अनवस्थितत्वाद्वा जलकरङ्गचला गतिः प्रस्तारो यस्याः। बहुप्रकारप्रस्तारेत्यभिप्रायः।	जलोर्मिप्रकारो हि तस्याः प्रस्तारः। क्षीणहर्ष इव किलैतां प्रजापतिः ससृजे।
१३	अत्यर्थ। ग्लायन् प्रजापतिर्निर्विण्णः सन् सृष्टवानिति ब्राह्मणमाह।	ददर्शेत्यर्थः। न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यत्वादेव छन्दसाम्।
	पिपीलिकामध्येत्युपमाप्रयुक्तं नाम। अल्पाक्षरमध्यमपादत्वात्। पिपीलिकामध्यमिव मध्यं यस्या इत्युत्तरपदलोपी समासः।	मध्याल्पाक्षरपादा या सा पिपीलिकमध्येव भवति पिपीलिकसरूपा।
	एवमनेन प्रकारेण इमा अग्न्याद्या देवता देवपत्न्यन्ताः सामान्येन लक्षणेनानुक्रान्ताः। चशब्दादर्धर्चभाजः पादभाजश्च।	एवमनेन प्रकारेण यथापरिभाषितेन 'यत्काम ऋर्षिः'इत्येवमादिना इमा देवता अनुक्रान्ताः।.. अर्धर्चभाजोऽपि क्वचिदुपेक्षितव्याः।.......... पादभाजोऽपि क्वचिदुपेक्षितव्याः।
	अयमपि च वक्ष्यति 'आदित्यदैवतो द्वितीयः पादः' इति।	नवो नवो भवति जायमानः' इत्यस्या आदित्यदैवतो द्वितीयः पादो भवति।
१३	तथा च वक्ष्यति। 'विधाता धात्रा व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि। सोमस्य राज्ञः' इति।	तद्यथा-'विधाता धात्रा व्याख्यातस्तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृच्। 'सोमस्य राज्ञो वरुणस्य' इत्यस्या सोमप्रभृतिभिः सह विधाता स्तूयते साधारण्येन।
	अभिधानैर्गुणानामिति शेषः। वृत्रहादिभिर्गुणपदैरित्यर्थः। संयोगैगुणिनं हविश्चोदयति श्रुतिः।... तान्यपि गुणाभिधानानि एके नैरुक्ताः पठन्ति। इन्द्रो वृत्रहा इन्द्रोऽहोंमुगिति।	अभिधानैः संयोज्य विशेषणशब्दैस्तत्रैतदभिधानमिन्द्रादि संविज्ञानादूढमिन्द्रादौ देवतार्थे आम्नायविधौ प्रयोगे च हविश्चोदयति।...... एके नैरुक्तास्तान्यपि गुणपदानि वृत्रहांहोमुक्प्रभृतीनि अग्न्यादौ देवतापदसमाम्नाये पृथक्पृथक्समामनन्ति।
१३	यस्मात् भूयांसि प्रभूतान्यपर्यन्तानि तेषां समाम्नानात् स्युः। ऐश्वर्याद् गुणिनि गुणविशिष्टानां संख्यानासम्भवात्। ततश्चानवस्थाप्रसङ्गादध्येतारः शास्त्रात् पराभज्येरन्।	भूयांस्येव तेषां समाम्नानात् समाम्नातानि स्युः। न किंचिदतिरिक्तं प्रयोजनं वचनात्। केवंल गुरु शास्त्रं संपद्यते। तन्मा भूदित्यर्थः।
१३	तस्माद् यदेव संविज्ञानभूतं रूढितामापन्नं स्यात् प्राधान्यस्तुति च।	यदेत्संविज्ञानभूतं रूढमगौणं केवलमपि निर्विशेषणं लब्धप्रधानस्तुति देवतापदमग्न्यादि तत् समामने न

	एवमत्रापि क्रियापदनिमित्तपदसमाम्नानात् भूयस्त्वमेव केवलं स्यात्।	गौणं व्रतभृद्व्रतपत्यादि। 'भूयांसि तु समाम्नानात्' इति स एव दोषः।
	यतोऽर्थविशेषस्याभिव्यञ्जनमात्रं गुणकर्मोप-निधानमात्रेण हि तत्तस्य संविज्ञानभूतस्येन्द्रा-देरभिधानस्य भवति।	वृत्रहा पुरन्दर इति यदेवमादि गुणपदं तत्तस्यै-वेन्द्रादेः संविज्ञानपदस्य व्यञ्जनमात्रं विशेषणमात्रं भवति।
१४	एवं तावत् सामान्येन सर्वदेवतानां लक्षणं सप्रपञ्चममिधायानन्तरं प्रतिपदं विशेषेण वक्तव्याकांक्षास्तीति। अतस्तद्विवक्षयानुपूर्व्येण यथासमाम्नायमनुक्रमिष्यामो व्याख्यानेनेति शेषः।	सामान्यतः परीक्षितोऽग्न्यादिर्देवपत्यन्तो देवतापदसमाम्नायः। विशेषत इदानीं प्रतिपदमनुव्याख्यास्यते। तदर्थमधिकारवचनम् 'अथ' इति।
१४	'स न मन्येत' इत्यादिविचारः। 'यस्तु सूक्तं भजते' इत्यादि। 'अयमेव' इत्यवधारणम्। एवं प्रकारया।	'स न मन्येतायमेवाग्निः' इति च विचारः। 'यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते' इतीयमुपपत्तिः। 'अयमेव सोऽग्निः' इत्यवधारणाम्। एवंप्रकारया व्याख्यया प्रतिपदमनुक्रमिष्यामः।
१४	अग्निरग्रणीः प्रधानो देवतानाम्। मुख्यसंस्तुतः। सेनानीत्वाद्वा। 'अग्निर्देवतानां सेनानीः' इति हि विज्ञायते।	अग्रशब्दः प्रधानवाची। स एव चाग्रं नयति सेनां वाग्रे नयति सैनापत्येऽवस्थित इत्येके। विज्ञायते। हि 'अग्निर्वै देवानां सेनानीः' इति।...
१४	तदङ्गं नयति आत्मसात्करोति अधिरोतीति यावत्। एवमर्थस्यान्यत्वं व्युत्पत्तिः सैव। स्थूलाष्ठीवः कश्चित्। स च बाह्वादिषु द्रष्टव्यः तदपत्यं स्थौलाष्ठीविराचार्यो मन्यते।	तृणे काष्ठे वा यत्र संनमत्याश्रयति तदात्मनोऽङ्गतां नयति। आत्मसात्करोतीत्यर्थः। स्थूलाष्ठीवतः पुत्रः स्थौलाष्ठीविराचार्यः स एवं मन्यते।
१४	न स्नेहयति। नञ्विशिष्टस्नेहयतेः स्नेहनविपरीतं विरूक्षणं लक्ष्यते। विरूक्षयतीत्यर्थः। दग्धव्यस्यैधादेः शोषणादक्नोपनो विरूक्षण इत्यर्थः।	अतः पुनर्ब्रवीति प्रसिद्धेनार्थेन 'न स्नेहयति' विरूक्षीकरोतीत्यर्थः। स हि तस्य स्वभावः।
१४	तत्र वाच्यक्रियाक्षरानुगमादित्यभिप्रायः।	त्रयाणामाख्यातानामभिधेयाः क्रिया अत्र लक्ष्यन्ते।
१४	एतेः अयनमित्यादिरूपत्वेन परिणतस्याकार-मादत्ते।	नन्वेतेर्धातोरकार एव नास्ति। अतः किमादत्ते। सत्यं नास्ति। वर्णसामान्येन तद्विकारमादाय इणोऽर्थदर्शनादग्नौ शब्दार्थसंबन्धनित्यत्वादर्थे च गुणभूतत्वाच्छब्दस्य। ततस्तं व्यापादयत्याकारत्वेन।
१५	'इड् स्तुतौ' याच्ञायां वा। यद्वा अध्येषणायाम्। स्तौमि याचे। अध्येषणायामिति। पूजाकर्मा वा। द्युस्थानसामान्येन वा देवशब्दस्य निर्वचनाद-विरोधः। हविर्वहनकर्मणा वा पृथिवीस्थानत्वम्। अधिष्ठात्रात्मना द्युस्थानत्वमित्यभिप्रायः।	'ईडिः' धातुः अध्येषणाकर्मा याच्ञाकर्मेह। अन्यत्र 'पूजाकर्मा' अपि। सामान्यं हि द्यौः स्थानं देवतानाम्। तयोस्तु कर्माधिकारस्थाने विशिष्टे पृथिव्यन्तरिक्षे।

	परा अनन्तरा सर्वाग्नेयीत्वादुदाहरणं भवति।	समानसंहितत्वादपरेति वा। द्वितीयेत्यर्थः। सा पुनः किमर्थमिति। अमुना प्रकारेण सर्वा एतस्यामुदाहरणं तत्कर्मयुक्ता ऋच उपेक्ष्या इत्युपप्रदर्शनार्थम्।
१५	सर्वत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धसूचनाय स देवताग्निः परस्तात् प्रतिनिर्देशार्थतच्छब्दश्रुतेर्भाष्यकार उद्देशार्थं यच्छब्दमध्याजहार।	तद्वृत्तमुत्तरत्रापेक्ष्य यद्वृत्तमध्याजहार भाष्यकारो यत्तदोर्नित्यः सम्बन्ध इति दर्शयन्।
१६	उत्तरे ज्योतिषी विद्युदादित्याख्ये अग्नी।	'अप्येते उत्तरे ज्योतिषी' मध्यमं चोत्तमं च 'अग्नी उच्येते।
१७	कस्मात् पुनरत्र पार्थिव एवाग्निर्न गृह्यते। घृतं वाहुतिलक्षणम्। आज्यमाहवनीयम्। आहुतिल-क्षणस्याज्यस्य धारा अभिगच्छन्ति। उच्यते। बहूनां धाराणां युगपदग्निं प्रत्यभिगमनस्यासम्भवात्। वैद्युते तु सम्भवति।	एवमेतास्मिन् मन्त्रे युगपदविधानात्पार्थिवे धृताहुतिहवनस्योपमानोपमेयवैधर्म्याच्च युगपत् सम्भवाच्चोदकधाराणां वैद्युते तत्रोपमानोपमेय-सामञ्जस्याच्च सामर्थ्यात्प्रसि-द्धिमुपरुन्ध्य 'घृतस्य धारा' शब्द उदकधारावचनः सम्पद्यते
१७	अत्रापि चेदमेवोदाहरणमित्यनेनाभिप्रायेण। 'समुद्रादूर्मिः...... इत्युपन्यासः। अंशुना चन्द्रमसाहारभूतेनामृतत्वमानट् 'अशू-व्याप्तौ' अश्नुते उपसंव्याप्नोतीत्यर्थः। कुत एतत्। 'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति' इति मन्त्रान्तरे दशर्नात्।	अथ खलु यथोत्तममपि ज्योतिर्भवत्या-ग्निस्तथोदाहरिष्यामः। 'समुद्रादूर्मिः......। अंशुना चन्द्रमसा उपसमानट् उपसंव्याप्नोति। सोऽस्यान्नं तेन न म्रियते। 'यमक्षिति-मक्षितयः पिबन्ति'-इत्युक्तम्।
१७	न केलमुत्तरे ज्योतिषी अग्निः। किं तर्हि। सर्वा देवता अग्निशब्देनोच्यन्ते। तथा च ब्राह्मणम्-अग्निः सर्वा देवताः' इत्यादि। तस्य ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य उत्तरा ऋक् भूयसे अभिव्यक्तावत्र भूयस्त्वम्। विशेषेणाभिव्यक्त-तरायेत्यर्थः।	अथ खल्वयमपरः संकरोऽग्निशब्दस्य। ब्राह्मणं हि भवति 'अग्निः सर्वा देवताः' इति अस्य च ब्राह्मणस्य 'उत्तरा' ऋक् भूयसे बहुतराय निर्वचनाय।
१८	इन्द्रं मित्रं वरुणं चाग्निमाहुः। अग्निशब्देन ब्रुवन्तीत्यर्थः।	इन्द्रं मित्रं वरुणम् इत्येतैरभिधानैरग्निमाहुः सतत्त्वविदः।
१८	तद्यदा मध्यमोऽग्निरादित्यो देवतेति पक्षः। तदाग्निशब्दस्य गौणी वृत्तिः।	अत्र प्रतिसमाधानम्। सत्यमेतत्सर्व एतेऽग्निशब्देन स्तूयन्ते। न तु प्रधानतः। किं तर्हि ? गुणतः स्तूयन्ते।
१८	निपातमेव न स्तुतिर्न हविरित्यर्थः।	निपातो नाम अप्राधान्यं भक्तिरित्येव।
१९	जातानि सर्वाणि भूतानि वेद लोकपालत्वात्। जातानि वा तिर्यगादीन्यप्येनं विदुः। कारकभेदः केवलम्। ब्राह्मणोक्तमपि जनेर्विन्दतेश्च निर्वचनमिति दर्शयति।	स हि जातानि वेद। न हि तदस्ति जातमस्मिंल्लोके यदसौ न वेद सर्वज्ञ इत्यर्थः। 'जातानि वा एनं विदुः' स एव धातुः। कारकान्यत्वं केवलम्। 'ब्राह्मणम्' अपि भवति जनेर्विदेश्च जातवेदा इति।

१९	सर्वानृतून् सर्वकालमित्यर्थः। 'स्वामित्वा-दग्निमाभि मुख्येन सर्पन्ति' इति च ब्राह्मणम्। तस्य जातवेदसः प्राधान्यस्तुत्युदाहरणमेषा भवति। अश्वं 'अशू व्याप्तौ' व्याप्तारमन्नपक्त्यादिना स्वकर्मणा कृत्स्नस्य जगतः। लुप्तोपमो वाश्वशब्दः। अश्वमिव शीघ्रकारित्वात्।	यतश्चैतदेवं तस्मात् अद्यत्वेऽपि स्वाम्ययम-स्माकमिति मन्यमानाः 'पशवः सर्वानृतून्' प्रति अपि ग्रीष्मे' अग्निमभिसर्पन्ति'। तस्य जातवेदसः प्राधान्यस्तुत्युदाहरणम् 'एषा' ऋग् भवति। अश्वं कर्मभिः सर्वमेतज्जगत् अश्नुवानं व्यापयन्तं........। अथवा अश्वमिव इति वा लुप्तोपमं रूढेर्बलीयस्त्वात्।
२०	कथं नामायं जातवेदाः। 'वेदिस्तरं बर्हिरासीदेत' इति प्रसङ्गात्। सुहृद्भूत्वाह स्वपक्षे वा पर्यायत्वं दर्शयितुम्। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं गायत्रं तज्जातवेदस्य शासतीति चोदनासम्पादनार्थं जातवेदः शब्द-सम्बन्धिनां सूक्तानां प्रसङ्गे प्रयुज्यते। नान्यच्छन्दोयुक्तं जातवेदोलिङ्गमपि। एवं च ब्रुवता पर्यायत्वं दर्शितं भवति। तथेदमपरमुदाहरणं 'उदु त्यं जातवेदसम्' इति। तदुपरिष्टात् सप्तदशे व्याख्यास्यामः।	इदम् अस्मत्कर्म बर्हिषोपलक्षितं बर्हिः कथं नामास्मदभिमतार्थसिद्ध्यर्थमाभिमुख्येन सीदे-दित्येवमर्थं प्रहिणुत। बहुभिरेतैर्गायत्रच्छन्दोयुक्तैर्जातवेदसैर्मन्त्रैरधि-यज्ञे प्रयोजनमस्ति। न चैते बहवः सन्ति सर्वास्वपि दशतयीष्वेतदेवैकं तृचं मुक्त्वा। तत्र किं कर्तव्यमिति। यत्तु किंचिदाग्नेयं मन्त्रजातं गायत्रच्छन्दस्यजातवेदोलिङ्गमपि तज्जातवेद-सानां मन्त्राणां स्थाने विनियुज्यते शस्त्रेण। ...अग्निरेव जातवेदा इति कर्मपृथक्त्वा-न्माहा भाग्याद्वेति। तथेह 'अथासावादित्य उदु त्यं जातवेदस-मिति' जातवेदस्त्वोपपत्तौ। तदेतत्प्रतिपदमुदाहरणम् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।
२१	सर्वान् नरानितो लोकान्तरं नयति। ... अपि वा विश्वान् जन्तून् अरः........ सर्वाणि भूतानि अरः प्रत्यृतः प्रविष्ट इति वैश्वानरः। इयमेव व्युत्पत्तिः। स च सामर्थ्यात् प्राणाख्यो वायुः। तेन जन्यमानत्वात् तस्यापत्यं वैश्वानरः। तस्य प्राधान्यस्तुत्युदाहरणमेषा।	विश्वान्नरान् इतो लोकादमुं लोकं नयति। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। विश्वानि ह्यसौ भूतानि प्रत्यृतः। प्रविष्ट इत्यर्थः। 'तस्य' अपत्यं विश्वानरस्य वैश्वानरस्य वैश्वानरः। तस्य वैश्वानरस्य 'एषा' प्राधान्यस्तुतिः 'भवति'।
२२	अत्रैकवाक्यतायै यत्तच्छब्दाध्याहारः।	अनेकतिङि चैतस्मिन् मन्त्रे प्रतितिङ् वाक्यभेदे प्राप्ते यत्तदोरध्याहारेण।
२२	भाष्यकारेण लोकवच्च स्तुतिपूर्वकत्वाद् याच्ञायाः प्रथमः पादः पश्चाद् योजितः।	लोकेऽपि हि स्तूयते एव पूर्वं पश्चात्प्रार्थ्यत इत्याचार्यः पश्यन्मन्त्रेऽप्ययमेव न्याय इत्युपदर्शनार्थं क्रमं बिभेद।
२२	सूर्यस्य रश्मयः पृथिवीमागच्छन्ति। अग्नेरप्यर्चिष ऊर्ध्वं गच्छन्ति। तयोर्भासोर्यः संसर्गस्तदभिप्रायमिदं सङ्गतवचनम्।	संयतते सूर्येण संगच्छते स्वेन भासा।

२२	तदिति वाक्योपन्यासे। कः सन्देहः ? आचार्यविप्रतिपत्तेरात्मेति वैश्वानरविद्यायामात्मविदः। 'मध्यम इत्याचार्याः' पूर्वे नैरुक्ता मन्यन्त इति शेषः। वर्षकर्मणा यस्मादेनं वैश्वनारं स्तौति	तदिति वाक्योपादाने। कुतः संशयः। आगमविप्रतिपत्तेः। वैश्वानर- विद्यायां तावदात्मेत्यात्मविदः। अपि च मध्यमो वैश्वानर इति नैरुक्ता केचित् 'आचार्याः' मन्यन्ते। वर्षकर्मणैनं वैश्वानरं यस्मान्मन्त्रदृक् स्तौति।
२३	पूर्ववचनात् षाष्ठिकानां साक्षात्कृतधर्माणा-मुपलक्षणार्थं वा। ते हि चोदनाल...... सवनक्रमं शास्त्रक्रमं च दृष्ट्वा वैश्वानरशब्द-स्यादित्यविषयामूहां चक्रिरे। एषामग्न्यादिभक्तीनां पृथिव्यादीनां लोकानां रोहेण। रोह उपर्युपरिभावः पृथिवीलोकस्त-स्योपर्यन्तरिक्षलोकस्तस्योपरि द्युलोकः। एतेन रोहेण तुस्य एवमेवोक्तभक्तीनां सवनानां रोह उपर्युपरिभाव आम्नातो ब्राह्मणपठितः।	पूर्व इति विधिमन्त्रार्थवादेभ्यो यज्ञसतत्त्व-मुन्नीयैनं यज्ञं प्रयोगतः प्रथमं ये चक्रुस्ते पूर्वे याज्ञिकाः। साक्षात्कृतधर्माण इत्यर्थः। त एनमेवमाहुः असावादित्य इति। य एवं हि लोकानामारोहणक्रमः पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति स एव सरनानामपि क्रमः प्रातः सवनं माध्यंदिनं तृतीयसवनमिति।
२३	तस्य प्रत्यवरोहस्यानुकरणमनुकृतिर्या तां होता आग्निमारुतसंज्ञके शस्त्रे चिकीर्षन्निति शेषः। वैश्वानरदेवत्येन सूक्तेन प्रथमे प्रतिपद्यते प्रवर्तत इत्यर्थः। 'वैश्वानराय पृथुपाजसे विपः' इत्येतेन।	सोऽग्निष्टोमसाम्नि यज्ञायज्ञिये यच्छस्त्रमाग्नि-मारुतं तत्सवनलोकप्रत्यवरोहानुकृतिं चिकीर्ष-ञ्छस्त्रं वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते प्रारभते। तद्यथा 'वैश्वानराय पृथुपाजसे' इति।
२३	तस्मान्मन्यामहे वैश्वानर आदित्यः। अतो यथायतनं स्तुतिदर्शनादसावादित्य इति याज्ञिकदर्शनम्।	तेन ज्ञायते आदित्यो वैश्वानर इति। तदेवमेतस्माद्विध्यनुकरणात्पश्याम आदित्यो वैश्वानर इति।
२३	एतस्यादित्यस्य यस्माद् द्वादशविधमुदया-स्तमयाभ्यामहोरात्रादिक्रमेण द्वादशमासप्रवि-भागप्रकारं कर्म। अपि च ब्राह्मणं वक्तव्यमेवास्यार्थस्य प्रतिपादकं भवति। 'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इत्यादि। निविदिति केषाञ्चिन्मन्त्राणां समाख्या। दिवि द्युलोके पृष्टः स्पर्शनेन स्थानं लक्ष्यते। तत्र स्थित इत्यर्थः। अरोचत अद्योतिष्ट रोचते वा दीप्यते। को असौ ? अग्निर्वैश्वानर आदित्यः। बृहन् महान् रोचमानश्च ज्योतिषा बाधते तमः। एष हीत्यादिनोक्तार्थविषयं सामर्थ्यमुपदर्शयति।	एतस्य च द्वादशविधं द्वादशमासविभागाधि-कारलक्षणं कर्म। अथापि स्फुटमेव ब्राह्मणं भवति 'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इति। निविदित्याकृतिविशिष्टो मन्त्रः शस्त्रमध्यपाती। ... न च पुनरादित्यादन्यो दिवि पृष्टो रोचते। यत उच्यते 'एष हि दिवि पृष्टो रोचते'। दिवि स्पृष्टः। द्युलोके स्पृष्टः। अवस्थित इत्यर्थः। अरोचत रोचते दीप्यते। कोऽसाविति। अग्निर्वैश्वानरः। बृहन्। महानित्यर्थः। स रोचमानः किं करोति। ज्योतिषा स्वेन बाधते तमः। नाशयत इत्यर्थः।

२३	एवमह्नां कर्तृत्वमादित्य एवोपशेते नाग्नाविति। अतोऽसावादित्यो वैश्वानरो नाग्निरिति याज्ञिकः पक्षः। जायत इत्यलक्षणतद्धितार्थनिर्देशः।	वैश्वनारं केतुं कर्तारमह्नामकृण्वन्निति। नैव तावदादित्यादन्यस्याह्नां कर्तृत्वमुपपद्यते पार्थिवे मध्यमे वा। आदित्य एव ह्युदयास्त-मयाभ्यामहानि करोति। तेन वयमेतैर्हेतुभिः पश्यामः सूर्यो वैश्वानर इति। तस्मात्तद्धितेन व्यपदेशेन पार्थिवोऽग्निर्वैश्वानर इति।
२३	शरणमाश्रयमात्मनं काष्ठादि हिंसितव्यं वा हन्तिर्गतिकर्मा अधिगच्छति। उदकमिन्धनमस्योदकेन दीप्यते। शरीरं काष्ठादि। उपशमनं निर्वापणम्।	शरणमभिहन्ति'-आश्रयमात्मना दारु अन्यद्वा अभिहन्ति निहन्ति अभिगच्छति। प्राप्नोतीत्यर्थः ...उदकेनेध्यते दीप्यते रसस्वभावकेन। शरीरेण काष्ठेनान्येन वा प्रतिहतमूर्तिस्वभावकेन पार्थिव धातुबहुलेनोपशाम्यति।
२३	अथादित्यात् कथं जन्मेत्याह। स आदित्यादयमेव पार्थिवः सम्पद्यते।	अथ पुनरादित्यात्कथं जायत्। आह। यः शुष्कगोमयेऽग्निर्जायते एवमयमादित्यादपि कंसाद्वा मणेर्वा जायते। असावपि च विश्वानर इत्याचक्षते। तदपत्यापेक्षयाप्यस्य वैश्वानर-त्वमुपपद्यते।
२३	एवं तावद् विषयभेदादादित्यादस्यात्वे हेतुमभिधाय हेत्वन्तरमप्याह। इतः काष्ठोदेरिमं पार्थिवं पृथिव्यामादधाति। अमुतो द्युलोकादादित्यरश्मयः। इतो (पृथिवी) लोकादस्याग्नेरर्चिषः प्रादुर्भवन्तीत्यनुषज्यते। अवक्ष्यन्मन्त्रो मन्त्रदृग्वा।	तद्धितविग्रहव्यपदेशात्तावदेवमुपपद्यते। अन्य आदित्यात्तावद्वैश्वानरः। 'अमुतो' मण्डलात् कर्मात्मनः 'अमुष्य' च आदित्यमण्डलाधिष्ठातुः स्वभूता रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। 'इतः' तेजः पिण्डात् 'अस्य' तदधिष्ठातुः 'अर्चिष' प्रादुर्भवन्तीति वर्तते। तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत् मन्त्रदृक् वैश्वानरो यतते सूर्येण इति।
२३	अत उक्तविपर्ययादन्यो वैश्वानर आदित्याददिति सिद्धम्। एवं युक्तिभिः स्वपक्षमवस्थाप्य परपक्षोक्त-युक्तिसमीकरणायाह। तत्वरिणमत्वात्तद्रूपतामापन्नेन तेनैवोदकेन दिवं द्युलोकं जिन्वन्ति प्रीणयन्त्यग्नय............ 'प्रास्ताहुतिः' इति च स्मृतेः।	तस्मादग्निरेव वैश्वानर इति स्थितम्। तत्पुनरेतदग्नेर्वैश्वानरत्वं स्थितमप्यस्थितमिव परपक्षहेतुष्वनिराकृतेषु। यतस्तन्निराकरणाय प्रस्तौति। एवं च सुतरामयमपि वर्षवानाहुतिभूलत्वात् सर्वस्य वर्षस्य। च-'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' इति।
२३	यथा चाग्नेरेवमादित्यस्यापि वर्षकर्मस्तुतिं दर्शयति पूर्वपक्षस्य सुतरामनैकान्तिकत्व-प्रसिद्धये।	अपि चायमपरो मन्त्रो यस्मिन्नग्निरादित्यो वर्षकर्मणा स्तूयते। तस्मात्सुतरामनैकान्तो वर्षकर्माभिष्टवो मध्यमस्येति।
२४	अथापि ब्राह्मणमुक्तमन्त्रद्वयार्थानुवादी भवति।	अथापि ब्राह्मणम् एतस्मिन्प्रकरणे यस्मिन्नयं मन्त्रो

	यद्वा दग्धद्रव्यान्तर्गता आपो दह्यमाना धूमरूपतामापन्न ऊर्ध्वं गच्छन्ति। तदुक्तम्- 'अग्नेर्वै धूमोऽभ्रम्' इति विज्ञायते।	विनियुज्यते 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति' इत्येवमादि। धूमभूता आप ओषधिवनस्पतिभ्यो निवर्त्यमाना आहुतिभूताश्चामुं लोकमाविशन्ति। 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः' इति ह विज्ञायते।
२४	यदि सूर्यो वैश्वानरः स्याद् वैश्वानरीयवत् सौर्योऽपि द्वादशकपालः स्याद् द्वादशविध-कर्मत्वात्। यतस्तत् सव्यभिचारमेककपाल-त्वादिना तस्मादयमप्यहेतुः। बहुभक्त्या उपचारेण वदन्ति एवं स्वभावानि।	द्वादशविधमस्य कर्म तस्माद् द्वादशकपाल इति नन्वेवं सति सौर्योऽपि द्वादशकपाल एवाभविष्यदभिधानमात्रं भिद्यते न कर्मेति। यस्माद्बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। भक्तिर्नाम गुणकल्पना।
२४	यो विड्भ्यो मनुष्यजातिभ्यस्तासामर्थायेत्यर्थः। किम्? अदीदेत् दीप्यते।	यश्च विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् देदीप्यते।
२४	अस्यैव पार्थिवस्य तद्वैश्वानरत्वे यथालिङ्गं भाष्यकारेण प्रदर्शितं तथा व्याचक्ष्महे।	तत्र ह्येतद्विशिष्टं पार्थिवाग्नेर्वाचकं लिङ्गं भवति।
२५	सूक्ताद्यस्य मन्त्रस्याग्नेयत्वात् पराचीनानामप्याग्नेयत्वमेव। वैश्वानरश्रुतिश्चाग्नेरेव विशेषणं प्रकरणान्न सूर्यस्येति दर्शयति।	यतस्तस्य सूक्तस्य या प्रथमा ऋक् सा यथाग्नेयी भवति न सौरी तथा निराह। इदमाग्नेयं सूक्तं न सौर्यमित्युपप्रदर्शनार्थम्।
२५	स्वधयान्नेन प्रयाजानुयाजहविराख्येन इममेव पार्थिवमग्निं पप्रथन्त क्षीणं सन्तं वीर्येण प्रथितवन्तः।	इमम् एव अग्निं पृथिवीस्थानं साधयतेः स्वधया अन्नेन हविषा आज्येन पुरोडाशेन च। यदुक्तं निगमे- 'घृतं चापां पुरुषं चौषधीनाम्' इति तदेतत् अपप्रथन्त। अवर्धयन्तेत्यर्थः।
२६	आह्रियमाणस्य चाग्नेर्वैश्वानरत्वविशिष्टस्य यतश्चाह्रियते विवस्वतस्तेषामन्यत्वमाह मन्त्रः। अतश्च मध्यमोत्तमाभ्यामन्यत्वं सिद्धं वायुरित्यभिधेयवचनम्।	एवमेतस्मिन्मन्त्रे यत आह्रियते येन चाह्रियते यश्चाह्रियते सर्वे ते पृथग् व्यपदिष्टाः। तत्र विवस्वत आह्रियते मातरिश्वना वैश्वानर इति। तस्मादेतयोर्विवस्वन्मातरिश्वनोः संनिधान-व्यपदेशे सति साक्षाद्वैश्वानरशब्देन पार्थिव उक्त इति व्यवतिष्ठते पार्थिवो वैश्वानर इति।
२६	इदानीं द्युस्थानस्य वैश्वानरत्वे यदुक्तं लिङ्गम् 'वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' इति। तदप्यव्यभिचारप्रदर्शनायाह।	अथ पुनर्यदङ्गीकृत्य सूर्यादिसम्बन्धि विशेष-लिङ्गं हविष्पान्तीयस्य सौर्यवैश्वानरत्वमुक्तं... 'वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' इति नान्यः सूर्यादह्नां कर्ता तस्मात्सूर्योऽत्र वैश्वानर इति। अत्र ब्रूमः।
२६	पार्थिवमग्निं एताभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यामृग्भ्याग्। सर्वाणि पृथिव्यादीनि स्थानानि। अभ्यापादं... सर्वस्थानाभ्यापादनविशिष्टं स्तवनमित्यर्थः।	एताभ्यां ये एते वक्ष्यमाणे। सर्वाणि स्थानानि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलक्षणानि अभ्यापाद्य अभ्या-पादं स्तौति मन्त्रदृक्।

२७	अपो यत् अप इति कर्मनाम। यदिति यस्मादर्थे। यस्मादसौ अस्मिन् काले इदं कर्तव्यमस्मिन्निद-मिति कर्म, आत्मीयं। लोकस्य वा प्राजानन्निति व्यवहितेन सम्बन्धः। तूर्णिः क्षिप्रनामैतत्। क्षिप्रं चरति पृथिवीतो दिवं दिवश्च पृथिवीम्। अन्यानि च सर्वाणि स्थानानि मूर्धायं मस्तकवचनः। भूयस्त्वं स्थानत्रयसम्बन्धात्।	अपो यत्कर्म स्वाधिकारप्रयुक्तमादित्यात्म-नाग्न्यात्मना च कर्तव्यं प्रजानन् प्रकर्षेण जानन् सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरते तूर्णिः त्वरमाणः। कर्मकालमपरिहापयन्नित्यभिप्रायः। अथ पुनरुत्तरया स्थानत्रयमभिसंपन्नः स्फुटतरं स्तूयत इत्येतद् भूयस्त्वम्।
२८	शाकपूणिग्रहणमस्यैव पक्षस्य दृढीकरणम्। अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि दर्शयति।	प्रकृतस्यैव शाकपूणेः पुनर्ग्रहणं स्वपक्षानु-स्मृतये।
२८	यदस्याग्नेः पार्थिवस्य दिवि तृतीयं कृतवन्तः। तदसौ तदेवासावादित्यः। न ततो व्यतिरिक्तः एवं ब्राह्मणमाह। अग्निरूपतामापाद्य स्तौति। अयमेव 'तमू अकृण्वन्' इति मन्त्रो मन्त्रदृग्वा। अथैनमग्निमेतया वक्ष्यमाणया ऋचा आदित्यीकृत्य स्तौति।	ब्राह्मणमपि चैतमेवार्थं ब्रवीत्ययमेवाग्निरादित्यो भवतीति। 'यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्य इति ब्राह्मणम्'। अस्मिन् सूक्ते सर्वास्वृक्षु 'हविष्पान्तम्' इत्येवमाद्यास्वग्नीकृत्य् मन्त्रदृक् स्तौति। अथैनमेतया पुनः आदित्यीकृत्य स्तौति।
२९	एतौ द्वावपि मिथुनौ समाश्रयन्तौ स्त्रीपुंसौ चूरिष्णू चरणशीलौ। अभूतां प्रादुर्भूतौ। नभसा गन्तुं प्रवृत्तावित्यर्थः। आदित्यवधौ ततः प्रभृति तत्कृतेन प्रकाशेन प्रापश्यन् प्रपश्यन्ति भुवनानि भूतानि विश्वा सर्वाणि। 'डुमित्र् प्रक्षेपणे' इत्येतस्मात् श्रयत्यर्थात् थु इति प्रत्ययः।	यदा चैतौ चारिष्णू सर्वदा सहचरणशीलौ मिथुनौ प्रादुरभूताम् उषाश्चादित्यश्च आत् अथ तदा प्रापश्यन् प्रकर्षेणापश्यन् भुवनानि भूतानि विश्वा सर्वाणि। मिनोतिः तावदत्र 'श्रयतिकर्मा' मिथुनशब्दे पूर्वपदं 'मि' इति। थु इति नामकरणः प्रत्ययः।
२९	अर्थमाह समाश्रितौ संसेवमानावन्योऽन्यं नयतः कालम्। वनुतो वा सम्भजतः प्राचीम्। तथा च 'पूर्वे अर्धेरजसः' इति मन्त्रवर्णात्। .... यत्र वदेते। आत्मनेपददर्शनाद् विप्रलापो गम्यते। विवदेते। अवरोऽयं पार्थिवोऽग्निः, परश्च (मध्यमः) एतौ द्वौ दैव्यौ होतारौ (यज्ञस्य नेतारौ यज्ञन्यौ) तयोर्यज्ञन्योः, यज्ञस्य नेत्रोः।	समाश्रितौ अन्योन्यं प्रति आत्मानं 'नयतः' कालं वा। समाश्रितौ भवतः परस्परं संभक्तौ। 'यत्रा वदेते' इति यत्र यस्मिन् कर्मणि विवदेते। वेरुपसर्गस्यापकृष्य यत्र क्रियापदेन सामर्थ्यं तत्रानयनम्। कौ पुनस्तौ विवदेते। अवरः परश्च दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्निः पार्थिवः असौ च मध्यमो वायुः। कथं विवदेते। यज्ञन्योः यज्ञनेत्रोः।
३०	अस्यामृचि मध्यमसाधारण्येन स्तुतिः। उत्तरस्यां केवलस्यैवेति भूयस्त्वम्।	अस्यां हि विभज्य वायोः केवलो ऽग्निरेव स्तूयते। पूर्वस्यामुभावपि भूयोविदावित्युक्तम्।
३१	तावत्परिमाणं हेतुज्ञानमत्यन्ताल्पमित्यर्थः। तस्मिन्	अत्र नकारः संप्रत्यर्थ एवोपमानासंभवात्। लोकेऽपि

	प्रयोगो लोकेऽस्ति उपमानस्येवादे: 'इहेव निधेहि' इति।	च 'अस्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोग: इहेव निधेहीति यथा'। इह संप्रति निधेहीत्यर्थ:।
३१	हविष्पान्तीयस्याग्निवैश्वानरीयत्वमुपपाद्य अग्ने-वैश्वानरत्वमुपदर्शयितुं मन्त्रान्तरमुपन्यस्यति। होतृजप इत्यादि। सह पित्रेतिभेदोपदेशाद् मध्यमं वा वैश्वानरं पितरमाह मन्त्र:। शाकपूणिमतेन प्रतिसमाधत्ते। एवं परपक्षोक्तसमीकरणात् स्वपक्षोक्ताभि-	तदेतदेवं कृत्वा सूक्तमग्निप्रधानकर्मत्वा-द्वैश्वानरीयम्। येऽत्र वैश्वानरशब्दास्तेऽग्निं भजन्ति विशेषणत्वेन। 'होतृजपस्त्वनग्नि-वैश्वारीयो भवति'। एवं द्वौ पितापुत्राविति व्यपदेशात्पार्थिवादन्यो वैश्वानर:। स च पुनर्मध्यमो वोत्तमो वेत्येव-मेवमयमनग्निवैश्वानरो होतृजप:। शाकपूणिपक्षेणाव्यभिचारिणा समीभवति।
३१	रुपपत्तिभिरयमेवाग्निर्वैश्वानर उच्यत इति सिद्धम्। सर्वत्राध्यायान्ते द्विरुक्ति: पदस्य वाक्यस्य वा।	तस्माद्विशेषहेतुबाहुल्यादयमेव पार्थिव: सूक्त-भाग्घविर्भाक् च। द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थ:।
अ ८	प्रविभज्य निर्ब्रूयादित्याह।	तत्र पूर्वपदमेव तावत्प्रथमं विगृह्य निराह।...
१	तस्य धनस्य बलस्य वा दाता। तस्य प्राधान्यस्तुत्यर्थैषा। अत्र यथाश्रुतसम्बन्धानुपपत्तेरेकवाक्यतायै यच्छब्दाध्याहार: प्रदर्शितो भाष्यकारेण।...... अथवा सकारान्त एव धनवचन:। ततश्च द्रविणस इति पञ्चमी। तच्छुतेश्च पिबत्विति शेष:।	तस्य धनस्य बलस्य वा दाता यो भवति स द्रविणोदा:। तस्य प्राधान्यस्तुतियुक्ता एषा ऋक् भवति। 'द्रविणोदा:' इत्यस्य...यद्वृत्तमध्याहृत्य... एकवाक्यतायां...... कर्मत्वेन नमयाञ्चकार। द्रविणस इत्यस्य पञ्चम्येकवचनत्वेन सोमा-भिधानत्वे सामर्थ्यमुन्नीय पिबत्वित्याख्यातम-ध्याहृत्यात्रैव समापयांचकार भाष्यकार एवमप्यस्ति सामर्थ्यमित्युपप्रदर्शनार्थम्।
२	क इति प्रश्ने। द्रविणोदश्शब्दस्याभिधेयं विचार्यते। किं प्रकृतोऽग्निरेव अहोस्विद्देवता-न्तरमिति। स बलस्य धनस्य चातिशयेन दाता। इन्द्रविषयत्वेनैव द्रविणोद:शब्दस्योक्तनिर्वचन-सामञ्जस्यादिन्द्रो द्रविणोदा इत्युक्तफलसम्बन्धे-नापि दर्शयति। 'ओजसो जातम्' इति चेन्द्रमाह मन्त्र:।	'तत्को द्रविणोदा:' इत्येवमादिविचार:। 'स बलधनयो:' अतिशयेन दाति। अधिपतित्वकृत एवास्य बलेनाभिसंबन्ध:। तस्माद्युक्तं यत्तस्य दाता स्यात्। कथमिति। यतो मन्त्र एव निर्वर्ण्यते-... 'ओजसो जातम्'।
२	तदिन्द्र एवात्मजन्मनस्तत्वं वेद नान्यो वेदितुमर्हति। अथापि चायमपरो हेतुरिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे।... उदाहरणं मृग्यम्। अथवा 'द्रविणोदा: पिबतु द्रांविणोदस:' इत्येतदुदाहरणमुक्तं कल्प्यम्।	यत: अयम् इन्द्र: प्रजज्ञे इन्द्र एव अस्य स्वजन्मनस्तत्त्वं वेद। न कोऽप्यन्यो ज्ञास्यतीत्यभिप्राय:। 'अथापि' अयमपरो हेतुरिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे।... स मन्त्रो मृग्य:। केचित्तु 'द्रविणोदा: पिबतु द्राविणोदस: इत्येतमेव मन्यन्ते।

२	यस्यापत्यं द्राविणोदसोऽग्निः स द्रविणोदा इत्यर्थः। एतस्य चायमपत्यम्। यत आह एष पुनरग्निरेतस्मादिन्द्राज्जायते। कुत एतदितिचेत्? 'यो अश्मनोरन्तः' इति मन्त्रवर्णनात्। गृत्समद आह ऐन्द्रं रूपमास्थितः। इन्द्रोऽयमिति मन्यमानैरसुरैर्हन्यमानस्तानाह स्मेत्याख्यानम्।	यस्यापत्यं द्रविणोदसोऽग्निः स द्रविणोदा इति। कस्य च पुनरयमपत्यमिति। अत आह 'एष पुनः' अग्निः 'एतस्माज्जायते' इन्द्रात्। कुत एतत्। ऐन्द्रे हि निगमे श्रूयते 'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' इति। गृत्समदो ब्रवीति ऐन्द्रं रूपमस्थितोऽसुरैर्हन्य-मानः।
२	ऋतुयाजेषु द्रविणोदःशब्दसम्बन्धो द्राविणोदसः पात्र्या देवतायाः प्रवादाः सन्ति।......... 'ऋतुभिः प्रेष्य' इति अध्वर्युणा प्रोषितो मैत्रावरुण अच्छवाकं प्रति प्रैषमाहः त्वमपि हे अच्छावाक यज मा विलम्बिष्ठाः।	ऋतवो यैर्मन्त्रैरिज्यन्ते ते भवन्त्यृतुयाजाः। तेषु ऋतुयाजेषु द्राविणोदसा द्रविणोदः शब्दयुक्ताः प्रवादा भवन्ति। मैत्रावरुणो ब्रवीति अध्वर्युणो 'ऋतुभिः प्रेष्य' इति प्रेषितः।
२	अपि चायमन्यो हेतुः। सोमपानं चेन्द्रस्योचितम्। सोमाप्यायनमन्त्रेषु 'अंशुरंशुस्ते' इत्यादिषु इन्द्रार्थतयैव सोमस्य प्रतीतौ सामान्येन चेन्द्रः सोमो मीयते गृह्यते चेति सोमसम्बन्धश्रवणात्।	हे अच्छावाक त्वमप्येतदेवं ज्ञात्वा यज।...... अथापि अयमपरो हेतुरिन्द्रस्य द्रविणोदस्त्वे।... न ह्यन्य इन्द्रात्सोमपानेन स्तूयते तदर्थत्वात्सोमसंस्कारस्य। भवति हि सोमाप्यायने तत्संस्कारप्रधानो मन्त्रः। तद्यथा। 'अंशुरंशुष्टे देव'।
२	अयमेव पार्थिवोऽग्निः। आग्नेयेष्वैन्द्रा द्राविणोदसाः प्रवादाः सन्ति।	अयमेव यस्य पृथिवीस्थाने समाम्नानम्। यस्मादाग्नेयेष्वेव सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा विशेषणत्वेनाग्नेरेव भवन्ति।
२	एवं स्वपक्षहेतुमभिधायाधुना परपक्षोक्तहेतुसमीकरणायाह। दातृतम इत्यनेकान्तम्। यतः सर्वा ईश्वरा दातारश्च देवताः।	अयमेवाग्निर्द्राविणोदा इति स्थितः पक्षः। स पुनरयं परपक्षहेतुष्वनिराकृतेषु अनवस्थित एव। यतस्तन्निराकराय 'यथो एतत्' इत्येवमाद्युच्यते। ता ऐश्वर्यात् सर्वा एव बलधनयोर्दात्र्यो भवन्ति तस्मादवैशेषिकमेतदिन्द्रस्य कारणं द्रविणोदस्त्वे।
२	ऋत्विजोऽत्राधिकारके लोके समन्त्रदृशो वा हविर्लक्षणस्य धनस्य दातृत्वादुच्यन्ते। ते चैनं विधिसामर्थ्याज्जनयन्ति यथा तथैष निगमः।	'ऋत्विजो एतस्मिन् द्राविणोदसत्वेऽग्ने 'उच्यन्ते'। निगमोऽपि हि भवति ऋत्विजामयमग्निः पुत्र इति।
२	भक्तिमात्रं तत् गुणवादन्यायेन समाख्यामात्रम्। दुर्बला च समाख्या। यतः कुतश्चिदु गुणात् प्रवर्तते। यथा वायव्यानीति 'वायव्यान्युपतिष्ठते' इति सर्वसोमपात्राणां समाख्या भवत्या।	'भक्तिमात्रं भवति तत्'। गुणतः संवादः। दुर्बला हि समाख्या। यतः असामर्थ्यात्कुतश्चित् गुणानुवादः 'यथा वायव्यानिति सर्वेषां सोमपात्राणां' नानादेवतानामपि सताम्।
२	ततश्चास्यैवाग्नेर्द्रविणोदस्त्वे लिङ्गं तद् भवति। न च	अस्य एव अग्नेस्तद्भवति अग्नेरपि सोमभागि-

	तदेव केवलम्। किन्तर्हि ? वनस्पते-रग्नित्वादिदं च।	त्वादृतुयाजेषु। भवति हि तेषु 'वनस्पते....... द्रविणोदः पिब ऋतुभिः' इति।
३	धृष्णो हे धर्षितः। तमसामभिगूर्या अभ्युद्यम्य च त्वं नेष्ट्रात् नेष्टृस्वभूतात् पात्रात् सोमं हे द्रविणोदः धनस्य बलस्य वा दातः पिब ऋतुभिः सह।	हे धृष्णो शत्रूणां धर्षयितः अभिगूर्य अभ्युद्यम्य ततो नेष्ट्रीयाद् धिष्ण्याद् सोमं नेष्ट्रा वषट्कृतं पिब ऋतुभिः कालैः सहोत्येतद्ब्रूमहे।
३	स धिषणशब्द 'धिषेः' इत्यस्य दधात्यर्थे वर्तमानस्य। सा ह्यर्थान् धारयति। सम्बन्धस्य नित्यत्वात्। यद्वा धीरिति प्रज्ञा कर्म वा तया संभजति।	धिषणा कस्मात्। 'धिषेः' धातोर्दधात्यर्थे वर्तमानस्य। सा हि वागर्थं धारयति शब्दार्थयोः सम्बन्धनित्यत्वात्। धीः प्रज्ञा कर्म वा। सा एतस्यां सीदति सनोति वा। संभजते इयं वा।
	वनस्पत इत्येनमाहुः प्रकृतं द्राविणोदस्याः। तस्मादग्निरित्यभिप्रायः।	'वनस्पत इत्येनमाह' द्रविणोदसम्। तस्मादग्निरित्यभिप्रायः।
	अतः सूक्तहविर्भाक्त्वेनाग्निर्द्रविणोदाः। निपात-भाक्त्वेन क्वचिन्मध्यम (इति) सिद्धम्।	एवमयमग्निर्द्रविणोदाः सूक्तभाग्घविर्भाक्व। निपातमेवैतन्मध्यमं ज्योतिरेतेन नामधेयेन भजेतेति।
	तदेतदृचां देवतानां च साधारणं गुणाभिधानमिति। अत एतेनाध्वादिदेवता निर्विवक्षयोपक्रमत इति।	एष देवतापदविचारन्यायः सर्वत्र देवतापद-विचारार्थे यथासंभवमुपादेयः प्रज्ञावृद्धये शिष्यस्येति।
४	अतः शब्द आनन्तर्ये। आप्रियोऽधीता अनन्तरं वक्ष्यन्त इति शेषः।	'अतः' इत्यानन्तर्ये। आप्रियो वक्ष्यन्त इति वाक्यशेषः।
	प्रथमं श्रुतिपथमागच्छत्येवंशीलंः।	प्रथममागन्तुमस्याप्रीदेवतापदसमाम्नाये शील-मिति प्रथमागामी।
५	योऽयमधीयते प्रतिप्रवणमिध्मो यज्ञे स एवायमिति। समिच्छब्दस्य समिद्भिः प्रेष्यसमित्वसमित्सुमना इत्यादिष्विध्मपर्यायत्वात्।	योऽयमिध्य आधीयते प्रतिप्रणवमिध्मो यज्ञे स एवायमिति। प्रैषे तु 'समिद्भ्यः प्रेष्या' इति श्रूयते। युक्तं च यदर्थमेव प्रेष्यते स एवेज्यते।
६	यदा तावदाज्यं तनूनपात् तदैवं व्याख्येयम्। हे तनूनपात्!	हे तनूनपात् आज्य त्वमुच्यसे।
	यदा त्वग्निस्तनूनपात् तदैवं योजना। हे तनूनपादग्ने।	'अग्निरिति शाकपूणिः' हे भगवन्नग्ने तनूनपात्।
७	नरो होतृप्रभृतयोऽस्मिन् प्रकृते आसीनाः शंसन्तीति यज्ञोऽन्यपदार्थः।	नराः मनुष्याः अस्मिन्नासीना उपविष्टाः शंसन्ति इति नराशंसः।
	अग्निर्वा ऋत्विग्यजमानैनरैः प्रशस्यत्वान्नाराशंसानि।	'अग्निरिति शाकपूणिः'। स कस्मात्? 'नरैः प्रशस्यः' स्तुत्यो 'भवति'। तस्य नराशंसस्य।
	ईळ ईट्टेः स्तुत्यर्थस्य। इन्धतेर्वा दीपनार्थस्य। इळोऽग्निः।	'ईळः अग्निः'। स पुनरयम् ईष्टेः स्तुतिकर्मणः। स्तूयते ह्यसौ। 'इन्धतेर्वा' दीपनार्थस्य। तत्क्रियायुक्तो ह्यसौ।
८	बर्हिः परिबर्हणात्। उद्यच्छमाना।	'बर्हिः' इति वक्तव्यम्। तत्पुनरेतत्प्रसिद्धमेव कुशमयं

	प्राचीनं प्रागञ्चितं प्राङ्मुखमित्यर्थः।	यज्ञाङ्गम्। तत्कस्माद्बर्हिरित्युच्यते। 'परिबर्हणात्' परिच्छेदनात्। लूनं हि तद् भवति परिवृद्धं वा। प्राच्यां दिशि यदञ्चितं गतं जातं प्रागग्रं वा यत्स्तीर्यते तद् भवति प्राचीनम्।
९	स्वस्यार्थस्य प्रदेशकत्वात् प्रदिशति वाक्यम्- 'प्रागुदग्वा बर्हिरास्तीर्यते' इत्यादि। मन्त्रो वा 'ऊर्णम्रदा वि' इत्यादि।	स्तरणपक्षेऽपि 'प्राचीनं बर्हिः स्तृणाति' इति विधिवाक्यम्। 'ऊर्णम्रदा वि प्रथस्व' इति मन्त्रः।
९	स्योनं स्यतेः। अवस्यन्ति अन्तादनुभवन्तः। आग्नेयस्तुतिपक्षे (अग्निपक्षे) बर्हिरग्निः परिवृद्धत्वात् प्राच्यां दिशि प्रणयनात् प्राञ्चिः प्रणयनार्थः।	स्योनमिति सुखनाम। स्यतेः धातोरवपूर्वात्। तदेव हि अवस्यन्ति निवसन्ति प्राणिनः। अपरे पुनरग्नित्वदपि योजयन्ति मन्त्रार्थदृशः। तत्पक्षे बर्हिरित्यग्न्यभिधानम्। प्रागञ्च्यते प्रणीयते इति प्राचीनम्। बर्हिः प्रवृद्धमाहवनीयाख्य ज्योतिः प्रवृज्यते प्रणीयते।
९	वारयतेर्वा दकार उपजनः। अनभिमतो हि तास्वेव निवार्यते।	'वारयतेर्वा'। वारणीया हि द्वारादेव निवार्यन्ते।
१०	उर्विया उरुशब्दोऽत्रान्तर्णीतप्रकर्षार्थः। .... विस्तीर्णतरम्। भाष्य उरुत्वेनेत्यर्थः। विवरणं, उरुत्वेन युक्ता विवृततरमित्यर्थः।	उर्विया उरुत्वेन महत्त्वेन विश्रयन्तां विप्रियन्ताम्।
१०	अग्निपक्षे ज्वाला द्वारो हविषां सुप्रायणा इति। उषासानक्ता देवता द्वयमिति दर्शयति। उषाश्च नक्ता चेति।	'अग्निरिति शाकपूणिः' तत्पक्षे योजना। अग्न्यर्चिषो द्वारो जवनाद् द्रवणाद्वा। हविर्वा। ताभिर्जवति द्रवति वारयन्ति वा रक्षः प्रभृतीनीति द्वारः। उषासानक्ता इत्येतत्पदम्। अस्य विग्रहः 'उषाश्च नक्ता च'।
११	अग्निपक्षे दीप्तिरुषास्तमसो विवासनात्। आहुतिर्नक्ता अनक्त्यग्निमिति स्मयतेः। दैव्या होतारा आकारो द्विवचनस्य स्थाने। पार्थिवमध्यमावभिधेयौ। तिस्रो देवीः प्रथमार्थे द्वितीयेति दर्शयति तिस्रो देव्यः।	अपरे पुनर्वर्णयन्ति। उषा अग्नेर्दीप्तिः नक्ता आहुतिः। दीप्तिर्विवासयति तमः। आहुति-र्नक्ताज्येन। 'दैव्यौ होतारौ' इति शब्दसमाधिः। 'अयं चाग्निरसौ च मध्यमः' इत्यभिधेयवचनम्। 'तिस्रो देवी इति पदम्। ताः पुनरेताः तिस्र एव देव्यः' प्रथमया ता निराह। तिस्र इति देवीशब्दस्य विशेषणम्।
१३	त्वष्टा मध्यमस्थान आप्रीत्वादिह समाम्नातः। तूर्णशब्दादश्नोतेश्च त्विषेर्वा स्याद्दीप्त्यर्थस्य।	त्वष्टा इति वक्तव्यम्। अत्र तूर्णशब्दात्क्षि-प्रवाचिनः पूर्ववदमश्नोतेरुत्तरपदम्। क्षिप्रं व्याप्नोति यदनेन व्याप्तव्यं भवति। त्विषेर्वा धातोर्वृद्ध्यर्थस्य । यः त्वष्टा इमे द्यावापृथिव्यौ सर्वेषां भूतानां जनयित्र्यौ

	देवताद्वन्द्वे दिवो द्यावादेशो द्विवचनस्य पूर्व-सवर्णादेशो द्यावापृथिव्यौ। जनित्री जनयित्र्यौ सर्वस्य (कस्य) रूपैर्नानाप्रकारैर्युक्तः। अपिंशत् पिंशतिरत्र करोत्यर्थे अकरोत् करोति वृष्टिप्रदानेन भुवनानि भूतजातानि च विश्वा सर्वाणि।	रूपैः नानाविधैः अकरोत् भूतानि च सर्वाणि।
१४	माध्यमकस्त्वष्टेत्याहुर्नैरुक्ताः।	तत्र तावत् 'माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः' आचार्याः। केचिन्नैरुक्ता एवं मन्यन्ते।
	तथा मन्त्रे वाक्यार्थोपपत्तेः। मध्यमस्थाने चाम्नानात्। पार्थिवोऽग्निरिति शाकपूणिः।	'मध्यमे च स्थाने समाम्नातः' इति। किञ्च एतस्मिन्नेव मन्त्रे व्यपदेशात्।
	तस्याग्नेः पार्थिवस्य त्वष्टृशब्द-(त्व)-प्रदर्शनार्थैषापरा।	अयमेव 'अग्निरिति शाकपूणिः'। यथा चाग्निरेव नान्यस्तथा विशिष्टतरलिङ्ग 'अपरा' ऋग् भवति।
	उभे द्यावापृथिव्यौ वाहोरात्रे वारणी वा।	'द्यावापृथिव्याविति'। यथायमतिमहान्वर्धते अवश्यमयमावां धक्ष्यतीति। 'अहोरात्रे इति वा'।...... 'अरणी इति वा'।
१६	वनस्पतिरवसरप्राप्तः। स पुनरयमभिधेयतो-भिधानतश्च व्याख्यातः। 'एष हि वनानाम्' इति।	'वनस्पतिः' अवसरप्राप्तः। स पुनरयमभि-धेयतोऽभिधानतश्च 'व्याख्यातः'। 'एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा' इति।
१७	वनस्पतिः शमिता-शमिता च शामित्रोऽग्निः। देवोदेवश्चाग्निराहवनीयाख्यः। त्रयोऽप्येते स्वेन स्वेनानुग्राहकेण स्वदन्तु स्वादुकुर्वन्तु। हव्यं हविर्मधुनोदकेन च प्रोक्षणादिगतेन घृतेन चोपस्तरणादिगतेन।	वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरित्येते त्रयः। त्रिग्रहणाद्देवशब्दोऽग्निविशेषणमिति दर्शयति। वनस्पतिश्च शमिता चाप्रत्यक्षदेवते असंदिग्धश्च देवोऽग्निरित्येते त्रयः स्वदयन्तु स्वादुतामापादयन्तु। मधुना च उदकेन। प्रोक्षणाद्यभिप्रायम्। घृतेन च एतदस्माभिः संस्कृतं पाथ इत्येतदाशास्महे।
१८	एवमयं यूपः स्तुतः।। अग्निरिति शाकपूणिः।	एवमस्मिन् समञ्जने यूपे वनस्पतिशब्दः प्रयुक्तः। तस्माद्यूपो वनस्पतिरिति 'अग्निरिति शाकपूणिः'।
१९	यज्ञाङ्गभावोपगमनेन यूपस्य हविर्वहन-प्रयोजनम्। मन्त्रवाक्यसङ्गतिर्न तथा यूपे यथाग्नाविति शाकपूणिः।	एवमेतस्मिन्मन्त्रे हविर्वहनयोगाद्वनस्पति-शब्दस्याग्निरभिधेयः। अग्निरेवासौ यूपान्तर्गतो यूपात्मना वर्तमानो यूपाञ्जनीयायां वनस्पतिशब्देनोच्यते।... अपरे पुनः...शाकपूणिमतेनाग्निपरत्वमेव वर्णयन्ति
२०	स्वाहाकारस्य सम्प्रदानत्वेन मन्त्रान्तेऽव-श्यंभावित्वादयमर्थो यस्यान्ते श्रूयते स होम-मन्त्रः शोभनमर्थमाह।	स्तुतिमन्ते 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' इति् सम्प्रदानम। तत्र देवताः सम्प्रदानमिति स्वाहाकृतयः समाम्नाता नाग्निरिति।

	स्वाहुतमित्यादि। अथवा यदनेन स्वाहाकारेण जुहोति तदेव सुष्ठु मर्यादया जुहोतीति।	'स्वाहुतं हविर्जुहोतीति'। यदनेनैव हविर्जुहोतीति तदेव सुष्ठ्वापाद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोति।
२१	एवमिमा आप्रीणामृचां देवतानिर्वचनोदाहरणविचारयुक्तमानुपूर्व्येण यथासमाम्नायं व्याख्याता इत्युक्तोपसंहारवचनम्। इह (हि) क्वचित् समुदायावयवविसम्बन्धित्वेनाश्रयता द्रष्टव्या।	इतिकरणोऽधिकारसमाप्त्यर्थः प्रदर्शनार्थो वा। एता एवैकादश आप्रीदेवता अनुक्रान्ता इध्माद्याः। अयं तु सामान्यप्रकरणगत आसामेव विचारोऽनिश्चितानां निश्चयावधारणार्थः।
२१	एवं तर्हि यज्ञ ति कात्थक्य इत्यादिप्रदर्शिताचार्यविप्रतिपत्तेः। 'छन्दोदेवता इत्यपरम्।'	एव सति विप्रतिपत्तिराचार्ययोः कात्थक्यशाकपूण्योः।
२२	संवादसूक्तमेतत्। सौचकमग्निं देवा ऊचुः। हव्यं नो वहेति। स तानानयर्चा भागं ययाचे। एवं याचिते भागे तं देवाः परयर्चा प्रत्यूचुः।	एवमुक्तस्तेऽनयोत्तरयर्चानुजज्ञिरे तस्य तं भगम्। तत्कोऽत्र निश्चयः। 'अग्नेया इति तु स्थितिः' तुशब्दोऽन्यप्रवादनिवृत्त्यर्थः।
२२	आग्नेया इत्येषा स्थितिः पक्ष इत्यर्थः। भक्तिमात्रमितरत् छन्दांसि वा इत्येवमादि- ब्राह्मणम्।	अथ किमन्यदनृतमेवेति। भक्तिमात्रमितरत्' छन्दोदेवता इत्येवमादि।
२२	यानि वेदे पठ्यन्ते तान्येतान्येकादश। संख्यावधारणमृग्वेदाभिप्रायम्।	'इतीमान्येकादशाप्रीसूक्तानि' अनुक्रान्तानि दशधा दशतयीषु। तेषामेकादशं प्रैषिकमिति।
२२	एतानि चत्वारि नाराशंसवन्ति। एतानि त्रीणि तनूनपाता नाराशंसेन चोभयवन्ति। अतोऽन्यानि चत्वारि। वसिष्ठादिव्यतिरिक्तानां तनूनपाद्याजिनाम्।	'इति' एतानि 'नाराशंसवन्ति'। एतानि उभयवन्ति। अतोऽन्यानि यानि चत्वारि अवशिष्यन्ते तानि तनूनपात्वन्ति। अत्र नाराशंसयाजिनो वसिष्ठादयः। तेभ्योऽन्ये
२२		तनूनपाद्याजिनः।
अ ९ 1	आप्रीदेवतापदं समाम्नायानन्तरं यानि तानि। तेषां चैतन्यान्मनुष्येभ्यश्वानन्तरमश्वानामुत्पत्तिः श्रूयते। 'प्रजापतिः प्रथमामाहुतिमजुहोत्। तत एतस्या आहुतेः पुरुषोऽजायत। स द्वितीयामजुहोत् ततोऽश्वा अजायन्त' इत्येवमश्वस्येतरेभ्यः प्राधान्यात् प्रथमगामित्वम्।	पूर्वस्मादाप्रीगणाद्विलक्षणोऽयमश्वादिगण इति पृथगधिकारवचनम्। तेषामश्वः प्रथमागामी भवतीति। स पुनः किमर्थः प्रथमागामी। पुरुषानन्तरजन्मेति हि विज्ञायते। 'तस्या आहुत्याः पुरुषोऽजायत द्वितीयामजुहोत्ततोऽश्वोऽजायत'। विशिष्टे चाश्वमेधलक्षणे कर्मणि विशिष्टोऽस्याङ्गभाव इति।
३	न त्वत्राश्वशब्दोऽस्ति। मा भूत्। तस्य पर्यायो वाजिन्शब्दोऽस्ति । परासु च बहुशोऽश्व-शब्दोऽपि। यद्वयं वाजिनोऽश्वस्य देवजातस्य '(स) प्रथमामाहुतिमजुहोत् ततो मनुष्या, अजायन्त। स	अश्व एवाहूयतेऽनेन सूक्तेन यद्वाजिन इति। यत् यानि वाजिनः अस्याशवस्य देवजातस्य देवैर्जनितस्य वसुभिरादित्यात्। 'सूरादश्व वसवो

	द्वितीयामजुहोत् ततोऽश्वः' इति श्रुतेर्देवादग्नेराहुत्या जातस्य। अथवा 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' इति दर्शनात्।	निरतष्ट' इति। अग्नेर्वा प्रजापतिना। 'द्वितीयामजुहोत्ततोऽश्वोऽजायत' इति।
४	प्रायेण शकुनिनाम्नां शब्दानुकृतिनिमित्तत्वात् तस्य शब्दस्य तन्नाम्नश्च सादृश्यात् ते जातिमात्मीयां प्रब्रुवाणा इव।	'यथास्य शब्दस्तथा नाम' इति। तददिं शकुनिषु बधुलमित्यत्रोक्तम्।
	मङ्गलं निराह। गिरतेः गृणातिः स्तुतिकर्मा तदर्थे वर्तमानस्य। भाविनो हि कल्याणस्य प्रसूचकं निमित्तं मङ्गलमुच्यते। अतः स्तुत्यं तद् भवति।	'मङ्गलं' कस्मात्? 'गिरतेः' धातोः 'गृणात्यर्थे' वर्तमानस्य। स्तुत्यं हि तद्भवति।
४	अथवा स्तुतस्य वा भक्षयति नाशयति गोरोच-नादधिमध्वक्षतादिभिर्वावयवैस्तद्वदङ्गं रेफस्य च लत्वेनाङ्गलं सन् मकारोपजनेन मङ्गलम्।	वा 'अङ्गलम्' एतन्मकारोपजनेन मङ्गलम्। कोऽर्थः। मङ्गवत्। अङ्गैरवयवैर्दधिमध्व-क्षतादिभिस्तद्वत्। रो मत्वर्थे। व्यत्ययश्च रलोः।
	गृत्समदमृषिमर्थं प्राप्तुमभ्युत्थितमभिप्रस्थितं कपिञ्जलः शकुनिविशेषोऽभिशब्दितवान्। शब्देनोत्साहितवानित्यर्थः। तस्यार्थस्याभि-वादिनी।	गृत्समदमर्थमभ्युत्थितम्...... स किल कंचिदर्थं सिसाधयिषुरभ्युत्तस्थौ। तमभ्युत्थितं कपिञ्जलः शकुनिरभिववाशे तत्सिद्धिमावे-दयत्।
५	नित्यमदत्वान्नित्यतृप्तत्वान्नित्यहृष्टत्वाद्वा मण्डू-काः। रेखाभक्तिविचित्रकत्वान्मंण्डिता इव।	नित्यप्रमुदिता हि ते। .... नित्यतृप्ता हि ते प्रचुरोदकत्वात्। ते हि भक्तिभिर्नानाचित्राभिर्विधात्रा मण्डिता भवन्ति।
	मण्ड उदकम्। तस्मिन्नोको निवास एषामिति वा।	मंण्डे उदके एषामोको निवास इति वा मण्डूकाः।
	ये संवत्सरं शयितवन्तस्ते यथा ब्राह्मणाः कृतस्वाध्यायोपकरणा व्रतचारिणः स्वाध्यायमेवं वाचं पर्जन्येन प्रीतां मण्डूकाः प्रवदन्तीति।	यथा ब्राह्मणा उपाकृत्य प्रावृषि पवित्रपाणयो मेखलिनो नियतकालास्तां वैदिकीं वाचं वदन्त्येवं प्रावादिषुरिति।
	अनावृष्ट्युपहते किल जीवलोके वसिष्ठो वर्षार्थी पर्जन्यमस्तौषीत्।	स किल वर्षन्तं पर्जन्यं तुष्टाव।
	तत्प्रमोदश्च भाविनो वर्षस्य सूचक इति कृत्वा।	'स' तान् अनुमोदमानान् वाश्यमानान् दृष्ट्वा लब्धं वर्षनिमित्तमिति........ तानेव तुष्टाव।
७	अक्षाः। अश्नोतेः कर्मभूता व्याप्नुवन्ति गहृणन्त्येनां देवितारः।	'अक्षाः' प्रथमं निर्वक्तव्याः। ते कस्मात्। अश्नुवत एनानिति वा। दीव्यन्तः कितवा एतानक्षान् पाणिभिः अश्नुवते व्याप्नुवन्ति।
८	इषीकया कथम्? ईषतेर्गतिकर्मणः। सा हि निर्गता भवति मुञ्जात्। इयमपीषीका अपरेषीका तस्मादेव।	अथ 'ईषीका' कस्मात्। ईषतेर्गतिकर्मणः। सा हि निर्गता भवति मुञ्जात्। इयमपीतरेषीकैतस्मादेव।
	ग्रावाणोऽभिषवपाषाणाः। हन्तेर्वर्णव्यापत्त्या। हन्यते हि तैः सोमः।	'ग्रावाणः' कस्मात्? हन्तेर्वा। तदर्थोपपत्तेः। वर्णव्यापत्त्युपजनाभ्याम्।

९	अथ राजानः। नरा इति वा सामान्येन स्तुत्यसम्भवादुदाहरणाभावः।	एवं तर्हि नराणामेव समाम्नानं प्राप्तमासीत्। न तेषां सामान्यस्तुत्यभावाद्राज्ञां च स्तुत्युपपत्तेः।
९	नाराशंसशब्द एव मन्त्रवचनः समाम्नातः। तस्य च सामान्येन च विशेषेण च राजोप-स्तुतिविषयाः सर्वमन्त्रा एवोदाहरणम्।	
१०	नाराशंसशब्देनोपक्षिप्तस्य सतः सामान्येन स्तुत्यतया राज्ञः संप्रति स्तुतिलाभहेतुमाचष्टे।... यज्ञेन संयोगात्। यज्ञोऽश्वमेधः। तत्संयोगाद्राजा सर्वयुद्धोपकरणोपेतं रथमधिरूढः। स इद्धो राजा जीमूतस्येति स्तूयते।	तत्पूर्वप्रकृतस्यैव भावयव्यस्य स्तुतिलाभ-निमित्तमेव मन्त्रगतमनूद्यते। अश्वमेधे हि-'जीमूतस्येव भवति प्रतीकम्' इत्यनेन सर्वयुद्धोपकरणोपेतं रथमधिरूढः सन्नद्धकवचो राजा स्तूयते।
११	एष यज्ञाभिसम्बन्धात् स्तुतिसंक्रमः पूर्वा- चार्यैः प्रदर्शितः। अन्ये तु उपकरणानि राजसम्बन्धात्। राजा यज्ञसम्बन्धात्। यज्ञो देवतासम्बन्धात्। देवतात्मसम्बन्धात्। सोऽयमात्मैव सर्वावस्थः स्तूयत इति मन्यन्ते। तथा चोक्तम्-"स्थाने स्तुतिः सर्वा स्थानाधिपतिभागिनी। आत्मप्रतिष्ठा बोद्धव्या तथोपकरणस्तुतिः"। इति स्तुतिसंक्रमन्यायमिमं मन्यन्तेऽध्यात्मचिन्तकाः।	स एष हि व्यापी स्तुतिसंक्रमन्याय आचार्येणोपप्रदर्शितः। युद्धोपकरणानि राजसंयोगात्स्तुतिं लभन्ते। तस्य तान्यङ्गानीति तत्सम्बन्धात्स्तूयन्ते। राजापि यज्ञसंयोगाद्यज्ञोऽपि देवतासम्बन्धा-देवता अप्यात्मसम्बन्धात्। सोऽयमेवमात्म-वाङ्गप्रत्यङ्गभावेनावस्थितः सर्वावस्थातः स्तूयते। तदुक्तम्-'स्थाने स्थाने स्तुति सर्वा स्थानाधिपतिभागिनी। आत्मप्रतिष्ठा बोधव्या तथोपकरणस्तुतिः। इति। एष स्तुतिसंक्रमन्यायः सर्वत्रोपसंधेयः।
११	तेषामाधारभूतत्वाद् रथः प्रथममाम्नातः।	तदाधारत्वादितरेषां युद्धोपकरणानाम्।
१२	दुन्दुभिः शब्दानुकरणनिमित्तमेतन्नाम।	'दुन्दुभिः' इत्यस्य योऽभिधेयस्तस्य 'शब्दनुकरणम्' आत्मनो नामधेयप्रति-लम्भनिमित्तम्। यथैवासावभिहन्यमानः शब्दं करोति दुन्दुभिरिति तदेव तस्य नाम।
१३	इषुधिः कस्मात्? इषवो निधीयन्ते यस्मिन्। 'कर्मण्याधिकरणे च' इति किः। बह्वीनामिषूणां पिता पितृस्थानीयः पालयिता वा। यस्य चास्य। बहुरिषुगणः पुत्रः पुत्रस्थानीयः पुत्रवद्रक्ष्यत इत्यर्थः।	'इषुधिः' इषूणां निधानं तूणः। तस्मिन्निषवो निधीयन्ते। योऽयमिषुधिः बह्वीनां बहूनामिषूणां पाता रक्षिता तदर्थत्वात्। यस्य चेषुधेः बहुः इषुकलापः पुत्रः पुरुणो बहुनः पापात् त्राता। तदर्थं ह्यसौ रक्ष्यत इत्येवं व्युत्पाद्यम्।
१४	हस्तघ्नः कलापी गोधेति प्रसिद्धः। हस्ते हस्तसमीपे स्थितो हन्यते ज्यया शरपुङ्खेन।	'हस्तघ्नः'-कलपीपट्टको गोधेति च यमाहुः। स कस्मात्। 'हस्ते' ह्यवस्थितोऽसौ ज्यया 'हन्यते'।

	पुंसतेर्वा पौरुषार्थस्य। तथा च पुंसतेः। पौंस्यं बलम्।	'पुंसतेर्वा' पौरुषार्थस्य पौंस्यमिति यस्य बलनाम भवति।
१६	धनुः। धन्वतेर्गत्यर्थस्य वधार्थस्य वा। उभयार्थोपपत्तेः। तथा च दर्शयति। 'धन्व-न्त्यस्मादपयन्ति अस्मात्। अपयन्तश्च घ्नन्तीष-वः। अपादानत्वाद्यास्योभयोपपत्तित्वम्।.......	'धनुः' धन्वतेः गत्यर्थस्य।...। 'वधकर्मणो वा'। शत्रुवधाय तदुत्पद्यते।
१७	संपूर्वादत्तेः सम्पदादि क्विपि। संभक्षणात्। परस्परस्यायुषाम्।	'संपूर्वस्य अत्तेः भक्षार्थस्य। भक्षत इव हि तत्र परस्परतः।
१७	ज्या वक्तव्या। जयतेर्जयसाधनत्वात्। जिनातेर्वा 'ज्या वयोहानौ' इत्यस्य। साभिप्रायेण हेतुभावं प्रतिपद्यमाना वयो भावयति।..... या वक्ष्यन्तीव यथा वदिष्यन्ती। इत् पादपूरणः। कश्चित् काचित् स्त्री आगच्छेत् तद्वत्। इषुरिषतेः। इषति हन्तीति गतिकर्मणो वधार्थस्य वा। उभयार्थोपपत्तेः।	'ज्या' इति वक्तव्यम्। सा पुनरियं 'जयतेर्वा जिनातेर्वा' धात्वन्यत्वमर्थैकत्वम्। तद्बलेन हि जीयते। स पुनरेष धनुर्गुणः। येयं योषिदिव काचित्कस्मैचिदिष्टाय पुरुषाय किंचिद्रहस्यं वक्ष्यन्तीव कथयिष्यन्तीव ज्या। 'इषुः' इत्येतत् इषतेर्गतिकर्मणः। तदर्थ-मेवासावुत्पाद्यते। वधार्थस्य। वधार्थस्य वा। तदर्थमेव ह्यसौ ग्च्छति।
१९	अश्वाजनी वक्तव्या। सुबोधत्वादनिर्वचनम्। खशया मुखाकाशे शेते तत उपलब्धेः।	अश्वाजनीत्येतन्न निर्वक्तव्यं प्रत्यक्षवृत्तित्वादस्य। वाक् खे मुखाकाशे शेत इति।
२०	तानेतान् हे अश्वाजनि प्रचेतसः प्रकृष्टप्रज्ञानान् गृहीतशालिहोत्रोपदिष्टनयानित्यर्थः।	हे अश्वाजनि या त्वमेवमभिहंसि सा त्वमेतान् अश्वान् प्रवृद्धचेतसः प्रकृष्टचेतसो गमनं प्रति समुत्सुकान् समत्सु समरणेषु संग्रामेषु तथा चोदय यथा जयेयमित्येतदाशास्महे।
२०	तम्मादनुकरणनिमित्तकमेवाङ्गीकृत्य ब्राह्मणमपि दर्शयति। 'उरु मे कुरु' इति। एवमुरुकरमेतत्। ततश्च ब्राह्मणोक्तनिर्वचनं ज्ञात्वा वर्णव्यापत्त्यादिकृतेन परोक्षेण वृत्तेन तदुलूखलमित्याचक्षते लौकिकाः।	अथवा। 'उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूख-लमभवत्'। तत्किल क्रियमाणमुरु मे खं कुर्वित्यब्रवीदिव तथागुणयुक्तत्वात्तस्य। तदुलूखलमभवत्।..... तत्पुनरेतद्रलोर्व्यत्ययेन व्यवहितगुणमुच्यते उलूखलमिति।
२२	प्रजां प्रजाहेतुभूतं बीजं वर्षति सिञ्चति। बृहेर्वातिशयेन (रेतः) सेक्तुं बृहति उद्यच्छ-त्यात्मानम्।	स हि 'प्रजां वर्षति'। प्रजोत्पत्तिकारणं रेतः सिञ्चति योनौ। रेतः सेक्तुमतिशयेनासावात्मानमुद्यच्छति।
२३	अस्मिन् सूक्ते द्रुघणस्य वृषभस्य च स्तुति-लाभहेतुमितिहासं वक्ष्यति। मुद्गल आह।	'तत्रेतिहासमाचक्षते' इति स्तुतिलाभ-निमित्तमुभयोरप्येकमेव वृषभद्रुघणयोः
२३	तत्र द्रुघणः। स्तुतिप्रकरणे द्रघणश्च योगबन्धेन	स किल द्वितीयस्य गोरभावाद्राज्ञा सह प्रतिस्पर्धमानः

	प्रविश्योक्तक्षणे संग्रामे व्यवहृत्य पणं कृत्वा जिज्ञाय जितवान्। तदर्थाभिधायिन्येषा ऋक्। एकस्तव वृषभस्तस्य कः सहायो येन त्वमजैषीरीति पृष्टः सन्नाह।	ऐश्वर्यादन्वादिश्य 'द्रुघणं' वृषभेण सह युक्त्वा राज्ञा सहाजिं ससर्प। स च तं 'जिगाय' जितवान्। यथा चैतदेवं तस्यार्थस्य अभिवादिन्येषगर्भवति जितायामाजावसिताजिसरणमाज्यन्त एवाप-
२४	पृतनाः सेनास्तासां गमनार्थम्। यत्र योद्धुं संगच्छन्ते। मदनः कामस्तं गिलति नियच्छति। बिभर्ति वा अश्वान्। ततः ऋष्यण्। पितुरित्यन्नेऽप्रसिद्धत्वादभिधेयवचनम्। नद्यो व्याख्याताः'नदना भवन्ति शब्दवत्यः' इत्यत्र।	पृतनाः मनुष्याः। ये यस्मिन्नजन्ति गच्छन्ति। पृतनाशब्दात्पूर्वपदमजतेरुत्तरपदम्। मदनः कामः। तमसौ गिलति वशीकरोति। जितेन्द्रिय इत्यर्थः। बिभर्ति वा असावश्वान्। 'पितुः' इत्येतद्वक्तव्यम्। तत्पुनरेतत् 'अन्ननाम'। 'नद्यः' अवसरप्राप्ताः। ताः पुनरेताः 'व्याख्याताः' 'नदना भवन्ति शब्दवत्यः' इति।
२६	गङ्गा गमनादिति। गमयति वा प्राणिनो विशिष्टं स्थानमिति। प्रकर्षेण मिश्रयन्ती आप्लावयन्ती नद्यन्तराणि। अप्रसिद्धां परुष्णीं प्रसिद्धेनाह। तां च इरावतीमृजुत्वादतिक्रम्य परुष्णीं निराह।	'गङ्गा गमनात्'। सा हि विशिष्टं स्थानं गच्छति। गमयति वा प्राणिनो विशिष्टं स्थानमिति गङ्गा। प्रकर्षेण मिश्रयन्त्यन्याभिर्नदीभिः स्वान्युदकानि गच्छति। येयमिरावतीति लोके प्रसिद्धा तामिमामेतस्मिन्मन्त्रे मन्त्रार्थविदः परुष्णी-त्याहुः।
२६	परूंषि चास्याः कुटिलानीत्यभिप्रायः। मरुद्वृध इति सर्वासां विशेषणम्। तुल्यकारणत्वात्।	तदस्याः पर्वतवत्त्वं यानि कुटिलानि तानि पर्वाणीव तस्यास्तैस्तद्वतीति। तस्मात्प्रत्येकं नद्यभिधानमनुषज्यते विशेषण-त्वेन हे मरुद्वृधे यमुने इति।
२६	ऋजीकाः पर्वतस्ततप्रभवा। विपाशनादित्युक्तस्योपपत्तिवचनं व्यपाश्यन्त व्यपास्ता विक्षिप्ता। हतपुत्रस्योद्भूततमोवृत्ते-र्वसिष्ठस्येतिहासः। यस्मादेनामभिप्रसुवन्ति आत्मानं प्रेरयन्ति गच्छन्ति पतन्तीत्यर्थः। अन्या नद्यः पर्वतस्यन्दनात्। आपः कस्मात्? आप्नोतेः कृत्स्नं ताभिर्व्याप्तम्	ऋजीको नाम पर्वतस्तस्मात् प्रभवतीति तद्धितेन। वसिष्ठः किल ममज्जास्यां मुमूर्षुः पुत्रमरणशोकार्तः पाशैरात्मानं बद्ध्वा। तस्य किल ते पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त। व्यमुच्यन्तोदकेन। ततः प्रभृति सा विपाडभवत्। 'यदेनामभिप्रसुवन्ति' अभिगच्छन्त्यन्याः प्रभूता नद्यः। 'आपः' इत्येत्पदम्। ताः पुनरेताः 'आप्नोतेः' सर्वमाभिराप्तमिति।
२७	ओषद् दाहं क्षुधं धयन्ति पिबन्ति नाशयन्तीत्यर्थः।	यत्किंचिदोषच्छरीरे दहद् रोगजातं भवति क्षयादि तदेता अत्ताः सत्यो धयन्ति पिबन्ति नाशयन्ति।

२७	ओषतेः पूर्वपदं धयतेरुत्तरपदं कर्तरि कारके। दोषं वातपित्तादिकं वा। स्थानानि वा यानि पुरुषस्य शरीरे वर्माणि तेषु सुखार्थं दुःखोपशमनार्थं वैनाः संदधत्योषधिरूपत्वेन	तदेवमोषतेः पूर्वपदं धयतेरुत्तरपदं कर्तरि कारके। यः कश्चिदुपजायते दोषो वातादिकृतः शरीरे। अथवा। 'सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणां तेष्वेना दधतीति वा'। अस्मिन् पक्षे धामानि स्थानानि।
२९	अरण्यानी अरण्यस्य पालयित्री अधिदेवता काचिदिति नैरुक्ताः।	'अरण्यानी' इत्येतत्पदम्। सा पुनः 'अरण्यस्य पत्नी' पालयित्री देवता।
३०-३१	श्रद्धा कस्मात्? श्रद्धानात् श्रत् सत्यं तस्मिन् धीयते। सा च धर्मार्थसुखादिवर्गे यथाशास्त्रमधिकृत-पुरुष्स्य कर्मानुष्ठानहेतुभावप्रदा बुद्धयाधिदेवता श्रद्धा। श्रद्धयैव च यदेव सत्यं हूयते हविर्नेतरत्। अथ च 'यः श्रद्दधानो जायते तस्येष्टं न क्षीयते' 'श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च' इति श्रुतिस्मृतिदर्शनम्।	'श्रद्धा' इत्येतत्पदम्। अत्र 'श्रत्' इति सत्यनाम पूर्वपदम्। तत्सत्यमस्यां धीयत इति श्रद्धा। धर्मार्थकाममोक्षेष्वविपर्येणैवमेतदिति या बुद्धिरुत्पद्यते तदधिदेवता भावाख्या श्रद्धेत्युच्यते। यदेव श्रद्धया हूयते हविस्तदेव साधु हूयतेऽन्यस्याफलत्वात् उक्तं च। 'नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः' इति।
३२	अप्वा व्याख्याता 'व्याधिर्वा भयं वा यदेनया विद्धोऽपवीयते' इति। अग्नायी सा पुनरग्नेः पत्नी।	'अप्वा' व्याख्याता। 'अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते व्याधिर्वा भयं वा' इत्यत्र। 'अग्नायी' अग्नेः पत्नी।
३४	यथैव चाग्नेः सोमपानसम्बन्धः। एवं तत्पत्न्या अपि। मन्त्रलिङ्गा देवताऽग्नायी। तत्स्तुत्यर्था या सा निगदेन पाठेनैव व्याख्याता। अथशब्दो द्वन्द्वविशेषाधिकारार्थः। अष्टौ पाठादेव निर्ज्ञातायां संख्यायामष्टावित्य-वधारणार्थं संख्यापदम्। उलूखलमुसलयोः क्षोदनकरणत्वेन सन्निपत्यो-पकारकत्वे सति मुख्यत्वात् प्रथमकारित्वं भाष्यकारेणानुक्तमपि दृष्टव्यम्। मुसलं मुहुर्मुहुः सरणम्। उत्क्षिप्योत्क्षिप्य निपातनान्मुहुः सरणम्।	असाधारण्येन। इन्द्राणीं च वरुणानीं च अग्नायीं च इह कर्मण्युपह्वये सोमपानाय स्वस्तये चेत्येवं सति 'तस्या एषा भवति' इति। भाष्यवचनं नोपपद्यते। अयमपरो द्वन्द्ववर्ग इति पृथगधिकारवचनम्।... अष्टाविति निर्देशतोऽपि सिद्धे नियमार्थ- मष्टग्रहणम्। उलूखलमुसलयोर्द्र्व्यत्वात् प्रथमं समाम्नानम्। तयोः पृथिव्यायतनस्य निरुपचारप्रसिद्धेः। प्रचुरत्वाच्च तयोः। मुसलं कस्मात्? तद्धि मुहुर्मुहुः सरति ब्रीह्यादिषु।
३६	हविर्धाने। शकटे सोमलक्षणानि हवींषि निधीयन्ते ययोः। सामीपिकं चाधिकरणम्।	'हविर्धाने हविषां निधाने'। सोमास्तयोर्नि-धीयन्ते।
३८	द्यावापृथिव्यौ नोऽस्माकं स्वभूतम्। सिध्रं साधनं फलानाम्। अद्य अस्मिन्नहनि साद्गुण्या दिविस्पृशं दिवः स्प्रष्टारं गन्तारमित्यर्थः। यज्ञं देवेषु यच्छतां प्रापयतामिमित्यर्थः।	द्यावापृथिव्यौ अस्माकं सिध्रं साधनम् इमं यज्ञं योऽयस्मान्साधयति अद्य एतस्मिन्नहनि वर्तमानं दिविस्पृशं द्यां यः स्पृशति आपूरयति तमेवंगुणयज्ञं देवेषु नियच्छतां देवेभ्यो दत्तमित्येतदाशास्महे।

४०	आर्त्नीं धनुषः कोटी। आर्तन्यौ 'ऋ' गतौ इत्यस्य। ते हि ज्ययाकृष्यमाणे सङ्गच्छतः।	'आर्त्नीं' धनुः प्रान्ते। ते कस्मात्? 'अर्तन्यौ वा'। ऋतेर्धातोर्गत्यर्थस्य।
४०	शुनासीरौ। अप्रसिद्धत्वादभिधेयस्याह शुनो वायुः। क्षिप्रं वातीति निर्वचनम्। अन्तरिक्ष इत्यर्थप्राप्तार्थवचनम्।	'शुनासीरौ' इत्यत्र शुनो वायुः। स हि क्षिप्रमेत्यप्रतिबध्यमानोऽन्तरिक्षे।
४१	सस्यं व्रीह्यादि। समा संवत्सरः। एतद्देवीजोष्ट्रीशब्दवाच्यमिति कात्थक्यो नैरुक्तविशेषो मन्यत इति शेषः। तयोर्देव्योरेष संप्रैषः प्राधान्यस्तुत्युदाहरणं न ऋक् न यजुर्न सामास्ति।	सस्यं च समा चेति कात्थक्यः। सस्यं व्रीह्यादि समेति संवत्सरः। 'तयोरेष संप्रैषो भवति'।
४२	ते वीतां पिबेतां कामयेतां वा। इदं हविः। त्वमपि हे होतर्यज मा विलम्बिष्ठाः।	ते देव्यौ जोषयित्र्यौ अस्य पृषदाज्यस्य स्वमंशं वीतां पिबेतां कामयेतां वा। यजेति संप्रैषः।
४३	ऊर्जाहुती ऊर्जं प्रत्याह्वातव्ये। ऊर्जयमाने बलं कुर्वन्त्यौ। अधातां दत्तामस्मभ्यम्।....... वीतां पिबतां कामयेतां वा। इदं हविः। त्वमपि होतर्यज मा बिलम्बिष्ठाः।	ऊर्जाहुती ऊर्जयमाने बलवतीमूर्जतां च कुर्वाणे अधातां दत्तां...... वीतां पिबेतां कामयेतां वा।
अ१० १	समाम्नायक्रमेणैवानन्तरं मध्यस्थाना देवताः।	अधुना समाम्नायानुक्रमेणैव मध्यमस्थानदेवतापदानि वक्तव्यानि।
२	वायुः पुनर्वतेः। वेतेर्वाऽनेकार्थत्वाद् गतिकर्मणः। तस्य वायोरेषा।	''वायुः'' कस्मात्। 'वातेः'। वा 'गतिगन्धनयोः'।.... अनेकार्थो वेतिः। तस्य वा गतिकर्मणो गत्यर्थस्य। तस्यैषा भवति।
२	मधुच्छन्दस आर्षम्। श्रयणैरलङ्करणैरलंकृता भूषिता इत्यर्थः। पाहि पिबतेरेतद्रूपं न पातेः।	मधुच्छन्दस आर्षम्। 'अलङ्कृताः''। पर्याप्ताः अरंकृताः। पातुं संस्कृताः। पाहि पिबेत्येतदाशास्महे।
२	यत इन्द्रस्योचितं सोमपानम्। तस्मादिन्द्र एव वायुः। तस्य वा एषा। ऐन्द्र एव सूक्ते इन्द्रपर्यायत्वप्रतिपादनार्था परा।	प्रसिद्धं हीन्द्रस्य मध्यमस्य सोमपानम,..... तस्मादिन्द्र एव वायुः। 'तस्य' इन्द्रस्य वायोरैन्द्र एव सूक्ते यस्यामिन्द्रस्य विशेषणत्वेन वायुशब्दस्तथा 'एषापरा' ऋक् भवति'।
३	शवसानं बलाचरणशीलम्। एवमिन्द्रप्रधानेयमृगित्येके मन्यन्ते। उभयप्राधान्येन परममन्यद्दर्शनम्।	अधिकबलमात्मानं मन्यमानम्। एवमेतस्मिन्मन्त्रे ऐन्द्रसूक्तमध्यपातित्वात..... 'इत्येके'। 'अपरे' पुनः 'उभयप्रधाना'- इयमृक् इति मन्यन्ते।
३	वरुणः। अन्तरिक्षे उदकस्यावरणाद्वायुरेव।	'वरुणः' कस्मात्? 'वृणोतीति सतः' स हि वियद्वृणोति मेघजालेन।

४	नीचं बारं यस्य स नीचीनबारोऽधोमुखबिलस्तम्।	न्यक् अच्यते द्वारं यस्य स भवति नीचीनद्वारः अधोद्वारः। तं नीचीनद्वारं अधोबिलम्।
५	कबन्धो मेघः कवतेर्गतिकर्मणः।	'कबन्धः' इति मेघ उच्यते। कस्मात्सः। 'कवनमुदकं' कवतेर्गत्यर्थस्य।
५	सुष्ठु स्तौमीत्यर्थः। समानया योग्यया गिरा स्तुत्या। अन्यके (कुत्सिताः) अन्ये (अन्यके) अस्मद् द्विषः। रुद्रः। रौति स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोतीति।	सुष्टु तमभिष्टौमि। समना। तत्समानया, तद्योग्यया गिरा स्तुत्या। अन्ये एव अन्यके। शत्रवः। 'रुद्रः' कस्मात्? रौतीति सतः। स हि स्तनयित्नुशब्दं करोति।
५	अत्यर्थं वा शब्दं कुर्वन्मेघोदरस्थो द्रवति।... .....हारिद्रविकं मैत्रायणीयानाम्।	शब्दं कुर्वाणो मेघोदरस्थो द्रवतीति। हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः।
६	सहमानायाभिभवतोऽन्यान्।	'सहमानाय'-नित्यमभिभवते शत्रून्।
७	क्ष्मया सप्तम्यर्थे तृतीया सहार्थे वा पृथिव्यां पृथिव्या वा सह। चरति परि सा वृणक्तु नः परिवर्जने परिवर्जयति सास्मान। स्वपिवात हे स्वाप्तवचन भेषजा भेषजानि औषधानि तान्यस्मभ्यं देहीति शेषः। द्यतेः खण्डनार्थस्य द्युतेर्वा उज्ज्वलत्वात्।	क्ष्मया पृथिव्या व्रीह्यादिभावमुपगतया। तस्यां वा....... पृथिव्याम्। सा घ्नती प्राणिनः अस्मान् परिवृणक्तु परिवर्जयतु नः। हे स्वापिवात स्वाप्तवचन....... यानि तव सहस्रं भेषजानि....... तान्यस्मान् प्रति सन्तु। दिद्युत द्यतेर्वा' अवखण्डनार्थस्य 'द्युतेर्वा' दीप्त्यर्थस्य।
७	अग्निरपीत्यादि स न मन्येतेत्यादिविचारानुस्मृतये संकरव्युदासाय।	'अग्निरपि रुद्र उच्यते' इति। विचारानुस्मृतये संकरोपप्रदर्शनम्।
८	शुनः शेपस्य। तां योऽग्निर्बुध्यते बोधयति वा देवान् होतृत्वात् स जराबोधः। विशेविशे मनुष्यस्यार्थाय। दृशीकं दर्शनीयं श्रवणीयमित्यर्थः।	शुनः शेपस्यार्षम्। स हि जरया स्तुत्या होतृत्वे वर्तमानोऽभिमतमर्थं यजमानानां सम्पादयन् देवान् बोधयति। विशेविशे मनुष्याय। दृशीकं दर्शनीयं श्रवणीयं श्रवणार्हं व्यपगतदोषं स्तोत्रमुच्चारयिष्यति।
८	इरा अन्नं तेन सम्बन्धात् तद्धेतुभूतमुदकं लक्ष्यते। वर्षद्वारेणापीरामन्नं ददाति। सोऽयमिरादः सन्निरादानादिन्द्रः। तदेव पूर्वपदम्। दधातेर्दानार्थस्य धारणार्थस्य वोत्तरपदम्।	इराम् अन्नं व्रीह्यादि दृणाति विदारयति। वर्षक्लेदितमंकुरं बीजं भिनत्ति। यो वर्षद्वारेणासाविरामन्नं ददाति सोऽयम् इरादः इरादाता इन्द्रः। तदेव पूर्वपदं दधातेर्दानार्थस्य धारणार्थस्य वोत्तरपदम्।

	सोऽयमिरादारः सन्निरां दारयितेन्द्रः। द्रवतिर्गतिकर्मा। गच्छति सोमं पातुमित्यर्थः। अत इन्धनादिन्द्रः।	सोऽयम् इरादारयिता इन्द्रः। द्रवतिर्गत्यर्थः। सोमपानार्थमसौ द्रवति। सोऽयम् इन्धः इन्द्रः।
८	सर्वस्य शुभाशुभकर्मणो दर्शनादेवौपमन्यवो मन्यते। ईश्वर इनः,...इनश्चासौ दारयिता चेति।.... आदरयिता वा यज्वानाम्।	'इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः' ईश्वरश्चासौ दारयिता च शत्रूणामितीन्द्रः। अथवा। ईश्वरश्चासौ आदरयिता च यज्वनाम्।
९	गातोरार्षम् अदर्दो दारयसि। उत्सशब्दोऽपठितमपि मेघनाम।	गातोरात्रेयस्यार्षम्। अदर्दः। दारितवानसि त्वम्। उत्सं मेघम्।
९	उदकनिर्गमनबिलानीत्यर्थः। अथवा दानवं दातारं च।	वि खानि। बिलानि विवृतानि त्वमकरोरुदक-निर्गमनद्वाराणि। दानवम् उदकदातारं मेघम्।
१०	गृत्समद ऐन्द्रं रूपमास्थितः। यस्य च शुष्माद् बलाद्। नृम्णस्य नृमनस्य तस्य बलस्य मह्ना महत्वेन हेतुना।	गृत्समदमिन्द्रवरप्रदानादैन्द्रं रूपं बिभ्रतम्। यस्य शुष्मात् बलात्। नृम्णस्य मह्ना बलस्य सेनालक्षणस्य महत्त्वेन।
१०	नाहमिन्द्रः। देवतासतत्वस्य भावितान्तःकरणस्य प्रीति-रुत्पद्यते। अन्ताद्यक्षरविपर्ययेण।	नाहमिन्द्रो ब्राह्मणोऽहं तत्प्रसादादेवावाप्ततद्रूप इति। 'दृष्टार्थस्य' इति देवतार्थं सतत्त्वतो दृष्टवतो भावितान्तः करणस्य तत्रोपजातप्रीतेः। आद्यन्तविपर्ययेण।
१०	एवं तदाह प्रकर्षेणार्जयिता वा संगृहीता वा रसानामिति।	प्रपूर्वस्यार्जयतेः पर्जन्यः। स हि रसान् प्रकटीकरोति।
११	वि वृक्षान् विविधं हन्ति। विश्वं सर्वमस्माद् बिभाय। अनागा अनपराधोऽपि चास्माद् ईषते ईषति-हनतीति गतिकर्माणौ। हन्ति दुष्कृतः पापकृतः पापकारिणः। बृहस्पतिः। बृहताः पाता वाय्वात्मना शोषयिता।	विवृक्षान् हन्ति विहन्ति वृक्षान् पर्जन्यः अशनिपातैः। विश्वं बिभाय सर्वाणि चास्माद्भूतानि बिभ्यति महावधात् पर्जन्यात्। अनागा अपि अनपराधोऽपि सन् सर्व एव अस्माद्वर्षकर्मवतः......... ईषते पलायते। हन्ति उपशमयति सुभिक्षं कुर्वन्........। बृहतो महतोऽस्य जगत उदकस्य वा पाता रक्षिता।
१२	अयास्यस्य। अश्ना....अपिनद्धम्। मधु उदकं। परि सर्वतो-ऽपश्यत् दृष्टवान्।	अयास्यस्याङ्गिरसस्यार्षम्। अशनवता व्यापनवता मेघेनापिनद्धम्.....मधु उदकं पर्यपश्यत् सर्वतोऽपश्यत्।
१२	विरवेण रवः शब्दो विविधशब्देन शब्दयित्रा।	विवरेणा विकृत्य भीषणेन अतिमहता रवेन शब्देन। यथा कश्चित्कुशलः शिल्पी वृक्षमध्यात् चमसं

	चमसं न चमसमिव यथा तक्षा वृक्षं स्थं चमसं तद्वत्। चमन्ति भक्षयन्त्यस्मिन्निति चमसः सोमपात्रम्। ब्रह्मणस्पतिः। ब्रह्मणोऽन्नस्य वृष्टिप्रदानादिना पाता रक्षिता। तदाह भाष्यकारः-अशनवन्तमास्यन्दनवन्त-मिति।	यज्ञापात्रं निर्हरेत्। 'चमसः' चमेर्भक्षणार्थस्य। तत्र हि सोमश्चम्यते। ब्रह्म अन्नमृगादि वा। तस्योभयस्याप्यसौ वर्षेणौषधीरभिनिष्पादयन् पाता सम्पद्यते। अश्मशब्दात् 'अशनवन्तम्' इति आस्य-शब्दात् 'आस्यन्दनवन्तमिति' भाष्यकारः।
१३	मधुधारं 'कर्मण्यण्' उदकस्य धारयितारम्। अभीत्ययमतृणदित्येतेन सम्बध्यते। पपिरे पीतवन्तः पिबन्ति वा। स्वर्दृशः स्वरादित्यस्तस्य द्रष्टारः। उत्सं मेघम्। निवसन्ति हि तेन हेतुभूतेन तत् क्षेत्रम्।	मधुधारम् उदकं धारयितारम्। अभ्यतृणत् अभ्यहन् ब्रह्मणस्पतिः। पपिरे पिबन्ति। स्वर्दृशः सूर्यस्य रश्मयः। उत्सं मेघम्। तदपाश्रयेण हि ग्रामे क्षियन्ति कुटुम्बिनः।
१५	वयं हितेनेव यथा हितेन केनचिन्मित्रेण कश्चित् तद्वज्जयेम शत्रूनिति। आ हरेति शेषः। पर च वर्षकर्मश्रवणेन मध्यमत्वे हेतुर्भव-तीत्याह।	हितेन केनचिदासेन मित्रेण संयुक्ताः सन्तो वयं जयेम गवाश्वादीनि। 'आ' इत्यस्योपसर्गस्य सम्बन्धि क्रियापद-मध्याजहार भाष्यकारः। यतः परया वर्षलिङ्गयोपपादयति मध्यस्थानः क्षेत्रस्य पतिरिति।
१६	धेनुरिव यथा धेनुः पयः क्षीरं धार्यते तद्वदस्मासु निमित्तभूतेषु धुक्ष्व क्षारय। किञ्च य एते त्वदनुचरा माध्यमिका देवगणा मरुदादय ऋतस्योदकस्य पतयः पातारस्ते च नोऽस्मान्नित्यमेव मृडयन्तु सुखं ददतु सुखयन्त्वित्यर्थः।	धेनुर्यथा पयो दोग्धि एवमस्मानु धुक्ष्व प्रक्षर। ऋतस्य उदकस्य पतयः पातारो माध्यमिक देवाः क्षेत्रस्य पतिप्रमुखाः मृळयन्तु। नित्यम-स्मान् रक्षन्तु पूजयन्तु च।
१६	जामित्वं च त्रिविधं दृश्यते। एकं तावत् शब्दतोऽर्थतश्च। एकस्यामृचि समानाभिव्याहारः समानमभि-व्याहरत्यर्धर्चभेदेन...तज्जामीत्येकं मतम्। तत्समानपादगतं च जामीत्यपरं मतम्। यत्रैतदपि नास्ति स्मृतिविच्छेद इति तदेव जामीति मतान्तरम्।	तदेतत्पुनरुक्तं द्विविधम्। समानशब्दार्थमस-मानशब्दार्थं च। पदान्तरेण यः कश्चित्पूर्वेऽर्धर्चेऽभिहितो-ऽर्थस्तमेवोत्तरेऽर्धर्चेऽभिदधज्जामि भवति...... 'एकं' तावदाचार्यमतम्। यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्यपरम्। एवं येन केनचित् स्वल्पेनापि विशेषेण तदजामि भवतीत्यपरम्।
१६	यथाशक्ति सर्वत्र विशेषो वक्तव्य इति भावः।	एवमादिषु यथा समानशब्देष्वसमानशब्देषु च पुनरुक्तेषु यः कश्चिद्विशेषो वक्तव्यः।

१६	अलब्धलाभो योगः। लब्धस्य रक्षणं क्षेमः। लब्धस्पदात् अधश्च पादयोर्मे पयः प्रदेशस्त-स्मात् प्रसादाकाङ्क्षया मन्मुखं निरीक्षमाणा यूयमुद्वदत ऊर्ध्वं वदत। कश्चिन्मधुमात्र मधु अण्वपि श्च्योतति।	योगो नाम लिप्सितस्यार्थस्य प्राप्तिः। क्षेमो नाम तत्परिपालनम्। ते यूयमाक्रान्तमूर्धानो मया मम अधस्पदात् पादयोरधो वर्तमानाः मन्मुखप्रेक्षा अस्वाधीन-सर्वार्थवृत्तयो भूत्वा नित्यं मां वदत। कश्चिन्मधुमात्र तु मध्वविरतं मुहुर्मुहुश्चोततीति।
१६	तस्य पाता अधिष्ठातृत्वेन।	तदधिदेवताभावेन रुद्रात्मना च तत्कृतेनोप- कारेण रक्षिता मध्यमः।
१७	अमीवा हिंसिता सर्पादी रोगो वा तस्य हन्ता।	अमीवा रोगस्तस्य हन्ता।
१७	सखा च सुशेवः सुसुखः। शेवः शिष्यतेर्वकारो नामकरणः। षकारस्थाने वकारः प्रविशतीत्यर्थः। अन्तस्थशब्दः क्रियावाची न यरलववाची। यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता ऐश्वर्यवशाद् भवति। यत्किञ्चित् प्राणिनो वा सर्वमिन्द्रो बोभवीति पुनः पुनर्भवति प्रतिपद्यते इत्यर्थः। स्वैर्मन्त्रैराहूयमानः स्तूयमानो वेति शेषः।	सखा मित्रं सुशेवः सुष्ठु सुखो भव। 'शेव इति सुखनाम'। तत्कस्मात्? शिष्यतेः। वकारो नामकरणः। असौ वकारः। स षकारस्य स्थानमुपगच्छति।.... अन्ते तिष्ठति धातोर्यो वर्णः सोऽन्तस्थः। न संज्ञा यथा अन्तस्था यरलवाः। अस्त्येतदैश्वर्यं देवतायाः। यद्यदिच्छति रूपं तत्तत्करोति। यावन्ति कानिचिद्रूपाणि मघवा इन्द्रो भवितुमिच्छति तानि सर्वाण्यप्रतिबन्धेन वोभवीति पुनः पुनर्भवतीति। स्वैर्मन्त्रैः हूयमानो वा स्तूयमानो वा।
१७	वाचस्पतिः प्राणात्मनेन्द्रः। कृतपाप्मा अतः सम्बन्धादपगतप्राणमिवात्मानं मन्यमानः कृतनिर्णेजनः सन्नाह। हे वास्तोष्पते धनस्यान्नाख्यस्य स्वामिन्। निरामय नियमेन रमय त्वम्। अद्भ्य आदित्य आदित्यादयम्।	'वाचस्पतिः'...वाचः पाता वा पालयिता वा, प्राणात्मनेन्द्रः। अपगतप्राणमिवात्मानं मन्यमानः पापकृत्पाप-सम्बन्धात्कृतश्चित्कृतनिर्णेजनः सन् प्राणं ब्रवीति।... हे वसोष्पते हे धनस्य अन्नस्य च पते। निरामय नियमेन रमय। अद्भ्य आदित्यस्ततो मध्यमः।
१८	इन्धनवर्जितो दीदयत् दीप्यते। यञ्च भवन्तं विप्रासो मेधाविन ईळंते स्तुवन्ति अध्वरेषु। मधुमतीर्मधुस्वादयुक्ता वृष्टिलक्षणा अपो दा देहि। यमो मध्यस्थानो वायुरित्युक्तम्।	हे अपांनपात् यस्त्वम् अनिध्मो अनिन्धनोऽपि दीप्यसे। यं च त्वाम् अध्वरेषु यज्ञेषु विप्रा मेधाविन ईळते स्तुवते। मधुमतीः मधुरसाः मधुरस्वादाः अपो देहि अभिषवाय। 'यमो'........'यच्छति' उपरमयति जीवितात्सर्वं भूतग्राममिति यमः।

२०	परेयिवांसं पर्यागतवन्तं प्राप्तवन्तमित्यर्थः। प्रवतः।......... मनुष्यजातीः। उद्वतश्च देवजातीः। निवतश्च तिर्यग्जातीः।	परेयिवांसं पर्यागतवन्तं सर्वतः प्राप्तवन्तम्। प्रवतो मनुष्याः। उद्वतो देवाः। निवतस्तिर्यञ्चः तथा गत्युपपत्तेः।
२०	वैवस्वतं विवस्वत आदित्यस्यापत्यभूतं मध्यमम्। अग्निरपीत्यादिविचारोपन्यासो मन्ये मनस्यग्न-यादिरूपोऽयमस्य मध्यमस्थानस्य व्यभिचार-निवृत्यर्थः। तमग्निमेता वक्ष्यमाणा ऋचः।	वैवस्वतं विवस्वतः पुत्रम्। 'अग्निरपि यम उच्यते' इति विचारोपप्रदर्श- नाय। यथाग्निरपि यमशब्देनोच्यते तथेमा ऋचोऽनु-प्रवदन्ति।
२१	सेनेव यथा सेनापतिना सृष्टाऽवसृष्टाऽभ्यनुज्ञाता सती। भयं दधाति जनयतीत्यर्थः। बलवाची वामशब्दः बलमादधाति। दिद्युदिति वज्रनाम। वज्रनामानि त्वायुधमा-त्रवचनान्येव। प्रतीकं दर्शनमुच्यते।	सेनेव सृष्टा निश्चिता। अथवा। सेनापतिना विसृष्टा प्रेरिता। अभं दधाति भयं वा। बलं वा दधाति। दिद्युत् आयुधम्। प्रतीकं दर्शनम्।
२१	यमो ह जातः युगपज्जातत्वाद्यमोऽत्राग्निरुच्यते।	यस्येदमेवंलक्षणमर्चिः स एव यमोऽग्निः।
२१	ततश्च समानपितृकत्वाद् भ्रातरौ युवाम्। सर्वजगत्प्रदेशमातरावित्यर्थः। किञ्च जारः कनीनां जरयिता कन्यानाम्। पतिर्जनीनां जनयो भार्यास्तासां पतिः।	तौ युवामेवं कृत्वा एकपितृकौ एक जन्मानौ यमौ भ्रातरौ। मातारौ सर्वस्य लोकस्य निर्मातारौ। जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्। पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम्।
२१	प्रथमोऽनुपजातपुरुषसम्भोगेच्छावस्थां त्वां विविदे विन्नवान् लब्धवान्।	सोमः त्वां प्रथमो विविदे विन्नवान् प्राप्तवान्।
२१	'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' इति च पठन्ति। तेषामिदमुदाहरणम्। चराथा चराथया। चरन्त्या पश्वाहुत्या वसत्या निवसन्त्यौष-ध्याहुत्येति। इद्धं आहवनीयात्मना दीप्तं सन्तम्।	अग्निर्मह्यमथो इमामिति च केचिदधीयते निगममुपचयहेत्वर्थम्। चराथा चरन्त्या जंगमया। पश्वाहुत्या वसत्या च निवसन्त्या औषधाहुत्या। इद्धं समिद्धं भोगैः सर्वभोगानामीश्वरं प्रदातारमिति।
२१	प्रमीतेः प्रमीतिः प्रमरणं ततः प्रमरणाद् वृष्टिद्वारेण त्रायते।	प्रमीतिः प्रमरणं ततः सर्वलोकं त्रायते वर्षद्वारेण।
२१	मेदयतेर्वा स्नेहनार्थस्य सर्वमसावुदकेन स्नेहयति।	'मेदयतेर्वा' स्नेहनार्थस्य। सर्वं ह्यसावुदकेन स्नेहयति।
२२	यातर्यती 'यति प्रयत्ने' कृष्यादिकर्मसु प्रयत्नं कारयति। ब्रुवाणः शब्दं स्तनयित्नुलक्षणं कुर्वन्।	आयातयति कृष्यादिषु प्रवर्तयति तत्कर्मपूर्व-कत्वात्कृष्यादिकर्मणाम्।

	घृतवत् घृतसंयुक्तं जुहुत।	प्रब्रवाणः स्तनयित्नुं कुर्वन्। घृतवत् घृतोन्मिश्रं जुहोत जुहुत हे मनुष्याः।
२२	'नैव कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इत्याह। तेन पश्चादयस्तु न कामतः कण्डूयनादिसमर्थाः।	नित्यं हि ते कर्मवन्तो भवन्त्यारम्भशीलत्वात्। ते हि न कामकारतोऽङ्गानि प्रसारयितुं शकनुवन्ति।
२२	क्रमणो वा क्रामत्यन्तरिक्षे।	'क्रमणो वा'। क्रमणसाधनम्। स्वयमेव वा 'क्रामति।
२३	हिरण्यश्चासौ गर्भश्चेति प्रजापतिस्तत्पुरुषः। हिरण्यगर्भः समवर्तत संवृत्त उत्पन्न इत्यर्थः। पृथिवीमित्यन्तरिक्षनाम। कं देवं हविषा परिचराम।	हिरण्मयश्चासौ गर्भश्चेति समानाधिकरणः। हिरण्यगर्भः एव अग्रे समवर्तत समभवत् उदपद्यत। पृथिवीम् अन्तरिक्षम्। अनेन चरुलक्षणेनाज्यलक्षणेन वा हविषा तं वयं परिचरेम।
२३	गृभेरिति गृणात्यर्थे वर्तमानस्येति वर्णव्यापत्त्या गर्भः प्रधानम्। प्राधान्यादेव च स्तुत्यो गर्भः। गृहेरेव गर्भ इति भावः। अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते। लिङ्गभेदः केवलम्।	'गृभेः' धातोः गृणात्यर्थे वर्तमानस्य। स्तुत्यो हि गर्भः। तदेवं गर्भग्रहणहेतुकोऽयमिति ग्रहेर्गर्भः। प्रमुदितयोः संपर्काद्गर्भग्रहणं च। केवलं लिङ्गकृतो विशेषः।
२४	मधुमन्तः स्वादुयुक्ताः।	मधुमन्त उदकवन्तः।
२५	तेभिस्तैर्नोऽस्माकमविता वर्षिता रक्षिता वा भवेति। सर्वचेष्टानां तल्लीनत्वात् सर्वस्य कर्ता।	तेभिः तैः त्वमस्माकम् अविता तर्पयिता भवेत्येतदाशास्महे। यावदिदं किंचिद्भूतं करिष्यमाणं क्रियमाणं च तस्य सर्वस्य कर्ता।
२६	भौवनस्य विश्वकर्मण आर्षमिदम्।	भौवनस्य विश्वकर्मणः प्रजाप्रतेरार्षम्।
२६	विमना विविधं भूतजातमुत्पन्नं मनो यस्य सः। सन्दृक् सम्यक् प्रविभागेन द्रष्टा।	विमना विभूतमनाः विभूतप्रज्ञानः। संदृक् परमः प्रकृष्टः अव्यवधानेन संद्रष्टा सम्यक् प्रविभागेन द्रष्टा।
२६	तानि समिषा मदन्ति सह मोदन्ते एकीभवन्ति। ऋषिशब्देनात्र दर्शनाद्रश्मय उच्यन्ते।	समिषा मदन्ति–इषा उदकेन अद्भिः परि–युताभिः सुसूक्ष्माभिः सह तेन कर्मणा समानं अविशेषेण मादन्ते। यत्रैतानि सप्तऋषीणानि रसानामाकर्षणानि द्रष्टॄणि वा रश्मीन् ज्योतींषि एकं भवन्ति।
२६	विधाता विभागेन दाता शुभानामशुभानां च। तानि इषा अन्नभूतेन शरीरेण योग्येनेत्यभिप्रायः।	विधाता च तद्योग्यानां विषयाणाम्। तानि इषा अन्नेन सह मोदन्ते तृप्यन्ति।
२६	तदभिवादिनी तस्य चेतिहासस्यभिवादिनीयमृग्	तस्यैवार्थस्येतिहासोक्तस्याभिवादिनी आभि–मुख्येन

	भवति। न्यसीदत् निषण्णो वेद्याम्।	वादिनी 'एषा ऋग्' भवति। न्यसीदत् एवं कर्मण्यङ्गभावमुपजगाम।
२६	पिता नो धर्माधर्मोत्पादनद्वारेण शरीरस्य जनकत्वात् पिता पारयिता वास्माकम्।	स नः पिता जनिता सोऽस्माकं पिता पाता रक्षिता।
२६	स आशिषा मनसाभिलषितार्थप्रार्थना आशीस्तया आशिषा।	स आशिषा। आशीः प्रार्थना कामः।
२६	प्रथमच्छत् प्रथममुत्कृष्टं छादयिता। अवरान् योऽर्वाग्वर्तिनः। हविषानेन सर्वमेधिकेन। जनासो जनाः परिपन्थिमनुष्याः। मघवा हविर्लक्षणेन धनेन धनवान्।	प्रथमच्छत्। प्रथमोऽग्रजत्वात्। प्रजापतिभावेन मुख्यस्य छादयिता। अवरान् पश्चादुत्पन्नान् अस्मदादीन्। अनेन हविषा सर्वमेधदर्शनसम्पदादियुक्तेन। जना ये त्वदुपासनापराङ्मुखाः। मघवा सर्वधनेशानः।
२८	तूर्णशब्दात् पूर्वपदम्। रक्षतेरश्नोतेर्वोत्तर-पदमित्यर्थः। देवजूतं जवतिर्गतौ प्रीतौ वा देवैर्मरुदादिभिर्गतं प्रीतं वा।	अर्थविकल्पेन तूर्णशब्दात्पूर्वपदं रक्षतेरश्नोते-र्वोत्तरपदम्। देवजूतं देवैर्गतं परत्वेन ज्ञातं वा परोऽयमस्माकमिति। देवप्रीतं देवैर्वा समानप्रीतम्।
२८	तरुतारं तारयितारं गमयितारमित्यर्थः। नेमिरिति वज्रनाम।	तरुतारं तारयितारं रथानाम्। नेमिरिति वज्रनाम।
२९	सोऽयं तार्क्ष्यसाधारणशब्दत्वाद् गरुत्मता सन्दिह्यते। बलकृतिः प्रकाशिता। सद्यः समानेऽहनि समानेनाह्ना वर्तमानकालो लक्ष्यते चिदप्यर्थे।	सत्यामपि हि बलकृतौ पक्षिराजे गरुत्मनि सन्देहोऽसावपि बलवांश्च तार्क्ष्यनामा च। बलकृतिरुपप्रदर्शिता। 'सद्यः' शब्दो लक्षणार्थोऽद्य श्वः परश्वः परुत्परारि चेति।
२९	निषादपञ्चमान् वर्णान् प्रतीत्यर्थः। न च केचिद्वारयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः।	निषादपञ्चमान्वर्णान्प्रति। न प्रतिबद्धुं शक्नुवन्ति केचनातिवेगवत्त्वात्।
२९	शर्यां धनुक्षता क्षिप्तां शत्रुशरीरेषु प्रविशन्तीं शरविकारभूतामिषुम्।	'शर्याम्' अतिबलवता धनुष्मता मुक्तां शरमयीमिषुम्।
३०	तद्दर्शनाच्च हर्षमाणासो हृष्यन्तः। यथाग्निर्भस्मसात्करणान्निर्मूलं विनाशयति तद्वत्। तन्मध्यगतमपि योज्यम्।	हर्षमाणासः तवाश्रयादविकला हृष्यन्तः। अग्निकर्माणः अग्नय इवैते सेनामभिभवन्तो यन्त्विति। 'दधत्क्रामति' इत्येवमादि सर्वं मध्यमे योज्यम्।
३१	आकारस्य ततानेत्येतेन सम्बन्धः...... आततान तनोति। पञ्च कृष्टीः निषादपञ्चमा मनुष्यजातीः प्रतीति शेषः।	आतनोति सर्वतस्तनोति। पञ्चकृष्टीः पञ्च मनुष्यजातानि प्रति।

३१	वेजनवान् वा। अर्वा ईरणवान् वृष्टिलक्षणस्योदकस्येरणेन तद्वान्। इमा इमानि स्तुतिलक्षणानि वचांसि। मधुकस्मात्?.....धमतेराद्यन्तविपरीतस्येत्याह। इह त्वर्थात्प्रकरणाच्च मध्यमोऽभिधेयः।	वाजी वेजनवान्। अर्वा ईरणवान् उदकेरणक्रियायोगी। इमानि स्तुतिवाक्यानि स्तुतिलक्षणानि वचांसि। 'मधु धमतेः' आद्यन्तविपरीतस्य। स पुनरिह वर्षकर्मयोगान्मध्यमः।
३२	सविता मध्यमस्थानः। यन्त्रैर्यन्त्रस्थानीयैर्वृष्टिप्रदानादिभिरुपकारैः कर्म-भिः।	सविता मध्यमः सर्वबलेशानः। वर्षेणोपकारेण पृथिवीलोकनिवासिनो धारयति।
३२	अस्कम्भने स्कम्भनं पदप्रतिबन्धकरमालम्बनं तद्रहिते चान्तरिक्षे अदृंहत् दृढीकृतवान। अतूर्ते........ अहिंसिते अत्वरिते वा। कुतो वा संशयः? अन्योऽपि मध्यमादुच्यते यतः। अत आह-अर्चन्नाम हिरण्यस्तूपपुत्रो हैरण्यस्तूप इदं सूक्तं प्रोवाच।	अस्कम्भने अनारम्भणे अमूर्तेऽन्तरिक्षे। अदृंहत् स्थिरामकरोत् आभूतसंप्लवात्। अतूर्ते एतस्मिन्नन्तरिक्षे अहिंसिते। अत्वरमाणे वा। कुतः संशयः। अन्योऽपि यस्मान्मध्यमात्स-वितोच्यते। अत आह-'अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच' इति।
३३	सोमस्येवांशुं यथाभूतस्य सोमस्येव। एवं त्वां प्रति जागराहं जागर्मि। अहं त्वत्परिचर्यायां प्रमादं न करोमीत्यर्थः। सविता वृष्टिप्रदानद्वारेण सर्वस्य प्रसविता।	सोमस्येवांशुं सोममिव क्रीत्वा। जागर्मि अनन्यमनास्त्वामायागादुपास इति। सविता सर्वस्य भूतग्रामस्य प्रसविता उत्पाद-यितोदकसम्प्रदानद्वारेण।
३४	इमानि च सर्वाणि भुवनानि। उदकनाममैतत्... असुरिति प्रज्ञानाम रो मत्वर्थीयः प्रज्ञावत्वम्। अनवत्वं वानः पुनः प्राणस्तेन। तद्वन्तं बलवन्तमित्यर्थः।	इमानि विश्वानि भुवनानि उदकानि। असुरिति प्रज्ञानाम। 'अनवत्त्वम्'-असुः प्राणस्तेन तद् वत्त्वम्।
३५	'शंभु'-शमिति सुखनाम परेणापौनरुक्त्याय तदात्व इति शेषः। मयोभु सुखस्य भावयितृ आयतित्व इति शेषः।	शंभु अस्तु। शमिति सुखनाम। तद्भावकमस्तु तदात्वे। मयोभु अस्तु। मय इति सुखनाम।
३६	गोपीथाय...........सोमपानाय प्रकर्षेण हूयसे। हे अग्ने आगहि आगच्छेति।	गोपीथाय सोमपानाय प्रहूयसे आहूयसे। आगहि आगच्छैतस्मिन्नस्मत्कर्मणि सोमं पातुमित्येतदाशास्महे।
३६	सोमपानं मरुद्भिः साहचर्यं चोक्तं मध्यमस्येत्याह। पूर्वपीतये अनादिकालप्रवृत्ताय पानाय। सोम्यं सोममयं मधु।	गोपीथाय मरुद्भिः सहेति मध्यमं लिङ्गम्। पूर्वकाले प्रवृत्ताय पानाय। इदं सोम्यं मधु सोममयं तन्मधु।
३९	वेनः............कान्तो दीप्तो मध्यमस्थानः।	'वेनः'......सर्वलोककान्तो हि मध्यमः सर्त्रस्योपकरित्वात्।

	पृश्निगर्भाः पृश्निरादित्यस्तस्य गर्भभूता गर्भत्वमापन्नाः। रजसो विमाने रज उदकं तस्मिन् मीयते उत्पद्यते यस्मिन् तद्रजसो विमानमन्तरिक्षम्। तस्मिन्नायतने स्थितमिति शेषः।	पृश्निगर्भाः पृश्निरादित्यः....... तस्य गर्भत्वमुपागताः। रजसो विमाने रज उदकं तद्यत्र निर्मीयते तत्रावस्थितः अन्तरिक्षलोक इत्यर्थः।
३९	अपां सूर्यस्य च संगमनेऽन्तरिक्ष इत्यर्थः। विप्रा मेधाविनः। मतिभिः स्तोत्रशस्त्रलक्षणादिभिः। रिहन्ति पयन्ति........स्तुवन्तीत्यर्थः।...........	अपां च संगमे सूर्यस्य च संगमे समागमन- स्थाने। विप्रा मेधाविनः स्तोतारः। मतिभिः स्तुतिभिः प्रज्ञापूर्वकाभिः। रिहन्ति............लिहेर्धातोः वर्धतोः वर्धयन्ति पूजयन्ति
३९	स्तुत्यर्थाल्लिहेर्धातोः।	वेत्यर्थवचनम्।
३९	यथा जीर्यति परिणमते उपचयरूपेण गर्भस्तथा तथा जरतीति जरायुर्गर्भस्य वेष्टकः। दीयते ह्यसौ पुरुषेण स्त्रियै। तथा च प्रवादः स्त्रीणां प्रत्यग्रगृहीतगर्भाणां चिरलब्धो मे गर्भं इति। स च मध्यमः प्राणः। प्राणश्च वायुः। स हि शरीरादुत्क्रामन्नन्यानसून्नयतीति।	यथा यथा गर्भो भवति तथा तथा तदुत्पद्यते। दीयते हि स पुरुषेण स्त्रियै धारणाय। भवति च वादः स्त्रीणामभिनवगृहीतगर्भाणाम् चिरलब्धो मे गर्भं इति। स पुनरयमिन्द्रो मध्यमः प्राणः। स पुनर्यदेतस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथेतरान् प्राणान् 'असून्' अन्यत्र नयति।
४०	जीवातवे चिरजीवनाय।	जीवातवे चिरम् अस्माकं जीवनाय मनो धारय।
४०	घृतेनोदकेन...वृष्टिलक्षणेन चोदकेन तन्वं शरीरं वर्धयस्वात्मनोऽस्माकं च। देव्यः षट् संख्याकाः.....द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्चेत्येताः। वीरयध्वं........वीरान् शूरान् वीरवतो वा पुत्रवतोऽस्मान् कुरुतेत्यर्थः।	घृतेन उदकेन त्वमात्मानं यथाकालं वर्धयस्व। देवीः षट् द्यौश्च पृथिवी च अहश्च रात्रिश्च आपश्चौषधयश्चेति। वीरयध्वं वीरान् पुत्रान इच्छत दातुम्।
४०	कष्टं हि पुत्रमरणम्। मध्यमोऽभिप्रेतो गन्तान्तरिक्षे। शुरुधो वृष्टिलक्षणा आपः सन्ति।	कष्टं हि पुत्रमरणम्। इह अभिधेयो मध्यमः। शुरुधः आपः सन्ति विद्यन्ते।
४१	वृजिनानि पापानि दुर्भिक्षादीनि हन्ति। ऋतस्यैव श्लोकः स्तनयित्नुलक्षणः। आयोर्मनुष्यनामैतत्। इन्दुः कस्मात्? इन्धतेर्दीप्तिकमर्णः।.	वृजिनानि वर्जनीयानि अयशांसि हन्ति नाशयति। ऋतस्य एवमतिमहान् श्लोकः शब्दः स्तनयित्नुलक्षणो भवति। आयोः अयनस्य मनुष्यस्य। 'इन्दुः'-इत्येतत्पदम्। स कस्मात्? 'इन्धेः'- दीप्त्यर्थस्य।

४२	इषवान् छान्दसत्वादिषः इळ स्तुतिं प्रतीच्छन् वा। अन्नं वा। स्तोतृभ्यो देयेनान्नेन स्तुतीच्छया तद्वानित्यर्थः। मननं स्तवनमस्मदीयं प्रेजति कम्पते चलति गच्छतीत्यर्थः। वधैः प्रहारैः। अजेत जयेत। दुर्मतिं पापबुद्धिम्।	इषवान् नित्यं अन्नवान्। कामवान् वा। कामिनां स्तोतृणां नित्यमभिमतफलसम्प्र-दानोन्मुखः। नित्यमस्याकं मन्म रेजति मननानि प्रज्ञानानि रेजयति आकम्पयति। वज्रप्रहारैरतिदुःसहैः अजेत जयेत् क्षिपेद्वा दुर्मतिं पापमतिम्।
४२	परुच्छेप ऋषिरित्यभिधेयवचनः। स कस्मात् परुच्छेपः ? पर्ववन्महच्छेपो-ऽस्येति।	'तत्' च पुनरेतत् परुच्छेपस्य मन्त्रदृशः शीलम्। 'परुच्छेपः' कस्मात्? 'परुच्छेप ऋषिः', तस्य हि 'पर्ववत्' महान् शेपः प्रजननम्।
४२	वाय्वादीनि इन्दुपर्यन्तानि सप्तविंशतिर्यथा समाम्नायमनुक्रान्तानि। मन्त्रस्वभावप्रदर्शनार्थम्। प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वेति धात्वन्यत्वमात्रम्।	इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनु-क्रान्तानि। देवतास्वभावोपप्रदर्शनार्थमिदमुक्तम्। 'प्रजापतिः'-प्रजानां पाता वा पालयिता वा।
४३	त्वमेव परिगृह्णासि रक्षसि वा। वयं स्याम पतयः स्वामिनो रयीणां धनानामित्याशीर्मन्त्रगतैव। यत्रापि नास्ति तत्राप्येकवाक्यतायै कल्प्येति भाष्यकाराभिप्रायः। इह त्विन्द्रो मध्यमोऽभिधेयः।	त्वमेवैतानि सर्वाणि सर्वतः परिगृह्य सर्वतो भवसि। वयं स्याम पतयो रयीणाम्। रयीणां धनानां पतयः 'इति', इयमपरा 'आशीः'। यत्रापि न स्यात्तत्राप्यध्याहार्येति स्तुत्याशि-षोर्नित्यसम्बन्धादिति। इह त्वभिधेयो मध्यमः।
४४	यः कर्मात्मना वृष्टिलक्षणास्वप्सु जायते तमब्जाम्। बुध्ने बन्धने नदीनां नदीशब्देन शब्दका-रिणीनामपां स्यानेऽन्तरिक्षे। इदमपीतरद् बुध्नं शरीरमुच्यते। इयांस्तु विशेषः। बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यः। रिषे रेषणाय हिंसनाय। धात् दात् कस्मैचिदपि।	अहिम, अप्सुजम् उदकजन्मानम्। बुध्ने नदीनां नदनानां अपां बन्धने एतस्मिन्नन्तरिक्षे। इदमपीतरत्' शरीरं बुध्नमित्युच्यते। एतावांस्तु विशेषः, बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। रिषे धात् रेषणाय हिंसनाय कस्मैचित्।
४५	स्रिधत् स्रवत् मा विनशदित्यर्थः। ऋतायोर्यज्ञकामस्य।	मा स्रिधत् मा सुस्रवत्। नित्यमविनाशेन वर्ततामिति। ऋतायोः अस्य यजमानस्य यज्ञकामस्य।
४६	एको सहायवान्। असहायो यः सर्वकार्येषु सहायान्तरं नापेक्षत इत्यर्थः। स समुद्रमन्तरिक्षनामैतत्। तदाविवेश आविशति। भुवनं भूतजातं वि चष्टे पश्यति कर्मायम्।	एक एवाद्वितीयः। यस्य पतने गमने प्रति-मानन्यद्द्वितीयं नास्ति। समुद्रम् अन्तरिक्षं नित्यं आविशति। भुवनं सर्वाणि इमानि भूतानि अभिविपश्यति यथा

	तमेनमेवं रूपं पाकेन मनसा परिपक्वेन मनसाऽहमपश्यं दूरस्थमपि सन्तमन्तितो ऽन्तिके सन्निधौ।	द्रष्टव्यानि। तमेवं वर्तमानमहं पाकेन मनसा विपक्व-प्रज्ञानेन सर्वगतमपि सन्तम् अन्तिकम् इव अपश्यम्।
४६	पुरूरवा मध्यमस्थानः। विज्ञायते हि 'वायुः प्राण एव पुरूरवाः' इति।	'पुरूरवाः' मध्यमः। विज्ञायते हि 'प्राण एव हि पुरूरवाः' इति।
४७	अस्मिंस्त्वयि वृष्टिप्रदानाय कर्मात्मना जायमाने। ग्नाः स्त्रिय आपो मेघस्था वा। स्वगूर्ताः 'गुरी उद्यमेन' ताः प्रतिगन्तुं स्वयमेवोद्यताः स्वयंगामिन्य इत्यर्थः। रणाय मेघेन सह संग्रामाय अवर्धयन् वर्धयन्ति मध्यमस्थानं देवगणाः। ग्नाः स्त्रियो देवानां पत्न्यः।	इतस्मिन् पुरूरवसि। जायमाने वर्षकर्मण्या-त्मानं प्रतिलभमाने प्रावृट्काले। 'ग्नाः' आपः। स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यः। रणाय मेघेन सह रमणीयाय संग्रामाय अवर्धयन् वर्धयन्ति माध्यमिका देवाः। ग्ना सर्वा देवपत्न्यः।
४७	असुरैः सह संग्रामाय सर्ववीर्यैरवर्धयन् वर्धित-वन्तः। देवा देवा इत्यध्यायपरिसमाप्तिप्रज्ञापनफलो-ऽभ्यासः सिद्धः।	असुरैः सह दस्युहत्याय शत्रुवधाय अवर्धयन्। द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तौ यस्मात्तल्लक्ष्यते समाप्तम्।
अ. ११ १-२	इह तु मध्यमोऽभिधेयः। अभरत् अहरत् स्वमास्यं प्रापितवान् पीतवानित्यर्थः। यत्र सहस्रं सुत्याः कुर्वन्तीति शेषः।	इह त्वभिधेयो मध्यमः। अभरत् अपिबत्। सहस्रं सुत्यानां यत्र कुर्वन्ति अयुतं च दक्षिणाः प्राप्नुवन्ति न तु दीयन्ते सत्रत्वात्।
२	सहस्रसाव्ये हि यदपि सत्रत्वाद् ऋत्विजां दक्षिणा नास्ति	अदक्षिणत्वात्सत्राणाम्।
२	(पुरन्धिः) बहुप्रज्ञो बहुकर्मा वा।	पुरन्धि बहुनो धनस्य दाता।
२	अथवा रातिर्दानम् 'अरातयो' ऽदानबुद्धयो-ऽनधिकृतपुरुषजातीः।	रीतिर्दानार्थः तत्प्रतिषेधेनारातिः।
२	सूयत इति सोमः। तस्यैवैषा स्वतनूश्चन्द्रमाः। यद्वायुरिति रसात्मकत्वादशोषणाच्च। सो ऽयमध्यात्मापद्यते। 'तस्य' नैघण्टुकेन प्राधान्येन निदर्शनार्थमु-दाहरामः।	'सोमः............यदेनमभिषुण्वन्ति। अस्यैषैव स्वां तनूर्यच्चन्द्रमा रसात्मकत्वात्। वायुर्वा सोममेवमात्मानमापाद्याभिषूयत इति भवति स मध्यमः। उभयम् 'उदाहरिष्यामः' परार्थत्वं स्तुतेः स्वार्थत्वं च।
३	अतिशयेन स्वाद्व्या मदिष्ठया अतिशयेनैव मदयित्र्या।	स्वादिष्ठया स्वादुतमया मदिष्ठया मदयितृत- मया।
३	इन्द्रस्य पातुमर्थयित्यर्थः।	इन्द्राय इन्द्रार्थं पातवे पानाय।

	सोमस्य नैघण्टुकत्वेन योदाहृता सा निगदेनैव व्याख्याता।	इन्द्रार्थं पवस्वेत्यस्वार्थता लक्ष्यते।
३	अथ......प्राधान्यस्तुतिप्रतिपादनार्था भवति। चन्द्रमसो वा एतस्य (वा) प्रकृतस्यौषधि-सोमस्य। संपिंषन्त्योषधिमोषधिरूपम्। के? सामर्थ्याद् रासायनिकाः। सोमं हितं मन्यन्ते यं ब्रह्माणो ब्राह्मणाः।	'अथ' शब्देन विशेषाधिकारवाचिना स्वप्रधानतां स्तुतेरधिकरोति। चन्द्रमसो वाधिदैवमापन्नस्य। ओषधिसोमस्य वाधियज्ञमापन्नस्य। यत्संपिंषन्ति संचूर्णयन्ति अभिषुत्य पिबन्ति सोममोषधिं केचिद्रासायनिकाः। यं ब्राह्मणाः सोमं विदुः।
४	एवमौषधे सोमेऽर्थयोजना।	'इत्यधियज्ञम्'- इति विषयमुपप्रदर्शयति।
५	चन्द्रमसि त्वधिदैवतं योज्यते। न च तस्याश्नाति कश्चनादेवो देवेभ्योऽन्यः। अथानन्तरं चैषापरा पूर्ववद्विकल्पेन प्राधान्यस्तुतिप्रतिपादनार्था भवति चन्द्रमस इतरस्य वा।	'अथाधिदैवतम्' इति विषयान्तरमधिकरोति। उक्तं हि 'चन्द्रमसो वा' इति। न तस्याश्नाति कश्चन अदेव इति। तथा चेयमपरा अन्या प्राधान्यस्तुतिरप्यस्ति सोमस्येत्युपप्रदर्शनार्थमाह।
५	प्रपिबन्ति सवने सवने प्रकर्षेण पिबन्ति सामर्थ्याद् ऋत्विग्यजमानाः। रसहरणाद्वा सति शोषणसामर्थ्ये त्वदीयस्य रसस्याशोषणात्।	प्रपिबन्ति प्रारभन्ते पातुमृत्विग्यजमानाः त्रिषु सवनमुखेषु। रसहरणाद्वा सर्वरसापहारी वायुः समर्थः सन्यत्र शोषयति तेन सोमो रक्षितो भवति।
५	ओषाधिसोमस्य हि प्रत्यहं शुक्लपक्षे एकैकं पर्णमुपजायते द्रक्ष्यत इत्यभिप्रायः एवमौषधे सोमयोजना। चन्द्रमसि तु।	एकैकं पर्णमपचीयते इति ओषधिः सोमस्य चन्द्रमसः सम्पद्यते। एवमधियज्ञेऽपि स एव ओषधिः सोमः। अथाधिदैवे (चन्द्रमाः)।
५	किञ्च समानां संवत्सराणाम्।	समानां संवत्सराणाम्।
५	प्रत्यहमेकैकस्याः कलाया उपजनेनापगमेन च युक्ते रूपविशेषैः।	कलानामुपचयापचयविशेषाभ्यां रूपविशेषा-श्चन्द्रमसः प्रतितिथि भवन्ति।
५	यद्वा चन्द्रो माता चन्द्रश्चासौ माता च निर्माता वा। चन्दतेर्धातोः कान्त्यर्थस्य। कान्तं हि तद् भवति। चमेर्वा पूर्वं चम्यमानो रश्मिभिरद्यमानो द्रवति। चारु रुचेर्विपर्ययेण।	चन्द्रश्चासौ माता च निर्माता सर्वस्येति चन्द्रमाः। चन्द्रः पूर्वपदं मातोत्तरपदम् 'चन्द्रः' कस्मात्? 'चन्दतेः कान्तिकर्म-णः'। नित्यकान्तो ह्यसौ। 'चमेर्वा पूर्वं द्रमतेरेवोत्तरपदम्। कोऽर्थः। चम्यमानो भक्ष्यमाणो देवैरसौ द्रमतीति चन्द्रमाः। 'चारु' कस्मात्? 'रुचेः आद्यन्तविपरीत-स्य' दीप्तिकर्मणः।

६	एवं पौर्णमासीममावास्यां च निष्पादयन् दर्शपौर्णमासयोर्भागं देवेभ्योऽग्न्यादिभ्यो वि दधाति निष्पादयत्यायन्।	एककर्मेऽपि पूर्वपक्षात् पौर्णमास्यमावास्योः स्वगत्या काले तिथिं विभज्य देवेभ्यो ददति।
६	यदा त्वादित्यदेवतो द्वितीयः पादः। यद्यपि चादित्यस्य पुरस्तात् पुराणे चन्द्रमसः स्थानं कथ्यते तथापि रसानुप्रदानसामान्याद्य स्थानवत्वं तावदुपपन्नम्।	आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके। ननु सूर्यात्परतः शतसहस्रे योजनानां चन्द्रमसः स्थानमिति पौराणिकाः स्मरन्ति। कर्मसंयोगेन तु द्युस्थानत्वे सति सर्वदेवतानां विशेषस्थाननियमो विवक्षितः।
६	शतशब्दो बहुनाम बहुबलान्यक्षाणि यस्य षडिन्द्रिय इत्यर्थः। मुद्गलस्य पुत्रो मौद्गल्यः स मन्यत इति शेषः। तथा च श्रुतिः-'प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति' इति।	बहुबलानि अक्षाणि इन्द्रियाणि यस्य स शतबलाक्षः बह्विन्द्रियः। मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्य। विज्ञायते हि-'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति।
७	मा नोऽस्माकं प्रजां दुहितृप्रभृतिं मा रीरिषो हिंसीः। मोत (उत) चार्थे मा च वीरान् पुत्रनौत्रांश्च।	मा त्वमस्माकं प्रजां पुत्रान् पौत्रांश्च रीरिषो हिंसीः। मा उत वीरान् अन्यानपि येऽस्मदाश्रयाः पुरुषास्तानपि मा हिंसीरिति।
९	मन्दमानाय मोदमानाय। शब्दक्रियो वा महिः। शब्दाय्यमानाय।	मन्दमानाय हृष्यमाणाय। अथवा। शब्दाय्य-मानाय।
९	एवं पृथिवीस्थानादन्यत्व उक्ते विष्णुर्विश्वानरो वरुणः केशीति द्युस्थानादपि च विश्वा-नरादवच्छेत्तुम्। परापि भवति। उदश्रेत् उदश्रयदुच्छ्रितं कृतवान् करोति वा, ...वायोश्च विश्वानरत्वात्।	द्युस्थानोऽपि हि विश्वानरः समाम्नातः। अस्यां तु परस्यां व्यपदेशादुत्तमेन ज्योतिषा विश्वानरस्यासंशयं मध्यमत्वमित्येवमुदाह्रियते। उदश्रेत् उच्छ्र्यति ऊर्ध्वमुपनयति विश्वानरो मध्यमो वायुः।
१०	यतः क्रत्वादिकर्मणा देवानां रश्मीनामजनिष्ट जातम्। किं तत्? उष आख्यं चक्षुर्जनिता आविरक आविष्करोति। धाता मध्यमस्थानो वर्षकर्मणा सर्वस्य विधाता। विधाता धात्रा व्याख्यातः। तस्यैषा। देवतान्तरैः सह स्तुतिसन्निपातो बहुदेवतायामृचि।	क्रत्वा तत्कर्मणा देवानां रश्मीनां चक्षुः ख्यातं प्रकाशः अजनिष्ट जायते उषाः। 'धाता' कस्मात्? स हि सर्वस्य विधाता स्रष्टा। उदकपूर्वकत्वात् सर्वविधानस्य मध्यमः।..... 'विधाता, धाता व्याख्यातः'। धातैव विधाता तस्यैष निपातो भवति स्तुतिसाधारण्येन बहुदेवतायामृचि।
१२	कला अवयवा: शेरतेऽवतिष्ठन्ते समुदाये हि अवयवाः समुदायवृत्या वर्तन्ते। समुदायाद् विक्षिप्ता मात्राः कला इति।	'कलशः..कला अवयवाः सोमसमुदायात्के-चित्पृथक्कृताः। ते शेरते आसते अस्मिन्।.... कला अपि विक्षिप्ता भवन्ति कुतश्चित्समु-दायादिति।
१३	अथेति गणाधिकारः।	अथातः शब्दावुक्तार्थौ तयोः पुनरुपन्यासो

	आश्रितभेदो वायुर्बहुवचनान्तेन मरुच्छब्देनाभि-धीयते। सर्व एव च मध्यमस्थाना देवगणा मरुतः। सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना, पुमान् वायुश्च सर्वगः। गणाश्च सर्वे मरुत- इति वृद्धानुशासनम्।।	बहुवचनविशिष्टोऽयमपरोऽधिकार इति। वायुरेव हि भेदेनापेक्ष्यमाणो मरुदभिधानो बहुवचनभाग् भवति। नैरुक्तसमयस्तु सर्व एव गणा मरुतः। उक्तं च वार्तिके-'मध्यमा वाक्स्त्रियः सर्वाः पुमान् सर्वश्च मध्यमः। गणाश्च सर्वे मरुतो गणभेदाः पृथक्कृतेः'।
१३	पौराणिकास्तु मारीचात्काश्यपादित्यां जज्ञिरे मरुतां (सप्त) सप्तका गणा इत्याहुः। बहुप्रकारं शब्दं कुर्वन्ति।	अग्नौ पुराणे चैत एव प्रसिद्धाः सप्तस्कन्ध-वायुविचारिणो मारीचात् कश्यपादित्यां ये जज्ञिरे। बहुप्रकारं च ते रुवन्तीत्यर्थः।
१४	स्वञ्चनेः शोभनगमनैरित्यर्थः। अर्चनं वार्कः स्वर्चनैः सुस्तुतिभिरित्यर्थः।	स्वञ्चनैः सुगमनैः। यद्वा। स्वर्चनै शोभनमर्चनम् येषां तैः, सुष्ठु पूजितैः।
१४	सुमायाः मायेति कर्मवचनं प्रज्ञानाम वा सुकर्माणः सुप्रज्ञा वा।	सुमायाः। हे सुमायाः सुकर्माणः सुप्रज्ञा वा।
१५	आ गन्तनेति सम्बन्धः। रुद्रासो हे रुद्राः। सुविताय सुविगमनाय यज्ञकर्मणे यज्ञसमाप्त्य-र्थमित्यर्थः।	हे रुद्रा आगच्छत यूयम्। सुविताय एतस्मै कर्मणे सुष्ठु सगुणाय यथाशास्त्रं क्रियमाणाय प्राप्त्यर्थम्।
१५	तृष्णजे न नशब्द उमार्थीयः। तृष्णा पिपासा यस्मिन् काले जायते तया वा यो जयति स तृष्णजो ग्रीष्मान्तस्तस्मिन्निव काले।	तृष्णजे न तृष्णजे इव। तृडुपजायतेः यस्मिन् विशेषतः काले स तृडुपजः कालो घर्मान्तः तस्मिन् यथा।
१५	उत्सा मेघा उदन्यवे उदककामस्य जनस्यार्थायागच्छन्ति तद्वदागच्छत। ऋभवो वक्तव्याः। विद्युतप्रकाशनमुरु विस्तीर्णं भान्ति। उरुशब्दात् ऋकारो रेफोऽज्भक्तिश्च। भातेराकारलोपः।	उत्साः...उत्सप्रभवा मेध्या आपः उदन्यवे उदकमिच्छते लोकाय आगच्छन्ति प्रावृषि तथास्मन्मत्या प्रतिहर्यमाणा आगच्छतेति।.... 'ऋभवः' कस्मात्? उरु भान्तीति वा। ते हि बहु भान्ति दीप्यन्ते। उरुशब्दात्पूर्वपदं भाते-रुत्तरपदम्।
१६	विष्ट्वी विष्ट्वा व्याप्य कृत्वेत्यर्थः। शमीति कर्मनाम कर्माणि प्रख्यातानि। सौधन्वनाः सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। ऋभवः ऋभुप्रभृतयः;....ऋभुर्विभ्वा वाज इति। तदेतदार्भवानि 'किमुश्रेष्ठ' इत्यस्य सत्कृतस्य संस्तवेन युक्तानि सर्वग्वेदशाखासु बहूनि सूक्तानि विद्यन्ते।	'विष्ट्वी शमी' इति द्वे अपि कर्मनामनी। यतोऽजामितायै भाष्यकारः पूर्वं तावन्निराह 'कृत्वा' इति, किं कृत्वा? शमी कर्माणि।... ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्राः बभूवुः। आर्भवाणां मन्त्राणां स्वभावोपप्रदर्शनार्थमाह।.. ऋभुणा वाजेन च बहुवन्निगमा भवन्ति....स ह्यार्भवाणां मन्त्राणां स्वभावः।...ऋभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहुनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति।

	मन्त्रस्वाभाव्यमुपलक्षणीयं मन्त्रव्यभिचारप्रदर्शनायाह-'आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते'। इति उदाहरणम्।	'आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते' इत्यभिधेयव्यभिचारमुपप्रदर्शयति।
१६	किञ्च अगोह्यस्य गूहितुमशक्यं स्यादित्यस्य। ततश्च युष्मद्विना निरालोकोऽयं लोकः। अङ्गिरसः 'अङ्गारेष्वङ्गिराः' इति व्याख्याता। वचनकृतो विशेषः।	किञ्च। अगोह्यस्य योऽयम् अगोह्यः आदित्यः अगूहनीयः न गूहितुं शक्यः केनचिदपि अस्य।.... ततश्च युष्मद्विनाभावे निरालोकोऽयं लोकः सम्पद्यते। अङ्गिरसो व्याख्याता, एकवचनेन 'अङ्गारे-ष्वङ्गिराः' इति।
१७	ऋषयो द्रष्टारो मन्त्राणामतिमेधसः। त अङ्गिरसोऽङ्गिरा नाम ऋषिस्तस्य सूनवः पुत्रास्ते अग्नेरग्नितः सकाशात् परिजज्ञिरे पारंपर्येण जाताः। अग्नेः सकाशादङ्गिराः। ऊर्ध्वं पितृलोकमीरतां गच्छन्तु। अवरेऽवस्थाः पृथिवीस्थाः।	ऋषयः अवितथस्य ब्रह्मणो द्रष्टारः।.... ते अग्नेः परि जज्ञिर इति। अग्नित्वमापन्न-स्याङ्गिरसोऽधि सकाशाद्ये जज्ञिरे ते एते। ये तावत् अवरे पितरः पृथिवीमाश्रितास्ते तावत् उदीरताम् ऊर्ध्वं गच्छतु।
१८	किञ्च असुं प्राणं य ईयुर्गताः। स्थूलं विग्रहं त्यक्त्वा सूक्ष्माः प्राणरूपतामापन्ना इत्यर्थः।	असुं य ईयुः प्राणमात्रमूर्तयः अस्थूलविग्रहाः।
१८	सोमसम्पादिनः कर्मण्यंगभावं गच्छन्तः सोमं सम्पादयन्ति। अपरेषां परेषां च मध्यस्थानत्वप्रतिपादनायाह माध्यमिको यमः। स च तेषां राजा पितृपतिरुच्यते,....मन्यन्ते नैरुक्ताः। अथर्वणं निराह-अथनवन्त इति, नैरुक्तधातुश्चर त्यर्थः,...गमनवन्त इत्यर्थः। ततप्रतिषेधोऽथर्व-णमगमनम्। तेनाथर्वणेनागमनेन तद्वन्तोऽथर्व-वन्तः सन्तोऽथर्वाणः।	सोम्यासः सोमसम्पादिनः कर्मण्यङ्गभावमु-पगच्छन्तो ये सोमं सम्पादयन्ति। 'माध्यमिको यम इत्याहुः नैरुक्ताः। तस्मा-त्पितृन्माध्यमिकान्मन्यन्ते स हि तेषां राजेति। 'अथर्वाणः' कस्मात्? ते ह्येते 'अथनवन्तः'। किमिदमथनं येन ते तद्वन्तः। यत आह थर्वतिश्चरतिकर्मा गच्छत्यर्थः। ततः किम्? तत्प्रतिपेधः। पुरस्तादकारः। न थर्वन्तीत्यथर्वाणः।
१९	नवग्वा मासे मासे पिंडपितृयज्ञे गतिर्येषाम्।	नवग्वाः नवगतयः पितृयज्ञानागन्तुं येषां प्रतिमासं नवा गतिर्भवति।
१९	नवनीतगतय इति। विज्ञायते हि 'स्वयं विलीनमाज्यं पितृणाम' इति। आंगिरा इत्यादि मध्यमस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। तदधिकारे समाम्नानात्। पितर इत्याख्यानविदः पौराणिकाः स्मरन्ति। ते सनत्कुमारादयो देवविशेषा एव।	नवनीतगतयो वा......विज्ञायते हि। 'स्वयं विलीनं पितृणाम्' इति। माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। ऋभवो-ऽङ्गिरसो भृगवोऽथर्वाण इति...पितर इत्या-ख्यानम्। त एव ऋभुसनत्कुमारादय इत्याख्यानविदः स्मरन्ति।
१९	प्रसङ्गादाह-अथाप्यृषयः स्तूयन्त इति।	एवमृषयोऽपि स्तूयन्त इति प्रदर्शयत्ययमप्य-स्तीति

		मन्त्राणां विषय इति।
२०	आप्त्या इन्द्रसहचारिमध्यमस्थानो देवगणः। तेषामेष स्तुतिसन्निपातो भवति ऐन्द्र्यामृचि। तमिन्द्रमहं स्तौमीति वाक्यशेषः।	'आप्त्याः'-अपीन्द्रसहचारिण ऋषिय एक-तद्वितन्निताः।...ऋषिपक्षे मध्यस्थानाः। स्तुषेय्यं स्तोतव्यम् अहं स्तौमीन्द्रम्।
२१	सप्त दानून् दातॄनुदकस्य मेघान्। दानवचनो दानुशब्दः। नमुचिप्रभृतीन् दानवानित्यर्थः।	सप्त दानून् सप्त दातॄन् मेघान्। असुरान् दानवान्। नमुचिप्रभृतीन् पृथक्त्वपक्षे।...
२१	एतदुक्तं भवति। यान्यस्योपमानान्युपादीयन्ते तेभ्योऽधिकतर इन्द्र उणः। प्रथमागामित्वं चादितेरदीनत्वाद् देवमातृत्वाच्च। अदितिः प्रातस्तनी सन्ध्या। सा चावश्या-यलक्षणरसानुप्रदानसम्बन्धान्मध्यमस्थाना वो-च्यते।	य आप्नोत्यभिभवति च प्रतिमानानि भूरि बहून्यपि। तदुक्तम् 'यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति' इति। 'तासामदितिः प्रथमागमिनी भवति'। सा कस्मात्। उक्तं हि 'अदीना देवमाता' इति। अहोरात्रे मित्रावरुणौ। न तयोर्या सन्धिवेला तस्यां प्रथममवश्यायरसानुप्रदानसम्बन्धात्तां मध्यमामदितिमभिप्रेत्योच्यते।
२३	शब्दश्रुतिसामर्थ्याद्वा दक्षस्य वा जन्मनि त्वत्तस्तव वा जन्मनि दक्षादित्येवमध्याहार्यम्। त्वत्तो जायमान आदित्ये आदित्याद्वा त्वयि जायमान इत्यर्थः।	आदित्यो दक्षो दाक्षायण्यदितिरिति......एवं कृत्वोक्तम् 'इतरेतरजन्मानावितरेतर प्रकृती' इति।
२३	परोऽर्धर्चो दक्षस्य विशेषणार्थः। अतूर्तपन्था-स्त्वरतेस्तूर्तोऽतूर्तस्त्वरावर्जितः पन्था यस्य स... योऽतूर्तपन्था इत्यादिगुणस्तस्य दक्षस्य जन्म-नीत्येवं यत्तावध्याहृत्यैकवाक्यता योज्या। हविष्मान् आविवासति इति परिचर्यायामित्यस्म सिद्धये दृष्टान्तः। देववीतये वीतिर्गतिर्देवान् प्रति वीतये गमनाय। अशनार्थो वा वीतिः। देवैर्भक्षणाय।	अथवा। दक्षस्य वा। यदा दक्षस्त्वत्तो जातो व्रते च कर्मणि प्रवृत्तः स्वाधिकारयुक्तोऽयम् अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषु-रूपेषु जन्मसु........इत्यैतिहासिकपक्षे योजना विवासतिः परिचर्यायाम्-इत्यत्र निगमः- देववीतये देवभोजनाय।
२३	अथ कोऽयं दक्षः? अदितेः पुत्र आदित्यो दक्ष इत्याहुर्ब्रह्मविदः। आदित्यमध्ये च स्तुत इति। 'इमा गिर आदित्येभ्यः' इत्यत्र इदं तर्हि कथं यदैतिहासिका आहुः। अदितिर्दाक्षायणीति। उभयमपि चेदं निगमे श्रूयते।	'आदित्यो दक्ष इत्याहुः' देवता सतत्त्वविदः। केन दर्शनेन? 'आदित्यमध्ये च स्तुतः'। 'इमा गिरः'। इत्युपक्रम्य ब्रवीति 'तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः' इति आदित्यमध्ये स्तुतेरादित्य एवासाविति।
२३	आदित्यो दक्षोऽदितिर्दाक्षायणीति। तद्यथा 'आदितेर्दक्षो अजायत' इत्युदाहरणम्।	यद्येवं नन्विदमपरं विरुध्यते यदैतिहासिका आहुः-'अदितिर्दाक्षायणी' इति। उभयमपि चैतन्निगमे श्रूयते आदित्यो दक्षो दाक्षायण्य-दितिरिति-तद्यथा 'आदितेर्दक्षो अजायत...'।

२५	समूदे समुदितवती संवादं कृतवतीत्यर्थः। एवमियमाख्यानपक्षे योजना। यदा तु माध्यमिकवाक् सरमा तदैवम्। अनावृष्ट्या पीडितो नदन्तं स्तनयित्नुमुपश्रुत्य सासूयं मन्त्रदृगाह। किमिच्छन्ती सरमा मध्यमस्थाना वाक्।	समूदे संवादं कृतवतीत्यर्थः। इत्याख्यानविद एवं मन्यन्ते। वाक्पक्षे तु चिरकालीनवृष्टिव्युपरमे कदाचिद्-भिनवमेधसं वे सहसैव स्तनयित्नुमुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका वाक् चिरेणागतेति विस्मितस्तामसूयन्निव ब्रवीति-'किमिच्छन्ती सरमा' इति।
२६	सरस्वती नदीवत् 'इमं मे गङ्गे' इत्यत्र व्याख्याता। देवतावद् व्याख्यायते। तथा च 'तत्र सरस्वतीत्येतस्य' इत्यादिनोत्कृष्टस्य देवतापदस्यायमवसरः।	सरस्वती व्याख्याता नदीवत् इति। तद्यद्देव-तावत्-इत्युक्तमिदं तत्।
२६	सरस्वती मध्यमस्थाना वाक्। धियावसुः धीरिति कर्मनाम। वस्विति धननाम...यस्याः सा कर्मधना प्रज्ञाधना वा।...	सरस्वती माध्यविका वाक्। धियावसुः कर्मधना।
२७	केतुशब्दऽपठितोऽपि कर्मनाम प्रज्ञानामैव वा।	केतुना स्वेन कर्मणा प्रज्ञया वा।
२७	यस्मात् माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते नैरुक्ताः।...	तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते नैरुक्ताः।
२८	अविचेतनानि अप्रज्ञातार्थानि स्तनयित्नुलक्षणानि शब्दरूपाणि।	अविचेतनानि अविज्ञातार्थानि शब्दरूपाणि स्तनयित्नुलक्षणानि।
२८	तस्यैषापरा। किमर्था? इयमेव माध्यमिका वाक् सर्वप्राण्यन्तर्गता धर्माधर्माभिवादिनी भवतीति विभूत्युपदर्शनार्था भवतीति।......	तस्या एषापरा भवति। सा पुनः किमर्थम्? इयमेव वाक् सर्वप्राण्यन्तर्गता माध्यमिकी सर्वार्थाभिवादिनीति भवतीति विभूत्युपप्रद-र्शनार्थम्
२९	अनुमतिः कस्मात्? अनुमननात्। अनुमता किलासौ देवैर्ऋषिभिश्च चतुदशके पक्षे।	अनुमतिः अनुमननात्। अनुमता किलेयमृषि-भिर्देवैश्चातुर्दशके पक्षे।
३०	वामदेवस्य। इत् पदपूरणः। अनुमन्यासै अनुमन्यस्व यदनुमन्तव्यम्। हे अनुमते त्वं शं (च) सुखं च नोऽस्माकं कृधि। इषमन्नं च तोकायापत्याय नोऽस्माकं स्वभूताय......... देहि। प्रतारिष इति सम्बन्धः। तरतिश्च वृद्ध्यर्थः। प्रवर्धय च नोऽस्माकमायूंषि। पञ्चदशके पक्षे राकेत्युच्यते पञ्चदशी प्रतिपद्वा। राका कस्मात्? रातेर्दानार्थस्य। दीयते हि तस्यां देवेभ्यो हविः।	अन्विदनुमत इति। वामदेवस्यार्षम्। देविकासु विनियोगः। हे अनुमते त्वम् अनुमन्यासै अनुमन्यस्व अस्माकं यदनुमन्तव्यं त्वया शं च नस्कृधि। सुखं चास्माकं कुरु। इषम् अन्नं चास्माकं तोकाय अपत्याय धेहि। आयूंषि च न प्रतारिषः प्रतीर्णानि कुर्वित्येतदाशास्महे। सैव पौर्णमासी पञ्चदशके पक्षे 'राका' इत्युच्यते। सा पुनः कस्मात्? रातेर्दानकर्मणः, हविर्दाननिमित्तं हि सा भवति।
३१	उक्थ्यम् वक्तव्या प्रशंसा यस्य तं वक्तव्य-प्रशंसमनुपक्षीणकीर्तिमित्यर्थः।	उक्थ्यम् वक्तव्यप्रशंसं च अपरिसमाप्तस्तुतिम्।

३१	सिनी चासौ वालिनी चेति सिनीवाली देवपत्नी।	सिनिनी च सा वालिनी चेति सिनीवाली।
३२	कुहूः कस्मात्? गूहतेर्धातोः गूढो ह्यदृश्य-श्चन्द्रमास्तत्र तत्र भवति। अतश्चन्द्रमसो गूहनाद्वर्णव्यापत्त्या कुहूः। क्वाभूदिति वा। तस्यामप्रत्यक्षत्वाद्वितर्क्यश्च-न्द्रमा भवति।	'कुहूः गूहतेः'। निगूहत्यसौ चन्द्रमसम्। क्वाभूदिति वा। तस्यामप्रत्यक्षत्वाद्वितर्क्यश्च-न्द्रमा भवति।
३३	अथवा तस्यै ते इति द्वे अपि चतुर्थ्यौ द्वितीयार्थे। हविषेति (तु) तृतीया स्वार्थ एव। तां त्वां हविषा विधेम परिचरेम।	तस्यै तुभ्यं हे देवि कुहु हविषा विधेम। दद्म इत्यर्थः। अथवा। त्वां हविषा परिचरेमेति।
३४	यमी यमं चकमे। तामसावनया प्रत्याचचक्षे। एवं संवादसूक्तशेषः। यदा नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थाना यमी तदा मध्यमस्थानो यमो वायुर्वैद्युतो वा वर्षकाले व्यतीते तामाह।	यमी किल यमं चकमे भ्रातरम्। तां किल यमोऽनयर्चा प्रत्याचचक्षे। त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचमुषसमात्मनः प्रविभक्तामिव कृत्वोभय-स्थानां तां ब्रवीति।
३५	उर्वशी व्याख्याता उरु अभ्यश्नुते इत्यादिना। तदिहापि यथासम्भवं योज्यं निर्वचनम्। उर्वशीपुरूरवसोः सम्वादे पुरूरवा मध्यस्थान ऐळोवा। नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थानः स्तनयित्नु-लक्षणाया वाचोऽधिष्ठात्री या देवता तामाह।	'उर्वशी व्याख्याता'।...तदिहापि देवतायां योज्यम्। 'उर्वभ्यश्नुते'। बहूदकं व्याप्नोति। मध्यमः पुरूरवाः त्रित्वपक्षे ब्रवीति।
३६	यदा त्वैतिहासिकपक्षस्तदा उर्वश्यप्सरा पुरूरवाश्चैळः। तस्याः सकाशादाहितगर्भाया यदा जनिष्टो जनिष्यते आयुर्नाम। नर्यो नृभ्यो हितः...नरापत्यमिति चेत्यैति-हासिकरक्षाभिप्रायः। पृथिवी व्याख्याता 'प्रथनात् पृथिवी' इति। इह तु मध्यमस्थानाभिधेया।	ऐतिहासिकपक्षे त्वैलः पुरूरवाः उर्वश्या अप्सरसा वियुक्तो ब्रवीति। मम नरस्यापत्यमायुर्नाम राजा यं पुराणविदः कथ्यन्ति। नर्यो नृभ्यो हितः पथ्यः सस्यसम्पत्करः 'नरापत्यमिति वा' इत्यैतिहासिकपक्षं द्योतयति। 'पृथिवी व्याख्याता'। 'अथ वै दर्शनेन पृथुः' इत्यत्र। इह तु माध्यमिका।
३७	बळिति सत्यनाम। इत्थाशब्दोऽमुत्रेत्यस्मिन्नर्थे। सत्यममुत्रान्तरिक्षे।	बल् इति सत्यस्य नाम इत्थेति अमुत्रेत्यर्थः।
३७	हे महिनि महो महत्वमुदकं वा प्रभूतं तेन तद्वति तदाह भाष्यकारः महतीत्युदकवती वेति।	हे महिनि महति। अथवा। उदकवति।
३७	इन्द्राणी माध्यमिका। इन्द्रस्य वा पत्नी।	'इन्द्राणी-इन्द्रस्य पत्नी'। इन्द्रस्य विभूतिः पृथक्त्वे वा निर्ज्ञाता पौराणिकैः।

३८	तमेतमिन्द्रमधिकृत्यैतद् ब्रूम- इत्याह भाष्यकारः तस्याः प्रकृताया एषापरा। किमर्थमिति चेत् उच्यते। नेह प्रसिद्धो वृषाकपिः ऋषिः। किन्तर्हि? द्युस्थानोऽभिप्रेतः। नैरुक्तानां तु तदुपप्रदर्शनायेन्द्रो ब्रवीति।	तमेतम् इन्द्रमधकित्य ब्रूम-इत्यचार्यो ब्रवीति तस्या एषापरा भवति। सा पुनः किमर्थम्? ऋषिर्वृषाकपिः प्रसिद्धः। स पुनरादित्योऽभिप्रे- तो नैरुक्तानाम्। तदुपप्रदर्शनायापरामाह।
३९	अत्र नैरुक्तपक्षप्रदर्शनायोच्यते। किं योऽयमिति वृषाकपिरिति प्रसिद्धो मनुष्येषु। नेत्युच्यते। यस्येदमप्यं हविरिति। देवतायाश्च हविषा सम्बन्ध (इति) नैरुक्ताः। ऐतिहासिकपक्षे तु यस्य स्वभूतमिति स्वस्वामिसम्बन्धः प्रदर्शितः। तदेतद् ब्रूम इत्याह भाष्यकारः पूर्ववत्। गौरी मध्यमस्थाना स्तयित्नुलक्षणा वाग् विद्युद्वा। या दीप्त्या दीप्तत्वाद्रोचतेर्ज्वलति-कर्मण। इत्याह।	सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। य एष मम सखा वृषाकपिस्तस्मादृते। किं योऽयमृषिर्मनुष्येषु प्रसिद्धः। नेत्युच्यते। 'गौरीः रोचतेः' ज्वलत्यर्थस्य। माध्यमिका वाक्। सा पुनर्दीप्तिमती।
४०	मध्यमेन एकपदीत्युच्यते। द्विपदी द्वाभ्यां सहकारिकारणाभ्यां मध्यमेन चादित्येन द्विपदी। ...मध्यमैव गौरी न गुणयोगादन्या काचि-दित्यर्थः।...समुद्राः समुद्रः इत्यन्तरिक्षनाम। तात्स्थ्याच्च ताच्छब्द्यम्। समुद्रस्थाः समुन्दन-कारिणो वा मेघाः।	मध्यमेन सहैकत्वमापन्ना। द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च। गौरीति गुणाभिधानमप्रसिद्धाभिधेयं छन्दसि देवतायाम्। समुद्राः मेघाः।
४२	गौर्मध्यस्थाना वाक्। अमीमेदनु मीयतिः शब्दकर्मा अन्वमीमेत्। स्तनयित्नुलक्षणेन शब्देनानुशब्दयति। वत्सं रसहरणसामान्या-दात्मनो वत्सं वत्सभूतमादित्यम्।	गौः माध्यमिका वाक् पुत्रं अन्वमीमेत् अनुशब्दयति महद्भिः। स्तनयित्नुशब्दैः आदित्यम्।
४२	घर्मधुगिति याज्ञिकाः। अतस्तदभिप्रायेणान्यथा मन्त्रस्य योजना। गौर् घर्मधुक् सानुशब्दयति वत्सं मिषन्तं तामेव मातरं निरीक्षमाणम्। मूर्धानं चास्य जिघ्रतीति शेषः। हिङ्करोति मातवै ज्ञानायात्मनः। धेनुर्मध्यमस्थाना धयतेर्वा पानार्थास्य। पीयते हि सा तत्प्रवृत्तवृष्ट्युदकद्वारेण। धिनोतेर्वा प्रीणनार्थस्य प्रीणयति हि सा कृत्स्नं जगत्।	घर्मधुक्पक्षे-गौरेव गौः, अन्वमीमेत् अनुशब्द-यति वत्समेव वत्सं मिषन्तं तमेवोन्मुखं पश्यन्तम्। एवमपि च प्राप्य मूर्धानं अस्य उपघ्राय हिङ्ङित्येवं शब्दं करोति। धेनुः धयतेर्वा। धीयतेऽसौ वत्सेनेति। 'धिनोतेर्वा'। तर्पयत्यसावुदकेन पयसा वा।
४३	घर्मधुक्पक्षे पयो यजुर्भिः साविषत् (अभि) सुवतु अभ्यनुजानातु संश्रयमाणं पयो यजुष्मदिति संस्कारेण यजुषा तद्वत्। सुप्रब्रवीमीति पाठः।	घर्मधुक्पक्षे.....श्रेष्ठम् अतिशयेन प्रशस्यमेतं सवम् एतत् यजुष्मतपयः साविषत् सुनोतु अभ्यनुजानातु सविता। यद्धि सवित्रा प्रसूतं क्रियते तदेव साधु

	अघ्न्या मध्यमस्थाना। कस्मात्? अघघ्नी अघस्य दुर्भिक्षादेर्हन्त्री। अहन्तव्या वा घर्मधुक्पक्षे स्पर्शनेनाघस्य पापस्य हन्त्री।	भवति। अघ्न्या कस्मात्। सा हि सर्वस्यैव 'अहन्त-व्या भवति'। 'अघघ्नीति वा'। सा हि पापं हन्ति यदि वाग्यदि गौः।
४४	भगवती भगं धनं तेनैव रशम्युपहतेनोदकाख्येन धनेन धनवती। हिशब्दः पदपूर्णः भूया भव। अथोऽनन्तरं तेनैव त्वत्प्रवृत्तेन धनेन वयमपि भगवन्तो धनवन्तः। स्याम भवेम।	भगवती धनवती उदकेनोदकवती भव। अथ इदानीमेव त्वयि भगवत्यां वयमपि त्वदुत्सृष्टेनोदकेन भगवन्तो धनवन्तः स्याम।
४४	तस्या एषापरा वसुसम्बन्धत्वान्माध्यमिकत्व-प्रदर्शनार्था। हिङ् इत्येव रूपं स्तनयित्नुलक्षणं कुर्वती। वसुपत्नी वसु धनं वृष्ट्युदकाख्यं तस्याधिपतिभूता।	'तस्या एषापरा भवति' सा पुनः किमर्थम्? रूपतो हि पूर्वस्मिन् मन्त्रे घर्मधुक् सुतरामु- पपद्यते यतः परया वसुभिर्देवैः सम्बन्धान्मा-ध्यमिकैव देवतेत्युपपादयति। हिङ् इत्येव प्रकारं शब्दं स्तनयित्नुं कुर्वती वसुपत्नी वसूनामुदकानामीश्वरा।
४५	पथ्या स्वस्तिः प्रकरणान्मध्यमस्थाना। तन्निवासात्। पथ्यन्तरिक्षे भवा पथ्या स्वस्ति-शब्दोऽप्युक्तनिर्वचनः। प्रायणीयायां 'पथ्यां स्वस्ति प्रथमां प्रायणीये यजति' इति यथा दृष्टे द्वे पदे एवं समाम्नाते।	'पथ्या स्वस्तिः' इति वक्तव्यम्। अत्र पूर्वपदं पन्था अन्तरिक्षम्। तन्निवासात् पथ्या स्वस्तिरित्युक्तं निर्वचनम्। यथा प्रायणीयायां यजतिप्रयोगो दृष्टस्तथा समाम्नातः 'पथ्यां स्वस्तिं पूर्वां यजति' इति।
४६	देवगोपा देवी चासौ गोप्त्री च देवानां सा गोप्त्री च। देवा वा गोप्तारो यस्या इत्येवमाशास्यते या सा देवगोपा।	देवगोपा देवी चासौ गोप्त्री चेति देवगोपा। देवान् दातॄनस्मान् गोपायत्विति वा। हविषो गोपायतु। अथवा। देवा माध्यमिका द्युस्थाना वा रश्मय एनां गोपायन्त्विति वा।
४७	अनसः अनितेरनो वायुस्तस्मात्। अथवा अनः शकटम्...अनस इव यथा कश्चिदनस शकटात् स्तेनादिना संपिष्टात् संपिष्यमाणादित्यर्थः। शाकटिकोऽपसर्पेत् तद्वत्। तस्या एषापरा। किमर्था? उत्तमाप्युषा आदित्यसंश्रया। इयं तु मध्यमा मेघसंश्रया इति प्रदर्शनायाह।	अनसो वायोः। 'अनो वायुरनितेः' धातोः प्राणनार्थस्य। अपि वोपमार्थे स्यात्। अनस इव शकटात् यथा शाकटिकः शकटात्केनचित् संपिष्यमाणा-दपसर्पेदेवं वायुना संपिष्यमाणान्मेघाद-पासरदुषा इति द्वितीया कल्पना। 'तस्या एषापरा भवति'। सा पुनः किमर्थम्। उत्तमापि ह्युषा आदित्यसंश्रयाद्भवति। इयं तु मध्यमा मेघसंश्रया वायोरेव संस्तवादिति मध्यमास्वभावप्रायोवृत्त्युपप्रदर्शनार्थम्।
४८	एतदिति वृष्ट्युदकं भूमिगतं प्रदर्शयन्नाह। अस्या उषस आधाराधेयसम्बन्धेन सम्बन्धि। अनः शकटं मेघाख्यम्।	विशीर्णमुदकभावेन पृथिवीं संक्लेद्य अवस्थितं दर्शयन् ब्रवीति मेघम्। एतदस्याः उषसः अनो मेघाख्यमाश्रयभूतम्।

४९	यूथस्य माता गजादेः पशुजातस्य यत्किंचिद् यूथं तस्य सर्वस्य मातृभूता। मेघयूथस्य वा निर्मात्री।	यूथस्य माता मेघयूथस्य निर्मात्री मध्यमा।
४९	रोदसी मध्यमस्थानस्यैव रुद्रस्य पत्नी।	रोदसी रुद्रस्य पत्नी', रुद्रस्य विभूतिः।
५०	श्यावाश्वस्य। रंहतेर्गतिकर्मणो रथस्तं मेघम्। नु क्षिप्रम्। मारुतं मरुतां सम्बन्धिनम्। तेन सम्बन्धेन घनकलकललक्षणेन वयं श्रवस्युं श्रवणीयम्। आहुवामहे..........आह्वयामहे।	श्यावाश्वस्यार्षम्। अग्निमारुते विनियोगः। स्तोता ब्रवीति। नु क्षिप्रं वयं रथम् आहुवामहे आह्वयामहे मारुतं मरुत्संयुक्तं श्रवस्युं श्रवणीयं यशस्विनम्।
अ. १२ १	अथातो द्युस्थाना देवता मध्यमस्थानानन्तरं समाम्नायक्रमेण लिङ्गवचनविभागेन व्याख्या-यन्त इति शेषः। तत्काले मध्यमस्थानस्य हीयमानरूपत्वाद् द्युस्थानस्य च प्रतिक्षणमुपचीयमानरूपत्वात्। तदनन्तरं क्रमेणोपचीयमानप्रकाशद्युस्थान-देवतारूपा...ज्योतीरूपोत्तमाश्व्यनुरोधेन च द्युस्थान एव (वा)।	व्याख्याता मध्यस्थाना देवताः सवचनलिङ्ग-विशेषाः। अधुना तेनैव समाम्नायानुक्रमेण द्युस्थाना व्याख्येयाः। सत्यप्यवियोगे प्राथम्यात् प्रथमस्य समाम्नानं युक्तमिति चेन्न तत्कालेन मध्यस्थानस्य हीय-मानरूपत्वाद् द्युस्थानस्य च वर्धमानरूपत्वात् अतोऽनन्तरं च द्युस्थानदेवता रूपान्तरसंस्था-नादिति।
१	अश्विनौ कस्मात? यस्मादश्नुवाते व्याप्नुतः कृत्स्नं जगत्। (केन) रसेनावश्यायरसेनैको मध्यमः तेजसाऽन्य उत्तमः। अश्वैस्तद्वन्ता-वित्यौर्णवाभो मन्यत इति शेषः।	'अश्विनौ कस्मात्? 'यद्यश्नुवाते सर्वम्'। केन। रसेनान्यः। रसेनोदकेन सर्वम् व्यश्नुते व्याप्नोति। ज्योतिषैकः। अश्वैरश्विनावित्यौर्ण-वाभः। अश्वैस्तद्वन्तौ तावित्यौर्णवाभ आचार्यो मन्यते।
१	तत्कावश्विनाविति। तदिति वाक्योपन्यासे। किं पश्ने। द्यावापृथिव्यावश्विनावित्येके आचार्या मन्यन्ते। विज्ञायते हि-तौ यौ प्रत्यक्षावश्विनाविमे एव ते द्यावापृथिव्यौ'। द्यौर्ज्योतिषा व्यश्नुते पृथिवी रसेनान्नलक्षणेन। तत्र च कालेऽनुतमो भागो हि ज्योतिषा मध्यमः। ज्योतिर्भागमेवानुगतस्तमसा उत्तम आदित्योऽश्विशब्दवाच्यः।	'तत्कौ अश्विनौ' इति विचारः। तदिति वाक्योपादाने। कावेतावश्निनाविति विचारार्थः प्रश्नः। 'द्यावापृथिव्यावित्येके'। विज्ञायते हि-'तौ यौ प्रत्यक्षदैवतमश्विनाविमे एव द्यावापृथिव्यौ' इति। द्यौर्ज्योतिषा व्याप्नोति पृथिव्यन्नेन। तत्र यत्तमोऽनुप्रविष्टं ज्योतिषि तद्भागो मध्यमस्य रूपम्। यज्ज्योतिस्तमस्यनु प्रविष्टः तद्भागं तद्रूपम् 'आदित्यः'।
२	आगच्छन्तावश्विनावदृष्ट्वा आगतौ च सहसैव दृष्ट्वा वामदेव एवमाह। तयोरेतस्यामृच्युपवर्णितयोरूर्ध्वमर्धरात्रादित्येवं समानकालयोः। तञ्च व्यभिचारं दर्शयति असंस्तवेनेति-पृथक्स्तवेनेत्यर्थः। एष वक्ष्माणोऽर्धर्चः। तस्य च पूर्वस्मिन् मन्त्रे वसातयो रात्रयो न जनपदाः। अश्विनौ	उपजातदेवतादर्शनचक्षुरतीतेषु रात्रिपर्यायेषु सन्धौ प्राप्ते सहसैवाश्विनौ दृष्ट्वा मन्त्रदृग्ब्रवीति।.. 'तयोः' अश्विनो समानकालयोः। उभयोरपि हि तयोरूर्ध्वमर्धरात्रात्काल इति समानकालः। नन्वस्यामृचि वसातिषु स्म चरथ इति वसातयो हि जनपदा अपि प्रसिद्धाः। तदधिपती राजानौ पुण्यकृतौ अश्वैस्तद्वन्ताविति शक्यते कल्पयितुम्।...मा भूदेषा

	च मध्यमोत्तमौ न राजानौ पुण्यकृताविति। अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थम–स्यार्धर्चस्योपादानम्।	मन्त्रार्थयोजनेत्यत आह। 'वासात्यो अन्य उच्यते.....' इति।
२	वसाते रात्रेः पुत्रोऽन्य एक उच्यते जनैर्मध्यमः। उषसः पुत्रोऽन्य उत्तमः। तदनन्तरं जन्मत्वात्। पृथक्स्तुतित्वं च। एकैकस्याभिजन-सम्बन्धप्रदर्शनात्। उषसः पुत्रत्वेन सूर्येण सह समानख्यानाद् (वासात्यस्य) असंशसं मध्यमो वासात्यो रात्रेः पुत्रः (निश्चितः)। तयोरेषापरा भवति। मध्यमोत्तमावश्विनावित्यस्यैव द्रढिम्नः कारणं संस्तवप्रदर्शनाय च। इहेहेति वीप्साद्विवचनेनान्तरिक्षे द्यौश्च निर्दिश्यते इह चान्तरिक्षे इह च दिवि। जाता जातौ भवन्तौ। समवावशीतां सम्यगत्यर्थं पुनः पुनर्वावशेते (शस्येते) स्तूयेत इत्यर्थः।	एको वासात्य उच्यते एकश्च उषसः पुत्र इति। एवमेतस्मिन भिन्नस्तुतावर्धर्चे उषसः पुत्रेण सूर्येण सह समानख्यानादसंशयं मध्यमो बासात्यो रात्रेः पुत्र इति। 'तयोरेषापरा भवति'। सा पुनः किमर्थम्। मध्मोत्तमावश्विनावित्यस्यैवार्थस्य दृढतायै स्फुटं यदेतस्यामेतत्परस्यामृचि। हे अश्विनौ युवामुच्येथे। इहेहं जातौ इहं च मध्यस्थाने इह च द्युस्थाने जातौ समवावशीतां संस्तूयेथे।
२	तयोरेषापरा संस्तुतप्रायं दर्शयितुम्। तयोरेवैषापरा प्रातरेवानयोर्यागोपीति प्रायमेव दर्शयितुम्।	'तयोरेषापरा भवति'। सा पुनः किमर्थम्। संस्तुतप्रायावेतौ समानकालौ समानकर्माणा–वित्युक्तं तदुपप्रदर्शनार्थम्। 'तयोरेषापरा भवति'। सा पुनः किमर्थम्। नैवानयोरन्यस्मिन् काले इज्यास्ति। यद्यपि क्रियेतानिज्यैव सेति सुतरां परया संस्तवं कालं चोपप्रदर्शयति।
५	तयोः कालः प्रागुक्तः। ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्र-काशीभावस्यानुविष्टम्भमिति। सम्प्रति तु परावधिप्रदर्शनाय तयोः स्तुतिकाल ऊर्ध्वमर्धरात्राद्यः सूर्योदयपर्यन्तो द्रष्टव्यः। उदितो यागकालः। यथोक्तं 'उषाः कस्मात् उच्छतीति सत्याः' इति द्युस्थानाया विकल्पः।	'तयो कालः सूर्योदयपर्यन्तः'। 'प्रका-शीभावस्यानुविष्टम्भम्'। इत्यतः कालात्प्रभृति-सूर्योदयपर्यन्तस्तयोः कालः। ततः परं यागकालः। यद्योक्तम् 'उच्छतीति सत्याः' इति तद्वेदं विकल्पेन द्युस्थानायाः।
५	तदाह उच्छतेरितरेति। सा ह्युदकानि विवासयति विवास्यते वा मेघान्मध्यमेन।	किं तर्हि 'उच्यते' एव सा विवासनार्थस्य। उदकानि विवासयति विवास्यते वा मघान् मध्यमेनेति।
६	तस्या एषापरा उत्तमसम्बन्धलिङ्गप्रदर्शनार्था।	'तस्मा एषापरा भवति' सा पुनः किमर्थम्? पूर्वस्यामृचि चित्रं धनमाहरेत्युक्तम्। तद्य पुनरुभयोरप्युषसोरविशिष्टम्। विशिष्टं तु परस्यामुत्तमलिङ्गं–'पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते' इति। अतः परोदाह्रियते।

७	एकस्या एवोषसः पूजार्थं बहुवचनम्। भवन्तो मे गुरव इति यथा। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने। संस्कुर्वाणा आयुधानीव धृष्णवो यथा भस्मगोमयपरिमा-र्जनादिभिः संस्कारैः संस्कुर्वन्ति आयुधानि योद्धारो दीप्तिमन्ति कुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः। उपसर्गव्यत्ययस्य मन्त्रान्तरेऽप्यर्थं दर्शयि-तुमाह- 'एमीदेषां निष्कृतम्'.... इति।	'एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनम्' इति वचनभेदप्रतिसमाधानम्। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने सामर्थ्याद् व्यत्ययः संस्क्रियमाणानि ह्यायुधान्यतिनि-र्मलानि भवन्ति। यथा चोपपद्यते उपसर्गव्यत्ययस्तथा निगममुदाजहार। 'एमीदेषाम्' इति।
७	कवषस्य वाक्षस्य वार्षम्। जारिणीव यथा जारि (णी स्त्री) चारित्ररक्षा-संकल्पं परित्यज्य स्त्री संकेतस्थानं प्रतिय-न्तीति। सूर्या। एषैवोषा सूर्या सम्पद्यते आदित्योदयकालं प्रत्यभिसृतकालतमा।	कवषस्य वाक्षस्य वार्षम्। जारिणीव व्यभिचारिणीव काचित्स्त्री चारित्र-मात्मनोऽविगणय्येति। 'सूर्या'...यथा सूर्यस्योदयकालं प्रत्यभिसृष्ट-तमा भवति गततमा भवति तथा तथा सैषा उषाः सूर्या सम्पद्यते।
८	अथवा शल्मलिमिति प्रसिद्धो वृक्षविशेष एवोच्यते। तद्विशेषणं सुकिंशुकमिति। लुप्तोपमं चैतत्। किंशुकमिति यद्यपि पलाशकुसुमं प्रसिद्धं तथापीह लोहितत्वसामान्यात् पुष्पत्वसामान्याच्च किंशुकशब्देन शाल्मलिपुष्पमुच्यते। सुपुष्पित-मिव शाल्मलिं लोहितायमानमित्यर्थः।	'अपि वोपमार्थे स्यात्। सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति'। किंशुकमिति पलाशपुष्पे प्रसिद्धिः। इह तु रक्तपुष्पत्वसामान्यात् सुपुष्पितमिव शल्मलिमिति सामर्थ्यात्। तेनोपमानयोग आदित्यस्य पुष्टतर इति किंशुकशब्दः पुष्पिते शल्मलौ गौण इति भाष्यकाराभिप्रायः।
८	किंशुकं क्रंशतेरिति। क्रंशतिर्नैरुक्तधातुः प्रकाशनार्थः। नैरुक्तपक्षे च सविता सुषुम्नाख्यः सूर्यरश्मि-स्तत्कृतां ज्योत्स्नां दुहितृभूतां सोमाय राज्ञे प्रायच्छत्। यदा प्रजापतये तदा मध्यमा योषा उदकप्रत्यन्नो न दीयत इति योजयन्ति केचित्। वृषाकपायी वृषाकपेरादित्यस्य पत्नी। एषैव सूर्या। अभिसृष्टकालतमा अरुणोदयावस्था उषः प्रभैव सूर्यावस्थाना अभिसृष्टकालतमा पूर्ववद्वृ-षाकपाय्युच्यते। सुपुत्रे मध्यममस्याः पुत्रमाह साहचर्याद्रस-हरणाद्वा माध्यमिकां च स्नुषां ताभ्यां सुपुत्रे सुस्नुषे च।	'किंशुकं क्रंशतेः' धातोः प्रकाशनार्थस्य। तद्धि दीप्तिमद्भवति। 'सविता सूर्यां प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वेति च ब्राह्मणम्'। नैरुक्तपक्षे ज्योत्स्नां सोमाय ददाति। उषसं वा मध्यस्थानाय प्रजापतये ददाति। केचित्त्वैतिहासकपक्षे इच्छन्ति। 'वृषाकपायी-वृषाकपेः पत्नी'। वृषाकपि-रादित्यः। तस्य पत्नी तद्विभूतिः उषःकाले यद-वश्यायान् वर्षति कम्पयति च तद्गुणयोगात्। सा पुनः एषैव सूर्या 'अभिसृष्टकालतमा' वृषाकपायीत्युच्यते। सुपुत्रे...इन्द्रेण रसहरणसामान्यात्सहस्थान-सामान्यात्। सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा मिथुनसामान्यात्।
९	स्नुषा कस्मात्? साधुसादिनी (इति) वा साधौ शोभनेऽर्थे श्वशुरस्य सन्तानलक्षणे परिच-र्यालक्षणे वा	'स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसानिनीति वा'। सन्तानलक्षणे सीदति अङ्गभावमुपैति स्नुषा। साधु

	सीदत्येवंशीला। साधुसानिनीति वा (तां वा) संभजत एवंशीला। (स्वपत्यं सन्त-नोति वा) अथवा स्नुशब्दो (अपि) अपत्यनाम तत्सनोति। यं प्रति स्नुषाव्यपदेशस्तस्यापत्य संभजत इति।	सनोति संततिं संभजतीति वा स्नुषा। 'स्वपत्यं तत्सनोतीति। वा'-सु इत्य-पत्यनाम प्रसूयते हि तदिति। तदियं श्वशुरस्य सनोति संभजतीति वा स्नुषा।
	उक्षा उक्षतेर्वृद्ध्यर्थस्य। वर्धयन्ति हि त ओषधीरवश्यायाः। अत एव वा बहुत्वाद् वृद्धा भवन्ति। स्वार्थ एव वा उक्षन्ति सिञ्चन्ति सर्वमधोभागवत्युदकेनेति।	उक्षणः उक्षतेः वृद्ध्यर्थस्य। वर्धयन्ति हि ओषधीरवश्यायाः। त एव वा बहुत्वाद्वृद्धा भवन्ति। उक्षतेर्वा सेचनार्थस्य। 'उदकेन' ह्यवश्यायाः सर्वमिदं सिञ्चन्ति।
९	सरण्यूः। सैव यदा सूर्यं प्रत्यात्मानं सरणेन नयति तदोष प्रभारुणोदयावस्थाभिसृतकालतमा सरण्युरुच्यते।	'सरण्यूः' इति वक्तव्यम्। सैव यदा सूर्यं प्रति अविभागेन प्रसृता भवति तदा 'सरणात्' सरण्यूरित्युच्यते।
	द्वा मिथुना द्वौ मिथुनौ स्त्रीपुंसौ मध्यमंच तमोभागं तदन्तर्गतां च माध्यमिकां वाचं तच्च तदासीद् वृषाकपाय्या रक्तं रूपं तेन रूपेण सह त्रितयमपीत्यर्थः।	द्वा द्वौ मिथुना मिथुनौ सरण्यूः। 'मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्तः।' यदा हि सरण्यूरादित्यस्य सकाशं मण्डलमनुप्रविष्टा भवत्यविभागेन तदोदिते आदित्ये विच्छिद्यते
	ऐतिहासिकपक्षे (तु) सरण्यूर्नाम त्वष्टुर्दुहिता। तां देवतारूपत्वादमृताममरणधर्माणं मर्त्येभ्यः सर्व-	मध्यमस्य माध्यमिकायाश्च वाचः काल इत्येष तयोस्त्यागः। 'यमं च यमीं चेत्यैतिहासिका।'... तां त्वाष्ट्रीं सरण्यूमश्वां कृत्वा तथा सत्यश्विनो-
१०	मनुष्येभ्यो (देवा) अपागूहन् नाशितवन्त इत्यर्थः।	र्जन्म भविष्यं पश्यन्तो लोकहिताय अमृताम् अमरणधर्मिणीं देवीमपागूहन् अन्तर्हितां चक्रुः मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्यः।
१०	विवस्वत एव सकाशाद् द्वौ मिथुनौ स्वपुत्रौ यमं च यमीं च सरण्यू इति। इतिहास-दर्शनाभिवादिन्येषा ऋग्भवति।	द्वावन्यौ मिथुनौ यमं च यमीं चेति विवस्वतः सकाशादजहात् हित्वा ननाशेति 'तत्रेति-हासमाचक्षते'। ऋजुरितिहासाथः।
११	त्वष्टा देवः। दुहित्रे षष्ठ्यर्थे चतुर्थी स्वस्या दुहितुः सरण्यूनाम्न्याः। वहतुं वहनं विवाहं कृणोति करोतीति। एतेन कारणेन संपरि-हाणारार्थम्।	त्वष्टा देवो विश्वकर्मा यं पुराणविदो वदन्ति स दुहितुः वहतुं वहनं विवाहं करोतीति।
	नैरुक्तपक्षे त्वस्यामृचि त्वष्टा मध्यमस्तमोभाग-स्तस्य दुहिता उषाः तेन रात्रिरूपेण स्वैरुदये	नैरुक्तपक्षे तु त्वष्टा मध्यमस्तमोभागस्योषसो दुहितुः दूरे हितायः प्रकाशरूपायाः वहतुं
११	जन्यमानत्वात्तस्या वहनं प्रापणमनुप्रवेश आदित्ये तं स मध्यमस्त्वष्टा रात्रिरूप आत्मा-पगमनेन करोति। रात्रिरादित्यस्येति च रात्रिशब्देन रात्रेरेक-देशत्वादुषा एवोच्यते सम्बन्धत्वात्। सा च देवधर्मेणादित्यस्य माता।	वहनं विवस्वतः करोति। संक्षेपतो भाष्यकारोऽर्थं निराह-'रात्रि-रादित्यस्य' उषा जाया। सा 'आदित्य-स्योदयेऽन्तरर्धीयते।

१२	द्यौरेव न भूमिः। आविर्भूतप्रकाशा उदेष्यतादित्येन कीर्णा रश्मयो यस्या एवमस्थः।	यदा यस्मिन् काले द्यौरेवापहततमस्का भवति न पृथिवी। पृथिव्यां तमो भवति। दिव्यपहते तमसि विक्षिप्ता अस्यां रश्मयो भवन्ति। स सावित्रः कालः।
१३	यान्यनेन संगच्छता तमसा पिहितान्यनुपलभ्यमानत्वादगृहीतानि विश्वा तानि विश्वाणि सर्वाणि रूपाणि घटपटस्तम्भादीनि प्रतिमुञ्चते मनाक् क्रमापनयेनोपलभन् प्रतिमुञ्चतीव। विनाकमख्यदिति सवितुः कालोपलक्षणार्थं मन्त्रलिङ्गम्। तत्पशुगुणसामान्येन समर्थयन्नाह–'अधो रामः' इत्यादि ब्राह्मणम्।	विश्वानि सर्वाणि रूपाणि रूपवत्सु अर्थेषु प्रतिमुञ्चते आबध्नाति तमोऽपघ्नन् रूपाण्याविः–कुर्वन्। 'वि नाकमख्यत्' इति सवितुः कालोपलक्षकं मन्त्रलिङ्गं तत्पशुगुणसामान्येन समर्थयन्नाह– 'अधोरामः सावित्रः' इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते।
१३	तद्वेलायां तस्यां वेलायामधस्तम उपरिष्टाज्ज्योतिर्विकीर्णरश्मित्वात्। एतस्माद्देवतागुणसामान्यात्पशुरपि सावित्रस्तद्रूप एवाधोराम इति।	उपरिष्टाच्च ज्योतिः। शुक्लं तदा दिवि भवति कीर्णरश्मित्वात्तस्याः। अधस्तात्तु भूम्यां तदा तमो भवति। एतस्मात् कालदेवतागुणसामान्यात् पशुरपि तथारूप एव भवति सावित्रः।
१३	कृकवाकुशब्दस्य पूर्वं कृक इत्येतत् तच्छब्दानुकरणनिमित्तम्, वचेरुत्तरम्। कृक इत्येवं ह्यसौ ब्रवीतीति कृकवाकुः।	कृकवाकुशब्दस्य पूर्वपदं शब्दानुकरणम्। 'कृकः' इत्येवमसौ शब्दं करोति। 'वचेरुत्तरम्' वाकुरित्येतत्। कृक इत्येवं वक्तीति कृकवाकुः।
१४	ज्योतिर्भग (उच्यते) इत्यस्यैवार्थस्य द्रढिम्नः कारणमाह। 'अन्धो भग इत्याहु' र्ब्रह्मवादिनः। तत्कथम्? नास्मिन् द्रष्टॄणां धान्यदर्शनमस्तीत्यर्थः। अननत्सृप्तः सूर्याभाव–मनागतो मण्डलाकारतया न दृश्यत इत्यर्थः। अथवा प्राशित्रस्येक्षणभक्षणादीनि मन्त्रवन्ति कर्तव्यानीति। अस्य विधेः स्तुतिपरेऽर्थवादे तद्गाय परिजहुः। तस्य 'अस्याक्षिणी निर्जघान' इत्यादौ भगस्य सिद्धमन्धत्व–मैतिहासिकपक्षे तत्तु मन्दप्रयोजनम्।	आह। 'अन्धो भगः इत्याहुः'। तस्य कोऽर्थ इति। उच्यते। स हि सूर्यभावम् 'अनुत्सृप्तो न दृश्यते'। नास्मिन् द्रष्टृम् .ध्यानं दर्शन–मस्तीत्यन्धः। न पुनरसावेव न पश्यतीति। 'प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान' इति च इत्यैतिहासिकपक्षाभिप्रायोऽयमर्थवादः प्राशि–त्रस्य भागस्यानन्वीक्षणस्तुत्यर्थम्।
१४	सूर्यो वाच्यः। स पुनः सर्त्तेः प्रागवस्थातः सरणात्। सुवतेर्वा सुकर्मसु जगतः प्रेरणात्। स्वीर्यतेर्वा वायुना ह्ययं सुष्ठु सर्वदैवोदयास्तमयौ प्रतीर्यतेऽतः सूर्यः।	'सूर्यः' इति वक्तव्यम्। स पुनरयं भगकालात सृतः सूर्यो भवति। सर्तेर्वा सूर्यः। 'सुवतेर्वा' प्रसवार्थस्य, स एव हीदं सर्वं प्रसुवति जनयतीत्यर्थः। स्वीर्यतेर्वा.....वायुना ह्ययं सुष्ठु ईर्यते।
१५	केतवः केतुरिति प्रज्ञानम्। प्रज्ञानसतत्वाः।...अश्वैरपि प्रज्ञानसतत्वैः (एव) भवितव्यम्। अथवा केतवो रश्मयः।	केतवः रश्मयः अश्वा वा।

१५	सौर्ये सूक्ते जातवेदस्पदसन्निधानशङ्का-व्यावृत्यर्थमाह कमन्यमिति। परा च यत्र जातवेदश्शब्दो (अपि) नास्ति।	जातवेदसं सूर्यमिति श्रवणात्संदेहः, किमियं जातवेदस्युत सौरीति। परा त्वसंशयमेव सौरीति परा निजगाद।
१६	चित्रं प्रातर्मध्यन्दिनापराह्लेषु नानारूपत्वाच्चित्रं चायनीयं वा पूज्यं ज्योतिः।	चित्रं चायनीयं पूजनीयम्।
१६	तथा च विज्ञायते रहस्यब्राह्मणे सर्वानु-प्रवेशित्वम्-'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थु-षश्चेत्येतदुहैवोपेक्षेत' इति। चक्षुर्मित्रादीनामित्यत्रापि विज्ञायते-'असावा-दित्यो देवानां चक्षुः' इति। (अनन्तरं) पूषा वक्तव्यः। स कस्मात्? यद्रष्मिपोषं पुष्यति। यद्यदा रश्मिभिः परिविष्टो भवति तदा पूषा भवति।	विज्ञायते हि रहस्यब्राह्मणे-'य एष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इति। एतदिहैवोपेक्ष्य-मिति। भेदपक्षे तु मित्रप्रभृतीनामेतच्चक्षुरिति। याज्ञकिक्षे चक्षुषा ते पश्यन्तीति। तत्रापि विज्ञायते हि। 'एष वै विश्वेषां देवानां चक्षुः' इति। 'अथ यत्' यदा 'रश्मिपोषम्' आपूर्णस्तेजसा रश्मीन् सूर्यः 'पुष्यति' बिभर्त्ति 'तत्' तदैव 'पूषा' भवति।
१७	शुक्रशब्दोऽत्र शुक्लपर्यायः शुक्लं ते तव। अन्यदेकम्। किं पुनस्तत्? सामर्थ्याद्रूपम्। यजतं ते अन्यत्। यजतशब्दोऽत्र शुक्लप्रति-योगत्वाल्लोहितपर्यायः। लोहितं ते अन्यदपरं रूपम्।	हे पूषन्! शुक्रमन्यत् तव रूपम्, यल्लोहितमन्यत्तव रूपम्। शुक्लेन व्यपदेशात्सामर्थ्याल्लोहितादि। यजतं यज्ञियं यज्ञार्हमन्यत्।
१८	'इयं वै पूषा' इति पृथिवीतो व्यच्छेदाय पथि रक्षितृत्वाधिकारप्रदर्शनाय वा पूष्णः परा च।	पथि रक्षितृत्वे पूष्णोऽधिकारः। तत्परि-प्रख्यापनार्थम्। अथवा 'इयं वै पूषा' इति विज्ञायते। तद्व्युदासार्थम्।
१८	अभ्यानट् अभिव्याप्नोति स्तौतीत्यर्थः। चन्द्राग्राः चन्द्रं चन्दतेः क्रान्तिकर्मणः। कान्तं प्रियमग्रं यासां ताश्चन्द्राग्राः। आयत्यामपि हि तानि धनानीत्यर्थः। अनन्तरं विष्णुर्वक्तव्यः स किमवस्थः? यद्विषितो भवति यदा विविधं सितो रश्मिभि-र्व्याप्त इत्यर्थः।	अभ्यानट् स्तुत्या कामप्राप्त्यर्थमभिव्याप्नोति... शुरुधश्चन्द्राग्राः। शुचं संरुन्धन्ति यानि धनानि चायनीयाग्राणि अभिपूजितागमानि। अथ यत् यदा 'विषितो' व्याप्तोऽयमेव सूर्यो रश्मिभिः भवति तदा विष्णुः भवति।
१८	विष्णुः कस्मात्? विशतेस्तीव्ररश्मिद्वारेण सर्वत्र व्यावेशात्। व्यश्नोतेर्वा विश्वं रश्मिभिर्व्यश्नुत इति। स्थानभेदप्रकारेण त्रिप्रकारं निधत्ते पदम्। पृथिव्यामग्न्यात्मना। अन्तरिक्षे विद्युदात्मना। दिव्यादित्यात्मना। एतच्च शाकपूणिमतम्।	'विशतेर्वा' यदाविष्टः प्रविष्टः सर्वतो रश्मिभिर्भवति तदा विष्णुर्भवति। व्यश्नोतेर्वा। विपूर्वस्य वाश्नोतेः। यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वं तदा विष्णुरादित्यो भवति। त्रेधा निदधे पदं निधत्ते पदम्। निधानं पदैः क्व:? तत्र तावत् 'पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः'। पार्थिवोऽग्निर्भूत्वा पृथिव्यां यत्किञ्चिदस्ति तद्विक्रमते तदधितिष्ठति। अन्तरिक्षे विद्युदात्मना, दिवि सूर्यात्मना।

१९	अथवा त्रेधा निदधे पदमिति प्रातरुदयगिरौ। मध्यन्दिने मध्ये द्युलोकस्य। सायाह्नेऽस्तगिरौ।	'समारोहणे' उदयगिरावुद्यन् पदमेकं निधत्ते। 'विष्णुपदे' मध्यन्दिनेऽन्तरिक्षे। 'गयशि-रसि' अस्तं गिरौ। 'इत्यौर्णवाभः' आचार्य एवं मन्यते।
	पांसुरे पांसवो यस्मिन् स सन्ति पांसुरो रो मत्वर्थीयः।	'पांसुरे' इति रो मत्वर्थः।
१९	त्रेधा निदधे पदं यद्विद्युदात्मकस्य पदं तत्समूढं छन्नं नित्यं न दृश्यत इत्यर्थः। क्व? पांसुरे प्यायने वर्धने वान्तरिक्षे (इत्यभिप्रायः) लुप्तोपमो वा पांसुरशब्दः।	यथा पांसुले प्रदेशे पदं न्यस्त-मुत्क्षेपणसमनन्तरमेव पांसुरभिकीर्णत्वान्न दृश्यते, एवमस्य मध्यमं विद्युदात्मकं पदमाविष्कृतिसमकालमेव व्यवधीयते।
२०	इह तूत्तमोऽभिधेयः। तस्यैष निपात ऐन्द्र्यामृचि।	इह तु नियमतो द्युस्थानः। तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि।
२१	'आ त्वा रथम्' इति ऐन्द्रं सूक्तं प्रैयमेधसं तत्रेयमृक।	'आ त्वा रथं यथोतये' इत्येतस्मिन्नैन्द्रे सूक्ते प्रियमेधेन दृष्टे।
२२	भुरण्यतीति गतिकर्मा पठितश्चासौ न केवलं गत्यर्थः। किं तर्हि? शीघ्रकरणार्थोऽपीति। एतत्प्रतिपादनार्थं 'भुरण्युरिति शीघ्रशकु-निरुच्यते।	'भुरण्युरिति क्षिप्रनाम'। 'भुरण्युः' क्षिप्र-गामी 'शकुनिः'।
	अथवा योऽयं स्वर्गकामस्य सुपर्णनामा-ग्निश्चीयते सोऽत्र शकुनिशब्देनोच्यते। स हि	स पुनरयमेव योऽधियज्ञे अग्निश्चीयते। स सुपर्णः। विज्ञायते हि 'स्वर्गाय वै लोका-याग्नि श्चीयते' इति।
२२	स्वर्गकामस्य विधानात् क्षिप्रं यजमानं स्वर्गलोकमभिवहति।	हे भगवन् वरुण पावक पावयितः येन ख्यानेन दर्शनेन अनुग्राहकेण त्वं....अनुपश्यसि। किं तस्य दर्शनस्येति। अपरिसमाप्तं वाक्यमिति यद्वृत्तमपेक्ष्य तद्वृत्तमध्याजहार। तत्ते दर्शनम-नुग्राहकं वयं स्तुमः' इति वाक्यशेषः।....
	त्वं हे वरुण ज्योतिषा कृत्स्नस्य जगतः। आ परितः पश्यसि अनुगृह्णासि। येनेति यच्छ्रुतेः साकांक्षत्वात् तत्ते (ऽत्र) वयं स्तुम इति वाक्यशेषः।	
	अथवा येनेत्येतत् समानाधिकरणं तच्छब्द-मध्याहृत्य परयर्चैकवाक्यता योज्यते।	अपि चैवं यथोक्तमपि चैवमन्यथा स्यात्। कथमिति। यथोत्तरा ऋक्। तयाऽपि सहैक-वाक्यतोपेक्ष्या। कथमिति। यतः पुनः पठति।
२३	तेन वि द्यामेषि येन चक्षसा भुरण्यन्तं पश्यसि तेन पश्यन्निति सम्बन्धः।	येन हे पावक वरुण ख्यानेन जनां अनु भुरण्यन्तं पश्यसि तेनैव ख्यानेन तयैव ख्यात्या प्रज्ञया युक्तस्त्वं वि द्यामेषि विविधमेषि।
२४	अथवा तच्छब्दमात्राध्याहारेण पूर्वर्चैकवाक्यता योज्यते।	अपि वोत्तरस्यामेकवाक्यता स्यात्। 'अपि' 'तर्हि' 'पूर्वस्याम्' अप्युपेक्ष्या। कथमिति। यतः पठति।
२५	येन भुरण्यन्तं पश्यसि तेनास्मानपि मनुष्यान् पश्यसीत्येतस्यामेवैकस्यामेवैकवाक्यता।	हे पावक वरुण येन ख्यानेन ययैवानुग्राहक-प्रज्ञया जनाननु भुरण्यन्तं पश्यसि त्वं पुण्यकारिणः तेनैव ख्यानेन तयैवानु-ग्रहकारकबुद्ध्या अस्माकं जनानभिविपश्येति।

	अन्येषामपि मन्त्राणां साकांक्षत्वे सति प्रदर्शनं द्रष्टव्यम्।	एष साकाक्षाणां मन्त्राणामेकवाक्यताप्रकार उपप्रदर्शितः।
	केशी वाच्यः स पुनरिहादित्य एव नभसो मध्यमासीन एवमस्थ उच्यते। कथम्? केशा रश्मय इत्यादिनिरुक्तेस्तैः प्रकृष्टैस्तद्वान्।	'केशि' इनि वक्तव्यम्। अत्र केशा रुश्मयस्तैस्तद्वान्। आदित्यो यो मध्यन्दिने भवति। 'काशनाद्वा'। प्रकाशनादित्यर्थः। रश्मयोऽपि केशाः काशनादेव।
२६	इदमादित्याख्यं ज्योतिरुच्यते।	यत आह दर्शयन्नेवादित्यं केशीदं ज्योतिरुच्यत इति।
		विषमुदकं विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्य-र्थस्य।
	विष्णातेः शौचार्थस्य। तद्धि प्रथमं शौच-साधनम्। विपूर्वस्य सचतेर्वा। तद्धि स्नान-पानावगाहार्थिभिः सेव्यते।	विपूर्वस्य वा सचतेः। सर्वत्रः। ह्यति शयेन यत्सक्तमिति तदपि केशी।
	रजसा वृष्टिलक्षणेनोदकेन। वैद्युतो गूढो वायुरित्यपरे।	असावप्यमूर्तत्वादप्रकाशः सन् रजसोद्धूतेन प्रकाशतेऽसौ वायुरागच्छतीति। उदकेन च वैद्युतः।
२७	एकस्य वायोस्तृणपर्णधूल्यादिचालनेनानु-मानेनार्थापत्त्या वा ददृशे दृश्यत उपलभ्यते न रूपम्।	गतिरेकस्य रजसोद्धूतेन पार्थिवेनोदकेन वा दृश्यते न रूपं मध्यमस्य।
	अथ यद्रश्मिभिरुपसंहतप्रायभूताभिः प्रकम्प-यन्नेति गच्छति तत् तस्माद् वृषाकपीः।	यदा रश्मिभिः उपसंहतरैपसंपन्नैः भूतानि अभिप्रकम्पयन्नेति तदा 'वृषाकपिः भवति'।
२८	यमो निरुक्तः यच्छतीति सतः इति। इह त्वादित्योऽस्तमयावस्थः सन्नुच्यते।	यमो वक्तव्यः। स पुनः 'व्याख्यातो' निर्वचनतः। इह त्वादित्योऽभिधेयः।
२९	अहोरात्रादिजीवितकालातिगमनेन प्राणिनामायुषो व्रश्चनात् पुण्यकृद्भिर्वावृतः क्षयो निवासो यस्मिंस्तद्व्रश्चनाद् व्रतनिवासत्वाद्वा वृक्षशब्दे-नात्रादित्यमण्डलमुच्यते।	यस्मिन् वृक्षे आदित्ये। स हि स्वगत्या काल-मतिक्रामयन् सर्वभूतानामायूंषि क्षणयति। वृश्चतीति वृक्षः। वतः क्षयै वा। पुण्यकृद्भिर्वृतो निवास इत्यर्थः। 'वृक्षे इव सुपलाशे इति'-ऐतिहासिकपक्षे।
	अथवा लुप्तोपममेतत्। वृक्ष इव यथा वृक्षे सुपलाशे शोभनपर्णे।	
२९	अज एकपाद्वक्तव्यः। स च किलस्तमितावस्थ आदित्यः।	'अज एकपात्' इति वक्तव्यम्। स पुनरय-मादित्यो नित्यम्।
	विज्ञायते हि-'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' इति।	विज्ञायते हि-'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' इति।
२९	एकेनांशेनोदकं सर्वस्य जगतः पिबति।	एकेनांशेनोदकं सर्वस्माज्जगतः पिबत्यजनश्चे-त्यज एकपात्।
	अस्मिंश्च पक्षे निगमं दर्शयति 'एकं पादं नेत्खिदति.... इति।	'निगिमोऽपि हि भवति' एवास्मिन्नर्थे-'एकं पादं नोत्खिदति।
	हसं आदित्यः। हंससदृशो वा हन्ता वा तमसाम्।	आदित्यो हंसः महतस्तमसो वाध्वनो वा हन्ता।
३०	पावीरवी पविः शल्यः कण्वादिवलः यद् यस्माद् विपुनाति विभजति विपाटयतीत्यर्थः, भूमिं कायं वा।	पविः शल्यो भवति'। कस्मात्? 'यद्वि-पुनाति' विदारयति कायम्। तेन शल्येन 'तद्वत्

	तेन पविना तद्वत् काण्ड-भाल्लकाद्यायुधं पवीरं रोमत्वर्थ, तद्वानिन्द्रः स्वभूतेत्यर्थः। दिव्या वाक् माध्यमिकायाः स्तनयित्नुलक्षणाया अधिष्ठात्री।	पवीरमायुधम्'। रो मत्वर्थे। तेन शल्यवतायुधेन तद्वानिन्द्रः पवीरवान्। स इन्द्रो यस्या वाचो माध्यमिकाया देवता सा ऐन्द्री वाक् पावीरवी।
३०	पृथिवी वक्तव्या। सा तु प्रथनाततदिति निरुक्ता। इह तु विशेषण सम्बन्धाद् द्यौरवाभिधीयते। तस्या निपात ऐन्द्र्यामृचि अभिधेयत्वेन न स्तुत्येन। इह तु द्युस्थानोऽभिधेयः पावमान्यामृचि।	पृथिवी व्याख्याता। तस्या एष निपातो भवति' दिवः पृथिव्या 'ऐन्द्राग्न्यामृचि' न स्तुत्यत्वेन। किं तर्हि? नैघण्टुकत्वेन केवलम्। 'तस्यैषः समुद्रस्य निपातो भवति पावमान्यामृचि।
३२	पवित्रशब्देनात्र रश्मय उच्यन्ते। यदा उदकं मध्यमायामर्पयितुमन्तरिक्षप्राप्तैः पवित्रै रश्मि-भिस्तद्वन्त। के? सामर्थ्यान्मरुदादयो माध्यमि-का देवगणाः। एषां त्रयाणां देवतान्तरैः सह स्तुतिसाधारण्येन निपातो भवत्यन्यस्यां बहुदेवतायामृच्।	रश्मयः पवित्रवन्तः अमुष्मादादित्यमण्डलात् प्रसृता मध्यस्थाने मरुत्प्रभृतिभिर्देवगणैः संयुज्यन्ते। तत्संयोगाद् माध्यमिका देवगणा पवित्रवन्तो भवन्ति। तेषामेष निपातो भवति स्तुतिसाधारण्येन 'अपरस्यां बहुदेवतायामृचि'।
३३	प्रत्यक्तमस्मिन ध्यानमिति वा। कारक-विन्यासमात्रमेतत्।	'प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा'। अधिकरणं कारकम्। तथा हि तस्मिन्ध्यानकार्यं सफलं लक्ष्यत इति।
३३	न ह्ययं स्वाधिकारं व्यभिचरति रसादानादिकम्। नित्यमनुतिष्ठतीत्यर्थः। तेषां दध्यङ्ङादीनामेष स्तुतिसाधारण्येन निपात ऐन्द्र्यामृचि।	न ह्ययं स्वस्मादधिकारात् थर्वति। न कदाचित् स्वमधिकारं मुञ्चति। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि।
३४	भेदपक्षे चाथर्वादय ऋषय इति व्याख्यानम्। नैरुक्तानां तु पूर्वमिति सिद्धम्। अथातो द्युस्थाना देवगणा इति भेदाभेदाभ्यां मन्त्रेषु स्तुतिदर्शनात् भेदेनोत्तमं स्तुत्वा सम्प्रत्यभेदेन सर्वावस्थं तुष्टूषमाण आह। अथात इत्यादि।	पृथक्पक्षे आदित्यसहचारिण एते ऋषयः। एतदेव हि गुणविकारोपजनापेक्षया भेदाभ्यां मन्त्रदृशः पश्यन्तोऽभिष्टुवते तदर्थं विशेषतः पुनरधिकारवचनम्-'अथातो द्युस्थाना देवगणाः' इति।
३५	प्रत्येकमप्येते मित्रादयो द्युस्थानत्वेनोप-लक्षितव्याः। शास्त्रगौरवप्रसङ्गात्तु न समाम्नाताः।	प्रत्येकमप्येते मित्रादयो द्युस्थानत्वेनोपेक्ष्याः। शास्त्रातिगौरवभयात्तु न पृथक् द्युस्थानत्वेन समाम्नाताः। ते त्वादित्यलिङ्गलिङ्गितेषु मन्त्रेषु पृथक् पृथगुपेक्ष्यास्तत्स्तुतीनां पृथगपि विद्यमानत्वात्।
३६	सप्त ऋषयोऽप्यवयवनिर्वचनेन निरुक्ताः। 'सप्त सृप्ता संख्या'। 'ऋषिदर्शनात्' रश्मयोऽभिधेयाः, इन्द्रियाणि वा।	'सप्तऋषयो वक्तव्याः। ते पुनरमी व्याख्याता निर्वचनतः। इह त्वभिधेया रश्मय इन्द्रियाणि वा।

३७	अध्यात्मं तु सप्त ऋषयः सप्तसंख्यानि। कानि? अर्षणानि स्वं विषयं प्रति गन्तॄणि मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि विद्यासप्तमानि। विद्या विज्ञानं तत्सप्तमानि। प्रतिहितानि प्रतिनिहितानि शरीरे शरीरात्मनि। अन्ये वर्णयन्ति। अस्तमीयुः स्वप्नावस्थाया-मात्मनो भोक्तर्येव भावनारूपेण लीयन्ते। यद्भावनोपादानं भोक्तुः स्वप्नदर्शनं भवति।	'अथाध्यात्मन्'। मण्डलवदस्मिञ्छरीरे रश्मिवदिन्द्रियाणि प्रतिहितानि निहितानि तच्छरीरं नित्यं रूपाद्यालोकनाद्युपकारेण रक्षन्ति अप्रमाद्यन्ति। बुद्धिद्वारेण भोक्तर्येव भावनारुपेण लीयन्ते। यद्भावनोपपादकः स्वप्रभोक्तुः स्वप्नो भवति।
३७	देवौ प्राज्ञश्चात्मा चितिमात्रेण यः शरीरं व्याप्य वर्तते। यस्यावेशादेतच्छरीरं न दुष्यति। तस्य व्यापारो भोगस्तमसौ करोति (एव) तैजसश्च य आहारं पचति।	प्रज्ञश्चात्मा परमात्मा चिन्मात्रेण यः शरीरं व्याप्य वर्तते तैजसश्च प्राणोऽन्नं पानं पचनव्यूहस्वरसान्तर्भूतं तेजोवायुवृत्तिः।
३८	अत्रासत ऋषयः सप्त अत्रादित्यमण्डले सप्तसंख्याका रश्मयः। साकं सह। ये अस्य गोपा महतो बभूवुः येऽस्य जगतो गोप्तारो भवन्तीत्यधिदैवतम्।	ये अस्य महतो जगतः आत्मनो वा गोपाः गोप्तारः एते रश्मयो बभूवुः भवन्ति।...ते रश्मयः सप्त सपर्णा ऋषणादृर्शनादस्य धर्मस्य ऋषय उच्यन्ते- 'इत्यधिदैवतम्'।
३९	अथाध्यात्मम्। तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः शिर इहाभिप्रेतम्। तिरश्चीनानि बिलानि चक्षुरादीनि यस्मिन्। आहारस्य चमनात्। ऊर्ध्वं च कायस्य बन्धनस्थानात्। ऊर्ध्वं च बोधकं चक्षुरादि यस्मिन्।	'अथाध्यात्मम्' इति तिर्यक्छिद्रमिदमेव शिरः चतसः। चम्यन्ते ह्यनेन रसा इति। ऊर्ध्वबन्धनश्च। उपरि ह्यवस्थितमेतद्बन्धनमस्य शरीरस्य। एतद्वियोगे हि विस्रंस्यते शरीरम्।
३९	देवानामेव च सख्यं स्तुत्यस्तोतृलक्षणं यष्टृयष्टव्यत्वलक्षणं च। उपसेदिम उपसीदेम उपगच्छेम वयमित्याशास्महे। देवा नोऽस्माक-मायुः प्रतिरन्तु जीवसे तिरतिर्वृद्ध्यर्थः प्रवर्धयन्तु चिरं जीवनाय।	देवानां सख्यं समानख्यानतां याज्ञे कर्मणि समानमङ्गभावम् उपसेदिम गच्छेम वयम्। ततश्च तथा भूतानामस्माकं ते देवाः प्रतिरन्तु प्रवर्धयन्तु आयुः जीवसे चिरं जीवनायेत्येतदाशास्महे।
४०	विश्वान् देवानधिकृत्येदानीं गतमेवाधियज्ञं किञ्चद् विचारयिष्यन्नुपोद्घलयति। तदिति समाम्नायस्यनुस्मृतये। एतदिति वक्ष्य-माणार्थसन्निधिकरणाय। प्रयोजनं च गायत्रच्छन्दोयुक्तैन्यैरपि बहुभि-र्वैश्वदेवैरधियज्ञं गायत्रम्।	अधुना विश्वेदेवानधिकृत्य तद्गतमेवाधियज्ञे किंचिद्विचारयिष्यन्नुपोद्घन्ति। तत् इति समाम्नायस्यानुस्मृतये। 'एतत्' इति वक्ष्यमाणार्थसंनिधीकरणाय। अस्त्येवास्मिंश्छन्दसि प्रयोजनं च गायत्रच्छ-न्दोयुक्तैरन्यैरपि बहुभिवैश्वदेवैर्मन्त्रैरधियज्ञे।...
४०	यदेव विश्वलिङ्गं विश्वशब्दोपेतं मन्त्रजातं सूक्तं वा, तदेव वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते, न बहुदेवतात्वमात्रेणेति शाकपूणिर्मन्यते। तत् किमस्यापि यास्कस्य मतम्। नेति। यत आह।	विश्वशब्दोपेतं मन्त्रजातं सूक्तं वा तदेव वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते न बहुदेवता-मात्रेण 'इति शाकपूणिः' मन्यते। तत्किमस्यापि यास्काचार्यस्यैतदेवाभिमतमुत नेति।

	वैश्वदेवं हि मन्त्रजातं समाम्नाये क्रियार्थमुत्पद्यमानं आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् गायत्रे छन्दसि तावदेवोत्पत्तुमर्हति। न च तत्सर्वास्वपि दाशतयीषु गायत्रे छन्दस्यलं कर्मोत्पादने। प्रयोजनं च तच्छन्दोयुक्तैरधियज्ञे वैश्वदेवैर्मन्त्रैः। न च ते सन्ति। बहुदेवताश्च तस्मिंश्छन्दसि।	यत आह। वैश्वदेवं हि मन्त्रजातं समाम्नाये क्रियार्थमुत्पद्यमानमाम्नायस्य क्रियार्थत्वाद्गायत्रे छन्दसि तावदेवोत्पत्तुमर्हति। न च तत्सर्वास्वपि दशतयीष्वस्ति छन्दस्यलं-कर्मोत्पादे। प्रयोजनं च तच्छन्दोयुक्तैरपि विविधैर्मन्त्रैर्भवति। न च ते तथाविधाः सन्तीति बहुदेवताश्च तस्मिंश्छन्दसि सन्ति।
४०	युक्तं यत्तान्योप्येरान्निति यास्कः पश्यन्नाह। यत्तु किञ्चिदित्यादि। बहुदेवतान्यपि वैश्वदेवानां स्थाने युज्यन्त एवेति। भूतांशो नाम काश्यप एकेनाश्विलिङ्गेन युक्तमनेकं ददर्श। यथैकेनापि छत्रिणा सर्वे छत्रिणो भवन्ति।	युक्तं यद्बहुदेवतानि ओप्येरन्निति यास्काचार्यः पश्हन्नाह–'यत्तु किञ्चित्...। बहुदेवतान्यपि वैश्वदेवानां स्थाने युज्यन्त एवेति। भूतांशो नाम ऋषिः काश्यपः। स एकेनाश्वि-लिङ्गेन युक्तमनेकर्चं सूक्तं ददर्श। यथैकेनापि छत्रिणा मध्यगतेन छत्रिणो भवन्ति।.....
४०	इदानीं यस्यामश्विलिङ्गं यया चर्चा सूक्तमाश्विनं सेयमृग्व्याख्यायते।	अश्विलिङ्गं येन पर्फरीसूक्तं सर्वमाश्विनम्।
४०	अभितष्टीयं चैतालिङ्गं भवति।	अभितष्टीयं सूक्तं चैन्द्रम्। तदपि 'एकलि-ङ्गम्' इति।
४०	साध्या इति वाच्याः। देवा रश्मयो वाभिधेयाः। साध्याः कस्मात्? साधनात् स्वव्यापारस्य। ऐतिहासिकानां तु कर्मभिरात्मनः साधनात् पूर्वो देवसमूहः। ते च किल विश्वसृजो नाम ऋषयः सहस्रसंवत्सरेणेदं विश्वमसृजन्त।	'साध्याः देवाः साधनात्'। ते हि सर्वमिदं साधयन्ति। यदन्येन सर्वकर्मभिरसाधितं तत्साधयन्तीति साध्या उच्यन्ते। ते च पुनः प्राणाः विश्वसृज ऋषयो ये सहस्रसंवत्सरेण सत्रेणेदं विश्वमसृजन्त त एवैतेऽधिदैवं रश्मयः।
४१	साध्याः सन्ति देवा नैरुक्तानां साध्या रश्मय उच्यन्ते। तदाह द्युस्थानो रश्मिर्देवगण इति	अतः सप्त ऋषयो देवाः विश्वेदेवाः साध्या इति सर्व एते प्राणा रश्मयो वेत्युपपद्यते।
४१	वसवो वाच्याः। यद् विवसते सर्वम् यद् यस्माद्विभागेनावस्थितमिदं सर्वमाच्छादयन्तीति स्थानत्वात्। अतस्त्रिस्थानेष्वाच्छादकत्वाद्वस-वस्त्रिस्थानाः। तथा वसव आदित्यरश्मयो विवासनात् तमसाम्। तस्माद् द्युस्थानाः।	'वसवः' इति वक्तव्यम्। ते पुनरमी त्रीस्थानाः। ते यस्मात्सर्वमिदं विभागेना-वस्थितमाच्छादयन्ति। वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्। तस्मात् द्युस्थानाः।
४२	भाष्ये तु सुगाव इति शोभनान्यागमनान्यभिप्रेतानि। तद्विशेषणं सुपथानीति शोभनमार्गाणीति।	स्वागमनानि शोभनानि आगमनानि।

४२	इतरेषां वसूनां त्रिस्थानतां दर्शयितुमाह।	त्रिस्थाना इत्युक्तम्। यत इतरयोरपि स्थानयोः प्रदर्शयति।
४३	वाजिनो निरुक्ताः। 'वाजीः। वेजनवान्' इति। केवलं वचनकृतो विशेषः। रश्मयोऽभिधेयाः। देवाश्वा वा।	'वाजिनो व्याख्याताः'। 'अपि स वाजी वेजनवान्' इत्यत्र। केवलमत्र बहुवचनकृतो विशेषः। रश्मयश्चाभिधेयाः। पृथक्त्वे देवाश्वाः।
४४	देवपत्न्यो वाच्याः। ताः पुनर्देवानां पालयित्र्यः पालनीया वा। पत्नीसंयाजदेवताः। पत्नीसंयाजाश्च तृतीयसवनस्य स्थाने। तच्च द्युभक्तीति द्युस्थानत्वम्। प्रथमार्थे द्वितीया देवानां पत्न्यो भवत्यः। उशत्यो हविस्तुतीश्च कामयमानाः। अवन्तु अवतिर्गतिकर्मा गच्छन्तु नोऽस्मान् प्रति। गत्वा च प्रावन्तु प्राकर्षेण रक्षन्तु नोऽस्मान्।	'देवपत्न्यः' वक्तव्याः। ताः 'देवानां पत्न्यः' पालयित्र्यः पालनीया वा। पत्नीसंया-जेष्वेता इज्यन्त इत्यतस्तृतीयसवनभक्ति-त्वादादित्यं भजन्ते। या एता देवपत्न्यो नित्यमस्मत्तो हविरुशन्ति कामयन्ते ता अस्मत्तो हविरुपभुज्य ततोऽस्मान् अवन्तु प्रतितर्पयन्तु धनेन।
४५	हे देवीर्देव्यः सुहवाः सुह्वानाः शर्म गृहं सुखनाम वा यच्छत प्रयच्छत। सामान्योक्तानां विशेषाभिधित्सया पराऽनन्तरा। ग्नाशब्दः स्त्रीवचनः। अपि स्त्रियो व्यन्तु कामयन्ताम्। किम्? सामर्थ्याद् हविः। कतमाः स्त्रियः? देवपत्नीः-देवानां पत्न्यः काम्य-मानाश्च। इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी......आकारः शृणोत्विति सम्बध्यते।	सुहवाः स्वाह्वानाः अस्माकं यच्छन्तु ददतु शरणं गृहं सुखं त्राणं वेत्येतदाशास्महे। 'तासामेषापरा भवति'। सा पुनः किमर्थम्? सामान्यतः पूर्वस्यामुक्ताः। विशेषतः परस्यामुच्यन्ते। पूर्वयैव समानार्षविनियोगा। पुरुषैः पीतमग्न्यादिभिः अपि ग्नाः स्त्रियो व्यन्तु पिबन्तु एतदाज्यम्। कतमा? इन्द्राण्य-ग्नाय्यश्विनी राट्। आशृणोतु च रोदसी। आभिमुख्येन च स्थित्वा शृणोतु।
४६	भाष्यकारस्तु देवपत्नीप्रकरणानुविधानेन पद-कारमनवेक्ष्य रोदसीशब्दं रुद्रपत्नीवचन-मुदाजहारेति।	अथर्वणे रोदसीत्यप्रगृह्य पदम्। तदपेक्ष्यैक-वचनेन भाष्यकारो निराह 'रोदसी रुद्रस्य-पत्नी'।
अ. १३ ख. १	इह 'यस्यां देवतायां इत्यत्र स्तुतिलक्षणा देवतेति देवतालक्षणमुक्तम्। सा च स्तुतिर्नाम्ना बन्धुभिः कर्मणा च प्रदर्शिता। इहेदानीं कर्मातिक्रमेण गुणभूयस्त्वेन च प्रदर्शनीयेति। इमा वक्ष्यमाणा अतिशयवत्यः स्तुत्य इति। स्तुतय इत्येव किं स्तुतिशब्देन पूर्वाचार्या आचक्षते। प्रसिद्धा हीयं तेषां संज्ञेत्यभिप्रायः।... याप्यति शयवत्यभिमता सापि प्रकृत इवान-तिरिक्तैवेत्यर्थः। कुत एतदित्याह। न गुणाणां विभूतेरियत्तास्ति देवतायाः। तथा चोक्तम्-'ऋचीषमः'। 'नार्वागिन्द्रम्' इति।	स्तुतिलक्ष्या देवतेति। 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम्...' इत्यत्र ताः स्तुतयः कर्माधि-कारनिरताः। स्वकर्माधिकारातिक्रमेण स्वगुणातिशयेन च यास्ता उपप्रदर्श्याः। अन्येऽप्याचार्या एवमेवैता आचक्षते कथयन्ति शिष्येभ्योऽतिस्तुतय एता इति। प्रसिद्धा हीयमेतासु संज्ञेत्यभिप्रायः। न ह्यतिशयो नाम देवतायाः स्तुतिरस्ति। कस्मात्? न विभूतेरियत्तास्ति यामतिरिच्य स्तूयेत। तदुक्तम् 'ऋचीषमः' इति। तथा च 'नार्वा-गिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः' इति।

१	नैरुक्तसमयानुवृत्तये त्वतिस्तुतयः प्रदर्श्यन्ते। सोऽतिस्तोता पूर्वाचार्यो वा। पूर्वक्रमानुवृत्त्यै-वाग्निमेव वातिस्तुतिविषयत्वेन प्रथममाह।	नैरुक्तसमयानुवृत्तयेऽतिस्तुतयः प्रदर्श्यन्ते। 'सः' इति स्तोता असावाचार्यः 'अग्नि-मेव' अधिकृत्य 'प्रथममाह'। किं कारणम्? येनैव हि क्रमेण स्तुतय उपप्रदर्शितास्तेनैवात्र क्रमेणातिस्तुतयो न्याय्याः प्रदर्शयितुम्।
IV	अत्र स्वाधिकारातिरेकेण स्तुतिर्व्याख्याता। किञ्च दामेव दाम बन्धनं यथा कश्चिद् वत्साद् विमञ्चेत्तद्वद् विमुमुग्धि विमुञ्च। इन्द्रस्यातिस्तुतिः।	यथैतस्मिन् सूक्ते स्वकर्माधिकारव्यतिरेके-णातिशयेन वा स्तुतिः। अहः पापं यदात्मनः कायकृतं तदस्मत्तो दामेव वत्सात् विमुमुग्धि त्वं प्रमुञ्च। 'अथैषैन्द्रस्य'।
२	यत् यदि द्यावो द्युलोकाः शतं हे इन्द्र ते तव उपमा नास्तीति शेषः। शतं भूमीरुत	हे भचवन् इन्द्र यदि तव शतं दिवः शतं च भूमयः सहस्रं च सूर्याः।
२	अपि शतं च भूमयोऽपि स्युर्भवेयुः। सहस्रं सूर्याः सहस्रं सूर्याः। यत् यदाऽस्तमयकाले। उदञ्च उदञ्चितार ऊर्ध्वं गामिनः। के? सामर्थ्याद्रश्मयः। हे वृषाकपे आदित्य। गृहं स्वमण्डलाख्यम्। हे इन्द्र अत्यन्तेश्वर। अजगन्तन व्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः। अगमन् गतास्त्वदीयमण्डल-मनुप्रविष्टा भवन्तीत्यर्थः।	हे भगवन् वृषाकपे इन्द्र यदा त्वम् उदञ्चः उदङ् एव वर्तमानः प्रदक्षिणं भुवनानि परिगच्छन् गृहम् अजगन्तन। गृहानुप्रवेशे हि व्यवधीयते च भगवानस्तं गच्छन्नादित्य इत्येतस्मात्सामान्यादुच्यते गृहमिन्द्राजगन्तन इति।
३	आदित्यरश्मीनामतिस्तुतिः। यदादित्येन रश्मयो व्यसृक्षत विपूर्वस्य सृजेः कर्मणि कारके आत्मनेपदप्रथमपुरुषस्य बहुवचन इदं रूपं विसृष्टा भवन्तीत्यर्थः। किमर्थम्? सोतोः प्रसवाय प्रकाशद्वारेणाभ्यनुज्ञानाय सर्वप्राणिकर्मणाम्। तदा नेति प्रतिषेधार्थीयममंसतेति सम्बध्यते। मत्सखा अहं मन्त्रदृक् सखा स सखिभूतो यस्य सः। अथवा मदनं मद् हर्षः सखिभूतो-ऽत्यन्तसहचारी यस्य स हर्षसहायोऽत्यन्तपुष्ट इत्यर्थः।	'अथैषादित्यरश्मीनाम्' अतिस्तुतिः। व्यसृक्षत व्यसृजत यदादित्यो रश्मीनहन्यहनि सोतोः सर्वभूतप्रसवाय अभ्यनुज्ञानाय तत्प्रकाशितलोकस्य सर्वकर्मोपपत्तेः। तदा किमिति। तदा ते रश्मयः सर्वकर्मण्यनुगमनात् नेन्द्रं देवममंसत। मत्सखा मम सखा इति मन्त्रदृगाह। अथवा। सर्व एव मन्यन्ते ममायं सखा ममायं सखेति। अथवा। मदनसखा हर्षसखेत्यर्थः।
९	चत्वारि मितानि अव्यक्तपरिमाणानि पदानि। इयती वाक् तदेतद् भेदेन हि चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि न पञ्चमम्। कतमानि तानि? ओङ्कारमहाव्याहृतयश्चेत्यादीनि। (तानि) सर्वा-णि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणो मेधाविनः। यस्मात्तेषां चकुर्णां पदानां गुहा...गुहायामिव त्रीणि निहितानि	चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। न पञ्चमं पदमस्ति। तानि पुनः ब्राह्मणा विदुः। किं सर्वे। न। ये मनीषिणः ये मेधाविनः। तेषां च पुनः पदानां गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति नार्थं वेदयन्ते न प्रख्यापयन्ति। तुरीयं चतुर्थं भागं एकं पदं मनुष्याः परिज्ञानार्थं वदन्ति।

	नेङ्गयन्ति। इगिर्गत्यर्थः। न गमयन्तीत्यर्थः। तुरीयं चतुर्थं वाचो मनुष्या वदन्ति।	
९	गवादीनि नामानि। कुतः? तेषां तत्वं सर्वमनुष्यैर्ज्ञायमानत्वात्। आख्यातोपसर्ग-निपातास्तु (अ) प्रसिद्धार्थत्वान्नार्थं सर्वे वेदयन्ते।	तत्राप्रसिद्धार्थत्वादाख्यातोपसर्गनिपातपदान्यर्थं न वेदयन्ते। नामानि तु प्रसिद्धतरार्थ-त्वाद्गवाश्वादीन् वेदयन्त्यर्थान्।
	आत्मप्रवादा इति। आत्मानं ये प्रवदन्ति अध्यात्मवादिनस्तन्मते आत्मनि या वाक् सा व्यावहारिकीत्येकां वदन्ति।	आत्मानं ये प्रवदन्त्याचार्यास्ते आत्मप्रवादाः।.. 'ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः' निहितवन्तः।
	अथ पशुगताव्यक्ताया या अन्या व्यक्ता तां ब्राह्मणेष्वदधुः। उभयीं वाचं देवानां वैदिकी या च मनुष्याणां लौकिकी इत्यर्थः।	'तस्माद्ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। लौकिकी वैदिकी चेत्यर्थः।
	अक्षरस्यातिस्तुतिः प्रवल्हितेव।	'अथ' पुनः 'एषाक्षरस्य' अतिस्तुतिः प्रवल्हितेव।
१०	अस्यामृचि शाकपूणेस्तावन्मतेन ओंकारं कृत्वा ऋचामध्ययनप्रारम्भात् शास्त्रानुवचनादिषु ऋगन्ते प्रणवस्य योगाद् ऋचः सम्बन्ध्येतदक्षरम्।	अस्या निर्वचनत्रयमधियज्ञाधिदैवाध्यात्म-विकल्पेन ओंकार आदित्य आत्मा चेति। तत्र तावच्छाकपूणिपक्षमाश्रित्याधियज्ञगतमुच्यते।
	तस्य किल ओमित्येतस्य ब्रह्मणः प्रथमायां मात्रायां पृथिव्यग्निर्ऋग्वेदः पृथिवीनिवासिनो जना इत्येतत्। द्वितीयायां मात्रायामन्तरिक्षं वायुर्यजूंषि अन्तरिक्षनिवासिनो जना इत्येतत्। तृतीयायां द्यौरादित्यः सामानि द्युनिवासिनो जना इत्येतत्। तेनेदं जगतः परं व्योम।	कतमत्तदेतदक्षरमो३मित्येषा वागिति' शाक-पूणेरभिप्रायः। प्रथमायां पृथिवी अग्निः ऋग्वेदः पृथिवीलोकनिवासिनः इत्येव। द्वितीयायां मात्रायामन्तरिक्षं वायुर्यजूंषि तल्लोकनिवासिनो जना इति। तृतीयायां मात्रायां द्यौरादित्यः सामानि तल्लोकनिवासिनो जना इति। विज्ञायते हि 'ओंकार एवेदं सर्वम्' इति।
१०	पूर्वस्येतिहासस्योपसंहारश्रुतेस्ताद्भावव्यापत्या	ते हि तत्परिज्ञानात्ताद्भाव्यमुपगताः प्रणव-
१०	प्रणवविग्रहात्मानमनुप्रविश्य ब्रह्मणः साम्य-मापन्ना विद्वांस इमे समासते। समित्येकीभावे तेन सह एकीभूता आसते।	विग्रहमात्मानमनुप्रविश्य समीकृता निर्वान्ति शान्तार्चिष इवानला इति।
११	'ऋचो अक्षरे' इति। ऋगित्यादित्यमण्डलमुच्यते। आदित्यमण्डलं कस्मात्? ऋग्भवति। यद् यस्मादेनमर्चन्ति। अर्चनादृगित्यर्थः। तस्मिन्नेवंरूपे यस्मिन् देवा रश्मयो भौमानां रसानामाहरणधारणभ्यामधिनिषण्णाः सन्ति।... अयं पिण्डशरीरमृग्भवति। स्नानोद्वर्तनपरि-षेकानुलेपनार्चनात्। प्रत्यृतो वा सर्वाणि सर्वेन्द्रियशक्त्यनुगमाद्वेत्यर्थः।	'आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेरेषर्ग्भवति' इति मण्डलमभिप्रेतम्। 'यदेनमर्चन्ति' इति। यस्मादेनमर्चन्ति तस्माद् ऋक्। रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिषण्णा भवन्ति। आत्मेत्यात्मप्रवादाः। अयमृग्भवति शरीरमिति। इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते। तानि हि विषयेषु द्योतन्त इति देवाः।

१२	अक्षरं न क्षरति न स्त्रवति न क्षीयते न न शुष्यति शरीरादित्यर्थः।	'अक्षरं' कस्मात्? तद्धि 'न क्षरति'। नान्यथाभावमापद्यते। अथवा। 'न क्षीयते'। न कदाचिदप्यामूलतो विनश्यति।
१२	सत्यपि चैतस्मिन् निरुक्ताख्ये तर्केणैव देवदेवताधिदैवधिपुष्पफलेतिहासप्रकरणादिनि-रपेक्षेण सता मन्त्रा न निर्वक्तव्याः। किं तर्हि? प्रकरणमपेक्ष्य।	यद्यप्ययमभ्यूहस्तथापि न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। कुतः पृथक्त्वेन। प्रकरणात्।
	ऋषीणां तु साक्षात्कृतधर्मणां वेदाभ्यासवत्वेन प्रत्यक्षज्ञानं धर्मानुग्रहवशेन स्यात्।	तस्येदानीमपि स्याद्य ऋषिस्तपस्वी च। निर्दग्धकल्पषयोस्तयोः प्रतिबन्धकाभावाद्यथा-वदर्थं मन्त्राणां पश्यतः।
	तस्माद् भूयोविद्यः प्रशस्यः शास्त्रागमविशुद्धये मनुष्यापेक्षयेत्याह षष्ठेन।	तेषु यः कश्चिद्भूयोविद्यो बहुश्रुतो भवति स एव मन्त्रार्थपरिज्ञाने प्रशस्यो भवति।
१२	तेऽनूचानाः सुखग्रहणायेमं मन्त्रार्थचिन्तालक्षणं तमुपायमभ्यूहन् ग्रन्थीकृतवन्तः।	ते देवा एतं समस्तार्थमूहमपि भवन्तोऽनेन मन्त्रार्थान् शक्यन्तेऽभ्यूहितुमिति।
	अन्यत्वेपि चैतद् द्रष्टव्यम्। अतश्चैतदेवं येन मन्त्रोऽप्याह।	मन्त्रार्थोऽप्येतस्मिन् विषये बृहस्पतिना दृष्टो ब्रह्म वा स्वयं प्राह।
१३	सखायः समानख्याना ऋत्विजोऽन्य च शास्त्रज्ञाः।	सखायः समानख्याना ऋत्विजः। ते हि प्रयोगेऽभियुक्तत्वाददतितरां विद्वांसः।
१३	सेयं निरुक्तविद्या श्रुतिमति वर्तत इति शेषः। श्रुतित उत्कृष्टतरेत्यर्थः। कुतः? यत इयं बुद्धिर्बुद्धेः कारणम्।	इदानीमुपसंहरति 'सेयं विद्या' इति। श्रुतिमतीति। आद्या इयमेवैका विद्या बुद्धिं वर्षति। ज्यायसी सर्वाभ्यो विद्याभ्यः। महानेष तर्कः।
१३	तस्माच्छन्दस्सु तस्या एतस्य निरुक्तविद्याया निराकांक्षाय ऋक्पादार्धर्चशेषा उपेक्षितव्याः।	'तस्माच्छन्दःसु' शाखान्तरेषु निगमोदाह-रणानामाकाङ्क्षित्वनिराकाङ्क्षायै वाक्यशेषाः पादार्धर्चादिलक्षणा 'उपेक्षितव्याः'।

परिशिष्ट- २

स्कन्दस्वामिमहेश्वरवृत्ति-उद्धृत-प्रमाणानुक्रमणिका

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि	ऋ०१०.९४.९	निरु०२.५, ४.४
अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनां दिदृक्षेयः सूनवे	ऋ०३.१.१२	निरु०६.१७
अक्रोधनाः शौचपरा	मनु०३.१९२	निरु०११.१८
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः	ऋ०१०.७१.७	निरु०१.८, ९
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व	ऋ०१०.३४.१३	निरु०७.२
अक्षो न चक्र्योः	ऋ०६.२४.३	निरु०१.४
अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिह	ऋ०३.२५.४	निरु०७.८
अग्नये वासन्तिकाय गायत्राय	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.८
अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि	तै०सं०६.३.७.१, शत०ब्रा०१.३.२.३	निरु०१.१५
अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः	यजु०५.४	निरु०८.२
अग्नाविष्णू सजोषसमा वर्धन्तु वां गिरः	मै०सं०४.१०.१; ११.२; तै०सं०४.७.१	निरु०७.८
अग्निं चित्वा	का०सं०२२.७	निरु०१२.१३
अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त	ऋ०७.१.१	निरु०५.१०
अग्निं वः पूर्व्यं गिरा देवमीळे वसूनाम्	ऋ०८.३१.१४	निरु०२.२
अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं	ऋ०१.१२७.१	निरु०६.८
अग्निः पशुरासीत्	तै०सं०५.७.२६	निरु०१२.४१
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत	ऋ०१.१.२	निरु०७.१६
अग्निः सर्वा देवताः	ऐ०ब्रा०२.३; तै०ब्रा०१.४.४.१०; मै०सं०१.४.१३	निरु०७.४
अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः	ऋ०८.३५.१.	निरु०५.५
अग्निमीळे पुरोहितम्	ऋ०१.१.१	निरु०२.१३; ७.१५
अग्निरायुर्मनुष्याणाम्	तु०श०ब्रा०६.७.३.७	निरु०७.२७
अग्निरिव मन्यो त्विषितः	ऋ०१०.८४.२	निरु०३.१३
अग्निरिव मन्यो---नुदस्व	ऋ०१०.८४.२	निरु०१.४; १७
अग्निर्देवतानां सेनानी	ऋ०१०.११०.११; ४.१.२०; ऐ०ब्रा०६.१४	निरु०७.१४
अग्निर्देवो होता	ऐत०ब्रा०१.२८	निरु०६.१३
अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न	ऋ०१०.७८.२	निरु०३.१५

अग्निर्वरूथं मम तस्य चाकन्	ऋ०१.१४८.२	निरु०४.३; ६.२८
अग्निर्वा इति वृष्टिं समीरयति	तैत्ति०सं० २.४.१०.१; का०सं०११.१०	निरु०४.१९; ७.५, २४
अग्निर्वृत्राणि	ऋ०६.१६.३४	निरु०२.१६
अग्निर्वै देवानां होता	ऐ०ब्रा०१.२८; ३.१४	निरु०७.१५
अग्निर्वैश्वानरः सोमस्य मत्सत्	शां०श्रौ०८.२२.१; कौ०ब्रा०५.८	निरु०७.२४
अग्नीपर्जन्याववतं धियं मेऽस्मिन् हवे सुहवा	ऋ०६.५२.१६	निरु०७.८
अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्	ऋ०१.९३.१	निरु०२.२; ७.८
अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु	ऋ०१.१५.४	निरु०७.८
अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब	ऋ०५.६०.८	निरु०८.२
अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो अस्मे धेहि	ऋ०१.७९.४	निरु०८.२
अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमित्यदृष्टकारितम्	वैशे०५.२.१३	निरु०८.१५
अग्नेर्वै धूमोऽभ्रम्	श०ब्रा०५.३.५.१७	निरु०७.२४
अग्नौ प्रास्ताहुतिः	मनु०३.७६	निरु०७.२३
अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्	शत०ब्रा०१४.९.४.८, गो०गृ०सू०२.८.२१	निरु०३.३
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः	ऋ०१०.१४.६	निरु०११.१९
अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतम्	ऋ०१.११७.१६	निरु०५.२१
अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः	ऋ०३.८.१	निरु०१.१६; ८.१८
अतप्यमाने अवसावन्ती अनु ष्याम रोदसी देवपुत्रे	ऋ०१.१८५.४	निरु०१२.४६
अति त्री सोम०-चोदयः	ऋ०९.१७.५	निरु०१.३
अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम्	ऋ०१.३२.१०	निरु०२.१६
अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष	ऋ०१.१६३.७	निरु०६.८
अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्	ऋ०१.८४.१५	निरु०२.६; ४.२५
अत्रैवान्वेषणादत्रिः खननाद्विखनो मुनिः इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा ऋषिसत्तमाः	तु०बृहद्देवता ४.१४९	निरु०३.१७
अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह तस्य होदरं जज्ञे	ऐ०ब्रा०३३.३ इति	निरु०२.१
अथा देवा दधिरे हव्यवाहम्	ऋ०१०.५२.३; निरु०६.३५	निरु०८.२
अथा वयम्	ऋ०१.२४.१५	निरु०२.१३
अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ	ऋ०५.३२.१	निरु०१०.९
अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्	ऋ०८.१९.३६	निरु०४.१५
अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०२.१३
अदितिः पुत्रकामा	तै०सं०१.१.९.१-३	निरु०४.२६
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता	ऋ०१.८९.१०	निरु०४.२३; ७.४
अदितेर्दक्षो अजायत	ऋ०१०.७२.४	निरु०११.२३

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु	ऋ०१.५०.३	निरु०३.१५
अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व	ऋ०१०.११६.८	निरु०६.१६
अद्या चित्रू चित्तदपो नदीनाम्	ऋ०६.३०.३	निरु०१.४; ४.१७
अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप	ऋ०७.१०४.१५	निरु०७.२
अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः	ऋ०६.६.५	निरु०४.१७
अधा चिदोकः	ऋ०७.४.८	निरु०३.२
अधा होता न्यसीदो यजीयान्	ऋ०६.१.२	निरु०२.७
अधोरामः सावित्रमालभेत कृकवाकुं सावित्रमालभेत	तु०वा०सं०२९.५९; २४.३५	निरु०१२.१३
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते	सं०उ०ब्रा०३	निरु०२.४
अध्वर्यवः कर्तना श्रुष्टिमस्मै वने निपूतम्	ऋ०२.१४.९	निरु०४.७
अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोमममत्रेभिः सिञ्चता	ऋ०२.१४.१	निरु०५.१
अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य	ऋ०२.१४.११	निरु०६.६
अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया	ऋ०१.१९०.१	निरु०६.२३
अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य	ऋ०८.९९.४	निरु०६.२३
अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजः	मैत्रा०सं०१.२.७	निरु०४.१७
अनुव्रतं सवितुर्मोक्यागात्	ऋ०२.३८.३	निरु०४.११
अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिः	ऋ०९.१०७.९	निरु०५.३
अनेन आत्मानं निष्क्रीणा	ऐत०ब्रा०३३.३	निरु०३.३
अनेन त्वा यजा	ऐत०ब्रा०३३.३	निरु०३.३
अन्तरात्मा शरीरात्मा	महा०भा०१.३.२ पृ०२९२	निरु०७.१०
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः	भ०गी०३.१४	निरु०२.७
अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव	ऋ०१०.१०.१४	निरु०११.३४
अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि	तै०सं०३.३.११	निरु०११.३०
अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य	ऋ०१०.७९.१	निरु०६.४
अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणम्	ऋ०३.५३.६	निरु०७.६
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुः	ऋ०१०.१७.२	निरु०१२.१०
अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्तोत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम्	ऋ०२.३७.४	निरु०८.२
अपाम सोमममृता अभूम	ऋ०८.४८.३	निरु०२.५
अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप	ऋ०६.८.४	निरु०७.२६
अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर	ऋ०१०.१६४.१	निरु०१.१७
अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत् सम्राळृतावोऽनु मा	ऋ०२.२८.६	निरु०१३.१
अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह बिभ्युषी	ऋ०४.३०.१०	निरु०११.४७
अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः	ऋ०५.१.२	निरु०६.१३
अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्	ऋ०७.३४.१६	निरु०१०.४४
अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्	अथर्व०७.१४.१	निरु०६.१२

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु	ऋ०१.१९.९	निरु०१०.३७
अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा	ऋ०५.४१.१९	निरु०११.४९
अभि प्रवन्त समनेव योषा: कल्याण्य: स्मयमानास:	ऋ०४.५८.८	निरु०७.१७
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै:	ऋ०१०.१०३.१२, निरु०९.३३	निरु०२.१
अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा	ऋ०७.३४.९,१०	निरु०६.७
अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून् वि तिग्मेन	ऋ०१.३३.१३	निरु०६.१६
अभी३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी	ऋ०१०.४८.७	निरु०३.१०
अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न	ऋ०९.११०.५	निरु०५.४
अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसं मोषथा	ऋ०५.५४.६	निरु०६.४
अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची	ऋ०१.१२४.७	निरु०३.५
अमन्दान्स्तोमान् प्र भरे मनीषा सिन्धावधि	ऋ०१.१२६.१	निरु०९.९, १०
अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्	ऋ०७.५५.१	निरु०१०.१७
अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे	ऋ०१०.१०३.१२	निरु०६.१२; ९.३३
अमुतो लोकाद् गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाहरत्	तु०श०ब्रा०१.८.२.१०; ३.४.१.१२	निरु०१२.२२
अमूर्या यन्ति जामय:	अथर्व०१.१७.१	निरु०३.३
अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुत:	ऋ०१.१६९.३	निरु०६.१५
अयं ते योनिर्ऋत्विय:	ऋ०३.२९.१०	निरु०२.१९
अयं यो होता किरु स यमस्य कम्	ऋ०१०.५२.३	निरु०६.३५
अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजस:	ऋ०१०.१२३.१	निरु०१०.३९
अयं वेनश्चोदयत्	ऋ०१०.१२३.१, निरु०१०.३९	निरु०२.१४
अयं वै त्वत्	शाङ्खा०श्रौ०४.१४.३६	निरु०७.२१
अयं वै वायु: पवते प्राण:	तु०शत०ब्रा०१०.३.३.७	निरु०६.१५
अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत्	ऋ०४.३४.३	निरु०६.१६
अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता	ऋ०१.१६४.२९	निरु०२.९
अयं सोम: सुदानव:	ऋ०१.४५.१०	निरु०१२.२
अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्	ऋ०१.३०.४	निरु०१.१०
अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं	ऋ०१.३२.६	निरु०६.४
अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि	ऋ०१०.१४६.१	निरु०९.३०
अरा इवेदचरमा अहेव प्र प्रजायन्ते	ऋ०५.५८.५	निरु०२.१४
अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ	ऋ०१०.१५५.१	निरु०६.३०
अरुणो मासकृद् वृक: प्रथा यन्तं ददर्श	ऋ०१.१०५.१८	निरु०४.६; ५.२१
अर्चा दिवे बृहते शूष्यं वच: स्वक्षत्रं यस्य	ऋ०१.५४.३	निरु०६.१८
अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गो: पुरा	ऋ०३.३०.१०	निरु०२.२, ७; ६.२
अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण:	यजु०२०.१८	निरु०५.१८

अवसृजा वनस्पते	ऋ०१.१३.११	निरु०८.१७
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्	तु०मनु०९.१३३, १३९	निरु०३.३
अवीरामिव मामयं शरारुरभि	ऋ०१०.८६.९	निरु०६.३१
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम्	ऋ०१०.१३३.२	निरु०१.१५
अशुरंशुस्ते	मै०सं०१.२.७; ३.८.२	निरु०८.२
अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन् मत्स्यं न दीन उदनि	ऋ०१०.६८.८	निरु०१०.१२
अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि	ऋ०२.२४.४	निरु०१०.१३
अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत	ऋ०१.१०९.२	निरु०६.९
अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः	ऋ०१.२७.१	निरु०१.२०; २.१
अश्वादियायेति यद् वदन्त्योजसो जातमुत	ऋ०१०.७३.१०	निरु०८.२
अश्विना वायुना युवं सुदक्षा	ऋ०३.५८.७	निरु०१२.२
अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुप	ऋ०९.११२.४	निरु०९.२
असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा	वा०सं १६.५४	निरु०१.१५
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्	सांख्यकारिका-९	निरु०१.२
असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते	ऋ०६.७०.२	निरु०५.२
असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि	ऋ०१.३९.१०	निरु०६.२३
असावादित्यः शिरः प्रजानाम्	तै०ब्रा०१.२.३.३	निरु०२.७
असावादित्यो देवानां चक्षुः	तु०श०ब्रा०३.२.२.१३; १०.३.३.७; जै०उप०३.२.७	निरु०१२.१६
असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा	ऋ०१०.५९.५	निरु०१०.४०
असौ वा आदित्यो मधु	तु०छा०उ०३.१.१	निरु०३.१२
असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः	मै०सं०२.१.२	निरु०७.२३
अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसः	ऋ०८.२७.१०	निरु०६.१४
अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि	ऋ०१.६१.१	निरु०५.११
अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रम्	ऋ०१.६१.१२	निरु०२.१; ६.२०
अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायः	ऋ०३.३६.१०	निरु०६.७
अस्मै बहूनामवमाय सख्ये	ऋ०२.३५.१२	निरु०१.२०
अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता	ऋ०१.१६४.१	निरु०४.२६, २५
अस्या ऊ षु ण उप सातये	ऋ०१.१३८.४	निरु०४.२५
अस्याक्षिणी निर्जघान	तु०कौ०ब्रा०६.१३	निरु०१२.१४
अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुम्	ऋ०१.६१.७	निरु०५.४
अहं च त्वं च	ऋ०८.६२.११	निरु०१.४
अहं च---रातयः	ऋ०८.६२.११	निरु०१.४
अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि	ऋ०१०.४८.१	निरु०७.२
अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः	ऋ०१०.१२५.१	निरु०७.२

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द	ऋ०१.३२.१	निरु०२.१६
अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता	ऋ०१.३२.५	निरु०६.१७
अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण:	ऐ०ब्रा०४.१०	निरु०११.२३
अंहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च वि वर्तेते	ऋ०६.९.१	निरु०२.२१; ४.१९
अहानीव सूर्य:	ऋ०८.४८.७	निरु०२.२०
अहिरिव भोगै: पर्येति बाहुं ज्याया हेतिम्	ऋ०६.७५.१४	निरु०९.१५
अहेडमानो ररिवाँ अजाश्व	ऋ०१.१३८.४	निरु०१.१.
अह्नश्चतुर्थेनाह्नाप्नुवन्ति अनुष्टुभं छन्द एकविंशति स्तोमं वैराजं साम उदीचीं दिशं शरदमृतूनाम्	कौ०ब्रा०२२.९	निरु०७.११
आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामय:	ऋ०१०.१०.१०	निरु०१.१०; ४.२०
आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्	ऋ०८.४५.१	निरु०६.१४
आ च परा च	ऋ०१.१६४.३१; १०.१७.६	निरु०१.३
आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते	ऋ०६.७५.१३	निरु०९.२०
आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभि:	ऋ०१०.१०१.१०	निरु०४.१९
आ ते कारो शृणवामा वचांसि	ऋ०३.३३.१०	निरु०२.२७
आ ते पित:	ऋ०२.३३.१	निरु०७.२३
आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि	ऋ०८.६८.१.	निरु०५.३; १२.२१
आ त्वाहार्षमभिवत्तेन हविषा	तु०ऋ०१०.१७३.१	निरु०९.९
आ दधिक्रा: शवसा पञ्च कृष्टी: सूर्य इव ज्योतिषा	ऋ०४.३८.१०	निरु०२.२७; १०.३१
आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भि:	ऋ०२.१८.४	निरु०७.६
आ धावता सुहस्त्य: शुक्रा गृभ्णीत	ऋ०९.४६.४	निरु०२.५
आ नो दिव:	ऋ०५.४३.११	निरु०२.२४
आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धास:	ऋ०१.८९.१	निरु०४.१९
आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तं नि ते देष्णस्य	ऋ०३.३०.१९	निरु०६.७
आ नो भर सुवितं यस्य चाकन्	ऋ०१०.१४८.१	निरु०६.२८
आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्	ऋ०३.६२.१६	निरु०७.१०
आ नो यज्ञं भारती	ऋ०१०.११०.८ निरु०८.१३	निरु०७.८; ८.१३
आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे	ऋ०१.८१.५	निरु०३.१३
आ यन्मे अभ्वं वनद: पनन्तोशिग्भ्यो नामिमीत	ऋ०२.४.५	निरु०६.१७
आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्	शा०श्रौ०८.२२.१	निरु०७.२३
आ रात्रि पार्थिवं रज: पितुरप्रायि धामभि:	अथर्व०१९.४७.१	निरु०९.२९
आ रुक्मैरा युधा नर ऋष्वा ऋष्टी:	ऋ०५.५२.६	निरु०६.१६
आ रुद्रास इन्द्रवन्त: सजोषसो हिरण्यरथा: सुविताय	ऋ०५.५७.१	निरु०११.१५
आ वामुपस्थमद्रुहा देवा: सीदन्तु यज्ञिया:	ऋ०२.४१.२१	निरु०९.३७
आ विद्युन्मद्भिर्मरुत: स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भि:	ऋ०१.८८.१	निरु०११.१४
आ श्येनस्य जवसा नूतनेनास्मे यातम्	ऋ०१.११८.११	निरु०६.७

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता	ऋ०१०.११०.६	निरु०८.११
आ सिञ्चस्व जठरे	ऋ०३.४७.१	निरु०४.७
आकीं सूर्यस्य रोचनात्	ऋ०१.१४.९	निरु०३.१३
आगधिता परिगधिता या कशीकेव	ऋ०१.१२६.६.	निरु०५.१५
आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारम्	ऋ०१०.२१.१	निरु०३.१३
आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः	अनुपलब्धमूलम्	निरु०८.२२
आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्	ऋ०६.५५.६	निरु०६.४
आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः	ऋ०१०.११०.३	निरु०८.८
आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण	न्या०वात्स्या०१.१.४	निरु०३.१३
आत्रेयम् सुसमिद्धाय शोचिषे	ऋ०५.५.१	निरु०८.२२
आदह स्वधा---यज्ञियम्	ऋ०१.६.४	निरु०१.५
आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च	ऋ०४.२६.७	निरु०११.२
आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ	ऋ०१०.८९.५	निरु०५.१२
आपो वै सर्वा देवताः	ऐत०ब्रा०२.१६, कौ०ब्रा०११.४	निरु०५.१४
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन	ऋ०१०.९.१	निरु०९.२७
आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयः	ऋ०८.८९.७	निरु०२.१; ६.१४
आयजी वाजसातमा ता ह्यु१च्चा विजर्भृतः	ऋ०१.२८.७	निरु०९.३६
आराच्छत्रुमप बाधस्व	ऋ०१०.४२.७	निरु०१.३; ५.२४
आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्	ऋ०१०.९८.५	निरु०२.११
आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः	ऋ०१.९५.५	निरु०८.१५
आशुः शिशानो वृषभो न भीमः	ऋ०१०.१०३.१	निरु०१.१५
आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः	ऋ०१.१०.९	निरु०७.६
आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासः	ऋ०६.३७.३	निरु०७.५; १०.३
आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति	ऋ०१०.२७.१३, निरु०६.६	निरु०२.२
आहुतिभ्य एवैनं जनयन्ति	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.२८
इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति	ऋ०१०.११९.१	निरु०७.२
इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वम्	ऋ०८.२.४०	निरु०३.१६
इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त	तै०सं०३.१९	निरु०११.१६
इदं फेनो न कश्चिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन मायेयं तव दुष्पारा विपश्चिदिति पश्यति मायामात्रमिदं सर्वमद्वैतं परमार्थतः।	अनुपलब्धमूलम्	निरु०३.११
इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती	ऋ०४.४९.१	निरु०७.१०
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्	ऋ०१.२२.१७	निरु०१२.१९
इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः	ऋ०१.११३.१	निरु०२.१९
इदं हविर्मघवन् तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानः	ऋ०१०.११६.७	निरु०७.६
इदमित्था	ऋ०१०.६१.१	निरु०९.९

इदमु त्यत्---जनाय	ऋ०४.५१.१	निरु०१.५
इन्दो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र	ऋ१०.८९.१०	निरु०७.२
इन्द्र आशाभ्यस्परिं सर्वाभ्यो अभयम्	ऋ०२.४१.१२	निरु०६.१
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ	ऋ०१०.१७३.२	निरु०३.१३
इन्द्रे कामा अयंसत दिव्यासः पार्थिवा उतत्यमू षु	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.२
इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा	ऋ०१.६.७	निरु०४.१२
इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा	ऋ०७.१८.१५	निरु०६.६; ७.२
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स	ऋ०१.१६४.४६	निरु०७.४; ७.१८
इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानः	ऋ०३.३४.१	निरु०४.१७
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः	ऋ१.७.१	निरु०७.२
इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्	ऋ०१.२.४	निरु०१.५; ७.१०
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्	ऋ०६.६९.८	निरु०१.४
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार	ऋ०१.३२.१	निरु०७.२, ३
इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये	ऋ०६.५७.१	निरु०४.३; ७.१०
इन्द्रो अश्रायि सुध्यो निरेके पज्रेषु स्तोमो दुर्यो न	ऋ०१.५१.१४	निरु०६.३१
इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुः	ऋ०३.३३.६	निरु०२.२६
इन्द्रो दिवः	ऋ०१०.८९.१०	निरु०२.१६
इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनाम्	ऋ०७.१०४.२१	निरु०६.३०
इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि	ऋ०५.३१.९	निरु०७.१०
इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः	ऋ०३.१२.९	निरु०७.१०
इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्	ऋ०१०.८६.११	निरु०११.३८
इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतम्	ऋ०३.५३.१	निरु०७.१०
इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु	यत्सीमुपह्वरे विदत्	निरु०६.८
इन्द्राय वृत्रघ्ने	ऋ०९.९८.१०	निरु०७.१३
इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायाँहोमुचे	मै०सं०३.१५.११	निरु०७.१३
इन्द्रांय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्	ऋ०८.९८.१	निरु०७.२
इन्द्रायेन्दो परि स्रव	ऋ०८.९१.३	निरु०१.३; ३.१९
इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि	ऋ०७.८२.१	निरु०५.२; ७.१०
इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च	ऋ०७.९९.५	निरु०७.१०
इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु	ऋ०७.१०४.२	निरु०६.११; ७.१०
इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणम्	ऋ०१०.१०२.९	निरु०९.२४
इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप	ऋ०१.१७९.५	निरु०६.४
इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता	ऋ०१०.७५.५	निरु०९.२६
इमा उ वां भृमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या	ऋ०३.६२.१	निरु०५.५
इमा गिर आदित्येभ्यः	ऋ०२.२७.१	निरु०११.२३; १२.३६
इमा जुह्वाना	ऋ०७.९५.५	निरु०२.२४

इमा नु कं भुवना	ऋ०१०.१५७.१	निरु०३.१३
इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद	ऋ०३.४१.३	निरु०४.१९
इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय	ऋ०७.४६.१	निरु०१०.६
इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यम्	ऋ०१.३१.१६	निरु०६.२०
इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य	ऋ०५.८५.६	निरु०६.१३
इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं	ऋ०७.६०.७	निरु०६.२०
इमे वै सहास्तां ते शम्यामात्रं न्यैताम्	मैत्रा० सं०४.१.७	निरु०४.२५
इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतम्	अनुपलब्धमूलम्, निरु०४.१७	निरु०४.१७
इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ व्येत्तानां वर्षन्ते न	ऐत०ब्रा०१९.५	निरु०४.२५
इयं वै पूषा	मै०सं०२.५.५	निरु०१२.१७
इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्	ऋ०६.६१.२	निरु०२.२४
इळा मनुष्वदिह	ऋ०१०.११०.८ निरु०८.१३	निरु०७.८
इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि	ऋ०८.४८.७	निरु०४.७
इह त्या सधमाद्या युजानः सोमपीतये	ऋ०८.१३.२७	निरु०६.२१
इह श्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य स्तवे	ऋ०१०.२२.२	निरु०६.२३
इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये अग्नायीम्	ऋ०१.२२.१२	निरु०९.३४
इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः	ऋ०१.१८१.४	निरु०१२.३
इहैव स्तं मा वियौष्टं	ऋ०१०.८५.४२	निरु०१.१६
इहैवैधि---धारय	ऋ०१०.१७३.२	निरु०१.४
ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासः	ऋ०१.१६३.१०	निरु०४.१३
उच्छ्रयस्व वनस्पते	ऋ०३.८.३	निरु०१.३
उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्	ऋ०५.४६.८	निरु०१२.४६
उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुदुरेवासः समुद्रे	ऋ०७.६८.७	निरु०४.१९
उत त्या मे यशसा श्वेतनायै व्यन्ता	ऋ०१.१२२.४	निरु०६.२१
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः	ऋ०१०.७१.५	निरु०१.८, २०
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्	ऋ०१०.७१.४	निरु०१. १७, १९
उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः	ऋ०६.५०.१४	निरु०१२.३३
उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा	ऋ०८.१९.३७	निरु०४.१५
उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो गाव आपश्च	ऋ०१.१५३.४	निरु०४.१९
उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः	ऋ०५.५२.९	निरु०५.५
उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति	ऋ०४.३८.५	निरु०४.२४
उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति	ऋ०४.४०.४	निरु०२.२८
उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रम्	ऋ०६.५६.३	निरु०२.६
उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेकः	ऋ०३.३०.५	निरु०६.१; ७.६
उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्	ऋ०७.३३.११	निरु०५.१४
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे	ऋ०१०.७१.४	निरु०१.८

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः	गी०१५.१७	निरु०३.१५
उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तम्	ऋ०१.६४.६	निरु०१०.९
उदु त्यं जातवेदसम्	ऋ०१.५०.१	निरु०१.१
उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः	ऋ०१०.१५.१	निरु०११.१८
उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति	ऋ०१०.११.६	निरु०३.१६
उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवः	ऋ०७.७६.१	निरु०११.१०
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः	ऋ०१.५०.१	निरु०७.२०; १२.१५
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्	ऋ०१.२४.१५	निरु०२.१३
उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया	ऋ०१.१६१.११	निरु०११.१६
उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यम्	ऋ०३.३०.१७	निरु०६.३
उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि	अथर्व०४.१५.१४	निरु०९.७
उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप	ऋ०१.१६२.७	निरु०६.२२
उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुञ्चता	ऋ०३.५३.११	निरु०७.२
उप बर्बृहि वृषभाय	ऋ०१०.१०.१०	निरु०१.३
उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितम्	ऋ०६.४७.२९	निरु०९.१३
उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत	ऋ०१.१६४.२६	निरु०११.४३
उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा	ऋ०१०.११०.१०	निरु०८.१७
उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा	ऋ०१.१२४.४	निरु०४.१६
उपोप मे परा मृश मा मे	ऋ०१.१२६.७	निरु०३.२०
उभयाहस्त्या भर	ऋ०५.३१.१, निरु०४.४	निरु०४.३
उभा जिग्यथुः--- ऐरयेथाम्	ऋ०६.६९.८	निरु०१.४
उमादः पुरुष	अनुपलब्दमूलमिदं वचनम्	निरु०२.१४
उरु प्रथस्व इति प्रथयति प्रोहाणि इति प्रोहति इति		निरु०१.१५
उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्स्वर्वज्ज्योतिरभयम्	ऋ०६.४७.८	निरु०७.६
उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति	ऋ०१.९२.१३	निरु०१२.६
ऊर्णम्रदा वि	ऋग्०५.५.४	निरु०८.९
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि	अथर्व०७.१४.२	निरु०६.१२
ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्	ऋ०१०.७१.११	निरु०१.८
ऋचीषमः	ऋ०१०.२२.२, निरु०६.२३	निरु०१३.१
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे	ऋ०१.१६४.३९	निरु०१३.१०
ऋच्यध्यूढं साम गायति	छा०उप०१.६.७	निरु०७.१२
ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा	ऋ०५.४०.४	निरु०५.१२
ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्	ऋ०१.९०.१	निरु०६.२१
ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे	ऋ०८.२५.२२	निरु०५.१५
ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्	ऋ०१.८.१६	निरु०५.२१
ऋतं च सत्यं च	ऋ०१०.१९०.१	निरु०३.१३

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य	ऋ०१०.६७.२	निरु०५.४
ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति न श्राम्यन्ति न वि	ऋ०२.२८.४	निरु०१२.३७
ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि	ऋ०४.२३.८	निरु०६.१६; १०.४१
ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न	ऋ०८.४८.१०	निरु०६.४
ऋध्याम स्तोमं सनुयाम वाजमा नो मन्त्रं सरथेहोप	ऋ०१०.१०६.११	निरु०१२.४०
ऋबीसे अत्रिमश्विनौ	ऋ०१.११६.८	निरु०६.३
ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः	ऋ०७.४८.२.	निरु०५.२
ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवाः	मूलमनुपलब्धम्	निरु०११.१९
एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः	तै०सं०१.८.६.१	निरु०१.१५
एकं चमसं चतुरस्कृणोतन	ऋ०१.१६१.२	निरु०११.१६
एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१२.२९
एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनम्	ऋ०१०.११४.४	निरु०१०.४६
एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्	ऋ०८.७७.४	निरु०५.११
एकादश संप्रैषैर्यानि जानीमश्छन्दांसि	मूलमनुपलब्धम्	निरु०८.२२
एतत्त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमः	ऋ०१.८८.५	निरु०५.४
एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या	ऋ०४.३०.११	निरु०११.४८
एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम्,		निरु०१.१६
एतया निषादस्थपतिं याजयेत्	का०श्रौ०१.१.१२, कर्कभाष्ये द्रष्टव्यम्	निरु०३.८
एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसः	ऋ०१.९२.१	निरु०१२.७
एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो	ऋ०१०.५०.६	निरु०५.२५
एता हि नो मरुतो अरातीर्जिघांसन्ते शवसा मघानि	अनुपलब्धमूलमिदं वचनम्	निरु०४.७
एते वदन्ति शतवत् सहस्रवद्भि क्रन्दन्ति	ऋ०१०.९४.२	निरु०७.७
एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभिष्याम वृजने	ऋ०१.१०५.१९	निरु०५.११
एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्	ऋ०४.१०.३	निरु०२.१४
एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव	ऋ०१०.३४.५	निरु०१२.७
एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने	ऋ०१.९.२	निरु०१.१०
एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुप	ऋ०१०.९९.१२.	निरु०५.३
एष देवो रथर्यति पवमानो दशस्यति आविष्कृणोति	ऋ०९.३.५	निरु०६.२८
एष नोदियात् यद्येतामग्नावाहुतिं न जुहुयात् इति	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.२८
एहि वां विमुचो नपादाघृणे सं सचावहै	ऋ०६.५५.१	निरु०५.९
ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत	ऋ०३.३३.९	निरु०२.२६
ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा	मूल अज्ञात	निरु०७.१
ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत	ऋ०१.३.७	निरु०१२.४०
ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः	ऋ०१०.९७.३	निरु०६.३
ओषधे त्रायस्वैनम्	तै०सं० १.२.१.१, ३.५.१, ९.२,	निरु०१.१५

	६.३.३.२, ९.१; मैoसं० १.२.१, ९.९, १.२.१४, २३.५, १.२.१६, २६.१२, ३.६.२, ६१.३, ३.९.३, ११५.१८, ३.१०.१, १२९.१; का०सं० २.१, ३.२, ६., २६.३; आप०श्रौ०सू० ७.२.४, १८.१२, १०.५.८, १०; मा०श्रौ०सू० १.८.१.६, ४.७, २.१.१.२२; आ०गृ०सू० १.१७.८; शा०गृ० १.२८.१२; कौ० सू० ४४.३०; सा०मं०ब्रा० १.६.५; गो०गृ० २.९.१४; हि०गृ०सू० १.९.१३, २.६.७; मा०गृ०सू० १.२१.४;	
कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा	ऋ०१.१८५.१	निरु०३.२२
कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्	ऋ०१.८४.८	निरु०५.१७
कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः	ऋ०१०.१०५.१	निरु०५.१२
कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयशसे	ऋ०५.४८.१	निरु०५.५
कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नः	ऋ०८.६६.१०	निरु०६.२६
कद्धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने	ऋ०४.३.६	निरु०२.७
कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव	ऋ०२.४२.१	निरु०९.४
कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके	ऋ०४.३२.२३	निरु०४.१५
कल्पनाद्धि प्रयोगाणां कल्पोऽनुष्ठानसाधनः	मूलमनुपलब्धम्	निरु०८.२
कामस्तदग्रे	ऋ०१०.१२९.४	निरु०३.१३
कायमानो वना त्वं यन्मातॄः	ऋ०३.९.२	निरु०४.१४
कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना	ऋ०९.११२.३	निरु०६.६
किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न	ऋ०३.५३.१४	निरु०६.३२
किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः	ऋ०१०.१०८.१	निरु०११.२५
किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद्ववक्षे	ऋ०७.१००.६	निरु०५.८
कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना	ऋ०१०.४०.२	निरु०३.१५
कुहूमहꣳ सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां	मैoसं०४.१२.६	निरु०११.३३
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना	ऋ०१.१६४.४७	निरु०७.२४
कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि	ऋ०४.४.१	निरु०६.१२
कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा	ऋ०१०.४३.५	निरु०५.२२
केचित् संविद्रवतेऽथ कालादावपि वर्तते	मूल अज्ञात	निरु०७.१
केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी	ऋ०१०.१३६.१	निरु०१२.२६
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः	ऋ०१०.१०.६	निरु०५.२
को नु मर्या अमिथितः सखा	ऋ०८.४५.३७	निरु०४.२

को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन	ऋ०१.१६५.१३	निरु०४.७
क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्	ऋ०१.३७.१	निरु०७.२
क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि	ऋ०४.५७.१	निरु०१०.१५
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु	ऋ०४.५७.२	निरु०१०.१६
गन्धर्वो अस्य रशनाम्	ऋ०१.१६३.२	निरु०४.२५
गवामसि गोपतिः	ऋ०७.९८.६	निरु०२.१४
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः	ऋ०१.१०.१	निरु०५.५
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्	ऋ०९.४६.४	निरु०२.३; २.५
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व	ऋ०६.४७.२६	निरु०२.५
गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते	ऋ०८.२.६	निरु०५.३
गोरक्षकान् वाणिजिकास्तथा कारुकुशीलवान्	मनु०८.१०२	निरु०६.२६
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्च	ऋ०१.६१.१२	निरु०२.१
गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा	ऋ०१.१६४.२८	निरु०११.४२
गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा	ऋ०१.१६४.४१	निरु०११.४०
ग्रीवायां बद्धो अपि	ऋ०४.४०.४	निरु०१.३
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनाम्	ऋ०१०.५१.८	निरु०२.२
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त	ऋ०४.५८.८	निरु०४.१५
चकार गर्भं सनितुर्निधानम्	ऋ०३.३१.२	निरु०४.३
चतुरश्चिद्ददमानात्	ऋ०१.४१.९, निरु०३.१६	निरु०२.२; ३.१६; ५.५
चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये	ऋ०१.१६४.४५	निरु०१३.९
चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा	ऋ०१.१०५.१	निरु०४.६
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य	ऋ०१.११५.१	निरु०१२.१६
चिदसि मनासि धीरसि	मैत्रा०सं०१.२.४, तु० यजु०४.१९-२०	निरु०५.५
जघनादसृजत	तु०तां०ब्रा०९.२.११	निरु०३.८
जनं भगो गच्छति	मै०सं०१.६.१२	निरु०१२.१४
जनयद्यै त्वा संयौमि	यजु०१.२१	निरु०४.२५
जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय	ऋ०१.२७.१०	निरु०१०.८
जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय	मूलमनुपलब्धम्	निरु०५.१५
जातवेदो वहस्वैनं सुकृतां यत्र लोकः	शाङ्खा०श्रौ०४.१४.३६	निरु०७.२१
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां	ऋ०१०.१०.७	निरु०५.२
जार आ भगम्	ऋ०१०.११.६; निरु०३.१६	निरु०३.१६
जिघर्म्यग्निं हविषा	ऋ०२.१०.४	निरु०२.२
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्	मनु०१२.१३	निरु०३.१५
जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्	ऋ०८.६७.५	निरु०६.२७
जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य	ऋ०७.२.१	निरु०८.२२

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमम्	ऋ०५.४.५	निरु०४.५; ५.१९
जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति	ऋ०५.१९.२	निरु०४.१९
ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त	ऋ०७.३९.३	निरु०१२.४३
ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति	ऋ०५.४४.८	निरु०६.१५
ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभः	तैत्ति०सं ४.३.११.३, मैत्रा० सं०२.१३.१०, काठ०सं०३९.१०	निरु०२.१४
त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे	ऋ०१०.८२.४	निरु०६.१५
तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः	ऋ०१.७.७	निरु०६.१८
तं धक्ष्यतसं शुष्कम्	ऋ०४.४.४	निरु०५.१२
तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिम्	ऋ०५.४४.१	निरु०३.१६
तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्	ऋ०१.६६.५	निरु०१०.२१
तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति	बृहद्० उ०४.४.२	निरु०२.१३
तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः	ऋ०९.९८.१२	निरु०५.१५
तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये	मैत्रा०सं०४.१३.१०	निरु०४.२१
ततो विवस्वानादित्योऽजायत	तै०सं०६.५.६	निरु०२.१३
तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि	अनुपलब्धमूलम्	निरु०४.१
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः	ऋ०१.२४.११	निरु०२.१
तत्परीक्ष्य सवर्णो न स जुहाव	तु०बृहद्देवता १०१	निरु०३.१७
तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोः	ऋ०१.११४.४	निरु०४.११
तत् पूष्णे पर्याजह्रुः	शत०ब्रा०१.७.४.	निरु०६.३१
तदु प्रयक्षतमं---चतस्रः	ऋ०१.६२.६	निरु०१.५
तदद्य वाचः प्रथमं मसीय	ऋ०१०.५३.४	निरु०३.८
तदुद्वपति गां	वा०सं०१२.७१	निरु०७.२
तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायत	तै०आ०२.१	निरु०२.११
तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त	ऋ०२.२४.३	निरु०५.१६
तद्यच्छामि	तै०ब्रा०२.७.७.७	निरु०३.८
तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्	ऋ०८.२५.१३	निरु०५.१
तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू	ऋ०१०.४.६	निरु०३.१४
तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्	ऋ०१०.११०.२	निरु०८.६
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना	ऋ०१.१४२.१०	निरु०६.२१
तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि	ऋ०१०.१०.११	निरु०६.२८
तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना	तु० यजु०४.२६	निरु०६.७
तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलम्	ऋ०१०.१२९.३	निरु०७.२
तमर्वन्तं न सानसिं गृणीहि विप्र शुष्मिणम्	ऋ०८.१०२.१२	निरु०४.१४
तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव	ऋ०९.६१.१४	निरु०१.१०
तमिन्वेव समना समानमभि क्रत्वा	ऋ०४.५.७	निरु०६.१७

तमीमह इन्द्रमस्य राय: पुरुवीरस्य	ऋ०६.२२.३	निरु०६.३
तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागम्	ऋ०८.९०.६	निरु०५.२२
तमु न: पूर्वे पितरो नवग्वा: सप्त विप्रास:	ऋ०६.२२.२	निरु०६.३
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्	ऋ०१०.८८.१०, निरु०७.२८	निरु०२.९; ५.२; १२.१९
तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभि:	ऋ०८.४१.२	निरु०१०.५
तमेव ऋषिं---रराध	ऋ०१०.१०७.६	निरु०१.५
तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नय ऋतं मन्वाना	ऋ०१०.१३८.१	निरु०४.२५
तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविष:	ऋ०१०.५१.९	निरु०८.२२
तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्	तैत्ति०आर०१०.१०.३ मु०१०.४	निरु०७.५
तस्मात् सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति	मै०सं०१.८.२	निरु०७.१९
तस्मादाहुरदन्तक: पूषा	श०ब्रा०१.७.४.	निरु०६.३१
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच: सामानि	ऋग्०१०.९०.६	निरु०७.११
तस्मिन्नहं नि दधे नाके अग्निम्	यजु०वा०सं०१५.४९, तैत्ति० सं०४.७.१३.३	निरु०२.१४
तस्मै जुहोमि हविषा घृतेन मा देवानां मोमुहत्	आ०श्रौ०८.१४.४	निरु०८.२
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे	ऋ०६.४७.१३	निरु०६.७
तस्या: समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति	ऋ०१.१६४.४२	निरु०११.४१
ता नो रासन् रातिषाचो वसून्या रोदसी	ऋ०७.३४.२२	निरु०६.१४
ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै	ऋ०१.१५४.६	निरु०२.७
ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती सचेते	ऋ०२.४१.६	निरु०२.१३
ताँ आ रुद्रस्य मीळ्हुषो विवासे कुविन्नंसन्ते	ऋ०७.५८.५	निरु०४.१५
तां विश्वरूपा: पशवो वदन्ति	ऋ०२.३५.१०	निरु०३.१६
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितम्	अथर्व०१०.८.९	निरु०१२.३८
तिष्ठा सु कं	ऋ०३.५३.२	निरु०३.१३
तिस्रो देवी:	ऋ०१०.११०.८	निरु०७.८
तुविग्रीव:	ऋ०५.२.१२; ८.१७.८; ८.६४.७	निरु०७.५
तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीव: स्तोकासो अग्ने	ऋ०३.२१.४	निरु०५.११
तुल्यश्रुतीनां ....अभिधेयै: परस्परम् वर्णानां य: पुनर्वादो यमकं तन्निरुच्यते	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१०.१६
तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनु: साधुर्बुन्द:	ऋ०८.७७.११	निरु०६.३३
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य	ऋ०१.१६४.१	निरु०४.२५
ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृताम्	ऋ०६.७५.४	निरु०९.४०
ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसते	ऋ०१०.९४.९	निरु०२.५
ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा: सधस्थं विश्वे अभि	ऋ०७.३९.४	निरु०६.१३
तेनादान्तान् दमयेत्	गौत०धर्म०११.३०	निरु०२.२

तेनेदं हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.५
त्यं चिदित्था कत्पयं शयानमसूर्ये तमसि	ऋ०५.३२.६	निरु०६.३
त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.५
त्यञ्चिदित्था कत्पयम्	ऋ०५.३२.६, निरु०६.३	निरु०२.२
त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्	ऋ०१०.१७८.१	निरु०१०.२८
त्रय: केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक	ऋ०१.१६४.४४	निरु०१२.२७
त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रम्	ऋ०६.४७.११	निरु०२.१
त्रि स्म माह श्नथयोवैतसेन	ऋ०१०.९५.५	निरु०४.१९
त्रित: कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये तच्छुश्राव	ऋ०१.१०५.१७	निरु०४.६; ६.२७
त्रिरात्रं रजस्वलाऽशुचिर्भवति मासि मासि रज:	वासि०ध०शा० २८.४	निरु०४.१९
त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी	य०वा०सं०८.३६; ३२.५	निरु०३.२१
त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव	ऋ०४.१.४	निरु०१.३; ७.८
त्वं नो अस्य वचसश्चिकिद्धि	ऋ०४.४.११	निरु०४.२५
त्वं ह यद्यविष्ठ्य सहस: सूनवाहुत ऋतावा यज्ञिय:	ऋ०८.७५.३	निरु०८.२
त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्य:	ऋ०२.१.१	निरु०६.१; १३.१
त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्य:	ऋ०५.१३.४	निरु०६.७
त्वमस्मादयं ते योनिस्त्वमस्य योनि:	शाङ्खा०श्रौ०४.१४.३६	निरु०७.२१
त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजस:	ऋ०१०.१५३.२	निरु०७.२
त्वया दृळहानि सुक्रतो रजांसि	ऋ०६.३०.३	निरु०४.१९
त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता	ऋ०१०.८४.१	निरु०१०.३०
त्वया वयं मघवन्	ऋ०१.१३२.१	निरु०५.२
त्वया वयं सधन्यस्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम	ऋ०४.४.१४	निरु०५.१५
त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते	ऋ०२.२३.९	निरु०३.११
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति	ऋ०१०.१७.१	निरु०१२.११
त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे	ऋ०६.४.७	निरु०१.१७
त्वामग्ने समिधानो वसिष्ठो जरूथं हन्यक्षि	ऋ०७.९.६	निरु०६.१७
त्वामिन्द्र मतिभि: सुते सुनीथासो वसूयव:	अनुपलब्धमूलम्	निरु०४.१९
त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा	ऋ०१.१५५.२	निरु०११.८
दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा	ऋ०१०.६४.५	निरु०११.२३
दण्डस्य हि भयान्नीच: पापं कर्म न सेवते	मनु०७.९८, महा०शा०१५.५	निरु०२.२
दनो विश इन्द्र मृध्रवाच: सप्त यत्पुर:	ऋ०१.१७४.२	निरु०६.३१
दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो	ऋ०१०.९४.७	निरु०३.९
दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा	ऋ०१.३२.११	निरु०२.१७
दिव आहु: परे अर्धे पुरीषिणाम्	ऋ०१.१६४.१२	निरु०२.७
दिवं जिन्वन्त्यग्नय:	ऋ०१.१६४.५१	निरु०५.२४
दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि	ऋ०१०.४५.१	निरु०४.२४

दिवि पृष्टोऽअरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन्	यजु०३३.९२	निरु०७.२३
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नतो एति पृथिव्या	ऋ०१०.१६८.१	निरु०१०.२
दीर्घायुरस्या य: पति:	ऋ०१०.८५.३९	निरु०४.२५
दुर्मदासो न सुरायाम्	ऋ०८.२.१२	निरु०१.४; ३.१३, १५
दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्	ऋ०४.८.१	निरु०६.२१
देवताधिकारे द्वे परे राज्ञाम्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०९.९
देवयाना: पितृयाणाश्च लोका: सर्वान् लोकाननृणा:	मान०श्रौ०२.५.५.२२	निरु०७.९
देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप: पुपोष प्रजा: पुरुधा	ऋ०३.५५.१९	निरु०१०.३४
देवस्य वयं सवितु: सवीमनि श्रेष्ठे स्याम	ऋ०६.७१.२	निरु०६.७
देवा दधिरे हव्यवाहम्	ऋ०१०.५२.३ निरु०६.३५	निरु०४.१७
देवा वै वृत्रस्य मर्म नाविन्दन्	मैत्रा०सं०१.१०.१४	निरु०५.५
देवा: कपोत इषितो यदिच्छन्	ऋ०१०.१६५.१	निरु०१.१७
देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम् मुखाद् देवानसृजत	तैत्ति०ब्रा०२.२.९.७	निरु०३.८
देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु न: प्रावन्तु नस्तुजये	ऋ०५.४६.७	निरु०१२.४५
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि	ऋ०१.८९.२	निरु०१२.३९
देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्	ऋ०१०.२७.२३	निरु०२.२२; ७.५
देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्यावक्षत्सग्धिं सपीतिमन्या	काठ०सं०१९.१३; मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३	निरु०९.४३
देवी जोष्ट्री वसुधीती ययोरन्याद्या द्वेषांसि	काठ०सं०१९.१३; मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३	निरु०९.४२
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा:	ऋ०८.१००.११	निरु०११.२९
देवी: षळुर्वीरुरु न: कृणोत विश्वे देवास इह	ऋ०१०.१२८.५	निरु०१०.४०
देवेभ्यश्च पितृभ्य आ	ऋ०१०.१६.११	निरु०१.४; १०.२१
देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते	मै०सं०४.१३.७	निरु०८.१९
देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं	ऋ०१०.१२.२	निरु०६.४
देवोऽसि नराशंस:	शां०श्रौ०७.५.२२; १८.२१.१२	निरु०९.९
दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना	ऋ०१०.११०.७	निरु०८.१२
दैव्या: शमितार उत मनुष्या आरभध्वमुपनयत	मै०सं०४.१३.४	निरु०५.११
दोषा वस्तोर्वहीयस: प्रपित्वे	ऋ०१.१०४.१	निरु०२.२०
दोषा वस्तोर्हविष्मती	ऋ०७.१.६	निरु०२.२०
द्यां भारत्यादित्यैरस्पृक्षत् सरस्वतीमं रुद्रै:	मै०सं०४.१३.८; तै०ब्रा०३.६.१३.७	निरु०७.८
द्यावा न: पृथिवी इमम्	ऋ०२.४१.२०; तै०सं०४.१.११.४; निरु०९.३८	निरु०४.३; ९.३८
द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता	ऋ०१.१६४.३३	निरु०४.२१
द्यौस्ते पृष्ठम्	मै०सं०२.७.२	निरु०७.४
द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे यज्ञेषु	ऋ०१.१५.७	निरु०८.२

द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः	ऋ०२.३७.४	निरु०८.२
द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः सहसस्पुत्रो अद्भुतः	ऋ०२.७.६	निरु०८.२
द्वादशैते नृणां मलाः	मनु०५.१३५	निरु०२.३
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्	ऋ०१.५०.१३	निरु०६.३२
ध्रुवो राजा विशामयम्	ऋ०१०.१७३.४	निरु०९.९
धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः	ऋ०६.७५.२	निरु०५.५; ९.१७
धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य	ऋ०१०.६६.१०	निरु०७.१०
धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा	मनु०२.११२	निरु०२.३
धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्	तु०अथर्व०७.१७.२, मै०सं०४.१२.६	निरु०११.११
धानासोमानामिन्द्राद्धि च पिब च बब्ध्यां ते हरी धाना	कुन्तापाध्याये प्रैषः ६६	निरु०५.१२
न किरिन्द्र	ऋ०४.३०.१	निरु०३.१३
न जामये तान्वो रिक्थमारैक्	ऋ०३.३१.२	निरु०२.२; ३.६
न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह	ऋ०१०.१०.८	निरु०५.२
न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्	ऋ०१.१७०.१	निरु०१.६
न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः	ऋ०८.६१.११	निरु०६.२५
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्	ऋ०१०.१२९.२	निरु०७.२
न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः	ऋ०१०.८९.६	निरु०५.३
न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ	ऋ०७.२१.५	निरु०४.१९
न वा उ ते तन्वा तन्वं१ सं पपृच्याम्	ऋ०१०.१०.१२	निरु०६.२८
न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा	ऋ०१.१६४.३७	निरु०७.२
न वै सुविदुरिव मनुष्या नक्षत्रं मीमांसव एव ह्युदितेन	अनुपलब्धमूलम्	निरु०१.१०
न वै सुविदुरिव मनुष्या यज्ञं तस्मात्र सर्व ऋध्नुवति	अनुपलब्धमूलम्	निरु०१.१०
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति	ऋ०१०.९५.१५	निरु०२.२
न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति	ऋ०३.५३.२३	निरु०४.१४
न ह वै ता आहुतयो देवान् गच्छन्ति ये अवषट्कृता	श०ब्रा०९.३.३.६, १४	निरु०८.२०
न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति	छा०उप० ८.१२.१	निरु०२.१४
न हि ग्रभायारणः सुशेवः	ऋ०७.४.८	निरु०३.३
नतेन पूर्वं दयमानाः स्याम	मैत्रा०सं०४.१३.८; तैत्ति०सं०३.६.१३	निरु०४.१७
नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमः	ऋ०१.२७.१३	निरु०३.२०
नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम	ऋ०७.२.३	निरु०८.७
नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्	ऋ०१०.८५.१९	निरु०११.६
नहि ग्रभाय	ऋ०७.४.८, निरु०३.३	निरु०३.१३
नाकस्य पृष्ठे०-० सदा	ऋ०१.१२५.५	निरु०१.५; २.१४

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति	ऐत०ब्रा०३३.१	निरु०२.११
नाराशंसी नरेभिः कारव्या इतीदं जना उपश्रुतेति	मूलमनुपलब्धम्	निरु०९.९
नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः	ऋ०१०.८९.५	निरु०१३.१, २
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति	ऋ०३.५३.१४	निरु०६.८
नासदासीत्	ऋ०१०.१२९.१	निरु०३. १३, १५
नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते	ऋ०१०.८६.१२	निरु०११.३९
नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद्	ऋ०१.५४.५	निरु०५.१६
नि सर्वसेन इषुधींरसक्त समर्यो गा अजति	ऋ०१.३३.३	निरु०६.२२
निष्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका	अनुपलब्धमूलम्	निरु०१.१०
निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत् पक्वम्	ऋ०७.७७.६	निरु०६.३४
नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी	ऋ०५.८५.३	निरु०१०.४
नीथाविदो जरितारः	ऋ०३.१२.५	निरु०५.१६
नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च	ऋ०१.९६.७	निरु०४.१७
नू नो रयिमुप मास्व नृवन्तं पुनानो वाताप्यं	ऋ०९.९३.५	निरु०६.२८
नू ष्ठिरं मरुतो वीरवन्तम्	ऋ०१.६४.१५	निरु०४.१६
नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे	ऋ०२.१६.९	निरु०१.७; ६.३
नृवत्त इन्द्र नृतमाभिरूती वंसीमहि वामं	ऋ०६.१९.१०	निरु०६.६
नेन्द्रं देवममंसत	ऋ०१०.८६.१	निरु०१.४
नैव कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्	गीता-३.५	निरु०१०.२२
नोपरस्याविष्कुर्याद् यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः	तु०मैत्रा०सं०३.९.४, काठक सं०२६.६	निरु०३.५
न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन् वृषभं मध्य आजेः	ऋ०१०.१०२.५	निरु०९.२३
न्यावा जज्ञानः पृथिवी अमेधा	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१०.२१
न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणम्	ऋ०१.३३.१२	निरु०६.१९
पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे	ऋ०१.१६४.१२	निरु०४.२७
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्न तस्थुर्भुवनानि	ऋ०१.१६४.१३	निरु०४.२७
पत्तो जगार प्रत्यञ्चमत्ति शीर्ष्णा शिरः प्रति	ऋ०१०.२७.१३	निरु०६.६
पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये	ऋ०८.९३.२२	निरु०५.१८
पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतः	ऋ०६.४९.८	निरु०१२.१८
पथ्यां स्वस्तिं प्रथमां प्रायणीये यजति	कौ०ब्रा०७.८	निरु०११.४५
पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रवः	ऋ०६.१.४	निरु०४.१९
पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति दध्नादित्यम्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०२.५
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्	ऋ०१०.१८.१	निरु०११.७
परा याहि मघवन्ना-रासभस्य	ऋ०३.५३.५	निरु०१.३
परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि	ऋ०९.७५.५	निरु०४.१५
परिददत् पितृभ्योऽग्निः	ऋ०१०.१७.३	निरु०७.२१

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः	ऋ०७.४.४	निरु०३.२
परीतो षिञ्चता सुतम्	ऋ०९.१०७.१	निरु०१.३
परेयिवाँसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थाम्	ऋ०१०.१४.१	निरु०१०.२०
पर्यवस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०८.९
पर्याया इव त्वदाश्विनम्	कौ०ब्रा०१७.४	निरु०१.९
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्	मनु०३.४५	निरु०५.२
पवमान मह्यर्णो वि धावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि	ऋ०९.८६.३४	निरु०५.६
पवमाना दिवस्प० सानवि	ऋ०९.६३.२७	निरु०१.३
पवित्रवन्तः परि वाचमासते	ऋ०९.७३.१३, निरु०१२.३२	निरु०५.६; १२.३२
पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् स देवान्नान्वकामयतैतुं तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्याम	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१.१६
पशुर्वै नीयमानः सन्मृत्युं प्रापश्यत् तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्यामः	ऐ०ब्रा०२.६	निरु०१०.२६
पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती	ऋ०१.३.१०	निरु०२.२३; ११.२६
पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः	ऋ०१०.६५.१३	निरु०२.२४; १२.३०
पिता कुटस्य चर्षणिः	ऋ०१.४६.४, निरु०५.२४	निरु०३.१३
पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनम्	ऋ०३.३.४.	निरु०५.२
पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्	ऋ०१.१८७.१	निरु०९.२५
पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्यादि........वचः श्रुतौ रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते	मूलमनुपलब्धम्	निरु०८.२
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति	ऋ०१.१४७.२	निरु०४.२५
पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेष भाति मतङ्गजः सरः	अनुपलब्धमूलम्	निरु०३.१०
पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते	मनु० ९.१३४	निरु०३.५
पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह	ऋ०१०.८५.३९	निरु०४.२५
पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोः	ऋ०२.३८.४	निरु०४.११
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह	तु०अथर्व०१.१.२; मै०सं०४.१२.१	निरु०१०.१८
पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै	ऋ०१०.८६.२१	निरु०१२.२८
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः	मनु०९.१३८	निरु०२.११
पुरु त्वा दाश्वान् वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा	ऋ०१.१५०.१	निरु०५.७
पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णं धेनुं न इषं पिन्वतम्	ऋ०६.६३.८	निरु०६.२९
पुरुषं चौषधीनाम्	ऋ०१०.५१.८	निरु०७.१९
पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा	ऋ०१०.९५.१५	निरु०२.२
पुरोळा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा	ऋ०३.२८.२	निरु०६.१६
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि	ऋ०१०.८५.१८	निरु०७.११
पूषा त्वेतश्च्यावतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य	ऋ०१०.१७.३	निरु०७.९

पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम्।	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१.२
पूर्वे अर्धे रजस:	ऋ०१.९२.१; निरु०१२.७	निरु०७.२९
पृङ्क्तं हवींषि मधुना हि कं	ऋ०२.३७.५	निरु०३.१३
पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि	ऋ०१०.४४.६	निरु०५.२५
पृथिवी वैश्वानर:	श०ब्रा०१३.३.८.३	निरु०७.२४
पृथिव्या: पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे	मैत्रा०सं०२.८.१	निरु०५.१३
पृश्निदुग्धे प्रैयङ्गवं चरुं निर्वपेत् पृश्निभ्यो ग्रामकाम:	तैत्ति०सं०२.२.११.४	निरु०४.१६
पैत्रीश्च यामीश्च शंसती	मूलमनुपलब्धम्	निरु०११.१८
प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय	ऋ०६.६६.९	निरु०३.२१
प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्य: शंसामि	ऋग् ७.१००.५	निरु०५.९
प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्	ऋ०१.१२९.६	निरु०१०.४२
प्र तव्यसो नमउक्तिं तुरस्याहं पूष्ण उत	ऋ०५.४३.९	निरु०७.१०
प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणम्	ऋ०१.५९.६	निरु०७.२३
प्र नूनं जातवेदसम्	ऋ०१०.१८८.१	निरु०७.५, २०
प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते	ऋ०३.३३.१	निरु०२.२४; ५.३; ९.३९
प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो य: कृष्णगर्भा	ऋ०१.१०१.१	निरु०४.२४
प्र मातु: प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुध:	ऋ०१०.७९.३.	निरु०५.३
प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशर: शतयातु:	ऋ०७.१८.२१	निरु०६.३०
प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट	ऋ०७.३९.२	निरु०५.२८
प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे	ऋ०१०.५०.१	निरु०११.९
प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्	ऋ०३.५९.२	निरु०२.१३
प्र सीमादित्यो असृजत्---परिज्मन्	ऋ०२.२८.४	निरु०१.७
प्रजापति: प्रथमामाहुतिमजुहोत् तत एतस्या आहुते:	मै०सं०१.८.१	निरु०९.१
प्रजापतिरकामयत	ता०ब्रा०६.१.१	निरु०१०.२२
प्रजापतिर्वै सर्वा देवता:	तै०ब्रा०३.३.७.३	निरु०६.७
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव	ऋ०१०.१२१.१०	निरु०१०.४३
प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वतास्ते पक्षिण आसन्	मै०सं०१.१०.१३	निरु०७.२
प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्	ऋ०५.४.१०	निरु०३.१
प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय	ऋ०१.१९.१, निरु०१०.३६	निरु०२.७; ५.३; १०.३६
प्रति यत्स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं	ऋ०१.१०४.५	निरु०५.१६
प्रति श्रुताय वो धृषत् तूर्णाशं न गिरेरधि	ऋ०८.३२.४	निरु०५.१६
प्रत्यङ् देवानां विश: प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् प्रत्यङ् विश्वं	ऋ०१.५०.५	निरु०१२.२४
प्रत्युष्टं रक्ष:	यजु०वा०सं०१.७; तै०सं०१.१.२.१	निरु०२.२
प्रथममहरयमेव लोक आयतनेनाग्निर्गायति	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.८

प्रथमामाहुतिमजुहोत् ततो मनुष्या अजायन्त स	मै०सं०१.८.१	निरु०९.३
प्रथमो वसुभिर्नोऽव्यात्	ऐ०ब्रा०१.२४	निरु०७.८
प्रप्रा वो अस्मे स्वयशोभिरूती परिवर्ग इन्द्रो	ऋ०१.१२९.८	निरु०६.४
प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त	ऋ०१०.५१.८	निरु०८.२२
प्रागुदग्वा बर्हिरास्तीर्यते	मूलमनुपलब्धम्	निरु०८.९
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या	ऋ०१०.११०.४	निरु०८.९
प्राणन्नेव प्राणो भवति	तु०बृहदा०उप०१.५.१	निरु०३.१३
प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्कामन्ति	बृह०उप०४.४.२	निरु०१०.३९; ११.६
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता	ऋ०७.४१.२	निरु०१२.१४
प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया	ऋ०५.७७.२	निरु०१२.५
प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम्	ऋ०१.२२.१	निरु०१२.४
प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे	ऋ०१०.३४.१	निरु०९.८
प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदः	ऋ०१.४५.३	निरु०३.१७
प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्	ऋ०१०.१०१.७	निरु०५.२६
प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता	ऋ०१०.९४.१	निरु०९.९
प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत	ऋ०१०.१३३.१	निरु०३.२०
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं	ऋ०१०.१०.१३	निरु०६.२८
बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा	ऋ०१०.१५.४	निरु०४.२१
बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि	ऋ०५.८४.१	निरु०११.३७
बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ	ऋ०६.५९.२	निरु०१०.२१
बहुदेवमन्त्रं तु वैश्वदेवं शस्यते	बृहदे०२.१२८	निरु०१२.४०
बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चाकृणोति	ऋ०६.७५.५	निरु०९.१४
बिभया हि	ऋ०८.४५.३५	निरु०४.२
बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये	ऋ०८.३२.१०	निरु०६.४, १७
बृहस्पतिर्हि देवानां पुरोहित आसीत्	ऐत०ब्रा०८.२६	निरु०६.२३
ब्रध्नस्य विष्टपम्	यजु०१८.५१	निरु०२.१४
ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै	श०ब्रा०१३.७.१.१	निरु०१०.२७
ब्राह्मणा व्रतचारिणः	ऋ०७.१०३.१; निरु०९.६	निरु०३.१६
ब्राह्मणो वैश्वानरः	तै०ब्रा०३.७.३.२ इति	निरु०७.२४
भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद	खिल सू०३.१	निरु०९.५
भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्	ऋ०१०.५०.४	निरु०४.१९
भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः	ऋ०१०.८.६	निरु०४.१९
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः	ऋ०१.१६४.५१ निरु०६.२२; ७.२३	निरु०७.५
भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिः	ऋ०१.१६५.७	निरु०६.७
भूर्भुवः स्वः	वा०सं०३.५	निरु०२.१४; ७.५
भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या	ऋ०१०.१०७.१०	निरु०७.२

मृगो न भीमः	ऋ०१.१५४.२	निरु०१.२०
मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मान्	ऋ०१०.८.२	निरु०७.१२
मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन्	ऋ०१०.२६.४	निरु०६.२९
मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव	ऋ०१०.१६६.५	निरु०१०.१६
मन्दस्व होत्रात्	ऋ०२.३७.१	निरु०८.२
मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति	ऋ०१.१२९.६	निरु०१०.१६
मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा	ऋ०१०.१६९.१	निरु०१.१७
मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा	ऋ०३.४७.१	निरु०४.८
महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद् येनाविष्टितः	ऋ०१०.५१.१	निरु०६.३५
महाँ अमत्रो वृजने विरप्श्यु१ग्रं शवः	ऋ०३.३६.४	निरु०६.२३
महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः	ऋ०६.१९.१	निरु०६.१६, १७
महारात्रे प्रातरनुवाकायामन्त्रितः	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१२.१
महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना	ऋ०१.३.१२	निरु०११.२७
मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत	ऋ०८.१.१	निरु०७.२
मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहम्	ऋ०८.१.२०	निरु०६.२४
मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिर्मोखा	ऋ०१.१६२.१५	निरु०२.२
मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु	ऋ०८.४५.३४	निरु०२.३; ४.२
मा नः समस्य दूढ्यः	ऋ०८.७५.९	निरु०१.३; ५.२३
मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः	ऋ०१.१६२.१	निरु०९.३
मा नो वधीरिन्द्र मा---जानुषाणि	ऋ०१.१०४.८	निरु०१.५
मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः	ऋ०७.३४.१७	निरु०१०.४५
मा रधाम द्विषते	ऋ०१०.१२८.५	निरु०६.३२
मा सख्युः	ऋ०८.४५.३६	निरु०४.२
माकिर्नेशत्	ऋ०६.५४.७	निरु०३.१३
मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः	ऋ०६.५५.५	निरु०३.१६
मादयस्व हरिभिर्ये त इन्द्र वि ष्यस्व शिप्रे	ऋ०१.१०१.१०	निरु०६.१७
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.१८
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः	ऋ०१०.५४.२	निरु०२.१६
मित्रं कृणुध्वम्	ऋ०१०.३४.१४	निरु०१.५; ७.७
मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत	ऋ०३.५९.१	निरु०१०.२२
मिम्यक्ष येषु रोदसी नु देवी सिषक्ति	ऋ०६.५०.५	निरु०६.६; १२.४६
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः	महाभारते इति	निरु०१.१७
मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते	ऋ०१०.८८.६	निरु०७.२७
मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने	ऋ०१०.४.४	निरु०६.८
मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः	ऋ०१०.८८.६, निरु०७.२७	निरु०४.१९
मृगो अस्या दन्तः	ऋ०६.७५.११	निरु०४.२५

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः	ऋ०१०.१८०.२	निरु०१.२०
मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्	ऋ०२.३७.३	निरु०८.३
मेने हैरण्यगर्भस्य	मूलमनुपलब्धम्	निरु०११.१९
मैनमग्ने	ऋ०१०.१६.१	निरु०७.२१
मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स	ऋ०१०.११७.६	निरु०७.२
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णौ	सं०उ०ब्रा०३	निरु०२.४
य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा	ऋ०६.५९.४	निरु०५.२२
य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता	ऋ०१०.८१.१	निरु०१०.२६
य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्	ऋ०१०.११०.९	निरु०८.१४
य ईं चकार न सो अस्य वेद	ऋ०१.१६४.३२	निरु०२.८
य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे	ऋ०१.८४.७	निरु०४.१७
यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने	ऋ०१०.६९.४	निरु०६.१७
यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति नृतमम्	ऋ०३.४९.२	निरु०५.९
यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः	ऋ०८.३.२१	निरु०५.१५
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते	ऋ०१०.१८७.२	निरु०५.५
यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे	ऋ०१.२८.५	निरु०९.२१
यज्ञायज्ञा वो अग्नये	ऐ०ब्रा०१३.११	निरु०७.२३
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः	मनु०५.३९	निरु०७.१९
यज्ञे देवस्य वितते महतो वरुणस्य हि ब्रह्मणोऽप्सरसं	तु०बृहद्देवता ५.९९	निरु०३.१७
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्	ऋ०१.१६४.५०; १०.९०.१६	निरु०१२.४१
यज्ञो वै विष्णुः	श०ब्रा०१.१.८.८; १.१.२.१३; ३.२.१.३८; कौ०ब्रा०४.२; १६.८; १८.८; १४, गो०ब्रा०२.४.६, ता०ब्रा०९.६.१०; ७.१०	निरु०७.४
यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्	तु०मै०सं०१.८.२	निरु०७.१९
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्	तैत्ति०सं०३.५.३.२	निरु०४.१९
यत्ते सोम दिवि ज्योतिः	मै०सं०१.३.३	निरु०११.२
यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः	ऋ०१०.८५.५	निरु०११.५
यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे	ऋ०८.६३.७	निरु०३.८
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः	ऋ०१.१६४.५०, यजु०वा०सं०३१.१६	निरु०२.२
यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न	ऋ०७.६३.५	निरु०६.७
यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ	ऋ०१०.८८.१७	निरु०७.३०
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्	ऋ०१.१६४.२१	निरु०३.१२
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः	वा०रामा०बा०२.१५	निरु०७.२९
यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्	ऋ०८.४.३	निरु०३.२०

यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितिमक्षितय:	मैत्रा०सं० २.२.७	निरु०२.६; ५.११
यथा वातो यथा वनम्	ऋ०५.७८.८	निरु०३.१५
यथैवात्मा तथा पुत्र: पुत्रेण दुहिता समा तस्यामात्मनि	मनु०९.१३०	निरु०३.३
यथैवैतद्यजमान: सर्वान्मेधान् हुत्वा सर्वेषां भूतानाम्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१०.२६
यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र	ऋ०१०.५४.२	निरु०२.१६
यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्य: तदासां कर्म गौरिव गवय:	तु०यथा गौरेवं गवय: न्या०वात्स्या०भा०१.१.६	निरु०३.१३
यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारम्	तैत्ति०सं०१.४.४४.२, मैत्रा०सं०१.३.३८	निरु०४.२५
यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि	छा०उप०५.१.१३	निरु०१०.८
यदा यथा सिसृक्षुस्तु भवेद्देवो रजस्वल: विभक्तेषु	अनुपलब्धमूलम्	निरु०३.१३
यदा वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभि:	तै०सं०२.४.१०	निरु०१०.१८
यदादीध्ये न दविषाण्येभि: परायद्भ्योऽव हीये	ऋ०१०.३४.५	निरु०१.३; २.२; १२.७
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्	मनु०३.६१; महा०अनु०४६.४ इति	निरु०१०.२३
यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति	ऋ०५.३९.१	निरु०४.४
यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग् यद्वा स्वे सदने	ऋ०६.४०.५	निरु०४.२५
यदिन्द्राग्नी जना इमे विह्वयन्ते तना गिरा	ऋ०८.४०.७	निरु०५.२, २३
यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत	ऋ०१.१०८.१०	निरु०१२.३१
यदिमा वाजयन्नहमोषधी:	ऋ०१०.९७.११	निरु०३.१५
यदिमांल्लोकानावृणोत् तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते	तैत्ति०सं०२.५.२.२	निरु०२.१७
यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन	ऋ०१०.८६.२२	निरु०१३.३
यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्	ऋ०१०.१४२.४	निरु०२.२
यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवा: सूर्यम्	ऋ०१०.८८.११	निरु०२.१३; ७.२९
यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्	तु०श०ब्रा०८.५.२.१; छा०उप०१.४.२	निरु०७.१२
यद् गोष्वरुणीषु सीदत्	ऋ०१०.६१.४	निरु०१२.७
यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये	काठ०सं० ९.४	निरु०५.१३
यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्यु:	ऋ०८.७०.५	निरु०१३.२
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते	मूल अज्ञात	निरु०१.१८
यद्देवापि: शन्तनवे पुरोहित:	ऋ०१०.९८.७	निरु०२.१२
यद्याव इन्द्र ते शतम्	ऋ०८.७०.५	निरु०२.१६
यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा	ऋ०८.१००.१०	निरु०११.२८
यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर	ऋ०५.३९.२	निरु०४.१८
यमक्षितिमक्षितय: पिबन्ति	यजु०५.७; निरु०५.११	निरु०७.१७
यमाविहेह	ऋ०६.५९.२	निरु०१०.२१
यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनम्	ऋ०१.१६३.२	निरु०४.१३

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य	ऋ०१.१४३.४	निरु०४.२३
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तम्	मनु०२.११५	निरु०२.४
यमो ह जातः	ऋ०१.६६.४	निरु०१०.२१
यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय	ऋ०१.११७.२१	निरु०६.२६
यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्	ऋ०४.५०.१	निरु०२.७
यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये	ऋ०१०.१६२.२	निरु०१.३; ६.१२
यस्ते स्तनः	ऋ०१.१६४.४९	निरु०२.२४
यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सत्ता	ऋ०३.१७.५	निरु०५.३
यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः	ऋ०१०.१३५.१	निरु०१२.२९
यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता	ऋ०१.९४.१५	निरु०११.२४
यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति	ऋ०१.९४.२	निरु०४.२५
यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेत	अनुपलब्धमूलम्	निरु०८.२२
या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा	ऋ०१०.९७.१	निरु०९.२८
या कशीकेव दिवे कशान्	यजु०२४.३६, मैत्रा०सं०३.१४.७	निरु०५.१५
या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा	यजु०५.८	निरु०४.१९
या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा	ऋ०७.४६.३	निरु०१०.७
या पत्युः क्रीता सत्यन्यथान्यैश्चरति	मैत्रा०सं०१.१०.११	निरु०३.३
यां सदस्येभ्यो ददाति सोमपीथं तया निष्क्रीणीते	मै०सं०४.८.३	निरु०११.२
याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजम्	ऋ०१.११२.८	निरु०५.२१
यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत	ऋ०१.८०.१६	निरु०१२.३४
यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो वसते	ऋ०१०.८८.१९	निरु०३.१८; ७.३१
यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य	ऋ०४.१६.११	निरु०३.११; ५.१५
युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ	ऋ०१०.१०१.३, यजु०१२.६८	निरु०५.२८
युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय	ऋ०१०.३९.४	निरु०४.१९
युवं श्वावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्य	ऋ०१.११७.८	निरु०६.६
युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता	ऋ०७.६९.४	निरु०६.४
यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुनारिष्टग्रामाः सुमतिम्	ऋ०१.१६६.६	निरु०६.३०
ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः	ऋ०१०.१५.९	निरु०६.१४
ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः	ऋ०७.९६.५	निरु०१०.२४
ये त्वा देवोस्त्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति	ऋ०१.१९०.५	निरु०४.२५
ये यज्ञेन	ऋ०१०.६१.१	निरु०९.९
येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा	साम०, उ०, ५.२.८.५	निरु०५.६
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण	ऋ०१.५०.६	निरु०१२. २२, २३, २४, २५
यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति	ऋ०१.१२.९	निरु०११.२३
यो अनिध्मो दीदयदप्स्वं१न्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु	ऋ०१०.३०.४	निरु०१०.१९

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणि	ऋ०१.१०१.४	निरु०५.१५
यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति	ऋ०५.३४.३	निरु०२.१८; ६.१९
यो जनान्महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्	ऋ०१०.६०.३	निरु०१२.३०
यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना	ऋ०२.१२.१	निरु०३.२१, १०.१०
यो नो मरुतो अभि दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि	ऋ०७.५९.८	निरु०४.७
यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः	ऋ०१.१८.२	निरु०३.२१
यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति कविर्होता	ऋ०१.१५१.७	निरु०६.८
यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्ङ्सि	ऋ०१.९४.७	निरु०३.११; ५.१
यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवब्राह्मणेन मन्त्रेण	अनुपलब्धमूलम्	निरु०१.१६
यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे ततः	ऋ०८.५.१९	निरु०५.१२; ६.२९
यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा	ऋ०२.१२.३	निरु०८.२
यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना	ऋ०१०.८८.४	निरु०५.३
योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो	ऋ०१०.१६६.५	निरु०१०.१६
योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि	ऋ०१.१०४.१	निरु०१.१७
रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे	ऋ०५.५६.८	निरु०११.५०
रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते	ऋ०६.७५.६	निरु०९.१६
रमध्वं मे वचसे सोम्याय	ऋ०३.३३.५	निरु०२.२५
रसेन मे रसं पृण वाजिनो मे यज्ञं वहानि	आप०श्रौ०८.७.१०; मा०श्रौ०१.७.२.१८	निरु०६.२४
राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा	ऋ०२.३२.४	निरु०११.३१
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः	चा०नी०१.२	निरु०२.२२
रुद्रस्य ये मीळ्हुषः सन्ति पुत्राः	ऋ०६.६६.३	निरु०४.१५; ६.६
रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु	ऋ०१.११३.२	निरु०२.२०
रूपं रूपं मघवा बोभवीति	ऋ०३.५३.८	निरु०२.१६; १०.१७, ३४
रोहितं मे पाकस्थामा सुधुरं कक्ष्यप्राम्	ऋ०८.३.२२	निरु०५.१५
वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायम्	ऋ०६.७५.३	निरु०९.१८
वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि	मै०सं०४.१३.७	निरु०८.२०
वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ	ऋ०१०.७०.१०	निरु०६.७
वनस्पते वीड्वङ्गः	ऋ०६.४७.२६, निरु०९.१२	निरु०३.५
वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः	ऋ०६.४७.२६	निरु०९.१२
वनस्पतेऽवसृजोप देवान्	ऋ०३.४.१०	निरु०८.१७
वने न वा यो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमः	ऋ०१०.२९.१	निरु०४.३; ६.२८
वप्तेव श्मश्रु वपसि	ऋ०१०.१४२.४	निरु०१२.२७
वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा	ऋ०१०.७३.११	निरु०४.३; १०.४५
वर्षासु रथकारस्य	द्रष्टव्यम्-पूर्वमीमांसाशाबरभाष्ये	निरु०३.८

	६.१.४४ ५०, का०श्रौ० कर्कभाष्ये १.१.९, ऋभूणां इति रथकारस्य	
वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१२.२
वसुर्वसुपतिर्हि कम्	ऋ०८.४४.२४	निरु०३.१३
वाग्वा इन्द्रः	कौ०ब्रा०२.७.१३.५	निरु०१०.१७
वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः	मैत्रा०सं०१.३.४, तु० यजु०७.१	निरु०५.६
वाचा विरूप नित्यया	ऋ०८.७५.६	निरु०१.२
वाजपस्त्यम्	ऋ०९.९८.१२, निरु०५.१५	निरु०२.२
वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे	ऋ०१०.१८६.१	निरु०१०.३५
वाध्र्यश्वम् इमां मे अग्ने समिधं जुषस्व	ऋ०१०.७०.१	निरु०८.२२
वामंवामं त आदुरे देवो ददातु	ऋ०४.३०.२४	निरु०६.३१
वायवा याहि दर्शत	ऋ०१.२.१	निरु०७.५; १०.२
वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्	ऋ०७.३१.२	निरु०४.३
वायुः प्राण एव पुरूरवाः	मै०सं०३.९.५	निरु०१०.४६
वायुगोपा वै वनस्पतयः	मूलमनुपलब्धम्	निरु०११.५
वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः	तै०सं०१.७.७	निरु०१.५
वाहिष्ठो वां हवानाम्	ऋ०८.२६.१६	निरु०६.२२
वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि	ऋ०५.२.९	निरु०४.१८
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः	ऋ०१.५०.७	निरु०१२.२३
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः	ऋ०१०.१५२.४	निरु०७.२
वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनम्	ऋ०५.८३.२	निरु०१०.११
वि शत्रून् ताळिह	ऋ०१०.१८०.२	निरु०१.३
वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः	वा०सं १३.३	निरु०१.७
वि हि सोतोः	ऋ०१०.८६.१	निरु०१.४; १३.४
विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तः	ऋ०१.११०.४	निरु०११.१६
विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा	ऋ०१०.८४.५	निरु०६.२९
विद्मा सखित्वमुत शूर भोज्यमा ते ता	ऋ०८.२१.८	निरु०५.२३; ६.१७
विद्ययैव समं कामम्	मनु०२.११३	निरु०२.३
विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम	मनु०२.११४	निरु०२.४
विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा	ऋ०७.३३.१०	निरु०५.१४
विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः	ऋ०३.५४.१३	निरु०२.१२
विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि	ऋ०१०.९५.१०	निरु०११.३६
विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः	ऋ०१०.६२.५	निरु०११.१७
विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति	ऋ०२.२४.१२	निरु०७.१०
विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत	ऋ०१०.८१.६	निरु०१०.२७
विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत	ऋ०१०.८२.२	निरु०१०.२६

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुम्	ऋ०१०.८८.१२	निरु०७.२३
विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रम्	ऋ०५.८१.२	निरु०१२.१३
विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः	ऋ०८.६८.४	निरु०१२.२१
विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त	ऋ०७.३३.११, निरु०५.१४	निरु०२.२
विश्वे देवासो अप्तुरः सुतमा गन्त तूर्णयः	ऋ०१.३.८	निरु०५.४
विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः	ऋ०७.७७.१०	निरु०५.४
विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत	ऋ०८.९९.३	निरु०४.३
विषितस्तुका रोदसी	ऋ०१.१६७.५	निरु०१२.४६
विष्णुर्यज्ञः स देवेभ्य आत्मानमन्तरधात् तमन्यदेवता	चरकब्राह्मणम्	निरु०५.४
विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा	ऋ०१०.१८४.१	निरु०२.८
वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु	ऋ०८.६६.८	निरु०५.२१
वृक्षस्य नु	ऋ०६.२४.३	निरु०१.४
वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौः	ऋ०१०.२७.२२	निरु०२.६
वृषा पावक दीदिहि अग्ने वैश्वानर द्युमत्	आश्व०श्रौ०८.९	निरु०७.२४
वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे	ऋ०१०.८६.१३	निरु०१२.९
वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः	ऋ०६.४४.२१	निरु०६.१७
वेदिस्तरं बर्हिरासीदेत्	मूलमनुपलब्धम्	निरु०७.२०
वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी	ऋ०४.०७.८	निरु०६.१७
वैश्वदेवीं सूनृतामारभध्वं शुद्धा भवन्तो यज्ञियासः	तु०अथर्व०१२.२.२८	निरु०६.१२
वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति	शत०ब्रा०५.२.५.१३; तै०ब्रा०१.७.२.५	निरु०७.२३
वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि	ऋ०६.७.६	निरु०६.३; ११.२७
वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानाम्	ऋ०१.९८.१	निरु०७.२२
वैश्वानराय पृथुपाजसे विपः	ऋ०३.३.१	निरु०७.५; २३
वैश्वानरो यतते सूर्येण	ऋ०१.९८.१	निरु०७.२३
व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न	ऋ०१०.११०.५	निरु०८.१०
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते	स्मृतिः	निरु०५.२
शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः	ऋ०७.३८.७	निरु०१२.४४
शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः	ऋ०३.५३.३	निरु०४.१६
शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासे सहस्रं शंसा उत	ऋ०७.२५.३	निरु०५.५
शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धम्	ऋ०१.११६.१६	निरु०५.२१
शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः	ऋ०१०.१०३.१	निरु०१.१५
शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति	ऋ०७.४७.३	निरु०५.६
शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे	ऋ०१०.१६५.१	निरु०४.२१
शश्वदिन्द्रः---अदात्	ऋ०१.३०.१६	निरु०१.५
शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः	ऋ०८.१७.१२	निरु०३.१०

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ	ऋ०३.३१.१	निरु०३.४
शिरिम्बिठस्त्वलक्ष्मीघ्नः	बृ०दे०८.५९	निरु०६.३०
शीरं पावकशोचिषं ज्येष्ठो यो दमेष्वा	ऋ०८.१०२.११	निरु०४.१४
शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी	ऋ०६.५८.१	निरु०१२.१७
शुनं सुफाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा	वा०सं०१२.६९ मै०सं०२.७.१२ का०सं०१६.१२ ऋग्०५.५७.७ तैत्ति०सं०८.२.५.६ अथर्व०३.१७.५	निरु०४.७
शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ	ऋ०३.३८.१०	निरु०१२.४०
शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः	ऋ०४.५७.५	निरु०९.४१
शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन् अन्यमन्यमति	ऋ०६.४७.१६	निरु०६.२२
श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः	ऋ०१०.१५१.१	निरु०९.३१
श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च	मनु०४.२२६	निरु०९.३१
श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य	ऋ०८.९९.३	निरु०२.२; ६.८
श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्ते	ऋ०१.८७.६	निरु०४.१६
स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे	ऋ०४.५०.८	निरु०२.१२
स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवत्	ऋ०६.२१.३	निरु०५.१५
स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसम्	ऋ०१०.६७.७	निरु०२.७; ५.४
स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्यात्	बृहदा०उप०१.५.१ एवं तु० कौ०उप० ४.२०	निरु०३.१३
स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न	ऋ०१.५६.३	निरु०६.१४
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव	ऋ०१.१.९	निरु०३.२१
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः	ऋ०५.२४.३,४	निरु०५.२३
स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि	ऋ०१.७.६	निरु०६.१६
स पितॄन् सृष्ट्वाऽमनस्यत् तदनु मनुष्यानसृजत	तैत्ति०सं०२.३.८.३	निरु०३.७
स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त	ऋ०१.९६.१	निरु०८.२
स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीर्विश्वायुर्विश्वाः	ऋ०९.८६.४१.	निरु०५.२
स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः	तै०उ०२.८.१	निरु०२.६
सुदेवो असि	ऋ०८.६९.१२	निरु०१.३
सं गच्छध्वम्	ऋ०१०.१९१.२	निरु०१.३
सं ते पयांसि	ऋ०१.९१.१८	निरु०११.५
सं भानुना यतते सूर्यस्याजुह्वानो घृतपृष्ठः	ऋ०५.३७.१	निरु०५.७
सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव	ऋ०१.१०५.८	निरु०४.६
संवत्सरं शशयाना	ऋ०७.१०३.१	निरु०३.१८; ९.६
संवत्सरो वैश्वानरः	श०ब्रा०५.२.५.१५; ६.६.१.५	निरु०७.२४
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्	ऋ०१०.१२९.४	निरु०३.१३
सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा	ऋ०१०.७१.२	निरु०४.१०

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषा	ऋ०१०.१७८.३	निरु०१.४; १०.२९
सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्	ऋ०१०.११०.११	निरु०८.२१
सपर्यामि प्रयसा	ऋ०१.५८.७, ३.५४.३	निरु०४.१६
सप्त ऋषयः प्रतिहताः शरीरे सप्त रक्षन्ति	यजु०३४.५५	निरु०७.११
सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासाम्	ऋ०१०.५.६	निरु०६.२७
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा	ऋ०१.१६४.२; निरु०४.२७	निरु०७.११
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति	ऋ०१.१६४.२	निरु०४.२७
सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति	यजु०३४.५५	निरु०१२.३७
समुद्रादूर्मिः	ऋ०४.५८.१	निरु०७.१७
समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः	ऋ०१०.९५.७	निरु०१०.४७
समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः	ऋ०१.१६४.५१	निरु०६.२२; ७.२३
समान्या वियुते दूरे अन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुः	ऋ०३.५४.७	निरु०४.२५
समित्समित् सुमना	ऋ०३.४.१	निरु०८.२२
समिद्धस्य श्रयमाणः	ऋ०३.८.२	निरु०१.३
समिद्धो अग्न आ वह	ऋ०१.१४२.१	निरु०८.२२
समिद्धो अग्निर्निहितः पृथिव्याम्	ऋ०२.३.१	निरु०८.२२
समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे	ऋ०१०.११०.१, निरु०८.५	निरु०३.७; ८.५, २२
समिद्धो अद्य राजसि	ऋ०१.१८८.१	निरु०८.२२
समिद्धो विश्वतस्पतिः	ऋ०९.५.१	निरु०८.२२
समिद्धोऽअञ्जन्	यजु०२९.१	निरु०८.२२
समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्	ऋ०४.५८.१	निरु०७.१७
समुद्रं वा प्र हिणोमि स्वां योनिम्	अथर्व०१०.५.२३	निरु०२.१९
समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदैर्त	तु०कौ०ब्रा०२५.१	निरु०७.१७
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते दर्शनेन	मनु०६.७४	निरु०६.२०; ७.५
सरस्वत्यभि नो नेषि	ऋ०६.६१.१४	निरु०२.२४
सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुध्यै	मूलमनुपलब्धम्	निरु०१०.२६
सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान्वायुश्च सर्वगः	बृहद्दे०५.४८	निरु०११.१३
सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता	ऋ०१०.१४९.१	निरु०१०.९, ३२
सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र	ऋ०३.३०.८	निरु०६.१
सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप	ऋ०१०.२७.२४	निरु०५.१९
सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात्	मैत्रा०सं०१.४.५; मान०श्रौ०१.४.२.१७	निरु०६.८
सास्माकेभिरेतरी न शूषैरग्निः ष्टवे दम	ऋ०६.१२.४	निरु०६.१५
सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा	ऋ०२.३२.६	निरु०११.३२
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः	ऋ०५.४१.२०	निरु०११.४९
सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजम्	ऋ०१०.७५.९	निरु०७.७

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ	ऋ०१०.९५.१४	निरु०७.२
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति	ऋ०६.७५.११	निरु०९.१९
सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतम्	ऋ०१०.८५.२०	निरु०१२.८
सुगा वो देवाः सुपथा अकर्म य आजग्मुः सवनम्	तु०अथर्व०७.९७.४; यजु०८.१८; तै०सं०१.४.४४; मै०सं०१.३.४८; का०सं०४.१२; कपि०सं०३.१०	निरु०६.७; १२.४२
सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय	ऋ०१.१२५.२	निरु०५.१९
सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन	मान०गृ०१.९.२५	निरु०७.२
सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः	ऋ०८.६९.१२	निरु०५.२७
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तः	ऋ०६.७५.११	निरु०४.२५
सुवास्त्वा अधि तुग्वनि	ऋ०८.१९.३७	निरु०४.१५
सुविदुरिव सुविज्ञायेते इव	काठ०सं०८.३, १३, निरु०१.१०	निरु०१.१०
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य	यजु०१८.४०	निरु०२.६
सुसमिद्धो न आ वह	ऋ०१.१३.१	निरु०८.२२
सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम	ऋ०१.१६४.४०	निरु०११.४४
सूरादश्वं वसवो निरतष्ट	ऋ०१.१६३.२	निरु०९.३
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्येतदुहैवोपेक्षेत	ऐ०ब्रा०२.२.४	निरु०१२.१६
सूर्यमादितेयम्	ऋ०१०.८८.११, निरु०७.२९	निरु०२.१३
सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः	ऋ०९.६९.६	निरु०७.२
सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः	ऋ०७.३३.८	निरु०११.२०
सूर्यो नो दिवस्पातु	ऋ०१०.१५८.१	निरु०७.५
सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका	ऋ०१.६६.४	निरु०१०.२१
सैनानीकेन सुविदत्रो अस्मे	ऋ०२.९.६	निरु०२.२
सोमं मन्यते पपिवान् यते संपिंषन्त्योषधिम्	ऋ०१०.८५.३	निरु०११.४
सोमः पवते जनिता मतीनाम्	ऋ०९.९६.५	निरु०११.२०
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः	ऋ०१०.८५.४०	निरु०१०.२१
सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या	ऋ०१०.१६७.३	निरु०७.१३; ११.१२
सोमादो	ऋ०१०.९४.९	निरु०४.४
सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते	ऋ०१.१८.१	निरु०६.१०
सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना	ऋ०२.४०.१	निरु०७.१०
सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि	ऋ०६.७४.३	निरु०७.१०
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये	ऋ०१०.८५.४१	निरु०१०.२१
सोमो वै राजामुष्मिन् लोके	ऐ०ब्रा०१.१३	निरु०१२.२२
सोमो वै वाजस्तस्य चन्द्रमास्तृतीयमयं यः पवते स तृतीयमिति स तनूकरणे तं सर्वं स्वतनूभूतमाप्याययति	मै०सं०४.५.४	निरु०११.२

सोऽङ्गारेणापोभ्यपातयत् तत एकतोऽजायत, स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितः, स तृतीयं ततस्त्रित	तु०तैत्ति०ब्रा०३.२.८ मैत्रा०सं०४.१.९	निरु०४.६
सौधन्वना ऋभवः	ऋ०१.११०.४	निरु०३.८
स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्	ऋ०१०.१२०.६	निरु०११.२१
स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी	ऋ०१०.८८.१०	निरु०७.२८
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि	ऋ०१.१६४.१६	निरु०५.१
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य	मूल अज्ञात	निरु०१.१८
स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु	ऋ०८.४.१९	निरु०६.२२
स्पर्शने विहितं शौचं सोमसूर्यांशुमारुतैः इति	स्मृतिः	निरु०४.१६
स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी	ऋ०१.२२.१५	निरु०९.३२
स्वधिते मैनं हिंसीः	वा०सं० ४.१; ५.४२; ६.१५; तै०सं० १.२.१.१; ३.५.१; ९.२; ६.३.३.२; ९.१; मै०सं० १.२.१: ९.९; १.२.१४: २३.५; १.२.१६:२६.१२; ३.६.२: ६१.३; ३.९.३: ११५.१८; ३.१०.१: १२९.२; का०सं० २.१; ३.२,६; १६.३; शत०ब्रा० ३.१.२.७; ६.४.१०; ८.२.१२; आ०श्रौ०सू० ७.२.४; १८.१२; १०.५.८, १०; मा०श्रौ०सू० १.८.१.७; ४.८; य२.१.१.२३; आ०गृ०सू० १.१७.९; कौ०सू० ४४.३०; ९२. १८; सा०मं०ब्रा० १.६.६; गो०गृ०सू० २.९.१५; हि०गृ०सू० १.९.१४; २.६.८; मा०श्रौ०सू० १.२१.५	निरु०१.१५, १६
स्वयं विलीनमाज्यं पितृणाम्	मै०सं०३.६.२	निरु०११.१९
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति	ऋ०१०.६३.१६	निरु०११.४६
स्वा ह्येनं वागभ्यवदत् तत् स्वाहाकारस्य जन्म	मै०सं०१.८.१	निरु०८.२०
स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया	ऋ०९.१.१	निरु०११.३
स्वादुष्किलायं---आहवेषु	ऋ०६.४७.१	निरु०१.५
स्वाध्यायप्रवचने दमनं दाननु यामि	श०ब्रा० ११.५.७.१, तैत्ति० उप० १.९.१	निरु०२.२
हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना	ऋ०१०.६७.३	निरु०५.४
हन्ताहं---अपामिति	ऋ०१०.११९.९	निरु०१.४
हविर्भिरिके स्वरितः सचन्ते	ऋ०१०.१०६.९	निरु०१.११

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा	ऋ०१.४६.४	निरु०५.२४
हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टम्	ऋ०१०.८८.१	निरु०७.२५
हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा	ऋ०१.१६४.२७	निरु०११.४५
हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म	ऋ०१०.३०.११	निरु०६.२२
हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा	ऋ०१.११६.८	निरु०६.३६
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक	ऋ०१०.१२१.१	निरु०१०.२३
हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै	ऋ०२.३५.१०	निरु०२.६
हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपाम्	ऋ०२.३५.१०	निरु०२.२; ३.१६; १०.१६
हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः	ऋ०५.६२.८	निरु०३.५
हिरण्यशृङ्गो यो अस्य पादा	ऋ०१.११४.९	निरु०४.२५
हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश	छा०उप०१.६.६	निरु०१२.३७
हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे	ऋ०१०.१४९.५	निरु०१०.३३
हत्सु पीतासो---जरन्ते	ऋ०८.२.१२	निरु०१.४
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते	ऋ०१०.७१.८	निरु०१३.१३
होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया	ऋ०३.२७.७	निरु०६.७
होता यक्षदग्निं समिधा सुषमिधा समिद्धम्	मै०सं०४.१३.३; कां०सं०१५.१३	निरु०८.२२
होता यक्षदिन्द्राग्नी छागस्य हविष आतामद्य	तैत्ति०ब्रा०३.६.११.२ ३	निरु०४.३
होता यक्षद्देवं द्रविणोदामपाद्धोत्रादपात्पोत्रादपान्नेष्ट्रात्	प्रैषः ५१	निरु०८.२

समाप्तश्चायं ग्रन्थः



GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access		28/11/09
Class		30/11/09
Cat		"
Tag		"
Filing		
E.A.R.		"
Any others		
Checked		

Recommended By .... डा० मनुदेव बंधु

Entered in Database

Signature with Date

27/11/09

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री का जन्म दिनांक ९-३-१९५१ में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल पद्धति के अनुसार उत्तर प्रदेश के एटा गुरुकुल में हुई। व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के पश्चात् उन्होंने अपने शोधकार्य का क्षेत्र वैदिक साहित्य को अपनाया और इस पर उन्होंने अनेक प्रकार से शोध कार्य किया। आचार्य यास्क और दुर्ग की निरुक्तवृत्ति पर एक बृहदाकार शोध प्रबन्ध लिखा, जो विश्वविद्यालय स्तर का प्रशंसनीय कार्य था।

लेखन की प्रवृत्ति और अभ्यास के नैरन्तर्य के कारण उन्होंने अनेक उच्चस्तरीय ग्रन्थ लिखे जिससे विद्वत् समाज और शोधार्थियों को लाभ मिला। लेखक के निम्न ग्रन्थ अद्यावधि प्रकाशित हो चुके हैं—

१. आचार्य यास्क का पदचतुष्टय सिद्धान्त

२. आचार्य दुर्ग की निरुक्तवृत्ति का समीक्षात्मक अध्ययन

३. पाणिनीय प्रत्ययार्थ कोषः (तद्धित प्रकरण)

४. वैदिक साहित्य में जलतत्त्व और उसके प्रकार

५. वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निघण्टुकोष के प्रर्यायवाची नामों में अर्थभिन्नता

६. वैदिक निर्वचन कोषः

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री वर्तमान में गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान में निदेशक पद पर नियुक्त हैं।

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ व २२/३, शक्ति नगर,

दिल्ली - ११०००७ (भारत)

दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८

